CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

12/4

वेद सदन पुस्तकालय

पुस्तक सं. 32

60

यजुर्वेद 11 से 20, 39, 40
तथा 18

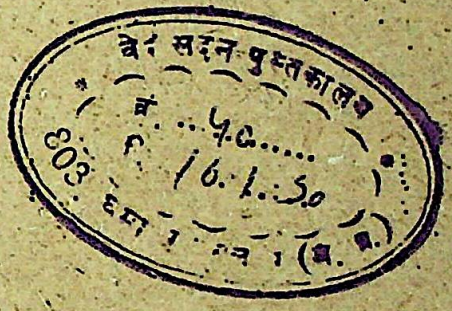

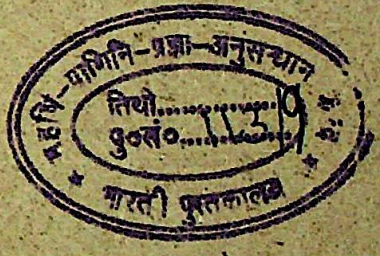

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

12/4

विद्यानन्द 'विदेह'

वेद व्याख्या-ग्रन्थ

एकादश पुष्प

(यजुर्वेद के एकादश अध्याय की व्याख्या)

विषय : योग-जीवनपद्धति

एक रुपया पच्चीस पैसे

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रश्न है जिसमें गणित के जीनमानें सिद्धान्त तो
लगते नहीं परन्तु साधक द्वारा ब्रह्म साक्षात्
कार होने पर जो तत्त्वज्ञान [illegible] इन सभी का
उपयोग मन्त्रार्थ करने में उपयोग [illegible] सिद्ध होता।
जिनको योग सिद्ध है उन्हीं को वेद की सिद्धि है।
११/६७-४/८, २२/२१ - - विश्वः मर्त्त इषुध्यति।
माता कामं गलमय स्नेह सर्वोपार है। ११/६८
आत्मा साधक - शरीर ११/६८
साधन - देव प्राप्ति साध्य

यजुर्वेद-व्याख्या

जीवनी माया - आसुरी माया स्वधा कृतासि - ११/६९-६७४
काया आत्मा का सम्बन्ध ११/७०

एकादश पुष्प

दीमक एवं घुन - ११/७४
पृथ्व्यो नामी सामधाने - ११/७६
११-५ वां - सर्वनाम की संज्ञा पर विविध
व्याख्यान है।
११-६ देव की महान महिमा -
मानव शरीर में अन्तरिक्ष - ११/७१
हठयोग द्वारा - ईश्वर प्राप्ति नहीं - ११/२४

योग साधना में नारी कामना
मानव देह का अन्तरिक्ष - ६११
नाभिमृशे तन्वो जर्भुराणः
शरीर के अङ्गों के मरोड़ने से हठ
से ब्रह्माग्नि का संदर्शन नहीं - ११
तेजो यत्ते कल्याणतमं रूपम्
ब्रह्माग्नि का निर्मन्थन
योग विजित प्रति इन्द्रिय धन विभू
मानव जीवन - शिवालय - ११
अग्ने बृहद् यजमाने वयो धा ११
ब्रह्म की प्राप्ति के वास्ते कहीं जाना
नहीं पड़ता। ११/३२-६३१
धूम सृज = ११/३६-६३
अवतान - उत्तान पृथ्वी भाग
योग में ही मानव जाति की रक्षा
और त्राण निहित है - ११/४२-६
साधक जनता का प्रियशिशुः ११/४
भर्वा - ११/४४
शीतल जल धाराएं - यो
धाराएं - ११/५०-५१-५२
पृथ्वी भूमि = ११/५३
कोयला अग्नि में पड़कर एकरूप
आत्म सत्ता का प्रकटीकरण - ११/५५-५६

योग-जीवनपद्धति

(देहरूपी खेदान में आत्मर
अन्त्रा निहित है। उसरत्न की
तथा प्रतीति अध्यात्म अथवा योग जीवन
का मूलाधार है) - यजः ११/१०-१९, २१,
अध्यात्म सम्पदा की हांडी को सन्तति
पकाएं - ११/६०-५.
जीवन सार्थक्य की भावना जीवन के
ब्राह्म बनाने की प्रेरणा देती है ११/
शिव संकल्प से कामाकल्प - ११/
जीवन उखा-माटी की हांडी ध्रुवता में
अभिन्न मित्र प्रभु - ११/६४
जनगण धन के शिकारी

महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान केन्द्र
तिथि.....
पु०सं०...113...
भारती पुस्तकालय

विद्यानन्द 'विदेह'

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सर्वाधिकार लेखकाधीन

प्रथम संस्करण : माघ, २०२५ वि : जनवरी, १९६९ ई
२,००० प्रतियाँ

शुद्धिपत्र

वेदव्याख्या-ग्रन्थ (एकादश पुष्प) में कृपया निम्नलिखित शोधन करके, इसे फाड़ फेंकिए।

पृष्ठ	स्तम्भ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७०३	२	१४	सात	सात नील
७०५	२	१९	वाचस्पति	ज्ञान शोधक
७१२	१	११	सूर्या	सूर्य
७२०	२	१६	मनस्तत्त्व	मनसस्त्त्व
७२१	२	२०	सत्य,	सत्य
७२६	२	१५	सिंचनशील के	सिंचनशील
७२९	२	३१	योग	योगी
७६६	१	२४	श्री नाम शोभा, सौन्दर्य, ऐश्वर्य का है।	पुरीष नाम श्री [शोभा, सौन्दर्य, ऐश्वर्य] का है।

प्रकाशक : वेद-संस्थान, बाबू मोहल्ला, अजमेर ; मुद्रक : राजहंस प्रिंटर्स, अजमेर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आत्मा (जीवात्मा) तथा शरीर (प्रकृति) के ...

आत्मा के स्वरूप का ज्ञान तथा मोक्ष के ... आत्मा को ...
वेदों में ... पृ. 624. - देहरूपी रथ में आत्मा सहित ...
तेजोमय ... परमात्मा - पृ 624
ब्रह्म प्राप्ति के लिए कहीं जाना आना नहीं होता - यजु 11/24
योग पद्धति की महानता - पृ - 623
साधक की ... विशेषताएं — 11/36
योगाभ्यास के सुप्रभाव से शुभफल - यजुर्वेद 11/32
कैवल्य - आनन्द समाधि - 11/32
पृथ्वी के ... स्थान वर्णन - प्राणीमात्र का निवास स्थान - 11/32
योग के द्वारा ... योग के आठ अंगों से मानव समाज की रक्षा हो ...
योग विनाश का पथ है / योग ही मानवजाति की रक्षा ... कारण
निहित है ॥ - 11/42
सालम - 11/42-45 / मा पादि आयुषः पुरः 11/45
उपपुर्वीति जीहि ॥ 11/45 ॥

11/22 - का दयानन्द भाष्य व्यर्थ है - ब्रह्मदत्त जिज्ञासु की दृष्टि
मृत्तिका मृन्मयी उक्त - मिट्टी का मानव शरीर - इसकी अनेकानेक योगाभ्यास से बनाई
11-25 - में 24, 25, 26, 25
मानवी - उक्त - अवट - एक विशेष गर्त - मानवी अत्यन्त रहस्यपूर्ण - अखिल सृष्टि के
सूक्ष्म और स्थूल दर्शन हैं, वे सब इस उक्त में अन्तर्निहित है - 11/41 - 624
इसका उपयोग - 11-29 वसु - रुद्र - आदित्य - वैश्वानर - इन्द्र - वरुण का
पोषण / 11-40 ॥ आदित्य उक्त वरुणी - वरणीय प्रवृत्तियों द्वारा - विवेक
दिव्य जिह्वा - वाणियों द्वारा - आच्छन्न पंख प्रतीतियों द्वारा - स्वादु - मीठी बोल -
प्रशस्तियों द्वारा - किया जाय, अभिचलत हो, पकाई जाने, संचित जावे / 11-41 ॥
द्यौ का प्रभु समझो ॥ यह हम दृढ़ संकल्प कि कोई अपनी पृथ्वी सम्पत्ति के लाभ
स्तुत करे और प्रभु परम स्नेही मित्रों की तरह उसकी रक्षा करे / — 11/45
यथा प्राणी तथा साधना. 11/42-643

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

श्री गुरुचरन लाल आनन्द, (राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली,) जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में पांच सौ रुपये से सहायता की है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यजुर्वेद-व्याख्या

ग्यारहवां अध्याय

योग-जीवनपद्धति

दसवें अध्याय में राष्ट्रनिर्माण-शास्त्र का प्रकाशन करके वेदमाता इस ग्यारहवें अध्याय में योग-जीवनपद्धति का निरूपण करती है। जीवनपद्धति किसी भी राष्ट्र के विकास या ह्रास में प्रत्यक्षतः प्रमुखतया कारणभूत होती है।

राष्ट्रीय जीवन की दो ही पद्धतियां हैं—योगपद्धति, भोगपद्धति। जीवन की योगपद्धति राष्ट्रों को सतत विकास और उत्थान के राज-मार्ग पर अग्रसर रखती है। तद्विपरीत जीवन की भोगपद्धति राष्ट्रों को ह्रासोन्मुख रखकर उन्हें अन्धकारपूर्ण विनाश के गहरे गर्त में गिराती रहती है।

अविकसित राष्ट्रों के नेताओं को अपने-अपने राष्ट्र का संविकास तथा समुत्थान अभीष्ट है तो उन्हें सर्वप्रथम स्व-स्व राष्ट्र में योग-जीवनपद्धति प्रस्थापित करनी चाहिये। एवमेव सर्वथा विकसित और समुन्नत राष्ट्रों के नेताओं को विकास और उन्नति के क्रम को अग्रसृत रखना अभीष्ट है तो उन्हें भी स्व-स्व राष्ट्र के लिये जीवन की योगपद्धति विहित करनी चाहिये।

इस सन्दर्भ में यह समझ लेना आवश्यक है कि योग प्रातः-सायं की क्रिया-विशेष का ही नाम नहीं है। योग तो जीवन की एक पद्धति का नाम है। प्रत्येक मानव अपने जीवन में या तो योगी है अथवा भोगी। जो व्यक्ति अपने चौबीसों घण्टे के जीवन में जीवन की योगपद्धति का अनुसरण करता है वह योगी है। तद्विपरीत अपने चौबीसों घण्टों के जीवन में जो व्यक्ति जीवन की भोगपद्धति का अनुसरण करता है वह भोगी है।

जिस जाति अथवा राष्ट्र के नागरिकों के जीवन की पद्धति योगपद्धति होती है, वह जाति अथवा राष्ट्र सदैव ज्येष्ठ और श्रेष्ठ बना रहता है। जिस जाति अथवा राष्ट्र के नागरिकों के जीवन की पद्धति भोगपद्धति होती है, वह जाति अथवा राष्ट्र बहुत दिनों तक खड़ा नहीं रह सकता। इसी हेतु से राष्ट्रनिर्माण-शास्त्र के उपरान्त योग-जीवनपद्धति का विधान है।

४३१ युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥ य ११/१

युञ्जानः प्रथमम् मनः तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेः ज्योतिः नि-चाय्य पृथिव्याः अधि आ-अभरत् ॥

(सविता) सविता ने (तत्त्वाय) तत्त्वार्थ (प्रथमम्) प्रथम (मनः, धियः) मन और धारणाओं को (युञ्जानः) युक्त करते हुए, (अग्नेः ज्योतिः) अग्नि की ज्योति (नि-चाय्य) निश्चित रूप से प्राप्त करके (पृथिव्याः अधि) पृथिवी के ऊपर [ज्योति] (आ-अभरत्) पूर दी।

'सविता' का अर्थ है रचयिता, प्रेरक और प्रकाशक। सौर मण्डल का सविता है यह सूर्य। सृष्टि का सविता है यह ब्रह्म। मानव-जीवन का सविता है यह आत्मा। मन्त्रस्थ सविता है शरीर सम्पदा का सम्पादक, प्रेरक और प्रकाशक यह आत्मा।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तत्त्व = तत् + त्व। 'तत्' का अर्थ है वह। जो कुछ भी है, भावमात्र, सब 'तत्' है। तत् का त्व ही 'तत्त्व' है। प्रत्येक वस्तु अथवा सत्ता का अपना-अपना त्व है। गुरु का गुरुत्व, महत् का महत्त्व, ब्रह्म का ब्रह्मत्व, आत्मा का आत्मत्व, जीव का जीवत्व, प्राण का प्राणत्व, अन्न का अन्नत्व, जल का जलत्व, मम का ममत्व, राजा का राजत्व, क्षत्र का क्षत्रत्व, इत्यादि असंख्य 'त्व' हैं।

तत् के त्व की परिधि में अखिल त्व निहित है। तत् 'सत्' है। वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा सत् (य ३२/८)। (गुहा निहितम्) गुहा में निहित (तत् सत्) तत् सत् को (वेनः पश्यत्) योगी ही देख पाता है।

मन्त्र में प्रयुक्त 'अग्नि' है वह ब्रह्माग्नि जिसकी ज्योति से यह सब द्योतित होरहा है।

'मन' का प्रयोग यहां अन्तःकरण के लिये हुआ है और धियः का धारणाओं अथवा वृत्तियों के लिये। मस्तिष्क के विचारों और हृदय की भावनाओं के सहप्रवाहों का ही नाम है धारणायें अथवा वृत्तियां। मस्तिष्क और हृदय के संयोग का नाम है अन्तःकरण।

आत्मा को तत्त्व के साक्षात्कार की अभिलाषा होती है तो वह सर्वप्रथम मन और धारणाओं को योगयुक्त करता है। मन और धारणाओं के योगयुक्त होने पर वह निश्चित रूप से ब्रह्म की ज्योति को प्राप्त करता है। ब्रह्म की ज्योति को प्राप्त करके वह उस ब्राह्म ज्योति का पृथिवी पर प्रसार करता है, विश्व में उस ज्योति का प्रचार और उसकी प्राप्ति के उपायों का प्रकाशन करता है। ब्रह्मज्योति की ज्योत्स्ना में वह प्रत्येक तत् के त्व [सत्य स्वरूप] का साक्षात्कार करता है। तत्त्ववेत्ता ही धर्म के मर्म को समझता है। तत्त्ववेत्ता ही कर्तव्य कर्म का धर्मपूर्वक निर्वहन करता है। तत्त्वज्ञान ही राजा और प्रजा में धर्माचरण की स्थापना करता है। धर्माचरण से पृथिवी पर सुख, शान्ति और आनन्द की व्याप्ति होती है।

सविता ने तत्त्व अर्थ युक्त किया
प्रथम मन, धारणाओं को।
निश्चित ज्योति अग्नि की पाकर
उसे पूर दिया पृथिवी पर।

४३२ युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ य ११/२

युक्तेन मनसा वयम् देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या ॥

(सवितुः देवस्य सवे) सविता देव के समुत्पन्न संसार में (स्वर्ग्याय) स्वर्ग्य के लिये, स्वर्गीकरण के लिये, स्वर्गनिर्माण के लिये (वयं) हम (युक्तेन मनसा) युक्त मन से, समाहित अन्तःकरण से तथा (शक्त्या) शक्ति से [युक्त हों]।

यहां 'सविता देव' वह देवाधिदेव है जो इस सर्व का रचयिता, प्रेरक और प्रकाशक है।

'स्वः' नाम सुख, स्वस्ति और आनन्द का है। 'ग' नाम गमन—गति का है। जहां सर्वत्र सुख, स्वस्ति [सु-अस्ति, सु-अस्तित्व, सु-जीवन] तथा आनन्द के साथ जीवन का निर्वहन तथा प्रगमन होता है, उसे स्वर्ग कहते हैं। जहां दुःख, क्वस्ति [कु-अस्ति] तथा क्लेश है, वह नरक है।

देव सविता के इस पृथिविरूपी सव पर हमें स्वर्ग का निर्माण करना चाहिये, नरक का नहीं। इस पृथिवी पर निवास करनेवाले हम सब मानव इस पर स्वर्ग का निर्माण करेंगे तो हम सभी मनुष्य स्वः के भागी होंगे। यदि हम इस पर नरक का निर्माण करेंगे तो हम सभी दुःख, क्वस्ति [कु-अस्ति, कु-जीवन] तथा क्लेश को प्राप्त होंगे।

देव सविता [परमात्मा] स्वयं स्वः है, सुख-स्वरूप तथा आनन्दस्वरूप है। यथा कर्ता, तथा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कृति। जो स्वयं सुखस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप है, उसके द्वारा समुत्पन्न संसार में दुःख तथा क्लेश का क्या काम? उसने तो संसार में सुख और आनन्द का ही निर्माण किया है। हमने सुख को सड़ाया और सुख दुःख में परिणत होगया। हमने आनन्द को सड़ाया और आनन्द क्लेश में परिवर्तित होगया।

जिस प्रकार शुद्ध पदार्थों को सड़ाकर शराब बनाई जाती है, उसी प्रकार मानव सुख और आनन्द को सड़ाकर दुःख और क्लेश बनाते हैं। सुखमय और आनन्दमय देव सविता ने तो अपने समुत्पन्न संसार में सुख और आनन्द ही निर्मित किया है।

अपने संसार को स्वर्ग में परिणत करने और स्वर्गमय बनाये रखने के लिये तो हमें युक्त—समाहित मन और शुद्ध ब्राह्म शक्ति से संयुक्त रहना होगा। उपाय एकमात्र है, पूर्वमन्त्रानुसार, तत्त्वाय मन और धारणाओं को युक्त करके, योगयुक्त जीवन-पद्धति से सम्पन्न होकर सम्पूर्ण पृथिवी पर ब्रह्म की ब्राह्म ज्योति का प्रसार करना। अयुक्त मन और धारणाओं तथा भोगयुक्त जीवनपद्धति से तो स्वर्ग भी नरक बन जाता है।

देव सविता के सवन में,
स्वर्ग के निर्माण-हेतु,
युक्त हों हम युक्त मन से,
ब्रह्म के ब्राह्म बल से।

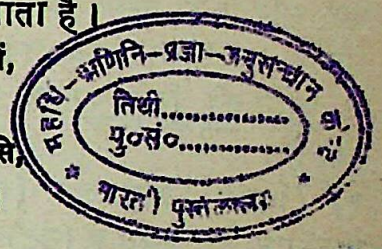

४३३ युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥ य ११/३

युक्त्वाय सविता देवान् स्वःयतः धिया दिवम्।
बृहत् ज्योतिः करिष्यतः सविता प्र-सुवाति तान्॥

यहां यह ज्योति के प्रसार का प्रक्रम है।

(सविता) सविता (स्वःयतः देवान्) आत्म-साधना करनेवाले देवों को (धिया) धी द्वारा (दिवम्) द्यौ—प्रकाश के प्रति (युक्त्वाय) युक्त करके [उन्हें बृहज्ज्योतिष्कार बनाता है।] (सविता) सविता (तान् बृहत् ज्योतिः करिष्यतः) उन बृहत् ज्योति करनेवालों को (प्र-सुवाति) प्र-प्रेरता है, सुप्रेरणा करता है।

इस मन्त्र का 'सविता' वह देव सविता है जो अखिल सृष्टि को प्रेर और प्रकाश रहा है, जिसकी ज्योति से यह सब द्योतित होरहा है।

धी का अर्थ है ध्यान और धारण। ध्यान से ही धारण होता है। जब आत्मसाधक देव-देवियां सविता देव के वरेण्य भर्ग [दिव्य तेज] अथवा आदित्य वर्ण [दिव्य सौन्दर्य] का ध्यान करते हैं तो उनमें दिव्य ज्योति का संचार होता है। ज्योतिष्मान् बनकर वे ज्योति का प्रसार करते हैं। इस प्रकार वे बृहज्ज्योतिष्कार बन जाते हैं।

आत्मसाधक देव-देवियां जब देव सविता की दिव्य ज्योति से ज्योतिष्मान् और बृहज्ज्योतिष्कार बन जाते हैं तो उन्हें सविता देव की सतत प्रेरणायें प्राप्त होती रहती हैं। सविता देव उन्हें विश्व के ज्योतिष्करण की सतत प्रेरणायें और उनका सतत मार्गदर्शन करता रहता है।

सविता आत्मसाधक देवों को
करता है संयुक्त द्यौ से धी के द्वारा।
उन बृहज्ज्योतिष्कारों को
सविता सुप्रेरणा करता है।

सूक्ति—सविता प्रसुवाति।
सविता सुप्रेरणा करता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

४३४ युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्महो देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥
[ऋ ५.८१.१, य ५/१४, ३७/२] य ११/४

युञ्जते मनः उत युञ्जते धियः विप्राः विप्रस्य बृहतः विपःचितः ।
वि होत्राः दधे वयुन-वित् एकः इत् महो देवस्य सवितुः परि-स्तुतिः ॥

पूर्व-मन्त्र में ध्यान द्वारा ज्योति के धारण का, देव सविता के वरेण्य भर्ग तथा आदित्य वर्ण के संचार का संकेत किया गया है। यहां इस मन्त्र में ध्यान की विधि का मूल रूप से उल्लेख किया गया है।

१) (विप्राः) विप्र जन (मनः युञ्जते) मन को युक्त–समाहित करते हैं (उत) और (धियः युञ्जते) धियों को युक्त–समाहित करते हैं।

वि-प्र, वि-प्रकृष्ट, विविधतया–विशेषतया–सर्वथा प्रकृष्ट जो हो उसे 'विप्र' कहते हैं। विप्राः शब्द का प्रयोग यहां नितान्त निर्दोष, निष्पाप, निर्मल योगियों के लिये हुआ है। इसी निरुक्ति के अनुसार विप्र नाम ब्रह्म [परमात्मा] का भी है। विप्र जन मनः और धियः को समाहित करके ध्यान-समाधि द्वारा विप्र—ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं।

मन 'हृत्प्रतिष्ठ' (य ३४/६) है, हृदयाकाश में स्थित है। वक्ष के नीचे और उदर के ऊपर भीतर की ओर जो दशांगुल अवकाश है, उसकी संज्ञा 'हृत्' [हृदयाकाश] है। हृत् के मध्य में हिरण्यय कोश और ज्योति से आवृत स्वर्ग है जिसमें देहाधिपति आत्मा का निवास है। आत्मनिवास अथवा आत्मकोश पर आत्मचेतना तथा आत्म-ज्योत्स्ना की चिन्मय परिधि है जिसे चित्त कहते हैं। चिन्मय परिधि पर संकल्पमय परिधि है जिसे मन कहते हैं। चित्त से जो चेतनामयी भावनाओं की तरंगें अथवा लहरें निरन्तर क्षरण करती रहती हैं, वे ही वृत्तियों के नाम से प्रसिद्ध हैं।

'धियः' का प्रयोग हुआ है यहां धारणाओं के लिये, जिनका अधिष्ठान है मस्तिष्क। इन धारणाओं का ही नाम विचार-तरंग अथवा विचार-प्रवाह है।

आत्मा से आत्मचेतना और आत्मज्योत्स्ना की, चित्त से वृत्तियों की, मन से संकल्पों की और मस्तिष्क से धारणाओं [चिन्तनों, विचारों] की रश्मियां अथवा लहरें सतत प्रवाहित होती रहती हैं।

२) विप्र जन योगासन में स्थित होकर आत्मसंयम से मन के संकल्पों और मस्तिष्क की धारणाओं का निरोध करके हृदय और मस्तिष्क को समाहित करके, समाधिस्थ होकर आत्मस्वरूप में अवस्थित होते हैं। उस अवस्था में वे इस अखिल में विप्र–ब्रह्म के निज रूप का तथा उसके अखिल-सृष्टिमय विराट् स्वरूप का साक्षात्कार करते हुए कहते हैं—वह (वयुन-वित्) वयुनों–विज्ञानों–प्रज्ञानों को जाननेवाला, सर्वगतियों—सर्वचेष्टाओं का ज्ञाता (एकः इत्) एक ही, एकला ही (होत्राः) होत्रों को, सृष्टिप्रवाहों को, लोकलोकान्तरों को (वि-दधे) विविधतया धारण कर रहा है, विविध प्राकृत नियमों द्वारा सहारते हुये संचालन कर रहा है। उस (बृहतः विपःचितः सवितुः देवस्य विप्रस्य) महान्, सर्वज्ञ, सर्वप्रकाशक, दिव्य विप्र–ब्रह्म की (परि-स्तुतिः) महिमा (महो) महती है।

इस मन्त्रांश में विप्र शब्द का प्रयोग प्रत्यक्षतः ब्रह्म के लिये हुआ है। विप्र–ब्रह्म इस अखिल में समाया हुआ है। विप्र जन समाधि-अवस्था में

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विप्र–ब्रह्म के निज रूप का सन्दर्शन करते हैं और साथ ही इस अखिल को उसकी व्याप्तिमात्र से सुसंचालित हुआ देखते हैं। वे स्पष्ट देखते हैं कि सर्वव्यापक और सर्वज्ञ ब्रह्म किस प्रकार अपने सर्वव्यापक प्राकृत नियमों द्वारा प्रवाहमयी अखिल सृष्टियों तथा लोकलोकान्तरों को एकला ही धारण कर रहा है। यह तो ब्रह्म की महान् महिमा है ही। पर छोटे से हृत् में अनन्त का दर्शन, यह भी तो उसकी कैसी अद्भुत महान् महिमा है!

विप्र युक्त करते हैं मन को, अपि च
करते हैं वे युक्त–समाहित धारणाओं को।
एकला ही वह धार रहा है
विविध प्राकृत नियमों द्वारा,
सृष्टिप्रवाहों को, लोकों को।
महिमा मही महान् विपश्चित्
सर्वप्रकाशक देव विप्र की।

सूक्ति—**युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्राः।**
विप्र जन मन को समाहित करते हैं और धारणाओं को समाहित करते हैं।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इत्।
वह प्रज्ञावित् एकला ही सृष्टियों को धारण कर रहा है।
मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः।
देव सविता की महिमा महान् है।

४३५ युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥
[ऋ १०·१३.१, अ १८.३.३९] य ११/५

युजे वाम् ब्रह्म पूर्व्यम् नमःभिः वि श्लोकः एतु पथ्या-इव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥

यह आत्मस्वरूप में स्थित ब्रह्मसाक्षात्कृत् तत्त्ववित् सूरि का श्लोक है—

१) मैं (वाम्) तुम दोनों को (पूर्व्यम् ब्रह्म) सनातन ब्रह्म के प्रति (नमःभिः) नमस्कारों के साथ (युजे) युक्त करता हूं।

२) मुझ (सूरेः) सूरि का [यह] (श्लोकः) श्लोक (पथ्या-इव) पथ्या की तरह (वि एतु) वि-गमन करे, विविध–सर्व दिशाओं में व्याप जाये।

३) यह श्लोक (शृण्वन्तु) सुनें (अमृतस्य विश्वे पुत्राः) अमृत के [वे] सब पुत्र, (ये दिव्यानि धामानि आ तस्थुः) जो दिव्य धामों को/पर संस्थित हैं/दिव्य पदों पर विराजे हुए हैं।

सूर्य के समान प्रकाश प्रसार करनेवाले विप्रों की ही संज्ञा सूरि है। प्रत्येक विप्र–सूरि अपने राष्ट्र-जनों तथा विश्व-जनों को शिक्षा, उपदेश, प्रेरणा करते हुए कहता है—

१) मैं तुम दोनों को सनातन ब्रह्म के प्रति नमस्कारों के साथ युक्त करता हूं।

कौन हैं वे दो जिन्हें सूरि नमस्कारों के साथ सनातन ब्रह्म से युक्त रहने को कह रहा है? वे दो हैं स्त्री और पुरुष, पत्नी और पति, माता और पिता, नारि-वर्ग और नर-वर्ग। यह पारिवारिक और सामाजिक जीवन की ओर संकेत है। परिवार में दम्पती का और समाज में नर-नारी का जीवन ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिये, नास्तिक नहीं। नास्तिकता से अधार्मिकता पनपती है। अधार्मिकता से उच्छृङ्खलता फैलती है। उच्छृङ्खलता से मानव-समाज में व्यसन, विलास, अनाचार, व्यभिचार, भ्रष्टाचार, मर्यादा-हीनता तथा निर्लज्जता की व्याप्ति होती है और उसका परिणाम होता है राष्ट्रों का अधःपतन तथा सर्वनाश। परिवार में प्रत्येक दम्पती और

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

समाज में प्रत्येक नर-नारी श्रद्धापूर्वक ब्रह्म को यथावसर नमस्कार करे, नमस्कारपूर्वक ब्रह्म की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करे। वे अपनी सम्पूर्ण भावना और साधना के साथ सनातन ब्रह्म से सतत युक्त रहें। ऐसे वातावरण में ही सन्ततियां शुद्ध विचार, आचार और व्यवहार से युक्त रहती हुयी आस्तिक, धर्मशील, योगवृत्त रहती हैं और राष्ट्र स्वच्छ, स्वस्थ तथा उत्थानोन्मुख रहते हैं।

२) मुझ सूरि का यह श्लोक पथ्यावत् व्याप जाये।

पथ्या नाम उस सुदीर्घ राजमार्ग का है जो ग्राम-ग्राम, नगर-नगर, प्रान्त-प्रान्त को एक-दूसरे से सम्बद्ध करता चला जाता है। श्लोक नाम प्रशस्त वचन अथवा पद्य का है। 'युजे-वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः'—सूरि का यह श्लोक पथ्या के समान ग्राम-ग्राम, नगर-नगर, प्रान्त-प्रान्त और राष्ट्र-राष्ट्र में व्यापता चला जाये, तो इस पृथिवी पर स्थित सारे राष्ट्र और सारी मानव-प्रजा भौतिक और आत्मिक अखिल सम्पदाओं से सुसम्पन्न होजायें और सतत सुसम्पन्न रह पायें।

३) इस श्लोक को सुनें अमृत के वे सब पुत्र-पुत्रियां, जो दिव्य धामों पर विराजे हुए हैं।

जो कुछ सत्य, शिव, शुद्ध, सुन्दर और शाश्वत है वह सब अमृत है। ब्रह्म, आत्मा, धर्म, कर्म का सेवन करनेवाले और जीवन के अमृतमय पथ पर चलनेवाले अमृत के पुत्र-पुत्रियां हैं। उनमें से भी जो पुत्र-पुत्रियां दिव्य धामों पर विराजे हुए हैं, दिव्य पदों पर आसीन हैं, मानव-समाज में श्रेष्ठ और प्रतिष्ठित स्थितियों में स्थित हैं, वे इस श्लोक को सुनें और तद्वत् आचरण करें, क्योंकि दिव्य जन, प्रतिष्ठित देव-देवियां जैसा आचरण करते हैं, सामान्य जन उनका अनुकरण करते हैं। दिव्य धामों में विराजे हुए अमृत के पुत्र-पुत्रियां इस श्लोक की प्रतिष्ठा करके सम्पूर्ण मानव-समाज में जीवन की योगपद्धति की प्रस्थापना का पथ प्रशस्त करने में सहायक हों।

करता हूं मैं तुम दोनों को
युक्त—समाहित पूर्व्य ब्रह्म से
नमस्कारों के साथ।
व्याप जाये यह श्लोक सूरि का
पथ्या के समान।
सुनें इसे सब पुत्र अमृत के,
संस्थित हैं जो दिव्य पदों पर।

सूक्ति—वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः।

सूरि का सुसन्देश राजमार्ग की तरह व्याप जाये।

४३६ यस्य प्रयाणमन्वन्य इद् ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा।
यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना॥
[ऋ ५.८१.३] य ११/६

यस्य प्र-यानम् अनु अन्ये इत् ययुः देवाः देवस्य महिमानम् ओजसा।
यः पार्थिवानि वि-ममे सः एतशः रजांसि देवः सविता महित्वना॥

आज ही नहीं, सदा से, न केवल अबोधों, अज्ञानियों तथा संशयशीलों को, अपि तु बड़े-बड़े ज्ञानियों, योगाभ्यासियों, ऋषियों, कर्मकाण्डियों और भक्तों तक को उस सनातन ब्रह्म के अस्तित्व में शंका होती चली आयी है। पूर्व-मन्त्र में विप्रों ने सकल नर-नारियों को सम्पूर्ण भावना से नमस्कारोंसहित सनातन ब्रह्म से युक्त रहते हुए उसका साक्षात्कार करने की बात कही है और दिव्य पदों पर स्थित अमृत के पुत्र-पुत्रियों से उस दिशा में आदर्श प्रस्तुत करते रहने की सुप्रेरणा की है। उनके

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मानस में उस तथ्य के प्रति पूर्ण आस्था जमाने और तद्विषयक उनकी निष्ठा में श्रद्धा [श्रत्=सत्य+धा=धारणा] बिठाने के लिये विप्र जन वेदमाता के दिव्य शब्दों में उपदेश करते हैं—लोगो! (यस्य देवस्य) जिस देव के (प्र-यानम्) प्रयाण को तथा (महिमानम्) महिमा को (अन्ये देवाः इत्) विरले देव ही (अनु ययुः) प्राप्त किया करते हैं, प्रत्यक्ष जाना करते हैं, (यः) जिसने [अपने] (ओजसा, महित्वना) ओज और बड़ाई से (पार्थिवानि, रजांसि) पार्थिवों और रजों को (वि-ममे) रचा है, (सः एतशः सविता देवः) वही सर्वव्यापक सविता देव [पूर्व्य ब्रह्म, सनातन ब्रह्म] है।

प्रयाण=प्र-यान। प्र=प्रकृष्ट। यान=गमन, गति। परमात्मा की सर्वव्याप्ति ही उसका प्रयाण है।

अखिल सृष्टि में दो ही प्रकार के लोक हैं—पृथिवी-लोक जिन्हें 'पार्थिवानि' कहा गया है और प्रकाश-लोक जिन्हें 'रजांसि' कहा गया है। पार्थिवों में मिट्टी, अग्नि तथा जीवन-तत्त्व निहित होता है जिस कारण उनमें प्राणियों का अस्तित्व तथा निवास होता है और उनमें वायु, जल तथा वनस्पतियां होती हैं। रजोलोकों [प्रकाशलोकों] में कृष्णार्बन (कार्बन) पर अग्नि प्रज्वलित होता है, उनसे लाखों-करोड़ों मीलों तक ज्वालायें—लपटें उठती रहती हैं और उनसे करोड़ों-अरबों मील तक प्रकाश तथा ऊष्मा पहुंच रही होती है।

पार्थिव-लोकों तथा प्रकाश-लोकों से भरपूर यह सृष्टि अनन्त, असीम, अपार है। इसकी विशालता का कुछ अनुमान कराने के लिये सृष्टिविज्ञानवेत्ताओं द्वारा प्रस्तुत किये गये कुछ तथ्य यहां अंकित किये जाते हैं—

१) प्रकाश की गति एक सैकिण्ड में एक लाख छयासी हज़ार मील है।

२) असंख्य ऐसे नक्षत्र हैं जिनका प्रकाश निरन्तर उड़ता हुआ इस पृथिवी तक चालीस करोड़ वर्षों में पहुंचता है।

३) बीस-बीस, तीस-तीस लाख नक्षत्रों के पृथक् पृथक् अरबों ऐसे विश्व हैं जिनका प्रकाश एक-दूसरे विश्व तक पांच करोड़ वर्षों में पहुँचता है।

४) उपर्युक्त कोटि के करोड़ों विश्व नित्य बनते और बिगड़ते रहते हैं।

५) एक अरब चालीस करोड़ प्रकाश-वर्षों में विश्वों तथा ब्रह्माण्डों का व्यासार्ध द्विगुणित होजाता है।

६) असंख्य ऐसे पूषा-लोक हैं जिनका कार्य असंख्य सूर्यों को प्रकाश-भोजन देना है।

७) ज्येष्ठा तारा हमारी-जैसी सात पृथिवियों के बराबर है।

८) ध्रुव तारा हमारी पृथिवी से ढाई नील मील दूर है।

९) आकाश-गंगा में साठ करोड़ ऐसे लोक हैं जिनमें जीवन-तत्त्व और मानव तथा अन्य प्राणी निवास करते हैं।

१०) आकाश-गंगा में सूर्य-जैसे लाखों तारे हैं। हमारे अपने नक्षत्र-पुञ्ज में लाखों सूर्य तथा सौर मण्डल हैं।

११) विल्सन पर्वत तथा पालोमर की विज्ञान-शालाओं ने चार ऐसे नक्षत्रों का पता लगाया था, जिनमें से प्रत्येक के विस्फोट की चमक एक अरब सूर्यों की चमक के बराबर है। सन् १८८५ से १९६५ तक ऐसे एक सौ छब्बीस नक्षत्रों का पता लगाया जा चुका है।

खोजनेवालों ने जितना खोजा, उन्होंने इस सृष्टि को उतना ही अनन्त पाया और अन्त को वे 'नेति' कहकर चलते बने। पर वैज्ञानिक एक स्वर से यह अवश्य कहते चले आरहे हैं कि सृष्टि की रचना, विकास, संचालन—सब कुछ नियम और विधि के अधीन होरहा है। किन्तु वे अभी

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तक यह नहीं जान पाये हैं कि ऐसे-ऐसे लोक आकाश में किस आश्रय से स्थित और संचालित हैं।

निश्चय ही एक देव है जो अपने सर्वव्याप्ति-रूप प्रयाण और संबल से, अपने ओज और महित्व से अखिल पार्थिव-लोकों तथा प्रकाश-लोकों को अपने सर्वव्यापी प्राकृत नियमों के मिष से रचता, चलाता और प्रकाशता है। वही सर्वव्यापक और सर्वज्ञ देव इस सबका सविता [रचयिता, संचालक, प्रकाशक] है। उस महिमामय की महिमा को ज्ञानी, विज्ञानी और अज्ञानी—सब देखते और स्वीकारते हैं। पर उसका प्रत्यक्ष अनुभवन, सन्दर्शन तो कोई देव ही कर पाते हैं, योगसाधना-सम्पन्न विप्र ही कर पाये हैं।

जिस देव के प्रयाण और महिमा को
विरले ही देव जान पाते हैं,
रचा है जिसने अपने ओज और महित्व से
पृथिवी-लोकों तथा प्रकाश-लोकों को,
वही सर्वव्यापक देव है इस सबका
सविता [रचयिता, प्रेरक और प्रकाशक]।

४३७ देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥
[य ९/१, ३०/१] य ११/७

देव सवितः प्र-सुव यज्ञम् प्र-सुव यज्ञपतिम् भगाय।
दिव्यः गन्धर्वः केत-पूः केतम् नः पुनातु वाचः पतिः वाचम् नः स्वदतु ॥

पूर्व-मन्त्र में विप्र जनों ने जिस सविता देव की महान् महिमा का आस्थामय दिग्दर्शन कराया है, उसी देव से वे यहां प्रार्थना करते हैं—

१) (देव सवितः) ! (भगाय) भगार्थ, ऐश्वर्यार्थ, सौभाग्यार्थ (प्र-सुव यज्ञम्) सु-प्रेर यज्ञ को, (प्र-सुव यज्ञ-पतिम्) सु-प्रेर यज्ञपति को।

राष्ट्र-राष्ट्र में नागरिकों को योग-जीवनपद्धति से समलंकृत करना एक बहुत असाधारण और सुमहान् यज्ञ है। जो विप्र इस यज्ञानुष्ठान में संलग्न हैं वे भी महतो महान् यज्ञपति हैं। यह वह यज्ञ है जिससें देश-देश और राष्ट्र-राष्ट्र सच्चे अर्थों में भगशाली, भाग्यशाली, सौभाग्यशाली बनेंगे। जीवन की योगपद्धति ही सच्चा सौभाग्य है। देव सविता की अन्तर्व्यापिनी सुप्रेरणा ही इस यज्ञ की साधना को सफल बनायेगी। उसी की सुप्रेरणा इस यज्ञ के प्रत्येक यज्ञपति का सुनयन तथा मार्ग-दर्शन करने में समर्थ होगी। इसीलिये विप्रों की देव सविता से विनय है कि वह प्रत्येक विप्र यज्ञपति को सतत सुप्रेरणा करता रहे और उस यज्ञ को भी अपनी सुप्रेरणा से सुप्रेरित करता रहे।

२) (दिव्यः गन्धर्वः केत-पूः) दिव्य गन्धर्व केत-पू (नः केतम्) हमारे केत को (पुनातु) पवित्र करे।

गन्धः-वः गन्धर्वः। दिव्य गन्ध से जो युक्त हो उसे 'दिव्य गन्धर्व' कहते हैं। देव सविता ही वह गन्धर्व है जिसकी गन्ध दिव्य गन्ध है।

चित्त की चेतना और मस्तिष्क के ज्ञान का नाम केत है। 'पूः' का अर्थ है पवित्र करनेवाला। देव सविता ही केत का शोधक है। केत की पवित्रता के बिना निस्सन्देह विद्या और साधना दोनों ही निष्फल रहती हैं। केत की पवित्रता ही जीवनों को दिव्य गन्ध से सुगन्धित और दिव्य सुरभियों से सुरभित रखती है। परिष्कृत मस्तिष्क और परिष्कृत चित्त जीवनों को मलिनताओं से

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मुक्त रखते हैं । केत के सुपूत रहने पर दृष्टि, श्रुति, वाणी, कृति, वृत्ति, भावना, संकल्प—सब कुछ दिव्य सुवासों से सुवासित रहते हैं । योगीकरण-यज्ञ के विप्र यज्ञपतियों के लिये यह परमावश्यक है कि वे निर्मल केत और दिव्य सुवास से सन्तत संयुक्त रहें । इसीलिये वे प्रार्थना करते रहते हैं—'दिव्य गन्धर्व केतपू सविता देव हमारे केत को पवित्र करे और सदा पवित्र रखे ।'

३) (वाचः पतिः नः वाचं स्वदतु) वाचस्पति हमारी वाणी को स्वादिष्ठ करे/रखे ।

देव सविता ही विप्रों का वाचस्पति हो, उनकी वाणी का पति और प्रेरक हो । विप्र-जनों के मुख से एक-एक शब्द वाचस्पति देव सविता द्वारा सुप्रेरित होकर निकलेगा, तब ही उनकी वाणी में वह स्वादिष्ठता आयेगी जिसकी इस महान् यज्ञ में अपेक्षा की जाती है ।

केत की पवित्रता से विप्रों की वाणी जहां पवित्र और सुगन्धित रहती है, वहां वह स्वादिष्ठ भी रहे । पवित्र और सुगन्धित होने पर भी यदि वाणी स्वादिष्ठ नहीं है तो मानव-प्रजा उसका सेवन न करेगी । सार्वजनीन किसी भी शुभ साधना में वाणी की स्वादिष्ठता का महत्त्व प्रत्यक्ष है । विप्र जन स्वादिष्ठ वाणी के द्वारा ही ज्ञान का प्रकाश करते हुए जीवनों को उत्प्रेरित करते हैं । इसीलिये वे सदैव प्रार्थना करते रहते हैं—'वाचस्पति देव सविता हमारी वाणी को स्वादिष्ठ करे और स्वादिष्ठ रखे ।'

सुप्रेरणा, निर्मल केत और स्वादिष्ठ वाणी—यह त्रित न केवल योग-यज्ञ की, अपि तु किसी भी साधना-यज्ञ की सफलता का अमोघ साधन हैं । और जब इस त्रित का सम्पादक स्वयं देव सविता हो, तब तो इसकी अमोघता और भी अमोघ होजाती है ।

सुप्रेर यज्ञ को,
सुप्रेर यज्ञपति को ।
दिव्य गन्धर्व केतपू
पवित्र करे हमारे केत को ।
वाचस्पति स्वादिष्ठ करे
हमारी वाणी को ।

सूक्ति—केतपूः केतं नः पुनातु ।
ज्ञानसाधनम्
वाचस्पतिः हमारे ज्ञान को पवित्र करे । —
वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ।
वाचस्पति हमारी वाणी को स्वादिष्ठ करे ।

४३८ इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्रणय देवाव्यं सखिविदं सत्राजितं धनजितं स्वर्जितम् ।
ऋचा स्तोमं समर्धय गायत्रेण रथन्तरं बृहद् गायत्रवर्त्तनि स्वाहा ॥ य ११/८

इमम् नः देव सवितः यज्ञम् प्र-नय देव-अव्यम् सखि-विदम् सत्रा-जितम् धन-जितम् स्वः-जितम् ।
ऋचा स्तोमम् सम्-अर्धय गायत्रेण रथम्-तरम् बृहत् गायत्र-वर्त्तनि स्वाहा ॥

अपनी प्रार्थना को जारी रखते हुए विप्र जन कह रहे हैं—

१) (देव सवितः) ! (नः) हमारे (इमम्) इस (देव-अव्यम्) दिव्यताओं की रक्षा करनेवाले, (सखि-विदम्) सखाओं—मित्रों की प्राप्ति करानेवाले, (सत्रा-जितम्) सत्य को जितानेवाले, (धन-जितम्) धनों—संग्रामों की विजय सम्पादन करनेवाले, (स्वः-जितम्) आनन्दजित्, सुखानन्दों की सम्प्राप्ति करानेवाले (यज्ञम्) यज्ञ को (प्र-नय) प्रकृष्टतया चला ।

विप्रों का योगव्याप्ति-यज्ञ निस्सन्देह वह यज्ञ है जिससे—

१. राष्ट्र-राष्ट्र में दिव्य गुणों, कर्मों और स्वभावों की रक्षा होगी,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

२. राष्ट्रों में पारस्परिक मित्रता की स्थापना होगी प्रत्येक राष्ट्र के नागरिक एक-दूसरे के सहृदय मित्र बनेंगे।

३. योगयुक्त होकर सभी राष्ट्र सत्यनिष्ठ होकर सत्य की विजय—प्रतिष्ठा सम्पादन करेंगे।

४. योगस्थ जनता धनैश्वर्यों से सम्पन्न और जीवन-संग्रामों में सफलकाम होगी। धन नाम ऐश्वर्य और संग्राम का है।

५. सर्वत्र स्वः [आनन्द] की जय–उपलब्धि होगी। ऐसे इस यज्ञ का सुसंचालन तब ही होगा, जब स्वयं अन्तर्यामी देव सविता उसका प्रणयन कर रहा होगा। इसीलिये विप्रों ने प्रार्थना की है, 'देव सवितः! हमारे इस यज्ञ का तू स्वयं प्रणयन कर।'

२) देव सवितः! (ऋचा स्तोमम्) ऋक् से स्तोम को, (गायत्रेण बृहत् रथम्-तरम्) गायत्र से बृहत् रथं-तर को, (स्वाहा गायत्र-वर्त्तनि) स्वाहुति से गायत्र-वर्त्तनि को (सं-अर्धय) सम्यक् बढ़ा।

वागृक्। ऋक् नाम वाणी का है, उस वाणी का जो प्रभु-प्रेरित अथवा आत्मप्रेरित हो। निस्सन्देह ब्रह्म-प्रेरित वाणी ही स्तोम का वर्धन—व्यापन करती है। 'यज्ञो वै स्तोमः।' यज्ञ ही स्तोम है।

'देव सवितः! ऋचा स्तोमं समर्धय। हमारी वाणी से यज्ञ का वर्धन कर। हमारी योगयुक्त वाणी योगयज्ञ की प्रसारिका हो। हमारी वाणी को ऐसी प्रभावमयी बना कि उससे प्रेरित होकर सर्व जन योगपथ पर चलें।'

'महाव्रतस्य गायत्रं शिरः।' महाव्रती का गायत्र शिर है। 'पृथिवी वै रथन्तरम्।' पृथिवी निस्सन्देह बृहत् रथं-तर है, विशाल रथ है, जिस पर सब प्राणी रथवत् आरूढ़ हैं।

'देव सवितः! गायत्रेण बृहद् रथन्तरं समर्धय। हमारे गायत्र [शिर] से विशाल पृथिविरूपी रथ को बढ़ा। हमारे योगयुक्त निर्विकार मस्तिष्क से जो दिव्य विचार निस्सृत हों, वे इस विशाल पृथिवी को योगमयी बनानेवाले और इस पृथिवी पर निवास करनेवालों को योगपथ पर चलानेवाले हों।'

स्व-आहुति तथा सु-आहुति का नाम स्वाहा है। स्व-आहुति ही वास्तव में सु-आहुति है। गायत्र=गान। वर्त्तनि=मार्ग। गायत्र-वर्त्तनि नाम उस गान का है जो रस्ता-चलते, मार्ग पर गमन करते हुए गाया जाता है।

'देव सवितः! स्वाहा गायत्रवर्त्तनि समर्धय। स्वाहा से मार्ग-गान को बढ़ा। हममें स्वाहा की वह भावना जगा कि मार्ग चलते हुये भी हम स्व-आहुति की सु-आहुति का सुगान करते हुए पादविक्षेप करें। स्व की सु-आहुति के बिना योग का सार्वभौम पथ प्रशस्त न हो पायेगा। स्वाहा की आत्मध्वनियां ही जन-जन को योगार्थ ध्वनित करेंगी।'

देव-सवितः,
चला प्रकृष्टतया हमारे इस
देवाध्य, सखिविद, सत्यजित,
धनजित, स्वर्जित यज्ञ को।
सम्यक् बढ़ा
ऋक् से स्तोम को,
गायत्र से बृहत् रथन्तर को,
स्वाहा से मार्ग-गान को।

सूक्ति—**इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्रणय।**
देव सवितः! हमारे इस यज्ञ को प्रकृष्टतया चला
ऋचा स्तोमं समर्धय।
वाणी से यज्ञ को बढ़ा।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

४३९ देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे ऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । आददे गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वत् पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्य-मङ्गिरस्वदाभर त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥ य ११/९

देवस्य त्वा सवितुः प्र-सवे अश्विनोः बाहुभ्याम् पूष्णः हस्ताभ्याम् । आ-ददे गायत्रेण छन्दसा अङ्गिरःवत् पृथिव्याः सध-स्थात् अग्निम् पुरीष्यम् अङ्गिरःवत् आ-भर त्रै-स्तुभेन छन्दसा अङ्गिरःवत् ॥

प्रार्थना के उपरान्त अब स्वयं योग-यज्ञ को आत्मशंसनात्मक सम्बोधन करते हुए प्रत्येक विप्र कहता है—

१) मैं (आ-ददे) ग्रहण करता हूं (त्वा) तुझे (देवस्य सवितुः) देव सविता के (प्र-सवे) समुत्पन्न संसार में (अश्विनोः बाहुभ्याम्) अश्वियों के बाहुओं से, (पूष्णः हस्ताभ्याम्) पूषा के हस्तों से ।

'त्वा' का प्रयोग यहां उस योग-यज्ञ के लिये हुआ है, पूर्व दो मन्त्रों में जिसके साफल्य की देव सविता से सुप्रेरणा तथा सुसंचालन की प्रार्थना की गयी है और जिसे देवाव्य, सखिविद्, सत्राजित्, धनजित्, तथा स्वर्जित् बताया गया है ।

'अश्वी' हैं दो नासिकाछिद्र जिनके दो बाहु हैं प्राण और अपान । आत्मा है पूषा जिसके दो हस्त हैं हृदय और मस्तिष्क । इस महतो महान् यज्ञ के सर्वाङ्गीण संवहन के लिये विप्र-विप्र को आत्मना अपान के समान अभद्र का सतत निराकरण और प्राण के समान भद्र का अनवरत संचार करते रहना है । साथ ही उन्हें अपने हृदय और मस्तिष्क का सन्तत परिष्कार तथा दिव्यीकरण भी करते रहना है । विप्रों को प्राणापान के समान निर्विश्राम, निर्विषय, निर्विकार और निरासक्त रहते हुए जन-जन में प्राण के समान योग-तत्त्व का संचार और भोग-वासना का निराकरण करते रहना है अपि च मानव-मानव को आत्मना प्रबुद्ध करते हुए हृदय-हृदय को जागरित और मस्तिष्क-मस्तिष्क को द्योतित करना है ।

२) योग-यज्ञ ! तू जन-जन में (आ-भर) भरदे, (पृथिव्याः सध-स्थात्) पृथिवी के सह-स्थान से (गायत्रेण छन्दसा) प्राण-रक्षण [जीवन की सार्थकता] की भावना से, (त्रै-स्तुभेन छन्दसा) त्रि-स्तुप् भावना से [मन, वचन, कर्म–तीनों की प्रशस्तता की भावना से], (अंगिरःवत्) अंगिरस्वत्, (अंगिरःवत्) अंगिरस्वत्, (अंगिरःवत्) अंगिरस्वत्, (पुरीष्यम्) श्री-प्रापक (अग्निम्) अग्नि को ।

यह पृथिवी सधस्थ है, सह-स्थान है, समान निवासस्थान तथा जीवनाश्रय है । मनुष्यमात्र की ही नहीं, वह प्राणिमात्र की सहस्थली है । सब इसी पर जन्मते, जीते और मरते हैं । इस पर जन्मने-वालों के जीवनों की सुरक्षा तथा सार्थकता तब ही सिद्ध होगी, जब इस पर निवास करनेवाले सभी मानवों के मानस में विप्रों के योग-यज्ञ के द्वारा गायत्र छन्द की, प्राण-रक्षण की, जीवन की सार्थकता की भावना प्रस्थापित होगी । जीवन की सार्थकता की भावना प्रस्थापित होगी त्रै-स्तुप् छन्द से, मन-वचन-कर्म के त्रित की प्रशस्तता की भावना से ।

अंगिरः=अंगि+रः । अंग-अंग में रस का संचार करनेवाले अग्नि का नाम 'अंगिराः' अग्नि है । परमात्मा ही वह अंगिरा अग्नि है जो सम्पूर्ण सृष्टि के अंग-अंग में, अवयव-अवयव में रस का संचार करता है ।

यहां, मन्त्र में, अंगिरा अग्नि का नहीं, अंगिरस्वत्, अंगिरःवत्, अंगिरा के तुल्य अग्नि का

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उल्लेख है। आत्मा ही अंगिरस्वत् अग्नि है। जैसे परमात्मा सृष्टि के अंग [तनू] में संजीवन-रस का संचार करता है, वैसे ही आत्मा शरीररूपी अंग [तनू] में जीवन-रस का संचार करता है। 'अंगिरस्वत्' विशेषण का तीन बार प्रयोग अतिशयता के लिये हुआ है।

पुरीष नाम श्री का है। पुरीष्य का अर्थ है श्री-प्रापक। श्री नाम शोभा, सौन्दर्य और ऐश्वर्य का है। अंगिरस्वत् अग्नि, यह आत्मा ही जीवन में श्री का सम्पादक है। आत्मा की श्री से ही जीवन श्रीमान् बनता है।

'योगयज्ञ ! पृथिवी के इस सहस्थान से, पृथिविवासियों में, तू गायत्र तथा त्रै-स्तुप् की भावना से पुरीष्य अंगिरस्वत् अग्नि भरदे, अध्यात्मश्री-सम्पादक आत्माग्नि प्रज्वलित करदे,' विप्र-विप्र की इस आत्मकामना में एक अतिशय गहन और व्यापक योगभावना भावित है।

देव सविता के सवन में,
अश्वियों के बाहुओं से,
अपि च पूषा के हस्तों से
ग्रहण करता हूं तुझे मैं।
पृथिवी के सहस्थान से,
भरदे पृथिवी-वासियों में,
जीवन-रक्षण की भावना से,
त्रि-प्रशस्ति की भावना से
अंगिरस्वत्, अंगिरस्वत्,
अंगिरस्वत्, पुरीष्य अग्नि को।

४४० अभ्रिरसि नार्यसि त्वया वयमग्निं शकेम खनितुं सधस्थ आ।
जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥ य ११/१०

अभ्रिः असि नारी असि त्वया वयम् अग्निम् शकेम खनितुम् सध-स्थे आ।
जागतेन छन्दसा अंगिरःवत् ॥

जैसा कि पूर्व-मन्त्र की व्याख्या में बताया गया है, आत्माग्नि ही अंगिरस्वत् अग्नि है। जीवनरूपी खान में आत्माग्नि अन्तर्निहित है। अन्तस्साधना की कुदाली से जीवन-खान में खुदाई करने से उसकी प्राप्ति-प्रतीति होती है।

संसिद्ध विप्र जन सर्व जनों को जीवन की योग-पद्धति अपनाकर आत्माग्नि के प्रभरण-प्रज्वलन की, अध्यात्मयज्ञाग्नि को प्रकाशित करने की प्रेरणा तथा शिक्षा करते हैं। सर्व जन सोत्साह साधना-पथ पर चलते हैं, किन्तु एक बाधा के कारण योगपथ पर आगे बढ़ने में वे अपने आपको निरुपाय पाते हैं। उसी के उपाय की विधि दर्शाने के लिये वेद-माता ने सर्वजनों के मुख से कहलवाया है—

१) तू (अभ्रिः असि) कुदाली है।
२) तू (नारी असि) नारी है।
३) (त्वया) तेरे सहित (वयम्) हम (सधस्थे) सह स्थान में (जागतेन छन्दसा) जागत भावना से जगती के कल्याण की भावना से (अंगिरस्वत् अग्निम्) अंगिरस्वत् अग्नि को, आत्माग्नि को (खनितुम्) खोदने के लिये (आ शकेम) पूर्णतः सकें, सर्वतः समर्थ हो सकें।

नारी काम का मूल है। काम समस्त विकार और मलिन वासनाओं का मूल है। चिन्तनविकार, विचारविकार, दृष्टिविकार, श्रुतिविकार, रसन-विकार, वचनविकार, वृत्तिविकार—सब काम की उपज हैं। काम ही व्यसनदोषों, स्वभावदोषों और चरित्रदोषों का उत्पादक है। यह विघ्न योगबाधा है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उधर नारी शब्द का अर्थ है नयन—नेतृत्व करनेवाली, मार्गदर्शन करनेवाली, धर्मपथ पर चलानेवाली, सही मार्ग सुझानेवाली।

नारी के दो रूप हैं—कामरूपा, पथप्रशासित्री। नारी जब शृंगार और वासना में निमग्न होती है तो नर-समाज विषयलम्पट और भोगरत रहता है। नारी जब साधनापथ पर चलती है तो मानव-समाज योग के पुण्य पथ पर चलता है।

नारी नर के सध-स्थ में, सह-स्थान में निवास करती है। नारी सर्वत्र नर के साथ है—कहीं जननी के रूप में, कहीं पुत्री के रूप में, कहीं भगिनी के रूप में, कहीं पत्नी के रूप में, कहीं सहकारिणी और सहयात्रिणी के रूप में।

इधर योगसाधना-कुदाली है जिससे आत्म-रत्न खोदकर निकालना है। उधर कामरूपा नारी है जो योग से हटाकर भोग की ओर खींच लेजाती है और साधक को विकारपुञ्ज बना देती है। विकारों में योगसाधना असम्भव है। समस्या का समाधान यही है कि नारी और नर, दोनों ही सहस्थान में सहसाधना करें, जगती के मंगल की भावना से अंगिरस्वत् अग्नि को खोदें। दोनों ही आत्माग्नि को खोजें। दोनों ही जीवन की योगपद्धति अपनायें।

यह हो नहीं सकता कि नारी की सहसाधना के बिना नर-समाज जीवन की योगपद्धति का अनुसरण कर सके। नरों के लिये यह अनिवार्य है कि वे नारियों को योगपथगामिनी बनायें। योगसाधकों के लिये यह अनिवार्यतः आवश्यक है कि वे पत्नियों को सहसाधिका बनाकर राष्ट्र-राष्ट्र में नर-समाज और नारि-समाज को साथ-साथ योग-जीवनपद्धति सिखायें। जब नारी कामरूपा के बजाय दिव्यरूपा देवी बनकर नर की सहसाधिका बनेगी, बात तब ही बनेगी।

अभ्रि और नारी को लक्ष्य में रखकर नर-समाज का यह उद्बोध सारगर्भित और मार्मिक है।

तू अभ्रि है,
तू है नारी,
तेरे-सहित सहस्थान में,
जगती के कल्याण-भाव से,
खोद सकें हम आत्माग्नि को।

४४१ हस्त आधाय सविता बिभ्रदभ्रिं हिरण्ययीम्।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरदानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥ य ११/११
हस्ते आ-धाय सविता बिभ्रत् अभ्रिम् हिरण्ययीम्।
अग्नेः ज्योतिः नि-चाय्य पृथिव्याः अधि आ-अभरत् आनु-स्तुभेन छन्दसा अंगिरःवत् ॥

१) नारी को सहसाधिका बनाकर (सविता) सविता ने (हिरण्ययीम् अभ्रिम्) तेजोमयी कुदाली को (हस्ते आ-धाय) हाथ में थामकर (अंगिरःवत्) अंगिरस्वत् [अग्नि] को, आत्माग्नि को (बिभ्रत्) धारण किया।

सविता शब्द का प्रयोग यहां प्रकाशपुञ्ज योगनिष्ठ पति के लिये हुआ है। अपनी सहस्थाना जीवनसंगिनी नारी [पत्नी] को योगनिष्ठिता बनाकर जब पति ने तेजोमयी प्रकाशखनिका साधना-कुदाली को हस्तगत किया तो दोनों ने अंगिरस्वत् आत्माग्नि को, अध्यात्म-ज्योति को खोद निकाला, आत्मसाक्षात्कार किया।

२) आत्मसाक्षात्कार करके सविता ने नारी की सहसाधना से (अग्नेः ज्योतिः नि-चाय्य) आत्माग्नि की ज्योति निश्चितरूप से प्राप्त करके (आनु-स्तुभेन छन्दसा) आनु-स्तुप् भावना से [आत्म-ज्योति को] (पृथिव्याः अधि) पृथिवी के ऊपर (आ-अभरत्) छा दिया, व्याप दिया।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

'अनु' शब्द में अनुसरणशीलता का भाव अन्तर्निहित है और स्तुत्य-प्रशस्त आचार का भाव अन्तर्निहित है स्तुप् शब्द में। आत्माग्नि की ज्योति को सम्पूर्ण पृथिवी पर व्यापने से पृथिवि-वासी मानव-प्रजा स्तुत्य आचार का अनुसरण करेगी जिससे विश्व में योग-जीवनपद्धति का प्रचलन होगा—इस भावना से आत्मसाक्षात्कृत् प्रत्येक सविता सपत्नीक प्राप्त अध्यात्म-ज्योति का सर्वत्र प्रचार-प्रसार किया करता है।

वैदिक वाङ्मय में पति है सविता [सूर्य] और पत्नी है सूर्या [सूर्य की आभा]। सूर्या की सहसाधना से ही सूर्य पूर्णता के साथ प्रकाशता और व्यापता है। सूर्या के बिना सूर्य आभाविहीन है। सहसाधिका पत्नी के बिना पति निरुपाय और निस्तेज है।

थामकर हस्त में सविता ने
कुदाली तेजोमयी,
धारण किया आत्माग्नि।
प्राप्तकर निश्चयेन
आत्माग्नि की ज्योति,
अनुस्तुत्याचार की भावना से
उसने व्याप दी पृथिवी पर आत्मज्योति।

४४२ प्रतूर्तं वाजिन्नाद्रव वरिष्ठामनु संवतम्।
दिवि ते जन्म परममन्तरिक्षे तव नाभिः पृथिव्यामधि योनिरित् ॥ य ११/१२

प्र-तूर्तम् वाजिन् आ-द्रव वरिष्ठाम् अनु सम्-वतम्।
दिवि ते जन्म परमम् अन्तरिक्षे तव नाभिः पृथिव्याम् अधि योनिः इत् ॥

यहां सहसाधिका योगनिष्ठिता सूर्या अपने सविता को सम्बोधन करती हुई कह रही है—

१) (वाजिन्) !

यह सम्बोधन बड़ा बोधप्रद है। वाज नाम ज्योति, शक्ति और संग्राम का है। किसी भी सुचेता नारी की अपने पति में निष्ठा यों ही नहीं जम जाती है और वह पति की साध में सहसाधिका भी यों ही नहीं बनती है। वह अपने पति के प्रति सनिष्ठिता तथा उसकी सहसाधिका तब ही बनती है जब वह ज्योति और शक्ति से सज्ज होकर वास्तव में सविता बनता है और आत्मसाध तथा विश्वसाध में तथ्यतः निरत होता है। वाजसम्पन्न पति में ही वह गुरु-रूप का दर्शन करती है और उसकी सहसाधिका बनती है।

२) तू (वरिष्ठाम् सम्-वतम्) वरिष्ठा सं-गति/श्रेष्ठा प्रगति के प्रति (प्र-तूर्तम्) प्र-तीव्र, सुशीघ्र, आशुता के साथ (अनु आ-द्रव) अनुक्रम से आ/पादविक्षेप कर/क़दम बढ़ा।

सूर्या सहयोगात्मक कामना कर रही है और साथ ही अपने सविता को प्रेरणा कर रही है कि वह अपनी योगव्याप्ति की साध में तीव्र गति से प्रगति करे और अनुक्रम से साधना के पर्वों को तय करता हुआ अपने सार्वभौम लक्ष्य की प्राप्ति करे।

३) (दिवि ते परमम् जन्म) द्यौ में तेरा परम जन्म हो।

द्यौ से तात्पर्य द्युतिमय शिर से है। जन्म का अर्थ है प्रादुर्भाव, प्रकाशन। द्युतिमय शिर वह दिव्य धाम है, जहां ध्यानयोग द्वारा सत्यों और तत्त्वों का साक्षात्कार तथा प्रकाशन किया जाता है। 'द्युतिमय मस्तिष्क में तेरा प्रादुर्भवन और प्रकाशन हो,' सूर्या की सविता के प्रति यह जन्म को सार्थक बनानेवाली प्रेरणा है।

४) (अन्तरिक्षे तव नाभिः) अन्तरिक्ष में तेरी नाभि हो।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यस्मिन्नन्तरीक्षन्ते तदन्तरिक्षम् । जिसके भीतर दर्शन करते हैं, वह अन्तरिक्ष है। हृदयाकाश ही वह अन्तरिक्ष है जिसमें आत्मदर्शन होता है, ब्रह्म-दर्शन होता है, तत्त्वदर्शन होता है। हृदय नहीं, हृदयाकाश ही मानवदेह का अन्तरिक्ष है। हृदय और वक्ष के मध्य, भीतर की ओर जो अतिशय सूक्ष्म दशांगुल अवकाश अथवा आकाश है, वही हृदयाकाश मानवदेह का अन्तरिक्ष है। इसे ही वेद में 'परम व्योम' [परमाकाश] कहा गया है, क्योंकि इसी में परम का दर्शन होता है। यही वह दिव्य धाम है जिसके ज्योतिर्मय कोश में अंगिरस्वत् अग्नि [आत्मा] का निवास है। यहीं चिन्मय कोश [चित्त] हैं और यहीं मनोमय कोश [मन] है। 'नाभि' से तात्पर्य ज्योति और शक्ति के केन्द्र से है।

'अन्तरिक्ष में तेरी नाभि हो। तेरा अपना आत्मधाम ही तेरी ज्योति और शक्ति का केन्द्र है। तेरा यही धाम तेरे साहस और संबल को जागरित रखे,' सूर्या का यह सम्बोधन उसके सविता के लिये बहुत ही मार्मिक है।

५) (पृथिव्याम् इत् योनिः अधि) पृथिवी में ही योनि अधिष्ठित हो।

पार्थिव देह के लिये पृथिवी शब्द का प्रयोग हुआ है। योनि शब्द का प्रयोग हुआ है साधना-स्थली के अर्थ में। मानवदेह पार्थिव सही, पर है वह सुपावन साधनास्थली ही, है वह लोक-परलोक की सुसाधना के लिये हो। इस पृथिविरूपा मानव-योनि में ही यज्ञ, धर्म, योग सम्भव है। 'पार्थिव देह में ही तेरी साधनास्थली अधिष्ठित हो,' सूर्या का यह सम्बोधन सविता को उद्बुद्ध करनेवाला है।

वाजिन्,
वरिष्ठा प्रगति को प्रतीव्रता के साथ
तू निर्वहन कर अनुक्रम से।
द्यौ में हो तेरा परम जन्म,
अन्तरिक्ष में हो तेरी नाभि,
पृथिवी में रहे अधिष्ठित तेरी योनि।

सूक्ति—**आद्रव वरिष्ठामनु संवतम्।**

वरिष्ठा प्रगति को अनुक्रम से निर्वहन कर।

४४३ युञ्जाथां रासभं युवमस्मिन् यामे वृषण्वसू। अग्निं भरन्तमस्मयुम् ॥ य ११/१३

युञ्जाथाम् रासभम् युवम् अस्मिन् यामे वृषण्-वसू। अग्निम् भरन्तम् अस्म-युम् ॥

योग-जीवनपद्धति के प्रशिक्षण के लिये योगदम्पती सविता और सूर्या के हृदय में सर्व जनों के लिये आत्मस्नेह तो होना ही चाहिये, उनकी रसना और वाणी भी रसमयी होनी चाहियें। इस विषय का प्रकाशन करने के लिये यहां वेदमाता ने जनमुख से उनके प्रति कहलवाया है—(वृषण-वसू) दोनों वसु-वर्षको! (युवम्) तुम दोनों (अस्मिन् यामे) इस याम में, संयमाश्रित इस योगानुष्ठान में (अस्म-युम्) हमें चाहनेवाले (अग्निम्) अग्नि को, प्रेमाग्नि को (भरन्तम्) धारण करनेवाले (रासभम्) रासभ को (युञ्जाथाम्) युक्त करो।

'वृषण-वसू' हैं वसुओं की वृष्टि करनेवाले सविता-सूर्या दम्पती। वसु नाम ऐश्वर्य का है। यहां वसुओं से तात्पर्य योगैश्वर्यों तथा योगसम्पदाओं से है। योगदम्पती चाहे गृहस्थाश्रम में रहते हुये अपने गृह में निवास करनेवाले हों, चाहे विरक्ताश्रम में प्रविष्ट होकर ग्राम-ग्राम, नगर-नगर, देश-देश में विचर रहे हों, वे सर्वत्र योगशिक्षण-शिविरों द्वारा योगक्रियाओं तथा योगैश्वर्यों की वृष्टि कर रहे हों। तब ही उनकी योगप्रसार की साध फलवती होरही होगी।

'यम' का अर्थ है संयम। 'याम' का अर्थ है वह अनुष्ठान जिसमें यम-संयम की आवश्यकता होती है। स्पष्टतः याम शब्द का प्रयोग यहां

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

योगानुष्ठान के लिये हुआ है, जिसका आधार यम है।

'अस्मयु अग्नि' है प्रत्यक्षतः प्रेमाग्नि। प्रेम उष्ण होता है। जहां हृदय में प्रेम की ऊष्मा होती है, वहीं रासभ होता है। वेदवाङ्मय में 'रासभ' का अर्थ सर्वत्र रसना का रस और वाणी का स्वाद है। रसमयी रसना और स्वादु वचनों से ही जनजीवन योगयुक्त किया जा सकता है, नीरस रसना और कटु वाणी से नहीं।

वसुवर्षक तुम दोनों ही इस
संयमाश्रित योगसाध में,
हमें चाहनेवाले अग्नि को
धारण करते हुए हृदय में,
युक्त करो मुख में रासभ को।

४४४ योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये॥
[ऋ १.३०.७, साम १६३, ७४३, अ १९.२४.७ २०.२६.१] य ११/१४
योगे-योगे तवःतरम् वाजे-वाजे हवामहे। सखायः इन्द्रम् ऊतये॥

सूर्य और सूर्यायें, सूर्य के समान योगाभाओं, आत्मद्युतियों और अध्यात्मकिरणों से सुरश्मित साधक-साधिकायें सर्वजनों को योगशिक्षण करते हुए उपदेश देरहे हैं—हम सब (सखायः) सखा (योगे-योगे) योग-योग पर/में, (वाजे-वाजे) वाज-वाज में (ऊतये) रक्षार्थ (तवःतरम्) बलवत्तर (इन्द्रम्) इन्द्र को (हवामहे) पुकारें।

समान साध, साधना, व्यवसाय और ख्याति जिनकी होती है उन्हें सखा कहते हैं। जितने भी नर-नारी योग-जीवनपद्धति के पथिक हैं, वे सब परस्पर सखा हैं।

योग नाम संयोग, प्रसंग और अवसर का है।

वाज नाम संग्राम का है, उस संग्राम का नहीं जिसमें घातक आयुधों का प्रयोग किया जाता है, अपि तु उस मानवीय संग्राम का जिसमें ज्योति और शक्ति, ज्ञान और संबल, विवेक और क्षमता के आश्रय से संसार को ज्योतिर्मय और सम्पन्न बनाया जाता है।

योगपथ पर चलते हुए सुसंयोग भी आते हैं और विकट प्रसंग भी। योग-जीवनपद्धति का निर्वहन करते हुए कोमलावसर भी आते हैं और कठोरावसर भी। योगपथ पर प्रगमन और योग-जीवनपद्धति का निर्वहन वह 'वाज' है जिसमें बल-संबलोपेत इन्द्र—आत्मा भी कभी-कभी अपने आपको नितान्त निरुपाय पाता है। ऐसे प्रत्येक योग और प्रत्येक वाज पर समानख्यान—समख्याति योगसाधक-साधिकाओं तथा योगसूर्य-सूर्याओं द्वारा तवःपुञ्ज, सर्वशक्तिमान्, बलवत्तर इन्द्र [परमात्मा] को ही रक्षार्थ पुकारा जाने से घाटी पार होती है, उसी की सहायता से समस्या का समाधान होता है और उसी के द्वारा प्रदत्त प्रकाश से त्राण का मार्ग दिखाई पड़ता है। वही एक रक्षक है जो योगपथिकों की सर्वतः रक्षा करता है।

यह मन्त्र योगियों का वह महाप्रगान है जिसे वे निरन्तर गाते रहते हैं। यह वह गीत है जो योगियों के जीवन को दिव्य संगीत बना देता है। योगपथिकों को इसका पदे-पदे गान करते रहना चाहिये।

योगसखा हम
योग-योग पर वाज-वाज में,
सदा पुकारें रक्षाहेतु
इन्द्र तवस्तर बलवत्तर को।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

४४५ प्रतूर्वन्नेह्यवक्रामन्नशस्ती रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहि ।
उर्वन्तरिक्षं वीहि स्वस्तिगव्यूतिरभयानि कृण्वन् पूष्णा सयुजा सह ॥ य ११/१५

प्र-तूर्वन् आ-इहि अव-क्रामन् अशस्तीः रुद्रस्य गाण-पत्यम् मयःभूः आ-इहि ।
उरु अन्तरिक्षम् वि-इहि स्वस्ति-गव्यूतिः अभयानि कृण्वन् पूष्णा स-युजा सह ॥

अपने योगोपदेश को जारी रखते हुये सविता, सूर्या जन-मानस को उद्बुद्ध करते हैं—

१) (प्र-तूर्वन्) तीव्रता करता हुआ, सवेग गमन करता हुआ (अशस्तीः अव-क्रामन्) अप्रशस्तियों को लांघता हुआ/पैरों से कुचलता हुआ [योगपथ पर] (आ-इहि) आ ।

मानव-जीवन जहां अमूल्य है, वहां जीवन की घड़ियां भी बहुत अमूल्य हैं। मानव को योगपथ पर आरूढ़ होने में विलम्ब नहीं करना चाहिये। किन्तु योगपथ पर चल वही सकेगा जो अप्रशस्तियों का परित्याग करके प्रशस्तियों से अपने आपको अलंकृत करेगा। अप्रशस्तियों का मलिन भार लादकर कोई इस राजमार्ग पर आगे नहीं बढ़ सकता। जो कुछ भी दुः और कु है, वह सब अप्रशस्त है। जो कुछ भद्र और सु है, वह सब प्रशस्त है। अप्रशस्तियों से मुक्त होने पर ही मानव प्रशस्तियों से युक्त होपाता है। प्रशस्तियां योग-संलग्ना हैं। योगपथ पर चलने के लिये विचार, दृष्टि, श्रुति, वाणी, कृति, भावना—सब कुछ पवित्र, भद्र और प्रशस्त होना चाहिये।

२) प्रशस्तियों से (मयःभूः) सुतीव्र/द्रुतगामी होकर (रुद्रस्य) रुद्र के (गाण-पत्यम्) गाणपत्य को (आ-इहि) प्राप्त—स्वीकार कर।

'मय' नाम द्रुत—तीव्र गति का है। 'भूः' भावात्मकता का द्योतक है।

रुत् नाम रोग और दोष का है। रोगों और दोषों को दीर्ण-विदीर्ण करके जो स्वस्थ और निर्दोष बनाता है उसे 'रुद्र' कहते हैं। योग अथवा अध्यात्म वह रुद्र है जो साधक को समस्त शारीरिक रोगों और आन्तरिक दोषों से नितान्त मुक्त कर देता है।

गण नाम संघ या समूह का है। योगसाधकों का जो संघ है उसके अनुशासन से युक्त होकर योगपद्धति से जीवन-निर्वहन करना ही गाणपत्य को प्राप्त या स्वीकार करना है। संघबल सदा से ही मानवसमाज के समुत्थान तथा संवर्धन का साधन रहा है और रहेगा। मानव सर्वथा प्रशस्त होकर द्रुतगामिता के साथ योगपथ पर तब ही चलेगा, जब वह रुद्र [योगसंस्था] के संघाधिपत्य को शिरोधार्य करके उसके अनुशासन में निष्ठा-पूर्वक अभ्यास करेगा।

३) रुद्र के गाणपत्य को अपनाकर (स्वस्ति-गव्यूतिः) स्वस्ति-मार्गी तू (स-युजा पूष्णा सह) संगाती पूषा के साथ (अभयानि कृण्वन्) निर्भयतायें करता हुआ (उरु अन्तरिक्षम् वि-इहि) विशाल अन्तरिक्ष को प्राप्त कर, विशालाशयता सम्पादन कर।

संघानुशासन से साधक स्वस्तिपथगामी बनता है। स्वस्तिपथगामिता से वह अपने सतत संगाती आत्म-पूषा की सम्पुष्टियों द्वारा समस्त दिशाओं और पार्श्वों में निर्भयताओं का सम्पादन करता है। निर्भयताओं के सम्पादन से मानव का अन्तःकरण निर्मल और विशाल होता है।

करता हुआ गमन तीव्रतः
और लांघता हुआ अप्रशस्तियों को आ।
मयोभू तू कर स्वीकार
रुद्र के गाणपत्य को।
स्वस्तिपथी तू सततसंगाती
अपने आत्मपूषा के साथ
निर्भयतायें करता हुआ
कर सम्प्राप्त विशालाशयता।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

४४६ पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभराग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदच्छेमो ऽग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद् भरिष्यामः ॥ य ११/१६

पृथिव्याः सध-स्थात् अग्निम् पुरीष्यम् अङ्गिरःवत् आ-भर अग्निम् पुरीष्यम् अङ्गिरःवत् अच्छ इमः अग्निम् पुरोष्यम् अङ्गिरःवत् भरिष्यामः ॥

जन-मानस को उद्बुद्ध करने के लिये सविता/सूर्य मानव-मानव को उत्प्रेरणा करते हैं—(पृथिव्याः सध-स्थात्) पृथिवी के सह-स्थान से (पुरीष्यम् अङ्गिरस्वत् अग्निम्) श्रीयुक्त अंगिरस्वत् अग्नि/आत्माग्नि को (आ-भर) प्राप्त–साक्षात् कर।

यह पृथिवी सब मानवों की समान साधना-स्थली है। अतः इस पर निवास करनेवाले मानवों में से प्रत्येक नर-नारी आत्मसाधना करके आत्म-साक्षात्कार करे, आत्मश्री से अपने आपको अलंकृत करे,–इसी में सधस्थ अथवा सहस्थान की सार्थकता हैं। साधनास्थली जब समान है तो साधना भी समान होनी चाहिये और उपलब्धि भी समान होनी चाहिये।

पूर्व दो मन्त्रों के योगोपदेश तथा उपर्युक्त उत्प्रेरणा से सर्व जन सोत्साह उद्घोष करते हैं—हम (पुरीष्यम् अङ्गिरस्वत् अग्निम्) श्रीमय अङ्गिरस्वत् अग्नि/आत्माग्नि को (अच्छ इमः) सम्यक् प्राप्त–अंगीकार करते हैं और (पुरीष्यम् अङ्गिरस्वत् अग्निम्) श्रीयुक्त अंगिरस्वत् अग्नि/आत्माग्नि को (भरिष्यामः) धारण–प्राप्त–साक्षात् करेंगे।

'हम योगयुक्त आत्मिक पद्धति को अंगीकार करते हैं और भविष्य में वैसा किये रहेंगे। हम अनुभव करते हैं कि योग-जीवनपद्धति से आत्मसाक्षात्कार करने और आत्मसाक्षात्कृत रहने में ही मानवजीवन की श्रेयता तथा सार्थकता है।'

पृथिवी के सधस्थ से धारण
कर पुरीष्य आत्माग्नि को।
अंगीकार करते हैं सम्यक्
हम पुरीष्य आत्माग्नि को।
धारण साक्षात् करेंगे
हम पुरीष्य आत्माग्नि को।

४४७ अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः।
अनु सूर्यस्य पुरुत्रा च रश्मीननु द्यावापृथिवी आततन्थ ॥
[अ ७.८२.४, १८.१.२७] य ११/१७

अनु अग्निः उषसाम् अग्रम् अख्यत् अनु अहानि प्रथमः जात-वेदाः।
अनु सूर्यस्य पुरु-त्रा च रश्मीन् अनु द्यावा-पृथिवी आ-ततन्थ ॥

पूर्व-मन्त्रों में अंगिरस्वत् अग्नि अथवा आत्माग्नि के साक्षात्कार का उल्लेख हुआ है। आत्माग्नि के साक्षात्कार के उपरान्त ही परमात्माग्नि का दर्शन होता है। आत्मस्वरूप के साक्षात्कार से आत्मा की निज स्वरूप में अवस्थिति होती है। निज स्वरूप में अवस्थित होने पर ही आत्मा की परम आत्मा में समाहिति होती है और परमात्मा का दर्शन होता है। इसी रहस्य का उद्घाटन वेदमाता ने इस मन्त्र के द्वारा किया है।

(प्रथमः जात-वेदाः अग्निः) प्रथम जातवेदा अग्नि ने (उषसाम् अग्रम्) उषाओं के अग्र को (अनु अख्यत्) प्रकाशित किया, (अहानि अनु अख्यत्) दिनों को प्रकाशित किया, (च सूर्यस्य पुरु-त्रा रश्मीन्) और सूर्य की पुरुत्र—बहुत्र—असंख्य

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

रश्मियों को (अनु अख्यत्) प्रकाशित किया, (द्यावा-पृथिवी अनु आ-ततन्थ) द्यौ-भू को अनुक्रम से विस्तारा।

अनु शब्द सर्वत्र क्रम का द्योतन कर रहा है। अनु = अनुक्रम।

एक अग्नि है, जिसे यहां 'प्रथमः' तथा 'जात-वेदाः' कहा गया है। प्रथमः शब्द का प्रयोग परम, ज्येष्ठ, अनादि के अर्थ में हुआ है। 'जात-वेदाः' का अर्थ है जातमात्र को व्यापनेवाला और जानने-वाला, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ। वह प्रथम जातवेदा अग्नि प्रत्यक्षतः परमात्माग्नि, ब्रह्माग्नि, अथवा सूर्यों का सूर्य, परम सूर्य, प्रकाशस्वरूप, परम पावन प्रभु ही है।

उषाओं का अग्र है उषाओं की लालिमा, जो उषाओं के अग्र [आगे-आगे] चलती है। उषाओं की लालिमा उस प्रथम जातवेदा अग्नि के वरेण्य भर्ग की ही छटा है। उसी की आदित्यवर्ण छटा से उषाओं का अग्र प्रकाशित होता चला आरहा है।

उषाओं के अदृश्य होजाने पर दिनों का प्रकाशन होता है। दिनों के प्रकाशन का हेतु असंख्य-रश्मि सूर्य है। उसकी असंख्य रश्मियों का प्रकाशन भी सूर्यों के सूर्य, परम सूर्य प्रथम जातवेदा अग्नि से ही होरहा है।

द्यौ और द्युस्थ असंख्य लोकों का तथा, जिस पृथिवी पर हम निवास करते हैं, हमारी इस पृथिवी का विस्तार उसी नियन्ता के सर्वव्यापी नियमों से हुआ है और उसी परमाग्नि से वे सब प्रकाशित होरहे हैं।

यह प्रकृति में प्रकर्ता का सन्दर्शन है। कृति से कर्ता के कौशल का द्योतन तो होता ही है, उसके स्वरूप का भी आभास होता है। इस सर्व में उस सर्वव्यापक का सर्वरम सौन्दर्य झलक रहा है और उस सर्वज्ञ की सर्वज्ञता तथा परम-प्रज्ञता की भी अभिव्यक्ति होरही है। इस प्रकार उस प्रथम जातवेदा अग्नि की मही प्र-कृति/प्रकृष्ट-कृति के, मही सृष्टि के अवलोकन से उसकी मही परिष्टुति का, उसकी अवर्णनीय महिमा का चिन्तन करना 'दृश्यसमाधि' है। प्रकृति के दर्शन में भी प्रकर्ता का दर्शन है। प्रकृति पर मुग्ध होने से प्रकर्ता के दर्शन की अभिलाषा जागरित होती है।

प्रथम जातवेदा अग्नि ने
किया प्रकाशित अग्र उषाओं का,
फिर प्रकाशित किया दिनों को,
और प्रकाशित किया सूर्य
की बहुत्र असंख्य किरणों को।
अनुक्रम से विस्तारा उसने
द्यौ-भू को, असंख्य लोकों को।

४४८ आगत्य वाज्यध्वानं सर्वा मृधो विधूनुते।
अग्निं सधस्थे महति चक्षुषा निचिकीषते॥ य ११/१८

आ-गत्य वाजी अध्वानम् सर्वाः मृधः वि-धूनुते। अग्निम् सध-स्थे महति चक्षुषा नि-चिकीषते॥

पूर्व-मन्त्र में उल्लिखित प्रकृति के (अध्वानम्) मार्ग को/पर (आ-गत्य) आकर (वाजी) वाजी (सर्वाः मृधः) सब मृधों को (वि-धूनुते) वि-कम्पाता है, झकझोरता है और (महति सध-स्थे) महान् सह-स्थान पर, विशाल पृथिवी पर (चक्षुषा) चक्षु से (अग्निम्) अग्नि को (नि-चिकीषते) निरन्तर चयन करता है, संजोता है।

वाज नाम ज्योति, शक्ति और संग्राम का है। आत्मज्योति और ब्रह्मशक्ति के आश्रय से मानव-समाज को विलास और विनाश से बचाने के लिये जो संग्राम करता है, उसे वाजी कहते हैं। वाजी शब्द का प्रयोग यहां उस विप्रसमूह के लिये हुआ

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है जो भोगी विश्व को योगी बनाने के अध्यात्म-संग्राम में रत—निरत है।

मृधः नाम उन संग्रामों का है जिनमें हिंसकों द्वारा हिंसायें की जाती हैं, वीरों द्वारा शत्रुओं का हनन किया जाता है।

यह पृथिवी एक सुविशाल सहस्थान है जिस पर सकल मानव निवास करते हैं।

चक्षु शब्द का प्रयोग दृष्टि के लिये हुआ है और अग्नि शब्द का प्रेमाग्नि के लिये।

वाजी प्रकर्ता के प्राकृत पथ का पथिक है। उसके लिये सारी प्रकृति, सारी सृष्टि प्रकर्ता का एक असीम अविभाज्य विश्वसदन है, हमारी यह पृथिवी जिसका एक महान् सहस्थान है। यह सम्पूर्ण सहस्थान वाजी का अपना गृह है और उस पर निवास करनेवाली समस्त मानव-प्रजा उसका अपना परिवार है। अतः आत्मनिजता के साथ वह पृथिवी पर के हिंसकों को कम्पाता है, आत्मप्रेरणा तथा सदुपदेश द्वारा उन्हें झकझोर है; घातप्रतिघातों तथा पारस्परिक हिंसाओं मुख मोड़ता है और सर्वहित तथा सर्वमंगल उनका नाता जोड़ता है। हिंसा या विनाश नहीं सर्वपोषण ही प्रकर्ता की प्रकृति का प्राकृत मा अथवा धर्म है।

वाजी की दृष्टि में विलगता नहीं है, अखि मानव-प्रजा के प्रति आत्मसलगता है। उसकी दृ में घृणा नहीं, प्रेमाग्नि है। और वह अप प्रेमाग्नि-पूरित दृष्टि से प्रेमाग्नि का सतत च करता है, अपने नेत्र में सदैव प्रेमाग्नि संजोता है।

वाजी मार्ग पर आकर सारी
हिंसाओं को कम्पाता है।
महा सधस्थ पर वह चक्षु से
प्रेम-अग्नि को संजोता है।

४४९ आक्रम्य वाजिन् पृथिवीमग्निमिच्छ रुचा त्वम्।
भूम्या वृत्वाय नो ब्रूहि यतः खनेम तं वयम्॥ य ११/१९

आ-क्रम्य वाजिन् पृथिवीम् अग्निम् इच्छ रुचा त्वम्। भूम्याः वृत्वाय नः ब्रूहि यतः खनेम तम् वयम्॥

वाजी सम्पूर्ण पृथिवी पर योगसन्देश तथा योग-प्रशिक्षण देता हुआ भ्रमण कररहा है। अपने इस योगप्रसार-विश्वभ्रमण में वह जहां से भी विदा होता है, वहीं से जनपुकार होती है—

१) (वाजिन्)! (पृथिवीम्) पृथिवी को/पर (आ-क्रम्य) परिक्रमण करके, घूमकर (त्वम्) तू (रुचा) रुचि के साथ (अग्निम् इच्छ) अग्नि को चाह, अग्नि की इच्छा कर।

अग्नि शब्द का प्रयोग यहां उस योगाग्नि के लिये हुआ है जिसमें तपकर मानव के सकल मल भस्म होजाते हैं। सब जन जान रहे होते हैं कि वाजी के पृथिवी-भ्रमण का उद्देश्य जन-जन को योगस्थ बनाना है। इसीलिये प्रत्येक विदाई और प्रस्थान पर उससे जनता कहती है, 'वाजिन् पृथिवी पर परिभ्रमण करके तू रुचि के सा प्रेमपूर्वक सर्वत्र योगाग्नि प्रज्वलित और प्रकाशि करने की सफल इच्छा कर। तेरी यह इच्छ सर्वतः प्रशंसनीय है।'

२) वाजिन्! तू (भूम्याः) भूमि से (वृत्वाय) लौ कर (नः ब्रूहि) हमारे प्रति कह, हमें उपदेश क (यतः) जिससे, ताकि (वयम्) हम (तम्) उ [आत्मा को, परमात्मा को, आत्माग्नि क ब्रह्माग्नि को] (खनेम) खोदें, खोद निकालें।

'अपने विश्वभ्रमण से लौटते हुए ए बार पुनः हमारे मध्य में आकर हमें योगा प्रज्वलित करने का ऐसा उपदेश करना

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हम अपने जीवनों में अन्तर्निहित आत्माग्नि को, ब्रह्माग्नि को खोद निकालें, उसका साक्षात्कार करें।'

वाजिन्, पृथिवी पर परिक्रमण करके,
तू रुचिसहित चाह अग्नि को।
और लौटकर भूमि से तू
कर हमको उपदेश कि जिससे
खोद निकालें हम-जन उसको।

४५० द्यौस्ते पृष्ठं पृथिवी सधस्थमात्मान्तरिक्षं समुद्रो योनिः।
विख्याय चक्षुषा त्वमभि तिष्ठ पृतन्यतः॥ य ११/२०
द्यौः ते पृष्ठम् पृथिवी सध-स्थम् आत्मा अन्तरिक्षम् समुद्रः योनिः।
वि-ख्याय चक्षुषा त्वम् अभि तिष्ठ पृतन्यतः॥

प्रत्येक प्रस्थान पर इस मन्त्र से परिव्राजक वाजी का अभिनन्दन किया जाता है—

१) (द्यौः ते पृष्ठम्) द्यौ तेरी पृष्ठ है। द्युलोक तेरी पृष्ठ पर है, तेरा रक्षक है, तेरी ढाल है, तेरी छत है।

२) (पृथिवी ते सध-स्थम्) पृथिवी तेरा सहस्थान है। सारी भूमि तेरा गृह और तेरी शय्या है।

३) (अन्तरिक्षम् ते आत्मा) अन्तरिक्ष तेरा आत्मा है। आकाश के समान तेरी अनन्त असीम आत्म-व्याप्ति है।

४) (समुद्रः ते योनिः) समुद्र तेरी योनि है। समुद्र के समान गहन तेरी जीवनी है।

५) (चक्षुषा वि-ख्याय) चक्षु से विख्यात होकर, दृष्टि से विवेकख्यात रहकर (त्वम्) तू (पृतन्यतः अभि) संग्रामेच्छु के अभिमुख (तिष्ठ) स्थित हो।

पृतना नाम सेना का है। योगक्षेत्र में विकार ही वह पृतन्यु [संग्रामेच्छु] है जो पाप की वासना-रूपी असंख्य सेनाओं द्वारा सिद्धों और साधकों पर सतत आक्रमण करता रहता है। योगी सब ओर अपनी दृष्टि घुमाकर पापपृतन्यु का साम्मुख्य करता है। संसार में सब ओर मोहक अप्सराओं का नृत्य होरहा है। योगी सब ओर विवेकदृष्टि से देखता है और मोहकताओं से नितान्त अछूता तथा अप्रभावित रहता है। सृष्टि कैसी? दृष्टि जैसी। विवेकी की दृष्टि निर्विकार होती है। विवेकदृष्टि से देखने पर सांसारिक सब भोग रोगकारक और खाल-बाल के सब सौन्दर्य मल-कारक प्रतीत होते हैं।

परिव्राजक वाजी की आत्मसाधना का यह महिमामय चित्र है। उसकी योगसाध असाधारण साधना की अपेक्षा रखती है। उसकी पृष्ठ पर द्यौ की-सी द्युति होना ही उसकी सुरक्षा है। सम्पूर्ण पृथिवी उसका सहस्थान अथवा गृह है,—इसी भावना में उसकी साध की महत्ता है। अन्तरिक्ष—आकाश के समान उसकी आत्मनिजता की व्याप्ति ही उसे जन-जन का अभिन्नतया अपना बनायेगी। महासागर के समान प्रत्येक दृष्टि से अगाध, गहन और गम्भीर भी उसे होना ही चाहिये। विवेकदृष्टि से विवेकख्यात रहते हुए उसे सदैव निर्विकार स्थिति में स्थित रहना चाहिये। तब ही वह जगत् को पाप-ताप से त्राण का पथ दर्शा सकेगा और भोगग्रस्त संसार को योगस्थ कर सकेगा।

द्यौ तेरी पृष्ठ, पृथिवी सधस्थ,
आत्मा अन्तरिक्ष, योनि समुद्र।
होकर विवेकख्यात चक्षु से
हो अभिमुख स्थित पृतन्यु के।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

४५१ उत्क्राम महते सौभगायास्मादास्थानाद् द्रविणोदा वाजिन् ।
वयं स्याम सुमतौ पृथिव्या अग्निं खनन्त उपस्थे अस्याः ॥ य ११/२१
उत्-क्राम महते सौभगाय अस्मात् आ-स्थानात् द्रविणःदाः वाजिन् ।
वयम् स्याम सुमतौ पृथिव्याः अग्निम् खनन्तः उप-स्थे अस्याः ॥

परिव्राजक वाजी के प्रस्थानाभिनन्दन को जारी रखते हुए कहा गया है—

१) (वाजिन्) ! (द्रविणःदाः) ऐश्वर्यों का देनेवाला तू (महते सौभगाय) महान् सौभाग्य के लिये (अस्मात् आ-स्थानात्) इस आस्थान से, इस पड़ाव से (उत्-क्राम) उत्क्रमण कर, उद्गमन कर, उत्कृष्टतया आगे बढ़ ।

द्रविण नाम इच्छा, वीर्य [पराक्रम], और धन-सम्पदा का है । तीनों अर्थों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । इच्छा से वीर्य [पराक्रम] की वृद्धि होती है । वीर्य से अभीष्ट सम्पदा की उपलब्धि होती है । वाजी द्रविणोदा है । वह मानव-प्रजा में योगेच्छा जागरित कर रहा है । योगेच्छा से जनता में योगवीर्य का सम्पादन होरहा है । योग-वीर्य से योगसम्पदा की उपलब्धि होरही है । ऐसे वाजी का एक ही आस्थान पर ठहरे रहना लोक-हित की दृष्टि से वाञ्छनीय नहीं है । उसे तो निरन्तर एक आस्थान से दूसरे आस्थान को उत्क्रमण करते रहना चाहिये । उसके सर्वत्र विचरते रहने से ही मानव-जाति के लिये महान् सौभाग्य की संसिद्धि होगी ।

२) वाजिन् ! तेरे उत्क्रमण से (वयम्) हम, हम सब मानव (अस्याः पृथिव्याः उपस्थे) इस पृथिवी की उपस्थ [गोद] में (अग्निम् खनन्तः) अग्नि को खोदते हुए, प्रकाश को खोजते हुए, तत्त्व को अन्वेषते हुए (सुमतौ स्याम) सुमति में हों/रहें ।

वाजियों के प्रस्थानरूप उत्क्रमण से प्रत्यक्षतः विश्व के मानवों को योगाग्नि की, अन्तःप्रकाश की, आत्मतत्त्व की, ब्रह्मतत्त्व की, प्रकृतितत्त्व की प्राप्ति होती है । साथ ही मानव-प्रजा की मति सुमति बनी रहती है । वाजियों के संग तथा उद्बोधन से वंचित होने पर जनसमुदाय कुमति से संगत होकर पथभ्रष्ट होजाता है, भोगपथ पर चलने लगता है। सुमति ही मानवों को योगपथ पर चलाती है ।

वाजिन् ! महा सौभाग्य के लिये
द्रविणोदा तू कर उत्क्रमण
इस आस्थान से ।
हम इस पृथिवी की उपस्थ में
अग्नि खोदते—खोजते हुए
रहें सुमति में ।

सूक्ति—उत्क्राम महते सौभगाय ।
महान् सौभाग्य के लिये उत्क्रमण कर ।
वयं स्याम सुमतौ ।
हम सुमति में हों/रहें ।

४५२ उदक्रमीद् द्रविणोदा वाज्यर्वाकः सुलोकं सुकृतं पृथिव्याम् ।
ततः खनेम सुप्रतीकमग्निं स्वो रुहाणा अधि नाकमुत्तमम् ॥ य ११/२२
उत्-अक्रमीत् द्रविणःदाः वाजी अर्वा अकः सु-लोकम् सु-कृतम् पृथिव्याम् ।
ततः खनेम सु-प्रतीकम् अग्निम् स्वः रुहाणाः अधि नाकम् उत्-तमम् ॥

पूर्व-मन्त्र के यथार्थ अभिनन्दन के अनुसार—

१) (द्रविणःदाः अर्वा वाजी) द्रविणोदा अर्वा वाजी ने (उत्-अक्रमीत्) उत्क्रमण किया ।

२) उसने (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (सु-लोकम् सु-कृतम्) सु-लोक और सु-कृत (अकः) [सम्पादन] कर दिया ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वाजी के 'द्रविणोदा' विशेषण की पूर्व-मन्त्र में व्याख्या की जा चुकी है। यहां वाजी के लिये एक अन्य विशेषण 'अर्वा' का प्रयोग किया गया है। अर्वा नाम अतिशय तीव्र गति से मार्ग हिंसने अथवा मंज़िल तय करनेवाले अश्व का है। यहां अर्वा शब्द का प्रयोग अतिशय तीव्रकारी अथवा तीव्र गति से साधना करनेवाले के अर्थ में हुआ है।

पृथिवी स्वयं एक लोक है। उस पर निवास करनेवाले मानव जब भोगपथारूढ़ होते हैं तो वह कुलोक बन जाती है। उसके निवासी मानव जब योगपथारूढ़ होते हैं तो वह सुलोक बन जाती है। पृथिवी को कुलोक अथवा सुलोक बनाने में कृतों का स्पष्ट सम्बन्ध है। सुकृत से सुलोक बनता है, कुकृत से कुलोक। द्रविणोदा, तीव्रकारी वाजी ने सतत उत्क्रमण करते हुए समस्त पृथिवी पर योग-जीवनपद्धति का विस्तार किया। उससे सुकृतों का प्रवाह प्रवाहित हुआ और पृथिवीलोक सुलोक बन गया।

३) (ततः) तत्पश्चात् [पृथिवि-रूपी सुलोक के निवासी हम सब मानव-प्रजायें] (उत्-तमम् नाकम् अधि) उत्तम स्वर्ग के ऊपर (रुहाणाः) आरोहण करते हुए (सु प्रतीकम् अग्निम्) सु-प्रतीक अग्नि तथा (स्वः) आनन्द (खनेम) खोदें—खोजें।

पृथिवि-रूपी सुलोक के लिये ही 'उत्तम नाक' का प्रयोग हुआ है।

प्रतीक नाम मुख, सुरूप, सौन्दर्य का है। सु-प्रतीक, सु-मुख, सु-सुन्दर अग्नि है, जिसे खोदने पर उसका सन्दर्शन होता है, जिसके सन्दर्शन से आनन्द की प्राप्ति होती है। मानवजीवन में वह सुप्रतीक अग्नि है आत्मा और विराट् में परमात्मा।

सार्वभौम योग-जीवनपद्धति की प्रस्थापना द्वारा जब पृथिवी सुलोक बन जाती है, तब वह [पृथिवी] साक्षात् उत्तम नाक अथवा उच्चतम स्वर्ग बन जाती है। तब ही मानव-प्रजायें वहां जीवन में सतत आरोहण करती हुई सुपावन योगसाधना द्वारा सुप्रतीक अग्नि [आत्मा, परमात्मा] का साक्षात्कार करके सदा आनन्दयुक्त रहती हैं।

द्रविणोदा अर्वा वाजी ने
किया उत्क्रमण,
सम्पादन कर दिया पृथिवी पर
सुलोक और सुकर्म।
ततः उत्तम नाक के ऊपर
हम आरोहण करते हुए
खोदें—खोजें
सुप्रतीक अग्नि, आनन्द।

सूक्ति—खनेम सुप्रतीकमग्निं स्वः।
हम सुसुन्दर अग्नि तथा आनन्द खोद निकालें।

४५३ आ त्वा जिघर्मि मनसा घृतेन प्रतिक्षियन्तं भुवनानि विश्वा।
पृथुं तिरश्चा वयसा बृहन्तं व्यचिष्ठमन्नै रभसं दृशानम्॥
[ऋ २. १०. ४] य ११/२३

आ त्वा जिघर्मि मनसा घृतेन प्रति-क्षियन्तम् भुवनानि विश्वा।
पृथुम् तिरश्चा वयसा बृहन्तम् वि-अचिष्ठम् अन्नैः रभसम् दृशानम्॥

जनाभिनन्दन तथा स्वकीय सफलताओं के लिये वाजी धन्यवादस्वरूप परमपावन प्रभु को सम्बोधन करता हुआ कहता है—(विश्वा भुवनानि प्रति-क्षियन्तम्) सकल भुवनों को निवासने—व्यापनेवाले, (पृथुम्) पृथु, (बृहन्तम्) बृहत्, महतो महान्, (वि-अचिष्ठम्) वि-अचिष्ठ, (रभसम्) रभस, (दृशानम्) दर्शनीय (त्वा) तुझे [मैं] (मनसा) मन से, (घृतेन) घृत से, (तिरश्चा वयसा) तिरछे जीवन से, (अन्नैः) अन्नों से (आ जिघर्मि) पूर्णतः प्रकाशता हूं।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इस मन्त्र से सुप्रतीक अग्नि [सुसुन्दर परमात्मा] को खोदने—खोजने—साक्षात् करने की विधि भी ज्ञात होरही है। उस प्रतीकाग्नि को मन से, घृत से, तिरछे जीवन से, अन्नों से सुप्रकाशित किया जाता है।

'मन' से तात्पर्य अन्तःकरण अथवा हृदय से है। मन हृत्प्रतिष्ठ है। सुप्रतीक अग्नि के साक्षात्कार का प्रथम साधन है मन की साधना। अन्तःकरण को निर्मल और निश्चल, शुद्ध और समाहित रखना ही मन की साधना है। अन्तःकरण आत्मा का दर्पण है। दर्पण मलिन और गतियुक्त होता है तो मानव को अपनी आकृति दिखाई नहीं देती है। दर्पण के निर्मल और स्थिर होने पर स्वाकृति स्पष्ट दिखाई देती है। वैसे ही अन्तःकरणरूपी दर्पण जब मलिन और चंचल होता है तो आत्मा को आत्मस्वरूप का दर्शन नहीं होता है। अन्तःकरण के निर्मल और निश्चल होने पर अनायास ही आत्मा को आत्मना आत्मदर्शन होता है। आत्मदर्शन से आत्मा की स्वरूप में अवस्थिति होती है। स्वरूप में अवस्थिति सिद्ध होने पर परमात्मा का दर्शन सहजतया होजाता है।

'घृत' से तात्पर्य स्निग्ध स्नेह से है। घृत कहीं लग जाता है तो छुटाये नहीं छुटता है। इसी प्रकार साधक का सुप्रतीक अग्नि के प्रति वह स्निग्ध स्नेह हो कि छुटाये न छूटे। प्रेम की वह ज्वाल जल रही हो कि बुझाये न बुझे। वह लग्न लग रही हो कि दर्शन के बिना कल न पडे।

सुप्रतीकाग्नि के दर्शनाभिलाषी का जीवन तिरछा [बांका] होता है। उसका जीवन संसारी जनों की तरह सांसारिकता के प्रवाह में नहीं बह रहा होता है। वह तो सांसारिकता से तिरछा—उलटा—आध्यात्मिक होता है। उसका जीवन संसारियों की तरह भोगयुक्त न होकर योगयुक्त होता है। वह ऊपर से नीचे की ओर नहीं बह रहा होता है, नीचे से ऊपर की ओर चढ रहा होता है। वह ऊर्ध्वरेता होता है, ऊर्ध्वारोहण कर रहा होता है, माया से ऊपर उठकर मायापति के परम पद की ओर आरोहण कर रहा होता है।

अन्न पांच हैं—चिन्तनान्न, दर्शनान्न, श्रवणान्न, मुखान्न, भावनान्न। इनके शोधन से ही मानव योगपथ पर प्रगमन कर पाता है। आसनस्थ होकर आत्मचिन्तन तथा ब्रह्मचिन्तन करने से विचारसत्त्व शुद्ध होता है। हर वस्तु में प्रभु का कौशल और हर सौन्दर्य में प्रभु की ज्योति निहारने से दृष्टिसत्त्व निर्मल होता है। आत्मा और परमात्मा के स्वरूप तथा उनके साक्षात्कार के उपायों के विषय में सिद्ध जनों के मुख से सुनने से श्रुतिसत्त्व का शोधन होता है। मुखाहार के सात्त्विकीकरण से शरीरसत्त्व पवित्र होता है। हृदय की सम्पूर्ण भावना से मछली की तरह ब्रह्मजल में लीन रहने से मनःसत्त्व शुद्ध होता है। दूसरे शब्दों में, चिन्तनान्न के शोधन से बुद्धि, दर्शनान्न के शोधन से दृष्टि, श्रवणान्न के शोधन से श्रुति, मुखान्न के शोधन से प्रकृति, भावनान्न के शोधन से वृत्ति संदिव्य रहती हैं। इस पंचधा शोधन से अन्तः-बाह्य सकल मल, विक्षेप, आवरण तिरोहित रहते हैं और वाजी उस दिव्य प्रकाश से प्रकाशित रहता है जिससे वह विश्व में प्रतीकाग्नि—ब्रह्म को प्रकाशित करता है।

कैसा है वह ब्रह्म—प्रतीकाग्नि जिसे वाजी प्रकाशित कर रहा है? वह सकल भुवनों—लोकलोकान्तर को व्याप रहा है। वह पृथु है, अतिशय विस्तृत और विस्तारनेवाला। वह स्वयं अनन्त-विस्तार है और उसी ने इस असीम सृष्टि को अपनी माया से अनन्त विस्तार के क्रम में विस्तारा हुआ है। वह है महान्, जिसकी महत्ता का अन्त नहीं। वह है वि-अचिष्ठ, वि-अविचल, नितान्त निश्चल, कूटस्थ अविचलता में स्थित, सूक्ष्मातिसूक्ष्म। वह है रभस प्रबल शक्ति से सशक्त, सर्वशक्तिमान्, शक्तिसंचारक

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इस सबमें उसी रभस् की शक्ति कार्य कर रही है और उसी की शक्ति से यह सब सुव्यवस्थित है। और परम सुन्दर, सौन्दर्यों का सौन्दर्य होने से दर्शनीय भी वह है ही।

सब भुवनों को व्यापनेवाले,
पृथु, बृहत्, कूटस्थ, रभस और
दर्शनीय को करता हूं मैं सुप्रकाशित
मन से, घृत से, तिरछे जीवन से, अन्नों से।

सूक्ति—आ त्वा जिघर्मि मनसा घृतेन।
मैं तुझे मन और आत्मस्नेह से प्रकाशित कर रहा हूं।

४५४ आ विश्वतः प्रत्यञ्चं जिघर्म्यरक्षसा मनसा तज्जुषेत।
मर्यश्री स्पृहयद्वर्णो अग्निर्नाभिमृशे तन्वा जभुराणः॥
[ऋ २.१०.५] प्रजापतिर्विश्वामित्रः
य ११/२४

आ विश्वतः प्रति-अञ्चम् जिघर्मि अरक्षसा मनसा तत् जुषेत।
मर्यश्रीः स्पृहयत्-वर्णः अग्निः न अभि-मृशे तन्वा जभुराणः॥

ब्रह्मसम्बोधन के उपरान्त वाजी आत्मशंसन करता हुआ कह रहा है—

१) मैं (प्रति-अञ्चम्) प्रति-अंच् को (विश्वतः आ जिघर्मि) विश्वतः सुप्रकाशित कर रहा हूं।

प्रत्यञ्च् = प्रति-अञ्च्, प्रतिशः गति देनेवाला, प्रतिक्षण प्रत्येक लोक को घुमानेवाला, अखिल सृष्टि का विश्वतः संचालन करनेवाला, सर्वव्यापी जो प्रतीकाग्नि ब्रह्म है, वाजी उसे प्रचार और साधना द्वारा विश्वतः प्रकाशित कर रहा है।

२) संसार (तत्) उस [प्रकाशित प्रकाश] को (अरक्षसा मनसा) अराक्षस मन [अन्तःकरण] से (जुषेत) सप्रेम सेवन करे।

मन दो प्रकार का होता है—राक्षस अथवा आसुर, अराक्षस अथवा दिव्य। संसार के मानस का जब दिव्यीकरण होगा, तब ही विश्व का मानव ब्रह्म के प्रकाश को, जो सर्वत्र व्यापा हुआ है, ध्यान द्वारा सस्नेह सेवन करेगा, उसके साक्षात्कार के लिये आत्मस्नेहयुक्त साधना करेगा। वाजी प्रचार तथा सुसाधना द्वारा ब्रह्म के प्रकाश का जो प्रकाशन कर रहा है, उससे निस्सन्देह जन-मानस का दिव्यीकरण होगा।

३) जनमानस को दिव्य बनाने के लिये वाजी जन-सम्बोधन करता हुआ सर्वत्र समझाता रहता है—

(जभुराणः) गात्रों को मरोड़ता हुआ [मैं] (मर्य-श्रीः स्पृहयत्-वर्णः अग्निः) मर्य-श्री, कमनीय-वर्ण अग्नि [प्रतीकाग्नि] को (तन्वा) शरीर से (न अभि-मृशे) स्पर्श नहीं करता हूं [आत्मा से स्पर्श करता हूं]।

'मर्याः' मनुष्यनाम। श्री नाम शोभा और सौन्दर्य का है। प्रतीकाग्नि मानव-श्री है, मानवता की शोभा है। प्रभु के वरेण्य भर्ग, आदित्य वर्ण, दिव्य सौन्दर्य को ध्यान द्वारा धारण करके ही मानव का जीवन सत्य-श्री और निर्विकार सौन्दर्य से युक्त होता है।

स्पृहयत् = स्पृहणीय, कमनीय। वर्ण = रूप, सौन्दर्य। प्रतीकाग्नि का सौन्दर्य कमनीय है। आत्मा उसके सौन्दर्य के सन्दर्शन की कामना करता है।

'अपने गात्रों [इन्द्रियों] को मरोड़ता हुआ मैं मानवश्री और कमनीयवर्ण प्रतीकाग्नि को अपने शरीर द्वारा स्पर्श नहीं करता हूं,' वाजी की इस उक्ति से एक गहन तत्त्व का उद्घाटन होरहा है। ब्रह्मस्पर्श मरोड़े हुए गात्रों [हठीली शरीरेन्द्रियों] तथा शरीर का विषय नहीं है, दिव्य अन्तःकरण तथा आत्मसाधना का विषय है। इन्द्रियों के मरोड़ [हठयोग] से नहीं, ब्रह्म का स्पर्श आत्मयोग से होगा।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

करता हूं विश्वतः प्रकाशित प्रत्यञ्च को,
सेवन करे सप्रेम उसे जग मन सुदिव्य से ।
गात्रों को मरोड़ता हुआ करता हूं न स्पर्श तनू से
मानवश्री कमनीयवर्ण प्रतीक अग्नि को ।

४५५ परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत् । दधद् रत्नानि दाशुषे ॥
[ऋ ४.१५.३, साम ३०] य ११/२५
परि वाज-पतिः कविः अग्निः हव्यानि अक्रमीत् । दधत् रत्नानि दाशुषे ॥

पूर्व-मन्त्र में संकेत किया गया है कि प्रतीकाग्नि का स्पर्श शरीर अथवा शरीरेन्द्रियों से नहीं, आत्मयोग से किया जाता है। उसी प्रसंग में यहां इस मन्त्र में कहा जारहा है—(वाज-पतिः) वाजों का स्वामी (कविः) कवि (अग्निः) अग्नि, प्रतीकाग्नि (दाशुषे) अर्पक के लिये (रत्नानि दधत्) रत्नों को धारण करता हुआ, रत्न प्रदान करता हुआ (हव्यानि परि अक्रमीत्) हवियों को परिक्रमण किया करता है, हवियों द्वारा सर्वतः प्राप्त/प्रत्यक्ष हुआ करता है।

प्रतीकाग्नि को यहां 'वाजपति' तथा 'कवि' विशेषणों से युक्त किया गया है।

ज्योतियों और शक्तियों का स्वामी होने से परमात्मा वाजपति है। वाजी को जितनी दिव्य ज्योतियां तथा दिव्य शक्तियां प्राप्त होती हैं, वे सब उसे वाजपति परमात्मा से ही प्राप्त हो रही हैं।

परमात्मा कवि है। वह क्रान्तप्रज्ञ, क्रान्तदर्शी तथा क्रान्तकर्मा है। उसकी प्रज्ञा, उसकी दृष्टि और उसका क्रतु सर्वथा क्रान्त हैं, अनुपमेय त अनुल्लंघनीय हैं। सर्वव्यापक और अन्तर्यामी हे से सब कुछ उसके ज्ञान में है, सब कुछ उसकी दृ में है, सब कुछ उसके क्रतु [कर्तृत्व] में है। यो जीवनपद्धति के प्रस्थापक और योगप्रसारक अ वाजियों को सकल रत्न, सम्पूर्ण रमणीय यो सम्पदायें उसी से सन्तत प्राप्त होती रहती हैं।

उसकी प्राप्ति, उसका साक्षात्कार वाजी त योगी जन आत्महवियों के आश्रय से किया करते तदर्थ-भावना से प्रणव का जाप, यम-नियम पालन, आत्मनिरीक्षण, आत्मशोधन, आत्मधार ध्यान, समाधि, इत्यादि अध्यात्म-हव्यों द्व सम्पादित योगानुष्ठान से ही आत्मा उसका स [साक्षात्कार] करता है।

वाजपति कवि अग्नि
हव्यों को
परि-क्रमण किया करता है,
धारण करता हुआ रत्न
अर्पक के लिये ।

४५६ परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि ।
धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावताम् ॥
[ऋ १०.८७.२२, अ ७.७१.१, ८.३.२२] य ११/२६
परि त्वा अग्ने पुरम् वयम् विप्रम् सहस्य धीमहि । धृषत्-वर्णम् दिवे-दिवे हन्तारम् भङ्गुर-वताम्

अध्यात्महवियों द्वारा वाजपति की प्राप्ति की राष्ट्रव्यापी और विश्वव्यापी योगसाधना के लिये राज्य तथा राजा, शासन तथा नृपति की संरक्षा अनिवार्यतः आवश्यक है। इसी संज्ञान का प्रका करने के लिये वेदमाता ने योगसाधक वाजियों मुख से देश और राष्ट्र के प्रतीक, नृपति [रा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

राष्ट्रपति] के प्रति कहलवाया है—(सहस्य) बलवन्! शक्तिपुञ्ज! (अग्ने) तेजस्विन्! (वयम्) हम (त्वा पुरम्, विप्रम्, धृषत्-वर्णम, भंगुर-वताम् दिवे-दिवे हन्तारम्) तुझ पुर, विप्र, धर्षकवर्ण, भंगुर-वतों के दिन-दिन हनन करनेवाले को (परि धीमहि) सर्वतः धारण करें।

नृपति के लिये प्रयुक्त विशेषण क्षमतासूचक हैं।

नृपति हो 'पुर', पालक, पूरक, पूर्ति करनेवाला। वाजियों की सर्वथा वाञ्छनीय साध में साधनों की पूर्ति करना नृपति का तथा उसके शासन का प्रथम कर्तव्य है।

नृपति स्वयं हो 'विप्र', ब्रह्मनिष्ठ और निर्मल—निष्पाप योगी।

नृपति हो 'धृषत्-वर्ण', धर्षकरूप, प्रभावशाली आकृति तथा व्यक्तित्व से युक्त।

नृपति हो भंगुर-वतों को दिन-दिन हनन करनेवाला। भंगुर-वान् नाम उन नास्तिक, अधार्मिक, असामाजिक व्यक्तियों तथा संस्थाओं का है जो समाज के सुनियमों को भंग करते हुए मानवीय साधों में बाधायें उपस्थित करते हैं, सज्जनों को सताते हैं। हनन से तात्पर्य वध करना ही नहीं है, बाधित करना, रोक-थाम करना, दण्ड देना, दमन करना भी है। नृपति की शासन-व्यवस्था ऐसी कठोर और सुष्ठु हो कि वाजियों और वाजिकाओं की साधना में भंगुर-वतों द्वारा विघ्न न डाले जायें।

शक्तिपुञ्ज और तेजस्वी भी नृपति को होना ही चाहिये। वह रोगी, कृशकाय और निस्तेज न हो।

ऐसे नृपति के सुशासन में ही योग-जीवनपद्धति की प्रस्थापना सम्भव होती है। नृपति को धारण—शिरोधार्य करके वाजी निर्भय रहते हुए अपनी साध में रत—निरत रहें।

शक्तिपुञ्ज! तेजस्विन्!
हम तुझ पुर, सुविप्र, धर्षणस्वरूप को,
भंगुर-वतों के दिन प्रतिदिन
हनन—नियन्त्रण करनेवाले
नृपति को धारण करते हैं।

४५७ त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि।
त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः॥
[ऋ २.१.१] य ११/२७

त्वम् अग्ने द्युभिः त्वम् आशु-शुक्षणिः त्वम् अद्भ्यः त्वम् अश्मनः परि।
त्वम् वनेभ्यः त्वम् ओषधीभ्यः त्वम् नृणाम् नृ-पते जायसे शुचिः॥

नृपति के प्रति अपने संवदन को जारी रखते हुए वाजी कहे चले जारहे हैं—

१) (अग्ने) तेजस्विन्! (नृ-पते) राजन्! राष्ट्रपते!

२) (त्वम् आशु-शुक्षणिः) तू शीघ्र-शीघ्र हिंसन—निवारण करनेवाला है।

'क्षणु' हिंसायाम्। क्षण् धातु का अर्थ है हिंसा अथवा निवारण करना। तेजस्वी नृपति के शासन में ऐसी सुव्यवस्था हो कि मानव-सेवी योगसाधक वाजियों की साधना के मार्ग में आसुरी वृत्ति के लोग हिंसायें या बाधायें उपस्थित करें तो उनका सद्यः नियन्त्रण अथवा निवारण करके साधना का पथ प्रशस्त कर दिया जाये।

३) (त्वम् नृणाम् शुचिः) तू नरों के बीच में शुद्ध—पवित्र है।

व्यक्तित्व की दृष्टि से नृपति का अपना जीवन नितान्त शुद्ध—पवित्र हो। राजा के व्यक्तित्व का शासन तथा प्रजा पर सीधा प्रभाव पड़ता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

'यथा राजा तथा प्रजा' की उक्ति के समान ही 'यथा राजा तथा शासन' की उक्ति भी निस्सन्देह नितान्त सत्य है। स्वच्छ शासन और पवित्र प्रजा शुद्ध नृपति के तेजोमय व्यक्तित्व की स्वयंजात प्रतिक्रियायें हैं।

४) (त्वम् द्युभिः परि जायसे) तू दीप्तियों से सर्वतः प्रकाशित होता/होरहा है।

नृपति का तेजोमय, शुचितायुक्त व्यक्तित्व दीप्तियों से सदा प्रदीप्त रहे, चारित्रिक आभाओं और आन्तरिक पावनताओं से सदैव जगमगाता रहे।

५) (त्वम् अद्भ्यः) तू जलों से [सर्वतः प्रकाशित होता है]।

जिस प्रकार जलों के प्रयोग से शरीर और पदार्थ शुद्ध होते हैं, उसी प्रकार नृपति के आचारों के अनुसरण से मानवप्रजायें तथा शासन शुद्ध—संशुद्ध रहते हैं। नृपति स्वयं योगाचारी होता है तो राष्ट्रजनों में योगप्रवाह सहज प्रवाहित होते हैं।

६) (त्वम् अश्मनः) तू मेघ—पर्वत से [सर्वतः प्रकाशित होता है]।

नृपति पर्वतवत् उच्च बनकर जब मेघवत् सुसाधनों की वृष्टि करता है तो तीव्र वेग से शुभ साधों की सिद्धि होती है और वाजियों का परिश्रम सफल होता है।

७) (त्वम् वनेभ्यः) तू वनों से [सर्वतः प्रकाशित होता है]।

पर्वतवत् उच्च और मेघवत् उदार नृपति के राज्य में प्रजाजनों के जीवन योगवारि से उस प्रकार पल्लवित और हरे-भरे होते हैं, जिस प्रकार वनों में वनस्पतियां।

८) (त्वम् ओषधीभ्यः) तू ओषधियों से [सर्वतः प्रकाशित होता है]।

जिस प्रकार निष्णात वैद्य की ओषधियों से नीरोग होकर मानव स्वास्थ्य-लाभ करते हैं, उस प्रकार योग-पद्धति से जीवनयापन करनेवाले नृपति के राज्य में योग-नीतियों तथा योग-पद्धतियों से प्रजा-जनों के जीवन विलासमुक्त और योगयुक्त होते हैं। योग-नीतियां और योग-पद्धतियां ही ओषधियां हैं जो जनों के जीवनों को दोषमुक्त करती हैं।

तेजस्विन्! नृपते!
तू आशु-आशु हिंसन करनेवाला,
तू है शुद्ध—पवित्र नरों में,
तू प्रकाशता है द्युतियों से,
तू जलों से, तू अश्मा से,
तू वनों से, तू ओषधियों से।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे ऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामि।
ज्योतिष्मन्तं त्वाग्ने सुप्रतीकमजस्रेण भानुना दीद्यतम्।
शिवं प्रजाभ्यो ऽहिंसन्तं पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामः॥ य ११/२८

देवस्य त्वा सवितुः प्र-सवे अश्विनोः बाहुभ्याम् पूष्णः हस्ताभ्याम्। पृथिव्याः सध-स्थात् अग्निम् पुरीष्यम् अंगिरःवत् खनामि। ज्योतिःमन्तम् त्वा अग्ने सु-प्रतीकम् अजस्रेण भानुना दीद्यतम्। शिवम् प्रजाभ्यः अहिंसन्तम पृथिव्याः सध-स्थात् अग्निम् पुरीष्यम् अंगिरःवत् खनामः॥

मैं भी (खनामि) खोदता—खोजता हूं (त्वा अंगिरस्वत् अग्नि को (पृथिव्याः सध-स्थात् पुरीष्यम् अंगिरःवत् अग्निम्) तुझ श्री-प्रापक, पृथिवी के सहस्थान से (देवस्य सवितुः प्र-सवे

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

देव सविता के समुत्पन्न संसार में (अश्विनोः बाहुभ्याम्) दो अश्वियों के दो बाहुओं से, (पूष्णः हस्ताभ्याम्) पूषा के दो हस्तों से,—वाजियों के संवदन के उत्तर में नृपति के मुख से यह महत्त्वपूर्ण वाक्य कहलवाकर वेदमाता ने आदर्श नृपति के स्वरूप का निरूपण किया है।

जैसा कि मन्त्र ९ में व्याख्यात किया जा चुका है, आत्मा ही 'पुरीष्य अंगिरस्वत् अग्नि' है, सारी पृथिवी सब मानवों तथा प्राणियों का सहस्थान है, दो नासिकाछिद्र हैं दो अश्वी जिनके दो बाहु हैं प्राण और अपान। पूषा—आत्मा के दो हस्त हैं हृदय और मस्तिष्क। आत्मजिज्ञासा तथा आत्मसाधना के द्वारा आत्मस्वरूप का ज्ञान तथा साक्षात्कार करना ही आत्मा का खनन है। देहरूपी खदान में आत्मरत्न अन्तर्निहित है। उस रत्न की खोज तथा प्रतीति अध्यात्म अथवा योग-जीवनपद्धति का मूलाधार है।

नृपति अपान के समान विकार-वासनाओं से निराकृत और प्राण के समान योगांगों से समाकृत रहता हुआ, हृदय से आत्मस्नेह और मस्तिष्क से सतत आत्मचिन्तन करके अपने जीवन-मन्दिर में आत्मखनन करे। आत्मखनन [आत्मसाक्षात्कार] से योग की समस्त कलायें स्वयमेव कलान्वित होजाती हैं। देव सविता के समुत्पन्न संसार में आत्मसाधना ही सार है। नृपति की ऐसी अध्यात्म-प्रवृत्ति से उसके शासन तथा प्रजा में योग के संस्कार समंकित होते हैं।

ऐसे सुधन्य नृपति के राज्य में निवास करने-वाली समग्र मानव-प्रजा स्वभावतः आत्मधन की धनी होती है और आत्मा का खनन अथवा उसकी खोज करती है। इसी तथ्य के द्योतनार्थ वेदमाता स्वयं प्रजाजनों के मुख से कहलवा रही है—(अग्ने) आत्माग्ने! हम (खनामः) खोदते—खोजते हैं (त्वा) तुझ (ज्योतिःमन्तम्) ज्योतिर्मय, (सु-प्रतीकम्) सुसुन्दर, (अजस्रेण भानुना दीद्यतम्) अविच्छिन्न दीप्ति से दीप्त, (प्रजाभ्यः शिवम्) मानवप्रजाओं के लिये मंगलकारी, (अहिंसन्तम्) हिंसा न करनेवाले, (पुरीष्यम्) श्री-सम्पादक (अंगिरस्वत् अग्निम्) अंगिरस्वत् आत्माग्नि को (पृथिव्याः सध-स्थात्) पृथिवी के सहस्थान से।

१) आत्माग्नि अंगिरस्वत् [परमात्मवत्] ज्योतिः-स्वरूप है। स्वरूप से आत्मा ज्योतिष्मान् है। आत्मजागरण द्वारा जो आत्मज्योति को अनावृत कर लेता है, उसे अपने सत्य आत्मस्वरूप का सम्यक् दर्शन होता है।

२) आत्मा सुप्रतीक है, सुसुन्दर है, नितान्त सुन्दर है, साक्षात् सौन्दर्य है। जो आत्मसौन्दर्य का एक-टक अवलोकन कर लेता है, वह आत्ममुग्ध/आत्मा-नन्दी होजाता है।

३) आत्मा अजस्र दीप्ति से दीप्त है। वह अक्षय प्रकाश से प्रकाशित है। आत्मबोध होने पर उसका प्रकाश अनावृत होता है और वह अपने प्रकाश से दिग्दिगन्त के अज्ञानान्धकार को तिरोहित करता है।

४) मानव-प्रजाओं के ही नहीं, सकल प्राणियों के देहसदनों में जो जितनी शिवता है, वह आत्मा की ही है।

५) आत्मा 'अहिंसत्' है। वह जब तक देह मे विराजित रहता है, तब तक देह की हिंसा नहीं होती है। वह स्वयं भी हिंसामुक्त है, अजर—अमर—अविनाशी है।

६) आत्मा 'पुरीष्य' है, श्रीमय है। जीवन में जोश्री है, जो शोभा है, वह सब आत्मा की ही है।

ऐसे उस आत्मा की खोज ही इस पृथिविरूपी तथा इस पार्थिव शरीररूपी सहस्थान की परमोत्कृष्ट साध है। पृथिवी सब प्राणियों का सहस्थान है तो पार्थिव शरीर आत्मा तथा इन्द्रियदेवों का सहस्थान है। दोनों ही सहस्थानों से आत्मरत्न का खोद निकालना ही परम पुरुषार्थ है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

खोदता हूं तुझ पुरीष्य,
अंगिरस्वत् आत्म-अग्नि को
पृथिवी के सहस्थान से,
देव सविता के प्रसव में
अश्वियों के बाहुओं से,
अपि च पूषा के हस्तों से

खोदते हैं हम तुझ ज्योतिर्मय,
सुन्दर, अविच्छिन्न ज्योति से द्योतित,
प्रजाओं के लिये सुमंगल,
अविनाशी, पुरीष्य,
अंगिरस्वत् आत्माग्नि को
पृथिवी के सहस्थान से।

४५९ अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम्।
वर्धमानो महाँ आ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व ॥
[य १३/२] य ११/२९

अपाम् पृष्ठम् असि योनिः अग्नेः समुद्रम् अभितः पिन्वमानम्।
वर्धमानः महान् आ च पुष्करे दिवः मात्रया वरिम्णा प्रथस्व ॥

वाजियों को नृपति तथा प्रजा दोनों के सक्रिय और उदार सहयोग की अपेक्षा है। इस मन्त्र में वे नृपति को आत्मबोध कराते हुए उसे उत्प्रेरणा कर रहे हैं—

१) तू (असि) है (अपाम् पृष्ठम्) जलों की पृष्ठ, (अग्नेः योनिः) अग्नि की योनि, (च महान्) और महान्।

'अपाम् पृष्ठम्' से तात्पर्य जलों की पृष्ठ पर स्थिति से है। जिस प्रकार अनासक्त कमलपुष्प पंक और जल से ऊपर उठा हुआ सदैव जल की पृष्ठ पर स्थित रहता है, उसी प्रकार नृपति विषय-पंक और वासना-वारि से ऊपर उठा हुआ, इन्द्रियविलास और मानसिक विकार से मुक्त रहता हुआ, नितान्त अनासक्त और निष्पाप रहे।

सूर्य अग्नि की योनि है। अग्नि की खान है। अग्नि प्रतीक है तेज और प्रकाश का। अग्नि है दाहक और पावक।

नृपति जब कमलपुष्प के समान उत्स्थ [ऊंचा उठा हुआ] और अग्नि के समान आत्मतेज और ब्रह्मप्रकाश से युक्त रहता है तो वह महानता से युक्त होता है और तब ही राष्ट्रजनों में से दुरितों का दहन करता है और उन्हें जीवन की पवित्रता से सुयुक्त रखता है।

२) तू (पुष्करे) पुष्कर में (दिवः मात्रया) द्यौ मात्रा से (वर्धमानः) बढ़ता हुआ (पिन्वमान समुद्रम्) सिंचनशील के समुद्र को (वरिम्ण विशालता के साथ (अभितः आ प्रथस्व) सर्व विस्तार—व्याप।

जो भी पुष्टिकर है, उसी की संज्ञा पुष्कर है यहां पुष्कर शब्द का प्रयोग पुष्टिकर राष्ट्र के लिये हुआ है। राष्ट्र वह पुष्कर है, जिसके सु संचालन से नृपति और प्रजा दोनों की सर्वांगी पुष्टि होती है।

ज्ञान और विवेक की मात्रा में वृद्धि कर ही द्यौ की मात्रा से बढ़ना है।

सम्यक्-उत्-गति जिसकी होती है, जो उत्थ की ओर लेजाता है, जिसके आश्रय से उत्कर्ष ओर बढ़ा जाता है, उस अध्यात्म अथवा योगा के लिये ही यहां समुद्र शब्द का प्रयोग हुआ है यही वह समुद्र है, जो जन-जीवन को सर्व सींचता है और दिव्य सत्त्व से सुयुक्त रखता है।

नृपति ज्ञान-विवेक से स्वयं बढ़ता हुआ रा में उस धर्म्य और योगमय सुनीति का प्रचलन कि राष्ट्र अनवरत पुष्ट—सुपुष्ट होता चला जाये

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ज्ञान-विवेक की मात्रा से सतत समृद्ध होता हुआ नृपति सिंचनशील योग-विज्ञान को सम्पूर्ण राष्ट्र में सर्वत्र सर्वतः विशालता—व्याप्ति के साथ विस्तारता—व्यापता रहे।

तू है पृष्ठ जलों की,
योनि अग्नि की और महान्।
बढ़ता हुआ तू पुष्कर में,
दिव्य ज्ञान की मात्रा से,
सिंचनशील समुद्र को अभितः
तू विस्तार विशालता से।

४६० शर्म च स्थो वर्म च स्थो ऽछिद्रे बहुले उभे। व्यचस्वती संवसाथां भृतमग्निं पुरीष्यम् ॥

य ११/३०

शर्म च स्थः वर्म च स्थः अ-छिद्रे बहुले उभे। व्यचस्वती सम्-वसाथाम् भृतम् अग्निम् पुरीष्यम् ॥

पूर्व-मन्त्र से नृपति को उत्प्रेरित करने के उपरान्त वाजी इस मन्त्र से नृपति तथा प्रजा दोनों को उद्बुद्ध करते हैं—

१) नृपति तथा प्रजा, तुम (उभे) दोनों (शर्म च वर्म च स्थः) शर्म और वर्म हो, (अछिद्रे बहुले स्थः) अछिद्र और बहुल हो।

नृपति शर्म हैं। प्रजा वर्म है। शर्म नाम गृह, सुख, शान्ति का है। वर्म नाम कवच का है। जिस प्रकार मानव अपने गृह में सुख और शान्ति अनुभव करता है, उसी प्रकार प्रजा नृपति के राज्यरूपी गृह में सुख, शान्ति, स्वस्ति का आस्वादन करे। जिस प्रकार कवच युद्ध में योद्धा के शरीर की रक्षा करता है, उसी प्रकार प्रजा नृपति की सर्वतः रक्षा करे। नृपति प्रजा का शर्म हो। प्रजा नृपति का कवच हो। ऐसा तब ही सम्भव होता है जब नृपति और प्रजा दोनों ही छिद्ररहित तथा साधनाबहुल हों।

२) छिद्ररहित और साधनाबहुल राजशक्ते तथा जनशक्ते! (व्यचस्वती) व्याप्तिशील [तुम दोनों] (भृतम् पुरीष्यम् अग्निम्) धृत और श्रीमय अग्नि को (सम्-वसाथाम्) सम्यक् आच्छादन करो, सम्यक् व्यापो।

जन-जन की देह में धृत आत्मा और अखिल सृष्टि में धृत परमात्मा ही श्रीमय अग्नि हैं। आत्माग्नि शरीर की श्री है तो परमात्मा अखिल सृष्टि की श्री है। आत्मत्व और परमात्मत्व की भावना तथा साधना से नृपति और प्रजा, दोनों ही छिद्ररहित तथा अध्यात्मसाधनाबहुल बनकर व्याप्तिशील होते हैं, तो ही नृपति प्रजा का शर्म बनता है और प्रजा नृपति का वर्म बनती है, दोनों मिलकर पूर्णता—परिपूर्णता की व्याप्ति करते हैं। जिस राष्ट्र में नृपति–राष्ट्रपति तथा जनता, दोनों ही योग-पद्धति से युक्त साधनामय जीवन यापन करते हैं, वहीं नृपति और प्रजा छिद्ररहित होते हैं, उसी राष्ट्र में पुरीष्य अग्नि की व्याप्ति होती है, उसी में सकल भौतिक और आत्मिक सम्पदाओं का प्राचुर्य तथा बाहुल्य होता है।

दोनों शर्म और वर्म हो,
छिद्ररहित, बहुल।
धृत और पुरीष्य अग्नि को
सम्यक् व्यापो उभय व्याप्तिशील।

४६१ संवसाथां स्वर्विदा समीची उरसा त्मना। अग्निमन्तर्भरिष्यन्ती ज्योतिष्मन्तमजस्रमित् ॥

य ११/३१

सम्-वसाथाम् स्वःविदा समीची उरसा त्मना। अग्निम् अन्तः भरिष्यन्ती ज्योतिःमन्तम् अजस्रम् इत् ॥

राजशक्ते तथा जनशक्ते! (स्वःविदा समीची) स्वःप्राप्त और सुसंगत [तुम दोनों] (ज्योतिष्मन्तम् अजस्रम् अग्निम्) ज्योतिःस्वरूप अविनाशी अग्नि को (अन्तः भरिष्यन्ती इत्) भीतर धारण करती

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हुई ही (उरसा त्मना) हृदय से तथा आत्मा से (सम्–वसाथाम्) सम्यक् व्यापो।

स्वः को, अपने आपको, अपने आत्मस्वरूप को जाननेवाली और परस्पर संगत होकर सह-साधना करनेवाली नृपति की राजशक्ति तथा प्रजा की जनशक्ति के लिये ही मन्त्र में 'स्वर्विदा' तथा 'समीची' का प्रयोग हुआ है।

देह में आत्मा और सृष्टि में परमात्मा ही 'ज्योतिःस्वरूप, अविनाशी अग्नि' है। दोनों ही अग्नि जन-जन के हृदय में धारित हैं। यहाँ 'ज्योतिष्मान्, अजस्र अग्नि' का प्रयोग अध्यात्म के मूलाधार, ब्रह्माग्नि के लिये हुआ है। शासन-सत्ता और जनसत्ता, दोनों ही हृदय की भाव और आत्मा की चाहना के साथ उस ज्योतिः रूप अविनाशी ब्रह्म को श्रद्धापूर्वक अपने अन्तःका में धारण करते हुए उसे देश के कण-कण में व राष्ट्र के जन-जन में शिक्षा तथा सत्संगों द्वा व्यापने का सतत प्रयास करते रहें। देश-देश व राष्ट्र-राष्ट्र में व्यापते हुए ब्रह्माग्नि को सा पृथिवी पर व्यापा जाये।

स्वर्विदा समीची तुम दोनों
ज्योतिष्मान् अजस्र अग्नि को
अन्तः में संधारण करके
व्यापो उरसा और आत्मना।

४६२ पुरीष्यो ऽसि विश्वभरा अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने।
त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः॥
[ऋ ६. १६. १३, य १५/२२, साम ९] य ११/३२

पुरीष्यः असि विश्व-भराः अ-थर्वा त्वा प्रथमः निःअमन्थत् अग्ने।
त्वाम् अग्ने पुष्करात् अधि अ-थर्वा निःअमन्थत। मूर्ध्नः विश्वस्य वाघतः॥

नृपति तथा प्रजा को उत्प्रेरित और उद्बुद्ध करने के उपरान्त वाजी अब ब्रह्माग्नि का उन्मन्थन करके उसकी कृपार्थ अभ्यर्थना करते हैं—

१) (अग्ने) ब्रह्माग्ने! तू (असि) है (विश्व-भराः) विश्व का भरण—पोषण—धारण करनेवाला तथा (पुरीष्यः) श्रीकर-श्रेयस्कर। (प्रथमः अथर्वा) प्रथम अथर्वा, प्रथम कोटि का अकम्प योगी (त्वा निःअमन्थत्) तुझे मथकर निकाला करता है।

ब्रह्माग्नि अखिल विश्व में भरा–व्यापा हुआ है और अपनी व्याप्ति से विश्व का भरण–धारण–पोषण कर रहा है। उसी की श्री से यह सब सुशोभनीय है। माया प्रेयस्कर है, मायापति ब्रह्म श्रेयस्कर है।

सबमें समाया हुआ भी वह सबकी दृष्टि से ओझल है। दुग्ध में घृत है। दुग्ध दिखाई देता है, उसमें निहित घृत दिखाई नहीं देता। दुग्ध मन्थन—विलोडन किया जाने पर घृत का सा त्कार होता है।

माया के भीतर-बाहर मायापति ब्रह्म हुआ है। पर वह दिखाई नहीं देता। जब प्रथम कोटि का अथर्वा, प्रथम श्रेणी का अकम्प अडिग योगी योगांगों द्वारा आत्ममन्थन–आ विलोडन करता है, तब उसे अपने आपमें सकल माया में ब्रह्माग्नि का सम्मिलन सन्दर्शन होता है।

२) (अग्ने) सुन्दर देव! (अ-थर्वा) अथर्वा (त्वा तुझे (वाघतः पुष्करात् अधि) यज्ञीय पुष्कर ऊपर (विश्वस्य मूर्ध्नः) विश्व की मूर्धा (निःअमन्थत) मन्थन करके निकाला करता है।

अथर्वा का शिर ही विश्व की मूर्धा है, का सर्वोच्च धाम है। योगस्थ होकर मस्ति

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

में चिन्तन—ध्यान करने से विश्व—सृष्टि के सारे रहस्य उद्घाटित होजाते हैं। इसी से अथर्वा के शिर को विश्व का मूर्धा कहा जाता है। सृष्टि में मनुष्य सर्वयोनियों की मूर्धा है और मनुष्य में भी उसका शिर परम मूर्धा है, विश्व की मूर्धा है।

मानवदेहस्थ हृदयाकाश में देहाधिष्ठाता आत्मा का निवास है। आत्मा ही देह-साम्राज्य का पुष्कर [पुष्टिकर देव] है। पुष्कर आत्मा का निवासस्थान होने से हृदयाकाश की भी संज्ञा 'पुष्कर' है। इसी यज्ञीय पुष्कर से ऊपर विश्व की मूर्धा [शिर] है।

अथर्वा जब हृदयाकाश में अपने मन और चित्त को निरुद्ध करके उससे ऊपर मस्तिष्क का मन्थन करता है, अथवा मस्तिष्क में चिन्तन—ध्यान करता है, तब आत्मा स्वरूप में अवस्थित होता है, तब ही पुष्कर और मूर्धा, हृदयाकाश और मस्तिष्क अविचलता के साथ स्थिर-समाहित होते हैं। समाहिति की इस अवस्था में योगी ब्रह्म के निज रूप का साक्षात्कार करता है और कहता है, 'तेजो यत् ते रूपं कल्याणतमं तत् ते पश्यामि'=सुन्दर देव! तेरा जो परमतेजोमय और परमकल्याणकारी स्वरूप है, मैं उसका साक्षात् दर्शन कर रहा हूं। इसी का नाम निर्मन्थन है।

अग्ने, तू है
श्रेयस्कर अपि च विश्वम्भर।
तुझे किया करता हूं प्रकट
प्रथम अथर्वा मन्थन करके।
अग्ने, तुझे किया करता है
प्रकट अथर्वा योगी मन्थन करके
यज्ञीय पुष्कर से ऊपर
विश्व-मूर्धा वा मस्तक का।

सूक्ति—पुरीष्यो ऽसि विश्वभराः।
तू श्रेयस्कर है, विश्वम्भर।
अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थत्।
प्रथम कोटि का अविचल योगी तुझे मन्थन करके निकाला करता है।

raises a bonfire

४६३ तम् त्वा दध्यङ् ङृषिः पुत्र ईधे अथर्वणः। वृत्रहणं पुरन्दरम्॥
[ऋ ६. १६. १४]
य ११/३३

तम् उ त्वा दध्यङ् ऋषिः पुत्रः ईधे अथर्वणः। वृत्र-हनम् पुरम्-दरम्॥

ब्रह्माग्नि की कृपार्थ अपनी अभ्यर्थना जारी रखते हुए वाजी कहे चले जारहे हैं—(तम् त्वा वृत्र-हनम् पुरम्-दरम्) उस तुझ वृत्र-नाशक पुरम्-दर को (अथर्वणः दध्यङ् ऋषिः पुत्रः उ) अथर्वा का दध्यङ्, ऋषि पुत्र ही (ईधे) प्रज्वलित—प्रकट—प्रकाशित—साक्षात् किया करता है।

वृत्र नाम घेरा डालनेवाले और अंधेरा करनेवाले का है। पाप ही वृत्र है जो मानवों का घेरा डालकर उन्हें अन्धतम गर्त में पटकता रहता है। परमात्मा वृत्रहन् है, पापहारी है, दुरितनाशक है। योगवृत्ति से जो ब्रह्माग्नि में अर्पित—समाहित होते हैं, उनके पाप उसी प्रकार भस्म होजाते हैं जिस प्रकार अग्नि मल को भस्म करके स्वर्ण को शुद्ध कुन्दन बनाता है।

पुरों को जो दीर्ण करता है, उसे 'पुरन्दर' कहते हैं। पापों को पनपानेवाले जो वासनाओं के पुर हैं, ब्रह्माग्नि उन्हें दीर्ण करके धडाम से ढा देता है। योग-वृत्ति से जीवन-यापन करनेवाले जब अपनी सम्पूर्ण भावना से ब्रह्माग्नि में समाहित रहने लगते हैं तो अनायास ही वासनाओं के पुर दीर्ण होजाते हैं।

अथर्वा नाम अकम्प—अविचल योगी का है। दध्यङ् का अर्थ है धारण करनेवाला, योगांगों के आश्रय से संसाधना करनेवाला। ऋषि का अर्थ

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है विवेचक; विवेचना करनेवाला, विश्लेषण और संश्लेषण करके परम तत्त्व तक पहुँचनेवाला। पुत्र शब्द का प्रयोग यहां सन्तति के अर्थ में हुआ है।

अथर्वा की दध्यङ् और ऋषि कोटि की पवित्र सन्तति ही उस वृत्रहन् और पुरन्दर ब्रह्माग्नि को प्रज्वलित—प्रकाशित—साक्षात् करती है, असुरों की आसुरी सन्तति नहीं। वाजियों का प्रयास माता-पितओं को अथर्वा बनाना और उनकी सन्तति को संसाधना तथा ऋषित्व के संस्कारों से सुसंस्कृत करना है। संसाधना के संस्कारों से सुसंस्कृत सन्तति ही परम्परा से वंशानुवंश जीवन की योगपद्धति की रक्षा कर सकेगी।

वृत्रविनाशक और पुरन्दर
उस तुझको प्रज्वलित—प्रकाशित
किया करता है अथर्वा का
दध्यङ् और ऋषि पुत्र ही।

४६४ तमु त्वा पाथ्यो वृषा समीधे दस्युहन्तमम्। धनञ्जयं रणेरणे॥
[ऋ ६. १६. १५]

तम् उ त्वा पाथ्यः वृषा सम्-ईधे दस्युहन्-तमम्। धनम्-जयम् रणे-रणे॥

अभ्यर्थना को जारी रखते हुए वाजी कहे चले जारहे हैं—(तम् त्वा दस्युहन्-तमम् रणे-रणे धनम्-जयम् उ) उस तुझ दस्युहन्-तम और रण-रण में धन-जय करने-करानेवाले को ही (पाथ्यः वृषा) पाथ्य वृषा (सम्-ईधे) सम्यक् प्रज्वलित किया करता है।

दंशन [डंक मारने] और दर्शन [दर्शनीयता] से युक्त का नाम दस्यु है। बाहर से जो बड़े सुन्दर, सुहावने और दर्शनीय होते हैं, किन्तु भीतर जो विषय-वासना तथा स्वार्थसाधना के दंश [डंक] संजोये रहते हैं, वे दस्यु कहाते हैं। मानव-जीवन में निहित विषय-वासनायें भी दर्शन में बड़ी लुभावनी हैं। परन्तु अन्तस्सेवन में वे विषैले दंश सिद्ध होती हैं। अतः वे भी दस्यु हैं।

ब्रह्माग्नि 'दस्युहन्तम' है। वह दस्युओं का अतिशय हनन करनेवाला है। उसके न्याय नियम उभय प्रकार के दस्युओं का हनन करते हैं। यहां 'दस्युहन्तम' से तात्पर्य विषय-विकार-वासना, आदि दस्युओं का नितान्त हनन—निर्मूलन करनेवाले ब्रह्माग्नि से है। जो भी अपने जीवन-सदन में ब्रह्माग्नि का प्रज्वलन करता है, उसके समस्त दस्यु सर्वथा निराकृत होजाते हैं।

ब्रह्माग्नि रण-रण [संग्राम-संग्राम] में धन-जय कराता है। अध्यात्म साधना के पथ पर विविध संग्राम हैं और प्रत्येक संग्राम का अपना-अपना विजित धन है। साधक जन ही जानते हैं कि साधना-पथ के पथिकों के जीवनों में इन्द्रिय-इन्द्रिय का पृथक्-पृथक् संग्राम है और प्रत्येक संग्राम की विजय में एक धन—धन्यता निहित है। जो साधक अपने जीवनों में ब्रह्माग्नि का प्रज्वलन करते हैं, इन्द्रिय-इन्द्रिय के संग्राम में उन्हें सुधन्यतारूपी धन प्राप्त होता है, विभूतिरूप ऐश्वर्य उपलब्ध होता है।

पाथ्य=पथारूढ। वृषा=सींचनेवाला। जीवन की योग-पद्धति को अपनाकर योगपथ पर चलने वाला व्यक्ति 'पाथ्य' है। जन-जन के, सर्वजनों के जीवन-पथों को योगामृत से जो सींचता है, वह 'वृषा' है। प्रत्येक योगसाधक एक 'पाथ्य वृषा' है और वह रण-रण में पग-पग पर ब्रह्माग्नि प्रज्वलन के आश्रय से दस्युओं [जीवन-दोषों] का निराकरण करता हुआ विजय-सम्पादन करता है, सुधन्यता-धन की प्राप्ति करता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उस तुझ दस्युहन्तम
रण-रण में धनजयी को ही,

पाथ्य वृषा किया करता है
सम्यक् प्रज्वलित—प्रकाशित ।

४६५ सीद होतः स्व उ लोके चिकित्वान्त्सादया यज्ञं सुकृतस्य योनौ ।
देवावीर्देवान् हविषा यजास्यग्ने बृहद् यजमाने वयो धाः ॥
[ऋ ३. २९. ८] य ११/३५

सीद होतः स्वे उ लोके चिकित्वान् सादय यज्ञम् सु-कृतस्य योनौ ।
देव-अवीः देवान् हविषा यजासि अग्ने बृहत् यजमाने वयः धाः ॥

'होतः' शब्द से सम्बोधन करती हुई वेदमाता पाथ्य वृषा से कहती है—

१) (होतः) ! ब्रह्माग्नि के प्रज्वलन के लिये (स्वे लोके उ सीद) स्व लोक में ही स्थित हो, आत्म-लोक में ही अवस्थित हो ।

होता नाम आदाता [लेनेवाला], आह्वाता [बुलानेवाला], दाता [देनेवाला] का है । पाथ्य वृषा योगपथ पर आरूढ़ हुआ सर्व जनों के जीवनों को योगामृत से सींच रहा है । वह योग द्वारा ब्रह्म से जो-जो ब्राह्म सम्पदा प्राप्त करता है, सर्व जनों को बुला-बुलाकर उन्हें देता रहता है । इसी आशय से पूर्व-मन्त्र में उल्लिखित पाथ्य वृषा को इस मन्त्र में 'होतः' से सम्बोधन किया गया है ।

हृदयाकाश में आत्मा का जो स्वलोक अथवा आत्मलोक है, उसमें चित्तवृत्तियों का निरोध करके होता जब संयम [धारणा, ध्यान, समाधि] द्वारा स्व-रूप में अवस्थित होता है, तब उसे आत्मदर्शन के साथ-साथ ब्रह्म का साक्षात्कार होता है । ब्रह्म की प्राप्ति के लिये कहीं जाना-आना नहीं होता है, अपने आत्मलोक में आत्म-अवस्थित होना है ।

२) (चिकित्वान्) ज्ञानी तू, योग के संज्ञान से सुविज्ञ तू (सु-कृतस्य योनौ) सुकृत की योनि में (यज्ञम् सादय) यज्ञ स्थापन कर ।

संज्ञानी योगी के लिये उसका अपना मानव-जीवन सुकृत की योनि है, सुकर्मों का सुपावन मन्दिर है, सुसाधना का संदिव्य शिवालय है । वह उसमें यज्ञ स्थापन करता है । यज्ञ नाम 'श्रेष्ठतम कर्म' का है । श्रेष्ठतम कर्मों में भी योग सर्वतः श्रेष्ठ कर्म अथवा साधना है । योगी योग-जीवन-पद्धति से सुसज्ज होकर अपने जीवन-मन्दिर में सुयज्ञों की साध संजोता है । वह अपने जीवन को यज्ञशाला बनाता है ।

३) (देव-अवीः) दिव्यताओं का रक्षण करनेवाला तू (हविषा देवान् यजासि) हवि से दिव्यताओं को यजता—व्यापता है ।

जिस प्रकार अग्निहोत्र में होमी गयी हवियां सब ओर सुगन्धियां यजती—व्यापती हैं, उसी प्रकार योगी होता अपनी जीवन-यज्ञशाला में दिव्यताओं का सुरक्षण करता हुआ विश्व में दिव्यताओं का व्यापन करता है ।

४) (अग्ने) पावक ! सुपावन प्रभो ! (यजमाने) यजमान में, योगयाग के याजक होता में (बृहत् वयः) बृहत् आयुष्य (धाः) स्थापन कर ।

बृहत् नाम विशाल और व्यापक का है । योगी होता का जीवन सुदीर्घ तो हो ही, सुविशाल और व्यापक भी हो, जिससे मानव-प्रजा का अधिकाधिक हितसम्पादन हो सके । इसी आशय से जन-जन की प्रार्थना है—परमपावन प्रभो ! होता यजमान के जीवन में आयुष्य की सुदीर्घता के साथ विशालता और व्याप्ति भी हो ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

होतः ! हो अपने ही लोक में
आत्म-अवस्थित ।
चिकित्वान् तू कर प्रस्थापन
यज्ञ सुकृत की योनि में ।
देवावी तू व्याप रहा है
आत्महवि से दिव्यताओं को ।
अग्ने ! धारण कर बृहत् आयु
योग-यज्ञ के यजमान में ।

सूक्ति—सीद होतः स्व उ लोके ।
योगिन् ! अपने निजलोक में ही आत्म-अवस्थित
सादया यज्ञं सुकृतस्य योनौ ।
सुकृत की योनि में यज्ञ स्थापन कर ।
अग्ने बृहद् यजमाने वयो धाः ।
पावन प्रभो ! यजमान में बृहत् आयुष्य धारण

४६६ नि होता होतृषदने विदानस्त्वेषो दीदिवाँ असदत् सुदक्षः ।
अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः सहस्रम्भरः शुचिजिह्वो अग्निः ॥
[ऋ २. ९. १] य ११/३६

नि होता होतृ-सदने विदानः त्वेषः दीदिवान् असदत् सु-दक्षः ।
अदब्ध-व्रत-प्रमतिः वसिष्ठः सहस्रम्-भरः शुचि-जिह्वः अग्निः ॥

पूर्व-मन्त्र में कहा गया था, 'सीद होतः स्व उ लोके'—होतः, आत्म-अवस्थित हो अपने ही लोक में । इस मन्त्र में बताया जारहा है कि कैसा होता अपने आत्मलोक में अवस्थित रहा करता है ।

(विदानः) ज्ञानी, (त्वेषः) प्रकाशमान्, सुन्दर, (दीदिवान्) देदीप्यमान्, (सुदक्षः) सुदक्ष, (अदब्ध-व्रत-प्रमतिः) अदब्ध-व्रत-सुमति से युक्त, (वसिष्ठः) वसिष्ठ, (सहस्रम्-भरः) हज़ारों का भरक, (शुचि-जिह्वः) शुचि-जिह्व, (अग्निः) पावक (होता) होता ही (होतृ-सदने) होतृ-सदन में (नि असदत्) नितराम् अवस्थित रहा करता है ।

पूर्व-मन्त्र में जिस मानव-योनि को 'सुकृत की योनि' कहा है, उसी को यहां 'होतृ-सदन' [होता का गृह] कहा गया है । जिस जीवन में और जिस जीवन से सुकृत किये जाते हैं, उससे बढ़कर न कोई यज्ञ है न यज्ञशाला, न साधना है न साधनाशाला ।

अपनी जीवनरूपी साधनाशाला में वह होता ही आत्म-अवस्थित रहता है जो हो—

१) (विदानः) ज्ञानी, विवेकी, तत्त्व को जाननेवाला ।
२) (त्वेषः) ब्रह्म-प्रकाश और आत्मसौन्दर्य से सम्पन्न ।
३) (दीदिवान्) सर्वतः देदीप्यमान् और तेज ब्रह्मचर्य और ब्रह्मवर्चं से उपेत ।
४) (सुदक्षः) सुदक्षता से सुयुक्त । दक्षता क्षमता और व्याप्ति का है । क्षमता से ही व्य होती है ।
५) (अदब्ध-व्रत-प्रमतिः) व्रत और सुमति अदब्धता [निर्बाधिता] से युक्त । व्रतों का नि संवहन सुमति के सहचार से ही होता है । तथा सुमति की निर्बाधता किसी भी क्षे साफल्य की कुंजी है ।
६) (वसिष्ठः) वसु [प्राण] में स्थित, प्राणाका निहित । प्राण के समान जो निर्विश्राम, निर्ति निर्विकार और निरासक्त हो वह वसिष्ठ है ।
७) (सहस्रम्-भरः) हज़ारों का भरण करनेव असंख्यों का उद्धार करनेवाला ।
८) (शुचि-जिह्वः) पवित्र-जिह्व ! जिह्वा ही र है । जिह्वा ही वाणी है । जिह्वा से चखा भी है और बोला भी जाता है । जिसका स्वाद वचन शुद्ध हो, जिसका भोजन और भाषण नि और निर्विकार हो वह शुचि-जिह्व है ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

९) (अग्निः) पावक, अग्नि के समान पवित्र करनेवाला, जनजीवन को शुद्ध कुन्दन बनानेवाला ।

ये नौ विशेषतायें जिस होता के जीवन में होती हैं, वही अपने जीवनलोक में समाहित रहता है ।

विवेकी त्विषस्वी दीप्तिमय,
सुदक्ष अदब्धव्रतप्रमति,
वसिष्ठ सहस्रम्भर शुचिजिह्व,
पावक होता ही होतृसदन में
हुआ करता है आत्मसमाहित ।

४६७ संसीदस्व महाँ असि शोचस्व देववीतमः ।
वि धूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम् ॥
[ऋ १.३६.९] य ११/३७

सम्-सीदस्व महान् असि शोचस्व देव-वीतमः । वि धूमम् अग्ने अरुषम् मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम् ॥

पूर्व-मन्त्र में उल्लिखित नौ दिव्यताओं से संदिव्य होता के प्रति वेदमाता कहती है—

१) (देव-वी-तमः) दिव्यताओं से कान्ततम तू (सम्-सीदस्व) संस्थित हो; तू (महान् असि) महान् है, (शोचस्व) चमक, जगमगा, प्रकाश फैला ।

योगपथारूढ़ होता को ब्रह्म से ब्राह्म सम्पदायें प्राप्त करते हुए उन्हें सर्व जनों को देते रहना है । आत्मसाधना और ब्रह्मोपासना द्वारा वह दिव्यताओं से कान्ततम अथवा दिव्यतम बना है । वेदमाता उसे उत्प्रेरित करती हुई कह रही है–(देव-वी-तमः) दिव्यताओं से दिव्यतम तू (सम्-सीदस्व) साधनाक्षेत्र में दृढ़ता के साथ डट जा; तू (महान् असि) महान् है, (शोचस्व) प्रकाश विकीर्ण कर ।

साधनाक्षेत्र में स्थिरता के साथ स्थित रहने के लिये आत्मलघुता की नहीं, आत्ममहत्ता की भावना होनी चाहिये । आत्ममहत्ता की भावना से आत्मविश्वास, कर्मक्षमता तथा कर्मकुशलता की वृद्धि होती है । आत्ममहत्ता ही आत्मप्रकाश की निरुद्ध किरणों को सब ओर फैलाकर मानव-प्रजा के अज्ञानान्धकार को मिटाती है । इसी दृष्टि से कहा गया है—तू महान् है । जगमगा और प्रकाश विकीर्ण कर ।

२) (अग्ने) पाप-ताप-दाहक ! (मियेध्य) दुरित-विनाशक ! (प्रशस्त) प्रशंसनीय ! (अरुषम् दर्शतम् धूमम् वि सृज) अरुष और दर्शनीय धूम मचादे ।

अरुष शब्द के दो अर्थ—'रोषरहित' और 'सुन्दर'—गहन तत्त्व के उद्बोधक हैं । रोषराहित्य में ही रूप-सुरूपता और सौन्दर्य का निवास है । रोष सौन्दर्य का विनाशक है । रोषरहित रहकर सतत साधना करने से ही संसार के सौन्दर्य का वर्धन होगा ।

योगपथिक होता को 'प्रशस्त, मियेध्य अग्नि' बनकर विश्व के मानव-समाज में धूम मचानी है, वह धूम जो दर्शनीय होने के अतिरिक्त रोषरहित भी होगी, वह धूम जिससे विकार-वासनाओं का दहन और दुरितों का दलन होकर मानव-समाज में जीवन की योग-पद्धति का प्रचलन होगा, वह धूम जिससे मानवता की कुरूपतायें और कालिमायें धुलकर उसकी सुरूपताओं का निखार और ज्योत्स्नाओं का विस्तार होगा । वही होता प्रशस्त है जो ऐसी धूम मचाये ।

दिव्यताओं से दिव्यतम तू,
हो सुसंस्थित, तू महान् है,
कर प्रकाश विकीर्ण ।
प्रशस्त मियेध्याग्ने ! धूम मचादे
अरुष और दर्शनीय ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सूक्ति—सं सीदस्व महाँ असि ।
संस्थित हो, तू महान् है ।

शोचस्व देववीतमः ।
दिव्यताओं से दिव्यतम तू प्रकाश फैला ।

४६८ अपो देवीरुपसृज मधुमतीरयक्ष्माय प्रजाभ्यः ।
तासामास्थानादुज्जिहतामोषधयः सुपिप्पलाः ॥ य ११/३८

अपः देवीः उप-सृज मधु-मतीः अ-यक्ष्माय प्र-जाभ्यः ।
तासाम् आ-स्थानात् उत्-जिहताम् ओषधयः सु-पिप्पलाः ॥

होता के प्रति अपनी उत्प्रेरणा को जारी रखती हुयी वेदमाता कहती है—

१) (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये (अ-यक्ष्माय) अयक्ष्मार्थ (देवीः मधुमतीः अपः) दिव्य, मधुरीली धारायें (उप-सृज) प्रवाहित कर ।

२) (तासाम् आ-स्थानात्) उन [धाराओं] के आस्थान—आश्रय से (सुपिप्पलाः ओषधयः) सुफला ओषधियां (उत्-जिहताम्) उगें ।

यक्ष्म नाम क्षय रोग का है । यक्ष्म अथवा क्षय का अर्थ है क्षीण करनेवाला । जो कुछ भी मानव-प्रजाओं के जीवनों को क्षीण करनेवाला है, वह सब यक्ष्म है । व्यसन, विकार, विलास, असंयम, अनास्था, नास्तिकता, अधार्मिकता, आदि दोष-समूह वह यक्ष्म है, जो मानव-प्रजाओं के जीवनों को भोगरत करके उन्हें सर्वथा क्षीण कर देता है । परिणाम यह होता है कि मानवजीवनरूपी वृक्षों पर सुफला ओषधियों के स्थान पर कुफला विषबेलें छा जाती हैं, जिससे मानवप्रजाओं का भी और मानवता का भी सर्वनाश होजाता है ।

योगपथारूढ़ होतृवर्ग प्रजाओं के अविनाशार्थ सर्वत्र योगवारि की उन दिव्य, सुमधुर धाराओं को प्रवाहित करे, जिनके आस्थान से प्रजाओं का जीवन सुफला ओषधियों से सुफलित होजाय, उनके जीवन ओषधिरूप होजायें, उनके जीवन दोषप्रसारक नहीं दोषनिवारक बन जायें ।

प्रजाओं के अयक्ष्मार्थ तू
प्रवाहित कर
दिव्य, मधुर धारायें ।
आस्थान से उनके उगें
सुफला ओषधियाँ ।

सूक्ति—अपो देवीरुपसृज ।
दिव्य धारायें प्रवाहित कर ।
उज्जिहतामोषधयः सुपिप्पलाः ।
उगें ओषधियां सुफला ।

४६९ सं ते वायुर्मातरिश्वा दधातूत्तानाया हृदयं यद् विकस्तम् ।
यो देवानां चरसि प्राणथेन कस्मै देव वषडस्तु तुभ्यम् ॥ य ११/३९

सम् ते वायुः मातरिश्वा दधातु उत्तानायाः हृदयम् यत् वि-कस्तम् ।
यः देवानाम् चरसि प्राणथेन कस्मै देव वषट् अस्तु तुभ्यम् ॥

होतृवर्ग पृथिवी को सम्बोधन करता हुआ कहता है—सुफला ओषधियों से (यत्) जो (ते उत्-तानायाः) तुझ उत्-ताना का (विकस्तम् हृदयम्) खिला/विकसित हृदय/वक्षस्थल है, उसे (मातरिश्वा वायुः) अन्तरिक्षचारी पवन (सम् दधातु) संधारण—सम्पोषण करे ।

पृथिवी का जो भाग समुद्रों के जलों से ढका रहता है वह अवताना है, जो भाग समुद्रों से ऊपर उठा रहता है और जिस पर मानव तथा इतर प्राणी निवास करते हैं वह उत्ताना है । अवताना

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पृथिवी का जल मेघ बनकर उत्ताना पृथिवी के वक्षस्थल पर बरसता है। अन्नों, वनस्पतियों और ओषधियों को उगाने और पकाने वाला मातरिश्वा वायु उनके वर्धन और पोषण में योगदान करता है। उत्ताना पृथिवी का वक्षस्थल खिल उठता है। मानव-प्रजाओं तथा अन्य प्राणियों का सर्वतः संवर्धन और संविकास होता है। उभय तानाओं में जो भौमिक, भौतिक सम्पदायें हैं वे सब जीवन-रक्षणी तथा संवर्धनी हैं।

उसी प्रकार मानव-जीवन की दो भूमियां हैं—अवताना तथा उत्ताना। शरीर अवताना भूमि है, आत्मा उत्ताना। दोनों के संयोग का ही नाम जीवन है, अन्तरिक्षीय पवन प्राण बनकर जिसका सम्पोषण करता है। शरीर साधना का साधन है। आत्मा साधक है। शरीर जब विकसित होता है, तब आत्मोन्नति की साध अथवा योगसाधना सम्पुष्ट होती है और तब ही होता प्राणवत् योग-जीवनपद्धति का प्रसार करता है।

होता प्राणवत् निर्विश्राम, निर्विषय, निर्विकार और निरासक्त होकर प्रजाओं के अयक्ष्मार्थ दिव्य, मधुर धारायें प्रवाहित करता है। उसके परिणाम-स्वरूप जन-जीवन ओषधिरूप सुफला शुभगुणश्रियों से युक्त होते हैं। होता दिव्यताओं से युक्त, संदिव्य जीवन से उपेत हुआ प्राणवत् चरण—आचरण—विचरण करता है, मानव-प्रजाओं को योगमय जीवन से सुयुक्त करता है और प्रजायें स्नेहस्निग्ध होकर उसके प्रति 'स्वाहा-वचन' बोलती हैं, उसके चरणों में स्व-सर्वस्व अर्पण करती हैं। इसी भाव के व्यक्तिकरण के लिये पृथिवी पर निवास करने-वाली मानव-प्रजाओं के मुख से कहलवाया गया है—(देव) दिव्यताओं से संदिव्य होतः! (यः) जो तू (देवानाम्) दिव्यताओं के (प्राणथेन) प्राणथ—प्राणन—संजीवन से [युक्त होकर प्राणवत्] (चरसि) चरण—विचरण—आचरण कर रहा है, सर्वत्र दिव्यानन्दों की व्याप्ति कर रहा है, उस (तुभ्यम् कस्मै) तुझ आनन्दमय के लिये [हमारा] (वषट् अस्तु) स्वाहा-वाट् हो, सर्वस्व सुहुत—अर्पित हो।

जब उत्ताना का हृदय विकसित हो,
करे मातरिश्वा वायु संधारण।
देव! जो तू विचरण करता है
दिव्यताओं के संजीवन से,
स्वाहा-वाट् हो,
तुझ आनन्द-प्रदाता के प्रति।

सूक्ति—**कस्मै देव वषडस्तु तुभ्यम्।**

देव! तुझ आनन्दमय के लिये स्वाहा-वाट् हो।

४७० सुजातो ज्योतिषा सह शर्म वरूथमासदत् स्वः। वासो अग्ने विश्वरूपं संव्ययस्व विभावसो॥

य ११/४०

सु-जातः ज्योतिषा सह शर्म वरूथम् आ-असदत् स्वः। वासः अग्ने विश्व-रूपम् सम्-व्ययस्व वि-भा-वसो॥

(सु-जातः) सु-जात (ज्योतिषा सह) ज्योति के साथ (शर्म वरूथम् स्वः) शर्म, वरूथ और स्वः [में] (आ-असदत्) विराजा हुआ है, संस्थित है।

जिस होता को पूर्व-मन्त्र में 'देव' शब्द से सम्बोधन किया गया है, उसी के लिये यहां 'सुजात' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'सुजात' का अर्थ है सुप्रकाशित, सुन्दर, कुलीन। जो सुप्रकाशित है, वही सुन्दर है, वही कुलीन है। प्रकाश में ही सौन्दर्य है, प्रकाश में ही कुलीनता है।

सुप्रकाशित, सुसुन्दर, सुकुल होता ज्योति से युक्त होकर शर्म, वरूथ और स्वः में संस्थित है।

शर्म नाम गृह, मन्दिर और सुख का है। शर्म शब्द का प्रयोग सर्वत्र जीवनरूपी उस गृह अथवा मन्दिर के लिये होता है, जिसमें इन्द्रियों का स्वामी आत्मा सतत सन्तत सुख का सेवन करता है। होता अपने जीवन-शर्म में अन्तर्मुख

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

होकर आसीन है और अनवरत सुख का आस्वादन कर रहा है। सचमुच अन्तर्मुखता में जो सतत आनन्द है, वह बाह्यमुखता में कहां!

वरूथ नाम कवच का है। कवच संग्राम में शस्त्रास्त्रों के प्रहार से रक्षा करता है। सदाचार और संयम से सुपोषित और संज्ञान से समुज्ज्वल जीवन की अन्तः बाह्य पवित्रता ही वह कवच है, जो होता की सर्वत्र सर्वतः रक्षा करता है।

स्वः नाम आनन्द का है। जिस होता के जीवन में शर्म और वरूथ का संयोग है, वहां सदैव आनन्द ही आनन्द है। अन्तर्मुखता और पवित्रता का संयोग आनन्दयोग की कुञ्जी है।

पूर्वमन्त्रानुसार मानव-प्रजायें होता के प्रति 'स्वाहा-वचन' उद्घोषित कर रही हैं, उसके चरणों में स्व-सर्वस्व समर्पित कर रही हैं। होता ज्योति से सुप्रकाशित हुआ शर्म, वरूथ और स्वः में संस्थित है। उसका वर्च और सुयश फैलता जारहा है। अहंकार और अहम्मन्यता से, अपि च स्वार्थ और संकोच से उसकी रक्षा के भाव से वेदमाता प्रचेतनामय उत्प्रेरणा करती हुई उससे कहती है—(वि-भा-वसो अग्ने) वि-प्रकाश-धन अग्ने! (विश्व-रूपम् वासः सम्-व्ययस्व) विश्व-रूप वास सं-धारण कर।

योगप्रसारक होता का वसु [धन] है वि [वि-प्रकाश]। वह है विविध प्रकाशों प्रज्ञाओं से युक्त वह संज्ञानाग्नि, जो मानवों मानसों को शोधता हुआ उन्हें योगपथारूढ़ बना चला जारहा है।

वास का अर्थ है वस्त्र, पोशाक, बाना। 'वि रूप वास' उस पोशाक का नाम है, जिसे पहन योगी विश्वरूप होजाता है और संसार आत्मनिजता के साथ अपनाता है। 'सम्पूर्ण पृथि मेरा घर है और उस पर निवास करनेवा समग्र मानव-प्रजा मेरा परिवार है,' यह सार्वभ भावना ही 'विश्वरूप वास' है। इस विश्व पोशाक को पहनकर जब होतृवर्ग देश-देशान्तर विचरण करेगा, तब ही विश्व का जीवन योग बनेगा।

तू सुजात ज्योति-सह संस्थित
शर्म, वरूथ और स्वः में।
विभावसो अग्ने! पहन तू
विश्वरूप पोशाक।

सूक्ति—वासो अग्ने विश्वरूपं संव्ययस्व।
ज्ञानिन्! विश्वरूप पोशाक पहन।

४७१ उदु तिष्ठ स्वध्वरावा नो देव्या धिया।
दृशे च भासा बृहता सुशुक्वनिराग्ने याहि सुशस्तिभिः॥
[ऋ ८. २३. ५] य ११/४१

उत् उ तिष्ठ सु-अध्वर अव नः देव्या धिया।
दृशे च भासा बृहता सु-शुक्वनिः आ अग्ने याहि सु-शस्तिभिः॥

भोगवाद से अशान्त संसार विश्वरूप पोशाक धारण करनेवाले योगप्रसारक होता का आह्वान कर रहा है—

१) (सु-अध्वर)! (उ) हुक (उत् तिष्ठ) खड़ा हो, (देव्या धिया) दिव्य धारणा से (नः अव) हमें बचा, हमारी रक्षा कर।

अध्वर नाम उस साधक का है जो बिना बिला नागा, बिना व्यवधान सतत साधना का है। अध्वर का दूसरा अर्थ है निश्छल, निष्क अहिंसक। पूर्व-मन्त्र में जिस होता को सुष विभावसु अग्नि कहा गया है, उसे ही यहाँ 'स्वध्व [सुष्ठुतया सतत साधना करनेवाला] कहा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है। धारणा से सब कुछ धारण होता है। योग में धारणा संयम का आधार है। धारणा से ध्यान और ध्यान से समाधि सिद्ध होती है। धारणा, ध्यान और समाधि के संयोग का ही नाम संयम है। 'स्वध्वर! खड़ा हो। अपनी दिव्य धारणा से हमें संयमयोग में संस्थित करके हमारी रक्षा कर।' योग के द्वारा ही भोग के अभिशापों से मानव-समाज की रक्षा होगी।

२) (च) और (अग्ने) सूर्य के समान प्रकाशपुञ्ज! (सु शुक्वनिः) सुकान्त, सुशुद्ध तू (दृशे) दर्शनार्थ (बृहता भासा) महान् प्रकाश के साथ, (सु-शस्तिभिः) सु-शस्तियों, प्रशस्तियों के साथ (आ याहि) आ।

स्वध्वर का दिग्दिगन्त में वर्च और यश व्यापता चला जा रहा है। दूर-निकट, सर्वत्र उसकी प्रशस्तियां होरही हैं। सूर्याग्नि का-सा उसका योगप्रकाश व्यापता चला जारहा है। सर्वत्र मानवों में उसके दर्शन की अभिलाषा उमड़ रही है। स्थान-स्थान से, देशदेशान्तर और द्वीपद्वीपान्तर से उसे आत्मनिजतापूर्ण निमन्त्रण आरहे हैं, 'सूर्याग्नि के समान योग के विशाल प्रकाश से प्रकाशित और सम्पूर्ण प्रशस्तियों से प्रशस्त, संशुद्ध—सुकान्त स्वध्वर! टुक आ। हमें दर्शन दे। यहां के हम सर्व जनों को अपने दर्शन से कृतार्थ कर, हमारे जीवन का योग-पथ प्रशस्त कर। भोग-भ्रष्टता से मुक्त करके हमें योग के सुपथ पर आरूढ़ कर।'

खड़ा हो टुक, स्वध्वर, रक्षा कर,
दिव्य धारणा से हमारी।
और, अग्ने, सुकान्त—शुद्ध तू
दर्शनार्थ आ,
प्रचुर प्रकाश-प्रशस्तियों-सहित।

सूक्ति—उदु तिष्ठ स्वध्वर।
सुसाधक! टुक खड़ा हो।
अवा नो देव्या धिया।
दिव्य धारणा से हमारी रक्षा कर।
आग्ने याहि सुशस्तिभिः।
प्रकाशपुञ्ज! प्रशस्तियों के साथ आ।

४७२ ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सविता।
ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे॥
[ऋ १. ३६. १३, सा ५७] य ११/४२

ऊर्ध्वः उ सु नः ऊतये तिष्ठ देवः न सविता।
ऊर्ध्वः वाजस्य सनिता यत् अञ्जिभिः वाघत्-भिः वि-ह्वयामहे॥

पूर्व-मन्त्रानुसार निमन्त्रित हो-होकर स्वध्वर जहां-जहां जाता है, वहीं उसका सार्वजनिक स्वागत करते हुए जननायक उसकी सेवा में विनय करता है—हम (यत्) जब-जब [तुझे] (वि-ह्वयामहे) बुलाते हैं, आमन्त्रित करें, तब-तब (वाजस्य ऊर्ध्वः सनिता) वाज का उच्च संविभाजक तू (देवः सविता न उ) देव सविता के समान ही (अंजिभिः वाघत्-भिः) प्रकाशमयी मेधाओं-सहित, प्रज्ञामयी प्रज्ञानरश्मियों-सहित (नः ऊतये) हमारी रक्षा के लिये (ऊर्ध्वः सु तिष्ठ) ऊपर प्रतिष्ठित हो, शिरोधार्य हो।

वाज नाम ज्योति, शक्ति और संग्राम का है। किसी भी प्रकार के संग्राम में विजय-सम्पादनार्थ ज्योति और शक्ति की अनिवार्यता प्रत्यक्ष है। फिर राष्ट्र-राष्ट्र की समग्र मानव-प्रजा में योग-जीवनपद्धति की प्रस्थापना का संग्राम तो सर्वोपरि सुधन्य संग्राम है। उसके लिये स्वध्वर होता को वाज का उच्च कोटि का सनिता [वितरक] होना

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ही चाहिये।

सविता शब्द का प्रयोग यहां सूर्य के लिये हुआ है। देव सविता अथवा दिव्य सूर्य के उदयन से जिस प्रकार अन्धकार का नाश और प्रकाश का प्रसार होता है, उसी प्रकार स्वध्वर होता की प्रज्ञामयी प्रज्ञानकिरणें मानव-मानव के भोगतिमिर को तिरोहित करके योगप्रकाश का प्रकाशन करती हैं। यही मानव-समाज की वास्तविक रक्षा है। भोग विनाश का पथ है। योग में ही मानव-जाति की रक्षा और त्राण निहित है।

जननिमन्त्रण पर जब जहां स्वध्वर होता आगमन होता है, तब तहां जनता उसे शिर-आ पर बिठाती है और उसका अभिनन्दन की है—

जब-जब तुझे बुलायें हम यहां,
तब-तब उच्च वाज-सनिता तू,
दिव्य सूर्य के समान ही,
प्रज्ञामयी रश्मियों-सहित,
सदैव ऊर्ध्वतः प्रतिष्ठित हो,
हमारी रक्षा के हेतु।

४७३ स जातो गर्भो असि रोदस्योरग्ने चारुर्विभृत ओषधीषु।
चित्रः शिशुः परि तमांस्यक्तून् प्र मातृभ्यो अधि कनिक्रदद् गाः॥
[ऋ १०. १. २] य ११/४३

सः जातः गर्भः असि रोदस्योः अग्ने चारुः वि-भृतः ओषधीषु।
चित्रः शिशुः परि तमांसि अक्तून् प्र मातृभ्यः अधि कनिक्रदत् गाः॥

पूर्व-मन्त्र में स्वध्वर होता के प्रति कहा गया है, 'दिव्य सूर्य के समान ही, प्रज्ञामयी रश्मियों-सहित, सदैव ऊर्ध्वतः प्रतिष्ठित हो, हमारी रक्षा के हेतु।' इस मन्त्र में स्वध्वर अपने उपमान देव सूर्य को सम्बोधन करके कहने लगता है—

१) (अग्ने) सूर्याग्ने! (सः) वह तू (ओषधीषु वि-भृतः) ओषधियों में वि-धारित और (रोदस्योः) द्यौ-भू का (जातः) प्रकाशित, (चारुः) सुन्दर, (चित्रः) शोभनीय (गर्भः शिशुः असि) गर्भस्थ शिशु है।

अन्नों, वनस्पतियों तथा ओषधियों का परिपाक तथा पोषण उनमें विधारित सूर्य की रश्मियों से होता है। सूर्य द्यौ और पृथिवी के गर्भ [बीच] में प्रकाशित, सुन्दर, शोभनीय शिशु के समान प्रियता के साथ स्थित है।

२) तू (मातृभ्यः) भूमि-माता की प्राणी-प्रजाओं के लिये (तमांसि) अन्धकारों को, (अक्तून्) रात्रियों को (अधि कनिक्रदत्) अति-क्रमण करता हुआ, तिरोहित करता हुआ (परि प्र गाः) परिक्र किया करता है, घूमा करता है।

सूर्य अपनी परिधि पर अनवरत घूमता हु अन्धकारों तथा रात्रियों का निराकरण का रहता है।

स्वध्वर के इस सूर्य-सम्बोधन में एक भावना अन्तर्निहित है। 'जिस प्रकार सूर्य ओषधि में धारित होकर उनका परिपाक और परिपो करता है, उसी प्रकार मैं भी ओषधिरूप यो साधनाओं द्वारा मानव-जीवनों का परिपाक परिपोषण करूं। जिस प्रकार सूर्य द्यौ-भू के में प्रकाशित, सुन्दर, शोभनीय शिशु के स प्रिय प्रतीत होता है, उसी प्रकार मैं भी नरों नारियों के मध्य साक्षात् चारु, चित्र शिशु के स प्रियता को प्राप्त रहूं। जिस प्रकार सूर्य अ परिधि पर अनवरत घूमता हुआ भूमि माता प्रजाओं के हितार्थ अन्धकारों और रात्रियों सतत निराकरण करता रहता है, उसी प्रकार

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ी सतत साधरत रहता हुआ निरन्तर मानवों
तमों [तामसी वृत्तियों] और अज्ञानरात्रियों
ा निवारण करता रहूं।'
सूर्याग्ने !
वह तू ओषधियों में धारित,
द्यौ-भू का प्रकाशित, सुन्दर,
शोभनीय गर्भस्थ शिशु है।
अन्धकारों को, रात्रियों को,
सतत निवारण करता हुआ,
परिक्रमण करता रहता है।

होता का मुक्त संबोधन

४७४ स्थिरो भव वीड्वङ्ग आशुर्भव वाज्यर्वन्। पृथुर्भव सुषदस्त्वमग्नेः पुरीषवाहणः॥
य ११/४४

स्थिरः भव वीडु-अङ्गः आशुः भव वाजी अर्वन्। पृथुः भव सु-सदः त्वम् अग्नेः पुरीष-वाहनः॥

र्य-सम्बोधन के उपरान्त स्वध्वर होता आत्म-स्थरता के लिये आत्म-सम्बोधन करने लगता है—
१) (अर्वन्) !
२) (वीडु-अंगः स्थिरः भव) दृढ़-अंग और स्थिर हो।
३) (आशुः वाजी भव) शीघ्रकारी और वाजोपेत हो।
४) (पृथुः सु-सदः भव) विस्तारमय और सुस्थित हो।
५) (त्वम् अग्नेः पुरीष-वाहनः) तू प्रकाशस्वरूप रमात्मा का पुरीष-वाहक है।

अर्वा नाम उस अतिशय तीव्रगामी अश्व का है, जो बिना रुके बड़ी-बड़ी लम्बी दौड़ें करता है और अभीष्ट स्थान पर पहुँच कर ही दम लेता है। अपने आपको 'अर्वा' कहकर स्वध्वर अतिशय तीव्रगति से विश्वभ्रमण तथा सार्वभौम साधना के लिये अपने आत्मा को उत्प्रेरित तथा उत्साहित कर रहा है।

योग-जीवनपद्धति की विश्वव्यापी दुस्तर साधना की संसिद्धि के लिये उसे शरीर से दृढ़—सुदृढ़ अंगोंवाला और आत्मा से स्थिर—सुस्थिर रहना ही चाहिये।

इतनी विशाल साधना की सम्पूर्ति के लिये उसके शीघ्रकारी और वाजोपेत रहने की प्रत्यक्ष आवश्यकता है। अनलस शीघ्रकारिता और वाजोपेतता से ही स्वध्वर की साध पूर्णता प्राप्त कर सकेगी।

वाज नाम ज्योति, शक्ति और संग्राम का है। स्वध्वर की साध एक महत्तम संग्राम है, जिसमें ज्योति और शक्ति के आश्रय से ही विजय होगी। ज्योति और शक्ति से सुसज्ज होकर जो संग्राम करता है, उसे वाजी कहते हैं। स्वध्वर के लिये वाजी शब्द का प्रयोग सर्वथा सार्थक है।

ज्योति और शक्ति के पुञ्ज वाजी को विस्तार-मय और सुस्थित भी होना चाहिये, संकुचित और चंचल नहीं। विस्तृत विशाल पृथिवी उसका कार्यक्षेत्र है और अपने आपमें पूर्णतया संस्थित होकर ही उसे कार्य करना है।

वैदिक वाङ्मय में पुरीष नाम श्री और दक्षिणा [व्याप्ति] का है। मन्त्र में स्वध्वर वाजी को प्रकाशस्वरूप परमात्मा का पुरीषवाहक कहा गया है। वाजी विश्व में परमात्मा की व्यापक श्री का संवहनकर्ता है। विश्व में व्यापी प्रभु की श्री का सन्देश देना और मानुषी प्रजाओं को योगश्री अथवा ब्रह्मश्री से अलंकृत करना उसकी सुपावन साध है।

अर्वन्,
दृढ़ांग और स्थिर रह,
रह शीघ्रकारी वाजी तू,
रह सुविस्तृत और संस्थित,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तू पुरीष-वाहक अग्नि का ।
सूक्ति—स्थिरो भव ।
स्थिर रह ।

त्वमग्नेः पुरीषवाहणः ।
तू प्रभु का पुरीषवाहक है ।
तू प्रभु की श्री का संवाहक है ।

४७५ शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिरः ।
मा द्यावापृथिवी अभिशोचीर्मान्तरिक्षं मा वनस्पतीन् ॥ य ११/४५
शिवः भव प्रजाभ्यः मानुषीभ्यः त्वम् अङ्गिरः ।
मा द्यावापृथिवी अभि-शोचीः मा अन्तरिक्षम् मा वनस्पतीन् ॥

आशु वाजी देश-देश, प्रदेश-प्रदेश में योग-जीवन-पद्धति के प्रसार के लिये जाता है, सर्वत्र मानुषी प्रजाओं को योग के कल्याणकारी मंगलपथ पर आरूढ़ करता है, तीनों लोकों में सन्तापरहित सुख, शान्ति, स्वस्ति की भरपूरिता होती है, आकाश से अमृतमय जलों की सुवृष्टियां होती हैं, वनस्पतियां-ओषधियां-अन्नसम्पदायें प्रचुरता के साथ फूलती-फलती-फैलती हैं। इसी सुन्दर सुस्थिति के प्रकाशन के लिये वेदमाता ने यहां वाजी के प्रति जनमुख से कहलवाया है—

१) (अंगिरः) प्राणप्रिय ! (त्वम् मानुषीभ्यः प्रजाभ्यः शिवः भव) मानुषी प्रजाओं के लिये कल्याणकारी–मंगलप्रद हो ।

२) तू (मा द्यावापृथिवी अभि-शोचीः) न द्यौ-भूमि को सन्तप्त कर (मा अन्तरिक्षम्) न अन्तरिक्ष को, (मा वनस्पतीन्) न वनस्पतियों को ।

मानव-प्रजायें जब योग के शिव पथ पर चलती हैं तो तीनों लोकों में सन्तापरहित हर्ष, प्रसन्नता आनन्द की वृष्टियां होती हैं, सब ओर सब प्र की समृद्धियां सिद्ध होती हैं, निकामे-निकामे होती है, वनस्पतियां उगती और लहलहाती हैं। मानव-प्रजायें जब भोग के धधकते हुये अ पथ पर चलती हैं तो सारी प्रकृति प्रकुपि उठती है। परिणामस्वरूप तीनों लोकों में सन्ताप, विलाप छाता है, अनावृष्टियां होती अकाल-दुष्काल घेरा डालते हैं।

प्राणप्रिय,
तू मंगलप्रद हो,
मानुषी प्रजाओं के लिये ।
न सन्तप्त कर द्यौ-भू को,
न अन्तरिक्ष को,
न वनस्पतियों को ।

सूक्ति—शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यः ।
मंगलकारी हो मानुषी प्रजाओं के लिये ।

४७६ प्रैतु वाजी कनिक्रदन्नानदद् रासभः पत्वा । भरन्नग्निं पुरीष्यं मा पाद्यायुषः पुरा ।
वृषाग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भं समुद्रियम् । अग्न आयाहि वीतये ॥ य ११/४६
प्र-एतु वाजी कनिक्रदत् नानदत् रासभः पत्वा । भरन् अग्निम् पुरीष्यम् मा पादि आयुषः पुरा ।
वृषा अग्निम् वृषणम् भरन् अपाम् गर्भम् समुद्रियम् । अग्ने आ-याहि वीतये ॥

वाजी होता, मानुषी प्रजाओं के कल्याणार्थ, जब एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रस्थान करता है तो वेदमाता विदाई की बेला में जनमुख से उसके प्रति शुभ कामनायें व्यक्त कराती है—

१) यह (रासभः पत्वा वृषा वाजी) सुभ तीव्रगामी वर्षणशील वाजी (कनिक्रदत्) गर्ज हुआ, (नानदत्) नाद करता हुआ, (पुरीष अग्निम् भरन्) श्रीकर प्रेमाग्नि को धारण क

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हुआ, (अपाम् वृषणम् गर्भम्) ज्ञानप्रवाहों के वर्षणशील गर्भ को तथा (समुद्रियम् अग्निम्) समुद्रिय अग्नि को (भरन्) धारण करता हुआ (प्र-एतु) प्रगमन करे, एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश को जाये।

'रास्' शब्द से धातु से रासभ शब्द का जन्म हुआ है। समाधानकारक शब्दों में भाषण करनेवाले का नाम रासभ है। वाजी होता वह रासभ है जिसके भाषण से संशयों का निवारण और भ्रम-भ्रान्तियों का निराकरण होता है।

पत्वा=पत् + वा (वन्)। झपाटे के साथ सवेग तूफ़ानी भ्रमण जो करता है, उसे पत्वा कहते हैं। वाजी होतृवर्ग विशाल पृथिवी पर तीव्रता के साथ योगप्रचार-यात्रायें करता है। तभी देश-देश की प्रजा का योगीकरण हो पायेगा।

समुद्रिय अग्नि ही है जो समुद्र को तपाकर, उसके जलों को क्षाररहित करके बादलों के रूप में आकाश में उड़ाता है और वृष्टि कराता है। ज्योति और शक्ति से सम्पन्न वाजी ही है जो मानवों को भोग-विलासरूपी क्षार से मुक्त करके उन्हें योग के उच्च सोपान पर चढ़ाता है और मानव-समाज में सुख-सौभाग्य के बादल उमड़ाता है।

'सुभाषी तीव्रकारी वर्षणशील वाजी ज्ञानगर्जन और विवेकनाद करता हुआ, सर्वार्थ श्रीकर प्रेमाग्नि को अपने हृदय में संजोये हुये, सुख-सौभाग्य की सुवृष्टि करनेवाले ज्ञानप्रवाहों के गर्भ को अपने मस्तिष्क में भरे हुये, अपनी भावना और साधना में समुद्रिय अग्नि धारण किये हुये, सर्वत्र गमना-गमन करता है और मानव-समाज को क्षाररहित करके उनका योगक्षेम तथा योगोदय करता है।'

२) (आयुषः पुरा मा पादि) आयु से पूर्व मत प्रयाण कर। यह शुभकामनापूर्ण आशीर्वाद है। मानव का पूर्ण आयुष्य सौ वर्ष का माना गया है। वाजी सौ वर्ष के पूर्ण आयुष्य से पूर्व शरीर-त्याग न करे।

३) (अग्ने) प्रकाशपुञ्ज! (वीतये) व्यापने के लिये (आ-याहि) आ-जा।

अग्नि अपने प्रकाश से सर्वत्र व्यापता है। अग्निवत् योगप्रकाश की व्याप्ति के लिये वाजी सर्वत्र आये-जाये। देशाटन तथा विश्वयात्रा से ही आत्मज्ञान तथा योगज्योत्स्ना की संव्याप्ति होती है।

करे प्रगमन रासभ पत्वा वृषा वाजी,
करता हुआ नाद और गर्जन,
धारण करता हुआ श्रीकर प्रेम-अग्नि को,
भरता हुआ ज्ञानप्रवाहों के सुगर्भ को,
और समुद्रिय अग्नि को।
मत प्रयाण कर पूर्व आयु से,
अग्ने! व्याप्ति के लिये आ-जा।

४७७ ऋतं सत्यमृतं सत्यमग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद् भरामः।
ओषधयः प्रतिमोदध्वमग्निमेतं शिवमायन्तमभ्यत्र युष्माः।
व्यस्यन् विश्वा अनिरा अमीवा निषीदन् नो अप दुर्मतिं जहि॥ य ११/४७

ऋतम् सत्यम् ऋतम् सत्यम् अग्निम् पुरीष्यम् अंङ्गिरःवत् भरामः। ओषधयः प्रति-मोदध्वम् अग्निम् एतम् शिवम् आ-यन्तम् अभि अत्र युष्माः। वि-अस्यन् विश्वाः अन्-इराः अमीवाः नि-सीदन् नः अप दुःमतिम् जहि॥

प्रगमन करता हुआ वाजी जहां भी जाता है, सभी देव-देवियां उसका स्वागत करते हुये कहते हैं—

१) हम (भरामः) धारण—शिरोधार्य करते हैं (ऋतम् सत्यम्) ऋत और सत्य, (ऋतम् सत्यम्) ऋताचारी और सत्याचारी, (पुरीष्यम्) श्रीकर (अग्निम्) अग्नि को (अंगिरःवत्) आत्म-वत्, आत्मा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

के समान।

पावक और प्रकाशक होने से वाजी के लिये यहां अग्नि शब्द का प्रयोग हुआ है। मानव-समाज का अग्र-नायक होने से भी वह अग्नि है। योग का प्रज्वलनकर्ता होने से भी वह अग्नि है।

ऋत का अर्थ है 'राइट' [right] सही। ऋत का उलटा है अनृत [not-right, wrong], ग़लत। वाजी अग्नि वह ऋताचारी है जिसकी प्रत्येक गति, चेष्टा, कृति, पग—सब कुछ ऋत [सही] है। वह कभी कोई ग़लती नहीं करता है। वह साक्षात् ऋत है। उसके जीवन में सब कुछ उचित और सार्थक ही है, अनुचित और निरर्थक कुछ नहीं।

जो आचार से ऋत होता है, वही वाणी से सदा सत्य बोलता है। उसकी वाणी से कभी भूलकर भी असत्य का उच्चारण नहीं होता है। उसका चिन्तन, भाषण तथा कर्म नितान्त सत्य होता है। वह साक्षात् सत्य होता है।

ऋत और सत्य के संगम पर ही श्री निवास करती है। श्री नाम शोभा, सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य का है। सच्ची शोभा, सच्चा सौन्दर्य और सच्चा ऐश्वर्य वहीं है, जहां ऋताचार और सत्याचार का संयोग है। ऋत-सत्य-श्रीयुक्त प्रकाशपुञ्ज योग-साधक निस्सन्देह सर्वत्र आत्मवत् शिरोधार्य किया ही जाता है।

२) (ओषधयः) ओषधिरूप प्रजाओ! ओषधिवत् दोषरहित जनो! (युष्माः अभि) तुम्हारे अभिमुख (अत्र आ-यन्तम्) यहां आते हुये (एतम् शिवम् अग्निम्) इस कल्याणकर प्रकाशपुञ्ज को (प्रति-मोदध्वम्) प्रत्येकशः हर्षित करो, प्रतिशः आनन्दित करो, सब प्रकार प्रमुदित रखो।

प्रकाशपुञ्ज योगप्रसारक के प्रति जनता का प्रेम और व्यवहार सर्वथा निर्दोष, निश्छल और निर्विकार रहना चाहिये। साथ ही जनता की ओर से उसके खान-पान की व्यवस्था ऐसी ओषधिरूप हो कि उसका स्वास्थ्य तथा सौन्दर्य अक्षुण्ण और उसकी प्रकृति सत्त्वसम्पन्न तथा सुम रहे। वह जब भी जनाभिमुख हो, सर्व जन उसे ओषधिरूप भावना से निरखें और उसका ससम्मान आतिथ्य करें। सद्व्यवहार तथा सनिष्ठ सेवा से सब उसे प्राह्लादित रखें।

३) (नः) हमारे (विश्वाः अन्-इराः अमीवाः) सब अन्-अन्नों [अभक्ष्यों—व्यसनों] और रोगों को (वि-अस्यन्) फेंकता/दूर करता हुआ, [हमारे] (नि-सीदन्) निकट स्थित हुआ, [हमारी] (दुःमतिम्) कुमति को (अप जहि) पृथक् कर, नष्ट कर।

प्रत्यक्षतः व्यसन और रोग योग-जीवनपद्धति में बाधक हैं। अतः अग्निरूप योगी सर्व जनों को व्यसनों और रोगों से मुक्त करते हैं, जिसका एकमात्र साधन है दुर्मति का सुमति में परिणत करना। इस साध की सिद्धि के लिये उसे जनता के निकट सम्पर्क में रहना होगा। दुर्जनों के निकट सम्पर्क से जहां दुर्मतिजन्य व्यसन-विलासों तथा भोग-रोगों की वृद्धि होती है, वहां सुजन योगि के सम्पर्क से सुमतिजन्य शुद्धाहार तथा सुस्वास्थ्य का सुसम्पादन होकर जीवन की योगपद्धति का प्रशस्तीकरण होगा।

शिरोधार्य हम करते हैं
ऋत और सत्य से युक्त,
ऋताचारी और सत्याचारी,
श्रीकर अग्नि को अंगिरस्वत्।
ओषधियो! करो प्रहर्षित,
आते हुये यहां तुम्हारे अभिमुख,
इस शिव अग्नि को।
दूर फेंकता हुआ हमारे
सब व्यसनों को और रोगों को,
निकट विराजता हुआ,
नष्ट कर दुर्मति को।

सूक्ति—नो अप दुर्मतिं जहि।
हमारी दुर्मति को दूर कर।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

४७८ ओषधयः प्रतिगृभ्णीत पुष्पवतीः सुपिप्पलाः । अयं वो गर्भ ऋत्वियः प्रत्नं सधस्थमासदत् ॥

य ११/४८

ओषधयः प्रति-गृभ्णीत पुष्प-वतीः सु-पिप्पलाः । अयम् वः गर्भः ऋत्वियः प्रत्नम् सध-स्थम् आ-असदत् ॥

अपने स्वागत-सुवचनों को जारी रखते हुये देव-देवियां कहे चले जारहे हैं—

१) (पुष्प-वतीः) पुष्पों के समान मधु और सुगन्धि से आपूर, (सु-पिप्पलाः) सु-फला, सुफलों—सुसौभाग्यों से सम्पन्न (ओषधयः) ओषधिरूप प्रजाओ ! (वः) तुम्हारा (अयम्) यह [योगप्रसारक अग्नि] (ऋत्वियः गर्भः) ऋत्वीय गर्भ है, नव ऋतु अथवा नव युग का निर्माणकेन्द्र है। इसे (प्रति-गृभ्णीत) प्रति-ग्रहण/समादृत करो।

देव-देवियों की इस उक्ति में एक मांगलिक भावना निहित है। ऋतु-ऋतु के गर्भ में एक विशेष सम्पदा निहित होती है जिससे सम्पन्न होकर वनस्पतियां प्रथम पुष्पवती होती हैं, फिर ओषधि-रूप सुफलों से सुफला होती हैं। एवमेव योगप्रसारक अग्नि भी विशेष ऋतु अथवा नव युग की एक विशेषातिविशेष सम्पदा है, जिसके सम्पर्क से देश-देश की मानव-प्रजायें पुष्प के समान मधु [मधुरता] और सुगन्धि [अध्यात्मसुरभि] से सुसम्पन्न हो-होकर ओषधिरूप [मल-विक्षेप-निवारक] सुफलों अथवा योगविभूतियों से सम्पन्न होरही हैं। प्रत्येक मानव ऐसे महामानव का स्वागत और सत्कार करके पुण्य लाभ करे।

२) ओषधिरूप प्रजाओ ! यह योगप्रसारक अग्नि (प्रत्नम् सध-स्थम् आ-असदत्) सनातन सह-स्थान पर स्थित—समाहित हुआ-हुआ है।

इस परिचायक उक्ति में योगप्रसारक महामानव की महासाध का द्योतन है। योगप्रसारक सनातन सहस्थान पर संस्थित है। ब्रह्म ही वह सनातन सहस्थान है जहां योगिजन और भक्तजन सहनिवास करते हैं। भावसमाधि में भक्तजन तथा योगिजन अपनी सम्पूर्ण भावना से ब्रह्म में सतत समाहित रहते हैं। वे शिशुवत् सन्तत ब्रह्म की आनन्दमयी गोद में संस्थित रहते हैं।

पुष्पवती सुफला ओषधियो,
यह तुम्हारा ऋत्वीय गर्भ है,
सदा सत्कृत करो इसे तुम ।
संस्थित है यह सनातन सहस्थान पर ।

४७९ वि पाजसा पृथुना शोशुचानो बाधस्व द्विषो रक्षसो अमीवाः ।
सुशर्मणो बृहतः शर्मणि स्याम्ग्नेरहं सुहवस्य प्रणीतौ ॥

[ऋ ३. १५. १]

य ११/४९

वि पाजसा पृथुना शोशुचानः बाधस्व द्विषः रक्षसः अमीवाः ।
सु-शर्मणः बृहतः शर्मणि स्याम् अग्नेः अहम् सु-हवस्य प्र-नीतौ ॥

वागत-सुवचनों के उपरान्त देव-देवियां योगसारक वाजी को सम्बोधन करते हैं—तू (पृथुना पाजसा) विस्तृत पाज से, व्यापनशील आत्मसंबल से (शोशुचानः) पवित्र होकर (द्विषः) द्वेषियों को, (रक्षसः) हिंसकों को, (अमीवाः) रोगों को (वि बाधस्व) विबाधित कर, रोक।

पाज नाम बल का है, उस बल का नहीं जो द्वेष और हिंसा के मल से मलिन होता है, अपि तु उस आत्मसंबल का जो पवित्र आत्मस्नेह और कल्याणभावना से संशुद्ध होता है।

जीवन की योगपद्धति की संव्याप्ति में सबसे बड़ी तीन बाधायें हैं द्वेषियों का द्वेष, राक्षसों की

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हिंसा और भोगजन्य रोग। योगप्रसारक को अपने सुपूत पाज के आश्रय से मानव-समाज को इन तीनों अभिशापों से मुक्त करना है। ऐसा किये बिना समाज में वह वातावरण कदापि न बन पायेगा, योग की व्याप्ति में जिसकी इतनी आवश्यकता है। मानवों में से उपर्युक्त तीनों अभिशापों का निराकरण होने पर ही वह स्वच्छ और स्वस्थ समाज बनता है, जो योग-जीवनपद्धति को जीवन का अंग बनाता है। द्वेषियों को द्वेष-रहित करना, राक्षसों को अहिंसक बनाना, रोगियों को संयमी बनाकर उन्हें रोगमुक्त करना—यही वि-बाध है।

देव-देवियों के सम्बोधन का उत्तर देते हुये योगोपासक वाजी कहता है—परमपावन प्रभु ऐसी कृपा करे कि (अहम्) मैं (बृहतः सु-शर्मणः सु-हवस्य अग्नेः) विशाल सुसुखयिता सुहोम अग्नि की (शर्मणि) सुस्थिति में तथा (प्र-नीतौ) सु-नीति में (स्याम्) रहूं।

सूर्य ही वह 'बृहत् अग्नि' है जो अपने प्रकाश और ताप से प्राणियों को सुसुख प्रदान करता है और जिससे सतत होम होरहा है। ऐसे उस सूर्याग्नि की सुस्थिति तथा नीति में स्थित रहने की वाजी प्रभु से प्रार्थना कर रहा है।

सूर्य अपने आवृत पर निरन्तर घूमता रहता है। अनवरत भ्रमण अथवा नितराम् गति उसकी सुस्थिति है। वाजी जीवन की योगपद्धति का विश्व में प्रचार-प्रसार तब ही कर सकेगा जब वह सूर्य के समान अपने साधनावृत पर स्थिर होकर सन्तत भ्रमण तथा प्रगमन करेगा, सर्वत्र योग का शिक्षण प्रशिक्षण करेगा।

अन्धकार का निराकरण और प्रकाश प्रसार—यही सूर्य की सुनीति है। द्वेष, हिंसा और रोग अज्ञानान्धकार में पनपते हैं और ज्ञानालोक दूर भाग जाते हैं। योगप्रसारक लगातार परिश्रम करता हुआ देश-देश के मानवों का अज्ञानान्धकार हटाकर उन्हें योगपथ पर आरूढ़ करता है।

पृथु पाज से निर्मल होकर,
कर वि-बाध द्वेषियों, राक्षसों
और रोगों का।
रहूं स्थित मैं,
बृहत् सुशर्मा सुहव अग्नि की
सुस्थिति में, अपि च सुनीति में।
सूक्ति—बाधस्व द्विषो रक्षसो अमीवाः।
द्वेषियों, राक्षसों, रोगों को रोक।

४८० आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥
[ऋ १०.९.१, य ३६/१४, सा १८३७, अ १.५.१] य ११/५०
आपः हि स्थ मयःभुवः ताः नः ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥

सूर्याग्नि की सुस्थिति तथा सुनीति में संस्थित हुआ प्रत्येक वाजी सर्वत्र सर्व जनों को योगजीवन में दीक्षित करता हुआ सारी पृथिवी पर विचर रहा है। वह दीक्षितों का जल से अभिषेक कर रहा है और दीक्षित नर-नारी जल का स्तवन करके आत्मप्रेरणा प्राप्त कर रहे हैं—(आपः) जल-धाराओ! तुम (स्थ) हो (हि) निश्चय से (मयः-भुवः) सुखकारिणी। (ताः) वे तुम (दधातन) धारण करो (नः) हमें (ऊर्जे) स्फूर्ति के लिये, (महे) तेज के लिये, (रणाय) सुघोष—सुकण्ठ—सु के लिये, (चक्षसे) सुदृष्टि के लिये।

गर्मी से तप्त, श्रम से थका, पसीनों से मानव जब निर्मल शीतल जलधाराओं में करता है तो उसे सुख की प्रतीति होती है, थकान दूर होती है, उसमें फुर्ती आजाती है, गात तेजोमय सुन्दर होजाता है। शीतल जल पान करने से कण्ठ तर होकर खुल जाता है मनुष्य सुष्ठुतया बोलता है। आंखों में शीतल

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

के छींटों से नेत्र स्वच्छ और सुचक्ष होजाते हैं, दर्शनशक्ति का रक्षण तथा वर्धन होता है।

उसी प्रकार योगवारि की निर्मल शीतल धारायें निश्चय ही भोगों, रोगों और क्लेशों से सन्तप्त मानवों के जीवनों में सुख-शान्ति, स्फूर्ति, तेजस्विता का संचार करती हैं, उनके वचनों में सुप्रभाव की स्थापना करती हैं, उनकी दृष्टि में दिव्यता का संचार करती हैं।

जलधाराओ,
हो तुम निश्चय ही सुखयित्री।
धारण करो हमें स्फूर्ति,
तेज, घोष, दृष्टि के लिये।

४८१ यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः॥
[ऋ १०.९.२, य ३६/१५, सा १८३८, अ १.५.२] य ११/५१

यः वः शिव-तमः रसः तस्य भाजयत इह नः। उशतीः-इव मातरः॥

जलधाराओ! (यः वः शिवतमः रसः) जो तुम्हारा कल्याणप्रद-तम रस है, (तस्य भाजयत इह नः) उसका सेवन कराओ यहां हमें, (उशतीः-इव मातरः) प्रेममयी माताओं के समान।

आकाश से बरसनेवाली जलधाराओं का रस वसुन्धरा को हरा-भरा कर देता है। नदियों, नहरों, कूपों, तडागों और झरनों से प्रवाहित होनेवाली जलधाराओं का रस भी भूमियों का सिंचन करता है।

योगधाराओं का अतिशय कल्याणकारी दिव्य रस वाजियों [निष्णात गुरुओं] द्वारा हमें उसी प्रकार सेवन कराया जाये, जिस प्रकार कामयमाना प्रेममयी मातायें अपने शिशुओं को अपने स्तनों का दुग्ध पान कराती हैं। योग-रस का पान करके हम शरीरिण तथा आत्मना सर्वतः सम्पुष्ट रहें।

है जो तुम्हारा शिवतम रस,
उसका सेवन कराओ यहां हमें।
प्रेममयी माताओं के समान।

४८२ तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः॥
[ऋ १०.९.३, य ३६/१६, सा १८३९, अ १.५.३] य ११/५२

तस्मै अरम् गमाम वः यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपः जनयथ च नः॥

तुम (यस्य क्षयाय) जिसके निवास के प्रति, जिसके धाम की ओर (जिन्वथ) जारही हो, हम भी (वः) तुम्हारे (तस्मै) उसी [प्रियतम देव] के प्रति (अरम् गमाम) पर्याप्त गमन करें, प्रगमन करें, अनुधावन करें। (आपः) जलधाराओ! (नः जनयथ च) हमें बताओ तो।

नदियां कल-कल करती हुयी बही चली जारही हैं, मानों विरह-गान करती हुयी उस परम देव के प्रिय धाम की ओर चली-चली जारही हैं। और वे जैसे स्थैर्य [इतमीनान] के साथ चली-चली जारही हैं, उससे प्रतीत होता है कि उन्हें उस प्रिय धाम के पथ का निश्चित पता है। इस भावना से अनुभावित होकर योगाभिषिक्त साधक-साधिकायें जलधाराओं को सम्बोधन करके कहने लगती हैं, 'जलधाराओ! तुम अपने जिस प्रियतम के जिस प्रिय धाम की ओर बही चली जारही हो, हम भी उसी की खोज में हैं। तो हम भी तुम्हारे साथ उस प्रिय धाम की ओर चलें। जलदेवियो! बताओ तो, क्या तुम उस प्रियतम को और उसके प्रिय धाम को जानती हो?'

भोग का लक्ष्य काया और माया है, तो योग का लक्ष्य आत्मसाधना द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भोगी माया के विलासों में खोये रहते हैं। योगी माया से ऊपर उठे हुये आत्मा और परमात्मा की खोज करते हैं, सत्य और तत्त्व का अन्वेषण करते हैं।

जारही हो तुम जिसके धाम की ओर,
चलें हम भी तुम्हारे उसी के प्रति।
जलदेवियो! हमें बताओ तो।

४८३ मित्रः संसृज्य पृथिवीं भूमिं च ज्योतिषा सह।
सुजातं जातवेदसमयक्ष्माय त्वा संसृजामि प्रजाभ्यः॥ य ११/५३
मित्रः सम्-सृज्य पृथिवीम् भूमिम् च ज्योतिषा सह।
सु-जातम् जात-वेदसम् अयक्ष्माय त्वा सम्-सृजामि प्र-जाभ्यः॥

तीन पूर्व-मन्त्रों से योगदीक्षितों ने जल-स्तवन किया है। अब योगप्रसारक वाजी विशेष होनहार दीक्षितों को व्यक्तिशः उत्प्रेरित करता है—(पृथिवीम् च भूमिम्) पृथिवी और भूमि को (ज्योतिषा सह) ज्योति के साथ (सम्-सृज्य) सुसंस्कृत करके (मित्रः) मित्र मैं (त्वा सु-जातम् जात-वेदसम्) तुझ सुजात और जातवेदा को (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये (अयक्ष्माय) अयक्ष्मार्थ (सम्-सृजामि) संसृजता हूं, विशेषतया प्रशिक्षित करके सुदक्ष बनाता हूं।

पृथिवी शब्द का प्रयोग यहां सम्पूर्ण भूगोल के लिये हुआ है और भूमि का देश-प्रदेश के अर्थ में। योगजन्य विवेक-ख्याति अथवा ज्ञान-ज्योति का प्रसार करते हुये वाजी ने देश-देश, प्रदेश-प्रदेश को ज्योतिर्धाम बना दिया है और वहां की प्रजाओं को योगसंस्कारों से सुसंस्कृत कर दिया है।

वाजी मित्र है, विश्वस्नेही सूर्य है। उसे विश्व की समस्त प्रजाओं को योगामृत पिलाकर उनमें ज्योति और आनन्द का संचार करना है। ऐसी विशाल और व्यापक साधना के लिये उसे असंख्य वाजियों का निर्माण करके उन्हें सुदक्ष बनाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह जिस किसी दीक्षित साधक या साधिका को होनहार पाता उसी को सम्बोधन करके वह कहता है, 'विश्व मानव-प्रजाओं का हितैषी मित्र मैं तुझ सुज और जातवेदा को प्रजाओं के क्षयराहित्य अ अविनाश के लिये संसृजता हूं।'

'सुजात' का अर्थ है सुजन्मा, कुलीन, उत्त कुलोत्पन्न। 'जात-वेदाः' से यहां तात्पर्य है को जाननेवाला, संज्ञानी, सर्ववित्। सुकुल सुसंस्कारों से सुसंस्कृत साधक-साधिका अपेक्षा अधिक सक्षम और सुदक्ष बन सकते हैं। ऐसे सक्षम और सुदक्ष साधक-साधिका उच्च कोटि वाजी-वाजिका बनकर विश्व की मानव-प्रजाओं भोगविलासजन्य विनाश से बचाकर उन्हें अवि के राजपथ पर आरूढ़ करते हैं।

पृथिवी और भूमि को ज्योति से संसृज कर,
मित्र मैं तुझ सुजात जातवेदा को
प्रजाओं के अविनाश के लिये
संसृजता हूं।

४८४ रुद्राः संसृज्य पृथिवीं बृहज्ज्योतिः समीधिरे। तेषां भानुरजस्र इच्छुक्रो देवेषु रोचते॥
य ११/५४
रुद्राः सम्-सृज्य पृथिवीम् बृहत् ज्योतिः सम्-ईधिरे। तेषाम् भानुः अजस्रः इत् शुक्रः देवेषु रोचते॥

और अब सभी योगदीक्षितों को उत्प्रेरित करता हुआ वाजी उनके प्रति कहता है—देखो, जिन (रुद्राः) रुद्रों ने (पृथिवीम् सम्-सृज्य) पृथिवी संसृज कर, पृथिवी का निर्माण करके (बृ

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ज्योतिः) महत् ज्योति (सम्-ईधिरे) प्रज्वलित—प्रकाशित की है, (तेषाम् इत्) उनका ही (अजस्रः शुक्रः भानुः) अक्षय शुद्ध—शुभ्र प्रकाश (देवेषु रोचते) देवों में जगमगा रहा है।

रुद्र=रुत्-द्र। रुत्=रोग। द्र=दीर्ण—नष्ट करनेवाला। प्रजा के अन्तः-बाह्य रोगों, दोषों का निवारण करके उनके जीवनों का निर्माण करनेवालों की संज्ञा 'रुद्र' है। 'प्राणो वै रुद्रः।' प्राणवत् निर्विश्राम, निर्विषय, निर्विकार और निरासक्त रहकर जो संसाधना करते हैं, उन योगियों की रुद्र संज्ञा है। 'धीरा वै रुद्राः।' जो धीर हैं, धैर्य के धनी हैं, वे रुद्र हैं।

पृथिविवासी मानव-जीवनों का निर्माण ही पृथिवी का निर्माण है। पृथिवी की मानव-प्रजा जब जीवन की योग-पद्धति से युक्त होजाती है, तब पृथिवी पर बृहत् ज्योति जगमगाती है। विवेक-ज्योति, आत्म-ज्योति अथवा ब्रह्म-ज्योति ही वह बृहत् ज्योति है जिसे रुद्र प्रज्वलित और प्रकाशित किया करते हैं। आनेवाली पीढ़ियों के देवों और देवियों के जीवनों में उन रुद्रों की वही ज्योति प्रकाशरूप में द्योतित होकर जनजीवन का मार्ग-दर्शन कर रही है।

'दीक्षितो! जिन पूर्वजों ने पृथिवी [पृथिवी-स्थ मानव-प्रजा] का निर्माण करके जो बृहज्ज्योति प्रकाशित की थी, उनका वही शुद्ध—शुभ्र प्रकाश मानवदेवों में जगमगा रहा है। तुम भी योगयुक्त रुद्र बनकर बृहज्ज्योति का प्रकाशन करो, ताकि तुम्हारे द्वारा प्रदत्त प्रकाश आनेवाले मानवदेवों में जगमगाता रहे।'

पृथिवी को संसृजकर,
रुद्रों ने प्रकाशित की थी
बृहज्ज्योति।
अक्षय शुद्ध प्रकाश उन्हीं का
देवों में होरहा है द्योतित।

४८५ **संसृष्टां वसुभी रुद्रैर्धीरैः कर्मण्यां मृदम्। हस्ताभ्यां मृद्वीं कृत्वा सिनीवाली कृणोतु ताम्॥**

सम्-सृष्टाम् वसुभिः रुद्रैः धीरैः कर्मण्याम् मृदम्। हस्ताभ्याम् मृद्वीम् कृत्वा सिनीवाली कृणोतु ताम्॥ य ११/५५

समस्त पृथिवी का सुनिर्माण और उस पर बृहज्ज्योति का प्रकाशन कठिन नहीं है, यदि माता-पिता द्वारा (मृदम् मृद्वीम् कृत्वा) मिट्टी को मुलायम करके [निर्मिता], (वसुभिः रुद्रैः धीरैः ताम् सम्-सृष्टाम्) वसुओं द्वारा, रुद्रों द्वारा, धीरों द्वारा उस सु-निर्मिता [उखा] को (सिनीवाली) सिनीवाली (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथों से (कर्मण्याम् कृणोतु) कर्मण्या—साधनाशीला करे—बनाये।

'सिनी' नाम श्वेत चन्द्रिका का है। चन्द्रिका के समान श्वेत ज्योत्स्ना से, शुभ्र सौन्दर्य से युक्त आत्मसत्ता का नाम सिनीवाली है, जिसके दो हस्त हैं इच्छाशक्ति और विवेक।

उखा नाम बटलोयी और हांडी का है। बटलोयी पीतल, तांबा, आदि धातु से निर्मित की जाती है। हांडी बनायी जाती है मिट्टी को पानी से गीली—मुलायम करके। यहां, इस मन्त्र में उस हांडी का उल्लेख नहीं है जिसे कुम्भकार बनाता है, अपि तु उस हांडी का वर्णन है जिसे माता-पिता मुलायम मिट्टी से निर्मित करते हैं और वसु, रुद्र, धीर जिसे सुनिर्मित करते हैं। वह हांडी है मानव-शरीर अथवा मानव-जीवन। मानव-देह मिट्टी की हांडी है। जल-सेवन से यह मुलायम रहती है। अग्नि से इसका पोषण होता है। प्राण इसे गति देते हैं। आकाश में यह स्थित है।

माता-पिता रज-वीर्यरूपी मुलायम मिट्टी से जीवन-उखा का केवल निर्माण करते हैं। किन्तु इसका संसृजन अथवा सुनिर्माण वसु, रुद्र और धीर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

करते हैं। वसु नाम अन्तरिक्षसत् सम्पदा का है। अन्तस्साधना द्वारा जिसने अध्यात्म-धन प्राप्त किया है उसकी संज्ञा 'वसु' है। प्राण के समान जो निर्दोष, निर्मल, निर्विकार, निर्विश्राम, तपस्वी और अनासक्त है वह 'रुद्र' है। 'अकामो धीरः।' विषय-वासनाजन्य इच्छाओं से जो सर्वथा मुक्त है वह 'धीर' है।

वसुओं, रुद्रों और धीर योगियों तथा योगिनियों के सुसंग और सदुपदेशों से नर-नारियों की आत्म-सत्ता का जागरण होता है जिसके परिणामस्वरूप उनकी इच्छाशक्ति और विवेक प्रखरता को प्राप्त होते हैं। इच्छाशक्ति और विवेक के आ से जीवन-उखा कर्मण्या अथवा साधनाशी बनती है। साधनाशीला उखायें ही पृथिवी सुनिर्माण और उस पर बृहज्ज्योति का प्रका करती हैं।

करके मिट्टी को मुलायम,
माता-पिता द्वारा निर्मित,
वसुओं, रुद्रों, धीरों द्वारा
उस सुसंसृष्टा हांडी को
सिनीवाली दोनों हाथों से
करे साधनाशीला।

४८६ सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशा। सा तुभ्यमदिते मह्योखां दधातु हस्तयोः॥
य ११/५६

सिनीवाली सु-कपर्दा सु-कुरीरा सु-औपशा। सा तुभ्यम् अदिते महि उखाम् दधातु हस्तयोः॥

प्रत्येक दीक्षित साधक अपनी साधनाशीला जीवन-उखा को लक्ष्य करके अपनी सम्पूर्ण भावना के साथ पृथिवी माता को सम्बोधन करता हुआ कहता है—(अदिते महि) अखण्ड भूमे! (तुभ्यम्) तेरे लिये, तेरे सुनिर्माण और तुझ पर बृहज्ज्योति के प्रकाशनार्थ (सा सु-कपर्दा सु-कुरीरा सु-औपशा सिनीवाली) वह सुकपर्दा, सुकुरीरा, स्वौपशा सिनीवाली [मेरी] (उखाम्) जीवन-हांडी को (हस्तयोः) इच्छाशक्ति और विवेकरूपी हाथों से (दधातु) धारण उन्नत करे।

यहां भी सिनीवाली शब्द का प्रयोग श्वेत ज्योत्स्ना और शुभ्र सौन्दर्य से युक्त आत्मसत्ता के लिये हुआ है। सिनीवाली के लिये मन्त्र में जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है वे आत्मस्वरूप के परिचायक हैं।

कपर्द नाम केश और किरण का है। जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य के केश हैं, उसी प्रकार आत्मप्रचेतना की किरणें सिनीवाली के केश हैं। सिनीवाली सुकपर्दा है, सुकिरणा अथवा सुकेशा है।

सु-कु-रीरा=सु-शब्दों की सुप्रेरिका। अ से निकले शब्दों की ही संज्ञा 'परा वाणी' है। उन्हीं का नाम सुकुरीर है। सुकुरीर अति ओजप्रद—प्रेरणाप्रद होते हैं। सिनीवाली सुकुरीर

स्वौपशा=सु-औप-शा, सुष्ठुतया [समीपतः] शयन—व्यापन करनेवाली, अंग-अं सुशयन करनेवाली अथवा व्यापनेवाली। सिनी की ज्योत्स्ना जीवन के कण-कण में व्याप रही वह स्वौपशा है।

ऐसी सिनीवाली इच्छाशक्ति तथा विवेक हाथों से प्रत्येक जीवन-उखा को ऐसी समुन्नत कि सारी भूमि पर सुनिर्मिति च बृहज्ज्योति संव्याप्ति होजाये।

अखण्ड भूमे,
वह सुकेशा सुशब्दप्रेरिका
सुव्याप्तिशीला सिनीवाली
उन्नत करे उभय हाथों से
उखा-उखा को।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

४८७ उखां कृणोतु शक्त्या बाहुभ्यामदितिर्धिया ।
माता पुत्रं यथोपस्थे साग्निं बिभर्तु गर्भ आ । मखस्य शिरो ऽसि ॥ य ११/५७

उखाम् कृणोतु शक्त्या बाहुभ्याम् अदितिः धिया ।
माता पुत्रम् यथा उपस्थे सा अग्निम् बिभर्तु गर्भे आ । मखस्य शिरः असि ॥

पूर्व-मन्त्रों में श्वेत ज्योत्स्ना और शुभ्र सौन्दर्य से युक्त जिस आत्मसत्ता को सिनीवाली कहा गया है, उसी को यहां अदिति कहा गया है। अदिति = खण्डरहिता। जिसका कभी खण्ड या विनाश न हो वह अदिति है। खण्ड से विनाश होता है; अखण्ड से अविनाश। अदिति, अ-दिति, अ-दीना। जिसमें दीनता न हो, वह अदिति है। अदिति दीनतामुक्त है।

आत्मदीनता जीवन-उखा को शक्तिहीन और धारणाविहीन बनाती है। आत्म-अदीनता उसे उस अदम्य शक्ति और उस दृढ़ धारणा से आपूर भर देती है, जिससे योगमय विश्व की सुनिर्मिति और संज्ञानमय बृहज्ज्योति की विश्वव्याप्ति होती है। इसी तथ्य के प्रकाशनार्थ वेदमाता ने प्रत्येक दीक्षित योगसाधक के मुख से यहां पुनः कहलवाया है—

१) (अदितिः) अविनाशी अदीन आत्मसत्ता (बाहुभ्याम्) इच्छाशक्ति और विवेक रूपी दो हाथों से (उखाम्) जीवन-उखा को (शक्त्या धिया कृणोतु) शक्ति से और धारणा से युक्त करे।

शक्ति और धारणा के संयोग से ही विशाल और व्यापक साधें सिद्ध हुआ करती हैं। शक्ति के बिना धारणा पंगु है तो धारणा के बिना शक्ति निर्जीव है।

२) (सा) वह [अदिति] (गर्भे अग्निम् आ बिभर्तु) गर्भ में अग्नि को धारण—स्थापन करे, (यथा माता उपस्थे पुत्रम्) जैसे माता गोद में पुत्र को।

'गर्भ' का प्रयोग यहां अन्तःकरण के लिये हुआ है और 'अग्नि' का साध की ऊष्मा के लिये। जिनके अन्तःकरण में अपनी साध के लिये अग्नि धधकती रहती है, वे ही उसकी संसिद्धि के लिये स्वसर्वस्व सुहुत करते हैं। अदिति साधकों के अन्तःकरण में साध की साधनाग्नि को उसी प्रकार प्रस्थापित रखे, जिस प्रकार प्रेमोष्मा से माता अपने प्रिय शिशु को अपनी गोद में बिठाती है।

३) अग्ने ! तू (मखस्य शिरः असि) यज्ञ का मूर्धा है।

'मख्' धातु, जिससे मख शब्द का जन्म हुआ है, गत्यर्थक अथवा साधनार्थक है। मख नाम उस यज्ञ का नहीं है जो भौतिक अग्नि से किया जाता है, अपि तु उस साधनापरक यज्ञ का है जो अन्तःकरण की धधकती हुयी अग्नि से किया जाता है। अन्तरग्नि निस्सन्देह प्रत्येक मख का मूर्धा है, सर्वोपरि साधन है।

अदिति उभय बाहुओं द्वारा
करे उखा को
शक्ति, धारणा से सम्पन्न।
वही स्थापन करे अग्नि को
अन्तरङ्ग में,
माता पुत्र को यथा गोद में,
तू है मूर्धा मख का।

सूक्ति—मखस्य शिरो ऽसि।
तू साधनायज्ञ का मूर्धा है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

४८८ वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवासि पृथिव्यसि धारया मयि प्र-जां रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यं सजातान् यजमानाय रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवास्यन्तरिक्षमसि धारया मयि प्रजां रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यं सजातान् यजमानाय आदित्यास्त्वा कृण्वन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवासि द्यौरसि धारया मयि प्र-जां रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यं सजातान् यजमानाय विश्वे त्वा देवा वैश्वानराः कृण्वन्त्वानुष्टुभेन छंदसाङ्गिरस्वद् ध्रुवासि दिशो ऽसि धारया मयि प्रजां रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यं सजातान् यजमानाय ॥ य ११/५

वसवः त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसा अङ्गिरःवत् ध्रुवा असि पृथिवी असि धारय मयि प्र-जाम् रायः पोषम् गौपत्यम् सु-वीर्यम् सजातान् यजमानाय रुद्राः त्वा कृण्वन्तु त्रै-स्तुभेन छन्दसा अङ्गिरःवत् ध्रुवा असि अन्तरिक्षम् असि धारय मयि प्र-जाम् रायः पोषम् गौपत्यम् सु-वीर्यम् सजातान् यजमानाय आदित्याः त्वा कृण्वन्तु जागतेन छन्दसा अङ्गिरःवत् ध्रुवा असि द्यौः असि धारय मयि प्र-जाम् रायः पोषम् गौपत्यम् सु-वीर्यम् सजातान् यजमानाय विश्वे त्वा देवाः वैश्वानराः कृण्वन्तु आनु-स्तुभेन छन्दसा अङ्गिरःवत् ध्रुवा असि दिशः असि धारय मयि प्र-जाम् रायः पोषम् गौपत्यम् सु-वीर्यम् सजातान् यजमानाय ॥

अविनाशी अदीन आत्मसत्ता को सम्बोधन करता हुआ प्रत्येक दीक्षित योगसाधक कह रहा है—

१) (वसवः त्वा कृण्वन्तु) वसु तुझे करें—बनायें (गायत्रेण छन्दसा) प्राण-रक्षण छन्द से, जीवन-सार्थक्य की भावना से (अंगिरःवत्) परमात्मवत्, ब्रह्मवत्।

'वसु' उन योगियों की संज्ञा है जिन्होंने अन्तस्साधना द्वारा अध्यात्मधन सम्प्राप्त किया है।

अंग-अंग में जो रम रहा है वह 'अंगिरस्' है। परमात्मा वह अंगिरस् है जो इस अखिल सृष्टि के अंग-अंग में रम रहा है।

आत्मधन के धनी अपनी आत्मसत्ता को ब्रह्मवत् बनायें। जिस प्रकार अग्नि में समाहित होकर कोयला अग्निवत् होजाता है, उसी प्रकार अध्यात्मधन के प्रेमी ब्रह्म में समाहित होकर आत्मसत्ता को ब्रह्मवत् बनायें। इसी में प्राण [श्वास-श्वास] की रक्षा है, इसी में मानव-जीवन की सार्थकता है।

२) तू (ध्रुवा असि, पृथिवी असि) ध्रुवा है, पृथिवी है।

जीवन में जो ध्रुवता है वह आत्मसत्ता की है। आत्मा 'अनिल'—अपार्थिव और 'अमृत'—मृत्यु है। शरीर पार्थिव और 'भस्मान्त' है। आत्मा अध्रुव पार्थिव देह में निवास कर रहा है।

'पृथिवी पृथुसुखानन्दकारिणी।' आत्मा पृथिवी के समान असंख्य—अनेक सुखानन्दों की प्रदात्री है। जीवन के सब सुखानन्द आत्मा के ही आश्रय से प्राप्त होते हैं।

३) आत्मसत्ता को ब्रह्मवत् बनाने के (मयि) मुझमें, मुझ दीक्षित योगसाधक में (यजमानाय) यजमान के लिये, मुझ योग के सम्पादक के लिये (धारय) धारण—ध्रुव—स्थिर कर (प्र-जाम्) प्रकृष्ट-जा को, इन्द्रियों की प्रकृष्टता को, (रायः पोषम्) आत्मैश्वर्य के पोष को, आत्मधन की पुष्टि को, (गौपत्यम्) गौपत्य—गौओं—इन्द्रियों के स्वामित्व को, जितेन्द्रियता को, (सु-वीर्यम्) सुपराक्रम को, (सजातान्) सजात

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मानवबन्धुओं को।

योगसाधक में इन्द्रियों की प्रकृष्टता का स्थिर होना प्रत्यक्षतः परमावश्यक है। तब ही उसमें स्थिरता के साथ आत्मैश्वर्य की पुष्टि का सम्पादन होगा, तब ही वह जितेन्द्रियता स्थिर कर सकेगा, तब ही वह अविचल आत्म-सुवीर्य से युक्त होगा और तब ही वह सजातों/मानवबन्धुओं को स्थिरता के साथ योगपथ पर आरूढ़ कर पायेगा। आत्मसत्ता ही उसमें स्थिरता के साथ इन पञ्च सम्पदाओं की स्थापना कर सकती है।

७) (रुद्राः त्वा कृण्वन्तु) रुद्र तुझे करें—बनायें (त्रै-स्तुभेन छन्दसा) त्रै-स्तुप् छन्द से, मन-वचन-कर्मरूपी त्रित की प्रशस्तता की भावना से (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत्।

'रुद्र' नाम उन योगियों का है जो प्राण के समान निर्दोष, निर्मल, निर्विषय, निर्विकार, निर्विश्राम, तपस्वी और अनासक्त होते हैं। यह सिद्धि मन, वचन, कर्म की प्रशस्तता से सिद्ध होती है।

प्राण के समान संशुद्ध योगी मन, वचन, कर्म की प्रशस्तता के साथ ब्रह्म में समाहित होकर आत्मसत्ता को ब्रह्मवत् बनायें, यही परमोत्कृष्ट साधना है।

८) तू (ध्रुवा असि अन्तरिक्षम् असि) ध्रुवा है, अन्तरिक्ष है।

अन्तरिक्ष से तात्पर्य यहां अन्तःकरण अथवा हृदयाकाश से है। ध्रुवा आत्मसत्ता हृदयाकाश में अधिष्ठित है। चित्तवृत्तियों का निरोध करके अपने स्वरूप में अवस्थित होकर निज रूप का दर्शन और ब्रह्म का सन्दर्शन करना ही अन्तरिक्ष-निवास का प्रयोजन है।

९) ब्राह्मी स्थिति की प्राप्त्यर्थं (मयि) मुझ योगसाधक में, (यजमानाय) मुझ योगयज्ञ के यजमान के लिये (धारय) धारण कर (प्र-जाम्, रायः पोषम्, गौपत्यम्, सु-वीर्यम्, सजातान्) प्रजा, आत्मैश्वर्य के पोष, गौपत्य, सुवीर्य तथा सजातों को।

७) (आदित्याः त्वा कृण्वन्तु) आदित्य तुझे करें—बनायें (जागतेन छन्दसा) जागत छन्द से, जगती के कल्याण की भावना से (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत्।

ब्रह्मवत् बनकर ही आत्मसत्ता जगत्पति के जगत् की कल्याणसाधना कर सकती है। यह संसाधना आदित्यों का दिव्य भाग है। आदित्य नाम अदिति के पुत्र का है। अदिति शब्द के अनेक अर्थों में से एक अर्थ अखण्ड पृथिवी है। सम्पूर्ण पृथिवी को जो अपनी माता और उस पर निवास करनेवाली समग्र मानव-प्रजा को जो अपना परिवार मानते हैं, उन योगियों की संज्ञा आदित्य है। आदित्य विश्वकल्याण की भावना से अपनी-अपनी आत्मसत्ता को ब्रह्मवत् बनायें।

८) तू (ध्रुवा असि द्यौः असि) ध्रुवा है, द्यौ है।

द्यौ प्रकाश अथवा ज्योति का प्रतीक है। आत्मसत्ता जहां ध्रुवा है, वहां दीप्तिमान्, ज्योतिष्मान्, प्रकाशमान् भी है।

९) ब्रह्मरूपतार्थं (मयि) मुझ योगसाधक में, (यजमानाय) मुझ योगयज्ञ के यजमान के लिये (धारय) धारण कर (प्र-जाम्, रायः पोषम्, गौपत्यम्, सु-वीर्यम्, सजातान्) प्रजा, आत्मैश्वर्य के पोष, गौपत्य, सुवीर्य तथा सजातों को।

१०) (विश्वे वैश्वानराः देवाः त्वा कृण्वन्तु) सब विश्वनायक देव तुझे करें—बनायें (आनु-स्तुभेन छन्दसा) आनु-स्तुप् भावना से (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत्।

'अनु' शब्द में अनुसरणशीलता, सततता का भाव निहित है और 'स्तुप्' में स्तुत्य—प्रशस्त आचार का। विश्व में स्तुत्य आचार का अनुसरण हो, इस मंगल भावना से विश्व का सुनयन करनेवाले देव-देवियां आत्मसत्ता को ब्रह्मवत् बनायें। तो ही वे विश्व में प्रशस्त मानवाचार की प्रस्थापना कर सकेंगे।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

११) तू (ध्रुवा असि दिशः असि) ध्रुवा है, दिशायें है।

आत्मसत्ता जहां ध्रुवा है, वहां वह ब्रह्मवत् बनकर दिशा-प्रदिशाओं में सुनयन तथा स्तुत्याचार की प्रतिष्ठा कर सकती है।

१२) ब्राह्मी स्थिति की प्राप्त्यर्थ (मयि) मुझ योगसाधक में, (यजमानाय) मुझ योगयज्ञ के यजमान के लिये (धारय) धारण कर (प्र-जाम्, रायः पोषम्, गौपत्यम्, सु-वीर्यम्, सजातान्) प्रजा, आत्मैश्वर्य के पोष, गौपत्य, सुवीर्य तथा सजातों को।

वसु करें तुझे गायत्र छन्द से अंगिरस्वत्,
तू है ध्रुवा, तू है पृथिवी,
धार मुझमें, मुझ यजमान के लिये
प्रजा, रायस्पोष, गौपत्य, सुवीर्य, सजातों को।
रुद्र बनायें तुझे त्रै-स्तुप् छन्द से अंगिरस्वत्,
तू है ध्रुवा, तू है अन्तरिक्ष,
धार मुझमें, मुझ यजमान के लिये
प्रजा, रायस्पोष, गौपत्य, सुवीर्य, सजातों को।
आदित्य करें तुझे जागत छन्द से अंगिरस्वत्,
तू है ध्रुवा, तू है द्यौ,
धार मुझमें, मुझ यजमान के लिये
प्रजा, रायस्पोष, गौपत्य, सुवीर्य, सजातों को।
सब वैश्वानर देव बनायें तुझे
आनु-स्तुप् छन्द से अंगिरस्वत्,
तू है ध्रुवा, तू है दिशायें,
धार मुझमें, मुझ यजमान के लिये
प्रजा, रायस्पोष, गौपत्य, सुवीर्य, सजातों को।

४८९ अदित्यै रास्नास्यदितिष्टे बिलं गृभ्णातु। कृत्वाय सा महीमुखां मृन्मयीं योनिमग्नये।
पुत्रेभ्यः प्रायच्छददितिः श्रपयानिति॥ य ११/५९

अदित्यै रास्ना असि अदितिः ते बिलम् गृभ्णातु। कृत्वाय सा महीम् उखाम् मृत्-मयीम् योनिम् अग्नये
पुत्रेभ्यः प्र-अयच्छत् अदितिः श्रपयान् इति॥

आत्मसत्ता के प्रति सम्बोधन को जारी रखते हुये कहा जारहा है—

१) [अदिते! आत्मसत्ते!] तू (अदित्यै) अदिति [पृथिवी] के लिये (रास्ना असि) सुदात्री है। (अदितिः) अदिति [पृथिवी] (ते बिलम्) तेरे भरण—पोष को (गृभ्णातु) ग्रहण—सेवन करे।

पूर्व-मन्त्रों में अदिति शब्द अखण्ड पृथिवी तथा अविनाशी अदीन आत्मसत्ता के अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। यहां इस मन्त्रांश में इस शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण पृथिवी अथवा पृथिवी-स्थ समग्र मानव-प्रजा के लिये हुआ है।

आत्मसत्ता, आत्मज्ञान, अध्यात्म-सम्पदा पृथिवी के लिये सुदेनें देनेवाली है। अध्यात्मविहीन भौतिकवाद पृथिवी को रौरव नरक और मानव को हिंसक पशु बना देता है। अध्यात्मवाद ही है जो अपनी सुदेनों से पृथिवी को स्वर्ग और मानव दिव्य देव बनाता है। योगसाधकों का प्रयास कि समग्र पृथिवी आत्मसत्ता के भरण को अध्यात्म के पोष को ग्रहण करे, भौतिक पुष्टि साथ मानव-प्रजायें आध्यात्मिक पुष्टि का सम्पादन करें।

२) (सा अदितिः) उस अदिति—आत्मसत्ता ने (मयीम् महीम् उखाम्) मृत्तिका-मयी मही को (अग्नये) अग्रगमन के लिये (योनिम् कृत्वाय) योनि बनाकर (पुत्रेभ्यः) पुत्रों के लिये (प्र-अयच्छत्) प्रदान किया, '(श्रपयान्) पकाओ,' (इति) [कहकर]।

इस मन्त्रांश में अदिति शब्द का प्रयोग नाशी अदीन आत्मसत्ता के अर्थ में हुआ है।

मही=महती, पूजनीया। योनि=मा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शरीर।

'अग्निर्वै अग्रणीर्भवति।' अग्नि शब्द का प्रयोग यहां आत्म-अग्रगमन के लिये हुआ है।

'पुत्रेभ्यः' का प्रयोग हुआ है यहां सन्तति-परम्पराओं के अर्थ में।

'उस आत्मसत्ता ने, मिट्टी की महती पूजनीया हांडी को, आत्म-अग्रगमन के लिये, योनि बनाकर उसे पुत्र-पुत्रियों/सन्ततियों को सौंपा, यह कहकर कि इसे पकाओ,' इसमें एक गहन अध्यात्म-शिक्षा निहित है। मानव-योनि यद्यपि मिट्टी की हांडी है, किन्तु है यह सब योनियों में सर्वज्येष्ठा तथा पूजनीया। इसके आश्रय से ही पृथिवी पर सर्वतः अग्रगमन होता है, प्रत्येक दिशा में प्रगति तथा समुन्नति होती है, लोक-परलोक की साधना होती है। इसी के आश्रय से आत्मा जन्मजन्मान्तर अग्रगमन करता हुआ विष्णु के परम धाम में प्रविष्ट होता है।

इस अध्यात्म-परम्परा का सन्तति-प्रवाह से वंशानुवंश परिपाक होता रहना चाहिये, जिससे यह वसुन्धरा सुख-शान्ति-स्वस्ति-आनन्द का धाम बनी रहे। अन्यथा केवल भौतिकवाद और भोगवाद से तो पृथिवी नरक धाम बन जाती है। सन्ततियां वे ही सुयोग्य हैं जो योगसम्पदा को अमूल्य पैतृक सम्पत्ति के रूप में अपनाकर उसका रक्षण, पोषण और वर्धन करें।

तू सुदात्री है पृथिवी के लिये,
पृथिवी ग्रहण करे तेरे सुपोष को।
उस अदिति ने मृन्मयी मही उखा को
अग्रगमन के लिये बनाकर योनि,
सौंपा पुत्रों को यह कहकर,
'इसे पकाओ।'

४९० वसवस्त्वा धूपयन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद् रुद्रास्त्वा धूपयन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदादित्यास्त्वा धूपयन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद् विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा धूपयन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदिन्द्रस्त्वा धूपयतु वरुणस्त्वा धूपयतु विष्णुस्त्वा धूपयतु ॥ य ११/६०

वसवः त्वा धूपयन्तु गायत्रेण छन्दसा अङ्गिरःवत् रुद्राः त्वा धूपयन्तु त्रैस्तुभेन छन्दसा अङ्गिरःवत् आदित्याः त्वा धूपयन्तु जागतेन छन्दसा अङ्गिरःवत् विश्वे त्वा देवाः वैश्वानराः धूपयन्तु आनुस्तुभेन छन्दसा अङ्गिरःवत् इन्द्रः त्वा धूपयतु वरुणः त्वा धूपयतु विष्णुः त्वा धूपयत ॥

अदिति [अविनाशी आत्मा] के साथ उखा [शरीर-रूपी हांडी] को भी ब्रह्मवत् [ब्राह्मी] किया जाना चाहिये, अन्यथा जीवन अपूर्ण और अयुक्त ही रहेगा। इसी तथ्य का संज्ञान कराती हुयी वेदमाता शिक्षा कर रही है—

१) (वसवः) आत्मधन के धनी (त्वा धूपयन्तु) तुझ [उखा] को सम्यक् तपायें, तपाकर तुझे संशुद्ध और सुसंस्कृत करें (गायत्रेण छन्दसा) प्राण-रक्षण [जीवन-सार्थक्य] की भावना से (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत्। जीवन-सार्थक्य की भावना जीवन को ब्राह्म बनाने की प्रेरणा करती है।

आत्मधन के धनी अपनी शरीर-सम्पदा को भी ब्राह्मी बनायें। योगयुक्त ब्राह्म साधना सम्पूर्णतया तभी सिद्ध होती है जब आत्मसत्ता तथा शरीर-सम्पदा, दोनों को ब्राह्मी रखा जाये। शरीर की प्रत्येक इन्द्रिय का व्यवहार जब निर्विकार होता है तो शारीरिक ब्राह्मी स्थिति की सिद्धि होती है। प्रकृतिजन्य जो कुछ है वह सब सविकार है। ब्रह्म निर्विकार है। ब्रह्मसमाहित रहकर प्रत्येक इन्द्रिय से जो गति, चेष्टा, कृति की जाती है, वह निर्विकार होती है। यही शरीर का ब्राह्म आचार अथवा ब्राह्माचार है। इसी का नाम उखा—शरीर का ब्रह्मवत् होना है। इसी में जीवन की सार्थकता है और इसी में योग-जीवनपद्धति का साफल्य है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

२) (रुद्राः) प्राणरूप योगी (त्वा धूपयन्तु) तुझे तपाकर परिष्कृत करें (त्रै-स्तुभेन छन्दसा) त्रि-प्रशस्तता की भावना से (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत्। त्रि-स्तुप् की भावना जीवन को ब्राह्म बनाती है।

प्राण के समान निर्विकार योगी मन-वचन-कर्मरूपी त्रित की प्रशस्तता के द्वारा शरीर को ब्रह्मवत् निर्विकार बनायें, तनू को ब्राह्मी करें। इसी में जीवन का ब्रह्मत्व है।

३) (अदित्याः) अदिति-पुत्र योगी (त्वा धूपयन्तु) तुझे तपाकर निर्मल करें (जागतेन छन्दसा) जगती के कल्याण की भावना से (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत्। जगत्कल्याण की भावना मानव-जीवन को ब्राह्म गुणों से युक्त करती है।

अदिति [अखण्ड पृथिवी] को अपनी माता और अखिल मानव-प्रजा को अपना परिवार माननेवाले योगी विश्वमंगल की भावना से अपने को तपाकर ब्रह्मवत् उदार और व्यापक बनायें। तब ही सार्वभौम कल्याण की ब्राह्म साधना सम्भव होगी।

४) (वैश्वानराः विश्वे देवाः) विश्व का सुनयन करनेवाले सब देव (त्वा धूपयन्तु) तुझे तपाकर परि-शुद्ध करें (आनु-स्तुभेन छन्दसा) स्तुत्याचारानुसरण की भावना से (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत्। स्तुत्याचरण के अनुसरण की भावना जीवन को ब्राह्म बनाती है।

विश्व का नेतृत्व करनेवाले योगी जब अपने जीवन को ब्राह्म बनाकर मानवों में स्तुत्य आचार के अनुसरण की प्रवृत्ति उत्पन्न करते हैं तब संसार ब्राह्म जीवनपद्धति से युक्त होता है।

५) (इन्द्रः) इन्द्रियों का स्वामी आत्मा (त्वा धूपयतु) तुझे तपाकर संशुद्ध करे। आत्माधिपत्य अर्थात् आत्मानुशासन से देह का ब्राह्मीकरण होता है।

६) (वरुणः त्वा धूपयतु) वरुण तुझे तपाकर विशुद्ध करे।

वरुण शब्द का प्रयोग यहां सुपरिष्कृत और सुदृढ़ मन के शिव संकल्प के लिये हुआ है। शिव संकल्प कायाकल्प का अमोघ साधन है। शिव संकल्प त्रैगुण्य शरीर को निस्त्रैगुण्य बना देता है।

७) (विष्णुः त्वा धूपयतु) विष्णु तुझे तपाकर सुसंस्कृत करे।

विष्णु शब्द का प्रयोग हुआ है यहां सुपरिष्कृत मस्तिष्क के गहन व्यापनशील शिव चिन्तन के लिये। शिव चिन्तन अशिव जीवन को शिव बना देता है।

वसु धूपें तुझे गायत्र छन्द से अंगिरस्वत्,
रुद्र धूपें तुझे त्रै-स्तुप् छन्द से अंगिरस्वत्,
आदित्य धूपें तुझे जागत छन्द से अंगिरस्वत्,
वैश्वानर सब देव धूपें तुझे
आनु-स्तुप् छन्द से अंगिरस्वत्।
इन्द्र धूपे तुझे,
वरुण धूपे तुझे,
विष्णु धूपे तुझे।

६१ अदितिष्ट्वा देवी विश्वदेव्यावती पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वत् खनत्ववट देवानां त्वा पत्नीर्देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वद् दधतूखे धिषणास्त्वा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वदभीन्धतामुखे वरूत्रीष्ट्वा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वच्छपयन्तूखे ग्नास्त्वा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वत् पचन्तूखे जनयस्त्वाच्छिन्नपत्रा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वत् पचन्तूखे॥ य ११/६१

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अदितिः त्वा देवी विश्वदेव्य-वती पृथिव्याः सध-स्थे अङ्गिरःवत् खनतु अवट देवानाम् त्वा पत्नीः देवीः विश्वदेव्य-वतीः पृथिव्याः सध-स्थे अङ्गिरःवत् दधतु उखे धिषणाः त्वा देवीः विश्वदेव्य-वतीः पृथिव्याः सध-स्थे अङ्गिरःवत् अभि-इन्धताम् उखे वरूत्रीः त्वा देवीः विश्वदेव्य-वतीः पृथिव्याः सध-स्थे अङ्गिरःवत् श्रपयन्तु उखे ग्नाः त्वा देवीः विश्वदेव्य-वतीः पृथिव्याः सध-स्थे अङ्गिरःवत् पचन्तु उखे जनयः त्वा अच्छिन्न-पत्राः देवी विश्वदेव्य-वतीः पृथिव्याः सध-स्थे अङ्गिरःवत् पचन्तु उखे ।।

जीवन-उखा को तपाकर ब्राह्मी किया जाने के उपरान्त उसकी खोद-खोज भी की जानी चाहिये। ब्राह्मी किये जाने के उपरान्त ही यह खोदी और खोजी जा सकती है। यह उखा रत्नगर्भा है। यह असंख्य अनन्त रत्नों की खान है। अखिल सृष्टि में जितने सूक्ष्म और स्थूल, आध्यात्मिक तथा भौतिक रत्न हैं, वे सब इस उखा में अन्तर्निहित हैं। अखिल प्रकाश, ज्योतियां, ज्ञान, विज्ञान, भूतियां, विभूतियां इसमें निहित हैं। यह उखा माप-तोल में जितनी सीमित है, गहराइयों और व्याप्तियों में उतनी ही असीम है। वेदमाता निर्देश करती है—

१) (अवट) ! (विश्वदेव्य-वती देवी अदितिः) समस्त दिव्यताओं से युक्त दिव्य आत्मसत्ता (त्वा खनतु) तुझे खोदे (पृथिव्याः सध-स्थे) पृथिवी के सहस्थान में (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत्।

जिस प्रकार ब्रह्म की खोद—खोज योगस्थ तथा आत्म-अवस्थित होकर की जाती है, वैसे ही शरीर-उखा की खोद [खोज] भी अन्तर्मुख होकर गहन चिन्तन, मनन, निरीक्षण तथा योगमय साधना के द्वारा ही की जाती है। योगस्थ और आत्म-अवस्थित होकर ही इस उखा की गहराई में प्रवेश किया जाता है और उसमें निहित सम्पदाओं की प्राप्ति की जाती है।

उखा को इस मन्त्रांश में 'अवट' शब्द से सम्बोधन किया गया है। अवट नाम त्वचा, गुहा और छिद्र का है। जीवन-उखा एक गुहा है जो त्वचा से ढकी हुई है और जिसके बाहर नौ [दो नेत्र, दो श्रोत्र, दो नासिका, मुख, गुदा, मूत्रेन्द्रिय] छिद्र हैं। नौओं छिद्र वृत्तियों को बाह्यमुख करते हैं। इन्हें अन्तर्मुख-निरुद्ध करके संयम के आश्रय से जब गुहा के भीतर प्रवेश किया जाता है, तब ही अवट की पूर्ण खोद होती है, तब ही अन्तर्निहित रत्नों की उपलब्धि होती है और तब ही ब्राह्म ज्योतियों तथा शक्तियों का प्रकाशन होता है।

आत्मसत्ता के लिये प्रयुक्त विशेषण उसके स्वरूप की व्याख्या कर रहे हैं। आत्मसत्ता स्वरूप से समस्त दिव्यताओं से युक्त एक नितान्त दिव्य सत्ता है, जो पृथिवी के सहस्थान में, देहरूपी पार्थिव सहस्थान में निवास कर रही है। जिसमें वह निवास कर रही है, उसी की उसे खोद—खोज करनी है।

२) (उखे) ! (देवानाम्) दिव्य-जनों की (विश्वदेव्य-वतीः देवीः पत्नीः) समस्त दिव्यताओं से युक्त दिव्य पत्नियां (त्वा दधतु) तुझे धारण करें (पृथिव्याः सध-स्थे) पृथिवी के सहस्थान में (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत्।

पत्नी शब्द का प्रयोग रत्नगर्भा उखा में निहित रक्षाकारिणी सुवृत्तियों के लिये हुआ है। दिव्य जनों की दिव्यताओं से युक्त दिव्य वृत्तियां पार्थिव देह में निवास करती हुयी इसे धारण करें, ठीक वैसे ही जैसे आत्मसत्ता ब्रह्म को संधारण करती है। दिव्य जनों की ही वृत्तियां दिव्य तथा धारण-शील होती हैं। दिव्य वृत्तियों से ही उखा का धारण होता है। उखा के धारित होने पर ही आत्मसत्ता अपने पार्थिव सहस्थान में इसकी ब्रह्मवत् खोद—खोज कर पाती है।

३) (उखे) (विश्वदेव्य-वतीः देवीः धिषणाः) समस्त

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

दिव्यताओं से युक्त दिव्य धिषणायें (त्वा अभि-इन्धताम्) तुझे सर्वतः प्रज्वलित—प्रकाशित करें (पृथिव्याः सध-स्थे) पृथिवी के सहस्थान में (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत् ।

धिषणाः नाम उन प्रशस्त वाणियों का है जो प्रज्ञा द्वारा प्रेरित होती हैं । दिव्यताओं से संदिव्य धिषणायें जीवन-उखा का प्रज्वलन अथवा सर्वांगीण प्रकाशन करती हैं । धिषणाओं की प्रबुद्ध प्रेरणाओं से प्रेरित होकर ही आत्मसत्ता अपने इस पार्थिव सहस्थान में इसकी ब्रह्मवत् खोद—खोज कर पाती है ।

४) (उखे) ! (विश्वदेव्य-वतीः देवीः वरूत्रीः) समस्त दिव्यताओं से युक्त दिव्य वरणीयतायें (त्वा श्रपयन्तु) तुझे पकायें (पृथिव्याः सध-स्थे) पृथिवी के सहस्थान में (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत् ।

दिव्यताओं से युक्त दिव्य वरणीयतायें जीवन-उखा को परिपक्व करती हैं । वरणीय आचार, विचार और व्यवहार से यह उखा पक्की—अटूट बनी रहती है । इसके सर्वतः परिपक्व रहने पर ही आत्मसत्ता अपने इस पार्थिव सहस्थान में इसकी ब्रह्मवत् खोद—खोज कर पाती है ।

५) (उखे) ! (विश्वदेव्य-वतीः देवीः ग्नाः) समस्त दिव्यताओं से युक्त दिव्य ग्नायें (त्वा पचन्तु) तुझे पचायें (पृथिव्याः सध-स्थे) पृथिवी के सहस्थान में (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत् ।

ग्नाः नाम ज्ञान-विवेकप्रदायिनी वाणियों का है । दिव्यताओं से संदिव्य विवेकवाणियां प्रत्यक्षतः जीवन-उखा का पाचन करती हैं, उसमें पाचनशक्ति का संचार करती हैं, उसमें उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव को पचाने की क्षमता का सम्पादन करती हैं । तब ही आत्मसत्ता अपने इस पार्थिव सहस्थान में इसकी ब्रह्मवत् खोद—खोज करती है ।

६) (उखे) !° (विश्वदेव्य-वतीः अच्छिन्न-पत्राः जनयः) समस्त दिव्यताओं से युक्त अच्छिन्नपत्र प्रतीतियां (त्वा पचन्तु) तुझे पचायें (पृथिव्याः सध-स्थे) पृथिवी के सहस्थान में (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत् ।

'अच्छिन्नपत्र प्रतीतियां' नाम उन साक्षात्कारों का है, जिनका एक भी पत्र—पर्व अप्रकट नहीं रहा है । दिव्यताओं से युक्त दिव्य स्पष्ट प्रतीतियां निस्सन्देह जीवन-उखा को पचाती हैं । तब ही आत्मसत्ता अपने इस पार्थिव सहस्थान में इसकी ब्रह्मवत् खोद—खोज कर पाती है ।

अवट ! खोदे तुझे ब्रह्मवत्
विश्वदेव्यवती देवी अदिति,
पृथिवी के सहस्थान में ।
उखे ! धारें तुझे ब्रह्मवत्
देवों की विश्वदेव्यवती दिव्य वृत्तियां,
पृथिवी के सहस्थान में ।
उखे ! ब्रह्मवत् तुझे प्रज्वलित करें सर्वतः
विश्वदेव्यवती दिव्य धिषणायें,
पृथिवी के सहस्थान में ।
उखे ! ब्रह्मवत् तुझे पकायें
विश्वदेव्यवती दिव्य वरूत्रियां,
पृथिवी के सहस्थान में ।
उखे ! पचायें तुझे ब्रह्मवत्
विश्वदेव्यवती दिव्य ग्नायें,
पृथिवी के सहस्थान में ।
उखे ! पचायें तुझे ब्रह्मवत्
विश्वदेव्यवती अच्छिन्नपत्रा
दिव्य प्रतीतियां,
पृथिवी के सहस्थान में ।

४९२ मित्रस्य चर्षणीधृतो ऽवो देवस्य सानसि । द्युम्नं चित्रश्रवस्तमम् ॥
[ऋ ३.५९.६]
य ११/६२
मित्रस्य चर्षणि-धृतः अवः देवस्य सानसि । द्युम्नम् चित्रश्रवः-तमम् ॥

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ब्रह्मवत् खोदी—खोजी जाने पर ही प्रकट होता है कि यह उखा चर्षणि-धृत् दिव्य मित्र का सनातन चित्रश्रवस्तम द्युम्न है। इसी आशय का प्रकाशन करती हुयी वेदमाता कहती है—मानव! (चर्षणि-धृतः देवस्य मित्रस्य) मानव-धृत् दिव्य मित्र के (सानसि चित्रश्रवः-तमम् द्युम्नम्) सानसि चयनीय-श्रवः-तम द्युम्न को/की (अवः) रक्षा कर।

चर्षणि नाम मानव का है। एक दिव्य मित्र है जो मानवों द्वारा ही धारित होता है, जिसे मानव ही मित्ररूप में धारण करते हैं। वह दिव्य मित्र है ब्रह्म। ब्रह्म के प्रति आस्था, ब्रह्म के विषय में चिन्तन और चर्चा, ब्रह्म के साक्षात्कार की साधना मानवों द्वारा ही सम्भव है, अन्य प्राणियों द्वारा नहीं। इसीलिये ब्रह्म को 'चर्षणिधृत्' कहा गया है। वह सकल दिव्यताओं से युक्त है। जो मानव योग-विधि से उसकी यथावत् उपासना करते हैं, उसके 'वरेण्य भर्ग' और 'आदित्य वर्ण' का ध्यान करते हैं, वह उन्हें दिव्य दृष्टि प्रदान करके उन्हें मित्रवत् अपना दर्शन देता है।

जीवन-उखा जहां ब्रह्म के साक्षात्कार की साधना का साधन है, वहां यह उसके सानसि चित्रश्रवस्तम द्युम्न की खान भी है। 'सानसि' का अर्थ है स्वर्णिम, सनातन, अविनश्वर। चित्रश्रवस्तम = चित्र + श्रवः + तम। चित्र = चयनीय। श्रवः = श्रवणीय, प्रशस्त। तम = अतिशय। द्युम्न = धन, ऐश्वर्य, द्युतिमय कोष। मानवजीवन-उखा सानसि चित्रश्रवस्तम ऐश्वर्यों का द्युतिमय कोष है, जिसमें सनातन ब्रह्म की शाश्वत, स्वर्णिम, प्रशस्ततम चयनीय सम्पदायें अन्तर्निहित हैं। प्रत्येक मानव को ऐसे कोष की सतर्कता के साथ रक्षा करनी चाहिये। इसे व्यर्थ व्यासंगों में बर्बाद न होने देना चाहिये।

रक्षा कर तू
मानवधृत् संदिव्य मित्र के
चित्रश्रवस्तम और सानसि
दिव्य कोष की।

Soliloquy

४९३ देवस्त्वा सवितोद्वपतु सुपाणिः स्वङ्गुरिः सुबाहुरुत शक्त्या। अव्यथमाना पृथिव्यामाशा दिश आपृण॥

य ११/६३

देवः त्वा सविता उत्-वपतु सु-पाणिः सु-अंगुरिः सु-बाहुः उत शक्त्या। अ-व्यथमाना पृथिव्याम् आशाः दिशः आ-पृण॥

र्व-मन्त्र की उत्प्रेरणा से प्रेरित होकर प्रत्येक साधक अपनी जीवन-उखा को सम्बोधन करता —

) (सु-पाणिः) सु-हस्त, (सु-अंगुरिः) सु-अंगुलि उत) और (सु-बाहुः) सु-बाहु (देवः सविता) देव विता (शक्त्या त्वा उत्-वपतु) शक्ति से तुझे द्वपे।

सविता नाम रचयिता, प्रेरक, संचालक और काशक का है। दिव्य गुणों से जो युक्त हो, वह त्र है। अखिल सृष्टि का रचयिता, प्रेरक और काशक होने से परमात्मा 'देव सविता' है। जीवन-उखा का निर्माणकर्ता, संचालक और प्रकाशक होने से आत्मा 'देव सविता' है। यहां 'देव सविता' का प्रयोग साधक-साधिका के अपने दिव्य आत्मा के लिये हुआ है।

पाणि, अंगुलि, बाहु—इन तीन अवयवों का प्रयोग उपलक्षण से देहेन्द्रियों के लिये हुआ है। आत्मा हस्त, अंगुलि, बाहु, आदि समस्त इन्द्रियों को सदैव 'सु' रखे। सु-देहेंद्रियों से निष्पन्न रहने पर ही आत्मा लोक-परलोक की संसाधना करता है।

'सु—सुष्ठु—सुन्दर—स्वस्थ इन्द्रियों से सुयुक्त आत्मा तुझे शक्ति से उद्वपे',—उखा के प्रति यह बड़ी सुन्दर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कामना है। उद्वपन=उत्+वपन। उत्=उत्कृष्टतया। वपन=बोना। जिस प्रकार किसान अपनी शक्ति से अपनी भूमि में बीज का उद्वपन करता है, उसी प्रकार आत्मा अपनी आत्मशक्ति द्वारा अपनी उखा में सु का उद्वपन करे, उखा की प्रत्येक इन्द्रिय में सु—सुष्ठुता, सुन्दरता, शुभता, शोभनता, सु-अस्ति का सतत उद्वपन करता रहे, उखा की इन्द्रिय-इन्द्रिय में सु ही सु का संचार करता रहे।

२) और सु-इन्द्रियों तथा आत्मशक्ति से सुसज्ज मेरी जीवन-उखे! (अव्यथमाना) व्यथारहित तू (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (आशाः) अभिलाषाओं को, (दिशः) दिशाओं को (आ-पृण) पूरदे।

'व्यथ्' धातु का अर्थ है भयभीत होना, दुःखी होना, कांपना, विकल होना, घबराना, चंचल होना। जहां जीवन-उखा सु-इन्द्रियों तथा आत्म-संबल से सुसज्ज होती है, वहां व्यथा का क्या काम? वहां तो उखा सर्वथा अव्यथमाना, भयरहित, संशयमुक्त, दुःखरहित, सुखी, आनन्द, अकम्प, अविकल, अविचल रहती है।

'मेरी जीवन-उखे! अव्यथमाना रहती तू सम्पूर्ण पृथिवी पर आशाओं और दिशाओं को पूरदे'—कितना उदार और उदात्त सम्बोधन है यह एक सच्चे योगसाधक का अपनी जीवनी के प्रति! जीवनी वही धन्य है जो सारी पृथिवी पर दशों दिशाओं में ज्ञान-विज्ञान और सुख-शान्ति पूर दे, जो सर्वमानवों की आशाओं को पूरी करे।

सुहस्त स्वंगुरि और सुबाहु देव सविता
तुझे शक्ति से सतत उद्वपे।
पूर दिशाओं आशाओं को
पृथिवी पर तू अव्यथमाना।

सूक्ति—पृथिव्यामाशा दिश आ पृण।
पृथिवी पर आशाओं और दिशाओं को पूरदे।

४९४ उत्थाय बृहती भवोदु तिष्ठ ध्रुवा त्वम्। मित्रैतां त उखां परिददाम्यभित्या एषा मा भेदि

य ११।

उत्थाय बृहती भव उत् उ तिष्ठ ध्रुवा त्वम्। मित्र एताम् ते उखाम् परि-ददामि अ-भित्यै एषा मा भेदि

जीवन-उखा के प्रति अपने सम्बोधन को जारी रखते हुये साधक कहे चला जारहा है—

(ध्रुवा त्वम्) ध्रुवा तू (उ उत् तिष्ठ) टुक उठ, टुक उच्चस्थ हो और (उत्थाय) उठकर, उच्चस्थ होकर (बृहती भव) बृहती हो, व्याप।

मांटी की यह हांडी, यह जीवन-उखा जब ध्रुवता से युक्त होजाती है तो बहुत ऊंची उठ जाती है और ऊंची उठकर विशालता—महानता को प्राप्त होजाती है। ध्रुवता जीवन का उत्थान करती है और उत्थित जीवनी विशालता के साथ विश्व में व्यापती है। तद्विपरीत अध्रुवता—अस्थिरता जीवनी को पतन की ओर लेजाती है। पतन में विशालता और व्याप्ति कहां? पतन तो जीवनी को संकुचित कर देता है और उसे सड़ा देता है। ध्रुवा—सुस्थिर—समाहित जीवनी ही उच्चता और विशालता से समलंकृत होकर भु को सुदेनों का दान करती है और अपनी भद्रार्थ से विश्व में व्यापती है।

और अब साधक प्रभु से विनय करता (मित्र)! मैं (एताम् उखाम्) इस जीवन-उखा (ते परि-ददामि) तेरे प्रति परिदान करता हूं, प्रति समर्पण करता हूं (अभित्यै) भयराहित्य लिये, अटूटता के लिये।

मित्र शब्द का धात्वर्थ है स्नेह और करनेवाला। स्नेह और मान का परस्पर सम्बन्ध है। जहां स्नेह, वहां मान। जहां वहां अवमान। स्नेह और सम्मान ही मित्रता मूल है। जो आत्मना प्रभु से स्नेह करते हैं, सर्वभावेन उसके प्रति मान्यता रखते हैं, प्रभु मित्रवत् पालन और रक्षण करता है, इसमें

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

क्या है ? यह हो नहीं सकता कि कोई अपनी
म्पूर्ण मान्यता के साथ प्रभु से स्नेह करे और
भु परमस्नेही मित्र की तरह उसकी रक्षा न करे।
सारी मित्र तनिक-सी भूल या स्वार्थ-असिद्धि
र शत्रु बन जाते हैं। प्रभु ही एक ऐसा मित्र है
ा सम्पूर्ण भावना से अपनाये जाने पर अनेक भूलें
ने पर भी अपने भक्तों के प्रति मित्रभाव से वर्तता
और उन्हें भयरहित, अपि च अटूट—अडिग—
व रखता है। जिसने सर्वशक्तिमान् भगवान् को
त्ररूप में वरण कर लिया, वह निर्भय और ध्रुव
गया; उसकी जीवनी अभेद्य होगयी, ऐसी
भेद्य कि जिसमें दुरित, अभद्र, पाप प्रवेश नहीं
कर पाते।

और प्रभु उत्तर देता है—साधक! (एषा) इस [उखा] को (मा भेदि) मत फोड़, नष्ट न कर। यह उखा सर्व-धर्मसाधन है। इसे व्यर्थ व्यासंगों में यों ही न गंवा। इससे सर्वसाधनायें सिद्ध कर, लोक-परलोक की विजय सम्पादन कर।

ध्रुवा तू दृढ़ उठ,
उठकर तू बृहती हो।
मित्र! तेरे प्रति
अर्पित करता हूं इस उखा को,
अभयार्थ, अभेद्यता-हेतु।
फोड़ न इसको।

४९५ वसवस्त्वाछृन्दन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद् रुद्रास्त्वाछृन्दन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदादित्यास्त्वान्छृदन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद् विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा आछृन्दन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वत्॥ य ११/६५

वसवः त्वा आ-छृन्दन्तु गायत्रेण छन्दसा अंगिरःवत् रुद्राः त्वा आ-छृन्दन्तु त्रै-स्तुभेन छन्दसा अंगिरःवत् आदित्याः त्वा आ-छृन्दन्तु जागतेन छन्दसा अंगिरःवत् विश्वे त्वा देवाः वैश्वानराः आ-छृन्दन्तु आनु-स्तुभेन छन्दसा अंगिरःवत्॥

भु ने अन्तःप्रेरणा की—साधक जीवन-उखा को
र्थ व्यासंगों में बर्बाद न कर। उस दिव्य प्रेरणा
उत्प्रेरित होकर साधक पुनः अपनी जीवन-उखा
सम्बोधन करने लगते हैं—

) (वसवः) आत्मधन के धनी (त्वा आ-छृन्दन्तु) के सम्यक् दीप्त करें (गायत्रेण छन्दसा) णरक्षण [जीवन-सार्थक्य] की भावना से ंगिरःवत्) ब्रह्मवत्।

योग, तप, ज्ञान, ध्यान, कर्म, साधना, आत्मोति—सब कुछ इस जीवन-उखा के माध्यम से ही या जाता है, किन्तु तब जब इसे ब्रह्मवत् दीप्त वा जाये, ब्रह्मलीनता के साथ इसे ब्राह्म गुणों युक्त रखा जाये। आत्मधन के धनी जीवनर्थक्य की भावना से अपनी जीवन-उखा को तत सन्दीप्त रखते हैं।

२) (रुद्राः) प्राणरूप योगी (त्वा आ-छृन्दन्तु) तुझे प्रज्वलित करें (त्रै-स्तुभेन छन्दसा) त्रि-प्रशस्तता की भावना से (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत्।

मन, वचन, कर्म की प्रशस्तता की भावना का नाम ही त्रैष्टुप् छन्द अथवा त्रि-स्तुप् की भावना है। इस त्रित की प्रशस्तता के आश्रय से प्राण के समान निर्विकार योगी अपनी जीवन-उखा को प्रज्वलित करके उसमें ब्राह्म गुणों का समंकन करते हैं।

३) (आदित्याः) अदितिपुत्र योगी (त्वा आ-छृन्दन्तु) तुझे प्रकाशित करें (जागतेन छन्दसा) जगती के कल्याण की भावना से (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत्।

समग्र अदिति [पृथिवी] को अपनी माता और समग्र मानव-प्रजा को अपना परिवार माननेवाले

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

योगी विश्वमंगल की भावना से अपनी जीवन-उखा को ब्राह्म प्रकाश से प्रकाशित करें, तब ही वे विश्व का वास्तविक कल्याण सम्पादन कर पायेंगे।

४) (वैश्वानराः विश्वे देवाः) विश्व का सुनयन करनेवाले सब देव (त्वा आ-छृन्दन्तु) तुझे समुज्ज्वल करें (आनु-स्तुभेन छन्दसा) स्तुत्याचरणानुसरण की भावना से (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत्।

अखिल विश्व का नेतृत्व करनेवाले योगी भी अपनी जीवन-उखा को समुज्ज्वल करके उसे ब्राह्म गुणों से युक्त करें, तब ही वे वास्तविक रूप से विश्व का सुनयन कर पायेंगे।

वसु तुझे प्रदीप्त करें
गायत्री छन्द से अंगिरस्वत्।
रुद्र तुझे प्रज्वलित करें
त्रै-स्तुप् छन्द से अंगिरस्वत्।
करें तुझे आदित्य प्रकाशित
जागत छन्द से अंगिरस्वत्।
वैश्वानर सब देव समुज्ज्वल
करें तुझे आनु-स्तुप् छन्द से
अंगिरस्वत्।

४९६ आकूतिमग्निं प्रयुजं स्वाहा मनो मेधामग्निं प्रयुजं स्वाहा चित्तं विज्ञातमग्निं प्रयुजं स्वाहा वाचो विधृतिमग्निं प्रयुजं स्वाहा प्रजापतये मनवे स्वाहाग्नये वैश्वानराय स्वाहा ॥

य ११/

आ-कूतिम् अग्निम् प्र-युजम् स्वाहा मनः मेधाम् अग्निम् प्र-युजम् स्वाहा चित्तम् वि-ज्ञातम् अग्निम् प्र-युजम् स्वाहा वाचः वि-धृतिम् अग्निम् प्र-युजम् स्वाहा प्रजापतये मनवे स्वाहा अग्नये वैश्वानराय स्वाहा ॥

शोधन के उपरान्त ही 'स्वाहा' की सार्थकता है। यज्ञस्थल, यज्ञवेदि, घृत, सामग्री, समिधा तथा पात्रादि को शोधकर जब यज्ञ किया जाता है तो सब ओर सुगन्धि की व्याप्ति और जलवायु तथा वातावरण की शुद्धि होती है। अशुद्ध स्थान में अशुद्ध वस्तुओं से जब यज्ञ किया जाता है तो विपरीत फल होता है।

पूर्वमन्त्रानुसार वसुओं ने जीवन-सार्थक्य की भावना से, रुद्रों ने मन-वचन-कर्म की प्रशस्तता की भावना से, आदित्यों ने जगती के कल्याण की भावना से, वैश्वानर देवों ने स्तुत्याचरणानुसरण की भावना से अपनी-अपनी जीवन-उखा को समुज्ज्वल किया है। अपनी विशुद्ध जीवनियों से अब वे उस योगयाग का अनुष्ठान करेंगे जिससे जनजीवन सिद्ध—सार्थक होंगे, जिससे जनजीवनों में मन-वचन-कर्म की प्रशस्तता की स्थापना होगी, जिससे जनमंगल की साध का पथ प्रशस्त होगा, जिससे विश्व में सत्याचरण के अनुसरण भावना संव्याप्त होगी। इसी दिव्याशय से वसु, आदित्य और वैश्वानर देवों के मुख से वेद कहलवा रही है—

१) हम वसु जन जीवन-सार्थक्य की भावना व्याप्ति के लिये (प्र-युजम् आ-कूतिम् अग्निम्) सुयुक्त संकल्प अग्नि को (स्वाहा) सुहुत करते हैं।

जीवन-उखा की सार्थकता योग-पद्धति जीवन-यापन करने में निहित है, मानव-प्र इस भावना की व्याप्ति के लिये वसुओं को जन के संकल्पाग्नि को सुयुक्त करके उसमें प्रशिक्षण तथा योगोपदेशों की आहुतियां देनी तब ही मानव-जीवन की सार्थकता का जनजीवन में जागरित होगा।

२) हम रुद्र जन मन-वचन-कर्म की प्रशस्तता की के लिये (मनः प्र-युजम् मेधाम् अग्निम्) मनसा सुयुक्त मेधा अग्नि को (स्वाहा) सुहुत करते हैं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मानव-प्रजा में मन-वचन-कर्म की प्रशस्तता की स्थापना के लिये रुद्रों को मनसहित उनकी मेधा अग्नि को सुयुक्त करके उसमें तदनुरूप साधना की सु-आहुतियां देनी होंगी।

३) हम आदित्य जन जगती में आत्मकल्याण की भावना की व्याप्ति के लिये (प्र-युजम् वि-ज्ञातम् चित्तम् अग्निम्) सुयुक्त चेतनामय चित्त अग्नि को (स्वाहा) सुहुत करते हैं।

सर्वकल्याण और सर्वमंगल निस्सन्देह तब ही सम्भव होगा जब आदित्य विश्व के मानवों के चित्त को चेतनायुक्त तथा सुयुक्त करके उसमें ज्ञान-विज्ञान की सतत सु-आहुतियां देंगे।

४) हम वैश्वानर देव सत्याचरण के अनुसरण की व्याप्ति के लिये (वाचः प्र-युजम् वि-धृतिम् अग्निम्) वचनों सहित सुयुक्त विधृति अग्नि को (स्वाहा) सुहुत करते हैं।

धृति=धारणा। वि-धृति=वि-धारणा, विविध साधों को एक साथ सिद्ध करानेवाली धारणा। मानव-प्रजा में सत्याचरण के अनुसरण की वृत्ति की स्थापनार्थ वैश्वानर देवों को वचनोंसहित मानव-मानव की विधारणा-अग्नि को सुयुक्त करके उसमें बोध-प्रबोध की सतत सु-आहुतियां देनी होंगी, मानवों की कथनियों में कर्तृत्व की विधारणा स्थापित करनी होगी।

उपर्युक्त चार अग्नियों को सुहुत करने से विश्व के मानवों में समर्पण की भावना जागरित होगी और वे मानवहितैषियों तथा विश्व का नयन करनेवालों के प्रति श्रद्धान्वित होंगे। इस अभिप्राय के द्योतन के लिये वेदमाता सर्व जनों के मुख से कहलवा रही है—

हम (प्रजापतये मनवे स्वाहा) प्रजापति मनु के लिये सुहुत हैं। हम उसके चरणों में स्व-सर्वस्व समर्पण करते हैं।

जो मानव मानव-प्रजाओं को प्यार करता है, उनकी सर्वतः रक्षा करता है, उसकी संज्ञा 'प्रजापति मनु' है। मनु का अर्थ है मननशील मानव। मानव-परिवार में सचमुच 'प्रजापति मनु' का पद सर्वोपरि है। किसी एक देश-विशेष अथवा वर्ग-विशेष की नहीं, सम्पूर्ण पृथिवी की मानव-प्रजा को जो समानरूप से प्यार करता है और मनन-पूर्वक जो सर्वमानवों को विशुद्ध मानवता तथा जीवन की योगपद्धति से अलंकृत करके उनके जीवनों की सर्वतः रक्षा करता है, वही 'प्रजापति मनु' है। ऐसे मनु के प्रति अर्पित होने में मानवों की रक्षा सुरक्षित होती है।

२) हम (वैश्वानराय अग्नये स्वाहा) वैश्वानर अग्नि के लिये सुहुत—अर्पित हैं।

'वैश्वानर' का अर्थ है विश्व का सुनयन करनेवाला। 'अग्निर्वै अग्रणीर्भवति।' अग्नि शब्द का प्रयोग यहां अग्रणी नेता के लिये हुआ है। 'प्रजापतिर्वै वैश्वानरः।' प्रजापति ही वैश्वानर है। 'मनुर्वै अग्निः।' मनु ही अग्रणी है, नेता है। जो विश्व के मानवों का सुनयन करता है, जो जीवन की सार्थक साधना में उनका प्रणेता है, ऐसे मानव के प्रति सर्वात्मना अर्पित रहने में ही मानव-जाति का वास्तविक कल्याण है।

सुहुत सुयुक्त संकल्प अग्नि को,
सुहुत मनसहित सुयुक्त मेधा अग्नि को,
सुहुत सुयुक्त विज्ञात चित्त अग्नि को,
सुहुत वचनोंसहित सुयुक्त विधृति अग्नि को।
स्वाहा प्रजापति मनु के लिये,
स्वाहा वैश्वानर अग्नि के लिये।

सूक्ति—**प्रजापतये मनवे स्वाहा।**
प्रजापालक मानव के लिये अर्पण।
अग्नये वैश्वानराय स्वाहा।
विश्वनायक नेता के लिये अर्पण।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

४९७ विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम् ।
विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा ॥
[ऋ ५.५०.१, य ४/८, २२/२१] य ११/६७

विश्वः देवस्य नेतुः मर्तः वुरीत सख्यम् । विश्वः राये इषुध्यति द्युम्नम् वृणीत पुष्यसे स्वाहा ॥

प्रजापति मनु अथवा वैश्वानर अग्नि मानव-मानव को उद्बुद्ध करता है—

१) (विश्वः मर्तः) सब मर्त, सभी मानव-समाज (नेतुः देवस्य) नेता देव की (सख्यम् वुरीत) सख्यता वरण करे ।

२) (विश्वः) सब कोई (राये इषुध्यति) रै के लिये बाण चलाता है ।

३) मनुष्य को चाहिये (द्युम्नम् वृणीत) द्युम्न वरण करे ।

४) तू (स्वाहा पुष्यसे) स्वाहा द्वारा पुष्ट होवे । ['पुष्यसे' क्रिया लेट् लकार का रूप है, जिसका प्रयोग केवल वेद में होता है] ।

अखिल सृष्टि का नयन—संचालन करनेवाला होने से प्रभु 'नेता देव' है ।

'रै' और 'द्युम्न' दोनों शब्द ऐश्वर्यवाची हैं । रै नाम उस ऐश्वर्य का है जिसकी प्राप्ति के लिये किये संघर्ष से मन खिन्न होता है । द्युम्न नाम उस ऐश्वर्य का है जो मन की द्युति अथवा प्रसन्नता के साथ प्राप्त किया जाता है और जिससे मन सदा सुप्रसन्न रहता है । प्रत्यक्षतः 'रै' से तात्पर्य भौतिक ऐश्वर्य से है और 'द्युम्न' से तात्पर्य है ब्राह्म [अध्यात्म] ऐश्वर्य से ।

आज ही नहीं, सदा से सभी मनुष्य शिकारी की तरह भौतिक धन का शिकार करने के लिये तीर-कमान धारण किये मारे-मारे फिरा करते हैं । वे भूल जाते हैं कि आत्मिक ऐश्वर्य के बिना भौतिक ऐश्वर्य सदैव भोग, रोग और क्लेश का ही कारण बनते हैं । मानव के आत्मा को जगाकर उसे अध्यात्म-सेवी बनाने के अभिप्राय से प्रजापति मनु ने यहां कहा है—'सम्पूर्ण मानव-प्रजा को चाहिये वह 'नेता देव' की सख्यता वरण करे । माया को वह केवल काया की सुख-सुविधा का साधन बनाये और आत्मानन्द की प्राप्ति के लिये अपने अन्तर्यामी प्रभु को अपना आत्मसखा बनाये । मानव रै की प्राप्ति के लिये ही तीर न चलाता फिरे, द्युम्न की प्राप्ति की साधना को जीवन का लक्ष्य बनाये । रै विनश्वर है और यहां-का-यहीं रह जाता है । द्युम्न ही है जो साथ जाता है ।

'स्वाहा पुष्यसे—तू स्वाहा से पुष्ट होवे' में गहन तत्त्वबोध निहित है । 'आत्मन्, तू रै के सेवन से नहीं, उसके त्याग से पुष्ट—परिपुष्ट होगा । रै [भौतिक सम्पदा] से तो भौतिक देह का पुष्टीकरण होता है । वह तो अध्यात्म सम्पदा है जो आत्मा को पुष्ट करती है । भौतिक भोग के सेवन से नहीं, उसके स्वाहा [त्याग] से द्युम्न साधना होती है ।

वरण करे सब कोई मानव
नेता देव की सख्यता को ।
रै के लिये सब कोई
तीर चलाता,
वरण द्युम्न को करे सुमानव ।
होवे पुष्ट स्वाहा से तू ।

सूक्ति—**देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम् ।**
मनुज नेता देव की सख्यता वरण करे ।
विश्वो राय इषुध्यति ।
सब कोई भौतिक धन के लिये तीर चलाता है ।
द्युम्नं वृणीत ।
मनुष्य आत्मैश्वर्य वरण करे ।
पुष्यसे स्वाहा ।
आत्मन् ! तू त्याग से पुष्ट होगा ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

४९८ मा सु भित्था मा सु रिषो ऽम्ब धृष्णु वीरयस्व सु । अग्निश्चेदं करिष्यथः ॥ य ११/६८

मा सु भित्थाः मा सु रिषः अम्ब धृष्णु वीरयस्व सु । अग्निः च इदम् करिष्यथः ॥

प्रजापति मनु के उद्बोधन से उद्बुद्ध होकर प्रत्येक मानव विनय करने लगता है—(अम्ब) मातः ! मुझे द्युम्न से (मा सु भित्थाः) मत सुभेद, पृथक् कर, वंचित न रख, (मा सु रिषः) मत सुहिंस, आत्महानि से बचा ।

पूर्व-मन्त्र में जिस परमात्मदेव को 'नेता देव' कहा गया है, उसी को यहां 'अम्ब' कहकर सम्बोधन किया गया है । वेद में परमात्मा को जहां पिता कहा है, वहां उसे माता भी कहा है—'त्वं हि पिता वसो त्वं माता शतक्रतो' (अ २०.१०८.२) । माता का मंगलमय स्नेह सर्वोपरि है । इसी भाव से भावित होकर प्रभु को 'अम्ब' शब्द से सम्बोधन करके विनय की गयी है, 'मातः ! हमें द्युम्न से वंचित न रख, हमें अध्यात्म-धन का धनी बना । अध्यात्म-धन से वंचित रहने में अपार आत्म-हानि है ।'

परमेश्वरी माता अपने मानव-पुत्र को दुलारती हुयी कहती है, 'द्युम्न की प्राप्ति के लिये (धृष्णु) धृष्णुहि, धर्षण कर, (सु वीरयस्व) सुवीरता से पराक्रम कर ।

भय, संशय और झिझक से मुक्त होकर आत्म-विश्वास के साथ जो साधना की जाती है, उसका नाम 'धर्षण' है । सुष्ठुता के साथ विजय-साफल्य के लिये सतत साधना का नाम 'सुपराक्रम' है ।

'द्युम्न की प्राप्ति के लिये धर्षण कर, सुपराक्रम कर', विनय के उत्तर में अम्ब का यह आदेश प्रार्थनाविज्ञान का सुन्दर स्पष्टीकरण है । यथा प्रार्थना तथा साधना । प्रार्थना के अनुरूप साधना की जाती है, तब ही प्रार्थना सार्थक सिद्ध होती है । द्युम्न की प्राप्ति के लिये सप्रार्थना सतत साधना की जानी चाहिये ।

परमेश्वरी माता के सजीव आदेश से उत्प्रेरित होकर विनयकर्ता अपने जीवन को सम्बोधन करता हुआ कहता है—तू मेरा (अग्निः) आत्माग्नि (च) और [तू मेरा] (इदम्) यह [शरीर]—तुम दोनों धर्षण तथा सुपराक्रम अवश्य (करिष्यथः) करोगे ।

आत्मा साधक है । शरीर साधना का साधन है । वह कौन-सी साध है जो आत्मचेतना और शरीर-साधना द्वारा सिद्ध नहीं हो सकती ?

मातः,
न सुभेद, न सुहिंस ।
धर्षण और सुपराक्रम कर ।
अग्नि और यह देह, साधना
तुम दोनों अवश्य करोगे ।

सूक्ति—धृष्णु वीरयस्व सु ।
धर्षण कर, सुवीरता कर ।

४९९ दꣳहस्व देवि पृथिवि स्वस्तय आसुरी माया स्वधया कृतासि ।
जुष्टं देवेभ्य इदमस्तु हव्यमरिष्टा त्वमुदिहि यज्ञे अस्मिन् ॥ य ११/६९
दꣳहस्व देवि पृथिवि स्वस्तये आसुरी माया स्वधया कृता असि ।
जुष्टम् देवेभ्यः इदम् अस्तु हव्यम् अरिष्टा त्वम् उत्-इहि यज्ञे अस्मिन् ॥

नयकर्ता साध्रनाशील मानव आत्मा तथा शरीर संयोग से सुनिष्पन्न अपनी जीवनी को सम्बोधन रता हुआ कहे चला जा रहा है—

१) (देवि पृथिवि) ! तू (स्व-धया) स्व-धारणा से, आत्म-संयोग से (आसुरी माया कृता असि) आसुरी माया निष्पादिता है ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

'पृथिवी' का अर्थ है विस्तार करनेवाली। सुविस्तृता होने से भूमि का भी नाम पृथिवी है। दिव्यताओं से जो युक्त हो और दिव्यताओं का जो प्रसार करे, वह देवी है। साधक द्युम्न अथवा आत्मधन की साधना के महत्त्व को समझता हुआ अपनी जीवनी को दिव्यताओं से युक्त करके दिव्यताओं का विस्तार—प्रसार करनेवाली कह रहा है।

'असु' नाम प्राण का है। मानव की देवी पृथिवी, दिव्य जीवनी आसुरी माया, प्राणीय कौशल है। प्राण के ऐसे सूक्ष्म सूत्र से, जो आंख से दिखायी भी नहीं देता है, यह जीवनी सूत्रित है। प्राण के सूत्र से निष्पादिता यह जीवनी अपनी दिव्य साधना द्वारा द्युम्न की, अध्यात्म-धन की प्राप्ति कराये, यही सार है। पता नहीं कब एक झटका लगे और प्राण का अदृश्य पतला धागा टूट जाये, प्राणी निष्प्राण होजाये।

२) जीवनि देवि ! तू आत्मा के संयोग से प्राण के कौशल द्वारा निष्पादिता है। प्राण के अदृश्य धागे के आश्रय से तू चल रही है। प्राण के चलते रहते तू (स्वस्तये) स्वस्ति के लिये (दृंहस्व) दृढ़ हो, विकसित हो, व्याप।

स्वस्ति=सु-अस्ति, सु-अस्तित्व। जिसकी अस्ति [हस्ती], जिसका अस्तित्व सु—सुष्ठु—सुन्दर हो और जिसकी अस्ति [जीवनी] से सु—सुष्ठुता—सुन्दरता का प्रसार—विस्तार—व्याप्ति हो वह स्वस्ति है। सर्व की स्वस्ति के लिये मानव-मानव अपनी अस्ति को स्वस्ति [सु-अस्ति] बनाये। जो स्वयं स्वस्तियुक्त नहीं है वह सर्व को स्वस्तियुक्त करने की साधना को सफल साधना न कर सकेगा। विश्व की स्वस्ति के लिये साधक-कोटि का प्रत्येक मानव अपनी जीवनी देवी को सर्वतः सुदृढ़, सुविकसित तथा व्यापनशील बनाये। दृढ़ जीवनी ही दृढ़ता तथा सातत्य के साथ स्वस्ति का विकास और उसकी व्याप्ति कर सकती है।

३) दिव्यताओं की व्याप्ति तथा स्वस्ति संव्याप्ति के लिये साधक-मानव ने अपनी जीवनी को दिव्य तथा स्वस्ति-सम्पन्न बनाया है। परिणाम स्वरूप उसकी जीवनी हव्यरूपा होगयी है। वह आत्मकामना करता है—(इदम् हव्यम्) यह हवि, यह जीवनहवि, यह यज्ञीय जीवन (देवेभ्यः) मात्र देवों के लिये, दिव्यताओं की व्याप्ति के लिये (जुष्टम्) सप्रेम सेवित—सेवनीय (अस्तु) हो। किस प्रकार शुद्ध—पवित्र हवि के यज्ञाग्नि में होमी जाने पर वह दिव्यताओं की, दिव्य सुगन्धियों की, दिव्य परिणामों की व्याप्ति करती है, उसी प्रकार मेरी इस जीवन-हवि से उन दिव्यताओं की व्याप्ति हो, जिनका सभी मानव-देव सप्रेम आस्वादन करें।

४) और अब वह पुनः अपनी जीवनी को सम्बोधित करता है—जीवनि देवि ! दिव्यताओं की व्याप्ति के लिये (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञ में, इस अनुष्ठान में, इस संसाध में (त्वम्) तू (अरिष्टा) अविनाश शीला, विनाश से रक्षा करनेवाली [होकर] (उद्-इहि) उद्गमन कर, उदित—उत्थित हो, उदय प्राप्त रह।

सतत उदयशीला जीवनी ही उदयशीलसूर्य संसार में शुभ्र और शुद्ध प्रकाश का प्रकाशन करती हैं, दिव्यताओं और स्वस्तियों की किरणों का प्रसारण करती है। ऐसी जीवनी ही मानवों को विनाश से रक्षा करके उन्हें अविनाश की, भद्र की प्राप्ति कराती है।

देवि पृथिवि,
दृंहस्व स्वस्ति के लिये
तू है कृता आसुरी माया
आत्मयोग से।
हव्य यह देवों के लिये
प्रीतिपूर्वक सेवित होवे।
इस सुसाध में तू अविनाशिनी
सतत उदित रह।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मुक्ति—जुष्ट देवेभ्य इदमस्तु हव्यम् ।
यह हव्य देवों के लिये प्रीतिपूर्वक सेवित होवे ।

त्वमुदिहि ।
तू उदित हो ।

५०० द्रु॒अन्नः सर्पिरासुतिः प्रत्नो होता वरेण्यः । सहसस्पुत्रो अद्भुतः ॥
[ऋ २.७.६]

य ११/७०

द्रु-अन्नः सर्पिः-आ-सुतिः प्रत्नः होता वरेण्यः । सहसः पुत्रः अद्भुतः ॥

अब विनयकर्ता साधनाशील मानव अपनी जीवनी में अन्तर्निहित आत्माग्नि को सम्बोधन करता हुआ कहता है—

१) तू (द्रु-अन्नः) काष्ठ-अन्न है, काष्ठ-सेवी है, शरीररूपी काष्ठ के आश्रय से प्रज्वलित होता है। काष्ठ में अन्तर्निहित अग्नि जिस प्रकार काष्ठ-समिधा में प्रज्वलित होता है, उसी प्रकार तू जीवनी-काष्ठ में प्रकाशित होता है। समिधा-काष्ठ बिना जिस प्रकार अग्नि प्रकाशित नहीं होता है, उसी प्रकार जीवनी-समिधा के बिना आत्मा भी प्रकाशित नहीं होता है।

२) तू (सर्पिःआ-सुतिः) घृत-क्षर है।
सर्पि नाम घृत का है। 'आ-सुति' का अर्थ है निःसरण, क्षरण। घृत तैजस होता है। आत्मा अक्षर है। उसमें से तेज का सतत निःसरण होता रहता है, क्योंकि वह तेजस्वरूप है।

३) तू (प्रत्नः होता) सनातन होता है, जीवनयज्ञ का सनातन निष्पादक है। नश्वर देहयज्ञ में आत्मा की ही सत्ता सनातन—अविनाशी है।

४) तू (वरेण्यः) वरणीय है। जीवनी में जो वरणीयता—शोभनीयता है, वह आत्मा की ही है। आत्मा ही जिज्ञासितव्य है, दर्शनीय है, वरणीय है।

५) तू (सहसः पुत्रः) शक्ति का पुत्र है, शक्ति का पुतला है, शक्ति-पुञ्ज है। आत्मा की शक्ति ही शरीर को शक्तिमान् बनाती है।

६) तू (अद्भुतः) आश्चर्यजनक है। आत्मवित् ही तेरे विस्मयकारी स्वरूप का, अपि च तेरी महिमा का साक्षात् अनुभव करते हैं।

काष्ठान्न तू,
तू है घृतक्षर और सनातन होता।
तू वरेण्य शक्ति का पुतला,
तू है अद्भुत।

५०१ परस्या अधि संवतो ऽवराँ अभ्यातर । यत्राहमस्मि ताँ अव ।
[ऋ ८. ७५. १५]

य ११/७१

परस्याः अधि सम्-वतः अवरान् अभि-आ-तर । यत्र अहम् अस्मि तान् अव ॥

विनयकर्ता साधनाशील मानव अपने आत्माग्नि को सम्बोधन किये चला जारहा है—(परस्याः अधि) उत्कृष्टा [स्थिति] के ऊपर अधिष्ठित [रहता हुआ] (सम्-वतः अवरान्) संविभक्त निकृष्टों को, आत्माहिति-विरोधी नीच भावों को (अभि-आ-तर) सर्वतः लांघ। (यत्र अहम् अस्मि) जहां मैं हूं, (तान् अव) उन्हें बचा, उनकी रक्षा कर।

साधनाशील मानव की यह परमोत्कृष्ट साध है। वह सदैव अपने आत्माग्नि को उत्कृष्टा स्थिति में अधिष्ठित रखता है, आत्मसमाहिति को विभक्त—विच्छिन्न करनेवाले निकृष्ट भावों का सतत अतिक्रमण करता रहता है, वह जहां भी उपस्थित होता है वहीं उसका आत्मा सर्व जनों का पाप और ताप से, अज्ञान और अन्धकार से, विकार और

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विलास से रक्षण अथवा त्राण करता है। जीवन-योगपद्धति के पथ के प्रशस्तीकरण की यही अमोघ साधना है। प्रबुद्ध आत्माग्नि की यही उत्कृष्ट स्थिति तथा उच्च साध है।

रहता हुआ अधिष्ठित
प्रकृष्टा स्थिति के ऊपर,
लांघ सर्वतः संविभक्त अवरों को।
हूं मैं जहां,
उनकी सम्यक् रक्षा कर।

सूक्ति—यत्राहमस्मि तां अव।
मैं जहां हूं, उन लोगों की रक्षा कर।

५०२ परमस्याः परावतो रोहिदश्व इहागहि। पुरीष्यः पुरुप्रियो ऽग्ने त्वं तरा मृधः॥
य ११/७२

परमस्याः परा-वतः रोहित्-अश्वः इह आ-गहि। पुरीष्यः पुरु-प्रियः अग्ने त्वम् तर मृधः॥

आत्माग्नि के प्रति अपने सम्बोधन को जारी रखते हुये साधनाशील मानव कहे चला जारहा है—(अग्ने) आत्माग्ने! (रोहित्-अश्वः) रोहित्-अश्व, (पुरीष्यः) श्रीप्रापक, (पुरु-प्रियः) बहु-प्रिय (त्वम्) तू (परमस्याः परावतः) परमा के दूर देश से (इह आ-गहि) यहां आ, (मृधः तर) हिंसकों को लांघ।

'रोहित्-अश्व' नाम उस पंखदार उड़ने घोडे का है जो आकाश में ऊपर को उड़ता है, पृथिवी पर नहीं दौड़ता है। आत्मा पार्थिव नहीं, अपार्थिव—अभौतिक तथा अमृत—अविनाशी है। उसी की शक्ति—क्षमता है कि पार्थिव मानव-देह में अध्यात्म-साधना के पंख से विष्णु के परम धाम की ओर ऊंचा उड़ सके।

श्री नाम शोभा, सौन्दर्य, ऐश्वर्य का है। आत्मा पुरीष्य है, श्रीप्रापक है। जीवनी में जो शोभा, सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य है वह सब आत्मा का ही है और आत्मा से ही है।

आत्मा पुरु-प्रिय है। जीवन-पुर में निवास करनेवाली जितनी इन्द्रियें हैं, वे सब आत्माग्नि बहुत प्यार करती हैं। तभी तो जब आत्मा को छोड़ने लगता है तो सारी इन्द्रियां आकुल व्याकुल हो जाती हैं और जब आत्मा शरीर छोड़कर चला जाता है तो वे निर्जीव होजाती हैं।

आत्म-अबोध अथवा आत्मविस्मृति ही परमा की दूरी है। परमा नाम परमता अथवा लक्ष्य का है। आत्मविस्मृति आत्मा को परमता से दूर लेजाती है। जीवन में आत्मबोध की प्राप्ति ही आत्मा का परमा की दूरी से 'यहां, जीवन में लौट कर आना है। जब आत्मबोध होजाता है तो जीवन-सदन में बसे हिंसकों का, पाप-विकार वासनादि आत्महिंसक अन्तःशत्रुओं का हनन निराकरण होजाता है। यह कितना सुन्दर आत्मगीत है—

आत्माग्ने,
रोहिदश्व, पुरीष्य, बहुप्रिय तू
परमा की दूरी से यहां आ,
हिंसकों को लांघ।

५०३ यदग्ने कानिकानि चिदा ते दारुणि दध्मसि। सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य।
[ऋ ८.१०२.२०]
य ११/७३

यत् अग्ने कानि-कानि चित् आ ते दारुणि दध्मसि। सर्वम् तत् अस्तु ते घृतम् तत् जुषस्व यविष्ठ्य॥

आत्मसम्बोधन की शृंखला में यह एक अतिशय मार्मिक उद्बोधन है—

१) (यविष्ठ्य अग्ने) युवतम आत्माग्ने! हम (जब (कानि-कानि चित्) किन्हीं-किन्हीं भी (दारु

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

रुण साधनाओं को (ते आ दध्मसि) तेरे लिये रण करें, (तत् सर्वम् ते घृतम् अस्तु) वह सब ा घृत हो।

) तू (तत्) उसे (जुषस्व) सप्रेम सेवन कर।

आत्माग्नि युवतम है, बलवत्तम है। वह बुद्धि, न, चित्त, शरीर सबका शासक है और कभी जीर्ण ीं होता है।

साधक जन आत्मोत्थान तथा आत्म-काशन के लिये बड़ी-बड़ी दारुण साधनायें धारण रते हैं। वह सब घृतवत् आत्मा को प्रज्वलित—काशित करनेवाला हो और आत्मा उस सबका तिपूर्वक सेवन—स्वीकार करे।

जिस प्रकार अप्रज्वलित अग्नि को प्रज्वलित करने के लिये उसमें घृत की आहुतियां दी जाती हैं, उसी प्रकार आत्मप्रबोध के लिये आत्मा में कठोर योगसाधनाओं की आहुतियां दी जाती हैं। तब जाकर वह आत्मस्वरूप में अवस्थित होकर प्रकाशता है और साधनाघृत का सरुचि सेवन करता है। दारुण साधनायें ही हैं जो आत्मओज को प्रज्वलित और आत्मप्रकाश को प्रकाशित करती हैं।

युवतम अग्ने,
किन्हीं-किन्हीं भी दारुणों को
जब तेरे प्रति निहित करें हम,
वह सब हो तेरा घृत,
उसको तू सप्रेम सेवन कर।

५०४ यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति। सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुष्व यविष्ठ्य॥
[ऋ ८. १०२. २१] य ११/७४

यत् अत्ति उप-जिह्विका यत् वम्रः अति-सर्पति। सर्वम् तत् अस्तु ते घृतम् तत् जुषस्व यविष्ठ्य॥

हां पुनः कितना सुन्दर आत्मसम्बोधन है—

) (यविष्ठ्य) युवतम आत्माग्ने! (यत्) जिस काष्ठ] को (उप-जिह्विका अत्ति) दीमक खा ाती है, (यत्) जिस [काष्ठ] को (वम्रः अति-र्पति) घुन अतिसर्पता [व्याप जाता] है, (तत् र्वम् ते घृतम् अस्तु) वह सब तेरा घृत [प्रज्वलन-ाधन] हो।

जिस काष्ठ को दीमक खा जाती है या घुन ग जाता है, उस काष्ठ की भी समिधायें घृत की ाहुति से प्रज्वलित हो जाती हैं।

मानव-जीवन वह काष्ठ है जिसे वासनाओं ी दीमक खाये चली जारही है और चिन्ताओं ा घुन व्यापता रहता है। युवतम आत्माग्नि में ह क्षमता है कि साधना के घृत से सुप्रकाशित करके उसे विश्व में व्याप दे। मरणासन्न जीवन को भी आत्मा स्वस्थ और सुन्दर बनाकर उसे घृतवत् प्रज्वलित तथा प्रकाशित कर सकता है।

२) तू (तत् जुषस्व) उसे सप्रेम सेवन कर।

आत्मा-आत्मा को चाहिये सर्वधर्मसाधन अपने जीवन-काष्ठ को प्यार करे और उसे सप्रेम सेवन करे। जीवन के प्रति अवहेलना अथवा लापरवाही एक भारी भूल है। जीवन का जीर्णोद्धार एक पवित्र साधना है।

युवतम,
जिसे है दीमक खाती,
अतिसर्पता है घुन जिसको,
वह सब हो घृत तेरा,
उसको तू सप्रेम सेवन कर।

५०५ अहरहरप्रयावं भरन्तो ऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो ऽग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषाम॥ य ११/७५

अहःअहः अ-प्रयावम् भरन्तः अश्वाय-इव तिष्ठते घासम् अस्मै।
रायः पोषेण सम् इषा मदन्तः अग्ने मा ते प्रति-वेशाः रिषाम॥

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आत्मसम्बोधन को जारी रखते हुये कहा जारहा है-

१) (अस्मै तिष्ठते अश्वाय-इव घासम्) जिस प्रकार इस स्थित/ठहरे हुये घोड़े के लिये घास [प्राप्त होता है] ।

'घस्लृ' अदने [खाना] धातु से घास शब्द बना है । घास नाम खाद्य पदार्थ अथवा अन्न का है । लौकिक भाषा में जिस पदार्थ को घास कहते हैं वह पशुओं का अन्न ही है ।

दौड़ते हुये अश्व को न घास दी जाती है, न दौड़ता हुआ अश्व घास का सेवन कर पाता है। घास का सेवन वह तब ही कर पाता है जब वह ठहरा हुआ हो ।

आत्माग्नि भी आत्मान्न—अध्यात्मान्न अथवा ब्रह्मानन्द का सेवन तब ही कर पायेगा जब वह चित्तवृत्तियों की दौड़ को निरुद्ध करके आत्म-अवस्थित, आत्मसमाहित होकर समाधि द्वारा ब्रह्म में लीन होगा ।

२) (अग्ने) आत्माग्ने ! (ते प्रति-वेशाः) तेरे प्रति-प्रवेश, तेरे [साक्षात्कार] के लिये अन्तर्मुख रहने-वाले हम (अहःअहः) दिन-दिन (अ-प्रयावम् भरन्तः) श्रेय धारण करते हुये, (रायः पोषेण) आत्मैश्वर्य के पोष से तथा (इषा) इष् से, सुखेच्छा से (सम्-मदन्तः) सम्यक् आनन्दित होते हुये (मा रिषाम) हिंसित—पीड़ित—दुःखी न हों ।

प्रति-वेशाः नाम उन साधनाशील मानवों का जो आत्मदर्शन के लिये अन्तःप्रविष्ट अथवा अन्तर्मुख रहते हैं । कर्तव्य कर्मों के निर्वहन के लिये बहिर्मुख होजाते हैं, अन्यथा वे अन्तःस्थ ही रहते ।

प्रयाव नाम प्रेय का है । अप्रयाव=नहीं प्रेय, नहीं प्रेय, श्रेय ।

इष् नाम सुखेच्छा का है । सुखेच्छा ही सब इच्छाओं का मूल है ।

सतत आनन्दित रहने और सुखी होने के लिये आत्मैश्वर्य का पोषण और सुखाभिलाष की पूर्ति साधनायें हैं । आत्मैश्वर्य के पोषण के लिये अन्तर्मुख होकर प्रतिदिन आत्मना समाधिस्थ होना अनिवार्यतः आवश्यक है तो सुखाभिलाष की पूर्ति के लिये श्रेय का संधारण नितान्त आवश्यक है । अन्तर्मुखता में आनन्द कहां और प्रेय [इन्द्रियविषय] में सुख कहां !

जैसे इस संस्थित घोड़े के लिये घास है,
ठीक वैसे ही, आत्माग्ने,
तेरे सन्दर्शन के लिये प्रतिवेश हम
दिन-दिन धारण करते हुये
सतत श्रेय और हर्षित होते हुये
आत्मैश्वर्य के सुपोष से,
सुखाभिलाष से,
हों न दुखी हम ।

५०६ नाभा पृथिव्याः समिधाने अग्नौ रायस्पोषाय बृहते हवामहे ।
इरम्मदं बृहदुक्थं यजत्रं जेतारमग्निं पृतनासु सासहिम् ॥ य ११/७६

नाभा पृथिव्याः सम्-इधाने अग्नौ रायः पोषाय बृहते हवामहे ।
इरम्-मदम् बृहत्-उक्थम् यजत्रम् जेतारम् अग्निम् पृतनासु सासहिम् ॥

पृथिवी पर हम जहां भी स्थित हैं, वहीं पृथिवी की नाभि अथवा उसका केन्द्रबिन्दु है । योग-जीवन-पद्धति की प्रस्थापनार्थ हम जहां कहीं भी साधनारत हैं वहीं अध्यात्माग्नि प्रज्वलित कररहे होते हैं और उसका एकमात्र उद्देश्य होता है आत्मैश्वर्य का विशाल—व्यापक पोषण । हमारी यह साधना केवल मस्तिष्क, हृदय और इन्द्रियों के आधार पर संसिद्ध होनेवाली नहीं है । उसके लिये तो उत्कट आत्मसंबल की आवश्यकता होगी । इसके लिये हमें पग-पग पर आत्माग्नि का आह्वान

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

होगा। इसी आशय की अभिव्यक्ति के लिये यहां कहा जारहा है—

आत्मैश्वर्य के सुपोष के सुखाभिलाषी हम (पृथिव्याः नाभा) पृथिवी की नाभि में (सम्-इधाने अग्नौ) प्रज्वलित अध्यात्माग्नि में (रायः बृहते पोषाय) आत्मैश्वर्य के विशाल—व्यापक पोषण के लिये (इरम्-मदम्) इरा से ओजित होनेवाले, (बृहत्-उक्थम्) महत्-प्रशस्त, (यजत्रम्) यज्ञीय, (जेतारम्) जेता—विजेता, (पृतनासु सासहिम्) पृतनाओं में सहने—डटनेवाले (अग्निम्) आत्माग्नि को (हवामहे) पुकारते हैं।

आत्माग्नि इरा-मद है, इरा से ओजित होनेवाला है। इरा नाम उस वाणी का है जो आत्म-ओज को जगाती है।

आत्म-प्रशस्ति से आत्मा के ओज की वृद्धि होती है और आत्म-अप्रशस्ति से आत्मा का ओज क्षीण होता है। विश्व में अध्यात्म की प्रस्थापना की उत्कट साध में हमें आत्मा की सतत प्रशस्ति करते रहना चाहिये। आत्मा बृहत्-उक्थ है, महत्-प्रशस्त है। उसका अमित स्तवन किया जाना चाहिये। हम उसका जितना स्तवन करेंगे, वह उतना ही जागरित तथा ओजित रहेगा।

आत्मा यजत्र है, यज्ञीय है, पूजनीय है। महत्-प्रशस्त होने से वह निस्सन्देह पूजनीय है।

वह जेता है। अपने स्वरूप में स्थित होकर वह प्रत्येक क्षेत्र में विजय-सम्पादन करता है। आत्मा सदा विजय प्राप्त करता है, कभी पराजित नहीं होता है।

वह 'पृतनासु सासहिः' है। पृतना नाम मानव, मानवता और संग्राम का है। 'सासहिः' का अर्थ है सहनेवाला, साम्मुख्य करनेवाला, स्थिरता के साथ स्थित रहनेवाला। आत्मा ही है जो मानव-जीवन के धर्म्य, कर्म्य, अध्यात्म-संग्रामों में अन्त तक डटा रह सकता है। इन्द्रियों का स्वामी इन्द्र [आत्मा] ही है जो प्रबुद्ध होकर मानवता की रक्षा के संग्रामों में कभी कहीं च्युत नहीं होता है।

पृथिवी की नाभि में,
प्रज्वलित अग्नि में,
आत्मैश्वर्य के बृहत् पोष के लिये
हम पुकारते हैं इरामद,
महत्प्रशस्त, यजत्र विजेता,
मानवता के संघर्षों में सतत सासहि
आत्माग्नि को।

५०७ याः सेना अभीत्वरीराव्याधिनीरुगणा उत। ये स्तेना ये च तस्करास्तांस्ते अग्ने ऽपिदधाम्यास्ये॥

य ११/७७

याः सेनाः अभि-इत्वरीः आ-व्याधिनीः उगणाः उत। ये स्तेनाः ये च तस्कराः तान् ते अग्ने अपि-दधामि आस्ये॥

आत्मैश्वर्य के बृहत् पोष के लिये किये जारहे मानवीय संग्रामों और संघर्षों में (अग्ने) आत्माग्ने! (याः अभि-इत्वरीः आ-व्याधिनीः उत उगणाः सेनाः) जो अभि-इत्वरी, आ-व्याधिनी और उगणा सेनायें हैं, (ये स्तेनाः च ये तस्कराः) जो स्तेन और जो तस्कर हैं, (तान् ते आस्ये अपि-दधामि) उन्हें तेरे मुख में अपि-स्थापित करता हूं।

अभीत्वरी=अभि इत्वरी। अभि=सब ओर, इधर-उधर। इत्वरी=भ्रमण करनेवाली, भटकनेवाली।

आव्याधिनी=आ+व्याधिनी। व्याधियों—रोगों का आनयन करनेवाली, कष्ट-क्लेशदायिनी।

उगणा=उग्र+गणा, विद्रोहिणी, उत्तेजना फैलानेवाली, उग्रता के साथ विनाश करनेवाली।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वासनाओं की सेनायें ही हैं जो मानव को इधर-उधर भटकाती हैं। भोगेच्छाओं की सेनायें ही हैं जो रोगों तथा कष्ट-क्लेशों का सर्जन और वर्धन करती हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार—इन पञ्च विकारों की सेनायें ही हैं जो साधक के जीवन-राज्य में उग्रता के साथ विद्रोह करती हैं और साधनासम्पदा तथा आत्मसर्वस्व को नष्ट कर देती हैं।

'शैतान' तथा 'सेटेन' [satan] वेद के स्तेन शब्द के ही रूपान्तर हैं। यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में ही चेतावनी दी गयी है—'मा व स्तेन ईशत,' तुम्हें स्तेन न ईशे, तुम पर स्तेन का शासन न हो। 'स्तेन' मनस्पाप का प्रतीक है। स्तेन नाम उस चोर-वृत्ति का है, छिपी हुयी उस पापवृत्ति का है जो मनुष्य को पाप कर्म की ओर प्रवृत्त करती है।

तस्करः=तत्+करः। माया बटोरने के लिये यह कर वह कर, इसे मार उसे पछाड़—ऐसी वृत्ति का नाम तस्कर-वृत्ति है।

वासनाओं तथा विकारों की अगणित विद्रोहिणी सेनाओं का, अपि च स्तेनवृत्तियों तस्करवृत्तियों का वशीकार तथा निराकरण सम्भव होता है जब उन्हें आत्माग्नि के मुख अपि-स्थापित, पुनः-पुनः प्रस्थापित किया जाता ज्ञान—तत्त्वज्ञान—विवेक ही आत्माग्नि का वह है जिसमें मानव की वासनाओं, विकृतियों, वृत्तियों तथा तस्कर-वृत्तियों का शमन अथवा होता है। और इन सेनाओं अथवा कुवृत्तियों दहन किये बिना न ही आत्मैश्वर्यों का बृहत् अथवा व्यापक पोषण होगा, न ही मानव मानवता की रक्षा के संग्रामों में चिरस्थ विजय सम्पादित होगी।

योग-जीवनपद्धति के सुप्रसार के लिये जन इस वैदिक गीत का गान करे—

जो अभीत्वरी, आव्याधिनी
और विद्रोहिणी सेनायें,
जो स्तेन हैं, जो तस्कर हैं,
आत्माग्ने, उन्हें मैं तेरे
मुख में हूं प्रस्थापित करता।

५०८ दंष्ट्राभ्यां मलिम्लून्जम्भ्यैस्तस्करॉं उत। हनुभ्यां स्तेनान् भगवस्ताँस्त्वं खाद सुखादितान्

य ११/

दंष्ट्राभ्याम् मलिम्लून् जम्भ्यैः तस्करान् उत। हनुभ्याम् स्तेनान् भगवः तान् त्वम् खाद सु-खादितान्

सब काल में, सब देशों में, सब समाजों में ऐसे असामाजिक तत्त्व सदैव होते ही हैं जो समाज-सुधारकों, ज्ञानियों, योग-जीवनपद्धति-विस्तारकों, अध्यात्मप्रसारकों का न केवल घोर विरोध करते हैं, अपि तु उनकी जान के ग्राहक बन जाते हैं और समाज में विकार तथा विष फैलाते हैं।

पर-पदार्थों का हरण करके सुख से [मज़े के साथ] उनका सेवन करनेवाले होने से यहां तस्करों और चोरों को 'सुखादित' कहा गया है। सुखादित तस्कर और स्तेन इतने मलिनाचारी होते हैं कि उन्हें न धर्म-अधर्म का विचार होता है न पाप-पुण्य का, उन्हें न उचितानुचित का ध्यान है न न्याय-अन्याय का, न उन पर किसी उपदेश का प्रभाव पड़ता है न किसी के सा का, न वे आत्म-अनात्म की परवाह करते मानवता और दानवता की। वे उन काले त समान होते हैं जो सूर्य की किरणों से गरम हैं किन्तु चमकते नहीं हैं। ऐसे 'असुर्य आ जनों' का एक मात्र इलाज कठोर दण्ड है। प्रेरणा, साधना, उपदेश, चेतावनी, दण्ड—ये उपाय ही हैं सामाजिक सुव्यवस्था के। सुखा तस्कर और स्तेन जब किसी भी उपाय से

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

में विकार और विष फैलाने से बाज़ नहीं आते हैं तब उन्हें कठोर दण्ड अथवा मृत्यु-दण्ड देकर सामाजिक जीवन को निष्कण्टक बनाया जाता है।

दण्डव्यवस्था शासन-सत्ता का कार्य है। न्याय-विभाग के दो संस्थान होते हैं—साम्पत्तिक [दीवानी, माल] और अपराधवर्जक [फ़ौजदारी]। अपराधवर्जक विभाग जितना सुदृढ़ और कठोर होता है, सामाजिक व्यवस्था उतनी ही स्वस्थ और स्वच्छ होती है और समाजसेवियों के लिये वातावरण उतना ही सुकर रहता है। भगवः शब्द का प्रयोग यहां उस सर्वोच्च दण्डाधिकारी के लिये हुआ है जिसने मन्त्र ८१ में अपने आपको 'पुरोहित' कहा है। शासन-सत्ता द्वारा नियुक्त उस दण्डाधिकारी के प्रति, न्यायाधिकार अर्पित करते हुये, शासन की ओर से कहा जारहा है—(भगवः) भगवन्! (तान् मलिम्लून् सु-खादितान् तस्करान् उत स्तेनान्) उन मलिनाचारी सुखादित तस्करों और चोरों को (त्वम्) तू (दंष्ट्राभ्याम्) दाढ़ों से, (जम्भ्यैः) दन्तपंक्तियों—जबाड़ों से, (हनुभ्याम्) ठोड़ियों से (खाद) खा।

भगवान् दण्डाधिकारी की दाढ़ें हैं न्याय और व्यवस्था। उसके जम्भ्य—जबाड़े हैं दण्डकर्मचारी। उसकी ठोड़ियां [दो ठोड़ी-फलक] हैं सामाजिक अहिंसा और निर्भयता। समाज को सुखादित तस्करों और स्तेनों से मुक्त करके उसे निरापद बनाना ही भगवान् दण्डाधिकारी द्वारा उनका खाया जाना है। ऐसे सुखादित तत्त्वों से मुक्त समाज में ही आध्यात्मिकता तथा नैतिकता की बेलें फूलती-फलती हैं।

भगवन्, उन मलिनाचारी और सुखादित
तस्करों और स्तेनों को तू
खा दाढ़ों, जबाड़ों और ठोड़ियों से।

५०९ ये जनेषु मलिम्लव स्तेनासस्तस्करा वने। ये कक्षेष्वघायवस्ताँस्ते दधामि जम्भयोः॥

य ११/७९

ये जनेषु मलिम्लवः स्तेनासः तस्कराः वने। ये कक्षेषु अघ-यवः तान् ते दधामि जम्भयोः॥

भगवान् दण्डाधिकारी के प्रति, शासन की ओर से अधिकारोक्ति को जारी रखते हुये पुनः कहा जा रहा है—भगवन्! (जनेषु) जनों में, (वने) वन में (ये मलिम्लवः स्तेनासः तस्कराः) जो मलिनाचारी, स्तेन और तस्कर हैं, (कक्षेषु) कक्षों—पार्श्वों में (ये अघ-यवः) जो पापेच्छु हैं, (तान् ते जम्भयोः) उन्हें तेरे [दो] जबाड़ों में (दधामि) रखता हूं।

'जम्भयोः' से यहां तात्पर्य दमन और दण्ड रूपी जबाड़ों से है। जनता के मध्य में निवास करनेवाले, अपराध करके जंगल में छिपनेवाले, इधर-उधर पार्श्वों में बिखरे हुये पापेच्छापूर्वक वर्तनेवाले, जितने भी अवाञ्छनीय असामाजिक तत्त्व हैं, स्तेन और तस्कर हैं, उन सबका दमन करना और अपराध अथवा पापाचार करने पर उन्हें कठोर दण्ड देना भगवान् दण्डाधिकारी का सर्वतन्त्र स्वतन्त्र अधिकार है। उच्छृङ्खलों का दमन और अपराधियों का प्रताड़न तथा हनन—ये दो दण्डाधिकारी के वे पुनीत कर्तव्य हैं जिनके आश्रय से मानवसमाज में उस शुद्ध वातावरण का सम्पादन होता है जिसमें आध्यात्मिकता तथा नैतिकता पनपती है।

जनों में, वन में जो मलिम्लु
तस्कर और स्तेन,
कक्षों में जो पापेच्छु
रखता हूं मैं उन्हें तेरे जम्भों में।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

५१० यो अस्मभ्यमरातीयाद् यश्च नो द्वेषते जनः ।
निन्दाद् यो अस्मान् धिप्साच्च सर्वं तं मस्मसा कुरु ॥ य ११/८०
यः अस्मभ्यम् अराति-यात् यः च नः द्वेषते जनः ।
निन्दात् यः अस्मान् धिप्सात् च सर्वम् तम् मस्मसा कुरु ॥

यहां इस मन्त्र में भगवान् दण्डाधिकारी के प्रति सर्व जनों की ओर से सम्बोधन है—भगवन्! (यः जनः) जो जन, जो जनसमाज (अस्मभ्यम् अराति-यात्) हमारे प्रति शत्रुता करे (च) और (यः) जो [जन, जनसमूह] (नः) हमारे प्रति (द्वेषते) द्वेष करता है, (निन्दात्) [हमारी] निन्दा करे (च) और (यः अस्मान् धिप्सात्) जो हमें धिप्से-दम्भे-छले-ठगे-धोखा दे—(तम् सर्वम्) उस सब [शत्रुता, द्वेष, निन्दा, धिप्सा] को (मस्मसा कुरु) भस्म कर।

भगवान् दण्डाधिकारी का कर्तव्य दण्ड देने तक सीमित न होकर, अपराधियों का नैतिक सुधार भी है। निर्धनों और अभावग्रस्तों से कहीं अधिक अपराध धनी और पढ़े-लिखे जन करते हैं। कारागृहों के वातावरण को शोधने और उनमें सुशिक्षा तथा सदुपदेशों की व्यवस्था करने से इस दिशा में पर्याप्त सफलता प्राप्त होती है। जेलों का वातावरण स्वच्छ और सात्त्विक होने से अपराधियों के सत्त्व की शुद्धि होती है।

न्याय्य और स्वस्थ समाजव्यवस्था तथा सुपूत सामाजिक वातावरण भी अपराध-निरो पर्याप्त सहायक होते हैं। प्रत्येक रोग कारण होते हैं। कारणों का निराकरण का ही रोग का निर्मूलन होता है। समा अपराधमुक्त रखने के लिये समाज से अप कारण को निर्मूल करना होता है।

अन्न के अभाव, बेकारी तथा सा असमता और विषमता के कारण भी अपराध होते हैं। आजीविका के साध निकृष्ट होने से भी अपराधवृद्धि होती 'जैसा खाये अन्न वैसा बने मन,' यह लो प्रसिद्ध है।

इन सब तथ्यों को दृष्टि में रखते दण्डाधिकारी को दण्डव्यवस्था प्रस्थापित चाहिये।

जो जन करे शत्रुता हमसे,
और जो हमसे द्वेष करे,
निन्दा करे, और जो हमको
धिप्से—दम्भे—छले—ठगे,
उस सबको तू करदे भस्म।

५११ संशितं मे ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम् । संशितं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः ॥ य ११/८१
सम्-शितम् मे ब्रह्म सम्-शितम् वीर्यम् बलम् । सम्-शितम् क्षत्रम् जिष्णु यस्य अहम् अस्मि पुरः-हि

इस और अगले मन्त्र से भगवान् दण्डाधिकारी न्यायानुमोदित दण्ड की स्थापना की शपथ ग्रहण करता है—

१) (मे ब्रह्म) मेरा ब्रह्म (संशितम्) प्रशस्त, सुतीक्ष्ण है, (वीर्यम् बलम्) पराक्रम, बल (संशितम्) प्रशस्त-सुतीक्ष्ण है।

ब्रह्म शब्द का प्रयोग यहां आत्म-प्रचेतना विवेक के अर्थ में हुआ है। दण्डाधिकारी न उग्र पराक्रम तथा बल से ही युक्त हो, उसे प्रचेतना तथा विवेक से भी सम्पन्न होना चा सुतीक्ष्ण पराक्रम तथा बल से जहां वह अ और अपराधियों की दृढ़ता के साथ रो

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

करेगा, वहां वह आत्मप्रचेतना तथा प्रशस्त विवेक के आश्रय से सबके प्रति सदा न्याय ही करेगा। दण्डाधिकारी का कार्य दण्ड देना ही नहीं है, अपराधों की रोक-थाम करना भी है।

प्रखर न्याय से विभूषित, निष्पक्ष और कठोर दण्ड ही है जो शासन और शासित को कर्तव्य-निष्ठ, धर्मपरायण तथा अध्यात्मसम्पन्न बनाये रखता है।

२) (अहम्) मैं (यस्य पुरोहितः अस्मि) जिस [शासनसत्ता] का पुरोहित हूं, उसका (क्षत्रम् संशितम् जिष्णु) क्षत्र प्रशस्त-सुतीक्ष्ण तथा जयी [होगा]।

पुरः-हित=पुरोहितः। पुरः=सामने, अग्र। हितः=रखा हुआ, स्थित, उपस्थित। पुरोहित शब्द का प्रयोग यहां उस दण्डाधिकारी के लिये हुआ है जो न्याय तथा दण्ड-चक्र के घुमाने में सदा सर्वदा सर्वाग्र उपस्थित तथा उद्यत रहता है। इस प्रकार का पुरोहित जिस शासन के मूर्धा पर आसीन होगा, उस शासन का क्षत्र [राज्य, साम्राज्य] निश्चय ही प्रशस्त तथा सुतीक्ष्ण, निर्बाध और शीघ्रकारी होगा। उसी न्यायानुशासित शासन का राष्ट्र प्रत्येक दिशा, क्षेत्र और पार्श्व में तीव्रता तथा प्रशस्तता के साथ जय-विजय, सफलता—साफल्य प्राप्त करता है।

संशित मेरा ब्रह्म,
वीर्य बल मेरा संशित
उसका क्षत्र जयी और संशित,
जिसका मैं हूं पुरोहित।

सूक्ति—संशितं मे ब्रह्म।

मेरा विवेक प्रशस्त—प्रखर है।

५१२ उदेषां बाहू अतिरमुद् वर्चो अथो बलम्। क्षिणोमि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वाँ अहम्॥

य ११/८२

उत् एषाम् बाहू अतिरम् उत् वर्चः अथो बलम्। क्षिणोमि ब्रह्मणा अमित्रान् उत्-नयामि स्वान् अहम्॥

१) मैंने (एषाम्) इनके/इन स्तेनों, तस्करों, जन-द्वेषियों, जनशत्रुओं के (बाहू) बाहुओं को (उत् अतिरम्) अतिक्रमण किया है, (वर्चः अथो बलम् उत् अतिरम्) तेज और बल को अतिक्रमित किया है।

भगवान् दण्डाधिकारी बाहु, तेज तथा बल में उपर्युक्त असामाजिक तत्त्वों से कहीं बढ़कर होना चाहिये। वह उन्हें रंगे हाथों पकड़ने-पकड़वाने की क्षमता रखता हो। उनका मुक़ाबला करके उन्हें बन्दी बनाने की उसमें शक्ति हो। वह इतना तेजस्वी हो कि अपराधेच्छु उसे देखते ही आतंकित होजायें। उसका बल इतना प्रबल हो कि वह कभी कहीं दबने न पाये।

२) (अहम्) मैं (ब्रह्मणा) आत्मप्रचेतना/विवेक द्वारा (अमित्रान् क्षिणोमि) अमित्रों/शत्रुओं को क्षीण करता हूं, (स्वान् उत्-नयामि) अपनों को उन्नत करता हूं/ऊंचा उठाता हूं।

अमित्र शब्द का प्रयोग समाज के शत्रुओं अथवा घातकों के लिये हुआ है। जिनकी गतिविधियां समाज के आचार, विचार और व्यवहार को मलिन तथा सामाजिक व्यवस्था और शान्ति को भंग करती हैं वे समाज के मित्र नहीं, अमित्र हैं, शत्रु हैं। जिनकी गतिविधियों से समाज का शोधन, बोधन होता है और सामाजिक शान्ति तथा व्यवस्था की रक्षा होती है वे समाज के अपने हैं, मित्र हैं। समाज के हित में दण्डाधिकारी का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह समाज के अमित्रों—शत्रुओं की शक्ति और संगठन को सर्वथा क्षीण करके उन्हें प्रतिबन्धित करे और समाज के अपनों—मित्रों की सर्वतः उन्नति करके उन्हें सम्मानित तथा निर्भय करे। जिस समाज में शत्रुओं का दमन और मित्रों का संवर्धन होता है, उसी समाज में

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नैतिकता तथा आध्यात्मिकता का विकास होता है।

मैंने इनके बाहुओं को
अतिक्रमण किया हुआ है,
इनके तेज और बल को भी
अतिक्रमित किया हुआ है।
मैं विवेक से
क्षीण अमित्रों को करता हूं,
उन्नत करता हूं अपनों को।
सूक्ति—उन्नयामि स्वाँ अहम्।
मैं अपनों को ऊंचा उठाता हूँ।

५१३ अन्नपते ऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः।
प्रप्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे॥ य ११/८३
अन्न-पते अन्नस्य नः देहि अन्-अमीवस्य शुष्मिणः।
प्र-प्र दातारम् तारिषः ऊर्जम् नः धेहि द्वि-पदे चतुःपदे॥

भूख सब पापों और अपराधों का मूल है। 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।' अभाव भूख का संगाती है। भूख और अभाव से पीड़ित मानव अनेक पाप और अपराध करते हैं। पेट ही सुख और साधना का मूल है। भूखा क्या भजन करेगा, क्या योगसाधना करेगा, क्या अपना योगयुक्त जीवन बनायेगा! अतः योग-जीवनपद्धति के प्रचारक और प्रसारक प्रभु से सर्वार्थ अन्न की प्रार्थना करते हैं—

१) (अन्न-पते)!

२) (नः) हमारे लिये, हम सबके लिये (अन्-अमीवस्य शुष्मिणः अन्नस्य) नीरोगताप्रद बलकारक अन्न का (देहि) दान कर।

३) (दातारम् प्र-प्र तारिषः) दाता—अन्नदानी को प्रकृष्टतया—प्रचुरतया बढ़ा।

४) (नः) हमारे (द्वि-पदे) दोपाये/मानवसमाज के लिये, (चतुःपदे) चौपाये/अश्व, गौ, आदि पशुसमूह के लिये (ऊर्जम्) बल, स्फुरण, पराक्रम, ओज (धेहि) धारण—प्रदान कर।

योग-जीवनपद्धति में अन्न का महत्त्वपूर्ण स्थान है। चित्त, मन, बुद्धि और शरीर का अस्तित्व अन्न से ही है। जैसा अन्न वैसा ही मन, वैसा ही चित्त, वैसी ही बुद्धि और वैसा ही शरीर। आहार की शुद्धि से शरीरसत्त्व, चित्तसत्त्व, मनस्सत्त्व तथा बुद्धिसत्त्व की शुद्धि होती है। सत्त्वचतुष्टय की शुद्धि से मानवप्रजा में नीरोगता और बल की वृद्धि होती है। तब ही मानवसमाज में योग-जीवन का सतत विकास होता है।

भूख से पीड़ित को जो अन्न देता है, वह परमात्मा उसके अन्न और ऐश्वर्य का प्रकृष्ट और प्रचुरतया संवर्धन करता है। जो भूखे खिलाता है और नंगे को पहनाता है, उसे ब शिषें प्राप्त होती हैं। आत्माशिषों के प्रभा परमात्मा अन्नवस्त्रदानी से प्रसन्न होकर उसे और धन की अधिकाधिक वृद्धि करता है।

मानवों का अन्न ही नहीं, सामाजिक का अन्न भी बल-स्फूर्तिदायक होना चा सामाजिक पशुओं का खाद्य जब सत्त्व स्वास्थ्यप्रद और बलकारक होता है तो पशुओं का दुग्ध ऊर्जोदा होता है और अश्व आदि पशु अधिकाधिक सम्पदा तथा सेव सम्पादन करते हैं।

अन्नपते,
दे अन्न हमारे लिये
स्वास्थ्यप्रद और बलकारक।
बढ़ा प्र-प्र अन्नदानी को,
प्रस्थापन कर हमारे दोपाये
चौपाये के लिये बल और स्फूर्ति।
सूक्ति—ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे।
हमारे मानव और पशु के लिये स्फूर्ति प्रदान कर।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वेद के अध्ययन और मानव-संस्कृति
के
ज्ञान का सर्वोत्तम और सर्वसुलभ माध्यम

स वि ता

[वेद-संस्थान का मासिक पत्र]

- देव के दिव्य काव्य, वेद के अध्ययन का सर्वश्रेष्ठ साधन,
- वेदमन्त्रों की 'विदेह'-कृत मौलिक, जीवनप्रद, याथातथ्य व्याख्या,
- अत्यन्त ठोस, सुपच, पौष्टिक, प्रेरणाप्रद सामग्री से भरपूर,
- गीता-योग, परम योग, 'विदेह'-गाथा, सामवेद-पद्यानुवाद, आदि स्थायी स्तम्भों से समलंकृत,
- उच्च कोटि के विद्वानों के पथप्रदर्शक लेखों से समन्वित।

॥ एक एक शब्द पठनीय, मननीय, आचरणीय ॥
॥ एक एक तरंग मानव को ऊंचा उठानेवाली ॥
॥ एक एक प्रेरणा जीवन को आगे लेजानेवाली ॥
॥ एक एक चेतावनी मानव के मानस को चेतानेवाली ॥

वार्षिक मूल्य पांच रुपये [विदेशों में दस रुपये]

स्वयं ग्राहक बनिये और अपने प्रिय जनों को बनाइये।

वेद-संस्थान,

बाबू मोहल्ला, अजमेर (भारत)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

'विदेह'-रचित संस्थान-प्रकाशन

वेदव्याख्या-ग्रन्थ (प्रतिपुष्प एक अध्याय के क्रम से, यजुर्वेद की क्रमिक व्याख्या)

१. प्रथम पुष्प (द्वितीय संस्करण)	दो रुपये
२. द्वितीय पुष्प (द्वितीय „)	डेढ़ रुपये
३. तृतीय पुष्प (द्वितीय „)	सवा दो रुपये
४. चतुर्थ पुष्प	एक रुपया
५. पञ्चम पुष्प	डेढ़ रुपये
६. षष्ठ पुष्प	एक रुपया
७. सप्तम पुष्प	डेढ़ रुपये
८. अष्टम पुष्प	डेढ़ रुपये
९. नवम पुष्प	एक रुपया
१०. दशम पुष्प	एक रुपया
११. एकादश पुष्प	सवा रुपया

योग-ग्रन्थमाला

१. साधना (तृतीय सं०)	एक रुपया
२. स्वास्थ्य और सौन्दर्य (चतुर्थ सं०)	५० पैसे
३. वैदिक योग-पद्धति (तृतीय सं०)	४० पैसे
४. सन्ध्या योग (तृतीय सं०)	३० पैसे
५. गायत्री मन्त्र का अनुष्ठान (तृतीय सं०)	२० पैसे
६. महामृत्युञ्जय-मन्त्र का अनुष्ठान (द्वितीय सं०)	२५ पैसे
७. योग-तरङ्ग (द्वितीय सं०)	२० पैसे
८. शिव-संङ्कल्प	३० पैसे
९. वैदिक साधना	५० पैसे

भक्ति-ग्रन्थमाला

१. गायत्री (चतुर्थ सं०)	एक रुपया
२. विदेह-गीतावली (द्वितीय सं०)	४० पैसे
३. आनन्द-सुधा (द्वितीय सं०)	४० पैसे
४. जीवन-पाथेय	५० पैसे

चरित-ग्रन्थमाला

१. रामचरित	डेढ़ रुपये
२. दयानन्द चरितामृत	एक रुपया
३. जीवन-ज्योतियां (तृतीय सं०)	४० पैसे

शिक्षा-ग्रन्थमाला

१. वैदिक बालशिक्षा, प्रथम भाग (पंचम सं०)	५
२. „ „ द्वितीय भाग (तृतीय सं०)	५
३. „ „ तृतीय भाग (द्वितीय सं०)	७
४. वैदिक स्त्री-शिक्षा (द्वितीय सं०)	३
५. संस्कृत-शिक्षा, प्रथम भाग (तृतीय सं०)	२
६. „ द्वितीय भाग (तृतीय सं०)	४
७. संस्कृत-स्वयं-शिक्षक, प्रथम पुष्प (द्वितीय सं०)	७
८. „ द्वितीय पुष्प (किशोरीलाल गुप्त)	७

कर्मकाण्ड-ग्रन्थमाला

१. स्वस्ति-याग (तृतीय सं०)	८
२. सत्यनारायण की कथा (चतुर्थ सं०)	३
३. वैदिक सत्सङ्ग (पंचम सं०)	३
४. विजय-याग (द्वितीय सं०)	५

मिश्रित-ग्रन्थमाला

१. सार्वभौम आर्य साम्राज्य (द्वितीय सं०)	५
२. यज्ञोपवीत-रहस्य (चतुर्थ सं०)	
३. उत्तम स्वभाव (तृतीय सं०)	२
४. मानव-धर्म (द्वितीय सं०)	२
५. चरित्र-निर्माण (द्वितीय सं०)	२
६. गृहस्थाश्रम (द्वितीय सं०)	५
७. भारत के अध्यापकों से (द्वितीय सं०)	३
८. भारत के विद्यार्थियों से (द्वितीय सं०)	३

English-Lakshmi Vedic Series

1. The Vedic Prayers	
2. The Exposition of the Vedas	

'सविता' की जिल्दें : प्रतिजिल्द : वर्ष ४,५, ८-१०,१५-१९ : रु. ३.२५; वर्ष २०, २१ : रु.

वेद-संस्थान, बाबू मोहल्ला, अजमेर (भारत)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विद्यानन्द 'विदेह'

वेदव्याख्या-ग्रन्थ

द्वादश पुष्प

(यजुर्वेद के द्वादश अध्याय की व्याख्या)

विषय : अध्यात्म-सुधा

वेद संस्थान
अजमेर

मूल्य दो रुपये

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

संस्थानप्रकाशन-संख्या : ५६

यजुर्वेद-व्याख्या

द्वादश पुष्प

अध्यात्म-सुधा

विद्यानन्द 'विदेह'

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सर्वाधिकार लेखकाधीन

प्रथम संस्करण : वैशाख, २०२८ वि : अप्रेल, १९७१ ई

२,००० प्रतियाँ

प्रकाशक : वेद-संस्थान, बाबू मोहल्ला, अजमेर; मुद्रक : प्रिण्ट हाउस, अजमेर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यजुर्वेद-व्याख्या

बारहवां अध्याय

अध्यात्म-सुधा

ग्यारहवें अध्याय में **योग-जीवनपद्धति** की शिक्षा करके वेदमाता इस अध्याय में **अध्यात्म-सुधा** का सुप्रवाह प्रवाहित करती है। देश-देश और राष्ट्र-राष्ट्र में जब जीवन की योगपद्धति प्रवाहित रहती है तो सम्पूर्ण पृथिवी पर सर्वत्र अध्यात्म-सुधा की सरस धारायें बह रही होती हैं।

अध्यात्म-सुधा प्रकाश की सहगामिनी है। जहां अध्यात्म-सुधा की सुधारायें प्रवाहित होरही होती हैं, वहाँ आत्मज्योत्स्ना की शीतल रश्मियां, ब्रह्म-प्रकाश की प्रखर किरणें तथा ज्ञान और विवेक की धवल धारायें भी जगमगा रही होती हैं। पृथिवी पर योग-जीवनपद्धति की प्रस्थापना होगयी है और अब सर्वत्र अध्यात्म-सुधा तथा अध्यात्म-प्रकाश का प्रवहन होरहा है।

५१४ दृशानो रुक्म उर्व्या व्यद्यौद् दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः।
अग्निरमृतो अभवद् वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत् सुरेताः॥
[ऋ १०.४५.८, य १२.२५] य १२.१

दृशानः रुक्मः उर्व्या वि अद्यौत् दुः-मर्षम् आयुः श्रिये रुचानः।
अग्निः अ-मृतः अभवत् वयः-भिः यत् एनम् द्यौः अजनयत् सु-रेताः।

योग-जीवनपद्धति के आश्रय से (यत्) यतः, क्योंकि (सु-रेताः द्यौः) सुरेता द्यौ ने (एनम्) इस [मानव, मानवसमाज] को (अजनयत्) प्रकट—प्रकाशित कर दिया है, (श्रिये) श्री के लिये (दुः-मर्षम् आयुः) दुःसह जीवन को (रुचानः) रुचिकर बनाते हुए (दृशानः रुक्मः अग्निः) दर्शयिता सुशोभन ब्रह्माग्नि (उर्व्या) उरुता—बाहुल्य—व्याप्ति के साथ (वि अद्यौत्) सर्वतः द्योतित होगया है, मानव-जीवन (वयः-भिः) आत्मान्नों से (अ-मृतः अभवत्) अमृत होगया है।

'रेतः' नाम जल, वीर्य और रस का है। तीनों नाम पर्यायवाची हैं। 'द्यौ' प्रतीक है उच्चता तथा प्रकाश की। 'सुरेता द्यौ' का अर्थ है सुरस अथवा सुरसतायुक्त प्रकाश। योग-जीवनपद्धति से युक्त होकर पृथिवीनिवासी समग्र मानवसमाज सुरसता-मय शुभ्र प्रकाश से प्रकाशित होगया है। परिणाम-स्वरूप सर्वत्र सब ओर जहां अध्यात्म-सुधा का सुप्रवाह प्रवाहित होरहा है, वहां सर्वत्र सब ओर अध्यात्म-प्रकाश की सुरश्मियां भी द्योतित होरही हैं।

अध्यात्म-श्री से विहीन जीवन प्रत्यक्षतः दुःसह और अरुचिकर होता है। अध्यात्म-जीवनपद्धति की संसाधना से, सर्वदर्शयिता सुन्दर ब्रह्माग्नि के विभामय व्यापक द्योतन से दुःसह जनजीवन श्रीयुक्त तथा रुचिकर होगया है।

'वयः' नाम अन्न, आयु, यौवन तथा पक्षी का है। वयः शब्द का प्रयोग यहां आत्मान्नों के लिये हुआ है। ब्रह्म के ब्राह्म गुण ही आत्मा के अन्न हैं। जनजीवन में ब्रह्माग्नि के द्योतन से मानवों के जीवनों में आत्मान्नों का संचार होगया है। सर्वदर्शयिता—सर्वप्रकाशक ब्रह्माग्नि के द्योतन से दुःसह मानवजीवन न केवल श्रीयुक्त तथा रुचिकर होगया है, आत्मान्नों के संचार से वह अमृत, अमृतमय भी होगया है।

यतः सुरेता द्यौ ने

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कर दिया है इसे प्रकाशित,
श्री के लिये दुःसह जीवन
सुरुचिकर बनाते हुए,
दर्शयिता सुन्दर ब्रह्माग्नि

विभासहित होगया है द्योतित,
व्याप्तिपूर्वक ।
जनजीवन होगया है अमृत,
आत्मान्नों से ।

५१५ नक्तोषासा समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकं समीची ।
द्यावाक्षामा रुक्मो अन्तर्वि भाति देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाः ॥
[ऋ १.९६.५, य १७.७०] य १२.२

नक्तोषसा स-मनसा वि-रूपे धापयेते शिशुम् एकम् सम्-ईची ।
द्यावाक्षामा रुक्मः अन्तः वि भाति देवाः अग्निम् धारयन् द्रविणः-दाः ।

योग-जीवनपद्धति तथा अध्यात्म-सम्पदा से सुसम्पन्न भूमि पर (स-मनसा वि-रूपे समू-ईची नक्तोषसा) स-मन, वि-रूप, सम्यक्-संगत नक्त और उषा (एकम् शिशुम्) एक-एक शिशु को (धापयेते) दूध पिलाती हैं।

'नक्त' नाम सायं सन्ध्यावेला का है तो 'उषा' नाम है प्रातः सन्धिवेला का। नक्त में दिन और रात की सन्धि होरही होती है, दिन का अन्त और रात का आरम्भ होरहा होता है, दिन की विदाई और रात का आगमन होरहा होता है। उषाकाल में रात और दिन की सन्धि होरही होती है, रात का अन्त और दिन का आरम्भ होरहा होता है, रात को विदाई और दिन का आगमन होरहा होता है।

नक्त और उषा, सायं सन्धिवेला तथा प्रातः सन्धिवेला, दोनों समनसा हैं, समना हैं, मन को समाहित करनेवाली हैं, यद्यपि वे हैं वि-रूपा, विभिन्न रूपवाली। एक है सांवली और दूसरी है गोरी। विरूपा होने पर भी वे हैं सुसंगता, संगत होनेवाली, संगति—सन्धि करानेवाली। दोनों ही मिलन की वेलायें हैं। मिलन की वेला में मिलन का वातावरण तथा संस्कार होता है। दोनों वेलाओं में जब मानव आसनस्थ और अन्तर्मुख होकर ब्रह्म का ध्यान करते हैं तो प्रत्येक वेला प्रत्येक ध्याता आत्मशिशु को ब्रह्मदुग्ध का पान कराती है। ब्रह्म ही आत्मा का अन्न है। ब्रह्म ही का दुग्ध—पेय है। भौतिक वस्तुओं का शरीर करता है। आत्मा तो ब्रह्मान्न का और ब्रह्मामृत का ही पान करता है।

उभय वेलाओं में ब्रह्मदुग्ध का पान आत्मशिशु प्रत्यक्ष देखते हैं कि (द्यावाक्षामा द्यौ और भू के भीतर (रुक्मः वि भाति जगमगा रहा है।

ब्रह्म रुक्म है, जगमगोला है, परम सर्व-सौन्दर्य है। उसी के सौन्दर्य की छटा सब सुसुन्दर है। वह सूर्यों का सूर्य है। द्यौ [प्रकाशलोक] में और प्रत्येक भूलोक का प्रकाश और प्रताप प्रकाशित होरहा है।

उसी (अग्निम्) सौन्दर्यपुञ्ज को (द्रविणोदाः देवाः) ऐश्वर्यप्रदानी देव (धारयन्) धारण हुए हैं।

देवों की तीन कोटियां हैं—प्रकाशक प्रकाश प्रदान करते हैं, भूलोक जो द्रव्य दान हैं, दिव्य मानव जो दिव्यता प्रदान कर सभी देव उस सुन्दर ब्रह्माग्नि की देनों का कर रहे हैं।

समन विरूप सुसंगत दोनों
सायं प्रातः की वेलायें
एक-एक शिशु को दूध पिलातीं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

रुक्म जगमगात है द्यौ-भू के अन्दर।
धारण किये हुए अग्नि को द्रविणदानी देव।
सूक्ति : द्यावाक्षामा रुक्मो अन्तर्वि भाति।
द्यौ-भू के भीतर सुन्दर देव जगमगा रहा है।

५१६ विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे।
वि नाकमख्यत् सविता वरेण्यो ऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति॥
[ऋ ५ ८१.२]
य १२.३

विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्र असावीत् भद्रम् द्वि-पदे चतुः-पदे।
वि नाकम् अख्यत् सविता वरेण्यः अनु प्र-यानम् उषसः वि राजति।

(कविः वरेण्यः सविता) सर्वज्ञ वरणीय सविता (विश्वा रूपाणि) समस्त रूपों को (प्रति मुञ्चते) छोड़ता/प्रकट करता है और (उषसः प्र-यानम् अनु वि राजति) उषा के प्रयाण को अनु-प्रकाशता है।

एक सविता यह सूर्य है जिसके प्रकाश में समस्त प्राणियों तथा पदार्थों के रूप स्पष्टतया प्रकट होते हैं और जो उषा के प्रयाण को अनुविराजता है। 'अनु वि राजति' पद विज्ञान के एक रहस्य का उद्घाटन कर रहे हैं। सविता [सूर्य] उषा का अनुचर है। आगे-आगे उषा आरही होती है और सूर्य अनुगमन-सा करता हुआ उषा का अनुप्रकाशन कर रहा होता है। सूर्य कहीं जाता आता नहीं है। वह तो अपने आवृत पर घूम रहा होता है। पृथिवी सूर्य के चारों ओर घूम रही होती है। पृथिवी का जो-जो भाग सूर्याभिमुख होता जाता है, वहां-वहां सूर्य की किरणों का उषा-वर्ण जगमगाता चला जाता है। इस प्रकार उषा सतत प्रयाण-गमन करती रहती है और सूर्य उसका सन्तत अनुविराजन अथवा अनुप्रकाशन करता रहता है। सूर्य की अपनी लालिमा ही उषा जिसका वह अनुप्रकाशन करता रहता है।

एक सविता वह ब्रह्म है जिससे यह सब प्रकट और अनुप्रकाशित होरहा है। उसी की विभा से यह सब विभासित होरहा है। सूर्यों में उसी का प्रकाश है और उषाओं में उसी की लालिमा है। उषाओं के प्रयाण में वही सविता विराज रहा है। उसी ने (द्विपदे चतुष्पदे) दोपाये और चौपाये के लिये (भद्रम् प्र असावीत्) भद्र प्रसवन—सम्पादन किया हुआ है, (नाकम् वि अख्यत्) नाक को आलोकित किया हुआ है।

नाकः=न+अकः। 'क' का अर्थ है सुख, आनन्द। शरीर-सुख तथा आत्म-आनन्द के संयोग का नाम है क। अकः=नहीं क, नहीं सुख, नहीं आनन्द, दुःख, क्लेश। 'नाकः' नाम उस स्थिति का है जहां न शरीर-दुःख है, न अन्तःक्लेश। दुःख और क्लेश के नितान्त अभाव की स्थिति का ही नाम नाकः है। नाक की उपलब्धि भद्र अथवा भद्राचार से होती है। भदि (कल्याणे सुखे च) धातु से भद्र पद का जन्म हुआ है। कल्याण आत्मा का विषय है और सुख शरीर का। शरीर में बुद्धि, मन, चित्त, ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां आदि जो कुछ है वह सब भौतिक है। आत्मा अभौतिक है। शरीर के लिये सुख चाहिये और आत्मा के लिये आनन्द। प्रकृति सुखस्वरूपा है; वह शरीर-सुख प्रदान करती है। ब्रह्म आनन्दस्वरूप है; वह आनन्द प्रदान करता है।

मनुष्य दोपाया है। पक्षी दोपाया है। पशु चौपाया है। प्रकृति सुखस्वरूपा है; वह सुख ही देती है। ब्रह्म आनन्दस्वरूप है; वह आनन्द ही देता है। प्राकृत और ब्राह्म सब कुछ सुख और आनन्द

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रादता है। जीवन की भोगपद्धति सुख को सड़ाकर दुःख बना देती है और आनन्द को सडाकर क्लेश। जीवन की योगपद्धति ने पृथिवी पर आध्यात्मिकता व्याप दी है। सर्वत्र सर्वज्ञ वरणीय सविता की छवि-छटायें छिटक रही हैं। हर प्रातः उषायें ब्रह्मप्रकाश से अनुप्रकाशित होरही हैं। दोपाये और चौपाये भद्र की साधना तथा भद्राचार में निरत हैं। सर्वतः सुख और आनन्द का आलोक आलोकित होरहा है।

सर्वज्ञ और वरणीय सविता

प्रकट कर रहा सब रूपों को,
अनुप्रकाशित कर रहा है
उषाओं के सुप्रयाण को।
सम्पादन है किया हुआ
भद्र उसी ने
दोपाये चौपाये के लिये,
और आलोकित किया हुआ है
नाक उसी ने।

सूक्ति : विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः।
कवि-समस्त रूपों को प्रकाशित करता है।

५१७ **सुपर्णोऽसि गरुत्माँस्त्रिवृत् ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ। स्तोम आत्मा छन्दाꣳस्यङ्गानि यजूꣳषि नाम। साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः। सुपर्णोऽसि गरुत्मान् दिवं गच्छ स्वः पत॥**

सु-पर्णः असि गरुत्मान् त्रि-वृत् ते शिरः गायत्रम् चक्षुः बृहत्-रथन्तरे पक्षौ। स्तोमः आत्मा छन्दांसि अङ्गानि यजूंषि नाम। साम ते तनूः वाम-देव्यम् यज्ञा-यज्ञियम् पुच्छम् धिष्ण्याः शफाः। असि गरुत्मान् दिवम् गच्छ स्वः पत।

मानव! देव सविता के नाक में—

१) तू (गरुत्मान् सु-पर्णः असि) पंखोंवाला बाज़ है।

जीवन की योगपद्धति के प्रस्थापन से पृथिवी भोगस्थली से योगस्थली में परिणत होगयी है। नरक आलोकित नाक [स्वर्ग] बन गया है। देव सविता के संसाररूपी आलोकित नाक में मानव, पृथिवी पर घिसटनेवाला पंखहीन पक्षी नहीं है, गरुत्मान् सुपर्ण है, पंखोंवाला बाज़ है, जो उड़ कर द्यौ पर पहुंच सकता है और आनन्दधाम में एक झपाटे में प्रवेश कर सकता है। मस्तिष्क और हृदय मानव के वे दो पंख हैं, जिनके आश्रय से वह जितना चाहे उतना ऊंचा चढ़ सकता है और जहां चाहे वहां पहुंच सकता है। मस्तिष्क का चिन्तन और हृदय की भावना—ये दो अटूट पंख मानव-सुपर्ण को पृथिवी [पार्थिव भोगों] से अन्तरिक्ष [आध्यात्मिक पर्वों] पर, अन्तरिक्ष से द्यौ [दिव्य पर्वों] पर, द्यौ से स्वः [आनन्द] और ज्योति के आरोहण कराते हैं। 'मानव! अपने चित्त भावना के पंखों से वहां पहुंच, जहां अजस्र और अक्षय आनन्द है।'

२) (त्रि-वृत् ते शिरः) त्रि-वृत् तेरा शिर

'वृत्' का अर्थ है वर्तमान—विद्यमान। बोध, प्रतिबोध और विवेक—ये तीन शिर की सदा वर्तमान सम्पदायें हैं। जो लेता है, वह गरुत्मान् सुपर्ण बनकर चढ़ता और आगे बढ़ता है।

३) (गायत्रम्) गायत्र [है तेरा] (चक्षुः)

'गाय' नाम गीत का है। गीतकार है गायत्र। गीत का आदि स्रोत चक्षु ही है। दृश्यों तथा सौन्दर्यों को देखकर सरस गीतों का निर्माण होता है। करुणामय अवलोकन से करुणाप्रधान गीतों की रचना है। वीर प्रसंगों के अवलोकन से वीर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

छन्द, स्तोम, पाँच साम, यजुर्मन्त्र - अंगादिक स्थानी सम वाङ्मय है

बनते हैं। चक्षु निस्सन्देह गायत्र है। 'तेरी दृष्टि प्रकृति और प्रकर्ता के सौन्दर्य तथा कौशल को देखकर सुगीतों की रचना करे।' त्रिवृत् शिर के साथ युक्त होकर चक्षु आत्मगीतों की रचना करता है।

४) बृहत्-रथन्तरे) बृहत् और रथन्तर [हैं तेरे] (पक्षौ) दो पार्श्व।

'बृहत्' नाम महान् अथवा महानता का है। 'रथन्तर' का अर्थ है रथ के आश्रय से तरनेवाला। मानवजीवन रथ है, वह रथ जो आकार में लघु होने पर भी इतना महान् है कि उसके आश्रय से सुविशाल भवसागर को तरा जा सकता है, बशर्ते कि इस रथन्तर में आत्मसाधना द्वारा महानता का सम्पादन किया जाये। 'तेरे जीवन की महानता और पार उतरने की साधना, ये दो तेरे पार्श्व हैं, अतवार हैं।'

५) (स्तोमः) स्तोम [है तेरा] (आत्मा) आत्मा।

स्तोम शब्द का प्रयोग यहां आत्मस्तवन अथवा आत्मप्रशस्ति के लिये हुआ है। आत्मा जब प्रेयः-पंक में डूबा हुआ होता है, तो उसे आत्मग्लानि होती है और वह आत्मप्रताड़ना करता है। जब वह श्रेय के दिव्य पथ पर चल रहा होता है, तो वह आत्मप्रशस्ति करता है। आत्मप्रशस्ति ही आत्मा का स्तोम है। 'आत्मप्रशस्तता में तेरा आत्मत्व है।' आत्मप्रशस्तता के आश्रय से ही महानता की साधना सम्भव होती है।

६) (छन्दांसि) छन्द [हैं तेरे] (अङ्गानि) अंग।

'छन्द' नाम है भावना का, आत्मप्रशस्ति से भावित यज्ञिय भावना का। यज्ञिय भावनायें मानव के अंगों में यज्ञियता का सम्पादन करके अंग-अंग से यज्ञिय कर्म कराती हैं और परिणामस्वरूप मानवजीवन में महानता का सम्पादन होता है।

७) (यजूंषि) यजु [हैं तेरा] (नाम) नाम।

यजु नाम श्रेष्ठतम कर्म का है। नाम शब्द में नम का, नमनीयता का भाव है। यज्ञिय भावनाओं से भावित होकर जीवन में श्रेष्ठतम कर्मों की साधें सिद्ध होती हैं और मानव नमनीय बनता है। श्रेष्ठतम कर्मों से ही मानव का नाम होता है, वह ख्यातनामा बनता है।

८) (वाम-देव्यम् साम) वाम-देव्य साम [है] (ते तनूः) तेरा जीवन।

'वाम' का अर्थ है अन्तस्सौन्दर्य। देव्य= दिव्यताओं से युक्त। सम, समता, समत्व का जो सम्पादन करे उसकी 'साम' सज्ञा है। अन्तस्सौन्दर्यों और दिव्यताओं से अलंकृत समावस्था जिसमें है, वही जीवन संजीवन है।

९) (यज्ञा-यज्ञियम्) यज्ञा-यज्ञिय [है तेरी] (पुच्छम्) पुच्छ।

यज्ञा-यज्ञिय से तात्पर्य यज्ञिय व्यवहार और आचार से है। पुच्छ शब्द का प्रयोग यहां पीछे के अर्थ में हुआ है। अध्यात्म-प्रभा में यज्ञिय आचार और व्यवहार छायावत् मनुज के पीछे-पीछे चल रहा होता है।

१०) (धिष्ण्याः) शब्द [हैं तेरे] (शफाः) खुर।

शफ नाम पशु के खुर का है। 'धिष्' शब्दे। धिष्ण्याः नाम उन वाणियों—वचनों का है जो धी—धारणा का व्यक्तीकरण करते हैं, जो ध्रुव धारणा के साथ बोले जाते हैं और श्रोताओं में ध्रुवता को स्थापना करते हैं। जैसे खुर की टाप से पशु के आगमन की चेतना मिलती है, उसी प्रकार ध्रुव मानव की धारणाधृत धिष्ण्यायें मानवसमाज के मनों को चेताती हैं।

११) तू (गरुत्मान् सु-पर्णः असि) पंखोंवाला बाज़ है, (दिवम् गच्छ) द्यौ को जा, द्यौ पर आरोहण कर, (स्वः पत) स्वः प्राप्त कर, आनन्द में उड़—विचर।

द्यौ प्रतीक है उच्चतम ज्योति की, प्रकृष्टतम प्रकाश की। स्वः नाम है परम आनन्द का।

पुंसवन संकाम में गर्भ को उद्बोधन।

स सुपर्णः स्यात्। वयो वै सुपर्णः। तद् यथा पक्षी वयो भूत्वैव स स्वस्ति स्वर्गं लोकं समश्नुते॥ शां ब्रा १२-४॥ सुपर्णो

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ब्रह्म की ही ज्योति उच्चतम ज्योति है। ब्रह्म का ही प्रकाश प्रकृष्टतम प्रकाश है। ब्रह्म ही है परम आनन्द का परम धाम। 'चिन्तन और भावनारूपी पंखों के आश्रय से ब्रह्मद्यौ पर चढ़ और ब्रह्मानन्द में विचर।'

तू सुपर्ण है गरुत्मान्,
त्रिवृत् है तेरा शिर,
गायत्र है तेरा नेत्र,
बृहत् रथन्तर तेरे पार्श्व।
स्तोम आत्मा, छन्द अंग हैं,
यजु हैं नाम।
वामदेव्य साम है तेरा जीवन
यज्ञायज्ञिय है पुच्छ,
धिष्ण्यायें हैं तेरे शफ।
तू सुपर्ण है पंखोंवाला,
द्यौ प्राप्त कर, आनन्द पा।

सूक्ति : सुपर्णो ऽसि गरुत्मान्।
तू पंखोंवाला बाज़ है।
दिवं गच्छ स्वः पत।
ज्योति प्राप्त कर, आनन्द पा।

विक्रमणशील कुमार

५१८ विष्णोः क्रमो ऽसि सपत्नहा गायत्रं छन्द आ रोह पृथिवीमनु वि क्रमस्व विष्णोः क्र ऽस्यभिमातिहा त्रैष्टुभं छन्द आ रोहान्तरिक्षमनु वि क्रमस्व विष्णोः क्रमो ऽस्यरातीय हन्ता जागतं छन्द आ रोह दिवमनु वि क्रमस्व विष्णोः क्रमो ऽसि शत्रूयतो हन्तानुष्टु छन्द आ रोह दिशो ऽनु वि क्रमस्व ॥ य १

विष्णोः क्रमः असि सपत्न-हा गायत्रम् छन्दः आ रोह पृथिवीम् अनु वि क्रमस्व विष्णोः क्रमः अभि-माति-हा त्रै-स्तुभम् छन्दः आ रोह अन्तरिक्षम् अनु वि क्रमस्व विष्णोः क्रमः असि अ-रा यतः हन्ता जागतम् छन्दः आ रोह दिवम् अनु वि क्रमस्व विष्णोः क्रमः असि शत्रु-यतः हन्ता आनु-स्तुभम् छन्दः आ रोह दिशः अनु वि क्रमस्व।

मानव! इस आलोकित नाक में—

१) तू (विष्णोः सपत्न-हा क्रमः असि) विष्णु का सपत्न-नाशक क्रम है, (गायत्रम् छन्दः आ रोह) प्राणरक्षण [जीवन की सार्थकता]-रूप भावना पर आरूढ़ हो, (पृथिवीम् अनु वि क्रमस्व) पृथिव्यनुसार विक्रम—साधना कर।

'विष्णु' नाम सर्वव्यापक ब्रह्म का है। सर्व में व्यापक—प्रविष्ट होने से वह विष्णु कहाता है।

'सपत्न' नाम प्रतिद्वन्द्वी अथवा द्वन्द्व का है। मानव के अपने भीतर का द्वन्द्व ही सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वी है। द्वन्द्व मानव को संशयशील अथवा संशयात्मा बनाता है। **संशयात्मा विनश्यति**। संशय विनाश का पुरोगन्ता है।

'क्रम' नाम कर्मसाधना के साधक का द्वन्द्व के विनाश पर ही साधक निर्द्वन्द्व तत्परता के साथ प्रत्येक पार्श्व तथा क्षेत्र में करता है।

विष्णु के विशाल कर्मक्षेत्र, इस संसार में को निष्क्रिय नहीं रहना है। वह तो वि कर्मक्षेत्र का क्रम है, साधक है। द्वन्द्वरहित उसे आत्मनिष्ठा के साथ प्राणरक्षण अथवा की सार्थकता की भावना पर आरूढ़ होकर के अनुसार विक्रम करना है। जिस पृथिवी मानव का निवास है, वह पृथिवी जिस और सातत्य के साथ निरन्तर साधना निर्विश्रामता तथा आनन्द के साथ प्राणि

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ारण-पोषण की संसाधना कररही है, वैष्णव ाधक को उसी प्रकार इस पृथिवी पर विष्णु की हिमा का प्रसार करना है। इसी में स्वयं साधक के था अन्यों के जीवन की सुरक्षा तथा सार्थकता है।

) (तू विष्णोः अभि-माति-हा क्रमः असि) विष्णु ा अभिमाति-नाशक साधक है, (त्रै-स्तुभम् छन्दः ा रोह) त्रि-प्रशस्ततारूपी भावना पर आरूढ़ हो, अन्तरिक्षम् अनु वि क्रमस्व) अन्तरिक्षानुसार राक्रम कर।

मन, वचन, कर्म की प्रशस्तता की भावना ही -स्तुप् [त्रैष्टुप्] छन्द है।

अभि-माति नाम अभिमानी और अभिमान का । अभिमान ही मानव को अभिमानी बनाता है। अभिमान निस्सन्देह विनाश और पतन का मूल । अभिमान को निर्मूल किये बिना विष्णु के नाक वास्तविक वैष्णव साधना असम्भव है।

अभिमान से मुक्त होकर जब मानव मन, वचन, र्म की प्रशस्तता की भावना पर आरूढ़ होजाता , तब ही वह अन्तरिक्ष के अनुसार विक्रम कर पाता । अन्तरिक्ष जिस विशालाशयता के साथ अखिल वश्व का अपने भीतर अनवरत धारण और ंचालन करता है, वैष्णव साधक अन्तःकरण की सी विशालाशयता के साथ विष्णु के पृथिवीरूपी ाक पर सबका आत्मना धारण तथा संचालन रता है।

) तू (विष्णोः क्रमः असि) विष्णु का साधक (अ-राति-यतः हन्ता) अदानशीलता का हनन रनेवाला, (जागतम् छन्दः आ रोह) जागत जगत् के कल्याण की] भावना पर आरूढ़ हो, दिवम् अनु वि क्रमस्व) द्यु वत् परम साधना कर।

अ-राति नाम अदानता का है। जो देना नहीं ाहती, उस अदानवृत्ति का नाम है अराति-यत्। दानवृत्ति वा अदानशीलता ही वह अराति-यत् है मानव को विश्वहिताय अपनी सुदेनें देने से रोकती है। अदानवृत्ति का निर्मूलन करके जब वैष्णव साधक जागत भावना पर आरूढ़ होता है, तब ही वह विष्णु के नाक में द्यु वत् द्युति के द्योतन तथा दिव्यताओं के संयोजन की परम साधना करता है।

४) तू (विष्णोः क्रमः असि) विष्णु का साधक है (शत्रु-यतः हन्ता) द्वेष का हनन करनेवाला, (आनु-स्तुभम् छन्दः आ रोह) स्तुत्याचरणानुसरण की भावना पर आरूढ़ हो, (दिशः अनु वि क्रमस्व) दिशाओं के अनुसार परम साधना कर।

'शत्रु-यत्' का अर्थ है शत्रुता की इच्छा करनेवाला। द्वेष ही शत्रुता की इच्छा तथा अभद्र आचरण का मूल है। द्वेष के रहते शत्रुतामुक्त तथा स्तुत्याचरणयुक्त होना नितान्त असम्भव है। द्वेष के विनाश से ही शत्रुता का निर्मूलन तथा मित्रता का संवपन होता है। द्वेष के शमन से ही स्तुत्याचार की बेलें फूलती, फलती और फैलती हैं।

द्वेषमुक्त होकर जब वैष्णव साधक स्तुत्याचरण की भावना पर आरूढ़ होता है, तब ही वह व्यापनशील दिशाओं के समान विश्व में शुभ श्रेष्ठ संव्याप्ति करता है। वेद में दिशा-प्रदिशाओं को ज्येष्ठ ब्रह्म की भुजायें कहा गया है। समस्त दिशायें जिसकी साधना का क्षेत्र हैं, निस्सन्देह वह दिशाओं का अनुसरणकर्ता है।

विष्णु का साधक है तू सपत्नहा,
गायत्र भावना पर कर आरोहण,
कर विक्रम पृथिव्यनुसार।
विष्णु का साधक है तू अभिमातिहा,
त्रैष्टुप् छन्द पर आरोहण कर,
कर विक्रम अन्तरिक्षानुसार।
विष्णु का साधक है तू अदानवृत्तिहा,
जागत छन्द पर आरोहण कर,
कर विक्रम द्यु वत्।
विष्णु का साधक है तू द्वेषहा,
आनुष्टुप् छन्द पर आरोहण कर,
कर विक्रम दिशाओं के तुल्य।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

५१९ अक्रन्ददग्नि स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद् वीरुधः समञ्जन् ।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धो अख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ॥
[ऋ १०.४५.४, य १२.२१, १२.३३] य १२.६

अक्रन्दत् अग्निः स्तनयन्-इव द्यौः क्षामा रेरिहत् वीरुधः सम्-अञ्जन् ।
सद्यः जज्ञानः वि हि ईम् इद्धः अख्यत् आ रोदसी भानुना भाति अन्तः ।

पूर्व-मन्त्र में आदिष्ट चार साधों की सफल साधना के लिये (अग्निः) अग्नि ने (सद्यः हि) अविलम्ब ही (जज्ञानः) प्रकट—प्रकाशित होकर, (इद्धः) प्रज्वलित—प्रबुद्ध होकर (ईम्) इस [विश्व, मानवसमाज] को (वि अख्यत्) उपदेशा ।

वैष्णव क्रम [साधक] के लिये यहां अग्नि शब्द का प्रयोग हुआ है । 'अग्नि' के अनेक अर्थों में से एक अर्थ अग्रणी भी है और इसी अर्थ में यहां इस शब्द का प्रयोग हुआ है । वह आदेश क्या, जिससे प्रेरित होकर साधक अविलम्ब उसकी साधना में संलग्न न हो ? साधना की दिशा में प्रथम पग है साधक का स्वयं अपने आपको प्रकाशित और प्रबुद्ध करना । प्रकाश और प्रबोध से सम्पन्न होकर साधक पृथिवी पर सर्व मानवों को सर्वत्र उपदेश देकर उन्हें कल्याण के पथ पर आरूढ़ करता है । मानवता के समुत्थान और मानवों के कल्याण का अद्वितीय साधन है सदुपदेश, वेदोपदेश । साहित्य के अनुशीलन से ज्ञान की वृद्धि होती है । वे तो सिद्धों के मौखिक जीवनप्रद उपदेश ही हैं जो जनों के जीवनों को सही दिशा में मोड़ते और जोड़ते हैं ।

उत्प्रेरित होकर (अग्निः) अग्रणी [वैष्णव क्रम] ने (द्यौः स्तनयन्-इव) द्यौ के समान गर्जते हुए (क्षामा) पृथिवी को (रेरिहत्) ग्रहण किया, अपनाया, (वीरुधः सम्-अञ्जन्) लताओं को प्रकट—प्रकाशित करते हुए (अक्रन्दत्) करुण सम्बोधन किया ।

'द्यौ' का प्रयोग हुआ है यहां द्युस्थ [आकाशस्थ] मेघ के लिये ।

वीरुध् नाम लता का है । यहां वीरुध् का प्रयोग जीवन-लताओं के लिये हुआ है । पृथिवी पर निवास करनेवाले मानवों के जीवन वे हैं जो अध्यात्म-साधकों की साधना-वारि से जाती हैं ।

अग्रणी वैष्णव क्रम ने द्युस्थ मेघ की गर्जते हुए करुण सम्बोधन किया, सम्पूर्ण को अपनाया, सारी भूमि को अपना साक्ष बनाया । जिस प्रकार मेघ की गर्जना तथा से लतायें हरी-भरी होजाती हैं, उसी वैष्णव साधक की उपदेश-गर्जना तथा साधक ने विश्व को मानवजीवन-लताओं को [अंकुरित], प्रकाशित [पल्लवित], [फलप्रद] कर दिया ।

परिणामस्वरूप वैष्णव साधक (रोदसी) द्यौ और पृथिवी के मध्य (भानुना आ) दीप्ति से जगमगा रहा है, आत्मप्रकाश से रहा है ।

रोदसी नाम द्यौ और पृथिवी का है उच्चस्थ है । पृथिवी निम्नस्थ है । मानव में विद्वान् तथा सम्पन्न वर्ग द्यौ है, अविद्वान् असम्पन्न वर्ग पृथिवी है । द्यौ और पृथिवी के अन्तरिक्ष में जिस प्रकार सूर्य अपने प्रका प्रकाशता है, उसी प्रकार वैष्णव साधक उन के बीच अपनी ज्ञानाभा तथा साधनादी जगमगाता हुआ मानवजाति को प्रकाश कर रहा है ।

होकर सद्यः ही प्रकट—प्रकाशित,
होकर प्रज्वलित—प्रबुद्ध,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पदेशा अग्नि ने इसको।
स्थमेघवत् गर्जते हुए,
थिवी को अपनाया उसने,
कया प्रकाशित लताओं को
करते हुए करुण सम्बोधन।
द्यौ और पृथिवी के मध्य,
वह प्रकाश रहा है जगमग
आत्मप्रकाश से।

२० अग्ने ऽभ्यावर्त्तिन्नभि मा नि वर्तस्वायुषा वर्चसा प्रजया धनेन।
सन्या मेधया रय्या पोषेण॥ य १२.७

अग्ने अभि-आ-वर्त्तिन् अभि मा नि वर्तस्व आयुषा वर्चसा प्र-जया धनेन।
सन्या मेधया रय्या पोषेण।

णी वैष्णव साधक के प्रति यह जनाह्वान है—
भि-आ-वर्त्तिन् अग्ने) सब ओर वर्तने—पहुंचने
ने अग्रणी [वैष्णव साधक]! (आयुषा, वर्चसा,
जया, धनेन, सन्या, मेधया, रय्या, पोषेण) आयु,
, प्रजा, धन, विवेचनी मेधा, आत्मैश्वर्य तथा
के साथ (मा अभि नि वर्तस्व) मुझे सर्वतः
न्तर प्राप्त रह, मेरे प्रति पुनः-पुनः आगमन
।

आयु नाम जीवनावधि तथा संजीवन का है।
सविता के नाक को नाक बनाये रखने के लिये
णव साधक जहां भी जाता है, वहीं जन-जन
जनसमूह का जीवन संजीवन से युक्त होजाता
संजीवन से जीवनावधि का संवर्धन होता है।

वर्च नाम उस तेज का है जिसका सम्पादन
-जीवनपद्धति से होता है। साधक सर्वत्र सबके
नों को योगयुक्त करके उन्हें वर्चप्राप्ति के योग्य
ता है।

प्रजा नाम सु-सन्तति तथा सु-जनता का है।
उसके उपदेश और सम्पर्क से परिवार-परिवार तथा समाज-समाज की मानव-सन्तति प्रकृष्ट—संशुद्ध होती है।

जहाँ प्रजा संजीवन तथा वर्च से युक्त होती है वहां धन का होना साधारण बात है। किन्तु वैष्णव साधक की जनसमाज को अतिशय मंगलप्रद देनें हैं विश्लेषणकारिणी—विवेचनी मेधा, आत्मैश्वर्य तथा पोष अथवा-सन्तोष। कितना भी धन निस्सार है यदि मानव वा मानवसमाज में असन्तोष व्याप्त है। विवेचनी मेधा तथा आत्मैश्वर्य ही हैं जो मानव-समाज में सन्तोष की स्थापना करते हैं। सन्तोष ही पुष्टिकर पोष है। सन्तोष नरक को स्वर्ग में परिणत करता है। असन्तोष स्वर्ग को नरक बना देता है।

अभ्यावर्त्तिन् अग्ने! आ तू
मेरे प्रति सर्वतः सम्यक्,
आयु, वर्च, प्रजा, धन, अपि च
संविवेचनी मेधा, रयि और पोष के साथ।

२१ अग्ने अङ्गिरः शतं ते सन्त्वावृतः सहस्रं त उपावृतः।
अधा पोषस्य पोषेण पुनर्नो नष्टमा कृधि पुनर्नो रयिमा कृधि॥ य १२.८

अग्ने अङ्गिरः शतम् ते सन्तु आ-वृतः सहस्रं ते उप-आ-वृतः।
अध पोषस्य पोषेण पुनः नः नष्टम् आ कृधि पुनः नः रयिम् आ कृधि।

णी वैष्णव साधक जहां भी जाता है, वहीं
वप्रजा को विवेचनी मेधा तथा सन्तोष से
सन्तृप्त करता है। वह जब, जहाँ से प्रस्थान करता है, सर्व स्नेहाकुल जन उससे विनय करते हैं—

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(१) (अङ्गिरः अग्ने) प्रियतम अग्रणी [वैष्णव साधक] ! (सन्तु) हों (ते) तेरे (शतम् आ-वृतः) शत प्रत्यावर्तन, (ते) तेरे (सहस्रम् उप-आ-वृतः) सहस्र निकटागमन, सहस्र मिलन, सहस्र पुनरागमन।

'शत' और 'सहस्र' का प्रयोग असंख्य के अर्थ में हुआ है। साधक असंख्य बार आयें, असंख्य बार उसका सुमिलन प्राप्त हो, ऐसी सर्वत्र सर्व जनों की पुकार होती है।

(२) साधक ! तू शीघ्र-शीघ्र आ (अध) और (पोषस्य पोषेण) सन्तोष की तुष्टि से (नः नष्टम्) हमारे नष्ट [पोष, सन्तोष] को (पुनः आ कृधि) फिर सम्पादन कर, (नः रयिम्) हमारे आत्मैश्वर्य को (पुनः आ कृधि) पुनः सम्पादन कर।

पोष और रयि का, सन्तोष और आत्मैश्वर्य का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। सन्तोष की भित्ति पर ही आत्मैश्वर्य की स्थापना होती है।

वैष्णव साधक आते हैं। उनके सम्पर्क और प्रवचन मानवों में सन्तोष और आत्मसाद पुनः-पुनः प्रस्थापना करते हैं। साधक ने हैं। संसार के व्यासंग मानवों को असन्तोष की ओर प्रवृत्त करके उन्हें आत्म विहीन करने लगते हैं। साधक फिर आते विचलित मानवों को फिर सन्तोष और साधना के सुपावन पथ पर आरूढ़ क संन्यासियों अथवा परिव्राजकों के सतत की व्यवस्था का यही उद्देश्य था। पृथिवी नाक और सुपावन स्वर्ग बनाये रखने का प्रभावी साधन यही है।

प्रियतम अग्ने,
हों तेरे शत प्रत्यावर्तन,
हों तेरे सहस्र उपागमन।
और हमारे नष्ट पोष को
फिर से तू सम्पादन करदे।
और हमारे आत्मविभव को
पुनः तू सम्पादन करदे।

५२२ पुनरूर्जा नि वर्तस्व पुनरग्न इषायुषा। पुनर्नः पाह्यंहसः॥

[य १२.४०, सा १८३२] य १२.९

पुनः ऊर्जा नि वर्तस्व पुनः अग्ने इषा आयुषा। पुनः नः पाहि अंहसः।

अपनी विनय को जारी रखते हुए स्नेहाकुल जन कहे चले जारहे हैं—(अग्ने) अग्रणी [वैष्णव साधक] ! (ऊर्जा) उत्साह के साथ (पुनः नि वर्तस्व) पुनः लौट, फिर-फिर आ। (इषा आयुषा) इच्छाशक्ति और संजीवन से [युक्त करके] (नः) हमें (पुनः पुनः अंहसः पाहि) पुनः पुनः पाप से बचा।

विशाल विश्व को नाक बनाये रखने की साधना करनेवाला साधकवर्ग कभी निराश वा हताश नहीं होता है। साध की गुरुता उसे सदैव उत्साहित करती रहती है। उमंग और उत्साह से प्रपूरित रहता हुआ वह स्थान-स्थान पर बार-बार जाता है, आत्मा-आत्मा में इच्छाशक्ति करता है, जीवन-जीवन में संजीवन का करता है, मानवसमाज के प्रवाह को पाप की ओर मोड़ता है।

जब जनजीवन में धर्म और पुण्य की सा है, तब ही यह धरा नाक अथवा सुपाव बनी होती है। तद्विपरीत जब जनजीवन और पाप प्रविष्ट होजाता है तो यह पृथिवी घो बन जाती है। पृथिवी पर पुण्य का सतत प्रवाहित रखने के उद्देश्य से साधकवर्ग सर्व पुनः जाता है और मानवों को पापप्रवृत्त बचाता रहता है। वह मानवों की इच्छा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सचेत और उनके जीवनों को संजीवन से युक्त करके उन्हें पुण्य के सुपथ पर आरूढ़ रखता है।

उपयुक्त शिक्षोपदेश के अभाव में मानवों की इच्छाशक्ति दुर्बल होजाती है तो उनका संजीवन अथवा जीवनसत्त्व क्षीण होने लगता है। परिणाम-स्वरूप उनमें पाप के निराकरण की क्षमता का ह्रास होजाता है। साधकवर्ग सर्वत्र सोत्साह जन-जीवन में पुनः-पुनः इच्छाशक्ति तथा संजीवन का संचार करके मानवसमाजों को पुनः-पुनः पापमुक्त और पुण्ययुक्त रखने का सतत सुप्रयास करता रहता है।

अग्ने ! सोत्साह पुनः आ,
हमें युक्त कर इच्छाशक्ति, संजीवन से।
बचा पाप से हमें निरन्तर।

सूक्ति : **पुनर्नः पाह्यंहसः।**
पुनः-पुनः हमें बचा पाप से।

५२३ **सह रय्या नि वर्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया। विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि॥**
[य १२.४१, सा १८३३] य १२.१०
सह रय्या नि वर्तस्व अग्ने पिन्वस्व धारया। विश्व-प्स्न्या विश्वतः परि।

(अग्ने) अग्रणी [वैष्णव साधक] ! तू (रय्या सह) आत्मैश्वर्य के साथ (नि वर्तस्व) लौट, वापस आ, (विश्व-प्स्न्या धारया) सर्व-गति वाणी के साथ (विश्वतः परि पिन्वस्व) सर्वतः परिगमन कर।

भौतिक सम्पदा पृथिवी को स्वर्ग बनाती है तो आत्मैश्वर्य विश्व को नाक [आनन्दधाम] बनाता है। भौतिक सम्पदा मानव अपने पुरुषार्थ से सम्पादन कर लेते हैं। वह तो आत्मधन ही है जिसकी अपेक्षा वैष्णव साधक से की जाती है।

वैष्णव साधक आत्मैश्वर्य अथवा अध्यात्म-सम्पदा का धनी हो। उसकी वाणी हो सर्वगति, मानवजीवन से सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातों पर प्रकाश डालनेवाली। सर्वगति वाणी के द्वारा वह सर्वत्र पुनः-पुनः जाये और सर्व जनों में आत्म-विभवों का संचार तथा सर्वगत धर्मों का प्रचार-प्रसार करे।

अग्ने !
लौट आत्मैश्वर्यों सहित,
सर्वगता वाणी के साथ
परिभ्रमण कर विश्वतः।

५२४ **आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।**
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद् राष्ट्रमधि भ्रशत्॥
[ऋ १०.१७३.१, अ ६.८७.१] य १२.११
आ त्वा अहार्षम् अन्तः अभूः ध्रुवः तिष्ठ अ-वि-चाचलिः।
विशः त्वा सर्वाः वाञ्छन्तु मा त्वत् राष्ट्रम् अधि भ्रशत्।

विश्वतः परिभ्रण करता हुआ वैष्णव साधक जिस राष्ट्र में प्रवेश करता है, वही राष्ट्र उसे वहां की नागरिकता प्रदान करते हुए कहता है—

१) मैंने (त्वा आ अहार्षम्) तुझे आहरण—ग्रहण कर लिया है। मैंने तुझे अपना वरिष्ठ नागरिक बना लिया है।

२) तू (अन्तः अभूः) अन्तःस्थ होगया है। तू अब इस राष्ट्र का अन्तरङ्गभूत होगया है। तू इस राष्ट्र के लिये अन्यराष्ट्रीय नहीं स्वराष्ट्रीय है और इस देश के लिये विदेशीय नहीं स्वदेशीय है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

३) (ध्रुवः अ-वि-चाचलिः) ध्रुव और अविचल तू (तिष्ठ) ठहर। ध्रुवता और निश्चलता के साथ यहां स्थायी रूप से निवास कर।

४) इस राष्ट्र की (सर्वाः विशः) सब प्रजायें (त्वा वाञ्छन्तु) तुझे चाहें। यहां के समस्त नागरिक-नागरिका तुझे आत्मना अपना समझें। तुझे उनकी आत्मनिजता तथा प्रीति सम्यक् प्राप्त रहे।

५) (त्वत् राष्ट्रम् मा अधि भ्रशत्) तुझसे राष्ट्र भ्रष्ट न हो। तेरे मार्गदर्शन से हमारा यह राष्ट्र किसी भी प्रकार से अधःपतित न हो। तेरी उदात्त शिक्षाओं तथा प्रेरणाओं से यह राष्ट्र सन्तत उत्थानोन्मुख रहता हुआ पतन और गिरावट से सदा बचा रहे।

वैष्णव साधक के लिये सारी पृथिवी विष्णु का एक अखण्ड नाक है, प्रत्येक राष्ट्र उसका अपना राष्ट्र है और प्रत्येक देश उसकी अपनी मातृभूमि है। 'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः=अखण्ड भूमि मेरी माता है और मैं अखण्ड भूमि का हूं', यह उसका सार्वभौम उद्घोष है। सम्प्रदायों नहीं, अखिल विश्व का आर्यकरण उसका है। प्रत्येक देश और राष्ट्र को अपनाकर ही उद्देश्य पूरा किया जा सकेगा। आर्यत्व विशुद्ध मानवत्व की स्थापना ही इस पृथिवी नाक बनाये रख सकेगी।

मैंने तुझे ग्रहण कर लिया,
होगया है तू अन्तःस्थ,
ध्रुव अविचल ठहर यहां तू।
सकल प्रजायें तुझको चाहें,
तुझसे भ्रष्ट न हो यह राष्ट्र।

सूक्ति : **ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।**
ध्रुव और अविचल होकर संस्थित रह।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु।
तुझे सब प्रजायें चाहें।
मा त्वद् राष्ट्रमधि भ्रशत्।
तुझसे राष्ट्र भ्रष्ट न हो।

५२५ **उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।**
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥

[ऋ १.२४.१५, सा ५८९, अ ७.८३.३,१८.४.६९] य १२.१२

उत् उत्-तमम् वरुण पाशम् अस्मत् अव अधमम् वि मध्यमम् श्रथय।
अथ वयम् आदित्य व्रते तव अन्-आगसः अदितये स्याम।

नागरिकतार्पण-समारोह में वैष्णव साधक के प्रति जनसम्बोधन को जारी रखते हुए कहा जारहा है—

१) (वरुण)! (अस्मत्) हमसे (उत्-तमम् पाशम्) उच्चतम पाश को (उत् श्रथाय) ऊपर शिथिल करदे, (अधमम् पाशम्) निम्नतम बन्धन को (अव श्रथाय) नीचे गिरादे, (मध्यमम् पाशम्) मध्यम जकड़न को (वि श्रथाय) विच्छिन्न करदे।

यहां वैष्णव साधक के लिये वरुण शब्द का प्रयोग हुआ है। वरणीयताओं से, वरणीय गुणों से जो युक्त हो उसकी वरुण संज्ञा है। वरुण अर्थ है वरण करनेवाला, पाशविमोचक, बन्ध मुक्त करनेवाला। वरण करके पाशमुक्त करने वरणीयताओं से युक्त करने में ही वरुण वरणीयता है। वरुण है ही वह जो मानव को अपनाकर विनाशकारी और डुबानेवाले बन्ध से मुक्त करे और उन्हें वरणीय गुण-कर्म-स्व से युक्त करे।

तीन पाशें हैं जिनसे बद्ध होकर मानव

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

स्वर्ग को नरक बना लेती है और दुःखसागर में डूबती चली जाती है। उच्चतम पाश है मस्तिष्क में, मध्यम पाश है हृदय में, निम्नतम पाश है उपस्थ/भग में। मस्तिष्क की पाश है भ्रम-भ्रान्ति। हृदय की पाश है भय। उपस्थ/भग की पाश है काम-भोग। निर्भ्रम—निर्भ्रान्ति होने पर ही मानव निर्भय होते हैं। निर्भ्रम—निर्भ्रान्त होने पर ही वे भोगरहित होते हैं। भ्रम, भय, भोग से मुक्त होकर ही नागरिक स्व-स्व राष्ट्र की उन्नति तथा उच्च स्थिति कर पाते हैं। वरुण साधक सदुपदेश और प्रशिक्षण द्वारा राष्ट्र-राष्ट्र के नागरिकों की तीनों पाशों को खोलकर उन्हें पाशमुक्त करते हैं। और तब वे अपने-अपने राष्ट्र को सुन्दर नाक बनाते हैं। राष्ट्र-राष्ट्र करके सारी पृथिवी नाक बनी रहती है।

२) (अथ) और, अनन्तर, (आदित्य)! (अदितये) अदिति के लिये (वयम्) हम (तव व्रते) तेरे अनुशासन में (अनागसः) निष्पाप (स्याम) हों, रहें।

अदिति नाम अखण्ड पृथिवी का है। अदिति का पुत्र अथवा सम्पूर्ण पृथिवी का नागरिक होने से साधक को आदित्य कहा गया है।

जिस प्रकार गृह-गृह और परिवार-परिवार करके एक ग्राम बसा हुआ होता है, उसी प्रकार देश-देश और राष्ट्र-राष्ट्र करके यह अदिति [अखण्ड पृथिवी] बसी हुई है। प्रत्येक देश अदितिग्राम का एक गृह है और प्रत्येक राष्ट्र देशगृह में निवास करनेवाला एक परिवार है—इस भावना से भावित होकर उत्तम पड़ोसियों की तरह जब पृथिवीवासी सब राष्ट्र परस्पर व्यवहार करते हैं, तब ही इस अदिति-नाक पर सुख, शान्ति और आनन्द की सरितायें बहती हैं। आदित्य साधक को इस सार्वभौम साध की सतत साधना करते रहना है और इसी लिये प्रत्येक राष्ट्र उसे अपना नागरिक बना रहा है। प्रत्येक राष्ट्र के नागरिक जहां सर्वथा निष्पाप रहते हुए अपने देश को सजायें, वहां वे सम्पूर्ण पृथिवी के संविकास को भी दृष्टि में रखें। देश-देश को सजाकर ही सम्पूर्ण अदिति को सजाया जा सकेगा। ऐसी प्रस्थापनाओं की स्थापना करता हुआ आदित्य साधक राष्ट्र-राष्ट्र को अदिति के व्रत में अनुशासनबद्ध करता चला जारहा है।

तीनों पाशों से मुक्त रहकर ही राष्ट्र-राष्ट्र के नागरिक निष्पाप बनते हैं और निष्पाप नागरिक ही अदितिव्रती तथा अनुशासनबद्ध रहते हैं। निष्पाप नागरिक ही अपराध नहीं करते। जहां पाप नहीं होता, वहीं अपराध नहीं होते। पाप और अपराध से मुक्त होकर ही अदिति दिव्य स्वर्ग बनेगी।

उत्तम मध्यम अधम पाश को,
वरुण, यथास्थान खोलदे।
और, आदित्य, अदिति के लिये
तेरे व्रतानुशासन में
हम निष्पाप रहें अदिति पर।

५२६ **अग्रे बृहन्नुषसामूर्ध्वो अस्थान्निर्जगन्वान् तमसो ज्योतिषागात्।**
अग्निर्भानुना रुशता स्वङ्ग आ जातो विश्वा सह्मान्यप्राः॥
[ऋ १०.१.१] य १२.१३

अग्रे बृहन् उषसाम् ऊर्ध्वः अस्थात् निः-जगन्वान् तमसः ज्योतिषा आ अगात्।
अग्निः भानुना रुशता सु-अङ्गः आ जातः विश्वा सह्मानि अप्राः।

१) (सु-अङ्गः बृहन् अग्निः) शोभन-अंग व्यापक अग्नि (उषसाम् अग्रे ऊर्ध्वः अस्थात्) उषाओं के अग्र में और ऊपर स्थित होगया है। २) वह (तमसः निः-जगन्वान्) अन्धकार से बाहर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

निकलता हुआ (ज्योतिषा आ अगात्) ज्योति के साथ आगया/जगमगाया।

३) (रुशता भानुना जातः) दीप्त प्रकाश के साथ प्रकट होकर [उसने] (विश्वा सद्मानि आ अप्राः) समस्त सदनों–गृहों को पूर दिया।

वैष्णव साधकों की राष्ट्रशः संसाधना से पृथिवीस्थ समस्त राष्ट्रों की मानव-प्रजायें तीनों पाशों से उन्मुक्त और पाप अपराधों से सर्वथा वियुक्त होगयी हैं। पृथिवी पर से आसुरी माया तिरोहित होगयी है। अदिति पर अध्यात्म के उस अग्नि का प्रकाशन होगया है जो मानव-उषाओं, प्रबुद्ध मानव-प्रजाओं की आंखों के आगे और ऊपर मस्तिष्क में जगमगा रहा है, जिसने अपने शोभन अंगों से जगती के अंग-अंग को सुन्दर—शोभन बना दिया है, जिसने ऊपर उदित होकर विश्व को ज्योतिष्मान दिया है। उस अध्यात्माग्नि ने अपने दीप्त से प्रकाशित होकर पृथिवी पर के सम्पूर्ण गृहों को अपनी आभा से आपूर भर दिया है।

शोभनांग व्यापक अग्नि
उषाओं के ऊपर
संस्थित होकर,
तम से बाहर निकलते हुए
ज्योतिसहित जगमगा रहा है।
होकर प्रकट दीप्त प्रकाश से
सब सदनों को पूर दिया है।

५२७ हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद् वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्॥

[ऋ ४.४०.५, य १०.२४] य १२.१४

हंसः शुचि-सत् वसुः अन्तरिक्ष-सत् होता वेदि-सत् अतिथिः दुरोण-सत्।
नृ-सत् वर-सत् ऋत-सत् व्योम-सत् अप्-जाः गो-जाः ऋत-जाः अद्रि-जाः ऋतम् बृहत्।

वैष्णव साधकों की राष्ट्रशः साधना दिव्य फल लायी है। सम्पूर्ण पृथिवी पर अध्यात्माग्नि प्रकाश रहा है। जो वैष्णव साधक जिस देश में जाता है उसी राष्ट्र के नागरिक-नागरिका उसका अभिनन्दन करते हुए कहते हैं—

१) तू (हंसः) हंस है (शुचि-सत्) पवित्रता में स्थित। तू हंस के समान नितान्त श्वेत, शुद्ध, निर्मल है।

२) तू (वसुः) वसु [धन] है (अन्तरिक्ष-सत्) अन्तरिक्ष में स्थित। तू विश्वगगन का वह वसु है, जिसने अन्तरिक्षस्थ सूर्य के समान सारी पृथिवी को प्रकाशित और चन्द्र के समान सम्पूर्ण पृथिवी को ज्योतिर्मय कर दिया है।

३) तू (होता) होता है (वेदि-सत्) वेदि-स्थ। तू आत्मवेदि पर स्थित विश्व-यज्ञ का वह होता है जो अनवरत तत्परता के साथ राष्ट्र-राष्ट्र का निरीक्षण तथा संशोधन करता रहता है।

४) तू (अतिथिः) सतत गमन—भ्रमण करता अतिथि है—

[क] (द्रोण-सत्) गृहों में स्थित, घर-घर में प्रतिष्ठित।

[ख] (नृ-सत्) नरों में स्थित, सर्वसाधारण नारियों के मानसों में बसा हुआ।

[ग] (वर-सत्) वरों—श्रेष्ठों में स्थित, वरणीय का प्रेमपात्र।

[घ] (ऋत-सत्) ऋतों—ऋताचारों—सदाचारों और सदाचारियों में प्रतिष्ठित।

[च] (व्योम-सत्) हृदयव्योमों में स्थित, हृदय में विराजमान।

[छ] (अप्-जाः) जलों में प्रादुर्भूत कमल, कारण-भव-जल से ऊपर उठा हुआ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ज] (गो-जाः) रश्मिपुञ्ज सूर्य, ज्ञान-विज्ञान का काशक।

भ] (ऋत-जाः) सत्य-जा, असत्य से मुक्त और सत्य युक्त।

ट] (अद्रि-जाः) मेघ—पर्वत-जा, मेघ के समान र्षक और पर्वत के समान उच्च, विवेक की वृष्टि करनेवाला और अपने व्यक्तित्व से हान्।

ठ] (ऋतम् बृहत्) ऋत महत्, अनुशासन और कर्तव्यनिष्ठा का महान् प्रतीक।

हंस शुचिता में स्थित,
वसु अन्तरिक्ष में स्थित,
होता वेदि पर स्थित,
अतिथि गृहों में स्थित,
नरों में स्थित, वरों में स्थित,
ऋतों में स्थित, व्योमों में स्थित,
जलजा, रश्मिजा, सत्यजा, अद्रिजा,
ऋत महान्।

५२८ सीद त्वं मातुरस्या उपस्थे विश्वान्यग्ने वयुनानि विद्वान्।
मैनां तपसा मार्चिषाभि शोचीरन्तरस्यां शुक्रज्योतिर्वि भाहि ॥ य १२.१५

सीद त्वम् मातुः अस्याः उप-स्थे विश्वानि अग्ने वयुनानि विद्वान्।
मा एनाम् तपसा मा अर्चिषा अभि शोचीः अन्तः अस्याम् शुक्र-ज्योतिः वि भाहि।

ष्णव साधक जिस देश में जाता है, उसी राष्ट्र ो नागरिकता उसे प्रदान की जाती है। इस कार प्रत्येक देश उसका अपना देश है और प्रत्येक ाष्ट्र उसका अपना राष्ट्र है। अभिनन्दन के साथ त्येक देश उससे विनय करता है—

) (अग्ने) ज्ञानिन्! (त्वम् विश्वानि वयुनानि द्वान्) तू सब गतियों—प्रज्ञानों को जानता हुआ अस्याः मातुः) इस माता की, इस मातृभूमि की उप-स्थे) गोद में (सीद) बैठ, विराज, निवास र।

वयुन नाम गति, चेष्टा और प्रज्ञान का है। त्येक नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह अपनी ातृभूमि और राष्ट्र की प्रत्येक गति और चेष्टा या घटनाचक्र को जानता-समझता हुआ अपने ान से देश और राष्ट्र की सुसेवा तथा सुरक्षा करे और उनकी समस्याओं का समाधान करे।

२) (एनाम्) इसको, इस मातृभूमि को (मा तपसा मा अर्चिषा) न तप से, न तेज से (अभि शोचीः) सन्तप्त कर।

तप और तेज से युक्त नागरिक जब अपनी मातृभूमि को त्यागता है तो वह सन्तप्त होती है और प्रजा विह्वल होकर उससे अपने देश में ठहरे रहने को कहती है—(शुक्र-ज्योतिः) शुद्ध ज्योति से युक्त तू (अस्याम् अन्तः) इसके भीतर, इस मातृभूमि में (वि भाहि) जगमगा।

ज्ञानिन्!
सब वयुनों को जानता हुआ,
बैठ इस माता की सुगोद में।
इसको कर सन्तप्त न तप से न तेज से,
शुक्रज्योति तू सदा जगमगा इसके भीतर।

५२९ अन्तरग्ने रुचा त्वमुखायाः सदने स्वे। तस्यास्त्वं हरसा तपञ्जातवेदः शिवो भव ॥ य १२.१६

अन्तः अग्ने रुचा त्वम् उखायाः सदने स्वे। तस्याः त्वम् हरसा तपन् जात-वेदः शिवः भव।

नी विनय को जारी रखते हुए सम्बद्ध देश ष्णव साधक के प्रति कहे चला जारहा है—

१) (जात-वेदः अग्ने) सर्वज्ञ ज्ञानिन्! (त्वम् उखायाः अन्तः) तू उखा के भीतर (स्वे सदने)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अपने सदन में (रुचा) शोभनीयता के साथ [निवास कर]।

जातमात्र को, जो कुछ है उस सबको जाननेवाला होने से वैष्णव साधक जातवेदाः कहा गया है।

उखा नाम मिट्टी की हांडी का है। यहां इस शब्द का प्रयोग साधक के पार्थिव शरीर के लिये हुआ है। यह उखा ही साधक का अपना सदन—गृह है। उखारूपी स्व सदन में साधक आत्मना शोभनीयता के साथ निवास करे, कुशलतापूर्वक रहे—यह अतीव सुन्दर मनोकामनायुक्त विनय है।

२) (तस्याः) उस [उखा] के (हरसा) प्रज्वलन से, ज्वलन्त तेज से (तपन्) तपता हुआ (त्वम् शिवः भव) तू कल्याणकारी हो।

तेजःपुञ्ज जीवन के प्रदीप्त तेज से हुआ, साधक प्रत्येक देश और राष्ट्र के मंगलकारी होगा ही।

सर्वज्ञ ज्ञानिन्,
तू उखा के भीतर,
आत्मसदन में
रह शोभनीयता के साथ।
तपता हुआ तेज से उसके
हो तू मंगलकारी।

सूक्ति : शिवो भव।
कल्याणकारी हो।

५३० शिवो भूत्वा मह्यमग्ने अथो सीद शिवस्त्वम्।
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः॥ य १२.१७

शिवः भूत्वा मह्यम् अग्ने अथो सीद शिवः त्वम्।
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वम् योनिम् इह आ असदः।

वैष्णव साधक के प्रति प्रत्येक देश की यह गुहार है—

१) (अथो) और, (अग्ने) ज्ञानिन्! प्रकाशपुञ्ज! (शिवः त्वम्) कल्याणकारी तू (मह्यम्) मेरे लिये, मुझ इस देश के लिये (शिवः भूत्वा) कल्याणकारी होकर [यहां, इस देश में] (सीद) स्थित रह।

२) (सर्वाः दिशः शिवाः कृत्वा) सब दिशाओं को कल्याणकारिणी बनाकर (स्वम् योनिम्) अपने जीवन को (इह) यहां, इस देश में ही (आ असदः) स्थित किये रह।

साधक सब दिशा-विदिशाओं में जाये, देश-देशान्तरों की प्रजाओं का कल्याण करे। उसका जीवन सार्वभौम है। वह सम्पूर्ण हित सम्पादन करे। किन्तु प्रत्येक देश चाहे है कि वह अपना स्थायी निवास उस देश रखे।

और विवेकिन्,
शिव तू, मेरे लिये होकर
शिव विराज यहां ही।
सकल दिशाओं को करके शिव,
अपना जीवन यहीं स्थित रख।

५३१ दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः।
तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः॥
[ऋ १०.४५.१]
य १२.१८

दिवः परि प्रथमम् जज्ञे अग्निः अस्मत् द्वितीयम् परि जात-वेदाः।
तृतीयम् अप्-सु नृ-मनाः अ-जस्रम् इन्धानः एनम् जरते सु-आधीः।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हां से वैष्णव साधकों की अध्यात्मवार्ता का ारम्भ होता है। प्रत्येक साधक देव सविता के न्दर नाक में देश-देश की जनता को अध्यात्म-धा का इस प्रकार पान कराता है—

) (नृ-मनाः जात-वेदाः अग्निः) नृ-मना जात-वेदा ाग्नि (जज्ञे) प्रकट हुआ करता है (प्रथमम्) प्रथम दिवः परि) द्यौ से सब ओर, (द्वितीयम्) दूसरे अस्मत्) हमसे (परि) सब ओर, (तृतीयम्) तीसरे अप्सु) कर्मप्रवाहों में।

:) (सु-आधीः) सु-ध्यानी, सु-चेता (एनम्) इस अग्नि] को (अ-जस्रम्) निरन्तर (इन्धानः) प्रज्व-लित—प्रकाशित करता हुआ (जरते) स्तुतता है, तुति करता है।

एक अग्नि है जो नृ-मनाः और जात-वेदाः है। ृ-मनाः का अर्थ है मन में नृम्ण—संबल का संचार करनेवाला। जात-वेदाः का अर्थ है जातमात्र को, ो कुछ है उस सबको सम्यक् जाननेवाला, सर्वज्ञ। त्यक्षतः ऐसा वह अग्नि ब्रह्माग्नि ही है। स्तुति, ार्थना और उपासना के द्वारा उस अग्नि के ीवन से मानव नृम्ण-मन तथा सर्वज्ञाता बनता ै। (1)

नृमना जातवेदा अग्नि प्रथम द्यौ से सब ओर ाकट होता है। मानवजीवन में मस्तिष्क द्यौ है, न्तःकरण अन्तरिक्ष है और नाभि से नीचे का ोक पृथिवी अथवा भूमि है। मस्तिष्क में ध्यान ो स्थिर करके आत्म-अवस्थित अथवा समाधिस्थ ोने पर ब्रह्माग्नि का साक्षात्कार होता है। इस ाकार ब्रह्माग्नि का प्रकाशन सर्वप्रथम मानव-द्यौ [मस्तिष्क] से होता है और उसी के आश्रय से ब्रह्मविज्ञान सब ओर प्रकाशित किया जाता है।

(2) 'अस्मत्' से तात्पर्य यहां 'हम वैष्णव साधकों से' है। हम वैष्णव साधक और वैष्णव जन ब्रह्म-विज्ञान को अपने सब ओर प्रचारित तथा प्रसारित करते हैं।

फिर उस ब्रह्माग्नि को कर्मप्रवाहों में प्रकट—प्रयुक्त किया जाता है। कर्मप्रयुक्त होने में ही ज्ञान-विज्ञान की सार्थकता है। ब्रह्माग्नि केवल हमारी वाणी और दृष्टि का विषय न रहकर, जनजीवन के व्यवहार का अंग होना चाहिए।

सुध्यानी सुचेता योगी स्तुति, प्रार्थना और उपासना द्वारा ब्रह्माग्नि को निरन्तर प्रज्वलित रखता है। स्तुति—स्तवन ब्रह्माग्नि के प्रज्वलन—प्रकाशन का सर्वोत्तम साधन है।

प्रकट हुआ करता है नृमन
और जातवेदा ब्रह्माग्नि
प्रथम द्यौ से सब ओर
फिर हमसे सब ओर और फिर
कर्मों के प्रवाहों में।
सुध्यानी इसको निरन्तर
सुप्रकाशित रखता हुआ
है स्तुतता।

सूक्ति : **एनं जरते स्वाधीः।**
सुध्यानी इसको स्तुतता है।
सुचेता इसका स्तवन करता है।

५३२ **विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रा।**
विद्मा ते नाम परमं गुहा यद् विद्मा तमुत्सं यत आजगन्थ॥
[ऋ १०.४५.२] य १२.१९

विद्म ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्म ते धाम वि-भृता पुरु-त्रा।
विद्म ते नाम परमम् गुहा यत् विद्म तम् उत्सम् यतः आ-जगन्थ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भावातिरेक में यहां वैष्णव साधक स्वयं ब्रह्माग्नि को सम्बोधन करने लगता है—

१) (अग्ने) ब्रह्माग्ने ! हम (ते त्रेधा त्रयाणि) तेरे तीन प्रकार के तीनों [रूपों] को (विद्म) जानते हैं।

ब्रह्माग्नि के तीन रूप हैं और तीनों ही रूप भिन्न-भिन्न हैं।

ब्रह्माग्नि का प्रथम रूप है प्राकृत जगत् में जगमगाता हुआ उसका जमाल [सौन्दर्य, अभिश्री] और कमाल [कौशल]। ज्ञानी जन हर रचना में प्रभु के कमाल का और हर सौन्दर्य में उसकी अभिश्री का अवलोकन करते हैं। देखनेवाले को प्रकृति की प्रत्येक कृति में प्रकर्ता का अलौकिक कौशल और सौन्दर्य दिखाई देता है।

इसका दूसरा है वह विराट् रूप जिसमें अखिल विश्व ब्रह्म से ओत-प्रोत और एकरूप दिखायी पड़ता है, जिसका अवलोकन करके ध्यानी धीर जन प्रगान करने लगते हैं—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते। तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ य ३१.१९

प्रजापति विचर रहा भीतर हिरण्यगर्भ के,
अप्रकट रहता हुआ बहुधा होरहा प्रकट।
उसकी योनि को सब ओर देख रहे धीर,
उसमें ही स्थित हैं ये भुवन सब।

वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥ य ३२.८

ध्यानियों ने देखा तत् सत् को
अन्तःगुहा में निहित,
जहां होरहा अखिल विश्व एक-नीड।
उसी में होरहा है यह सब संयोग-वियोग,
वही विभु होरहा है प्रजाओं में ओत-प्रोत।

उसका तीसरा है प्रकृति और प्राकृत से पृथक् और परे वह निखिल निज रूप, समाधि-अवस्था में जिसका प्रत्यक्ष सन्दर्शन करके सिद्ध जन पुकार उठते हैं—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ य ३१.१८

जानता हूं मैं इस महान् आदित्यवर्ण पुरुष को
है जो प्रकृतिरूप तम से परे।
उसी को जानकर करता है मृत्यु को पार,
नहीं है अन्य पथ अमरत्व के लिये।

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम्। तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ऋ ९.११३.७

जहां ज्योति अजस्र, जिस लोक में निहित अ
रख मुझे संस्थित उस अमृत अक्षय लोक में,
कर परि-स्रवण आत्मेन्दु ब्रह्मेन्द्राय विहर।

ब्रह्म का निज लोक वह लोक है जिसमें
ज्योति और आनन्द है—भौतिक लेशमात्र
नहीं। वहां आत्मा ब्रह्मविहार करता है।

२) हम (ते पुरु-त्रा वि-भृता धाम विद्म) तेरे
वि-धारक धामों को जानते हैं।

विश्व-भुवन में ये असंख्य लोकलोकान्तर
विविध सम्पदाओं को धारण किये
ब्रह्माग्नि के बहुत्र विधारक धाम हैं।

३) (ते यत्) तेरा जो (परमम्, गुहा नाम) परम
स्थित—गुह्य नाम है, हम उसे (विद्म) जानते

ओम् ही ब्रह्माग्नि का परम गुह्य
यही नाम वैष्णव साधकों की साधना
सिद्ध आधार है।

४) हम (तम् उत्सम् विद्म) उस उत्स को
हैं, तू (यतः) जहां से (आ-जगन्थ) प्राप्त
करता है।

उत्स नाम गहरे जलस्रोत का है। गहरे
को इसीलिये उत्स कहते हैं। समुद्र के उस
भी उत्स कहते हैं जहां जल बहुत गहरा है
ब्रह्म की प्राप्ति के लिये साधक को अन्त
गहन गहराई में प्रवेश करना होता है। अन्त

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

की गहराई में ही उसका सन्दर्शन होता है।

अग्ने, जानते हैं हम तेरे त्रेधा त्रिरूपों को,
जानते हैं हम तेरे विधारक बहुधा धामों को,
तेरा जो परम गुह्य नाम, जानते हैं हम उसे,
जानते हैं हम उस गहन स्रोत को,
जहां से तू हुआ करता है सम्प्राप्त।

५३३ समुद्रे त्वा नृमणा अप्स्वन्तर्नृ चक्षा ईधे दिवो अग्न ऊधन्।
तृतीये त्वा रजसि तस्थिवांसमपामुपस्थे महिषा अवर्धन्॥
[ऋ १०.४५.३] य १२.२०

समुद्रे त्वा नृ-मनाः अप्-सु अन्तः नृ-चक्षाः ईधे दिवः अग्ने ऊधन्।
तृतीये त्वा रजसि तस्थिवांसम् अपाम् उप-स्थे महिषाः अवर्धन्॥

ग्राह्य सम्बोधन को जारी रखते हुए वैष्णव साधक कहे चले जारहे हैं—

१) (अग्ने) ब्रह्माग्ने! सुन्दर देव! सौन्दर्य-वाल! (त्वा ईधे) तुझे प्रज्वलित—प्रकाशित किया करता है (नृ-मनाः समुद्रे अप्सु अन्तः) नृमना समुद्र में तरंगों के भीतर, (नृ-चक्षाः दिवः ऊधन्) नृचक्षा द्यौ—ज्ञानप्रकाश के ऊध में।

नृमणा शब्द का प्रयोग इस मन्त्र में मानसिक बल—संबल से युक्त जन के लिये हुआ है। समुद्र शब्द का प्रयोग यहां हुआ है हृदय-सागर के लिये और जलवाचक 'आपः' का तरंगों के अर्थ में।

नृचक्षाः=नृ-चक्षाः, नरों—मानवों को तत्त्व का ईक्षण—दर्शन करानेवाला ज्ञानी—दार्शनिक जन। ऊध धाम है-दुधारु पशु के दुग्धाधार अथवा वाखु का।

मनोबल से युक्त भक्त जनों के हृदयसागर में जब प्रभुभक्ति की तरंगें उठती हैं, तब वे अपने मानस में ब्रह्माग्नि का, प्रेम-ऊष्मा के रूप में, अनुवेदन—प्रज्वलन करते हैं।

दार्शनिक जन अपने मस्तिष्करूपो ज्ञान-प्रकाश के ऊध में चिन्तन तथा ध्यान के आश्रय से मन्थन करके ब्रह्माग्नि के स्वरूप का अनुवेदन—प्रकाशन करते हैं।

२) (महिषाः) महा-जनों ने (अवर्धन्) बढ़ाया—व्यापा (तृतीये रजसि तस्थिवांसम् त्वा) तीसरे लोक में स्थित तुझे (अपाम् उपस्थे) कर्मप्रवाहों के उपस्थान—क्षेत्र में।

रजः लोक—धाम तीन हैं—प्रकृति का सत्, आत्मा का चित् और ब्रह्म का आनन्द। प्रकृति तथा प्राकृत सब सत् है, सत्तामात्र है, चेतनाशून्य है, जड़ है। आत्मा चित् है, चेतनामय है। ब्रह्म आनन्द है, आनन्दमय है।

महा-जन, महान् योगी, ब्रह्माग्नि का साक्षात्कार करके ब्रह्मानन्द में विचरते हुए और कर्मों का, कर्म-प्रवाहों का, कर्मसाधनाओं का प्रवहन करते हुए संसार में उसकी महिमा की संवृद्धि अथवा व्याप्ति करते हैं और आस्तिकता का प्रचार—प्रसार करके विश्व में प्रभु के राज्य की प्रस्थापना करते हैं।

अग्ने! करते हैं तुझे प्रज्वलित,
नृमना समुद्र में तरंगों के भीतर,
और नृचक्षा द्यौ के ऊध में।
महा-जन व्यापा करते हैं
तृतीय लोक में स्थित तुझे
कर्मों के क्षेत्र में।

५३४ अक्रन्ददग्निः स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद् वीरुधः समञ्जन्।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धो अख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः॥
[ऋ १०.४५.४, य १२.६, १२.३३] य १२.२१

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अक्रन्दत् अग्निः स्तनयन्-इव द्यौः क्षामा रेरिहत् वीरुधः सम्-अञ्जन् ।
सद्यः जज्ञानः वि हि ईम् इद्धः अख्यत् आ रोदसी भानुना भाति अन्तः ।

इस प्रकार ब्रह्माग्नि को सम्बोधन करके प्रत्येक (अग्निः) अग्रणी वैष्णव साधक ने (सद्यः हि जज्ञानः) अविलम्ब ही प्रकट—प्रकाशित होकर, (इद्धः) प्रबुद्ध होकर, पुनः (ईम्) इस [विश्व, मानवप्रजा] को (वि अख्यत्) उपदेशा ।

पुनः उत्प्रेरित होकर प्रत्येक (अग्निः) अग्रणी वैष्णव साधक ने (द्यौः स्तनयन्-इव) द्यौ के समान गर्जते हुए (क्षामा) पृथिवी को, पृथिवीस्थ मानव-प्रजा को (रेरिहत्) अपनाया, (वीरुधः) जीवन-लताओं को (सम्-अञ्जन्) प्रकाशित हुए (अक्रन्दत्) करुण सम्बोधन किया ।

परिणामस्वरूप वह (रोदसी अन्तः) पृथिवी के मध्य (भानुना आ भाति) जगमगा रहा है, आत्मप्रकाश से प्रकाश रहा है ।

[व्याख्या और पद्यानुवाद देखिये य १२ नीचे ।]

५३५ **श्रीणामुदारो धरुणो रयीणां मनीषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः ।**
वसुः सूनुः सहसो अप्सु राजा वि भात्यग्र उषसामिधानः ॥

[ऋ १०.४५.५] य १२.२२

श्रीणाम् उत्-आरः धरुणः रयीणाम् मनीषाणाम् प्र-अर्पणः सोम-गोपाः ।
वसुः सूनुः सहसः अप्-सु राजा वि भाति अग्रे उषसाम् इधानः ।

करुण क्रन्दन करते हुए प्रत्येक वैष्णव साधक सर्वत्र सर्व मानवों को जीवन का राजपथ दर्शाते हैं—

१) (राजा श्रीणाम् उत्-आरः) राजा श्रियों का/में उदार ।

जीवन के राजपथ पर चलनेवाला मानव ही राजा है । राजा वा रानी है ही वह जो अन्ध पथ पर नहीं, राजपथ पर चलता हो । राजपथ पर चलनेवाला श्रियों में उदार होता है । श्री नाम ऐश्वर्य और सौन्दर्य का है । ऐश्वर्यों में उदार [मुक्त हस्त से दान करनेवाला] और सौन्दर्य में उत्-आर [उत्कृष्ट आचार से युक्त रहनेवाला, उच्चता की ओर गमन करनेवाला] निस्सन्देह राजपथगामी सच्चा राजा है ।

२) (राजा रयीणाम् धरुणः) राजा आत्मैश्वर्यों का धारक—धनी ।

भौतिक ऐश्वर्यों के साथ आत्मिक ऐश्वर्यों का जहां संयोग नहीं रहता है, वहां आचारहीनता व्यापती है और परिणामस्वरूप अध्यात्म का ह्रास होकर सर्वविध क्षति होती है । राजपथगामी के लिये आत्मैश्वर्यों का संधारण नितान्त आवश्यक है । सच्चा राजा वही है जो आध्यात्मिक ऐश्वर्यों का धनी है ।

३) (राजा मनीषाणाम् प्रार्पणः) राजा मनीषाओं का प्राप्त करानेवाला ।

राजा वह नहीं है जो संसार में कुमति, भ्रम-भ्रान्तियों को फैलाता है । राजा वह है जो विश्व में प्रज्ञाओं का, सद्बुद्धियों और सद्विवेक का प्रचार करके मानवप्रजा को सद्विवेकी बनाता है ।

४) (राजा सोम-गोपाः) राजा सोमों की रक्षा करनेवाला ।

सोम शब्द का प्रयोग यहां मानवीय सोम्य मानवीय भद्रताओं अथवा मानवीय आनन्द के लिये हुआ है । संयम, सहानुभूति, सहृदयता, शालीनता, सदाचार, सुशीलता, प्रभुभक्ति

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

चरण, मधुरता, प्रेम, सेवा, प्रियता, प्रसन्नता, सत्यनिष्ठा, अर्थशुचिता, पवित्रता, आत्मसाधना, सुविचार, शिष्टाचार, उदारता, दया, न्याय, जितेन्द्रियता, दाम्पत्यशुचिता, देशप्रेम, विश्वहित, परोपकारभावना आदि मानवीय भद्रताओं की जो रक्षा करता है, वह आदर्श राजा है।

५) (राजा वसुः) राजा वासयिता।

राजा वह नहीं है जो बसे खेड़ों को उजाड़ता है। राजा वह है जो उजड़े खेड़ों को आबाद करता है।

६) (राजा सहसः सूनुः) राजा बल का प्रेरक।

जिसकी प्रेरणा से बल का संचार होता है, जो निर्बलों में बल की प्रबल प्रेरणा करता है, वह राजा है।

७) (राजा) राजा (उषसाम् अग्रे) उषाओं के अग्र में, उषाओं के पूर्व (इधानः) प्रज्वलित होकर (अप्सु वि भाति) प्रजाओं में प्रकाशता है।

जो प्रतिदिन उषाओं के आने से पहले मानव-प्रजाओं में जगमगाता है, वह राजा है। उषाओं के आगमन से पूर्व ही ध्यान, व्यायाम, प्राणायाम, स्वाध्याय आदि से निवृत्त होकर जो जनता के हित के लिये साधरत होजाता है, वह अग्नि के समान प्रज्वलित और सूर्य के समान प्रकाशित होकर मानवों में ब्रह्मतेज से जगमगाता है।

राजा श्रियों में उदार,
रयियों का धारक,
प्रापक प्रज्ञाओं का,
वासयिता, रक्षक सोमों का,
बल का प्रेरक,
उषाओं के पूर्व
प्रज्वलित होकर,
प्रजाओं में है प्रकाशता।

५३६ विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भ आ रोदसी अपृणाज्जायमानः।
वीडुं चिदद्रिमभिनत् परायञ्जना यदग्निमयजन्त पञ्च॥
[ऋ १०.४५.६] य १२.२३

विश्वस्य केतुः भुवनस्य गर्भः आ रोदसो अपृणात् जायमानः।
वीडुम् चित् अद्रिम् अभिनत् परा-यन् जनाः यत् अग्निम् अयजन्त पञ्च।

जीवन के राजपथ पर चलते हुए (यत्) जब (पञ्च जनाः) पञ्च जनों ने (अग्निम्) अग्नि को (अयजन्त) यजा, संगत किया, अपनाया, (विश्वस्य भुवनस्य गर्भः केतुः) अखिल भुवन [विश्व] के धारक प्रज्ञान ने (जायमानः) प्रकट—काशित होकर (रोदसी आ अपृणात्) रोदसी को पूर्णतः पूर-दिया, (परा-यन्) परे/दूर-दूर पहुंचते हुए (वीडुम् अद्रिम् चित्) अटूट अद्रि को (अभिनत्) तोड़ दिया, टुकड़े-टुकड़े कर दिया।

माता, पिता, आचार्य, पुरोहित और अतिथि—पंच जन हैं, जो वैदिक समाजव्यवस्था और जीवन के राजपथ के प्रवर्तक हैं।

अग्नि शब्द का प्रयोग उस विवेकाग्नि के लिये हुआ है, राजपथ पर चलने के लिये जिसकी नितान्त अनिवार्यता है। विवेकाग्नि निस्सन्देह अखिल भुवन [भूलोक] का संधारक और प्रज्ञापक है। विवेक ही है जिससे विश्व का यथावत् संचालन और मानवसमाज को याथातथ्य बोध होता है।

रोदसी हैं मस्तिष्करूपी द्यौ और हृदयरूपी अन्तरिक्ष।

अदीर्ण—अटूट होने से पर्वत का नाम अद्रि है। अद्रि शब्द का प्रयोग मन्त्र में अभेद्य कठिनाई वा बाधा के अर्थ में हुआ है।

जिस समाज वा राष्ट्र के पंच जन विवेकाग्नि

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

से युक्त होते हैं, वहां अखिल विश्व को धारण करने और सहारने—सुधारने वाला प्रज्ञान प्रकाशता है। उस प्रज्ञान से जन-जन का मस्तिष्क और हृदय आपूर भरा रहता है और उस समाज में सब जन कठिन से कठिन परिस्थितियों तथा आपत्तियों को वेधकर जीवन के राजपथ पर अग्रसर रहते हैं और वे दूर-दूर पहुंच कर विश्व में वैदिकता तथा आर्यता की प्रस्थापना करते हैं।

पंच जनों ने जब अग्नि को
किया संगत,
विश्व भुवन के सम्यक् धारक प्रज्ञान ने
प्रकट और प्रकाशित होकर,
पूर दिया द्यौ अन्तरिक्ष को।
दूर-दूर पहुंचते हुए प्राज्ञ जनों ने
तोड़ दिया सुदृढ़ अद्रि को।

५३७ **उशिक् पावको अरतिः सुमेधा मर्तेष्वग्निरमृतो नि धायि।**
इयर्ति धूममरुषं भरिभ्रदुच्छुक्रेण शोचिषा द्यामिनक्षन्॥
[ऋ १०.४५.७] य १२.२४

उशिक् पावकः अ-रतिः सु-मेधाः मर्तेषु अग्निः अ-मृतः नि धायि।
इयर्ति धूमम् अरुषम् भरिभ्रत् उत् शुक्रेण शोचिषा द्याम् इनक्षन्।

१) (उशिक्) कान्त, कान्तिमान्, (पावकः) पवित्र-कर्ता, (अ-रतिः) रति-मुक्त, निरासक्त, विषयभोग-मुक्त, (सु-मेधाः) सु-प्रज्ञ, (अ-मृतः) अमृत (अग्निः) विवेकाग्नि (मर्तेषु) मर्तों में (नि धायि) निधारित होता है, नितराम् धारित रहता है।

जिस विवेकाग्नि का उल्लेख पूर्व-मन्त्र में हुआ है, वह सर्वजनों में नहीं, मर्तों में ही निधारित होता है। लोकभाषा में धीर—वीर के अर्थ में प्रयुक्त मर्द शब्द वेद के मर्त्य और मर्त शब्दों का ही रूपान्तर है। मर्त नाम मृत्युञ्जयी धीर पुरुष का है। विवेकाग्नि के लिये जिन विशेषणों का प्रयोग हुआ है, उनसे प्रकट होता है कि यह अग्नि मर्तों—मर्दों—धीरों द्वारा ही धारणीय है—

१—अग्निः उशिक्। विवेकाग्नि कान्तिमय है। तभी तो विवेकी मर्तों का जीवन कान्तिमय होता है।

२—अग्निः पावकः। विवेकाग्नि पवित्रता का सम्पादन करनेवाला है। विवेक ही है जो मानव को नितान्त शुद्ध, पवित्र और निर्मल बनाता है।

३—अग्निः अरतिः। विवेकाग्नि रतिमुक्त जिसमें विवेक की स्थापना होजाती है, वह रहित और अनासक्त होजाता है।

४—अग्निः सु-मेधाः। विवेकाग्नि सुमेधा है। विवेक से ही मेधा का परिष्कार और होता है।

५—अग्निः अमृतः। विवेकाग्नि अमृत है। ही वह अमृत है जिसका पान करके मानव —अमरत्व—मोक्ष प्राप्त करता है।

२) विवेकाग्नि (अरुषम्) अरुण, सुन्दर, प्रशस्त रूप को (भरिभ्रत्) धारण करता (शुक्रेण शोचिषा) शुद्ध कान्ति से (द्याम् इनक्षन्) मस्तिष्करूपी द्यौ को व्यापता (धूमम् इयर्ति) धूम मचा देता है।

जिस मत में विवेकाग्नि धारित रहता सदा प्रशान्त रहता है। रोष और उद्विग्नता निकट नहीं आती है। विवेकी का मस्तिष्क कान्ति से सन्तत संव्याप्त रहता है। आत्मसाधना तथा कर्मयोग के आश्रय से धूम मचा देता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उशिक्, पावक, अरति, सुमेधा,
अमृत अग्नि निधारित रहता
है मर्तों में।
शान्त रूप से रूपित रहकर
और व्यापता हुआ द्यौ को
शुद्ध कान्ति से
धूम मचा देता है जग में।

५३८ दृशानो रुक्म उर्व्या व्यद्यौद् दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः।
अग्निरमृतो अभवद् वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत्सुरेताः॥
[ऋ १०.४५.८, य १२.१] य १२.२५

दृशानः रुक्मः उर्व्या वि अद्यौत् दुः-मर्षम् आयुः श्रिये रुचानः।
अग्निः अ-मृतः अभवत् वयः-भिः यत् एनम् द्यौः अजनयत् सु-रेताः।

विवेक के आश्रय से (यत्) यतः, क्योंकि, (सु-रेताः द्यौः) सुरसतामय प्रकाश ने (एनम्) इस [मानव-समाज] को (अजनयत्) प्रकाशित कर दिया, (श्रिये) श्री के लिये (दुः-मर्षम् आयुः) दुःसह जीवन को (रुचानः) रुचिकर बनाते हुए (दृशानः रुक्मः अग्निः) दर्शयिता सुशोभन ब्रह्माग्नि (उर्व्या) व्याप्ति के साथ (वि अद्यौत्) सर्वतः द्योतित होगया है, मानवजीवन (वयः-भिः) आत्मान्नों से (अ-मृतः अभवत्) अमृतमय होगया है।

विवेक के आश्रय से ही उस सुरसतामय प्रकाश की प्राप्ति होती है जो मानवसमाज को प्रकाशित कर देता है। विवेकख्याति के उदय होने पर ही दर्शयिता [सर्वप्रकाशक] सुशोभन ब्रह्माग्नि संव्याप्ति के साथ सर्वतः द्योतित होकर मानव-जीवन को सुरुचिकर बनाता है। ब्रह्मद्योतन से ही जीवन रुचिकर बनता है। विवेकोदय होने पर ही मानव आत्मान्नों का सेवन करता है और मानव-जीवन अमृतमय बनता है।

[व्याख्या और पद्यानुवाद देखिये य १२.१ के नीचे]।

५३९ यस्ते अद्य कृणवद् भद्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्ने।
प्र तं नय प्रतरं वस्यो अच्छाभि सुम्नं देवभक्तं यविष्ठ॥
[ऋ १०.४५.९] य १२.२६

यः ते अद्य कृणवत् भद्र-शोचे अपूपम् देव घृत-वन्तम् अग्ने।
प्र तम् नय प्र-तरम् वस्यः अच्छ अभि सुम्नम् देव-भक्तम् यविष्ठ।

द्योतन से रुचिकृत मानवसमाज अभ्यर्थना रता है—

) (भद्र-शोचे) भद्र शुचि—दीप्ति से युक्त! मंगल-न्तिवाले! (देव) दिव्यताओं के पुञ्ज! (यविष्ठ) वतम! शक्ततम! (अग्ने) ब्रह्माग्ने!

) (यः) जो (अद्य) आज (अपूपम्) अपूप को (ते) रे लिये (घृत-वन्तम् कृणवत्) घृत-वान् करे, तू (तम् प्र-तरम् देव-भक्तम्) उस प्रकृष्ट-तर देव-भक्त को (अभि) सर्वतः (वस्यः सुम्नम्) वस्य और सुम्न (अच्छ प्र नय) अच्छी प्रकार प्राप्त करा।

ब्रह्माग्नि के लिये यहां जिन विशेषणों का प्रयोग हुआ है, वे स्पष्ट हैं।

'पूयी' विशरणे दुर्गन्धे च। हिंसा और दुर्गन्ध अर्थवाली 'पूयी' धातु से पूप शब्द बना है। हिंसा

CC-0,'Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

और दुर्गन्ध से जो युक्त हो उसे पूप कहते हैं। जिसमें हिंसा और दुर्गन्धि न हो, वह अपूप है। अपूप शब्द का प्रयोग यहां अहिंसा और सुगन्धि से युक्त जीवन के लिये हुआ है।

अतिशय स्निग्ध होने से घृत स्निग्धता अथवा स्नेह का प्रतीक है। सुगन्धित और मधुर जीवन जब स्नेह से सिक्त होजाता है, तब ही वह प्रकृष्टतर देवभक्त [परमात्मदेव का भक्त, दिव्यताओं का सेवन करनेवाला] बनता है।

वस्य नाम ऐश्वर्य तथा सौभाग्य का है। सुम्न का अर्थ है प्रसन्नता तथा सुख।

'अद्य' [आज] अनन्त, अजर, अमर है। हर समय अद्य वर्तमान है। किसी भी क्षण आप कह सकते हैं 'अद्य—आज'। अतः अद्य का वास्तविक अर्थ है तत्क्षण, प्रतिक्षण।

'जो अपने जीवन को अहिंसामय, और सुमधुर बनाकर प्रतिक्षण उसे स्नेहस्निग्ध रखता है, वह प्रतर देवभक्त ऐसे भक्त को तू सर्वतः ऐश्वर्यसिक्त सौभाग्य सुखमय प्रसन्नता सम्यक् प्रदान करता है।' विश्वासयुक्त कितनी सुन्दर अभ्यर्थना है इस समाज की भद्रशुचि, दिव्य, यविष्ठ ब्रह्मणि!

जो आज जीवन-अपूप को
तेरे प्रति करे घृतवान्,
तू उस प्रतर देवभक्त को
करा प्राप्त सर्वत्र सम्यक्
ऐश्वर्य और प्रसन्नता,
सौभाग्य और सुख।

५४० आ तं भज सौश्रवसेष्वग्न उक्थउक्थ आ भज शस्यमाने।
प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवात्युज्जातेन भिनददुज्जनित्वैः॥
[ऋ १०.४५.१०] य १२.२७

आ तम् भज सौश्रवसेषु अग्ने उक्थे-उक्थे आ भज शस्यमाने।
प्रियः सूर्ये प्रियः अग्ना भवाति उत् जातेन भिनदत् उत् जनि-त्वैः।

परमात्मदेव की भक्ति में निमग्न प्रतर देवभक्त अपने आत्मा को सम्बोधन करता हुआ कहता है—

१) (अग्ने) आत्माग्ने! (सौश्रवसेषु तम् आ भज) सुश्रवसों में उस [परमात्मदेव] को सम्यक् भज।

श्रवस् नाम श्रोत्र, यश, ऐश्वर्य और शब्द का है। श्रोत्रों से प्रभु के स्वरूप और उसकी महिमा का श्रवण—यही श्रोत्रों में उसका संभजन है। यशों—प्रशस्तियों तथा ऐश्वर्यों की प्राप्ति पर प्रभु का धन्यवाद करना यशों और ऐश्वर्यों में उसका संभजन है। प्रेमभरे उत्तमोत्तम शब्दों में उसका गुणानुवाद करना उसका शब्दों में संभजन है।

२) आत्माग्ने! (शस्यमाने) प्रशस्ति की प्राप्ति पर (उक्थे-उक्थे) कथन-कथन में, बात-बात में (तम् आ भज) उसे सर्वतः भज।

प्रशस्ति-प्राप्ति के प्रत्येक अवसर पर [वाक्यावली में उसकी कृपा का बखान कर।

३) वही (प्रियः सूर्ये) प्रिय सूर्य में (प्रियः अग्ना) प्रिय अग्नि में (भवाति) [प्रकाशमान]।

उसी प्रियतम के प्रकाश से सूर्यादि प्रकाशमान और अग्न्यादि तेजोमय पदार्थ दमक रहे हैं।

४) वही (जातेन) उत्पन्न से, वर्तमान में (उत् भिनदत्) उद्भूत हुआ-हुआ है, वही (उत्) उत्पन्न होनेवालों से, उत्पन्न होनेवाली सृष्टि में (उत्) उद्भूत होगा।

सृष्टि प्रवाह से अनादि है। वर्तमान जन

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रादुर्भूत हुआ है और भावी सृष्टियां उसी से प्रादुर्भूत होगी। प्रलय, रचना और स्थिति का शश्वत चक्र उसी चक्रधर की चेतन सत्ता के मिष अनवरत घूम रहा है।

ऋ : आ तं भज सौश्रवसेषु ।
सुश्रवसों में उसे ही भज ।
प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवाति ।
प्यारा सूर्य में और प्यारा ही अग्नि में प्रकाश रहा है।

आत्माग्ने !
भज उसको ही सुश्रवसों में,
यशःप्राप्ति पर वाक्य-वाक्य में,
भज उसको ही ।
प्रिय सूर्य में, प्रिय अग्नि में
होरहा है सतत आभासित ।
उद्भासित है वही जात से,
वह ही होगा समुद्भासित
जनिष्यमाण से ।

५४१ त्वामग्ने यजमाना अनु द्यून् विश्वा वसु दधिरे वार्याणि ।
त्वया सह द्रविणमिच्छमाना व्रजं गोमन्तमुशिजो वि वव्रुः ॥
[ऋ १०.४५.११] य १२.२८

त्वाम् अग्ने यजमानाः अनु द्यून् विश्वा वसु दधिरे वार्याणि ।
त्वया सह द्रविणम् इच्छमानाः व्रजम् गो-मन्तम् उशिजः वि वव्रुः ।

(र अब स्वयं परमात्मदेव को सम्बोधन करता
ा देवभक्त कहता है—
) (अग्ने) ब्रह्माग्ने ! सुन्दर देव ! (यजमानाः)
ाती [भक्तजन] (अनु द्यून्) अनु-दिनों, दिनों-
न (त्वाम्) तुझे [वरण करके] (विश्वा वार्याणि
ु) समस्त वरणीय ऐश्वर्यों को (दधिरे) धारण
या करते हैं ।

वसु शब्द का प्रयोग यहां विनश्वर भौतिक
वर्यों के लिये न होकर अविनश्वर अध्यात्मैश्वर्यों
लिये हुआ है । अविनाशी ब्रह्माग्नि की संगति से
विनश्वर ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं । विनश्वर माया
संगति से विनश्वर धन उपलब्ध होते हैं ।
विनश्वर ऐश्वर्य ही वरणीय ऐश्वर्य हैं । विनश्वर
श्वर्य वरणीय नहीं, अर्जनीय हैं । वे तो आध्या-
मक ऐश्वर्य ही हैं जो वरणीय देव को वरण करने
मिलते हैं ।

२) ब्रह्माग्ने ! तेरे (उशिजः) चाहनेवाले, प्रेमी, भक्त जन (त्वया सह द्रविणम् इच्छमानाः) तेरे सहित धन चाहते हुए (गो-मन्तम्) इन्द्रियमय (व्रजम्) गोष्ठ—देह को (वि वव्रुः) ग्रहण—यापन किया करते हैं ।

प्रभुभक्त धन की भी कामना करते हैं तो केवल इसलिये कि वे धन-धान्य के आश्रय से प्राण धारण करते हुए आत्मना प्रभु से संगत रहें । प्रभु से संगत रहते हुए ही वे इन्द्रियमय जीवन-गोष्ठ को धारण किये रहते हैं ।

सुन्दर देव ! संगाती दिनों-दिन,
तुझे वरण कर धारण किया
करते हैं सब वरणीय ऐश्वर्यों को ।
प्रेमी तेरे-सहित चाहते हुए धन को
धारण किया करते हैं
इन्द्रियमय देह-गोष्ठ को ।

५४२ अस्ताव्यग्निर्नरां सुशेवो वैश्वानर ऋषिभिः सोमगोपाः ।
अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम देवा धत्त रयिमस्मे सुवीरम् ॥
[ऋ १०.४५.१२] य १२.२९

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अस्तावि अग्निः नराम् सु-शेवः वैश्वानरः ऋषि-भिः सोम-गोपाः ।
अ-द्वेषे द्यावा-पृथिवी हुवेम देवाः धत्त रयिम् अस्मे सु-वीरम् ।

पूर्व-मन्त्र में उल्लिखित यजमान [भक्त जन] आत्मानुभूति का द्योतन करते हुए कहते हैं—

१) (नराम् सु-शेवः) नरों का सु-सुख (वैश्वानरः) विश्व-विनायक, (सोम-गोपाः) सोमों की रक्षा करनेवाला (अग्निः) ब्रह्माग्नि (ऋषिभिः अस्तावि) ऋषियों द्वारा स्तुता जाया करता है ।

'नराम्' शब्द का प्रयोग नरत्व अथवा आत्म-संबल से युक्त वीर पुरुषों के लिये हुआ है । **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः** । प्रभु की प्राप्ति बलहीनों द्वारा नहीं, आत्मसंबल के धनियों द्वारा की जाती है ।

नर भक्त जन साक्षात् अनुभव करते हैं कि सु-सुख, सच्चा आत्मसुख केवल ब्रह्मप्राप्ति अथवा ब्रह्मलीनता में है । वे प्रत्यक्ष देखते हैं कि इस अनन्त—असीम विश्व का नयन—संचालन करने-वाला भी वही है । उनकी गहन दिव्य दृष्टि स्पष्ट देखती है कि वह प्रभु ही लोकों और प्राणियों के सोमों की, जीवनरसों की, जीवनतत्त्वों की रक्षा कर रहा है । इन अनुभूतियों से युक्त ऋषि जन ही ब्रह्म का यथार्थ स्तवन कर पाते हैं ।

माया से शरीर को जो पोषण मिलता है, वह सुख है । ब्रह्मोपासना से आत्मा को जो पोषण और आनन्द मिलता है, वह सु-सुख है । शरीर-सुख के साथ आत्मसुख के संयोग का ही नाम सु-सुख है । प्रभु की यथावत् और यथाविधि उपासना से उभय सुख अथवा सुसुख की निश्चय ही उपलब्धि होती है । ब्रह्माग्नि की संव्याप्ति तथा सर्वज्ञता से ही यह सृष्टिप्रवाह चल रहा है । परम पावन वैश्वानर ही इस सुदर्शन-चक्र का सुनयन अथवा सुसंचालन कर रहा है । उसी की सरसतायें सबमें सर्वत्र सोमों—रसों—सरसताओं का संचार कर रही हैं ।

२) हम (अद्वेषे) अद्वेष में, द्वेषराहित्य रहित स्थिति में (द्यावापृथिवी) द्यौ और को (हुवेम) पुकारें ।

ब्रह्माग्नि से संगत रहनेवाले यजमानों सारी पृथिवी एक अभिन्न गृह है और द्यौ की सुसज्ज छत है । द्यौ और पृथिवी पर करनेवाली समग्र मानवप्रजाओं को वे आत्मीयता के साथ सम्बोधते तथा वर्तते हैं ।

ऐसे द्वेषरहित यजमानों से मानवप्रजा करती हैं—(देवाः) देवो ! दिव्य यजक (अस्मे) हममें, हमारे जीवनों में (रयिम्) सुवीर आत्मैश्वर्य (धत्त) धारण करो ।

ब्रह्माग्नि प्रकाशस्वरूप और सर्वशक्ति उसकी उपासना से तो उपासकों में अजस्र और अक्षय शक्ति का संचार होना ही यदि ऐसा नहीं होता है तो उपासनाविधि है । अग्नि की उपासना [समीपता] से अग्निरूप होजाता है । वैसे ही सही ब्रह्म उपासकों में ब्राह्म ज्योति और ब्राह्म स्थापना करती है । ब्रह्मयज्ञ के याजी दि मान वीरता से युक्त ब्राह्म बल के मानवप्रजाओं में सही ब्रह्मोपासना का करके उन्हें सुवीर आत्मधन के धनी बनाते

सुसुख नरों का,
विश्व-विनायक,
सोमों का संरक्षक अग्नि
ऋषियों द्वारा स्तुता जाता ।
हम सब द्वेषरहित मानस में
द्यौ पृथिवी को सम्बोधें ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

देवो, हममें करो स्थापन
सुवीर आत्मैश्वर्य—आत्मधन ।
क्ति : अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम ।

हम द्वेषराहित्य में द्यौ-भू को सम्बोधें ।
देवा धत्त रयिमस्मे सुवीरम् ।
देवो, हममें सुवीर आत्मैश्वर्य प्रस्थापन करो ।

५४३ समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् । आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥
[ऋ ८.४४.१, य ३.१] य १२.३०

सम्-इधा अग्निम् दुवस्यत घृतैः बोधयत अतिथिम् । आ अस्मिन् हव्या जुहोतन ।

र्व-मन्त्र में द्वेषरहित यजमानों से मानवप्रजाओं विनय की थी—देवो ! हममें सुवीर आत्मैश्वर्य ापन करो । तदर्थ यजमान मानवों को उपदेश रते हैं—

) मानवो ! जीवनों में आत्मधन की स्थापना के नये (समिधा) समिध् से (अतिथिम् अग्निम्) तिथि आत्माग्नि को/की (दुवस्यत) परिचर्या— ा करो, (घृतैः) घृतों से (बोधयत) बोधो, ध प्राप्त कराओ ।

समिधा नाम प्रज्वलनसाधन का है । शुद्ध, ष्क, धूमरहित काष्ठसमिधा भौतिक अग्नि का ज्वलनसाधन है । निर्मल, निर्दोष, निष्पाप, धनसुरभित मानवदेह अथवा मानवजीवन त्मात्माग्नि की समिधा [प्रज्वलनसाधन] है ।

घृत शब्द का प्रयोग यहां बहुवचन में हुआ है । स्निग्धता का प्रतीक है । भौतिक अग्नि में मा जानेवाला घृत तो केवल एक है । आत्माग्नि होमे जानेवाले घृत अनेक हैं । आत्मस्नेह, त्मचिन्तन, आत्मनिरीक्षण, ईश्वरस्तुतिप्रार्थनो- सना, स्वाध्याय, सत्संग, योगाभ्यास, श्रवण, तन, निदिध्यासन आदि वे घृत हैं जिनसे आत्माग्नि प्रज्वलन अथवा बोधन होता है ।

आत्माग्नि अतिथि है, अनिश्चित-तिथि है, सतत-गामी है, पूजनीय मेहमान है । जीवन-समिधा से उसकी सेवा करो, और घृतों से उसे उद्बुद्ध करो, उसे उत्कृष्ट बोध प्राप्त कराओ, उसे प्रबुद्ध करो । ऐसा करने से तुम्हें सुवीर आत्मैश्वर्य की उपलब्धि होगी ।

२) (अस्मिन्) इस [आत्माग्नि] में (हव्या आ जुहोतन) हवियां होमो, हवियों की आहुति दो ।

आत्माग्नि में तीन ओर से हवियां होमी जाती हैं—वाणी से, श्रोत्र से, नेत्र से । वाणी से वचन की, श्रोत्र से श्रवण की, नेत्र से दर्शन की आहुतियां दी जाती हैं । वाणी द्वारा हविरूप [स्विष्ट, मिष्ट, संशुद्ध, सुगन्धित, पुष्टिकारक] शब्दों से अपने आत्मा को सम्बोधन कीजिये । श्रोत्रों से हविरूप वचन ही श्रवण कीजिये । नेत्रों से हविरूप दर्शन ही कीजिये । भद्र सम्बोधन, भद्र श्रवण और भद्र दर्शन ही वे हवियां हैं जिनसे सुवीर आत्मैश्वर्य की स्थापना होती है ।

अतिथि अग्नि की
सेवा करो समिध् के द्वारा,
करो प्रबुद्ध इसे घृतों से ।
इसमें होमो हवियां ।

५४४ उदु त्वा विश्वे देवा अग्ने भरन्तु चित्तिभिः । स नो भव शिवस्त्वं सुप्रतीको विभावसुः ॥
[य १७.५३] य १२.३१

उत् उ त्वा विश्वे देवाः अग्ने भरन्तु चित्ति-भिः । सः नः भव शिवः त्वम् सु-प्रतीकः वि-भा-वसुः ।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आत्माग्नि को प्रबुद्ध करने के लिये सब मानव अपने-अपने आत्मा को सम्बोधन करते हैं—

१) (अग्ने) आत्माग्ने ! (विश्वे देवाः) सब देव, समस्त इन्द्रियदेव (चित्तिभिः) चित्तियों—चेतनाओं द्वारा (त्वा) तुझे (उत् उ भरन्तु) ऊंचा ही उठायें।

प्रत्येक इन्द्रियदेव की अपनी-अपनी चित्ति—प्रचेतना है। वह चित्ति जब उद्बुद्ध होती है तो मानव प्रत्येक कृत्य और घटना से प्रचेतित होकर आत्मकल्याण की ओर प्रवृत्त रहता है। मस्तिष्क की चित्ति है श्रेय का चिन्तन, नेत्र की तत्त्वावलोकन, श्रोत्र की भद्र श्रवण, प्राण की निर्विषय-निर्विकार-निर्विश्राम-निरासक्त रहते हुए सतत साधना, घ्राण की सुगन्ध, रसना की सुपेयता-सुभक्ष्यता, त्वचा की सुस्पर्श, मन की शिव संकल्प, हृदय की मंगल भावना, जठर की सुपचन, शिश्न और भग की सुदाम्पत्य, पग की सुचाल, चरण की सुष्ठु आचरण। परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व की चित्ति है अनासक्त, निर्लेप, निष्काम कर्मसाधना। और सर्वोपरि चित्ति है आत्मा को आत्म-चेतना।

शरीर, संसार और संसार में जो कुछ है, वह सब आत्मार्थ ही है, आत्मकल्याणार्थ ही है। उस सबका प्रयोग और सब कर्तव्य कर्मों का इस प्रकार से किया जाये कि उनसे आत्मस्थान तथा आत्मविकास में बाधा न सहायता हो। आत्मसाधना में बाधा बड़े से बड़े पद और वैभव का भी परित्याग देना चाहिये।

२) आत्माग्ने ! (सः त्वम् भव नः) वह तू हमारे लिये (शिवः) मंगलकारी, (सु-रूपता का सम्पादक, (वि-भा-वसुः) भाओं—आभाओं—ज्योतियों तथा वसुओं का सम्पादक।

आत्मा ही शिवता, सुरूपता तथा ज्योतियों और वसुओं का सम्पादक है। आत्मिक जीवन होता है, वहीं वास्तविक सुरूपता तथा आभाओं और ऐश्वर्यों की होती है।

आत्माग्ने,
सारे देव चित्तियों द्वारा
तुझे सतत ऊंचा ही उठायें।
वह तू हो हमारे लिये
शिव, सुन्दर और विभावसु।

सूक्ति : **स नो भव शिवः।**
वह तू हमारे लिये मंगलकारी हो।

५४५ **प्रेद्दग्ने ज्योतिष्मान् याहि शिवेभिरर्चिभिष्ट्वम्।**
बृहद्भिर्भानुभिर्भासन् मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः॥

य १२.३२

प्र इत् अग्ने ज्योतिष्मान् याहि शिवेभिः अर्चि-भिः त्वम्।
बृहत्-भिः भानु-भिः भासन् मा हिंसीः तन्वा प्र-जाः।

इस मन्त्र में भी सुन्दर आत्मसम्बोधन है—

१) (अग्ने) आत्माग्ने !

२) (ज्योतिष्मान् त्वम्) ज्योतिष्मान् तू (शिवेभिः अर्चि-भिः) शिव अर्चियों से (इत्) ही (प्र याहि) प्र-गमन कर।

३) (बृहत्-भिः भानु-भिः भासन्) बृहत् प्रकाशता हुआ [अपने] (तन्वा) तनू—शरीर से (प्र-जाः) प्रजाओं को (मा हिंसीः) मत ह

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अर्चि नाम स्तुति का है। आत्मा के अपने जो ज प्रशस्त गुण हैं, उनके स्तवन—वर्णन से आत्मा अपने स्वरूप का बोध रहता है। आत्मबोध त्मा को प्रगमन में, आत्मसाधना में, कल्याण के पर अग्रसर करता है।

स्वरूप से आत्मा ज्योतिष्मान् है। मायाजन्य वरणों के कारण उसकी ज्योति दबी रहती है। व अर्चियों से आवरणों को हटाकर आत्मसाधक त्मपथ को प्रशस्त करता है। निस्सन्देह अर्चियां ही शिव—सार्थक हैं, मंगलप्रद हैं, जो आत्मा के मन में उद्बोधक होती हैं।

आत्म-अर्चियों के आश्रय से जब सब आवरण जाते हैं तो आत्मा बृहत्—व्यापक प्रकाशों से काशता हुआ अपने जीवन-राज्य की प्रजाओं का न न करके उन्हें संजीवन से युक्त रखता है। न्द्रियां ही जीवन-साम्राज्य की प्रजायें हैं जिस ज्य का राजा प्रकाशों से प्रकाशित होता है, ज्ञान, विवेकादि द्युतियों से द्योतित होता है, उसकी प्रजायें कदापि हिंसित नहीं होती हैं। वे तो स्वस्थ और सुसम्पन्न रहती हैं। आत्म-राजा को जब तक आत्मबोध नहीं होता है, तब ही तक वह अपनी इन्द्रिय-प्रजाओं की हिंसा करता है, विषय-विलासों से उन्हें क्षत-विक्षत करता है। आत्म-बोध होजाने पर वह उनकी सर्वतः रक्षा तथा संवृद्धि करता है।

आत्माग्ने ! ज्योतिर्मय तू
मंगलप्रद अर्चियों द्वारा
ही कर गमन—प्रगमन सन्तत।
बृहत् प्रकाशों से प्रकाशता
हुआ तनू से
कर न हिंसा प्रजाओं की।

सूक्ति : **मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः।**
जीवन से प्रजाओं को मत सता।

५४६ **अक्रन्ददग्नि स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद् वीरुधः समञ्जन्।**
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धो अख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः॥
[ऋ १०.४५.४, य १२.६, १२.२१] य १२.३३

अक्रन्दत् अग्निः स्तनयन्-इव द्यौः क्षामा रेरिहत् वीरुधः सम्-अञ्जन्।
सद्यः जज्ञानः वि हि ईम् इद्धः अख्यत् आ रोदसी भानुना भाति अन्तः।

त्मसम्बोधन के उपरान्त प्रत्येक (अग्निः) त्माग्नि ने, आत्मसाधना करनेवाले अग्रणी मानव सद्यः हि जज्ञानः) अविलम्ब ही प्रकट— प्रकाशित कर, (इद्धः) प्रबुद्ध होकर (ईम्) इस [विश्व, नवप्रजा] को (वि अख्यत्) उपदेशा।

पुनः उत्प्रेरित होकर (अग्निः) आत्मसाधक ने ः स्तनयन्-इव) द्युस्थ मेघ के समान गर्जते (क्षामा) पृथिवी को, पृथिवीस्थ मानवप्रजा को (रेरिहत्) अपनाया, (वीरुधः) मानवजीवन-लताओं को (सम्-अञ्जन्) प्रकाशित—प्रबुद्ध करते हुए, चेताते हुए (अक्रन्दत्) करुण क्रन्दन किया।

परिणामस्वरूप वह (रोदसी अन्तः) द्यौ और पृथिवी के मध्य (भानुना आ भाति) दीप्ति से जगमगा रहा है, आत्मप्रकाश से प्रकाश रहा है। [व्याख्या और पद्यानुवाद देखिये य १२.६ के नीचे]

५४७ **प्रप्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे वि यत् सूर्यो न रोचते बृहद् भाः।**
अभि यः पूरुं पृतनासु तस्थौ दीदाय दैव्यो अतिथिः शिवो नः॥
[ऋ ७ ८.४] य १२.३४

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्र-प्र अयम् अग्निः भरतस्य शृण्वे वि यत् सूर्यः न रोचते बृहत् भाः ।
अभि यः पूरुम् पृतनासु तस्थौ दीदाय दैव्यः अतिथिः शिवः नः ।

आत्मसाधक के उपदेशों से सुप्रकाशित होकर प्रत्येक श्रोता कह उठता है—

१) मैं (प्र-प्र शृण्वे) प्र-प्र-श्रवण करता हूं। मैं कानों से सुनकर आत्मना अनुभव करता हूं।

'प्र' का अर्थ है प्रकृष्ट, प्रकृष्टतया, प्रयोगतया। 'शृण्वे' से पूर्व दो बार प्र शब्द के प्रयोग में एक गहन आशय निहित है। प्र-प्र-श्रवण नाम उस श्रवण का नहीं है कि सुन-भर लिया। प्र-प्र-श्रवण नाम उस श्रवण का है जो साधनामय आत्मश्रद्धा के साथ सुना जाता है, चिन्तन और निदिध्यासन के द्वारा सक्रियता के साथ अनुभव किया जाता है।

२) मैं निश्चयेन सुनता हूं, आत्मना अनुभव करता हूं कि (नः) हमारे, हम मानवों के (भरतस्य) भरत का (अयम् बृहत् भाः दैव्यः शिवः अतिथिः अग्निः) यह बृहत्-कान्त, दैव्य, शिव, अतिथि आत्माग्नि ही है, (यत्) जो (सूर्यः न वि रोचते) सूर्य के समान वि-प्रकाशता है, (यः पृतनासु तस्थौ) जो पृतनाओं में स्थित होकर (पूरुम्) पूरु को (अभि दीदाय) सर्वतः जगमगाया करता है।

पालनीय, भरणीय, पोषणीय होने से मानव के शरीर अथवा जीवन को 'भरत' कहते हैं। जीवन उपेक्षणीय और तिरस्करणीय नहीं है, सर्वतः रक्षणीय तथा पोषणीय है, क्योंकि वह सकल धर्मों तथा साधों की साधना का सुपावन साधन है।

भरत साधन है और आत्माग्नि है साधक। आत्मा अ-तिथि है। पता नहीं कब किस तिथि को वह भरत [जीवनसदन] से प्रस्थान कर जाये। आत्मा अत्-इथि है, सतत-गामी है। सतत गमन करते हुए उसे विष्णु के उस परमोच्च लोक में पहुंचना है, **यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्**, जहां, जिस लोक में अजस्र ज्योति और आनन्द निहित है। अतिथि होने से पूजनीय है।

आत्मा 'बृहत् भाः' है, बहुत काल आवरणों को हटाकर जब वह निज में अवस्थित होता है तो अपने जीवनसदन नहीं, अपनी सुविशाल कान्ति से वह कान्ति पूर देता है।

दैव्य तो आत्मा स्वरूप से है ही। पञ्च के संयोग से जिसकी स्थिति होती है वह अथवा भौतिक कहाता है। आत्मा पञ्च संयोग से नहीं बना है। अतः दैव्य है। दिव्यता से जो युक्त हो वह दैव्य है। दिव्य होने से भी आत्मा दिव्य है। अथवा दिव्य होता है वह प्रकृति के तीनों मुक्त होता है। प्रकृतिजन्य सब त्रैगुण्य गुण त्रिगुणातीत है। आत्मा निज त्रिगुणातीत है।

शिव का अर्थ है शुभ और कल्याण शुभ ही कल्याणकारी होता है, अशुभ मंगलकारी। अशुभ अमंगलकारी।

जिस प्रकार द्यौ और पृथिवी के बीच विरोचता है, विविध दिशाओं में प्रकाश उसी प्रकार आत्मा जीवनप्रदेश के हृदयाकाश में विराजकर ऊपर द्यौ [मूर्धा] तक तथा नीचे भूमि [प्रमा, पगतल] तक रोचिष्णा [चमक] से रोचक बनाता है।

'पूरु' का अर्थ है मानव और राजा राजा है, सृष्टिनायक है। मानव ही देव के समुत्पन्न संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी से सृष्टि की शोभा है। मानव ही ज्ञान आश्रय से प्रकृतिजन्य समस्त राज्य का कर्ता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पृतना नाम मनुष्य और संग्राम का है। मानवेतर योनियों के संग्राम नितान्त सीमित हैं। मानवजीवन के संग्राम अनन्त और असीम हैं। मानवयोनि में आत्मा को पग-पग पर, क्षण-क्षण, सर्वत्र, सब ओर पाप-विकार-वासनाओं की असंख्य सेनाओं से सतत टकराव रहता है। योग-जीवन-पद्धति के अवलम्ब से ही आत्मा मानवजीवनरूपी कुरुक्षेत्र के संग्रामों में स्थिर रहता हुआ, अभितः विजय सम्पादन करता हुआ जगमगाता है।

मैं प्र-प्रश्रवण करता हूं,
कि हमारे भरत का यह
बृहत्-कान्त, दैव्य और शिव
अतिथि अग्नि ही है जो सूर्यवत्
है प्रकाशता,
जो पृतनाओं में संस्थित हो
मानव को द्युतिमान् बनाता।

५४८ **आपो देवीः प्रति गृभ्णीत भस्मैतत् स्योने कृणुध्वं सुरभा उ लोके।**
तस्मै नमन्तां जनयः सुपत्नीर्मातेव पुत्रं बिभृताप्स्वेनत्॥

य १२.३५

आपः देवीः प्रति गृभ्णीत भस्म एतत् स्योने कृणुध्वम् सुरभौ उ लोके।
तस्मै नमन्ताम् जन्यः सु-पत्नीः माता-इव पुत्रम् बिभृत अप्-सु एनत्।

पूर्व-मन्त्र में आत्मस्वरूप, आत्मख्याति तथा आत्मवीर्य का उल्लेख करके यहां आत्मकल्याण की भावना से आत्मसाधक 'देवीः आपः' को सम्बोधन करता है—

(१) (देवीः आपः)! (भस्म प्रति गृभ्णीत) भस्म को प्रति-ग्रहण करो।

(२) (एतत्) इस [भस्म] को (स्योने सुरभौ उ लोके) सुखमय, सुरभिमय लोक में ही [स्थित] (कृणुध्वम्) करो, रखो।

(३) (तस्मै) उस [भस्म] के लिये (जनयः सुपत्नीः) सदुर्भूता सुपत्नियां (नमन्ताम्) नमन करें, प्राप्त हों।

(४) (माता-इव पुत्रम्) माता जैसे पुत्र को, (एनत्) उस [भस्म] को (अप्सु बिभृत) सुकर्मों में धारण—स्थापन करो।

पूर्व-मन्त्र में कहा गया है, 'अग्निः पूरुम् अभि आदाय'=आत्माग्नि मानव को सर्वतः द्युतिमान् बनाता है। मानव क्या है? आत्मा और शरीर का संयोग। **वायुः अनिलम् अमृतम्,** आत्मा अभौतिक और अमर है। **शरीरम् भस्मान्तम्,** शरीर भस्मान्त है, भस्म है, क्योंकि वह भौतिक है। भस्मान्त सदन में अमर आत्मा का निवास है। अविनश्वर आत्मा नश्वर शरीर में ठहरा हुआ है।

मानव का जीवनसदन भस्मान्त होने पर भी है निश्चय ही सर्वधर्मसाधन, लोक-परलोक की साधना का अमोघ साधन, **विष्णोः शर्म,** विष्णु भगवान् का सुपावन मन्दिर, वह पवित्र मन्दिर जिसमें आत्मा को देव सविता के वरेण्य भर्ग और आदित्य वर्ण का सन्दर्शन होता है। वह है प्रेय और श्रेय का सुशोभन भवन और मुक्ति का सोपान।

अतः, 'देवीः आपः! भस्म प्रति गृभ्णीत।' आपः शब्द धारावाची, कर्मवाची तथा प्रजावाची है। आपः शब्द का प्रयोग यहां वृत्तियों के लिये हुआ है। देवीः आपः=दिव्य वृत्तियो! तुम इस भस्मसदन को प्रतिग्रहण करो, इसे प्रतिशः दिव्य—संदिव्य करदो। दिव्य वृत्तियां भस्मसदन को सुखमय और सुगन्धिमय स्थिति में स्थित रखती

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हैं । अन्यथा तो वह दुःखमय और दुर्गन्धिमय होजाता है ।

दिव्य वृत्तियों से संदिव्य होने पर जब यह भस्मसदन सुखकर और सुगन्धिमय होजाता है तो उसे 'जनयः सुपत्नीः' नमस्कार करती हैं, प्राप्त होती हैं । 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्या ।' ब्राह्म श्री और ब्राह्म लक्ष्मी, ये दो ब्रह्म की पत्नियां हैं, जो ब्रह्म की महिमा का जनन—प्रकाशन करती हैं । इनमें से शोभा, कान्ति, द्युति, आभा, प्रज्ञा इत्यादि जितनी भी श्रियां हैं, वे सब साधनाशील जीवन का जनन—प्रकाशन करनेवाली सुपत्नियां हैं । दिव्य वृत्तियों के आश्रय से भस्मसदन में इनका सन्नमन होता है, इनकी सहज प्राप्ति होती है ।

मानव इस सदन की महिमा को समझें । यह तो लोक और परलोक की सफल साधना का एक अद्वितीय साधन है । उसे क्षीण न करके इसका उसी प्रकार पोषण करें; जिस प्रकार सुमतियुक्त सुस्नेहा माता अपने पुत्र का पोषण करती है । इसके द्वारा कुकर्मों की बाढ़ न लाकर सुकर्मों का सुप्रवाह प्रवाहित करने में ही मानवजीवन की सार्थकता है । 'माता-इव पुत्रं, विभृत एनत्' = माता जैसे पुत्र को पोषती और सुकर्मों में प्रवृत्त करती है, उसी प्रकार इसे सुपुष्ट किए हुए, सदैव सुकर्मों में स्थापित रखो । सुकर्म कमाकर सुख और आनन्द की बेलें बोने की वेदमाता की यह चेतावनी कितनी सुन्दर है ।

दिव्य वृत्तियो,
प्रति-ग्रहणो भस्मसदन को,
रखो इसे सुखमय, सुरभिमय
पुण्यलोक में ।
उसके लिये नमें
सुपत्नियां सुप्रकाशिका ।
रखो स्थापित इसे
सुकर्मों में और पोषो,
माता यथा पुत्र को ।

५४६ **अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे । गर्भे सञ्जायसे पुनः ॥**

[ऋ ८.४३.६]

य १२.३६

अप्-सु अग्ने सधिः तवः सः ओषधीः अनु रुध्यसे । गर्भे सन् जायसे पुनः ।

भस्मसदन में निवास करनेवाला यह आत्मा एक सदन को त्यागकर दूसरे सदन में जाता है । जिस प्रकार मानव पुराने वस्त्र को त्यागकर नया वस्त्र धारण करता है, एक गृह को छोड़कर दूसरे गृह में निवास करता है, वैसे ही यह आत्माग्नि एक शरीर को छोड़कर नवीन शरीर धारण करता है । इसी रहस्य का उद्घाटन करने के लिये वेदमाता आत्मसाधकों के मुख से कहलारही है—

१) (अग्ने) आत्माग्ने !

२) (तव सधिः) तेरी स्थिति [विविध] (अप्सु) कर्मों, प्रजाओं, योनियों में [होती है] ।

आत्मा कर्मानुसार विविध योनियों में है ।

३) (सः) वह तू (ओषधीः अनु रुध्यसे) ओषधियों की अनुकामता है, ओषधियों के अनुसार भस्म रूप में उगता है, (पुनः गर्भे सन्) पुनः गर्भ में होकर—रहकर (जायसे) प्रकट होता है ।

जैसे ओषधियां, वनस्पतियां भूमि के बीजरूप से अंकुरित होकर लता और वृक्ष में उगती हैं, वैसे ही आत्मा योनिरूपी गर्भ में होकर शरीर को अंकुरित करता है और

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तया आकृत होजाने पर गर्भ से बाहर निकलकर
ट होता है, जन्म लेता है। जन्म के उपरान्त
र वृद्धि को प्राप्त होता रहता है।

ने ! तेरी स्थिति रहती
कर्मों में, योनियों में।

वह तू अनुकामता है ओषधियां,
पुनः जन्मता है तू
रहकर स्थित गर्भ में।

सूक्ति : अप्स्वग्ने सधिष्टव।
आत्माग्ने ! तेरी स्थिति कर्मों में है।

उदाहरण

५० गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्। गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो अपामसि ॥
[अ ५.२५.७, ६.९५.३]

य १२.३७

गर्भः असि ओषधीनाम् गर्भः वनस्पतीनाम्। गर्भः विश्वस्य भूतस्य अग्ने गर्भः अपाम् असि।

(अग्ने) आत्माग्ने !

तू (असि) है (ओषधीनाम् गर्भः) ओषधियों
गर्भ, (वनस्पतीनाम् गर्भः) वनस्पतियों का
।

जड़ी-बूटी और छोटे वृक्षों-पौधों की संज्ञा
धि है। गेहूं, यव, चना आदि के पौधे भी
धि-संज्ञा में सम्मिलित हैं। वट, पीपल,
, गूलर आदि विशाल वृक्ष वनस्पति-संज्ञक

गर्भ शब्द का प्रयोग यहां जन्मग्रहण के अर्थ
आ है। आत्मा ओषधियों में निवास करनेवाली
यों में जन्मग्रहण करता है, और वनस्पतियों में
स करनेवाली योनियों में भी।

३) तू (असि) है (विश्वस्य भूतस्य गर्भः)
सर्व भूत का गर्भ, (अपाम् गर्भः) जलों का
गर्भ।

विश्व में जितना भूत, जितना भौतिक और
प्राणी-जगत् है, सर्वत्र सब प्राणियों की योनियों में
कर्म-संस्कारानुसार आत्मा जन्म ग्रहण करता है।
वह जलों में निवास करनेवाली योनियों में भी जन्म
लेता है।

अग्ने !
तू है गर्भ ओषधियों का,
तू है गर्भ वनस्पतियों का,
तू है गर्भ सर्व भूत का,
तू है गर्भ जलों का।

५१ प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने। संसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान् पुनरासदः ॥

य १२.३८

प्र-सद्य भस्मना योनिम् अपः च पृथिवीम् अग्ने। सम्-सृज्य मातृभिः त्वम् ज्योतिष्मान् पुनः आ असदः।

(अग्ने) आत्माग्ने !

(ज्योतिष्मान् त्वम्) ज्योतिर्मय तू (भस्मना)
सदन के साथ, एक देह से युक्त रहकर, (अपः
र्मों को करके, कर्मों के अनुसार (योनिम् प्र-सद्य)
को प्राप्त होकर, (पृथिवीम् सम्-सृज्य) पृथिवी
ति संसृष्ट होकर (मातृभिः पुनः आ असदः)

माताओं के आश्रय से फिर आकर स्थित होगया है।

यह एक आत्म-पहेलिका है। आत्मा स्वरूप से
ज्योतिर्मय है। फिर भी वह माया के आवरण और
नीहार में ग्रस्त होकर अपने स्वरूप को भूल रहा
है। उसको ज्योति विषयवात से हिलोरित रहकर
बुझी-सी हो रही है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आत्मविस्मृति के कारण वह भस्म-मय होरहा है, एक भस्मसदन [देह] में निवास करके वह कर्मानुसार योनि के उपरान्त योनि प्राप्त करता है। पृथिवी से संगत होकर, पृथिवी पर जन्म कर वह पृथिवी पर निवास करता है और माताओं के द्वारा, एक माता के बाद दूसरी माता का सूनु बनता है और इस प्रकार निरन्तर माताओं की गोद में आकर बैठा करता है।

आत्माग्ने !
ज्योतिर्मय तू भस्मसदन से,
कर्मों के अनुसार प्राप्त होकर योनि को,
पृथिवी से संसृष्ट होकर,
पुनः आ स्थित हुआ हुआ है
माताओं के आश्रय से।

५५२ **पुनरासद्य सदनमपश्च पृथिवीमग्ने। शेषे मातुर्यथोपस्थे ऽन्तरस्यां शिवतमः॥** य।

पुनः आ-सद्य सदनम् अपः च पृथिवीम् अग्ने। शेषे मातुः यथा उप-स्थे अन्तः अस्याम् शिव-)

१) (अग्ने) आत्माग्ने !
२) (शिव-तमः) शिव-तम तू (अपः च) कर्मों को करके, कर्मों के अनुसार (पुनः) पुनः-पुनः (पृथिवीम् सदनम्) पृथिवीरूपी सदन पर, पार्थिव देह पर (आ-सद्य) आरूढ़-स्थित होकर (अस्याम्) इस [माता] में, (अन्तः) भीतर, गर्भ में (शेषे) शयन करता है, (यथा मातुः उप-स्थे) जैसे माता की गोद में।

यहां आत्मा को शिव-तम बताया गया है। शिव नाम मंगलमय और कल्याणकारी का है। निस्सन्देह आत्मा अतिशय मंगलकारी है। जीवन में आत्मा ही शिवता का आधार है। आत्मा के रहते हुए ही पृथिवीसदन अथवा पार्थिव देह का सर्वातिशयता के साथ कुशलक्षेम सुरक्षित रहता है।

गर्भ और गोद, दोनों ही उपस्थ-संज्ञक हैं। उपस्थ=उप+स्थ=निकट+स्थान। माता का गर्भ भी उप-स्थान है और उसकी गोद भी स्थान है।

आत्मा पार्थिव देहपिण्ड में स्थित होक के गर्भ के भीतर शयन करता है। यहां के एक रहस्य का उद्घाटन हुआ है। के भीतर जागृति की अवस्था में नहीं, [सुषुप्ति] की अवस्था में रहता है। किस जैसे शिशु माँ की गोद में सुखपूर्वक निश्चि साथ अचेतावस्था में शयन करता है। भीतर गर्भस्थ शिशु को किसी प्रकार का क्लेश नहीं होता है, क्योंकि वह वहां में सोरहा होता है।

अग्ने ! अतिशय शिव तू कर्मों करके,
पुनः पुनः पृथिवी सदन पर संस्थित होकर,
इसमें भीतर शयन करता है
ज्यों उपस्थ में माँ की।

५५३ **पुनरूर्जा नि वर्तस्व पुनरग्न इषायुषा। पुनर्नः पाह्यंहसः॥**

[य १२.९, सा १८३२] य १२.४०

पुनः ऊर्जा नि वर्तस्व पुनः अग्ने इषा आयुषा। पुनः नः पाहि अंहसः।

उपर्युक्त चार मन्त्रों में आत्मसाधकों ने सविवेक जाना है कि आत्मा कर्मानुसार पुनः-पुनः शरीर धारण करके जन्म-मरण के चक्र में भ्रमण है। इस चक्र से मुक्त होने का एकमात्र

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ापमुक्त होना। पाप ही है जो पापकर्म अथवा ष्कर्म कराता है और परिणामस्वरूप जन्म-मरण बीभत्स चक्र में घुमाता है।

पाप और पुण्य, कर्म की दो धारायें हैं। पाप न्धनकारी है। पुण्य मोक्षकारी है। पापकर्म रने पर ही मनुष्य बन्दी बनाया जाता है। पुण्य-र्मा कभी भी बन्दी नहीं बनाया जाता है। मोक्षा-लाषी साधक मोक्षपद दर्शानेवाले वैष्णव साधक पुनः-पुनः पुकारते हैं—

) (अग्ने) अग्रणी वैष्णव साधक !

) (ऊर्जा) उत्साह के साथ (पुनः नि वर्तस्व) नः लौट, फिर-फिर आ। (इषा आयुषा) इच्छा-शक्ति और संजीवन से युक्त करके (नः) हमें (पुनः पुनः अंहसः पाहि) पुनः-पुनः पाप से बचा।

[मन्त्र ९ की व्याख्या अवलोकन कीजिये]।

अग्रणी वैष्णव साधकवर्ग जब सोत्साह सर्वत्र विचरता हुआ निष्पाप बनने का उपदेश करता रहता है तो मानवों में इच्छाशक्ति और संजीवनी का संचार होता रहता है। परिणामस्वरूप वे निष्पाप बनकर आत्मसाधना करते हैं और मोक्ष के भागी बनते हैं।

[पद्यानुवाद और सूक्ति मन्त्र ९ की व्याख्या में देखें।]

५५४ सह रय्या नि वर्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया। विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि॥
[य १२.१०, सा १८३३] य १२.४१

सह रय्या नि वर्तस्व अग्ने पिन्वस्व धारया। विश्व-प्स्न्या विश्वतः परि।

) (अग्ने) अग्रणी वैष्णव साधक !

) (रय्या सह) आत्मैश्वर्य के साथ (नि वर्तस्व) टट, वापस आ।

) (विश्व-प्स्न्या धारया) सर्व-गता वाणी के साथ विश्वतः परि पिन्वस्व) सर्वतः परि-गमन ।

मोक्षपद की प्राप्ति के लिये निष्पापता का म्पादन करना होता है। निष्पापता का एकमात्र ूक साधन है आत्मैश्वर्य। आत्मसाधना द्वारा आत्मविवेक, आत्मवीर्य, आत्मज्योति, आत्मसंबल, आत्मैश्वर्य का सम्पादन होता है और वाणी सर्व-गता, सर्वत्र प्रगतिसम्पादिका, सर्वप्रभाविनी तथा मोक्षप्रतिपादिनी बनती है।

मोक्षप्रतिपादक वैष्णव साधकवर्ग आत्मैश्वर्य से सम्पन्न होकर सर्वत्र पुनः-पुनः जाते हैं और सर्वगता वाणी से वेदोपदेश करके मानवप्रजा को निष्पाप बनाते हैं।

[पद्यानुवाद मन्त्र १० की व्याख्या में देखें।]

५५५ बोधा मे अस्य वचसो यविष्ठ मंहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधावः।
पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति वन्दारुष्टे तन्वं वन्दे अग्ने॥
[ऋ १.१४७.२] य १२.४२

बोध मे अस्य वचसः यविष्ठ मंहिष्ठस्य प्र-भृतस्य स्व-धा-वः।
पीयति त्वः अनु त्वः गृणाति वन्दारुः ते तन्वम् वन्दे अग्ने।

णी वैष्णव साधक पुनः-पुनः स्थान-स्थान पर चकर सर्व जनों को भद्र और मोक्ष का सन्देश देता है। कोई उसकी निन्दा करे वा प्रशंसा, जीव-न्मुक्त रहते हुए, उसे दिव्य पथ पर चलते रहना

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है। मंहिष्ठ और प्रभृत के मुख से इस मन्त्र द्वारा उसे सम्बोधन कराकर वेदमाता ने इसी सन्देश का प्रकाशन किया है—

१) (यविष्ठ) युवतम ! अतिशय युवन् ! (स्व-धा-वः) स्वधावन् ! (अग्ने) अग्रणी वैष्णव साधक !

'यु' अमिश्रणे मिश्रणे च। 'यु' धातु, जिससे युवन् शब्द बना है, का अर्थ है तोड़ना और जोड़ना। जो दुरित को तोड़ता और भद्र को जोड़ता है, जो बुराई [अधर्म] का नाश और अच्छाई [धर्म] की स्थापना करता है, जो बन्धन तोड़कर मोक्ष के पथ से युक्त करता है, वह युवा अथवा युवती है।

स्वधावः=स्व-धा-वः, स्व-धारणावाला, आत्म-धारणा से युक्त। जो परावलम्बित होकर नहीं, आत्मनिर्भर होकर कर्मसाधना करता है, वह स्वधाव है।

भद्र तथा मोक्ष की जनसाधना के लिये साधक को दुरितनिवारण और भद्रप्रस्थापन की क्षमता से अतिशयता के साथ युक्त और आत्मधारणा से संयुक्त होकर साधरत रहना होता है।

२) तू (मे अस्य मंहिष्ठस्य प्रभृतस्य वचसः बोध) मुझ इस मंहिष्ठ और प्रभृत के वचन का बोध कर।

मंहिष्ठ नाम अतिशय महान् का है। जिसकी प्रत्येक गति और चेष्टा अतिशय महान् होती है, जो प्रबुद्ध मानव अतिशयता के साथ मानवता की रक्षा तथा सज्जा के लिये सर्वस्व अर्पण करता है, उसकी संज्ञा मंहिष्ठ है।

प्रभृत नाम है उस सहृदय मानव का जो आत्म-निष्ठा के साथ मानवों के जीवन के सुपालन और उनके आत्मा के सुपोषण में निरत रहता है।

मंहिष्ठ और प्रभृत ही हैं जो वैष्णव साधक की मानवीय साधना का सम्यक् मूल्यांकन करते साधक की साधना की गुरुता की अनुभूति से पूर्ण होकर प्रत्येक मंहिष्ठ और प्रभृत वैष्णव साधक निवेदन करता है—मुझ इस मंहिष्ठ के और इस प्रभृत के वचन को जान और साधक सुपथ पर आगे बढ़ता रह। क्या है वह वचन

३) यह कि साधना के मार्ग पर चलते हुए पीयति) कोई निन्दा करता है, (त्वः अनु गृ कोई प्रशंसा करता है। निन्दा और स्तुति रहता हुआ तू अपनी सुपावन साध की में निरत रह।

४) (वन्दारुः) अभिवादनशील, वन्दनशील तन्वम्) तेरे जीवन को (वन्दे) अभिवादन कर

मंहिष्ठ और प्रभृत की वन्दना का जो है, वह साधारण जनों की वन्दना का मंहिष्ठ और प्रभृत जिसकी वन्दना करते हैं जीवन निस्सन्देह सुधन्य है, वन्दनीय है।

यविष्ठ ! स्वधावन ! अग्ने !
मुझ इस मंहिष्ठ और प्रभृत के
जान वचन को।
कोई निन्दा करे,
करे वा स्तवन कोई।
मैं वन्दारु,
करता हूं तेरे जीवन को
अभिवादन सस्नेह।

सूक्ति : **पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति।**
कोई निन्दा करता है, कोई प्रशंसा करता
वन्दारुष्टे तन्वं वन्दे अग्ने।
ज्ञानिन् ! वन्दनशील मैं तेरे जीवन को
करता हूं।

५५६ स बोधि सूरिर्मघवा वसुपते वसुदावन्। युयोध्यस्मद् द्वेषांसि विश्वकर्मणे स्वाहा॥

[ऋ २.६.४]

य १२.४३

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सः बोधि सूरिः मघ-वा वसु-पते वसु-दावन् । युयोधि अस्मत् द्वेषांसि विश्व-कर्मणे स्वाहा ।

हिष्ठ और प्रभृत द्वारा अग्रणी वैष्णव साधक
वन्दना के साथ ही सर्व जन उससे विनय
रते हैं—
) (वसु-पते) ! (वसु-दावन्) !
जनवाणी से ये दो सम्बोधन वैष्णव साधक के
त जनास्था का द्योतन कररहे हैं। वसु नाम
ण और ऐश्वर्य का है। प्राण से ही जीवन है
र जीवन में प्राण ही संजीवन है। सर्व जनों के
ते आत्मनिजतामय प्यार, सर्व जन की साधनामय
वा और उन्हें प्रबोध तथा प्रज्ञान प्रदान करके
उनका प्राण और संजीवन बन गया है।
ोध और प्रज्ञान ही साधक का ऐश्वर्य है, जिसे
जन-जन को बांटता फिर रहा है। वह वसुओं
स्वामी है और वसुओं का निरन्तर सर्व जनों
दान करता है। वसुओं का स्वामी ही वसुदानी
सकता है।
) (सः सूरिः मघ-वा) वह सूरि मघवा तू [हमें]
धि) बोध प्राप्त करा, (अस्मत् द्वेषांसि युयोधि)
से द्वेषों को अलग कर, द्वेषभावनाओं को हमसे
रख।
सूर्य के समान प्रखर ज्ञानप्रकाश से युक्त होने
वैष्णव साधक 'सूरि' है। मघोंवाला, मघों का
ामी होने से वह 'मघवा' है। मघ नाम पूजित
ा का है। आध्यात्मिक धन ही पूजित धन है।
तिक धन जहां सुख देता है, वहां आध्यात्मिक
आनन्द प्रदान करता है। शरीर से सुख का
न. किया जाता है। आत्मा से आनन्द का
आस्वादन किया जाता है। प्रकृति सुखरूपा है।
अतः वह प्रापणीय तो है, पूजनीया नहीं। ब्रह्म
आनन्दस्वरूप है। ब्राह्म सम्पदा आत्म-आनन्द की
देनेवाली है। अतः वह पूजनीया है।

भौतिक सम्पदा जहां सुखयिनी है, वहां वह द्वेष-विद्वेषों की जननी भी है। वह तो आध्यात्मिक सम्पदा ही है जो मानवों को द्वेषरहित करके मानवसमाज को आत्मनिजतामय स्नेहसूत्र में ग्रथित करती है। भौतिक सम्पदा में जब आध्यात्मिक पुट होता है, तब ही मानवप्रजा सुख के साथ आनन्द का आस्वादन करती है और तब ही मानव-समाज द्वेष-विद्वेषों से मुक्त रह पाता है।

३) द्वेषरहित रहते हुए, हम (विश्व-कर्मणे स्वाहा) सकल-शुभकर्मानुष्ठान के लिये सुहुत रहें, विश्वहित-साधनार्थ समर्पित रहें।

मानवप्रजा जब सर्वथा द्वेषरहित होजाती है, तब ही वह शुभ कर्मों में निरत रहती है और तब ही संसार में सुधर्म और सुकर्म की बेलें फूलती-फलती हैं।

वसुपते ! वसुदावन् !
वह तू सूरि मघवा,
बोध करा, रख दूर
सकल द्वेषों को हमसे।
रहें सुहुत हम सकल श्रेष्ठ शुभ
के लिये और विश्वहिताय।

सूक्ति : **युयोध्यस्मद् द्वेषांसि ।**
हमसे द्वेषों को दूर कर/रख।

५५७ **पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसवः समिन्धतां पुनर्ब्रह्माणो वसुनीथ यज्ञैः ।**
घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः ॥ य १२.४४

पुनः त्वा आदित्याः रुद्राः वसवः सम् इन्धताम् पुनः ब्रह्माणः वसु-नीथ यज्ञैः ।
घृतेन त्वम् तन्वम् वर्धयस्व सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः ।

Compare ऋग्वेद. 12-2.6 — घृत लाजाएा

-८११- आदित्यः — पृथिवी
त्वमस्मावपनो जनानामादितेः कामदुघा पप्रथाना —
ऋग्वेद. 12-1-6.7

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अपनी विनय को जारी रखते हुए सर्व जन कहे चले जा रहे हैं—

१) (वसु-नीथ) वसु-नयन करनेवाले ! वसु-प्रापक !

अग्रणी वैष्णव साधक को यहां वसु-नीथ शब्द से सम्बोधन किया गया है। जैसाकि पूर्व-मन्त्र की व्याख्या में बताया गया है, वसु नाम प्राण और ऐश्वर्य का है। प्रबोध और विज्ञान ही साधक का ऐश्वर्य है, जन-जन को जिसकी प्राप्ति कराकर वह मानवप्रजा का प्राण और संजीवन बन गया है। इसी से सब उसे 'वसुनीथ' कह रहे हैं।

२) (आदित्याः रुद्राः वसवः ब्रह्माणः) आदित्य, रुद्र, वसु, ब्रह्मा (यज्ञैः) यज्ञों द्वारा (त्वा) तुझे (पुनः पुनः सम् इन्धताम्) पुनः पुनः प्रज्वलित—प्रकाशित करें।

आदित्य नाम अदिति—पृथिवी के पुत्र का है। परिवारपुत्र अपने परिवार को ही अपनाते और पोषते हैं। समाजपुत्र अपने समाज को अपनाते और पोषते हैं। राष्ट्रपुत्र अपने राष्ट्र को अपनाते और पोषते हैं। किन्तु आदित्य [पृथिवीपुत्र] सारी पृथिवी को अपनाते हैं, पृथिवी पर निवास करनेवाली सम्पूर्ण मानवप्रजा को अपना परिवार मानते हैं और उनकी सर्वाङ्ग उन्नति में निरत रहते हैं। आदित्यों की नागरिकता सार्वभौम होती है। वे किसी एक देश वा एक राष्ट्र के नहीं, सारी पृथिवी के नागरिक होते हैं। आदित्य विश्वनागरिक होते हैं।

रुद्र=रुत्+द्र। रुत् नाम रोग का है। रुतों—रोगों को दीर्ण करनेवाले, रोगों का शमन करनेवाले रुद्र कहलाते हैं। शरीरविज्ञान के निष्णात वैत्ताओं की रुद्र संज्ञा है। वे शारीरिक निरीक्षण करके रोगों का निदान करते हैं और साथ ही चिकित्सा भी करते हैं। बाह्य रोगों की ही नहीं, अन्तः रोगों की, अन्तःकरण के रोगों की भी वे चिकित्सा करते हैं। अन्तः-बाह्य समस्त रोगों की जो चिकित्सा करते हैं वे रुद्र हैं।

वसवः शब्द का प्रयोग यहां धनिक स्वामियों के लिये हुआ है। साधकों का ऐश्व प्रबोध और प्रज्ञान है, वहां धनिकों का ऐ धन, धान्य, भौतिक सम्पदा।

ब्रह्म=परमात्मा। ब्रह्म=वेद। ब्रह्म= ब्रह्मपरायण, वेदनिमग्न सुविप्रों अथवा की ही संज्ञा है ब्रह्माणः [ब्रह्मा]।

यज्ञ नाम है उन श्रेष्ठतम कर्मों का जो भावना से परोपकाराय और लोकहिता जाते हैं।

वैष्णव साधक का जीवन परोपकारा हिताय है, स्वार्थ [स्व-अर्थ] नहीं स उसकी सेवा और सुरक्षा करना, उसकी मानवीय साधों में उससे सहयोग और करना सभी का कर्तव्य है। आदित्य उस को देश-देशान्तरों में फैलायें, रुद्र उसे सब प्रकार के रोगों से मुक्त रखते हुए सुपुष्ट, सुडौल और सुन्दर बनाये रहें। के स्वामी 'वसवः' उसे सर्व साधनों से रखें। वेदवित् ब्रह्मपरायण ब्रह्माणः उसके साधनापथ को प्रशस्त करें। आदि वसु और ब्रह्मा—चारों प्रकार के सुमा उससे पुनः-पुनः मिलें और उसकी सुसेवा उसकी दिव्य साधों को संसिद्धि में पुनः-पु सहायता करें। उनके द्वारा सस्नेह की सेवायें ही वे यज्ञ हैं जिनसे साधक का और प्रकाशन होगा।

३) (घृतेन त्वम् तन्वम् वर्धयस्व) शरीर को बढ़ा।

यह सर्व जनों के कर्तव्य का द्योतन जन साधक को घृत, दुग्ध आदि पौष्टिक, तथा आयुर्वर्धक पदार्थों का सेवन करा साधक संकोच करे तो उससे कहें, 'भगव

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

घ आदि पदार्थों का सेवन करके अपने शरीर को स्थतर करते रहिये।'

(सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः) सत्य हों जमान की कामनायें।

वैष्णव साधक यजमान है उस सार्वभौम यज्ञ जिसके द्वारा विश्व के समग्र मानवों को ष्पाप बनाकर उन्हें मोक्ष का अधिकारी बनाना उनके लिये मोक्ष का पद प्रशस्त किया जाना। विश्व के मानवों के सुखसौभाग्य को जगाने के ये उसकी असंख्य दिव्य कामनायें तथा संशुद्ध जनायें हैं। सर्व जन उसके प्रति शुभ कामनायें । सब मानव उसके लिये प्रार्थना करें, 'प्रभो !

इस यज्ञशील साधक की कामनायें कमनीयता के साथ सत्य हों, सिद्ध हों।'

पुनः पुनः, वसुनीथ, प्रकाशें तुझे
सतत आदित्य, रुद्र, वसु, अपि च ब्रह्मा
यज्ञों द्वारा।
घृत से बढ़ा तनू को अपने,
सत्य सिद्ध हों
यज्ञशील की अभिलाषायें।

सूक्ति : **घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व।**
घृत से तू शरीर को स्वस्थतर रख।
सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः।
सत्य सिद्ध हों यज्ञशील की अभिलाषायें।

Spread your missionaries

५८ (2) अपेत वीत वि च सर्पतातो ये (1) अत्र स्थ पुराणा ये च नूतनाः।
(3) अदाद् यमो (4) अवसानं पृथिव्या (5) अक्रन्निमं पितरो लोकमस्मै ॥
[ऋ १०.१४.९, अ १८.१.५५] य १२.४५

अप इत वि इत वि च सर्पत अतः ये अत्र स्थ पुराणाः ये च नूतनाः।
अदात् यमः अव-सानम् पृथिव्याः अक्रन् इमम् पितरः लोकम् अस्मै ॥

Be ye the years of the world

ईङ् - गत्यर्थ
सर्पत - गत्यर्थ :

शील अग्रणी वैष्णव साधक अपने सहसाधक-धिकाओं को प्रेरणात्मक आदेश देता है —

(ये) जो तुम (पुराणाः) पुराने, आयुर्वृद्ध च) अपि च (ये) जो तुम (नूतनाः) नये, युवतम तरः) पिता (अत्र स्थ) यहां हो, सब (अतः) हां से (अप इत) दूर-दूर चले जाओ, (वि इत) गमन करो, विविध दिशाओं में बिखर जाओ, सर्पत) वि-सर्पण करो, विदिशाओं में व्याप ओ।

'पितरः' शब्द पितृ शब्द का बहुवचन है। यहां तरः शब्द का प्रयोग पितृवत् शिक्षण-प्रशिक्षण नेवाले साधक-साधिकाओं के लिये हुआ है।

पृथिवी की समग्र मानवप्रजा को निष्पाप ना और उनके लिये मोक्ष का पथ प्रशस्त करना ई सरल कार्य नहीं है। तदर्थ विविध विशुद्ध जनाओं का आयोजन और प्रशिक्षण-शिविरों का सुसंचालन करना होगा, नगर-नगर और प्रदेश-प्रदेश में व्यापकर अध्यात्मज्योति जगानी होगी। उसके लिये असंख्य आयुर्वृद्ध और अनुभवी, अपि च सुशिक्षित और प्रशिक्षित युवा पिताओं को अपने जीवन अर्पण करने होंगे। सम्पूर्ण पृथिवी पर दिशा-विदिशाओं में व्यापकर उन्हें साचार वेदप्रचार करना होगा, साभ्यास आत्मसाधना करानी होगी।

२) पितरो ! (यमः) नियन्ता [प्रभु] ने [तुम्हें] (पृथिव्याः) पृथिवी का (अव-सानम्) अधिकार, अवसर (अदात्) दिया है। तुम्हारा यह परम सौभाग्य है कि सर्वनियन्ता देव ने तुम्हें सम्पूर्ण पृथिवी पर कार्य करने का साधिकार अवसर दिया है।

(पितरः) पिताओं ने, पितृवत् लोककल्याण की साधना करनेवाले सहसाधकों ने (अस्मै) इसके लिये, इस नियन्ता की महिमा के वर्धन के लिये

अवसानम् — अवकाश — ८१३ — अवकाशार्थ — ल्युट्

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(इमम् लोकम्) इस लोक को (अक्रन्) [आलोकित] कर दिया।

पितृकोटि के साधक प्रभु को अर्पित होकर जब मानवजाति के सुमंगल के लिये समस्त भूलोक पर संसाधना करते हैं, तब निश्चय ही यह लोक उस आलोक से आलोकित हो पाता है जिसमें जन-जन निष्पाप और निर्मल बनता चला जाता है।

अपि च जो तुम हो नूतन,
यहां से जाओ दूर-दूर,
करो विगमन, जाओ बिखर,
व्याप जाओ विदिशा-प्रदिशा में।
यम ने दिया अवसान पृथिवी का,
पितरों ने कर दिया आलोकित,
इस लोक को इसके लिये।

सूक्ति : अपेत वीत वि च सर्पत।

जो तुम हो पुराने, जाओ, बिखर जाओ, व्याप जाओ।

नूतन:

५५६ संज्ञानमसि कामधरणं मयि ते कामधरणं भूयात्।
अग्नेर्भस्मास्यग्नेः पुरीषमसि चित स्थ परिचित ऊर्ध्वचितः श्रयध्वम् ॥ य १२.४६

सम्-ज्ञानम् असि काम-धरणम् मयि ते काम-धरणम् भूयात्।
अग्नेः भस्म असि अग्नेः पुरीषम् असि चितः स्थ परि-चितः ऊर्ध्व-चितः श्रयध्वम्।

क्या पुराना और क्या नया, प्रत्येक सहसाधक अग्रणी वैष्णव साधक के उदात्तादेश से सुप्रभावित होकर उसके प्रति कह उठता है—

१) तू साक्षात् (काम-धरणम् सम्-ज्ञानम् असि) काम-धरण संज्ञान है, (मयि ते काम-धरणम् भूयात्) मुझमें तेरा काम-धरण हो।

'काम-धरण संज्ञान' नाम उस दिव्य ज्ञान का है जिससे कमनीय कामनाओं का धरण—प्रस्थापन होता है। ब्रह्म का साक्षात्कार, आत्मा का सन्दर्शन, निष्पापता की संव्याप्ति, मोक्ष की साधना, धर्म का आचरण, योगाभ्यास, परोपकार, मानवता की प्रस्थापना, साचार वेदप्रचार इत्यादि वे कमनीय कामनायें हैं, मानवप्रजाओं में जिनका धरण वैष्णव साधक की पुनीत साध है। प्रत्येक सहसाधक कह रहा है, 'अग्रणी साधक! तू कामधरण संज्ञान है। मुझमें तेरा कामधरण हो, ऐसा कामधरण कि मैं तेरी कमनीय कामनाओं को अपनी कामनायें बनाकर उनकी सम्पूर्ति में संलग्न रहूं।

२) तू (अग्नेः भस्म असि) ब्रह्माग्नि की भस्म है।

प्रत्येक भस्म अग्नि में तपाकर शोधी जाती है और विशेष गुण से युक्त होती है। भस्म के सेवन से कड़ाके की सरदी में भी मनुष्य काय अथवा स्वल्प-वस्त्र रह सकता है। भस्म के सेवन से अमित पुंसकत्व का संचार होता है। वैष्णव साधक ब्रह्माग्नि में शोधी गई भस्म है, जिसके सेवन—संगतिकरण से उस साधक ब्राह्म प्रकाश और ब्राह्म बल से युक्त सम्पूर्ण पृथिवी को अपनी साधना का क्षेत्र लेते हैं। उसके प्रभाव से प्रभावित होकर साधक दिशा-प्रदिशाओं में व्यापकर संसाधना रहे हैं।

३) तू (अग्नेः पुरीषम् असि) ब्रह्माग्नि पुरीष है।

पुरि + इषम् = पुरीषम्। जिस जीवन ब्रह्म की इच्छा—प्रेरणा से प्रेरित होकर गति और चेष्टा की जाती है, वही जीव का पुरीष है। वैष्णव साधक के जीवन कुछ हो रहा है, ब्रह्माग्नि की सुपावन प्रेरणा होरहा है।

और अब वैष्णव साधक अपने पितृ

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

चकों] में आत्मश्रेयता का संचार करता हुआ
ता है—

तुम सब (स्थ) हो (चितः) संज्ञानी, चयन-
ल, (परि-चितः) परि-ज्ञानी, परि-चयनशील,
ऊर्ध्व-चितः) ऊर्ध्व-ज्ञानी, उच्च-चयनशील।

श्रेयश्चिन्तन से उस आत्मश्रेयता की उपलब्धि
ती है जिससे सर्वतः उत्कर्ष होता है। हेयचिन्तन
उस आत्महेयता का सम्पादन होता है जो
धन-सम्पदा को अधोगति के गर्त में पटक
ा है।

संज्ञान से युक्त होकर सहसाधक श्रेयों का
न करें। परि-ज्ञानी बनकर वे सब ओर से
:-सम्पदाओं का संचय करें। ऊर्ध्व-ज्ञानी बन-
कर वे उच्च श्रेयोवैभवों का उच्चयन करें।

२) (श्रयध्वम्) सहारो, आश्रय होओ, बेसहारों का सहारा बनो, विश्वकल्याण का आधार बनो।

तू है संज्ञान कामधरण,
मुझमें ही तेरा कामधरण।
तू है भस्म अग्नि की
तू है अग्नि का पुरीष।
तुम हो चेतनामय चयनशील,
परिज्ञानमय परिचयनशील,
ऊर्ध्वज्ञानमय ऊर्ध्वचयनशील,
बनो आश्रय।

सूक्ति : **श्रयध्वम्।**
बनो बेसहारों का तुम सहारा।

६० **अयं सो अग्निर्यस्मिन्त्सोममिन्द्रः सुतं दधे जठरे वावशानः।**
सहस्रियं वाजमत्यं न सप्तिं ससवान्त्सन्त्स्तूयसे जातवेदः॥
[ऋ ३.२२.१] य १२.४७

अयम् सः अग्निः यस्मिन् सोमम् इन्द्रः सुतम् दधे जठरे वावशानः।
सहस्रियम् वाजम् अत्यम् न सप्तिम् सस-वान् सन् स्तूयसे जात-वेदः।

ध्वम्'=आश्रय होओ, विश्वकल्याण का
ार बनो, 'बनो बेसहारों का तुम सहारा।' कैसे
इस उदात्तोदात्त आदेश का पालन? इसके
नार्थ जिस सुत सोम और वाज की आव-
ता है, वह कहां से उपलब्ध होगा?

वैष्णव साधक उत्तर देता है—(अयम् सः अग्निः) वह ब्रह्माग्नि है, (यस्मिन् जठरे) जिस गर्भ (इन्द्रः) आत्मा (वावशानः) [विश्वकल्याण की कामना करता हुआ (सुतम् सोमम्) सुत सोम (दधे) धारण किया करता है।

'सुत' का अर्थ है सुनिष्पन्न, शुद्ध, सिद्ध, निर्मल, निर्विकार। सोम शब्द का प्रयोग हुआ है यहां सौम्यता से युक्त सुपावन जीवन के लिये। ब्रह्माग्नि ही वह दिव्य गर्भ है जिसमें समाहित होकर तपकर जीवन सुत सोम बनता है। जिस प्रकार विद्युत् से युक्त होकर लोहा विद्युद्-रूप होजाता है, जिस प्रकार अग्नि में निहित होकर कोयला अग्निरूप होजाता है, वैसे ही सम्पूर्ण भावना से ब्रह्माग्नि में सतत समाहित रहने से जीवन 'सुत सोम' बनते हैं; निर्मल, निर्विकार और सुसोम्य बनते हैं। सुत सोम से अलंकृत होकर ही आत्मा विश्वकल्याण की कामना और सफल साधना करते हैं।

वैष्णव साधक के वचनों से प्रप्रेरित होकर सहसाधक आत्मश्रद्धा के साथ ब्रह्माग्नि को सम्बोधित करने लगते हैं—(जात-वेदः) जातमात्र को जाननेवाले! जातमात्र को प्राप्त! सर्वव्यापक और सर्वज्ञ ब्रह्माग्ने! तू सचमुच (अत्यम् सप्तिम् न) अत्य सप्ति के समान (सहस्रियम् वाजम्) सहस्रिय वाज को/का (ससवान्) संवि-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भाजक—संवितरक—संप्रदाता (सन्) होकर (स्तूयसे) स्तुता जाता है।

'अत्य सप्ति' नाम सतत तीव्र—सुतीव्र सर्पण [आशुगमन] करनेवाले अश्व का है। सूर्य वह अश्व है जो स्वयं सतत तीव्र गमन करता है और जिसका रश्मिसमूह सुतीव्रता के साथ सतत गमन करता रहता है। इस सुतीव्र सतत गमन के आश्रय से ही सूर्य तथा उसका रश्मिसमूह विश्व को असंख्य वाज प्रदान करता रहता है और उसीसे विज्ञानवेत्ता उसका प्रशस्तिगान करते हैं।

वाज नाम ज्योति, शक्ति और संग्राम का है। संग्रामजयार्थ ज्योति और शक्ति—दोनों की आवश्यकता होती है। ज्योति के बिना शक्ति और शक्ति के बिना ज्योति निरर्थक सिद्ध होती है। निर्मल निर्विकार जीवन जब समाधि द्वारा सूर्य से सुयुक्त और भावना द्वारा ब्राह्म से संयुक्त रहते हैं तो उन [जीवनों] में अक्षय ज्योति और असंख्यधार शक्ति का संचार होता है, जिसके आश्रय से वे विश्वकल्याण संग्रामों में विजयसाफल्य प्राप्त करते रहते हैं।

यह वह अग्नि कि जिस जठर में
इन्द्र कामना करता हुआ,
धारण करता है सुत सोम।
जातवेदः! अत्य सप्ति की तरह होकर
संविभाजक सहस्रिय वाज का,
स्तुता जाता है तू सम्यक्।

५६१ अग्ने यत् ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र।
येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ त्वेषः सः भानुरर्णवो नृचक्षाः॥
[ऋ ३.२२.२] य १२.४८

अग्ने यत् ते दिवि वर्चः पृथिव्याम् यत् ओषधीषु अप्-सु आ यजत्र।
येन अन्तरिक्षम् उरु आ-ततन्थ त्वेषः सः भानुः अर्णवः नृ-चक्षाः।

ब्रह्माग्नि के प्रति अपने सम्बोधन को जारी रखते हुए सहसाधक कहे चले जारहे हैं—(यजत्र अग्ने)! (ते यत् वर्चः दिवि) तेरा जो तेज द्यौ में, (यत् पृथिव्याम् ओषधीषु अप्सु) जो पृथिवी में, ओषधियों में, जलों में (आ-ततन्थ) फैला—व्यापा हुआ है, तूने अपने (येन) जिस [तेज] से (उरु अन्तरिक्षम्) विशाल अन्तरिक्ष को (आ-ततन्थ) व्यापा हुआ है, तेरा (सः त्वेषः) वह तेज (भानुः) सूर्य [के समान प्रकाशमान] (अर्णवः) समुद्र [के समान गहन], (नृ-चक्षाः) मानवों का द्रष्टा है।

यजत्र नाम यज्ञकर्ता का है। ब्रह्माग्नि सृष्टि-रूपी यज्ञ का याजक है। वह यज्ञकर्ता ही इस सृष्टि के अनन्त, असीम, अपार यज्ञ का यजन कर रहा है।

इस सृष्टि में कहीं भी स्थित होकर देखिये, सर्वत्र तीनों लोक विद्यमान हैं। कहीं से भी द्यौ की ओर दृष्टि डालने से प्रकाशलोक दृष्टिगोचर होते हैं—वह द्युलोक है। जिस में जो जहां स्थित है, वह पृथिवीलोक है। द्यौ लोक और द्युलोक के मध्य जो आकाश है वह अन्तरिक्ष लोक है।

सृष्टिरूपी अनादि, अनन्त यज्ञ के याजक ब्रह्म यजत्र की महिमा का द्योतन हो रहा है। द्यौ में उसी का वर्च जगमगा रहा है। पृथिवी और पृथिवीजन्य ओषधियों, वनस्पतियों और जलों में उसी का तापहारी तेज निहित है। जलों में उसी की तृप्ति है। अनन्त, असीम अन्तरिक्ष में वही व्यापा हुआ है। उसी का तेज सर्वत्र सूर्य के तेज के समान प्रकाशमान गहन सागर की गहराई की तरह वह गहन

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

गर में गहनता के साथ समाया हुआ सर्वद्रष्टा वह है। पर वह यजत्र ब्रह्म विशेषत: नवप्रजाओं का सन्द्रष्टा है। ऐसा क्यों न हो? नव ब्रह्म का नेदिष्ठ है, ब्रह्म का निकटतम है, ा से दूसरे दर्जे पर है, सृष्टिनायक है। मानव ीपरि योनि है। सृष्टि में मानव की प्रत्यक्ष हमा है, मही महिमा है।

यजत्राग्ने,
तेरा है जो वर्च द्यौ में,
जो पृथिवी में, ओषधियों में,
और जलों में फैला हुआ,
तूने अपने जिस तेज से
व्यापा है उरु अन्तरिक्ष को,
तेरा वह ही तेज भानु है,
अर्णव है और है नृचक्षा।

६२ अग्ने दिवो अर्णमच्छा जिगास्यच्छा देवाँ ऊचिषे धिष्ण्या ये।
या रोचने परस्तात् सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः॥
[ऋ ३.२२.३] य १२.४९

अग्ने दिवः अर्णम् अच्छ जिगासि अच्छ देवान् ऊचिषे धिष्ण्याः ये।
या रोचने परस्तात् सूर्यस्य याः च अवस्तात् उप-तिष्ठन्ते आपः।

ने सम्बोधन को जारी रखते हुए सहसाधक चले जारहे हैं—

और (अग्ने) ब्रह्माग्ने! अपने (सूर्यस्य रोचने) के रोचन में, आदित्य वर्ण के प्रकाश में (दिवः) द्यौ से अर्ण—जलस्रोत को, अपि च (याः ाः परस्तात्) जो जलधारायें परे-ऊपर [मूर्धा] च याः) और जो [जलधारायें] (अवस्तात्) नीचे दय] से (उप-तिष्ठन्ते) उपस्थित होती हैं, उनको ही (अच्छ जिगासि) सम्यक् गति देता है, रता है।

(ये धिष्ण्याः) जो धिषणावान् हैं, उन (देवान्) के प्रति [तू] (अच्छ ऊचिषे) सम्यक् बोलता है। सूर्य के रोचन से तात्पर्य समाधि-अवस्था में मा द्वारा अवलोकनीय ब्रह्म के उस सौन्दर्य से है 'वरेण्य भर्ग' अथवा 'आदित्य वर्ण' कहते हैं। मानवदेह में मस्तिष्क ही वह द्यौ है जिससे कख्यातिरूपी अर्ण का निर्झरण होता है। अर्ण निर्झरण से आनन्दघन के आनन्द की जो लहरें से हृदय की ओर और हृदय से मूर्धा की ओर ारित होती हैं, उनके लिये ही यहां आपः शब्द का प्रयोग हुआ है।

धिषणा शब्द 'धिष्' (शब्दे) धातु से बना है। 'धिष्ण्याः' कहते हैं उन धिषणावानों—सुवक्ताओं को जो अपनी संसिद्ध वाणी से ब्रह्मतत्त्व अथवा अध्यात्म का सुप्रकाशन करते हैं।

परम पावन प्रभो! समाधि-अवस्था में तेरे वरेण्य भर्ग अथवा आदित्य वर्ण के प्रकाश में मूर्धा से निर्झरित विवेकार्ण को तू ही प्रेरता है। फिर विवेकार्ण से तुझ आनन्दघन के आनन्द की जो धारायें ऊपर [मूर्धा] से और नीचे [हृदय] से प्रवाहित होती हैं, वे भी तेरी प्रसादमयी कृपा से ही प्रेरित होती हैं।

किसकी वाणी में इतनी शक्ति है कि तेरे प्रसाद का वर्णन कर सके? जो धिषणावान् हैं, जो देव जन तेरे आदित्य वर्ण का दर्शन करके तेरे स्वरूप और तेरी कृपा का वर्णन करते हैं, वे वैसा करने में तब ही सफल होते हैं, जब उन देव जनों के प्रति तू स्वयं बोलता है, उनकी वाणी से तू स्वयं बोलता है, तू स्वयं उनकी वाणी को प्रेरित करता है।

अग्ने,
अपने ही आदित्य वर्ण के

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सुप्रकाश में,
प्रेरता है तू
द्यौ से अर्ण को,
धाराओं को,
जो ऊपर से,
जो नीचे से,
होती हैं उपस्थित सम्यक् ।
हैं जो सुवक्ता,
उन देवों के प्रति
बोलता है तू स्वयम् ।

Cosmopolitan places

५६३ पुरीष्यासो अग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः । जुषन्तां यज्ञमद्रुहो ऽनमीवा इषो महीः ॥
[ऋ ३.२२.४]
य १२.
पुरीष्यासः अग्नयः प्र-वणेभिः स-जोषसः । जुषन्ताम् यज्ञम् अ-द्रुहः अन्-अमीवाः इषः मही

जो धिषणावान् सुवक्ता अपनी संसिद्ध वाणी से ब्रह्माग्नि के प्रसाद का वर्णन करते हैं, जिनकी वाणी से ब्रह्माग्नि स्वयं बोलता है, वे (पुरीष्यासः) ब्रह्मप्रेरित, (स-जोषसः) प्रेमी, (अ-द्रुहः) द्रोहरहित, (अन्-अमीवाः) अमीवरहित (अग्नयः) आत्म-अग्नि (प्र-वणेभिः) प्र-वणों से (यज्ञम् इषः महीः) संगति-करण, इच्छाओं [सदिच्छाओं], प्रदेशों—राज्यों को (जुषन्ताम्) सप्रेम सेवन करें ।

पुरि+इष्य=पुरीष्य । जीवनपुरी में जो ब्रह्म से युक्त और प्रेरित होकर बोलते तथा कर्म करते हैं, वे पुरीष्य हैं ।

पुरीष्य आत्माग्नि स्वभावतः सजोषसः होते हैं । 'जुषी' (प्रीतिसेवनयोः)। प्रीतिपूर्वक सबसे संगत होकर जो संसेवन और सुसेवा करते हैं, वे 'सजोषसः' हैं ।

पुरोष्य, सजोष आत्माग्नि ही 'अद्रुह्' होते हैं । वे न प्राणियों से द्रोह करते हैं, न ब्रह्म से । ब्रह्मद्रोही ही ब्रह्म की प्रजाओं से द्रोह करते हैं । जिन्हें ब्रह्म से प्यार होता है, वे ब्रह्म की प्रजाओं से भी प्यार करते हैं । अमीव नाम कष्ट और क्लेश का है । जो किसी से द्रोह नहीं करते, वे ही 'अन्-अमीव' होते हैं । वे न किसी को कष्ट देते हैं, न स्वयं क्लेश को प्राप्त होते हैं । कष्ट और क्लेश का अटूट सम्बन्ध है । जो अन्यों को कष्ट देते हैं, वे स्वयं भी क्लेशयुक्त रहते हैं ।

प्रवण नाम चतुष्पथ अथवा चौराहे का है । 'प्रवणेभिः' से तात्पर्य यहां उन प्रांगणों से है जिनमें चारों दिशाओं से, सब ओर से, मानवों का निर्बाध प्रवेश होता है, जहां किसी के भी प्रवेश पर कोई रोक-टोक नहीं होती है ।

प्रवण ही, सर्वदिक् खुले मैदान ही हैं जहां मानवप्रजाओं का आत्मीयतामय संगतिकरण, सदिच्छाओं और सद्विचारों का उदार आदान-प्रदान, पृथिवी के समस्त प्रदेशों—राज्यों का सप्रेम सुस्नेह सम्मिलन होता है ।

ब्रह्मप्रेरित, प्रेममय, द्रोहरहित, सर्वत्र आत्माग्नि सभी प्रदेशों और राज्यों में जाएं । जनिक स्थानों पर सर्व जनों का संगम [संगतिकरण] करके उनमें सदभिलाषाओं, सद्भावनाओं का संचार करें और उन्हें धर्मात्मा, वेदनिष्ठ और अध्यात्मरत बनाएं । इच्छा तथा विचार । यथा विचार तथा भावना । यथा भावना तथा साधना । यथा साधना तथा सिद्धि । इस तत्त्व को दृष्टि में रखकर प्रज्वलित-प्रबुद्ध आत्मसाधक-साधिकाएं मानवीयता के साथ सुप्रचार करते हैं ।

ब्रह्मपरायण और प्रेममय,
अद्रोही, अनमीव अग्नियां
चतुष्पथों से करें सुसेवन
प्रीतिसहित संगतिकरण को,
सदिच्छाओं और प्रदेशों को ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

५६४ इडामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध ।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥

{ ऋ ३.१.२३, ३.५.११, ३.६.११, ३ ७.११, ३.१५.७, ३.२२.५, ३.२३.५, सा ७६ } य १२.५१

इडाम् अग्ने पुरु-दंसम् सनिम् गोः शश्वत्-तमम् हवमानाय साध ।
स्यात् नः सूनुः तनयः वि-जा-वा अग्ने सा ते सु-मतिः भूतु अस्मे ।

ह्मपरायण, प्रेममय, द्रोहरहित, सर्वसुखयिता लीनता के साथ वेदाध्ययन करने से ही साधक को ात्मसाधकों की यह कितनी गहन प्रार्थना है—

) (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! हममें से प्रत्येक हवमानाय) आह्वानशील [आत्मसाधक] के लिये (साध) सिद्ध कर (इडाम्) वाणी को और गोः शश्वत्-तमम् पुरु-दंसम् सनिम्) प्रकाश के नातन-तम, बहु-कर्म संविभाग को ।

इडा शब्द का प्रयोग यहां स्तुत्य वेदवाणी के लिये हुआ है और सनिम् शब्द का वेदवाणी के विभक्त वाङ्मय के लिये । चार वेदसंहितायें ही दवाणी का संविभक्त वाङ्मय हैं । यही वाङ्मय ानप्रकाश का शाश्वततम और बहु-कर्म, अथवा र्व मानवकर्मों का समुच्चय है । मानवकर्म अथवा ानवधर्म के लिये जो कुछ चाहिये, वह सब वेद-ाङ्मय में है । 'प्रकाशस्वरूप, वेदप्रकाशक पर-ात्मा प्रत्येक आह्वानशील साधक के लिये दवाणी और उसके वाङ्मय को सिद्ध करे ।' ाधक आह्वानशील है । वह जन-जन का ाह्वान करेगा और सर्व जनों को कल्याण तथा क्ष का पथ दर्शायेगा । ऐसा वह तब ही कर केगा जब प्रकाशस्वरूप परमात्मा उसके लिये द तथा वेदवाङ्मय को मर्मार्थसहित सिद्ध रेगा । वेद और वेदवाङ्मय के सत्य ज्ञान के ना पूर्ण मानवहित सर्वथा असम्भव है । ब्रह्म-

तनयः शब्द का प्रयोग यहां 'सन्तति' अर्थ में हुआ है ! आत्मसाधकों, वेदप्रचारकों के लिये यहां एक चेतावनी है । उन्हें सदैव प्रभु से यह प्रार्थना और स्वयं ऐसी साधना करनी चाहिये कि उनकी सन्तति वैदिक साधों और आत्मसाधनाओं को आगे लेजानेवाली, अपि च रचनात्मक परम्पराओं को उन्नत करनेवाली हो । अन्यथा साध और साधनायें दोनों ही कालान्तर में समाप्त होजाती हैं, सर्वथा लुप्त होजाती हैं ।

अग्ने ! संसिद्ध कर हमारे लिये
इडा को, प्रकाश के बहुकर्म,
शाश्वततम संविभाग को ।
अग्ने ! हो हमारा पुत्र
प्रेरक और व्युत्पादनशील,
तेरी वह सुमति रहे हमें सम्प्राप्त ।

सूक्ति : स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावा ।
हो हमारा पुत्र प्रेरक और व्युत्पादनशील ।

५६५ अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः । तं जानन्नग्न आ रोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥
[ऋ ३.२९.१०, य ३.१४, १५.५६, अ ३.२०.१] य १२.५२

अयम् ते योनिः ऋत्वियः यतः जातः अरोचथाः । तम् जानन् अग्ने आ रोह अथ नः वर्धय रयिम् ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पूर्व-मन्त्र में आत्मसाधकों ने प्रार्थना की—'प्रभो ! संसिद्ध कर स्तुत्य वेदवाणी, संसिद्ध कर वेदवाणी का संविभाग, सन्तति हो वेदवाणी और वेद-संविभाग को आगे लेजानेवाली ।' वेद का संविभाग केवल संहिताओं के रूप में नहीं, विविध कर्तव्य कर्मों तथा ज्ञान-विज्ञानों के रूप में भी है ।

सत्य विद्याओं के भण्डार वेद तथा उसकी संविभक्त संहिताओं के अनुशीलन, तद्विहित कर्तव्य कर्मों के निर्वहन और ज्ञान-विज्ञानों के आविष्करण की सार्थकता सत्य के आदिस्रोत सत्यस्वरूप ब्रह्माग्नि के सन्दर्शन में ही है । अतः अपनी प्रार्थना को जारी रखते हुए वे कहते हैं—

१) (अग्ने) ब्रह्माग्ने ! (अयम् ते ऋत्वियः योनिः) यह तेरा ऋत्विय गृह है, तू (यतः जातः) जहां से प्रकट होकर (अरोचथाः) रुचा है ।

योनि नाम गृह का है । यह सृष्टि गृह है, ब्रह्माग्नि जिसका गृही है । ब्रह्म का यह सृष्टि-गृह ऋत्विय है । ऋत्विय=ऋतु+इय=ऋतु-अनुसार गति करनेवाला । प्राकृतिक ऋतु अथवा ऋत—नियम के अनुसार गति करनेवाला होने से सृष्टि-गृह ब्रह्म-स्रष्टा का ऋत्विय गृह है ।

'रुच' दीप्तावभिप्रीतौ च । 'रुच' धातु है रोचकता और अभिप्रीति, सुन्दरता और प्रेम । सौन्दर्य के प्रति प्रेमाकर्षण स्वाभाविक है । 'सुन्दर देव ! यह संसार तेरा ऋतमय है, जिसमें प्रकट—प्रभासित होकर तू अपने को प्रतिभासित कर रहा है और अपने अनन्त सौन्दर्य से तू हमें अपने प्रति प्रीतिमान बना रहा है ।'

२) अपने (तम्) उस [ऋत्विय गृह] को प्रकाशता हुआ तू (आ रोह) उदित हो और (रयिम् वर्धय) और हमारे आत्मैश्वर्य को बढ़ा ।

'जिस प्रकार आरोहित—उदित होकर तू सबको दिखाई देता है, उसी प्रकार तू हमारे आकाश में आरोहित होकर हमें अपना सन्दर्शन दे । प्रकृति के आवरण से अनावृत होकर तू प्रकाशित हो और हमारे आत्मैश्वर्य का वर्धन कर । ऐश्वर्य देह का ऐश्वर्य है । आत्मा का ऐश्वर्य तो तू ही है ।'

[पद्यानुवाद और सूक्ति य ३.१४ के नीचे]

५६६ चिदसि तया देवतया ऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ।
परिचिदसि तया देवतया ऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ य १२.५३

चित् असि तया देवतया अङ्गिरस्-वत् ध्रुवा सीद ।
परि-चित् असि तया देवतया अङ्गिरस्-वत् ध्रुवा सीद ।

ब्रह्माग्नि ही वह देवता है जो ऋत्विय गृह में प्रकाशित होकर रुच रहा है और साधकों ने जिसके प्रति पूर्व-मन्त्र में प्रार्थना की है—आरोहित हो और हमारे आत्मैश्वर्य का वर्धन कर ।

इस मन्त्र से आत्मसाधकों द्वारा उनके अपने चित् को सम्बोधन कराकर वेदमाता उस देवता के सन्दर्शन अथवा साक्षात्कार का उपाय बताती है—

१) तू (चित् असि) चित् है, (ध्रुवा) निश्चला [होकर] (तया देवतया) उस देवता के साथ (अंगिरस्-वत्) प्राणवत्, प्राण के समान रहती हुई (सीद) स्थित—समाहित रह ।

'चित्' का अर्थ है चिन्तना, भावना । चिन्तना और भावना के संयोग का नाम चित् है । मस्तिष्क के निश्चल चिन्तन और अन्तर की अविचल भावना के साथ जब साधक निर्विकार रहता हुआ उस देवता के प्रति रहता है तो उसे पलक झपकते ही अन्तर्मुख हृदयाकाश में उसके वरेण्य भर्ग तथा आ

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

का सन्दर्शन होता है।

(२) तू (परि-चित् असि) परि-चित् है, (ध्रुवा) निश्चला [होकर] (तया देवतया) उस देवता के साथ (अंगिरस्-वत्) प्राणवत्, प्राण के समान सतत—सन्तत—निरन्तर (सीद) स्थित—समाहित रह।

चिन्तना और भावना भी 'परि' हो, परिपूर्ण हो। परिपूर्ण चित् के साथ जब साधक प्राणवत् सतत—सन्तत—निरन्तर उस देवता के प्रति समाहित रहता है तो उसे भीतर, बाहर, सर्वत्र, परितः उसके सौन्दर्य का सन्दर्शन होता है।

तू चित् है, ध्रुवा होकर तू,
संगत रह उस देवता के प्रति,
अंगिरस्वत्।
तू परिचित् है, ध्रुवा होकर,
संगत रह उस देवता के प्रति,
अंगिरस्वत्।

५६७ **लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम्।**
इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनावसीषदन्॥
[य १५.५९] य १२.५४

लोकम् पृण छिद्रम् पृण अथो सीद ध्रुवा त्वम्। इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिः अस्मिन् योनौ असीसदन्।

वत् को सम्बोधन करते हुए आत्मसाधक कहे ले जारहे हैं—

(१) (त्वम्) तू (लोकम् पृण) जीवनलोक को पूर, (छिद्रम् पृण) छिद्र को पूर, (अथो ध्रुवा सीद) और निश्चला [होकर] स्थित—समाहित हो।

चित् [चिन्तना, भावना] के आश्रय से जब आत्मसाधक अपने जीवनलोक की पूर्ति तथा जीवनलोक के छिद्र की प्रपूर्ति करते हैं, तब ही वे आत्मसमाहित होकर उस देवता का सन्दर्शन कर ते हैं।

छिद्र शब्द का प्रयोग यहां विषयेन्द्रिय [शिश्न, ग] के छिद्र के लिये हुआ है। छिद्र की पूर्ति से तात्पर्य संयम अथवा ब्रह्मचर्य की साधना से है। ब्रह्मचर्य के बिना ब्रह्म के सन्दर्शन की सफल साधना अथवा असम्भव है। इस छिद्र पर नितान्त संयम रखकर जब आत्मसाधक अच्युत बनता है, तब ही वह अपने जीवनलोक की प्रपूर्ति करता है, तब ही आत्मलोक के आलोक में उस देवता का अवलोकन करता है।

(त्वा) तुझ [चित्] को (इन्द्राग्नी बृहस्पतिः) इन्द्र, अग्नि और बृहस्पति ने (अस्मिन् योनौ) इस [ऋत्विय, ऋतप्रेरित] योनि में (असीसदन्) स्थित—समाहित किया है।

ब्रह्माग्नि के इस ऋतप्रेरित गृह में, इस प्रकृतिजन्य लुभावने संसार में चित् को समाहित करना सरल कार्य नहीं है। यह तभी सम्भव होता है जब इन्द्र, अग्नि और बृहस्पति की सहायता मिलती है।

इन्द्र है इन्द्रियों का स्वामी आत्मा। अग्नि है ऋत्विय गृह का गृही ब्रह्माग्नि। बृहस्पति है बृहत् [वेद] का पालन करनेवाला, वेदाचारी, योगनिष्णात आचार्य [गुरु]। साधक के आत्मा में जब ब्रह्म के सन्दर्शन की तीव्रतम तड़प उत्पन्न होती है, तब वह ब्रह्म की कृपा और गुरु के प्रसाद का अधिकारी बनता है। ईशकृपा और गुरु के प्रसाद से ही साधक अपने चित् को समाहित कर पाता है। मानव अपने उद्दाम पराक्रम और अपनी उत्कट साधना से सब कुछ कर सकता है, किन्तु ब्रह्म का दर्शन उसे स्वयं ब्रह्म की अनुकम्पा और गुरु के प्रसाद से ही होता है। गुरु विधि दर्शाता है, प्रभु वरण करता है, तब चित्समाहिति सिद्ध होती है।

पूर लोक को, पूर छिद्र को,
और समाहित हो ध्रुवा तू।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इस योनि में किया समाहित
तुझे इन्द्र, अग्नि, बृहस्पति ने ।

सूक्ति : लोकं पृण छिद्रं पृण ।
जीवनलोक को पूर, छिद्र को पूर।

५६८ ता अस्य सूददोहसः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः । जन्मन् देवानां विशस्त्रिष्वा रोचने दिवः ।
[ऋ ८.६९.३, य १५.६०]
ताः अस्य सूद-दोहसः सोमम् श्रीणन्ति पृश्नयः । जन्मन् देवानाम् विशः त्रिषु आ रोचने दिवः ।

(अस्य) इस [देवता ब्रह्म के दर्शन] के (सोमम्) आनन्द को (श्रीणन्ति) पकाती हैं । (त्रिषु) तीन [योगांगों]में, (देवानाम् जन्मन्) देवों के जन्म—जीवन में, (दिवः आ रोचने) द्यौ के आरोचन—सुप्रकाश में, (ताः विशः) वे प्रजायें, जो होती हैं (सूद-दोहसः) सूद दोहनेवाली और (पृश्नयः) सींचनेवाली ।

आत्मतड़प, प्रभुकृपा और गुरुप्रसाद के मिष से सिद्ध समाहिति द्वारा ब्रह्म के दर्शन से जो आनन्द प्राप्त होता है, उसी के लिये यहां सोम शब्द का प्रयोग हुआ है ।

यह वह सोम है जिसे साधारण मानवप्रजायें नहीं पका पाती हैं । उसका परिपाक वे ही मानव-प्रजायें करती हैं जो सूद का दोहन करती हैं और सूददोहन से प्राप्त जल से भक्ति अथवा प्रभुप्रेम के अंकुर को सींचती हैं ।

सूद नाम कूप और स्रोत का है । कूप में जो जल है वह कूप का नहीं है, उस जलस्रोत का है जो भूमि की तह में प्रवाहित रहता है । कूप के माध्यम से प्राप्त स्रोत के जल का दोहन करके अंकुरों, पौधों, वृक्षों को निरन्तर सींचा जाता है, तब जाकर सुफलों की उपलब्धि होती है । इसी प्रकार जो मानवप्रजायें अपने जीवनकूप [अन्तः-करण] में निहित चित् [चिन्तन, भावना] के स्रोत का दोहन करके भक्ति के सींचती हैं, वे ही सोमसुफल का करती हैं ।

यह सोम पकाया जाता है—
१) (त्रिषु) तीन में, धारणा-ध्यान-समाधि के इन तीन अंगों में । योग की परिभाषा त्रित का नाम संयम है । संयम के निरन्त से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है ।
२) (देवानाम् जन्मन्) देवों के जन्म—दे देवों से तात्पर्य यहां योगनिष्णात दिव्य से है । योगियों की जीवनपद्धति के अनु अनुकरण से ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है
३) (दिवः आ रोचने) द्यौ के आरोचन-प्र में । मानवजीवन में मस्तिष्क द्यु स्थानीय [धारणा-ध्यान-समाधि] के सिद्ध होने पर 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' अथवा विवेक के रूप में जो आरोचन अथवा प्रकाशन होता है ब्रह्म का दर्शन तथा आनन्दलाभ होता है

इसके सोम को पकाती हैं
तीन में, देवों के जीवन में,
द्यौ के आरोचन में,
वे प्रजायें, जो होती हैं
स्रोतसुदोहा, सेचनशीला ।

५६९ इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः । रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ।
[ऋ १.११.१, य १५.६१, १७.६१, सा ३४३, ८२७]
इन्द्रम् विश्वाः अवीवृधन् समुद्र-व्यचसम् गिरः ।
रथि-तमम् रथिनाम् वाजानाम् सत्-पतिम् पतिम् ।।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पर्युक्त सोम का परिपाक करनेवाले (विश्वाः गिरः) ब स्तोताओं ने (समुद्र-व्यचसम्) समुद्र-व्यापी, ष्टिरूपी समुद्र में व्यापक (रथिनाम् रथितमम्) थियों के रथितम, (वाजानाम् पतिम्) वाजों के ति, (सत्-पतिम्) सत्पुरुषों के रक्षक, (इन्द्रम्) इन्द्र ो (अवीवृधन्) बढ़ाया है।

सृष्टिरूपी समुद्र में जितने लोकलोकान्तर हैं, सब स्रष्टा ब्रह्म की इन्द्रियां हैं। इसी से इस न्त्र में ब्रह्म को इन्द्र कहा गया है। अपनी ाप्तिमात्र से सकल लोकलोकान्तररूपी रथों का चालक होने से उसे 'रथियों का रथितम' परम ारथि कहा गया है।

वाज नाम ज्योति और शक्ति का है। अपनी जस्र ज्योति और अक्षय शक्ति से वह सम्पूर्ण सृष्टि ो द्योतित तथा पोषित करता है। इसी से वह 'वाजों का पति' कहाता है।

पति तो वह सत्, असत् सभी पुरुषों का है। सत्पुरुष सर्वात्मना उसका वरण करके उसके प्रति समर्पित रहते हैं, उसी को अपना पति—स्वामी—संरक्षक मानते हैं। इसो से वह 'सत्पति' कहाता है। निस्सन्देह वह अपने शरणागत सत्पुरुषों की रक्षा करता है।

प्रभु की महिमा का स्तवन तथा उसके गुणों का वर्णन करना ही उसका बढ़ाना वा वर्धन करना है।

वर्धन करते चले आरहे
हैं सब स्तोता,
रथियों के रथि,
वाजों के पति,
सत्पति इन्द्र का।

आत्मा एवं शरीर का संघात जीवन

५७० **समितं सं कल्पेथां संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। इषमूर्जमभि संवसानौ॥** य १२.५७

सम् इतम् सम् कल्पेथाम् सम्-प्रियौ रोचिष्णू सु-मनस्यमानौ। इषम् ऊर्जम् अभि सम्-वसानौ।

ह्मसोम का परिपाक और ब्रह्म का सन्दर्शन करते ए उसका साक्षात् स्तवन करना निश्चय ही म्भवनीय है, यदि आत्मा की इच्छाशक्ति और रीर के ऊर्ज् का साधक के जीवन में सुसंयोग । इसी तथ्य का उद्घाटन करने के लिये वेद-ता स्वयं साधक के मुख से कहला रही है—(सम्-यौ रोचिष्णू सु-मनस्यमानौ सम्-वसानौ) स-य, रोचनीय, सु-मनस्यमान, सं-वसान [तुम दोनों] म् इतम्) सं-साधना करो, (इषम् ऊर्जम्) इष् र ऊर्ज् को (अभि सम् कल्पेथाम्) सर्वतः सम्यक् ल्प—विकसित करो।

कौन हैं ये दोनों जिनके लिये उपर्युक्त चार शेषणों का प्रयोग हुआ है? ये हैं आत्मा और रीर, जिनके संयोग का ही नाम है जीवन।

जीवन में आत्मा और शरीर 'संप्रियौ' हैं, स्पर एक-दूसरे को सम्यक् प्रिय हैं। आत्मा को शरीर बहुत प्रिय है और शरीर को आत्मा अतिप्रिय है। ऐसा क्यों न हो? आत्मा के लिये शरीर सर्वधर्मसाधन है और शरीर के लिये आत्मा सत्त्वसर्वस्व है, धनसर्वस्व है।

जीवन में आत्मा और शरीर हैं 'रोचिष्णू', परस्पर एक-दूसरे की रोचकता—शोभनीयता के सम्पादक। शरीर में जो शोभनीयता है वह आत्मा से ही है और आत्मा की जो प्रतीति है वह शरीर से ही है।

जीवन में आत्मा और शरीर 'सु-मनस्यमानौ' हैं, परस्पर एक-दूसरे की सुप्रसन्नता के सुप्रसाद हैं। स्वस्थ-सुपूर्ण शरीर में ही आत्मा सुप्रसन्न रहता है और आत्मा के आश्रय से ही शरीर प्रफुल्लित रहता हैं।

जीवन में आत्मा और शरीर 'संवसान' हैं, संवस्त्र हैं। आत्मा ने शरीर को ओढ़ा हुआ है और

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शरीर ने आत्मा को ढांपा हुआ है।

'इष्' का अर्थ है इच्छा, इच्छाशक्ति। 'ऊर्ज्' का अर्थ है बल, क्षमता। आत्मा की इच्छाशक्ति और शरीर की सक्षमता मिलकर जब समितन—संसाधना करती हैं तो ही ब्रह्मसोम का परिपाक और ब्रह्म का सन्दर्शन होता है।

साधक अपने आत्मा की इच्छाशक्ति और शरीर की साधनाशक्ति का सदा सम्यक् कल्प—विकास करता रहे। दोनों शक्तियों के से प्रत्येक असम्भव सम्भव हो जाता है और से कठिन साधें संसिद्ध होजाती हैं।

संप्रिय, शोभन, प्रहर्षित,
और संवस्त्र तुम दोनों मिलकर
करो साधना सम्यक् सन्तत,
इष् और ऊर्ज् का करो कल्प तुम
अभितः और सर्वतः सम्यक्।

५७१ सं वां मनांसि सं व्रता समु चित्तान्याकरम्।
अग्ने पुरीष्याधिपा भव त्वं न इषमूर्जं यजमानाय धेहि॥ य १२.५८

सम् वाम् मनांसि सम् व्रता सम् उ चित्तानि आ अकरम्।
अग्ने पुरीष्य अधि-पाः भव त्वम् नः इषम् ऊर्जम् यजमानाय धेहि।

साधक अपने शरीर और आत्मा को सम्बोधन करता हुआ कहे चला जारहा है—

१) मैंने (वाम्) तुम दोनों के (मनांसि सम् आ अकरम्) संकल्पों को संयुक्त—समाहित—संशुद्ध कर लिया है, (व्रता सम्) व्रतों को संयुक्त [कर लिया है], (चित्तानि उ सम्) भावनाओं को भी संयुक्त—समाहित—संशुद्ध [कर लिया है]।

मन और चित्त तो शरीर और आत्मा का समान ही है और एक ही है। 'मनांसि' से यहां तात्पर्य मन के संकल्पों से है और 'चित्तानि' से तात्पर्य चित्त की भावनाओं से है। मन के संकल्पों और चित्त की भावनाओं के संयुक्त—संशुद्ध होने पर ही आत्मा की इच्छाशक्ति और शरीर की साधनाशक्ति का संविकास होता है। परिणामस्वरूप उभय शक्तियों से साधनीय लौकिक और पारलौकिक जो व्रत हैं, उनकी सफल साधना होती है।

२) (पुरीष्य अग्ने) ब्रह्मप्रेरित आत्माग्ने! (त्वम्) तू (नः) हमारा, हम सब साधकों का (अधि) अधिकाधिक—अतिशय रक्षक हो, (पुरीष्य) यज्ञशील—साधनाशील [साधक] के लिये (इषम् ऊर्जम्) इच्छाशक्ति और शरीरसंबल धारण—स्थापन—प्रदान कर।

ब्रह्मसमाहित आत्मा ही ब्रह्मप्रेरित अध्यात्मपथ पर साधकों की रक्षा करता साधनाशील अभ्यासी की इच्छाशक्ति शारीरिक साधनाशक्ति को जगाता है।

तुम दोनों के संकल्पों को
किया है मैंने शुद्ध—समाहित,
व्रतों को संयुक्त समाहित,
भावनाओं को शुद्ध—समाहित।
ब्रह्मप्रेरित आत्माग्ने!
तू हमारा अधि-रक्षक हो,
कर प्रदान यजमान के लिये
इच्छाशक्ति और शरीरबल।

५७२ अग्ने त्वं पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिमाँ असि।
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः॥ य १२.५९

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अग्ने त्वम् पुरीष्यः रयि-मान् पुष्टि-मान् असि ।
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वम् योनिम् इह आ असदः ।

ब्र साधक अपने शरीर के अधिष्ठाता आत्मा को
म्बोधन करता हुआ कहता है—
ब्रह्मसमाहित होकर मेरे (अग्ने) आत्माग्ने !
त्वम्) तू (असि) है, होगया है (पुरीष्यः) ब्रह्म-
रित, (रयिमान्) आत्मैश्वर्यवान्, (पुष्टिमान्)
ष्टिसम्पन्न ।
जो जिसमें समाहित होता है, वह वैसा ही
जाता है। अग्नि में समाहित होकर कोयला अग्नि-
प होजाता है । आत्माग्नि ब्रह्माग्नि में समाहित
कर ब्रह्मरूप होगया है ।
ब्रह्म प्रेरक है । ब्रह्मसमाहित होकर साधक
आत्मा सतत ब्रह्मप्रेरित रहता है ।
ब्रह्म रयिमान् है । रयि नाम आत्मैश्वर्य का है ।
ह्मसमाहित होकर साधक का आत्मा आत्मैश्वर्यों
सम्पन्न होगया है ।
ब्रह्म पुष्टिमान् है, सर्वशक्तिमान् है । ब्रह्म-
ाहित होकर साधक का आत्मा ब्राह्म बलों से
बलिष्ठ और ब्राह्म शक्तियों से सशक्त होगया है ।
२) ब्रह्मप्रेरित, ब्राह्म सम्पदाओं से सम्पन्न और ब्राह्म
पोषों से सम्पुष्ट होकर (अग्ने) आत्माग्ने ! तू (सर्वाः
दिशः शिवाः कृत्वा) सब दिशाओं को कृत-कृत्य
करके (इह) यहां [अपने शरीर में] (स्वम् योनिम् आ
असदः) अपने स्वरूप को आस्थित हुआ-हुआ है ।

ब्रह्मप्रेरित तथा ब्राह्म सम्पदाओं और ब्राह्म
बलों से सम्पन्न आत्मा सब दिशा-विदिशाओं को
शिवताओं से संशिव कर देता है और सतत, सन्तत,
निरन्तर अपने आत्मस्वरूप में आस्थित—अवस्थित
रहता है ।

आत्माग्ने ! है तू सम्यक् ब्रह्मप्रेरित,
आत्मैश्वर्यों का स्वामी,
और पुष्टियों से सम्पुष्ट ।
करके सर्व दिशाओं को शिव
यहां अवस्थित हुआ है तू
निज स्वरूप में ।

७३ **भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ ।**
मा यज्ञं हिंसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ॥
[य ५.३] य १२.६०

भवतम् नः स-मनसौ स-चेतसौ अ-रेपसौ ।
मा यज्ञम् हिंसिष्टम् मा यज्ञ-पतिम् जात-वेदसौ शिवौ भवतम् अद्य नः ।

ा और पत्नी के युगल का नाम दम्पती है।
म्पत्य जीवन के पवित्र होने पर परिवार पवित्र
ता है। परिवार-परिवार के पवित्र होने से समाज
त्र होता है । समाज-समाज के पवित्र होने पर
और राष्ट्र पवित्र होता है। देश-देश और
ट्र-राष्ट्र के पवित्र होने पर सारी पृथिवी और
री मानवप्रजा पवित्र होती है। सार्वभौम
त्रता की प्रस्थापना होजाने पर ही सारी
न्धरा पर अध्यात्म-सुधा की सरितायें परिसृत
होती हैं। इसी भाव से भावित होकर इस मन्त्र
में साधक प्रत्येक दम्पती को सम्बोधन करता हुआ
कहता है—
१) तुम दोनों (भवतम्) होओ (नः) हमारे लिये,
हम सब मानवों के कल्याण के लिये (स-मनसौ)
मनवाले, सजीव और शुद्ध मन से युक्त, (स-चेतसौ)
चेतनावान्, आत्मचेतना से युक्त, (अ-रेपसौ) अ-
रेप, निर्मल, अनिन्द्य ।

दम्पती जब समन, सचेत और अरेप होंगे,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तब ही मानवप्रजा भी समन, सचेत और अरेप बनेगी और तब ही मानवमात्र के मानस में आध्यात्मिक जीवनपद्धति के प्रति अनुराग होगा।

२) तुम दोनों (भवतम्) होओ (अद्य) आज (नः) हमारे लिये, हम मानवप्रजाओं के श्रेयार्थ (जातवेदसौ) जात को जाननेवाले, संज्ञानी, विवेकी, (शिवौ) कल्याणकारी।

दम्पती जब संज्ञान—विवेक से युक्त और कल्याणभावना से भावित होते हैं, तब ही मानवसमाज में उस वातावरण की व्याप्ति होती है जिसमें अध्यात्म का संविकास होता है।

३) तुम दोनों (मा यज्ञम् हिंसिष्टम् मा यज्ञपतिम्) न जीवनयज्ञ को हिंसो, न आत्मयज्ञपति को।

दम्पती जब अपने और अपने परिवार के जीवनों को यज्ञिय बनाये रखते हैं और उनके आत्माओं में जीवनयज्ञ की प्रतिष्ठा स्थापना सम्भव होती है। जीवन को रखना जीवनयज्ञ की हिंसा है। आत्मा को विषयों में रत रखना जीवनयज्ञ के यज्ञपति की हिंसा है। दम्पती को न जीवनयज्ञ करनी चाहिये, न यज्ञपति आत्मा की।

दोनों रहो हमारे लिये
समन, सचेत, अरेप।
दोनों रहो हमारे लिये
आज विवेकी, मंगलकारी।
दोनों हिंसो न ही यज्ञ को,
न ही यज्ञपति को।

सूक्ति : **मा यज्ञं हिंसिष्टं मा यज्ञपतिम्।**
दम्पती ! न जीवनयज्ञ को हिंसो, न [illegible] को।

५७४ **मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्यमग्निं स्वे योनावभारुखा।**
तां विश्वैर्देवैर्ऋतुभिः संविदानः प्रजापतिर्विश्वकर्मा वि मुञ्चतु॥

य १२.६१

माता-इव पुत्रम् पृथिवी पुरीष्यम् अग्निम् स्वे योनौ अभाः उखा।
ताम् विश्वैः देवैः ऋतु-भिः सम्-विदानः प्र-जा-पतिः विश्व-कर्मा वि मुञ्चतु।

पृथिवी पर निवास करनेवाली समग्र मानवप्रजा का मूलाधार है दाम्पत्यप्रणाली, जिसके सुव्यवस्थित और संशुद्ध रहने पर ही मानवसन्तति समुन्नत रहती हुई मानवधर्म की रक्षा करती है, मानवता से युक्त रहती है और सम्पूर्ण पृथिवी पर शरीरसुख और आत्म-आनन्द का सम्पोषण तथा संवर्धन करती है। अन्यथा तो समग्र भूमण्डल पर निर्ऋति—कृच्छ्रापत्ति, दारुण दुःख, घोर विपत्ति आच्छादित रहती है। देश-देश और राष्ट्र-राष्ट्र में बंट जाने पर भी पृथिवी सभी मानवों की समान सुपोषिका माता है और प्रजापति परमात्मा सब मानवों का समान पिता भाव को व्यक्त करती हुई वेदमाता कहती

१) (पृथिवी उखा) पृथिवीरूपा हांडी (अग्निम्) पुरीष्य अग्नि को (स्वे योनौ) अपनी योनि में धारण किये हुए है (पुत्रम्) माता जैसे पुत्र—सन्तति को।

'पुरीष्य अग्नि' का प्रयोग यहां हांडी में डालने वाले अथवा पकानेवाले अग्नि के अर्थ में है। पृथिवी उखा है। उसके भीतर निहित अग्नि उसे खदकाता—पकाता है। तो ही उसमें फल आदि असंख्य खाद्य पदार्थ उत्पन्न

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

का सभी प्राणी सेवन करते हैं। यही नहीं, वी-उखा में पुरीष्य अग्नि के आश्रय से स्वर्ण, त, हीरे, जवाहरात, लोहा, तांबा, पीतल, चूना, र आदि असंख्य सम्पदायें भी सम्पादित होती जिनसे मानवों के धनैश्वर्यों का संवर्धन ा है।

जिस प्रकार माता अपने पुत्र-पुत्री को अपनी में धारण करके उसे अपने स्तनों का दुग्ध कराती है और उसका पोषण करती है, उसी ार सर्व मानवों की माता यह पृथिवी सर्व वों को अपनी गोद में सहार रही है और उन्हें ने पोषों से पोष रही है। पृथिवी माता के गर्भ सम्प्राप्त सम्पदाओं से ही मानव ऐश्वर्यशाली ते हैं।

(विश्व-कर्मा प्रजा-पतिः) विश्वकर्मा प्रजापति मानवों को] (सम्-विदानः) सम्यक् बोध ता हुआ (विश्वैः देवैः ऋतुभिः) समस्त देवों ऋतुओं से (ताम्) उस [पृथिवी-उखा] को र्ऋति से] (वि मुञ्चतु) विमुक्त करे, सर्वथा रखे।

ब्रह्माग्नि ही विश्वकर्मा है। उसी की संव्याप्ति से विश्व की रचना होती है। वह ही आत्मारूपी प्रजाओं का सत्पति है।

दिव्यताओं का ही नाम 'देव' है। दिव्यताओं से युक्त होने के कारण सूर्य, चन्द्र आदि प्राकृतिक लोक 'देव' कहलाते हैं। ऋताचार, सत्याचार का ही नाम ऋतु है। ऋत अथवा प्राकृत नियम से युक्त होने के कारण मौसम 'ऋतु' कहलाते हैं।

विश्वकर्मा प्रजापति साधकों को ही नहीं, सकल मानवों को बोध कराता हुआ, सब देवों और ऋतुओं द्वारा, समस्त दिव्यताओं और ऋताचारों से मानवप्रजाओं को युक्त रखता हुआ, पृथिवी-उखा को निर्ऋति से मुक्त रखे, वेदमाता की यह स्नेहमयी कामना हम मानवों के लिये सुफलदायिनी रहे।

अपनी योनि में धारण किये
हुए है पुरीष्य अग्नि को
पृथिवी उखा, यथा पुत्र को माता।
विश्वरचयिता प्रजापति
सम्यक् बोध कराता हुआ,
सब देवों और ऋतुओं द्वारा
उसे मुक्त रखे निर्ऋति से।

उनकी चाल का पीछा
उनका ही पीछा करना
तेरे योग्य है-

१७५ असुन्वन्तमयजमानमिच्छ स्तेनस्येत्यामन्विहि तस्करस्य।
अन्यमस्मदिच्छ सा त इत्या नमो देवि निर्ऋते तुभ्यमस्तु ॥ य १२.६२

अ-सुन्वन्तम् अ-यजमानम् इच्छ स्तेनस्य इत्याम् अनु इहि तस्करस्य।
अन्यम् अस्मत् इच्छ सा ते इत्या नमः देवि निः-ऋते तुभ्यम् अस्तु।

(देवि निःऋते)!

(इच्छ) चाह (असुन्वन्तम्) असुन्वान्—अधीर को, (यजमानम्) अयजमान—असाधनाशील को।

(अनु इहि) अनु-गमन कर, पीछा कर (स्तेनस्य) न [शैतान, छलिया] की, (तस्करस्य) तस्कर त्कर, ठग] की (इत्याम्) गति—चाल को/

(ते सा इत्या) तेरी वह गति—चाल है।

५) (इच्छ अस्मत् अन्यम्) चाह हमसे भिन्न को।

६) (नमः अस्तु तुभ्यम्) नमः [स्वागत] हो तेरे लिये।

'निर्ऋति' का अर्थ है घोर विपत्ति, भयंकर आपत्ति, कृच्छ्रापत्ति। 'ऋति' नाम गति, मार्ग और कल्याण का है। निर्गत हो जाये, निकल जाये जिससे गति, मार्ग, कल्याण, उसे 'निर्ऋति' कहते हैं। निर्ऋति नाम उस संकटापन्न स्थिति का है

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जिससे बचने का कोई मार्ग दिखाई नहीं देता है, जिससे गति—प्रगति बिल्कुल रुद्ध होजाती है, जिसमें सब ओर अमंगल और विनाश ही दिखाई देता है।

जो आत्मसोम का सवन करते हैं, ब्रह्मसोम का निष्पादन करते हैं, सामयोग से समत्व का सम्पादन करते हैं, वे 'सुन्वन्' हैं।

'यजमान' का अर्थ है यज्ञशील। यज्ञिय कर्म ही करना शील है जिनका, उन्हें यजमान कहते हैं। आत्मसाधना में सन्तत निरत रहना जिनका स्वभाव है, वे यजमान हैं।

निर्ऋति का 'देवी' विशेषण महत्त्वपूर्ण है। निर्ऋति देवी है, दिव्यताओं की अधिष्ठात्री है, दिव्य देनों की दात्री है। जो सुन्वन् और यजमान होते हैं, विपत्तियां उनके जौहर को जगाती हैं। आपत्तियों में वे काली घटाओं से घिरे चन्द्रमा की तरह सुमुख प्रतीत होते हैं। आपत्तियां वे दिव्य पाठ पढ़ाती हैं, वे दिव्य अनुभव प्राप्त कराती हैं, उन दिव्यताओं से द्योतित करती हैं, अन्यथा जिनकी प्राप्ति सर्वथा असम्भव है। आपत्तियों ने ही सुन्वनों और यजमानों को महान् बनाया है और उन्हें दिव्यताओं से समलंकृत किया है।

पूर्व-मन्त्र में पृथिवी माता को निर्ऋति से मुक्त रखने की कामना की गयी है। इस मन्त्र में निर्ऋति के निराकरण का उपाय बताया गया है। कितनी भी सुव्यवस्था और सुसाधना क्यों न की जाये, पृथिवी पर दुर्घटनायें घटित होंगी, आपत्तियां आयेंगी ही। जो असुन्वन् अयजमान हैं निर्ऋति उन्हें चाहती है, तस्कर की तरह उनकी चाल का पीछा करती है। जिधर वे जाते हैं, वह उधर ही उनका पीछा करती है। निर्ऋति की ऐसी ही गतिविधि है। आगे अधीर और असाधनाशील भक्त परास्त हो जाते हैं।

सुन्वन् और यजमान, धीर और साधनाशील साधक निर्ऋति से घबराते नहीं हैं। वे तो उसके साथ उसका साम्मुख्य करते हैं और उसके साथ उसका निराकरण करते हैं। 'अस्तु तुभ्यम्' कहकर उसका स्वागत करते हैं, 'इच्छ अस्मत् अन्यम्' कहकर उसे विदा करते हैं।

'हम सुन्वन् और यजमान हैं। तू हमें न कर सकेगी। हम से भिन्न जो असुन्वन् अयजमान हैं, तू उनकी ही कामना कर।

देवि निर्ऋते,
चाह असुन्वन् अयजमान को,
पीछा कर गति का स्तेन की
और तस्कर की,
तेरी वह गति है।
कर तू कामना हमसे भिन्न की,
नमस्कार हो तेरे लिये।

सूक्ति : नमो देवि निर्ऋते तुभ्यमस्तु।
देवि निर्ऋते, तेरे लिये नमस्कार हो।

५७६ **नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेजो ऽयस्मयं विचृता बन्धमेतम्।**
यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाके अधि रोहयैनम्॥ य १२.६३
नमः सु ते निः-ऋते तिग्म-तेजः अयस्मयम् वि चृत बन्धम् एतम्।
यमेन त्वम् यम्या सम्-विदाना उत्-तमे नाके अधि रोहय एनम्।

निर्ऋति को सम्बोधन करते हुए पूर्व-मन्त्र में कहा गया है, 'अन्यमस्मदिच्छ', हमसे भिन्न को चाह। कौन हैं हम और कौन है अन्य? हम हैं धीर और साधनाशील साधक और अन्य है अयजनशील विलासीसमूह।

विलासीसमूह निर्ऋति से घबराकर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ढ़ होजाता है। साधकसमूह निर्ऋति की न में तपकर कुन्दन बन जाता है। इसी तत्त्व द्योतन करते हुए मन्त्र में कहा जारहा

(निःऋते ते नमः सु तिग्म-तेजः) विपद् ! वज्र सुन्दर और तीक्ष्ण-तेज है। तू उससे तम् अयस्मयम् बन्धम् वि चृत) इस लोहमय न को काटदे।

वैदिक वाङ्मय में नमस् [नमः] शब्द का ग नमन [नमस्कार], विदाई, स्वागत, त्याग, , वज्र, प्रसाद, शस्त्र, यज्ञ, आशीर्वाद, स्तोत्र, आदि अनेक अर्थों में होता है। यहां नमः का प्रयोग वज्र—शस्त्र के अर्थ में हुआ है।

अयस् [अयः] नाम लोह का है। विलास-ता-मोह-आसक्ति-आत्मविस्मृति वह लोहमय न है जो काटे नहीं कटता है। निर्ऋति का वह तीक्ष्ण-तेज और सुन्दर अस्त्र है जो इस स्मय बन्धन को काटता है। सुख-सुविधा-ास में आत्मा अपने आपको भूल जाता है ममता-मोह-आसक्ति में खोया रहता है। आपत्तियों के झटके लगते हैं, तब ही यह मा जागता है और जकड़नशील बन्धनों को कर जीवन्मुक्त बनने का प्रयास करता है।

ा जुड़वाता प्रभु से नाता, सुख हरि से बिछुड़ाता।
ा 'विदेह' तोड़े भवबन्धन, जीवन्मुक्त बनाता।

निर्ऋते ! (सम्-विदाना) सम्यक् बोध कराती हुई (त्वम्) तू (यमेन यम्या) यम और यमी के द्वारा (एनम्) इस [मानव, आत्मसाधक] को (उत्-तमे नाके अधि रोहय) उच्चतम नाक में चढ़ादे।

'यम' है आत्मसंयम और 'यमी' है आत्म-धारणा। नाक नाम है स्वर्ग, आनन्द और मोक्ष का। निर्ऋति उस बोध की प्राप्ति कराती है, जिससे प्रबुद्ध होकर साधक जन आत्मसंयम और आत्मधारणा के धनी बन जाते हैं। ये ही दो साधन हैं जिनके आश्रय से मानवसमाज और साधकवर्ग उत्तम नाक में आरोहण करते हैं, जीवन की उस उच्चतम स्थिति में प्रवेश करते हैं जहां आत्मा आनन्द और मोक्ष की सफल साधना करता है।

विपद्,
तीक्ष्ण-तेज है और सुन्दर है
नमः तेरा,
काट डाल तू इस बन्धन को।
बोध कराती हुई चढ़ादे,
यम और यमी के द्वारा तू,
अतिशय उच्च नाक में
इस साधक को।

सूक्ति : **नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेजः।**
विपद् ! तेरा वज्र सुन्दर और तीक्ष्ण-तेज है।
अयस्मयं विचृता बन्धमेतम्।
इस लोहमय बन्धन को काटदे।

७७ **यस्यास्ते घोर आसञ्जुहोम्येषां बन्धानामवसर्जनाय।**
यां त्वा जनो भूमिरिति प्रमन्दते निर्ऋतिं त्वाहं परि वेद विश्वतः॥
[अ ६.८४.१] य १२.६४

यस्याः ते घोरे आसन् जुहोमि एषाम् बन्धानाम् अव-सर्जनाय।
याम् त्वा जनः भूमिः इति प्र-मन्दते निः-ऋतिम् त्वा अहम् परि वेद विश्वतः।

(घोरे) ! अर्थ है भयंकर। सचमुच निर्ऋति भयंकर है।
र्ऋति को यहां घोरा कहा गया है। घोरा का विपत्ति अच्छे-अच्छों को भयातुर कर देती है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

धीर आत्मसाधक ही हैं जो सहर्ष उसका साम्मुख्य करके उसे पार करते हैं।

२) (एषाम् बन्धानाम् अव-सर्जनाय) इन बन्धनों के त्याग के लिये (यस्याः ते आसन्) जिस तेरे मुख में [मैं अपने आपको] (जुहोमि) झोंकता हूं, (भूमिः इति) 'भूमि' ऐसा [कहकर] (जनः) मानव (याम् त्वा) जिस तुझे (प्र-मन्दते) आनन्दित करता है, उस (त्वा निर्ऋतिम्) तुझ निर्ऋति को (अहम् विश्वतः परि वेद) मैं सर्वतः सम्यक् जानता हूं।

धीर साधक की यह उक्ति अतिशय सारगर्भित है। अधीर निर्ऋति से भयभीत होकर इधर-उधर भागता है। धीर निर्भय होकर अपने आपको उसमें झोंक देता है और जीवन के सारे बन्धनों से अपने आपको मुक्त कर लेता है। स्वयं जीवन का मोह सबसे बड़ा बन्धन है। इसी एक बन्धन से भय, शोक, संशय, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, रिश्ते, नाते, स्वामित्व [मिल्कियत], ममता आदि अनेक बन्धनों का जन्म होता है। जब साधक निर्ऋतियों की घाटियों में से गुज़र रहा होता है तो सर्वप्रथम वह जीवन के मोह से मुक्त होता है और फिर जीवन से सम्बद्ध अन्य सारे मोह धराशायी होरहे होते हैं। तब अपने-परायों की परख होरही होती है, दुनिया का वास्तविक स्वरूप आंखों के सामने नाच रहा होता है, अपना धैर्य और अपनी साधना कसौटी पर कसी जारही होती है। यही भाव 'आसञ्जुहोम्येषां बन्धानामवसर्जनाय' में निहित है।

भवन्ति यस्यां सा भूमिः। होते हैं। जन्म, मरण, संग्राम, क्रीडा, लीला, वह निर्ऋति वह रङ्गभूमि है, वह रङ्गमञ्च रणक्षेत्र है, जिसमें विजय प्राप्त करके साधनाशील स्वयं आनन्द पाता है और निर्ऋति को भी आनन्दित कर रहा है। विजयश्री न केवल विजेता को, अपि रणभूमि को भी आह्लादित कर देती है। साधक निर्ऋति को भूमि कहकर पुकारता

कायर क्या निर्ऋति को पहंचानेगा उसकी महिमा गायेगा? निर्ऋति को स्थित होकर जो विजयश्री और जीवन करता है, वही उसका मूल्यांकन करता है, 'निर्ऋतिं त्वाहं परि वेद विश्वतः' निर्ऋति को मैं सर्वतः सम्यक् जानता हूं।

घोरे,
इन बन्धनों के अवसर्जनार्थ
जिस तेरे मुख में झोंकता हूं
मैं अपने आपको,
'भूमि' ऐसा कहकर जिस तुझे
करता है जन प्रमुदित,
उस तुझ निर्ऋति को
मैं जानता हूं सम्यक् सर्वतः।

सूक्ति : **ते घोर आसञ्जुहोम्येषां बन्धानामवसर्ज**
विपद् ! इन बन्धनों के त्यागार्थ मैं अप
तेरे मुख में झोंकता हूं।
निर्ऋतिं त्वाहं परि वेद विश्वतः।
तुझ विपत्ति को मैं सर्वतः सम्यक् जान

५७८ **यं ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध पाशं ग्रीवास्वविचृत्यम्।**
तं ते वि ष्याम्यायुषो न मध्यादथैतं पितुमद्धि प्रसूतः। नमो भूत्यै येदं चकार।७९

य १२.६५

यम् ते देवी निः-ऋतिः आ-बबन्ध पाशम् ग्रीवासु अ-वि-चृत्यम्।
तम् ते वि स्यामि आयुषः न मध्यात् अथ एतम् पितुम् अद्धि प्र-सूतः। नमः भूत्यै या इदम्

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हां धीर साधक निर्ऋति का साम्मुख्य करता हुआ
पने आपको सम्बोधन करता है—

) (देवी निःऋतिः) देवी निर्ऋति ने (यम् अ-
-चृत्यम् पाशम्) जिस अकाट्य पाश को (ते ग्रीवासु
-बबन्ध) तेरी गरदनों में बांधा है, मैं (ते) तेरी
तम्) उस [पाश] को (आयुषः न) आयु के
मान (मध्यात्) बीच में से (वि स्यामि)
टता हूं ।

ग्रीवा तो प्रत्येक की एक ही होती है। यहां
ीवा' का बहुवचन में प्रयोग 'जकड़न' के अर्थ में
ा है। गरदन में रस्सी बांधने से जैसे पशु बद्ध
जाता है, वैसे ही विपदा की पाश मानव को
ंख्य जकड़नों से जकड़ देती है। विपदा की पाश
बद्ध होकर जन—मानव ऐसी जकड़नों में जकड़
ता है जो काटे नहीं कटती हैं। किन्तु धीर साधक
धना के आश्रय से निर्ऋति की पाश को काटकर
जकड़नों से ऐसे मुक्त होता है, जैसे अकाल मृत्यु
ायु के मध्य में ही जीवन की डोरी को काटकर
के आत्मा को सकल दुःखों, झंझटों और पीड़ाओं
मुक्त कर देता है ।

जिस प्रकार मृत का आत्मा पुनः प्रसूत होकर,
र जन्म लेकर नया जीवन आरम्भ करता है,
ो प्रकार समस्त जकड़नों से मुक्त होकर, साधक,
(अथ) अब (प्र-सूतः) प्र-सूत, समुत्पन्न, [नव-
नवत् नये सिरे से] (एतम् पितुम् अद्धि) इस
को खा। इस जीवन की संसाधना कर। इस
न को सिद्ध—सार्थक कर ।

'पितु' [अन्न] शब्द का प्रयोग यहां जीवनपितु
वा जीवनान्न के लिये हुआ है और 'अद्धि' का
न—आस्वादन—साधना के लिये ।

३) (नमः) नमस्कार [उस] (भूत्यै) भूति—सत्ता के लिये (या) जिसने (इदम्) इस [विश्व को] (चकार) रचा है।

यह धीर साधक का आत्मसान्त्वना-वाक्य है। कितनी महान् और सशक्त है वह सत्ता जिसने इस अनन्त, असीम, अपार सृष्टि की रचना की है और जो इसका संचालन कर रही है । वही सर्वशक्तिमयी भूति, वही सर्व-संचालयित्री सत्ता मेरी रक्षा करेगी, मेरा मार्गनयन करेगी जिस प्रकार अन्धकार में स्वशरीर की भी छाया अपनी काया का साथ छोड़ देती है, उसी प्रकार निर्ऋति के घटाटोप अन्धकार में अपने भी अपना साथ छोड़ देते हैं। एक प्रभु की ही सत्ता है जो विपदा में सुखदा होकर अपने साधक को सहारती है। निर्ऋति अथवा विपदा नाम ही उस अवस्था का है, जिसमें सिवाय प्रभु के अन्य कोई साथ नहीं देता है ।

विपत्ति में प्रभु ही अपनो मीत ।
अंधियारे में निज छाया भी त्यागत सङ्ग अतीत ।

देवी निर्ऋति ने बांधा है
जिस अदृष्ट—अकाट्य पाश को
तेरी ग्रीवाओं में,
काटता हूं मैं तेरे उसको
यथा आयु के मध्य से ।
अब प्रसूत तू
खा इस पितु को ।
नमस्कार भूति के लिये
जिसने इसे रचा है ।

सूक्ति : **नमो भूत्यै येदं चकार ।**
नमस्कार सत्ता के लिये, जिसने इसे रचा है ।

७९ **निवेशनः सङ्गमनो वसूनां विश्वा रूपाभि चष्टे शचीभिः ।**
देवइव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे पथीनाम् ॥
[ऋ १०.१३९.३, अ १०.८.४२] य १२.६६

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नि-वेशनः सम्-गमनः वसूनाम् विश्वा रूपा अभि चष्टे शचीभिः ।
देवः-इव सविता सत्य-धर्मा इन्द्रः न तस्थौ सम्-अरे पथीनाम् ।

निर्ऋति में आत्मसान्त्वना को जारी रखते हुए साधक कहे चला जारहा है—

१) वह सर्वशक्तिमान् प्रभु, जिसे पूर्व-मन्त्र में भूति कहा गया है, (वसूनाम्) लोकलोकान्तरों का (नि-वेशनः) नितराम् प्रवेश करनेवाला और (सम्-गमनः) सं-गमयिता, संचालक है । वह अपनी (शचीभिः) प्रज्ञाओं—सर्वज्ञताओं से (विश्वा रूपा) समस्त रूपों को (अभि चष्टे) सर्वतः देख रहा है ।

परमात्मा लोकलोकान्तरों में प्रवेश करके, उनमें व्यापकर उनका संचालन कर रहा है । सर्वव्यापक ही सर्वसञ्चालक और सर्वद्रष्टा होता है । वह अपनी प्रज्ञाओं—सर्वज्ञताओं द्वारा अपने अनन्त, असीम, अपार सृष्टि-साम्राज्य के सब रूपों को सर्वतः देख रहा है । संसार में कहां-कहां क्या-क्या रूपान्तर हो रहे हैं, कहां-कहां क्या-क्या घटनायें घटित होरही हैं, वह सब उसकी सर्व-व्यापिनी दृष्टि में सतत दृष्ट है । कितनी सान्त्वना-दायिनी है साधक की यह भावना !

२) वह सर्वशक्तिमान् प्रभु (सविता देवः–इव) दिव्य प्रकाशक की तरह, (सत्य-धर्मा इन्द्रः न) सत्य-धारक पापहन्ता की तरह (पथीनाम् समरे) पथियों के संग्राम में, साधनापथ के पथिकों के संघर्ष में (तस्थौ) संस्थित है ।

ओह ! कितनी सान्त्वनामय है यह वेदसूक्ति उस धीर साधक के लिये, जो निर्ऋतियों की सघन बाधाओं को चीरता हुआ, विपदाओं की उत्ताल चट्टानों को लांघता हुआ, आपत्तियों के महासागरों की वेगवती तरंगों पर तैरता हुआ अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है । निर्ऋति से टकराता हुआ साधक पुकार उठता है—'अकेला नहीं मैं, तू है साथ मेरे ।' और उसके हृदय में वह सर्वशक्तिमान् संगाती बोल पड़ता है—'अकेला नहीं तू, मैं हूं साथ तेरे ।' और इस ध्वनि को सुनकर साधक प्रगान करने लगता है—

इतना प्रबल सहायक तेरा
क्यों दुर्बलता मन में आयी ।
कोई 'विदेह' नहीं तेरा तो
है तेरा जगदीश सहायी ।

दिव्य प्रकाश का पुञ्ज सविता [सूर्य] जिस प्रकार अन्धकार का निवारण करता है, [सत्य] का प्रचार-प्रसार करनेवाला धर्मप्रचारक जिस प्रकार पाप का हनन-निवारण-निराकरण करता है, उसी प्रकार वह विश्व-रचयिता और संचालक प्रभु साधनापथ के पथिकों के बीच संस्थित है, निस्सन्देह संस्थित है । वह निश्चय ही विजय प्राप्त करायेगा ।

वसुओं का नितराम् प्रवेष्टा और संचालक
देख रहा है सब रूपों को प्रज्ञाओं से,
अभितः सर्वतः ।
संस्थित पथियों के समर में
देव सविता के समान वह,
सत्यधर्मा इन्द्रवत् वह ।

सूक्ति : **विश्वा रूपाभि चष्टे शचीभिः ।**
वह प्रज्ञाओं से सब रूपों को देख रहा है ।
तस्थौ समरे पथीनाम् ।
वह पथियों के संग्राम में संस्थित है ।

५८० **सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् । धीरा देवेषु सुम्नया ॥**
[ऋ १०.१०१.४, अ ३.१७.१] य १२.६७
सीरा युञ्जन्ति कवयः युगा वि तन्वते पृथक् । धीराः देवेषु सुम्न-या ।

सीराणि हलानि

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

म्ना' नाम उस नाड़ी का है जिसे लोक में सुषुम्णा [-सुम्ना] कहते हैं। धीर साधक योगाभ्यास द्वारा ना में होकर जब कुण्डलिनी का आरोहण करते हैं उनके नेत्रयुगल, श्रोत्रयुगल, मस्तिष्क-हृदययुगल यताओं से युक्त होजाते हैं, जिससे साधकों की ट, श्रुति चिन्तन-भावना नितान्त समाहित होजाती तब वे आत्मस्वरूप में स्थित होकर उस भूति को क्—स्पष्ट दर्शन करते हैं, जिसने यह रचना की है।

इसी भाव को व्यक्त करते हुए यहां वेदमाता ती है—जिस प्रकार (कवयः) कृषिकुशल किसान (सीरा युञ्जन्ति) हलों को युक्त—प्रयुक्त करते हैं [और अन्न प्राप्त करते हैं], उसी प्रकार (धीराः) धीर साधक (सुम्नया) सुम्ना द्वारा (युगा) युगलों को (देवेषु) दिव्यताओं में (पृथक्) पृथक्—प्रत्यक्ष (वि तन्वते) विस्तारते हैं [और उस भूति का दर्शन करते हैं]।

कवि युक्त करते सीरों को,
धीर पृथक् सुम्ना के द्वारा,
दिव्यताओं में निज युगलों को
हैं सम्यक् विस्तारते।

८१ **युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्।**
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पक्वमेयात्॥
[ऋ १०.१०१.३, अ ३.१७.२] य १२.६८

युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वम् कृते योनौ वपत इह बीजम्।
गिरा च श्रुष्टिः स-भराः असत् नः नेदीयः इत् सृण्यः पक्वम् आ इयात्।

मन्त्र की धारा को प्रवाहित रखती हुई वेद-ा कहती है—

(सीरा युनक्त) हलों को जोड़ो—जोतो।
(युगा वि तनुध्वम्) युगलों को विस्तारो और ड़ो) यहां (कृते योनौ) कृत योनि में, कर्म की न में, साधना के क्षेत्र इस मानुष जीवन में जम् वपत) बीज बोओ।

किसान अपने खेतों में हल जोतते हैं। फिर बोते हैं। एक-एक बीज से अनेकानेक दाने न्न होते हैं। वैसे ही जीवनरूपी खेतों में जैसे -बीज बोये जाते हैं, वैसे ही फल मिलते हैं। -बीज से युगल दिव्य और समाहित होते हैं, से सुख, शान्ति, स्वस्ति, आनन्द और मोक्ष प्राप्ति होती है। भोग-बीज से रोग, शोक, ाद, ह्रास और विनाश की उपलब्धि होती है। धीर साधकों ने वेदमाता के आदेश का पालन ा। साधनाक्षेत्र में उन्होंने योग-बीज बोया। सुफल प्राप्त हुए (च) और [आभार-सूचक] (गिरा) वाणी से वे बोले—

१) वेदमातः! तेरी शिक्षा से (नः) हमें (स-भराः) सभरायें, भरपूर अध्यात्मसम्पदायें [प्राप्त हुईं]।
२) हमें (श्रुष्टिः) शीघ्र [सिद्धि प्राप्त] (असत्) हुई।
३) (सृण्यः) दरांतियों ने (पक्वम्) पक्व [फ़सल, अन्न] काटा।

बोते ही फ़सल नहीं पकती है। किसान की साधना से धीरे-धीरे फ़सल पकती है और अन्न प्राप्त होता है। वैसे ही धैर्यपूर्वक दीर्घ काल तक सतत साधना करने से योगदरांतियां [योगांग] योग-सम्पदायें तराशती हैं।

४) जीवन का लक्ष्य [ब्रह्म, मोक्ष] (नेदीयः इत् आ इयात्) निकट-तम ही आगया, निकटतम आ ही गया।

हम साधकों की मंज़िल तय होगयी। अभीष्ट प्राप्त होगया।

हलों को जोतो,
युगलों को विस्तारो,
यहां कृत योनि में तुम

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

बोओ कर्म-योग का बीज ।
और वाणी से बोले साधक
हमें मिलीं सभरायें,
प्राप्त हुई सद्यः संसिद्धि,

काटा पक्व अन्न सृणियों ने,
आ ही गया अभीष्ट निकटतम ।
सूक्ति : कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
कृत योनि में यहां बीज बोओ ।

५८२ शुनं सु फाला वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः ।
शुनासीरा हविषा तोषमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तनास्मै ।।
[ऋ ४.५७.८, अ ३.१७.५] य १२.६९

शुनम् सु फालाः वि कृषन्तु भूमिम् शुनम् कीनाशाः अभि यन्तु वाहैः ।
शुनासीरा हविषा तोषमाना सु-पिप्पलाः ओषधीः कर्तन अस्मै ।

अस्मै = इसके लिये । किसके लिये ? अध्यात्म की साधना करनेवाले इस साधकसमूह के लिये, इस अध्यात्म साध की व्याप्ति के लिये ।

पृथिवी पर अध्यात्म-सुधा प्रसारने के लिये आहार की शुद्धि परम आवश्यक है । आहार की शुद्धि से सत्त्व शुद्ध होता है । सत्त्व की शुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि होती है । शुद्ध सत्त्व और शुद्ध अन्तःकरण के संयोग से सर्वाङ्ग योग सिद्ध होता है ।

मांसाहार अथवा अन्य किसी भी प्रकार का मलिन आहार विशेषतः योगक्षेत्र में सर्वथा वर्जित है । योगी के लिये अन्नाहार [गेहूं, जौ, शाक, फल, दाल, भात आदि निरामिषाहार] ही विहित है । अन्न का सम्पादक केवलमात्र किसान है । कवि-कोटि के किसान स्वयं अन्नाहार का सेवन करते हैं और सर्व मानवों को भी इसी आहार का सेवन कराना चाहते हैं । अतः वेदमाता कहती है—

१) कवि किसानो ! (अस्मै) इस [अध्यात्मतत्त्व की व्याप्ति और साधकसमूह की पुष्टि तथा तुष्टि] के लिये (सु-पिप्पलाः ओषधीः कर्तन) सु-फला ओषधियां सम्पादन करो, उपजाओ ।

'ओषधि' का अर्थ है दोष-धि, दोषों का निवारण करनेवाली । अन्नाहार ओषधिरूप है, रोगों का वर्जक है, स्वास्थ्य और सौन्दर्य का सम्पादक है । इसीलिये अन्न 'सुफला' कहलाते हैं । किसान अन्नसम्पदा के सम्पादक वितरक हैं ।

२) किसानों के हलों के (फालाः) फाले (शुनम्) सुख-पूर्वक, (सु) सुष्ठुतया (भूमिम् वि कृषन्तु) विशेषतया—विविधतया जोतें, (कीनाशाः) किसान (वाहैः) वाहनों द्वारा [अन्नसम्पदा को] सुखपूर्वक (अभि यन्तु) सब ओर [सर्वत्र] ले

३) (शुनासीरा) शुन [वायु] और सीर (हविषा) हवि से (तोषमाना) तुष्टिकर हों

सूर्य अपने ताप से बादल बनाता है बादलों को दूर-दूर लेजाकर बरसाता अन्नादि ओषधियों का परिपाक करता वायु उनमें प्राणशक्ति का संचार करता हवियों [जड़ी-बूटियों] से हवन किये सूर्य और वायु के संयोग से हुई वर्षा के सुगन्धित होकर खेतों को सींचते हैं तो अन्न अधिकाधिक सात्त्विक और सुगन्धित हो कूपों, तडागों और नदियों में जो जल वर्षा से ही उपलब्ध होते हैं । इस प्रकार हवियाग द्वारा अन्नसम्पदाओं का तुष्टि पुष्टिकरण करते हैं ।

फाले जोतें भूमि
सुख से और सुष्ठु ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ुंचायें कृषक
हनों द्वारा अभितः ।
यु-सूर्य हों
तुष्टिकर और पुष्टिकर ।
उपजाओ सुफल ओषधियां
इसके लिये ।

८३ घृतेन सीता मधुना समज्यतां विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः ।
ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानास्मान्त्सीते पयसाभ्या ववृत्स्व ॥
[अ ३.१७.६] य १२.७०
घृतेन सीता मधुना सम् अज्यताम् विश्वैः देवैः अनु-मता मरुत्-भिः ।
ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमाना अस्मान् सीते पयसा अभि आ ववृत्स्व ।

मन्त्र में वेदमाता कृषि की महिमा दर्शाती कहती है—

(विश्वैः देवैः मरुत्-भिः) सब देवों [विद्वानों] र मरुतों [वीरों] द्वारा (अनु-मता सीता) -मत खेती (घृतेन मधुना सम् अज्यताम्) घृत र मधु से संयुक्त हो ।

अन्नप्रदायिनी सुफला खेती विद्वानों और वीरों ा अनुमत [आहत, अपनायी जाने योग्य] है । ो एक सर्वोपरि विज्ञान और सर्वश्रेष्ठ साध विद्वानों और वीरों द्वारा अपनायी जाने पर खेती मानवसमाज को दुग्ध, घृत, तक्र आदि म पेयों और शहद, शकर, गुड़ तथा मधुर ों और अन्नों से आप्लावित कर देती है । दूध वाले पशुओं का पालन और मधुर खाद्यों की लब्धि भी खेती पर ही निर्भर है ।

(सीते) खेति ! (ऊर्जस्वती) पराक्रमशीला, पुष्टि-करा तू (पयसा पिन्वमाना) सुजल से सींची जाती हुई (अस्मान्) हमें (पयसा) रस से, रसीली अन्नफलसम्पदा से (अभि आ ववृत्स्व) सर्वतः आप्लावित कर ।

मानवसमाज का सामान्य जीवन ही नहीं, युद्धों में विजय और ज्ञान-विज्ञानों के आविष्कार भी सुफला खेती पर ही निर्भर हैं । पुष्टिकर खाद्यों से पुष्ट होकर ही मानव समस्त क्षेत्रों में पराक्रम करते हैं । खेती जनजीवन का आधार है और सर्वसाधनाओं का अवलम्ब है । इसीलिये वह देवों और मरुतों द्वारा अपनायी जानी चाहिये ।

सब देवों और मरुतों द्वारा
अनुमत खेती
घृत और मधु से हो संयुक्त ।
खेति ! पराक्रमशीला तू कर
हमें सर्वतः आप्लावित सुपेय से,
सींचो जाती हुई सुजल से ।

८४ लाङ्गलं पवीरवत् सुशेवं सोमपित्सरु ।
तदुद् वपति गामविं प्रफर्व्यं च पीवरीं प्रस्थावद् रथवाहणम् ॥
[अ ३.१७.३] य १२.७१
लाङ्गलम् पवीर-वत् सु-शेवम् सोम-पित्-सरु ।
तत् उत् वपति गाम् अविम् प्र-फर्व्यम् च पीवरीम् प्रस्था-वत् रथ-वाहनम् ।

ष में भी (तत्) वह (पवीर-वत्) फालयुक्त, (सु-म्) सु-सुखकर, (सोमपित्-सरु) सोमपालक-रछाचलनेवाला (लाङ्गलम्) हल (पीवरीम् गाम्) स्थूल गौ को, पुष्ट गोवंश को, (अविम्) भेड़ को, अजावंश को, (च) और (प्र-फर्व्यम् प्रस्था-वत् रथ-वाहनम्) फुर्तीले प्रस्थान-हेतु रथ-वाहन को,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तीव्रगति, यात्रा-साधन रथ-वाहक अश्ववंश को (उत् वपति) उद्वपता है, उत्पन्न करता है, सहारता है।

कृषि के उपकरणों में हल का विशेष महत्त्व है। हल भूमि को जोतकर उसे बीजबोने योग्य बनाता है। भूमि को जोतने के लिये इन दिनों ट्रेक्टर का भी उपयोग किया जाता है। वह भी एक प्रकार का लाङ्गल ही है। हल को बैल खींचते हैं। ट्रेक्टर को एञ्जिन खींचता है।

हल पवीर-वत् है। 'पवीर' का अर्थ है फाला। हल में एक, दो वा तीन फाले होते हैं। ट्रेक्टर में दस-दस, बीस-बीस फाले होते हैं।

हल सु-शेवम् है, सु-सुखकर है। हल चलाता हुआ किसान सुखपूर्वक बैलों को हांकता है, गीत गुनगुनाता हुआ भूमि को जोतता है। जब खेती उगती है, पकती है, तो किसान को ही नहीं, सभी को सुख की अनुभूति होती है।

हल सोमपित्-सरु है। 'सोम-पित्' का अर्थ है सोम का पालक—रक्षक। खेती का प्रकृ से हल अन्नरूपी सोम का पालक है। तलवार की मूंठ को। मूंठ से जैसे पकड़ा—साधा जाता है, वैसे ही हल साधता है।

हल अथवा खेती के आश्रय से ही स्थूल, हृष्ट-पुष्ट रखा जाता है। भेड़ आदि के पालन का आधार भी खेती ही है। फुर्तीले अश्व, तुरंग, बैल आदि रथवाह पोषण भी हलाश्रित ही है। इसीलिये हल को देवों और मरुतों द्वारा अनुमत ठहराया

फालयुक्त वह सुसुखकारी,
सोमोत्पादक-सरुवत् लाङ्गल
उपजाता, पालन करता है,
पुष्ट गौ को, भेड़ आदि को,
और प्रस्थानहेतु फुर्तीले
रथवाहन को।

५८५ **कामं कामदुघे धुक्ष्व मित्राय वरुणाय च। इन्द्रायाश्विभ्यां पूष्णे प्रजाभ्य ओषधीभ्यः**

कामम् काम-दुघे धुक्ष्व मित्राय वरुणाय च। इन्द्रया अश्वि-भ्याम् पूष्णे प्र-जा-भ्यः ओषधि

और अब साधक कामदुघा से प्रार्थना करते हैं—जिस प्रकार सभरा सुफला खेती सबकी क्षुधापूर्ति करती है, वैसे ही (काम-दुघे)! (कामम् धुक्ष्व) कामना प्रपूर, कामना पूरी कर (मित्राय) मित्र के लिये, (वरुणाय) वरुण के लिये, (इन्द्राय) इन्द्र के लिये, (अश्विभ्याम्) अश्वियों के लिये, (पूष्णे) पोष के लिये, (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये (च) और (ओषधीभ्यः) ओषधियों के लिये।

कामदुघा नाम उस धेनु का है जो सभी शुभ-कामनाओं की पूर्ति करती है। परमेश्वरी माता ही वह कामदुघा है, जिससे साधक यहां विश्वमंगल की भावना से विनय करते हैं—

१) कामदुघे! मित्र के लिये कामना पूरी कर। जिनकी कामना मित्रमिलन की है, उन्हें करा। मित्र नाम सूर्य का भी है। जो सूर्य तेजस्वी और प्रकाशपुञ्ज बनना चाहते तेज और प्रकाश प्रदान कर।

२) कामदुघे! वरुण के लिये कामना पू वरुण नाम वरणीयता और चन्द्रमा चान्द्र गुणों से युक्त होकर वरणीय बनना हैं उन्हें वरणीय बना।

३) कामदुघे! इन्द्र के लिये कामना पूरी नाम इन्द्रियों के स्वामी आत्मा का है। कल्याण की अभिलाषा रखते हैं, उन्हें आत्म की दिशा दर्शा, उनका आत्मकल्याण कर मोक्ष की चाहना है, उन्हें मुक्ति प्रदान कर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कामदुघे ! अश्वियों के लिये कामना पूरी कर। वो' नाम युगल अथवा जोड़े का है। युगल भ्रन्न हैं। भाई-भाई अश्वी हैं। पति-पत्नी अश्वी गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, मित्र-मित्र, सखा-सखा, ा-प्रजा अश्वी हैं। युगल-कामियों की जोड़ियां रहें।

कामदुघे ! पोष के लिये कामना पूरी कर। हैं पुष्टि की कामना है, उन्हें पुष्ट कर। जो ण के अभिलाषी हैं, उनका पोषण कर।

कामदुघे ! प्रजाओं के लिये कामना पूरी कर। हैं पुत्र-पुत्रीरूप प्रजा की कामना है, पुत्र-पुत्री से उनकी गोद भर।

७) कामदुघे ! ओषधियों के लिये कामना पूरी कर। अन्न, फल, शाक, कन्द, मूल, जड़ी, बूटी, घास, पात आदि सब ओषधियां हैं। सभी प्राणी ओषधियों की कामना करते हैं। सभी को इनकी प्रचुर मात्रा में उपलब्धि हो।

कामदुघे ! कर पूरी कामना
मित्र के लिये, वरुण के लिये,
इन्द्र के लिये, पोष के लिये,
प्रजाओं के लिये, अपि च
ओषधियों के लिये।

६ वि मुच्यध्वमघ्न्या देवयाना अगन्म तमसस्पारमस्य। ज्योतिरापाम ॥ य १२.७३

वि मुच्यध्वम् अघ्न्याः देव-यानाः अगन्म तमसः पारम् अस्य। ज्योतिः आपाम।

धिरूपा, कामदुघा परमेश्वरी माता की कृपा ाधकों ने आत्मसाधना में सिद्धि प्राप्त करली उन्होंने आत्मस्वरूप का तथा ब्रह्म के निजरूप र्शन और प्रकृति के तत्त्व का अवलोकन कर ा है। तम से पार होकर वे ज्योतिर्मय लोक स्थित हैं। वे अब आप्तकाम, जीवन्मुक्त, हैं। आप्तकाम बनकर वे आत्मसाधनापथ थिकों को सम्बोधन करते हुए कह रहे हैं—

देव-यानाः अघ्न्याः) देव-याना अघ्न्याओ ! मुच्यध्वम्) विमुक्त होओ, मोक्षपद प्राप्त करके काम बनो।

'अघ्न्या' का अर्थ है अहन्या, अ-वध्या, अ-या, अ-हिंसनीया। अघ्न्याः शब्द का प्रयोग उन योगयुक्त मानवप्रजाओं के लिये हुआ योग-जीवनपद्धति से कर्तव्यकर्मों का निर्वहन हुए परम लक्ष्य की ओर अग्रसर हैं। वे अघ्न्याः हैं। समाज और राज के द्वारा ायी नहीं जानी चाहियें। उनके प्रति मनसा, , कर्मणा, तीनों प्रकार की हिंसा वर्जनीय ोंकि वे देव-यानाः हैं, देव-यात्री हैं, दिव्य के पथिक हैं, अपने जीवनयान को दिव्य बनाकर वे परम देव की परम पुरी की ओर गमन कर रहे हैं।

२) मोक्ष की प्राप्ति के लिये हमने (अस्य तमसः पारम् अगन्म) इस तम के पार को प्राप्त किया है। तम के पार पहुंचकर हमने (ज्योतिः आपाम) ज्योति प्राप्त की है।

प्रकृतिजन्य जो कुछ है, वह सब तम है, अन्धकारमय माया है। ब्राह्म जो कुछ है, वह सब ज्योति है। आत्मा तम से युक्त होकर बद्ध होजाता है। ज्योति से युक्त होकर वह मुक्त होजाता है।

देवयाना अघ्न्याओ ! जिस प्रकार तम से पृथक् और ज्योति से युक्त होकर, अज्ञानान्धकार से निकल विवेकालोक में प्रवेश करके, मृत्युमय माया के बन्धनों को तोड़कर हमने शाश्वत मोक्ष की प्राप्ति की है, उसी प्रकार तुम भी करो। जब तक अभीष्ट की सिद्धि न होजाये, तब तक निरन्तर साधना करते रहो।

देवयाना अघ्न्याओ !
करो मोक्षपद प्राप्त
पार किया हमने इस तम को
की ज्योति सम्प्राप्त।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

५८७ सजूरब्दो अयवोभिः सजूरुषा अरुणीभिः ।
सजोषसावश्विना दंसोभिः सजूः सूर एतशेन सजूर्वैश्वानर इडया घृतेन स्वाहा ॥ य
स-जूः अब्दः अयवः-भिः स-जूः उषाः अरुणीभिः ।
सजोष-सौ अश्विना दंसः-भिः स-जूः सूरः एतशेन स-जूः वैश्वानरः इडया घृतेन स्वाहा ।

आत्मसाधना-पथ के पथिकों के प्रति अपने सम्बोधन को जारी रखते हुए आप्तकाम कहे चले जारहे हैं—

१) (सजूः) युक्त है (अब्दः) वर्ष, संवत्सर (अयवः-भिः) अवयवों के साथ ।

सैकण्ड, मिनट, घण्टे, दिन, रात, सप्ताह, पक्ष मास—ये काल के अवयव हैं । कभी समाप्त न होनेवाले इन कालावयवों से युक्त हुआ अविरामी अब्दचक्र सदा चलता रहता है ।

२) (सजूः उषाः अरुणीभिः) युक्त है उषा अरुणियों—लालिमाओं से ।

३) (सजोषसौ अश्विना दंसः-भिः) युक्त है अश्वी कर्मों से ।

अश्वी शब्द का प्रयोग यहां प्रातःसन्ध्या तथा सायंसन्ध्या के युगल के लिये हुआ है । प्रातःसन्ध्या से लेकर सायंसन्ध्या तक सब प्राणी कर्मों से युक्त रहते हैं ।

४) (सजूः सूरः एतशेन) युक्त है सूर्य किरण से ।

एतश नाम आशुगामी तीव्र अश्व का है । यहां इस शब्द का प्रयोग तीव्रगामी किरणसमूह के लिये हुआ है ।

५) वैसे ही, साधको, (वैश्वानरः) वैश्वानर (घृतेन सजूः) स्तुति और स्नेह के द्वारा युक्त है, किया जाता है] । तुम उसके प्रति सुहुत—समर्पित—समाहित रहो ।

इडा नाम स्तवनशील वाणी अथवा स्तुति है । 'घृत' प्रतीक है स्निग्धता का, स्नेह का ।

वैश्वानरः=वैश्व-आ-नरः । विश्व का नायकत्व—नयन—संचालन करनेवाला परमात्मा वैश्वानर है ।

स्तुति और स्नेह के साथ आत्मसमर्पण सम्पूर्ण भावना के साथ संगत रहते हुए परमात्मा से युक्त रहते हैं ।

युक्त अब्द कालावयवों से,
युक्त उषा लालिमाओं से,
युक्त अश्वी कर्मों से,
युक्त सूर्य रश्मि से ।
स्तुति और स्नेह के द्वारा
युक्त किया जाता वैश्वानर
आत्मसमर्पण करके ।

५८८ या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा । मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि
[ऋ १०.९७.१]
याः ओषधीः पूर्वाः जाताः देवेभ्यः त्रि-युगं पुरा । मनै नु बभ्रूणाम् अहम् शतम् धामानि

इस मन्त्र से १०१ वें मन्त्र तक ओषधिप्रकरण है । जिस प्रकार आत्मसाधना में अध्यात्मौषधियों [योग-विधियों] का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार शरीर-योग में ओषधियों का संसेवन किया जाता है । साधक जो कुछ खायें पियें, वह सब ओषधिरूप, दोषनिवारक तथा सत्त्वशोधक और साथ ही पुष्टि-कर तथा शान्तिप्रद हो ।

बुद्धि, मन, चित्त, शरीर—सब भौतिक सेवन किये गये भौतिक पदार्थों से ही इन का शोधन, पोषण और त्रिगुणकरण होता है । आत्मसाधकों के लिये यह आवश्यक है कि वे ओषधिरूप सात्त्विक खाद्यों तथा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

करें, जिससे वे सत्त्वगुणप्रधान रहते हुए क्त तथा दिव्यताओं से संदिव्य रह सकें।

त्येक साधक की यह रुचि हो कि (याः पूर्वाः ः ओषधीः) जो पूर्वा प्रसिद्ध ओषधियां प्राचीन काल से (त्रि-युगम्) तीनों कालों में ध्यः) दिव्यताओं के [सम्पादन] के लिये रणीय] हैं, (अहम्) मैं [उन] (बभ्रूणाम्) ों के, भूरी ओषधियों के (शतम् धामानि) ामों को, (च सप्त) और सात [धातुओं] नु) अवश्य (मनै) जानूं।

नेक ओषधियां 'पूर्वा' हैं, प्राचीन काल से चली आ रही हैं। साथ ही वे इतनी पूर्वा, उपादेय हैं कि जिस प्रकार उन्हें भूत काल रक्षित रखा गया था, वैसे ही वर्तमान में भविष्यत् में भी सुरक्षित रखा जाना ।

भूरी ओषधियों में स्वर्ण बहुत होता है। उनके शत धाम हैं मानवायु के शत वर्ष। स्वर्णमयी होने से भूरी ओषधियों से सातों धातुओं की पुष्टि होती है। मानवशरीर में सात धातुयें हैं रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य। भूरी ओषधियों से सातों धातुओं का वर्धन, शोधन और पोषण होता है। इसी से वे शत वर्ष का आयुष्य प्राप्त कराती है।

जो पूर्वा प्रसिद्ध ओषधियां
पूर्व से ही तीनों कालों में
सुरक्षणीय हैं
दिव्यताओं के हेतु,
जानूं में अवश्य
उन भूरी ओषधियों के
सप्त धामों को
और सात को।

शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः। अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदं कृत॥
[ऋ १०.९७.२] य १२.७६

शतम् वः अम्ब धामानि सहस्रम् उत वः रुहः। अध शत-क्रत्वः यूयम् इमम् मे अ-गदम् कृत।

(अम्ब) मातः! माता के समान पोषण ाली ओषधियो!

: शतम् धामानि) तुम्हारे शत धाम हैं। तुम र्षों का आयुष्य प्राप्त करानेवाली हो।

उत वः सहस्रम् रुहः) और तुम्हारे सहस्र उगन—अंकुरण हैं। तुम असंख्य स्थानों में शः उगती हो।

शत-क्रत्वः) शत वर्ष का आयुष्य सम्पादन ालियो! (अध) अतः (यूयम्) तुम (मे) मेरे (इमम्) इस [साधकसमूह] को (अ-गदम् कृत) नीरोग करो/रखो।

अन्न, फल, शाक, सब्ज़ी, जड़ी, बूटी आदि ओषधियों के यथावत् सेवन से रोगों का निवारण तथा निराकरण होता है।

अम्ब! हैं शत धाम तुम्हारे,
और अंकुर सहस्र तुम्हारे,
शत-क्रत्वः! नीरोग रखो तुम
अतः मेरे इस साधकगण को।

ओषधीः प्रति मोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः। अश्वाइव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्ण्वः॥
[ऋ १०.९७.३] य १२.७७

ओषधीः प्रति मोदध्वम् पुष्प-वतीः प्र-सूवरीः। अश्वाः-इव स-जित्वरीः वीरुधः पारयिष्ण्वः।

! साधको! (पुष्पवतीः) पुष्पोंवाली, वरीः) प्र-सवा, उत्तम फल उत्पन्न करनेवाली, (अश्वाः-इव स-जित्वरीः) अश्वों के समान विजय प्राप्त करानेवाली, (वीरुधः) प्रभूत बढ़नेवाली,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

लतारूप (पारयिष्ण्वः) पार करनेवाली (ओषधीः) ओषधियों को [सेवन करके] (प्रति मोदध्वम्) सुप्रसन्न—स्वस्थ रहो।

ओषधियां पुष्पवती होती हैं। प्रथम उन पर फूल लगते हैं। फिर वे प्रसूवरी—प्रसवा होती हैं, उन पर फल लगते हैं।

कुछ ओषधियां अश्वों के समान विजय प्राप्त कराती हैं। जिस प्रकार आशुगामी तुरङ्ग शीघ्र विजय प्राप्त कराते हैं, वैसे ही प्रभावकारिणी ओषधियां रोगों पर सद्यः विजय प्राप्त कराती हैं। रोगों के उत्पन्न होजाने पर वे उनका अचूकतया निराकरण करती हैं।

'पारयिष्णु' ओषधियां मृत्यु से पार करती हैं। वे मरणासन्न रोगियों को नव जीवन प्रदान करती हैं, रोगमुक्त करके उन्हें पुनः स्वस्थ करती हैं।

ओषधियों का यथाविधि और यथायोग्य सेवन करने से सुस्वास्थ्य और सुप्रसन्नता प्राप्त होती है।

पुष्पवती, प्रसवा,
अश्वों की तरह विजयिनी,
निरोधिका और पारकर्त्री
ओषधियों को सेवन करके
रहो सदा प्रसन्न।

५९१ ओषधीरिति मातरस्तद् वो देवीरुप ब्रुवे। सनेयमश्वं गां वास आत्मानं तव पूरुष
[ऋ १०. ९७. ४]

ओषधीः इति मातरः तत् वः देवीः उप ब्रुवे। सनेयम् अश्वम् गाम् वासः आत्मानम् तव

मानवों के प्रति वैद्य कह रहा है—

१) (ओषधीः) ओषधियां हैं (देवीः) देवियां, दिव्य गुणों से युक्त और (मातरः) मातायें, माताओं के समान पोषयित्री—मैं (इति) ऐसा (तत्) वह (वः) तुम्हारे प्रति (उप ब्रुवे) कहता हूं।

प्रायः लोग ओषधियों के सेवन का निषेध किया करते हैं। सद्वैद्य उन्हें ओषधियों के सेवन का महत्त्व समझाते रहें।

२) (पुरुष) मानव ! मैं (सनेयम्) संभजूं, सेवन करूं (तव) तेरे (अश्वम्) अश्व को, (गाम्) गौ को, (वासः) वस्त्र को, (आत्मानम्) आत्मा को, आत्मा

वैद्य के उपचार से जब सुसम्पन्न मानव होकर स्वस्थ होजाये तो उसे चाहिये कि उपकारी वैद्य को आत्मस्नेह के साथ वस्त्र, अन्न, द्रव्य आदि भेंट करे।

ओषधियां हैं दिव्य देवियां और मातायें,
ऐसा वह कहता हूं मैं तुम्हारे प्रति।
मानव सेवन करूं मैं तेरे
अश्व, गौ और वस्त्र,
आत्मा के स्नेह को।

५९२ अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता। गोभाज इत् किलासथ यत् सनवथ पूरुषं
[ऋ १०.९७.५, य ३५.४]

अ-श्व-त्थे वः नि-सदनम् पर्णे वः वसतिः कृता। गो-भाजः इत् किल असथ यत् सनवथ

देह और देहचिकित्सा के व्यासंगों में मानव कहीं आत्मा और आत्मचिकित्सा को न भुलादें, इस हेतु से वेदमाता मानवदेहों में निवास करनेवाले आत्माओं को जगाती हुई कहती है—

१) (अ-श्व-त्थे) अ-कल-स्थान पर (वः) तुम्हारा (नि-सदनम्) निवास है, (पर्णे वः वसति) तुम्हारी बस्ती (कृता) की है।

'श्वः' का अर्थ है आगामी कल। अश्वत्थ [अकलस्थान] इसलिये कहा भरोसा नहीं वह कल रहेगा वा नहीं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वास जिस शरीर में है वह क्षणभंगुर है।

आत्मा की शरीर में बस्ती पत्ते पर निवास ी है। पवन का एक झोंका पत्ते को डाल से क् कर देता है। प्राण के एक झटके से शरीररूपी ा जीवनरूपी डाल से कट जाता है।

प्रकृतिजन्य जो कुछ है, सब अश्वत्थ—अकलस्थ चलायमान माया है। अजर, अमर तो देह-ासी आत्मपुरुष है वा सर्वनिवासी ब्रह्मपुरुष है।

तुम (यत्) जब (पूरुषम् सनवथ) पुरुष को सेवन ते हो, तो (इत्) ही (किल) निश्चय से (गो-ज: असथ) गोसेवी हुआ करते हो।

पुरुष शब्द का प्रयोग यहां उस ब्रह्म-पुरुष के ो हुआ है, जो इस सबमें और इस सबसे वाहर समाया हुआ है।

गो शब्द का प्रयोग हुआ है यहां किरण के अर्थ किरण प्रतीक है ज्योति और प्रकाश का। जो मज्योति और ब्रह्मप्रकाश से युक्त हैं वे 'गोभाज:' हैं। जो माया का सेवन करते हुए माया में ही रत—निरत हैं वे मायाभाज: हैं।

माया तमोमय है। आत्मा ज्योतिर्मय है। ब्रह्म प्रकाशमय है। जो आत्मज्योति और ब्रह्मप्रकाश से विहीन होकर देह के व्यासंगों में व्यस्त हैं, वे अन्ध तम में भटकते हैं और भोगयुक्त रहकर अपनी महती विनष्टि करते हैं। जो आत्मज्योति और आत्मप्रकाश से सज्ज रहकर माया में विहार करते हैं, वे योगयुक्त रहकर देहचिकित्सा के साथ आत्मचिकित्सा भी करते हुए लोक-परलोक की सफल साधना करते हैं।

अ-कल-स्थल पर वास तुम्हारा,
की पत्ते पर बस्ती तुम्हारी।
जब सेवन करते हो पुरुष को,
हुआ करते हो निश्चय से
तो ही ज्योति-प्रकाश-सुसेवी।

सूक्ति : अश्वत्थे वः निषदनम्।
अकलस्थल पर वास तुम्हारा।

९३ यत्रौषधीः समग्मत राजानः समितावि्व। विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीवचातनः॥
[ऋ १०.९७.६] य १२.८०

यत्र ओषधीः सम्-अग्मत राजानः सम्-इतौ-इव। वप्रः सः उच्यते भिषक् रक्षः-हा अमीव-चातनः।

मन्त्र की चेतावनी को परिपुष्ट करती हुई वेद-ा पुनः कहती है—

(यत्र) जहां, जिसके ओषधालय में, (समितौ-इव ानः) सभा में राजाओं के समान, (ओषधीः -अग्मत) ओषधियां एकत्र हुआ करती हैं,

जो (विप्रः) मेधावी (रक्षःहा) राक्षसों का करनेवाला और (अमीव-चातनः) रोगों का ारण करनेवाला हो,

(सः भिषक् उच्यते) वह चिकित्सक कहाता

चिकित्सक वह नहीं है जिसके ओषधालय में, । में राजाओं के समान, सुन्दर-सुन्दर ओषधियां रहती हैं और जो केवल शारीरिक रोगों को नष्ट करता है। चिकित्सक वह है जो रोगों के साथ राक्षसों का भी हनन करता है।

शरीर को क्षति पहुंचानेवाले रोगों का नाम है अमीव। आत्मा को क्षति पहुंचानेवाले अन्तःकरण के रोगों का नाम है राक्षस। ऋ ७ १०४.२२ और अ ८.४.२२ में उलूकवृत्ति, शुशुलूकवृत्ति, श्वानवृत्ति, कोकवृत्ति, सुपर्णवृत्ति, गृध्रवृत्ति को इन्द्र [आत्म-साधना] के बाधक राक्षस बताया गया है। विकार-वासनायें वे राक्षस हैं जो शरीर के साथ आत्मा को भी क्षतिग्रस्त करते हैं।

जीवन है ही शरीर और आत्मा का संयोग, जिसमें आत्मा साधक है और शरीर है आत्मसाधना का साधन। चिकित्सक न केवल शारीरिक रोगों

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

की, अपि च आत्मिक रोगों की भी चिकित्सा करे।

जहां एकत्र हैं ओषधियां,
सभा में जैसे राजे,
विप्र जो हन्ता राक्षसों का
और नाशक रोगों का,
वही कहाता है चिकित्सक।

५९४ अश्वावतीं सोमावतीमूर्जयन्तीमुदोजसम्। आविवित्सि सर्वा ओषधीरस्मा अरिष्टतातये॥
[ऋ १०.९७.७] य १२.८२

अश्व-वतीम् सोम-वतीम् ऊर्जयन्तीम् उत्-ओजसम्।
आ अविवित्सि सर्वाः ओषधीः अस्मै अरिष्ट-तातये।

पूर्व-मन्त्र में चिकित्सक की परिभाषा को गयी है। इस मन्त्र में चिकित्सक की योग्यता का संकेत है। स्वयं योग्य चिकित्सक कहता है—(अस्मै) इस [मानवसमाज] के लिये (अरिष्ट-तातये) अरिष्ट-विस्तारार्थ, हित-सम्पादनार्थ, मैंने (आ अविवित्सि) जाना है, प्राप्त किया है (अश्व-वतीम्) अश्व-वती, (सोम-वतीम्) सोम-वती, (ऊर्जयन्तीम्) बल-संचारिका, (उत्-ओजसम्) ऊर्ध्व-ओज—(सर्वाः ओषधीः) समस्त ओषधियों को।

जो हिंसाकर, हानिकर, क्षयकर, क्षतिकर, विनाशकारी है, वह सब 'रिष्ट' है। जो हिंसा-हानि-विनाश से मुक्त और मंगलकारी है, वह सब 'अरिष्ट' है। रोग रिष्ट है। स्वास्थ्य अरिष्ट है। रोग का निराकरण करके स्वास्थ्य सम्पादन करना अरिष्ट का विस्तार है।

चिकित्सा व्यवसाय नहीं है, सर्वश्रेष्ठ साधों में से एक साध है। यदि वह व्यवसाय भी है तो मानवजाति के लिये एक मंगलकर और परोपकार-मय व्यवसाय है।

'अश्ववती' ओषधियां अतिशय आशुता—शीघ्रता के साथ रोगों का नाश करती हैं। जो मस्तिष्क को अनुत्तेजित और स्वस्थ रखे भी 'अश्ववती' हैं।

'सोमवती' ओषधियां दाह, शूल, बेचैनी को सद्यः अच्छा करती हैं। जो ओषधियां रोगों का शमन करती हैं, वे भी 'सोमवती'

कृशकाय, दुर्बल वृद्ध जनों में जो संचार करती हैं, वे 'ऊर्जयन्ती' ओषधियां

उत्-ओजस् नाम उन ओषधियों का उत्कर्षता के साथ शरीर में ओज का करती हैं।

जनहिताय सब प्रकार की उत्तमोत्त धियों का ज्ञान प्राप्त करके जो उनका सञ्च प्रयोग करता है, वह योग्य—सुयोग्य चिकि

इस मानवसमाज के लिये
करने को अरिष्टसम्पादन,
मैंने जाना, प्राप्त किया है,
अश्ववती, अपि सोमवती और
बलसञ्चारी तथा उदोजा
सारी ओषधियों को।

५९५ उच्छुष्मा ओषधीनां गावो गोष्ठादिवेरते। धनं सनिष्यन्तीनामात्मानं तव पूरुष॥
[ऋ १०.९७.८] य १२.८२

उत् शुष्माः ओषधीनाम् गावः गो-स्थात्-इव ईरते। धनम् सनिष्यन्तीनाम् आत्मानम् तव।

चिकित्सक की ओषधियां सेवन करनेवालों के मुख से उसके प्रति यह अभिनन्दन-मन्त्र भी योग्यता-सूचक है—(पुरुष) मानव! मानव-मात्र के हित-सम्पादक! (आत्मानम्) आत्मा को (धन ष्यन्तीनाम् तव ओषधीनाम्) धन देने करनेवाली तेरी ओषधियों के (शुष्माः)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ते) उछलते—उमड़ते हैं, (गोस्थात्-इव गावः) थान से जैसे गौयें।

आत्मा शब्द का प्रयोग हुआ है यहां 'स्वजीवन' में और धन शब्द का 'संबल' अर्थ में। संबल जीवन का धन है।

मानवमात्र के हितैषी चिकित्सक को ओषधियां रोगनिवारिका हैं, वहां वे जीवन में बल का आदन भी करती हैं। गोस्थान से जैसे गौयें उछलती-कूदती बाहर निकलती हैं, वैसे ही योग्य चिकित्सक की ओषधियों के सेवन से स्वास्थ्य और संबल उमड़ते हैं।

मानव,
आत्मा को धनदानेच्छु
तेरी ओषधियों के संबल
उमड़ते हैं, गोस्थान से जैसे गौयें।

शहद-घृत-दूध-शरबत-अर्क.

९६ **इष्कृतिर्नाम वो माताथो यूयं स्थ निष्कृतीः। सीराः पतत्रिणी स्थन यदामयति निष्कृथ ॥**
[ऋ १०.९७.९] य १२.८३

इष्कृतिः नाम वः माता अथो यूयम् स्थ निः-कृतीः। सीराः पतत्रिणीः स्थन यत् आमयति निः कृथ।

ओषधियो! (इष्कृतिः नाम वः माता) इष्-त नामवाली तुम्हारी माता।

इष्-कृति नाम उस इष्—अन्न—पदार्थ का है ाका सेवन ओषधि के साथ वा ऊपर से किया ता है। आयुर्वेद में इष्कृति के लिये 'अनुपान' द का प्रयोग किया जाता है।

अनुपान ओषधि की जननी है। ठीक अनुपान बिना ओषधियों का सेवन बेकार होजाता है। य चिकित्सक को ओषधिविज्ञान के साथ इष्कृति-ान का भी ज्ञान होना चाहिये।

(अथो यूयम् स्थ निःकृतीः) और तुम हो निरा-णशीला।

योग्य वैद्य को ज्ञान होना चाहिये कि कौन धि किस रोग का निराकरण करती है।

मनुष्य (यत् आमयति) जब आमता है, जब आम रोग से पीड़ित होता है, तब तुम (स्थन) होओ (सीराः) सरणशीला, दस्तकारिणी, (पतत्रिणीः) तीव्रगतिवाली; और (निः कृथ) निराकरण करती हो/करो।

दस्तावर ओषधियां तीव्र गति से आम को निकाल बाहर करती हैं। आम रोग के अनेक प्रकार, अनेक उपचार और अनेक ओषधियां हैं। प्रकारभेद, प्रकृतिभेद और आयुर्भेद से ऐसी ओषधियां कैसे और कितनी मात्रा में सेवन की जाती हैं, एक योग्य चिकित्सक को इसका यथावत् ज्ञान होना ही चाहिये।

इष्कृति नाम तुम्हारी माता,
और निराकरणशीला हो तुम।
आम रोग से हो जब पीड़ित
होओ सीरा और पतत्रिणी,
करो निराकरण।

९७ **अति विश्वाः परिष्ठा स्तेन इव व्रजमक्रमुः। ओषधीः प्राचुच्यवुर्यत् किं च तन्वो रपः ॥**
[ऋ १०.९७ १०] य १२.८४

अति विश्वाः परि-स्थाः स्तेनः-इव व्रजम् अक्रमुः। ओषधीः प्र अचुच्यवुः यत् किम् च तन्वः रपः।

कित्सक कहता है—
मेरे (परि-स्थाः) सब ओर रखी हुई (विश्वाः षधीः) सारी ओषधियां [शरीर में] (अति अक्रमुः) अतिक्रमण—प्रवेश किया करती हैं, (स्तेनः-इव व्रजम्) चोर जैसे गोस्थान में।
२) (यत् किम् च) जो कुछ भी (तन्वः रपः) शरीर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

का मल है, वे उसे (प्र अचुच्यवुः) गिरा दिया करती हैं, बाहर धकेल दिया करती हैं।

चोर जिस प्रकार गोष्ठ में प्रवेश करके गौयें चुराकर ले जाता है, उसी प्रकार योग्य चिकित्सक की ओषधियां रोगी के शरीर में प्रवेश करके उसके शरीर से समस्त मल को निकाल बाहर करती हैं। शरीर में मल के बढ़ने और रुकने से ही प्रायः रोगों को उत्पत्ति होती है। योग्य वैद्य प्रथम अपनी मलनाशक ओषधियों के प्रयोग से शरीर में को निकालता है, फिर रोगविशेष का उ करता है।

परि-स्थिता सारी ओषधियां
अतिक्रमण किया करती हैं।
यथा स्तेन गौशाला में,
जो कुछ भी शरीर का मल है,
उसे गिरा दिया करती हैं।

५९८ यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे। आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा।
[ऋ १० ९७.११] य १२.८

यत् इमाः वाजयन् अहम् ओषधीः हस्ते आ-दधे। आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीव-गृभः यथ

१) (यथा जीव-गृभः) जैसे जीव-घाती, व्याध [प्राणी को सद्यः मार देता है],
२) वैसे ही रोगी को (वाजयन्) बलवान् करता हुआ (यत् अहम् इमाः ओषधीः) जब मैं इन ओषधियों को [रोगी के] (हस्ते) हाथ पर (आ-दधे) रखता हूं, तो (पुरा) सद्यः (यक्ष्मस्य आत्मा नश्यति) क्षयरोग का आत्मा नष्ट होजाता है।

दक्ष चिकित्सक की यह आत्मोक्ति है।

जिस प्रकार शिकारी अपने शिकार को निशाना बनाकर उसे फ़ौरन मार देता है, उसी प्रकार दक्ष चिकित्सक के उपचार से क्षयरोग अति शीघ्र सदा के लिये निर्मूल होजाता है।

ओषधियों को रोगी के हाथ पर रखते ही रोग के निर्मूल होने से तात्पर्य रोगी का अहि रोगरहित होना है।

क्षयरोग रोगी को बहुत दुर्बल कर देता कृमिनाशक ओषधियों के प्रयोग से क्षय के कीट का नाश करके, वाजीकरण ओषधियों से रो बल को बढ़ाकर, दक्ष चिकित्सक उसे सर्वथा कर देता है।

सतत वाजयन्,
इन ओषधियों को रखता हूं
जब मैं हाथ में,
होजाता है नष्ट सद्यः
क्षय का आत्मा,
यथा जीव-गृभ।

५९९ यस्यौषधीः प्रसर्पथाङ्गमङ्गं परुष्परुः। ततो यक्ष्मं वि बाधध्व उग्रो मध्यमशीरिव॥
[ऋ १०.९७.१२]

यस्य ओषधीः प्र-सर्पथ अङ्गम्-अङ्गम् परुः-परुः। ततः यक्ष्मम् वि बाधध्वे उग्रः मध्यम-शीः-इ

ओषधियो! (ओष-धीः) दोषों—रोगों को दूर करनेवाली तुम (यस्य अङ्गम्-अङ्गम् परुः-परुः) जिसके अंग-अंग और अवयव-अवयव को (प्र-सर्पथ) व्यापती हो, (ततः) तत्पश्चात् (उग्रः मध्यम-शीः-इव) तीक्ष्ण मर्मभेदी के समान (यक्ष्मम्) क्षयरोग को (वि बाधध्वे) वि-बाधती हो, रोकती हो, होने देती हो।

सर्व जनों को, और विशेषतः आत्मसाधक चाहिये कि सर्वथा नीरोग होते हुए भी यक्ष्मनि ओषधियों का सेवन करते रहें। रोग होजाने

मध्यमाने मर्मणि शृणातीव

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

चिकित्सा करने की अपेक्षा रोग न होने देना श्रेयस्कर होता है। रोगग्रस्त होजाने पर पुनः स्वस्थ होने तक सब कार्य तथा साधनायें बंद रहती हैं और इस प्रकार समय और साधना की पर्याप्त हानि होजाती है। रोग का प्रत्येक झटका शरीर को कृश कर जाता है।

क्षयरोग ही यक्ष्म [क्षतिकर] नहीं है, प्रत्येक रोग यक्ष्म है। प्रत्येक रोग स्वास्थ्य और सौन्दर्य को क्षति पहुंचाता है। ऋतुविशेष में फैलने-वाली बीमारियां यक्ष्मवंशीय ही हैं। वे तीव्र गति से अंग-अंग और पोरु-पोरु में फैल जाती हैं। उनसे बचने के लिये तीक्ष्ण मर्मभेदी ओषधियों का सेवन करना चाहिये। ऐसी ओषधियों का आविष्कार करना दक्ष चिकित्सकों का काम है।

रोगबाधिका ओषधियो, तुम
व्याप जाती हो जिसके भी तो
अङ्ग-अङ्ग में, पोरु-पोरु में,
ततः बाधती हो यक्ष्म को
उग्र मर्मभेदी की तरह।

६०० **साकं यक्ष्म प्र पत चाषेण किकिदीविना। साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया॥**
[ऋ १०.९७.१३] य १२.८७

साकम् यक्ष्म प्र पत चाषेण किकिदीविना। साकम् वातस्य ध्राज्या साकम् नश्य नि-हाकया।

१) (यक्ष्म) क्षय! रोग!
२) (कि-कि-दीविना चाषेण साकम्) ज्ञान-ज्ञान-द्युतिमय भक्षण के साथ (प्र पत) हट जा, चला जा।
३) (वातस्य ध्राज्या साकम्) प्राण की गति के साथ, (नि-हाकया साकम्) आत्मशंसन के साथ (नश्य) नष्ट हो जा।

'कि' ज्ञाने। 'चष' भक्षणे। 'किकिदीविन् चाष' नाम उस भक्ष्य वा भोजन का है जिसमें द्युतिमय अथवा तेजोवर्धक तत्त्वों का बाहुल्य होता है। ऐसा भोजन पाचक और कृमिनाशक होता है। ज्ञानपूर्वक ऐसे भोजन के सेवन से यक्ष्म नष्ट होता है।

समुद्र के किनारे, वनोपवन में, पर्वत पर जहां प्राणवायु चलता है, भ्रमण तथा प्राणायाम करने से यक्ष्म का शमन होता है।

'हाका' नाम मानसिक प्रबल शब्द का है। इच्छाशक्ति के साथ मन ही मन रोगनिराकरणकारी शब्द करने का नाम 'निहाका' है, जिसका पर्याय-वाची शब्द है आत्मशंसन। आत्मशंसन के प्रयोग से असाध्य रोग भी दूर किये जा सकते हैं।

यक्ष्म, दूर हो
किकिदीविन् भोजन के साथ,
हो जा नष्ट
प्राण की गति के साथ,
आत्मशंसन के साथ।

६०१ **अन्या वो अन्यामवत्वन्यान्यस्या उपावत। ताः सर्वाः संविदाना इदं मे प्रावता वचः॥**
[ऋ १०.९७.१४] य १२.८८

अन्या वः अन्याम् अवतु अन्या अन्यस्याः उप अवत।
ताः सर्वाः सम्-विदानाः इदम् मे प्र अवत वचः।

१) ओषधियो! (वः) तुममें से (अन्या अन्याम्) एक दूसरी को/की (अवतु) रक्षा—पूर्ति करे।
२) तुम (अन्या अन्यस्याः) एक दूसरी की (उप अवत) उप-रक्षा करो।
३) (ताः सर्वाः) वे तुम सब (सम्-विदानाः) सं-ज्ञात/सुपरीक्षित होकर (मे इदम् वचः) मेरे इस वचन

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

को/की (प्र अवत) सुरक्षा करो।

दक्ष चिकित्सक की यह आविष्कृति है कि—

१) ओषधियां एक दूसरे के गुण और प्रभाव की पूर्ति करती हैं। इसीलिये अनेक ओषधियों के मिश्रण से रोग-रोग की चिकित्सा की जाती है।

२) ओषधियां एक दूसरी का उपरक्षण करती हैं। एक दूसरी के समीप रखी वा बोयी जाने पर अनेक ओषधियां सुरक्षित रहती हैं।

३) परीक्षणों द्वारा संज्ञात होने पर ओषधियां चिकित्सक के वचन की रक्षा करती हैं। अर्थात् सिद्ध ओषधियों के आश्रय से चिकित्सक विश्वास [दावे] के साथ चिकित्सा करता है।

तुम में से सब,
करो एक दूसरी की प्रपूर्ति,
करो एक दूसरी की उप-रक्षा।
करो सुरक्षा वे तुम सब ही,
संज्ञात सुपरीक्षित होकर,
मेरे इस विश्वस्त वचन की।

६०२ **याः फलनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः। बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः**

[ऋ १०.९७.१५] य १२.

याः फलिनीः याः अ-फलाः अ-पुष्पाः याः च पुष्पिणीः।
बृहस्पति-प्र-सूताः ताः नः मुञ्चन्तु अंहसः।

(याः फलिनीः) जो [वनस्पतियां] फलवाली हैं, (याः अफलाः) जो फलरहिता हैं, (याः अपुष्पाः च पुष्पिणीः) जो पुष्परहिता और पुष्पवती हैं, (ताः) वे [सब] (बृहस्पति-प्रसूताः) चिकित्सापति द्वारा निष्पादित होकर (नः अंहसः मुञ्चन्तु) हमें पाप से मुक्त करें।

अंहस् नाम पाप का है। रोग महापाप है, क्योंकि वह अनियमितता अथवा भोग से उत्पन्न होता है और मृत्यु की ओर लेजाता है। ऐसी ओषधियां हैं जिनके सेवन से सत्त्व की शुद्धि होती है। सत्त्व की शुद्धि से नीरोगता का सम्पादन और मन तथा बुद्धि का शोधन होता है। मन और बुद्धि के शोधन से मानव निष्पाप बनता है।

चिकित्साशास्त्र के सुमहान् और सुदक्ष विद्वान् के लिये यहां बृहस्पति शब्द का प्रयोग हुआ है।

अनेक वनस्पतियां ऐसी हैं जिन पर फल हैं। अनेक ऐसी हैं जिन पर फल नहीं लगते हैं जिनकी छाल तथा पत्ते ओषधि का काम देते अनेक वनस्पतियां हैं जिन पर फूल नहीं लग केवल फल लगते हैं। ऐसी वनस्पतियां हैं जि फूल खिलते हैं, फल नहीं लगते हैं और जिनक तथा मूल ओषधि का काम देते हैं।

सर्व जनों को, विशेषतः आत्मसाधकों को ओषधियों का सेवन यों ही नहीं करना चाहिये, बृह मन्त्रोक्त वनस्पतियों से जो ओषधियां तथा वा कराये, उन्हीं का सेवन करना उपादेय हो

जो फलवाली वा अफला हैं,
हैं अपुष्पा और पुष्पिणी।
करें मुक्त वे हमें कष्ट से
बृहस्पति द्वारा निष्पादित।

६०३ **मुञ्चन्तु मा शपथ्यादथो वरुण्यादुत। अथो यमस्य पड्वीशात् सर्वस्माद् देवकिल्बिषात्**

[ऋ १०.९७.१६, अ ६.९६.२, ७.११२.२] य १२.

मुञ्चन्तु मा शपथ्यात् अथो वरुण्यात् उत। अथो यमस्य पड्वीशात् सर्वस्मात् देव-किल्बिषा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मानसिक रोगों का रोगी बृहस्पति के प्रति कहता है—बृहस्पते ! तेरी ओषधियां (मा मुञ्चन्तु) मुझे मुक्त करें (शपथ्यात्) शपथ्य से, (अथो वरुण्यात्) और वरुण्य से, (अथो यमस्य सर्वस्मात् पड्वीशात्) और यम के समस्त पड्वीश से, (उत देव-किल्बिषात्) और देव-किल्बिष से।

'शपथ्य' नाम उस रोग का है जिससे रोगी का मस्तिष्क उत्तेजित रहता है और वह अन्यों को कोसता रहता है।

'वरुण्य' कहते हैं उस मानसिक रोग को जिसके कुप्रभाव से रोगी वरुणों [प्रतिभाशाली वरणीय जनों] को सताता और लाञ्छित करता है।

'पड्वीश' नाम अन्तःकरण की उस पतित स्थिति का है जिसके वशीभूत होकर रोगी संयम और सदाचार के समस्त बन्धनों का उल्लंघन करता है।

'किल्बिष' का अर्थ है भूल अथवा अपराध। देव जनों के प्रति की गयी भूल अथवा अपराध का नाम देव-किल्बिष है। तम के अंश की वृद्धि से देव जनों के प्रति द्रोह करने की यह दुर्वृत्ति सर्वाधिक भयंकर रोग है।

आयुर्वेद के अनुसार ये सब प्रकृतिजन्य मानसिक रोग हैं। बृहस्पति द्वारा तैयार की वा करायी गयी पापमोचक सात्त्विक ओषधियों से इनका निराकरण होता है। बृहस्पति द्वारा इन रोगों की मानसिक चिकित्सा की जाती है। आत्मसाधकों तथा ऋषियों तक पर इन रोगों का आक्रमण होजाता है।

मुक्त करें मुझे शपथ्य से,
और वरुण्य से, और यम के
समस्त पड्वीश से,
अपि च देव-किल्बिष से।

६०४ अवपतन्तीरवदन् दिव ओषधयस्परि। यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः॥
[ऋ १०.९७.१७] य १२.९१

अव-पतन्तीः अवदन् दिवः ओषधयः परि। यम् जीवम् अश्नवामहै न सः रिष्याति पूरुषः।

(दिवः) द्यौ से (अव-पतन्तीः ओषधयः) नीचे आती हुई ओषधियां (परि अवदन्) बोला करती हैं [कि हम] (यम् जीवम् अश्नवामहै) जिस मनुष्य को व्याप लें, (सः पुरुषः न रिष्यति) वह पुरुष हिंसित नहीं होता है।

मानवशरीर में शिर से ग्रीवामूल तक का भाग द्यौ है, ग्रीवामूल से नाभि तक का भाग अन्तरिक्ष है, नाभि से पगतल तक का भाग भूमि है।

बृहस्पति द्वारा निर्मित ओषधियां इतनी प्रभावशालिनी होती हैं कि द्यौ [मुख, कण्ठ] से अन्तरिक्ष में नीचे उतरती हुई वे रोगी के समस्त शरीर में व्यापकर रोग का सद्यः नाश करने लगती हैं, रोगी में संजीवन का संचार होने लगता है, स्वास्थ्य की क्षतिपूर्ति होने लगती है, मरणासन्न व्यक्ति जीवनोन्मुख होने लगता है। इस प्रकार अपने गुण, प्रभाव से ओषधियां प्रत्यक्ष बोलती हैं।

द्यौ से नीचे आती हुई,
ओषधियां बोला करती हैं,
जिस मनुष्य को व्यापती हैं हम,
होता नहीं पुरुष वह हिंसित।

६०५ या ओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः। तासामसि त्वमुत्तमारं कामाय शं हृदे॥
[ऋ १०.९७.१८, अ ६.९६.१] य १२.९२

याः ओषधीः सोम-राज्ञीः बह्वीः शत-वि-चक्षणाः।
तासाम् असि त्वम् उत्-तमा अरम् कामाय शम् हृदे।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(याः बह्वीः सोम-राज्ञीः शत-वि-चक्षणाः ओषधीः) जो बहुत-सी सोम-राज्ञी असंख्य-वि-चक्षणा ओषधियां हैं, (तासाम्) उनमें से, (कामाय) काम [विकार के शमन] के लिये, (हृदे) हृदय [की शान्ति] के लिये (त्वम् असि) तू ही है (उत्तमा) श्रेष्ठतमा, (अरम् शम्) अत्यन्त शमन करनेवाली।

सोम-राज्ञीः=सोम है राजा जिनका वे, रानियां। जिन ओषधियों के सेवन से शरीर में सोम [रस, वीर्य, सोम्यता] का वर्धन होता है, वे ओषधियां 'सोम-राज्ञी' हैं।

'चक्षण' का अर्थ है चखना, स्वाद। वि-चक्षणाः=विशेष-स्वादवाली। शत-वि-चक्षणाः=असंख्य-विशिष्ट-स्वादोंवाली।

'रोग' बहुत हैं। ओषधियां भी बहुत हैं, एक से एक अधिक स्वादिष्ठ। भिन्न-भिन्न ओषधियां भिन्न-भिन्न रोगों का शमन करती हैं। कामविकार के शमन और हृदय की शान्ति लिये तो, ब्रह्मौषधे, एकमात्र तू ही उत्तमा अतीव शमनकारिणी ओषधि है', जीवन के रसों को चखने के उपरान्त आत्मसाधना के में उतर कर ब्रह्मौषधि के सेवन करनेवाले साधकों की यह अनुभूतिमय उक्ति कितनी और सार्थक है! कामशमन के बिना हृदयशा कहां! और हृदयशान्ति के बिना जीवन क्या!

जो बहुत-सी सोम-राज्ञी,
शतविचक्षणा ओषधियां हैं,
उन सबमें से कामशमन के,
हृदयशान्ति के लिये है तू ही
सर्वश्रेष्ठा, सर्वातिशय शमनकारिणी।

६०६ या ओषधीः सोमराज्ञीर्विष्ठिताः पृथिवीमनु। बृहस्पतिप्रसूता अस्यै सं दत्त वीर्यम्॥

[ऋ १०.९७.१९]

य १२.९३ १

याः ओषधीः सोम राज्ञीः वि-स्थिताः पृथिवीम् अनु। बृहस्पति-प्र-सूताः अस्यै सम् दत्त वीर्यम्॥

(पृथिवीम् अनु वि-स्थिताः) पृथिवी पर अनु-वि-स्थित, (बृहस्पति-प्रसूताः) बृहस्पति द्वारा निष्पादित (याः सोम-राज्ञीः ओषधीः) जो सोम-राज्ञी ओषधियां हो, वे तुम (अस्यै) इस [तनू] के लिये (वीर्यम्) वीर्य, पराक्रम (सम् दत्त) प्रदान करो।

पूर्व-मन्त्र में हृदय की शान्ति के लिये 'उत्तमा ब्रह्मौषधि' का उल्लेख है। वहां हृदय की शान्ति से तात्पर्य हृदयस्थ [हृदयाकाश में अधिष्ठित] आत्मा की शान्ति से है।

इस मन्त्र में उन ओषधियों का संकेत है जो तनू में वीर्य का संचार करती हैं। वीर्य नाम जहां धातु-विशेष का है, वहां वीर्य का अर्थ पराक्रम, वीरता और शौर्य भी है। जिस तनू में वीर्य-धातु का वर्धन और रक्षण होता है, उसी तनू के आश्रय से आत्मा अमित पराक्रम कर पाता है।

सोमराज्ञी [वीर्यनिष्पादिका] वनस्पतियां पृथिवी पर सर्वत्र अनुविस्थित, अनुकूलता के स्थित हैं। चिकित्सापति को उनकी खोज उनसे यथास्थान ऐसी ओषधियां तैयार चाहियें जिनके सेवन से तनू में संबल और क्षमता का संचार होता रहे।

आत्मशान्ति और वीर्यसम्पन्नता के संयोग आत्मसाधना का पथ प्रशस्त होता है।

पृथिवी पर सर्वत्र अवस्थित,
बृहस्पति द्वारा निष्पादित,
सोमराज्ञी ओषधियां हों,
वे तुम इस तनू के लिये
करो वीर्य प्रदान।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

६०७ याश्चेदमुपशृण्वन्ति याश्च दूरं परागताः । सर्वाः संगत्य वीरुधो ऽस्यै सं दत्त वीर्यम् ॥
[ऋ १०.९७.२१] य १२.९४

याः च इदम् उप-शृण्वन्ति याः च दूरम् परा-गताः । सर्वाः सम्-गत्य वीरुधः अस्यै सम् दत्त वीर्यम् ।

(च) और [लोग] (याः) जिन्हें [जिन ओषधियों के विषय में] (इदम्) यह (उप-शृण्वन्ति) निकट से सुनते हैं, (च) और (याः) जो [ओषधियां] (दूरम् परा-गताः) दूर गयी हुई हैं [दूर-दूर जिनकी चर्चा है], वे तुम [सर्वाः वीरुधः] सब लतायें (सम्-गत्य) संगत होकर (अस्यै) इस [तनू] के लिये (वीर्यम् सम् दत्त) वीर्य प्रदान करो ।

होती हैं और तनू में वीर्य का संचार करती हैं । लताओं से निर्मित जिन ओषधियों के गुणों की समीप, दूर, सर्वत्र चर्चा होती है, लताओं के मिश्रण से बनी उन ओषधियों के सेवन से सर्व जन और आत्मसाधक वीर्य सम्पादन करें ।

और जिन्हें सुनते हैं निकट यह,
और दूर जो गयी हुई हैं,
वे तुम सर्व लतायें करो
इस तनू के लिये वीर्य प्रदान ।

वनस्पतियां ही नहीं, लतायें भी ओषधिरूपा

६०८ मा वो रिषत् खनिता यस्मै चाहं खनामि वः । द्विपाच्चतुष्पादस्माकं सर्वमस्त्वनातुरम् ॥
[ऋ १०.९७.२०] य १२.९५

मा वः रिषत् खनिता यस्मै च अहम् खनामि वः ।
द्वि-पात् चतुः-पात् अस्माकम् सर्वम् अस्तु अन्-आ-तुरम् ।

१) वनस्पतियो ! लताओ ! (खनिता) खोदनेवाला (वः) तुम्हें (मा रिषत्) न हिंसे ।

वनस्पतियों तथा लताओं को खोदकर लेजाने में इस बात का ध्यान रहे कि वे निर्मूल न कर दीजायें ।

२) (च) और (अस्माकम् सर्वम् द्वि-पात् चतुःपात्) हमारा सब दोपाया [मानवसमाज] तथा चौपाया [पशुसमूह], (यस्मै अहम् वः खनामि) जिसके लिये मैं [बृहस्पति] तुम्हें खोदता हूं, (अन्-आतुरम् अस्तु) रोगरहित हो, नीरोग रहे ।

ओषधोपचार मानवसमाज तथा पशुजाति, दोनों के लिये है । ओषधियों का प्रयोग रोगनिवारण के साथ रोगनिरोध के लिये भी किया जाना चाहिये । बृहस्पति [चिकित्साध्यक्ष] ऐसी ओषधियों का भी निर्माण करे और कराये, जिनसे मानवों तथा पशुओं में किसी प्रकार का रोग न फैलने पाये ।

खनिता तुम्हें न नष्ट करे और
मानव, पशु, सब समूह हमारा,
जिनके लिये खोदता तुमको,
रहे सदा नीरोग ।

६०९ ओषधयः समवदन्त सोमेन सह राज्ञा । यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि ॥
[ऋ १०.९७.२२] य १२.९६

ओषधयः सम् अवदन्त सोमेन सह राज्ञा । यस्मै कृणोति ब्राह्मणः तम् राजन् पारयामसि ।

(ओषधयः) ओषधियों ने (सोमेन राज्ञा सह) सोम राजा के साथ (सम् अवदन्त) संवदन किया, सम्यक् कहा, '(राजन्) ! (ब्राह्मणः) ब्राह्मण [हमें] (यस्मै) जिस [मानव-पशुसमूह] के लिये (कृणोति) तैयार करता है, हम (तम्) उस [समूह] को (पारयामसि) पार [रोगमुक्त] करती हैं ।'

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

बृहस्पति [चिकित्सापति] को यहां 'सोम राजा' कहा गया है। ब्राह्मण शब्द का प्रयोग हुआ है यहां उस आयुर्वेदवित् विद्वान् के लिये जो बृहस्पति के तत्त्वावधान में शास्त्रीय विधि से ओषधियों का निर्माण करता है।

रोगियों को प्रत्यक्ष रोगरहित करनेवाली ओषधियां मुंह-बोलती ओषधियां हैं। सद्यः रोग का निराकरण कर देना मानो ओषधियों का बृहस्पति के साथ संवदन है।

बृहस्पति के निरीक्षण में निष्णात आप्त द्वारा ऐसी प्रभावमयी ओषधियां निर्मित जायें जिनके सेवन से रोगीसमूह सद्यः होजाये।

किया संवदन ओषधियों ने
सोम राजा के साथ,
'राजन् ! जिसके लिये हमें
किया ब्राह्मण ने तयार,
करती हैं हम उसे पार।'

६१० **नाशयित्री बलासस्यार्शस उपचितामसि। अथो शतस्य यक्ष्माणां पाकारोरसि नाशनी** य १२.

नाशयित्री बलासस्य अर्शसः उप-चिताम् असि।
अथो शतस्य यक्ष्माणाम् पाक-अरोः असि नाशनी।

१) तू (असि नाशयित्री) है नाशकर्त्री (बलासस्य) बलनाशक कफ़रोग की, (अर्शसः) बवासीर की, (उप-चिताम्) उप-चितों की, मलों के रुकने और दोषों के एकत्र होजाने के कारण उत्पन्न होनेवाले रोगों की।

२) (अथो) और (असि) है तू (नाशनी) नाशयित्री (शतस्य यक्ष्माणाम्) असंख्य राजरोगों की, (पाक-अरोः) पकनेवाले फोड़े की।

बृहस्पति को चाहिये कि वह ब्राह्मण [वेदाचार्य] के द्वारा मन्त्रोक्त रोगों की अचूक ओषधियां तैयार कराये।

तू है नाशनी कफ़ की, अर्श की,
उप-चितों की।
और है तू नाशकर्त्री
शत यक्ष्मों की,
और पकनेवाले फोड़े की।

६११ **त्वाम् गन्धर्वा अखनँस्त्वामिन्द्रस्त्वां बृहस्पतिः।**
त्वामोषधे सोमो राजा विद्वान् यक्ष्मादमुच्यत ॥ य १२.९८

त्वाम् गन्धर्वाः अखनन् त्वाम् इन्द्रः त्वाम् बृहस्पतिः।
त्वाम् ओषधे सोमः राजा विद्वान् यक्ष्मात् अमुच्यत।

१) (ओषधे) ! (त्वाम् गन्धर्वाः अखनन्) तुझे गन्धर्वों ने खोदा, (त्वाम् इन्द्रः) तुझे आत्मा [आत्मवित् योगी] ने, (त्वाम् बृहस्पतिः) तुझे चिकित्साचार्य ने, (त्वाम् सोमः राजा विद्वान्) तुझे सोम [सोम्य प्रजाजन] ने, राजा ने, विद्वान् ने।

२) जिसने भी तुझे खोदा, खोजा, सेवन किया, वह ही (यक्ष्मात् अमुच्यत) रोग से मुक्त हो गया।

गन्धर्व, योगी, चिकित्सक, प्रजा, राजा, विद्वान्, सभी को रोग का आक्रमण होता है। ओषधिविज्ञान का ज्ञान होना चाहिये और को यथावश्यकता ओषधि का सेवन चाहिये।

तुझे है खोदा गायकों ने,
तुझे योगी ने, चिकित्सक ने,
राजा, प्रजा, विद्वान् ने,
हो गया रोग से मुक्त।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

६१२ सहस्व मे अरातीः सहस्व पृतनायतः । सहस्व सर्वं पाप्मानं सहमानास्योषधे ॥ य १२.९९

सहस्व मे अरातीः सहस्व पृतना-यतः । सहस्व सर्वम् पाप्मानम् सहमाना असि ओषधे ।

१) (ओषधे) ! तू (सहमाना असि) सहशीला—विजयशालिनी है ।

२) (मे) मेरे, मुझ रोगी के (अरातीः सहस्व) शत्रुओं को परास्त कर ।

३) (पृतना-यतः सहस्व) आक्रमणकारियों को पराजित कर ।

४) (सर्वम् पाप्मानम् सहस्व) सब पापाचार को नष्ट कर, रोगरूप पाप को समाप्त कर ।

प्रत्यक्षतः यहां 'अरातीः' [शत्रुओं] और 'पृतनायतः' [आक्रमणकारियों] का प्रयोग रोगरूपी शत्रुओं तथा रोगों के आक्रमणों के लिये हुआ है । सभी रोग स्वास्थ्य के शत्रु हैं और आयु को क्षीण करते हैं । रोगों की सेनायें जब आक्रमण करती हैं तो बड़े से बड़े वीर भी शय्या पर पड़ जाते हैं । ओषधिरूप शस्त्रों से ही उन शत्रुओं और आक्रमणकारियों का वध किया जाता है ।

तमोगुण तथा रजोगुण के प्रबल होने पर ही मानव पापाचार करते हैं । ऐसी ओषधियां हैं, जिनके सेवन से तमोगुण तथा रजोगुण का क्षय और सत्त्वगुण का प्राबल्य होता है । सत्त्वगुण का प्राबल्य होने पर मानव पापाचार से मुक्त होकर श्रेष्ठाचार में प्रवृत्त रहता है । रोगी होना भी तो पापाचार है । ओषधि इस पापाचार का निराकरण करती है ।

परास्त कर मेरे शत्रुओं को,
पराजित कर आक्रमणकारियों को,
नष्ट कर सब पापाचार को ।
ओषधे, तू है
सहमाना—विजयशीला ।

सूक्ति : सहस्व सर्वं पाप्मानम् ।
नष्ट कर सब पापाचार को ।

६१३ दीर्घायुस्त ओषधे खनिता यस्मै च त्वा खनाम्यहम् ।
अथो त्वं दीर्घायुर्भूत्वा शतवल्शा वि रोहतात् ॥ य १२.१००

दीर्घ-आयुः ते ओषधे खनिता यस्मै च त्वा खनामि अहम् ।
अथो त्वम् दीर्घ-आयुः भूत्वा शत-वल्शा वि रोहतात् ।

१) (ओषधे) वनस्पते !

२) (ते खनिता) तेरा खोदनेवाला [मैं], (च यस्मै अहम् त्वा खनामि) और जिसके लिये मैं तुझे खोदता हूं, दोनों में से प्रत्येक (दीर्घ-आयुः) लम्बी आयुवाला हो ।

३) (अथो त्वम् दीर्घ-आयुः भूत्वा) और तू दीर्घायु होकर (शत-वल्शा) शत-अंकुरा [बनकर] (वि रोहतात्) विविधतया उग ।

ओषधिरूपा प्रत्येक वनस्पति आयुर्वर्धिका होती है । मनुष्यों को चाहिये कि उसे असंख्य अंकुरों में बोकर उसकी वृद्धि करते रहें ।

वनस्पते, तेरा मैं खनिता, अपि च
जिसके लिये खोदता हूं तुझको मैं,
होवे लम्बी आयुवाला ।
और तू दीर्घायु होकर
उग विविधतः असंख्यांकुरा ।

६१४ त्वमुत्तमास्योषधे तव वृक्षा उपस्तयः । उपस्तिरस्तु सो ऽस्माकं यो अस्माँ अभिदासति ॥
[ऋ १०.९७.२३, अ ६.१५.१]

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

त्वम् उत्-तमा असि ओषधे तव वृक्षाः उपस्तयः ।
उपस्तिः अस्तु सः अस्माकम् यः अस्मान् अभि-दासति ।

१) (ओषधे) ! (त्वम् उत्तमा असि) तू उत्तमा है ।

प्रत्येक वानस्पत्य ओषधि, जो रोगों का नाश करती है, उत्तमा है और सुरक्षणीया है ।

२) (तव वृक्षाः उपस्तयः) तेरे वृक्ष समीप-समीप स्थित [सघन] हों ।

ओषधिरूप वृक्ष सघनता के साथ उगाये जाने चाहियें ।

३) (यः) जो [चिकित्सक] (अस्मान्) हमें (अभि-दासति) सर्वतः देता है, सब रोगों की ओषधि प्रदान करता है, (सः अस्माकम् उपस्तिः) वह हमारा संगी हो, वह सदा हमारे रहे ।

प्रत्येक बस्ती में चिकित्सक सहज रहना चाहिये ।

ओषधे ! तू उत्तमा है,
तेरे वृक्ष सघनतायुत हों ।
जो हमको अभितः देता है,
वह हो हमारा संगी ।

६१५ **मा मा हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा व्यानट् ।**
यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
[ऋ १०.१२१.९] य १२.१०२

मा मा हिंसीत् जनिता यः पृथिव्याः यः वा दिवम् सत्य-धर्मा वि आनट् ।
यः च अपः चन्द्राः प्रथमः जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ।

(मा मा हिंसीत्) मुझे न हिंसे [परमेश्वर], (यः पृथिव्याः जनिता) जो पृथिवी [आदि मनुष्यलोकों] का जनक है, (वा यः सत्य-धर्मा दिवम् वि आनट्) अथवा जो सत्य-धर्मा द्यौ [सूर्यादि प्रकाशलोकों] को व्यापे हुए है, (च यः प्रथमः अपः चन्द्राः जजान) और जिस प्रथम—अनादि ने सृष्टिप्रवाहों और ज्योतिर्लोकों को प्रकट—प्रकाशित किया है ।

यह आत्मा की आत्मध्वनि है । अहम्=मैं । मम=मेरा । मा=मुझे । अहम् है अ-हन्, अ-मर, अविनाशी आत्मा । वह जो अपने को 'अहम्' कहता है, वह अविनाशी आत्मा है । वह जो कहता है, 'मेरा शरीर, मेरा यह, मेरा वह', वह अविनाशी आत्मा है । वह जो कहता है, 'मुझे न हिंसे सत्य-धर्मा परमात्मा', वह अविनाशी आत्मा है ।

आत्मसाधक के लिये शरीरचिकित्सा से कहीं बढ़कर है आत्मचिकित्सा । शरीर के रोग असंख्य हैं और ओषधियां भी असंख्य हैं । आत्मा का रोग एक ही है और उसकी ओषधि भी एक ही है । रोग है आत्मविस्मृति । इस रोग से आत्मा ग्रस्त होता है, जब वह शरीर के व्यासंगों में फंसे माया [भौतिक भोगों] में लीन होजाता है । इस लीनता आत्मा को परमात्मा से वियुक्त करती है । यही वह हिंसा अथवा रोग है, जिससे मुक्त होने के लिये आत्मा ने उपर्युक्त पुकार की है ।

आत्मसाधक को, आत्म-अवस्थित और ब्रह्मसमाहित रहने के लिये, यह कामना रहनी चाहिये, 'सर्वरचयिता, सर्वधारक, सत्य प्रभु मुझे आत्म-समाहित रखता हुआ, आत्मविस्मृति से मुक्त रखे ।'

आत्म-अवस्थित और ब्रह्मसमाहित रहने के लिये आत्मसाधकों को सदा ही यह बोधवाक्य रहना चाहिये—'अपनी सम्पूर्ण भावना के साथ (कस्मै देवाय) आनन्दस्वरूप देव के प्रति (हविषा) आत्महवि—आत्मार्पण द्वारा (विधेम)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

समाहित—समर्पित रहें।'

'जिस प्रकार मछलियां जल में लीन रहती हुई सब कर्म करती हैं, वैसे ही हम आत्मना ब्रह्मलीन रहते हुए कर्मसाधना करें।'

मुझे न हिंसे, जो पृथिवी का जनक,
वा जो सत्यधर्मा व्यापे हुए है द्यौ को,
और जिस अनादि ने रचा है
सृष्टिप्रवाहों को, ज्योतिर्लोकों को।
रहें हम विधृत आत्मना
आनन्दस्वरूप देव के प्रति।

सूक्ति : **कस्मै देवाय हविषा विधेम।**
हम आनन्दस्वरूप देव के प्रति समर्पित रहें।

६१६ **अभ्यावर्तस्व पृथिवि यज्ञेन पयसा सह। वपां ते अग्निरिषितो अरोहत्॥** य १२.१०३

अभि आ वर्तस्व पृथिवि यज्ञेन पयसा सह। वपाम् ते अग्निः इषितः अरोहत्।

आत्मविस्मृति से मुक्त होकर जब आत्मसाधक ब्रह्मार्पित और ब्रह्मसमाहित रहते हैं तो सारी पृथिवी—सृष्टि उनके लिये आनन्दधाम बन जाती है। अध्यात्मथर्वण करते हुए वे कहते हैं—

१) (पृथिवि)! तू (यज्ञेन पयसा सह) यज्ञ और रस के साथ (अभि आ वर्तस्व) अभितः आवर्तन कर, घूम, नाच।

पृथिवी शब्द भूमि और सृष्टि, दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है।

यज्ञ शब्द यहां आत्मा और ब्रह्म के संगतिकरण अथवा सम्मिलन की भावना का द्योतन कर रहा है और पय शब्द आनन्दरस का।

आत्म-अवस्थिति के साथ ब्रह्मार्पित होने पर जो आत्म-ब्रह्मसम्मिलन होता है, उस स्थिति में सम्पूर्ण पृथिवी, सारी सृष्टि आनन्दरस से आप्लावित प्रतीत होती है, सब लोकलोकान्तरों की गतियां आनन्दनृत्य करती सी दीख पड़ती हैं। वास्तव में सारी सृष्टि ब्रह्म से संगत हुई आनन्दनृत्य ही कर रही है।

२) पृथिवि! हमारा (इषितः अग्निः) प्रेरित अग्नि, ब्रह्मप्रेरित आत्मा (ते वपाम् अरोहत्) तेरी चोटी पर आरोहित होगया, चढ़ गया।

आत्मा जब ब्रह्मार्पित होजाता है तो वह निरन्तर आत्मप्रेरित रहता है और ब्राह्म प्रेरणा से ही प्रत्येक गति और चेष्टा करता है।

वपा नाम गुहा, टीला, शिखर, शिखा, चोटी का है। पृथिवी को वपा पर आरोहित होने का अर्थ है पार्थिवता से, सांसारिकता से ऊपर उठ जाना, अथवा पार्थिव भोगों से मुक्त होजाना। ब्रह्मप्रेरित आत्मा भोगमुक्त और योगयुक्त रहते ही हैं।

पृथिवि! अभितः आवर्तन कर,
यज्ञ, पयः के साथ।
आरोहित होगया वपा पर तेरी,
प्रेरित अग्नि।

६१७ **अग्ने यत् ते शुक्रं यच्चन्द्रं यत् पूतं यच्च यज्ञियम्। तद् देवेभ्यो भरामसि॥** य १२.१०४

अग्ने यत् ते शुक्रम् यत् चन्द्रम् यत् पूतम् यत् च यज्ञियम्। तत् देवेभ्यः भरामसि।

ब्रह्म से संगत सारी सृष्टि को आनन्दनृत्य करती हुई देखकर आत्मसाधक ब्रह्म को सम्बोधन करते हैं—(अग्ने) ब्रह्माग्ने! (ते) तेरा (यत् शुक्रम्) जो तेजोमय, (यत् चन्द्रम्) जो आह्लादक, (यत् पूतम्) जो पवित्र (च) और (यत् यज्ञियम्) जो यज्ञिय [स्वरूप] है, हम (तत्) उसे (देवेभ्यः) दिव्यताओं [के सम्पादन] के लिये [अपने जीवनों में] (भरामसि) भरते हैं, धारण करते हैं।

ध्याता में ध्यात के गुणों का संचार ध्यान के

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

द्वारा होता है । ब्रह्म के तेजोमय, आह्लादक, पवित्र और यज्ञिय स्वरूप का ध्यान करने से आत्म-साधकों के जीवनों में दिव्यताओं का संचार होता है। इसीलिये वे ब्रह्माग्नि का आत्मधारणा के साथ ध्यान करते हैं ।

अग्ने ! तेरा जो तेजोमय,
जो आह्लादक, जो पवित्र और
जो यज्ञिय निज स्वरूप है,
धारण करते हैं हम उसको
देवों—दिव्यताओं के लिये ।

६१८ **इषमूर्जमहमित आदमृतस्य योनिं महिषस्य धाराम् ।**
आ मा गोषु विशत्वा तनूषु जहामि सेदिमनिराममीवाम् ॥ य १२.१०५

इषम् ऊर्जम् अहम् इतः आदम् ऋतस्य योनिम् महिषस्य धाराम् ।
आ मा गोषु विशतु आ तनूषु जहामि सेदिम् अन्-इराम् अमीवाम् ।

ब्रह्माग्नि के तेजोमय, आह्लादक, पवित्र, यज्ञिय स्वरूप को ध्यान द्वारा धारण करनेवाले आत्म-साधकों में से प्रत्येक की यह आनन्दोक्ति है—

१) (इतः) यहां से, इस ब्रह्माग्नि से (अहम्) मैं [प्राप्त करता रहता हूं] (आदम्) भक्षणीय, आत्मा द्वारा सेवनीय (इषम्) इच्छा—महत्त्वाकांक्षा, (ऊर्जम्) पराक्रम, (ऋतस्य योनिम्) ऋत की योनि, ऋत का स्वरूप, (महिषस्य धाराम्) महान् की वाणी । ब्रह्माग्नि (मा) मुझे [अपने से सदा संगत रखे] ।

ब्रह्माग्नि ही आत्मा का भोजन है। ध्यान द्वारा उसका सेवन करके आत्मा में उदात्त आकांक्षा तथा अमित पराक्रम का उदयन होता है । ब्रह्मसेवी आत्मा की इच्छा होती है अमित पराक्रम से युक्त रहते हुए महतो महान् साधों को संसिद्ध करने की ।

ऋत शब्द का प्रयोग यहां सत्य के अर्थ में हुआ है और 'योनि' का स्वरूप के अर्थ में। जो सत्य के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, वह ही ऋताचारी—सत्याचारी बनता है । ब्रह्मसेवी आत्मा को ही ऋत के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार होता है ।

ब्रह्मसेवी आत्मा ही महान् ब्रह्म की धारामयी वेदवाणी को याथातथ्यतः प्राप्त करता है, उसके मर्म को समझ पाता है, उसका प्रचार-प्रसार करने में समर्थ होता है ।

इस सबकी सिद्धि उसी से होती है, जो ब्रह्माग्नि सदा संगत रहता है, जो अपनी भावना से सदा ब्रह्मसंगत रहता है ।

२) ब्रह्म मेरी (गोषु) किरणों—निगाहों में (आ विशतु) प्रवेश करे ।

ब्रह्म जिसे अपने से संगत रखता है, जो ब्रह्म से संगत रहता है, उसकी निगाहों में यह ब्रह्ममय दिखायी पड़ता है । उसे सबमें सर्वत्र ही वह दिखायी देता है । यह ही निगाहों में का प्रवेश है ।

३) ब्रह्म मेरे (तनूषु आ विशतु) तनुओं में करे ।

तनू [शरीर] में इन्द्रियसमूह, चित्त, मन, मस्तिष्क, बुद्धि, रक्तादि जो कुछ है सबके लिये 'तनूषु' शब्द का प्रयोग हुआ ब्रह्मसंगाती के समस्त तनुओं में ब्रह्मानुभूति है । यह ही ब्रह्म का तनुओं में प्रवेश है ।

४) मैं (जहामि) त्यागता हूं, निराकृत रख (सेदिम्) हिंसा, (अनिराम्) विषाद, (अमी भय—संशय को ।

अनिर नाम विषाद की उस अवस्था जिसमें प्राणी सर्वथा गतिशून्य होजाता है और कर नहीं पाता है । अनिरा नाम विषाद का है

अमीवा नाम उस मानसिक रोग का है, मानव सदा भय और संशय से ग्रस्त रहता है

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ब्रह्मसंगाती सदा ही हिंसा, विषाद और संशय से मुक्त रहता है।

यहां से मैं पारहा हूं सन्तत
सेवनीय इष और ऊर्ज को,
ऋत की योनि को और महिष की
ज्ञानमयी वेदवाणी को।
रहे प्रविष्ट निगाहों में वह,
रहे प्रविष्ट तनुओं में वह।
मैं सम्यक् निराकृत रखता हूं
हिंसा, संशय और विषाद को।

६१९ अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं दधासि दाशुषे कवे॥

[ऋ १०.१४०.१, सा १८१६] य १२.१०६

अग्ने तव श्रवः वयः महि भ्राजन्ते अर्चयः विभा-वसो।
बृहत्-भानो शवसा वाजम् उक्थ्यम् दधासि दाशुषे कवे।

अपनी आनन्दोक्ति को जारी रखते हुए आत्म-साधक कहे चला जारहा है—

१) (विभा-वसो बृहत्-भानो कवे अग्ने) विभा-वसु, बृहत्-भानु, कवि, ब्रह्माग्ने!

ब्रह्माग्नि विभा-वसु है, तेजोधन है। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' उसी की दीप्ति से यह सब प्रदीप्त होरहा है।

ब्रह्माग्नि है बृहत्-भानु। बृहत्=विशाल—व्यापक। भानु=सूर्य, सौन्दर्य। वह है सूर्यों का सूर्य, प्रकाशकों का प्रकाशक, सौन्दर्यों का सौन्दर्य। जहां जो प्रकाश है, जहां जो सौन्दर्य है, उसके सौन्दर्य की छटामात्र है।

वह है कवि, क्रान्तदर्शी, क्रान्तप्रज्ञ। वह अपनी क्रान्त दृष्टि से सबको, सब कुछ देख रहा है, और सर्वत्र सब कुछ जान रहा है।

२) (तव महि श्रवः वयः अर्चयः भ्राजन्ते) तेरी महान् कीर्ति, सत्ता और किरणें-दीप्तियां प्रकाश रही हैं।

ब्रह्माग्नि का श्रव—यश—कीर्ति तो महान्—व्यापक है ही, उसका वय और उसकी अर्चियां भी—महान्—व्यापक हैं।

वय शब्द का सामान्य अर्थ है आयु और जीवन। यहां इस शब्द का प्रयोग अस्तित्व अथवा सत्ता के अर्थ में हुआ है। उसकी सत्ता महतो महान् है, सर्वतो महान् है।

और महान्—व्यापक ही हैं उसकी अर्चियां, उसके सौन्दर्य की रश्मियां, उसके सौन्दर्य की छटा-छवियां। अर्चि नाम किरण, दीप्ति और सौन्दर्य का है।

३) तू अपने (शवसा) बल से (दाशुषे) आत्म-समर्पक के लिये (उक्थ्यम् वाजम् दधासि) प्रकथनीय वाज धारण—प्रदान करता है।

वाज नाम ज्योति, शक्ति और संग्राम का है। सभी संग्राम ज्योति और शक्ति के आश्रय से ही विजय किये जाते हैं। ब्रह्माग्नि वाजपति है। जो जन, जो आत्मसाधक ब्रह्माग्नि के प्रति समर्पित रहते हैं, वह अपने निज सामर्थ्य से सर्व संग्रामों के विजयार्थ उन्हें ज्योति और शक्ति धारण कराता है, प्रकाश और संबल प्रदान करता है।

विभा-वसो बृहद्-भानो कवे अग्ने!
तेरे व्यापक यश और सत्ता और अर्चि
सर्वत्र प्रकाश रहे हैं।
आत्मसमर्पक को देता है
तू निज बल से वाज प्रशस्त।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

६२० पावकवर्चाः शुक्रवर्चा अनूनवर्चा उदियर्षि भानुना ।
पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसि पृणक्षि रोदसी उभे ॥
[ऋ १०.१४०.२, सा १८१७] य १२.१०७

पावक-वर्चाः शुक्र-वर्चाः अन्-ऊन-वर्चाः उत् इर्षि भानुना ।
पुत्रः मातरा वि-चरन् उप अवसि पृणक्षि रोदसी उभे ।

जिस प्रकार काला कोयला अग्नि में अर्पित होकर अग्निरूप होजाता है, साक्षात् अग्नि बन जाता है, उसी प्रकार ब्रह्माग्नि के प्रति अर्पित आत्मसमर्पक ब्राह्म गुणों से युक्त होजाता है और संसार उसके प्रति कहता है—

१) (पावक-वर्चाः) पावक-वर्च, परम पावन प्रभु के तेज से तेजस्वी, (शुक्र-वर्चाः) शुद्ध-वर्च, परम शोभन प्रभु की शोभनीयता से शोभन-रूप, (अनून-वर्चाः) अन्यून-वर्च, परम सुन्दर प्रभु के अन्यून सौन्दर्य से पूर्णतः सुन्दर, तू (भानुना) आत्मदीप्ति-ब्रह्मदीप्ति के साथ (उत् इर्षि) ऊपर उठ रहा है, उद्गमन कर रहा है, उदित होकर प्रकाश रहा है।

जिस प्रकार प्रकाशपुञ्ज सूर्य द्यौ-भू के मध्य ऊर्ध्वस्थ हुआ दोनों लोकों को प्रकाशित करता है उसी प्रकार ब्रह्मरूपता अथवा ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त आत्मसमर्पक सम्पूर्ण मानवसमाज में ज्ञान का प्रकाश फैलाता है।

२) (पुत्रः) पुत्र, नरक से तारनेवाला [आत्म-समर्पक], परम पावन प्रभु का सच्चा पुत्र, जगती का सुपूत पुत्र, तू (वि-चरन्) विचरण करता हुआ, विश्व में विचरता हुआ (उभे रोदसी मातरा) दोनों द्यौ-भू माताओं को/की (उप अवसि) निकटतः रक्षा करता है, (पृणक्षि) पूरता है, पूर्ण करता है। (सायण-उभय पक्षों में देखो)

द्यौ प्रकाश का प्रतीक है और पृथिवी कर्म का। ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त आत्मसमर्पक सर्वतः विचरण करता है, और सर्व जनों के सम्पर्क में आकर सम्पूर्ण पृथिवी पर ज्ञानप्रकाश और कर्मसाधना का प्रसार करता है, ज्ञान और कर्मयोग की ज्योति जगाता है। ज्ञान और कर्म के आश्रय से ही मानवसमाज के आत्मिक तथा भौतिक अभावों की पूर्ति होती है। ये ज्ञान-योग ही हैं जो नरकों को स्वर्ग में परिणत करते हैं। इस योगद्वय के आश्रय से मानवप्रजा को नरक से तारनेवाला होने से आत्मसमर्पक आत्मसाधक को यहां पुत्र कहा गया है। पुत्र शब्द का यही अर्थ है नरक से तारनेवाला।

पावक-वर्च, शुक्र-वर्च,
अन्यून-वर्च तू
उदय होरहा है भानु से।
तू सुपुत्र विचरता हुआ
उभय रोदसी माताओं का
करता है उपरक्षण, पूरण।

६२१ ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभिर्मन्दस्व धीतिभिर्हितः ।
त्वे इषः सन्दधुर्भूरिवर्पसश्चित्रोतयो वामजाताः ॥
[ऋ १०.१४०.३, सा १८१८] य १२.१०८

ऊर्जः नपात् जात-वेदः सु-शस्ति-भिः मन्दस्व धीति-भिः हितः ।
त्वे इषः सम् दधुः भूरि-वर्पसः चित्र-ऊतयः वाम-जाताः ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ब्राह्म गुणों से युक्त आत्मसमर्पक के प्रति संसार कहे चला जारहा है—

१) (ऊर्जः न-पात् जात-वेदः) बल को न गिरने-देनेवाले जात-विद्! आत्मसंबल को च्युत न होने देनेवाले प्रज्ञानिन्! (हितः) समाहित, आत्म-समाहित, ब्रह्मसमाहित, तू (सुशस्तिभिः) प्रशस्तियों से, (धीतिभिः) धारणाओं से (मन्दस्व) आनन्दित हो, प्रहर्षित रह।

जातमात्र को तत्त्वज्ञान द्वारा जाननेवाला होने से आत्मसमर्पक को यहां जातवेदः शब्द से सम्बोधन किया गया है। आत्मस्वरूप में अवस्थित और ब्रह्म में समाहित रहने से उसका ऊर्ज् [आत्मसंबल] कभी च्युत नहीं होता है। अच्युत की संसार में सर्वत्र प्रशस्तियां होती हैं, क्योंकि उसमें धीतियों [ध्रुव धारणाओं] का सतत समावेश रहता है। ब्रह्मसमाहित रहते हुए आत्मसमर्पक सदैव आनन्दित रहता है। ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। उसमें जो भी समाहित रहता है, वह सर्वतः आनन्दित रहता है।

२) (भूरि-वर्पसः) बहुरूपा, (चित्र-ऊतयः) अद्भुत रक्षणोपायों से युक्त, (वाम-जाताः) शोभन-जन्मा [कुलीन प्रजायें] (त्वे इषः सम् दधुः) तुझमें इच्छायें—अभिलाषायें संधारण किये हुए हैं/किया करती हैं।

विश्व की मानवप्रजायें विविधरूपा हैं। उनके वर्ण, रूप, प्रकृति, स्वभाव, जीवनशैली नाना प्रकार की हैं। जीवनरक्षा के साधन भी उनके सर्वत्र चित्र-विचित्र हैं। उनमें से जो उत्तम कुलों की शालीन प्रजायें हैं, वे ब्रह्मसमाहित आत्मसाधक से सुख, शान्ति, स्वस्ति, ज्योति, प्रकाश आदि की प्राप्ति की अभिलाषायें धारण किये रहती हैं। साधक इस प्रकार की जनाभिलाषाओं की पूर्ति करता रहता है।

अच्युत-बल संज्ञानिन्, सन्तत
स्थित—समाहित रहता हुआ,
प्रशस्तियों और धारणाओं से
रह तू प्रहर्षित—आनन्दित।
सम्यक् धारण किये हुए हैं
तुझमें अपनी अभिलाषायें
बहुरूपा, अद्भुत रक्षामयी,
शोभन-जन्मा सुप्रजायें।

६२२ **इरज्यन्नग्ने प्रथयस्व जन्तुभिरस्मे रायो अमर्त्य।**
स दर्शतस्य वपुषो वि राजसि पृणक्षि सानसिं क्रतुम्॥

[ऋ १०.१४०.४, सा १८१९] य १२.१०९

इरज्यन् अग्ने प्रथयस्व जन्तु-भिः अस्मे रायः अ-मर्त्य।
सः दर्शतस्य वपुषः वि राजसि पृणक्षि सानसिम् क्रतुम्।

१) (अमर्त्य)! (अग्ने)!

२) (इरज्यन्) धनैश्वर्य प्रेरता हुआ, भौतिक वैभवों की प्रेरणा करता हुआ, तू (जन्तुभिः) मनुष्यों के साथ [सम्पर्क रखता हुआ] (अस्मे) हममें, हम सब मानवों के लिये (रायः प्रथयस्व) आत्मैश्वर्य विस्तार, आत्मैश्वर्यों का विस्तार कर।

'जन्तवः मनुष्यनाम' (निघण्टु २.३)। वेद में जीव और जन्तु शब्द सर्वत्र मनुष्य के अर्थ में प्रयुक्त हैं।

ब्रह्मार्पित आत्मसाधक को यहां संसार 'अमर्त्य' और 'अग्ने' सम्बोधनों से सम्बोधन कर रहा है। मर्त्य नाम साधारण मरणधर्मा मनुष्य का है। अमर्त्य शब्द यहां अमरणधर्मा असाधारण मनुष्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जनसाधारण मर्त्य हैं। वे खाते-पीते, रोते-हंसते अपना जीवन व्यतीत करते हैं और मर जाते हैं। उन्हें न जीतेजी कोई जानता-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मानता है, न मरने के बाद। आत्मसाधक ही होता है, जो आत्मना ब्रह्माग्नि में अर्पित होकर अग्निवत् संसार का बोधन, शोधन और प्रकाशन करके अपनी अमिट कीर्ति से अमर होजाता है। शरीर से मरकर भी वह यश से अमर होजाता है। वह जनता का जन बनकर सर्व जनों को प्यार करता है, उनके निकट सम्पर्क में रहता है, उन्हें भौतिक ऐश्वर्यों की समृद्धि के साथ-साथ आत्मैश्वर्यों के संवर्धन की ओर प्रवृत्त करता है। आत्मैश्वर्यों के बिना भौतिकैश्वर्य वरदान सिद्ध न होकर अभिशाप सिद्ध होते हैं।

२) (सः) वह तू (सानसिम् क्रतुम् पृणक्षि) सनातन क्रतु को पूर रहा है, अपने (दर्शतस्य वपुषः वि राजसि) दर्शनीय रूप का प्रकाशन कर रहा है।

क्रतु नाम करणीय—साधनीय साध का है। क्रतु शब्द में कर्तृत्व का संस्कार है। आत्मसाधना ही सनातन क्रतु अथवा शाश्वत साध है। अ अविनाशी है। अतः आत्मकल्याण की साधना सनातन क्रतु है।

सनातन क्रतु का पूरण जो करता है, उसी रूप दर्शनीय है। जो केवल भौतिक भोगों के सु में रत है, उसका रूप दर्शनीय नहीं है। आत्मसु का रूप सुदर्शनीय है, क्योंकि वह शरीरसु लिये जहां भौतिक ऐश्वर्यों के सम्पादन की प्रे करता है, वहां वह आत्मकल्याण के लिये सना क्रतु का भी प्रपूरण कर रहा है।

अमर्त्य ! अग्ने !
प्रेरता हुआ धनैश्वर्य,
सम्पर्क रखता हुआ मानवों के साथ,
विस्तार कर हमारे लिये आत्मैश्वर्यों का।
वह तू पूर रहा है सनातन क्रतु,
कर रहा है प्रकाशन अपने दर्शनीय रूप का।

६२३ **इष्कर्तारमध्वरस्य प्रचेतसं क्षयन्तं राधसो महः।**
रातिं वामस्य सुभगां महीमिषं दधासि सानसिं रयिम् ॥
[ऋ १०.१४०.५, सा १८२०] य १२.११०
इष्कर्तारम् अध्वरस्य प्र-चेतसम् क्षयन्तम् राधसः महः।
रातिम् वामस्य सु-भगाम् महीम् इषम् दधासि सानसिम् रयिम्।

१) ब्रह्मार्पित आत्मसाधक ! हम तुझ (अध्वरस्य इष्कर्तारम्) अध्वर के निष्कर्ता—निष्पादक, (प्र-चेतसम्) सु-चेतनावान्, सु-प्रज्ञ, प्रबुद्ध, (महः राधसः क्षयन्तम्) महान धन के बसाने—व्यापनेवाले को [स्तुतते हैं]।

'ध्वर' का अर्थ है हूर्छा, कुटिलता। 'अध्वर' नाम उस यज्ञ का है, जिसमें छल-कपट का पुट नहीं होता है। आत्मसाधक जिस अध्यात्म-यज्ञ का निष्पादक है, उसमें किसी प्रकार की स्वार्थपरता और सांसारिकता नहीं है। वह तो सुप्रचेतना का धनी है और वह संसार को सुप्रचेतना प्रदान करके उसे प्रबुद्ध कर रहा है। और है वह संसार में महान् राध की संव्याप्ति करनेवाला। भौतिक धन ई विनश्वर सम्पदायें महान् राध नहीं हैं, लघु हैं। महान् राध तो आध्यात्मिक धन और ई सम्पदायें ही हैं। उनकी ही वह विश्व में व्या कर रहा है। इसी लिये संसार उसका स्तवन रहा है।

२) वह तू हम सब मानवों को (वामस्य सु-भ रातिम्) वाम की सुभगा देन, (महीम् इषम्) म इच्छा, विशाल आकांक्षा, व्यापक सुखाभिल (सानसिम् रयिम्) सनातन आत्मैश्वर्य (दधा धारण—प्रदान कर रहा है।

वैदिक वाङ्मय में 'वाम' नाम प्रशस्य का

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

संसार को जीवन की प्रशस्यता अथवा प्रशस्त जीवनपद्धति की देन ही ब्रह्मार्पित आत्मसाधक की सुभगा—सौभाग्योपेत देन है। विश्व को उसकी दूसरी देन है महती सुखाभिलाषा। उसने जन-जन में संसार के सुख-सौभाग्य के लिये व्यापक महत्त्वाकांक्षाओं का संचार किया है। उसकी तीसरी देन है सनातन—शाश्वत आत्मैश्वर्य। आत्मैश्वर्य ही सनातन सम्पदा है। अन्य सब कुछ तो विनश्वर ही है।

हम तुझ अध्वर के निष्कर्ता,
सुप्रचेता, सुमहान् धन के संव्यापक
की स्तुति करते हैं।
वह तू संप्रदान करता है
सम्यक् सुभगा देन वाम की,
महती इच्छा, रयि सनातन।

६२४ ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतमग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो जनाः।
श्रुत्कर्णं सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगा॥
[ऋ १०.१४०.६, सा १८२१] य १२.१११

ऋत-वानम् महिषम् विश्व-दर्शतम् अग्निम् सुम्नाय दधिरे पुरः जनाः।
श्रुत्-कर्णम् स-प्रथः-तमम् त्वा गिरा दैव्यम् मानुषा युगा।

ब्रह्मार्पित आत्मसाधक! संसार के (जनाः) मानव, (मानुषा युगा) मानुषी [मनुष्यों के] जोड़े [नर-नारी] (गिरा) वाणी से, सविनय (पुरः दधिरे) सामने रखा करते हैं/रखना चाहा करते हैं (सुम्नाय) सुख—सुप्रसन्नता के लिये (त्वा) तुझ (ऋत-वानम्) ऋतशील, (महिषम्) महान्, (विश्व-दर्शतम्) विश्व-दर्शत, (श्रुत्-कर्णम्) श्रुत्-श्रोत्र, (सप्रथःतमम्) स-विस्तारतम, अतिशय व्यापनशील, (दैव्यम्) दैव्य (अग्निम्) अग्रणी को।

'अग्नि' शब्द का प्रयोग यहां 'अग्रणी' अर्थ में हुआ है। ब्राह्मी स्थिति में स्थित आत्मसाधक प्रत्यक्षतः विश्व के सब मानवों, सकल नर-नारियों का अग्रणी होता है। उसके लिये मन्त्र में प्रयुक्त विशेषण सर्वथा सार्थक हैं।

वह ऋतशील है। 'ऋत' का अर्थ है सही, सत्य। वह सत्यशील, सत्याचारी, सत्यनिष्ठ और सत्यकर्मा है। उसका चिन्तन, भाषण, ऋतु—सब कुछ सत्य और सही होना ही है।

ऋतशील होने से वह महान् है, और है वह विश्व-दर्शत, विश्व-द्रष्टा, विश्वदर्शनीय। वह सबको आत्मनिजता के साथ देखता है और सब उसके दर्शन करके आनन्दित होते हैं।

वह है श्रुत्-कर्ण, सुननेवाले श्रोत्रों से युक्त। वह अपने श्रोत्रों से सुनता है युग की पुकार, पतितों और पीड़ितों की चीत्कार, नर-नारियों का आह्वान।

वह है सप्रथःतम, अतिशय विस्तार—व्याप्ति से सहित। वह व्याप रहा है सर्व में अपनी भावना से, साधना से, मंगलकामना से, आत्मस्नेह से। उसकी ममता सर्वमयी है और उसकी सेवा विश्ववारा है।

और है वह दैव्य, देव का दुलारा, एक दैवी शक्ति, ब्रह्म देव से युक्त—संयुक्त। देव में सतत समाहिति से वह दैव्य है।

इसी लिये सर्व जन, सभी नर-नारी अपनी प्रेमभरी वाणी से उससे विनय करते रहते हैं कि वह पुनः पुनः उनके अभिमुख आये और उन्हें सुशिक्षाओं से सुखी और सुप्रसन्न करे।

सारे मानव, मानव-जोड़े,
आगे रखते हैं वाणी से सुम्न के लिये,
तुझ ऋतशील, महान्, विश्व-दर्शत,
श्रुत्कर्ण, व्याप्ततम, दैव्य अग्नि को।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

६२५ आ प्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम् । भवा वाजस्य सङ्गथे ॥
[ऋ १.९१.१६, ९.३१.४] य १२.११२

आ प्यायस्व सम् एतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम् । भव वाजस्य सम्-गथे ।

ब्रह्मार्पित आत्मसाधक को यहां सर्व जन, सभी नर-नारी, सोम शब्द से सम्बोधन करते हुए, मंगल-भावना के साथ उससे कहते हैं—

१) (सोम) सोम्य ! सुदर्शनीय ! प्रियदर्शन !
२) तू (आ प्यायस्व) पूर्ण अभिवर्धन कर ।
तेरा और तेरे द्वारा सर्वतः अभिवर्धन होता रहे ।
३) (ते वृष्ण्यम्) तेरा वीर्य—पराक्रम, तेरा ऋतु—कर्तृत्व (विश्वतः सम् एतु) सर्वतः संचालित रहे, सर्वतः सफल हो ।
४) तू (वाजस्य) वाज [ज्योति और शक्ति] के (सम्-गथे) संघर्ष—जौहर में (भव) हो, डटा रह ।

विश्व को ज्योति और शक्ति से सम्पन्न करना ही आत्मसाधक की मुख्य साध है । संसार ज्योति और शक्ति से युक्त होजाये तो पृथिवी पर स्वर्ग सुख और आत्मानन्द का आप्लावन होजाये ।

सोम ! सर्वतः अभिवर्धन कर,
तेरा वृष्ण्य फले सब ओर ।
वाज के जौहर में संरत रह ।

सूक्ति : **भवा वाजस्य संगथे ।**
ज्योति-शक्ति के जौहर में डटा रह ।

६२६ सं ते पयांसि समु यन्तु वाजाः सं वृष्ण्यान्यभिमातिषाहः ।
आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि श्रवांस्युत्तमानि धिष्व ॥
[ऋ १.९१.१८] य १२.११३

सम् ते पयांसि सम् उ यन्तु वाजाः सम् वृष्ण्यानि अभि-माति-सहः ।
आ-प्यायमानः अ-मृताय सोम दिवि श्रवांसि उत्-तमानि धिष्व ।

ब्राह्म साधक के प्रति मंगलभावना व्यक्त करते हुए सर्व जन कहे चले जारहे हैं—

१) (सोम) प्रियदर्शन ! वाज के जौहर में संरत रहने के लिये (ते सम् यन्तु) तेरे लिये सम्प्राप्त हों/रहें (पयांसि) पेय, रस, (सम् यन्तु) सम्प्राप्त हों/रहें (अभिमाति-सहः वाजाः) अभिमातियों को निराकृत रखनेवाले वाज, (उ) अपि च (सम् यन्तु) सम्प्राप्त हों/रहें (वृष्ण्यानि) वीर्य, पराक्रम ।

पयांसि शब्द का प्रयोग हुआ है यहां मधुरता, सोम्यता, प्रियता, शालीनता, शान्ति, आर्जव, धैर्य, विनम्रता आदि स्वभावसम्बन्धी रसों के लिये, जो जीवन को सदा सरस और सुरुचिपूर्ण रखते हैं ।

अभिमाति नाम अभिमान, अस्मिता, अहंकार, दर्प, अहम्मन्यता आदि अन्तःशत्रुओं का है । विद्या, विवेक, अनुमति, संज्ञान वे वाज हैं जो अभिमातियों को निराकृत रखते हैं ।

साधना के क्षेत्र में इन्द्रिय-इन्द्रिय के पृथक्-पृथक् वृष्ण्य—वीर्य—पराक्रम हैं । मस्तिष्क का वीर्य धारणा, ध्यान और चिन्तन । नेत्र का वीर्य है दृष्टि । श्रोत्र का वीर्य है तत्त्वश्रवण । वाणी का वीर्य है प्रभावशाली प्रवचन । रसना का वीर्य सात्त्विक मिताहार । करों का वीर्य है कुशल कर्म मन का वीर्य है दृढ संकल्प । हृदय का वीर्य है प्रेम और निर्भयता । आत्मा का वीर्य है आत्मसंबल सजग इच्छाशक्ति । पग का वीर्य है प्रगमन ।

इन रसों, वाजों और वीर्यों से युक्त हुआ आत्मसाधक साधनाओं में संसिद्धि प्राप्त करता है ।

२) स्वास्थ्य और सौन्दर्य से (आ-प्यायमानः) पूर रहता हुआ, तू (अ-मृताय) अमृतार्थ, हम

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मानवों को अमृत पान कराने के लिये [हम मानवों के] (दिवि) द्यौ में, मस्तिष्क में (उत्तमानि श्रवांसि) उत्तम श्रवों को, श्रवणीय विचारसम्पदाओं को (धिष्व) धारण—स्थापन कर।

अमृतमय विचार ही हैं जो मानवों के विषाक्त जीवनों को अमृतमय बनाते हैं। सुविचार सर्वोपरि सम्पदा है और सुविचारदान सर्वोपरि दान है। साधक शिक्षोपदेश द्वारा मानवों के द्यौ में सुश्रवणीय विचारों की स्थापना करके उन्हें अमृतपथ का पथिक बनाता है।

सोम,
तेरे लिये सम्प्राप्त हों सुपेय,
सम्प्राप्त हों अभिमातिसह वाज,
रहें सम्प्राप्त वीर्य पराक्रम भी।
संवृद्ध रहता हुआ, धार अमृतार्थ,
द्यौ में उत्तम श्रवों को।

सूक्ति : **दिवि श्रवांस्युत्तमानि धिष्व।**
मस्तिष्क में उत्तम विचारों को धार।

६२७ **आ प्यायस्व मदिन्तम सोम विश्वेभिरंशुभिः। भवा नः सप्रथस्तमः सखा वृधे॥**
[ऋ १.९१.१७] य १२.११४

आ प्यायस्व मदिन्-तम सोम विश्वेभिः अंशु-भिः। भव नः सप्रथः-तमः सखा वृधे।

ब्राह्म साधक के प्रति मंगलभावनाओं की अभिव्यक्ति का उपसंहार करते हुए अन्त में सर्व जन कहते हैं—
१) (मदिन्-तम) अतिशय आनन्दित रहनेवाले! (सोम) प्रियदर्शन! (विश्वेभिः अंशुभिः आ प्यायस्व) समस्त अंशुओं से वृद्धिगत हो।

अंशु नाम अंकुर, किरण और द्युति का है। आत्मसाधक जन-जन के आशांकुरों का सेचन करनेवाला हो। वह ज्ञान-विज्ञान की किरणों से रश्मित रहे। वह अध्यात्मद्युतियों से द्योतित रहे। समस्त अंशुओं से युक्त रहता हुआ वह विश्वोदय और विश्वकल्याण करता रहे।

२) तू (नः वृधे) हमारी वृद्धि के लिये, हम सब मानवों की समुन्नति के लिये [मानवजाति का] (सप्रथःतमः सखा भव) सविस्तारतम सखा हो।

'सप्रथस्तम सखा' से तात्पर्य यहां विश्वविख्यात सार्वभौम सन्मित्र से है। आत्मसाधक विश्व-मित्र है और वह विश्व की सुसेवा करता है।

सोम, मदिन्तम,
रह वृद्धिगत समस्त अंशुओं से युक्त रहकर।
रह सप्रथस्तम सखा हमारी वृद्धिहेतु।

६२८ **आ ते वत्सो मनो यमत् परमाच्चित् सधस्थात्। अग्ने त्वाङ्कामया गिरा॥**
[ऋ ८.११.७, सा ८, ११६६] य १२.११५

आ ते वत्सः मनः यमत् परमात् चित् सध-स्थात्। अग्ने त्वाम्-कामया गिरा।

जन-जन की मंगलभावनाओं से भावित होकर ब्रह्मार्पित आत्मसाधक मंगलमय भगवान् से विनय करता है—
१) (अग्ने) प्रकाशस्वरूप! परम सुन्दर देव! तेरा यह (वत्सः) वत्स (त्वाम्-कामया गिरा) तुझे चाहनेवाली वाणी से (ते मनः) तेरा मन, तेरी प्रसन्नता (आ यमत्) प्राप्त करे (परमात् सध-स्थात् चित्) परम सह-स्थान से ही।

मन शब्द का प्रयोग सुमनस्कता अथवा प्रसन्नता के लिये हुआ है।

हृदयाकाश में स्थित आत्म-अधिष्ठान ही वह परम सहस्थान है, जहां जीव और ब्रह्म का सहनिवास है और आत्मा ब्रह्म का दर्शन करता है।

वत्स नाम बछड़ा, पुत्र, बालक का है। ब्राह्म साधक भगवान् का प्रिय वत्स है। भगवान् भक्तवत्सल है। वत्स वत्सल से विनय कर रहा है,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

'परम सहस्थान में, मेरे हृदयाकाश में, मेरे आत्मा में रमनेवाले देव! जन-जन की मंगलभावनायें सफलीभूत हों। एतदर्थ, मैं अपनी वत्स की जैसी तोतली बोली से, तुझे चाहनेवाली और तुझे प्रिय लगनेवाली वाणी से तेरी प्रसन्नता की याचना करता हूं। तेरी प्रसन्नता के बिना कोई भी हि साध सिद्ध नहीं होती है।

अग्ने! परम सहस्थान से
ही, सम्प्राप्त करे यह वत्स,
तव-कामी वाणी से तेरी सुप्रसन्नता।

६२९ **तुभ्यं ता अङ्गिरस्तम विश्वाः सुक्षितयः पृथक्। अग्ने कामाय येमिरे॥**
[ऋ ८.४३.१८] य १२.११६

तुभ्यम् ताः अंगिरः-तम विश्वाः सु-क्षितयः पृथक्। अग्ने कामाय येमिरे।

अपनी विनय को जारी रखते हुए ब्रह्मार्पित साधक कहे चला जारहा है—

१) (अंगिरः-तम) तेजस्वितम! जीवन-रम! प्रिय-तम! प्राण-रम! (अग्ने) ब्रह्माग्ने! प्रकाशस्वरूप! सुन्दर देव! (ताः विश्वाः सु-क्षितयः) वे सब सु-प्रजायें (कामाय) कामना—अभिलाषा [की सिद्धि] के लिये (पृथक्) पृथक्, केवल, एकमात्र (तुभ्यम् येमिरे) तेरे प्रति यमित—आबद्ध हुआ करें, तेरी ही पावन शरण में उपस्थित हुआ करें, तुझसे ही विनय किया करें।

आस्तिक तथा धर्मपरायण सुप्रजाओं में अपना बढ़ता हुआ प्रभाव देखकर संसिद्ध साधक आशंका होजाती है कि कहीं मानव-प्रजायें भगव के स्थान पर मेरा ही पूजन न करने लग जा उन्हें इस अनर्थ से बचाने के लिये ही उसने सा सामने परमपावन प्रभु से मन्त्रगत प्रार्थना की 'प्रियतम, सुन्दर देव! पूजन तेरा हो, मेरा नहीं आराधना परम पिता की हो, वत्स की नहीं।'

अङ्गिरस्तम! ब्रह्माग्ने!
वे सारी ही सुप्रजायें
कामसिद्धि के लिये केवल
तेरे प्रति आबद्ध रहें।

६३० **अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य। सम्राडेको वि राजति॥** य १२.११७

अग्निः प्रियेषु धाम-सु कामः भूतस्य भव्यस्य। सम्-राट् एकः वि राजति।

और अब ब्राह्म साधक सर्वभावना से सर्व को निहारता हुआ, अंगिरस्तम देव की मही महिमा और शोभा में तल्लीन होकर उद्गान करता है—(प्रियेषु धामसु) प्रिय धामों में (वि राजति) विराज रहा है, प्रकाश रहा है, शोभायमान होरहा है (एकः कामः अग्निः) एक कमनीय अग्नि, जो (भूतस्य भव्यस्य सम्-राट्) भूत और भविष्यत् का सम्राट् है।

सूर्य प्रकाशधाम है। चन्द्रमा ज्योतिर्धाम है। पृथिवी जीवनधाम है। सृष्टि में जितने भी धाम हैं, सब प्रिय धाम हैं। भक्तों के प्रेमभरे हृदय भी तो प्रिय धाम हैं। सभी में वह एक कमनीय ब्रह्माग्नि विराज रहा है। सभी धामों की शोभाओं में उस एक देव की शोभा शोभित है।

वह एक ही, एक वह ही भूत-भविष्यत् सम्राट् है। भूत में जो कुछ था, उसका सर्वो स्वामी वह ही था। भविष्य में जो कुछ हो उसका भी अधिपति एकमात्र वह ही होगा।

आस्तिकों का वह 'काम' है, कमनीय जिसके दर्शन की कामना को अपने हृदयों में सं वे, संसार के कर्तव्य कर्मों का निर्वहन करते अनवरत आत्मसाधना में निरत रहते हैं।

विराज रहा है प्रिय धामों में
एक अग्नि कमनीय कि जो है
भूत-भविष्यत् का सम्राट्।
सूक्ति : **सम्राडेको वि राजति।**
एक सम्राट प्रकाश रहा है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वेदव्याख्या-ग्रन्थ, द्वादश पुष्प में व्याख्यात यजुर्वेद अध्याय १२ के [११२*] मन्त्रों की

अकारादि सूची

जो [७९] मन्त्र अन्य वेदों में भी हू-बहू वा पाठभेद के साथ मिलते हैं उनके प्रतीकों के बाद ❀ चिह्न है। शेष ३३ मन्त्र केवल यजुर्वेद में हैं।

मन्त्र-प्रतीक	अध्याय में मन्त्र-संख्या	यजुर्वेद में मन्त्र-संख्या	'ग्रन्थ' में पृष्ठ-संख्या
अक्रन्ददग्नि*	६;२१;३३	५१९;५३४;५४६	७८२;७९३;८०३
अग्निः प्रियेषु	११७	६३०	८६२
अग्ने अङ्गिरः	८	५२१	७८३
,, तव श्रवो*	१०६	६१९	८५५
,, त्वं पुरीष्यो	५९	५७२	८२४
,, दिवो*	४९	५६२	८१७
,, ऽभ्यावर्त्तिन्	७	५२०	७८३
,, यत् ते दिवि*	४८	५६१	८१३
,, ,, ,, शुक्रं	१०४	६१७	८५३
अग्रे बृहन्*	१३	५२६	७८७
अति विश्वाः*	८४	५९७	८४३
अन्तरग्ने	१६	५२९	७८९
अन्या वो*	८८	६०१	८४५
अपेत वीत*	४५	५५८	८१३
अप्स्वग्ने*	३६	५४९	८०६
अभ्यावर्तस्व	१०३	६१६	८५३
अयं ते योनिर्*	५२	५६५	८१९
,, सो अग्निर्*	४७	५६०	८१५
अवपतन्तीर्*	९१	६०४	८४७
अश्वत्थे वो*	७९	५९२	८४०
अश्वावतीं*	८१	५९४	८४२
असुन्वन्तम्	६२	५७५	८२७

*बारहवें अध्याय में ११७ मन्त्र हैं। पुनरुक्त मन्त्रों को घटाने पर मन्त्र संख्या ११२ रहती है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मन्त्र-प्रतीक	अध्याय में मन्त्र-संख्या	यजुर्वेद में मन्त्र-संख्या	'ग्रन्थ' में पृष्ठ-सं
अस्ताव्यग्निर्*	२९	५४२	७९९
आ तं भज*	२७	५४०	७९८
,, ते वत्सो*	११५	६२८	८६१
,, त्वाहार्षम्*	११	५२४	७८५
आपो देवीः	३५	५४८	८०५
आप्यायस्व मदिन्तम*	११४	६२७	८६१
,, समेतु*	११२	६२५	८६०
इडामग्ने*	५१	५६४	८१९
इन्द्रं विश्वा*	५६	५६९	८२२
इरज्यन्*	१०९	६२२	८५७
इषमूर्जमहमित	१०५	६१८	८५४
इष्कर्तारम्*	११०	६२३	८५८
इष्कृतिर्नाम*	८३	५९६	८४३
उच्छुष्मा*	८२	५९५	८४२
उदुत्तमं वरुण*	१२	५२५	७८६
उदु त्वा विश्वे*	३१	५४४	८०१
उशिक् पावको*	२४	५३७	७९६
उर्जो नपाज्*	१०८	६२१	८५६
ऋतावानं महिषं*	१११	६२४	८५९
ओषधयः समवदन्त*	९६	६०९	८४९
ओषधीः प्रति मोदध्वं*	७७	५९०	८३९
ओषधीरिति*	७८	५९१	८४०
कामं कामदुघे	७२	५८५	८३६
गर्भो अस्योषधीनां*	३७	५५०	८०७
घृतेन सीता मधुना*	७०	५८३	८३५
चिदसि तया	५३	५६६	८२०
ता अस्य सूद*	५५	५६८	८२२
तुभ्यं ता अङ्गिरस्तम	११६	६२९	८६२
त्वमुत्तमास्योषधे*	१०१	६१४	८५१
त्वामग्ने यजमाना*	२८	५४१	७९९
त्वां गन्धर्वा	९८	६११	८५०
दिवस्परि प्रथमं*	१८	५३१	७९०
दीर्घायुस्त ओषधे	१००	६१३	८५१
दृशानो रुक्म*	१;२५	५१४;५३८	७७५;७९७

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मन्त्र-प्रतीक	अध्याय में मन्त्र-संख्या	यजुर्वेद में मन्त्र-संख्या	'ग्रन्थ' में पृष्ठ-संख्या
नक्तोषासा समनसा*	२	५१५	७७६
नमः सु ते	६३	५७६	८२८
नाशयित्री बलास	९७	६१०	८५०
निवेशनः सङ्गमनो*	६६	५७९	८३१
पावकवर्चाः*	१०७	६२०	८५६
पुनरासद्य	३९	५५२	८०८
पुनरूर्जा*	९;४०	५२२;५५३	७८४; ८०८
पुनस्त्वादित्या	४४	५५७	८११
पुरीष्यासो अग्नयः*	५०	५६३	८१८
प्र-प्रायमग्निर्*	३४	५४७	८०३
प्रसद्य भस्मना	३८	५५१	८०७
प्रेदग्ने ज्योतिष्मान्	३२	५४५	८०२
बोधा मे अस्य*	४२	५५५	८०९
भवतं नः समनसौ*	६०	५७३	८२५
मातेव पुत्रं	६१	५७४	८२६
मा मा हिंसीज्*	१०२	६१५	८५२
मा वो रिषत्*	९५	६०८	८४९
मुञ्चन्तु मा शपथ्याद्*	९०	६०३	८४६
यत्रौषधीः समग्मत*	८०	५९३	८४१
यदिमा वाजयन्*	८५	५९८	८४४
यस्ते अद्य*	२६	५३९	७९७
यस्यास्ते घोर*	६४	५७७	८२९
यस्यौषधीः*	८६	५९९	८४४
यं ते देवी	६५	५७८	८३०
या ओषधीः पूर्वा*	७५	५८८	८३८
" " सोमराज्ञीर्बह्वीर्*	९२	६०५	८४७
" " सोमराज्ञीर्विष्ठिताः*	९३	६०६	८४८
याः फलिनीर्या*	८९	६०२	८४६
याश्चेदमुप*	९४	६०७	८४९
युनक्त सीरा*	६८	५८१	८३३
लाङ्गलं पवीरवत्*	७१	५८४	८३५
लोकं पृण*	५४	५६७	८२१
विद्मा ते अग्ने*	१९	५३२	७९१
वि मुच्यध्वम्	७३	५८६	८३७

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मन्त्र-प्रतीक	अध्याय में मन्त्र-संख्या	यजुर्वेद में मन्त्र-संख्या	'ग्रन्थ' में पृष्ठ-सं
विश्वस्य केतुर्*	२३	५३६	७९५
विश्वा रूपाणि*	३	५१६	७७७
विष्णोः क्रमो ऽसि	५	५१८	७८०
शतं वो अम्ब*	७६	५८९	८३९
शिवो भूत्वा	१७	५३०	७९०
शुनं सु फाला*	६९	५८२	८३४
श्रीणामुदारो*	२२	५३५	७९४
सजूरब्दो	७४	५८७	८३८
स बोधि सूरिर्*	४३	५५६	८१०
समितं सं कल्पेथां	५७	५७०	८२३
समिधाग्नि दुवस्यत*	३०	५४३	८०१
समुद्रे त्वा*	२०	५३३	७९३
सह रय्या*	१०;४१	५२३;५५४	७८५; ८०९
सहस्व मे	९९	६१२	८५१
संज्ञानमसि	४६	५५९	८१४
सं ते पयांसि*	११३	६२६	८६०
,, वां मनांसि	५८	५७१	८२४
साकं यक्ष्म*	८७	६००	८४५
सीद त्वं मातुर्	१५	५२८	७८९
सीरा युञ्जन्ति*	६७	५८०	८३२
सुपर्णो ऽसि गुरुत्माँस्	४	५१७	७७८
हंसः शुचिषद्*	१४	५२७	७८८

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वेद के अध्ययन और मानव-संस्कृति
के
ज्ञान का सर्वोत्तम और सर्वसुलभ माध्यम

स वि ता

[वेद-संस्थान का मासिक पत्र]

- देव के दिव्य काव्य, वेद के अध्ययन का सर्वश्रेष्ठ साधन,
- वेदमन्त्रों की 'विदेह'-कृत मौलिक, जीवनप्रद, याथातथ्य व्याख्या,
- अत्यन्त ठोस, सुपच, पौष्टिक, प्रेरणाप्रद सामग्री से भरपूर,
- गीता-योग, 'विदेह'-गाथा, अथर्ववेद का अध्ययन आदि स्थायी स्तम्भों से समलंकृत,
- उच्च कोटि के विद्वानों के पथप्रदर्शक लेखों से समन्वित।

॥ एक एक शब्द पठनीय, मननीय, आचरणीय ॥
॥ एक एक तरंग मानव को ऊंचा उठानेवाली ॥
॥ एक एक प्रेरणा जीवन को आगे लेजानेवाली ॥
॥ एक एक चेतावनी मानव के मानस को चेतानेवाली ॥

वार्षिक मूल्य पांच रुपये [विदेशों में दस रुपये]

स्वयं ग्राहक बनिये और अपने प्रिय जनों को बनाइये।

वेद-संस्थान,
बाबू मोहल्ला, अजमेर (भारत)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

'विदेह'-रचित संस्थान-प्रकाशन

वेद-व्याख्या-ग्रन्थ [भाग ११, खण्ड १ : यजुर्वेद-व्याख्या, अध्याय १-१०] बीस रुपये
(प्रतिपुष्प एक अध्याय के क्रम से, फुटकर रूप में भी उपलब्ध : प्रथम पुष्प (द्वितीय संस्करण)—दो रुपये, द्वितीय पुष्प (द्वितीय संस्करण)—डेढ़ रुपये, तृतीय पुष्प (द्वितीय संस्करण)—सवा दो रुपये, चतुर्थ पुष्प—एक रुपया, पञ्चम पुष्प—डेढ़ रुपये, षष्ठ पुष्प—एक रुपया, सप्तम पुष्प—डेढ़ रुपये, अष्टम पुष्प—डेढ़ रुपये, नवम पुष्प—एक रुपया, दशम पुष्प—एक रुपया)

एकादश पुष्प [यजुर्वेद अ ११ की व्याख्या] सवा रुपये

द्वादश पुष्प [यजुर्वेद अ १२ की व्याख्या] दो रुपये

सामवेद का अध्ययन सवा रुपये

योग-ग्रन्थमाला

१. योगालोक ढाई रुपये
[पुस्तकालय संस्करण : पाँच रुपये]
२. साधना (चतुर्थ सं०) सवा रुपये
३. परम योग ८० पैसे
४. स्वास्थ्य और सौन्दर्य (चतुर्थ सं०) ५० पैसे
५. वैदिक योग-पद्धति (तृतीय सं०) ४० पैसे
६. सन्ध्या-योग (चतुर्थ सं०) ४० पैसे
७. गायत्री-मन्त्र का अनुष्ठान (चतुर्थ सं०) २० पैसे
८. महामृत्युञ्जय-मन्त्र का अनुष्ठान (तृतीय सं०) २० पैसे
९. योग-तरङ्ग (द्वितीय सं०) २० पैसे
१०. शिव सङ्कल्प (द्वितीय सं०) ४० पैसे
११. वैदिक साधना ५० पैसे

भक्ति-ग्रन्थमाला

१. गायत्री (चतुर्थ सं०) एक रुपया
२. विदेह-गीतावली (द्वितीय सं०) ४० पैसे
३. आनन्द-सुधा (द्वितीय सं०) ४० पसे
४. जीवन-पाथेय ५० पसे

चरित-ग्रन्थमाला

१. रामचरित (द्वितीय सं०) एक रुपया
२. दयानन्द चरितामृत
३. जीवन-ज्योतियां (तृतीय सं०)

शिक्षा-ग्रन्थमाला

१. वैदिक बालशिक्षा, प्रथम भाग (षष्ठ सं०); भाग (चतुर्थ सं०); तृतीय भाग (द्वितीय
प्रत्येक भाग :
२. वैदिक स्त्री-शिक्षा (द्वितीय सं०)
३. संस्कृत-शिक्षा, प्रथम भाग (तृतीय सं०)
द्वितीय भाग (तृतीय सं०)
४. संस्कृत-स्वयं शिक्षक, प्रथम पुष्प ('विदेह' (द्वितीय सं०); द्वितीय पुष्प (किशोरीलाल गुप्त
प्रत्येक पुष्प :

कर्मकाण्ड-ग्रन्थमाला

१. स्वस्ति-याग (तृतीय सं०)
२. सत्यनारायण की कथा (चतुर्थ सं०)
३. वैदिक सत्सङ्ग (पंचम सं०)
४. विजय-याग (द्वितीय सं०)

मिश्रित-ग्रन्थमाला

१. यज्ञोपवीत-रहस्य (पंचम सं०)
२. उत्तम स्वभाव (तृतीय सं०)
३. मानव-धर्म (द्वितीय सं०)
४. चरित्र-निर्माण (द्वितीय सं०)
५. गृहस्थाश्रम (द्वितीय सं०)
६. भारत के अध्यापकों से (द्वितीय सं०)
७. भारत के विद्यार्थियों से (तृतीय सं०)

English—Lakshmi Vedic Series

1. The Vedic Prayers
2. The Exposition of the Vedas

• पूरे सैट का मूल्य : रु ४०.५५ •

'सविता' की जिल्दें : प्रतिजिल्द वर्ष ४,५ : रु ३.५०; ९-१०, १६-२० : रु ३.२५; वर्ष २१-२२ :
वर्ष २३ :

वेद-संस्थान, बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर (भारत)

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विद्यानन्द 'विदेह'

वेदव्याख्या-ग्रन्थ

त्रयोदश पुष्प

(यजुर्वेद के त्रयोदश अध्याय की व्याख्या)

विषय : विश्वकल्याण

वेद संस्थान
अजमेर

एक रुपया साठ पैसे

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

संस्थानप्रकाशन-संख्या : ६१

शुद्धि-पत्र

वेदव्याख्याग्रन्थ, तेरहवां पुष्प

पृष्ठ	स्तम्भ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८६३	२	२,३	अध्यात्म-प्रेमी प्राणिमात्र के लिये प्रेरित तथा उद्यत रहती है।	अध्यात्म-प्रेमी को प्राणिमात्र के कल्याण के लिये प्रेरित तथा उद्यत करती है।
८६४	१	४	माँह	महाँ
८६४	१	२३	सम न उत्स्थ [उत्थ, उक्थ]	समान उत्स्थ [उच्च]
८६५	२	१३	निर्देशिका	निर्दशिका
८७०	२	२२	है तू हिलानेवाला।	है तू हिलानेवाला, वेध राक्षसों को तपिष्ठों से।
८७६	१	८	वेदधन	वेदघन
८९५	२	२७	चीयमान तू बन शतायु।	चीयमान बन शतायु हो।
९०५	१	१९	योगपद्धति	जीवनपद्धति
९०८	२	१८	हुआ विश्व	हुआ स्वराष्ट्र और विश्व
९१५	१	११	चक्षु वह	चक्षु
९१७	२	२७	अनुष्टुम्	अनुष्टुप्
९१९	२	८	देवी	दैवी

विद्यानन्द 'विदेह'

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

संस्थानप्रकाशन-संख्या : ६१

यजुर्वेद-व्याख्या

त्रयोदश पुष्प

विश्वकल्याण

विद्यानन्द 'विदेह'

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सर्वाधिकार लेखकाधीन

प्रथम संस्करण : द्वितीय वैशाख, २०२९ वि : अप्रेल, १९७२ ई
२,००० प्रतियां

मूल्य : एक रुपया साठ पैसे

प्रकाशक : वेद-संस्थान, बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड अजमेर; मुद्रक : प्रिण्ट हाउस, अजमेर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यजुर्वेद-व्याख्या

तेरहवां अध्याय

विश्व-कल्याण

बारहवें अध्याय में अध्यात्म-सुधा का सुप्रवाह प्रवाहित करके वेदमाता इस अध्याय में विश्व-कल्याण की संसाधना का सुपाठ पढ़ाने जा रही है। अध्यात्म-सुधा के सुप्रवाह में से ही उस अग्नि का प्रज्वलन होता है जो अध्यात्म-प्रेमी प्राणिमात्र के कल्याण के लिये प्रेरित तथा उद्यत रहती है।

६३१ मयि गृह्णाम्यग्रे अग्निं रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय। माम् उ देवताः सचन्ताम्॥

य १३.१

मयि गृह्णामि अग्रे अग्निम् रायः पोषाय सुप्रजाः-त्वाय सु-वीर्याय। माम् उ देवताः सचन्ताम्।

मैं (मयि) मुझमें, अपने में (अग्रे) प्रथम, पहले (गृह्णामि) ग्रहण–धारण–स्थापन करता हूं (अग्निम्) अग्नि को (रायः पोषाय) आत्मैश्वर्य के पोष के लिये, (सुप्रजाः-त्वाय) सुमानवत्व के लिये, (सु-वीर्याय) उत्कट संसाधना के लिये।

भोगवाद के बाद अध्यात्मवाद और अध्यात्मवाद के बाद भोगवाद यह देवासुर-संग्राम अनवरत चलता रहता है। वैसे तो दोनों ही वाद सदा सहगमन करते हैं। कभी भौतिकवाद का प्राबल्य होता है तो कभी अध्यात्मवाद का।

मनुष्य का जन्म कामाचार से होता है। अतः मानव स्वभाव से कामुक होता है। कामुकता भोगवाद की जननी है और भोगवाद जनक है भौतिकवाद अथवा अर्थलिप्सा का। काम और भौतिकवाद के संयोग से मानवजाति निर्लज्ज और आचारहीन होजाती है। परिणामस्वरूप राष्ट्र-राष्ट्र में नास्तिकता, अधार्मिकता, अनैतिकता तथा स्वार्थपरता की व्याप्ति होती है, मानवता दानवता का रूप धारण करती है। युद्ध पर युद्ध होते हैं। सर्वनाश की ज्वालायें धधकने लगती हैं। तब मानव, सच्चा मानव, महामानव उठता है। प्रथम वह अपने हृदय में मानवप्रेम की अग्नि संजोता है। फिर वह मानवसमाज में आत्मैश्वर्य के पोष, सुमानवत्व तथा उत्कट-साधनारूपी पुरुषार्थ की स्थापना करने के लिये सन्नद्ध होता है। आत्मपोष, सुमानवत्व और सुसाधना—इस त्रित से सुभूषित किये जाने पर ही विश्व के मानव पुनः अध्यात्म के कल्याणपथ पर आरूढ होते हैं। यह संसार कुत्ते की वह दुम है जिसे संयम और साधना की नलकी में रखा जाता है तो ही सीधी रहती है; अन्यथा संसार भोग के टेढ़े पथ पर चल पड़ता है।

साध अतिशय दुस्साध्य है। अध्यात्म-सुधा के प्रपान से परितृप्त रहता हुआ महामानव जहां सूर्य के समान एकाकी साधरत रहता है, वहां वह चाहता है कि संसार के सभी देवजन उसकी साध में उसका हाथ बटायें। इसी लिये वह कहता रहता है, '(उ) काश, (माम् देवताः सचन्ताम्) मुझे देवता संगत करें, मुझे देवजन अपनायें।'

विश्वकल्याण की साध में सदा से ही प्रत्येक महामानव को अकेला चलना पड़ा है। कालान्तर में देव-देवियां उसकी साध को आगे बढ़ाते हैं।

अपने में ग्रहण करता हूं पहले अग्नि
आत्मैश्वर्य के सुपोष के, सुमानवत्व के,
उत्कट संसाधना के लिये।
काश, देवजन मुझे करें संगत, अपनायें।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सूक्ति : मयि गृह्णाम्यग्रे अग्निम् । मामु देवताः सचन्ताम् ।
मैं अपने में ग्रहण करता हूं पहले अग्नि । काश, देवजन मुझे संगत करें ।

६३२ अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम् ।
वर्धमानो महाँ आ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व ॥
[य ११.२९] य १३.२
अपाम् पृष्ठम् असि योनिः अग्नेः समुद्रम् अभितः पिन्वमानम् ।
वर्धमानः महान् आ च पुष्करे दिवः मात्रया वरिम्णा प्रथस्व ।

महामानव को उत्प्रेरित करती हुयी वेदमाता कहती है—

१) तू (असि) है (अपाम् पृष्ठम्) जलों की पृष्ठ, (अग्नेः योनिः) अग्नि की योनि, (च महान्) और महान् ।

'अपाम् पृष्ठम्' से तात्पर्य है जलों की पृष्ठ पर स्थित रहनेवाला । जिस प्रकार कमलपुष्प पंक और जल से ऊपर उठा हुआ सदैव जल की पृष्ठ पर स्थित रहता है उसी प्रकार महामानव विषयपंक और वासनावारि से ऊपर उठा हुआ, इन्द्रियविलास और मानसिक विकार से मुक्त रहता हुआ, नितान्त अनासक्त और निष्पाप रहता है ।

सूर्य अग्नि की योनि है, अग्नि की खान है । अग्नि प्रतीक है तेज और प्रकाश का । अग्नि है दाहक और पावक ।

कमलपुष्प के समान उत्स्थ [~~उत्थ—उत्थ~~] और अग्नि के समान तेज तथा प्रकाश से युक्त रहते हुये ही महामानव महान् बना है ।

२) तू (पुष्करे दिवः मात्रया वर्धमानः) पुष्कर में द्यौ की मात्रा से बढ़ता हुआ (पिन्वमानम् समुद्रम्) सेचनशील समुद्र को (वरिम्णा) विशालता से (अभितः आ प्रथस्व) सर्वतः विस्तार—व्याप्ति दे ।

पुष्-कर, पुष्टि-कर, पुष्टि-सम्पादक संसार जिसमें मानवप्रजा निवास करती है ।

ज्ञान और विवेक की मात्रा में वृद्धि कर द्यौ को मात्रा से बढ़ना है ।

जो उत्-गमन अथवा उत्थान की ओर ले जाता है, जिसके आश्रय से उत्कर्ष का उछाल होता है वह अध्यात्म ही वह समुद्र है जनजीवन को सर्वतः सींचता है ।

महामानव स्वयं ज्ञान और विवेक से पूर्ण हुआ, सम्पूर्ण पृथिवी पर सम्पोषक अध्यात्म की शैली को विशालता के साथ व्यापता चले । विश्वकल्याण की यही सही-सीधी राह है ।

तू है पृष्ठ जलों की,
योनि अग्नि की और महान् ।
बढ़ता हुआ तू पुष्कर में
दिव्य ज्ञान की मात्रा से,
सेचनशील समुद्र को अभितः
तू विस्तार विशालता से ।

६३३ ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।
सः बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥
[सा ३२१, अ ४.१.१, ५.६.१]
य १३.३
ब्रह्म जज्ञानम् प्रथमम् पुरस्तात् वि सीमतः सु-रुचः वेनः आवः ।
सः बुध्न्याः उप-माः अस्य वि-स्थाः सतः च योनिम् अ-सतः च वि वः ।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१) (वेनः) वेन ने (वि आवः) आविष्कृत—साक्षात् किया (प्रथमम् जज्ञानम् ब्रह्म) प्रथम जज्ञान ब्रह्म को, फिर (पुरस्तात्) सामने (सीमतः) सीमा से मर्यादित (सु-रुचः) सुसुन्दर [विश्व] को।

वेन शब्द की व्युत्पत्ति जिस 'वेनृ' धातु से हुयी है उसका प्रयोग चिन्तन, ज्ञान, गति [साधना] और दर्शन अर्थों में होता है। चिन्तन के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान होजाने पर ही यथाविधि साधना सम्भव होती है। यथाविधि साधना करने से दर्शन—साक्षात्कार होता है।

महामानव के लिये यहां वेन शब्द का प्रयोग हुआ है। उसने गहन चिन्तन के आश्रय से आत्मा, परमात्मा और प्रकृति का संज्ञान प्राप्त किया। संज्ञान के आश्रय से उसने आत्मस्वरूप में स्थित होकर आत्मसाधना की और 'प्रथम जज्ञान ब्रह्म' का साक्षात्कार किया। ब्रह्म 'प्रथम जज्ञान' है, सर्वप्रथम जानने योग्य है। ब्रह्म को जान लेने पर ब्रह्मकृत जो यह विश्व है वह यथारूपेण सहजतया जाना जाता है। ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर ही ब्रह्मकृत भौतिक सृष्टि के यथार्थ स्वरूप का दर्शन होता है।

ब्रह्म अनन्त, असीम और अपार है। प्रकृतिजन्य जो यह 'नेति, नेति,' असीम-अपार, सुसुन्दर संसार है, ब्रह्म की अपेक्षा से सीमा से मर्यादित है, ससीम है। ब्रह्म की कृति यह भौतिक विश्व 'पुरस्तात्' है, सामने है, प्रत्यक्ष है। वेन महामानव ने आत्मसाधना के द्वारा जब कर्ता ब्रह्म का साक्षात्कार किया तब उसने कर्ता की कृति को सम्यक् जाना, कृति के यथार्थ स्वरूप और रहस्य को पहचाना। महत्कर्ता ब्रह्म का साक्षात्कार करके और उसकी महत्कृति सृष्टि का विज्ञान सम्पादन करके ही महामानव वेन पद पर प्रतिष्ठित हुआ है।

२) वेन बनकर (सः) उस [महामानव] ने (अस्य) इस [सृष्टि] की (बुध्न्याः) मूलीय तथा (उप-माः) निदर्शक, दर्शानेवाले (वि-स्थाः) विस्थितियों को, (सतः च अ-सतः च) अविनश्वर के और विनश्वर के (योनिम्) स्वरूप—रहस्य को (वि वः) खोजा—खोला।

'बुध्न' का अर्थ है मूल, जड़। मूल को वे विस्थितियां जो इस सृष्टि के स्रष्टा की सत्ता की निर्देशिका हैं उनको, साथ ही सत् और असत् का जो स्वरूप है उसके रहस्य को जन-साधारण नहीं, वेन महामानव ही जान और खोल पाते हैं।

भौतिक जो कुछ है वह सब असत् है, विनश्वर है। जो यह ब्रह्म है, और आत्मा है, अविनश्वर है। वेनों ने ही असत् में निहित सत् को खोजा और खोला है। वेनों ने ही उन ब्राह्म विस्थितियों का, जिनके आश्रय से असत् सृष्टियों का संसर्जन तथा विसर्जन होरहा है, पता लगाकर ब्रह्म की महिमा को जाना और जनाया है।

वेन ने जाना प्रथम जज्ञान ब्रह्म को,
सामने दृष्टिगोचर होनेवाले,
सीमित, सुरुचिकर सृष्टि को।
उसने खोजा—खोला
इसकी बुध्न्य, निदर्शक विस्थितियों को,
सत् के और असत् के स्वरूप को।

६३४ हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
[ऋ १०.१२१.१, य २३.१, २५.१०, अ ४.२७] य १३.४
हिरण्य-गर्भः सम् अवर्तत अग्रे भूतस्य जातः पतिः एकः आसीत्।
सः दाधार पृथिवीम् द्याम् उत इमाम् कस्मै देवाय हविषा विधेम।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ज्ञान विज्ञान वेत्ता वेन महामानव सर्व मानवों को सम्बोधन करता हुआ कह रहा है—

१) (अग्रे हिरण्य-गर्भः सम् अवर्तत) अग्रे हिरण्य-गर्भ सम्यक् वर्तमान था।

२) वही (भूतस्य एकः जातः पतिः आसीत्) भूत-मात्र का एक प्रकट पति था।

३) (सः दाधार) उसी ने धारण किया हुआ है (इमाम् पृथिवीम् उत द्याम्) इस पृथिवी को और द्यौ को।

४) हम उस (कस्मै देवाय) आनन्दस्वरूप देव के लिये (हविषा विधेम) हवि से विधान करें।

यह संसार कितना बड़ा है, इसकी माप-तोल न कोई कर पाया है, न कर पायेगा। अनेकों ने इस प्रयास में अपने जीवन खपाये और 'नेति नेति' कहकर चले गये। एक एक राट् में नीलों सूर्य और सौर मण्डल हैं। एक एक विराट् में नीलों राट् हैं। एक एक परमेष्ठी में नीलों विराट् हैं। एक एक ब्रह्माण्ड में नीलों परमेष्ठियां हैं। और ब्रह्माण्ड कितने हैं, यह अज्ञात है और अज्ञात ही रहेगा। कोटानुकोटि सौर मण्डल राट्, विराट्, परमेष्ठियां और ब्रह्माण्ड नित्य उसी प्रकार बनते और विलीन होते रहते हैं जिस प्रकार पृथिवी पर असंख्य मनुष्य और मनुष्येतर प्राणी नित्य जन्मते और मरते रहते हैं।

कब से हैं यह ? करोड़ों, अरबों, खरबों, शंखों वर्षों से ? नहीं, अग्रे, इससे भी पहले से, अनादि काल से, सदा से। और कब तक स्थित रहेगा यह सब ? अग्रे ही अग्रे। इस अग्र का न कहीं ओर है न छोर। अनादि, अनन्त, असीम, अपार है यह सब। अनादि, अनन्त, असीम, अपार ही है यह अग्रे।

एक हिरण्य-गर्भ है जिसमें अखिल राट्, विराट्, परमेष्ठियां, ब्रह्माण्ड उसी प्रकार अन्त-र्निहित हैं जिस प्रकार माता के गर्भ में बालक। उस हिरण्य-गर्भ में ही सब लोक-लोकान्तर जन्मते और विलीन होते रहते हैं और होते रहेंगे। हिरण्य-गर्भ ही (एकः) एकमात्र (भूतस्य) भूत का, भौतिक सृष्टि का (पतिः) अधिपति है, है, रक्षक है, धारक और चालक है और (आ था। वह ही वर्तमान में पति है। वह ही भूत में पति था, वह ही भविष्यत् अग्र में पति हो (इमाम् पृथिवीम् उत द्याम्) इस पृथिवी और को (सः दाधार) वह ही धारण किये हुये है, रहता है।

वह हिरण्य-गर्भ छिपा हुआ नहीं है, (आ प्रकट है, सबमें सर्वत्र प्रकाश रहा है।

वह हिरण्य-गर्भ है (कः) आनन्दस्वरूप। विश्व के कण कण में जो आनन्द है वह हिरण्य-गर्भ का ही है। उसके सन्दर्शन के लिये उस (कस्मै देवाय) आनन्दस्वरूप देव के (हविषा) हवि द्वारा (विधेम) विधान विधिपूर्वक विशिष्ट प्रयज्ञ करें, विधिपूर्वक नुष्ठान करें।

'कः देव' के निज स्वरूप के दर्शन के जो अनुष्ठान है वह एक प्रयज्ञ है। यज्ञानुष्ठान जितनी शुद्ध वस्तुयें प्रयुक्त होती हैं उनके समूह का नाम हवि है। कः देव के मिलनयाग में स्थापना, ज्ञान है सामग्री, स्नेह है घृत, हैं समिधा, चित्त है प्रचेता, आत्मसमर्पण है वाट्, जीवन [शरीर] है यज्ञवेदि।

विश्वोद्धारक वेन महामानव दानवता मानवता में परिणत करने की भावना से सर्व मानवों से कहता है, 'कः देव के मिलनार्थ, हम अपनी सम्पूर्ण हवि से योग-याग, योगानु करें।' अग्नियाग से अग्नि का दर्शन होता देवयाग से कः देव का दर्शन होता है। योग-याग करने से ही मानवप्रजाओं की पद्धति योगयुक्त होगी और परिणामस्वरूप में मानवता की पुनः स्थापना होगी।

अग्रे सम्यक् वर्तमान था हिरण्यगर्भ, जो

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भूतमात्र का एक पति था प्रकट प्रकाशित ।
धारण किये हुये है वह ही
इस पृथिवी को और द्यौ को ।
उस आनन्द देव के लिये
सहवि करें हम योगप्रयज्ञ ।

सूक्ति : कस्मै देवाय हविषा विधेम ।
आनन्दस्वरूप देव के लिये हम सहवि योगानुष्ठान करें ।

६३५ द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः ।
समानं योनिमनु सञ्चरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥
[ऋ १०.१७.११, अ १८.४.२८] य १३.५

द्रप्सः चस्कन्द पृथिवीम् अनु द्याम् इमम् च योनिम् अनु यः च पूर्वः ।
समानम् योनिम् अनु सम्-चरन्तम् द्रप्सम् जुहोमि अनु सप्त होत्राः ।

(च यः) और जो (पूर्वः) पूर्व है, पूर्व दिशा से उदय होते हुये सूर्य के समान उदीयमान महामानव है वह कः देव के दर्शनार्थ सहवि योगानुष्ठान करता हुआ, (पृथिवीम् द्याम् अनु) पृथिवी और द्यौ को अनुसरता [प्रकाशता] हुआ, (च) और (इमम्) इस (योनिम्) योनि को, मानवयोनि को (अनु) अनुसरता हुआ, सार्थक करता हुआ [संसार में] (द्रप्सः) हर्ष, उल्लास, आनन्द (चस्कन्द) सम्पादन किया करता है ।

पूर्व दिशा से उदय होता हुआ सूर्य जिस प्रकार पृथिवी और द्यौ [भूमि और आकाश] को प्रकाशित करता है उसी प्रकार उदयशील महामानव कः देव के दर्शनार्थ जो सहवि योगानुष्ठान करता है उसकी आभा से वह दिग्दिगन्त में आत्माह्लाद व्याप देता है, योगाभा से वह ऊपर-नीचे, सर्वत्र प्रकाश पूर देता है, जन जन के मस्तिष्क और हृदय में ज्योति और आनन्द के स्रोत बहा देता है ।

वेदमाता की इस उत्प्रेरणा से उत्प्रेरित होकर महामानव आत्मसंकल्प के साथ कहता है, '(सप्त होत्राः अनु) सात होत्रों को अनुस्थित करके, (समानम् योनिम्) समान योनि को, समत्व से युक्त [अपने] जीवन को (अनु) अनुस्थित करके, (सम्-चरन्तम् द्रप्सम्) संचरणशील आनन्द को (जुहोमि) होमता हूं ।'

मस्तिष्क, हृदय और पांच ज्ञानेन्द्रियां, सात होत्र [यज्ञ और यज्ञसाधन] हैं, जिनको अनुस्थित अथवा आत्मानुकूल करके महामानव ने जीवन को अनुस्थित किया है । परिणामस्वरूप उसके अन्तःकरण में निरन्तर आनन्द का संचरण होता रहता है ।

उस आनन्द से आनन्दित हुआ वह अनवरत मानवता की पुनस्स्थापना के लिये सानन्द स्व सर्वस्व होमता रहता है और पीड़ित मानवजाति को प्रहर्षित करता रहता है ।

पृथिवी, द्यौ और इस योनि को
अनुसरता हुआ महामानव
हर्ष और उल्लास किया करता सम्पादन ।
सात होत्रों को अनुस्थित कर,
कर अनुस्थित समान योनि को,
होमता हूं संचरणशील आनन्द—हर्ष को ।

६३६ नमो ऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु । ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥
य १३.६

नमः अस्तु सर्पेभ्यः ये के च पृथिवीम् अनु । ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यः नमः ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

महामानव अनुस्थित हुआ संचरणशील आनन्द और हर्षोल्लास के सुप्रवाह प्रवाहित कर रहा है। सर्वत्र उसका अभिस्तवन तथा अभिनन्दन होता है। और वह साधूचित विनम्रता के साथ कहता है—

१) मेरा (नमः अस्तु सर्पेभ्यः) नमस्कार हो सर्पों—सर्पणशीलों के लिये, (ये के च पृथिवीम्) जो कोई भी पृथिवी पर (अनु) सतत गमन करते हैं, निरन्तर घूमते हैं।

'सृप्' (गतौ) धातु से सर्प शब्द का जन्म हुआ है। 'सर्प' का अर्थ है गति करनेवाला, घूमनेवाला। महामानव को अपना प्रेरणा-केन्द्र बनाकर जो असंख्य साधक उसके अनुशासन से बद्ध हुये सम्पूर्ण पृथिवी पर घूम-घूमकर सर्वत्र उसका सन्देश पहुंचा रहे हैं और उसकी साध की संव्याप्ति कर रहे हैं उन सर्पणशील [घूमने वाले] साधकों के प्रति नमस्कार करके उसने एक सुन्दर शील का द्योतन किया है।

कोई कितना भी महान् क्यों न हो जाये उसके अनन्य साधक ही उसकी महानता का और उसके महान् कार्यों का मेरुदण्ड हैं। एक सच्चा मह अपने सहयोगियों तथा साधकों के प्रति सम्म [आदरभाव] प्रकट करता हुआ आगे बढ़ सफल होता है।

२) (ये अन्तरिक्षे ये दिवि) जो अन्तःकरण में, जो मस्तिष्क में [अनुस्थित—स्थि (तेभ्यः सर्पेभ्यः नमः) उन भ्रमणशीलों नमस्कार।

जो भ्रमणशील, सततगामी साधक म के सन्देशों का स्थान स्थान पर, सर्वजनों करते हैं वे मानवों के दिल और दिमाग में हैं। उनके प्रति महामानव आभारसूचक कर रहा है।

नमस्कार हो सर्पों के प्रति,
जो कोई भी भू पर करते सतत गमन।
जो हृदय में, जो मस्तिष्क में,
नमस्कार उन सर्पों के प्रति।

सूक्ति : **सर्पेभ्यो नमः।**

भ्रमणशील साधकों के प्रति नमस्कार।

६३७ या इषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीँरनु। ये वावटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः

य १३

याः इषवः यातु-धानानाम् ये वा वनस्पतीन् अनु। ये वा अवटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यः नमः

भ्रमणशील साधकों के प्रति अपनी आस्था का द्योतन करते हुये महामानव कहे चला जारहा है, '(यातु-धानानाम् याः इषवः) यातु-धानों की जो खुबनें—चुभनें—गतियां हैं, [उनसे त्राणार्थ] (ये) जो (वा) या तो (वनस्पतीन् अनु) वनस्पतियों को अनुसरते हैं (वा ये) या जो (अवटेषु शेरते) अमार्गों में शयन [बसेरा, निवास] करते हैं (तेभ्यः सर्पेभ्यः नमः) उन सर्पों के प्रति नमस्कार।'

यातु नाम पथिक वा बटोही का है। पथिकों के धनों का अपहरण और उनके जीवनों का हनन जो करते हैं उनकी संज्ञा 'यातुधान' है। कौन हैं ये बटमार जिनकी मार से स्वयं बचने और दू सर्व जनों को बचाने के लिये सर्पणशील वनस्पतियों का अनुसरण करते हैं और [एकान्त] स्थानों में, जहां होकर मानवों का तक नहीं होता, निवास करके आत्मसाधन हैं? वे हैं विषयजन्य, विषैले विकार और वासनायें जो जीवनपथ के पथिकों, सभी की जीवनसम्पदाओं का अपहरण और जीवनों का हनन करते हैं।

सर्पणशील साधक चले जाते हैं एकान्त स्थानों में और समौन उत्कट आत्मसाधना

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विकार-वासनाओं के मूल कारणों की खोज करते हैं और उनके शमन के साधनोपायों का पता लगाते हैं। बुद्ध-प्रबुद्ध बनकर वे पुनः बस्तियों में वापस आते हैं और, जिस प्रकार फलवती वनस्पति अपने फलों को अन्यार्थ—सर्वार्थ अर्पण करते हैं उसी प्रकार वे प्राप्त आत्मबोधों को सर्वार्थ अर्पण करते हैं, जन जन को अपने अध्यात्म-अनुभवों को सम्प्रदान करते हैं।

उपर्युक्त सर्पणशील साधकों के पुण्य प्रताप से ही तो महामानव को सार्वभौम मानवीय साधों को संबल और सहारा मिल रहा है। उनके प्रति अपनी आस्था व्यक्त करने के लिये ही उसने उनके प्रति अपना प्रणाम अर्पण किया है।

बटमारों की जो चुभनें हैं,
उनसे ही त्राणार्थ जो या तो
करते हैं अनुसरण वनस्पतियों का
या जो करते हैं सुशयन
अवट—अगम्य—एकान्त स्थलों में,
नमस्कार उन सर्पों के प्रति।

६३८ ये वामी रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु। येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥

य १३.८

ये वा अमी रोचने दिवः ये वा सूर्यस्य रश्मिषु। येषाम् अप्-सु सदः कृतम् तेभ्यः सर्पेभ्यः नमः।

सर्पों के प्रति अपनी आस्था को जारी रखते हुये महामानव पुनः कहता है, '(ये अमी) जो वे (वा) अपि च (दिवः रोचने) द्यौ के [तारों की] ज्योत्स्ना में, (वा ये सूर्यस्य रश्मिषु) अपि च जो सूर्य की किरणों में [संसाधना करते हैं]. (येषाम् सदः) जिनका निवास (अप्-सु कृतम्) जलों में बना है (तेभ्यः सर्पेभ्यः नमः) उन सर्पों के प्रति नमस्कार।'

कुछ सर्पणशील साधक चले जाते हैं जलों—जलाशयों के मध्य स्थित एकान्त, शान्त, शीतल टापुओं में और वहां रात्रि में द्युलोक [तारामण्डलों] की ज्योत्स्ना में तथा दिन में सूर्य के प्रकाश में आत्मावलोकन तथा आत्मविलोडन के द्वारा खोजते हैं वे अध्यात्मविधियां जिनके द्वारा मानवप्रजाओं को विनिर्मुक्त किया जाता है विकारजन्य अभिशापों और विलासजन्य दुरितों से। दिव्यालोक से आलोकित होकर वे पुनः बस्तियों में आते हैं और मानवों को जीवन की सच्ची, सीधी राह दर्शाते हैं। उनकी साधु साध से भी महामानव की सार्वभौम साधों को संबल और सहारा मिलता है। इसी भाव से उसने उन्हें यहां नमस्कार किया है।

जो वे द्यौ की ज्योत्स्ना में,
अपि च सूर्य की किरणों में
करते है सम्यक् संसाधन,
जलों में जिनका बना निवास,
नमस्कार उन सर्पों के प्रति।

६३९ कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ इभेन।
तृष्वीमनु प्रसितिं द्रुणानो ऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः॥
[ऋ ४.४.१] य १३.९

कृणुष्व पाजः प्र-सितिम् न पृथ्वीम् याहि राजा-इव अम-वान् इभेन।
तृष्वीम् अनु प्र-सितिम् द्रुणानः अस्ता असि विध्य रक्षसः तपिष्ठैः।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

महामानव को अपने पूर्ण सहयोग का आश्वासन देते हुये सर्प जन उसके प्रति कहते हैं—

१) (पाजः कृणुष्व) बल सम्पादन कर, अपना आत्मसंबल संभाल ।

'पाज' नाम उस आत्मसंबल का है जिसके द्वारा स्व-पर की रक्षा की जाती है। भोगवाद और भौतिकवाद से पीड़ित मानवप्रजा की रक्षा करना सरल साध नहीं है, बड़ी कठिन साध है। उसके लिये जिस उद्दाम आत्मसंबल की आवश्यकता होती है उसका सम्पादन करके ही महामानव मानवजाति के समुद्धार के लिये सन्नद्ध हुआ है।

२) (अम-वान् राजा-इव) बल-वान् राजा के समान, [भोगवाद से] (प्र-सितिम् पृथ्वीम् न) प्रबद्ध पृथिवी को जैसे (इभेन) हाथी से, हाथी की जैसी मस्ती से, हाथीवत् निर्द्वन्द्व होकर (याहि) जा, विचर।

बलवान् राजा जिस प्रकार अपने राज्य में निर्द्वन्द्वता के साथ विचरता हुआ उसे निष्कण्टक बनाता है उसी प्रकार महामानव को सारी पृथिवी पर अदम्यता के साथ विचरना है। वह स्वयं सम्पूर्ण पृथिवी का राजा है, विश्व का हृदय-सम्राट् है। संशयरहित, निर्भय और निश्शंक होकर उसे देश-देशान्तर में जाकर मानवप्रजा को आचारहीनता के अभिशापों से मुक्त करना है। कुत्ते भूंकते रहते हैं। हाथी उनकी ओर ध्यान न देकर अपनी चाल चला जाता है। वैसे ही महामानव विरोधों और विरोधियों की चिन्ता न करता हुआ अपनी महतो महान् साध की सिद्धि में संलग्न रहता है।

३) (द्रुणानः) शीघ्रता करता हुआ, दौड़ता हुआ (प्र-सितिम् तृष्वीम्) प्रबद्ध और प्यासी [पृथिवी को (अनु) अनुकूलता के साथ [गेंद की तरह (अस्ता) प्रक्षेप्ता, उछालनेवाला (असि) है।

महामानव शीघ्र शीघ्र देश-देशान्तर में जा भोगवाद से बद्ध और योगामृत की प्यासी पृथि [पृथिवीवासी प्रजा] को हिलाकर, उसके जीव प्रवाह को दिव्य मोड़ देता है।

४) (तपिष्ठैः रक्षसः विध्य) तपिष्ठ—तपनों राक्षसों को वेधदे ।

भोगवादजन्य जितने भी अभिशाप हैं वे दुर्जेय राक्षस हैं, जिनको तपिष्ठों, अतिशय और कठोर तपश्चर्याओं के द्वारा ही वेधा निराकृत किया जा सकता है। इनके वध के विश्वोद्धारक महामानव को बड़े कठोर तप होते हैं।

कर तू आत्मसंबल सम्पादन
बलवान् राजा की तरह,
प्रबद्ध पृथिवी को जैसे,
हाथीवत् निर्द्वन्द्व विचर तू।
तेज़ दौड़ता हुआ प्रबद्ध प्यासी पृथिवी को
है तू हिलानेवाला ।

सूक्ति : **कृणुष्व पाजः ।**
आत्मसंबल सम्पादन कर ।
याहि राजेवामवाँ इभेन ।
बलवान् राजा की तरह हाथीवत् निर्द्वन्द्व वि
विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः ।
राक्षसों को तपनों से वेध ।

६४० तव भ्रमास आशुया पतन्त्यनु स्पृश धृषता शोशुचानः ।
तपूंष्यग्ने जुह्वा पतङ्गानसन्दितो वि सृज विष्वगुल्काः ॥
[ऋ ४.४.२]

य १३.१०

तव भ्रमासः आशु-या पतन्ति अनु स्पृश धृषता शोशुचानः ।
तपूंषि अग्ने जुह्वा पतङ्गान् अ-सम्-दितः वि सृज विष्वक् उल्काः ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

महामानव के प्रति अपने निवेदन को जारी रखते हुये सर्प जन कहे चले जारहे हैं—

१) तेरे आदेश पर (तव भ्रमासः) तेरे भ्रमणशील [साधक] (आशु-या पतन्ति) आशुता के साथ उड़ते हैं, शीघ्रता के साथ सर्वत्र जाते हैं। तू (अनु स्पृश) स्पर्श कर [विश्व को मानवप्रजा का] (धृषता) धर्षणशीलता के साथ (शोशुचानः) प्रकाशता हुआ।

महामानव के एक विशेष गुण का इस मन्त्र में द्योतन हुआ है। वह है धर्षणशीलता [धड़ल्ले] के साथ, निर्भय, निडर होकर साधरत रहने की क्षमता। जिस प्रकार सूर्य धर्षणशीलता के साथ अपने प्रकाश से प्रकाशता हुआ अपनी तीव्रगामिनी किरणों के द्वारा सौर मण्डल के सम्पूर्ण तनुओं का अनुस्पर्श करता है उसी प्रकार महामानव प्रगल्भता के साथ अपने दिव्य गुणों से प्रकाशता हुआ, अपने आशुधावी भ्रमणशील साधकों द्वारा पृथिवी की सारी मानवप्रजा तक अपना सन्देश और आदेश पहुंचाता है।

२) (अग्ने) ! (अ-सम्-दितः) अ-खंडित तू (जुह्वा) स्वाहावाट्—आहुति से (तपूंषि) तापों—तपनों को, (पतङ्गान्) पतंगों को, (उल्काः) उल्कों को (विष्वक्) सर्वशः (वि सृज) छोड़।

यहां महामानव को 'अग्रणी' अर्थ में 'अग्ने' शब्द से सम्बोधन किया गया है। अग्रणी महामानव अखण्डित, अखण्ड साधरत रहता हुआ, अखण्डता के साथ अपने व्रतों—नियमों का पालन करता कराता है और अपनी जीवनाहुति द्वारा अपने कठोर तप की तपनों का विसर्जन करता है, अपने पतंगों—आत्मचिंगारियों को विकीर्ण करता है, आकाश से टूटते हुये उल्कों [तारों] की तरह अपने द्यौ [मस्तिष्क] से दिव्यविचाररूपी उल्कों को बिखेरता है। इस त्रिविसर्जन के द्वारा मानवसमाज में से स्वार्थपरता, विलास तथा अज्ञान का निवारण होता है।

तेरे भ्रमणशील सुसाधक
शीघ्रता के साथ हैं उड़ते।
अनुस्पर्श कर
प्रगल्भता के साथ प्रकाशित होता हुआ।
अग्ने ! अखण्डित व्रती तू आत्माहुति से
कर विसर्जित तपनों, पतंगों, उल्कों को।

६४१ प्रति स्पशो वि सृज तूर्णितमो भवा पायुर्विशो अस्या अदब्धः।
यो नो दूरे अघशंसो यो अन्त्यग्ने माकिष्टे व्यथिरा दधर्षीत् ॥
[ऋ ४.४.३] य १३.११

प्रति स्पशः वि सृज तूर्णि-तमः भव पायुः विशः अस्याः अ-दब्धः।
यः नः दूरे अघ-शंसः यः अन्ति अग्ने माकिः ते व्यथिः आ दधर्षीत्।

महामानव के भ्रमणशील साधक जहां साचार प्रचार द्वारा सर्व जनों को धर्मपथ पर चलाते हैं वहां उसकी दृष्टि से यह तथ्य ओझल नहीं है कि जो अवाञ्छनीय सामाजिक तत्त्व प्रचार से नहीं सुधरते हैं उन्हें ठीक करने और ठीक रखने के लिये राजा अथवा शासनसत्ता को उग्र न्याय और कठोर दण्ड का प्रयोग करना चाहिये। इसी बोध का उद्घाटन करते हुये महामानव शासनसत्ता के प्रति कहता है—

१) (अग्ने) राजन् ! शासनसत्ते ! (तूर्णि-तमः) अतिशय शीघ्रकारी और (अ-दब्धः) अहिंस्य, अदम्य तू (स्पशः) गुप्तचरों को (प्रति) प्रतिशः, प्रत्येक दिशा में, प्रत्येक संस्था और संस्थान में (वि सृज) छोड़—भेज [और छोड़कर, भेजकर] (अस्याः विशः) इस प्रजा का (पायुः भव) रक्षक हो।

शासन का कर्तव्य है कि गुप्तचरों द्वारा उप-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

द्रवियों, उत्पीड़कों, अत्याचारियों की सूची प्राप्त करके उन्हें कठोरता के साथ नियन्त्रण में रखे और उनके अत्याचार से जनता की रक्षा करे।

२) (यः अघ-शंसः) पापप्रशंसक (दूरे) दूर में और (यः अन्ति) जो समीप में (नः) हमें, हम प्रजाजनों को (व्यथिः) व्यथित करनेवाला है वह (ते) तेरे प्रति (माकिः आ दधर्षीत्) धृष्टता न करे।

जो वर्ग पापप्रशंसक है, जो पाप कर्मों तथा पापकर्माओं को प्रोत्साहित करता है और, इस प्रकार, जो प्रजा को व्यथित और शासन को उपेक्षित करता है उस वर्ग की ढिठाई का मुकाबला करके उन्हें दुर्बल और निरुपाय किया जाये।

शासन-व्यवस्था ऐसी स्वच्छ और सुदृढ़ चाहिये कि न कोई किसी को सताने पाये, न किसी के स्वत्वों का अपहरण कर सके, न निकट कोई किसी को व्यथित करे।

अग्ने !
अतिशय शीघ्रकारी, अदम्य तू,
गुप्तचरों को प्रतिशः भेजकर,
हो संरक्षक इस प्रजा का।
जो अघशंस समीप, दूर में
हमें व्यथित करनेवाला है,
तेरे प्रति न करे धृष्टता।

६४२ उदग्ने तिष्ठ प्रत्या तनुष्व न्यमित्राँ ओषतात् तिग्महेते।
यो नो अरातिं समिधान चक्रे नीचा तं धक्ष्यतसं न शुष्कम् ॥
[ऋ ४.४.४] य १३.१२

उत् अग्ने तिष्ठ प्रति आ तनुष्व नि अ-मित्रान् ओषतात् तिग्म-हेते।
यः नः अ-रातिम् सम्-इधान चक्रे नीचा तम् धक्षि अतसम् न शुष्कम्।

शासनसत्ता के प्रति अपने सम्बोधन को जारी रखते हुये महामानव कहे चला जारहा है—

१) (अग्ने) राजन् ! शासनसत्ते ! (उत् तिष्ठ) उठ, उद्युक्त रह, (प्रति आ तनुष्व) प्रत्येक दिशा में विस्तार कर/व्याप।

प्रत्येक देश के शासन को स्थिरता के साथ उद्युक्त रहना चाहिये और राज्य तथा राष्ट्र के सम्पूर्ण क्षेत्र में क्षमता के साथ, सुव्यवस्था के साथ व्यापे रहना चाहिये।

२) (तिग्म-हेते) तीक्ष्ण-शस्त्र ! (अ-मित्रान्) वैरियों को (नि ओषतात्) नितान्त दग्ध—भस्म कर।

'अमित्रान्' शब्द का प्रयोग अमित्र राष्ट्रों के आक्रमणकारियों के लिये हुआ है। राष्ट्र की शस्त्रसज्जा ऐसी सक्षम, तीव्र तथा सुतीक्ष्ण हो कि आक्रमणकारियों को सद्यः मार भगाया जा सके।

३) (सम्-इधान) सम्यक् प्रज्वलित—प्रकाशित बल ! (यः) जो (नः) हमारे प्रति, हम प्रजा प्रति (अ-रातिम् चक्रे) शत्रुता किया करे (तम्) उसे (नीचा) नीचे गिराकर (शुष्कम् न) सूखे काष्ठ की तरह (धक्षि) जलादे।

राष्ट्र का सैन्य बल ऐसा प्रबल हो शत्रुता करनेवालों को भस्म करदे।

अग्ने ! उठ, उद्युक्त सदा रह,
व्याप और विस्तार दिशि-दिशि।
तीक्ष्ण-शस्त्र ! करदे भस्म अमित्रों को तू।
समिधान ! नीचे करके उसे भस्म कर,
शुष्क काष्ठवत्,
करे हमारे प्रति जो शत्रुता।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

य १३.१३

६४३ ऊर्ध्वो भव प्रति विध्याध्यस्मदाविष्कृणुष्व दैव्यान्यग्ने। अव स्थिरा तनुहि यातुजूनां जामिमजामिं प्र मृणीहि शत्रून्। अग्नेष्ट्वा तेजसा सादयामि ॥

[ऋ ४.४.५]

य १३.१३

ऊर्ध्वः भव प्रति विध्य अधि अस्मत् आवि कृणुष्व दैव्यानि अग्ने। अव स्थिरा तनुहि यातुजूनाम् जामिम् अ-जामिम् प्र मृणीहि शत्रून्। अग्नेः त्वा तेजसा सादयामि।

शासनसत्ता को सम्बोधन करता हुआ महामानव कहे चला जारहा है—

१) (अग्ने) राजन्! शासनसत्ते!

२) (अस्मत्) हमसे, हम प्रजाजनों से (ऊर्ध्वः अधि भव) ऊपर अधिष्ठित हो।

राजसत्ता सर्वोपरि है। गृहस्थ, विरक्त, सब ही को राजनिष्ठ होना चाहिये और राजसत्ता को सब ही की सुरक्षा तथा समुन्नति की सुव्यवस्था करनी चाहिये। जहां शासनसत्ता के प्रति सभी को सनिष्ठ [वफ़ादार] होना चाहिये वहां शासनसत्ता को भी सबके प्रति कर्तव्यनिष्ठ होना चाहिये।

३) देश, राष्ट्र और राज्यव्यवस्था के प्रति जो विद्रोह करें उन्हें तू (प्रति विध्य) प्रतिशः वेध, दण्डित कर।

कोई कितना भी सम्पन्न और ऊंचा क्यों न हो, यदि वह शासन के प्रति निष्ठाहीन और देश तथा राष्ट्र के प्रति विश्वासघाती है तो संकोचरहित और निष्पक्ष होकर शासन उसे कठोर दण्ड देवे।

४) (दैव्यानि स्थिरा) दैव्यों और स्थिरों को (आविः कृणुष्व) प्रकट—विज्ञापित कर।

विरक्त और गृहस्थ, दोनों प्रकार के प्रजाजनों में से जो दैव्य हैं और स्थिर हैं, राज्य की ओर से उनका जनता में विशेष मानसूचक विज्ञापन किया जाना चाहिये।

दिव्य ज्ञान-विज्ञान से युक्त और शौर्य-वीर्य से सुयुक्त होकर जो स्थिरता के साथ शासन और राष्ट्र की विशेष सुसेवा करते हैं और मानवजाति का सुमंगल करते हैं वे मातृभूमि की भी और भूमिमाता की भी दैव्य और स्थिर सम्पदायें हैं। उनका सर्व जनों में विज्ञापन किया जाना चाहिये, जिससे साधारण जनों को राष्ट्र के प्रति निष्ठा की प्रेरणायें मिलें।

५) (यातु-जूनाम्) हिंसाकारियों/विश्वासघातियों के (जामिम्) बन्धु—रिश्तेदार को (अ-जामिम्) अबन्धु, अरिश्तेदार, मित्र को (अव तनुहि) अवतान, नियन्त्रित रख, कस।

यातुजूओं पर ही नहीं, उनके रिश्तेदारों तथा जानकारों तक पर गुप्तचरों तथा पोलिसजनों द्वारा कठोर निगरानी तथा नियन्त्रण रखा जाना चाहिये।

६) राष्ट्र और देश के आन्तरिक और बाह्य (शत्रून्) शत्रुओं को (प्र मृणीहि) मार, हनन कर।

व्यक्तिगत शत्रुओं को क्षमा करना जहां किसी भी महामानव की महानता है वहां देश और राष्ट्र के शत्रुओं को क्षमा करना वा जीवित छोड़े रखना भारी भूल होती है।

७) मैं (त्वा) तुझे (अग्नेः तेजसा सादयामि) ब्रह्माग्नि के तेज से स्थापित करता हूं।

शासनसत्ता के प्रति महामानव की यह एक महत्त्वपूर्ण उक्ति है। शासन तथा राष्ट्र की स्थापना ब्रह्माग्नि के तेज से प्रदीप्त होनी चाहिये। ब्रह्माग्नि दुरितों का दाहक, आत्मा का पोषक और जीवन का पावक [शोधक] है। शासनपद्धति बर्बर पाशविकता पर आधारित न होकर आध्यात्मिकता पर आधारित होनी चाहिये। तब ही राजा और प्रजा, शासन और शासित निष्पाप और निरपराध रहते हैं और राष्ट्र में धर्म का प्रवाह सुप्रवाहित रहता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शासनसत्ते !
हमसे ऊपर हो अधिष्ठित,
दण्डित कर विद्रोहियों को,
दंड्यों, अपि च स्थिरों को
कर विज्ञापित ।
यातुजूओं के जामि अजामि को
रख नियन्त्रित,
राष्ट्रशत्रुओं को हनन करं ।
करता हूं स्थापित तुझको
अग्नि के तेज से ।

६४४ अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत् पतिः पृथिव्या अयम् । अपां रेतांसि जिन्वति ।
इन्द्रस्य त्वौजसा सादयामि ॥
[ऋ ८.४४.१६, य ३.१२, १५.२०, सा २७, १५३२] य १३.१४
अग्निः मूर्धा दिवः ककुत् पतिः पृथिव्याः अयम्। अपाम् रेतांसि जिन्वति। इन्द्रस्य ओजसा सादयामि ।

राजा और प्रजा, शासन और जनता, दोनों को सम्बोधता हुआ महामानव कहता है--

१) (अयम् अग्निः) यह ब्रह्माग्नि (दिवः मूर्धा) प्रकाश का मूर्धा है, प्रकाशों का प्रकाश है, सर्वोच्च और सर्वोत्कृष्ट प्रकाश है ।

ब्रह्माग्नि दिव्य द्यौ का मूर्धा है, दिव्य सौन्दर्य का सुमुख है । उसके तेजोमय सौन्दर्य से सुन्दर होकर राजा और प्रजा, शासक और जनता, सब ही सुन्दरजीवी होजाते हैं ।

२) (अयम् अग्निः) यह ब्रह्माग्नि (पृथिव्याः ककुत् पतिः) पृथिवी का महान् पालक है ।

'पृथिवी' शब्द का प्रयोग मन्त्र में विराट् के लिये हुआ है । वेद में 'द्यौ' के साथ, पृथिवी' का प्रयोग प्रायः विराट् अर्थ में हुआ है ।

सब कालों और दिशाओं में विराट् का पालन, रक्षण और धारण करनेवाला यह ब्रह्माग्नि है ।

३) (अयम् अग्निः) यह ब्रह्माग्नि (अपाम् रेतांसि जिन्वति) सृष्टियों के प्रवाहों को प्रेर रहा है, सृष्टियों को प्रवाहित कर रहा है ।

४) शासनसत्ते ! मैं उसी (इन्द्रस्य ओजसा) के ओज से (त्वा सादयामि) तुझे स्थ करता हूं ।

ब्रह्माग्नि के लिये यहां इन्द्र शब्द का प्र हुआ है ।

'इन्' शत्रूणां दारयिता, इन्द्रः । अतः को दीर्ण करनेवाला होने से ब्रह्माग्नि इन्द्र पापवासनायें ही समस्त अपराधों की प्रेरिका इन्द्र के संवनन और संसेवन से शासक और प्रजायें निष्पाप बनकर अपराधमुक्त होती परिणामस्वरूप राष्ट्र में धर्म के ओज का उमडता रहता है ।

यह ब्रह्माग्नि है
द्यौ का मूर्धा,
है महान् पति विराट् का,
और कर रहा है प्रवाहित
सृष्टियों के प्रवाहों को ।
करता हूं स्थापित तुझको
इन्द्र के ओज से ।

६४५ भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः ।
दिवि मूर्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ॥
[ऋ १०.८.६, य १५.२३] य १३.१५
भुवः यज्ञस्य रजसः च नेता यत्र नियुत्-भिः सचसे शिवाभिः ।
दिवि मूर्धानम् दधिषे स्वः-साम् जिह्वाम् अग्ने चकृषे हव्य-वाहम् ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यहां ब्रह्माग्नि को साक्षात् सम्बोधन करते हुये महामानव कहता है—

१) (भुवः अग्ने) आकाशवत् व्यापक ब्रह्माग्ने ! 'भुवस्' नाम आकाश का है। ब्रह्माग्नि आकाशवत् सर्वव्यापक है।

२) (यज्ञस्य) सृष्टिरूपी यज्ञ का (च) और (रजसः) रजोलोक का, लोकसमूह का (नेता) सुनयनकर्ता तू (यत्र) जहां (शिवाभिः नियुत्-भिः) शिव नियुतों द्वारा (सचसे) संगत होरहा है वहां दिवि मूर्धानम् दधिषे) द्यौ में मूर्धा को धारण कर रहा है और (स्वः-साम्) आनन्द-प्रदा, सुखों का वितरण करने वाली, (हव्य-वाहम्) हव्य-वाहिका (जिह्वाम्) वाणी को (चकृषे) सम्पादन किया करता है।

अपनी व्याप्तिमात्र से वह सृष्टिरूपी यज्ञ का, अपि च लोकसमूह का संचालन कर रहा है।

'शिवाभिः नियुत्-भिः' से तात्पर्य कल्याण-कारिणी प्राकृत नियुतियों से है। ब्रह्म द्वारा निर्धारित जिन प्राकृत नियमों से सृष्टि का सतत संचालन होरहा है उन्हीं के लिये 'शिवाभिः नियुत्-भिः' पदों का प्रयोग हुआ है। भुवस् ब्रह्माग्नि शिवा नियुतियों द्वारा अखिल सृष्टि से संगत हो रहा है, सगत हुआ उसका संवहन कर रहा है।

भुवः ब्रह्माग्नि 'दिवि मूर्धानं दधिषे,' तू द्यौ में मूर्धा को धारण कर रहा है। इस प्रसंग में अथर्ववेद १०.७.३२ का 'दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्,' 'द्यौ को जिसने मूर्धा बनाया हुआ है. पद अव-लोकनीय हैं। द्यौ प्रतीक है प्रकाश का। प्रकाश ब्रह्माग्नि का मूर्धा है। उसने प्रकाशलोकों को मूर्धावत् धारण किया हुआ है।

स्वः-साम्, सुखों की प्रदात्री, ज्ञान-विज्ञानरूपी हव्यों का वहन करने वाली वेदवाणी भुवस् ब्रह्माग्नि की प्रकाशकर्त्री जिह्वा है। उसी के माध्यम से वह अपनी अखिल मानवप्रजा से बोलता है। वेदवाणी का अनुशीलन करना ब्रह्माग्नि से बातें करना है।

भुवः अग्ने,
यज्ञ का, अपि च रजोलोक का सुनयनकर्ता,
तू जहां शिव नियुतियों द्वारा
होरहा है संगत,
वहां तू धारण कर रहा है
द्यौ में मूर्धा,
और सम्पादन किया करता
है सुखों की देनेवाली
वेदवाणी को।

६४६ ध्रुवासि धरुणास्तृता विश्वकर्मणा।
मा त्वा समुद्र उद् वधीन्मा सुपर्णो अव्यथमाना पृथिवीं दृंह ॥ य १३.१६
ध्रुवा असि धरुणा आ-स्तृता विश्व-कर्मणा। मा त्वा समुद्रः उत् वधीत् मा सु-पर्णः अ-व्यथमाना पृथिवीम् दृंह।

और अब महामानव ब्रह्म की जिह्वा वेदवाणी को सम्बोधन करता हुआ कहता है—

१) तू (असि) है (ध्रुवा) निश्चला, (धरुणा) धर्त्री, (विश्व-कर्मणा) विश्वकर्मा द्वारा (आ-स्तृता) सुविस्तृता।

वेद की शिक्षायें निश्चला हैं। भूत काल में वे जितनी सार्थक थीं उतनी ही आज हैं और उतनी ही भविष्य में भी रहेंगी। वेद की शिक्षायें सत्य, सनातन और शाश्वत होने से ध्रुवा हैं।

वेदवाणी 'धरुणा' है, सकल सत्य विद्याओं तथा ज्ञान-विज्ञानों की धर्त्री है।

ऐसा क्यों न हो? वह विश्व के बनानेवाले, सृष्टि के रचयिता विश्वकर्मा की सुविस्तृता सर्वविषयव्यापिनी रचना है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

२) (त्वा) तुझे (मा समुद्रः उत् वधीत्) न महासागर उद्वधे, (मा सु-पर्णः) न मेघ।

उत्-हनन एक वैदिक ईडियम है, जिसका आशय है बढ़कर तरंगित करना। महासागर की उत्ताल तरंगें और मेघजल की क्षाररहित धवल धारायें जितना तरंगित करती हैं उससे कहीं अधिक बढ़कर तरंगित करती हैं वेदमहासागर की उदात्तोदात्त प्रेरणामयी तरंगें और वेदधन की निर्मल शिक्षोपेत धारायें।

३) वेदमातः! (अ-व्यथमाना) व्यथारहिता, आनन्दमयी, तू (पृथिवीम् दृंह) पृथिवी को दृढ़ कर, पृ वासियों को धर्मधन से समृद्ध और संसिद्ध क

प्रत्यक्षतः वेद की शिक्षायें सारी पृथिवी मानवधर्म की दृढ़ता स्थापित करनेवाली हैं मानवप्रजा को सर्वतः समृद्ध करनेवाली।

तू है ध्रुव, धरुणा
और आस्तृता विश्वरचयिता द्वारा।
तुझे न उद्वधे समुद्र, न बादल,
आनन्दमयी तू
कर समृद्ध और दृढ़ भूमि को।

६४७ प्रजापतिष्ट्वा सादयत्वपां पृष्ठे समुद्रस्येमन्। व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं प्रथस्व पृथिव्यामि

य १३।

प्रजा-पतिः त्वा सादयतु अपाम् पृष्ठे समुद्रस्य एमन्। व्यचस्वतीम् प्रथस्वतीम् प्रथस्व पृथिवी

ब्रह्म की जिह्वा, वेदवाणी को सम्बोधन करता हुआ महामानव कहे चला जारहा है—

१) वेदवाणि! (प्रजा-पतिः) प्रजापति (त्वा व्यचस्वतीम् प्रथस्वतीम्) तुझ व्यचस्वती और प्रथस्वती को (समुद्रस्य एमन्) समुद्र के गमन में (अपाम् पृष्ठे) जलों की पृष्ठ पर (सादयतु) स्थापन करे।

ब्रह्माग्नि के लिये यहां प्रजापति शब्द का प्रयोग हुआ है। आत्मप्रजाओं का स्वामी होने से ब्रह्म प्रजापति है। यद्यपि ब्रह्म सभी आत्मप्रजाओं का स्वामी है, किन्तु जिह्वारूप उसकी वेदवाणी मानवप्रजाओं के ही बोधार्थ है।

वेदवाणी को यहां व्यचस्वती तथा प्रथस्वती कहा गया है। 'व्यचस्वती' का अर्थ है गतिशीला, व्यापनशीला, प्रकाशनशीला। 'प्रथस्वती' का अर्थ है विस्तारशीला, विस्तारमयी। वेदवाणी प्रत्येक गति और क्रिया का द्योतन करती है। उसकी शिक्षायें हैं व्यापनशीला, सार्वभौम, अपि च प्रत्येक ज्ञान और विज्ञान का प्रकाशन करनेवाली। वेदवाणी है विस्तारशीला, विस्तारमयी। उसकी शिक्षायें यद्यपि बीजरूपा हैं, मेधावी जन उसकी व्याख्या बड़े विस्तार से करते हैं।

समुद्रगमन में जिस प्रकार जल की पृ चलती हुयी नौका यात्रियों को पार उतार उसी प्रकार नौकारूप वेदवाणी संसाररूपी के कर्मरूपी जलों की पृष्ठ पर स्थापित वेदानुसार कर्मसाधना करते हुये ही भवसागर पार उतरते हैं।

२) वेदमातः! तू (पृथिवी असि) विस्तारक [सम्पूर्ण पृथिवी पर] (प्रथस्व) फैल जा, व्याप

विश्व के सुनिर्माण तथा पुनरुद्धार में पृथिवी पर वैदिक शिक्षाओं के प्रचार की प्रसार से प्रत्यक्षतः सहायता मिलती है। जन वेदवाणी को सम्पूर्ण पृथिवी पर की संसाधना करें।

प्रजापति तुझ व्यचस्वती,
प्रथस्वती को
स्थापन करे समुद्र के गमन में,
जलों की पृष्ठ पर।
तू है विस्तारमयी,
व्याप सम्पूर्ण पृथिवी पर।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

६४८ भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री ।
पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृंह पृथिवीं मा हिंसीः ॥ य १३.१८
भूः असि भूमिः असि अदितिः असि विश्व-धायाः विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री ।
पृथिवीम् यच्छ पृथिवीम् दृंह पृथिवीम् मा हिंसीः ।

यहां प्रथमार्ध में महामानव पृथिवी को सम्बोधन करता है और दूसरे में वेदवाणी को ।

१) पृथिवि ! तू (भूः असि) भूः है ।

भवतीति भूः । जो है उसे भूः कहते हैं । पृथिवी है । उसकी प्रत्यक्ष सत्ता है । वह सब पार्थिवों का आधार है । अतः वह भूः है ।

२) तू (भूमिः असि) भूमि है ।

भवन्ति भूतानि यस्याः सा भूमिः । जिससे प्राणियों का जन्म होता है उसे भूमि कहते हैं । पृथिवी से सब भौतिक वस्तुओं और देहों का जन्म होता है । अतः वह भूमि है ।

३) तू (अदितिः असि) अखण्डिता है ।

पृथिवी एक और अखण्ड है । सारी पृथिवी का सुख और दुःख समान है । उदारचरित महामानवों के लिये सारी पृथिवी है एक अविभक्त गृह और उस पर निवास करनेवाली सारी मानवप्रजा है एक अभिन्न परिवार ।

४) तू है (विश्व-धायाः) सर्व-धारिका, सब प्राणियों को धारण—पोषण करनेवाली ।

५) तू है (विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री) समस्त भुवन की धारिका ।

वन, पर्वत, नदी, नाले, आदि सकल सम्पदाओं को धारण करनेवाली होने से पृथिवी विश्व-भुवन की धारिका है ।

१) वेदमातः ! तू (पृथिवीम् यच्छ) पृथिवी को दे, पृथिवीवासियों को प्रदान कर ।

क्या ? ज्ञान-विज्ञान तथा विचार-आचाररूपी अपनी सुदेनें ।

२) अपनी सुदेनों से मानवप्रजाओं का सुनियमन करके (पृथिवीम् दृंह) पृथिवी को दृढ़ कर, पृथिवी के सुखैश्वर्य को सुस्थिर कर ।

३) (पृथिवीम् मा हिंसीः) पृथिवी को मत हिंस, पृथिवीवासियों को विनाश से बचा ।

वैदिक शिक्षाओं से वंचित होकर पृथिवी की हानि और पृथिवीवासियों का ह्रास होता है । मानवप्रजाओं की विनाश से रक्षार्थ महापुरुषों को सर्वत्र वैदिक शिक्षाओं का प्रचार, प्रसार करते रहना चाहिये ।

तू है भू, तू है भूमि,
तू है अदिति, सर्वधारिका,
विश्व-भुवन की धर्त्री ।
पृथिवी को दे, पृथिवी को कर दृढ़,
पृथिवी को मत हिंस ।

६४९ विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय ।
अग्निष्ट्वाभि पातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥
य १३.१९
विश्वस्मै प्राणाय अप-आनाय वि-आनाय उत्-आनाय प्रति-स्थायै चरित्राय । अग्निः त्वा अभि पातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शम्-तमेन तया देवतया अङ्गिरस्वत् ध्रुवा सीद ।

वेदवाणि ! (विश्वस्मै) विश्वार्थ, सर्वहिताय (प्राणाय) संजीवन-संचार के लिये, (अप-आनाय) दोष-निवारण के लिये, (वि-आनाय) विविध-व्यवहार के लिये, (उत्-आनाय) उत्कृष्ट संबल के

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

लिये, उत्कर्ष के लिये, (प्रति-स्थायै) प्रतिष्ठा के लिये, (चरित्राय) सदाचार के लिये, धर्माचरण के लिये (अग्निः) ज्ञानी, वेदज्ञ (त्वा) तुझे/तेरी (अभि पातु) सर्वतः रक्षा करे (मह्या स्वस्त्या) महती स्वस्ति के साथ, (शम्-तमेन छर्दिषा) शान्ततम दीप्ति के साथ, कल्याणप्रदतम समृद्धि के साथ, सुखप्रदतम ऊर्ज् के साथ। महामानव का यह आदेशवाक्य है।

प्रत्येक वेदज्ञ का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह विश्व के सुख-सौभाग्य के लिये साचार प्रचार द्वारा वेदवाणी की सर्वतः रक्षा करे। वैदिक शिक्षाओं के प्रचार, प्रसार से संजीवन का संचार होता है, सब प्रकार के दोषों का निवारण होता है, सब प्रकार के व्यवहार का प्रशस्तीकरण होता है, उत्कृष्ट संबल का सम्पादन और उत्कर्ष होता है, प्रतिष्ठा तथा सदाचार की स्थापना होती है। परिणामस्वरूप मानवसमाज व्यापक स्वस्ति तथा शान्ततम दीप्ति और कल्याणप्रदतम समृद्धि से सम्पन्न होता है।

और अब मानवप्रजा के प्रति महामानव कहता है—प्रजे! तू (तया देवतया) उस देवता के साथ (ध्रुवा) निश्चला होकर (अङ्गिरस्वत्) आत्मवत् स्थित रह।

अंगिरस् शब्द का प्रयोग यहां आत्मा के लिये हुआ है। शरीर में अविचलता के साथ स्थित जिस प्रकार आत्मा की रम्यता अंग अंग में होती है उसी प्रकार मानवप्रजा जब वेदवाणी देवता के प्रति अविचल निष्ठा के साथ संगत होती है तब अखिल प्रजा में संजीवन संचार, दोषों का निवारण, व्यवहार सर्वांगीण उत्कर्ष तथा चरित्र की प्रतिष्ठा और स्वस्ति, शान्ति तथा लोकमंगल का प्रशस्त होता है।

सर्वार्थ संजीवनसंचार के लिये,
दोषनिवारण के लिये,
विविध-व्यवहार के लिये,
उत्कर्ष के लिये, चरित्र की प्रतिष्ठा के लिये
अग्नि रक्षा करे तेरी सर्वतः
महती स्वस्ति के साथ,
शंतम दीप्ति, समृद्धि के साथ।
ध्रुवा तू रह स्थित आत्मवत्
उस देवता के प्रति।

६५० काण्डात्काण्डात् प्ररोहन्ती परुषःपरुषस्परि। एवा नो दूर्वे प्र तनु सहस्रेण शतेन च

य १३

काण्डात्-काण्डात् प्र-रोहन्ती परुषः-परुषः परि। एव नः दूर्वे प्र तनु सहस्रेण शतेन च।

और अब प्रबुद्ध प्रजा जन ब्रह्माग्नि की जिह्वा वेदवाणी को सम्बोधन करते हुये कहते हैं—(दूर्वे)! (काण्डात्-काण्डात्) काण्ड-काण्ड से, (परुषः-परुषः) पोरु-पोरु से, अवयव-अवयव से (परि प्र-रोहन्ती) सब ओर प्ररोहण करती, फैलती हुयी (एव) ही (नः) हमें, हम प्रजा जन को, सब मानवों को (सहस्रेण च शतेन) सहस्र से और शत से, असंख्य प्रकार से, असंख्य ऐश्वर्यों से (प्र तनु) सुविस्तार, सुविस्तृत कर, समृद्ध कर।

लोक में दूर्वा एक प्रकार की घास जिसे दूब भी कहते हैं। यह गांठ-गांठ उगती हुयी बहुत फैलती है और आयुर्वेद इसके सेवन से अनेक रोगों का हिंसन अथवा होता है।

यहां वेदवाणी को 'दूर्वे' शब्द से किया गया है। दूर्वी (हिंसायाम्) धातु शब्द बना है। वैदिक शिक्षाओं के साचार से सकल दुरितों और अनिष्टों का हंनन हो

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अतः 'दूर्वे' शब्द से वेदवाणी का सम्बोधन सर्वथा सार्थक है।

ऋग्वेद मण्डलों से प्ररोहित है, यजुर्वेद अध्यायों से, सामवेद काण्डों और आर्चिकों से, अथर्ववेद काण्डों से। चारों वेदों का यह विभाग काण्डमय है। पुनः ये काण्ड सूक्तों, दशतियों, प्रपाठकों में विभक्त हैं जो वेद के पोरु हैं।

काण्ड-काण्ड और पोरु-पोरु से विस्तारती हुयी वेदवाणी के अनुशीलन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा अभ्यास से विश्व के मानवों के सुखैश्वर्यों का असंख्य प्रकार से विस्तार होता है।

दूर्वे! करती हुयी ही प्ररोहण
काण्ड-काण्ड से, पोरु-पोरु से,
तू परितः सब ओर,
हमें सहस्र से, अपि च शत से
तू सम्यक् विस्तार।

६५१ या शतेन प्रतनोषि सहस्रेण विरोहसि। तस्यास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वयम्॥
य १३.२१

या शतेन प्र-तनोषि सहस्रेण वि-रोहसि। तस्याः ते देवि इष्टके विधेम हविषा वयम्।

प्रबुद्ध जन वेदवाणी को सम्बोधन करते हुये कहे चले जारहे हैं—(देवि इष्टके)! (या) जो तू (शतेन प्र-तनोषि) शत से विस्तारती है, (सहस्रेण वि-रोहसि) सहस्र से विरोहण करती है, (वयम्) हम सब मानव (हविषा) आत्महवि से, आत्मश्रद्धा द्वारा (तस्याः ते विधेम) उस तेरा विधान करें, उस तेरे विधान का पालन करें।

लोक में इष्टका नाम ईंट का है। यहां इष्टों की पूर्ति करनेवाली होने से वेदवाणी को इष्टका कहा गया है। दिव्य ज्ञान-विज्ञानों तथा शिक्षाओं से ओत-प्रोत होने से वेदवाणी 'देवी' है।

'शत' और 'सहस्र' शब्दों का प्रयोग असंख्य के अर्थ में हुआ है। वेदवाणी अपने सैकड़ों, हजारों मन्त्रों से अपनी शिक्षाओं को विस्तारनेवाली और उनके आश्रय से मानवप्रजाओं का विरोहण अथवा उत्थान करनेवाली है। मानवप्रजाओं को चाहिये कि वे आत्मश्रद्धा के साथ उसके विधान का पालन और उसके द्वारा विहित धर्मों का निर्वहन करें।

देवि इष्टके, जो तू शत से
विस्तारती है, सहस्र से विरोहण करती,
उस तेरे विधान का पालन
करें आत्मश्रद्धा से हम सब।

६५२ यास्ते अग्ने सूर्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः।
ताभिर्नो अद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृधि॥
[य १८.४६]
य १३.२२

याः ते अग्ने सूर्ये रुचः दिवम् आ-तन्वन्ति रश्मि-भिः। ताभिः नः अद्य सर्वाभिः रुचे जनाय नः कृधि।

वेदवाणी को सम्बोधन करने के उपरान्त प्रबुद्ध जन वेदप्रकाश के प्रकाशक ब्रह्माग्नि को सम्बोधन करते हैं—(अग्ने) ब्रह्माग्ने! (ते याः रुचः) तेरी जो कान्तियां (सूर्ये) सूर्य में (रश्मिभिः) किरणों द्वारा (दिवम्) द्यौ को, द्युलोक तक (आ-तन्वन्ति) व्याप रही हैं, (जनाय रुचे) जन जन की कान्ति के लिये (ताभिः सर्वाभिः) उन सब [कान्तियों] से (नः) हमें, (नः) हम सब मानवों को (अद्य) आज, अब,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सद्यः (कृधि) [प्रकान्त] करदे ।

'सूर्य' और 'द्यौ' शब्दों का प्रयोग यहां प्रकाश-लोकसमूह के लिये हुआ है । प्रकाशलोकसमूह की किरणों में जो प्रकाश और कान्तियां हैं वे सब ब्रह्माग्नि के प्रकाश की प्रतिछाया-मात्र हैं । जन जन की रुचि और कान्ति के लिये परमात्मा अपनी पावमानी कान्तियों से सर्व जनों को प्रकान्त करे ।

ब्रह्माग्ने ! तेरी जो रुचियां सूर्य में
किरणों द्वारा द्युलोक तक फैल रही हैं,
जनप्रकाशन के लिये आज तू
उन सब रुचियों से हम सबको,
हम सब मनुजों को कान्त प्रकान्त करदे ।

६५३ या वो देवाः सूर्ये रुचो गोष्वश्वेषु या रुचः ।
इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभी रुचं नो धत्त बृहस्पते ॥
[य १८. ४७] य १३.२३

याः वः देवाः सूर्ये रुचः गोषु अश्वेषु याः रुचः । इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभिः रुचम् नः धत्त बृहस्पते ।

प्रबुद्ध जन कहे चले जारहे हैं—(इन्द्राग्नी बृहस्पते देवाः) इन्द्रत्व, अग्रनयन और बृहत्पालकत्व दिव्यताओ ! (वः) तुम्हारी (याः रुचः सूर्ये) जो रुचियां सूर्य [प्रकाशलोकसमूह] में हैं, (याः रुचः अश्वेषु गोषु) जो कान्तियां आशुगामी किरणों में हैं (ताभिः सर्वाभिः) उन सब [कान्तियों] से (नः) हमारे लिये (रुचम् धत्त) कान्ति स्थापन करो ।

इन्द्र, अग्नि और बृहस्पति, इन तीन शब्दों से यहां तात्पर्य परमात्मा के तीन व्यापक गुणों से है । देवाः शब्द का प्रयोग दिव्यताओं के अर्थ में हुआ है ।

लोक-लोकान्तररूपी इन्द्रियों का स्वामी होने से परमात्मा इन्द्र है । अग्निर्वै अग्रणीर्भवति । सम्पूर्ण सृष्टि का अग्रनयनकर्ता अथवा संचालक होने से वह अग्नि है । बृहत् लोक तथा प्रजाओं का पालक होने से वह बृहस्पति है । इन्द्रत्व, अग्रनयन, बृहत्पालकत्व—परमात्मा की ये तीन दिव्यतायें प्रकाशलोकसमूह तथा प्रकाशलोकसमूह की तीव्र किरणों में द्योतित हैं । जन जन की रुचि वा कान्ति के लिये परमात्मा की ये दिव्यतायें सर्व मानवों को प्राप्त करें । स्तुतिप्रार्थनोपासना द्वारा सर्व परमात्मा की कान्ति को अपने भीतर धारण स्थापन करें ।

इन्द्र, अग्नि, बृहस्पति देवो,
जो रुचियां तुम्हारी सूर्य में,
जो रुचियां आशुगामी किरणों में,
उन सब रुचियों से हम सबके
लिये कान्ति स्थापन करवो ।

६५४ विराड् ज्योतिरधारयत् स्वराड् ज्योतिरधारयत् । प्रजापतिष्ट्वा सादयतु पृष्ठे पृथिव्या ज्योतिष्मतीम् । विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ । अग्निस्ते ऽधिपतिस्तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद । य १३.२४

वि-राट् ज्योतिः अधारयत् स्व-राट् ज्योतिः अधारयत् । प्रजा-पतिः त्वा सादयतु पृष्ठे पृथिव्याः ज्योतिष्मतीम् । विश्वस्मै प्राणाय अप-आनाय वि-आनाय विश्वम् ज्योतिः यच्छ । अग्निः ते अधि-पतिः तया देवतया अङ्गिरस्वत् ध्रुवा सीद ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रबुद्ध प्रजाजनों द्वारा ब्रह्माग्नि की जिह्वा [वेदवाणी], वेदप्रकाश के प्रकाशक ब्रह्माग्नि तथा ब्रह्माग्नि के तीन व्यापक गुणों को सम्बोधित किये जाने के उपरान्त महामानव महाकामना करता है—(वि-राट् ज्योतिः अधारयत्) विराट् ने ज्योति धारण की हुयी है, (स्व-राट् ज्योतिः अधारयत्) स्वराट् ने ज्योति धारण की हुयी है, (प्रजा-पतिः त्वा ज्योतिष्मतीम्) प्रजापति तुझ ज्योतिर्मयी [वेदवाणी] को (पृथिव्याः पृष्ठे) पृथिवी की पृष्ठ पर, सारी पृथिवी पर (सादयतु) स्थापन करे।

सारी सृष्टि 'विराट्' है, जो ब्रह्माग्नि की ज्योति से ज्योतिष्मान् है। विराट् में जो ज्योति धारित है वह ब्रह्म की ज्योति की ही ज्योत्स्ना है। ब्रह्म स्वराट् है। वह अपनी स्वकीय ज्योति से ज्योतिष्मान् है। उसी स्वराट् ब्रह्म की ज्ञान-विज्ञानरूपी ज्योति उसकी ज्योतिर्मयी वेदवाणी में निहित है। विश्वकल्याण की भावना से भावित होकर महामानव ने यहां यह महाकामना की है कि मानवप्रजाओं का प्रतिपालक परमात्मा ऐसी कृपा करे कि उसकी ज्योतिष्मती वेदवाणी की सुप्रकाशिनी शिक्षायें सारी पृथिवी पर व्याप जायें और सदा व्यापी रहें, ताकि मानवप्रजायें दुरितों से मुक्त और भद्रताओं से युक्त रहें।

और अब महामानव स्वयं ज्योतिर्मयी वेदवाणी को सम्बोधन करता हुआ कहता है—ज्योतिर्मयि वेदवाणि! (विश्वस्मै) विश्वार्थ, विश्वहिताय (प्राणाय) संजीवनसंचार के लिये, प्रकृष्टता के विस्तार के लिये, (अप-आनाय) दुरित-निवारण के लिये, (वि-आनाय) विप्रकृष्ट व्यवहार की व्याप्ति के लिये (विश्वम्) विश्व को (ज्योतिः यच्छ) ज्योति दे। (अग्निः ते अधि-पतिः) ब्रह्माग्नि तेरा अधिपति है। ब्रह्माग्नि तेरा अधिरक्षक है। ब्रह्माग्नि से तेरा प्रादुर्भवन हुआ है। तू ब्रह्माग्नि की ब्राह्म सम्पदा है।

वेदवाणी ब्रह्माग्नि की वह ज्योतिर्मयी सम्पदा है जिसके आश्रय से विश्व में प्रकृष्टता का विस्तार होता है, दुरितों [बुराइयों] का निवारण होता है, उत्तम व्यवहार की व्याप्ति होती है। अतः मानव-प्रजा को सम्बोधन करता हुआ महामानव कहता है—प्रजे! तू (तया देवतया) उस [वेदवाणीरूपी] देवता के साथ (ध्रुवा) निश्चल होकर (अङ्गिरस्वत् सीद) आत्मवत् स्थिर रह, आत्मना संस्थित रह।

मानवप्रजा अविचल निष्ठा के साथ वेदवाणी देवता के साथ संगत रहती है तो सर्वत्र स्वस्ति और सुमंगल का साम्राज्य स्थापित रहता है।

विराट् ने ज्योति धारण की है,
स्वराट् ने ज्योति धारण की है,
प्रजापति तुझ ज्योतिष्मती को
करे स्थापन पृथिवी की पृष्ठ पर।
विश्वहिताय प्राण के लिये,
अपान के लिये, व्यान के लिये
विश्व को ज्योति कर प्रदान तू।
ब्रह्माग्नि अधिपति है तेरा।
संगत रह उस देवता के प्रति
सतत आत्मवत् निश्चला तू।

६५५ मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू अग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे। वासन्तिकावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥ य १३.२५

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मधुः च माधवः च वासन्तिकौ ऋतू अग्नेः अन्तः-श्लेषः असि कल्पेताम् द्यावापृथिवी कल्पन्ताम् आपः ओषधयः कल्पन्ताम् अग्नयः पृथक् मम ज्यैष्ठ्याय स-व्रताः। ये अग्नयः स-मनसः अन्तरा द्यावापृथिवी इमे। वासन्तिकौ ऋतू अभि-कल्पमानाः इन्द्रम्-इव देवाः अभि-सम्-विशन्तु तया देवतया अङ्गिरस्वत् ध्रुवे सीदतम्।

महामानव कहे चला जारहा है—

१) (मधुः च माधवः च वासन्तिकौ ऋतू) मधु [चैत्र] और माधव [वैशाख] वासन्तिकी ऋतुयें हैं।

वर्ष की छह ऋतुओं में से वसन्त प्रथम ऋतु है, मधु और माधव अथवा चैत्र और वैशाख जिसके दो ऋतुमास हैं। वसन्त में जो बहार है उसे वासन्तिकी कहते हैं। मधुर सुगन्धयुक्त होने से चैत्र का नाम मधु है। मधुर बौर लगने अथवा मादकता [आनन्द] के साथ सरसाने से वैशाख की संज्ञा माधव है। मधुरता और मादकता [सरसता] के संयोग का नाम वासन्तिकी है।

२) वसन्त! तू (अग्नेः अन्तः-श्लेषः असि) अग्नि का अन्तःश्लेष है।

श्लिष (आलिङ्गने)। वसन्त ऋतु प्राकृत जगत् के अन्तः [भीतर] अग्नि का आलिंगन अथवा संयोजन करता है, जिसकी ऊष्मा से नयी नयी कोंपलें फूटने लगती हैं, प्रकृति में निखार आता है, बौर और पुष्प महकते हैं, फल लगते हैं।

ब्रह्माग्नि की जिह्वारूप वेदवाणी वह वासन्तिकी है जिसकी साचार शिक्षायें उस अन्तरूष्मा को गरमाती हैं जिससे संसार वैदिक वासन्तिकी की मधुरता और मादकता से आनन्द-मग्न रहता है, महकता रहता है।

वसन्त की वासन्तिकी कहती है, (मम ज्यैष्ठ्याय) मेरे ज्येष्ठत्व [बढ़ाव, विकास] के लिये (पृथक्) अलग अलग (कल्पेताम् द्यावापृथिवी) कल्पें द्यौ और पृथिवी, (कल्पन्ताम् आपः, ओषधयः) कल्प करें आपः और ओषधियां, (कल्पन्ताम् स-व्रताः अग्नयः) कल्प करें सव्रत अग्नियां।

ज्येष्ठत्व, बढ़ाव, विकास वसन्त की वासन्तिकी की साध है। वसन्त की वासन्तिकी में द्यौ और भूमि का कायाकल्प होरहा होता है, द्यौ और सबका कायाकल्प कर रहे होते हैं, आपः [जल] और ओषधियां [वनस्पतियां] स्व, पर का कायाकल्प कर रही होती हैं, स-व्रत अग्नियां [व्रती आत्माग्नि] अपना कायाकल्प कर रहे होते हैं, मधु और माधव, ये दो मास ही कायाकल्प के लिये विहित हैं।

वेदवसन्त की वासन्तिकी की मुख्य साध मानव की जीवनवाटिका में ज्येष्ठत्व [महानता] की स्थापना है। वैदिक वासन्तिकी मानव के द्यौ [मस्तिष्क] और पृथिवी [जीवन] का सुनिर्माण करती है, आपः [सुकर्मों के प्रवाहों] और ओषधियों [सुवृत्तियों] का सुप्रवाह प्रवाहित करती है, व्रती साधकाग्नियों का प्रज्वलन करती है, जन के जीवनों को सुव्रतों से युक्त करके उनके आत्माग्नियों को प्रबुद्ध करती है।

महामानव महाकामना करता है, (इमे द्यावापृथिवी) ये द्यौ और पृथिवी हैं। इनके (अन्तरा) बीच में (ये स-मनसः अग्नयः देवाः) जो समन और अग्नि के समान तेजस्वी देव हैं वे (वासन्तिकौ ऋतू) वासन्तिकी ऋतुओं को (अभि-कल्पमानाः) सब ओर कल्प करते हुये (इन्द्रम्-इव) सूर्य को जैसे, सूर्य को आदर्श मानते हुये (अभि-सम्-विशन्तु) सब ओर प्रवेश करें।

महामानव की साध सुमहान् है। सारी पृथिवी पर वेदविचार और वेदाचार की व्याप्ति करके वह सम्पूर्ण मानवजाति को विशुद्ध मानवता से समलंकृत करना और रखना चाहता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

द्यौ और पृथिवी के बीच के विशाल अवकाश का अवलोकन करता है तो महामानव के मानस में उत्ताल तरंगें तरंगित होती हैं और वह कामना करने लगता है कि उमंग और उत्साह से पूरित मनवाले मनस्वी और तेजस्वी देव-देवियां सूर्य की प्रकाशव्यापिनी रश्मियों की तरह दिशा-विदिशाओं में प्रवेश करें और ऋतुकल्प करके सारी पृथिवी पर सदैव वैदिक वासन्तिकी की छटा छिटकाये रहें।

मानवप्रजा और अग्निरूप समन देवप्रजा, दोनों प्रजाओं को उत्प्रेरित करता हुआ, महामानव कहता है—'उभय प्रजाओ ! (ध्रुवे) दोनों ध्रुवा [अविचल] रहते हुये (तया देवतया) उस [वेद-वाणीरूपा] देवता के साथ (अङ्गिरस्वत् सीदतम्) आत्मवत् स्थिर रहो, आत्मना संस्थित रहो।

उभय प्रजाओं के वेदनिरत रहने से ही वैदिक वसन्त की बहार छायी रह सकेगी।

मधु और माधव हैं ऋतु वासन्तिकी,
तू है अन्तःसंयोजक अग्नि का।
मेरे ज्येष्ठत्व के लिये कल्पें द्यौ, भू,
कल्प करें आपः, ओषधियां,
कल्प करें सव्रत अग्नियां।
ये हैं द्यौ, पृथिवी,
इनके मध्य में हैं जो समन तेजस्वी देव,
वे वासन्तिकी ऋतुओं को
अभितः कल्पित करते हुये,
करें सूर्यवत् सर्वतः संप्रवेश।
उभय ध्रुवाओ !
संगत रहो आत्मवत्
उस देवता के साथ।

६५६ अषाढासि सहमाना सहस्वारातीः सहस्व पृतनायतः। सहस्रवीर्यासि सा मा जिन्व॥

य १३.२६

अ-षाढा असि सहमाना सहस्व अ-रातीः सहस्व पृतना-यतः। सहस्र-वीर्या असि सा मा जिन्व।

महामानव अपनी उक्ति को जारी रखते हुये कहे चला जारहा है—

१) वैदिक वासन्तिकि ! वेदवाणि ! तू (असि) है (अ-षाढा) असह्या, अपराजिता।

यह हो नहीं सकता कि वसन्त [बहार] आये और खिजाँ [पतझड़, शिशिर] विदा न होजाये। यह हो नहीं सकता कि वेदवसन्त की वासन्तिकी पृथिवी पर व्यापे और संसार से पाप, ताप, सन्ताप विदा न हों। वेदवासन्तिकी अपराजिता है। उसकी कदापि पराजय नहीं हो सकती। वह अवैदिक खिजाँ को परास्त करके वैदिक बहार लाती है, अवैदिकता का संहार करके वैदिकता की स्थापना करती है।

२) (सहमाना) विजय सम्पादन करती हुयी तू (अ-रातीः सहस्व) अरातियों को विजय कर, (पृतना-यतः सहस्व) पृतनायतों को विजय कर।

'अ-राति' नाम अदानी, कृपण और शत्रु का है। जो अदानी है, कृपण है वह परिवार, समाज, राष्ट्र और संसार का शत्रु है। जो अपने धन, ज्ञान, विद्या, आदि का लोकहिताय दान करता है वही मानवसमाज का मित्र है।

'पृतना' नाम सेना और सैन्यसंग्राम का है। सैन्यसंग्रामों की इच्छा करनेवालों के लिये 'पृतना-यतः' शब्द का प्रयोग होता है। सैन्यसंग्राम आसुरी वृत्ति के लोगों द्वारा भड़काये जाते हैं। किन्तु असुरों के सैन्य आक्रमणों से आत्मरक्षार्थ देवों को भी सैन्यसज्जा करके हथियार संभालने पड़ते हैं।

वेदों के साचार प्रचार और अनुशीलन से जब सारी पृथिवी पर वेदवासन्तिकी छा जाती है तब

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आसुरी वृत्तियों का निराकरण होता है, कृपणता का स्थान उदारता लेती है और सैन्ययुद्ध का स्थान पारस्परिकता लेती है। परिणामस्वरूप युद्ध समाप्त होजाते हैं और पृथिवी पर सहयोग और सहकारिता का राज्य स्थापित होता है।

यहां 'अरातीः' शब्द का प्रयोग स्वार्थों और स्वार्थियों के लिये हुआ है। इसी प्रकार यहां 'पृतना-यतः' शब्द का प्रयोग हुआ है पापों और पापियों के लिये। पाप असंख्य हैं और असंख्य ही हैं उनकी वासनारूपी सेनायें। पाप और पापी अपनी वासनारूपी सेनाओं से धर्मभावनाओं पर आक्रमण करने की इच्छा किया करते हैं। स्वार्थ ही सब पापों के जनक हैं। वैदिक शिक्षायें मानवजाति को स्वार्थरहित बनाकर उन्हें पापों और पापजन्य वासनाओं से मुक्त करती हैं। यही वैदिक वासन्तिकी की अरातियों और पृतनाओं तथा पृतनायतों का विजयकरण है।

३) तू (असि) है (सहस्र-वीर्या) असंख्य पराक्रम वाली, असंख्य पराक्रमों की सम्पादिका।

वेदवाणी उदात्त पराक्रमों की उत्प्रेरिका। वेदानुशीलन से मानव पराक्रमशाली बनते। वेद की शिक्षायें उमंग और उत्साह को बढ़ा मानव के ओज को जगाती हैं।

४) (सा) वह तू (मा जिन्व) मुझे प्रेर, उत्प्रेरित कर, मुझे तृप्त कर।

वेदानुशीलन से सतत सन्तृप्त और उत्प्रेरित रहकर ही महामानव सारी पृथिवी को अविभाज्य घर और सारी मानवप्रजा को अभिन्न परिवार बनाये रख सकेगा।

तू है अषाढा, सहमाना तू
कर विजय अरातियों को,
कर विजय पृतनायतों को।
तू है सहस्र-वीर्या,
वह तू मुझे उत्प्रेर।

६५७ मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥
[ऋ १.९०.६] य १३.२७

मधु वाताः ऋत-यते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीः नः सन्तु ओषधीः।

महामानव मानवों को चेता रहा है—

१) (ऋत-यते) ऋत-कामी/ऋताचारी के लिये (वाताः मधु क्षरन्ति) वात मधु क्षरण करते हैं, (सिन्धवः मधु क्षरन्ति) सिन्धु मधु क्षरण करते हैं।

मधु [शहद] मधुरता का प्रतीक है। जलवाहक बादलों को उड़ाकर लानेवाले पवनों का नाम वात है। सिन्धु नाम समुद्र और बड़ी नदी का है।

ऋत नाम सत्य और सदाचार का है। ऋत शब्द का प्रयोग यहां वेदाचार के लिये हुआ है। वेद में जो कुछ है वह सब ऋत है, सत्य है, सही है। वेदाचारी के लिये पवन और सागर [जल] ही नहीं, सारी प्रकृति मधु क्षरण करती है।

वैदिक वासन्तिकी के सुप्रभाव से ऋताचार अथवा वेदाचार की व्याप्ति होती। वेदाचार की व्याप्ति से प्रकृति मधुरता, सरसता, सुख, आनन्द के साथ अभिसरण करती है। प्राकृतिक प्रकोप नहीं होते हैं। वैदिक वासन्ति के ऋताचार में वायुयें मधुरता के साथ चलत और सागर मधुरता के साथ बादल बनाते मेह बरसाते हैं।

२) (ओषधीः) वनस्पतियां (नः) हमारे (माध्वीः सन्तु) मधुरीली हों।

वेदवासन्तिकी में ऋत्वनुसार होम, हवन जाते हैं। उनसे आकाश, जल, वायु का और सुगन्धिकरण होता है। शुद्ध, सुगन्धित

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

से सींची गयी वनस्पतियों के फल, अन्न, कन्द, मूल, जड़ी, बूटी, आदि पदार्थ मधुर और पौष्टिक होते हैं। यज्ञ की अग्नि में होमे गये सुगन्धित पदार्थों की सूक्ष्म भस्म आकाश में व्याप कर खेतों और वनों में पड़ती है। वह भस्म दिव्य खाद का काम देती है। उसके प्रभाव से जड़ी, बूटी, फल, साग, पात, अन्न, रस, सब मधुर, स्वादिष्ट और स्वास्थ्य-प्रद होजाते हैं।

मधु क्षरण करते हैं पवन,
मधु क्षरण करते हैं सिन्धु
ऋतकामी ऋताचारी के लिये।
मधुरीली हों हमारे लिये ओषधियां।

६५८ **मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता॥**
[ऋ १. ९०. ७] य १३.२८

मधु नक्तम् उत उषसः मधु-मत् पार्थिवम् रजः। मधु द्यौः अस्तु नः पिता।

(नः) हमारे लिये (नक्तम् उत उषसः) रात्रि और उषायें (मधु) मधुर हों, (पार्थिवम् रजः) पार्थिव रज [पृथिवी का धूलिकण] (मधु-मत्) माधुर्य-युक्त हो, (द्यौः पिता मधु अस्तु) द्यौ पिता मधुर हो।

उषा से दिन का आरम्भ होता है। अतः 'उषसः' से तात्पर्य दिनों से है।

द्यौ प्रकाश का प्रतीक है। वेद में द्यौ शब्द का प्रयोग द्युलोक अर्थ में ही नहीं, सूर्य और प्रकाश अर्थ में भी हुआ है।

वेद में पृथिवी को माता और द्यौ को पिता कहा गया है। पालक, पोषक और प्रकाशक होने से सूर्य पिता है। प्राणियों का पालन, पोषण करनेवाली होने से पृथिवी माता है।

वेदवसन्त की वासन्तिकी में रात और दिन मधुरता के साथ व्यतीत होते हैं, पृथिवी माता का कण कण प्राणियों का पोषण करता है, द्यौ पिता का प्रकाश मधुरता के साथ प्रकाशन करता है।

हमारे लिये हों
मधुर रात्रि और उषायें,
मधुर हो पार्थिव कण,
मधुर हो द्यौ पिता।

६५९ **मधुमान् नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥**
[ऋ १. ९०. ८] य १३.२९

मधु-मान् नः वनस्पतिः मधु-मान् अस्तु सूर्यः। माध्वीः गावः भवन्तु नः।

१) (नः) हमारे लिये (वनस्पतिः मधु-मान् अस्तु) वनस्पति मधुरतायुक्त हो, (सूर्यः मधु मान् अस्तु) सूर्य माधुर्यमय हो।
२) (नः) हमारे लिये (गावः माध्वीः भवन्तु) किरणें मधुरीली हों।

वेदवसन्त की वासन्तिकी में वनस्पतियां मधुर फल देती हैं, सूर्य की तपन में माधुर्य होता है, सूर्य की किरणें मधुरता के साथ प्रकाश और परिपाक करती हैं।

हमारे लिये हो
वनस्पति मधुमान्,
मधुमान् हो सूर्य।
हमारे लिये हों
किरणें मधुरीली।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

६६० अपां गम्भन्त्सीद मा त्वा सूर्यो ऽभि ताप्सीन्माग्निर्वैश्वानरः ।
अच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्वानु त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम् ॥

य १३.३०

अपाम् गम्भन् सीद मा त्वा सूर्यः अभि ताप्सीत् मा अग्निः वैश्वानरः ।
अ-छिन्न-पत्राः प्र-जाः अनु-वीक्षस्व अनु त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम् ।

गम - गत्यर्थः / मानव प्रथम :

विश्व में वेदवसन्त की वासन्तिकी के स्थायित्व के लिये महामानव प्रत्येक देश की राजसत्ता को उद्बुद्ध करता है क्योंकि एतदर्थ शासन की स्वच्छता सर्वतः आवश्यक है—

१) राजसत्ते ! तू (अपाम् गम्भन् सीद) प्रजाओं के प्रवाह पर स्थित हो ।

गम्लृ (गतौ) । गम्लृ धातु, जिससे 'गम्भन्' शब्द बना है, का अर्थ है गति, गमन, प्रवाह । राजसत्ता का धर्म है कि वह जनता के प्रवाह से प्रवाहित न होकर, प्रजा के प्रवाह पर आरूढ़ रहे, प्रजा के प्रवाह को सही दिशा में प्रवाहित करे । जल स्वभाव से ऊपर से नीचे की ओर बहता है । यन्त्रविशेष तथा नलों के द्वारा उसे नीचे से ऊपर चढ़ाया जाता है । जनता भी स्वभाव से उच्चता से निम्नता की ओर प्रवृत्त होती है, श्रेय से प्रेय की ओर दौड़ती है, व्यसन और विलास की ओर भागती है । जल और प्रजा के प्रवाह की इस एकता के कारण ही 'आपः' शब्द जल, प्रजा तथा कर्मप्रवाह अर्थों में प्रयुक्त होता है । जनता के प्रवाह की लगाम दृढ़ता के साथ राजसत्ता अपने हाथ में थामे रहे और शिक्षा तथा सामाजिक सुव्यवस्था द्वारा जनप्रवाह को उत्थान की ओर प्रेरित करती रहे । जनानुकरण नहीं, जनोत्थान-सहित जनहित ही राजसत्ता का विहित कर्म है ।

२) शासनसत्ते ! (त्वा मा सूर्यः अभि ताप्सीत् मा वैश्वानरः अग्निः) तुझे न सूर्य अभितः तपाये, न वैश्वानर अग्नि ।

क्रोधो वैवस्वतो राजा । सूर्य का ताप क्रोध का प्रतीक है । सूर्य अपने ताप [क्रोध] से मण्डल को तपाता है, सन्तप्त करता है ।

विश्वेष नरेषु राजमानः कामाग्निर्वैश्वानराग्निः । सब मानवों में राजमान होने से कामाग्नि वैश्वानराग्नि है ।

शासनसत्ता में स्थापित शासकसमूह को क्रोधाग्नि तप्त करे, न कामाग्नि । क्रोध सब अनर्थों का मूल है तो काम समस्त दुराचारों का जनक है । ये दोनों अग्नियां वेदवसन्त की वासन्तिकी को ध्वस्त करनेवाली हैं । मानवशरीर में जो स्थिति मस्तिष्क की है, मानवसमाज में वही स्थिति शासकवर्ग की है । शिर के विकृत हो जाने पर जिस प्रकार शरीरेन्द्रियां विकृत होजाती हैं उसी प्रकार शासन के विकारग्रस्त होजाने पर प्रजा विकारग्रस्त होजाती है । शासन और प्रजा में क्रोध और काम, इन दो अग्नियों के व्यापक होने पर वासन्तिकी ध्वस्त होजाती है और मानवसमाज में अव्यवस्था, आचारहीनता, स्वार्थपरता, हिंसा, दौर्मनस्य, दुःख, अशान्ति व्याप जाते हैं ।

३) राजसत्ते ! (प्र-जाः) प्रजाओं को (अ-छिन्न-पत्राः) अच्छिन्न-पत्र, अच्छिन्न पत्तोंवाली, हरी भरी, सुसम्पन्न (अनु-वीक्षस्व) देख ।

पत्तों से विहीन लताओं और वृक्षों पर न फूल खिलते हैं, न फल लगते हैं । इसी प्रकार धन धान्य और ऐश्वर्यों से विहीन प्रजायें न स्वयं सुखी रहती हैं, न राज्य और राष्ट्र की शोभनीयता समृद्धि और यश का संवर्धन करती हैं । अतः राजसत्ता को तत्परता के साथ ऐसा विधान करें

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि समग्र प्रजा सदा पल्लवित, हरी-भरी, सुसम्पन्न रहे। पिता वही है जो अपनी सन्तान को भौतिक और आत्मिक ऐश्वर्यों से युक्त देखे। राजा वा राजसत्ता वही है जो जनता को उभय ऐश्वर्यों से भरा, पूरा देखे।

४) राजसत्ते ! (दिव्या वृष्टिः त्वा अनु सचताम्) दिव्य वृष्टि तुझे अनुयुक्त करती रहे।

दिव्यताओं की जो वृष्टि करे उसे 'दिव्या वृष्टि' कहते हैं। राजसत्ता ऐसी सुव्यवस्था करे कि सारा देश और राष्ट्र दिव्य सुखैश्वर्यों, दिव्य आवासों, दिव्य राजपथों, दिव्य आचारों, दिव्य गुणों, दिव्य कर्मों तथा दिव्य शिक्षाओं से जगमगाता रहे। राजसत्ता में देश और राष्ट्र को सर्वतः संदिव्य रखने की भावना सदा सर्वदा अनुयुक्त रहे।

संस्थित रह प्रजाओं के प्रवाह पर,
तुझे न सूर्य अभितापे न वैश्वानराग्नि।
देख प्रजाओं को अच्छिन्न-पत्र,
दिव्य वृष्टि करती रहे तुझे अनुयुक्त।

६६१ त्रीन्त्समुद्रान्त्समसृपत् स्वर्गानपां पतिर्वृषभ इष्टकानाम्।
पुरीषं वसानः सुकृतस्य लोके तत्र गच्छ यत्र पूर्वे परेताः॥ य १३.३१
त्रीन् समुद्रान् सम् असृपत् स्वः-गान् अपाम् पतिः वृषभः इष्टकानाम्।
पुरीषम् वसानः सु-कृतस्य लोके तत्र गच्छ यत्र पूर्वे परा-इताः।

(अपाम् पतिः) प्रजाओं के रक्षक, (इष्टकानाम् वृषभः) इष्टों [अभीष्टों] के वर्षक [महामानव] ने (त्रीन् स्वर्गान् समुद्रान्) तीन स्वर्गिम [सुखमय] समुद्रों को (सम् असृपत्) सम्यक् सर्पित [प्रेरित, प्रवाहित] कर दिया।

प्रजाओं को दुरितों से बचानेवाला होने से महामानव को यहां 'प्रजाओं का रक्षक' कहा गया है। उनकी ज्ञान-विज्ञानविषयक शुभाभिलाषाओं का पूरक होने से वह 'अभीष्टों का वर्षक' है। उसने देश देश की प्रजाओं में तीन समुद्रों को प्रवाहित कर दिया है। मस्तिष्क, हृदय और वाणी ही मानव तथा मानवसमाज के महासागर हैं। मस्तिष्क ज्ञानों और विचारों का महासागर है। हृदय भावनाओं का महासागर है। वाणी वचनों का महासागर है। महामानव ने वाणी द्वारा उद्बोधक प्रवचनों तथा वेदोपदेशों का ऐसा महासागर उमड़ाया है कि देश देश की प्रजाओं के मस्तिष्कों में संज्ञानों और सुविचारों का महासागर हिलोरें ले रहा है और उनके हृदयों में भव्य भावनाओं के महासागर उमड़ रहे हैं।

'स्वर्ग' नाम सुख और सुखस्थान का है। जो कुछ सु है वह सब स्वर्ग है। जो कुछ कु है वह सब नरक है। कुवचनों, कुविचारों और कुभावनाओं के महासागर नारकीय महासागर हैं। सुवचनों, सुविचारों और सुभावनाओं के महासागर स्वर्गिम महासागर हैं। महामानव ने जिन महासागरों को उमड़ाया है वे स्वर्गिम महासागर हैं।

जन जन को उत्प्रेरता हुआ महामानव कहता है—(पुरीषम् वसानः) प्राण को धारण करता हुआ, जीवित रहता हुआ, यावज्जीवन (सु-कृतस्य लोके) सुकर्म के लोक में (तत्र गच्छ) वहां जा, विचर (यत्र) जहां (पूर्वे) पूर्व [आदर्श पूर्वज] (परा-इताः) पहुंचे हैं, विचरे हैं।

प्रत्येक मानव अपने आदर्श पूर्वजों के समान सुकर्म के लोक में ही विचरण करे तो पृथिवी के सभी नरक [दुःखस्थान] स्वर्ग [सुखस्थान]

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

में परिणत हो जायें।
प्रजाओं के पति,
अभीष्टों के वर्षक ने
किया तरंगित
तीन स्वर्गिम समुद्रों को।
धारण करता हुआ प्राण, तू
विचर लोक में सुकर्मों के,
जहां पूर्व महापूर्वज पहुँचे।

६६२ **मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम्। पिपृतां नो भरीमभिः॥**
[ऋ १.२२.१३, य ८.३२] य १३.३२
मही द्यौः पृथिवी च नः इमम् यज्ञम् मिमिक्षताम्। पिपृताम् नः भरीम-भिः।

सुकर्म के लोक में विचरण और आदर्श पूर्वजों का अनुकरण वह यज्ञ है जिसका निर्वहन यज्ञिय पिता और माता किया करते हैं। इस आशय को प्रकट करने के लिये यहां वेदमाता ने मानवप्रजाओं के मुख से कहलवाया है—(मही द्यौः च पृथिवी) मही द्यौ और पृथिवी, दिव्य द्युतियों से द्योतित पिता और दिव्य विस्तृतियों से विस्तृत सुभरा सु-धारिका माता (नः इमम् यज्ञम्) हमारे इस यज्ञ को (मिमिक्षताम्) सींचें, (भरीम-भिः) भरणों, धारणों, आपूरणों, आसेचनों द्वारा (नः पिपृताम्) हमें प्रपूरित करें।

'मही द्यौ' प्रतीक है दिव्यताओं से युक्त द्युति का और 'मही पृथिवी' प्रतीक है विस्तृति, भर पोषण तथा धारण का। द्यौष्पिता पृथिवी माता। पिता हो मही द्यौ और माता हो म पृथिवी। पिता हो द्यौ के समान दिव्यताओं पुञ्ज और माता हो पृथिवी के समान विस्ता भरण-धारणशीला। ऐसे पिता और माता सन्तति के जीवन में अपूर्णताओं का पूर्तिकर करते हैं तब ही सब मानव सुकर्मलोक में विच और महापूर्वजों का अनुकरण करते हैं।

मही द्यौ और मही पृथिवी
सींचें हमारे इस सुयाग को,
पूरें हमें सकल भरणों से।

६६३ **विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥**
[ऋ १.२२.१९, य ६.४, सा १६७१, अ ७.२६.६] य १३.३३
विष्णोः कर्माणि पश्यत यतः व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा।

अब विश्व के सभी पिताओं और माताओं को सम्बोधन करती हुयी वेदमाता कहती है—

१) (विष्णोः कर्माणि पश्यत) विष्णु के कार्यों को देखो, वह (यतः) जिस प्रकार से (व्रतानि पस्पशे) व्रतों को बांधे हुये है।

'व्रतानि' शब्द का प्रयोग सृष्टि के विश्वव्यापी नियमों के लिये हुआ है। सृष्टि के धारण, संचालन में जितने नियमबद्ध कार्य होरहे हैं, सब विष्णु की व्याप्ति से होरहे हैं। देखिये, विष्णु के समस्त सृष्टिसम्बन्धी कार्यों को विष्णु के विश्वव्यापी नियमों ने किस प्रकार कसकर बांध हुआ है।

'पिताओ और माताओ! जिस प्रकार विष्णु के समस्त कार्य सुनियमों के अधीन हो रहे हैं उसी प्रकार गृहसाधना के तुम्हारे समस्त कार्य सुनियमों से ऐसे सम्बद्ध रहें कि मानवसन्तति सुकर्मलोक में विचरनेवाली और महापूर्वजों का अनुकरण करनेवाली हो।

२) विष्णु प्रत्येक (इन्द्रस्य युज्यः सखा) इन्द्र का युक्त सखा है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इन्द्रियों का स्वामी होने से आत्मा 'इन्द्र' है। विष्णु आत्मा का सदायुक्त सखा है। वह आत्मा-आत्मा से स्नेहबद्ध है। इसी लिये वह आत्माओं के सुखार्थ असंख्य कार्य करता है। 'पिताओ और माताओ! तुम भी अपनी सन्तति से सुयुक्त रहो और उनमें सुकर्मलोक में विचरण तथा महापूर्वजानुकरण के सुसंस्कार संस्थापित करो।

विष्णु के कर्मों को देखो,
जिस प्रकार बांधे हुये है वह नियमों को।
आत्मा का है युक्त सखा वह।

६६४ ध्रुवासि धरुणेतो जज्ञे प्रथममेभ्यो योनिभ्यो अधि जातवेदाः।
स गायत्र्या त्रिष्टुभानुष्टुभा च देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥ य १३.३४

ध्रुवा असि धरुणा इतः जज्ञे प्रथमम् एभ्यः योनि-भ्यः अधि जात-वेदाः।
सः गायत्र्या त्रि-स्तुभा अनु-स्तुभा च देवेभ्यः हव्यम् वहतु प्र-जानन्।

सम्पूर्ण पृथिवी को सुकर्मलोक बनाये रखने की दृष्टि से इस मन्त्र में वेदमाता एक उदात्त भावना का प्रकाशन कररही है—

१) [पृथिवी!] तू (असि ध्रुवा धरुणा) है निश्चला और धारण करनेवाली।

अपनी परिधि पर ध्रुवता के साथ निरन्तर गति करनेवाली होने से पृथिवी ध्रुवा है। असंख्य योनियों [प्राणियों] को धारण करनेवाली होने से वह धरुणा है। सबको धारण करती हुयी, सबके पोषणार्थ असंख्य खाद्यों और पेयों का दान करती हुयी वह सतत, सन्तत गतिरत, सुकर्मरत है।

२) सतत सुकर्मरत रहने से पृथिवी सुकर्मक्षेत्र है। उसकी पृष्ठ पर स्थित रहते हुये, प्रत्येक मानव को सबके प्रति सदा सुकर्म ही करना चाहिये। (इतः) इससे (जात-वेदाः) जातवेदा [पृथिवी पर निवास करनेवाली] (एभ्यः योनिभ्यः) इन [अन्य सब] योनियों से (प्रथमम् अधि जज्ञे) प्रथम और बढ़कर प्रकाशित हुआ है।

जातमात्र को जाननेवाला, जातमात्र के तत्त्व को समझने की क्षमता रखनेवाला, उत्पन्न संसार में निहित ज्ञान-विज्ञान तथा गुहा में निहित अध्यात्म का साक्षात्कर्ता होने से मानवयोनि को जातवेदा कहा गया है। मानव सब योनियों में प्रथम तो है ही, वह सृष्टि का अधिष्ठाता और अधिनायक भी है। वह जहां भौतिक सृष्टि का अधिकारी प्रयोक्ता है वहां वह मनुष्येतर योनियों का नायक भी है।

३) (सः) वह [जातवेदा, मानव] (प्र-जानन्) प्रजानता हुआ, उत्तरोत्तर ज्ञान प्राप्त करता हुआ (गायत्र्या) प्राणरक्षण की भावना से, (त्रि-स्तुभा) त्रि[मन, वचन, कर्म की]-प्रशस्तता के साथ (च) और (अनु-स्तुभा) स्तुत्याचरण के साथ (देवेभ्यः) मानवदेवों के लिये (हव्यम् वहतु) हव्य वहन करे।

यज्ञ में हवनीय, शुद्ध और सुगन्धित घृत तथा सामग्री का नाम हव्य है। मानवजीवनयज्ञ की सामग्री है मस्तिष्क के सुविचार और घृत है हृदय की मंगलमय भावनायें।

मानवयोनि कर्मयोनि है। कर्म ज्ञानाश्रित है। मनुष्य को चाहिये उत्तरोत्तर ज्ञानी बनता हुआ, मन-वचन-कर्म की त्रिप्रशस्तता सम्पादन करता हुआ, स्तुत्य आचरण की प्रतिष्ठा करता हुआ, प्राणरक्षण [मानवजीवन की रक्षा] की भावना से मानवदेवों के लिये हव्य का संवहन करे, सुविचारों और सुभावनाओं का प्रसार करे।

भूमिमाता की गोद में निवास करनेवाला प्रत्येक मानव अपने जातवेदा स्वरूप को पहचान कर, मन-वचन-कर्म तथा आचरण से प्रशस्त

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

बनकर, जब सुविचारों और सुभावनाओं का प्रसार करता है तब ही मानवप्राणी मानवेतर प्राणियों से प्रथम [सर्वश्रेष्ठ] रूप में प्रकाशता है, तब ही भूलोक सुकर्मलोक बनता है और तब ही धरा पर सर्वत्र वेदवसन्त की वासन्तिकी की संव्याप्ति होती है ।

ध्रुवा है तू धारणकर्त्री,
इसी से ज्ञानयोनि यह मानव
इन सब योनियों से प्रथम
बढ़कर प्रकाशित हुआ है ।
वह प्रजानता हुआ,
प्राणरक्षण के भाव से,
त्रिप्रशस्ति अपि स्तुत्याचार से
हव्य संवहन करे मानवदेवों के लिये ।

६६५ इषे राये रमस्व सहसे द्युम्न ऊर्जे अपत्याय ।
सम्राडसि स्वराडसि सारस्वतौ त्वोत्सौ प्रावताम् ॥ य १३.३५
इषे राये रमस्व सहसे द्युम्ने ऊर्जे अपत्याय ।
सम्-राट् असि स्व-राट् असि सारस्वतौ त्वा उत्सौ प्र अवताम् ।

और अब स्वयं मानवदेवों के मुख से वेदमाता महामानव के प्रति कहलवाती है—

१) तू (सम्-राट् असि) सम्यक् प्रकाशमान् है, (स्व-राट् असि) स्व-प्रकाशवान् है, आत्मप्रकाश से प्रकाशित है ।

महामानव विद्या, बुद्धि, विवेक, सदाचार से तो प्रकाशित होता ही है, वह स्व से, आत्म-प्रकाश से भी प्रकाशित होता है । जिस प्रकार सूर्य किसी अन्य के नहीं, अपने ही प्रकाश से प्रकाशित होता है उसी प्रकार महामानव अपनी आत्म-साधना द्वारा अपने आपको सूर्यवत् प्रकाशित करके सर्वत्र अपना प्रकाश विकीर्ण करता है ।

२) हमारे (अपत्याय) सन्तानार्थ (इषे) भौतिक ऐश्वर्य के लिये, (राये) आत्मैश्वर्य के लिये, (सहसे) बल के लिये, (द्युम्ने) द्युति के लिये, (ऊर्जे) पराक्रमयुक्त संजीवन के लिये (रमस्व) रमण कर, रमणीयता के साथ विचरण कर ।

'इष्' नाम अन्नैश्वर्य, भौतिक सम्पदा और भौतिक विज्ञान का है । भूखी, दरिद्र और विज्ञान-शून्य सन्तति सर्वतः क्षीण होती चली जाती है । पौष्टिक अन्नसम्पदा, भौतिक धन और भौतिक विज्ञान से मानवसन्तति वंशानुवंश सम्पन्न रहे, ऐसी समाजव्यवस्था स्थापित रखना महाम की साध है । विज्ञान के आश्रय से ही अन्नस और धन का सम्पादन होता है ।

भौतिकवाद मानवसन्तति को हिंसक बना देता है, यदि उसके साथ अध्यात्मवाद आत्मिक सम्पन्नता का संयोग न हो । महाम इसे अपना पुनीत कर्तव्य समझता है कि वह सन्तानार्थ वंशानुवंश आत्मैश्वर्य अथवा अध्यात का भी प्रवाह प्रवाहित रखे । उसे ऐसी व्यव करनी होती है कि सन्ततियां आध्यात्मिकता आत्मसंबल से समंकित रहती चली जायें ।

'सहः' नाम उस बल का है जिसके आश्र आपत्तियों का सहन और बाधाओं का सा किया जाता है । सहनशक्ति और धैर्य, ये दो 'सहः' के पर्याय हैं । भौतिक सम्पदा जहां शरी स्वास्थ्य के सम्पादन में सहायक होती है अध्यात्मसम्पदा सहः का सम्पादन करती महामानव मानवसमाज के उत्कर्ष के लिये भा सन्तति में सहः के सम्पादन का ध्यान रखता है

शरीरबल आत्मसंबल और सहः से मानवसन्ततियां द्युति से द्योतित और पराक्र युक्त संजीवन से संयुक्त रहती हैं ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

३) उभय (सारस्वतौ उत्सौ) सारस्वत उत्स
(त्वा) तुझे/तेरी (प्र अवताम्) प्रकृष्टतया
रक्षा करें।

वैदिक वाङ्मय में 'सरस्वती' नाम उस वाणी का है जो मस्तिष्क के निर्मल और उदात्त विचारों तथा हृदय की विमल और उदार भावनाओं का सुप्रवाह प्रवाहित करती है। 'उत्स' नाम उस अक्षय जलस्रोत का है जो कूप अथवा जलाशय को निरन्तर आपूर करता रहता है। परिष्कृत मस्तिष्क और हृदय, ये ही दो सारस्वत उत्स हैं जो पृथिवी पर वैदिक वासन्तिकी बनाये रखने में महामानव की रक्षा वा सहायता करते हैं।

महामानव के उभय सारस्वत उत्सों से प्रसूत शिक्षोपदेशों से मानवसन्ततियां सुमानव बनती हैं।

सन्तानार्थ इषे, राये,
सहसे, द्युम्ने, ऊर्जे रमण कर।
तू है सम्राट्, है स्वराट् तू,
तेरी रक्षा करें उत्सद्वय
सरस्वती के।

सूक्ति : सम्राडसि स्वराडसि।
तू सम्राट् है, तू स्वराट् है।
सारस्वतौ त्वोत्सौ प्रावताम्।
सारस्वत दो स्रोत [मस्तिष्क और हृदय] तेरी रक्षा करें।

X

६६६ अग्ने युक्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधवः। अरं वहन्ति मन्यवे॥

[ऋ ६.१६.४३, साम २५, १३८३] य १३.३६

अग्ने युक्ष्व हि ये तव अश्वासः देव साधवः। अरम् वहन्ति मन्यवे।

मानवदेव कहे चले जारहे हैं—
१) (अग्ने देव) अग्रणीदेव !
२) (तव ये अश्वासः साधवः) तेरे जो शीघ्रकारी साधु [साधक] हैं वे (मन्यवे) उत्साह के लिये, उत्साह कार्य करने के लिये (अरम् वहन्ति) पर्याप्त वहन करते हैं।
३) तू उन्हें (हि) ही (युक्ष्व) युक्त कर।

महामानव मानवसमाज की अग्रणी देवता है। इसी लिये वह मानवसन्तति के हितार्थ सारी पृथिवी पर रमणीयता के साथ विचर रहा है। किन्तु इतनी विशाल पृथिवी पर वह इतनी प्रजा का एकला ही कहां तक कल्याण करेगा ? अतः उसने उन आशुकारी साधकों का निर्माण और संयोजन किया है जो उसके सन्देश और कार्यक्रम को उत्साह के साथ देश-देशान्तर में पर्याप्त संवहन कर रहे हैं।

इस मन्त्र में मानवोत्थान के लिये साधकों के निर्माण की योजना का संकेत है।

अग्ने ! देव !
तेरे जो आशुकारी साधक,
करें वे मन्यु के लिये अरं संवहन।
युक्त उन्हें ही कर तू सम्यक्।

६६७ युक्ष्वा हि देवहूतमाँ अश्वाँ अग्ने रथीरिव। नि होता पूर्व्यः सदः॥

[ऋ ८. ७५. १, य ३३.४] य १३.३७

युक्ष्व हि देव-हूतमान् अश्वान् अग्ने रथीः-इव। नि होता पूर्व्यः सदः।

(अग्ने) अग्रणी महामानव ! (रथीः-इव अश्वान्) रथ चालक जैसे अश्वों को [प्रशिक्षित करके रथ में जोड़ता है], तू (देव-हूतमान् हि) देव-हूतम [साधकों] को ही [अपनी सार्वभौम कल्याण-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

साधना में] (युक्ष्व) युक्त कर।

मानवदेवों द्वारा जो अतिशयता के साथ पुकारे [बुलाये] जाते हैं उन आशुकारी कल्याण-साधकों की संज्ञा 'देवहूतम' है। देवहूतमों के दिव्य गुणों से प्रभावित और आकर्षित होकर मानव-प्रजायें उन्हें साग्रह अपने अपने क्षेत्रों में बुलाती हैं, उनका पुनः पुनः आह्वान करती हैं और अपने कल्याणपथ को प्रशस्त करती हैं। ऐसे ही प्रशिक्षित कल्याणसाधकों को अग्रणी महामानव अपनी सार्वभौम कल्याणसाधना में युक्त करके उन्हें देश-देशान्तरों तथा प्रदेश-प्रदेशान्तरों में सांचार प्रचार के लिये प्रेषे।

२) (होता) कल्याणहोम का निष्पादक तू (पुरः) प्रमुख होकर (नि सदः) निकट स्थित रह, निकट सम्पृक्त रह।

अग्रणी महामानव केन्द्रस्थ होकर, केन्द्रस्थित बनकर प्रशिक्षण और सुव्यवस्था करे, साधकों तथा जनता से सम्पर्क बनाये रहे।

रथी जैसे अश्वों को,
अग्ने! तू कर युक्त देवहूतमों को।
होता तू होकर प्रमुख,
रह संस्थित निकट निरन्तर।

६६८ सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।
घृतस्य धारा अभि चाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्ये अग्नेः॥
[ऋ ४.५८.६, य १७.९४] य १३.३८

सम्यक् स्रवन्ति सरितः न धेनाः अन्तः हृदा मनसा पूयमानाः।
घृतस्य धाराः अभि चाकशीमि हिरण्ययः वेतसः मध्ये अग्नेः।

मानवदेवों के उक्थ का श्रवण करके महामानव कहता है, '(हिरण्ययः) कुन्दन के समान निर्मल मैं (अग्नेः मध्ये) अग्नि के मध्य में (घृतस्य वेतसः धाराः) घृत की तीव्र धाराओं को (अभि चाकशीमि) सर्वतः देख रहा हूं।'

'हिरण्य' नाम शुद्ध स्वर्ण [कुन्दन] का है। 'हिरण्ययः' का अर्थ हुआ स्वर्णिम, कुन्दन के समान शुद्ध और सुन्दर।'

'अग्नि' शब्द का प्रयोग यहां प्रेमाग्नि अथवा प्रेम की ऊष्मा के लिये हुआ है। 'घृत' शब्द का प्रयोग हुआ है स्निग्ध स्नेह के लिये।

महामानव कुन्दन के समान निर्मल और सुदीप्त होता है। वह प्रेमाग्नि के मध्य में स्नेहघृत की तीव्र धाराओं को देखता है। प्रेमाग्नि समान रूप से सारी पृथिवी पर प्रज्वलित है और पृथिवी पर निवास करनेवाली सम्पूर्ण मानवप्रजा में ही नहीं, प्राणिमात्र में, भूतमात्र में उसकी तीव्र धारायें सर्वत्र प्रवाहित होरही हैं।

सारे संसार को वह प्रेम-महासागर में निम्न अवलोकन कर रहा है। उसके स्वयं के हृदय पृथिवीनिवासी समग्र मानवप्रजा के प्रति प्रेम महासागर उमड़ रहा है। जन जन के दर्शन सुनयन की अभिलाषायें उसके मानस में तरंगि होरही हैं। किसी एक केन्द्रस्थान में स्थायी निवा करना उसके लिये सर्वथा असम्भव है। सम्पूर्ण मानवप्रजा भी तो उसके प्रिय दर्शनों अमृतवचनों के लिये लालायित है।

इसी लिये उसे सारी पृथिवी पर विचरत करना पड रहा है और उसकी (धेनाः) प्रेमम वाणियां, उसके (हृदा मनसा पूयमानाः) हृद और मन से छनकर, जन जन के (अन्तः) प्रीत अन्तःकरण में (सम्यक् स्रवन्ति) सम्यक् प्रवाहि होरही हैं, (सरितः न) सरिताओं के समान।

निर्मल जल की नदियां जिस प्रकार दो

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

के मध्य सतत सुप्रवाहित रहती हुयी प्राणियों को तृप्त और भूमियों को हरा-भरा करती हैं उसी प्रकार महामानव की वाणियां उसके हृदय के पावन प्यार और मन के पावन संकल्प-रूपी दो तटों में होकर सर्वत्र सुप्रवाहित होती हुयी मानवों के अन्तःकरण को शोध और बोध रही हैं।

स्वर्णिम मैं अग्नि के मध्य में
घृत की तीव्र प्रवाहित धारायें
देख रहा हूं सम्यक् सन्तत।
हृदय, मन से छनकर उसकी
प्रेमभरी उपदेशवाणियां
बहती हैं अन्तः में सम्यक्
निर्मल सरिताओं की तरह।

सूक्ति : सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेनाः।
प्रेमभरी वाणियां सरिता की तरह सुप्रवाहित होती हैं।
घृतस्य धारा अभि चाकशीमि।
मैं सब ओर स्नेहघृत की धारायें देखता हूं।

६६९ ऋचे त्वा रुचे त्वा भासे त्वा ज्योतिषे त्वा।
अभूदिदं विश्वस्य भुवनस्य वाजिनमग्नेर्वैश्वानरस्य च॥ य १३.३९

ऋचे त्वा रुचे त्वा भासे त्वा ज्योतिषे त्वा।
अभूत् इदम् विश्वस्य भुवनस्य वाजिनम् अग्नेः वैश्वानरस्य च।

और अब अपने जीवन को सम्बोधन करता हुआ महामानव कहता है—

१) मैं प्रार्पित कर चुका हूं (त्वा ऋचे) तुझे स्तवन के लिये।

स्तवन किसका? उस ब्रह्माग्नि का जिसकी द्युति और शक्ति से वह विश्व-कल्याण की साध में निरत है और आगे ही आगे बढ़ता चला जा रहा है। स्तुति से स्तोता में स्तुत्य के गुणों का समावेश होता है। स्तोता अपने स्तुत्य के जिन जिन गुणों का स्तवन करता है वे उसके जीवन में समंकित होते हैं। ब्रह्म की स्तुति द्वारा ब्राह्म गुणों से युक्त होकर ही महामानव अपनी महतो महान् साध को पूरी कर पायेगा।

२) मैं प्रार्पित कर चुका हूं (त्वा रुचे) तुझे रुच् के लिये।

'रुच्' नाम रोचकता और सौन्दर्य का है। जहां सुन्दरता अथवा शोभनीयता होती है वहीं रोचकता होती है। जीवन जब अशोभनीय, अपवित्र और अस्त-व्यस्त होजाते हैं तो संसार अरोचक और असुन्दर बन जाता है। जीवन जब शुद्ध और सुव्यवस्थित होते हैं तो संसार रोचक, सुहावना और शोभनीय बन जाता है। जनों के जैसे जीवन होते हैं, वे संसार को वैसा ही बना लेते हैं। महामानव सर्व मानवों के जीवनों को सुहावना और सुन्दर बनाकर विश्व के शोभनीय-करण की साध के प्रति अर्पित है।

३) मैं प्रार्पित कर चुका हूं (त्वा भासे) तुझे प्रकाश के लिये।

भास्कर जिस प्रकार अन्धकार का निराकरण और प्रकाश का प्रसार करता रहता है उसी प्रकार महामानव अपने प्रकाशपुञ्ज जीवन से मानवप्रजा के अज्ञानान्धकार का निराकरण करता हुआ सज्ज्ञान और सद्विवेक का प्रकाश पूरता रहता है। एतदर्थ वह ससंकल्प प्रार्पित है।

४) मैं प्रार्पित कर चुका हूं (त्वा ज्योतिषे) तुझे आत्मज्योति के लिये।

आत्मज्योति के द्योतन से ही जगत् का वास्तविक कल्याण होता है। सज्ज्ञान और सद्विवेक के आश्रय से वह मानवप्रजा में आत्मजागरण और आत्मज्योति का द्योतन कर रहा है। इसके लिये भी वह आत्मना प्रार्पित है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

५) मेरा (इदम् वाजिनम्) यह वाजोपेत जीवन [अब मेरा न रहकर] (विश्वस्य भुवनस्य) विश्व भुवन का, समस्त संसार का (च) तथा (वैश्वानरस्य अग्नेः) विश्व के नयनकर्ता ब्रह्माग्नि का (अभूत्) होगया है।

वैश्वानर=वैश्व-आ-नर। विश्व का सम्पूर्णतया नयन—संचालन करनेवाला होने से ब्रह्माग्नि वैश्वानर है।

महामानव का जीवन वाज [संजीवन और संज्ञान] से युक्त है। ब्रह्मार्पित होकर वह विश्वभुवन के सर्वोदयार्थ साधना कर रहा है।

कर चुका हूं मैं प्रार्पित
तुझे स्तुति के लिये,
तुझे सौन्दर्य के लिये,
तुझे ज्ञानप्रकाश के लिये,
तुझे आत्मद्योतन के लिये।
मेरा वाजोपेत यह जीवन
होगया है विश्व भुवन का,
वैश्वानर ब्रह्माग्नि का।

६७० अग्निर्ज्योतिषा ज्योतिष्मान् रुक्मो वर्चसा वर्चस्वान्। सहस्रदा असि सहस्राय त्वा॥

य १३.४०

अग्निः ज्योतिषा ज्योतिष्मान् रुक्मः वर्चसा वर्चस्वान्। सहस्र-दाः असि सहस्राय त्वा।

महामानव की प्रार्पणोक्ति पर उसका अभिनन्दन करते हुये मानवदेव कहते हैं—

१) तू (अग्निः) अग्नि है, (ज्योतिषा ज्योतिष्मान्) ज्योति से ज्योतिष्मान्।

महामानव वह अग्नि है जो विश्व के अज्ञानान्धकार को दग्ध करके मानवजाति को संज्ञानयुक्त विवेक-ज्योत्स्ना से द्योतित कर रहा है। **ज्योतिषा बाधते तमः** (य ३३.९२), ज्योति से ही अन्धकार हटाया और मिटाया जाता है। महामानव है ही वह जो ज्योति से ज्योतिष्मान् होकर, अज्ञानान्धकार का निवारण करके, शुभ्र-शुद्ध ज्योति जगमगाता है।

२) तू (रुक्मः) रुक्म है, (वर्चसा वर्चस्वान्) वर्च से वर्चस्वी।

'रुक्म' नाम नितान्त शुद्ध स्वर्ण [कुन्दन] का है। वर्च शब्द का प्रयोग हुआ है यहां उस दीप्ति के लिये जो अपनी पवित्रता से दमकती है। महामानव का जीवन सर्वथा शुद्ध कुन्दन है और उसके अन्तःकरण की पवित्रता ने उसे उस दर्शनीयता से सुशोभित कर दिया है जिसका दर्शन करके मानव अपने को निर्विकार अनुभव करता है। अपने दर्शनीय वर्च से वह मानवप्रजा को अपने प्रति प्रीतिमान करता चला जा रहा है।

३) तू अपने जीवन से (सहस्र-दाः असि) असंख्य [देनें] देनेवाला है। हम तेरी (सहस्राय) असंख्य [देनों] के लिये (त्वा) तुझे [आत्मना] अपनाते हैं]।

महामानव के जीवन से मानवसमाज को शारीरिक, आध्यात्मिक, लौकिक, पारलौकिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, असंख्य सुदेनों की सम्प्राप्ति होती है। इसी से उसके प्रति जन जन की आत्मीयता स्थापित होती चली जारही है। सारा विश्व उसे अपना उद्धारक और सुधारक मानता चला जा रहा है।

तू है अग्नि, ज्योति से ज्योतिष्मान्,
तू है रुक्म, वर्च से वर्चस्वान्।
तू है असंख्य देनों का देनेवाला,
हम असंख्य के लिये तुझे वरण करते हैं।

६७१ आदित्यं गर्भं पयसा समङ्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम्।
परि वृङ्धि हरसा मामि मंस्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः॥ य १३.४१

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आदित्यम् गर्भम् पयसा सम् अङ्धि सहस्रस्य प्रति-माम् विश्व-रूपम् ।
परि वृङ्धि हरसा मा अभि मंस्थाः शत-आयुषम् कृणुहि चीयमानः ।

महामानव का अभिनन्दन करते हुये मानवदेव कहे चले जारहे हैं—

१) (सहस्रस्य प्रति-माम् विश्व-रूपम् आदित्यम् गर्भम्) असंख्य की प्रतिमा, विश्वरूप आदित्य गर्भ को (पयसा सम् अङ्धि) पय से सम्यक् शोध ।

अदिति नाम अखण्ड पृथिवी का है । पृथिवी वह आदित्य [पार्थिव] गर्भ है जिसमें और जिस पर असंख्य प्राणी निवास करते हैं । यह गर्भ सभी प्राणियों और वस्तुओं की प्रति-मा है, प्रति-परिमाण है, परिमाण-परिमाण में प्रत्येक वस्तु और प्राणी की संधारिका है ।

यह 'आदित्य गर्भ' है विश्व-रूप । सभी वस्तु, प्राणी और मानव इस आदित्य गर्भ से ही स्व स्व रूप धारण करते हैं ।

'पयस्' नाम जल और दूध का है । यहां इस शब्द का प्रयोग मानवता के दुग्ध के लिये हुआ है ।

महामानव की असंख्य देनों में से सबसे बड़ी देन है सम्पूर्ण 'आदित्य गर्भ' को, पृथिवी पर निवास करनेवाली सम्पूर्ण मानवप्रजा को मानवता के दुग्ध से स्नान कराकर उसे शुद्ध करना, उसे शुद्ध मानव बनाना ।

२) (हरसा) ज्वलन्त तेज से (परि वृङ्धि) सर्वतः वर्जन कर ।

वर्जन किससे ? अमानवता से, अमानवीय विचारों और आचारों से । ज्वलन्त तेज से युक्त होकर ही सूर्य अन्धकार का वर्जन करता है । ज्वलन्त आत्मतेज से युक्त होकर ही महामानव अमानवीय विचारों और आचारों का वर्जन करके मानवों में मानवता का संचार करता है ।

३) (मा अभि मंस्थाः) मत अभिमान कर ।

अभिमान तो अभिनाश का मूल है । जो जितना महान् होता है वह उतना ही निरभिमान होता है । निरभिमानिता ही महानता की रक्षा करती है ।

४) (चीयमानः शत-आयुषम् कृणुहि) चीयमान [चयनीय गुणों से युक्त होकर स्वयं को] शत-आयु कर [दश हज़ार वर्ष जी] ।

एक आयु सौ वर्ष का होता है । त्रि-आयु होता है [३×१००] तीन सौ वर्ष का । दश-आयु होता है [१०×१००] एक हज़ार वर्ष का । शत-आयु हुआ [१००×१००] दश सहस्र वर्ष का ।

मानवदेवों ने कामना की है कि महामानव चयनीय गुणों से युक्त रहता हुआ, चुनीदा बनकर दश हज़ार वर्ष तक जीवित रहे और परमपावन प्रजापति की मानवप्रजा का वर्जन, शोधन और और बोधन करता रहे ।

दश हज़ार वर्ष से तात्पर्य अतिशय दीर्घ आयुष्य हो सकता है । किन्तु इस मन्त्रांश से यह भी ध्वनित होता है कि वेदानुसार मनुष्य दश हज़ार वर्ष तक सजीवता के साथ जीवित रह सकता है ।

असंख्य की प्रतिमा, विश्वरूप,
आदित्य गर्भ को पय से सम्यक् शोध ।
अभिवर्जन कर ज्वलन्त तेज से,
कर न कभी अभिमान,
चीयमान बन शतायु हो ।

सूक्ति : **आदित्यं गर्भं पयसा समङ्धि ।**
पार्थिव गर्भ को मानवता के दुग्ध से शुद्ध कर ।
माभि मंस्थाः ।
अभिमान न कर ।
शतायुषं कृणुहि चीयमानः ।
चयनीय गुणों से युक्त रहता हुआ दश सहस्र वर्ष जी ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

६७२ वातस्य जूतिं वरुणस्य नाभिमश्वं जज्ञानं सरिरस्य मध्ये।
शिशुं नदीनां हरिमद्रिबुध्नमग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्॥ य १३.४२

वातस्य जूतिम् वरुणस्य नाभिम् अश्वम् जज्ञानम् सरिरस्य मध्ये।
शिशुम् नदीनाम् हरिम् अद्रि-बुध्नम् अग्ने मा हिंसीः परमे वि-ओमन्।

मानवदेवों ने यहां महामानव को अग्रणी के अर्थ में अग्नि शब्द से सम्बोधन किया है। वह सम्पूर्ण मानवप्रजा का अग्रणी है। उसका अभिनन्दन करते हुये मानवदेवों ने उसके प्रति यहां जो बातें कही हैं वे बहुत रहस्यपूर्ण और महत्त्वपूर्ण हैं—

(अग्ने)! (मा हिंसीः) मत त्याग—

१) (सरिरस्य मध्ये) सरिर के मध्य में (वातस्य जूतिम्) पवन के वेग को, (वरुणस्य नाभिम्) चन्द्रमा की नाभि को, (जज्ञानम् अश्वम्) जज्ञान अश्व को।

२) (परमे वि-ओमन्) परम आकाश में (नदीनाम् शिशुम्) नदियों के शिशु को, (अद्रि-बुध्नम् हरिम्) मेघों के मूल हरि को।

'सरिर' नाम सलिल [जल] और सरोवर का है, उस सरोवर का जिसका जल नितान्त निर्मल होता है। प्रलयावस्था में जब प्रकृति परमाणुरूप से आकाश में व्यापी हुयी होती है तो उस निर्मल अवस्था का नाम भी सरिर [परमाणु-सरोवर] है। महामानव का हृदय वह सोम-सरिर है जिसमें मानवजाति के लिये ही नहीं, प्राणिमात्र के लिये नितान्त निर्मल प्रेमवारि आप्लावित है। वह अपने सरिर [हृदय-सरोवर] में से वात की जूति, वरुण की नाभि, जज्ञान अश्व का त्याग न करे।

उसके हृदय में पवन के वेग के साथ, हवा की तरह कर्मसाधना करने की उमंग रहे। उसके अन्तः में चन्द्रमा की नाभि हो। चन्द्रमा के गुण उसकी केन्द्रीय शक्ति हों। चन्द्रमा के समान सौम्य और आह्लादित रहता हुआ वह सदा अज्ञानान्धकार की रात्रियों को उजाली करता रहे। आपत्तियों की घटाओं से घिरा होने पर वह प्रतीत हो। उसके हृदय में जज्ञान अश्व और सुस्थित रहे। 'जज्ञान' का अर्थ है प्रकाशित। 'अश्व' का अर्थ है आशुगामी, गामी। मन वह प्रकाशित अश्व है जो ज्योतिषां ज्योतिः (य ३४.१) है, जो तीव्र साथ दूर दूर जाता है, जो ज्योतियों की ज्यो और जो प्रकाशों का प्रकाश है। महामान प्रकाशपुञ्ज और तीव्रगामी मनरूपी अश्व हृदय में सदा शान्त और सुस्थिर रहे।

वह, जिसमें यह सब स्थित है, केवल [आकाश] है। हृदयाकाश में आत्मा का बसि है। समाधिस्थ होने पर आत्मा को हृद में परम ब्रह्म का दर्शन होता है। अतः हृद का ही नाम परम व्योम है। 'अपने परम व वह नदियों के शिशु और मेघों के मूल हरि त्याग न करे।'

हृदयाकाश में स्थित चित्त की वृत्ति बाहर-भीतर, सतत प्रवाहित रहनेवाली ही वे नदियां है निरोध जिनका शिशु है। वृत्तियों की निरुद्धावस्था में जिस सच्चिदान का संदर्शन होता है वह हरि ही मेघों [आनन्द का मूल है। महामानव योग-जीवनपद्धति में रहता हुआ नित्य चित्तवृत्तियों का निरोध समाधिस्थ होता है और आनन्दघन हरि संदर्शन करता हुआ अपनी संसाध रहता है।

अग्ने! त्याग न
सरिर के मध्य में

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वात के वेग को,
वरुण की नाभि को,
जज्ञान अश्व को;
परम व्योम में
नदियों के शिशु को,
मेघों के मूल हरि को।

६७३ अजस्रमिन्दुमरुषं भुरण्युमग्निमीडे पूर्वचित्तिं नमोभिः।
स पर्वभिर्ऋतुशः कल्पमानो गां मा हिंसीरदितिं विराजम् ॥ य १३.४३

अ-जस्रम् इन्दुम् अरुषम् भुरण्युम् अग्निम् ईडे पूर्व-चित्तिम् नमः-भिः।
सः पर्व-भिः ऋतु-शः कल्पमानः गाम् मा हिंसीः अदितिम् वि-राजम्।

पूर्व-मन्त्र के अन्त में मानवदेवों ने महामानव के प्रति कहा है, 'आनन्दघनों के मूल हरि को मत त्याग।'

आनन्दघन हरि के प्रति अनन्य भाव से भावित हुआ, यहां, महामानव मानवदेवों से कहता है, 'मानवदेवो ! आनन्दघन हरि को विसारना कैसा? मैं तो सतत, सन्तत, निरन्तर (ईडे) स्तुतता हूं, स्तुतता रहता हूं (नमः-भिः) नमस्कारों के साथ (अ-जस्रम् इन्दुम्) अजस्र इन्दु, (अरुषम् भुरण्युम्) रोषरहित पोषक, (पूर्व-चित्तिम्) सनातन-चित्ति (अग्निम्) ब्रह्माग्नि को।

ब्रह्माग्नि 'अजस्र इन्दु' है। 'अजस्र' का अर्थ है निरन्तर, अनवरत, अक्षय। 'इन्दु' शब्द का प्रयोग सोम अथवा आनन्द की बिन्दु के लिये होता है। ब्रह्माग्नि वह सोम अथवा आनन्दघन है जिसमें से अनवरत महामानव के अन्तःकरण में आनन्द की बिन्दुओं का क्षरण होता रहता है।

ब्रह्माग्नि पूषा है, वह मंगलमय पूषा जो न कभी रोष करता है, न कभी रुष्ट होता है। वह तो सदा ही अपने समर्पित को, अपने भक्त को विनाश से बचाकर अविनाश में स्थित रखता है और उसकी सर्वतः तुष्टि और पुष्टि करता है।

ब्रह्माग्नि है वह पूर्वचित्ति, सनातन प्रचेतना का वह अक्षय स्रोत जो युक्त, समाहित आत्मा को सन्तत चेताता रहता है।

महामानव अपनी सार्वभौम साधना के पथ पर आरूढ़ हुआ, ऐसे आनन्दस्वरूप ब्रह्माग्नि को पग-पग पर स्तुतता हुआ आगे बढ़ता है।

महामानव की इस आस्थापूर्ण उक्ति पर मानवदेव उसके प्रति साधुवादमय मंगलभावना के साथ निवेदन करते हैं—(सः) वह तू (ऋतुशः) ऋत्वनुसार (पर्वभिः) पर्वों से (कल्पमानः) समर्थ होता हुआ, (वि-राजम् अदितिम् गाम्) शोभन अखण्ड पृथिवी को (मा हिंसीः) मत त्याग।

प्रत्येक ऋतु में ऋत्वनुसार संसाधना करके पर्व-पर्व से, पोरु-पोरु से, अंग-अंग से सर्वतः स्वस्थ रहता हुआ महामानव पृथिवी के खण्डविशेष अथवा प्रदेशविशेष की नहीं, अखण्ड शोभन पृथिवी की, सम्पूर्ण सुन्दर मानवप्रजा की सेवा, सुसेवा करे। देशविशेष की सेवा में आसक्त होकर वह सकल विश्व की सेवा का परित्याग न करे। प्रत्येक देश और प्रत्येक देश की मानवप्रजा उसकी संसाधना का अविभाज्य अंग रहे।

सतत स्तुतता हूं नमनों से
अजस्र इन्दु, अ-रुष, पोषक और
पूर्वचित्ति अग्नि को।
वह तू ऋत्वनुसार पर्वों से
रहता हुआ समर्थ, त्याग मत
शोभन, अखण्ड पृथिवी को।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वरूत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमविं जज्ञानां रजसः परस्मात् ।
महीं साहस्रीमसुरस्य मायामग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ॥ य १३.४४

वरूत्रीम् त्वष्टुः वरुणस्य नाभिम् अविम् जज्ञानाम् रजसः परस्मात् ।
महीम् साहस्रीम् असुरस्य मायाम् अग्ने मा हिंसीः परमे वि-ओमन् ।

महामानव के प्रति अपनी साधुवादमय मंगलभावना को व्यक्त करते हुये मानवदेव कहे चले जारहे हैं— (अग्ने) अग्रणी महामानव ! (मा हिंसीः) मत त्याग, मत ओझल कर (परमे व्योमन्) परम आकाश में, परम हृदयाकाश में (त्वष्टुः वरूत्रीम्) त्वष्टा की वरूत्री को, (वरुणस्य अविम् नाभिम्) वरुण की रक्षक नाभि को, (परस्मात् रजसः जज्ञानाम् असुरस्य महीम् साहस्रीम् मायाम्) परम लोक से प्रकट हुयी, असुर की महती, साहस्री माया को ।

'त्वष्टा' नाम उस कुशल कारीगर का है जो तराश-तराशकर सुन्दर-सुन्दर वस्तुयें बनाता है । 'वरूत्री' नाम ओढ़नी अथवा पोशाक का है । ब्रह्म ही वह त्वष्टा है जिसने पंच भूतों को तराश-तराश-कर, काट-छांटकर सृष्टिरूपी वरूत्री [पोशाक] का निर्माण किया है और स्वनिर्मित इस पोशाक को धारण करके जिसने निज रूप छिपाया हुआ है ।

महामानव अपने हृदयाकाश में समाहित होकर, ब्रह्म का जो वरूत्रीरहित निज रूप है, उसका संदर्शन करके समष्टि सृष्टि को ब्रह्म की पोशाक के रूप में देखता है । शरीर जिस प्रकार आत्मा की पोशाक है वैसे ही समष्टि सृष्टि ब्रह्म की पोशाक है । यह सब ब्रह्म से 'एकनीड' है, इस तथ्य को महामानव एक क्षण भी ओझल नहीं करता है ।

'वरुण' शब्द का प्रयोग यहां जल अर्थ में हुआ है । अन्न और ओषधि का उत्पादन करके प्राणियों के जीवन की रक्षा करना जल की नाभि [केन्द्रीय साधना] है । भूमि भी हो, बीज भी हो, पर जल से सिंचायी न की जाये तो अन्न, फल, शाक, पात, कुछ भी पैदा न हो और प्राणिजगत् समाप्त होजाये । सब कुछ होते हुये भी यदि महामानव अपने ज्ञानोपदेशों से मानवजाति का सेचन न करे तो मानवप्रजा हरी-भरी न रहकर सर्वथा मुरझा जाती है । जल के समान साधना करके महामानव मानवजाति में संज्ञान और सद्विवेक का सेचन करके मानवता की रक्षा करता है ।

'असु' नाम प्राण और जीवन का है । प्राण में रमण करनेवाला होने से, जीवन में संजीवन का संचार करनेवाला होने से परमात्मा असुर है । वह अखिल सृष्टि के जीवन का संजीवन है, प्राणों का प्राण है । प्राण में और प्राणियों में जो रमणीयता है वह उसी प्राणरम और जीवनरमण की है । वह सृष्टि के कण कण में रम रहा है, इसी से सबमें, सर्वत्र रमणीयता की अनुभूति होरही है । यह अखिल रचना उसी की माया [कुशलकृति] है, यह (मही) महती, अनन्त, असीम (साहस्री) असंख्यरूपा (माया) सृष्टिरूपा कुशलकृति उस (असुरस्य) असुर के, आनन्दस्वरूप मायापति के (परस्मात् रजसः) परम लोक से, परम धाम से ही (जज्ञाना) प्रादुर्भूत हुयी है, होती चली आरही है और होती रहेगी । मायापति और माया को 'एकनीड' [एकाकार, ओत-प्रोत] अवलोकन करता हुआ महामानव अपने हृदयाकाश में आत्मस्थ ब्रह्मलीन रहता है ।

अग्ने ! त्याग न परम व्योम में
तू त्वष्टा की वरूत्री को,
जल की रक्षक केन्द्रसाध को,
परम लोक से प्रादुर्भूता,
प्राणरमण की महती, असंख्या
मायारूपा कुशलकृति को ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

६७५ यो अग्निरग्नेरध्यजायत शोकात् पृथिव्या उत वा दिवस्परि ।
येन प्रजा विश्वकर्मा जजान तमग्ने हेडः परि ते वृणक्तु ॥
य १३.४५

यः अग्निः अग्नेः अधि अजायत शोकात् पृथिव्याः उत वा दिवः परि ।
येन प्र-जाः विश्व-कर्मा जजान तम् अग्ने हेडः परि ते वृणक्तु ।

महामानव के प्रति मंगलभावना व्यक्त करते हुये मानवदेव कहे चले जारहे हैं—(यः अग्निः) जो ब्रह्माग्नि (अग्नेः) सूर्याग्नि के, (पृथिव्याः) पृथिवी के, (उत वा) अथवा, अपि च (दिवः) द्युलोक के (शोकात्) तेज से (अधि) अधिक (परि अजायत) सर्वतः प्रकाशित हुआ हुआ है, अपने (येन) जिस [तेज] से (विश्व-कर्मा) विश्व-रचयिता [ब्रह्माग्नि] ने (प्र-जाः जजान) प्र-जाओं [लोक-लोकान्तरों] को प्रकट—प्रकाशित किया है और किया हुआ है, (अग्ने) अग्रणी महामानव ! (तम्) उस [ब्रह्माग्नि और ब्रह्माग्नि के तेज] के प्रति (ते हेडः) तेरा हेड (परि वृणक्तु) छिन्न-भिन्न रहे ।

विक्षेप, क्रोध, अप्रसन्नता, अपमान, अनादर, उपेक्षा, अनास्था—इतने अर्थ 'हेड' शब्द के होते हैं । विक्षेप से क्रोध, क्रोध से अप्रसन्नता, अप्रसन्नता से अपमान, अनादर, उपेक्षा, उपेक्षा से अनास्था का जन्म होता है । अन्यतः अनास्था से उपेक्षा, उपेक्षा से अनादर, अपमान, अप्रसन्नता, क्रोध, विक्षेप उत्पन्न होता है । यहां 'हेड' शब्द का प्रयोग अनास्था अर्थ में हुआ है ।

'प्रजाः' शब्द का प्रयोग यहां लोक-लोकान्तररूपी प्र-जाओं अथवा प्रकृष्ट रचनाओं के लिये हुआ है ।

महामानव की साध जहां महतो महान् है वहां वह अतिशय कष्टसाध्य भी है । साधना के पथ पर चलते हुये कभी सफलता का तो कभी विफलता का मुंह देखना पड़ता है, कभी सहयोग से तो कभी विरोध से पाला पड़ता है, कभी बहुत मान तो कभी बहुत अपमान होता है । विश्व के अन्धकार का निवारण और विश्व में प्रकाश का प्रसारण कोई सरल साध नहीं है । स्वयं निरन्तर जलते हुये ही सूर्य संसार को प्रकाश देता है । शमा [मोमबत्ती] स्वयं जलती है और महफ़िल को रोशन करती है । दीपक की बत्ती स्वयं को जलाकर ही रोशनी देती है । विकट प्रसंगों और प्रतिकूल परिस्थितियों में महामानव को ब्रह्माग्नि के प्रति सदा आस्थावान् बना रहना चाहिये । अनास्था कभी उसे आ घेरे तो उसे अपनी अनास्था फ़ौरन छिन्न-भिन्न कर देनी चाहिये, यह कहकर कि 'जो ब्रह्माग्नि सूर्य, पृथिवी और द्युलोक को प्रकाशित कर रहा है, अपने जिस तेज से विश्व-रचयिता ने लोक-लोकान्तरों को प्रकट, प्रकाशित किया है, और कर रहा है वही ब्रह्म और ब्रह्म का वही तेज मेरे साधनापथ को प्रशस्त और प्रकाशित करेगा ।

किसी भी क्षेत्र में अन्य कोई बाधा उतनी बाधक नहीं होती है जितनी बाधक साधक की प्रभु के प्रति स्वयं अपनी अनास्था होती है । अनास्था के निराकरण का उपाय प्रभु की सहायता में अटूट विश्वास रखना ही है :

जो ब्रह्माग्नि है सूर्याग्नि के,
पृथिवी के, अपि च द्युलोक के
तेज से अधिक परि-प्रकाशित,
अपने जिस निज तेज से किया
विश्वकर्मा ने प्रकाशित लोकान्तरों को,
अग्ने, उसके प्रति अनास्था
तेरी रहे सर्वथा छिन्न ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

६७६ चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥
[ऋ १.११५.१, य ७.४२, सा ६२९, अ १३.२.३५, २०.१०७,१४] य १३.४६
चित्रम् देवानाम् उत् अगात् अनीकम् चक्षुः मित्रस्य वरुणस्य अग्नेः ।
आ अप्राः द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम् सूर्यः आत्मा जगतः तस्थुषः च ।

मानवदेवों के मुख से ब्रह्माग्नि के प्रति अनास्था न होने देने की बात सुनकर महामानव भाव-विभोर होजाता है और आत्मगहनता के साथ कहने लगता है—वह ब्रह्माग्नि तो (उत् अगात्) उदय हुआ हुआ है, सदा उदित है। वह साक्षात् मेरी दृष्टि में और सृष्टि में जगमगा रहा है।

वह है (चित्रम्) अद्भुत, चयनीय, परम मनोहर और (देवानाम् अनीकम्) देवों का सुमुख अनीक, सब प्राकृतिक और मानवी देवों का रूप-लावण्य, दिव्यताओं की दिव्यता, सौन्दर्यों का सौन्दर्य। वह है (चक्षुः) प्रकाशक (मित्रस्य) सूर्य का, (वरुणस्य) चन्द्रमा का, (अग्नेः) अग्नि का।

वह (आ अप्राः) व्यापे हुये है (द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्) द्यौ, भू और अन्तरिक्ष को और है (सूर्यः आत्मा) प्रेरक और आत्मा (जगतः तस्थुषः) चेतन का और जड़ का, चर और अ का।

उस ऐसे ब्रह्म के प्रति अनास्था का क्या कार उसी से प्राप्त प्रेरणा, ज्योति और शक्ति के बल से मेरी साध सिद्ध हो रही है और होगी। साक्षात् मेरी दृष्टि में और सृष्टि में जग रहा है।

समुदित है वह चित्र, अनीक देवों का,
चक्षु है वह सूर्य, चन्द्र, अग्नि का।
व्यापे हुये है वह द्यौ भू अन्तरिक्ष को,
जड़ चेतन का है वह प्रेरक और आत्मा।

६७७ इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुं सहस्राक्षो मेधाय चीयमानः । मयुं पशुं मेधमग्ने जुषस्व तेन चिन्वानस्तन्वो नि षीद । मयुं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु । य १३.५
इमम् मा हिंसीः द्वि-पादम् पशुम् सहस्र-अक्षः मेधाय चीयमानः । मयुम् पशुम् मेधम् अग्ने जुषस्व तेन चिन्वानः तन्वः नि सीद । मयुम् ते शुक् ऋच्छतु यम् द्विष्मः तम् ते शुक् ऋच्छतु

ब्रह्म के प्रति आस्था से उपेत महामानव ब्रह्म की मानवप्रजा तथा पशुप्रजा के प्रति भी गहन आत्मीयतायुक्त आस्था रखता है। उसी आस्था से युक्त हुआ वह अग्रणी शासन-सत्ता को अग्ने शब्द से सम्बोधन करता हुआ कहता है—

१) (अग्ने) शासनाग्ने ! (सहस्र-अक्षः) असंख्य-नेत्र [सब ओर दृष्टि रखनेवाला] तू (चीयमानः) चयनीय गुणों से युक्त रहता हुआ (मेधाय) यज्ञार्थ, राष्ट्रयज्ञ के सुसम्पादनार्थ (इमम्) इस (द्वि-पादम्) दो पैर-वाले [मनुष्य] को/की तथा (पशुम्) [गौ, आदि] पशु को/की (मा हिंसीः) हिंसा न होने दे

शासन को असंख्य-नेत्र [प्रत्येक पार्श्व में दृ रखनेवाला] होना चाहिये। जिस राज्य मानवजाति तथा पशुजाति की हिंसा होती उस राष्ट्र में सदैव भय, शंका, अरक्षा त अनिश्चितता व्यापी रहती है और परिणा स्वरूप दुःख तथा क्लेश से सब त्रस्त, चिन्तित त अशान्त रहते हैं। जहां मानव और पशु की सुर तथा सुपालना होती है वहां सर्वभावोपेत आन और शान्ति की व्याप्ति होती है। सर्वगुणसम्

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शासन ही सब ओर, सर्वतः दृष्टि रखता हुआ सतर्कता के साथ मानवजाति तथा पशुजाति की हिंसा का संवर्जन करता है।

२) (मेधम्) यज्ञ के प्रति, (मयुम् पशुम्) मयु [जाति के] पशु के प्रति (जुषस्व) प्रीति कर।

'मेध' नाम यज्ञ और मेधावी का है। यहां 'मेध' शब्द का प्रयोग राष्ट्रयज्ञ के लिये हुआ है।

जो शोभनीयता के साथ विचरता और सुशब्द करता है ऐसे प्रत्येक पशु का नाम 'मयु' है। शासन प्रत्येक मयु पशु को राष्ट्रीय पशु घोषित करके उनके प्रति जनप्रीति सम्पादन करे, उनके लिये वनस्थल सुरक्षित करे और उनकी सुरक्षा के साधनोपाय करे। ऐसे पशु राष्ट्रयज्ञ की शोभा हैं।

३) (तेन) उस [मेध, राष्ट्रयज्ञ, राज्यव्यवस्था] से (तन्वः) तनुओं को, मानवों और पशुओं के जीवनों को (चिन्वानः) जोड़ता/बढ़ाता/उन्नत करता हुआ (नि सीद) प्रस्थापित रह, नितराम् स्थित और स्थिर रह।

शासन की प्रस्थापना का उद्देश्य ही यह है कि उससे मानववंश और पशुवंश की सतत संवृद्धि हो और उनके जीवनों की सुस्थिति हो।

४) (ते) तेरा (शुक्) शोक, सहानुभूति (मयुम् ऋच्छतु) मयु [जाति के पशु] को प्राप्त रहे।

'शुक्' नाम शोक और सहानुभूति का है। मयु जाति के सुशोभन पशुओं के प्रति शासन और जनता की सहानुभूति रहनी चाहिये। जहां जिसके प्रति प्रीति होती है वहां उसकी क्षति में उसके प्रति शोकमिश्रित सहानुभूति होती है।

५) हम सब (यम् द्विष्मः) जिसे द्वेषते हैं, जिसके प्रति द्वेष करते हैं, (ते) तेरा (शुक्) शोक, सहानुभूति (तम् ऋच्छतु) उसे प्राप्त हो।

पशुओं की हिंसा का कारण जहां निर्दयता होती है, वहां मनुष्यों की हिंसा का कारण द्वेष होता है। प्रतिभा वा वैभव के कारण जब सब वा बहुत जन किसी एक के प्रति द्वेष करें और उसे सतायें तब शासन की शोकमिश्रित सहानुभूति सताये गये व्यक्ति के प्रति होना चाहिये और शासन द्वारा उसकी रक्षा की जानी चाहिये।

अग्ने ! सहस्राक्ष तू चीयमान हो
होने दे न हिंसा मानव की, न पशु की।
राष्ट्रयज्ञ और मयु पशु के प्रति
कर प्रीति नितराम्।
उस सुमेध से/राष्ट्रयज्ञ से
जोड़ता हुआ जीवनों को
रह निरन्तर तू प्रस्थापित।
शुक् तेरा रहे प्राप्त मयु को,
हम जिसके प्रति द्वेषते हैं,
तेरा शुक् प्राप्त हो उसको।

६७८ **इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु। गौरमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो नि षीद। गौरं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु।** य १३.४८

इमम् मा हिंसीः एक-शफम् पशुम् कनिक्रदम् वाजिनम् वाजिनेषु। गौरम् आरण्यम् अनु ते दिशामि तेन चिन्वानः तन्वः नि सीद। गौरम् ते शुक् ऋच्छतु यम् द्विष्मः तम् ते शुक् ऋच्छतु।

शासन के प्रति अपने सम्बोधन को जारी रखते हुये महामानव कहे चला जारहा है—

१) शासनाग्ने ! मैं (ते) तेरे प्रति (अनु दिशामि) अनुमति/परामर्श देता हूं कि (वाजिनेषु वाजिनम्) वेगवानों में वेगवान्, अतिशय वेगवान् (कनिक्रदम्) गर्जने/हिनहिनानेवाले, (इमम् एक-शफम् पशुम्) इस एक-खुर पशु को/की, तथा (आरण्यम् गौरम्) जंगली गौर को/की (मा हिंसीः) हिंसा न होने दे।

घोड़ा, गधा, खच्चर, ये तीन एक खुर वाले

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पशु हैं। इनमें से अतिशय वेगवान् केवल अश्व है। वाजी नस्ल के घोड़े अन्य सब प्रकार के घोड़ों से अधिक तीव्रगति होते हैं। साथ ही वाजी वंश के अश्व स्वभाव से ही युद्धप्रिय और युद्धोपयोगी होते हैं। प्रत्यक्षतः इनकी हिंसा न करना राष्ट्र के हित में होता है।

'गौर' शब्द का प्रयोग गोरे हिरन के अर्थ में हुआ है। यह जंगली पशु अतीव सुन्दर और मनोरम होता है। इस शोभनीय पशु की भी मयु पशु की तरह राष्ट्रीय स्तर पर रक्षा की जानी चाहिये और देश के सुरक्षित वनस्थल में इन्हें सुरक्षा के साथ रखा जाना चाहिये।

२) (तेन) उस [मेध, राष्ट्रयज्ञ, राष्ट्र-व्यवस्था] से (तन्वः चिन्वानः) जीवनों को समुन्नत करता हुआ (नि सीद) प्रस्थापित रह, नितराम् स्थित और स्थिर रह।

प्रस्थापित, सुस्थित और सुस्थिर शासन में ही मानवों और पशुओं के जीवन समुन्नत होते हैं।

३) (ते) तेरा (शुक्) शोक, सहानुभूति (गौरम् ऋच्छतु) गौर को प्राप्त हो।

गौर के प्रति शासन और जनता की सहानुभूति रहनी चाहिये।

४) हम (यम् द्विष्मः) जिसे द्वेषते हैं, जिसके प्रति द्वेष करते हैं, (ते) तेरा (शुक्) शोक, सहानुभूति (तम् ऋच्छतु) उसे प्राप्त हो।

प्रतिभा वा वैभव के कारण जब सब वा कोई व्यक्ति किसी एक के प्रति द्वेष के कारण उसे सतायें तो शासन सहानुभूतिपूर्वक उसकी रक्षा करे।

तेरे प्रति अनुमति देता हूं,
वेगवानों में वेगवान् हिनहिनानेवाले
इस एक-खुर पशु को, जंगली गौर को
होने दे न विनष्ट।
उस सुमेध से उन्नत करता हुआ
जीवनों को, रह स्थापित।
शुक् तेरा हो प्राप्त गौर को,
करते हैं हम द्वेष जिसके प्रति,
तेरा शुक् प्राप्त हो उसको।

६७९ इमं साहस्रं शतधारमुत्सं व्यच्यमानं सरिरस्य मध्ये। घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्। गवयमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो नि षीद। गवयं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु। य १३.४९

इमम् साहस्रम् शत्-धारम् उत्सम् वि-अच्यमानम् सरिरस्य मध्ये। घृतम् दुहानाम् अदितिम् जनाय अग्ने मा हिंसीः परमे वि-ओमन्। गवयम् आरण्यम् अनु ते दिशामि तेन चिन्वानः तन्वः नि सीद। गवयम् ते शुक् ऋच्छतु यम् द्विष्मः तम् ते शुक् ऋच्छतु।

शासन को सम्बोधन करता हुआ महामानव कहे चला जारहा है—

१) (अग्ने) शासनाग्ने! मैं (ते) तेरे प्रति (अनु दिशामि) अनुमति देता हूं कि (सरिरस्य मध्ये) हृदयरूपी सोमसरोवर के मध्य में और (परमे व्योमन्) हृदयाकाशरूपी परम व्योम में [दयार्द्र होकर] (इमम् साहस्रम् शत-धारम् वि-अच्यमानम् उत्सम्) इस साहस्र, शत-धार, विपालनीय उत्स को, (घृतम् दुहानाम् अदितिम्) घृत दुहाना अदिति को, तथा (आरण्यम् गवयम्) जंगली गाय को (जनाय) जनार्थ, जनहित (मा हिंसीः) मत मार, मत सता।

'उत्स' नाम कूप और झरने का है। वेंकट उत्स 'साहस्र' है, असंख्य सुविधाओं का दाता। बैल-उत्स 'शतधार' है, असंख्य प्रकार के अन्न और पेयों को धारा प्रवाहित करनेवाला है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वह विपालनीय है, विशेषतया पाला जाने योग्य है।

अखण्डनीया, अहननीया होने से गौ 'अदिति' है। गौ घृत की, दुग्ध, आदि पेयों की दात्री है।

जंगली गाय [नील गाय] भी एक शोभनीय पशु है और राष्ट्रीय स्तर पर रक्षा की जाने योग्य है। देश के सुरक्षित वनस्थल में इसे भी सुरक्षा के साथ रखा जाना चाहिये।

जनता और शासन के हृदय और हृदयाकाश में इनके लिये दयाभाव होना चाहिये।

२) (तेन) उस [मेध, राष्ट्रयज्ञ, राष्ट्र-व्यवस्था] से (तन्वः चिन्वानः) जीवनों को समुन्नत करता हुआ (नि सीद) स्थापित रह, स्थित और स्थिर रह।

३) (ते) तेरा (शुक्) शोक, सहानुभूति (गवयम् ऋच्छतु) गवय को प्राप्त रहे।

गवय के प्रति शासन की सहानुभूति और जनता की रक्षाभावना रहनी चाहिये।

४) हम (यम् द्विष्मः) जिसे द्वेषते हैं, (ते) तेरा (शुक्) शोक, सहानुभूति (तम् ऋच्छतु) उसे प्राप्त रहे।

द्वेषवश सताये जानेवाले व्यक्ति के प्रति शासन की सहानुभूति होनो चाहिये, न कि सतानेवाले के प्रति।

शासनाग्ने ! तेरे प्रति अनुमति देता हूं,
सरिर के मध्य में, परम व्योम में
इस साहस्र, शतधार, विपालनीय उत्स को,
और घृत-दुहाना अदिति को,
तथा जंगली गवय को, जनहिताय, मत मार।
उस सुमेध से उन्नत करता हुआ
जीवनों को, रह स्थापित।
शुक् तेरा हो प्राप्त गवय को,
करते हैं हम द्वेष जिसके प्रति,
तेरा शुक् प्राप्त हो उसको।

६८० इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदाम्। त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्। उष्ट्रमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो नि षीद। उष्ट्रं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु। य १३.५०

इमम् ऊर्णायुम् वरुणस्य नाभिम् त्वचम् पशूनाम् द्वि-पदाम् चतुः-पदाम्। त्वष्टुः प्र-जानाम् प्रथम् जनित्रम् अग्ने मा हिंसीः परमे वि-ओमन्। उष्ट्रम् आरण्यम् अनु ते दिशामि तेन चिन्वानः तन्वः नि सीद। उष्ट्रम् ते शुक् ऋच्छतु यम् द्विष्मः तम् ते शुक् ऋच्छतु।

शासन के प्रति अपने सम्बोधन को जारी रखते हुये महामानव कहता है—

१) (अग्ने) शासनाग्ने ! मैं (ते अनु दिशामि) तेरे प्रति अनुमति देता हूं कि (परमे व्योमन्) हृदयाकाशरूपी परम व्योम में [सदाशययुक्त होकर] (मा हिंसीः) मत नष्ट कर, नष्ट न होने दे (इमम् ऊर्णायुम्) इस ऊर्णायु को, (वरुणस्य नाभिम्) वरुण की नाभि को, (द्वि-पदाम् चतुः-पदाम् पशूनाम् त्वचम्) दोपाये और चौपाये पशुओं की त्वचा को, (त्वष्टुः प्र-जानाम् प्रथमम् जनित्रम्) त्वष्टा की प्रजाओं के प्रथम जनित्र को, (आरण्यम् उष्ट्रम्) जांगल ऊंट को।

'ऊर्णायु' नाम उन, भेड़, मेढा, आदि पशुओं का है जिनसे ऊन की प्राप्ति होती है। ऊन से ऊनी वस्त्र, कम्बलादि अनेक उपयोगी पदार्थ बनाये जाते हैं, जिनका प्रयोग शीत और वर्षा से रक्षा करता है। अतः शासन द्वारा ऊर्णायु-वंश का पालन तथा रक्षा की जानी चाहिये।

'नाभि' शब्द का प्रयोग यहां स्त्रीलिंग में हुआ है। यह शब्द जब स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होता है तो

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इसका अर्थ होता है कस्तूरी। प्रसंगतः 'वरुण' शब्द का प्रयोग यहां उस हरिण के लिये हुआ है जिसकी नाभि में कस्तूरी होती है। कस्तूरी अतिशय उपयोगी ओषधि है। शासन का कर्तव्य है कि कस्तूरी की उपलब्धि के लिये कस्तूरी हरिण की रक्षा करे।

पक्षी भी द्विपाद हैं। किन्तु पक्षी पशु नहीं है, पक्षी है। वनमानुष, रीछ, बन्दर, लंगूर, आदि द्विपाद पशु हैं। चतुष्पाद पशु हैं गाय, घोड़ा, ऊंट, बैल, हाथी आदि, पालतू पशु और शेर, चीता, गेंडा, आदि जंगली पशु। सब प्रकार के द्विपाद, चतुष्पाद पशुओं की खाल अनेक मानवोपयोगी कार्यों के लिये संग्रहणीय है। इन पशुओं के मरने वा मारे जाने पर इनकी खाल का संग्रह करके उसका सदुपयोग किया जाये, शासन ऐसी सुव्यवस्था करे।

लोक-लोकान्तरों का निर्माता होने से परमात्मा त्वष्टा है। 'जनित्र' नाम उत्पत्तिस्रोत अथवा वीर्य का है। प्रजाओं से तात्पर्य यहां मानवप्रजाओं से है। त्वष्टा की सृष्टि में मानव ही प्र [प्रकृष्ट, सर्वोत्कृष्ट] जा [योनि, सन्तति] है। प्रभु की सृष्टि में मानव ही सर्वश्रेष्ठ है और मानवयोनि में वीर्य ही सकल पराक्रमों का मूल है। प्रत्येक राष्ट्र का शासन शिक्षा-दीक्षा की ऐसी शुद्ध व्यवस्था करे कि मानवप्रजा वीर्यरक्षण के महत्त्व को समझकर वीर्य को नष्ट न करे, समग्र प्रजा संयमी और सदाचारी बनी रहे।

ऊंट जंगली नहीं है, जांगल है। पालतू होने पर भी वह जंगल के डाल-पात खाकर अपना पेट भरता है और मनुष्यजाति की महान् सेवा है। ऐसे उपयोगी पशु को नष्ट न होने देना चाहि

२) (तेन) उस [मेध, राष्ट्रयज्ञ, राष्ट्र-व्यवस्था (तन्वः चिन्वानः) जीवनों को समुन्नत करता (नि सीद) स्थापित रह, स्थित और स्थिर रह

स्थिरता के साथ स्थापित शासन में ही मनु और पशुओं के जीवनों की सर्वतः उन्नति होती

३) (ते) तेरा (शुक्) शोक, सहानुभूति (ऋच्छतु) ऊंट को प्राप्त हो।

शासन सहानुभूति के साथ इस पशु का व्य करे।

४) हम (यम् द्विष्मः) जिसे द्वेषते हैं, जिससे करते हैं, (ते) तेरा (शुक्) शोक, सहानु (तम् ऋच्छतु) उसे प्राप्त हो।

शासन की सहानुभूति द्वेष करनेवालों को नहीं, द्वेषियों द्वारा सताये जानेवाले के प्रति चाहिये।

शासनाग्ने ! तेरे प्रति अनुमति देता हूं,
परम व्योम में सदाशय से
नष्ट न होने दे इस ऊर्णायु को,
वरुण की नाभि को,
दोपाये चौपाये पशुओं की त्वचा को,
त्वष्टा की प्रजाओं के प्रथम जनित्र को,
जांगल ऊंट को।
उस सुमेध से उन्नत करता हुआ
जीवनों को, रह स्थापित।
शुक् तेरा हो प्राप्त ऊंट को,
करते हैं हम द्वेष जिसके प्रति,
तेरा शुक् प्राप्त हो उसको।

अजो हि नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने

६८१ अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात् सो अपश्यज्जनितारमग्रे। तेन देवा देवतामग्रमायन्ने रोहमायन्नुप मेध्यासः। शरभमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो नि षीद शरभं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु।
[अ ४.१४.१]

य १३.५

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अजः हि अग्नेः अजनिष्ट शोकात् सः अपश्यत् जनितारम् अग्रे । तेन देवाः देवताम् अग्रम् आयन् तेन रोहम् आयन् उप मेध्यासः । शरभम् आरण्यम् अनु ते दिशामि तेन चिन्वानः तन्वः नि सीद । शरभम् ते शुक् ऋच्छतु यम् द्विष्मः तम् ते शुक् ऋच्छतु ।

शासनाग्नि को सम्बोधन करता हुआ महामानव जीवनों को उन्नत करने के उपाय बताता है—

१) जीवनोन्नति के लिये (अजः) अ-ज, अजन्मा, अमर आत्मा (अग्रे) अग्र में, सर्वप्रथम (अग्नेः शोकात्) ब्रह्माग्नि के तेज से (हि) ही (अजनिष्ट) प्रकाशित हुआ करता है ।

आत्मा 'अज' है, अजन्मा है । आत्मा न कभी जन्मता है, न मरता है । जो जन्मता है, मरता है वह तो शरीर है ।

प्रत्येक शासन अपने राष्ट्र में ऐसी आध्यात्मिक शिक्षापद्धति का प्रचलन करे कि प्रत्येक व्यक्ति आत्मा के अमरत्व को पहचान कर मृत्यु से निर्भय रहे । मृत्यु से निर्भय होकर ही मानव सच्चे अर्थों में सुवीर बनता है और आध्यात्मिक जीवनपद्धति से युक्त होकर ही लोक-परलोक की विजय सम्पादन करता है । आध्यात्मिक जीवनपद्धति से युक्त होकर ही आत्मा ब्रह्माग्नि में समाहित होता है और ब्रह्म के तेज से तेजोमय होकर प्रकाशता है ।

२) आध्यात्मिक जीवनपद्धति से युक्त होकर ही (सः) वह [अज, अमर आत्मा] (अग्रे) अग्र में, आदि में, सर्वप्रथम (जनितारम्) प्रादुर्भावयिता को (अपश्यत्) देखा करता है, साक्षात् किया करता है ।

ब्रह्माग्नि ही इस सबका 'जनिता' अथवा प्रादुर्भावयिता है । पारिवारिक जीवन तथा शिक्षापद्धति ऐसी हो कि जीवन के प्रथम [अग्र] भाग में ही ब्रह्म का साक्षात्कार किया जाये और फिर यावज्जीवन ब्रह्मकृत अथवा ब्रह्ममय रहते हुये कर्तव्य कर्मों का निर्वहन किया जाये । महामानव की यह संसाध ही पृथिवी को मानवधर्म से युक्त रख सकती है और पृथिवी की सम्पूर्ण मानवप्रजा को एक अभिन्न परिवार में परिणत करके वसुन्धरा को सुख, शान्ति, स्वस्ति और आनन्द से सुयुक्त रख सकती है ।

३) (तेन) उस [अध्यात्म-साधना] से (देवाः) देव जन (अग्रम् देवताम्) अग्र देवता [ब्रह्म] को (आयन्) प्राप्त किया करते हैं, (तेन) उसी [साधना] से (मेध्यासः) यज्ञिय/सुपावन जन (रोहम्) आरोहण को (उप आयन्) सम्पादन किया करते हैं ।

दिव्य परमात्मदेव की उपासना से जो अपने जीवनों में दिव्यताओं का संचार करते हैं वे 'देव' हैं । उसी सुपावन परमात्मा की उपासना से जो अपने जीवनों को यज्ञिय/सुपावन बनाते हैं उनकी संज्ञा है 'मेध्यासः' । परमात्मा ही 'अग्र देवता' है, सर्वाग्र उपासनीय और सर्वश्रेष्ठ देव है । उसकी प्राप्ति की साधना करके ही मानव देव बनते हैं, यज्ञिय और सुपावन बनते हैं । उसकी ही स्तुतिप्रार्थनोपासना द्वारा देव जन तथा यज्ञिय जन परमारोहित/परमोच्च ब्रह्म के परम धाम में प्रवेश करते हैं, ब्राह्म मोक्ष अथवा ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं ।

४) मैं (ते) तेरे प्रति (अनु दिशामि) अनुमति देता हूं कि (आरण्यम् शरभम्) जांगल शरभ को (मा हिंसीः) मत मार ।

'शरभ' नाम हाथी के बहुत छोटे बच्चे का है । हाथी के छोटे-छोटे बच्चों को पालकर उनके बड़े होने पर उनसे अनेक उपयोगी काम लिये जाते हैं । अतः राष्ट्र की दृष्टि से उनका हनन हानिकर है और उनका पालन लाभकर है । बच्चों को सधाना—सिखाना अपेक्षाकृत आसान होता है । हाथी के छोटे-छोटे बच्चों को पालकर और सधा-सिखाकर उन्हें उपयोगी बनाना चाहिये ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

५) (तेन) उस [मेध, राष्ट्रयज्ञ, राष्ट्र-व्यवस्था] से (तन्वः चिन्वानः) जीवनों को उन्नत करता हुआ (नि सीद) स्थापित रह, स्थित और स्थिर रह।

स्थिरता के साथ स्थापित शासन में ही आध्यात्मिक जीवनपद्धति का प्रसार होकर मानवों के जीवन समुन्नत और पशुओं के जीवन सुविकसित होते हैं।

६) (ते) तेरा (शुक्) शोक, सहानुभूति (शरभम् ऋच्छतु) शरभ को प्राप्त हो।

शासन सहानुभूति के साथ शरभों का रक्षण और पालन कराये।

७) हम (यम् द्विष्मः) जिसे द्वेषते हैं, जिससे द्वेष करते हैं, (ते) तेरा (शुक्) शोक, सहानुभूति (तम् ऋच्छतु) उसे प्राप्त हो।

शासन की सहानुभूति द्वेषियों के प्रति नहीं, द्वेषित के प्रति होना चाहिये।

अज प्रथम अग्नि के तेज से ही
प्रकाशित हुआ करता है।
सर्वप्रथम वह साक्षात् किया करता है
प्रादुर्भावयिता प्रभु को।
उस सुसाधना से ही देव जन
अग्र देवता को पाते हैं,
और उसी से यज्ञिय जन
करते आरोहण सम्पादन।
तेरे प्रति अनुमति देता हूं,
मार नहीं आरण्य शरभ को।
उस सुमेध से उन्नत करता हुआ
जीवनों को, रह स्थापित।
शुक् तेरा हो प्राप्त शरभ को,
करते हैं हम द्वेष जिसके प्रति,
तेरा शुक् प्राप्त हो उसको।

६८२ त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄँः पाहि शृणुधी गिरः। रक्षा तोकमुत त्मना॥
[ऋ ८.८४.३, य १८.७७, सा १२४६] य १३.५२

त्वम् यविष्ठ दाशुषः नॄन् पाहि शृणुधि गिरः। रक्ष तोकम् उत त्मना।

यहां शासनाग्नि को यविष्ठ शब्द से सम्बोधन करते हुये महामानव कहता है—

१) (यविष्ठ) युवतम! सक्षमतम! बलवत्तम!

२) (त्वम्) तू (दाशुषः नृन्) दानशील नरों को/की, अर्पित प्रजाजनों को/की (पाहि) रक्षा कर।

३) उनकी (गिरः) वाणियों/पुकारों/प्रार्थनाओं को (शृणुधि) सुन।

४) (उत) और [उनके] (तोकम्) सन्तान को/की (त्मना रक्ष) आत्मना रक्षा कर।

प्रत्येक राष्ट्र के शासन को अतिशय सक्षम रहना चाहिये। सक्षम शासन ही प्रजाजनों की सर्वतः रक्षा करने में समर्थ होता है। सक्षम शासन में ही न्यायव्यवस्था अनुशासन, मर्यादापालन तथा सदाचार सुस्थित और सुस्थिर रहते हैं। सक्षम और शक्तिशाली शासन के प्रति ही प्रजा की निष्ठा के साथ प्रार्पित रहती है। सनिष्ठ प्रजा रक्षा शासन का धर्म है।

जनपुकार को सतर्कता के साथ खुले से सुनना, जनमत और जनप्रतिक्रियाओं से अवगत रहना किसी भी जनसेवी और जनकल्याण शासन के लिये एक भद्र कर्तव्य है।

सक्षम शासन के लिये सर्वातिशय महत्त्व कार्य है सन्तान का संरक्षण तथा सम्पोषण। आज की सन्तान ही कल के नागरिक-नागरिकाएं हैं, कर्णधार हैं। बच्चा मानव का पिता है। बच्चा-बच्ची ही बड़े होकर माता-पिता बनते हैं। एक विवेकी और सक्षम राष्ट्र सन्ततियों के सुनिर्माण में आत्मयोग के साथ निरत रहता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सन्तति का सुपोषण, शिक्षण और प्रशिक्षण पूर्ण तत्परता के साथ करना ही सन्तति की रक्षा करना है।

युवतम ! तू रक्षा कर
दानशील अर्पित जनों की,
सुन पुकार और रक्षा कर सन्तति की आत्मना।

Inaugural Address

६८३ अपां त्वेमन्त्सादयाम्यपां त्वोद्मन्त्सादयाम्यपां त्वा भस्मन्त्सादयाम्यपां त्वा ज्योतिषि सादयाम्यपां त्वा ऽयने सादयाम्यर्णवे त्वा सदने सादयामि समुद्रे त्वा सदने सादयामि सरिरे त्वा सदने सादयाम्यपां त्वा क्षये सादयाम्यपां त्वा सधिषि सादयाम्यपां त्वा सदने सादयाम्यपां त्वा सधस्थे सादयाम्यपां त्वा योनौ सादयाम्यपां त्वा पुरीषे सादयाम्यपां त्वा पाथसि सादयामि गायत्रेण त्वा छन्दसा सादयामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि जागतेन त्वा छन्दसा सादयाम्यानुष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि पाङ्क्तेन त्वा छन्दसा सादयामि। य १३.५३

अपाम् त्वा एमन् सादयामि अपाम् त्वा ओद्मन् सादयामि अपाम् त्वा भस्मन् सादयामि अपाम् त्वा ज्योतिषि सादयामि अपाम् त्वा अयने सादयामि अर्णवे त्वा सदने सादयामि समुद्रे त्वा सदने सादयामि सरिरे त्वा सदने सादयामि अपाम् त्वा क्षये सादयामि अपाम् त्वा सधिषि सादयामि अपाम् त्वा सदने सादयामि अपाम् त्वा सध-स्थे सादयामि अपाम् त्वा योनौ सादयामि अपाम् त्वा पुरीषे सादयामि अपाम् त्वा पाथसि सादयामि गायत्रेण त्वा छन्दसा सादयामि त्रै-स्तुभेन त्वा छन्दसा सादयामि जागतेन त्वा छन्दसा सादयामि आनु-स्तुभेन त्वा छन्दसा सादयामि पाङ्क्तेन त्वा छन्दसा सादयामि।

सारी पृथिवी देश, राष्ट्र और शासन में विभक्त है। प्रत्येक देश पृथिवी माता का ही एक अंश है। प्रत्येक देश के जनसमूह का नाम राष्ट्र है। प्रत्येक राष्ट्र का अपना अपना शासन और संविधान है। प्रत्येक देश की अपनी अपनी शासनपद्धति है। नियतावधि की परिसमाप्ति पर जब जब किसी देश में नवीन शासन की स्थापना की जाये तब तब शासनाधिपति, राष्ट्रपति अथवा राजा नवीन शासन-परिषद् के रूप में शासन को इस मन्त्र से सम्बोधन करता हुआ शासन के कर्तव्यों का उद्-बोध कराये।

१) मैं (त्वा सादयामि अपाम् एमन्) तुझे स्थापित करता हूं अपों के पथ पर।

'अप्' नाम जल, प्रवाह, कर्म, कर्मप्रवाह और प्रजा का है। प्रजा जलप्रवाहों के समान सुप्रवाहित रहनी चाहिये, इस आशय को प्रकट करने के लिये यहां प्रजाओं के लिये 'अप्' शब्द का प्रयोग किया गया है। जिस प्रकार अप्रवाहित जल सड़ जाता है उसी प्रकार कुण्ठाग्रस्त जनता विकारग्रस्त होजाती है।

शासन को चाहिये, वह प्रजा जनों के पथ पर चले। प्रजाओं के प्रति अपने कर्तव्य कर्मों के सुनिर्वहन में, प्रजाओं की सुसेवा और समुन्नति में निष्ठापूर्वक निरत रहना ही शासन का प्रजा के पथ पर चलना है।

२) मैं (त्वा सादयामि अपाम् ओद्मन्) तुझे स्थापित करता हूं प्रजाओं के दलदल में।

देश कभी कभी विघ्नबाधाओं और आपदाओं

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

के दलदल में फंस जाता है। ऐसे अवसर पर राष्ट्र की प्रजाओं को किंकर्तव्यविमूढ़ता की दलदल से बाहर निकालकर उन्हें आगे बढ़ाना शासन की कर्मकुशलता तथा क्षमता पर निर्भर होता है।

३) मैं (त्वा सादयामि अपाम् भस्मन्) तुझे स्थापित करता हूं प्रजाओं की भस्म में।

जो शुद्ध राख शरीर पर रमायी जाती है उसे भस्म कहते हैं। शासन में युक्त प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह अपने जीवन पर प्रजाओं की सेवा-रूपी भस्म को रमाये, आत्मनिजता के साथ उनकी सुसेवा करे।

४) मैं (त्वा सादयामि अपाम् ज्योतिषि) तुझे स्थापित करता हूं प्रजाओं की ज्योति में।

शासन का कर्तव्य है कि सुशिक्षा द्वारा वह राष्ट्रजनों में ज्ञान, विज्ञान, विवेक, बोध, प्रबोध की ज्योति का संचार करे।

५) मैं (त्वा सादयामि अपाम् अयने) तुझे स्थापित करता हूं प्रजाओं के अयन में।

'अयन' नाम निवासस्थान, गति गमन और मार्ग का है। यहां इस शब्द का प्रयोग निवास-स्थान अथवा गृह के लिये हुआ है। शासन की सेवायें प्रजाओं के घर घर में पहुंचनी चाहियें। किसी भी राष्ट्र की समग्र जनता गृहों में निवास करती है। घर घर के सुधार और विकास से हो राष्ट्र राष्ट्र और विश्व का सुनिर्माण होगा। गृह ही राष्ट्र और विश्व का मूलाधार है। गृह गृह का संशोधन और समुत्थान किसी भी शासन की दृष्टि से ओझल न होने पाये।

६) मैं (त्वा सादयामि अर्णवे सदने) तुझे स्थापित करता हूं अर्णव सदन में।

अर्णवः=अर्ण [जल]+वः [वान्, वाला]। अर्णवान्, अर्णवाला, जलवाला होने से बादल अर्णव है। शासन बादलों के समान प्रजा पर सुखैश्वर्य की ही नहीं, सद्धर्म और सदाचार की भी वृष्टि करनेवाला हो। सदाचार और सद्धर्म से सुसंस्कृत राष्ट्र ही 'अर्णव सदन' हैं। जो स्व राष्ट्र को अर्णव सदन बनाता है वही विश्व पर सुखसौभाग्य की वृष्टि करता है।

७) मैं (त्वा सादयामि समुद्रे सदने) तुझे स्थापित करता हूं समुद्र सदन में।

शासन समुद्र सदन में स्थापित हो। ऐसा सुशासन हो जो राष्ट्र को समुद्र सदन बनाये। समुद्र अतिशय गहन और गम्भीर होता है। शासन की व्यवस्था ऐसी संसिद्ध हो कि समूचा राष्ट्र गहन और गम्भीर हो, राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति गहन और गम्भीरता से युक्त हो, राष्ट्र में कहीं भी उच्छृंखलता और अनुशासनहीनता न हो।

८) मैं (त्वा सादयामि सरिरे सदने) तुझे स्थापित करता हूं सरिर सदन में।

'सरिर' नाम सरणशील का है। सरण होने से सरिर नाम जल का भी है। शासन स्व को ऐसा सरणशील बनाये कि वह जल के सर्वतः सरण करता हुआ विश्व को हरा करनेवाला हो।

९) मैं (त्वा सादयामि अपाम् क्षये) तुझे स्थापित करता हूं प्रजाओं के निवास में।

क्षि (निवासगत्योः)। शासन सारे राष्ट्र प्रजाओं का एक ऐसा अभिन्न सुनिवास बनाये कि समग्र जनता सुखपूर्वक निवास करती हुयी एक के सूत्र में सूत्रित रहे और प्रत्येक पार्श्व में प्रगति करती रहे।

१०) मैं (त्वा सादयामि अपाम् सधिषि) स्थापित करता हूं प्रजाओं की धारणा-साहित्य

शासन ऐसा स्वच्छ और सक्रिय हो कि प्रजा की धारणा से सहित रहे, प्रजाओं की धारणा से धारित रहे, जनता का उसमें ध्रुव विश्वास

११) मैं (त्वा सादयामि अपाम् सदने) तुझे स्थापित करता हूं प्रजाओं के सदन में।

'सदन' से तात्पर्य यहां लोकसदन, लोकसदन अथवा संसद् से है। शासन के लिये विधि

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विधान का निर्धारण प्रजाओं द्वारा चुने गये जन-प्रतिनिधियों की संसद् द्वारा किया जाना चाहिये।

१२) मैं (त्वा सादयामि अपाम् सध-स्थे) तुझे स्थापित करता हूं प्रजाओं के सधस्थ में।

'सधस्थ' नाम सहस्थान और गोद का है। शासन का जन्म प्रजाओं के मताधिकार से होता है। अतः शासन प्रजाओं की गोद का प्रिय शिशु बना रहना चाहिये।

१३) मैं (त्वा सादयामि अपाम् योनौ) तुझे स्थापित करता हूं प्रजाओं की योनि में।

जिस प्रकार माता की योनि [गर्भाशय] में शिशु सुपोषित और सुरक्षित होता है उसी प्रकार शासन प्रजाओं की योनि में प्रजाओं द्वारा सुपोषित, अनुमोदित और सुसेवित रहे। शासन का राष्ट्र-जनों के प्रति दौर्मनस्य और टकराव न हो।

१४) मैं (त्वा सादयामि अपाम् पुरीषे) तुझे स्थापित करता हूं प्रजाओं के तेज में।

वैदिक वाङ्मय में 'पुरीष' शब्द के अनेक अर्थों में से एक अर्थ जल और दूसरा तेज है। जिस प्रकार जलों से विद्युत् की प्राप्ति होती है उसी प्रकार प्रजाओं से ही शासन में तेजस्विता का संचार होता है। शासन प्रजाओं को तेजोमय और दीप्तियुक्त रखे, उन्हें तेजोहीन और दीप्तिविहीन न होने दे। प्रजायें शासन के तेज का अक्षय स्रोत बनी रहें।

१५) मैं (त्वा सादयामि अपाम् पाथसि) तुझे स्थापित करता हूं प्रजाओं के पाथस् में।

'पाथस्' नाम जल और अन्न का है। शासन प्रजा के अन्न-जल पर आश्रित होता है। शासन में युक्त सभी पदाधिकारी तथा कर्मचारी प्रजाओं से प्राप्त धन से ही पालित और पोषित होते हैं। राष्ट्रपति से लेकर लघुतम कर्मचारी तक सभी जनता के अन्नसेवी और नमकसेवी हैं। सभी का पुनीत कर्तव्य है कि वे प्रजा के प्रति सनिष्ठ [वफ़ादार] रहें, अपने को जनता का सेवक समझें और अनन्यता के साथ सबकी सेवा और रक्षा करें।

१६) मैं (त्वा सादयामि गायत्रेण छन्दसा) तुझे स्थापित करता हूं प्राणरक्षण भावना से।

शासन की स्थापना के उद्देश्यों में से एक उद्देश्य प्राणरक्षण अथवा जीवन की रक्षा भी है। शासन इतना सतर्क और सुप्रभावी हो कि कोई किसी के जीवन की हत्या न करने पाये।

१७) मैं (त्वा सादयामि त्रै-स्तुभेन छन्दसा) तुझे स्थापित करता हूं त्रि-प्रशस्तता की भावना से।

शासन मन, वचन, कर्म, तीनों प्रकार की प्रशस्ति की भावना से प्रशस्त होना चाहिये। ऊपर से नीचे तक और नीचे से ऊपर तक शासनस्थ सभी व्यक्ति मन, वचन, कर्म से सर्वथा प्रशस्त हों।

१८) मैं (त्वा सादयामि जागतेन छन्दसा) तुझे स्थापित करता हूं जागत [जगती के कल्याण की] भावना से।

शासन-संस्था की मूल भावना सारे जगत् का कल्याण है। पृथिवीस्थ सभी राज्यों और राष्ट्रों में जनकल्याणी शासनपद्धति की स्थापना द्वारा सारे संसार का कल्याण सम्पादन किया जाये, ऐसी भावना प्रत्येक देश के शासन की होनी चाहिये।

१९) मैं (त्वा सादयामि आनु-स्तुभेन छन्दसा) तुझे स्थापित करता हूं आनुस्तुभ भावना से, सुसत्याचरण भावना से।

शासन सुसत्याचरण से युक्त रहता हुआ अपने समग्र साधनों द्वारा प्रत्येक जनक्षेत्र और जनपार्श्व में सुसत्याचरण का प्रचलन और प्रसार करे। यथा शासन तथा प्रजा। शासन सुसत्याचरण से युक्त रहता है तो प्रजायें भी सुसत्याचरण से युक्त रहती हैं।

२०) मैं (त्वा सादयामि पांङ्क्तेन छन्दसा) तुझे स्थापित करता हूं पांङ्क्त भावना से।

पंक्तिबद्धता के साथ श्रेणिशः कर्तव्यसम्पादन की भावना का नाम पाङ्क्त भावना है। शासन

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नीचे से ऊपर तक श्रेणि [सीढ़ी] की तरह ऊर्ध्वारोही हो। सभी नागरिक-नागरिकायें पंक्तिबद्ध होकर कार्य करें, समानरूपेण समादृत और लाभान्वित हों।

मैं तुझे स्थापित करता हूं
प्रजाओं के पथ पर।
मैं तुझे स्थापित करता हूं
प्रजाओं के दलदल में।
मैं तुझे स्थापित करता हूं
प्रजाओं की भस्म में।
मैं तुझे स्थापित करता हूं
प्रजाओं की ज्योति में।
मैं तुझे स्थापित करता हूं
प्रजाओं के गृह में।
मैं तुझे स्थापित करता हूं
बादल सदन में।
मैं तुझे स्थापित करता हूं
समुद्र सदन में।
मैं तुझे स्थापित करता हूं
सरिर सदन में।
मैं तुझे स्थापित करता हूं
प्रजाओं के निवास में।
मैं तुझे स्थापित करता हूं
प्रजाओं के धारणा-साहित्य में।
मैं तुझे स्थापित करता हूं
प्रजाओं के सदन में।
मैं तुझे स्थापित करता हूं
प्रजाओं के सधस्थ में।
मैं तुझे स्थापित करता हूं
प्रजाओं की योनि में।
मैं तुझे स्थापित करता हूं
प्रजाओं के तेज में।
मैं तुझे स्थापित करता हूं
प्रजाओं के अन्न में।
मैं तुझे स्थापित करता हूं
प्राणरक्षण भावना से।
मैं तुझे स्थापित करता हूं
त्रि-प्रशस्ति भावना से।
मैं तुझे स्थापित करता हूं
जागत भावना से।
मैं तुझे स्थापित करता हूं
आनु-स्तुभ भावना से।
मैं तुझे स्थापित करता हूं
पाङ्क्त भावना से।

६८४ अयं पुरो भुवस्तस्य प्राणो भौवायनो वसन्तः प्राणायनो गायत्री वासन्ती गायत्रं गायत्रादुपांशुरुपांशोस्त्रिवृत् त्रिवृतो रथन्तरं वसिष्ठ ऋषिः प्रजापतिगृहीतत्वया प्राणं गृह्णामि प्रजाभ्यः। य १३.५

अयम् पुरः भुवः तस्य प्राणः भौव-आयनः वसन्तः प्राण-आयनः गायत्री वासन्ती गा गायत्रम् गायत्रात् उप-अंशुः उप-अंशोः त्रि-वृत् त्रि-वृतः रथम्-तरम् वसिष्ठः ऋषिः प्रजापति गृहीतया त्वया प्राणम् गृहणामि प्र-जाभ्यः।

देश देश में जनकल्याणी शासन की स्थापना के उपरान्त अध्यायान्त में इस मन्त्र से आरम्भ करके अन्तिम मन्त्र तक महामानव अपनी साध का व्यक्तीकरण करता है और वेदमाता उसका प्रशस्तीकरण करती है।

महामानव कहता है—मानवप्रजे! (वसिष्ठः) मनुर्हित वासयिता मैं (त्वया गृहीतया) तुझ प्रजापति से गृहीता

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

[प्रीतिमान् हुआ] (प्राणम् गृह्णामि) प्राण ग्रहण कररहा हूं (प्र-जाभ्यः) प्रजाओं के लिये।

ऋषिः स यो मनुर्हितः (ऋग्वेद १०.२६.५), ऋषि वह है जो मनुष्यमात्र का हितसम्पादक हो। वेद में ऋषि शब्द का प्रयोग सर्वत्र इसी अर्थ में हुआ है। ऋष् (गतौ) धातु से ऋषि शब्द बना है। इस धातु से व्युत्पत्ति मानने पर ऋषि शब्द का अर्थ होगा गतिशील, प्रगतिशील। प्रगतिशील ही मनुष्यमात्र का हितचिन्तन और हितसम्पादन कर सकता है।

वसिष्ठ=अतिशयेन वासयिता, अतिशयता के साथ बसानेवाला। जो अतिशयता के साथ बसाये वह वसिष्ठ है। प्राण वसिष्ठ है। प्राण ही प्राणी के जीवन में आत्मा को बसाये रहता है। प्राण निकल जाता है तो आत्मा भी प्राणी के जीवन से निकल जाता है। प्राण ही से जीवन जीवित और आबाद है। प्राण के वियुक्त होते ही जीवन मृत और बर्बाद हो जाता है। जीवनाधार होते हुये भी प्राण सर्वथा निर्विषय, निरासक्त और निर्विकार है। निर्विषय, निरासक्त और निर्विकार होने से वेद में ब्रह्म को भी प्राण कहा गया है।

प्राण निर्विषय है। प्राण का कोई विषय नहीं। पांच विषयेन्द्रियों के जो पांच विषय हैं, प्राण उन सबसे सदा-मुक्त है। विषयों से ही आसक्ति होती है। विषयमुक्त में आसक्ति का क्या काम? निर्विषय होने से प्राण निरासक्त है, नितान्त निरासक्त है। विषयों से ही विकारों की उत्पत्ति होती है। निर्विषय होने से प्राण निर्विकार है।

प्राण ग्रहण करने से तात्पर्य प्राण के समान निर्विषय, निरासक्त और निर्विकार रहते हुये जीने से है।

प्रजापति शब्द का प्रयोग यहां राष्ट्रपति अथवा राजा के लिये हुआ है। प्रत्येक देश की मानवप्रजा (अपने राष्ट्र और राष्ट्रपति से गृहीत [प्रेमबद्ध, निष्ठाबद्ध] रहे, यह भावना 'प्रजापति-गृहीतया' में है। प्रजापति-गृहीता प्रजा मर्यादापालक और अनुशासित होती है। ऐसी प्रजा ही महामानव से सच्चा प्रेम करती हुयी मानवीय शिक्षाओं से उत्कृत और लाभान्वित होती है।

महामानव ऋषि है, मनुर्हित है। वह वसिष्ठ है, प्राण के समान मानवप्रजा का सर्वतः वासयिता तथा सुखयिता है। वह प्राण के समान निर्विषय, निरासक्त और निर्विकार होकर प्राण ग्रहण कर रहा है, पृथिवी की सम्पूर्ण मानवप्रजा के हित-सम्पादन के लिए जीरहा है। अतः भूमि पर निवास करनेवाली सारी मानवप्रजायें उससे प्रेम-बद्ध होंगी ही। साथ ही सार्वभौम सुव्यवस्था के लिये वह चाहता है कि देश देश की मानवप्रजायें अपने अपने राष्ट्र और राष्ट्रपति से निष्ठापूर्वक सम्बद्ध रहें। राष्ट्रनिष्ठ प्रजायें ही राष्ट्रपति से प्रेमबद्ध रहती हैं।

वेदमाता कहती है—

१) हितसम्पादक और वासयिता बनकर मानव-प्रजाओं के लिए प्राण धारण करना, प्राणवत् जीना किसी भी महामानव का (अयम् पुरः भुवः) यह पूर्व [प्रथम] भुव है।

जो हो, जिसका अस्तित्व हो, उसे 'भुव' कहते हैं। महामानव का भुव [अस्तित्व] भुव [अस्तित्व] है, प्रथम कोटि का अस्तित्व है।

२) (तस्य प्राणः) उसका प्राण [जीवन] है (भौव-आयनः) भुव का पुत्र, अस्तित्वों का अस्तित्व, जीवनों का जीवन।

३) (तस्य प्राणः) उसका जीवन है (वसन्तः) वसन्त। कैसा वसन्त? (प्राण-आयनः) प्राणों का पुतला, संजीवनी शक्तियों का संचार करनेवाला।

जिस प्रकार वसन्त ऋतु वनस्पतियों में सुवास और नवजीवन का संचार करता है उसी प्रकार महामानव का जीवन वह वसन्त है जो प्राणों में सुवास और जीवनों में संजीवन का संचार करता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

४) (तस्य प्राणः) उसका जीवन है (गायत्री वासन्ती) प्राणों की रक्षिका वासन्ती/वसन्त की व्याख्यात्री।

महामानव का जीवन हो प्राणों [मानव-जीवनों] के रक्षाशास्त्र की स्पष्ट व्याख्या। मानव-जीवन का मूल्यांकन करते हुए मानवजीवन और मानवता की रक्षा करना, इस तत्त्व की खुली व्याख्या हो महामानव का अपना जीवन।

५) (तस्य प्राणः) उसका जीवन है (गायत्र्यै गायत्रम्) प्राणरक्षण के लिये प्राणरक्षण।

वह निष्काम भाव से मानवप्राणी के जीवन की रक्षा और मानवप्राणी की सुसेवा करता है।

६) (तस्य प्राणः) उसका जीवन है (गायत्रात्) प्राणरक्षण से [संसिद्ध हुआ] (उपांशुः) उपांशु।

'उपांशु' नाम मौन, ध्वनिशून्य मन्त्रजाप का है। **मननात् मन्त्रः**। मनन का विषय होने से वेद के पदों का नाम मन्त्र है। यहां उपांशु से तात्पर्य मौन मनन से है। मौन होकर ही मनन किया जाता है। मानवजाति की रक्षोन्नति के साधनोपायों का मौन मननकर्ता होने से महामानव का जीवन रक्षासिद्ध उपांशु है।

७) (तस्य प्राणः) उसका जीवन है (उपांशोः) मौन मनन से [संसिद्ध हुआ] (त्रि-वृत्) [प्राण के] त्रित से वर्तमान [युक्त]।

'वृत्' (वर्तने) से 'वृत्' शब्द की उत्पत्ति हुयी है। प्राण के तीन प्रसिद्ध वर्तन हैं प्राण, अपान, व्यान। प्राण का कार्य है पवित्रता का संचार करना। अपान का कार्य है अपवित्रता का निराकरण। व्यान का कार्य है व्याप्ति। मनन के आश्रय से महामानव मानवप्रजा दोषों का निराकरण और उनमें मानवीय संचार करके विश्व में शुद्ध मानवता की कररहा है।

८) (तस्य प्राणः) उसका जीवन है (त्रि-वृत् से [संसिद्ध हुआ] (रथम्-तरम्) यता के साथ तरने/तारने वाला।

र [रमणीय], थ [थर्वण, गति]। थर्वण अथवा रमणीय गति से युक्त यान का रथ है। जो रथ रमणीयता के साथ तरता तारता है वह रथन्तर है। त्रि-वृत् की अपने में संसिद्धि करके महामानव ने अपने जीव रथन्तर बना लिया है। वह स्वयं तररहा है मानवप्रजाओं को तार रहा है।

ऋषि वसिष्ठ मैं
तुझ प्रजापति-गृहीता से
प्रीतिमान् हो, कररहा हूं
प्राण ग्रहण
प्रजाओं के लिये।
पूर्व भुव है यह,
उसका प्राण है भौवायन,
वसन्त प्राणायन, वासन्ती गायत्री,
गायत्री के लिए गायत्र,
गायत्र से है उपांशु,
उपांशु से है त्रि-वृत्,
त्रिवृत् से है रथन्तर।

सूक्ति : **प्राणं गृह्णामि प्रजाभ्यः।**
मैं प्रजाओं के लिये प्राण धारण करत
मैं प्रजाओं के लिये जीरहा हूं।

६८५ अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य मनो वैश्वकर्मणं ग्रीष्मो मानसस्त्रिष्टुब् ग्रैष्मी त्रिव
स्वारं स्वारादन्तर्यामो ऽन्तर्यामात् पञ्चदशः पञ्चदशाद् बृहद् भरद्वाज
प्रजापतिगृहीतया त्वया मनो गृह्णामि प्रजाभ्यः। य १३।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अयम् दक्षिणा विश्व-कर्मा तस्य मनः वैश्व-कर्मणम् ग्रोष्मः मानसः त्रि-स्तुप् ग्रैष्मो त्रि-स्तुभः स्वारम् स्वारात् अन्तः-यामः अन्तः-यामात् पञ्च-दशः पञ्च-दशात् बृहत् भरत्-वाजः ऋषिः प्रजापति-गृहीतया त्वया मनः गृह्णामि प्र-जाभ्यः ।

महामानव कहता है—मानव-प्रजे ! (ऋषिः भरत्-वाजः) मनुर्हित वाज-भरक मैं (त्वया प्रजापति-गृहीतया) तुझ प्रजापति-गृहीता के साथ [प्रीतिमान् हुआ] (मनः गृह्णामि प्र-जाभ्यः) मन-ग्रहण करता हूं प्रजाओं के लिये ।

वाज नाम ज्योति [ज्ञान, विज्ञान, विवेक], शक्ति और संग्राम का है । महामानव जहां ऋषि है, मनुष्यमात्र का हितचिन्तक और हितसम्पादक है, वहां वह मानवप्रजाओं में वाज का भरक, संचारक, संधारक भी है । ज्योति और शक्ति के संयोग में लौकिक और पारलौकिक सकल संग्रामों की विजय निहित है । वाजयुक्त होकर ही मानव-प्रजायें कल्याण के पथ पर आरूढ़ रह सकेंगी । उसके मन में प्रजाओं को वाजयुक्त करने का शिव संकल्प है ।

वेदमाता कहती है—

१) निर्विषय, निरासक्त और निर्विकार रहता हुआ मनुर्हित, वाजोपेत मानव प्रजापतिनिष्ठ देश देश की मानवप्रजाओं के प्रति प्रीतिमान् है और उनका हितसम्पादन कररहा है । ऐसा (अयम्) यह [महामानव] (दक्षिणा विश्व-कर्मा) दक्षता से युक्त विश्व-कर्मा है ।

विश्व कर्मों को, सर्व कर्मों को, सर्व साधों को दक्षता के साथ सम्पादन करनेवाला होने से महामानव को दक्षता से युक्त विश्वकर्मा कहा गया है । कर्मदक्षता अथवा कर्मकौशल जीवन की महानता का एक लक्षण तो है ही, विश्वकल्याण की उसकी सार्वभौम साध की सिद्धि के लिये एक अनिवार्य आवश्यकता भी है ।

२) (तस्य मनः वैश्व-कर्मणम्) उसका मन है सर्वकर्म-साधक ।

मनो यजुः । मन श्रेष्ठतम कर्म का साधक है । मन के शिव और दृढ़ संकल्प महतो महान् साधों की संसिद्धि सहजतया करा देते हैं ।

३) (तस्य मनः) उसका मन है (मानसः ग्रोष्मः) मानस ग्रोष्म ।

ग्रोष्म शब्द का प्रयोग यहां प्रेम-ऊष्मा के लिये हुआ है । उसके मन में मनुष्यमात्र के लिये प्रेम की ऊष्मा है । यह प्रेमोष्मा ही उसे मानवमात्र के कल्याण की सार्वभौम साध में अनवरत संलग्न रख रही है ।

४) (तस्य मनः त्रि-स्तुप् ग्रैष्मो) उसका मन है त्रि-प्रशस्तता से युक्त ग्रैष्मो ।

उसकी प्रेमोष्मा केवल मन में ही नहीं, मन, वचन, कर्म, तीनों में ओत-प्रोत है । उसके मन में प्रेमोष्मा है, उसकी वाणी में प्रेमोष्मा है, उसके कर्म में प्रेमोष्मा है ।

५) (तस्य मनः त्रि-स्तुभः स्वारम्) उसका मन है त्रि-प्रशस्तता से स्वार ।

'स्वार' नाम स्वारस्य अथवा स्वाभाविक सौन्दर्य, माधुर्य तथा सुष्ठुता का है । स्वार नाम स्वरता—सस्वरता का भी है ।

त्रि-प्रशस्तता से उसका मन स्वाभाविक सौन्दर्य, अकृत्रिम माधुर्य और प्राकृत सुष्ठुता से युक्त होगया है ।

६) (तस्य मनः) उसका मन है (स्वारात्) स्वार से [संसिद्ध हुआ] (अन्तः-यामः) अन्तर्याम ।

अन्तःकरण के अन्तर्यमन का नाम 'अन्तर्याम' है । 'यम' का अर्थ है संयमन, नियन्त्रण । स्वार के आश्रय से महामानव अपने अन्तःकरण में आत्मसंयम की स्थापना करता है । आत्मसंयम के आश्रय से कठिनतम और कठोरतम साधों की

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भी सिद्धि की जा सकती है।

७) (तस्य मनः) उसका मन है (अन्तः-यामात्) अन्तर्याम से [संसिद्ध हुआ] (पञ्च-दशः) पञ्च-दश।

पांच प्राण [प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान], पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, इनके समुच्चय का नाम है 'पञ्च-दश'। पञ्चदश से तात्पर्य है पांच और दश। पांच हैं प्राण और दश हैं ज्ञान-कर्मेन्द्रियां। अन्तःकरण के संयमन की सिद्धि से महामानव का पञ्चदश नितान्त शुद्ध, संशुद्ध, परिशुद्ध होगया है।

८) (तस्य मनः) उसका मन (पञ्च-दशात्) पंचदश से [संशुद्ध होकर] (बृहत्) महान् [होगया है]। पञ्च-दश के परिशुद्ध होने पर प्रत्यक्षतः मन महान् होता है, मनोबल विशाल और व्यापक होजाता है।

ऋषि भरद्वाज मैं,
तुझ प्रजापति-गृहीता से
प्रीतिमान् हो,
कररहा हूं मन ग्रहण
प्रजाओं के लिये।
दक्षता से युक्त विश्वकर्मा यह,
सर्वकर्म-साधक उसका मन,
मानस ग्रीष्म, त्रि-स्तुप् ग्रैष्मी,
त्रि-स्तुप् से स्वार,
स्वार से अन्तर्याम,
अन्तर्याम से पञ्च-दश,
पञ्च-दश से महान्।

सूक्ति : मनो गृह्णामि प्रजाभ्यः।

मैं प्रजाओं के लिये मन धारण कर रहा हूं।

६८६ अयं पश्चाद्विश्वव्यचास्तस्य चक्षुर्वैश्वव्यचसं वर्षाश्चाक्षुष्यो जगती वार्षी जगत्या ऋक्सममृक्समाच्छुक्रः शुक्रात् सप्तदशः सप्तदशाद् वैरूपं जमदग्निर्ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया चक्षुर्गृह्णामि प्रजाभ्यः। य १३.५६

अयम् पश्चात् विश्व-व्यचाः तस्य चक्षुः वैश्व-व्यचसम् वर्षाः चाक्षुष्यः जगती वार्षी जगत्याः ऋक्-समम् ऋक्-समात् शुक्रः शुक्रात् सप्त-दशः सप्त-दशात् वैरूपम् जमत्-अग्निः ऋषिः प्रजापति-गृहीतया त्वया चक्षुः गृह्णामि प्र-जाभ्यः।

महामानव कहता है—मानवप्रजे! (ऋषिः जमत्-अग्निः) मनुर्हित जमदग्नि मैं (त्वया प्रजापति-गृहीतया) तुझ प्रजापति-गृहीता के साथ [प्रीतिमान् हुआ] (चक्षुः गृह्णामि प्र-जाभ्यः) चक्षुः ग्रहण करता हूं प्रजाओं के लिये।

महामानव जहां ऋषि है, मनुष्यमात्र का हितैषी है, वहां वह मानवप्रजाओं का जमदग्नि भी है। 'जमत्' ज्वलतो नाम। 'जमत्' का अर्थ है प्रज्वलिता जमत् नाम जठर और उदर का भी है। प्रज्वलित अग्नि होने से सूर्य, सौर मण्डल का जमदग्नि है, प्रकाशक तथा प्रपावक है, सौर-मण्डलरूपी उदर का प्रपाचक जठर है। महामानव वह जमदग्नि है जो मानवमण्डल का प्रकाशक पूतीकरण तथा परिपाक कर रहा है। वह जमदग्नि है जो मानवमण्डल के उदर को, मर्म को परिपुष्ट अथवा परिपक्व कर रहा है।

वेदमाता कहती है—

१) मनुर्हित जमदग्नि महामानव विश्व की प्रजापतिनिष्ठ मानवप्रजाओं के साथ प्रीतिमान है और उनका हितसम्पादन कररहा है। ऐसा (अयम्) यह [महामानव] (पश्चात्) तदतिरिक्त (विश्व-व्यचाः) विश्वप्रकाशक है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यः विश्वं व्यचति प्रकाशेनाभिव्याप्य प्रकटयति स विश्वव्यचाः। जो विश्व को प्रकाश से सर्वतः व्यापकर प्रकट करता है उसे विश्वव्यचाः कहते हैं। अपने प्रकाश से अभितः व्यापकर प्रत्येक वस्तु को दर्शनिवाला होने से सूर्य विश्वव्यचा है। आत्म-प्रकाश से जन जन को तत्त्व का, यथार्थता का ज्ञान करानेवाला होने से महामानव भी विश्वव्यचा है। दक्षता से युक्त विश्वकर्मा होने के अतिरिक्त वह विश्वव्यचा भी है और विश्वव्यचा बनकर वह विश्व को तत्त्वबोध करा रहा है।

२) (तस्य चक्षुः वैश्व-व्यचसम्) उसका चक्षु विश्व प्रकाशक है।

'चक्ष' (व्यक्तायां वाचि, दर्शने ऽपि)। 'चक्ष' धातु, जिससे चक्षु शब्द बना है, का अर्थ है स्पष्ट देखना और बोलना। ज्ञानपूर्वक देखना ही देखना है। जो ज्ञानपूर्वक देखता है वह ही साक्षात्कर्मा बनकर स्पष्टता के साथ बोलता है, शिक्षोपदेश करता है और वह ही अज्ञानान्धकार को दूर करके विश्व में प्रकाश पूरता है। महामानव का चक्षु, देखना और बोलना विश्वप्रकाशक है।

३) (तस्य चक्षुः) उसका चक्षु है (चाक्षुष्यः वर्षाः) आंखें खोलनेवाली वृष्टियां।

वह जिधर देखता है, जहां बोलता है, मानवों के ज्ञाननेत्र खुल जाते हैं। महामानव का चक्षु देखता ही नहीं है, बोलता भी है। उसका चक्षु देखता और बोलता ही नहीं है, वृष्टियां भी करता है। सुखियों को देखकर उसका चक्षु प्रहर्ष की वृष्टियां करता है तो दुःखियों को देखकर अश्रुओं की।

४) (तस्य चक्षुः जगती वर्षी) उसका चक्षु है जगत्कल्याणार्थ वर्षाओं की व्याख्या करनेवाला।

विश्वकल्याणार्थ किन किन, कैसे कैसे गुणों, कर्मों और शीलों की, अपि च किन किन सुख-सुविधाओं और ऐश्वर्यों की वृष्टियां की जानी हैं, यह सब उसकी दृष्टि में है और इन सब बातों की वह व्याख्या करता रहता है।

५) (तस्य चक्षुः) उसका चक्षु है (जगत्याः) जगत्कल्याण [की भावना] से [भावित] (ऋक्-समम्) ऋक् और सम।

जगत्कल्याण की भावना ने महामानव के चक्षु को ऋक् और सम बना दिया है। ऋक् ज्ञान का सम्पादक है और साम है सम, समता, समत्व का सम्पादक। उसका चक्षु [देखना और बोलना] ज्ञान और समत्व का सम्पादक है। उसकी कृपा-दृष्टि से जन जन में तत्त्वज्ञान और समत्व की स्थापना होरही है। तत्त्वज्ञान से ही समत्व की सिद्धि होती है।

६) (तस्य चक्षुः) उसका चक्षु है (ऋक्-समात्) ज्ञान और समत्व से (शुक्रः) शुद्ध।

उसका चक्षु [देखना और बोलना] सर्वथा संशुद्ध है। तत्त्वज्ञान से युक्त उसकी दृष्टि में अपने-पराये, सभी समान हैं। इस समता ने उसकी दृष्टि को नितान्त निर्विकार बना दिया है।

७) (तस्य चक्षुः) उसका चक्षु है (शुक्रात्) पवित्रता से [संसिद्ध] (सप्त-दशः) सप्त-दश।

पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, मस्तिष्क और हृदय मिलकर हैं सप्तदश। सप्तदश से तात्पर्य है सात और दश। सात हैं पांच प्राण, मस्तिष्क और हृदय। दश हैं पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां। चक्षु की पवित्रता ने महामानव के सप्तदश को नितान्त निर्मल बना दिया है।

८) (तस्य चक्षुः) उसका चक्षु है (सप्त-दशात्) सप्त-दश से [निर्मल] (वै-रूपम्) विविध-रूप।

सप्तदश की निर्मलता ने उसकी दृष्टि में ऐसी दिव्यता संचार करदी है कि विविध रूपों में उसे एक ही तत्त्व दिखायी देरहा है। रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव (ऋग्वेद ६.४७.१८), रूप-रूप में एक ही

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तत्त्व प्रतिरूपित है। एक ही मिट्टी के सब खिलौने हैं और खिलौने-खिलौने में आत्मतत्त्व खेल खेल रहा है।

ऋषि जमदग्नि मैं,
तुझ प्रजापति-गृहीता से
प्रीतिमान् हो,
कररहा हूं चक्षु ग्रहण
प्रजाओं के लिये।
यह पश्चात् विश्व-प्रकाशक,
उसका चक्षु विश्व-प्रकाशक,
चक्षुष्य वर्षायें, जगती वार्षी,
जगती से ऋक्-सम,
ऋक्-सम से शुक्र,
शुक्र से सप्त-दश,
सप्तदश से वैरूप।

सूक्ति : चक्षुर्गृह्णामि प्रजाभ्यः।
मैं प्रजाओं के लिये चक्षु धारण कररहा हूं।

६८७ इदमुत्तरात् स्वस्तस्य श्रोत्रं सौवं शरच्छ्रौत्र्यनुष्टुप् शारद्यनुष्टुभ ऐडमैडान्मन्थिन एकविंश एकविंशाद् वैराजं विश्वामित्र ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया श्रोत्रं गृह्णामि प्रजाभ्यः। य १३.५

इदम् उत्-तरात् स्वः तस्य श्रोत्रम् सौवम् शरत् श्रौत्री अनु-स्तुप् शारदी अनु-स्तुभः ऐडात् मन्थी मन्थिनः एक-विंशः एक-विंशात् वैराजम् विश्वामित्रः ऋषिः प्रजापति-गृहीतया त्वया श्रोत्रम् गृह्णामि प्र-जाभ्यः।

महामानव कहता है—(ऋषिः विश्वामित्रः) मनुहित विश्वामित्र मैं (त्वया प्रजापति-गृहीतया) तुझ प्रजापति-गृहीता के साथ [प्रीतिमान हुआ] (श्रोत्रम् गृह्णामि) श्रोत्र ग्रहण कर रहा हूं (प्र-जाभ्यः) प्रजाओं के लिये।

महामानव जहां ऋषि है, मनुहित है, मनुष्य-मात्र का हितैषी है वहां वह विश्वामित्र भी है। विश्व-आ-मित्र=विश्वामित्र। विश्व का पूर्ण मित्र जो हो उसे विश्वामित्र कहते हैं। महामानव किसी एक देश वा राष्ट्र का नहीं, सारे विश्व का मित्र है। वह सबका मित्र है, शत्रु किसी का नहीं। इसी लिये वह सम्पूर्ण मानवप्रजा के लिये श्रोत्र ग्रहण कर रहा है। उसके कर्ण समग्र मानवप्रजा के लिये सदैव खुले रहते हैं। जहां से भी पुकार उठती है, वह सुनता है और सेवा तथा सहायता के लिये अपने हस्त-पग बढ़ाता है।

वेदमाता कहती है—

१) मनुहित विश्वामित्र महामानव विश्व की राष्ट्रनिष्ठ प्रजाओं के प्रति प्रीतिमान् है और उनका हितसम्पादन कर रहा है। ऐसे उस महामानव (उत्-तरात्) उत्तरोत्तर व्यापते हुये साधन-धाम (इदम्) यह [सब, विश्व] (स्वः) आत्मसुख [से युक्त होता चला जारहा है]।

स्व शब्द का प्रयोग यहां शरीरसुख से आत्म-आनन्द के संयोग से प्राप्त आत्मसुख के लिये हुआ है। महामानव की विश्वकल्याण आत्मसाधना ने पृथिवी पर निवास करनेवाली समग्र मानवप्रजा में सुख और आनन्द की स्थापना करके इस लोक को आत्मसन्तोष से युक्त कर दिया है।

२) (तस्य श्रोत्रम् सौवम्) उसका श्रोत्र [इन्द्रिय] सौव [स्वमय] है।

उसके कानों में सब ओर से सुख और आनन्द से युक्त शान्ति और सन्तोष के सुसमाचार हैं, ऐसी उसकी भावना है।

३) (तस्य श्रोत्रम्) उसका कान है (शरत् श्रौत्री

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शीतलता के साथ श्रवण करनेवाला।

कटु-मृदु, भद्र-अभद्र, जो कुछ उसके कान में पड़ता है वह सब वह उत्तेजनारहित होकर शान्त भाव से उपायज्ञता के साथ सुनता है। वह मानवों की पीड़ा भी शीतल, शान्त वृत्ति से सुनता है और अविचलता के साथ समाधान करता है।

४) (तस्य श्रोत्रम्) उसका श्रोत्र है (शारदी अनु-स्तुप्) शारदी सुसत्याचरण [सुननेवाला]।

शारदी नाम आश्विन पूर्णिमा का है। आश्विन पूर्णिमा का चन्द्रमा अतिशय मोहक होता है और उस दिन उसकी चन्द्रिका अतिशय सुन्दर और सुहावनी होती है। महामानव के श्रोत्र सब ओर से यह सुसमाचार सुनना चाहते हैं कि देश देश की मानवप्रजा का आचरण शारदी के समान मोहक, सुशोभन, सुहावना और सु तथा सत्य से प्रधवल होता चला जारहा है।

५) (तस्य श्रोत्रम्) उसका श्रोत्र है (अनु-स्तुभः) सुसत्याचरण [की भावना] से (ऐडम्) स्तुतिशील।

'ईड' (स्तुतौ) धातु से 'ऐड' शब्द निष्पन्न हुआ है। 'ऐड' का अर्थ है स्तुतिशील। उसका श्रोत्र स्तुतिशील है। वह जिस किसी भी मानव, मानव-समाज और राष्ट्र के सुसत्याचरण की प्रशंसा सुनता है, वह उसकी सराहना करता है। वह न प्रतिभाद्वेषी है, न यशोद्वेषी। वह तो सभी को प्रशंसित सुनना चाहता है और सभी की प्रशंसा सुनकर प्रहर्षित होता है।

६) (तस्य श्रोत्रम्) उसका श्रोत्र है (ऐडात्) स्तुतिशीलता से [प्रशस्त] (मन्थी) मन्थन-साधन।

किसी के भी सुसत्याचरण की प्रशंसा सुनकर वह सराहना ही नहीं करता है। मन्थन भी करता है, यह जानने के लिये कि किन साधनोपायों से वह सारी पृथिवी को सुसत्याचरण से सम्यक् प्रशस्त कर पायेगा।

७) (तस्य श्रोत्रम्) उसका श्रोत्र है (मन्थिनः) मन्थन से [संसिद्ध] (एक-विंशः) एक+बीस।

पांच प्राण, पांच ज्ञानेंद्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, मस्तिष्क, हृदय, बुद्धि, मन, चित्त, आत्मा मिलकर एक-विंश [एक-बीस] हैं। एक आत्मा के अधीन बीस हैं। सतत साधना ने महामानव के एकविंश को नितान्त संदिव्य कर दिया है।

८) (एक-विंशात्) एक-विंश [की संदिव्यता] से (वैराजम्) वि-प्रकाशन।

एकविंश की संदिव्यता से महामानव को वि-प्रकाशन की संसिद्धि होगयी है। वह दिशा-विदिशाओं में ज्ञानप्रकाश का प्रकाशन करके अज्ञानतिमिर का निवारण करता चला जारहा है।

ऋषि विश्वामित्र मैं,
तुझ प्रजापति-गृहीता से
प्रीतिमान् हो,
कररहा हूं श्रोत्र ग्रहण
प्रजाओं के लिये।
उत्तरोत्तर यह स्वः,
उसका श्रोत्र स्वमय,
शरत् श्रौत्री, शारदी अनुष्टुप्,
अनुष्टुप् से ऐड, ऐड से मन्थी,
मन्थन से एकविंश, एकविंश से वैराज।

सूक्ति : श्रोत्रं गृह्णामि प्रजाभ्यः।
मैं प्रजाओं के लिये श्रोत्र धारण कर रहा हूं।

६८८ इयमुपरि मतिस्तस्यै वाङ्मात्या हेमन्तो वाच्यः पङ्क्तिर्हैमन्ती पङ्क्त्यै निधनवन्नि-धनवत आग्रयण आग्रयणात् त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ त्रिणवत्रयस्त्रिंशाभ्यां शाक्वररैवते विश्वकर्म ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया वाचं गृह्णामि प्रजाभ्यः। य १३.५८

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इयम् उपरि मतिः तस्यै वाक् मात्या हेमन्तः वाच्यः पङ्क्तिः हैमन्ती पङ्क्त्यै निधन-व निधन-वतः आग्रयणः आग्रयणात् त्रिनव-त्र्यस्त्रिंशौ त्रिनव-त्रयस्त्रिंशाभ्याम् शाक्वर-रै विश्व-कर्मा ऋषिः प्रजापति-गृहीतया त्वया वाचम् गृह्णामि प्र-जाभ्यः।

महामानव कहता है—(ऋषिः विश्व-कर्मा) मनुर्हित विश्व-कर्मा मैं (त्वया प्रजापति-गृहीतया) तुझ प्रजापति-गृहीता के साथ [प्रीतिमान् हुआ] (वाचम् गृह्णामि) वाणी ग्रहण कररहा हूं (प्र-जाभ्यः) प्रजाओं के लिये।

महामानव जहां ऋषि है, मनुर्हित है, मनुष्य-मात्र का हितसम्पादक है वहां वह विश्वकर्मा भी है। विश्वकल्याण के लिये जितनी साधनायें करणीय हैं उन सबका कुशल सम्पादक होने से महामानव को विश्वकर्मा कहा गया है। देश वा वर्गविशेष के लिये नहीं, सारे विश्व के सुख-सौभाग्य के लिये कर्मसाधना करनेवाला होने से वह विश्व-कर्मा है। इसी लिये उसकी कल्याणी वाणी से जो कुछ कहा जाता है वह विश्व की समस्त मानव-प्रजाओं के हितार्थ तथा उनके जीवन के प्रशस्ती-करण के लिये ही कहा जाता है। वह सार्वभौम उपदेष्टा है। देश देश में वेदोपदेश करके वह सर्व जनों के विवेक को जगाकर उनकी आंखें खोलता है।

वेदमाता कहती है—

१) मनुर्हित विश्वकर्मा महामानव विश्व की प्रजा-पतिनिष्ठ प्रजाओं के प्रति प्रीतिमान् है और उनका हित सम्पादन कररहा है। ऐसे उस महा-मानव की (इयम् मतिः) यह मति (उपरि) उच्च है।

उसकी मति निम्न अथवा क्षुद्र नहीं है, उच्च है, उदार [उत्-आर] है। जिसके चिन्तन में संकोच होता है उसकी मति निम्न मति होती है। महामानव के चिन्तन में विश्व है, विश्व की समग्र प्रजा है। उसकी मति स्वार्थ और सांसारिकता से ऊपर उठी हुयी है। उपरि मति ही मानव को महामानव बनाती है।

२) उसकी (तस्यै) उस [मति] के लिये (त मात्या) वाणी मतिमयी।

उसकी उस उपरि मति से प्रेरित होकर उ मुख से जो वचनावली निकलती है वह मा की मति को उच्च और उदार बनानेवाली है।

३) उसका (वाच्यः) वाच्य है (हेमन्तः) हेम

वाक्, वाणी वा कथन द्वारा जिस वस्तु विषय का बोध होता है उसे वाच्य कहते उसका एक एक वचन हिम के समान शीत अथवा शान्ति की स्थापना करनेवाला है। उ उपरि मतियुक्त वाणी उत्तेजना और अशान्ति शमन करके परम शान्ति की स्थापना करती है

४) उसकी वाणी है (हैमन्ती पंक्तिः) हैम पंक्ति।

हिम के समान शान्त और शान्ति की स्था करनेवाली उसकी वाणी पंक्तिबद्धता के श्रेणिशः कर्तव्य सम्पादन करनेवाली है। श्रेणि कर्तव्य का बोध करानेवाली वाणी ही हि का वास्तविक कल्याण सम्पादन करती कराती है।

५) उसकी वाणी है (पङ्क्त्यै निधन-वत्) पं बद्धता के लिये निधन के समान।

'निधन' का अर्थ है निवृत्तधन। सांसा धनों और धन्धों से निवृत्त होकर जो विरक्त और विश्वसेवा में निरत है उसकी संज्ञा निधन है महामानव की वाणी विरक्त की वाणी के स निर्द्वन्द्वता के साथ संसार के मानवों को श्रेणि कर्तव्यपरायणता की ओर प्रवृत्त करती है।

६) उसकी वाणी है (निधन-वतः) विरक्त [उद्भूत] (आग्रयणः) वर्षा।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जिस प्रकार समुद्र से ऊपर उठकर बादल सब ओर वृष्टि करते हैं उसी प्रकार महामानव की वाणी विरक्तभावेन सांसारिकता से ऊपर उठकर सर्वत्र कल्याण और मंगल की सुवृष्टि करती है।

७) उसकी वाणी है (आग्रयणात्) वर्षा से [सिंचित] (त्रिनव-त्रयःत्रिंशौ) ३+९ [१२] और ३+३० [३३]।

त्रि-नव है मानवदेह में स्थित तीन लोक और नौ द्वार। शिर से ग्रीवामूल तक है द्युलोक। ग्रीवामूल से नाभि तक अन्तरिक्ष। नाभि से पगतल तक भूलोक। दो नेत्र, दो श्रोत्र, दो नासिका-छिद्र, मुख, गुदा, मूत्रेन्द्रिय हैं नव द्वार। महामानव की सांसारिकता से ऊपर उठी हुयी वाणी द्वारा की गयी सदुपदेशों की वर्षा से धुलकर मानवप्रजाओं के तीनों लोक तथा नौ द्वार निर्मल, निर्विकार और संशुद्ध होगये हैं।

३+३० में तीन है मानवदेहस्थ तीन लोक और तीस है तीनों लोकों में स्थित तीस धाम, जिनका विवरण यजुर्वेद ३.८ की व्याख्या में दिया गया है और जिनके प्रकाशन की विधि मद्रचित 'परम योग' में प्रकाशित की गयी है। महामानव की विरक्तता से उद्भूत वाणी ने मानवप्रजाओं के के तीनों लोकों और तीसों धामों के प्रकाशन का मार्ग प्रशस्त कर दिया है।

८) (त्रिनव-त्रयःत्रिंशाभ्याम्) त्रि-नव [के संशोधन] और त्रयःत्रिंश [के प्रकाशन] से (शाक्वर-रैवते) शाक्वर और रैवत।

'शाक्वर' का अर्थ है शक्ति-सम्बन्धी और 'रैवत' का अर्थ है आत्मैश्वर्य-सम्बन्धी सम्पन्नता। मानवप्रजाओं के त्रिनव के संशोधन और त्रयःत्रिंश के प्रकाशन से मानवप्रजायें ज्यों ज्यों शारीरिक शक्ति और आध्यात्मिक ऐश्वर्यों [दैवी सम्पदाओं] से सुसम्पन्न होती चली जारही हैं त्यों त्यों विश्वकल्याण का पथ प्रशस्त होता चला जारहा है।

ऋषि विश्वकर्मा मैं
तुझ प्रजापति-गृहीता से
प्रीतिमान् हो,
कररहा हूं वाणी ग्रहण।
यह मति उच्च,
उसके लिये वाणी मतिमयी,
उसका वाच्य हेमन्त,
हैमन्ती पंक्ति,
पंक्ति के लिये निधनवत्,
निधनवत् से आग्रयण,
आग्रयण से त्रिनव-त्रयःत्रिंश,
त्रिनव-त्रयःत्रिंश से शाक्वर-रैवत।

सूक्ति : वाचं गृह्णामि प्रजाभ्यः।
मैं प्रजाओं के लिये वाणी ग्रहण कर रहा हूं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वेदव्याख्या-ग्रन्थ, त्रयोदश पुष्प में व्याख्यात यजुर्वेद अध्याय १३ के [५८] मन्त्रों की

अकारादि सूची

जो [२०] मन्त्र अन्य वेदों में भी हू-बहू वा पाठभेद के साथ मिलते हैं उनके प्रतीकों के बाद * चिह्न है। शेष ३८ मन्त्र केवल यजुर्वेद में है।

मन्त्र-प्रतीक	अध्याय में मन्त्र-संख्या	यजुर्वेद में मन्त्र-संख्या	'ग्रन्थ' में पृष्ठ-संख्या
अग्निर्ज्योतिषा	४०	६७०	८९४
अग्निर्मूर्धा दिवः*	१४	६४४	८७४
अग्ने युक्ष्वा हि ये*	३६	६६६	८९१
अजस्रमिन्दुमरुषं	४३	६७३	८९७
अजो ह्यग्नेरजनिष्ट*	५१	६८१	९०४
अपां गम्भन्त्सीद	३०	६६०	८८६
अपां त्वेमन्त्सादयाम्यपां	५३	६८३	९०७
,, पृष्ठमसि	२	६३२	८६४
अयं दक्षिणा विश्वकर्मा	५५	६८५	९१२
,, पश्चाद् विश्वव्यचास	५६	६८६	९१४
,, पुरो भुवस्	५४	६८४	९१०
अषाढासि सहमाना	२६	६५६	८८३
आदित्यं गर्भं पयसा	४१	६७१	८९४
इदमुन्तरात् स्वस्	५७	६८७	९१६
इमं मा हिंसीरेकशफं	४८	६७८	९०१
,, मा हिंसीद्द्विपादं	४७	६७७	९००
इममूर्णायुं वरुणस्य	५०	६८०	९०३
इमं साहस्रं शतधार	४९	६७९	९०२
इयमुपरि मतिस्	५८	६८८	९१७
इषे राये रमस्व	३५	६६५	८९०
उदग्ने तिष्ठ*	१२	६४२	८७२
ऊर्ध्वो भव*	१३	६४३	८७३
ऋचे त्वा रुचे त्वा	३९	६६९	८९३

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मन्त्र-प्रतीक	अध्याय में मन्त्र-संख्या	यजुर्वेद में मन्त्र-संख्या	'ग्रन्थ' में पृष्ठ
काण्डात्काण्डात्	२०	६५०	
कृणुष्व पाजः*	९	६३९	८७८
चित्रं देवानामुदगादनीकं*	४६	६७६	८६९
तव भ्रमास आशुया*	१०	६४०	९००
त्वं यविष्ठ दाशुषो*	५२	६८२	८७०
त्रीन्त्समुद्रान्त्समसृपत्	३१	६६१	९०६
द्रप्सश्चस्कन्द*	५	६३५	८८७
ध्रुवासि धरुणास्तृता	१६	६४६	८६७
,, धरुणोतो	३४	६६४	८७५
नमो ऽस्तु सर्पेभ्यो	६	६३६	८८९
प्रजापतिष्ट्वा	१७	६४७	८६७
प्रति स्पशो विसृज*	११	६४१	८७६
ब्रह्मं जज्ञानं प्रथमं*	३	६३३	८७१
भुवो यज्ञस्य रजसश्च	१५	६४५	८६४
भूरसि भूमिरस्यदितिरसि	१८	६४८	८७४
मधु नक्तमुतोषसो*	२८	६५८	८७७
मधुमान् नो वनस्पतिर्*	२९	६५९	८८५
मधु वाता ऋतायते*	२७	६५७	८८५
मधुश्च माधवश्च	२५	६५५	८८४
मयि गृह्णाम्यग्रे	१	६३१	८८१
मही द्यौः पृथिवी च*	३२	६६२	८६३
या इषवो यातुधानानां	७	६३७	८८८
,, वो देवाः	२३	६५३	८६८
,, शतेन प्रतनोषि	२१	६५१	८८०
यास्ते अग्ने सूर्ये	२२	६५२	८७९
युक्ष्वा हि देवहूतमाँ*	३७	६६७	८७९
ये वामी रोचने	८	६३८	८९१
यो अग्निरग्नेरध्यजायत	४५	६७५	८६९
वरूत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य	४४	६७४	८९९
वातस्य जूतिं	४२	६७२	८९८
विराड् ज्योतिरधारयत्	२४	६५४	८९६
विश्वस्मै प्राणायापानाय	१९	६४९	८८०
विष्णोः कर्माणि*	३३	६६३	८७७
सम्यक् स्रवन्ति*	३८	६६८	८८८
हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे*	४	६३४	८९२

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वेद के अध्ययन और मानव-संस्कृति
के
ज्ञान का सर्वोत्तम और सर्वसुलभ माध्यम

स वि ता

[वेद-संस्थान का मासिक पत्र]

- देव के दिव्य काव्य, वेद के अध्ययन का सर्वश्रेष्ठ साधन,
- वेदमन्त्रों की 'विदेह'-कृत मौलिक, जीवनप्रद, याथातथ्य व्याख्या,
- अत्यन्त ठोस, सुपच, पौष्टिक, प्रेरणाप्रद सामग्री से भरपूर,
- अथर्ववेद का अध्ययन, ऋग्वेद का अध्ययन, घर-संसार, शब्दचिंतन, शिक्षाजगत्, स्वास्थ्य और सौन्दर्य, आदि स्थायी स्तम्भों से समलंकृत,
- विद्वानों के उच्च कोटि के पथप्रदर्शक लेखों से समन्वित।

।। एक एक शब्द पठनीय, मननीय, आचरणीय ।।
।। एक एक तरंग मानव को ऊंचा उठानेवाली ।।
।। एक एक प्रेरणा जीवन को आगे लेजानेवाली ।।
।। एक एक चेतावनी मानव के मानस को चेतानेवाली ।।

वार्षिक मूल्य पांच रुपये [विदेशों में दस रुपये]

स्वयं ग्राहक बनिये और अपने प्रियजनों को बनाइये।

वेद-संस्थान,

बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर (भारत)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

'विदेह'-रचित संस्थान-प्रकाशन

वेदव्याख्या-ग्रन्थ [भाग ११, खण्ड १ : यजुर्वेद-व्याख्या, अध्याय १-१०] बीस रुपये
(प्रतिपुष्प एक अध्याय के क्रम से, फुटकर रूप में भी उपलब्ध : प्रथम पुष्प (तृतीय संस्करण)—तीन रुपये, द्वितीय पुष्प (तृतीय संस्करण)—एक रुपया अस्सी पैसे, तृतीय पुष्प (द्वितीय संस्करण)—सवा दो रुपये, चतुर्थ पुष्प (द्वितीय संस्करण)—सवा रुपये, पञ्चम पुष्प—डेढ़ रुपये, षष्ठ पुष्प—एक रुपया, सप्तम पुष्प—डेढ़ रुपये, अष्टम पुष्प—डेढ़ रुपये, नवम पुष्प—एक रुपया, दशम पुष्प—एक रुपया)

एकादश पुष्प [यजुर्वेद अ ११ की व्याख्या] सवा रुपये
द्वादश पुष्प [यजुर्वेद अ १२ की व्याख्या] दो रुपये
त्रयोदश पुष्प [यजुर्वेद अ १३ की व्याख्या] रु. १.६०
सामवेद का अध्ययन सवा रुपये

योग-ग्रन्थमाला

१. योगालोक ढाई रुपये
[पुस्तकालय संस्करण : पाँच रुपये]
२. साधना (चतुर्थ सं०) सवा रुपये
३. परम योग ८० पैसे
४. स्वास्थ्य और सौन्दर्य (पंचम सं०) ७० पैसे
५. वैदिक योग-पद्धति (तृतीय सं०) ४० पैसे
६. सन्ध्या-योग (चतुर्थ सं०) ४० पैसे
७. गायत्री-मन्त्र का अनुष्ठान (चतुर्थ सं०) २० पैसे
८. महामृत्युञ्जय-मन्त्र का अनुष्ठान (तृतीय सं०) २० पैसे
९. योग-तरङ्ग (द्वितीय सं०) २० पैसे
१०. शिव सङ्कल्प (द्वितीय सं०) ४० पैसे
११. वैदिक साधना ५० पैसे

भक्ति-ग्रन्थमाला

१. गायत्री (चतुर्थ सं०) एक रुपया
२. विदेह-गीतावली (तृतीय सं०) ६० पैसे
३. आनन्द-सुधा (द्वितीय सं०) ४० पैसे
४. जीवन-पाथेय ५० पैसे

चरित-ग्रन्थमाला

१. रामचरित (द्वितीय सं०)
२. दयानन्द चरितामृत
३. जीवन-ज्योतियां (तृतीय सं०)

शिक्षा-ग्रन्थमाला

१. वैदिक बालशिक्षा, प्रथम भाग (षष्ठ सं०); भाग (चतुर्थ सं०); तृतीय भाग (द्वितीय प्रत्येक भाग :
२. वैदिक स्त्री-शिक्षा (द्वितीय सं०)
३. संस्कृत-शिक्षा, प्रथम भाग (तृतीय सं०) द्वितीय भाग (तृतीय सं०)
४. संस्कृत-स्वयंशिक्षक, प्रथम पुष्प ('विदेह' (द्वितीय सं०); द्वितीय पुष्प (किशोरीलाल गुप्त प्रत्येक पुष्प :

कर्मकाण्ड-ग्रन्थमाला

१. स्वस्ति-याग (तृतीय सं०)
२. सत्यनारायण की कथा (पंचम सं०)
३. विजय-याग (द्वितीय सं०)
४. वैदिक सत्संग (षष्ठ सं०)

मिश्रित-ग्रन्थमाला

१. यज्ञोपवीत-रहस्य (पंचम सं०)
२. उत्तम स्वभाव (तृतीय सं०)
३. मानव-धर्म (द्वितीय सं०)
४. चरित्र-निर्माण (द्वितीय सं०)
५. गृहस्थाश्रम (द्वितीय सं०)
६. भारत के अध्यापकों से (द्वितीय सं०)
७. भारत के विद्यार्थियों से (तृतीय सं०)

English—Lakshmi Vedic Series

1. The Vedic Prayers
2. The Exposition of the Vedas
3. Health and Beauty

• पूरे सेट का मूल्य : रु ४४.८० •

'सविता' की जिल्दें : वर्ष ४, ५ : रु ३.५०; ९-१०, १६-१९ : रु ३.२५; वर्ष २०-२४ : रु ५.

वेद-संस्थान, बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर (भारत)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विद्यानन्द 'विदेह'

वेदव्याख्या-ग्रन्थ

चतुर्दश पुष्प

(यजुर्वेद के चतुर्दश अध्याय की व्याख्या)

विषय : सार्वभौम ध्रुवता

वृद्ध संस्थान
अजमेर

एक रुपया पैंतीस पैसे

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

संस्थान प्रकाशन-संख्या : ६३

यजुर्वेद व्याख्या

चतुर्दश पुष्प

सार्वभौम ध्रुवता

विद्यानन्द 'विदेह'

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सर्वाधिकार लेखकाधीन

प्रथम संस्करण : माघ, २०२९ वि : फ़रवरी, १९७३ ई
२,००० प्रतियां

मूल्य : एक रुपया पैंतीस पैसे

卐

प्रकाशक : वेद-संस्थान, बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर; मुद्रक : प्रिण्ट हाउस, अजमेर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यजुर्वेद व्याख्या

चौदहवां अध्याय

सार्वभौम ध्रुवता

तेरहवें अध्याय में महामानव द्वारा विश्वकल्याण की साधना सिद्ध कराकर इस अध्याय में वेदमाता पृथिवी पर सार्वभौम ध्रुवता तथा सुव्यवस्था की प्रस्थापना का आदेश देती हुयी मानवप्रजा के समुत्थान तथा चिर शान्ति की दिशा दर्शाती है। सार्वभौम ध्रुवता तथा शान्ति की छाया में ही मानवप्रजा का पूर्णोदय होता है।

६८९ ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवासि ध्रुवं योनिमा सीद साधुया।
उख्यस्य केतुं प्रथमं जुषाणाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा॥ य १४.१
ध्रुव-क्षितिः ध्रुव-योनिः ध्रुवा असि ध्रुवम् योनिम् आ सीद साधु-या।
उख्यस्य केतुम् प्रथमम् जुषाणा अश्विना अध्वर्यू सादयताम् इह त्वा।

मानवप्रजा मंगलमयी पृथिवी को सम्बोधन करती हुयी कह रही है—

१) पृथिवि! तू (ध्रुव-क्षितिः) ध्रुव-निवास, (ध्रुव-योनिः) ध्रुव-योनि, (ध्रुवा असि) निश्चला है।

क्षिति शब्द का प्रयोग यहां निवास-स्थान के अर्थ में हुआ है और योनि शब्द का गृह के अर्थ में। महामानव की सार्वभौम साधना के परिणामस्वरूप सारी पृथिवी सम्पूर्ण मानवप्रजा का एक अभिन्न, ध्रुव निवास और एक अविभक्त गृह बन गयी है। साथ ही पृथिवी पर निवास करनेवाली समग्र मानवप्रजा एक संयुक्त परिवार बनी हुयी है। अब न कहीं छीना-झपटी है, न मार-काट है। सर्वत्र सौहार्द, सहकार और सहयोग का राज है। सभी देश और राष्ट्र सत्पड़ौसियों की तरह एक दूसरे की अभावपूर्ति, समुन्नति, संविकास और समृद्धि में परस्पर सहायक हैं। इस प्रकार, पृथिवी ध्रुवा होगयी है और निश्चला गौ के समान सुखैश्वर्यों की सुधारायें सुप्रवाहित कर रही है।

२) पृथिवी पर निवास करनेवाली मानवप्रजे! तू (उख्यस्य प्रथमम् केतुम्) उख्य के प्रथम संज्ञान को (जुषाणा) प्रीतिपूर्वक सेवन करती हुयी, सप्रेम वर्तती हुयी (साधु-या) साधुता के साथ (ध्रुवम् योनिम्) ध्रुव योनि पर, निश्चल स्थिति पर (आ सीद) स्थित हो, स्थित रह।

उखा नाम हांडी वा क्रटलोयी का है। उखा में पकाया गया पदार्थ उख्य कहलाता है। एक हांडी में पकाये गये पदार्थ को सब मिलकर खाते हैं तो सबकी क्षुधानिवृत्ति होजाती है। यदि छीना-झपटी होती है तो कलह-क्लेश बढ़ता है और किसी के कुछ हाथ पल्ले नहीं पड़ता है। यही उख्य का प्रथम [कोटि का] संज्ञान है, जिसका ध्यान सभी देशों और राष्ट्रों की प्रजा को रखना चाहिये। स्वार्थपरता से पृथिवी की स्थिरता और शान्ति भंग होती है। बांटकर खाने और परस्पर के हितसम्पादन से ही पृथिवी पर स्थिरता और शान्ति प्रस्थापित रहती है।

३) पृथिवि! दोनों (अध्वर्यू अश्विना) साधु अश्वी (त्वा) तुझे (इह) यहां, इस ध्रुवता की स्थिति में, ध्रुवता के इस ध्रुव पद पर (सादयताम्) अवस्थित करें, स्थापित रखें।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ध्वर्यु नाम कुटिलताकामी का है। अध्वर्यु का अर्थ है अकुटिलताकामी, निश्छल, साधु। अश्वी शब्द युगलवाची है। शासन और जनता, प्रत्येक देश के ये दो अश्वी अन्य सभी देशों और राष्ट्रों के प्रति निष्कपटता तथा साधुता के साथ वर्तते हैं तो पृथिवी ध्रुवता के ध्रुव पद पर संस्थित रहती है।

तू है ध्रुव-निवास, ध्रुव-योनि, ध्रुवा।
सेवन करती हुयी प्रीतिसह
उक्थ के प्रथम संज्ञान को,
स्थित साधुता से रह ध्रुव स्थिति में।
साधु अश्वी तुझे यहां रखें अवस्थित।

६९० **कुलायिनी घृतवती पुरन्धिः स्योने सीद सदने पृथिव्याः। अभि त्वा रुद्रा वसवो गृणन्त्विमा ब्रह्म पीपिहि सौभगायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा॥**

कुलायिनी घृत-वती पुरम्-धिः स्योने सीद सदने पृथिव्याः। अभि त्वा रुद्राः वसवः गृणन्तु इमा ब्रह्म पीपिहि सौभगाय अश्विना अध्वर्यू सादयताम् इह त्वा।

१) मानवप्रजे! (कुलायिनी घृत-वती पुरम्-धिः) कुलायवाली, स्नेहमयी, पुर-धारिका [होकर] (पृथिव्याः सदने सीद) पृथिवी के सदन में स्थित हो/निवास कर।

कुलाय नाम घोंसला, गृह, पात्र और शरीर का है। पृथिवी कुलायिनी है। पक्षी इस पर घोंसलों में निवास करते हैं, मानव गृहों में और आत्मा शरीरों में। मानवप्रजा जब इस पर सुपात्रता के साथ निवास करती है तो पृथिवी पर पारस्परिकता तथा सहकार की संव्याप्ति होती है।

घृत नाम स्निग्धता और तेजस्विता का है। स्नेह और तेज मानवता का सोम है। सम्पूर्ण मानवप्रजा जब सर्वतः स्नेहपूर्वक वर्तती है तो पृथिवी पर मानवता का तेज जगमगाता है।

पुर शब्द का प्रयोग यहां ग्राम, नगर रूपी पुरों के लिये हुआ है। पृथिवी पुरधारिका है। मानव-प्रजा इस पर पुर-रूप से निवास करे। पुर-रूप से निवास करने से सामाजिकता, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास होता है।

२) मानवप्रजे! सबके (सौभगाय) सौभाग्य के लिये, सु-ऐश्वर्य के लिये तू (इमा) इन [वसुओं, ऐश्वर्यों, पदार्थों] को तथा (ब्रह्म) विज्ञान को (पीपिहि) पान कर, सेवन कर।

पृथिवी के सारे पदार्थ, वसुन्धरा के [illegible] भूमि की सारी सम्पदायें समानरूपेण पृ[illegible] निवास करनेवाली सम्पूर्ण मानवप्रजा के [illegible] के लिये हैं। वसुधा के वसुओं को समता[illegible] बांट कर सेवन करना चाहिये। पृथिवी [illegible] के सही रीति से सेवनार्थ मानवों को पदार्थ[illegible] का ज्ञान होना चाहिये। 'सब कुछ सर्वो[illegible] मानवजाति के सौभाग्य का यही स्व[illegible] स्वर्णिम सूत्र है।

३) (स्योने)! (रुद्राः वसवः) वीर [illegible] तुझे (अभि गृणन्तु) सर्वतः सराहें।

स्योना का अर्थ है सुखयित्री, मंगल[illegible] सुरूपा, सुशोभना, आनन्दमयी, आह्ला[illegible] पृथिवी को वेद में स्योना कहा गया है। पृथिवी प्राणिमात्र के लिये स्योना है।

रुद्राः शब्द का प्रयोग वसवः के लि[illegible] रूप में हुआ है। वसवः शब्द का प्रयोग [illegible] ऐश्वर्यों के सम्पादन करनेवालों के अर्थ में।

वीरों ही के लिये हैं वसु सब वसुन्धरा [illegible]
वीरों ही के लिये हैं शुभ धाम सब धरा।

वीर वसु, वीर ऐश्वर्यसम्पादक पृथिवी [illegible] की सर्वतः प्रशंसा करते हैं। वे ज्ञानवि[illegible] आश्रय से अनेक—असंख्य आविष्कार करें

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

की खोज, सम्पदाओं का निर्माण और धनों का सम्पादन करते हैं।

४) पृथिवि ! दोनों (अध्वर्यू अश्विना) साधु अश्वी [शासन और जनता] (त्वा इह सादयताम्) तुझे यहां [ध्रुवता में] संस्थित रखें।

कुलायिनी, घृतवती, पुर-धारिका
होकर तू स्थित हो पृथिवी के सदन पर।
पान कर इनको, ब्रह्म को,
सबके सुखसौभाग्य के लिये।
स्योने ! सराहें तुझे सर्वतः वीर वसु।
साधु अश्वी रखें तुझे सुसंस्थित यहां।

सूक्ति : अभि त्वा रुद्रा वसवो गृणन्तु।
वीर वसुसम्पादक तुझे सर्वतः सराहें।
ब्रह्म पीपिहि सौभगाय।
सौभाग्य के लिये ब्रह्म पान कर।

६९१ स्वैर्दक्षैर्दक्षपितेह सीद देवानां सुम्ने बृहते रणाय। पितेवैधि सूनव आ सुशेवा स्वावेशा तन्वा सं विशस्वाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ य १४.३

स्वैः दक्षैः दक्ष-पिता इह सीद देवानाम् सुम्ने बृहते रणाय। पिता-इव एधि सूनवे आ सु-शेवा सु-आ-वेशा तन्वा सम् विशस्व अश्विना अध्वर्यू सादयताम् इह त्वा।

१) (दक्ष-पिता) दक्ष-पिता तू (स्वैः दक्षैः) अपनी दक्षताओं के साथ (बृहते रणाय) व्यापक रमणीयता के लिये (इह) यहां (देवानाम् सुम्ने) देवों के सुम्न में (सीद) स्थित हो, और (सूनवे पिता-इव एधि) सूनु के प्रति पिता के समान वर्त।

सूनु का अर्थ है प्रेरक और पुत्र। पुत्र पिता का प्रेरणा-सूत्र है। पुत्र का प्रेम पिता को प्रेरणा करता रहता है कि वह अपने पुत्र की समुन्नति और संवृद्धि के लिये अनेक साधनोपाय करता रहे।

दक्षता तथा दक्षों की रक्षा करनेवाले का नाम है दक्षपिता। दक्षपिता शब्द का प्रयोग यहां दक्ष राष्ट्रपति के लिये हुआ है।

देवाः शब्द का प्रयोग हुआ है यहां राष्ट्र के दिव्य जनों अथवा सुदक्ष जनों के लिये।

सुम्न नाम सुमनस्कता अथवा सुप्रसन्नता का है। मन की सुखद अनुकूलता तथा सुख के अर्थ में भी सुम्न शब्द का प्रयोग होता है।

पृथिवी को सुरमणीय बनाने का उपर्युक्त मन्त्रांश में उपक्रम है। पृथिवी का ध्रुवा होना ही पर्याप्त नहीं है। उसे रमणीय भी बनाना है। उसके अंशविशेषों को ही नहीं, उसके सम्पूर्ण तनू को सुरमणीय और सुशोभनीय बनाना है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिये 'बृहते रणाय' शब्दों का प्रयोग किया गया है। सारी पृथिवी एक ओक [गृह] है। उसके कतिपय विभागों को ही नहीं, सारे ओक को ही स्वच्छ और सुन्दर रखना है, ताकि उस पर निवास करनेवाली सम्पूर्ण मानवप्रजा सुम्नपूर्वक निवास कर सके।

प्रत्येक देश का दक्षपिता राष्ट्रपति राष्ट्र में निवास करनेवाले, नाना विषयों में दक्ष, देव जनों के सुम्न में स्थित रहे। वह उन्हें सब प्रकार सन्तुष्ट रखे। वह उन्हें सर्वतः प्रोत्साहित करके उनसे अपने देश के चप्पे चप्पे को रमणीय बनवाये। राष्ट्रपति और सुदक्ष देव जन अपनी अपनी मातृभूमि को ऐसे सजायें जैसे पिता अपने पुत्र को अलंकृत करता है। इस प्रकार देश देश के रमणीयकरण द्वारा सारी पृथिवी का रमणीयकरण किया जाये। प्रत्येक राष्ट्र राष्ट्रपति का सूनु है। वह अपने देश और राष्ट्र को सर्वतः समृद्ध और सुशोभन बनाये रखे। वह देश और राष्ट्र के प्रति ऐसे वर्ते जैसे पिता पुत्र के प्रति वर्तता है।

२) राष्ट्रप्रजे ! (सु-शेवा सु-आ-वेशा) सु-सुखयिनी,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सु-प्रवेशिनी तू (तन्वा) तनू से, जीवन से, जी-जान से (सम् आ विशस्व) सम्यक् पूर्णतया प्रवेश कर, प्रविष्ट रह।

जो अपनी सुसेवा द्वारा सबको सुखी करे, उसे सु-शेवा कहते हैं। जो स्वदेश और स्वराष्ट्र के प्रत्येक क्षेत्र में सोत्साह प्रवेश करके तन्मयता के साथ कार्य करे उसे सु-आवेशा कहते हैं।

प्रजा मूकदर्शक बनकर राष्ट्र के और देश के रमणीयकरण की साध में निष्क्रिय न रहे। वह सु-शेवा और सु-आवेशा बनकर जी-जान से रमणीय-करण की साध में पूर्णतः संप्रविष्ट, सम्मिलित रहे।

३) भूमे ! (अध्वर्यू अश्विना) साधु अश्वी [शासन और जनता] (त्वा इह सादयताम्) [ध्रुवता में] संस्थित रखें।

दक्षपिता तू वर्त पुत्र के प्रति पितासम,
स्थित रह यहां देवों के सुम्न में
व्यापक रमणीयता के लिये।
सुशेवा सु-आवेशा तू रह सम्मिलित
पूर्णतया सम्यक् जीवन से।
साधु अश्वी रखें तुझे सुसंस्थित यहां।

सूक्ति : सीद देवानां सुम्ने बृहते रणाय।
व्यापक रमणीयता के लिये देवों की सुम्न में स्थित रह।

६९२ पृथिव्याः पुरीषमस्यप्सो नाम ताँ त्वा विश्वे अभि गृणन्तु देवाः। स्तोमपृष्ठा घृतवती सीद प्रजावदस्मे द्रविणायजस्वाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा॥

पृथिव्याः पुरीषम् असि अप्सः नाम ताम् त्वा विश्वे अभि गृणन्तु देवाः। स्तोम-पृष्ठा घृतवती इह सीद प्र-जा-वत् अस्मे द्रविणा आ यजस्व अश्विना अध्वर्यू सादयताम् इह त्वा।

१) राष्ट्र ! तू (पृथिव्याः पुरीषम् असि) पृथिवी का पूरक है (अप्सः नाम) सुरूप नामवाला।

प्रत्येक राष्ट्र पृथिवी का पूरक है, सार्वभौम मानवता का एक अङ्ग है, अपने आपमें सम्पूर्ण नहीं है। सम्पूर्ण तो सार्वभौम मानवता ही है। जिस प्रकार कान्त अपनी कामिनी को उसकी कान्ति में देखता है, उसी प्रकार राष्ट्र राष्ट्र के नागरिक अपने अपने राष्ट्र को उसकी सुरूपता में देखें।

२) पृथिवि ! (स्तोम-पृष्ठा घृत-वती) स्तोम-पृष्ठा, घृतवती तू (इह) यहां, इस संसार में [ध्रुवता के साथ] (सीद) स्थित हो, स्थित रह और (अस्मे) हमारे लिये, हम सब मानवों के लिये (प्रजा-वत्) प्रजा-वान् (द्रविणा) ऐश्वर्यों को (आ यजस्व) पूर्णतः संगत कर।

पृथिवी स्तोम-पृष्ठा है, उसकी पृष्ठ पर निवास करनेवाले मानवों तथा प्राणियों द्वारा स्तुति किये जाने योग्य है। पशु के रम्भन, पक्षियों की चहचहाहट और मानवों के स्तुतिगान से पृथिवी गूंजती रहती है और गूंजती रहे।

पृथिवी है घृतवती, स्नेहमयी और तेजोमयी। पृथिवी मानवमात्र को ही नहीं, प्राणिमात्र को धारण करती है। मातृममता के साथ वह सबको दूध पान कराती है। अपने में उत्पन्न पदार्थों से सबका पालन-पोषण करती है। ऐसी इस सुखदा और तेजःप्रदा पृथिवी पर सदैव स्थिरता—प्रस्थापित रहे, सभी राष्ट्र ऐसा सुप्रयास करें। तभी पृथिवी माता सम्पूर्ण मानवप्रजा को प्रेम के साथ ऐश्वर्यों का संवितरण कर सकेगी।

३) पृथिवि ! (ताम् त्वा) उस तुझे (विश्वे देवाः) सब देव, सब दिव्य जन (अभि गृणन्तु) स्तुतें—सराहें।

देव कोटि के मानव सम्पूर्ण पृथिवी की प्रकार सर्वतः सराहें जिस प्रकार सुनागरिक अपनी मातृभूमि को सराहते हैं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

...) (अध्वर्यू अश्विना) साधु अश्वी [शासन ...ौर जनता] (त्वा इह सादयताम्) तुझे यहां ...ध्रुवता में] संस्थित रखें।
...तू है स्वरूप-नाम पूरक पृथिवी का।

स्तोम-पृष्ठा घृतवती तू स्थित रह यहां।
कर हमारे लिये संगत प्रजावान् ऐश्वर्यों को।
उस तुझे सराहें सर्वतः सब देव।
साधु अश्वी रखें तुझे सुसंस्थित यहां।

६९३ अदित्यास्त्वा पृष्ठे सादयाम्यन्तरिक्षस्य धर्त्रीं विष्टम्भनीं दिशामधिपत्नीं भुवनानाम्।
ऊर्मिर्द्रप्सो अपामसि विश्वकर्मा त ऋषिरश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा॥ य १४.५

अदित्याः त्वा पृष्ठे सादयामि अन्तरिक्षस्य धर्त्रीम् वि-स्तम्भनीम् दिशाम् अधि-पत्नीम् भुवनानाम्। ऊर्मिः द्रप्सः अपाम् असि विश्व-कर्मा ते ऋषिः अश्विना अध्वर्यू सादयताम् इह त्वा।

...र्वभौम मानवता का विधान करती हुयी वेदमाता ...हती है—

...) मैं (सादयामि) स्थापन करती हूं (अदित्याः पृष्ठे) ...दिति की पृष्ठ पर (त्वा) तुझ (अन्तरिक्षस्य ...र्त्रीम्) अन्तरिक्ष की धारिका, (दिशाम् वि-...स्तम्भनीम्) दिशाओं की सहारनेवाली और (भुव-...नाम् अधि-पत्नीम्) भुवनों की अधि-रक्षिका को।

अदिति नाम अखण्ड पृथिवी का है, किसी ...ण्ड विशेष का नहीं सम्पूर्ण पृथिवी का।

सार्वभौम मानवता अन्तरिक्ष की धारिका है। ...और पृथिवी के बीच में जो अवकाश है उसकी ...ा अन्तरिक्ष है। जब सार्वभौम मानवता की ...स्थापना होती है तो एक देश के मानव दूसरे देशों ...मानवों पर अन्तरिक्ष से गोलियों और बमों की ...र्षा नहीं करते हैं। स्वदेश के मानवों के प्रति ...नुचित व्यवहार करना और अन्य देशों ...मानवों के प्रति अमानुषी व्यवहार करना ...नवता की हत्या करना है। किसी भी देश के ...नव वैसे ही मानव हैं जैसे स्वदेश के, यह भावना ...न सभी देशों के मानवों में व्याप जाती है तभी ...न्तरिक्ष्य सुरक्षा संधारित होती है।

सार्वभौम मानवता सब दिशाओं को सहारती ...सभी दिशाओं में निवास करनेवाली मानव-...ाओं को सहयोग, सहकार और सहसेवा के सूत्र ...पिरोती है।

सार्वभौम मानवता भुवनों की अधिरक्षिका है। भुवन शब्द का प्रयोग मानवभुवनों के लिये हुआ है। भुवन शब्द के अनेक अर्थों में से एक अर्थ मनुजप्राणी भी है। व्यापक मानवता ही है जिससे अदिति पर निवास करनेवाला समग्र मानवमण्डल सर्वतः अधि-रक्षित होगा। मानवता मानव का परम धर्म है। मानवधर्म से अलंकृत होकर ही सम्पूर्ण मानवप्रजा एक अखण्ड परिवार में परिणत होगी। तभी सच्चे अर्थों में मानवभुवनों की सुरक्षा तथा संरक्षा होगी।

२) मानवते! तू (अपाम्) प्रजाओं की (द्रप्सः ऊर्मिः असि) हर्षमयी गौरवमयी तरंग है।

दप् हर्षमोहनयोः [हर्ष और गर्व] धातु से द्रप्स शब्द का संसर्जन हुआ है। सार्वभौम मानवता के साम्राज्य में सम्पूर्ण मानवप्रजा हर्ष तथा गौरव से उल्लसित और तरंगित रहती है।

३) अदिते! (ऋषिः ते विश्व-कर्मा) ऋषि तेरा विश्वकर्मा हो।

ऋषिः स यो मनुर्हितः (ऋ १०.२६.५)। ऋषि वह है जो मनुष्यमात्र का हितचिन्तक और हित-सम्पादक हो।

विश्वकर्मा शब्द का प्रयोग यहां विश्व के कर्मण्य नेता के अर्थ में हुआ है। विश्व में मानवता के स्थायित्व का दायित्व विश्वनेता पर है। विश्व-नेता वही बन सकता है जो विश्वनेतृत्व के सभी

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

गुणों से युक्त होने के अतिरिक्त अदिति पर निवास करनेवाले सभी मानवों का समानरूप से हितैषी भी हो।

४) मानवते ! (अध्वर्यू अश्विना) साधु अश्वी [शासन और जनता] (त्वा इह सादयताम्) तुझे यहां [ध्रुवता में] संस्थित रखें।

प्रत्येक देश का शासन और उसकी जनता स्वराष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों में सार्वभौम मानवता की भावना के स्थायित्व का सदैव ध्यान रखे।

स्थापित करती हूं अदिति की पृष्ठ पर
तुझ अन्तरिक्ष की धारिका,
दिशाओं की सहारिका,
भुवनों की अधिरक्षिका को।
द्रप्स ऊर्मि है तू आपों की।
ऋषि हो तेरा विश्व-कर्मा।
साधु अश्वी रखें संस्थित तुझे यहां।

६९४ शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू अग्नेरन्तःश्लेषो ऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्ता-मापः ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। ये अग्नयः समनसो ऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे ग्रैष्मावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥

शुक्रः च शुचिः च ग्रैष्मौ ऋतू अग्नेः अन्तः-श्लेषः असि कल्पेताम् द्यावा-पृथिवी कल्पन्ताम् आपः ओषधयः कल्पन्ताम् अग्नयः पृथक् मम ज्यैष्ठ्याय स-व्रताः। ये अग्नयः सम-नसः अन्तरा द्यावा-पृथिवी इमे ग्रैष्मौ ऋतू अभि-कल्पमानाः इन्द्रम्-इव देवाः अभि-सम्-विशन्तु तया देवतया अङ्गिरस्वत् ध्रुवे सीदतम्।

इस मन्त्र में विश्वकर्मा की महोक्ति है। विश्वकर्मा कहता है—

१) (शुक्रः च शुचिः च ग्रैष्मौ ऋतू) शुक्र [ज्येष्ठ] और शुचि [आषाढ़] ग्रीष्म ऋतुयें हैं।

वर्ष की छह ऋतुओं में से ग्रीष्म दूसरी ऋतु है, शुक्र और शुचि अथवा ज्येष्ठ और आषाढ़ जिसके दो ऋतु-मास हैं। ग्रीष्म में जो गर्मी है उसे ग्रैष्म कहते हैं। तीव्र ताप से तपानेवाला होने से ज्येष्ठ मास का नाम शुक्र है। वर्षा की बौछारों से आकाश और वनस्पति को धोकर स्वच्छ करनेवाला होने से आषाढ़ की संज्ञा शुचि है।

२) ग्रीष्म ! तू (अग्नेः अन्तःश्लेषः असि) अग्नि का अन्तःश्लेष है।

'श्लिष्' आलिङ्गने। ग्रीष्म ऋतु वातावरण के भीतर सूर्याग्नि का आलिंगन अथवा संचार करती है, जिसकी तपन से तपकर सागर के क्षारयुक्त क्षाररहित बादल बनकर सर्वत्र बरसते हैं प्यासी भूमि को तृप्त करके हरा-भरा करते हैं।

मानवताग्नि वह ग्रैष्म है जिसकी ज्वाला में सम्पूर्ण पृथिवी पर ध्रुवता की स्थापना हो और समस्त मानवजाति मानवता से युक्त रहती है।

३) ग्रीष्म का ग्रैष्म कहता है—(मम ज्यैष्ठ्याय) मेरे ज्येष्ठत्व के लिये (कल्पेताम् द्यावापृथिवी) कल्पें द्यौ और पृथिवी, (कल्पन्ताम् आपः ओषधयः) कल्पें जल और ओषधियां, (कल्पन्ताम् अग्नयः) कल्पें सव्रत मानवाग्नियां (पृथक्) अलग।

ज्येष्ठत्व [बढ़ाव, विकास] ग्रैष्म ऋतु का है। ग्रीष्म के ग्रैष्म में जिस प्रकार द्यौ और

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

का तथा जलों और ओषधियों का कायाकल्प होरहा होता है उसी प्रकार सार्वभौम मानवता की स्थापना तथा रक्षा के व्रती मानवाग्नि दिशा-विदिशाओं में पृथक् पृथक् व्याप जायें और सम्पूर्ण मानवजाति को मानवता के ग्रैष्म से अभिन्नता के साथ युक्त—संयुक्त रखें।

मानवतारूपी ग्रैष्म की मुख्य साध है मानवों के द्यौ-भू [मस्तिष्क और जीवन] में मानवता की ज्येष्ठता—महानता की स्थापना करना, मानवों के आपः [सुकर्मप्रवाहों] और ओषधयः [सुवृत्तियों] को सुस्थिर रखना। इस साध की सफल साधना वे व्रती मानव अथवा साधक हीं कर पाते हैं जिनके भीतर मानवता का अग्नि प्रज्वलित रहता है।

विश्वकर्मा कामना करता है—(इमे द्यावा-पृथिवी) इन द्यौ और पृथिवी के (अन्तरा) बीच में (ये स-मनसः अग्नयः देवाः) जो समन और अग्नि के समान तेजस्वी देव हैं वे (ग्रैष्मौ ऋतू) ग्रैष्म ऋतुओं को, दोनों ग्रीष्म-ऋतु-मासों को (अभि-कल्पमानाः) सर्वतः कल्प करते हुये, (इन्द्रम्-इव) सूर्य को जैसे (अभि सम्-विशन्तु) सब ओर सम्यक् प्रवेश करें।

द्यौ और पृथिवी के बीच के विशाल अवकाश का अवलोकन करता है तो विश्वकर्मा के मानस में सार्वभौम ध्रुवता की उत्ताल तरंगें तरंगित होती हैं और वह कामना करने लगता है कि उमंग और उत्साह से पूरित मनवाले मनस्वी और तेजस्वी देव-देवियां रश्मिपुञ्ज सूर्य की किरणों की तरह दिशा-विदिशाओं में प्रवेश करें और ज्येष्ठ-आषाढ़ की तरह ऋतुकल्प करके सारी पृथिवी पर मानवतारूपी ग्रैष्म की संव्याप्ति करते रहें।

मानवप्रजा और अग्निरूप समन देवप्रजा, दोनों को सम्बोधन करता हुआ विश्वकर्मा कहता है—उभय प्रजाओ! तुम दोनों (ध्रुवे) ध्रुवा [अविचल रहते हुये] (तया देवतया) उस [मानवतारूपी] देवता के साथ (अङ्गिरस्वत् सीदतम्) आत्मवत् सुस्थिर—सुस्थित रहो।

दोनों प्रजाओं के मानवतारत रहने से ही पृथिवी पर मानवतारूपी ग्रैष्म की ऊष्मा उष्ण रहती है।

शुक्र और शुचि हैं ग्रैष्म ऋतुयें।
तू है अन्तरालिंगन अग्नि का।
मेरे ज्येष्ठत्व के लिये कल्पें द्यौ-भू,
कल्पें आपः और ओषधियां,
कल्पें सव्रत अग्नियां।
इन द्यावापृथिवी के मध्य में
हैं जो समन तेजस्वी देव
वे ग्रैष्म ऋतुओं को
सर्वतः कल्पित करते हुये
करें सूर्यवत् सब ओर सम्यक् प्रवेश।
ध्रुवा तुम दोनों सुस्थित रहो
आत्मवत् उस देवता के साथ।

६९५ सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा/सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्वसुभिः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा/सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजू रुद्रैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा/सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूरादित्यैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा/सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्विश्वैर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥

य १४.७

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

स-जूः ऋतु-भिः स-जूः वि-धा-भिः स-जूः देवैः स-जूः देवैः वयः-नाधैः अग्नये त्वा वैश्वानराय अश्विना अध्वर्यू सादयताम् इह त्वा स-जूः ऋतु-भिः स-जूः वि-धा-भिः स-जूः वसु-भिः स-जूः वयः-नाधैः अग्नये त्वा वैश्वानराय अश्विना अध्वर्यू सादयताम् इह त्वा स-जूः ऋतु-भिः स-जूः वि-धा-भिः स-जूः रुद्रैः स-जूः देवैः वयः-नाधैः अग्नये त्वा वैश्वानराय अश्विना अध्वर्यू सादयताम् इह त्वा स-जूः ऋतु-भिः स-जूः वि-धा-भिः स-जूः आदित्यैः स-जूः देवैः वयः-नाधैः अग्नये त्वा वैश्वानराय अश्विना अध्वर्यू सादयताम् इह त्वा स-जूः ऋतु-भिः स-जूः वि-धाभिः स-जूः देवैः स-जूः देवैः वयः-नाधैः अग्नये त्वा वैश्वानराय अश्विना अध्वर्यू सादयताम् इह त्वा।

विश्वकर्मा कहे चला जारहा है—

१) मानवते ! मानवप्रजा और अग्निरूप समन देव-प्रजा, ये दोनों (अध्वर्यू अश्विना) साधु अश्वी (इह) यहां, इस पृथिवी पर (सादयताम्) स्थापित करें, सुस्थित रखें (त्वा अग्नये त्वा वैश्वानराय) तुझे अग्नि के लिये, तुझे वैश्वानर के लिये, प्रत्येक व्यक्ति(स-जूः ऋतु-भिः) युक्त रहता हुआ ऋतुओं से, (स-जूः वि-धा-भिः) संजुष्ट रहता हुआ विधाओं से, (स-जूः देवैः) सप्रेम युक्त रहता हुआ दिव्यताओं से, (स-जूः वयः-नाधैः देवैः) प्रीतियुक्त रहता हुआ वयः-नाध दिव्यताओं से।

अग्नि शब्द का प्रयोग यहां शरीर शरीर के नायक आत्माग्नि के लिये हुआ है और वैश्वानर का विश्व के नायक परमात्मा के लिये। पृथिवी पर जब मानवता स्थापित रहती है तो मानवों में आत्मा और परमात्मा की भावना भावित रहती है। अन्यथा भौतिकवाद और भोगवाद की अतिशयता से सम्पूर्ण मानवप्रजा आत्महीन और ब्रह्मविहीन हो जाती है। अतः, उपर्युक्त दोनों प्रजायें पृथिवी पर मानवता को सुस्थित और सुस्थिर रखने की सतत साधना करती रहें।

ऋतु शब्द का प्रयोग वर्ष की छहों ऋतुओं अथवा कालावयवों के लिये हुआ है।

विधा नाम जल, विधि, विधान और जाति का है। 'वयः' का अर्थ है आयु, जीवन। "नाध" का अर्थ है याचना, उपताप, आशीः। जब प्रत्येक मानव जल के समान शीतल, शान्त और अनुत्तेजित रहता है तभी वह मानवजाति से सम्बन्धित विधि-विधानों का यावदायुष्य पालन करता; वह दिव्यताओं अथवा दिव्य गुणों से युक्त की सुसाधना करता है, तभी वह मानव उजाड़ से उपतापित—उत्पीड़ित होकर प्रभु से वता की सार्वभौम स्थापना की याचना करता है और जनाशीर्वादों का पात्र बनता; वह वयःनाधजन्य—आशीर्वादजन्य दिव्यता युक्त रहता है। जन जन जब सब ऋतु सब कालावयवों में सदा विधाओं, दिव्य वयःनाधजन्य दिव्यताओं से संजुष्ट रहने न तभी मानवता की स्थापना सुस्थित रहे परिणामस्वरूप वर्ष की समस्त ऋतुयें और के सब दिन, सप्ताह, पक्ष, मास सुख, शान्ति स्वस्ति प्रदान करते हैं।

२) मानवते ! (अध्वर्यू अश्विना) साधु साधु मानवप्रजायें तथा अग्निरूप समन दोनों (इह) यहां, इस पृथिवी पर (सादयताम्) स्थापित रखें (त्वा अग्नये) तुझे जीवनकर्ता आत्माग्नि के लिये, (त्वा वैश्वानराय) तुझे नयनकर्ता परमात्मा के लिये, प्रत्येक व्यक्ति ऋतु-भिः) संयुक्त रहता हुआ ऋतुओं—कालावयवों से, (स-जूः वि-धा-भिः) संजुष्ट रहता हुआ विधि-विधानों से, (स-जूः वसु-भिः) संजुष्ट रहता प्राणों—प्राणप्रियताओं से, (स-जूः वयः-नाधैः संयुक्त रहता हुआ वयःनाधजन्य—आशीर्वादजन्य दिव्यताओं से।

२) प्राणा वै विधाः अभिहीदं सर्वं विहितं। शत. ८।२।२।१०॥
प्राणा वै देवा वयांसि(ना)। प्राणानेवैतत् सर्वं वयः नधत्ते॥ ८।२।२।१०॥

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पृथिवी पर निवास करनेवाला प्रत्येक मानव जब सदा मानवीय विधि-विधानों का पालन करता है और आशीर्वादप्रद दिव्यताओं से युक्त रहता है तो सर्वत्र प्राणप्रियताओं के वातावरण में मानवप्रजा सुख, स्वस्ति और शान्ति का आस्वादन करती है।

४) मानवते! (अध्वर्यू अश्विना) साधु अश्वी, साधु मानवप्रजायें तथा अग्निरूप समन देवप्रजायें, दोनों (इह) यहां, इस पृथिवी पर (सादयताम्) सुस्थित रखें (त्वा अग्नये) तुझे जीवननयनकर्ता आत्माग्नि के लिये, (त्वा वैश्वानराय) तुझे विश्वनयनकर्ता परमात्मा के लिये, प्रत्येक मानव (स-जूः ऋतु-भिः) संजुष्ट रहता हुआ ऋतुओं—कालावयवों से, (स-जूः वि-धा-भिः) संजुष्ट रहता हुआ मानवीय विधि-विधानों से, (स-जूः रुद्रैः) संजुष्ट रहता हुआ रुद्रों से, (स-जूः वयः-नाधैः देवैः) संजुष्ट रहता हुआ आशीर्वादप्रद दिव्यताओं से।

रुद्र नाम रुतों [अन्तःकरण के रोगों] को दीर्ण—नष्ट करनेवाले का है। ईर्ष्या-द्वेष, छल-कपट, घात-पात, स्वार्थपरता, विकार-वासना, विकृत विचार-भावना, आदि रुत् अथवा अन्तःकरण के रोग हैं जो मानवप्रजाओं को परस्पर लडाकर पृथिवी की ध्रुवता को अस्त-व्यस्त कर देते हैं। जो निर्मल, निर्विकार मानव अपने शिक्षोपदेश से रुतों का नाश करते हैं उन्हें रुद्र कहते हैं।

रुद्रों की अन्तश्चिकित्सा से जब प्रत्येक मानव निर्मल और निर्विकार हो जाता है तभी मानव-प्रजा सब ऋतुओं में सदा मानवीय विधि-विधानों का पालन करती है और आशीर्वादप्रद दिव्यताओं से युक्त रहती है।

४) मानवते! (अध्वर्यू अश्विना) साधु अश्वी, साधु मानवप्रजायें तथा अग्निरूप समन प्रजायें, दोनों (इह) यहां, इस पृथिवी पर (सादयताम्) सुस्थित रखें (त्वा अग्नये) तुझे जीवननयनकर्ता आत्माग्नि के लिये, (त्वा वैश्वानराय) तुझे विश्वनयनकर्ता परमात्मा के लिये, प्रत्येक मानव (स-जूः ऋतु-भिः) संजुष्ट रहता हुआ ऋतुओं—कालावयवों से, (स-जूः वि-धा-भिः) संजुष्ट रहता हुआ मानवीय विधि-विधानों से, (स-जूः आदित्यैः) संजुष्ट रहता हुआ आदित्यों से, (स-जूः वयः-नाधैः देवैः) संजुष्ट रहता हुआ आशीर्वादप्रद दिव्यताओं से।

अदिति नाम अखण्ड पृथिवी का है। जो अपने को किसी एक देश-प्रदेश का नहीं, अखण्ड पृथिवी का पुत्र समझकर सम्पूर्ण मानवप्रजा की सुसेवा करते हैं उनकी ही संज्ञा आदित्य है। आदित्यों [अदिति के पुत्रों] की प्रेरणा से जब प्रत्येक मानव अदिति को अपनी माता और सम्पूर्ण मानवप्रजा को अपना परिवार समझने लगता है तो मानवप्रजा सदा मानवीय विधि-विधानों का पालन करती है और आशीर्वादप्रद दिव्यताओं से द्योतित रहती है।

५) मानवते! (अध्वर्यू अश्विना) साधु अश्वी, साधु मानवप्रजायें तथा अग्निरूप समन देवप्रजायें, दोनों (इह) यहां, इस पृथिवी पर (सादयताम्) सुस्थित रखें (त्वा अग्नये) तुझे जीवननयनकर्ता आत्माग्नि के लिये, (त्वा वैश्वानराय) तुझे विश्वनयनकर्ता परमात्मा के लिये, प्रत्येक मानव (स-जूः ऋतु-भिः) संजुष्ट रहता हुआ ऋतुओं—कालावयवों से, (स-जूः वि-धा-भिः) संजुष्ट रहता हुआ मानवीय विधि-विधानों से, (स-जूः विश्वैः देवैः) प्रीतिमान रहता हुआ समस्त मानवदेवों से, (स-जूः वयः-नाधैः देवैः) प्रीतियुक्त रहता हुआ आशीर्वादप्रद दिव्यताओं से।

जब प्रत्येक मानव समस्त मानवदेवों के प्रति प्रीतियुक्त रहने लगता है तो मानवप्रजा सब समयों में मानवीय विधि-विधानों का पालन करती हुयी आशीर्वादप्रद दिव्यताओं से सुशोभित रहती है।

साधु अश्वी रखें यहां सुसंस्थित
तुझे अग्नि के लिये, तुझे वैश्वानर के लिये,
रहता हुआ संजुष्ट ऋतुओं से,
संजुष्ट विधि-विधानों से,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

संजुष्ट दिव्यताओं से,
संजुष्ट आशीर्वादप्रद दिव्यताओं से ।
साधु अश्वी रखें यहां सुसंस्थित
तुझे अग्नि के लिये, तुझे वैश्वानर के लिये,
रहता हुआ संजुष्ट ऋतुओं से,
संजुष्ट विधि-विधानों से,
संजुष्ट प्राणप्रियताओं से,
संजुष्ट आशीर्वादप्रद दिव्यताओं से ।
साधु अश्वी रखें यहां सुसंस्थित
तुझे अग्नि के लिये, तुझे वैश्वानर के लिये,
रहता हुआ संजुष्ट ऋतुओं से,
संजुष्ट विधि-विधानों से,
संजुष्ट रुद्रों से,
संजुष्ट आशीर्वादप्रद दिव्यताओं से ।
साधु अश्वी रखें यहां सुसंस्थित
तुझे अग्नि के लिये, तुझे वैश्वानर के लिये,
रहता हुआ संजुष्ट ऋतुओं से,
संजुष्ट विधि-विधानों से,
संजुष्ट आदित्यों से,
संजुष्ट आशीर्वादप्रद दिव्यताओं से ।
साधु अश्वी रखें यहां सुसंस्थित
तुझे अग्नि के लिये, तुझे वैश्वानर के लिये,
रहता हुआ संजुष्ट ऋतुओं से,
संजुष्ट विधि-विधानों से,
संजुष्ट सब मानवदेवों से,
संजुष्ट आशीर्वादप्रद दिव्यताओं से ।

६९६ प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि चक्षुर्म उर्व्या वि भाहि श्रोत्रं मे श्लोकय ।
अपः पिन्वौषधीर्जिन्व द्विपादव चतुष्पात् पाहि दिवो वृष्टिमेरय ।।

प्र-आनम् मे पाहि अप-आनम् मे पाहि वि-आनम् मे पाहि चक्षुः मे उर्व्या वि भाहि श्रोत्रं मे श्लोकय । अपः पिन्व ओषधीः जिन्व द्वि-पात् अव चतुः-पात् पाहि दिवः वृष्टिम् आ ईरय ।

सार्वभौम मानवता के आश्रय से सार्वभौम ध्रुवता का साधक विश्वकर्मा अपनी साध की गुरुता का अनुभव करता हुआ प्रभु से प्रार्थना करने लगता है—

१) (मे प्र-आनम् पाहि) मेरे प्राण को/की रक्षा कर ।

जो श्वास नासिका द्वारा बाहर से भीतर जाता है उसकी संज्ञा प्राण है । 'प्र' का अर्थ है प्रकृष्ट, शुद्ध । 'आन' का अर्थ है वायु को खींचना, गति देना । प्राण का कार्य जीवनतत्त्व से युक्त शुद्ध वायु का संचार करना है । प्राण शरीर-सत्त्व का शोधन तथा पोषण करता है । प्राण शब्द का प्रयोग यहां शोधन अर्थ में हुआ है । मानवता की सार्वभौम सुस्थिरता के लिये विश्वकर्मा को मानवजाति के सत्त्व को शोधना होगा । यह एक अतिशय दुस्साध्य साध है । इसके लिये उसे प्राण की बाज़ी लगानी होगी । इसी लिये उसने प्रार्थना की है, 'प्रभो ! मेरे प्राण की रक्षा कर । मानवजाति के शोधन इस साध को सफलता प्राप्त करा ।'

२) (मे अप-आनम् पाहि) मेरे अपान को/की कर ।

जो प्रश्वास भीतर से बाहर जाता है है । अप शब्द का प्रयोग पृथक्य, अशुद्ध अर्थ में होता है । अपान शरीर के अशुद्ध मलों को बाहर निकालता है । अपान प्रयोग यहां दुरितों [बुराइयों] के निर अर्थ में हुआ है । मानवजाति में व्यास अभिचार, आदि दुरित व्याप जाते हैं प्रकृति में लिप्सा, स्वार्थ और हिंसा का जाता है । परिणामस्वरूप पृथिवी की ध्वस्त होने लगती है । मानवजाति के के लिये अनिवार्यतः मानवों में व्याप्त

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

निराकरण करना है। अतः विश्वकर्मा ने विनय की है, 'परम पावन प्रभो ! मेरी अपान-साध की, मानवों को दुरितों से मुक्त करने की मेरी साध की रक्षा कर।'

३) (वि-आनम् मे पाहि) मेरे व्यान को/की रक्षा कर।

शरीर में प्राण की व्याप्ति का नाम व्यान है। शरीर में प्रविष्ट होने पर प्राण सारे शरीर में व्यापता है और सम्पूर्ण शरीर में संजीवन का संचार करता है। व्यान संजीवन-संचारी है। मानवता के उत्थान और अदिति [पृथिवी] की ध्रुवता के लिये विश्वकर्मा को सम्पूर्ण पृथिवी पर व्यापकर उनमें मानवाचार अथवा सदाचार-रूपी संजीवन का संचार करना होगा। उसी दृष्टि से उसने प्रार्थना की है, 'व्यापकेश्वर ! मेरे व्यान की रक्षा कर।'

४) (मे चक्षुः) मेरे चक्षु को (उर्व्या) विशालता के साथ (वि भाहि) प्रकाशित कर।

व्यापक—विशाल साधों की सिद्धि के लिये व्यापक—विशाल दृष्टि की आवश्यकता होती है। क्षुद्र दृष्टि व्यापक साध की सिद्धि में सर्वथा बाधक होती है। सार्वभौम मानवता तथा ध्रुवता की स्थापना के लिये विश्वकर्मा को देश-प्रदेश और निज-पर की दृष्टि का परित्याग करके सारी पृथिवी और सम्पूर्ण मानवप्रजा को आत्मनिजता और आत्मीयता की दृष्टि से देखना होगा। 'विश्वद्रष्टः ! मेरे चक्षु को, मेरे दर्शन को, मेरी दृष्टि को विशालता के साथ देखने की क्षमता प्रदान कर,' विश्वकर्मा की यह प्रार्थना एक गहन और दिव्य भावना की द्योतक है।

५) (मे श्रोत्रम् श्लोकय) मेरे श्रोत्र को सुश्रवण करा।

सार्वभौम साधक को अपने श्रोत्र [कर्ण, कान] सदा खुले रखने होते हैं। देश देश और प्रदेश प्रदेश में जो विवाद उठ खड़े होते हैं, उभय पक्ष के स्पष्टीकरणों को निष्पक्ष होकर सुनना और टकराव की स्थिति पैदा होने से पूर्व न्याय्य और स्वीकार्य समाधान करना-कराना विश्वकर्मा का पुनीत कर्तव्य है। इसी भावना से उसने विनय की है, 'प्रभो ! मेरे श्रोत्र और श्रवण को प्रशस्त कर।'

६) प्रभो ! (अपः पिन्व) प्रजाओं को पुष्ट कर, (ओषधीः जिन्व) ओषधियां प्राप्त करा।

असुविधाओं और अभावों के कारण जहां कहीं की भी प्रजाओं के स्वास्थ्य क्षीण होरहे हों और उनमें बीमारियां फैल रही हों तो विश्वकर्मा अन्तर्राष्ट्रीय सहायता प्राप्त करके रोगनिवारक और पुष्टिकारक ओषधियों की सद्यः व्यवस्था करे और मानवजीवन के उपयोग की सभी वस्तुओं के अभाव को भाव में परिणत कराये, ताकि सभी देशों की जनता तुष्ट और पुष्ट रहे। जनता का असन्तोष भयंकर उपद्रवों का कारण बन जाता है और सार्वभौम व्यवस्था भंग होजाती है। 'विश्वपोषक प्रभो ! प्रजाओं को पुष्ट रख और ओषधियां प्राप्त करा,' विश्वकर्मा की इस विनय में गहन समाज-विज्ञान सन्निहित है।

७) (द्वि-पात् अव) दो पगवाले को/की रक्षा कर, (चतुः-पात् पाहि) चार पगवाले को/की रक्षा कर।

मनुष्यवर्ग दो पैरोंवाला है और गौ, आदि सामाजिक पशुवर्ग चार पैरोंवाला। उभय वर्ग की वास्तविक रक्षा तभी होती है जब अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान देश देश और प्रदेश प्रदेश की मानवप्रजा की समृद्धि और पशुवर्ग की वंशवृद्धि की चारु व्यवस्था करते हैं। 'प्रजापते ! मानवप्रजा और पशुप्रजा की सर्वतः रक्षा कर,' विश्वकर्मा की यह विनय भी एक सार्वभौम व्यवस्था की ओर संकेत कररही है।

८) (दिवः वृष्टिम् आ ईरय) आकाश से वृष्टि प्रेरे।

आकाश शब्द का प्रयोग यहां प्रभु की कृपारूपी परम और परोक्ष धाम के लिये हुआ है। 'आनन्द-स्वरूप ! अपने आनन्दधाम से पृथिवी की मानव-प्रजाओं और पशुप्रजाओं के लिये सुख, शान्ति, स्वस्ति और आनन्द की सतत वृष्टि कर,' विश्वकर्मा की यह प्रार्थना सर्वार्थ मंगलकामनापरक है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

रक्षा कर मेरे प्राण की ।
रक्षा कर मेरे अपान की ।
रक्षा कर मेरे व्यान की ।
कर विशालता से मेरा चक्षु प्रकाशित ।
कर प्रशस्त मेरे श्रोत्र को ।
पुष्ट प्रजाओं को रख सम्यक् ।
प्राप्त करा सम्यक् ओषधियां ।
रक्षा कर मानवप्रजा की ।
रक्षा कर पशुप्रजा की ।
सतत प्रेरे वृष्टि द्यौ से ।

६९७ मूर्धा वयः प्रजापतिश्छन्दः क्षत्रं वयो मयन्दं छन्दो विष्टम्भो वयो ऽधिपतिश्छन्दो विश्वकर्मा वयः परमेष्ठी छन्दो बस्तो वयो विवलं छन्दो वृष्णिर्वयो विशालं छन्दः पुरुषो वयस्तन्द्रं छन्दो व्याघ्रो वयो ऽनाधृष्टं छन्दः सिंहो वयश्छदिश्छन्दः पक्षो वयो बृहती छन्द,उक्षा वयः ककुप् छन्द ऋषभो वयः सतोबृहती छन्दः ॥ य १४.९

मूर्धा वयः प्र-जा-पतिः छन्दः क्षत्रम् वयः मयन्दम् छन्दः वि-स्तम्भः वयः अधि-पतिः छन्दः विश्व-कर्मा वयः परमे-स्थी छन्दः बस्तः वयः वि-वलम् छन्दः वृष्णिः वयः वि-शालम् छन्दः पुरुषः वयः तन्द्रम् छन्दः व्याघ्रः वयः अन-आ-धृष्टम् छन्दः सिंहः वयः छदिः छन्दः पक्षः वयः बृहती छन्दः उक्षा वयः ककुप् छन्दः ऋषभः वयः सतः-बृहती छन्दः ।

वयः शब्द का जन्म 'वी' धातु, जिसका अर्थ गति और व्याप्ति है, से हुआ है। यहां इस शब्द का प्रयोग गति और व्याप्ति के साधन के अर्थ में हुआ है। छन्द शब्द का प्रयोग हुआ है उद्देश्य अथवा साध्य के अर्थ में। पृथिवी पर ध्रुवता स्थापित रखने की दृष्टि से विश्वकर्मा अपनी ईशविनय के साथ साथ देश देश और प्रदेश प्रदेश के सभ्य-सभ्याओं को हृदयंगम कराता रहता है कि—

१) (मूर्धा) शिर (वयः) गति और व्याप्ति का साधन है, (प्र-जा-पतिः) प्रजा-पतित्व, प्रजा-रक्षण है (छन्दः) साध्य।

गति अथवा सतत साधना के द्वारा ही व्याप्ति सम्भव होती है। शरीर में शिर की सतत साधना से ही इन्द्रियप्रजाओं का रक्षण होता है। उसी प्रकार, शिरस्थानी, मूर्धन्य व्यक्ति की संसाधना से प्रत्येक समाज की मानवप्रजा का यथावत् संरक्षण होना चाहिये। मूर्धन्य व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह प्रजा का पति [रक्षक] बनकर उनकी सर्वतः रक्षा करे, उनका मार्गदर्शन करके उन्हें हर बुराई और हानि से बचाये।

२) (क्षत्रम् वयः) क्षत्र गति—व्याप्ति का साधन है, (मयन्दम् छन्दः) सुख-प्रदान साध्य है।

क्षत्र नाम शौर्य, वीरता, बल और साम्राज्य का है। क्षात्र बल की साधना से प्रजाओं को सुख-सुविधाओं की उपलब्धि करानी चाहिये।

३) (वि-स्तम्भः वयः) वि-स्तम्भ प्रगति का साधन है, (अधि-पतिः छन्दः) अधिपति साध्य है।

'वि-स्तम्भ' का अर्थ है प्रजाओं का विविध प्रकार से स्तम्भन करना, सहारना, उपद्रवों तथा विघ्नों को रोकना। उभय प्रकार के विस्तम्भन से सामाजिक प्रगति होती है। अधिपति [राजा, राष्ट्रपति] की नियुक्ति का यही उद्देश्य है।

४) (विश्व-कर्मा वयः) विश्वकर्मा व्याप्ति का साधन है, (परमे-स्थी छन्दः) परम में स्थिति साध्य है।

विश्वकर्मा का कर्तव्य है कि वह विश्व में ऐसी प्रगति का पथ प्रशस्त करे जिससे विश्व के सभी राष्ट्रों की भौतिक समृद्धि के साथ परम [अध्यात्म

तन्त्र पाति कुरु बोधि भरतीत -६३२- तन्त्री : वीणा वा | णिलोप

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

साधना भी सम्यक्तया चल रही हो।

५) (बस्तः वयः) आच्छादन प्रगति का साधन है, (वि-वलम् छन्दः) वि-गोपन साध्य है।

वस्त्र, निवास, गृह, आदि आच्छादन अथवा ढकने के साधन हैं। गोपन [गोपनीयता, privacy] साध्य है। मानवप्रजा के लिये आच्छादन के साधनों की सुलभता से गुह्य अंगों तथा गुह्य व्यवहारों की गोपनीयता की रक्षा होती है।

६) (वृष्णिः वयः) वृष्णि प्रगति का साधन है, (विशालम् छन्दः) विस्तार साध्य है।

वृष्णि नाम बादल का है। जिस प्रकार बादल जलवृष्टि करके भूमियों में अन्नसम्पदा का विस्तार करता है उसी प्रकार सुखैश्वर्यों से सम्पन्न प्रत्येक व्यक्ति जन जन को सुखैश्वर्य का भागीदार बनाये, जन जन की समृद्धि का साधनोपाय करे।

७) (पुरुषः वयः) पुरुष प्रगति का साधन है; (तन्द्रम् छन्दः) कुटुम्ब-तन्त्र साध्य है।

प्रत्येक पुरुष प्रगतिशील होकर परिवार-संस्था का पालन और सुविकास करे। परिवार परिवार के सुविकास से समस्त मानवसमाज का विकास होता है।

८) (व्याघ्रः वयः) पुरुषव्याघ्र [वीर] प्रगति का साधन है, (अनु-आ-धृष्टम् छन्दः) प्रगल्भता साध्य है।

वीर पुरुष प्रगतिशील बनकर मानवसमाज को प्रगल्भ, निडर, साहसी बनाये।

९) (सिंहः वयः) हन्ता प्रगति का साधन है, (छदिः छन्दः) छत साध्य है।

दुरितों और दुष्टों का हन्ता सिंहपुरुष छत के समान आपदाओं से जनता की रक्षा करे।

१०) (पष्ठ-वाट् वयः) पृष्ठ-वाट् प्रगति का साधन है, (बृहती छन्दः) वृद्धि साध्य है।

पष्ठ-वाट् [पीठ पर बोझा ढोनेवाला] जिस प्रकार भार वहन करके सर्वत्र अभावों को भावों में परिणत करता है उसी प्रकार उत्तरदायित्वों का भार वहन करनेवाला प्रत्येक अधिकारी सर्वत्र मानवसमाज के अभावों की प्रचुरता के साथ पूर्ति करे, असमृद्धि को समृद्धि में परिणत करे।

११) (उक्षा वयः) सेचक प्रगति का साधन है, (ककुप् छन्दः) दिशा साध्य है।

विद्या, धर्म, सदाचार, आदि से सींचने की क्षमता रखनेवाला वर्ग दिशा दिशा में निवास करनेवाली प्रजा का उत्तम गुणों से सेचन करे।

१२) (ऋषभः वयः) प्रगतिशील साधन है, (सतः-बृहती छन्दः) सत्य-महत्ता साध्य है।

प्रगतिशील वर्ग समाज में सच्ची बड़ाई की प्रतिष्ठा करे।

मूर्धा वय, प्रजापति छन्द।
क्षत्र वय, मयन्द छन्द।
वि-स्तम्भ वय, अधिपति छन्द।
विश्व-कर्मा वय, परमे-स्थी छन्द।
बस्त वय, विवल छन्द।
वृष्णि वय, विशाल छन्द।
पुरुष वय, तन्द्र छन्द।
व्याघ्र वय, अनाधृष्ट छन्द।
सिंह वय, छदि छन्द।
पष्ठवाट् वय, बृहती छन्द।
उक्षा वय, ककुप् छन्द।
ऋषभ वय, सतोबृहती छन्द।

६९८ अनड्वान् वयः पङ्क्तिश्छन्दो धेनुर्वयो जगती छन्दस्त्र्यविर्वयस्त्रिष्टुप् छन्दो दित्यवाड् वयो विराट् छन्दः पञ्चाविर्वयो गायत्री छन्दस्त्रिवत्सो वय उष्णिक् छन्दस्तुर्यवाड् वयो ऽनुष्टुप् छन्दः ॥ य १४.१०

अनड्-वान् वयः पंक्तिः छन्दः धेनुः वयः जगती छन्दः त्रि-अविः वयः त्रि-स्तुप् छन्दः दित्य-वाट्

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वयः वि-राट् छन्दः पंच-अविः वयः गायत्री छन्दः त्रि-वत्सः वयः उष्णिक् छन्दः तुर्य-वाट् अनु-स्तुप् छन्दः ।

१) (अनड्-वान् वयः) अनड्वान् साधन है, (पंक्तिः छन्दः) पंक्ति साध्य है ।

अन नाम शकट का है । जो शकट का वहन करता है उसे अनड्वान् कहते हैं । शकट का वहन करनेवाला होने से बैल अनड्वान् है । सौरमण्डल-रूपी शकट का वाहक होने से सूर्य अनड्वान् है । शरीररूपी शकट का वाहक होने से यह आत्मा अनड्वान् है । सृष्टिरूपी शकट का वाहक होने से परमात्मा अनड्वान् है । राष्ट्ररूपी शकट का वाहक होने से राष्ट्रपति अथवा राजा अनड्वान् है । अनड्-वान् शब्द का प्रयोग यहां राष्ट्रनायक राष्ट्रपति के लिये हुआ है । राष्ट्रपति राष्ट्रव्यवस्था का साधन है और पंक्तिशः कर्तव्यव्यवस्था साध्य है । जो जिस पंक्ति में जहां है, जो जिस योग्य है उससे तद्-नुसार कार्य लेने से प्रत्येक समाज और राष्ट्र की व्यवस्था कल्याणकर और स्थिर रहती है । राष्ट्र-नायक का यह कर्तव्य है कि वह राष्ट्र में पंक्तिशः कर्तव्य-निर्वहन की व्यवस्था स्थापित करे ।

२) (धेनुः वयः) धेनु साधन है, (जगती छन्दः) जगदुपकार साध्य है ।

धेनु नाम दुधार गौ का है । दुधार गौ जिस प्रकार अपने ऊध के अमृतमय दूध से अपने पालन-कर्ताओं का कल्याण करती है उसी प्रकार वेदधेनु के ज्ञानरूपी दुग्ध से जगत् का कल्याण होता है । विद्वानों का कर्तव्य है कि वे सरलातिसरल रीति से वेदधेनु के ज्ञानदुग्ध का मनुष्यमात्र को पान कराकर जगत् का कल्याण करें ।

३) (त्रि-अविः वयः) त्रि-रक्षा साधन है, (त्रि-स्तुप् छन्दः) त्रि-स्तवन साध्य है ।

ज्ञान, कर्म, उपासना—यह त्रित रक्षा-साधन है । मन, वचन, कर्म—इस त्रित का स्तुत्य—प्रशंसनीय होना साध्य है । ज्ञान-कर्म-उपासनारूपी त्रित के द्वारा ही मानवप्रजाओं के मन-वचन-कर्म की स्तुत्य स्थिति सिद्ध होती है ।

४) (दित्य-वाट् वयः) आदित्य-वहन साधन है, (वि-राट् छन्दः) विश्व-वहन साध्य है ।

दित्य, आदित्य सूर्य के नाम हैं । दित्य-आशय सूर्य के समान तेज और प्रकाश का है । ज्ञानी जन तेज और प्रकाश से विश्व का संधारण और प्रकाशन करें ।

५) (पंच-अविः वयः) पंच-स्वामित्व साधन है, (गायत्री छन्दः) प्राण-रक्षण साध्य है ।

पांच ज्ञानेन्द्रियों अथवा विषयेन्द्रियों के [वशीकार] से प्राण [जीवन, संजीवन] होता है । मानवप्रजाओं को चाहिये कि जनों के संग और सदुपदेशों से प्रबुद्ध होकर विषयेन्द्रियों पर वशीकार करके जीवन रक्षण और सुमंगल करें ।

६) (त्रि-वत्सः वयः) त्रि-वास साधन है, (छन्दः) दुःख-दहन साध्य है ।

ज्ञान-कर्म-उपासनारूपी त्रित में निवास त्रि-वत्स है । इस त्रित में निवास होने से के दुःखों का दहन अथवा नाश होता है । प्रजायें सविवेक इस त्रित की साधना से नाश और सुखों का संवर्धन करें, ज्ञानी ऐसा शिक्षण और प्रशिक्षण करें ।

७) (तुर्य-वाट् वयः) चतुर्थ-वहन साधन है, (अनु-स्तुप् छन्दः) अनु-स्तवन साध्य है ।

जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं से आत्मजागरण की चौथी अवस्था है जिसमें की सतत स्तुतिप्रार्थनोपासना होती है । सेवियों का कर्तव्य है कि मानवप्रजाओं में विवेक जगाकर उनमें प्रभुभक्ति का संचार ताकि वे आसुरी माया से मुक्त और दैवी

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

युक्त रहें ।
अनड्वान् वय, पंक्ति छन्द ।
धेनु वय, जगती छन्द ।
त्रि-अवि वय, त्रि-स्तुप छन्द ।
दित्य-वाट् वय, विराट् छन्द ।
पंच-अवि वय, गायत्री छन्द ।
त्रि-वत्स वय, उष्णिक् छन्द ।
तुर्य-वाट् वय, अनु-स्तुप् छन्द ।

६९९ इन्द्राग्नी अव्यथमानामिष्टकां दृंहतं युवम् ।
इन्द्र! अग्ने! पृष्ठेन द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च वि बाधसे ॥ य १४.११

इन्द्र-अग्नी अ-व्यथमानाम् इष्टकाम् दृंहतम् युवम् ।
पृष्ठेन द्यावा-पृथिवी अन्तरिक्षम् च वि बाधसे ।

ब विश्वकर्मा अपने आत्मा और परमात्मा को म्बोधन करता हुआ कहता है—(इन्द्र-अग्नी) ! युवम्) तुम दोनों (अ-व्यथमानाम् इष्टकाम्) व्यथमाना इष्टका को (दृंहतम्) बढ़ाओ, दृढ़ करो ।

इन्द्र [आत्मा] और अग्नि [ब्रह्माग्नि] के प्रति युक्त सम्बोधन एक गूढ़ रहस्य का द्योतक है। आत्मा सर्वतः सान्त और ससीम है। ब्रह्म सर्वतः नन्त, असीम, अपार है। सान्त अनन्त से युक्त होकर नन्त होता है। जिस कूप [कुंए] के स्रोत का म्बन्ध किसी अथाह जलराशि से होता है उसमें से तना भी जल निकाला जाये, उसका जल समाप्त हीं होता है। अल्प बल्ब जब बिजलीघर से युक्त जाता है तो निरन्तर प्रकाश करता रहता है। से ही सान्त, ससीम आत्मा जब अनन्त असीम ह्म से युक्त रहता है तो उसमें ब्रह्म का अजस्र काश, अक्षय बल और अमित प्रज्ञान निर्बाधतया चरित होता रहता है।

इष्टका शब्द का प्रयोग यहां इष्टसाधिका थिवी के लिये हुआ है। पृथिवी मानवों की ष्टसाधिका है। उस पर ध्रुवता और शान्ति की ापना से वह अव्यथमाना होगयी है। उस पर िवास करनेवाली सम्पूर्ण मानवप्रजा व्यथामुक्त र आनन्दयुक्त है। विश्वकर्मा आत्मशक्ति और ब्राह्म बल के आश्रय से सारी पृथिवी पर मानवप्रजा का चिरस्थायी सर्वोदय सम्पादन करने जारहा है। उसका अपना आत्मा और सर्वशक्तिमान् परमात्मा उसकी सहायता करेंगे।

विश्वकर्मा की साध अक्षय ज्योति और शक्ति की अपेक्षा रखती है। सम्पूर्ण पृथिवी पर ध्रुवता तथा शांति प्रस्थापित रखते हुये उसे सारी मानव-प्रजा का सर्वोदय करना है। यह महतो महान् साध है। इसकी पूर्ति के लिए वह आत्मना महद् ब्रह्म से युक्त होगया है। इसी भाव से उसने अपने इन्द्र और ब्रह्माग्नि को सम्बोधन करते हुये सार्वभौम संवर्धन और दृढ़ीकरण की प्रार्थना की है।

आत्मना ब्रह्म से युक्त होकर अब वह कह रहा है—ब्रह्माग्ने ! तू जिस स्व (पृष्ठेन) पृष्ठ [आश्रय] से (द्यावा-पृथिवी च अन्तरिक्षम्) द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष को (वि बाधसे) विबाध रहा है, सर्वतः सहार रहा है [उसी के आश्रय से तू मुझे और मेरी साध को सहार]।

इन्द्र ! और अग्ने ! तुम दोनों
अव्यथमाना, इष्टसाधिका
पृथिवी को दृढ़ करो, बढ़ाओ।
तू सम्यक् सहार रहा है
द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष को
निज पृष्ठ से निज पृष्ठ पर।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

७०० विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रथस्वतीमन्तरिक्षं यच्छ दृंहान्तरिक्षं मा हिंसीः । विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय । वायुष्ट्वाभि पातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥

विश्व-कर्मा त्वा सादयतु अन्तरिक्षस्य पृष्ठे वि-अचः-वतीम् प्रथः-वतीम् अन्तरिक्षम् यच्छ रिक्षम् दृंह अन्तरिक्षम् मा हिंसीः । विश्वस्मै प्र-आनाय अप-आनाय वि-आनाय उदा-आ प्रति-स्थायै चरित्राय । वायुः त्वा अभि पातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शम्-तमेन तया देवतया अंगिरस्वद् ध्रुवा सीद ।

पृथिवी का सार्वभौम नेता, विश्वकर्मा कामना करता है—

१) पृथिवि ! (विश्व-कर्मा) विश्व-कर्ता, विश्व की रचना करनेवाला [ब्रह्माग्नि] (त्वा वि-अचः-वतीम् प्रथः-वतीम्) तुझ वि-अचःवती तथा विस्तारवती को (सादयतु) स्थित रखे (अन्तरिक्षस्य पृष्ठे) अन्तरिक्ष की पृष्ठ पर ।

पृथिवी वि-अचःवती है, निरन्तर अचन—गमन—गति करनेवाली है । सूर्य की परिक्रमा करती हुयी वह अपनी धुरी पर निरन्तर घूमती रहती है । सब ओर फैली हुयी होने से वह विस्तारमयी है । सभी लोकों के समान यह पृथिवी अन्तरिक्ष की पृष्ठ पर अथवा अन्तरिक्ष में स्थित है । समस्त लोकों की तरह इस पृथिवी को भी सृष्टि का रचयिता ब्रह्माग्नि ही अन्तरिक्ष में स्थित रख रहा है । **स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम** (ऋ १०.१२१.१, य १३.४, २३.१, २५.१०, अ ४.२.७), वही धारण किये हुये है इस पृथिवी और द्यौ को । उसी की सर्वव्यापिनी और सर्वधारिणी सत्ता में सब लोक धारित और स्थित हैं । हमारी पृथिवी को वह सस्वस्ति स्थित रखे ।

२) पृथिवि ! तू (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को [अपना सहार, अपना भार-सन्तुलन] (यच्छ) दे, दिये रह, [अन्तरिक्ष में सम्यक् स्थित रह] ।

३) पृथिवि ! तू (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (दृंह) दृढ़ कर, बढ़ा, निर्बाध कर, [अन्तरिक्ष] में स्थित रहती हुयी निर्बाधता के साथ गति कर ।

४) पृथिवि ! (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (मा) मत हिंस, मत क्षुब्ध कर ।

पृथिवी पर जब बमों, आदि के धमाके ज्वालामुखी, आदि फटते हैं, भूचाल, आदि हों अन्तरिक्ष में हिंसन अथवा विक्षोभ होता दुर्घटनायें घटित होती हैं । अतः विश्वकर्मा करता है कि पृथिवी ध्रुवता के साथ स्थित अन्तरिक्ष में विक्षोभ न हो ।

५) पृथिवि ! (विश्वस्मै) सर्वार्थ, समग्र समाज के (प्र-आनाय) संजीवन के लिये, (अप-आनाय) दोषनिवारण के लिये, (वि-आनाय) [मानव और मानवता की] व्याप्ति के लिये, (उदा-आनाय) [मानव और मानवता के] उत्थान के लिये, (प्रति-स्थायै) [मानव और मानवता की] प्रतिष्ठा के लिये, (चरित्राय) [मानवों के] चरित्र के लिये, (वायुः) प्राणस्वरूप, सर्वप्राण के] लिये (वायुः) प्राणस्वरूप, सर्वप्राण संचालक परमात्मा (त्वा अभि पातु) तुझे रक्षे, तेरी सर्वतः रक्षा करे (मह्या स्वस्त्या) स्वस्ति के साथ, (शम्-तमेन छर्दिषा) सुरक्षा के साथ ।

प्राण जीवन का संचार करता है । तात्पर्य यहां संजीवन से है । अपान मलिन निराकरण करता है । अपान से तात्पर्य और दुरितों के निराकरण से है । शरीर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्राण की संज्ञा व्यान है। व्यान से तात्पर्य यहां मानवता की व्याप्ति से है। ऊपर मस्तिष्क की ओर आरोहण करते हुये प्राण की संज्ञा उदान है। उदान से तात्पर्य यहां मानवसमाज के उत्थान से है।

वैदिक वाङ्मय में छर्दि नाम गृह, छत और रक्षा का है। गृह और छत गृहियों की रक्षा करते हैं। छर्दि शब्द का प्रयोग यहां रक्षा अर्थ में हुआ है।

६) पृथिवि ! (ध्रुवा) ध्रुवा तू, ध्रुवता के साथ प्रस्थित तू (तया देवतया) उस [मानवतारूपी] देवता के साथ (अङ्गिरस्वत् सीद) आत्मवत् स्थित हो।

पृथिवि ! मातः !
विश्वकर्मा स्थित रखे
तुझ गतिशीला, विस्तारवती को
अन्तरिक्ष की पृष्ठ पर।
दे अन्तरिक्ष को,
अन्तरिक्ष को रख दृढ़,
मत हिंस अन्तरिक्ष को।
वायु तेरी सर्वार्थ सर्वतः रक्षा करे
महती स्वस्ति के साथ,
शान्ततम सुरक्षा के साथ
संजीवन के लिये,
दोष-निवारण के लिये,
व्याप्ति के लिये,
उत्थान के लिये,
प्रतिष्ठा के लिये,
चरित्र के लिये।
ध्रुवा तू स्थित रह आत्मवत्
उस देवता के साथ।

७०१ राज्ञ्यसि प्राची दिग् विराडसि दक्षिणा दिक् सम्राडसि प्रतीची दिक् स्वराडस्युदीची दिगधिपत्न्यसि बृहती दिक् ॥

य १४.१३

राज्ञी असि प्राची दिक् वि-राट् असि दक्षिणा दिक् सम्-राट् असि प्रतीची दिक् स्व-राट् असि उदीची दिक् अधि-पत्नी असि बृहती दिक्।

पृथिवी के लिये मंगलकामना करके अब पृथिवी पर सब दिशाओं में निवास करनेवाली सम्पूर्ण मानव-प्रजाओं को आत्मीयता के साथ अवलोकन करता हुआ विश्वकर्मा कहता है—

१) मानवप्रजे ! तू (राज्ञी असि) राजमाना है, (प्राची दिक्) पूर्व दिशा।

विश्वकर्मा पूर्व दिशा की ओर देखता है तो उसे उस दिशा के देश-प्रदेशों में अपनी मानवप्रजा ही राजमान—प्रकाशमान दिखायी देती है।

२) मानवप्रजे ! तू (वि-राट् असि) प्रकाशयुक्त है, (दक्षिणा दिक्) दक्षिण दिशा।

विश्वकर्मा दक्षिण दिशा की ओर दृष्टि डालता है तो उधर भी उसे मानवप्रजा प्रकाशती हुयी दिखाई देरही है।

३) मानवप्रजे ! तू (सं-राट् असि) सम्यक् प्रकाशमाना है, (प्रतीची दिक्) पश्चिम दिशा।

वह पश्चिम दिशा की ओर निहारता है तो उधर की दिशों में उसे अपनी मानवजाति ही प्रकाशती हुयी अवलोकित होती है।

४) मानवप्रजे ! तू (स्व-राट् असि) स्व-राजमाना है, स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाश रही है, (उदीची दिक्) उत्तर दिशा।

उत्तर दिशा भी उसे अपनी मानवप्रजा के ही दर्शन करा रही है।

५) मानवते ! तू (अधि-पत्नी असि) अधि-स्वामिनी है, (बृहती दिक्) महती दिशा।

विश्वकर्मा की दृष्टि व्यापक, विशाल, सर्वमय है। उसकी दृष्टि में सब ओर निवास करते हुये

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सर्वमानव उसके अपने विश्वपरिवार के परिवारी जन हैं। सारी पृथिवी उसका अपना गृह है और सारी मानवप्रजा उसका अपना परिवार है। क्षुद्र मानवों की क्षुद्र दृष्टि में विभिन्न देश परदेश हैं और उनके निवासी परदेशी हैं। जो विश्वसेवी विश्वकर्मा हैं उनके लिये तो सारी वसुधा उनका कुटुम्ब है, सारी पृथिवी सब मानवों की समान अधिस्वामिनी माता है, पृथिवी माता का सम्पूर्ण वक्षस्थल बृहती दिशा है।

तू राज्ञी है, पूर्व दिशा।
तू विराट् है, दक्षिण दिशा।
तू सम्राट् है, पश्चिम दिशा।
तू स्वराट् है, उत्तर दिशा।
तू अधि पत्नी है, महती दिशा।

७०२ विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे ज्योतिष्मतीम्। विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ। वायुष्टेऽधिपतिस्तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद॥

य १४.१

विश्व-कर्मा त्वा सादयतु अन्तरिक्षस्य पृष्ठे ज्योतिः-मतीम्। विश्वस्मै प्र-आनाय अप-आनाय वि-आनाय विश्वम् ज्योतिः यच्छ। वायुः ते अधि-पतिः तया देवतया अङ्गिरस्वत् ध्रुवा सीद

पृथिवीवासी सकल मानवों को अपने मानस में आत्मीयता के साथ अवलोकन करके विश्वकर्मा पृथिवी माता के लिये पुनः मंगलकामना करता है-

१) पृथिवि ! (विश्व-कर्मा) विश्व-रचयिता [ब्रह्माग्नि] (त्वा ज्योतिः-मतीम्) तुझ ज्योतिर्मयी को (सादयतु) स्थित रखे (अन्तरिक्षस्य पृष्ठे) अन्तरिक्ष की पृष्ठ पर [अन्तरिक्ष में]।

सूर्य के प्रकाश, चन्द्रमा की ज्योति और विज्ञान तथा ऐश्वर्य के प्रताप से पृथिवी ज्योतिर्मयी है। सकल लोकों के साथ इस पृथिवी को भी वह विश्व-कर्मा अन्तरिक्ष में धार—सहार रहा है।

२) पृथिवि ! (विश्वस्मै) सर्वार्थ, समस्त मानवों और मानवता के (प्र-आनाय) संजीवन के लिये, (अप-आनाय) दोष-निवारण [परिष्कार] के लिये, (वि-आनाय) व्याप्ति के लिये (विश्वम्) सम्पूर्ण, विश्वात्मक—उदार (ज्योतिः यच्छ) ज्योति दे, विवेक प्रदान कर।

पृथिवी पर निवास करनेवाला विश्व अथवा मानवसमूह ज्योति, विवेक अथवा मानवीय सुमति से द्योतित रहता है तो मानवप्रजा का जीवन संजीवन से युक्त रहता है, जीवनों का परिष्कार होता है और मानवता की व्याप्ति होती है।

३) पृथिवि ! (वायुः) प्राणस्वरूप परमात्मा (अधि-पतिः) तेरा अधि-रक्षक हो। यह तेरी तुझ पर निवास करनेवाली मानवप्रजा की रक्षा करे।

४) पृथिवि ! (ध्रुवा) ध्रुवा तू, ध्रुवता के सुस्थित तू (तया देवतया) उस [मानवप्रजा मानवतारूपी] देवता के साथ (अङ्गिरस्वत्) आत्मा के समान स्थित रह।

विश्वकर्मा स्थित रखे
तुझ ज्योतिष्मती को
अन्तरिक्ष की पृष्ठ पर।
विश्व को संपूर्ण ज्योति दे
संजीवन के लिये,
दोषनिवारण के लिये,
व्याप्ति के लिये।
वायु अधिरक्षक हो तेरा।
ध्रुवा तू स्थित रह आत्मवत्
उस देवता के साथ।

सूक्ति : ज्योतिर्यच्छ। ज्योति दे।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

७०३ नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू अग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः । ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे । वार्षिकावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥

य १४.१५

नभः च नभस्यः च वार्षिकौ ऋतू अग्नेः अन्तः-श्लेषः असि कल्पेताम् द्यावा-पृथिवी कल्पन्ताम् आपः ओषधयः कल्पन्ताम् अग्नयः पृथक् मम ज्यैष्ठ्याय स-व्रताः । ये अग्नयः स-मनसः अन्तरा द्यावा-पृथिवी इमे । वार्षिकौ ऋतू अभि-कल्पमानाः इन्द्रम्-इव देवाः अभि-सम्-विशन्तु तया देवतया अङ्गिरस्वत् ध्रुवे सीदतम् ।

विश्वकर्मा द्वारा पृथिवीवासियों तथा पृथिवी के लिये मंगलकामना की जाने के उपरान्त इस मन्त्र में उसकी पुनर्महोक्ति है । वह कहता है—

१) (नभः च नभस्यः च वार्षिकौ ऋतू) नभ [श्रावण] और नभस्य [भाद्रपद] वर्षा ऋतुयें हैं ।

वर्ष की छह ऋतुओं में से वर्षा तीसरी ऋतु है, नभ और नभस्य अथवा श्रावण और भाद्रपद जिसके दो ऋतु-मास हैं । वर्षा में जो सेचन [सेचनशीलता] है उसे वार्षिकी कहते हैं ।

नभस=आकाश, मेघ, बादल, वायुमण्डल, जल । आकाश में मेघ और वायुमण्डल में जल छाये रहने से श्रावण मास का नाम नभ है । नभस्सु भवो भाद्रपदः । नभ के समान होने से भाद्रपद की संज्ञा नभस्य है ।

२) वर्ष ! वर्षा-ऋतु ! तू (अग्नेः अन्तः-श्लेषः असि) अग्नि का अन्तरालिंगी है, अग्नि के भीतर आलिंगन करनेवाला है ।

समुद्र में सूर्याग्नि के आलिंगन, सम्पर्क अथवा संचार से बादल बनते हैं और उनके बरसने से पृथिवी पर अन्नादि सम्पदाओं का सम्पादन होता है । उसी प्रकार मानवसमाजरूपी सागर में प्रेमाग्नि के आलिंगन से स्नेह, सौहार्द, आदि मानवीय गुणों के बादल उमड़ते हैं और मानवसमाज पर सुखैश्वर्यों की वृष्टि होती है ।

वर्षा की वार्षिकी कहती है—(मम ज्यैष्ठ्याय) मेरे ज्येष्ठत्व [बढ़ाव, विकास] के लिये (कल्पेताम् द्यावा-पृथिवी) कल्पें द्यौ और पृथिवी, (कल्पन्ताम् आपः ओषधयः) कल्पें जल और ओषधियां, (कल्पन्ताम् स-व्रताः अग्नयः) कल्पें सव्रत मानवाग्नियां (पृथक्) अलग अलग ।

वर्षा की वार्षिकी में जिस प्रकार द्यौ और भूमि का तथा जलों और ओषधियों का कायाकल्प होरहा होता है उसी प्रकार सार्वभौम मानवता की स्थापना तथा रक्षा के व्रती मानवाग्नि दिशा-विदिशाओं में पृथक् पृथक् व्याप जायें और सम्पूर्ण मानवजाति को मानवता की वार्षिकी से अभिन्नता के साथ आप्लावित और हरा-भरा करदें ।

मानवतारूपी वार्षिकी की मुख्य साध है मानवों के द्यौ [मस्तिष्क] और पृथिवी [जीवन] में मानवता की ज्येष्ठता—गुरुता की स्थापना करना, मानवों के आपः [सुकर्मप्रवाहों] तथा ओषधयः [सुवृत्तियों] को मानवता की धवल धाराओं में सुप्रवाहित रखना । इस साध की सफल साधना वे व्रती मानव अथवा साधक ही कर पाते हैं जिनके भीतर मानवता का अग्नि प्रज्वलित रहता है ।

विश्वकर्मा कामना करता है—(इमे द्यावा-पृथिवी) इन द्यौ और पृथिवी के (अन्तरा) बीच में (ये स-मनसः अग्नयः देवाः) जो समन और अग्नि के समान तेजस्वी देव हैं वे (वार्षिकौ ऋतू) वार्षिकी ऋतुओं को, दोनों वार्षिक ऋतु-मासों को (अभि-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कल्पमानाः) सर्वतः कल्प करते हुये, (इन्द्रम्-इव) सूर्य को जैसे (अभि-सम्-विशन्तु) सब ओर सम्यक् प्रवेश करें।

द्यौ और पृथिवी के बीच के विशाल अवकाश का अवलोकन करके विश्वकर्मा के मानस में उत्ताल तरंगें तरंगित होती हैं और वह कामना करने लगता है कि उमंग और उत्साह से पूरित मनवाले मनस्वी और तेजस्वी देव-देवियां रश्मिपुंज सूर्य की किरणों की तरह दिशा-विदिशाओं में प्रवेश करें और श्रावण-भाद्रपद की तरह ऋतु-कल्प करके सारी पृथिवी पर मानवतारूपी वार्षिकी की संव्याप्ति करते रहें।

मानवप्रजा और अग्निरूप समन देवप्रजा, दोनों को सम्बोधन करता हुआ विश्वकर्मा कहता है—उभय प्रजाओ! तुम दोनों (ध्रुवे) ध्रुवा [अविचल रहते हुये] (तया देवतया) उस [मानवतारूपी] देवता के साथ (अङ्गिरस्वत् सीदतम्) आत्मवत् सुस्थित—सुस्थिर रहो।

उभय प्रजाओं के मानवतारत रहने से पृथिवी पर मानवतारूपी वार्षिकी की वृष्टि रहती है।

नभ और नभस्य हैं वार्षिकी ऋतुयें।
तू है अन्तरालिंगी अग्नि का।
मेरे ज्येष्ठत्व के लिये कल्पें द्यौ-भू,
कल्पें आपः और ओषधियां,
कल्पें सव्रत अग्नियां।
इन द्यावापृथिवी के मध्य में
हैं जो समन तेजस्वी देव,
वे वार्षिकी ऋतुओं को
सर्वतः कल्पित करते हुये,
करें सूर्यवत् सब ओर सम्यक् प्रवेश।
ध्रुवा तुम दोनों सुस्थित रहो
आत्मवत् उस देवता के साथ।

७०४ इषश्चोर्जश्च शारदावृतू अग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे। शारदावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥ य १४.१६

इषः च ऊर्जः च शारदौ ऋतू अग्नेः अन्तः-श्लेषः असि कल्पेताम् द्यावा-पृथिवी कल्पन्ताम् आपः ओषधयः कल्पन्ताम् अग्नयः पृथक् मम ज्यैष्ठ्याय स-व्रताः। ये अग्नयः स-मनसः अन्तरा द्यावा-पृथिवी इमे। शारदौ ऋतू अभि-कल्पमानाः इन्द्रम्-इव देवाः अभि-सम्-विशन्तु तया देवतया अङ्गिरस्वत् ध्रुवे सीदतम्।

अपनी महोक्ति को जारी रखते हुये विश्वकर्मा कहता है—

१) (इषः च ऊर्जः च शारदौ ऋतू) इष [आश्विन] और ऊर्ज [कार्तिक] शरद् ऋतुयें हैं।

वर्ष की छह ऋतुओं में से शरद् [सर्दी] चौथी ऋतु है, इष और ऊर्ज जिसके दो ऋतु-मास हैं। शरद् में जो सर्दी [जाड़ा, शीत] है उसे शारदी कहते हैं।

'इष्' का अर्थ है चाहने-योग्य, कमनीय, सुहावना और कमनीय होने से आश्विन मास का नाम इष है। 'ऊर्ज्' का अर्थ है ओज, बल, उत्पादनशक्ति। इन गुणों से उपेत होने से कार्तिक मास का नाम ऊर्ज है।

२) शरद्! तू (अग्नेः अन्तः-श्लेषः असि)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अन्तरालिगी है, अग्नि के भीतर आलिंगन करने वाला है।

शरद् ऋतु सुहावनी तथा स्फूर्तिमय होती है और भौमाग्नि तथा जठराग्नि तीव्र होने लगता है। उसी प्रकार सार्वभौम मानवता की शारदी में सम्पूर्ण पृथिवी का वातावरण सौहार्दपूर्ण तथा स्फूर्तिमय होकर मानवताग्नि का प्रज्वलन तथा विकास होता है।

शरद् की शारदी कहती है—(मम ज्यैष्ठ्याय) मेरे ज्येष्ठत्व [बढ़ाव, विकास] के लिये (कल्पेताम् द्यावा-पृथिवी) कल्पें द्यौ और पृथिवी, (कल्पन्ताम् आपः ओषधयः) कल्पें जल और ओषधियां, (कल्पन्ताम् स-व्रताः अग्नयः) कल्पें सव्रत मानवाग्नियां (पृथक्) अलग अलग।

शरद् की शारदी में जिस प्रकार द्यौ और भूमि का तथा जलों और ओषधियों का कल्प होता है उसी प्रकार सार्वभौम मानवता की स्थापना तथा रक्षा के व्रती मानवाग्नि दिशा-विदिशाओं में पृथक् पृथक् व्याप जायें और सम्पूर्ण मानवजाति को मानवता की शारदी से स्फूर्तिमय करदें।

मानवतारूपी शारदी की मुख्य साध है मानवों के द्यौ [मस्तिष्क] और पृथिवी [जीवन] में मानवता की ज्येष्ठता की स्थापना करना, मानवों के आपः [सुकर्मप्रवाहों] तथा ओषधयः [सुवृत्तियों] को मानवता की धवल धाराओं में सुप्रवाहित रखना। इस साध की सफल साधना वे व्रती साधक ही कर पाते हैं जिनके भीतर मानवता का अग्नि प्रज्वलित रहता है।

विश्वकर्मा कामना करता है—(इमे द्यावा-पृथिवी) इन द्यौ और पृथिवी के (अन्तरा) बीच में (ये स-मनसः अग्नयः देवाः) जो समन और अग्नि के समान तेजस्वी देव हैं वे (शारदौ ऋतू) शारद ऋतुओं को, दोनों शारद ऋतु-मासों को (अभि-कल्पमानाः) सर्वतः कल्प करते हुये (इन्द्रम्-इव) सूर्य को जैसे (अभि-सम्-विशन्तु) सब ओर सम्यक् प्रवेश करें।

द्यौ और पृथिवी के बीच विशाल अवकाश का अवलोकन करके विश्वकर्मा के मानस में उत्ताल तरंगें तरंगित होती हैं और वह कामना करने लगता है कि उमंग और उत्साह से पूरित मन वाले मनस्वी और तेजस्वी देव-देवियां रश्मिपुंज सूर्य की तरह दिशा-विदिशाओं में प्रवेश करें और आश्विन-कार्तिक की तरह ऋतु कल्प करके सारी पृथिवी पर मानवतारूपी शारदी की संव्याप्ति करें।

मानवप्रजा और अग्निरूप समन देवप्रजा, दोनों को सम्बोधन करता हुआ विश्वकर्मा कहता है—उभय प्रजाओ! तुम दोनों (ध्रुवे) ध्रुवा [अविचल रहते हुये] (तया देवतया) उस [मानवतारूपी] देवता के साथ (अङ्गिरस्वत् सीदतम्) आत्मवत् सुस्थित—सुस्थिर रहो।

उभय प्रजाओं के मानवतारत रहने से ही पृथिवी पर मानवतारूपी शारदी की ऊर्जा प्रस्फुटित होती है।

इष और ऊर्ज हैं शारदी ऋतुयें,
तू है अन्तरालिगी अग्नि का।
मेरे ज्येष्ठत्व के लिये कल्पें द्यौ-भू,
कल्पें आपः और ओषधियां,
कल्पें सव्रत अग्नियां।
इन द्यावापृथिवी के मध्य में
हैं जो समन तेजस्वी देव
वे शारदी ऋतुओं को
सर्वतः कल्पित करते हुये,
करें सूर्यवत् सब ओर सम्यक् प्रवेश।
ध्रुवा तुम दोनों सुस्थित रहो
आत्मवत् उस देवता के साथ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

७०५ आयुर्मे पाहि प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि चक्षुर्मे पाहि श्रोत्रं मे पाहि वाचं मे पिन्व मनो मे जिन्वात्मानं मे पाहि ज्योतिर्मे यच्छ ॥

य १४.१७

आयुः मे पाहि प्र-आनम् मे पाहि अप-आनम् मे पाहि वि-आनम् मे पाहि चक्षुः मे पाहि श्रोत्रम् मे पाहि वाचम् मे पिन्व मनः मे जिन्व आत्मानम् मे पाहि ज्योतिः मे यच्छ।

सार्वभौम ध्रुवता तथा शान्ति की स्थापना में निरत विश्वकर्मा अपनी महोक्ति के उपरान्त साध की गुरुता तथा महत्ता का अनुभव करता हुआ प्रभु से प्रार्थना करने लगता है—

१) (मे आयुः पाहि) मेरे आयुष्य को/की रक्षा कर।

आयु की रक्षा से तात्पर्य जीवन की सुरक्षा, दीर्घायुत्व तथा जीवन के क्षणों के सदुपयोग से है। जीना और दीर्घजीवी होना तभी सार्थक होता है जब मानव अपने जीवन के क्षणों का आत्म-कल्याण और विश्वमंगल के सम्पादन में सद्व्यय कररहा हो। आयु के क्षणों का श्रेष्ठतम कर्मों के लिये उपयोग करना ही आयु की रक्षा करना है। शुभ और महान् साधों की साधना में निरत प्रत्येक साधक को प्रार्थना और प्रयत्न के द्वारा जहां दीर्घ-जीवी होना चाहिये वहां उसे अपने जीवन के क्षणों का सतर्कतापूर्वक सदुपयोग करना चाहिये।

२) (मे प्र-आनम् पाहि) मेरे प्राण को/की रक्षा कर। मानवजाति के शोधन की मेरी साध को संसिद्ध करा।

३) (मे अप-आनम् पाहि) मेरे अपान को/की रक्षा कर। मानवों को दुरितों से मुक्त करने और मुक्त रखने की मेरी साध को साफल्य प्राप्त करा।

४) (मे वि-आनम् पाहि) मेरे व्यान को/की रक्षा कर। विश्व में मानवाचार और मानवता की व्याप्ति में मेरी सहायता कर।

५) (मे चक्षुः पाहि) मेरे चक्षु को/की रक्षा कर। मेरी दृष्टि व्यापक और विशाल हो। मैं सबको आत्मनिजता और आत्मीयता की दृष्टि से देखूं। मेरी दृष्टि निर्मल, निर्विकार और प्रलोभनरहित रहे।

६) (मे श्रोत्रम् पाहि) मेरे श्रोत्र को/की रक्षा कर। मेरे श्रवण को प्रशस्त कर। मैं सुनूं देश-प्रदेश प्रजाओं के आह्वानों और चीत्कारों को, विह्वलों की पुकारों को, और समाधान तत्परता के साथ उनकी समस्याओं का।

७) (मे वाचम् पिन्व) मेरी वाणी को सींच। वाणी में सरसता और मधुरता का संचार कर। मेरी वाणी तृप्ति और सन्तोष-प्रदा हो। वाणी पक्षपातरहित और न्यायनिरत हो। वाणी तत्त्वप्रकाशिनी, बोधप्रदायिनी और रक्ष हो।

८) (मे मनः जिन्व) मेरे मन को प्रसन्न रख हर प्रदेश, हर दिशा और हर अवस्था में सुप्रसन्न रहूं। किसी भी स्थिति और परिस्थि मेरा मानस कभी हताश और उदास न हो। मन फूल की तरह सदा खिला रहे।

९) (मे आत्मानम् पाहि) मेरे आत्मा को/की कर। मैं अपने आत्मसंबल और आत्मविश्व आश्रय से साधरत रहता हुआ अनवरत आगे रहूं। मेरा आत्म-ओज और आत्मसंबल अक्षुण्ण बना रहे।

१०) (मे ज्योतिः यच्छ) मेरे लिये ज्योति दे। ज्योति प्रदान कर ताकि मैं साधना के प भटक न जाऊं, अटक न जाऊं, बहक न जाऊं।

रक्षा कर मेरे आयु की,
रक्षा कर मेरे प्राण की,
रक्षा कर मेरे अपान की,
रक्षा कर मेरे व्यान की,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

रक्षा कर मेरे चक्षु की,
रक्षा कर मेरे श्रोत्र की,
सींच मेरी वाणी को,
रख प्रसन्न मेरे मानस को,
मेरे आत्मा की रक्षा कर,
मुझे ज्योति दे।

सूक्ति : वाचं मे पिन्व।
मेरी वाणी को सींच।
मनो मे जिन्व।
मेरे मन को प्रसन्न रख।
ज्योतिर्मे यच्छ।
मुझे ज्योति प्रदान कर।

७०६ मा छन्दः प्रमा छन्दः प्रतिमा छन्दो अस्रीवयश्छन्दः पङ्क्तिश्छन्द उष्णिक् छन्दो बृहती छन्दो ऽनुष्टुप् छन्दो विराट् छन्दो गायत्री छन्दस्त्रिष्टुप् छन्दो जगती छन्दः ॥

य १४.१८

मा छन्दः प्र-मा छन्दः प्रति-मा छन्दः अस्रीवयः छन्दः पंक्तिः छन्दः उष्णिक् छन्दः बृहती छन्दः अनु-स्तुप् छन्दः वि-राट् छन्दः गायत्री छन्दः त्रि-स्तुप् छन्दः जगती छन्दः।

छन्द शब्द का प्रयोग यहां प्रहर्ष, प्रसन्नता और आनन्द के अर्थ में हुआ है। पृथिवी पर जब ध्रुवता और शान्ति की स्थापना होजाती है तो हर वस्तु, कृति और गति आनन्दप्रद होजाती है। विश्वकर्मा की प्रार्थना और साधना फलवती हुयीं। सम्पूर्ण पृथिवी पर ध्रुवता और शान्ति की स्थापना होगयी। पृथिवीवासिनी प्रजा के लिये अब हर ऋतु वसन्त है और हर दृश्य सुहावना है—

१) (मा छन्दः) मनीषा आनन्द। **यया मीयते सा मा।** जिससे मापा जाता है, परिमाण जाना जाता है उस सात्त्विकी बुद्धि अथवा मनीषा का नाम मा है। मानवप्रजा शुद्ध मनीषा से युक्त होगयी है और अब सर्वत्र आनन्द का परिमाण बढ़ रहा है।

२) (प्र-मा छन्दः) प्र-ज्ञा आनन्द। ध्रुवता और शान्ति से सम्पन्न पृथिवी पर योग-जीवनपद्धति का प्रसार होरहा है। परिणामस्वरूप, ऋतम्भरा प्रज्ञा के परिमाण का संवर्धन होरहा है। प्रज्ञा के संवर्धन से आनन्द का वर्धन होरहा है।

३) (प्रति-मा छन्दः) प्रतिमा आनन्द। प्रतिमा शब्द का प्रयोग यहां मूर्ति अथवा अनुकृति के लिये हुआ है। **मूर्तयः सर्वयोनयः।** जितनी भी योनियां हैं सब मूर्तियां हैं। ध्रुवता और शान्ति की छाया में मानवयोनियां, पशुयोनियां, पक्षियोनियां आनन्दमग्न हैं और आनन्ददायिनी हैं।

४) (अस्रीवयः छन्दः) आपदायें आनन्द। अस् (उपतापे [दुःख होना]) धातु से अस्रीवि शब्द बना है। पृथिवी की ध्रुवता और शान्ति ने दुःखों को सुखों में और दुःखियों को सुखियों में परिणत कर दिया है। सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है।

५) (पंक्तिः छन्दः) पंक्ति आनन्द। ध्रुवता और शान्ति की छाया में सर्वत्र पंक्तिशः कार्य होरहा है। जो जहां जिस पंक्ति अथवा कोटि में है वहीं वह प्रसन्नतापूर्वक कार्यरत है।

६) (उष्णिक् छन्दः) उष्णिक् आनन्द। उष्ण से सम्बन्धित जो हो उसे उष्णिक् कहते हैं। उष्णिक् शब्द का प्रयोग यहां प्रेमोष्मा अथवा स्नेह के लिये हुआ है। प्रेमोष्मा आनन्ददायिनी होती है। ध्रुवता और शान्ति के वातावरण में देश-प्रदेशों के मानव परस्पर स्नेहपूर्वक वर्तते हैं और आनन्दोपेत रहते हैं।

७) (बृहती छन्दः) महती आनन्द। बृहती शब्द का प्रयोग महती प्रकृति के लिये हुआ है। जहां सब कुछ ध्रुव, स्थिर और शान्त है वहां महती प्रकृति आनन्द की वृष्टि कर रही होती है।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

८) (अनु-स्तुप् छन्दः) अनु-स्तवन आनन्द। ध्रुवता और शान्ति की वेला में पृथिवी की समस्त मानव-प्रजा प्रभु का अनुस्मरण और अनुस्तवन करती है, प्रभु की अनेक, असंख्य सुदेनों के लिये धन्यवाद करती है और आनन्दित होती है।

९) (वि-राट् छन्दः) वि-प्रकाश आनन्द। ध्रुवता और शान्ति में पृथिवी पर विविध ज्ञान-विज्ञानरूपी प्रकाशों का प्रकाशन होता है और मानवप्रजा सब प्रकार से सुखी और आनन्दित होती है।

१०) (गायत्री छन्दः) प्राणरक्षण आनन्द। ध्रुवता और शान्ति की सुरक्षा में प्राणियों के प्राण [जीवन] की रक्षा और आनन्द की प्राप्ति होती है।

११) (त्रि-स्तुप् छन्दः) त्रि-स्तवन आनन्द। ध्रुवता और शान्ति के वातावरण में मानवप्रजा के मन-वचन-कर्मरूपी त्रित का स्तुतिकरण अथवा प्रशस्ती-करण होता है, अन्तस्साधना करके मानवप्रजा अपने मन-वचन-कर्म को स्तुत्य—प्रशंसनीय बनाती है और आनन्द लाभ करती है।

१२) (जगती छन्दः) जगती आनन्द। ध्रुवता और शान्ति के प्रसार से सारी जगती हर्षोल्लसित रहती है, पृथिवी आनन्दधाम बन जाती है।

मनीषा आनन्द,
प्रज्ञा आनन्द,
प्रतिमा आनन्द,
आपदायें आनन्द,
पंक्ति आनन्द,
प्रेमोष्मा आनन्द,
महती—प्रकृति आनन्द,
अनु-स्तवन आनन्द,
वि-प्रकाश आनन्द,
प्राणरक्षण आनन्द,
त्रि-स्तवन आनन्द,
जगती आनन्द।

७०७ **पृथिवी छन्दो ऽन्तरिक्षं छन्दो द्यौश्छन्दः समाश्छन्दो नक्षत्राणि छन्दो वाक् छन्दो मनश्छन्दः कृषिश्छन्दो हिरण्यं छन्दो गौश्छन्दो ऽजाश्छन्दो ऽश्वश्छन्दः॥** य १४.१९

पृथिवी छन्दः अन्तरिक्षम् छन्दः द्यौः छन्दः समाः छन्दः नक्षत्राणि छन्दः वाक् छन्दः मनः छन्दः कृषिः छन्दः हिरण्यम् छन्दः गौः छन्दः अजाः छन्दः अश्वः छन्दः।

ध्रुवता और शान्ति की मंगल छाया में—

१) (पृथिवी छन्दः) पृथिवी आनन्द। सारी पृथिवी पर सर्वतः आनन्द—मंगल है। सबका सर्वविध कल्याण होरहा है।

२) (अन्तरिक्षम् छन्दः) अन्तरिक्ष आनन्द। जब पृथिवी पर सर्वतः आनन्द—मंगल होता है तो अन्त-रिक्ष से भी सुरक्षा और निर्भयता का आनन्द प्राप्त होता है।

३) (द्यौः छन्दः) द्यौ आनन्द। द्युलोक की द्युतियां आनन्द की वृष्टि करती हैं। द्युलोक सुहावना और मनभावना प्रतीत होता है।

४) (समाः छन्दः) वर्ष आनन्द। वर्षों के दिन, रात, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु आनन्दपूर्वक व्यतीत होते हैं।

५) (नक्षत्राणि छन्दः) नक्षत्र आनन्द। नक्षत्रों से सजी आकाश-छत मनोहारिणी प्रतीत होती है।

६) (वाक् छन्दः) वाणी आनन्द। देश-देशान्तर की मानवप्रजायें परस्पर भद्र वाणी का प्रयोग करती हुयी आनन्दपूर्वक मिलती-जुलती और व्यवहार करती हैं, ज्ञान-विज्ञान का आदान-प्रदान करती हैं।

७) (मनः छन्दः) मन आनन्द। मानवप्रजाओं में मनमुटाव न होकर सानन्द सुमनस्कता होती है।

८) (कृषिः छन्दः) खेती आनन्द। खेती से सानन्द अन्नसम्पदाओं का वर्धन तथा आदान-प्रदान होता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

९) (हिरण्यम् छन्दः) स्वर्ण आनन्द। सोना, चांदी, आदि, सम्पदा का समवितरण होकर सभी राष्ट्रों की समृद्धि सिद्ध होती है, जिससे सार्वभौम खुशहाली और आनन्द की संव्याप्ति होती है।

१०) (गौः छन्दः) गौ आनन्द। गो-वंश की वृद्धि और घी, दूध, आदि का बाहुल्य होता है। उससे मानवप्रजा को आनन्द की प्राप्ति होती है।

११) (अजाः छन्दः) बकरियां आनन्द। बकरी, भेड़, आदि ऊनवाले पशुओं का सानन्द संवर्धन और संविकास होता है। ऊन से ऊनी वस्त्रों का निष्पादन होता है।

१२) (अश्वः छन्दः) अश्व आनन्द। अश्वादि सवारी के पशुओं की सानन्द वृद्धि होती है।

पृथिवी आनन्द,
अन्तरिक्ष आनन्द,
द्यौ आनन्द,
वर्ष आनन्द,
नक्षत्र आनन्द,
वाणी आनन्द,
मन आनन्द,
कृषि आनन्द,
स्वर्ण आनन्द,
गौ आनन्द,
बकरियां आनन्द,
अश्व आनन्द।

७०८ अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वे देवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ॥

य १४.२०

अग्निः देवता वातः देवता सूर्यः देवता चन्द्रमाः देवता वसवः देवता रुद्राः देवता आदित्याः देवता मरुतः देवता विश्वे देवाः देवता बृहस्पतिः देवता इन्द्रः देवता वरुणः देवता।

ध्रुव शान्ति की शीतल छाया में ही पृथिवी पर ज्ञान-विज्ञान के आश्रय से प्राकृतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक देवताओं से दिव्यताओं और दिव्य ऐश्वर्यों की प्राप्ति की जाती है। इसी तथ्य के द्योतनार्थ मन्त्र में कहा गया है—

१) (अग्निः देवता) अग्निः है देवता। जो दिव्यतायें प्राप्त कराता है और जिससे दिव्यतायें प्राप्त की जाती हैं उसे देवता कहते हैं।

अग्निविज्ञान के आश्रय से दिव्य ऐश्वर्यों का तथा दिव्यताओं का सम्पादन किया जाता है।

२) (वातः देवता) वायु है देवता। वात नाम बादलवाहिनी हवा का है। वातविज्ञान के आश्रय से दिव्यताओं तथा दिव्य सम्पदाओं का सम्पादन किया जाता है।

३) (सूर्यः देवता) सूर्य है देवता। सौर विज्ञान के माध्यम से दिव्यताओं तथा दिव्य सम्पदाओं का निष्पादन किया जाता है।

४) (चन्द्रमाः देवता) चन्द्रमा है देवता। चान्द्र विज्ञान के आश्रय से दिव्य गुणों, कर्मों और धनों का सम्पादन किया जाता है।

५) (वसवः देवता) वसुलोक हैं देवता। वसुलोक नाम उन लोकों का है जिनमें मनुष्य और मनुष्येतर प्राणी निवास करते हैं। वसुविज्ञान के आश्रय से वसुलोकों का पता लगाया जाता है और विविध दिव्य विद्याओं का ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

६) (रुद्राः देवता) रुद्र हैं देवता। रुद्र नाम रुतों [रोगों] को दीर्ण करनेवाले का है। रोगनिवारक जितनी भी जड़ी-बूटियां, वनस्पतियां तथा ओषधियां हैं वे सब रुद्र हैं। उनके योग-प्रयोग की खोज करके दिव्य स्वास्थ्य और सौन्दर्य का सम्पादन किया

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जाता है।

७) (आदित्याः देवता) आदित्य हैं देवता। आदित्य नाम सूर्य और किरण का है। आदित्याः शब्द का प्रयोग सूर्य की किरणों के लिये हुआ है। सूर्य की किरणों में असंख्य दिव्य गुण हैं। रश्मिविज्ञान के आश्रय से उनके द्वारा अनेक लाभ प्राप्त किये जाते हैं।

८) (मरुतः देवता) मरुत हैं देवता। मरुत नाम उन पवनों का है जो विविध देशों और दिशाओं का प्रभाव लेकर विविध दिशाओं में प्रवाहित होते हैं। जंगलों से आती हुयी हवाओं में वनस्पतियों का प्रभाव होता है। जलों के ऊपर से आती हुयी हवाओं में कुछ और ही गुण होते हैं। मरु प्रदेशों तथा शुष्क प्रदेशों से आनेवाले पवनों में विशिष्ट गुण होते हैं। सब प्रकार के पवनों का ज्ञान प्राप्त करके अनेक दिव्य लाभ प्राप्त किये जाते हैं।

९) (विश्वे देवाः देवता) सब देव हैं देवता। सभी प्राकृतिक देव दिव्य गुणों से युक्त हैं। उनके गुणों का पता लगाकर सब प्राणियों का हित सम्पादन किया जा सकता है।

१०) (बृहस्पतिः देवता) बृहस्पति है देवता। परमात्मा बृहस्पति है, सृष्टि का महान् स्वामी, नियामक और रक्षक है। उसकी स्तुतिप्रार्थनोपासना द्वारा जीवनों में दिव्यता का संचार किया जाता है।

११) (इन्द्रः देवता) आत्मा है देवता। इन्द्रियों का स्वामी होने से आत्मा इन्द्र है। इन्द्र में इन्द्रियत्व है, ऐन्द्र शक्तियां हैं। आत्मसाधना द्वारा इन्द्रिय इन्द्रिय में दिव्य शक्तियों और द्युतियों का संचार जाता है।

१२) (वरुणः देवता) जल है देवता। वरुण नाम जल का है जो सूर्यताप से क्षाररहित होकर वा में ऊपर उठता है और बादल बनकर स्थान पर बरसता है। लोकभाषा में इस जल को आकाशजल है। भूमि पर पड़कर यह जल सम्पदाओं का उत्पादन करता है। बरसते जल को भूमि पर न पड़ने देकर पात्रों करके उसका असाध्य रोगों की चिकित्सा प्रयोग होता है। खुले स्थल में खड़े होकर से बरसते हुये इस जल को शरीर पर लेकर करने से शिर और त्वचा के रोग दूर होजा वरुणविज्ञान के आश्रय से उपचार के अनेक साधनों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

अग्नि है देवता,
वात है देवता,
सूर्य है देवता,
चन्द्रमा है देवता,
वसु हैं देवता,
रुद्र हैं देवता,
आदित्य हैं देवता,
मरुत हैं देवता,
सब देव हैं देवता,
बृहस्पति है देवता,
इन्द्र है देवता,
वरुण है देवता।

७०९ **मूर्धासि राड् ध्रुवासि धरुणा धर्त्र्यसि धरणी।**
आयुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा॥ य १४.२१
मूर्धा असि राट् ध्रुवा असि धरुणा धर्त्री असि धरणी।
आयुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा।

पूर्व-मन्त्र में बताया गया है—अग्नि देवता है, वात देवता है, सूर्य देवता है, चन्द्रमा देवता है, इत्यादि। किन्तु जिस पथिवी पर हम निवास करते हैं है? पृथिवी को सम्बोधन करते हुए

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सुपुत्र-सुपुत्रियां कहते हैं—

१) पृथिवि मातः ! तू तो (मूर्धा असि राट्) मूर्धा है प्रकाशनेवाली।

मानवशरीर में जिस प्रकार मस्तक सब इन्द्रियों का मूर्धा है उसी प्रकार पृथिवी माता सब देवताओं की मूर्धा है, सब देवताओं में सर्वोपरि देवता है। वह सूर्य, चन्द्रमा, आदि अनेक प्रकाशलोकों के प्रकाश से मूर्धा के समान प्रकाश रही है।

२) तू (ध्रुवा असि धरुणा) ध्रुवा है धारण-पोषण करनेवाली।

पृथिवी अपने धरास्थल पर ध्रुवता के साथ स्थित होकर पृथिवीस्थ सकल पदार्थों और प्राणियों को धार, सहार और पाल रही है।

३) तू (धर्त्री असि धरणी) धारिका है धारण करनेवाली।

अपनी धारण-आकर्षणशक्ति से पृथिवी, पृथिवी-स्थ सकल पदार्थों और प्राणियों को धारण-आकृष्ट किये रहती हैं।

४) हम धारण करते हैं ध्रुवता के साथ (त्वा आयुषे) तुझे जीवन के लिये, (त्वा वर्चसे) तुझे तेज के लिये, (त्वा कृष्यै) तुझे खेती के लिये, (त्वा क्षेमाय) तुझे रक्षा के लिये।

पृथिवी के कण कण में जीवनशक्ति और तेज ओत-प्रोत है। ध्रुवता की स्थापना करके उसमें से उत्पन्न पदार्थों के सुसेवन द्वारा हम अपने जीवनों में संजीवन और तेज की वृद्धि करें। कृषिविद्या में कुशल होकर हम उस पर खेती करके मानवप्रजा के क्षेम और जीवन के लिये विविध अन्नों और खाद्य पदार्थों का बाहुल्य के साथ उत्पादन करें।

तू है मूर्धा प्रकाशनेवाली,
तू है ध्रुवा पोषनेवाली,
तू है धर्त्री आधारभूता।
तुझे आयु के लिये,
तेज के लिये तुझको,
तुझे कृषि के लिये,
क्षेम के लिये तुझको।

७१० **यन्त्री राड् यन्त्र्यसि यमनी ध्रुवासि धरित्री।**
इषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा ॥ य १४.२२
यन्त्री राट् यन्त्री असि यमनी ध्रुवा असि धरित्री।
इषे त्वा ऊर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा।

१) पृथिवि ! तू (असि) है (यन्त्री) नियमन करनेवाली और (राट्) प्रकाशनेवाली, (यन्त्री) नियमन करनेवाली और (यमनी) आकर्षित रखनेवाली।

पृथिवी सदैव यन्त्र के समान घूमती रहती है, प्रकाशलोकों के प्रकाश से प्रकाशती रहती है, यन्त्रवत् नियन्त्रण करनेवाली है और सकल पदार्थों तथा प्राणियों को अपने प्रति आकर्षित रखनेवाली है।

२) तू (ध्रुवा असि धरित्री) ध्रुवा है धारण करनेवाली।

पृथिवी सब पदार्थों और प्राणियों को धार—सहार रही है।

३) हम धारण करें ध्रुवता के साथ (त्वा इषे) तुझे इच्छा/इच्छापूर्ति के लिये, (त्वा ऊर्जे) तुझे बल/पराक्रम के लिये, (त्वा रय्यै) तुझे समृद्धि के लिये, (त्वा पोषाय) तुझे पोषण के लिये।

पृथिवी पर ध्रुव व्यवस्था स्थापित होती है तो सभी प्राणी अपनी इच्छापूर्ति कर पाते हैं, सभी प्राणियों की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। पृथिवी पर ध्रुवता स्थापित रहती है तो मानवप्रजा बल, पराक्रम के आश्रय से समृद्धि का सम्पादन

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

करके सुलभता से जीवनों का सुपोषण करती हुयी सुख और शांति का आस्वादन करती है।

तू है यन्त्री, प्रकाशनेवाली,
यन्त्री, आकर्षित करनेवाली,
तू है ध्रुवा, सहारनेवाली।
तुझे इच्छापूर्ति के लिये,
तुझे बल—पराक्रम के लिये,
तुझे समृद्धि के लिये,
तुझे संपोषण के लिये।

७११ आशुस्त्रिवृद् भान्तः पञ्चदशो व्योमा सप्तदशो धरुण एकविंशः प्रतूर्तिरष्टादशस्तपो नवदशो ऽभीवर्त्तः सविंशो वर्चो द्राविंशः संभरणस्त्रयोविंशो योनिश्चतुर्विंशो गर्भः पञ्चविंश ओजस्त्रिणवः क्रतुरेकत्रिंशः प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिंशो ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिंशो नाकः षट्त्रिंशो विवर्त्तो ऽष्टाचत्वारिंशो धर्त्र चतुष्टोमः ॥ य १४.२३

आशुः त्रि-वृत् भान्तः पञ्च-दशः वि-ओमा सप्त-दशः धरुणः एक-विंशः प्र-तूर्तिः अष्टा-दशः तपः नव-दशः अभि-वर्त्तः स-विंशः वर्चः द्वा-विंशः सम्-भरणः त्रयः-विंशः योनिः चतुः-विंशः गर्भाः पञ्च-विंशः ओजः त्रि-नवः क्रतुः एक-त्रिंशः प्रति-स्था त्रयः-त्रिंशः ब्रध्नस्य विष्टपम् चतुः-त्रिंशः नाकः षट्-त्रिंशः वि-वर्त्तः अष्टा-चत्वारिंशः धर्त्रम् चतुः-स्तोमः।

पूर्व-मन्त्र में उल्लिखित इच्छापूर्ति, पराक्रम, समृद्धि और सम्पोषण—इस साधचतुष्टय के लिये पृथिवी पर (आशुः) शीघ्र शीघ्र, यथासमय स्थापित हो और स्थापित रहे—

१) (त्रि-वृत्) त्रि-वर्तन, त्रि-प्रचलन।

शुद्ध विचार, शुद्ध भावना और शुद्ध आचार ही वह त्रि-वर्तन है जिसके प्रचलन से साधचतुष्टय की सतत साधना होती रहती है।

२) जन जन में (भान्तः पञ्च-दशः) जगमगाता हुआ हो पञ्चदश [१५]।

पांच [प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान] प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां—यह पञ्च-दश जब जन जन में जगमगा रहा होता है तो साधचतुष्टय सहज-सिद्ध रहती है। नीरोगिता, स्वच्छता, संयम तथा पवित्रता इस पञ्चदश को भायुक्त अथवा प्रकाशयुक्त रखते हैं।

३) (वि-ओमा सप्त-दशः) वि-रक्षक हो सप्तदश [१७]।

उपर्युक्त पञ्चदश के साथ जब सुमति और सुसंकल्प का संयोग होजाता है तो सप्तदश वि-ओमा बनता है और मानवजाति की सर्वतः [illegible] होती है।

४) (धरुणः एक-विंशः) धारक हो एकविंश [२१]।

उपर्युक्त सप्तदश के साथ जब मस्तिष्क, हृदय चित्त और आत्मा का संयोग होता है तो एकविंश धारक बन जाता है और मानवप्रजा तथा पृथिवी का संधारण होता है।

५) (प्र-तूर्तिः अष्टा-दशः) शीघ्र-गति [सतर्कता] अष्टादश [१८]।

हाथ की दश अंगुलियां, दो आंखें, दो कान, दो हाथ, दो पैर—यह अष्टादश है जिसके आश्रय मानवजाति जब शीघ्रता और सतर्कता के साथ काम करती है तो सर्वतोमुखी प्रगति होती है।

६) (तपः नव-दशः) तप हो नवदश [१९]।

मनसा तपः। मन से तप। तप नाम मनःसंयम का है। उपर्युक्त अष्टादश के साथ जब उन्नीसवें का संयोग होजाता है तो मानवप्रजा संनद्धता के साथ कार्य में जुट जाती है और पृथिवी पर सर्वतोमुखी सम्पन्नता का सम्पादन होता है।

७) (अभि-वर्त्तः स-विंशः) अभि-मुख [प्रत्यक्ष]

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सविंश [बीससहित, २०]।
शरीर से श्रम। उपर्युक्त नवदश के साथ जब बीसवां शरीरश्रम जुड़ जाता है तो मानवप्रजा निरञ्जस होकर पृथिवी पर सार्वभौम भव्यता का निर्माण कर डालती है।

२) (वर्चः द्वा-विंशः) वर्च हो द्वाविंश [२२]।
उपर्युक्त सविंश [२०] के साथ जब शुद्ध बुद्धि और निर्मल चित्त का संयोग हो जाता है तो द्वाविंश बनता है और सम्पूर्ण द्वाविंश वर्चोपेत होजाता है।

३) (सम्-भरणः त्रयः-विंशः) सं-धारक हो त्रयोविंश [२३]।
द्वाविंश के साथ जब तेईसवें आत्मसंबल का योग होजाता है तो धारणक्षमता का संवर्धन होता और जन जन धारक, प्रधारक बन जाता है।

२०) (योनिः चतुः-विंशः) योनि हो चतुर्विंश [२४]।
त्रयोविंश के साथ जब चौबीसवें संयम अथवा ब्रह्मचर्य का संयोग रहता है तो पुरुषयोनि अथवा पुरुषदेह में परिपक्वता तथा लावण्य की सिद्धि होती है।

२१) (गर्भाः पञ्च-विंशः) गर्भ हों पञ्चविंश [२५]।
पुरुष जब ब्रह्मचर्यपूर्वक पच्चीस वर्ष का होजाता तो उसके वीर्य में गर्भधारण की सम्पूर्ण शक्तियां विकसित होजाती हैं।

२२) (ओजः त्रि-नवः) ओज हो त्रिणव [३×९=२७]।
सत्ताईस वर्ष के आयुष्य तक ब्रह्मचर्यपूर्वक योग-जीवनपद्धति से विद्याध्ययन तथा व्रतों का पालन किया जाये तो मानव ओजोपेत अथवा ओजस्वी बन जाता है।

२३) (क्रतुः एक त्रिंशः) क्रतु हो एकत्रिंश [३१]।
इकत्तीस वर्ष के आयुष्य तक ब्रह्मचर्यपूर्वक योग-जीवनपद्धति से जीवन की साधना की जाये तो मानव में पूर्ण कर्तृत्व अथवा पूर्ण कर्मक्षमता का विकास होता है।

२४) (प्रति-स्था त्रयः-त्रिंशः) प्रतिष्ठा हो त्रयस्त्रिंश [३३]।
तेतीस वर्ष तक ब्रह्मचर्यपूर्वक योग-जीवनपद्धति से क्रतुमय अथवा साधनामय रहने से मानवजीवन में सारी प्रतिष्ठायें प्रतिष्ठित होजाती हैं।

२५) (ब्रध्नस्य विष्टपम् चतुः-त्रिंशः) सूर्य का व्यापकत्व हो चतुस्त्रिंश [३४]।
चौंतीस वर्ष तक ब्रह्मचर्यपूर्वक योग-जीवनपद्धति से साधरत रहने से मानव का व्यापकत्व सूर्य के समान होता है। जिस प्रकार सूर्य अपने किरणों से सब ओर व्यापता और प्रकाश करता है उसी प्रकार चौंतीस वर्ष का योगमय ब्रह्मचर्य मानव को रश्मि-पुञ्ज बना देता है। वह विश्व में व्यापता है और विश्व को प्रकाश प्रदान करता है।

२६) (नाकः षट्-त्रिंशः) आनन्द हो षट्त्रिंश [३६]।
छत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्यपूर्वक योग-जीवनपद्धति से जीवन की संसाधना करने से मानवजीवन अन्त तक आनन्दोपेत रहता है।

२७) (वि-वर्तः अष्टा-चत्वारिंशः) वि-वर्त हो अष्टा-चत्वारिंश [४८]।
ब्रह्मचर्यपूर्वक योग-जीवनपद्धति से अड़तालीस वर्ष तक जीवन में पूर्णता का संपादन करते रहने से मानव विश्व का विवर्तक, संचालक अथवा प्रणेता बनता है।

२८) (धर्त्रम् चतुः-स्तोमः) धारण हो चतुष्टोम [चारों ओर स्तवन]।
मानवसमाज में जब उपर्युक्त साधनायें होती हैं तो चारों दिशाओं में स्तुत्य रीति से सबका संधारण होता है।

शीघ्र त्रिवृत,
भान्त पञ्चदश,
व्योमा सप्तदश,
धारक एकविंश,
सतर्क अष्टादश,
तप नवदश,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रत्यक्ष सविंश,
वर्च द्वाविंश,
संधारक त्रयोविंश,
योनि चतुर्विंश,
गर्भ पञ्चविंश,
ओज त्रिणव,
क्रतु एकत्रिंश,
प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिंश,
सूर्य की व्याप्ति चतुस्त्रिंश,
नाक षट्त्रिंश,
प्रणेता अष्टाचत्वारिंश,
धारण चतुष्टोम ।

७१२) ओ३म् अग्नेर्भागो ऽसि दीक्षाया आधिपत्यं ब्रह्म स्पृतं त्रिवृत् स्तोम इन्द्रस्य भागो ऽसि विष्णो राधिपत्यं क्षत्रं स्पृतं पञ्चदश स्तोमो नृचक्षसां भागो ऽसि धातुराधिपत्यं जनित्रं स्पृ सप्तदश स्तोमो मित्रस्य भागो ऽसि वरुणस्याधिपत्यं दिवो वृष्टिर्वात स्पृत एकवि स्तोमः ॥ य १४.२

अग्नेः भागः असि दीक्षायाः आधि-पत्यम् ब्रह्म स्पृतम् त्रि-वृत् स्तोमः इन्द्रस्य भागः अ विष्णोः आधि-पत्यम् क्षत्रम् स्पृतम् पञ्च-दशः स्तोमः नृ-चक्षसाम् भागः असि धा आधि-पत्यम् जनित्रम् स्पृतम् सप्त-दशः स्तोमः मित्रस्य भागः असि वरुणस्य आधि-प दिवः वृष्टिः वातः स्पृतः एक-विंशः स्तोमः ।

इच्छापूर्ति, पराक्रम, समृद्धि और सम्पोषण, इस सार्वभौम साध-चतुष्टय की संसाधना में भागीदार बनने का महत्त्व और आवश्यकता समझाने के लिये अदिति [पृथिवी] पर निवास करनेवाले मानव के प्रति वेदमाता कहती है और विश्वकर्मा प्रेरणा करता है—

१) मानव ! तू (अग्नेः भागः असि) अग्नि का भाग है, तुझ पर (दीक्षायाः आधि-पत्यम्) दीक्षा का आधिपत्य हो, तेरा (ब्रह्म) विवेक, चिन्तन (स्पृतम्) प्रीतिसेवित हो, प्रीतिपूर्वक प्रयुक्त हो, तू (त्रि-वृत् स्तोमः) त्रिवर्तनशील स्तोम हो ।

एक एक चिंगारी जिस प्रकार अग्नि का भाग है, उसी प्रकार एक एक मानव मानवताग्नि का अंश है । सम्पूर्ण मानवजाति के सुख-सौभाग्य के लिये पृथिवी पर ध्रुवता स्थापित रखते हुये, सर्व-मंगल की साधनार्थ उसे दीक्षित होना चाहिये और दीक्षित होकर उसे अपने ऊपर दीक्षा का आधिपत्य स्थापित रखना चाहिये । व्रतेन दीक्षामाप्नोति (य १९.३०)=व्रत धारण करने का नाम दीक्षा व्रत धारण करके मनुष्य दीक्षित बनता है दीक्षित कहलाता है । दीक्षित होकर धृत की साधना में सतर्कतापूर्वक सतत संलग्न रहना दी आधिपत्य कहलाता है । दीक्षा का आधिपत्य के अपने साधप्रेम और साधचिन्तन से सिद्ध है और होता है मन-वचन-कर्मरूपी अथवा विचार, शुद्ध भावना और शुद्ध आचार रूपी त्रि के प्रशस्तीकरण से ।

२) मानव ! तू (इन्द्रस्य भागः असि) आत्मा भाग है, तुझ पर (विष्णोः आधि-पत्यम्) का आधिपत्य हो, तेरा (क्षत्रम्) संबल (क्ष प्रीतिसेवित हो, प्रीतिपूर्वक प्रयुक्त हो, तू (प दशः स्तोमः) पञ्चदश [१५] स्तोम हो ।

शरीर और आत्मा के समुच्चय का नाम जीवन है । जीवन आत्मा ही है । शरीर तो का भाग है, करण है, कर्मसाधन है । मानव माया [भौतिकवाद] का नहीं, विष्णु का, सर्व

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ब्रह्म का आधिपत्य होना चाहिये। विष्णु के अधिपत्य से उस आत्मसंबल का विकास होता है जो मानवजाति के कल्याण में प्रीतिपूर्वक सेवित होता है। परिणामस्वरूप, मानव के पञ्चदश [पांच प्राण+पांच ज्ञानेन्द्रियां+पांच कर्मेन्द्रियां] का प्रशस्तीकरण होता है, पञ्चदश सतत स्तुत्य बना रहता है।

३) मानव! तू (नृ-चक्षसाम् भागः असि) नरनिरीक्षकों का भाग है, तुझ पर (धातुः आधि-पत्यम्) धारक का आधिपत्य हो, तेरा (जनित्रम्) जनन—उत्पादन (स्पृतम्) प्रीतिसेवित हो, तू (सप्त-दशः स्तोमः) सप्तदश [१७] स्तोम हो।

प्रत्येक मानव नरनिरीक्षकों का भाग है। मानव मानव मानवों की दृष्टि का अंश है। मानवों के देखनेवाले मानव मानव को देखते हैं। प्रत्येक मानव मानवों की दृष्टि का दर्शनीय भाग है। प्रत्येक मानव पर विश्वधारक धाता का आधिपत्य हो। धाता के आधिपत्य से मानव के जीवन में आत्मविश्वास की स्थापना होती है। आत्मविश्वास से मानवजाति में उत्पादनसामर्थ्य अथवा रचनात्मक क्षमता प्रीतिसेवित अथवा प्रीतिपूर्वक प्रयुक्त होती है। परिणामस्वरूप, मानव के सप्तदश [पांच प्राण+पांच ज्ञानेन्द्रियां+पांच कर्मेन्द्रियां+सुमति+सुसंकल्प] का प्रशस्तीकरण होता है, सप्तदश सदा स्तुत्य बना रहता है।

४) मानव! तू (मित्रस्य भागः असि) तू सूर्य का भाग है, तुझ पर (वरुणस्य आधि-पत्यम्) वरणीय प्रभु का आधिपत्य हो, तुझ पर (दिवः वृष्टिः) प्रकाश की वृष्टि हो, तेरा (वातः) प्राण (स्पृतः) प्रीतिसेवित हो, तू (एक-विंशः स्तोमः) एकविंश [२१] स्तोम हो।

प्रत्येक किरण जिस प्रकार सूर्य का भाग है उसी प्रकार प्रत्येक मानव मानवतारूपी सूर्य का एक किरण है। मानव पर वरणीय प्रभु का आधिपत्य हो। वरुण के आधिपत्य से मानवसमाज पर प्रकाश [ज्योति, ज्ञान, विवेक] की वृष्टि होती है। प्रकाश की वृष्टि से मानवप्राणियों का प्राण प्रीतिपूर्वक सेवित होता है, उनका जीवन प्रेममय होजाता है। परिणामस्वरूप, मानव के एकविंश [पांच प्राण+पांच ज्ञानेन्द्रियां+पांच कर्मेन्द्रियां+सुमति+सुसंकल्प+मस्तिष्क+हृदय+चित्त+आत्मा] का प्रशस्तीकरण होता है, एकविंश स्तुत्य बना रहता है।

तू है भाग अग्नि का,
तुझ पर हो आधिपत्य दीक्षा का,
ब्रह्म हो तेरा प्रीतिसेवित,
तू हो त्रिवृत् स्तोम।
तू है भाग इन्द्र का,
तुझ पर हो आधिपत्य विष्णु का,
क्षत्र हो तेरा प्रीतिसेवित,
तू हो पञ्चदश स्तोम।
तू है भाग नरनिरीक्षकों का,
तुझ पर हो आधिपत्य धाता का,
जनित्र हो तेरा प्रीतिसेवित,
तू हो सप्तदश स्तोम।
तू है भाग मित्र का,
तुझ पर हो आधिपत्य वरुण का,
तुझ पर हो प्रकाश की वृष्टि,
प्राण हो तेरा प्रीतिसेवित,
तू हो एकविंश स्तोम।

७१३ वसूनां भागो ऽसि रुद्राणामाधिपत्यं चतुष्पात् स्पृतं चतुर्विंश स्तोम आदित्यानां भागो ऽसि मरुतामाधिपत्यं गर्भा स्पृताः पंचविंश स्तोमो ऽदित्यै भागो ऽसि पूष्ण आधिपत्यमोज स्पृतं त्रिणव स्तोमो देवस्य सवितुर्भागो ऽसि बृहस्पतेराधिपत्यं समोचीर्दिश स्पृताश्चतुष्टोम स्तोमः ॥

य १४.२५

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वसूनाम् भागः असि रुद्राणाम् आधि-पत्यम् चतुः-पात् स्पृतम् चतुः-विंशः स्तोमः आदित्यानाम् भागः असि मरुताम् आधि-पत्यम् गर्भाः स्पृताः पञ्च-विंशः स्तोमः अदित्यै भागः असि पूष्णः आधि-पत्यम् ओजः स्पृतम् त्रि-नवः स्तोमः देवस्य सवितुः भागः असि बृहस्-पतेः आधि-पत्यम् समीचीः दिशः स्पृताः चतुः-स्तोमः स्तोमः ।

१) मानव ! तू (वसूनाम् भागः असि) वसुओं का भाग है, तुझ पर (रुद्राणाम् आधि-पत्यम्) प्राणों का आधिपत्य हो, तेरा (चतुः-पात् स्पृतम्) चतुष्पात् प्रीतिसेवित हो, तू (चतुः-विंशः स्तोमः) चतुर्विंश [२४] स्तोम हो ।

वसुधा के जितने वसु हैं, पृथिवी के जितने ऐश्वर्य हैं वे सब न केवल सब मानवों के लिये हैं अपि तु सब प्राणियों के लिये हैं । प्रत्येक प्राणी उन वसुओं का भाग है, भागीदार है । अतः, प्रत्येक मानव अपने भाग का सेवन करे, अन्यों के भाग का अपहरण न करे । मानव मानव पर प्राणों का आधिपत्य हो । वह प्राणों के समान प्राणियों का प्रिय बने । तदर्थ उसका चतुष्पाद् जीवन प्रीतिसेवित हो । मानव का प्राकृत आयुष्य सौ वर्ष है, जो पच्चीस पच्चीस वर्ष के चार पादों में विभक्त है । उसका चतुष्पाद् जीवन प्राणिमात्र की प्रीति और सेवा में प्रयुक्त हो । ऐसा करने से उसके चतुर्विंश [हाथ की दश अंगुलियां + दो नेत्र + दो श्रोत्र + दो हस्त + दो पग + तप + श्रम + शुद्ध बुद्धि + निर्मल चित्त + आत्मसंबल + संयम] का प्रशस्तीकरण होता है, चतुर्विंश स्तुत्य बना रहता है ।

२) मानव ! तू (आदित्यानाम् भागः असि) आदित्यों का भाग है, तुझ पर (मरुताम् आधि-पत्यम्) मरुतों का आधिपत्य हो, (पंच-विंशः स्तोमः) पंचविंश [२५] स्तुत्य हो, (गर्भाः स्पृताः) गर्भ प्रीतिसेवित हों ।

अदिति नाम अखण्ड पृथिवी का है । 'आदित्य' का अर्थ है अदिति का पुत्र । सभी मानव अदिति के पुत्र-पुत्रियां हैं । प्रत्येक मानव आदित्यों का एक भाग है, आदित्यों में से एक आदित्य है । मानव मानव पर मरुतों का आधिपत्य हो । मरुत उन मेघवाहक वीर वायुओं का है जो सागर बादलों को दूर दूर उड़ाकर लेजाते हैं और वृष्टियों से प्रदेशों को हरा-भरा करते हैं । मानव मरुत बनकर अन्य मानवों पर सुखों सुवृष्टि करे । उपर्युक्त समुदार भावनाओं निर्मल वातावरणों में जब मनुष्य ब्रह्मचर्यपूर्वक पच्चीस वर्ष का होता है तो वह सर्वतः होजाता है । सर्वतः स्तुत्य होकर जब वह प्रीति पूर्वक गर्भ स्थापन करता है तो मानवसन्तति पूर्ण, सक्षम और निर्विकार होती है ।

३) मानव ! तू (अदित्यै भागः असि) पृथिवी लिये भाग है, तुझ पर (पूष्णः आधि-पत्यम्) [आत्मा] का आधिपत्य हो, (त्रि-नवः) [३×९ २७] (स्तोमः) स्तुत्य हो, (ओजः स्पृतम्) प्रीतिसेवित हो ।

सम्पूर्ण मानवप्रजा अदिति के लिये एक परिवार है और प्रत्येक व्यक्ति उस परिवार एक भाग अथवा सदस्य है । व्यक्ति व्यक्ति जीवनपोषक आत्मसत्ता का आधिपत्य हो । धिपत्य में ब्रह्मचर्यपूर्वक सत्ताईस वर्ष के तक आत्मसाधना करने से मानव का जीवन बनता है और उसमें ओज की वृद्धि होती है । के प्रीतिपूर्वक प्रयुक्त होने से अदिति पर सौभाग्य और ध्रुवता की सिद्धि होती है ।

४) मानव ! तू (देवस्य सवितुः भागः असि) प्रेरक का भाग है, तुझ पर (बृहस्-पतेः आधि-पत्यम्) बृहस्पति का आधिपत्य हो, तेरे द्वारा (समीचीः दिशः स्पृताः) सं-व्यापक दिशायें प्रीतिसेवित तेरा (चतुः-स्तोमः स्तोमः) चतुष्टोम स्तुत्य हो ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मन ही वह दिव्य प्रेरक है, प्रत्येक व्यक्ति जिसका प्रेरित भाग है। मानव के मन पर जब मानव के बृहस्पति [बृहत्-पति, महान् पति, चित्त] का आधिपत्य होता है तो वह सब ओर सम्यक् फैली सब दिशाओं में प्रीतिपूर्वक अपनी सेवाओं का हाथ बढाता है, वह प्रीतिपूर्वक समस्त दिशाओं का अवलोकन करता है। समस्त दिशाओं में अपनी प्रीति और सेवा की संव्याप्ति से उसका चतुःस्तोम स्तुत्य होजाता है। चारों दिशायें उसका स्तवन करती हैं। चारों दिशाओं में स्तवन होना चतुष्टोम स्तोम है।

तू है भाग वसुओं का,
तुझ पर हो अधिपत्य रुद्रों का,
चतुष्पात् तेरा हो प्रीतिसेवित,
तू है चतुर्विंश स्तोम।
तू है भाग आदित्यों का,
तुझ पर हो आधिपत्य मरुतों का,
हो पञ्चविंश स्तुत्य,
गर्भ हों प्रीतिसेवित।
तू है अदिति के लिये भाग,
तुझ पर हो आधिपत्य पूषा का,
हो त्रिणव स्तुत्य,
ओज हो प्रीतिसेवित।
तू है भाग देव सविता का,
तुझ पर हो आधिपत्य बृहस्पति का,
प्रीतिसेवित हों सम्यक् संव्यापी दिशायें,
चतुष्टोम हो स्तुत्य।

७१४ यवानां भागो ऽस्ययवानामाधिपत्यं प्रजा स्पृताश्चतुश्चत्वारिंश स्तोम ऋभूणां भागो ऽसि विश्वेषां देवानामाधिपत्यं भूतं स्पृतं त्रयस्त्रिंश स्तोमः ॥ य १४.२६

यवानाम् भागः असि अ-यवानाम् आधि-पत्यम् प्र-जाः स्पृताः चतुः-चत्वारिंशः स्तोमः ऋभूणाम् भागः असि विश्वेषाम् देवानाम् आधि-पत्यम् भूतम् स्पृतम् त्रयः-त्रिंशः स्तोमः।

१) मानव! तू (यवानाम् भागः असि) मिश्रितों का भाग है, तुझ पर (अ-यवानाम् आधि-पत्यम्) अमिश्रितों का आधिपत्य हो, (चतुः-चत्वारिंशः स्तोमः) चतुश्चत्वारिंश [४४] प्रशस्त हो, (प्र-जाः स्पृताः) प्रजायें प्रीतिसेवित हों।

मानव का शरीर मिश्रित होनेवाले पंच तत्त्वों का भागांश है। शरीरों पर अमिश्रितों [अभौतिक आत्माओं] का आधिपत्य हो। मानव आत्मसंयम द्वारा योग-जीवनपद्धति से चवालीस वर्ष का प्रशस्त ब्रह्मचर्य साधता है तो उसके जीवन से मानवप्रजाओं की प्रीतिपूर्वक पूर्ण सेवा सेवित होती है।

२) मानव! तू (ऋभूणाम् भागः असि) मेधावियों का भाग है, तुझ पर (विश्वेषाम् देवानाम् आधि-पत्यम्) सब देवों का आधिपत्य हो, (त्रयः-त्रिंशः स्तोमः) त्रयस्त्रिंश [३३] प्रशस्त हो, (भूतम् स्पृतम्) प्राणिमात्र प्रीतिसेवित हो।

प्रत्येक मनुष्य मेधावियों का भाग हो, मूर्खों का नहीं, क्योंकि मानवयोनि मेधाप्रधान है अथवा सुबुद्धिप्रधान है। मानव मेधावी तभी बनता है जब उस पर सब देवों का आधिपत्य हो, जब वह देवों की ही संगति करे। देवों की संगति में मानव तेतीस वर्ष का प्रशस्त ब्रह्मचर्य पालन करे तो उसके द्वारा प्राणिमात्र की सुसेवा होती है।

तू है भाग यवों का,
तुझ पर हो आधिपत्य अयवों का,
हो चतुश्चत्वारिंश प्रशस्त,
हों प्रजायें प्रीतिसेवित।
तू है भाग मेधावियों का,
तुझ पर हो आधिपत्य सकल देवों का,
हो त्रयस्त्रिंश प्रशस्त,
होवे प्राणी प्रीतिसेवित।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

७१५ सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू अग्नेरन्तःश्लेषो ऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः । ये अग्नयः समनसो ऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे । हैमन्तिकावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ य १४.२७

सहः च सहस्यः च हैमन्तिकौ ऋतू अग्नेः अन्तः-श्लेषः असि कल्पेताम् द्यावा-पृथिवी कल्पन्ताम् आपः ओषधयः कल्पन्ताम् अग्नयः पृथक् मम ज्यैष्ठ्याय स-व्रताः । ये अग्नयः स-मनसः अन्तरा द्यावा-पृथिवी इमे । हैमन्तिकौ ऋतू अभि-कल्पमानाः इन्द्रम्-इव देवाः अभि-संविशन्तु तया देवतया अङ्गिरस्वत् ध्रुवे सीदतम् ।

१) [सहः च सहस्यः च हैमन्तिकौ ऋतू) सह [मार्गशीर्ष] और सहस्य [पौष] हेमन्त ऋतुयें हैं।

वर्ष की छह ऋतुओं में से हेमन्त [बर्फ़ीली] पांचवीं ऋतु है, सह और सहस्य जिसके दो ऋतु-मास हैं। हेमन्त में जो हिमत्व है उसे हैमन्तिकी कहते हैं।

'सह' का अर्थ है सहना, परास्त करना, साम्मुख्य करना। सहनशक्ति के आश्रय से बर्फ़ीली शीतलता को सहन करने की सामर्थ्य देनेवाला होने से मार्गशीर्ष मास का नाम सह है।

'सहस्य' का अर्थ है सहनशीलता, विजयशीलता, साम्मुख्यशीलता। सहनशीलता के आश्रय से हिमत्व का मुक़ाबला करके उसे पार किया जाने से पौष मास का नाम सहस्य है।

२) हेमन्त ! तू (अग्नेः अन्तः-श्लेषः असि) अग्नि का अन्तरालिंगी है, अग्नि के भीतर आलिंगन करनेवाला है।

हेमन्त ऋतु सामर्थ्य और साम्मुख्य की श्वेत और शीतल ऋतु है। इस ऋतु में भौमाग्नि तथा जठराग्नि और भी अधिक तीव्र होजाता है। उसी प्रकार, सार्वभौम मानवता की हैमन्तिकी में सम्पूर्ण पृथिवी का वातावरण पुरुषार्थमय और सहनशीलता-युक्त होकर मानवताग्नि का प्रज्वलन तथा संविकास होता है।

३) हेमन्त की हैमन्तिकी कहती है—(मम ज्यैष्ठ्याय) मेरे ज्येष्ठत्व [बढ़ाव, विकास] के लिये (कल्पेतां द्यावा-पृथिवी) कल्पें द्यौ और पृथिवी, (कल्पन्ताम् आपः ओषधयः) कल्पें जल और ओषधियां, (कल्पन्ताम् स-व्रताः अग्नयः) कल्पें सव्रत मानवाग्नि (पृथक्) अलग अलग।

हेमन्त की हैमन्तिकी में जिस प्रकार द्यौ भूमि का तथा जलों और ओषधियों का कल्प है उसी प्रकार सार्वभौम मानवता की स्थापना रक्षा के लिये व्रती मानवाग्नि दिशा-विदिशा जायें और सम्पूर्ण मानवजाति को मानव हैमन्तिकी से श्वेतता तथा शीतलता अथवा शां और प्रशान्तता से सुयुक्त करें।

मानवतारूपी हैमन्तिकी की मुख्य मां मानवों के द्यौ [मस्तिष्क] और पृथिवी [जं में मानवता की ज्येष्ठता की स्थापना करना, के आपः [सुकर्मप्रवाहों] तथा ओषधयः [सुवृत्ति को मानवता की धवल, शीतल धाराओं प्रवाहित रखना। इस साध की सफल साध व्रती साधक हो कर पाते हैं जिनके भीतर मां का अग्नि प्रज्वलित रहता है।

विश्वकर्मा कामना करता है—(इमे द्यावा-पृथिवी) इन द्यौ और पृथिवी के (अन्तरा) बी (ये स-मनसः अग्नयः देवाः) जो समन और अं समान तेजस्वी देव हैं वे (हैमन्तिकौ ऋतू) हैं ऋतुओं को, दोनों हैमन्तिक ऋतु-मासों को

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कल्पमानाः) सर्वतः कल्प करते हुये (इन्द्रम्-इव) सूर्य को जैसे (अभि-सम्-विशन्तु) सब ओर सम्यक् प्रवेश करें।

द्यौ और पृथिवी के बीच विशाल अवकाश का अवलोकन करके विश्वकर्मा के मानस में उत्ताल तरंगें तरंगित होती हैं और वह कामना करने लगता है कि उमंग और उत्साह से पूरित मनवाले मनस्वी और तेजस्वी देव-देवियां रश्मिपुंज सूर्य की तरह दिशा-विदिशाओं में प्रवेश करें और मार्गशीर्ष तथा पौष की तरह ऋतुकल्प करके सारी पृथिवी पर मानवतारूपी हैमन्तिकी की धवलता तथा शीतलता की संव्याप्ति करें।

मानवप्रजा और अग्निरूप समन देवप्रजा, दोनों को सम्बोधन करता हुआ विश्वकर्मा कहता है—उभय प्रजाओ! तुम दोनों (ध्रुवे) ध्रुवा [अविचल] रहते हुये (तया देवतया) उस [मानवतारूपी] देवता के साथ (अङ्गिरस्वत् सीदतम्) आत्मवत् सुस्थित—सुस्थिर रहो।

उभय प्रजाओं के मानवतारत रहने से ही पृथिवी पर मानवतारूपी हैमन्तिकी की धवलता प्रस्फुटित होती है।

सह और सहस्य हैं हैमन्तिकी ऋतुयें,
तू है अन्तरांगिनी अग्नि का।
मेरे ज्येष्ठत्व के लिये कल्पें द्यौ-भू,
कल्पें आपः और ओषधियां,
कल्पें सव्रत अग्नियां।
इन द्यावापृथिवी के मध्य में
हैं जो समन तेजस्वी देव,
वे हैमन्तिक ऋतुओं को
सर्वतः कल्पित करते हुये
करें सूर्यवत् सब ओर सम्यक् प्रवेश।
ध्रुवा तुम दोनों सुस्थित रहो
आत्मवत् उस देवता के साथ।

७१६ एकयास्तुवत प्रजा अधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीत् तिसृभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत् पञ्चभिरस्तुवत भूतान्यसृज्यन्त भूतानां पतिरधिपतिरासीत् सप्तभिरस्तुवत सप्तऋषयोऽसृज्यन्त धाताधिपतिरासीत्॥ य १४.२८

एकया अस्तुवत प्र-जाः अधीयन्त प्र-जा-पतिः अधि-पतिः आसीत् तिसृ-भिः अस्तुवत ब्रह्म असृज्यत ब्रह्मणः पतिः अधि-पतिः आसीत् पञ्च-भिः अस्तुवत भूतानि असृज्यन्त भूतानाम् पतिः अधि-पतिः आसीत् सप्त-भिः अस्तुवत सप्त-ऋषयः असृज्यन्त धाता अधि-पतिः आसीत्।

सार्वभौम ध्रुवता की स्थापना और स्थायित्व में एक ध्रुव सूत्र है सर्वमानवों द्वारा सर्वभावेन सर्वान्तर्यामी, सर्वाधार, सर्वोपास्य ब्रह्म की एकरूपता के साथ स्तुतिप्रार्थनोपासना। 'प्रकृतिजन्य यह पृथिवी माता सब मानवप्रजाओं का एक अभिन्न गृह है, सर्वव्यापक और सर्वज्ञ परमात्मा सकल मानवप्रजाओं का पिता है, पृथिवी पर निवास करनेवाली सब मानवप्रजायें एक अविभक्त परिवार हैं' यह भावना जब सारी पृथिवी पर दृढ़मूल होजाती है तो सार्वभौम ध्रुवता अक्षुण्ण और चिरस्थायी होजाती है। इस मन्त्र से आरम्भ करके इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र तक इसी भावना का प्रकाशन किया जारहा है।

१) सदा से (प्र-जा-पतिः अधि-पतिः आसीत्) प्रजापति अधिपति था।

प्रजा शब्द का प्रयोग वेद में मानवप्रजा के लिये ही हुआ है। प्रजा=प्र [प्रकृष्ट] + जा [सन्तान]। सब प्राणियों में मानव ही परमात्मा की सर्वोत्कृष्ट सन्तान है। सब योनियों में मानवयोनि ही सर्वश्रेष्ठ योनि है। आदि में मानवप्रजायें निर्विकार सत्त्व

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

से युक्त होती हैं।

प्रजापति ही इस सबका सदा से अधिपति है। वही अखिल सृष्टि का पति—स्वामी था, है और होगा। शाश्वत सृष्टिप्रवाह का वही शाश्वत स्वामी है।

२) उसी से (प्र-जाः अधीयन्त) प्रजायें विद्यायुक्त हुयीं।

सृष्टि के आदि में मानवप्रजायें निर्विकार होती हैं। प्रजापति परमात्मा की एकनिष्ठ उपासना से वे सत्य विद्या और तत्त्वज्ञान से सम्पन्न होजाती हैं।

३) प्रजाओं ने प्रजापति को (एकया अस्तुवत) एका द्वारा स्तुता।

आत्मधारणा वह एका है जिसके द्वारा आदि मानवों ने प्रजापति की स्तुति की।

४) प्रत्येक सृष्टि के आदि में (ब्रह्मणः पतिः अधि-पतिः आसीत्) वेद का पति अधिपति था।

वेद नाम निर्भ्रान्त सत्य ज्ञान का है। वेद सर्वज्ञ परमात्मा से प्रत्येक सृष्टि-कल्प के आदि में प्रादुर्भूत होता है।

५) उससे (ब्रह्म असृज्यत) वेद रचा गया।

सृष्टि के आदि में जो निर्भ्रान्त ज्ञान निर्मल अन्तःकरणों में मन्त्ररूप में अवतरित होता है उसकी संज्ञा ब्रह्म अथवा वेद है।

६) प्रजाओं ने ब्रह्मणस्पति को (तिसृ-भिः अस्तुवत) तीन द्वारा स्तुता।

ज्ञान, कर्म और उपासना वेद की तीन साधें हैं जिनके द्वारा ब्रह्म को स्तुता और प्राप्त किया जाता है।

७) (भूतानाम् पतिः अधि-पतिः आसीत्) भूतों का पति अधिपति था।

पञ्च भूत और पञ्च भूतों से जो सृष्टि रची जाती है उसका स्वामी वह जगत्पति परमात्मा ही था, है और होगा।

८) उसके द्वारा निर्धारित प्राकृतिक नियमों से (भूतानि असृज्यन्त) प्राणी रचे गये।

पञ्च भूतों से ही सकल प्राणियों की शारीरिक रचना होती है।

९) मानवप्रजाओं ने उसे (पञ्च-भिः अस्तुवत) से स्तुता।

दृष्टि, श्रुति, घ्राण, रसना और त्वक्—ये ज्ञानेन्द्रियां हैं जिनके द्वारा भौतिक संज्ञान करके ब्रह्म की महिमा की अनुभूति होती है।

१०) (धाता अधि-पतिः आसीत्) धारणकर्ता पति था।

सृष्टि का धारण करनेवाला सृष्टिकर्ता मात्मा ही था, है और होगा।

११) उससे (सप्त-ऋषयः असृज्यन्त) सात रचे गये।

भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्—सात व्याहरणरूपी ऋषियों का सृष्टि के रच तथा वेदमन्थन द्वारा प्रादुर्भवन हुआ।

१२) प्रजाओं ने उसे (सप्त-भिः अस्तुवत) द्वारा स्तुता।

सृष्टिरचना में उपर्युक्त सात ऋषि लोक स्थितियां हैं और वेद तथा ब्रह्मोपासना व्याहृतियां हैं।

(1) सृष्टिरचना में परमाणुओं की घनोन्मुख नाम भूः है, (2) विराट् पिंडों की निर्मिति का नाम हैं, (3) विराट् पिंडों से लोकोपलोकों अथवा ग्रहों के रेचन का नाम स्वः है, (4) सौर मण्डलों के अस्तित्व में आने का नाम महः है, (5) प्रकाशलोक पूर्णत्व को प्राप्त होकर प्रकाशने की अवस्था नाम जनः है, (6) लोकों के सतत गमन का नाम है, (7) प्राकृतिक अटल नियमों से सृष्टिबद्धता का सत्यम् है।

वेद तथा ब्रह्म की स्तुति में 'भूः' का सत्, 'भुवः' का चित्, 'स्वः' का आनन्द, महान्, 'जनः' का प्रादुर्भावयिता, 'तपः' का 'सत्यम्' का अपरिणामी।

प्रजापति अधिपति था,
उससे विद्यायुक्त हुयीं प्रजायें,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रजाओं ने एक से स्तुता ।
ब्रह्मणस्पति अधिपति था,
उससे वेद हुआ संसृष्ट,
प्रजाओं ने तीन से स्तुता ।
भूतों का पति अधिपति था,
उससे भूत हुये संसृष्ट,
प्रजाओं ने पांच से स्तुता ।
धारणकर्ता अधिपति था,
उससे हुये सप्त-ऋषि सृष्ट,
प्रजाओं ने सात से स्तुता ।

७१७ नवभिरस्तुवत पितरो ऽसृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीदेकादशभिरस्तुवत ऋतवो ऽसृज्यन्तार्तवा अधिपतय आसँस्त्रयोदशभिरस्तुवत मासा असृज्यन्त संवत्सरो ऽधिपतिरासीत् पञ्चदशभिरस्तुवत क्षत्रमसृज्यतेन्द्रो ऽधिपतिरासीत् सप्तदशभिरस्तुवत ग्राम्याः पशवो ऽसृज्यन्त बृहस्पतिरधिपतिरासीत् ॥

य १४.२९

नव-भिः अस्तुवत पितरः असृज्यन्त अदितिः अधि-पत्नी आसीत् एक-दश-भिः अस्तुवत ऋतवः असृज्यन्त आर्तवाः अधि-पतयः आसन् त्रयः-दश-भिः अस्तुवत मासाः असृज्यन्त संवत्सरः अधिपतिः आसीत् पञ्च-दश-भिः अस्तुवत क्षत्रम् असृज्यत इन्द्रः अधि-पतिः आसीत् सप्त-दश-भिः अस्तुवत ग्राम्याः पशवः असृज्यन्त बृहस्-पतिः अधि-पतिः आसीत् ।

१) (अदितिः अधि-पत्नी आसीत्) पृथिवी अधिस्वामिनी थी ।

सदा से ही पृथिवी सभी मानवों की समान अधिस्वामिनी माता थी, है और होगी ।

२) उससे (पितरः असृज्यन्त) पिता उत्पन्न हुये ।

पितरः शब्द से तात्पर्य प्रथम नस्ल के उन मानवों [स्त्री-पुरुषों] से है जो अमैथुनी प्रक्रिया से उत्पन्न हुये थे। वे माता-पिता बने और उनसे मैथुनी सन्तत्ति की उत्पत्ति का प्रवाह जारी हुआ ।

३) पिताओं ने अदिति को (नव-भिः अस्तुवत) नौ से स्तुता ।

पिताओं ने पृषदाज्य के कोषों से निकलकर नौ द्वारों [दो नेत्र, दो श्रोत्र, दो नासिकाछिद्र, मुख, मूत्रेन्द्रिय, मलेन्द्रिय] द्वारा अदिति का स्तवन अथवा प्रशस्त प्रयोग किया । आंखों से पृथिवी के दृश्यों को देखा, कानों से सुना, नासिकाछिद्रों से सूंघा, मुख से चखा और बोला, मूत्रेन्द्रिय से मूत्रविसर्जन और गुदा से मलविसर्जन किया ।

४) (आर्तवाः अधि-पतयः आसन्) आर्तव अधिपति थे ।

ऋतुनिर्माणकारी प्रभावों अथवा वातावरणों का नाम आर्तव है । ऋतुओं के निर्माण में आर्तवों का आधिपत्य [प्राबल्य] होता है ।

५) आर्तवों से (ऋतवः असृज्यन्त) ऋतुयें रची गयीं ।

६) प्रजाओं ने उन्हें (एक-दश-भिः अस्तुवत) ग्यारह से स्तुता ।

छह प्रसिद्ध ऋतुयें और पांच ऋतुसन्धियां— इन ग्यारह ऋतुओं को सभी मानवप्रजाओं ने सुहावनी और सुफलदायिनी पाया और उन्हें सराहा ।

७) (संवत्सरः अधि-पतिः आसीत्) संवत्सर अधिपति था ।

संवत्सर नाम संवत्-सरण अथवा सम्-वस्-सरण का है । संवत् नाम वर्ष का है । वर्षानुवर्ष के सरण से कालचक्र चलरहा है । संवसन्ति ऋतवो यत्र, स संवत्सरः । संवत्सर के अनवरत चक्र से ही ऋतुओं का सर्जन होता है । इस प्रकार ऋतुओं के निर्माण में संवत्सर का आधिपत्य होता है ।

८) संवत्सर से ऋत्वनुसार (मासाः असृज्यन्त) मास उत्पन्न हुये ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

दो दो महिनों की छह ऋतुओं से बारह महिनों का निर्माण हुआ।

९) प्रजाओं ने संवत्सर को (त्रयः-दश-भिः अस्तुवत) तेरह से स्तुता।

बारह महिने और बारह महिनों का एक संवत्सर मिलकर तेरह बने। मानवप्रजाओं ने उनके सदुपयोग तथा सुप्रयोग से उनकी महिमा को जाना और स्तुता।

१०) (इन्द्रः अधि-पतिः आसीत्) आत्मा अधि-पति था।

११) आत्मा ने शरीररूपी (क्षत्रम्) राज्य, साम्राज्य (असृज्यत) स्थापन किया।

१२) मानवप्रजाओं ने जीवनराज्य को (पञ्च दश-भिः अस्तुवत) पन्द्रह से स्तुता।

जीवनक्षत्र का आत्मा अधिपति है। आत्मा के मिष से ही जीवनसाम्राज्य बना, बनता है और बनेगा। पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां—इस पञ्चदश से ही इस साम्राज्य का प्रशस्तीकरण होता है।

१३) (बृहस्-पतिः अधि-पतिः आसीत्) बृहस्पति अधि-पति था।

१४) उसके उपरान्त (ग्राम्याः पशवः असृज्यन्त) ग्राम्य पशु उत्पन्न हुये।

१५) मानवप्रजाओं ने उसे (सप्त-दश-भिः अस्तुवत) सत्रह से स्तुता।

बृहस्पति शब्द का प्रयोग यहां बृहत् पति, स्वामी, मानव के लिये हुआ है। सर्व योनि सर्वश्रेष्ठ और सर्वज्येष्ठ होने से मानव बृहस्पति मानव के जन्म के उपरान्त गौ, अजा, आदि ग्राम्य पशुओं का जन्म हुआ। मानव न केवल का अपि तु ग्राम्य पशुओं का भी अधिपति और रहेगा। मानवों ने पांच प्राण, पांच ज्ञानें पांच कर्मेन्द्रियां, बुद्धि और मन—इस आश्रय से समाजव्यवस्था को स्तुत्य बनाया।

अदिति अधिपति था,
उससे उत्पन्न हुये पिता,
पिताओं ने स्तुता नौ से।
ऋतुओं के संस्कार थे अधिपति,
उनसे उत्पन्न हुयीं ऋतुयें,
प्रजाओं ने स्तुता ग्यारह से।
संवत्सर अधिपति था,
उससे उत्पन्न हुये महिने,
प्रजाओं ने स्तुता तेरह से।
इन्द्र अधिपति था,
उसने रचा क्षत्र,
प्रजाओं ने स्तुता पन्द्रह से।
बृहस्पति अधिपति था,
उससे उत्पन्न हुये ग्राम्य पशु,
प्रजाओं ने स्तुता सत्रह से।

७१८ नवदशभिरस्तुवत शूद्रार्यावसृज्येतामहोरात्रे अधिपत्नी आस्तामेकविंशत्यास्तुवतैकशफा पशवो ऽसृज्यन्त वरुणो ऽधिपतिरासीत् त्रयोविंशत्यास्तुवत क्षुद्राः पशवो ऽसृज्यन्त पूषाधिपतिरासीत् पञ्चविंशत्यास्तुवतारण्याः पशवो ऽसृज्यन्त वायुरधिपतिरासीत् सप्तदशभिस्त्यास्तुवत द्यावापृथिवी व्यैतां वसवो रुद्रा आदित्या अनुव्यायँस्त एवाधिपतय आस

नव-दश-भिः अस्तुवत शूद्र-आर्यौ असृज्येताम् अहः-रात्रे अधि-पत्नी आस्ताम् एक-विं अस्तुवत एक-शफाः पशवः असृज्यन्त वरुणः अधि-पतिः आसीत् त्रयः-विंशत्या अस्तु क्षुद्राः पशवः असृज्यन्त पूषा अधि-पतिः आसीत् पञ्च-विंशत्या अस्तुवत आरण्याः

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

असृज्यन्त वायुः अधि-पतिः आसीत् सप्त-विंशत्या अस्तुवत द्यावा-पृथिवी वि ऐताम् वसवः रुद्राः आदित्याः अनु-वि-आयन् ते एव अधि-पतयः आसन्।

१) (अहः-रात्रे अधिपत्नी आस्ताम्) दिन और रात दो अधि-पत्नियां थीं।

२) उनके उपरान्त (शूद्र-आर्यौ असृज्येताम्) शूद्र [असंस्कृत वर्ग] और आर्य [सुसंस्कृत वर्ग] उत्पन्न हुये।

३) असंस्कृत और सुसंस्कृत प्रजाओं ने (नव-दश-भिः अस्तुवत) उन्नीस से स्तुता।

दिन और रात संवत्सर की अधिपत्नियां [अधि-रक्षिका] हैं। दिन-रात, दिन-रात करके ही सप्ताह, पक्ष, मास और संवत्सर बनते हैं।

शूद्र नाम असंस्कृत, श्रमिक वर्ग का है और आर्य नाम सुसंस्कृत वर्ग का।

दिन-रात, दिन-रात करके ही असंस्कृत और सुसंस्कृत प्रजायें अपने अपने कर्तव्य कर्म का निर्वहन अथवा अनुष्ठान करती हैं। दिन में श्रम और रात में विश्राम करते हुये वे कालचक्र के साथ घूमती चली आरही हैं।

उभय वर्ग की प्रजाओं ने पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, बुद्धि, मन, मस्तिष्क और हृदय—इस उन्नीस के द्वारा समाजव्यवस्था को प्रशस्त किया।

४) (वरुणः अधि-पतिः आसीत्) वरुण अधिपति था।

५) उसके उपरान्त (एक-शफाः पशवः असृज्यन्त) एक-खुरवाले पशु उत्पन्न हुये।

६) मानवों ने (एक-विंशत्या अस्तुवत) इक्कीस [२१] से स्तुता।

वरुण शब्द का प्रयोग यहां सामाजिक अवस्था के वरणीय अथवा परिष्कृत स्वरूप के लिये हुआ है। ग्राम्य, दुधार पशुओं के उपरान्त घोड़ा, गधा, खच्चर आदि एक-खुरवाले भारवाहक पशुओं का जन्म हुआ। परिष्कृत समाजव्यवस्था में उनका उपयोग किया गया।

असंस्कृत और सुसंस्कृत, उभय वर्ग की मानव-प्रजाओं ने पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, बुद्धि, मन, मस्तिष्क, हृदय, चित्त और आत्मा—इस इक्कीस के आश्रय से समाजव्यवस्था का स्तुत्य रीति से प्रशस्तीकरण किया। समाज का स्वरूप निखर कर वरणीयता को प्राप्त हुआ, समाज वरुण बना।

७) (पूषा अधि-पतिः आसीत्) पूषा अधिपति था।

८) उसके उपरान्त (क्षुद्राः पशवः असृज्यन्त) क्षुद्र पशु उत्पन्न हुये।

९) मानवप्रजाओं ने मानवसमाज को (त्रयः-विंशत्या अस्तुवत) तेईस [२३] से स्तुता।

पूषा शब्द का प्रयोग यहां पोषणोन्मुख, विकासोन्मुख समाजव्यवस्था के लिये हुआ है।

एक-खुर पशुओं के उपरान्त कुत्ता, बिल्ली, मोर, तोता, मैना, आदि क्षुद्र पशु-पक्षियों का जन्म हुआ। विकासोन्मुख समाज में उनका सदुपयोग किया गया।

विकासोन्मुख समाज में श्रम की प्रतिष्ठा हुयी। मानवप्रजाओं ने तेईस [हाथ की दश अंगुलियां, दो नेत्र, दो श्रोत्र, दो हाथ, दो पैर, तप, श्रम, चिन्तन, संयम, सद्भाव] के आश्रय से समाज को सुखी और सम्पन्न बनाने के लिये प्रशस्त साधना की।

१०) (वायुः अधि-पतिः आसीत्) वायु अधिपति था।

११) उसके उपरान्त (आरण्याः पशवः असृज्यन्त) जंगली पशु उत्पन्न हुये।

१२) प्रजाओं ने मानवसमाज को (पञ्च-विंशत्या अस्तुवत) पच्चीस [२५] से स्तुता।

वायु शब्द का प्रयोग यहां गति, प्रगति, ऊहापोह अर्थ में हुआ है।

क्षुद्र पशुओं के उपरान्त हाथी, हिरन, शेर, चीता, आदि, जंगली पशुओं का सर्जन हुआ। प्रगति करते हुये मानवसमाज ने जंगली पशुओं में से हाथी,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ऊंट, आदि पाले जाने योग्य पशुओं को पाला और समाजसेवा में उनका उपयोग किया।

विकासोन्मुख समाज में श्रम के साथ ज्ञान और विज्ञान का संयोग करके पच्चीस [उपर्युक्त २३+ ज्ञान+विज्ञान] के आश्रय से मानवसमाज का प्रशस्तीकरण किया गया।

१३) (द्यावा-पृथिवी वि ऐताम्) द्यौ और पृथिवी ने गति की। (वसवः रुद्राः आदित्याः) ऐश्वर्यों, प्राणों और मानवों ने (अनु-वि-आयन्) अनु-व्यापा, निरन्तर व्यापा।

१४) (ते एव अधि-पतयः आसन्) वे ही अधि-पति थे।

१५) प्रजाओं ने (सप्त-विंशत्या अस्तुवत) सत्ताईस से स्तुता।

मानवसमाज ने ज्ञान और विज्ञान का आश्रय लिया तो द्यौ और पृथिवी ने गति की। उभय लोकों ने अपनी अपनी सम्पदायें प्रदान कीं।

'वसवः' शब्द का प्रयोग यहां वसुधा से उत्पन्न होनेवाले पदार्थों तथा ऐश्वर्यों के लिये हुआ है, 'रुद्राः' का प्राण के आश्रय से जीनेवाले प्राणियों के लिये और 'आदित्याः' का अदिति [पृथिवी] पर निवास करनेवाले, अदिति के सकल मानव पुत्र-पुत्रियों के लिये।

आदित्यों ने ज्ञान-विज्ञान के आश्रय से वसुधा से ऐश्वर्यों का सम्पादन करके द्यौ [नक्षत्रों] का संज्ञान प्राप्त किया और पृथिवी पर निवास करनेवाले न केवल मानवों के लिये, अपि तु सभी प्राणियों के लिये सुख-सम्पदा को व्यापा। पृथिवी पर आदित्यों [अदितिपुत्र मानवों] का आधिपत्य स्था हुआ।

(२) विकासोन्मुख समाज में उपर्युक्त पच्चीस साथ यम [अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अ ग्रह] और नियम [शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्य ईश्वरप्रणिधान] से युक्त आचारसंहिता का वि किया गया। मानवप्रजाओं ने इस सत्ताईस [उ र्युक्त पच्चीस+यम+नियम] की संसाधना मानवसमाज का प्रशस्तिकरण किया। ऐश्वर्यों संवर्धन के साथ यम, नियम के आचरण पृथिवी पर ध्रुवता चिरस्थायी होपायी।

दिन और रात थीं अधिपत्नी,
उपरान्त बने शूद्र और आर्य,
प्रजाओं ने स्तुता उन्नीस से।
वरुण अधिपति था,
उत्पन्न हुये एक-खुर पशु,
प्रजाओं ने स्तुता इक्कीस से।
पूषा अधिपति था,
क्षुद्र पशु हुये उत्पन्न,
प्रजाओं ने स्तुता तेईस से।
वायु अधिपति था,
जंगली पशु हुये उत्पन्न,
प्रजाओं ने स्तुता पच्चीस से।
गति की द्यौ और पृथिवी ने,
व्यापे वसु, रुद्र, आदित्य,
वे ही हुये थे अधिपति,
प्रजाओं ने स्तुता सत्ताईस से।

७१९ नवविंशत्यास्तुवत वनस्पतयो ऽसृज्यन्त सोमो अधिपतिरासीदेकत्रिंशतास्तुवत प्रजा असृज्यन्त यवाश्चायवाश्चाधिपतय आसँस्त्रयस्त्रिंशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत् ॥ य १४.३१

नव-विंशत्या अस्तुवत वनस्पतयः असृज्यन्त सोमः अधि-पतिः आसीत् एक-त्रिंशता अस्तुवत प्र-जाः असृज्यन्त यवाः च अ-यवाः च अधि-पतयः आसन् त्रयः-त्रिंशता अस्तुवत भूतानि अशाम्यन् प्र-जा-पतिः परमे-स्थी अधि-पतिः आसीत्।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१) (सोमः अधि-पतिः आसीत्) सोम अधि-पति था।
२) (वनस्पतय असृज्यन्त) वनस्पतियां उत्पन्न हुयीं।
३) प्रजाओं ने (नव-विंशत्या अस्तुवत) उन्तीस [२९] से स्तुता।

सोम शब्द का प्रयोग यहां ऐश्वर्यशालिता के लिये हुआ है।

मानवों और पशुओं के जन्म के साथ ही वनस्पतियों की उत्पत्ति हुयी। वनस्पति से तात्पर्य घास, शाक, सब्ज़ी, फलों और छायावाले वृक्षों, अन्नपौधावलियों तथा लताओं से है। पशुओं के लिये घास [चारा] तथा मनुष्यों के लिये फलवृक्ष, अन्नपौध, शाकादि उगे। मानवों ने कृषि द्वारा वनस्पतियों का बाहुल्य किया। मानवसमाज और पशुसमाज का सतत पोषण होने लगा।

मानवसमाज में ऐश्वर्यशालिता के साथ अध्यात्म की प्रतिष्ठा हुयी। आत्मानन्द की प्राप्ति के लिये योगासन में स्थित होकर प्राण की समावस्था सिद्ध की।

विकासोन्मुख मानवसमाज में उपर्युक्त सत्ताईस के साथ आसनसिद्धि और प्राण-समावस्था, इस उन्तीस के आश्रय से अध्यात्म का पथ प्रशस्त हुआ। इस प्रकार मानवप्रजाओं ने योगाभ्यास की ओर प्रवृत्त होकर पृथिवी पर मानवजीवन की प्रशस्तता स्थापित की।

४) (यवाः च अ-यवाः च अधि-पतयः आसन्) यव और अयव अधिपति थे।
५) उससे (प्र-जाः असृज्यन्त) प्रजायें उत्पन्न हुयीं [विभक्त हुयीं]।
६) मानवों ने (एक-त्रिंशता अस्तुवत) इकत्तीस [३१] से स्तुता। यव नाम जौ का है। यवाः शब्द का प्रयोग जौ, गेहूँ, चना, मटर, उड़द, मूंग, आदि अन्नों तथा शाक, सब्ज़ी, फल, आदि निरामिष खाद्यों के लिये हुआ है।

अ-यवाः शब्द का प्रयोग हुआ है यहां आमिषाहार अथवा मांसाहार के लिये।

मानवों ने यवाः को अपना आहार बनाया। घास-पात ग्राम्य पशुओं तथा अनेक आरण्य पशुओं का आहार बने। ये सब यवाः अन्नसेवी हैं।

सिंह, चीता, व्याघ्र, भेड़िया, सर्प, आदि आमिषाहारी [मांस-भक्षी] होने से अयवाः हैं।

इस प्रकार, सब प्राणी यवाः तथा अयवाः, दो प्रकार के भूतों [प्राणियों] में विभक्त हुये।

सात्त्विक निरामिषाहार के प्रभाव से मानवप्रजाओं का सत्त्व शुद्ध हुआ। यों अध्यात्मोन्मुख होते हुये उन्होंने प्रत्याहार और धारणा का सदभ्यास किया। इस प्रकार, उपर्युक्त उन्तीस + प्रत्याहार + धारणा, इस इकत्तीस के आश्रय से यवाः तथा अयवाः प्रजाओं का विभाजन प्रशस्त हुआ। पृथिवी पर यवाः [निरामिषाहारों] तथा अयवाः [आमिषाहारों] का आधिपत्य हुआ।

७) (परमे-स्थी प्र-जा-पतिः अधि-पतिः आसीत्) परमे-स्थी प्रजापति अधिपति था।
८) सब (भूतानि) भूत (अशाम्यन्) शान्त हुये। सभी प्राणियों ने शान्ति लाभ की।
९) मानवप्रजाओं ने (त्रयः-त्रिंशता अस्तुवत) तेतीस से स्तुता।

परम में स्थित होने से ब्रह्म परमेष्ठी [परमे-स्थी] है। यवाः और अयवाः, सभी प्रजाओं का स्वामी होने से वह प्रजापति है।

अध्यात्मोन्मुख मानवप्रजाओं ने ध्यान और समाधि का अभ्यास किया। इस प्रकार, उपर्युक्त इकत्तीस + ध्यान + समाधि [तेतीस] के आश्रय से आत्मसाक्षात्कार करके, आत्मसमाहित हो, मानवप्रजाओं ने परमेष्ठी प्रजापति का साक्षात्कार किया और उसकी सृष्टि में उसकी महिमा का प्रत्यक्ष अवलोकन किया। पृथिवी पर परमेष्ठी प्रजापति का आस्तिकतामय आधिपत्य स्थापित हुआ। परिणामस्वरूप, पृथिवी पर ध्रुव शान्ति की स्थापना हुयी और सभी प्राणी शान्तिमय जीवन यापन करने लगे।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सोम था अधिपति,
उपजीं वनस्पतियां,
प्रजाओं ने स्तुता उन्तीस से।
यव और अयव थे अधिपति,
प्रजायें हुयीं विभक्त,
मानवों ने स्तुता इकत्तीस से।
परमेष्ठी प्रजापति था अधिपति,
प्राणी हुये शान्त,
मानवों ने स्तुता तेतीस से।

12/4/61
लाहौर
3-6-61

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वेदव्याख्या-ग्रन्थ, चतुर्दश पुष्प में व्याख्यात यजुर्वेद अध्याय १४ के [३१] मंत्रों की

अकारादि सूची

जो मंत्र अन्य वेदों में भी हू-बहू वा पाठभेद के साथ मिलते हैं उनके प्रतीकों के बाद * चिह्न है। शेष मंत्र केवल यजुर्वेद में हैं।

मंत्र-प्रतीक	अध्याय में मंत्र-संख्या	यजुर्वेद में मंत्र-संख्या	'ग्रन्थ' में पृष्ठ संख्या
अग्निर्देवता	२०	७०८	९४५
अग्नेर्भागो ऽसि	२४	७१२	९५०
अदित्यास्त्वा पृष्ठे	५	६९३	९२५
अनड्वान् वयः पङ्क्तिश्छन्दो	१०	६९८	९३३
आयुर्मे पाहि	१७	७०५	९४२
आशुस्त्रिवृद्	२३	७११	९४८
इन्द्राग्नी	११	६९९	९३५
इषश्चोर्जश्च शारदावृतू	१६	७०४	९४०
एकयास्तुवत प्रजा	२८	७१६	९५५
कुलायिनी घृतवती	२	६९०	९२२
ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवासि	१	६८९	९२१
नभश्च नभस्यश्च	१५	७०३	९३९
नवदशभिरस्तुवत	३०	७१८	९५८
नवभिरस्तुवत	२९	७१७	९५७
नविंशत्यास्तुवत	३१	७१९	९६०
पृथिवी छन्दो ऽन्तरिक्षं	१९	७०७	९४४
पृथिव्याः पुरीषमस्यप्सो	४	६९२	९२४
प्राणं मे पाह्यपानं	८	६९६	९३०
मूर्धा वयः	९	६९७	९३२
मूर्धासि राड् ध्रुवासि	२१	७०९	९४६
मा छन्दः प्रमा	१८	७०६	९४३
यन्त्री राड्	२२	७१०	९४७
यवानां भागो	२६	७१४	९५३
राज्ञसि प्राची	१३	७०१	९३७
वसूनां भागो ऽसि	२५	७१३	९५१
विश्वकर्मा···ज्योतिष्मतीं	१४	७०२	९३८

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मंत्र-प्रतीक	अध्याय में मंत्र-संख्या	यजुर्वेद में मंत्र-संख्या	'ग्रन्थ' में पृष्ठ-सं
विश्वकर्मा····व्यचस्वतीं	१२	७००	९३६
शुक्रश्च शुचिश्च	६	६९४	९२६
सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः	७	६९५	९२७
सहश्च सहस्यश्च	२७	७१५	९५४
स्वैर्दक्षैर्दक्षपितेह	३	६९१	९२३

पाठक से

वेद-संस्थान इस पुस्तक की विषय वस्तु, लेखनशैली और आकार-प्रकार के बारे में आपके विचारों के लिये आभारी होगा। अन्य कोई सुझाव आप देना चाहें तो उन्हें जानकर भी हमें प्रसन्नता होगी। हमारा पता है : बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर, भारत।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

'विदेह'-रचित संस्थान-प्रकाशन

वेद्व्याख्या-ग्रन्थ [भाग ११, खण्ड १ : यजुर्वेद-व्याख्या, अध्याय १-१०] बीस रुपये
(प्रतिपुष्प एक अध्याय के क्रम से, फुटकर रूप में भी उपलब्ध : प्रथम पुष्प (तृतीय संस्करण)—तीन रुपये, द्वितीय पुष्प (तृतीय सं०)–एक रुपया अस्सी पैसे, तृतीय पुष्प (द्वितीय सं०)—सवा दो रुपये, चतुर्थ पुष्प (द्वितीय सं०)—सवा रुपये, पञ्चम पुष्प (द्वितीय सं०)—दो रुपये, षष्ठ पुष्प–एक रुपया, सप्तम पुष्प—डेढ़ रुपये, अष्टम पुष्प—डेढ़ रुपये, नवम पुष्प—एक रुपया, दशम पुष्प—एक रुपया)

एकादश पुष्प [यजुर्वेद अ ११ की व्याख्या] सवा रुपये
द्वादश पुष्प [यजुर्वेद अ १२ की व्याख्या] दो रुपये
त्रयोदश पुष्प [यजुर्वेद अ १३ की व्याख्या] रु १.६०
चतुर्दश पुष्प [यजुर्वेद अ १४ की व्याख्या] रु १.३५
सामवेद का अध्ययन सवा रुपये

योग-ग्रन्थमाला

१. गीतायोग आठ रुपये
२. योगालोक ढाई रुपये [पुस्तकालय सं० : पांच रुपये]
३. साधना (चतुर्थ सं०) सवा रुपये
४. परम योग ८० पैसे
५. स्वास्थ्य और सौन्दर्य (पंचम सं०) ७० पैसे
६. वैदिक योग-पद्धति (तृतीय सं०) ४० पैसे
७. सन्ध्या-योग (चतुर्थ सं०) ४० पैसे
८. गायत्री-मन्त्र का अनुष्ठान (चतुर्थ सं०) २० पैसे
९. महामृत्युञ्जय-मन्त्र का अनुष्ठान (तृतीय सं०) २० पैसे
१०. योग-तरङ्ग (द्वितीय सं०) २० पैसे
११. शिव सङ्कल्प (द्वितीय सं०) ४० पैसे

भक्ति-ग्रन्थमाला

१. गायत्री (चतुर्थ सं०) एक रुपया
२. विदेह-गीतावली (तृतीय सं०) ६० पैसे
३. आनन्द-सुधा (द्वितीय सं०) ४० पैसे
४. जीवन-पाथेय ५० पैसे

चरित-ग्रन्थमाला

१. रामचरित (द्वितीय सं०) एक रु
२. दयानन्द चरितामृत एक रु
३. जीवन-ज्योतियां (तृतीय सं०) ४०

शिक्षा-ग्रन्थमाला

१. वैदिक बालशिक्षा, प्रथम भाग (षष्ठ सं०); द्वि भाग (चतुर्थ सं०); तृतीय भाग (द्वितीय सं० प्रत्येक भाग : ७०
२. वैदिक स्त्री-शिक्षा (द्वितीय सं०) ३०
३. संस्कृत-शिक्षा, प्रथम भाग (तृतीय सं०) २० द्वितीय भाग (तृतीय सं०) ४०
४. संस्कृत-स्वयंशिक्षक, प्रथम पुष्प ('विदेह'-सं (द्वितीय सं०); द्वितीय पुष्प (किशोरीलाल गुप्त-सं प्रत्येक पुष्प : ७०

कर्मकाण्ड-ग्रन्थमाला

१. स्वस्ति-याग (तृतीय सं०) ८०
२. सत्यनारायण की कथा (पंचम सं०) ४०
३. विजय-याग (द्वितीय सं०) ५०
४. वदिक सत्संग (षष्ठ सं०) ४०

मिश्रित-ग्रन्थमाला

१. यज्ञोपवीत-रहस्य (पंचम सं०) २५
२. उत्तम स्वभाव (तृतीय सं०) २०
३. मानव-धर्म (तृतीय सं०) २०
४. चरित्र-निर्माण (तृतीय सं०) ३०
५. गृहस्थाश्रम (द्वितीय सं०) ५०
६. भारत के अध्यापकों से (द्वितीय सं०) ३०
७. भारत के विद्यार्थियों से (तृतीय सं०) ३०

English—Lakshmi Vedic Series

1. The Vedic Prayers (II Ed.) Rs
2. The Exposition of the Vedas Rs
3. Health and Beauty Re

• पूरे सेट का मूल्य : रु ५३.३३ •

'सविता' की जिल्दें : वर्ष ४, ५ : रु ३.५०; ९-१०, १६-१९ : रु ३.२५; वर्ष २०-२५ : रु ५.५०

वेद-संस्थान, बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर (भारत)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

स्वामी विद्यानन्द 'विदेह'

वेदव्याख्या-ग्रन्थ

पंचदश पुष्प

(यजुर्वेद के पंचदश अध्याय की व्याख्या)

विषय : सार्वभौम मानवता (मानवधर्म)

वेद संस्थान
अजमेर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

तीन रुपये पचास पैसे

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वेद के अध्ययन और मानव-संस्कृति
के
ज्ञान का सर्वोत्तम और सर्वसुलभ माध्यम

स वि ता

[वेद-संस्थान का मासिक पत्र]

* देव के दिव्य काव्य, वेद के अध्ययन का सर्वश्रेष्ठ साधन,
* वेदमन्त्रों की 'विदेह'-कृत मौलिक, जीवनप्रद, यथातथ्य व्याख्या,
* अत्यन्त ठोस, सुपच, पौष्टिक, प्रेरणाप्रद सामग्री से भरपूर,
* अथर्ववेद का अध्ययन, ऋग्वेद का अध्ययन, आदि स्थायी स्तम्भों से समलंकृत,
* प्रतिवर्ष किसी वैदिक विषय पर स्थायी मूल्य का विशेषांक,
* विद्वानों के उच्च कोटि के पथप्रदर्शक लेखों से समन्वित ।

॥ एक एक शब्द पठनीय, मननीय, आचरणीय ॥
॥ एक एक तरंग मानव को ऊंचा उठानेवाली ॥
॥ एक एक प्रेरणा जीवन को आगे लेजानेवाली ॥
॥ एक एक चेतावनी मानव के मानस को चेतानेवाली ॥

वार्षिक मूल्य छह रुपए [विदेशों में बारह रुपए]

स्वयं ग्राहक बनिए और अपने प्रिय जनों को बनाइ

वेद-संस्थान,

बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर (भारत)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

संस्थान-प्रकाशन-संख्या : ६६

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यजुर्वेद-व्याख्या

पंचदश पुष्प

सार्वभौम मानवता
(मानवधर्म)

स्वामी विद्यानन्द 'विदेह'

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha
सर्वाधिकार लेखकाधीन

प्रथम संस्करण : श्रावण, २०३१ वि : अगस्त १९७४ ई
२,००० प्रतियां

मूल्य : तीन रुपये पचास पैसे

प्रकाशक : वेद-संस्थान, बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर; मुद्रक : प्रिन्ट हाउस, अजमेर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यजुर्वेद व्याख्या

पन्द्रहवाँ अध्याय

सार्वभौम मानवता (मानवधर्म)

चौदहवें अध्याय में सार्वभौम ध्रुवता तथा सुव्यवस्था की स्थापना कराकर इस अध्याय में वेदमाता सार्वभौम मानवता अथवा मानवधर्म का प्रतिपादन करती है।

पृथिवी पर निवास करनेवाले सर्व मानव जब सार्वभौम मानवता अथवा मानवधर्म का अनुसरण करते हैं तभी सार्वभौम ध्रुवता चिरस्थायी होती है।

७२० **अग्ने जातान् प्र णुदा नः सपत्नान् प्रत्यजातान् नुद जातवेदः।**
अधि नो ब्रूहि सुमना अहेडँस्तव स्याम शर्मँस्त्रिवरूथ उद्भौ ॥ य १५.१
अग्ने जातान् प्र नुद नः स-पत्नान् प्रति अ-जातान् नुद जात-वेदः।
अधि नः ब्रूहि सु-मनाः अ-हेडन् तव स्याम शर्मन् त्रि-वरूथे उत्-भौ।

पूर्व-अध्याय के अन्तिम चार मन्त्रों में सार्वभौम ध्रुवता के स्थायित्व के लिए सर्व मानवों में इस सद्भावना का समंकन किया गया है कि 'सर्वव्यापक और सर्वज्ञ परमात्मा सकल मानवप्रजाओं का पिता है, यह पृथिवी-माता सब मानवप्रजाओं का एक अभिन्न गृह है, पृथिवी पर निवास करनेवाली समग्र मानवप्रजा एक परिवार है।'

इस भावना को सारी पृथिवी पर बनाए रखने के लिए सार्वभौम मानवता अथवा मानवधर्म के संसाधक प्रभु से प्रार्थना करते हैं—

१) (जात-वेदः) सर्वव्यापिन्! सर्वज्ञ! (अग्ने) पावक! प्रकाशक!

जातमात्र में प्राप्त वा व्याप्त, और जातमात्र का ज्ञाता होने से परमात्मा जात-वेदाः है। जो कुछ है, जो कुछ होरहा है और जो कुछ होगा उस सबमें वह सदा व्याप रहा होता है। जो कुछ जात[प्रकट] है और अजात [अप्रकट] है उस सबको वह जान रहा होता है। और है वह पावक और प्रकाशक, चित्रकर्ता और प्रकाशकर्ता।

२) ऐसे हे देव! (नः) हमारे, हम सब मानवों के, हम सब मानवताप्रेमियों के, हम सब मानवधर्म-सारकों के (जातान् स-पत्नान्) प्रकट विरोधियों को (प्र नुद) प्रप्रेर, (अ-जातान् [स-पत्नान्]) अप्रकट विरोधियों को (प्रति नुद) प्रति-प्रेर, प्रतिशः प्रेर।

'णुद' प्रेरणे। 'णुद' धातु का अर्थ है प्रेरणा करना।

साध कितनी भी शुद्ध और शुभ क्यों न हो, निहितस्वार्थों और विघ्नसन्तोषियों द्वारा उसमें विघ्न डाले ही जाते हैं और उसका विरोध किया ही जाता है। शुभ कार्य में सात्त्विक जन सराहना और सहायता करते हैं, रजोगुणी आलोचना करते हैं, तमोगुणी विरोध करते हैं।

विरोध दो प्रकार का होता है, खुला विरोध और छिपा विरोध। विरोधी भी दो प्रकार के होते हैं, खुले विरोधी और छिपे विरोधी। मानवता के प्ररक्षक और मानवधर्म के प्रसाधक न आलोचकों से उलझते हैं, न विरोधियों से टकराते हैं। वे तो कामना करते हैं कि अन्तर्यामी प्रभु उनके विरोधियों के अन्तःकरणों में ऐसी प्रेरणा तथा प्रतिप्रेरणा करे कि वे समझें कि वे कर क्या रहे हैं और उन्हें करना क्या चाहिए। साथ ही, स्वयं प्रसाधक भी यथावसर उन्हें ऐसी प्रप्रेरणा तथा प्रतिप्रेरणा करते रहें कि वे साध के महत्त्व को समझकर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विरोध का परित्याग करें और सहयोग प्रदान करें। सार्वभौम, शुभ साधों में तो आलोचकों को प्रशंसक, और विरोधियों को सहयोगी बनाने का प्रयास ही श्रेयस्कर होता है। गाली के बदले गाली देना और विरोध के बदले विरोध करना साधुशीलता नहीं है।

३) अन्तर्यामिन् ! (सु-मनाः) सुप्रसन्न [रहता हुआ], (अ-हेडन्) तिरस्कार न करता हुआ, सप्रेम (नः अधि ब्रूहि) हमारे प्रति बोल।

क्या ब्रह्म बोलता है ? हां, ब्रह्म बोलता है। आप ब्रह्म से आत्मना बोलिए, अवश्य आपसे **'ब्रह्म वदिष्यति'** (अथर्ववेद १.३२.१), ब्रह्म बोलेगा। किन्तु उसके अनिर्वचनीय, ब्राह्म वचन सुने भी आत्मना ही जाएंगे। पर सुननेवाला उन वचनों की अभिव्यक्ति करेगा अपनी भाषा में ही।

जो शुभ कर्मों में रत और दिव्य साधों में निरत रहते हैं, प्रभु अपनी अन्तर्यामिनी ज्योत्स्ना तथा प्रेरणा द्वारा उनका मार्ग प्रशस्त करता है। यही प्रभु का अ-तिरस्करण है और यही उसका साधकों के प्रति बोलना है। **यही उसकी सुप्रसन्नता है।**

४) हम सदा (तव) तेरे (त्रि-वरूथे उत्-भौ शर्मन्) त्रि-कवच, उच्च-स्थ शरण में (स्याम) हों, रहें।

मानवधर्म के साधकों की यह प्रार्थना एक अतिशय गहन आशय को प्रकट कररही है।

'वृ' धातु का अर्थ है संवरण [ढांकना]। वृ+ऊथन्=वर्+ऊथ=वरूथ। जो संवरण करके अथवा ढांककर रक्षा करता है उसे **वरूथ** कहते हैं। ढांककर रक्षा करनेवाले होने से ही कवच और ढाल को वरूथ कहते हैं। इस प्रकार, वरूथ नाम रक्षा करनेवाले अथवा रक्षासाधन का है। तीनों ककुदों [तापों] से रक्षा करनेवाली होने से प्रभु की शरण **त्रिवरूथ** [त्रि-कवच] है।

उत्=ऊंचा। भू=होना। उत्-भू=ऊंचे रहनेवाला, उच्चस्थ। उच्चस्थ ही निम्नस्थ की रक्षा करता है। प्रभु की शरण जहां त्रिवरूथ है वह उच्चस्थ भी है।

शर्म नाम गृह, आश्रय, शरण, सुरक्षा, छत्र और आशीर्वाद का है। यहां इस शब्द का प्रयोग 'सुरक्षामयी शरण' अर्थ में हुआ है। मानवता के प्रसाधक और मानवधर्म के प्रचारक सर्वदा, सर्वत्र सर्वभावेन प्रभु की त्रिवरूथ और उद्भू सुरक्षा में स्थित रहते हैं। प्रभु की सुरक्षा का हाथ उद्भू शरणागतों के शिर पर ढाल की तरह रहनेवाला है।

अग्ने ! प्रप्रेर हमारे प्रकट सपत्नों को,
प्रतिप्रेर, जातवेदः ! अप्रकट सपत्नों को।
बोल हमारे प्रति सुप्रसन्न तू,
नहीं करता हुआ तिरस्कार।
रहें हम तेरी त्रिकवच, उच्चस्थ सुरक्षा में।

सूक्ति : **अग्ने जातान् प्र णुदा नः सपत्नान्।**
पावक ! हमारे प्रकट विरोधियों को सुप्रेरणा द्वारा
प्रत्यजातान् नुद जातवेदः !
सर्वज्ञ ! हमारे अप्रकट [विरोधियों] को प्रति
प्रेरणा कर।
अधि नो ब्रूहि सुमना अहेडन्।
सुप्रसन्न तू बोल हमारे प्रति, तिरस्कार न करता
हुआ।
तव स्याम शर्मन् त्रिवरूथ उद्भौ।
रहें हम तेरी त्रिकवच, उच्चस्थ शरण में।

७२१ **सहसा जातान् प्र णुदा नः सपत्नान् प्रत्यजाताञ्जातवेदो नुदस्व।**
अधि नो ब्रूहि सुमनस्यमानो वयं स्याम प्र णुदा नः सपत्नान् ॥ य १५.२
सहसा जातान् प्र नुद नः स-पत्नान् प्रति अ-जातान् जात-वेदः नुदस्व।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अधि नः ब्रूहि सु-मनस्यमानः वयम् स्याम प्र नुद नः स-पत्नान् ।

१) (जात-वेदः) सर्वव्यापिन् ! सर्वज्ञ !
२) (नः) हमारे, हम मानवताप्रेमियों के (जातान् स-पत्नान्) प्रकट विरोधियों को (प्र नुद) प्रप्रेर, सुप्रेरणा कर, (अ-जातान् [सपत्नान्]) अप्रकट विरोधियों को (प्रति नुदस्व) प्रति-प्रेर, हमारे प्रति प्रेर, हमारे प्रति प्रीतियुक्त कर, हमारा सहयोगी बना।
३) (सु-मनस्यमानः) सुप्रसन्न रहता हुआ (नः अधि ब्रूहि) हमारे प्रति बोल ।

जो शुभ कर्मों और शोभन साधों में निरत रहते हैं, निश्चय ही, उन्हें आनन्दस्वरूप प्रभु की प्रसन्नता तथा सहायता प्राप्त रहती है। उनके अन्तःकरण में, अन्तःप्रेरणा के रूप में, प्रभु सदा बोलता है।

४) (वयम्) हम, मानवता तथा मानवधर्म के प्रसारक हम (स्याम) हों, रहें (सहसा) सहनशीलता से युक्त ।

सहनशीलता ही है जो बड़ी से बड़ी घाटियों, कठिनाइयों, विघ्नबाधाओं और आपत्तियों को समुस्कान पार करा देती है। सहनशक्ति ही है जो साधनों और साथियों के अभाव में भी साधकों को आगे बढ़ाती है। सार्वभौम मानवता अथवा सारी पृथिवी पर मानवधर्म की स्थापना एक महतो महान् साध है। सहनशीलता ही है जो साधकों को अपनी साध में अन्त तक विचलित नहीं होने देती है।

५) (नः स-पत्नान् प्र नुद) हमारे विरोधियों को सुप्रेरणा कर ।

मानवतावादियों की पुनः पुनः प्रभु से यही प्रार्थना है कि वह अपनी अन्तःप्रेरणा द्वारा विरोधियों को ऐसी सुप्रेरणा करे कि वे, साधकों के प्रति विरोध-भावना का त्याग करके, उनकी मानवीय साध में सहायक हों।

जातवेदः !
प्रप्रेर हमारे प्रकट विरोधियों को,
प्रतिप्रेर अप्रकट विरोधियों को ।
बोल हमारे प्रति प्रसन्न रहता हुआ ।
रहें हम सहनशीलता से युक्त ।
प्रप्रेर हमारे विरोधियों को ।

सूक्ति : **अधि नो ब्रूहि सुमनस्यमानः ।**
प्रसन्न होता हुआ हमारे प्रति बोल ।
प्र णुदा नः सपत्नान् ।
सुप्रेरणा कर हमारे विरोधियों को ।

७२२ **षोडशी स्तोम ओजो द्रविणं चतुश्चत्वारिंश स्तोमो वर्चो द्रविणम् ।**
अग्नेः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वे अभि गृणन्तु देवाः ।
स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणा यजस्व । य १५.३
षोडशी स्तोमः ओजः द्रविणम् चतुःचत्वारिंशः स्तोमः वर्चः द्रविणम् ।
अग्नेः पुरीषम् असि अप्सः नाम ताम् त्वा विश्वे अभि गृणन्तु देवाः ।
स्तोम-पृष्ठा घृत-वती इह सीद प्रजा-वत् अस्मे द्रविणा आ यजस्व ।

सार्वभौम मानवता और मानवधर्म के प्रसारक अब मानव और मानवता को सम्बोधन करते हुए कहते हैं—

१) मानव ! तू (असि) है [पृथिवी पर, सृष्टि में] (नाम अप्सः) नमनीय रूप, नमनीय सौन्दर्य, और [मानवतारूपी] (अग्नेः) अग्नि का (पुरीषम्) पूर्ति करनेवाला ।

'अप्सः' रूप नाम (निघण्टु ३.७)। मानव सृष्टि

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

का सौन्दर्य और पृथिवी की शोभा है। इस गौरव-पूर्ण तथ्य को स्मरण रखते हुए प्रत्येक मनुष्य को मानव की सुसेवा और मानवता का समादर करना चाहिए।

मानव ही मानवताग्नि का पूर्तिकर है। प्रत्येक मानव को मानवताग्नि का सतत प्रज्वलन करते रहना चाहिए। मानवताग्नि को कदापि बुझने न देना चाहिए।

वही मानव नमनीय है, और शोभनीय है जो मनुष्यमात्र की आत्मीयता के साथ सुसेवा, और मनुष्यमात्र का समादर करता है, और मानवताग्नि को बुझने नहीं देता है। मानवताग्नि सर्वश्रेष्ठ अग्नि है, यज्ञिय अग्नि है।

२) सार्वभौम मानवधर्म से प्रतिष्ठित मानवते ! तू (षोडशी) षोडशी है, सोलह कलाओं से युक्त है।

मानवता और मानवधर्म की सोलह कलाएं हैं : १) अहिंसा [सहृदयता + न्यायशीलता], २) सत्य, ३) अस्तेय [अचोरी, अनपहरण], ४) ब्रह्मचर्य, [यौनशुचिता, सुदाम्पत्य], ५) अपरिग्रह [अशोषण], ६) शौच [जीवन की पवित्रता और स्वच्छ रहन-सहन], ७) सन्तोष, ८) तप [मनःसंयम], ९) श्रम, १०) स्वाध्याय [सत्साहित्य का अनुशीलन], ११) ईश्वरप्रणिधान [एक सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर की उपासना], १२) सुशिक्षा, १३) सम्पूर्ण पृथिवी के प्रति मातृभूमिवत् भूनिष्ठा, १४) विश्व-कौटुम्ब्य की भावना, १५) सदाचार की प्रतिष्ठा, १६) उदाराशयता।

३) मानवर्ते ! (ताम् त्वा) उस तुझे [पृथिवी पर निवास करनेवाले] (विश्वे देवाः) सब देव, सब देव-देवियां (अभि गृणन्तु) सर्वतः स्तुतें।

मानवता के प्रसाधकों को ऐसी प्रसाधना करनी है कि पृथिवी पर निवास करनेवाली, समस्त मानव-प्रजाएं मानवता के सार्वभौम स्वरूप को समझें, उसे मुक्त कण्ठ से सराहें और उसका साचार मान करें।

४) मानवते ! (स्तोम-पृष्ठा) स्तोम-पृष्ठा, (घृतवती) स्नेहमयी तू (इह) यहां, इस पृथिवी पर, इस भूमण्डल पर (सीद) स्थित हो, स्थित रह।

पृथिवी की पृष्ठ पर जब मानवता की प्रतिष्ठा होती है तब मानवता 'स्तोम-पृष्ठा' कहलाती है। मानवमात्र को मानवप्रेम से स्निग्ध करनेवाली होने से मानवता 'घृतवती' है।

५) मानवते ! सुस्थिर रहती हुई तू (अस्मे) हमारे लिए, पृथिवी पर निवास करनेवाले हम सब मानवों के लिए (प्रजा-वत्) सुसन्तानवत्, सुसन्तानों को जैसे (यजस्व) दे, प्रदान कर (स्तोमः) प्रशस्त यश (ओजः) ओज, (द्रविणम्) बल, (वर्चः) तेज (द्रविणम्) धन, (द्रविणा) द्रविणानि, सर्वैश्वर्य (चतुः-चत्वारिंशः स्तोमः) चवालीसवां स्तोम [संवत्सर]।

द्रविण शब्द के प्रसिद्ध अर्थ हैं बल, धन, ऐश्वर्य (निघण्टु २/९-१०)

जब मानव मानवताग्नि का प्रज्वलन करते हुए पृथिवी पर मानवता को सुस्थित और सुस्थिर रखते हैं तो सारी पृथिवी के मानव परस्पर सहयोग और सहकार के साथ सब काम करते हैं। परिणामस्वरूप, मानवता पृथिवी पर निवास करने वाली सम्पूर्ण मानवप्रजा को सन्तानवत् प्रशस्त यश, बल, तेज—सौन्दर्य, धन और ऐश्वर्यों से निहाल करती है और उनका 'चवालीसवां स्तोम' प्रशस्त रहता है। संवत्सर के बारहों महिने, बारहों के कृष्ण और शुक्ल, दोनों पक्ष, मास के तीसों दिन [१२+२+३०=४४] मिलकर जो चवालीसवां स्तोम बनता है वह स्तुत्य और प्रशस्त रहता है। सभी मानवों का संवत्सररूपी यज्ञ प्रशस्तता और प्रसन्नता के साथ गति करता है।

तू है सौन्दर्य नमनीय और पूरक अग्नि का।
षोडशी तू; उस तुझे स्तुतें सब देव।
स्तोमपृष्ठा, घृतवती तू यहां रह स्थित।
वे प्रजावत् हमारे लिए यश, ओज, बल, सौन्दर्य,
धन, सकलैश्वर्य, चवालीसवां स्तोम।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

७२३ एवश्छन्दो वरिवश्छन्दः शम्भूश्छन्दः परिभूश्छन्द आच्छच्छन्दो मनश्छन्दो व्यच-श्छन्दः सिन्धुश्छन्दः समुद्रश्छन्दः सरिरं छन्दः ककुप् छन्दस्त्रिककुप् छन्दः काव्यं छन्दो अड्कुपं छन्दो ऽक्षरपङ्क्तिश्छन्दः पदपङ्क्तिश्छन्दो विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः क्षुरो भ्रजश्छन्दः ।

य १५.४

एवः छन्दः वरिवः छन्दः शम्-भूः छन्दः परि-भूः छन्दः आ-छत् छन्दः मनः छन्दः वि-अचः छन्दः सिन्धुः छन्दः समुद्रः छन्दः सरिरम् छन्दः ककुप् छन्दः त्रि-ककुप् छन्दः काव्यम् छन्दः अड्कु-पम् छन्दः अ-क्षर-पङ्क्तिः छन्दः पद-पङ्क्तिः छन्दः वि-स्तार-पङ्क्तिः छन्दः क्षुरः भ्रजः छन्दः ।

पूर्व-मन्त्र में जिस सुन्दर मानवता का सुचित्रण किया गया है उसका उद्देश्य, प्रयोजन और सुफल क्या है, यह इस और अगले मन्त्र में बताया गया है।

'छन्द' शब्द प्रसंगार्थवाची है। इस शब्द के अर्थ में बहुत छन्दता/स्वतन्त्रता है।

१) (एवः छन्दः) ज्ञान रक्षक हो।

मानव मानव में जब मानवता का ज्ञान जागरित रहता है तो मानवधर्म की रक्षा होती है।

२) (वरिवः छन्दः) सम्मान रक्षक हो।

'वरिवस्' नाम पूजन, सत्कार, सम्मान का है। सब मानव, देश, राष्ट्र जब परस्पर, एक दूसरे का सम्मान करते हैं तो सार्वभौम मानवता अथवा मानवधर्म की रक्षा होती है।

३) (शम्-भूः छन्दः) शम्-भवन रक्षक हो।

'शम्-भूः' अथवा शम्-भवन नाम उत्तेजना-रहित स्थिति का है। पृथिवी पर सर्व जन और सर्व राष्ट्र जब उत्तेजनारहित होकर परस्पर वर्तते-वर्तति हैं तो मानवधर्म अक्षुण्ण रहता है और सार्वभौम मानवता फूलती, फलती और लहलहाती है।

४) (परि-भूः छन्दः) परि-भवन उद्देश्य हो।

परितः, सब ओर दृष्टि रखकर, सबकी हितभावना से सब काम करना 'परिभूः' अथवा परिभवन कहलाता है। ऐसा करने से मानवमात्र का हित सम्पादन होता है और मानवों में पारस्परिक सौहार्द की वृद्धि होती है। मानव मानव की हितकामना करे, मानव मानव की सेवा करे, यही मानवधर्म का उद्देश्य है।

५) (आ-छत् छन्दः) दोषापहरण सुखकर हो, दोषों का निवारण आनन्दप्रद हो।

मानवों में जो अमानवीय दोष हैं उनका निवारण मानवजाति के लिए अतिशय सुखकर होता है और मानवधर्म की रक्षा करता है।

६) (मनः छन्दः) मन सुसंकल्पमय हो।

मानव मानव का मन जब मानव मानव के प्रति सुसंकल्पयुक्त होता है तो मानवजाति का सर्वोदय और सर्वमंगल होता है।

७) (वि-अचः छन्दः) व्याप्ति प्रहर्षप्रद हो।

मानवता ही मानव का धर्म है। इस भावना की व्याप्ति से प्रदेशीय विभाजन, और वर्गवादजन्य विलगता का नाश होकर मानवजाति सदा प्रहृष्ट रहती है।

८) (सिन्धुः छन्दः) महानद [सततप्रवाह] आनन्द-प्रद है।

महानदी का प्रवाह जिस प्रकार सतत प्रवाहित रहता है उसी प्रकार मानवता का प्रवाह सदा सुप्रवाहित रहे।

९) (समुद्रः छन्दः) समुद्र प्रहर्षक हो।

समुद्र में जिस प्रकार तरंगें तरंगित होती हैं

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

और समुद्र जिस प्रकार गहन और गम्भीर होता है उसी प्रकार मानवसमाज में मानवता की उत्ताल तरंगें तरंगित होती रहें और मानवों के मानस गहन और गम्भीर बने रहें।

१०) (सरिरम् छन्दः) जल आनन्दप्रद हो।

जल जिस प्रकार तृषा को शान्त, और भूमि को हरा-भरा करके सुख, शान्ति और सम्पदा की वृद्धि करता है उसी प्रकार मानवता का शीतल, शान्त नीर मानवजाति को हरा-भरा करके सब प्रकार का सुख, शान्ति और समृद्धि का सम्पादन करता है।

११) (ककुप् छन्दः) दिशा स्वतन्त्र [निर्बाध] हो।

प्रत्येक दिशा सबके लिए समान रूप से, निर्बाध खुली है। किसी भी दिशा में किसी के लिए कोई बाधा नहीं है। उसी प्रकार पृथिवी पर निवास करनेवाली सम्पूर्ण मानवप्रजा एक अभिन्न परिवार के रूप में रहती हुई मानवधर्म का पालन करती है तो सर्व मानव प्रत्येक दिशा में निर्बाध विचरते और निवास करते हैं, किसी भी देश के मानव किसी भी देश में निर्भय होकर व्यापार, व्यवसाय और विहार करते हैं।

१२) (त्रि-ककुप् छन्दः) त्रि-सुख अभीष्ट हो।

पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय, तीनों सुख मानवधर्म की देनें हैं। मानवता के अतिरिक्त मानव का अन्य कोई धर्म नहीं है, यह भावना जब सम्पूर्ण मानवप्रजा में व्यापी रहती है तो, निश्चय ही, सारी पृथिवी पर उपर्युक्त तीनों सुख आप्लावित रहते हैं।

१३) (काव्यम् छन्दः) काव्य क्रान्त हो।

वेदकाव्य ही वह क्रान्त काव्य है जिसकी दिव्य शिक्षाओं के व्यापक प्रचलन से मानवधर्म की संव्याप्ति, तथा सार्वभौम मानवता की संस्थिति सिद्ध होती है। इसी लिए वेद की संज्ञा मानवधर्म-शास्त्र है, इसी लिए वेद को जीवन-ग्रन्थ कहा जाता है।

१४) (अङ्कु-पम् छन्दः) अंकुप रक्षाकारी है।

अंकु नाम टेढ़ी चाल अथवा कुटिल गति का है। जो अंकु से रक्षा करे वह अंकुप है। सार्वभौम मानवता अथवा मानवधर्म द्वारा मानवजाति की कुटिल गति अथवा पशुता से रक्षा होती है।

१५) (अक्षर-पङ्क्तिः छन्दः) अक्षर-पंक्ति अभीष्ट है।

'अक्षर-पंक्ति' नाम परलोक-बटिया का है। मानवधर्म न केवल इस लोक को, अपि च परलोक को भी सफल बनाता है। मानवधर्म वह परम धर्म है जिसके द्वारा उभय लोकों की सिद्धि होती है। मानवधर्म से देहलोक में सुख, और आत्मलोक में आनन्द की प्राप्ति होती है।

१६) (पद-पङ्क्ति छन्दः) पद-पंक्ति प्रशस्त हो।

'पद-पंक्ति' नाम इस लोक के पथ का है। इस लोक की साधना का पथ प्रशस्त होने पर ही परलोक का पथ प्रशस्त होता है। मानवधर्म ही इस लोक की साधना का पथ प्रशस्त करता है।

१७) (वि-स्तार-पङ्क्तिः छन्दः) विस्तार-पंक्ति लक्ष्य हो।

'विस्तार-पंक्ति' नाम व्याप्ति के पथ का है। संकोच नहीं, व्याप्ति मानवधर्म का लक्ष्य है। विचार और भावनाओं का संकोच जितना बाधक है, उनका विस्तार उतना ही साधक है। संकोच मानवजाति को दुर्गन्धित और कुण्ठित करदेता है। विस्तार, व्याप्ति मानवजाति को सुगन्धित और उदार बनाती है। मानवधर्म का लक्ष्य मानवजाति को व्यापक और उदार बनाना है।

१८) (क्षुरः भ्रजः छन्दः) छेदक दीप्ति प्रकाशक हो।

सूर्यकिरण का नाम 'क्षुर भ्रज' है। सूर्य की किरणें क्षुरा के समान अन्धकार का छेदन करके प्रकाश फैलाती हैं। उसी प्रकार मानवधर्म का प्रकाश वह छेदक प्रकाश है जो पशुता और पाशविकता का छेदन करके मानवता का प्रकाश करता है।

ज्ञान हो रक्षक, सम्मान हो रक्षक।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शम्भवन हो रक्षक, उद्देश्य परिभवन ।
दोषनिवारण आनन्दकर हो, मन सुसंकल्पमय ।
व्याप्ति हर्षप्रद आनन्दप्रद सततप्रवाह ।
तरंगप्रवाह हो आनन्दप्रद, जल शान्तिप्रद ।

दिशा निर्बाध, त्रि-सुख अभीष्ट ।
काव्य क्रान्त, अंकुप संरक्षाकर ।
हो अभीष्ट परलोक-साधना, लोक-साधना हो प्रशस्त ।
लक्ष्य व्याप्ति-पथ, प्रकाशक हो छेदक दीप्ति ।

७२४ आच्छच्छन्दः प्रच्छच्छन्दः संयच्छन्दो वियच्छन्दो बृहच्छन्दो रथन्तरञ्छन्दो निकायश्छन्दो विवधश्छन्दो गिरश्छन्दो भ्रजश्छन्दः संस्तुप् छन्दो ऽनुष्टुप् छन्द एवश्छन्दो वरिवश्छन्दो वयश्छन्दो वयस्कृच्छन्दो विष्पर्धाश्छन्दो विशालं छन्दश्छदिश्छन्दो दूरोहणं छन्दस्तन्द्रं छन्दो अङ्काङ्कं छन्दः । य १५.५

आ-छत् छन्दः प्र-छत् छन्दः सम्-यत् छन्दः वि-यत् छन्दः बृहत् छन्दः रथम्-तरम् छन्दः नि-कायः छन्दः वि-वधः छन्दः गिरः छन्दः भ्रजः छन्दः सम्-स्तुप् छन्दः अनु-स्तुप् छन्दः एवः छन्दः वरिवः छन्दः वयः छन्दः वयः-कृत् छन्दः वि-स्पर्धाः छन्दः वि-शालम् छन्दः छदिः छन्दः दुःरोहणम् छन्दः तन्द्रम् छन्दः अङ्क-अङ्कम् छन्दः ।

१) (आ-छत् छन्दः) दुरित-निवारण सुखप्रद ।

मानवों में जो अनेक प्रकार की बुराइयां घर कर जाती हैं उनके निराकरण से मानवता की रक्षा होती है और मानवजाति में सुख का संचरण होता है ।

२) (प्र-छत् छन्दः) [दुष्ट स्वभाव का] दूरीकरण हार्दकर ।

स्वभावदोषों के निवारण से मानवों में पारस्परिक सौहार्द की स्थापना होती है । सार्वभौम सौहार्द ही है जिसपर सार्वभौम मानवता और मानवधर्म स्थित रहते हैं ।

३) (सम्-यत् छन्दः) संयम क्षेमकर ।

संयम के आश्रय से मानवजाति में मर्यादा-पालन तथा अनुशासनपालन होता है । उससे समग्र मानवजाति का योगक्षेम सिद्ध होकर धर्म का पालन होता है ।

४) (वि-यत् छन्दः) वि-यत्न समृद्धिकर ।

विविध प्रकार से विविध प्रकार के यत्न, यत्न, प्रयास, पुरुषार्थ करने से सर्वमानवों की समृद्धि सिद्ध होती है । उससे सार्वभौम मानवता तथा मानवधर्म का सम्यक् विस्तार होता है ।

५) (बृहत् छन्दः) बाहुल्य सन्तोषकर ।

'बृहत्' शब्द का प्रयोग यहां सुपर्याप्त और बहुतायत के लिए हुआ है । मानवसमाज के प्रत्येक पार्श्व में प्रचुर वर्धन होता है तो मानवप्रजा में छीना-झपटी तथा स्वार्थपरता नहीं होती है, अपि तु सन्तोष का वातावरण होता है और मानवता की रक्षा होती है ।

६) (रथम्-तरम् छन्दः) रथम्-तर आनन्दकर ।

रमणीयता के साथ तारनेवाले गमनसाधन का नाम रथन्तर है । कर्तव्यनिष्ठा ही सब कष्टों से तारनेवाला, रमणीय साधन है । पृथिवी पर निवास करनेवाली, सम्पूर्ण मानवप्रजा कर्तव्यनिष्ठ बनी रहती है तो वह कर्तव्य का तत्परता के साथ पालन करती है । वैसा होने पर सब मानव सुखी और आनन्दित रहते हैं । यही मानवधर्म का सुफल है ।

७) (नि-कायः छन्दः) सामूहिकता सुविधाजनक ।

'निकाय' शब्द का प्रयोग यहां 'सामूहिक सहकारिता' अर्थ में हुआ है । देश-प्रदेशों के मानव-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

समूहों में जब सहकारिता की भावना भावित होती है तो असुविधाओं का निराकरण और सुविधाओं का आकरण होता है।

८) (वि-वधः छन्दः) अहिंसा अभयकर।

वि=विगत, निराकृत। वध=हनन, हिंसा। मानवसमाज में से जब हिंसा निकल जाती है तब सर्वत्र अहिंसक समाज की रचना होती है। अहिंसाशील समाज में सब निर्भय होकर विचरते और निश्चिन्त होकर अपना अपना काम करते हैं।

९) (गिरः छन्दः) गिर विवेककर।

जिस धातु से 'गिरः' शब्द बना है वह धातु है 'गृ', जिसका अर्थ है निगलना और उपदेश करना। ज्ञान का अन्तःकरण में संचार अथवा आधान करना ही 'निगलना' है। निगले हुए ज्ञान का मानवों के हित के लिए प्रसार करना उपदेश कहलाता है। मानवधर्म के प्रस्थापक और प्रचारक उत्तम ज्ञान का संचय करें और लोकहिताय सर्व जनों को ज्ञानोपदेश करें। ऐसा करने से मानव विवेकशील बनते हैं और धर्मपथ पर चलते हैं।

१०) (भ्रजः छन्दः) भ्रज आनन्दकर।

'भ्रज' शब्द तीव्र ऊष्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। मानव मानव के मानस में जब मानवमात्र के लिए प्रेम की तीक्ष्ण ऊष्मा तपती है तब मानव मानवता के रिश्ते में बद्ध होकर हर मानव को आत्मबन्धु समझता है, तब मानवसेवा की साध प्रशस्त होती है और मानवमण्डल में आनन्द की तरंगें तरंगित होरही होती हैं।

११) (सम्-स्तुप् छन्दः) संस्तवन प्रीतिकर।

देश-प्रदेश की प्रजा जब पारस्परिक घृणा और निन्दा से मुक्त होकर, एक दूसरे को समझने का प्रयत्न करते हुए, एक दूसरे की अच्छाइयों की सम्यक् सराहना करते हैं तो विश्वप्रेम की स्थापना होती है। विश्वप्रेम में ही मानवता फूलती, फलती और लहलहाती है।

१२) (अनु-स्तुप छन्दः) अनुस्तवन मिलापकारी।

एक दूसरे की प्रशंसनीय बातों की प्रशं करने से सर्वमानवों में मेल-मिलाप का वर्धन है। दोषदर्शन से नहीं, गुणदर्शन से ही मानवी मानवीय गुणों की स्थापना होती है।

१३) (एवः छन्दः) प्राप्ति विकासकर।

देश-प्रदेश जब एक दूसरे से ज्ञान, विज्ञा संज्ञान और विद्या प्राप्त करता है तो सभी मान का संविकास होता है।

१४) (वरिवः छन्दः) वरिवस् शान्तिकर।

वरिवस् नाम सम्मान तथा पूजन का है। राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का सम्मान करता है, और प्र राष्ट्र के पूजनीय व्यक्तियों का प्रत्येक राष्ट्र सम्मान होता है तो सारी पृथिवी पर शान्ति र है। पारस्परिक सम्मान तथा पूजन मानवता शोभा है।

१५) (वयः छन्दः) वयस् रक्षणीय।

वयस् नाम आयु, अवस्था और जीवन है। पृथिवी पर निवास करनेवाले सभी मा स्वस्थ और नीरोग रहें, ऐसी अन्तरराष्ट्री व्यवस्था करने से मानवजीवन की प्रतिष्ठा रक्षा होती है।

१६) (वयः-कृत् छन्दः) जीवन-निर्माण निर्म कर।

जीवननिर्माण सब निर्माणों का मूल है मानवजीवन का निर्माण निर्बाध गति से होता रहना चाहिए।

१७) (वि-स्पर्धाः छन्दः) वि-स्पर्धा वैभवकर।

सभी राष्ट्रों में उत्पादन, निर्माण, विक उन्नति की विशेष होड़ लगी रहने पर वि वैभवों तथा विभूतियों का वर्धन होता है मानवप्रजा सुसम्पन्न रहती है।

१८) (वि-शालम् छन्दः) विशाल उन्नतिकर।

आगे बढ़ने और उन्नति करने के लिए स विशाल, खुला क्षेत्र होने पर सबकी सब प्र उन्नति होती है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१९) (छदिः छन्दः) छत सुखावह।

छदि नाम छत, छाया और विघ्नापवारण का । 'छदि' शब्द का प्रयोग यहां छत अथवा आवास के लिए हुआ है। प्रत्येक देश में प्रत्येक परिवार के लिए एक सुखकर मकान की व्यवस्था होनी चाहिए। मानव रैन-बसेरों में और सड़कों पर निवास करें, यह मानवता का अपमान है।

२०) (दुः-रोहणम् छन्दः) दुः-रोहण आत्म-विश्वासकर।

'दुः-रोहण' शब्द से तात्पर्य कठिनाइयों को पार करने की भावना तथा क्षमता से है। मानव-जाओं में कठिनाइयों को पार करने की भावना तथा क्षमता का सम्पादन करने से सर्वांगीण विकास का मार्ग प्रशस्त होता है।

२१) (तन्द्रम् छन्दः) कुटुम्बतन्त्र सौहार्दप्रद।

कुटुम्बतन्त्र अथवा परिवारपद्धति के प्रचलन मानवों में सुख, सुविधा और सौहार्द की वृद्धि होती है।

२२) (अङ्क-अङ्कम् छन्दः) अंकांक अर्थसाधक।

एक से दस तक के अंक और उनके आश्रय से जोड़, बाक़ी, गुणा, भाग, आदि गणित-विस्तार वाला अंकांक-विद्या है। इस विद्या के आश्रय से व्यक्तियों, परिवारों, समाजों और राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था की जाती है। अर्थव्यवस्था से आर्थिक उन्नति होती है। आर्थिक उन्नति से ग़रीबी और बेरोज़गारी का निराकरण होता है। व्यापार-व्यवसाय भी अंकांक विद्या पर निर्भर होता है।

दुरितनिवारण सुखप्रद,
दुष्टस्वभावत्याग सौहार्दप्रद,
संयम क्षेमकर,
वियत्न समृद्धिकर,
बाहुल्य सन्तोषकर।
रथन्तर आनन्दप्रद,
सामूहिकता सुविधाकर,
अहिंसा अभयकर,
गिर विवेककर,
तीव्रोष्मा अत्यानन्दकर,
संस्तवन प्रीतिकर,
अनुस्तवन मिलापकर।
प्राप्ति विकासकर,
मान शान्तिकर,
जीवन रक्षणीय,
जीवननिर्माण निर्माणकर,
विस्पर्धा वैभवकर,
विशाल उन्नतिकर,
छत सुखावह,
दुः-रोहण आत्मविश्वासकर,
कुटुम्बतन्त्र सौहार्दप्रद,
अंकांक अर्थसुसाधक।

७२५ रश्मिना सत्याय सत्यं जिन्व प्रेतिना धर्मणा धर्मं जिन्वान्वित्या दिवा दिवं जिन्व सन्धिनान्तरिक्षेणान्तरिक्षं जिन्व प्रतिधिना पृथिव्या पृथिवीं जिन्व विष्टम्भेन वृष्ट्या वृष्टिं जिन्व प्रवयाह्नाहर्जिन्वानुया रात्र्या रात्रीं जिन्वोशिजा वसुभ्यो वसून्जिन्व प्रकेतेनादित्येभ्य आदित्याञ्जिन्व। य १५.६

रश्मिना सत्याय सत्यम् जिन्व प्र-इतिना धर्मणा धर्मम् जिन्व अनु-इत्या दिवा दिवम् जिन्व सम्-धिना अन्तरिक्षेण अन्तरिक्षम् जिन्व प्रति-धिना पृथिव्या पृथिवीम् जिन्व वि-स्तम्भेन वृष्ट्या वृष्टिम् जिन्व प्र-वया अह्ना अहः जिन्व अनु-या रात्र्या रात्रीम् जिन्व उशिजा वसु-भ्यः वसून् जिन्व प्र-केतेन आदित्येभ्यः आदित्यान् जिन्व।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मानवता के प्रत्येक उन्नायक, और मानवधर्म के प्रत्येक प्रस्थापक तथा प्रचारक को उत्प्रेरित करती हुई वेदमाता कहती है—

१) (सत्याय) सत्य के लिए (रश्मिना) ज्ञानकिरण द्वारा (सत्यम् जिन्व) सत्य को प्रेर/व्याप ।

असत्य मानवजाति में छल-कपट की वृद्धि करता है, जिसका परिणाम होता है अविश्वास और पतन । ज्ञानकिरण अथवा ज्ञानप्रकाश के साथ सत्य की व्याप्ति से सार्वभौम विश्वास की स्थापना होती है और मानवजाति का उत्थान होता है । अतः नायकों का कर्तव्य है कि वे पृथिवी पर सत्य की संव्याप्ति में सतत यत्नशील रहें ।

२) (प्र-इतिना धर्मणा धर्मम् जिन्व) साचार धर्म से धर्म को व्याप ।

'धर्म' शब्द का प्रयोग यहां मानवता अथवा मानवधर्म के लिए हुआ है । मानव का धर्म मानवता अथवा मानवधर्म के अतिरिक्त अन्य कुछ हो ही नहीं सकता । वेद का भी मुख्य नाम मानव-धर्म-शास्त्र है । उसके अन्य सब नाम गौण और गुणवाचक हैं । वेदरूपी मानवधर्म-शास्त्र के साचार प्रचार से, निश्चय ही, विश्व में मानवता अथवा मानवधर्म की व्याप्ति और विश्वकौटुम्ब्य की स्थापना होगी । प्रत्येक मानवताभिमानी पूर्ण पुरुषार्थ के साथ, धर्मभावना से मानवधर्म का साचार प्रचार-प्रसार करे, साम्प्रदायिकता का नहीं, मानवतायुक्त मानवधर्म का प्रचार करे ।

३) (अनु-इत्या दिवा) अनु-गमनीय प्रकाश से (दिवम् जिन्व) प्रकाश को व्याप ।

'अनु-इत्या' शब्द में वंशानुवंश अनुकरण का भाव अन्तर्निहित है ।

विवेक ही वह अनुगमनीय प्रकाश है जो मानवप्रजाओं की, वंशानुवंश, अमानवीयता से रक्षा करता है । मानवता ही मानवसन्तति का शाश्वत धर्म है, मानवधर्म ही मानवजाति का कर्म है, यह विवेक मानवों द्वारा अनुगमनीय तथा अनुकरणीय प्रकाश है । इस प्रकाश की व्याप्ति ही मानवप्रजा उद्बुद्ध और संशुद्ध रह पाती है ।

४) (सम्-धिना अन्तरिक्षेण) समाहित अन्तः-क से (अन्तरिक्षम् जिन्व) अन्तरिक्ष को व्याप ।

प्रथम 'अन्तरिक्ष' शब्द का प्रयोग अन्तः-क के लिए हुआ है और दूसरे 'अन्तरिक्ष' शब्द विश्व के वातावरण के लिए । अन्तःकरण अन्तःकरण को प्रेरा और व्यापा जाता है । म मानव अपने अन्तःकरण से विश्व के मानव अन्तःकरण में मानवता की प्रतिष्ठा और मा धर्म की गुरुता की स्थापना करे तो पृथिवी पर मानवीय स्वर्ग का संसर्जन होजाए जिसके मानवता का आत्मा सदा छटपटाता रहता है ।

५) (प्रति-धिना पृथिव्या) प्रति-स्थित पृथिवी (पृथिवीम् जिन्व) पृथिवी को प्रेर ।

जिस प्रकार पृथिवी सूर्याभिमुख रहती सूर्य के प्रति सतत संस्थित रहती है उसी प्र मानवता का प्रत्येक मानी सदा मानवताभि रहता हुआ पृथिवी के सकल मानवों में मान की स्थापना करता रहे ।

६) (वि-स्तम्भेन वृष्ट्या वृष्टिम् जिन्व) वि-स्त वृष्टि से वृष्टि को प्रेर ।

'विस्तम्भ' शब्द का प्रयोग यहां 'उत्तेजना भावों के अभाव' अर्थ में हुआ है । मानव प्रत्येक सम्पोषक को चाहिए कि वह उत्तेज रहित होकर मानवधर्म की वृष्टि द्वारा मान की सुवृष्टि करे । बादल जब गतिरहित हो बरसते हैं तो प्रचुर वृष्टि होती है । उसी प्र मानवधर्म के प्रचारक जब विस्तम्भित [नि शान्त] होकर मानवता की भावनाओं की करते हैं तो विश्व के मानवों में मानवता के और संस्कार समंकित रहते हैं ।

७) (प्र-वया अह्ना अहः जिन्व) सु-कान्त दि दिन को प्रेर ।

'अह' शब्द का जन्म 'अह्' धातु से हुआ

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जिसका अर्थ है व्यापना। दिन दिन करके काल [समय] की व्याप्ति होती है। दिन का जितना भाग सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित रहता है वह कान्त दिन कहलाता है, जितना तम-अच्छादित रहता है वह रात्रि कहलाता है। विकास, प्रसार, व्याप्ति का जितना कार्य है वह सब कान्त दिन में ही होता है, रात्रि में नहीं। मानवता का प्रत्येक साधक कान्त दिन में कान्त दिन की तरह दिन दिन सर्व मानवों में मानवधर्म की सुप्रेरणाएं करता रहे ताकि मानवों के दिन कान्त पुरुषार्थ से प्रकान्त रहें।

८) (अनु-या रात्र्या रात्रीम् जिन्व) अनु-संयत रात्रि से रात्रि को प्रेर।

इस सूक्ति में एक अतिशय गहन भावना और साधना अन्तर्निहित है। दिनों का कान्तीकरण और दिनों में कान्त पुरुषार्थ तभी होता है जब मानवों की रात्रियां अनु-संयत होती हैं। मानवधर्म के प्रत्येक प्रसारक को यह स्मरण रखना चाहिए कि जब तक मानवों की रात्रियां संयम और साधना की रात्रियां नहीं बनती हैं तब तक मानव मनुष्यरूप में पशु के समान वर्तते हैं, और उनके दिन कान्त दिन न होकर भ्रष्ट दिन होते हैं। मानवता के प्रसाधक मानवों की रात्रियों की एक एक रात्रि को संयत और संशुद्ध करते चले जाएं।

९) (वसु-भ्यः) ऐश्वर्यों के लिए (उशिजा) कमनीयता के साथ, सप्रेम (वसून् जिन्व) ऐश्वर्यों को प्रेर।

'वसु' शब्द का प्रयोग उन सब आवश्यक वस्तुओं के लिए होता है, मानवजीवन के लिए जिनकी अनिवार्यता है। रुपया, पैसा, अन्न, जल, आवास, वस्त्र, आदि, सब वसु हैं। वसुओं का अभाव अनाचार का कारण बन जाता है। मानवताप्रेमियों को ऐसी अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्था करनी चाहिए कि सभी देश-प्रदेशों में सभी मानवों को जीवननिर्वाह की सकल सम्पदाएं सुलभ रहें।

१०) (आदित्येभ्यः) मासों के लिए (प्र-केतेन) समझदारी के साथ, सतर्कतापूर्वक (आदित्यान् जिन्व) मासों को प्रेर।

'आदित्य' शब्द के अनेक अर्थों में से एक अर्थ मास [महिना] भी है। केत नाम ज्ञान का है।

मास मास और ऋतु ऋतु की सम्पदाएं भिन्न भिन्न होती हैं। मानवताप्रेमी ऐसी सुव्यवस्था करें कि सर्व मानवों को बारहों महिने ऋत्वनुसार जीवननिर्वाह के सर्व साधन सम्यक् उपलब्ध रहें।

सत्य के लिए ज्ञानप्रकाश द्वारा
सत्य को प्रेर।
साचार धर्म से धर्म को व्याप।
अनुगमनीय प्रकाश से प्रकाश को व्याप।
समाहित अन्तःकरण से
अन्तरिक्ष को व्याप।
प्रस्थित पृथिवी से पृथिवी को प्रेर।
विस्तम्भित वृष्टि से वृष्टि को प्रेर।
सुकान्त दिन से दिन को प्रेर।
अनुसंयत रात्रि से रात्रि को प्रेर।
ऐश्वर्यों के लिए सप्रेम वसुओं को प्रेर।
मासों के लिए सतर्कतापूर्वक
मासों को प्रेर।

सूक्ति : प्रेतिना धर्मणा धर्म जिन्व।
साचार धर्म से धर्म को प्रेर।

७२६ **तन्तुना रायस्पोषेण रायस्पोषं जिन्व संसर्पेण श्रुताय श्रुतं जिन्वैडेनौषधीभिरोषधीर्जिन्वोत्तमेन तनूभिस्तनूर्जिन्व वयोधसाधीतेनाधीतं जिन्वाभिजिता तेजसा तेजो जिन्व।** य १५.७

तन्तुना रायः पोषेण रायः पोषम् जिन्व सम्-सर्पेण श्रुताय श्रुतम् जिन्व ऐडेन ओषधीभिः

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ओषधीः जिन्व उत्-तमेन तनूभिः तनूः जिन्व वयःधसा आ-धीतेन आ-धीतम् जिन्व अभि-जिता तेजसा तेजः जिन्व ।

१) (तन्तुना) तन्तु के साथ (रायः पोषेण) आत्मैश्वर्य के पोष से (रायः पोषम्) आत्मैश्वर्य के पोष को (जिन्व) प्रेर ।

तन्तु नाम ताने-बाने के विस्तार का है । यहां इस शब्द का प्रयोग सन्ततिविस्तार अथवा वंश-परम्परा के लिए हुआ है । मानवता के प्रत्येक साधक का यह प्रयास होना चाहिए कि वह वंशानुवंश, वंशपरम्परया, परिवार परिवार में आध्यात्मिक जीवनशैली का प्रचलन करके आत्मिक सम्पदा का पोषण करे । आध्यात्मिक सम्पदा के अभाव में भौतिक सम्पदा मानवता के लिए अभिशाप सिद्ध होती है ।

२) (सम्-सर्पेण) सम्यक् भ्रमण द्वारा (श्रुताय) श्रवणार्थ (श्रुतम् जिन्व) श्रवण को व्याप ।

मानवता का प्रत्येक प्रचारक स्थान स्थान पर जाकर जब आध्यात्मिक जीवनशैली का साचार प्रचार करता है तो मानव चाव से सुनते हैं और अधिकाधिक सुनना चाहते हैं । अतः ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि मानवधर्म का उपदेश सुनानेवाले, सतत भ्रमण करते हुए, एक के बाद दूसरे सर्वत्र पहुंचते रहें और लोगों को सदुपदेश सुनाते रहें ।

३) (ऐडेन) प्रशस्ति द्वारा, प्रशंसात्मक विधि से (ओषधीभिः ओषधीः जिन्व) ओषधियों से ओषधियों को प्रेर, दोषनिवारक साधनों से दोषनिवारक विधियों को प्रेर ।

ओषधिर्वै दोषधिर्भवति । हर वह वस्तु वा साधन जिससे दोषों का निवारण होता है ओषधि है । मानवों में जब व्यसन, विलास, आदि दोषों का प्रवेश होने लगे तो मानवधर्म के प्रसाधक कटाक्षात्मक विधि से नहीं, उत्साहवर्धक प्रशस्तियों द्वारा मानवों में दोषत्याग की प्रेरणा करके उनके जीवनों को शोधते रहें । ऐसा करते रहने से, मानवों में दानवता नहीं व्यापती है । मानव मानव में जो गुण हैं उनकी सराहना करते हुए दोषों को छुड़ाने का प्रयास ही प्रशस्त प्रयास है ।

४) (उत्-तमेन) उत्तमता के साथ (तनूभिः तनूः जिन्व) जीवनों से जीवनों को प्रेर ।

मानवता की दृष्टि से जिनके जीवन आदर्शरूप हैं उनके जीवनों के आदर्शों के प्रति मानवों का ध्यान आकृष्ट करते रहने से मानवजीवनों में उच्च कोटि की मानवता के सुसंस्कार समंकित होते रहते हैं ।

५) (वयः-धसा) जीवन-धारण [सजीवता] के साथ (आ-धीतेन आ-धीतम् जिन्व) सम्यक् अध्ययन किए हुए से सम्यक् अध्ययन किए हुए को प्रेर ।

मानवधर्म-प्रवर्तक सद्ग्रन्थों के पारायण से नहीं सम्यक् अध्ययन से मानवजीवनों में सजीवता का संचार होता है । उनका अध्ययन करनेवाले स्वयं उनका अध्ययन करें, और सब मानवों को उसके अध्ययन की प्रेरणा करें । अध्ययन से और अध्ययन की प्रेरणा से मानवों में स्वाध्याय की प्रवृत्ति व्यापते रहने से मानवों में मानवता और मानवधर्म की भावना भावित रहती है ।

६) (अभि-जिता तेजसा तेजः जिन्व) सर्वतः विजय प्राप्त करानेवाले तेज से तेज प्रेर ।

मानवों में जितना जितना तेज होता है उतनी ही विजय अथवा सफलता प्राप्त होती है । निस्सन्देह, तेजस्विता विजय प्राप्त कराती है और निस्तेजता पराजय का मुंह दिखाती है । मानवधर्म के तेजस्वी प्रसाधक अपने आत्मतेज के द्वारा मानवों में मानवधर्म के तेज का संचार करते रहें ।

प्रेर आत्मैश्वर्य के पोष को
आत्मैश्वर्य के पोष से
तन्तु द्वारा ।
व्याप श्रुत को श्रुत के लिए

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परिभ्रमण से ।
ओषधियों से ओषधियों को
प्रेर प्रशस्ति द्वारा ।
प्रेर जीवनों से जीवनों को
उत्तमतया ।
प्रेर आधीत से आधीत को
सजीवता के साथ ।
अभिजित् तेज से प्रेर तेज को ।

७२७ **प्रतिपदसि प्रतिपदे त्वानुपदस्यनुपदे त्वा सम्पदसि सम्पदे त्वा तेजो ऽसि तेजसे त्वा ।**

य १५.८

प्रति-पत् असि प्रति-पदे त्वा अनु-पत् असि अनु-पदे त्वा सम्-पत् असि सम्-पदे त्वा तेजः असि तेजसे त्वा ।

१) तू (प्रति-पत् असि) प्रति-पत् है; (त्वा प्रति-पदे) तुझे प्रतिपत् के लिए [साधरत रहना है] ।

मानवता के प्रस्थापक और मानवधर्म के प्रचारक के लिए यह एक उत्कट प्रेरणा है । प्रतिपत् नाम बुद्धि, मार्ग और द्वार का है । प्रतिपत् बनकर मानवता के साधक को जहां प्रत्येक मार्ग पर चलते हुए मानवता और मानवधर्म का सन्देश देते रहना वहां उसे द्वार द्वार पर सहयोग और सहायता के लिए अलख भी जगाते रहना है । और यह सब बुद्धिपूर्वक, बहुत सावधानी के साथ किया जाना है ।

२) तू (अनु-पत् असि) अनु-पत् है; (त्वा अनु-पदे) तुझे अनु-पत् के लिए [साधरत रहना है] ।

'अनुपत्' का अर्थ है निरन्तर गमन करते रहनेवाला, पद पद का अर्थ करनेवाला, वेदमन्त्रों में युक्त एक एक पद की सुनिश्चित और सुसंगत व्याख्या करनेवाला । मानवता के प्रस्थापक और मानवधर्म के प्रचारक का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह देश-देश में निरन्तर गमन-भ्रमण करता हुआ, वेदमन्त्रों के पद पद की सरल, सुबोध व्याख्या करता हुआ, दिक् शिक्षाओं का प्रचार-प्रसार करता रहे । वेद मानवधर्म-शास्त्र है । वेद जीवनग्रन्थ है । वेद के पढ़ने-पढ़ाने और सुनने-सुनाने से मानवों में मानवता तथा मानवधर्म के सुसंस्कार समंकित होते रहते हैं ।

२) तू (सम्-पत् असि) सम्-पत् है; (त्वा सम्-पदे) तुझे सम्पत् के लिए [साधनारत रहना है] ।

'सम्पत्' शब्द का प्रयोग यहां 'सद्गुणों की वृद्धि' अर्थ में हुआ है । मानवता का प्रस्थापक और मानवधर्म का प्रचारक जहां स्वयं अपने जीवन में मानवीय सद्गुणों की वृद्धि करनेवाला हो वहां वह सर्वत्र सर्व मानवों में मानवीय सद्गुणों की वृद्धि करने का सतत प्रयास करता रहे ।

४) तू (तेजः असि) तेज है; (त्वा तेजसे) तुझे तेज के लिए [साधनारत रहना है] ।

मानवता के प्रस्थापक और मानवधर्म के प्रचारक को जहां स्वयं मानवीय तेज से ओत-प्रोत रहना है वहां उसे सभी मानवों में मानवीय तेज का संचार करते रहना है । तेज की वृद्धि से ओज की वृद्धि होती है । ओज की वृद्धि से उमंग और उत्साह का वर्धन होता है । उमंग और उत्साह के वर्धन से कर्मक्षमता और सफलता की सिद्धि होती है ।

प्रतिपत् है तू; प्रतिपदर्थं तुझे,
अनुपत् है तू; अनुपदर्थं तुझे,
सम्पत् है तू; सम्पदर्थं तुझे,
तेज है तू; तेजोर्थं तुझे ।

७२८ **त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा प्रवृदसि प्रवते त्वा विवृदसि विवृते त्वा सवृदसि सवृते त्वाक्रमो ऽस्याक्रमाय त्वा संक्रमो ऽसि संक्रमाय त्वोत्क्रमो ऽस्युत्क्रमाय त्वोत्क्रान्ति-**

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

रस्युत्क्रान्त्यै त्वाधिपतिनोर्जोर्जं जिन्व ।

त्रि-वृत् असि त्रि-वृते त्वा प्र-वृत् असि प्र-वृते त्वा वि-वृत् असि वि-वृते त्वा स-वृत् असि स-वृते त्वा आ-क्रमः असि आ-क्रमाय त्वा सम्-क्रमः असि सम्-क्रमाय त्वा उत्-क्रमः असि उत्-क्रमाय त्वा उत्-क्रान्तिः असि उत्-क्रान्त्यै त्वा अधि-पतिना ऊर्जा ऊर्जम् जिन्व ।

१) तू (त्रि-वृत् असि) त्रि-वृत् है; (त्वा त्रि-वृते) तुझे त्रि-वृत् के लिए [साधरत रहना है] ।

'वृत्' शब्द का प्रयोग, मन्त्र में, वरणीयता अर्थ में हुआ है । तीन वरणीयताओं से जो युक्त हो वह त्रि-वृत् है । वरणीय विचार, वरणीय आचार, वरणीय आहार, इन तीन वरणीयताओं से मानवता के प्रत्येक प्रसाधक और मानवधर्म के प्रत्येक प्रचारक को सदा युक्त रहना चाहिए । स्वयं त्रिवृत् रहते हुए उसे सर्वत्र मानवप्रजाओं में इन वरणीयताओं का संचार करते रहना है ।

२) तू (प्र-वृत् असि) प्र-वृत् है; (त्वा प्र-वृते) तुझे प्रवृत् के लिए [साधरत रहना है] ।

प्रशस्त वरणीयताओं [गुणों, अच्छाइयों] से जो युक्त है वह प्रवृत् है । प्रशस्त मानवीय वरणीयतायें ही मानव को सच्चा मानव बनाती हैं । मानवता के प्रसाधक और मानवधर्म के प्रचारक जहां स्वयं मानवीय वरणीयताओं से विभूषित रहें वहां वे अन्य मानवों को भी सुभूषित करते रहें ।

३) तू (वि-वृत् असि) वि-वृत् है; (त्वा वि-वृते) तुझे विवृत् के लिए [साधरत रहना है] ।

विशिष्ट वरणीयताओं से जो युक्त हो वह विवृत् है । मानवता के प्रसाधक और मानवधर्म के प्रचारक विशिष्ट वरणीयताओं से समलंकृत होने ही चाहिएं । शिष्टाचार से मानवप्रजाओं में पारस्परिक सौहार्द और सौजन्य की स्थापना होती है । सौहार्द और सौजन्य ही मानवप्रजाओं को सज्जन, सुजन बनाते हैं ।

४) तू (स-वृत् असि) स-वृत् है; (त्वा स-वृते) तुझे स-वृत् के लिए [साधरत रहना है] ।

मानवीय वरणीयताओं से जो सदा सहित [युक्त] रहे वह सवृत् है । मानवता के प्र प्रसाधक और मानवधर्म के प्रत्येक प्र को मानवीय वरणीयताओं से सदा ही रहना चाहिए और अन्यों को उनसे सुयुक्त रहना चाहिए ।

५) तू (आ-क्रमः असि) आक्रम है; (त्वा क्रमाय) तुझे आक्रम [आगे बढ़ने] के लिए [रहना है] ।

आ=पूर्णतया, तत्परतया । क्रम=सिर्फ वार, क्रमण, पग, गमन । जो पूर्ण तत्परता के बिना पीछे हटे, यथाक्रम साधना करता निरन्तर आगे बढ़ता रहता है उसकी संज्ञा है । मानवता के सच्चे प्रसाधक और मानवधर्म साचार प्रचारक तत्परता के साथ यथाक्रम आगे बढ़ते रहें और अपनी साध की संसिद्धि लिए सदा सन्नद्ध रहें । साथ ही वे सभी को बढ़ाते रहें ।

६) तू (सम्-क्रमः असि) संक्रम है; (त्वा क्रमाय) तुझे संक्रम के लिए [सन्नद्ध रहना है]

जो यथाक्रम सम्यक्तया आगे ही आगे धरता है, कभी पीछे क़दम नहीं हटाता है संक्रम है । मानवता और मानवधर्म का प्र यथाक्रम और यथाविधि कार्य करता हुआ के साथ, सदा, सम्यक् अपने पथ पर आगे रहे और अन्यों को आगे बढ़ाता रहे ।

७) तू (उत्-क्रमः असि) उत्क्रम है; (त्वा क्रमाय) तुझे उत्क्रम के लिए [उद्यत रहना है

सुसाध की सिद्ध्यर्थ आगे बढ़ने के लि निकृष्ट साधनों से दूर रहता हुआ सदा उत्कृष्ट, उच्च साधनों और विधियों का ही

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

करता है वह उत्क्रम है। प्रत्यक्षतः, मानवता और मानवधर्म के प्रसाधक को उत्कृष्टता के साथ ही स्वयं आगे बढ़ना और अन्यों को आगे बढ़ाना है।

८) तू (उत्-क्रान्तिः असि) उत्क्रान्ति है; (त्वा उत्-क्रान्त्यै) तुझे उत्क्रान्ति के लिए [अग्रगमन करते रहना है]।

क्रान्ति नाम अग्रगमन, आक्रमण, आगे बढ़ने का है। उत्कृष्टता के साथ अग्रगमन करता हुआ जो निरन्तर आगे बढ़ता रहता है उसकी संज्ञा उत्क्रान्ति है। मानवों को मानवता के सुपथ पर उत्तमतया अग्रगमन कराते रहने के लिए मानवता तथा मानवधर्म के साधक को स्वयं भी उत्कृष्टतया अग्रगमन करते रहना है।

९) तू (अधि-पतिना) आत्मना (ऊर्जा ऊर्जम् जिन्व) ऊर्ज् से ऊर्ज् को प्रेर।

'अधिपति' शब्द का प्रयोग यहां शरीर के अधिरक्षक और स्वामी आत्मा के लिए हुआ है। ऊर्ज् नाम संजीवन, आत्मसंबल और पराक्रम का है। साधक आत्मना अपने आत्मसंबल से अन्य साधकों तथा मानवों के संबल को उत्प्रेरित करता रहे, ताकि वे मानवधर्म का आचरण करते हुए मानवता को उन्नत करते रहें।

तू त्रिवृत् है; तुझे त्रिवृत के लिए,
तू प्रवृत् है; तुझे प्रवृत् के लिए,
तू विवृत् है; तुझे विवृत् के लिए,
तू सवृत् है; तुझे सवृत् के लिए,
तू आक्रम है; तुझे आक्रम के लिए
तू संक्रम है; तुझे संक्रम के लिए,
तू उत्क्रम है; तुझे उत्क्रम के लिए,
तू उत्क्रान्ति है; तुझे उत्क्रान्ति के लिए।
प्रेर आत्मना ऊर्ज् से ऊर्ज् को।

७२९ **राज्ञ्यसि प्राची दिग् वसवस्ते देवा अधिपतयोऽग्निर्हेतीनां प्रतिधर्ता त्रिवृत् त्वा स्तोमः पृथिव्यां श्रयत्वाज्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु रथन्तरं साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु।**

य १५.१०

राज्ञी असि प्राची दिक् वसवः ते देवाः अधि-पतयः अग्निः हेतीनाम् प्रति-धर्ता त्रि-वृत् त्वा स्तोमः पृथिव्याम् श्रयतु आज्यम् उक्थम् अ-व्यथायै स्तभ्नातु रथम्-तरम् साम प्रति-स्थित्यै अन्तरिक्षे ऋषयः त्वा प्रथम-जाः देवेषु दिवः मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु वि-धर्ता च अयम् अधि-पतिः च ते त्वा सर्वे सम्-विदानाः नाकस्य पृष्ठे स्वः-गे लोके यजमानम् च सादयन्तु।

मानवता तथा मानवधर्म का प्रसाधक अब पृथिवी पर निवास करनेवाली सम्पूर्ण मानवप्रजा को अपने मानस में आत्मीयता के साथ अवलोकन करता हुआ कहता है—

१) मानवप्रजे ! तू (राज्ञी असि) राजमाना है, (प्राची दिक्) पूर्व दिशा।

प्रसाधक पूर्व दिशा की ओर देखता है तो उधर के प्रदेशों में उसे मानवप्रजा ही राजती/प्रकाशती दिखाई देरही है।

मानवता और मानवधर्म का प्रसाधक पूर्व दिशा की ओर देखता है तो उधर के देशप्रदेशों में उसे मानवप्रजा ही राजती/प्रकाशती दिखायी देरही है।

२) (वसवः देवाः ते अधि-पतयः) वसु देव तेरे अधि-रक्षक [हों]।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

'वसवः देवाः' से तात्पर्य वास/निवास करनेवाले मानवदेवों से है। पूर्व दिशा के देश-प्रदेशों में निवास करनेवाले मानवदेवों का उनमें आधिपत्य है। जिस देश वा प्रदेश में जो मानव निवास करते हैं, स्वभावतः वे उसके अधिपति अथवा अधि-रक्षक होते हैं।

३) (अग्निः हेतीनाम् प्रति-धर्ता) अग्नि हेतियों का प्रत्यक्ष-धारक है।

अग्नि है प्रकाशस्वरूप परमात्मा। 'हन्' हिंसागत्योः। हिंसा और गति अर्थवाली 'हन्' धातु से 'हेति' शब्द बना है। हेति नाम हिंसा और गति के साधन का है। हनन और गति का परस्पर सम्बन्ध होता है। विघ्न-बाधाओं तथा रोध-विरोधों का हनन [निवारण] करते हुए ही गति, गमन, प्रगमन किया और आगे बढ़ा जाता है। 'हेति' शब्द का मूलार्थ है हननसाधन। अन्धकार का हननसाधन होने से किरण और प्रकाश का नाम भी हेति है।

मानवता तथा मानवधर्म का प्रस्थापक पूर्व दिशा में निर्भयता के साथ अपने मानवीय मिशन की पूर्ति में संलग्न है, इस विश्वास के साथ कि उधर प्रकाशस्वरूप परमात्मा हननसाधनों का प्रतिधारक है। वीर जिस प्रकार शस्त्रास्त्रों से सज्ज होकर शत्रुओं का निवारण करता है उसी प्रकार प्रकाशस्वरूप परमात्मदेव विघ्न-बाधारूपी शत्रुओं के हननसाधों से सज्ज हुआ विद्यमान है।

४) मानवते ! (त्रि-वृत् स्तोमः) त्रिवर्तनशील प्रशस्तीकरण (त्वा आज्यम् उक्थम्) तुझ स्नेहमय सन्देश को (पृथिव्याम् श्रयतु) पृथिवी पर आश्रय करे (अ-व्यथायै) अव्यथा के लिए।

विचार, भावना और आचार का प्रशस्तीकरण ही 'त्रिवृत स्तोम' अथवा त्रिवर्तनशील प्रशस्तीकरण है।

आज्य नाम घृत का है। 'उक्थ' का अर्थ है उच्चारने योग्य वचन, शब्द, सन्देश। घृत प्रतीक है स्नेह का। मानवता का स्नेहमय सन्देश सारी पृथिवी पर आश्रय किए जाने योग्य है। त्रिवर्तनशील प्रशस्तीकरण द्वारा इस सन्देश की व्याप्ति से मानवों में परस्पर प्रीति की स्थापना होगी और मानव सब प्रकार की व्यथा से मुक्त होंगे।

५) मानवते ! (रथम्-तरम् साम) रमणीय गति से तारनेवाला समत्व [त्वा आज्यम् उक्थम्] पृथिव्याम्=तुझ स्नेहमय सन्देश को पृथिवी पर (स्तभ्नातु) स्थिर रखे (प्रति-स्थित्यै) प्रतिस्थिति प्रत्यक्ष-स्थायित्व के लिए।

रथ=र[रमणीय]+थ [थर्वण, गति]। सम अथवा समता से युक्त स्थिति का नाम साम है। मानवता का स्नेहमय सन्देश सारी पृथिवी पर सुस्थिर किये जाने योग्य है। रथन्तर साम [रथक तारनेवाले समत्व/समभाव] द्वारा मानवता स्नेहमय सन्देश के स्थिरीकरण से पृथिवी प प्रतिस्थिति अथवा ध्रुवता की स्थापना होगी।

६) पृथिवि ! (प्रथम-जाः ऋषयः) प्रथम-ज ऋ (त्वा प्रथन्तु) तुझे विस्तारें (वरिम्णा) विशाल के साथ, (दिवः मात्रया) द्यौ की मात्रा से (देवे मानवदेवों में, मानव मानव के (अन्तरि अन्तःकरण में।

सृष्टि के आदि में, मानवों की सर्वप्रथम न में जन्मनेवाले ऋषि 'प्रथमज ऋषि' कहलाते 'प्रथमजाः ऋषयः' से तात्पर्य यहां प्रथम के संज्ञान [वेदज्ञान] से युक्त ऋषियों से 'अन्तरिक्ष' शब्द का प्रयोग हुआ है यहां अन्तःक अर्थ में। 'द्यौ की मात्रा' से तात्पर्य है ज्ञान विवेक के प्रकाश की मात्रा से। प्रथमज ऋषि का ही वह औदार्य है कि वे विशालाशयता साथ, पृथिवी पर निवास करनेवाले सम मानवदेवों में, मानव मानव के अन्तःकरण प्रकाश की उस मात्रा का संचार करें कि वे सा पृथिवी को अपना गृह और सम्पूर्ण मानवप्रजा अपना परिवार समझें।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

७) मानवप्रजे ! मानवता तथा मानवधर्म का प्रत्येक (वि-धर्ता) वि-धारक, प्रसाधक (च अयम् अधि-पतिः) और यह अधिपति [हेतियों का प्रत्यक्ष-धारक अग्नि अथवा प्रकाशस्वरूप परमात्मा] (च ते सम्-विदानाः) और वे संज्ञानशील [प्रथमज ऋषि], (सर्वे) सब (त्वा) तुझे, तुझ मानवप्रजा को (च) और [मानवता-तथा मानवधर्म-रूपी यज्ञ के प्रत्येक] (यजमानम्) यज्ञ-सम्पादक को (स्वः-गे लोके) स्वर्ग लोक में (नाकस्य पृष्ठे) आनन्द की पृष्ठ पर (सादयन्तु) स्थापन करें।

स्वर्ग नाम सुखस्थान का है। पृथिवी जब स्वर्गधाम बन जाती है तो उसका प्रत्येक स्थल आनन्द की पृष्ठ, आनन्द का पुण्यधाम बन जाता है। प्रसाधक, परमात्मा, और संज्ञानी, प्रथमज ऋषियों के संयुक्त अनुग्रह से ही पृथिवी स्वर्ग का धाम तथा आनन्द का ठाम बनती है। तब सारी मानवप्रजा तथा मानवतायज्ञ का प्रत्येक सम्पादक सुख और आनन्द से युक्त होते हैं।

तू राज्ञी है, पूर्व दिशा,
वसु देव हैं तेरे अधिपति,
अग्नि हेतियों का प्रतिधर्ता।
त्रिवृत् स्तोम करे आश्रय पृथिवी पर
तुझ स्नेहमय सुसन्देश को अन्वर्थार्थ,
साम रथन्तर संस्थित रखे
स्थायित्व के लिए।
प्रथमज ऋषि तुझे विस्तारें
विशालता के साथ,
ज्ञानप्रकाश की मात्रा से
देवों में, अन्तःकरण में।
विधर्ता और यह अधिपति,
अपि च वे संज्ञानशील, सब
तुझको तथा यजमान को
करें स्थापन स्वर्ग लोक में,
आनन्द की पृष्ठ पर।

७३० **विराडसि दक्षिणा दिग् रुद्रास्ते देवा अधिपतय इन्द्रो हेतीनां प्रतिधर्ता पञ्चदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्यां श्रयतु प्रउगमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु बृहत् साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु।** य १५.११

वि-राट् असि दक्षिणा दिक् रुद्राः ते देवाः अधि-पतयः इन्द्रः हेतीनाम् प्रति-धर्ता पञ्च-दशः त्वा स्तोमः पृथिव्याम् श्रयतु प्र-उगम् उक्थम् अ-व्यथायै स्तभ्नातु बृहत् साम प्रति-स्थित्यै अन्तरिक्षे ऋषयः त्वा प्रथम-जाः देवेषु दिवः मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु वि-धर्ता च अयम् अधि-पतिः च ते त्वा सर्वे सम्-विदानाः नाकस्य पृष्ठे स्वः-गे लोके यजमानम् च सादयन्तु।

१) मानवप्रजे ! तू (वि-राट् असि) प्रकाशयुक्त है, (दक्षिणा दिक्) दक्षिणा दिशा।

दक्षिणा दिशा के देश-प्रदेशों में भी उसे मानव-प्रजा ही प्रकाशती दिखाई देरही है।

२) (रुद्राः देवाः ते अधि-पतयः) रुद्र देव तेरे अधिपति हों।

दक्षिणा दिशा के देश-प्रदेशों में निवास करने-वाले मानवदेवों के लिए 'रुद्र' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'रुद्र' अश्रु विमोचने। प्रेमार्द्र होकर जो अश्रु-पात करते हैं उनका नाम रुद्र है। 'रुद्राः' शब्द का प्रयोग यहां प्रेमार्द्र होकर एक दूसरे के दुःख में हाथ बटानेवाले मानवदेवों के लिए हुआ है। दक्षिणा दिशा के देश-प्रदेशों में निवास करनेवाले, मानव-प्रेमी मानवदेव मानवों की सुसेवा की भावना से

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उस दिशा के अधिरक्षक हों।

३) (इन्द्रः हेतीनाम् प्रति-धर्ता) प्रभु हननसाधनों का प्रत्यक्ष-धारक है।

'इदि' परमैश्वर्ये। परमैश्वर्यशाली होने से परमात्मा इन्द्र है। लोक-लोकान्तररूपी इन्द्रियों का स्वामी होने से परमात्मा इन्द्र है। **'इन् शत्रूणां दारयिता।'** अन्तश्शत्रुओं का विनाशक होने से परमात्मा इन्द्र है। मानवता तथा मानवधर्म का प्रसाधक दक्षिण दिशा में आत्मविश्वास के साथ अपने मानवीय मिशन की संसाधना में तत्पर है, इस विश्वास के साथ कि उधर भी परमैश्वर्यशाली, विघ्नविनाशक, सृष्टिशासक प्रभु हननसाधनों का प्रतिधारक है।

४) मानवते ! (पञ्च-दशः स्तोमः) पञ्चदश प्रशस्तीकरण (त्वा प्र-उगम् उक्थम्) तुझ प्रकथनीय सन्देश को (पृथिव्याम् श्रयतु) पृथिवी पर आश्रय करे (अ-व्यथायै) अव्यथा के लिए।

पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां—इस पञ्चदश [१५] का पूतीकरण और प्रशस्तीकरण 'पञ्चदश स्तोम' है।

मानवता तथा मानवधर्म का सन्देश सारी पृथिवी पर प्रकथनीय तथा आश्रय किए जाने योग्य है। मानवों के पञ्चदश के प्रशस्तीकरण से जहां इस सन्देश की सार्थकता सिद्ध होगी वहां मानव अनेक प्रकार की आन्तर-बाह्य पीड़ाओं से मुक्त होंगे।

५) मानवते ! (बृहत् साम) व्यापक समत्व [त्वा प्र-उगम् उक्थम् पृथिव्याम्=तुझ प्रकथनीय सन्देश को पृथिवी पर] (स्तभ्नातु) स्थिर करे/रखे (प्रति-स्थित्यै) प्रत्यक्ष-स्थायित्व के लिए।

'बृहत्' विशेषण का प्रयोग व्यापक अथवा सार्वभौम अर्थ में हुआ है। मानवता का प्रकथनीय सन्देश सारी पृथिवी पर स्थिरता के साथ पहुंचाए जाते रहने योग्य है। सार्वभौम समत्व/समभाव द्वारा मानवता के प्रकथनीय सन्देश के स्थिरीकरण से सारी पृथिवी पर प्रतिस्थिति अथवा ध्रुवता स्थापित रहती है।

६) पृथिवि ! (प्रथम-जाः ऋषयः) प्रथम-ज ऋ (त्वा प्रथन्तु) तुझे विस्तारें (वरिम्णा) विशाल के साथ, (दिवः मात्रया) ज्ञानप्रकाश की मात्र (देवेषु) मानवदेवों में, मानव मानव के (अन्तः अन्तःकरण में।

प्रथमज ऋषि विशालाशयता के साथ पृ पर निवास करनेवाले मानवों के अन्तःकर प्रकाश की उस मात्रा का संचार करें जिससे मानव सारी पृथिवी को अपना घर और स मानवप्रजा को अपना परिवार समझें।

७) मानवप्रजे ! मानवता तथा मानवधर्म का प्र (वि-धर्ता) वि-धारक, प्रसाधक (च अयम् पतिः) और यह अधिपति [हेतियों का प्र धारक, परमैश्वर्यशाली, विघ्नविनाशक, सृष्टि इन्द्र—प्रभु] (च ते सम्-विदानाः) और वे संज्ञान [प्रथमज ऋषि], (सर्वे) सब (त्वा) तुझे, मानवप्रजा को (च) और [मानवता-तथा मानव रूपी यज्ञ के प्रत्येक] (यजमानम्) यज्ञ-सम्पा (स्वः-गे लोके) स्वर्ग लोक में, (नाकस्य पृष्ठे) की पृष्ठ पर (सादयन्तु) स्थापन करें।

पृथिवी जब स्वर्गधाम बन जाती है तो प्रत्येक स्थल आनन्द की पृष्ठ, आनन्द का पुञ्ज बन जाता है। प्रसाधक, परमात्मा, और प्रथमज ऋषियों के अनुग्रह से ही पृथिवी स्व तथा आनन्द पृष्ठ बनती है।

तू विराट् है, दक्षिण दिशा,
रुद्र देव हों तेरे अधिपति,
इन्द्र हेतियों का प्रति-धर्ता।
पञ्चदश स्तोम करे आश्रय पृथिवी पर
तुझ प्रकथनीय सुसन्देश को अव्यथार्थ,
बृहत् साम रखे संस्थिर
स्थायित्व के लिए।
प्रथमज ऋषि तुझे विस्तारें
विशालता के साथ,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ज्ञानप्रकाश की मात्रा से
देवों में, अन्तःकरण में।
विधर्ता और यह अधिपति,
अपि च वे संज्ञानशील, सब
तुझको तथा यजमान को
करें स्थापन स्वर्ग लोक में,
आनन्द की पृष्ठ पर।

७३१ सम्राडसि प्रतीची दिगादित्यास्ते ते देवा अधिपतयो वरुणो हेतीनां प्रतिधर्ता सप्तदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्यां श्रयतु मरुत्वतीयमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु वैरूपं साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु।

य १५.१२

सम्-राट् असि प्रतीची दिक् आदित्याः ते देवाः अधि-पतयः वरुणः हेतीनाम् प्रति-धर्ता सप्त-दशः त्वा स्तोमः पृथिव्याम् श्रयतु मरुत्वतीयम् उक्थम् अ-व्यथायै स्तभ्नातु वैरूपम् साम प्रति-स्थित्यै अन्तरिक्षे ऋषयः त्वा प्रथम-जाः देवेषु दिवः मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु वि-धर्ता च अयम् अधि-पतिः च ते त्वा सर्वे सम्-विदानाः नाकस्य पृष्ठे स्वः-गे लोके यजमानम् च सादयन्तु।

१) मानवप्रजे! तू (सम्-राट् असि) सम्यक् प्रकाशमाना है, (प्रतीची दिक्) पश्चिम दिशा।

पश्चिम दिशा के देश-प्रदेशों में भी मानवप्रजा सम्यक् प्रकाशती दिखाई देरही है।

२) (आदित्याः देवाः ते अधि-पतयः) आदित्य देव तेरे अधिपति हों।

पश्चिमस्थ मानवदेवों को आदित्य कहा गया है। 'आदित्य' का अर्थ है अदिति के पुत्र। अदिति नाम अखण्ड पृथिवी का है। सभी मानव अपने अपने राष्ट्र के नागरिक होते हुए भी अदिति के पुत्र हैं। पृथिवी पर के सभी मानव जब अपने आपको आदित्य मानेंगे तभी वे सार्वभौम मानवता के सूत्र में सूत्रित रहकर मानवधर्म में प्रतिष्ठित रहेंगे। सर्व मानव आदित्य बनकर पश्चिम दिशा के अधिरक्षक हों।

३) (वरुणः हेतीनाम् प्रति-धर्ता) वरुण हननसाधनों का प्रत्यक्ष-धारक है।

वरणीय गुणों से युक्त होने से परमात्मा वरुण है। प्रसाधक पश्चिम दिशा में अपने मानवीय मिशन की प्रसाधना में निरत है, इस विश्वास के साथ कि उधर भी वरणीयताओं का सम्पादक और संचारक परमात्मा हननसाधनों का प्रति-धारक है।

४) मानवते! (सप्त-दशः स्तोमः) सप्तदश प्रशस्तीकरण (त्वा मरुत्वतीयम् उक्थम्) तुझ प्राणप्रद सन्देश को (पृथिव्याम् श्रयतु) पृथिवी पर आश्रय करे (अ-व्यथायै) अव्यथा के लिए।

पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, सुमति, सुसंकल्प, यह सप्तदश जब प्रशस्त होजाता है तो मानवता तथा मानवधर्म का सन्देश सारी पृथिवी पर प्राणप्रद तथा आश्रय किए जाने योग्य बन जाता है। उससे जहां इस सन्देश की सार्थकता सिद्ध होगी वहां मानव अनेक व्यथाओं से मुक्त होंगे।

५) मानवते! (वैरूपम् साम) विरूप समत्व [त्वा मरुत्वतीयम् उक्थम् पृथिव्याम्=तुझ प्राणप्रद सन्देश को पृथिवी पर] (स्तभ्नातु) स्थिर करे/रखे (प्रति-स्थित्यै) प्रत्यक्ष-स्थायित्व के लिए।

'वैरूप' शब्द का प्रयोग विविध-रूप, विविध पार्श्व, सर्वाङ्गीण अर्थ में हुआ है। सर्वाङ्गीण

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

समभाव द्वारा मानवता के प्राणप्रद सन्देश के स्थिरीकरण से सारी पृथिवी पर प्रति-स्थिति स्थापित रहती है।

६) पृथिवि ! (प्रथम-जाः ऋषयः) प्रथम-ज ऋषि (त्वा प्रथन्तु) तुझे विस्तारें (वरिम्णा) विशालता के साथ, (दिवः मात्रया) ज्ञानप्रकाश [विवेक] की मात्रा से (देवेषु) मानवदेवों में, मानव मानव के (अन्तरिक्षे) अन्तःकरण में।

प्रथमज ऋषि विशालाशयता के साथ, पृथिवी पर निवास करनेवाले मानवों के अन्तःकरण में विवेक की उस मात्रा का संचार करें जिससे सब मानव सारी पृथिवी को एक घर, और सम्पूर्ण मानवप्रजा को एक परिवार समझें।

७) मानवप्रजे ! मानवता तथा मानवधर्म का प्रत्येक (वि-धर्ता) वि-धारक, प्रसाधक (च अयम् अधि-पतिः) और यह अधिपति [हेतियों का प्रत्यक्ष-धारक, वरणीयताओं का सम्पादक और संचारक वरुण-प्रभु] (च ते सम्-विदानाः) और वे संज्ञानशील [प्रथमज ऋषि], (सर्वे) सब (त्वा) तुझे, तुझ मानवप्रजा को (च) और [मानवता-तथा मानवधर्म-रूपी यज्ञ के प्रत्येक] (यजमानम्) यज्ञसम्पादक को (स्वः-गे लोके) स्वर्ग लोक में, (नाकस्य पृष्ठे) आनन्द की पृष्ठ पर (सादयन्तु) स्थापन करें।

प्रसाधक, परमात्मा, और संज्ञानी, प्रबु ऋषियों के अनुग्रह से पृथिवी स्वर्गधाम जाती है तो उसका प्रत्येक स्थल आनन्द बन जाता है। तब सारी मानवप्रजा, मानवतायज्ञ का प्रत्येक सम्पादक सुख और आ से युक्त रहते हैं।

तू सम्राट् है, पश्चिम दिशा,
आदित्य देव हों तेरे अधिपति,
वरुण हेतियों का प्रति-धर्ता।
सप्तदश स्तोम करे आश्रय पृथिवी पर
तुझ प्राणप्रद सुसन्देश को अव्यथार्थ,
विरूप साम रखे संस्थिर
स्थायित्व के लिए।
प्रथमज ऋषि तुझे विस्तारें
विशालता के साथ,
ज्ञानप्रकाश की मात्रा से
देवों में, अन्तःकरण में।
विधर्ता और यह अधिपति,
अपि च वे संज्ञानशील, सब
तुझको तथा यजमान को
करें स्थापन स्वर्ग लोक में,
आनन्द की पृष्ठ पर।

७३२ स्वराडस्युदीची दिङ् मरुतस्ते देवा अधिपतयः सोमो हेतीनां प्रतिधर्तैकविंशस्तोमः पृथिव्यां श्रयतु निष्केवल्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु वैराजं साम प्रतिष्ठि अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता च मधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु

य १५.

स्व-राट् असि उदीची दिक् मरुतः ते देवाः अधि-पतयः सोमः हेतीनाम् प्रति-धर्ता एक-विंशः स्तोमः पृथिव्याम् श्रयतु निः-केवल्यम् उक्थम् अ-व्यथायै स्तभ्नातु वैराजम् साम प्रति-ष्ठि अन्तरिक्षे ऋषयः त्वा प्रथम-जाः देवेषु दिवः मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु वि-धर्ता च अयम् अधि-पतिः च ते त्वा सर्वे सम्-विदानाः नाकस्य पृष्ठे स्वः-गे लोके यजमानम् च सादयन्तु।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१) मानवप्रजे ! तू (स्व-राट् असि) स्वयं-प्रकाश-माना है, (उदीची दिक्) उत्तर दिशा ।

उत्तर दिशा के देश-प्रदेशों में भी मानवप्रजा स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाश रही है ।

२) (मरुतः देवाः ते अधि-पतयः) मरुत देव तेरे अधिपति हों ।

उत्तरस्थ मानवदेवों को मरुत् कहा गया है । **म्रियते प्राणो यस्याभावात्,** जिसके अभाव से प्राणा-न्त होजाता है उसे मरुत् कहते हैं । पवन मरुत् है, प्राण मरुत् है क्योंकि उसके अभाव से प्राणी मर जाते हैं । प्राण की उपमा से ही प्राणप्रियता कथन की जाती है । जो अतिशय प्रिय होता है उसे प्राणप्रिय कहते हैं । यहां 'मरुतः' शब्द प्राणप्रिय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । मानवदेवों में जब पारस्परिक प्राणप्रियता होती है तो वे सार्वभौम मानवता के सूत्र में सूत्रित रहकर मानवधर्म में प्रतिष्ठित रहते हैं । सर्व मानव मरुत् बनकर, परस्पर प्राणवत् प्रिय बनकर उत्तर दिशा के अधिरक्षक हों ।

३) (सोमः हेतीनाम् प्रति-धर्ता) सोम हननसाधनों का प्रत्यक्ष-धारक है ।

सोम के समान सोम्य, अथवा चन्द्रमा के समान आह्लादक होने से परमात्मा सोम है । प्रसाधक उत्तर दिशा में अपने मानव-मिशन की प्रसाधना में संलग्न है, इस विश्वास के साथ कि उधर भी सोम्यता और प्राह्लाद का सम्पादक प्रभु हननसाधनों का प्रति-धारक है ।

४) मानवते ! (एक-विंशः स्तोमः) इक्कीस प्रशस्ती-करण (त्वा निः-केवल्यम् उक्थम्) तुझ सर्वग्राह्य सन्देश को (पृथिव्याम् श्रयतु) पृथिवी पर आश्रय करे (अ-व्यथायै) अव्यथा के लिए ।

पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, सुमति, सुसंकल्प, मस्तिष्क, हृदय, चित्त, आत्मा, यह एकविंश जब प्रशस्त होजाता है तो मानवता तथा मानवधर्म का सन्देश सारी पृथिवी पर केवल्य-रहित [सर्वग्राह्य] तथा आश्रय किए जाने योग्य बन जाता है । उससे जहां इस सन्देश की सार्थकता सिद्ध होती हैं वहां मानव अनेक व्यथाओं से मुक्त होजाते हैं ।

५) मानवते ! (वैराजम् साम) विप्रकाशमान् समत्व [त्वा निः-केवल्यम् उक्थम् पृथिव्याम्=तुझ सर्व-ग्राह्य सन्देश को पृथिवी पर] (स्तभ्नातु) स्थिर करे/रखे (प्रति-स्थित्यै) प्रत्यक्ष-स्थायित्व के लिए ।

विप्रकाशमान् [सब ओर प्रकाशनेवाले] समभाव द्वारा मानवता के सर्वग्राह्य सन्देश के स्थिरीकरण से सारी पृथिवी पर प्रति-स्थिति की स्थापना होती है ।

६) पृथिवि ! (प्रथम-जाः ऋषयः) प्रथमज ऋषि (त्वा प्रथन्तु) तुझे विस्तारें (वरिम्णा) विशालता/विशालाशयता के साथ (दिवः मात्रया) ज्ञानप्रकाश [विवेक] की मात्रा से (देवेषु) मानवदेवों में, मानव मानव के (अन्तरिक्षे) अन्तःकरण में ।

प्रथमज ऋषि विशालाशयता के साथ पृथिवी पर निवास करनेवाले मानवों के अन्तःकरण में ज्ञान-ज्योति की उस मात्रा का संचार करें जिससे सब मानवरूपी देव सारी पृथिवी पर सविस्तार फैलकर ऐक्य के साथ रहें ।

७) मानवप्रजे ! मानवता तथा मानवधर्म का प्रत्येक (वि-धर्ता) वि-धारक, प्रसाधक (च अयम् अधि-पतिः) और यह अधिपति [हेतियों का प्रत्यक्ष-धारक, सोम्यता का सम्पादक सोम—प्रभु] (च ते सम्-विदानाः) और वे संज्ञानशील [प्रथमज ऋषि], (सर्वे) सब (त्वा) तुझे, तुझ मानवप्रजा को (च) और [मानवता-तथा मानवधर्म-रूपी यज्ञ के प्रत्येक] (यजमानम्) यज्ञसम्पादक को (स्वः-गे लोके) स्वर्ग लोक में, (नाकस्य पृष्ठे) आनन्द की पृष्ठ पर (सादयन्तु) स्थापन करें ।

प्रसाधक, परमात्मा, और संज्ञानी, प्रथमज ऋषियों के संयुक्त अनुग्रह से सारी पृथिवी स्वर्गधाम बन जाती है तो उसका प्रत्येक स्थल आनन्दपृष्ठ

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

बन जाता है।

तू स्वराट् है, उत्तर दिशा,
मरुत् देव हों तेरे अधिपति,
सोम हेतियों का प्रतिधर्ता।
एकविंश स्तोम करे आश्रय पृथिवी पर
तुझ सर्वग्राह्य सुसन्देश को अव्यथार्थ,
वैराज साम रखे, संस्थिर
स्थायित्व के लिए।
प्रथमज ऋषि तुझे विस्तारें
विशालता के साथ,
ज्ञानप्रकाश की मात्रा से
देवों में, अन्तःकरण में।
विधर्ता और यह अधिपति
अपि च वे संज्ञानशील, सब
तुझको तथा यजमान को
करें स्थापन स्वर्ग लोक में,
आनन्द की पृष्ठ पर।

७३३ अधिपत्न्यसि बृहती दिग् विश्वे ते देवा अधिपतयो बृहस्पतिर्हेतीनां प्रतिध
त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ त्वा स्तोमौ पृथिव्यां श्रयतां वैश्वदेवाग्निमारुते उक्थे अव्यथ
स्तभ्नीतां शाक्वररैवते सामनी प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा दे
दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविद
नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु। य १५.

अधि-पत्नी असि बृहती दिक् विश्वे ते देवाः अधि-पतयः बृहस्पतिः हेतीनाम् प्रति-ध
त्रि-नव-त्रयः-त्रिंशौ त्वा स्तोमौ पृथिव्याम् श्रयताम् वैश्वदेव-आग्निमारुते उक्थे अ-व्यथ
स्तभ्नीताम् शाक्वर-रैवते सामनी प्रति-स्थित्यै अन्तरिक्षे ऋषयः त्वा प्रथम-जाः देवेषु वि
मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु वि-धर्ता च अयम् अधि-पतिः च ते त्वा सर्वे सम्-विदा
नाकस्य पृष्ठे स्वः-गे लोके यजमानम् च सादयन्तु।

१) मानवप्रजे! तू (अधि-पत्नी असि) अधिपत्नी है, (बृहती दिक्) बृहती दिशा।

पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, आदि दिशा-प्रदिशाएं सूर्य की अपेक्षा से हैं। वे सब एक अभिन्न, अखण्ड बृहती दिशा के कल्पित अवयव हैं। बृहती दिशा आकाशवत् अनन्त और असीम है। जिधर देखिए उधर ही बृहती दिशा है। बृहती दिशा के प्रत्येक पार्श्व में मानवप्रजा ही अधिपत्नी है, मानवप्रजा का ही आधिपत्य है।

२) (विश्वे देवाः ते अधि-पतयः) सब मानवदेव तेरे अधि-रक्षक हों।

बृहती दिशा की समग्र दिशा-प्रदिशाओं में निवास करनेवाले, सकल मानवदेव सार्वभौम पारिवारिकता के सूत्र में सूत्रित होकर इ दिशा के, सारी पृथिवी के प्राणपण अधिरक्षक हों।

३) (बृहस्पतिः हेतीनाम् प्रति-धर्ता) बृह हननसाधनों का प्रत्यक्ष-धारक है।

बृहती सृष्टि का स्वामी होने से पर बृहस्पति है, बृहत्-पति है, महतो महान् स्वामी बृहती दिशा अनन्त, असीम और अपार बृहस्पति उस सबका सर्वव्यापक स्वामी प्रसाधक बृहती दिशा में सब ओर अपने य मिशन की प्रसाधना में संलग्न है, इस कि के साथ कि बृहस्पति परमात्मा सर्वत्र हननस का प्रति-धारक है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

४) मानवते ! (त्रिनव-त्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ) ३×९ =२७ तथा ३+३०=३३ [दोनों] प्रशस्तीकरण (त्वा) तुझे, तुझ मानवता को तथा (वैश्वदेव-आग्निमारुते उक्थे) वैश्वदेव तथा आग्नि-मारुत सन्देशों को (पृथिव्याम् श्रयताम्) पृथिवी पर आश्रय करें (अ-व्यथायै) अव्यथा के लिए।

पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, सुमति, सुसंकल्प, मस्तिष्क, हृदय, चित्त, आत्मा, मृदुता, प्रियता, मधुरता, सहयोग, सहकार, परोपकार, यह त्रिणव [२७] जब प्रशस्त होजाता है तो मानवता तथा मानवधर्म का सन्देश सारी पृथिवी पर वैश्वदेव [विश्व के सब मानवदेवों के लिए कल्याणकारी] तथा आश्रय किये जाने योग्य बन जाता है।

उपर्युक्त त्रिणव [२७]+संयम, सत्य, सदाचार, सन्तोष, कर्तव्यनिष्ठा, ब्रह्मपरायणता, यह त्रयस्त्रिंश [३३] जब प्रशस्त होजाता है तो मानवता तथा मानवधर्म का सन्देश सारी पृथिवी पर आग्नि-मारुत [प्रेमाग्निमय तथा प्राणरमणीयतामय, प्राणप्रियतामय] तथा आश्रय किए जाने योग्य बन जाता है।

उपर्युक्त प्रशस्तीकरणों से जहां मानवता तथा मानवधर्म के सन्देशों की सार्थकता सिद्ध होती है वहां मानवप्रजाएं अनेक व्यथाओं से मुक्त होजाती हैं।

५) मानवते ! (शाक्वर-रैवते) शक्तिसम्पादक और ऐश्वर्यसम्पादक [दोनों] (सामनी) समत्व (त्वा) तुझे, तुझ मानवता को तथा [वैश्वदेव-आग्निमारुते उक्थे पृथिव्याम्=वैश्वदेव तथा आग्नि-मारुत सन्देशों को पृथिवी पर] (स्तभ्नीताम्) स्थिर करें/रखें (प्रति-स्थित्यै) प्रत्यक्ष-स्थायित्व के लिए।

सर्वार्थ समानरूपेण शक्तिसम्पादन- और ऐश्वर्यसम्पादन-रूपी उभय समभावों से मानवता के मानवों के प्रति प्रेमाग्निमय सन्देश तथा प्राणप्रियतामय सन्देश से सारी पृथिवी पर प्रति-स्थिति की स्थापना होती है।

६) पृथिवि ! (प्रथम-जाः ऋषयः) प्रथमज ऋषि (त्वा प्रथन्तु) तुझे विस्तारें (वरिम्णा) विशालता/विशालाशयता के साथ, (दिवः मात्रया) ज्ञानप्रकाश [विवेक] की मात्रा से (देवेषु) मानवदेवों में, मानव मानव के (अन्तरिक्षे) अन्तःकरण में।

प्रथमज ऋषि विशालाशयता के साथ पृथिवी पर निवास करनेवाले मानवों के अन्तःकरण में ज्ञानज्योति [विवेक] की उस मात्रा का संचार करें जिससे सब मानवरूपी देव सारी पृथिवी पर सविस्तार फैलकर ऐक्य के सूत्र में सूत्रित रहें।

७) मानवप्रजे ! मानवता तथा मानवधर्म का प्रत्येक (वि-धर्ता) वि-धारक, प्रसाधक (च अयम् अधि-पतिः) और यह अधिपति [हेतियों का प्रत्यक्ष-धारक, बृहती सृष्टि का स्वामी बृहस्पति—प्रभु] (च ते सम्—विदानाः) और वे संज्ञानशील [प्रथमज ऋषि], (सर्वे) सब (त्वा) तुझे, तुझ मानव-प्रजा को (च) और [मानवता-तथा मानवधर्म-रूपी यज्ञ के प्रत्येक] (यजमानम्) यज्ञ-सम्पादक को (स्वः-गे लोके) स्वर्ग लोक में; (नाकस्य पृष्ठे) आनन्द की पृष्ठ पर (सादयन्तु) स्थापना करें।

प्रसाधक, परमात्मा, और संज्ञानी, प्रथमज ऋषियों के संयुक्त अनुग्रह से सारी पृथिवी स्वर्गधाम बन जाती है तो उसका प्रत्येक स्थल आनन्दपृष्ठ बन जाता है।

तू अधिपत्नी है, बृहती दिशा,
सर्व देव हों तेरे अधिपति,
बृहस्पति हेतियों का प्रतिधर्ता।
त्रिणव स्तोम और त्रयस्त्रिंश स्तोम
करें आश्रय पृथिवी पर तुझे,
वैश्वदेव सन्देश को, आग्नि-मारुत सन्देश को
अव्यथार्थ,
शक्तिसम्पादक साम, ऐश्वर्यसम्पादक साम
रखें संस्थिर स्थायित्व के लिए।
प्रथमज ऋषि तुझे विस्तारें

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विशालता के साथ,
ज्ञानप्रकाश की मात्रा से
देवों में, अन्तःकरण में।
विधर्ता और यह अधिपति

अपि च वे संज्ञानशील, सब
तुझको तथा यजमान को
करें स्थापन स्वर्ग लोक में,
आनन्द की पृष्ठ पर।

७३४ अयं पुरो हरिकेशः सूर्यरश्मिस्तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ। पुञ्जिक-स्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ दङ्क्षणवः पशवो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नो ऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः। (य १५.१)

अयम् पुरः हरि-केशः सूर्य-रश्मिः तस्य रथ-गृत्सः च रथ-ओजाः च सेनानी-ग्रामण्यौ। पुञ्जिक-स्थला च क्रतु-स्थला च अप्सरसौ दङ्क्षणवः पशवः हेतिः पौरुषेयः वधः प्र-हेतिः तेभ्यः नमः अस्तु ते नः अवन्तु ते नः मृडयन्तु ते यम् द्विष्मः यः च नः द्वेष्टि तम् एषाम् जम्भे दध्मः।

प्रसाधक पृथिवी पर खड़ा है और दिशा दिशा में मानवप्रजा का अवलोकन करता हुआ वह पुनः कहने लगता है—

१) (हरि-केशः) हरणशील-केश, मनोहर-अलक, दिलफ़रेब-ज़ुल्फ़ (सूर्य-रश्मिः) सूर्य—रश्मि (अयम् पुरः) यह सामने [पूर्व दिशा] है।

पूर्व दिशा कैसी मनोहर दिशा है। सूर्य की किरणें उसकी मनोहर अलकें हैं।

२) (रथ-गृत्सः च रथ-ओजाः च) रथ-गृत्स और रथ-ओजाः (तस्य) उस[पूर्व दिशा]के (सेनानी-ग्रामण्यौ) सेनानी और ग्रामणी हैं।

रथ=र+थ। रमणीय थर्वण [गति] हो जिसकी उसे रथ कहते हैं। गृत्स नाम मेधावी का है। बुद्धिपूर्वक अथवा कुशलता के साथ जो रथ का संचालन करता है उसकी संज्ञा रथ-गृत्स है। ओज अथवा जोष के साथ जो रथ का संचालन करता है वह रथौजाः है। पूर्व दिशा और पूर्व दिशा में स्थित पृथिवी का भाग रथ है। पूर्व में निवास करनेवाली प्रजा उस भूभाग की सेना है। पूर्व भूभाग में मानवता तथा मानवधर्म का प्रसाधकसमूह रथगृत्स सेनानी है और ग्राम ग्राम तथा नगर नगर में जाकर सभी वर्ग के मानवों में सौहार्द तथा स्परिकता की स्थापना करनेवाला ओजस्वी स्थापक-समूह रथौजा ग्रामणी है।

३) (पुञ्जिक-स्थला च क्रतु-स्थला च) पुञ्जि स्थला और क्रतु-स्थला (अप्सरसौ) दो अप्सरा

अप् नाम प्रजाओं तथा कर्मप्रवाहों का है। प्रवाहों में सरण/गमन करनेवाली होने से प्रजा नाम अप्सरा है। पुञ्जिक अथवा समूहरूप से ग्राम, नगर नगर में निवास करनेवाली पुञ्जिक-स्थला है। क्रतु अथवा कार्यरूप में वनों, छावनियों, कारखानों में स्थित रहने प्रजा क्रतु-स्थला है। दोनों प्रकार की ये अप्सराए हैं जो दो प्रकार की कर्मधाराओं में हित रहती हैं। दोनों प्रकार की अप्सराएं [प्र दंशनशील पशुओं तथा पौरुषेय वध से सुरक्षित ऐसी स्थिति और व्यवस्था मानवधर्म के प्रक करें और कराएं।

४) जो (दंक्षणवः पशवः) दंशनशील [डंक मा वाले, हिंसक] पशु हैं [उनसे मानवों की रह (हेतिः) हननसाधन [का प्रयोग हो]; जो (पौरु वधः) पौरुषेय वध है, मानवों को वध करने

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अपराध है, [उससे मानवों की रक्षार्थ] (प्र-हेतिः) प्रकृष्ट हननसाधन [का प्रयोग हो।]

मानवों की हिंसक पशुओं से रक्षार्थ किसी भी प्रकार के हननसाधन का प्रयोग किया जा सकता है। उन्हें शस्त्र द्वारा मारा जा सकता है, आरक्षित जंगलों में प्रतिबन्धित किया जा सकता है। किन्तु मानवसमाज में स्वयं मनुष्यों द्वारा मनुष्यों के वध का जो अपराध है उसकी रोक-थाम प्रकृष्टतया/सम्यक्तया की जानी चाहिए। 'प्रहोति' शब्द में यही भाव अन्तर्निहित है।

५) हिंसक पशुओं और पौरुषेय वध के अपराधियों से मानवप्रजा की जो वीर पुरुष और शूर राजपुरुष रक्षा करते हैं (तेभ्यः नमः अस्तु) उनके लिए नमस्कार [सत्कार] हो। (ते नः अवन्तु) वे हमारी रक्षा करें। (ते नः मृडयन्तु) वे हमें सुखी करें।

६) (ते) वे हम (यम् द्विष्मः) जिसे द्वेषते हैं (च) और (यः नः द्वेष्टि) जो हमें द्वेषता है, हम द्वेषने के मूलकारण (तम्) उस-[द्वेष]को (एषाम्) इन [प्रसाधकों] के (जम्भे) जबड़े/नियन्त्रण में (दध्मः) रखते/सौंपते हैं।

मानवता के प्रसार में और मानवधर्म के प्रचार में सबसे बड़ी बाधा परस्पर का द्वेष—विद्वेष है। प्रसाधकों को चाहिए कि वे द्वेष-विद्वेष का निवारण करते हुए मानवप्रजाओं में पारस्परिक प्रेम और सौहार्द बढ़ाते रहें। समस्या का हल द्वेषियों का हनन नहीं है, द्वेष का शमन है।

हरि-केश सूर्यरश्मि यह पूर्व,
रथ-गृत्स और रथौजाः
उसके सेनानी और ग्रामणी।
पुञ्जिक-स्थला और क्रतु-स्थला
हैं दो अप्सराएं।
हिंसक पशुओं [से रक्षार्थ
हो] हननसाधन,
पौरुषेय वध [से रक्षार्थ
हो] प्रहननसाधन।
नमस्कार हो उनके लिए,
रक्षा करें वे हमारी,
करें सुखी वे हमें।
द्वेषते हैं वे हम जिसे,
द्वेषता है जो हमें,
रखते हैं हम उस द्वेष को
इनके जम्भ में।

७३५ **अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्यौ। मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ यातुधाना हेती रक्षांसि प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नो ऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः।** य १५.१६

अयम् दक्षिणा विश्व-कर्मा तस्य रथ-स्वनः च रथे-चित्रः च सेनानी-ग्रामण्यौ। मेनका च सहजन्या च अप्सरसौ यातु-धानाः हेतिः रक्षांसि प्र-हेतिः तेभ्यः नमः अस्तु ते नः अवन्तु ते नः मृडयन्तु ते यम् द्विष्मः यः च नः द्वेष्टि तम् एषाम् जम्भे दध्मः।

१) (दक्षिणा) दक्षिण [दाईं] दिशा। उसमें (अयम् विश्व-कर्मा) यह पवन [अभिसरण कररहा है]। दक्षिण दिशा पवनवत् प्राणप्रदा है।

२) (रथ-स्वनः च रथे-चित्रः च) रथ-स्वन और रथे-चित्र (तस्य) उस [दक्षिण दिशा] के (सेनानी-ग्रामण्यौ) सेनानी और ग्रामणी हैं।

रथ के चलने पर जो स्वन [शोभन झंकार] होता है उसकी संज्ञा रथस्वन है। जिस रथ में शोभन चित्रों का चयन हो उसे रथेचित्र कहते हैं। दक्षिण दिशा और उसमें स्थित पृथिवी का भाग रथ है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

दक्षिणा में निवास करनेवाली मानवप्रजा उस भूभाग की सेना है। दक्षिणा भूभाग में मानवता तथा मानवधर्म का, रथवत् झंकार करता हुआ, प्रसाधकसमूह रथस्वन सेनानी है, और ग्राम ग्राम तथा नगर नगर में जाकर सभी वर्ग के मानवों में चयनीय, मानवीय गुणों का समंकन करनेवाला साधकसमूह रथेचित्र ग्रामणी है।

३) (मेनका च सह-जन्या च अप्सरसौ) मेनका और सहजन्या दो अप्सराएं अथवा दो प्रकार की प्रजाएं हैं।

'मेनका' का अर्थ है मनन करनेवाली और मान करनेवाली। 'सहजन्या' का अर्थ है साथ साथ मिलकर ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश करनेवाली, ज्ञान-विज्ञान के आश्रय से प्रकाश करनेवाली। मननशीला और सहजन्या, दोनों प्रकार की प्रजाएं मननशीलता के साथ एक दूसरे का मान करें और ज्ञान-विज्ञान के आश्रय से सबका अभ्युत्थान करें, ऐसी स्थिति और व्यवस्था मानवधर्म के प्रसाधकों को करनी चाहिए।

४) जो (यातु-धानाः) यातु-धान हैं, जन-पीड़क हैं [उनसे मानवों की रक्षार्थ] (हेतिः) हनन-साधन [का प्रयोग हो], जो (रक्षांसि) राक्षस हैं, दुर्जन हैं [उनसे मानवों की रक्षार्थ] (प्र-हेतिः) प्रकृष्ट हनन-साधन [का प्रयोग हो]।

जिस सुधारयुक्त दण्डविधान तथा शिक्षोपदेश से जनपीड़क जनसेवक बनते हैं उसका नाम हेति है। जिस कठोर, अनुशासनयुक्त दण्ड-विधान तथा प्रकृष्ट शिक्षोपदेश से दुर्जन सज्जन बनते हैं उसका नाम प्रहेति है। प्रसाधकों और प्रशासकों के संयुक्त साधनोपाय तथा प्रयास से जनपीड़कों को जनसेवक, तथा दुर्जनों को सज्जन बनाया जाना चाहिए।

५) जो प्रशासक और प्रसाधक जनपीड़कों जनसेवक, और दुर्जनों को सज्जन बनाते हैं (नमः अस्तु) उनके लिए नमस्कार हो। (ते अवन्तु) वे हमारी रक्षा करें। (ते नः मृडयन्तु) हमें सुखी करें।

जनपीड़कों को जनसेवक, और दुर्जनों को सज्जन बनाने से मानवप्रजा की रक्षा, और उनके सुख वर्धन होता है।

६) (ते) वे हम (यम् द्विष्मः) जिसे द्वेषते हैं और (यः नः द्वेष्टि) जो हमें द्वेषता है, हम [उस [द्वेष]को (एषाम्) इन [प्रसाधकों प्रशासकों] के (जम्भे दध्मः) अधिकार में रखें।

द्वेष के शमन से ही मानवों में पारस्प सौहार्द की स्थापना, और मानवता का प्र होता है।

दक्षिण दिशा, यह विश्वकर्मा,
रथस्वन और रथेचित्र
उसके सेनानी और ग्रामणी।
मेनका और सहजन्या
हैं दो अप्सराएं।
जनपीड़कों [से रक्षार्थ
हो] हननसाधन,
दुर्जनों से [से रक्षार्थ
हो] प्रहननसाधन।
नमस्कार हो उनके लिए
रक्षा करें वे हमारी,
करें सुखी वे हमें।
द्वेषते हैं वे हम जिसे,
द्वेषता है जो हमें,
रखते हैं हम उस द्वेष को
इनके जम्भ में।

७३६ **अयं पश्चाद् विश्वव्यचास्तस्य रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानीग्रामण्यौ। प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ व्याघ्रा हेतिः सर्पाः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नो अवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः।** य १५.

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अयम् पश्चात् विश्व-व्यचाः तस्य रथ-प्र-ओतः च अ-सम-रथः च सेनानी-ग्रामण्यौ। प्र-म्लोचन्ती च अनु-म्लोचन्ती च अप्सरसौ व्याघ्राः हेतिः सर्पाः प्र-हेतिः तेभ्यः नमः अस्तु ते नः अवन्तु ते नः मृडयन्तु ते यम् द्विष्मः यः च नः द्वेष्टि तम् एषाम् जम्भे दध्मः।

१) (पश्चात्) पीछे से, पश्चिम से। (अयम् विश्व-व्यचाः) यह विश्व-व्यापी [अस्त होते हुए सूर्य की लालिमा]।

पश्चिम दिशा अस्त होते हुए सूर्य की अद्भुत आभा से शोभनीय प्रतीत होरही है।

२) (रथ-प्रोतः च असम-रथः च) रथ-प्रोत और असम-रथ (तस्य) उस [पश्चिम दिशा] के (सेनानी-ग्रामण्यौ) सेनानी और ग्रामणी हैं।

सदा रथ में सवार रहकर जो सतत यात्राएं करता रहता है वह रथप्रोत कहलाता है। समरहित, अथवा स्थायीरूप से ठहर ठहर कर चलता है जिसका रथ उसकी संज्ञा असमरथ है। पश्चिम दिशा और उसमें स्थित पृथिवी का भाग रथ है। पश्चिम में निवास करनेवाली मानवप्रजा उस भूभाग की सेना है। पश्चिम भूभाग में मानवता तथा मानवधर्म का, सतत भ्रमण करता हुआ, साधकसमूह रथप्रोत सेनानी है, और ग्राम ग्राम, नगर नगर में स्थित होकर मानवों में मानवता का समंकन करनेवाला साधकसमूह असमरथ ग्रामणी है।

३) (प्र-म्लोचन्ती च अनु-म्लोचन्ती च अप्सरसौ) प्रम्लोचन्ती और अनुम्लोचन्ती दो अप्सराएं अथवा दो प्रकार की प्रजाएं हैं।

'म्लुच्' (गतौ) धातु से 'म्लोचन्ती' शब्द बना है। 'प्र-म्लोचन्ती' का अर्थ है प्रकृष्ट गति, चेष्टा अथवा आदर्श व्यवहार करनेवाली, और 'अनुम्लोचन्ती' का अर्थ है आदर्श प्रजाओं के आदर्श व्यवहार का अनुकरण करनेवाली। प्रसाधक ऐसा साधनामय और सौहार्दपूर्ण वातावरण पैदा करें कि मानवप्रजाएं आदर्श मानवों के आदर्श व्यवहारों का अनुकरण करके मानवता को सुशोभित और मानवधर्म को प्रशस्त करें।

४) जो (व्याघ्राः) व्याघ्र हैं, व्याघ्रों के समान हिंसक हैं [उनसे मानवों की रक्षार्थ] (हेतिः) हननसाधन [का प्रयोग हो], जो (सर्पाः) सर्प हैं, सर्पों के समान विषैले और कुटिल हैं [उनसे मानवों की रक्षार्थ] (प्र-हेतिः) प्रकृष्ट हननसाधन [का प्रयोग हो]।

जिस सुधारयुक्त दण्डविधान तथा साधनोपाय से हिंसक जन अहिंसक बनते हैं उसका नाम हेति है। जिस कठोर नियन्त्रण तथा शिक्षोपदेश से विषैले और कुटिल जन निर्विष और अकुटिल बनते हैं उसका नाम प्रहेति है। प्रसाधकों और प्रशासकों के संयुक्त उपायों से हिंसकों को अहिंसक और कुटिलों को भद्र बनाया जाये।

५) जो प्रसाधक और प्रशासक हिंसकों को अहिंसक तथा कुटिलों को अकुटिल बनाते हैं (तेभ्यः नमः अस्तु) उनके लिए नमस्कार हो, (ते नः अवन्तु) वे हमारी रक्षा करें, (ते नः मृडयन्तु) वे हमें सुखी करें।

हिंसकों को अहिंसक और कुटिलों को भद्र बनाने से, प्रत्यक्षतः, मानवों की रक्षा होती है और उनके सुख का वर्धन होता है।

६) (ते) वे हम (यम् द्विष्मः) जिसे द्वेषते हैं, (च) और (यः नः द्वेष्टि) जो हमें द्वेषता है, हम (तम्) उस[द्वेष]को (एषाम्) इन [प्रसाधकों और प्रशासकों] के (जम्भे दध्मः) जम्भ में रखते हैं।

द्वेष के शमन से मानवप्रजाओं में सुख, शान्ति और सौजन्य की स्थापना होती है।

पश्चिम दिशा, यह विश्वव्यचा,
रथप्रोत और असमरथ
उसके सेनानी और ग्रामणी।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रम्लोचन्ती और अनुम्लोचन्ती
हैं दो अप्सराएं ।
हिंसकों [से रक्षार्थ हो] हननसाधन,
कुटिलों [से रक्षार्थ हो] प्रहननसाधन ।
नमस्कार हो उनके लिए,
रक्षा करें वे हमारी
करें सुखी वे हमको ।
द्वेषते हैं वे हम जिसको,
द्वेषता है जो हमको,
रखते हैं हम उस द्वेष को
इनके जम्भ में ।

७३७ । अयमुत्तरात् संयद्वसुस्तस्य तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्यौ । विश्वाची च घृताची चाप्सरसावापो हेतिर्वातः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नो ऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः । य १५.१८

अयम् उत्तरात् सम्-यत्-वसुः तस्य तार्क्ष्यः च अ-रिष्ट-नेमिः च सेनानी-ग्रामण्यौ । विश्वाची च घृताची च अप्सरसौ आपः हेतिः वातः प्र-हेतिः तेभ्यः नमः अस्तु ते नः अवन्तु ते नः मृडयन्तु ते यम् द्विष्मः यः च नः द्वेष्टि तम् एषाम् जम्भे दध्मः ।

१) (उत्तरात्) बाएं से, उत्तर दिशा से (अयम् संयत्-वसुः) यह संयत्-वसु ।

वसु नाम धन का है । विद्युत् [बिजुली] वसु है यदि वह संयत [नियन्त्रित] रखी जाए । संयत अथवा सुव्यवस्थित रखी जाने पर वह धनैश्वर्यों का सम्पादन कराती है । उत्तर दिशा विद्युत्-प्रधान है, जिससे प्रकाश और धन का सम्पादन होता है ।

२) (तार्क्ष्यः च अरिष्ट-नेमिः च) तार्क्ष्य और अरिष्ट-नेमि (तस्य) उस [उत्तर दिशा] के [सेनानी-ग्रामण्यौ) सेनानी और ग्रामणी हैं ।

'तृक्ष' (गतौ) धातु से तार्क्ष्य शब्द बना है, जिसका अर्थ है गतिशील, प्रगतिशील, तीव्र गति के आश्रय से आगे बढ़नेवाला । 'रिष्ट' का अर्थ है हिंसाशील । 'अरिष्ट' का अर्थ हुआ अहिंसाशील, निरापद । 'णी [नी]' (लेजाना, लेचलना) धातु से 'नेमि' शब्द बना है, जिसका अर्थ है आगे लेजाने-वाला । 'अरिष्टनेमि' का अर्थ है निरापद नयन-शीलता के साथ गति अथवा व्यवहार करनेवाला । उत्तर भूभाग में निवास करनेवाली मानवप्रजा उस भूभाग की सेना है । सारे उत्तर भूभाग में तीव्रता और प्रगतिशीलता के साथ मानवता तथा मानवक का प्रसार करनेवाला साधकसमूह तार्क्ष्य सेनानी और ग्राम ग्राम तथा नगर नगर में निवास कर निरापद नयनशीलता के साथ मानवों में मानव का समंकन करनेवाला साधकसमूह अरिष्टनेमि ग्रामणी है ।

३) (विश्वाची च घृताची च अप्सरसौ) विश्वाची और घृताची दो अप्सराएं अथवा दो प्रकार मानव-प्रजाएं हैं ।

या विश्वं सर्वं अञ्चति व्याप्नोति सा विश्वाची जो सबको व्यापती है, सबको समान रूप से प्य करती है वह विश्वाची मानवप्रजा है । जो, घृतव सम्पर्क में आनेवालों को व्यापती अथवा प्र करती है वह मानवप्रजा घृताची है । प्रसाधक ऐ शिक्षा और ऐसा उपदेश करें कि अपने परिवा परिजनों और सम्बन्धियों को प्यार करनेवा प्रजाएं विश्व के सभी मानवों को अपना परि समझें और सबको समानरूप से प्यार करें, सब भलाई में अपना भला समझें । संकोच मानवता बाधक है और सर्वमयता मानवता की साधिका

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

४) जो (आपः) जल हैं, जलवत् शीतल और शान्त हैं, [अशान्ति और उत्तेजना से मानवों की रक्षार्थ उनका] (हेतिः) हननसाधन अथवा अशान्ति-निवारक साधन [की तरह उपयोग हो], जो मानव-मण्डल (वातः) वात है, प्राणवत् संजीवन अथवा सजीवता का संचार करनेवाला है, [निष्प्राणता और निर्जीवता से मानवों की रक्षार्थ उसका (प्र-हेतिः) प्रकृष्ट हननसाधन अथवा प्रकृष्ट निर्जीवतावारकसाधन [के रूप में प्रयोग हो]।

उत्तेजना के शमन और सजीवता के संचार से मानवसमाज में सुव्यवस्था स्थापित रहती है और विकास तथा समुन्नति का पथ प्रशस्त होता है।

५) जो प्रसाधक मानवसमाज में शान्ति की स्थापना करके सजीवता के साथ सबके विकास और संवर्धन का पथ प्रशस्त करते हैं (तेभ्यः नमः अस्तु) उनके लिए नमस्कार हो, (ते नः अवन्तु) वे हमारी रक्षा करें, (ते नः मृडयन्तु) वे हमें सुखी करें।

शान्ति और सजीवता से, प्रत्यक्षतः, मानवों की रक्षा होती है और उनके सुख का वर्धन होता है।

६) (ते) वे हम (यम् द्विष्मः) जिसे द्वेषते हैं, (च) और (यः नः द्वेष्टि) जो हमें द्वेषता है, हम (तम्) उस-[द्वेष] को (एषाम्) इन[प्रसाधकों] के (जम्भे दध्मः) जम्भ में रखते हैं।

द्वेष के शमन से मानवप्रजाओं में सुख, शान्ति और सौहार्द की वृद्धि होती है।

उत्तर दिशा, यह संयद्-वसु,
तार्क्ष्य और अरिष्टनेमि
उसके सेनानी और ग्रामणी।
विश्वाची और घृताची
हैं दो अप्सराएं।
जल हों हेति, वात हो प्रहेति।
नमस्कार हो उनके लिए,
रक्षा करें वे हमारी,
करें सुखी वे हमको।
द्वेषते हैं वे हम जिसको,
द्वेषता है जो हमको,
रखते हैं हम उस द्वेष को
तुम्हारे जम्भ में।

७३८ **अयमुपर्यर्वाग्वसुस्तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानीग्रामण्यौ। उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसावस्फूर्जन् हेतिर्विद्युत् प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नो ऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः।** य १५.१९

अयम् उपरि अर्वाक्-वसुः तस्य सेन-जित् च सु-सेनः च सेनानी-ग्रामण्यौ। उर्वशी च पूर्व-चित्तिः च अप्सरसौ अव-स्फूर्जन् हेतिः वि-द्युत् प्र-हेतिः तेभ्यः नमः अस्तु ते नः मृडयन्तु ते यम् द्विष्मः यः च नः द्वेष्टि तम् एषाम् जम्भे दध्मः।

१) (उपरि) ऊपर (अयम् अर्वाक्-वसुः) यह अर्वाक्-वसु।

'वसु' शब्द के अनेक अर्थों में से एक अर्थ है लोक। 'अर्वाक्' का अर्थ है घूमता हुआ। 'अर्वाक्-वसु' शब्द का प्रयोग यहां द्यु लोक अर्थ में हुआ है। द्यु लोक में जो सतत घूमते हुए प्रकाशलोक हैं उनके समूह का नाम अर्वाक-वसु है। ऊपर की दिशा पृथिवी के ऊपर एक चमकीली जगमगीली रत्न-जटित छत है।

२) (सेन-जित् च सु-सेनः च) सेन-जित् और सु-सेन (तस्य) उस[ऊपर की दिशा]के (सेनानी-ग्रामण्यौ) सेनानी और ग्रामणी हैं।

पृथिवी पर निवास करनेवाली सारी मानवप्रजा सम्पूर्ण भूमि की रक्षा करनेवाली सेना है। जो

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रसाधकसमूह अदिति [सारी पृथिवी] का आदित्य [पुत्र] बनकर पृथिवीस्थ सारी मानवप्रजा को अपने प्रति स्नेहबद्ध करता हुआ सार्वभौम मानवता तथा मानवधर्म की स्थापना की साध में संलग्न रहता है वह सेनजित् सेनानी है। जो प्रसाधकसमूह प्रदेश प्रदेश के ग्राम ग्राम और नगर नगर में मानवता तथा मानवधर्म की स्थापना में संलग्न है वह सु-सेन ग्रामणी है।

३) (उर्वशी च पूर्व-चित्तिः च अप्सरसौ) उर्वशी और पूर्वचित्ति दो अप्सराएं अथवा दो प्रकार की प्रजाएं हैं।

उर्वशी = उरु-अशी, बहुतों को व्यापने—वश में करनेवाली, सर्वप्रिया, सर्वमोहिका। पूर्व-चित्तिः = पूर्वा प्रथमा चित्तिः यस्याः सा, उत्तम कोटि की चेतनावाली। उर्वशी तथा पूर्वचित्ति, दोनों प्रकार की मानव-प्रजाएं उपरिस्थ द्युलोक की ज्योतिर्मयी छाया में सम्पूर्ण पृथिवी पर, सर्वत्र, अपने अपने क्षेत्र में मानवों को सुमोहक शील और प्रबोधक चेतना से अलंकृत करें। ऐसा होने पर ही पृथिवी हर्षोल्लास के अवस्फूर्जन तथा प्रकाश से युक्त होती है।

उत्साहवर्धन के लिए जो (अव-स्फूर्जन्) गर्जन है, मानवता का उद्घोष है, [निराशा से मानवों की रक्षार्थ उसका] (हेतिः) हननसाधन अथवा निराशानिवारक-साधन [की तरह उपयोग हो], जो (वि-द्युत्) बिजली है, विद्युत् की रेखा है, विद्योतन है, मानवता का प्रकाशन है [अज्ञानान्धकार से मानवों की रक्षार्थ उसका] (प्र-हेतिः) प्रकृष्ट हननसाधन अथवा प्रकृष्ट अज्ञानान्धकारनिवारक साधन [के रूप में प्रयोग हो]।

सार्वभौम मानवता और मानवधर्म की स्थापना एक महतो महान् साधना है। उसकी धीमी प्रगति पर कभी कभी मानवप्रजाएं हतोत्साहित होजाती हैं। कभी कभी मानवता की प्रसाधना के मार्ग में ऐसे अन्धकारमय व्यवधान आते हैं कि मा प्रजाओं के साथ साथ मानवता के प्रसाधक किंकर्तव्यविमूढ होजाते हैं। ऐसे अवसरों प्रचेताओं द्वारा मानवता का अदम्य उद्घोष मा प्रजाओं में उस विद्युद्-रेखा का काम करता है निराशा और अविश्वास के निपट अन्धका प्रकाश कोंदा देती है।

५) जो प्रचेता मानवता का उद्घोष करके सा पथ का विद्योतन करते हैं (तेभ्यः नमः अस्तु) लिए नमस्कार हो, (ते नः अवन्तु) वे हमारी करें, (ते नः मृडयन्तु) वे हमें सुखी करें।

प्रचेताओं के उद्घोष तथा विद्योतन निस्सन्देह, मानवों की रक्षा होती है और सुख-सौभाग्य का वर्धन होता है।

६) (ते) वे हम (यम् द्विष्मः) जिसे द्वेषते हैं और (यः नः द्वेष्टि) जो हमें द्वेषता है, हम उस[द्वेष]को (एषाम्) इन[प्रचेताओं]के (दध्मः) जम्भ में रखते हैं।

द्वेष के शमन से मानवप्रजाओं में परस्पर और सौहार्द की वृद्धि होती है।

उपरि दिशा, यह अर्वाग्वसु,
सेनजित् और सुषेण
उसके सेनानी और ग्रामणी।
उर्वशी और पूर्वचित्ति
हैं दो अप्सराएं।
अवस्फूर्जन हो हेति
और विद्युत् प्रहेति।
नमस्कार हो उनके लिए,
रक्षा करें वे हमारी,
करें सुखी वे हमको।
द्वेषते हैं वे हम जिसको,
द्वेषता है जो हमको,
रखते हैं हम द्वेष को
तुम्हारे जम्भ में।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

७३९ **अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत् पतिः पृथिव्या अयम् । अपां रेतांसि जिन्वति ।।**
[ऋ ८.४४.१६; य ३.१२; १३.१४; सा २७; १५३२] य १५.२०
अग्निः मूर्धा दिवः ककुत् पतिः पृथिव्याः अयम् । अपाम् रेतांसि जिन्वति ।

साध की गुरुता की अनुभूति से भावविभोर होकर प्रसाधक तथा प्रचेता कहने लगते हैं—
१) (अयम् अग्निः) यह ब्रह्माग्नि (दिवः मूर्धा) प्रकाश का मूर्धा है, प्रकाशों का प्रकाश है, सर्वोच्च और सर्वोत्कृष्ट प्रकाश है। उसी से प्राप्त, उसके ही प्रकाश में हमारी साधें और साधनाएं सिद्ध होंगी ।
२) (अयम् अग्निः) यह ब्रह्माग्नि (पृथिव्याः) विराट् का, सृष्टिरूपी विस्तृति का (ककुत् पतिः) दिक्पाल है, सब दिशाओं का प्रतिपालक है। वही अपनी पावमानी व्याप्ति से हमारी साधों और साधनाओं की सार्वभौम व्याप्ति में हमारी सहायता करेगा ।
३) (अयम् अग्निः) यह ब्रह्माग्नि (अपाम् रेतांसि जिन्वति) सृष्टियों के प्रवाहों को प्रेर रहा है। उसी की अन्तर्व्यापिनी प्रेरणाओं से हमारी साधें और साधनाएं सिद्ध और सार्थक होंगी ।

अग्नि मूर्धा है प्रकाश का,
यही दिक्पति है विराट् का ।
यही कर रहा है प्रवाहित
सृष्टियों के प्रवाहों को ।

सूक्तिः—**अग्निर्मूर्धा दिवः ।**
ब्रह्माग्नि प्रकाश का मूर्धा है।
अपां रेतांसि जिन्वति ।
यह सृष्टियों के प्रवाहों को प्रेर रहा है ।

७४० **अयमग्निः सहस्रिणो वाजस्य शतिनस्पतिः । मूर्धा कवी रयीणाम् ।।**
[ऋ ८.७५.४.] य १५.२१
अयम् अग्निः सहस्रिणः वाजस्य शतिनः पतिः । मूर्धा कविः रयीणाम् ।

(अयम्) यह (मूर्धा) सर्वोपरि (कविः) क्रान्तदर्शी, क्रान्तप्रज्ञ, क्रान्तकर्मा (अग्निः) ब्रह्माग्नि (शतिनः) शतशः प्रशस्तियों से युक्त, (सहस्रिणः) सहस्रशः दिव्यताओं से सुयुक्त (वाजस्य) वाज का तथा (रयीणाम्) आत्मैश्वर्यों का (पतिः) स्वामी है ।

वाज नाम उस ज्योति और शक्ति का है जिसके आश्रय से संग्रामों में विजय सम्पादन की जाती है। प्रसाधक और प्रचेता जिस सार्वभौम साध में संलग्न हैं वह एक परमोत्कृष्ट संग्राम है। उसमें विजय प्राप्त करने के लिए प्रभुप्रदत्त वाज और आत्मैश्वर्यों की, प्रत्यक्षतः, आवश्यकता है। प्रभुप्रदत्त वाज में वे सब प्रशस्त गुण तथा वे सब दिव्यताएं निहित हैं जिनसे उन समस्त आत्मैश्वर्यों का सम्पादन होता है जो सार्वभौम मानवता तथा मानवधर्म की स्थापना के लिए अपेक्षित हैं ।

यह मूर्धा, कवि, ब्रह्माग्नि है
शतिनः सहस्रिणः वाज का
अपि च आत्मैश्वर्यों का स्वामी ।

७४१ **त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत । मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ।।**
[ऋ ६.१६.१३; य ११.३२; सा ९] य १५.२२
त्वाम् अग्ने पुष्करात् अधि अ-थर्वा निः अमन्थत । मूर्ध्नः विश्वस्य वाघतः ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(अग्ने) ब्रह्माग्ने ! (अ-थर्वा) अथर्वा ने (त्वाम्) तुझे (वाघतः पुष्करात् अधि) यज्ञिय पुष्कर से ऊपर (विश्वस्य मूर्ध्नः) विश्व के मूर्धा का (निः अमन्थत) मन्थन करके साक्षात् किया है।

प्रसाधक और प्रचेता जिस ब्रह्माग्नि का गुणानुवाद कर रहे हैं, किसी ने उसे पाया और देखा भी है ? वेदमाता कहती है, 'उस ब्रह्माग्नि का साक्षात्कार वह अथर्वा योगी ही कर पाता है जो यज्ञिय पुष्कर से ऊपर विश्व के मूर्धा का मन्थन किया करता है।'

अथर्वा=अ+थर्वा। अ[नहीं]+थर्वा [कांपने-वाला]। अकम्प, अविचलित योगी की संज्ञा अथर्वा है। अथर्वा का शिर ही वह मूर्धा है जो यज्ञिय पुष्कर [हृदयाकाश] से ऊपर स्थित है और विश्व के प्रत्येक रहस्य का उद्घाटन करता है।

'पुष्कर' का अर्थ है पुष्टिकर। देहसदन पोषक होने से आत्मा पुष्कर है। यज्ञिय आत्मा निवासस्थान होने से हृदयाकाश की भी यज्ञिय पुष्कर है।

अथर्वा योगी हृदयाकाश में मन और चित्त निरुद्ध करके जब मस्तिष्क में मन्थन अथवा हित चिन्तन करता हुआ आत्मसमाहित होजा तो उसे ब्रह्माग्नि के निजस्वरूप का स्पष्ट सन्द होता है। यही ब्रह्माग्नि का निर्मन्थन है।

अग्ने !
तुझे प्रकट किया करता है
योगी अथर्वा मन्थन करके
यज्ञिय पुष्कर से ऊपर।

७४२ **भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः। दिवि मूर्धानं दधि स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ॥**

[ऋ १०.८.६; य १३.१५] य १५.

भुवः यज्ञस्य रजसः च नेता यत्र नि-युत्-भिः सचसे शिवाभिः। दिवि मूर्धानम् दधि स्वः-साम् जिह्वाम् अग्ने चकृषे हव्य-वाहम्।

प्रसाधक और प्रचेता ब्रह्माग्नि को साक्षात् सम्बोधन करते हुए कहते हैं—(भुवः अग्ने) आकाशवत् व्यापक ब्रह्माग्ने ! (यज्ञस्य च रजसः नेता) सृष्टियज्ञ तथा लोकसमूह का नयनकर्ता तू (यत्र शिवाभिः नि-युत्-भिः) जहां कल्याणकारिणी नियुतियों द्वारा (सचसे) संगत होरहा है वहां तू (दिवि मूर्धानम् दधिषे) द्यौ में मूर्धा को धारण कररहा है और (स्वः-साम्) आनन्द-प्रदा, सुखों का वितरण करने-वाली, (हव्य-वाहम्) हव्य-वाहिका (जिह्वाम्) वाणी को (चकृषे) सम्पादन किया करता है।

अपनी व्याप्ति-मात्र से वह सृष्टिरूपी यज्ञ का तथा लोकसमूह का सुसंचालन कर रहा है।

ब्रह्म द्वारा निर्धारित जिन नियमों से सृष्टि का सतत संचालन होरहा है वे ही शिव नियुतियां हैं।

भुवस् ब्रह्माग्नि शिव नियुतियों द्वारा सृष्टि से संगत हुआ उसका संवहन कररहा है।

प्रकाश ब्रह्माग्नि का मूर्धा है। दिवं यह **मूर्धानम्** (अथर्ववेद १०.७.३२) के अनुसार ब्रह्म का मूर्धा है। द्यौ प्रकाश का प्रतीक उसने प्रकाशलोकों को मूर्धावत् धारण हुआ है।

स्वः-साम्, सुखानन्द की प्रदात्री, ज्ञान-वि रूपी हव्यों का वहन करनेवाली वेदवाणी [आकाशवत् व्यापक] ब्रह्माग्नि की जिह्वा है। द्वारा वह मानवप्रजा से बोलता है। वेदवाणी अनुशीलन करना ब्रह्माग्नि से बातें करना है।

ऐसा वह ब्रह्माग्नि मानवता तथा मानवक सार्वभौम स्थापना की हमारी साध की साध

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हमारा प्रेरक तथा सहायक हो, प्रसाधकों की यह कामना है।

भुवः अग्ने !
यज्ञ का अपि च रजोलोक का सुनयनकर्ता
तू जहां शिव नियुतियों द्वारा
होरहा है संगत
वहां तू धारण कररहा है
द्यौ में मूर्धा,
और सम्पादन किया करता है
स्वः-सा और हव्यवाहिका वेदवाणी को।

७४३ **अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम्।**
यह्वाइव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ ॥
[ऋ ५.१.१; साम ७३; १७४६; अ १३.२.४६] य १५.२४
अबोधि अग्निः सम्-इधा जनानाम् प्रति धेनुम्-इव आ-यतीम् उषसम्।
यह्वाः इव प्र वयाम् उत्-जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकम् अच्छ।

(अग्निः) ब्रह्माग्नि ने (अबोधि) प्रबुद्ध किया [वेदवाणीरूपी] (सम्-इधा) प्रज्वलन/प्रकाशन-साधन द्वारा (जनानाम् प्रति आयतीम्) मानवों के प्रति आती हुयी (उषसम् धेनुम् इव) उषारूपी गौ को जैसे।

यह प्रसाधकों तथा प्रचेताओं की ब्रह्म के प्रति साभार प्रशस्तिजन्य उक्ति है। वेद मानवधर्म-शास्त्र है। वेद में मानवता तथा मानवधर्म का प्रकाशन हुआ है। प्रसाधकों ने वैदिक शिक्षाओं का साचार प्रचार किया और मानवप्रजा को ऐसे प्रबुद्ध कर दिया जैसे सूर्याग्नि उषारूपी धेनु को। प्रभु की वाणी [वेदवाणी] वह उषा धेनु है, वह दुधार उषा है जो मानवों में मानवधर्म का प्रकाशन कर देती है।

वेदवाणी के साचार वेदप्रचार से (वयाम् प्र) शाखा के प्रति, शिखर की ओर (उत्-जिहानाः) ऊपर को उड़ते हुये (यह्वाःइव) महान् [पक्षियों] के समान (भानवः) ज्ञानकिरणें, विवेकप्रकाश (नाकम् प्र) आनन्दधाम के प्रति (अच्छ सिस्रते) सम्यक् सरण करते हैं।

जिस प्रकार सुपर्ण [बाज़] आदि महा उड़ान भरनेवाले महान् पक्षी वृक्षों की ऊंची शाखाओं और पर्वतों के उच्च शिखरों की ओर उड़ान भरते हैं, उसी प्रकार मानवता के प्रसाधक और मानवधर्म के प्रचेता, ज्ञानप्रकाशों के आश्रय से मानवों को मानवता की उच्चतम ऊंचाइयों की ओर लेजाने की प्रसाधना में संलग्न रहते हैं और भूधाम को आनन्द-धाम बनाने के साधनोपायों में निरत रहते हैं। यही उनकी सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि उड़ान है। इसी उड़ान के आश्रय से वे मानवता की ज्योतियां जगाते हैं।

अग्नि ने प्रबुद्ध किया समिधा द्वारा
मानवों के प्रति आती हुयी
उषा-धेनुवत्।
शिखर के प्रति उड़ते हुये
महा पक्षियों के समान किरणें
करती हैं सम्यक् क्षरण
आनन्दधाम की ओर।

७४४ **अवोचाम कवये मेध्याय वचो वन्दारु वृषभाय वृष्णे।**
गविष्ठिरो नमसा स्तोममग्नौ दिवीव रुक्ममुरुव्यञ्चमश्रेत् ॥
[ऋ ५.१.१२] य १५.२५

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अवोचाम कवये मेध्याय वचः वन्दारु वृषभाय वृष्णे ।
गवि-स्थिरः नमसा स्तोमम् अग्नौ दिवि-इव रुक्मम् उरु-व्यञ्चम् अश्रेत् ।

प्रसाधक और प्रचेता कहे चले जारहे हैं—
१) हमने (अवोचाम्) बोला, [हम] बोला करते हैं, [हम] बोला [करें] (वन्दारु वचः) वन्दनशील वचन, वन्दनीय शब्द (मेध्याय वृषभाय वृष्णे कवये) पवित्र, पराक्रमशील, वर्षणशील कवि के प्रति ।

यह वाणी द्वारा कविवर्ग के आतिथ्य का विधान है । 'कवि' शब्द का अर्थ है मेधावी, क्रान्तदर्शी, कान्तप्रज्ञ, क्रान्तकर्मा । कवि होता है (मेध्य) पवित्र, (वृषभ) पराक्रमशाली, (वृषा) वर्षणशील । वह मानवसमाज में पवित्रता, पराक्रम और विवेकपूर्ण संज्ञान तथा सदुपदेशों की वृष्टि करता है । मानव-प्रजाएं सर्वत्र उसके प्रति सवन्दन भाषण करें, और सवन्दन सम्बोधनों द्वारा उसका सर्वत्र स्वागत, सत्कार करें । 'वन्दारु' शब्द में वन्दन, प्रणाम और प्रशंसा का भाव अन्तर्निहित है । कवि मानवता का मुकुट होता है । वह अपने आदर्श जीवन, प्रखर विवेक और गहन संज्ञान के आश्रय से मानवप्रजाओं में मानवीय विचारों तथा मानवीय भावनाओं का संचार करके मानवता का मान बढ़ाता है और मानवधर्म का वास्तविक स्वरूप दर्शाता है ।

२) (दिवि-इव गवि-स्थिरः) आकाश में जैसे सूर्य (रुक्मम्) प्रकाश को [आश्रय/धारण किए रहता है [वैसे ही हममें से प्रत्येक प्रसाधक और प्रचेता] (अग्नौ) मानवप्रेमाग्नि में [स्थिर रहता हु (उरु-व्यञ्चम् स्तोमम्) बहुत व्याप्तिमय स्तो (नमसा) नमस्कारपूर्वक, नमनशीलता के (अश्रेत्) आश्रय किए [रहे] ।

गौ [किरण] में, किरणसमूह में स्थित वाला होने से सूर्य को गविष्ठिर [गवि-स्थिर] गया है ।

'स्तोम' शब्द का प्रयोग यहां 'स्तुत्य साध में हुआ है । मानवता का सार्वभौम प्रसार मानवधर्म का व्यापक प्रचार अपने आपमें स्तोम है, एक अतिशय स्तुत्य साध है ।

प्रत्येक प्रसाधक तथा प्रचेता, मानवप्रेमाग्नि पगा हुआ, नमनशीलता के साथ, इस बहु-व्याप्त अथवा सर्वत्र व्यापनीय स्तुत्य साध को स्थिरता आश्रय किए रहे, ठीक वैसे ही जैसे सूर्य आका स्थिरता के साथ स्थित हुआ प्रकाश को धा किए रहता है ।

बोला करें हम वचन वन्दारु
पवित्र, पराक्रमी, वर्षणशील कवि के प्रति ।
आकाश में जैसे सूर्य प्रकाश को,
आश्रय किए रहे प्रसाधक,
अग्नि में, बहु-व्यापनीय स्तोम को,
नमनशीलता के साथ ।

७४५ **अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः ।**
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ।।
[ऋ ४.७.१; य ३.१५; ३३.६] य १५.२६

अयम् इह प्रथमः धायि धातृ-भिः होता यजिष्ठः अध्वरेषु ईड्यः ।
यम् अप्न-वानः भृगवः वि-रुरुचुः वनेषु चित्रम् वि-भ्वम विशे-विशे ।

साध की गुरुता की भावना से भावित होकर कवि जन कहते हैं—प्रसाधको ! तुम्हारी साध महतो महान् है । ब्राह्मी शक्ति के बिना वह सिद्ध नहीं ब्रह्म का अपने भीतर सन्धारण करके, ब्राह्म

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

से युक्त रहते हुए, सार्वभौम मानवता की संसाधना करो। देखो, (यम्) जिस (चित्रम्) अद्भुत, परम मनोहर, चयनीय (वि-भ्वम्) वि-भु, व्यापक [ब्रह्म] को (अप्न-वानः) कर्म-शील, रूप-वान्, सन्ततिवान् (भृगवः) तेजस्वी जन, अध्यात्म तेज से युक्त योगी जन (वनेषु) वन्दनों में, प्रार्थनोपासनाओं में (विशे-विशे) प्रजा प्रजा के लिए, मानव मानव के लिए (वि-रुरुचुः) विविधतया रुचिकर किया करते हैं, शोभनीयता के साथ विहित किया करते हैं वह (अयम्) यह (प्रथमः होता) प्रथम दाता, (यजिष्ठः) यज्ञियतम, पूजनीयतम, (ईड्यः) स्तुत्य [ब्रह्म] (इह) यहां, इस संसार में (अध्वरेषु) हिंसारहित साधों में, निश्छल साधनाओं में (धातृ-भिः) धारण करनेवालों द्वारा, प्रसाधकों द्वारा (धायि) धारण किया जाता है। धारण करनेवाले ही इसे धारण करते हैं, सब नहीं।

ब्रह्म को यहां जो 'प्रथम होता' [प्रथम दाता] कहा गया है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। जो भी जिस किसी को जो कुछ देरहा है वह सब ब्रह्म का है और ब्रह्म से लेकर देरहा है। पिता ने अपने बालक के हाथ से किसी को पांच रुपए दान दिलाए। इस दान में प्रथम दाता पिता है क्योंकि बालक ने जो राशि दी है वह पिता से लेकर दी है। इसी भाव से यहां ब्रह्म को 'प्रथम होता' कहा गया है।

अध्वरेषु शब्द का प्रयोग यहां उन साधों के लिए हुआ है जिनमें न किसी की हिंसा की जाती है, न किसी को सताया जाता है, न किसी के साथ किसी प्रकार का छल-कपट किया जाता है। प्रसाधकों की मानवीय साधें, निस्सन्देह, अध्वर हैं, हिंसारहित और निश्छल हैं।

'अप्न' का अर्थ है कर्म, रूप और सन्तान। भृगुजन [अध्यात्म तेज से युक्त योगी जन] स्वरूपतः कर्मशील, रूपवान् और सुसन्तानवान् होते हैं। कर्मशीलता ही सच्ची सुरूपता है और कर्मशील की ही सन्तान सुसन्तान होती है।

जिस चित्र, विभु, प्रथम होता, यज्ञियतम, स्तुत्य ब्रह्म को अप्नवान् भृगु जन प्रार्थनोपासनाओं में जन जन के लिए विशेष रुचि का विषय बनाते हैं और विश्वतोधार मानवीय अध्वरों में, हिंसारहित और निश्छल साधों में प्रसाधकों द्वारा जो धारण किया जाता है ऐसा यह ब्रह्म हमारी प्रसाधनाओं में हमारा सहायक हो, हम प्रसाधकों की प्रसाधनाओं का मार्ग प्रशस्त करे।

चित्र, विभु को अप्नवान् भृगु
वन्दनाओं में मनुज मनुज के लिए
किया करते हैं विशेष रुचिकर।
यह प्रथम होता, यजिष्ठ, स्तुत्य
यहां अध्वरों में है धारण किया जाता
धारण करनेवालों के द्वारा।

सूक्ति : **अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता।**
यहां यह प्रथम दाता धारण करनेवालों के द्वारा धारण किया जाता है।

७४६ **जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविरग्निः सुदक्षः सुविताय नव्यसे।**
घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद् वि भाति भरतेभ्यः शुचिः॥
[ऋ ५.११.१; सा ९०७] य १५.२७

जनस्य गोपाः अजनिष्ट जागृविः अग्निः सु-दक्षः सुविताय नव्यसे।
घृत-प्रतीकः बृहता दिवि-स्पृशा द्यु-मत् वि भाति भरतेभ्यः शुचिः।

कवि जन कहे चले जारहे हैं—प्रसाधको! (जनस्य गोपाः) जन का रक्षक, (जागृविः) जागरणस्वरूप, कभी न सोनेवाला, (सु-दक्षः) सुदक्षता से युक्त, सर्व-क्षम, (घृत-प्रतीकः) स्नेहमय, प्रेमस्वरूप,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(बृहता दिवि-स्पृशा द्यु-मत्) विशाल द्यौ में स्पर्श करनेवाले प्रकाश से युक्त, (शुचिः) पवित्र, पावन (अग्निः) ब्रह्माग्नि (नव्यसे सुविताय) नवीन उत्पादन के लिये, नवनिर्माण के लिए (अजनिष्ट) प्रकट हुआ, (भरतेभ्यः वि भाति) आदित्यों के लिए प्रकाशरहा है।

'जन' शब्द का प्रयोग यहां उस प्रसाधक जनसमूह के लिए हुआ है जो विश्व में मानवता तथा मानवधर्म की प्रसाधना में निरत रहते हैं। ब्रह्माग्नि प्रसाधक जन का रक्षक है। प्रसाधक जन उसकी सर्वातिशय सुरक्षाकारिणी सुरक्षा में सुरक्षित रहते हुए अपनी मानवीय संसाधनाओं में निश्चिन्तता तथा निर्भयता के साथ संलग्न रहें।

ब्रह्माग्नि जागृवि है। वह कभी सोता नहीं है। जागरणशील स्वयं जागता रहता है और सोते हुओं को जगाता है। जागरणशील ब्रह्म के आश्रय और दृष्टि में सदा सजग रहते हुए प्रसाधक जन अपनी साधों की संसिद्धि में सतत अग्रसर रहें।

ब्रह्म सुदक्ष है। सुदक्षता से युक्त रहता हुआ, वह पूर्ण दक्षता के साथ सृष्टिप्रवाह का संचालन कर रहा है। एवमेव, प्रसाधक जन ब्राह्म दक्षता से युक्त रहते हुए अपनी मानवीय साधों का सम्पादन करते रहें।

ब्रह्म घृतप्रतीक है, घृतवत् स्निग्ध स्नेह से स्निग्ध है। उसके स्नेह से स्निग्ध रहते हुए प्रसाधक जन मानवजाति के नवनिर्माण की साध को संसिद्ध करें।

ब्रह्म है द्युस्पर्शी प्रकाश से युक्त। ब्रह्म का प्रकाश विशाल है, व्यापक है, सर्वव्यापक 'द्यौ' से तात्पर्य प्रकाशलोकों के समूह से अखिल प्रकाशलोकसमूह उसी के प्रकाश के से प्रकाशित होरहा है।

वह पवित्र, सुपावन ब्रह्माग्नि नवीन और नवनिर्माण के लिए सदा प्रकट और प्र होरहा है। उसकी ज्योतिर्मयी व्याप्ति-भा विश्व में नित्य नूतन नूतन निर्माण हो नवीन नवीन सृष्टियों और कृतियों की सु होरही हैं। वह स्वयं सदा-नवीन है। उस नवीन से युक्त रहते हुए प्रसाधक जन मानव का नित्य नवीन निर्माण, और सतत नवो करते रहें।

भरत नाम आदित्य अथवा अदिति [पृ के पुत्र का है। अदिति [सारी पृथिवी] को माता मान कर उस पर निवास करने सम्पूर्ण मानवप्रजा का जो भरण—पोषण हैं और सारी मानवजाति की समानरू सुसेवा करते हैं उनकी संज्ञा भरत है। पृथिवी पर मानवता तथा मानवधर्म की स की संसाध में निरत प्रसाधक जन ही वे जिनके लिए और जिनके अन्तःकरणों में सदा प्रकाशता है।

जन का रक्षक, जागरणस्वरूप, सुदक्ष, घृतप्रतीक, व्यापक, द्युस्पर्शी, प्रकाशयुक्त, पवित्र अग्नि नवनिर्माण के लिए प्रकट हुआ है और प्रकाश रहा है भरतों के लिए।

७४७ **त्वामग्ने अङ्गिरसो गुहा हितमन्वविन्दञ्छिश्रियाणं वनेवने।**
स जायसे मथ्यमानः सहो महत् त्वामाहुः सहसस्पुत्रमङ्गिरः॥
[ऋ ५.११.६; सा ९०८] य १५.२८

त्वाम् अग्ने अङ्गिरसः गुहा हितम् अनु अविन्दन् शिश्रियाणाम् वने-वने।
सः जायसे मथ्यमानः सहः महत् त्वाम् आहुः सहसः पुत्रम् अङ्गिरः।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कवियों द्वारा उत्प्रेरित होकर, भरत ब्रह्माग्नि को सम्बोधन करते हैं—

१) (अग्ने) ब्रह्माग्ने ! (गुहा हितम्) गुहा में निहित, (वने-वने शिश्रियाणम्) किरण किरण में आश्रित, प्रकाश की हर किरण में व्यापक, आत्मा आत्मा में अधिष्ठित (त्वाम्) तुझे (अङ्गिरसः) तेजस्वियों ने (अनु अविन्दन्) अनुप्राप्त किया है, निरन्तर आत्मसाधना करके पाया है।

'गुहा' शब्द का प्रयोग यहां हृदयाकाश के लिए हुआ है। हृदयाकाश में आत्मा का अधिष्ठान है। हृदयाकाशरूपी गुहा को ही **हिरण्ययः कोशः और ज्योति से आवृत स्वर्ग** (अथर्ववेद ~~२०.२७.२~~) कहा गया है। ब्रह्माग्नि किरण किरण में, प्रत्येक आत्मरश्मि में व्यापक है। फिर भी, उसे 'गुहा में निहित' इसलिए कहा गया है कि आत्मद्रष्टा को उसका दर्शन आत्मगुहा में ही होता है।

वन नाम प्रकाशकिरण तथा आत्मकिरण का है।

'आङ्गिरसः' शब्द का प्रयोग यहां तेजस्वी प्रसाधकों के लिए ही हुआ है। वे धारणा, ध्यान, समाधि के आश्रय से निरन्तर ब्रह्म-समाहित रहते हैं और ब्रह्माग्निमय होकर ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं। ब्रह्मसमाहित रहते हुए ही वे मानवता तथा मानवधर्म की विश्वव्याप्ति करते हैं।

२) ब्रह्माग्ने ! (सः) वह तू (मथ्यमानः जायसे) मथा जाकर प्रकट/साक्षात्कृत होता है।

यह अंगिराओं की आत्मानुभवजन्य उक्ति है। 'तेरा संदर्शन यों ही प्राप्त नहीं होजाता है। उसके लिए सतत मन्थन और उत्कट साधना करनी पड़ती है।'

अंगिरा अंगिरा के प्रति सर्वत्र सब मानव कहते हैं—(अङ्गिरः) तेजःपुञ्ज प्रसाधक ! [सर्व जन ठीक ही] (त्वाम् सहसः पुत्रम्) तुझ धैर्य के पुत्र को, सहनशक्ति के पुतले को, बल के पुञ्ज को (महत् सहः) महत् धैर्य, महान् बल, सुमहान् धीर (आहुः) कहते हैं।

सहः नाम सहनशक्ति, धैर्य, साम्मुख्य [मुक़ाबला] करने की सामर्थ्य तथा वल का है। जिसमें जितनी सहनशक्ति होती है वह उतना ही धैर्य का धनी, विकट परिस्थितियों का मुक़ाबला करनेवाला, संघर्षों में निर्बाध साधना करनेवाला होता है। सहः में ही सफलता और विजय का निवास है।

अग्ने ! गुहानिहित,
वन वन में व्यापक तुझे
प्राप्त किया करते हैं
तेजःपुञ्ज प्रसाधक।
वह तू प्रकट हो पाता है
मथा जाकर।
अंगिरः ! तुझ सह के पुतले को
कहते हैं जन 'महत् सह'।

सूक्तिः—स जायसे मथ्यमानः।
वह तू प्रकट होता है मथा जाकर।

७४८ **सखायः सं वः सम्यञ्चमिषं स्तोमं चाग्नये। वर्षिष्ठाय क्षितीनामूर्जो नप्त्रे सहस्वते॥**
[ऋ ५.७.१] य १५.२९

सखायः सम् वः सम्यञ्चम् इषम् स्तोमम् च अग्नये। वर्षिष्ठाय क्षितीनाम् ऊर्जः नप्त्रे सहस्वते।

अब भरत जन सर्वजनों को सम्बोधन करते हुए कहते हैं—(सखायः) सखाओ ! हम (सम्) सम्यक् धारण करते/कराते हैं (वः) तुम्हारे लिए, तुम सब मानवों के लिए (सम्यञ्चम्) सही, वास्तविक (इषम्) सुख, (सहस्वते नप्त्रे वर्षिष्ठाय) सहनशील, नियामक वृद्ध के लिए [अथवा (नप्त्रे सहस्वते वर्षिष्ठाय) पौत्रवाले, शान्त बुजुर्ग के लिए] (क्षितीनाम् ऊर्जः) मानवों के बल, (च) और (अग्नये) ब्रह्माग्नि के

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

लिए (स्तोतम्) स्तोम, स्तुति ।

भरतों का यह महान् शील है कि वे समता के साथ, सब मानवों को सखा समझें और वैसा ही सबके साथ बर्ताव करें। मानवता की स्थापना और मानवधर्म की संसाधना सखित्व के साथ ही सिद्ध होपायेगी ।

समभाव से वे सब मानवों के लिए वास्तविक सुख का सही रूप दर्शाएं और उन्हें मानवता के सही मार्ग पर चलाकर वास्तविक सुख प्राप्त करने की विधि सिखाएं ।

सामाजिक सुख, शान्ति और सुव्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि मानवसमाज में सहनशील और अनुभवी, वृद्ध जनों का समादर हो और सर्व-मानव उनके अनुशासन में रहकर उनके संबलों का वर्धन करें। सहनशील, शान्तात्मा, वृद्ध जन मानवों का सुनियमन करें, और सब मानव उनके शासन को स्वीकार करके उनका बल बढ़ाएं।

'स्तोमं चाग्नये', भरतों का यह संकेत समाज को परम आस्तिक बनाने के लिए ब्रह्माग्नि की स्तुतिप्रार्थनोपासना करने से समाज में आस्तिक्य की व्याप्ति होती है। आप्ति से ही सच्चे मानवधर्म की स्थापना होती आस्तिकवाद ही है जो मानवों को सच्चा बनाता है ।

सखाओ ! संधारण करते हम
तुम्हारे लिए वास्तविक सुख,
शान्त, नियामक वृद्ध के लिए
मानवों के बल और संबल,
और अग्नि के लिए स्तोम ।

७४९ **संसमिद् युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ । इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर**
[ऋ १०.१९१.१; अ ६.६३.४]

य १५

सम्-सम् इत् युवसे वृषन् अग्ने विश्वानि अर्यः आ । इडः पदे सम् इध्यसे सः नः वसूनि आ भर

सर्व जनों को सम्बोधन करने के बाद भरत जन आस्तिकवाद की वृद्धि की भावना से ब्रह्माग्नि से विनय करते हैं—

१) (वृषन्) वृष्टिकर्तः ! सुखैश्वर्यों की वृष्टि करने-वाले ! (अग्ने) ब्रह्माग्ने ! (अर्यः) स्वामी तू (इत्) ही [लोक-लोकान्तरों को] (आ) सर्वथा (सम्-सम् युवसे) सम्यक् सम्बद्ध करता है ।

जो ब्रह्माग्नि सब लोक-लोकान्तरों को परस्पर सम्बद्ध रखता है वह देव पृथिवीस्थ सकल मानवों को परस्पर प्रीतिबद्ध रखे ।

२) स्वामी तू ही (इडः पदे) वाणी के पद में स्तोम के पद पद में, वेदवाणी के पद पद में (सम् इध्यसे) सम्यक् प्रकाशित किया जाता है ।

स्तुतिपरक वेदमन्त्रों के पद पद में जिस ब्रह्माग्नि की महिमा का प्रकाशन होरहा है वह सब मानवों को अपनी भक्ति में ऐसा आबद्ध सब मानव अपने को एक ब्रह्म का मानकर एकत्व के सूत्र में आबद्ध रहें। के उपासक बनकर सब पारस्परिक सम्बद्ध रहें ।

३) ऐसा (सः) वह तू (नः) हमें, हम सब के लिए (विश्वानि वसूनि आ भर) सब प्रदान कर, सकल निवाससाधन प्राप्त करा।

वह हम सब मानवों को समानरूपेण सुविधा की सकल वस्तुएं और सुख-सौभा द्योतक सकल ऐश्वर्य प्रदान करे। धनहीनता आवश्यक वस्तुओं के अभाव में मानवता और मानवधर्म की हानि होती है। अतः ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि सभी धनैश्वर्यों तथा वस्तुओं से सुसम्पन्न रहें।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वृष्टिकर्त ! ब्रह्माग्ने !
स्वामी तू ही सर्वथा करता है सम्यक् सम्बद्ध ।
वाणी के पद पद में तू ही
प्रकाशित किया जाता है ।
वह तू कर प्रदान हमारे लिए
सारे वसु, सकल ऐश्वर्य ।
सूक्तिः—इडस्पदे समिध्यसे ।
तू वेदवाणी के पद पद में प्रकाशित किया जाता है।
स नो वसून्या भर ।
वह तू हमारे लिए सर्वैश्वर्य प्राप्त करा ।

७५० त्वां चित्रश्रवस्तम हवन्ते विक्षु जन्तवः । शोचिष्केशं पुरुप्रियाग्ने हव्याय वोढवे ।।
[ऋ १.४५.६]
य १५.३१

त्वाम् चित्र-श्रवः-तम हवन्ते विक्षु जन्तवः । शोचिः-केशम् पुरु-प्रिय अग्ने हव्याय वोढवे ।

भरत जन ईशविनय को जारी रखते हुए कहे चले जारहे हैं—(चित्र-श्रवः-तम) अद्भुत-यशः-तम ! (पुरु-प्रिय) बहुतों [सब] को प्यार करनेवाले ! बहुतों [सब] के प्रिय ! (अग्ने) ब्रह्माग्ने ! (विक्षु) प्रजाओं में (हव्याय वोढवे) हव्य वहनार्थ (जन्तवः) मनुष्य (त्वाम् शोचिः-केशम्) तुझ दीप्त-केश को (हवन्ते) पुकारते, प्रार्थते हैं ।

ब्रह्माग्नि का यश अद्भुत तो है ही, अतिशय अथवा सर्वाधिक भी है । उससे अधिक अद्भुत यश अन्य किसी का नहीं है । सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ उसका यशोगान कररहा है । और है वह पुरुप्रिय, सबका बहुत प्यारा और सबको बहुत प्यार करनेवाला । क्या ठिकाना है उसके प्यार का ! वह सबको बहुत प्यार करता है, इसी लिए तो उसने सबकी सुख-सुविधा के लिए सब कुछ बनाया है ।

ब्रह्माग्नि शोचिष्केश है । 'शोचिष्केश' का अर्थ है चमकीली अलकों [ज़ुल्फ़ों] वाला । सारे प्रकाश-लोक ब्रह्म की अलकें हैं ।

मानवप्रजाओं के बीच में जो मानव मानवता और मानवधर्म का प्रकाश करते हैं उन्हीं के लिए यहां 'जन्तवः' शब्द का प्रयोग हुआ है । 'जन्तु' शब्द का प्रयोग वेद में सर्वत्र 'प्रकाशमान मनुष्य' अर्थ में हुआ है । ऐसे मानव, प्रजाओं के लिए जहां सुख, शान्ति और स्वस्ति की साधना करते हैं वहां वे प्रभु से मानवप्रजाओं के लिए विवेक, आत्मज्ञान, ज्योति, प्रकाश, सदाचार, पावन चरित, आदि हव्य की प्राप्ति के लिए प्रभु से प्रार्थना भी करते हैं ।

अद्भुतयशःतम ! पुरुप्रिय ! प्रभो !
प्रजाओं में हव्यवहनार्थ
मानव तुझ शोचिष्केश को
हैं पुकारते ।

७५१ एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमा हुवे । प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ।।
[ऋ ७.१६.१; सा ४५; ७४९]
य १५.३२

एना वः अग्निम् नमसा ऊर्जः न-पातम् आ हुवे । प्रियम् चेतिष्ठम् अ-रतिम् सु-अध्वरम् विश्वस्य दूतम् अ-मृतम् ।

प्रसंग आते हैं जब सार्वभौम मानवता की रक्षा खण्ड खण्ड होती दिखाई पड़ती है । ऐसे विवाद उठ खड़े होते हैं कि क्षैत्रीय स्वार्थ सार्वभौम हितों पर हावी होने लगते हैं । उस समय, पृथिवी पर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

निवास करनेवाले मानवसमाज का आत्मा निरुत्साहित, निरुपाय और पराक्रमहीन-सा होकर चीत्कार करता हुआ बोल पड़ता है—विश्व के मानवो ! मैं (आ हुवे) पुकारता हूं (वः) तुम्हारे लिए, तुम सब मानवों के सुरक्षण के लिए (ऊर्जः न-पातम्) ऊर्जों को न गिरानेवाले, (प्रियम्) प्रीत्युत्पादक, प्यारे, (चेतिष्ठम्) अतिशयता के साथ चेतानेवाले, (अ-रतिम्) रतिरहित, अविषयासक्त, (सु-अध्वरम्) सु-अध्वर, सुष्ठुतया निश्छल, सु-अहिंसाशील, (अ-मृतम्) अमृतस्वरूप, निर्विष, (अग्निम्) अग्रणी, निरोध वा विरोध को समाप्त करके आगे लेजानेवाले (विश्वस्य दूतम्) विश्व के दूत को, विश्व के सन्देशवाहक को (एना नमसा) इस नमस्कार के साथ, समुचित सम्मान और समादर के साथ।

यहां जिसे विश्व का दूत अथवा विश्व का सन्देशवाहक कहा गया है उसी को वेद में 'वैश्वानर' [वैश्व-आ-नर, विश्व का नयन करनेवाला] भी कहा गया है। हर युग, काल वा समय में वैश्वानर विश्वदूत की आवश्यकता रहती है। विश्वदूत ही कठिन परीक्षा की कठिन घड़ियों में मानवता की लड़खड़ाती हुई स्थिति को संभालकर विश्व-शान्ति की रक्षा करता है। वह युग, काल वा समय अतिशय विषम होता है जब पृथिवी पर कोई विश्वदूत नहीं होता है।

इस मन्त्र में विश्वदूत की योग्यता, क्षमता तथा साधना का सुन्दर चित्रण किया गया है।

दूत नाम सन्देशवाहक का है। किसी एक देश-प्रदेश का नहीं, सारे विश्व का, सारी पृथिवी का जो सन्देशवाहक हो उसे विश्व का दूत अथवा विश्वदूत कहते हैं। देश-प्रदेशों में टकराव की नौबत आती है तो वह सभी प्रदेशों के पारस्परिक विवादों का शमन और समाधान करने कराने के लिए सम्बन्धित देश-प्रदेशों में जाकर एक दूसरे के दृष्टिकोण को एक दूसरे देश के सामने रखता है, उन्हें समझाता है और मानवता के हित में उन्हें पारस्परिक सौहार्द की स्थापना करके न्याय समझौते कराता है। पृथिवीस्थ सभी देश विश्वास के साथ उसे अपना अपना दूत समझते हैं।

विश्व का दूत होता है ऊर्जः न-पात्, ऊर्जों न गिरानेवाला। ऊर्ज् नाम ओज, बल, पराक्र पुरुषार्थ, उमंग, उत्साह का है। उमंग और उत्स का जब ह्रास होता है तो बल, पराक्रम पुरुषार्थ गिरने लगते हैं। विश्वदूत किसी अवस्था और कैसी भी परिस्थिति में संसार उत्साहहीन, निढाल और निरुपाय नहीं होने है। अपनी नीतियों, प्रणीतियों द्वारा वह असम को सम्भव कर दिखाता है, और मानव, मानव तथा मानवधर्म की प्राणपण से रक्षा करता है।

विश्वदूत होता है **प्रिय**, सबका प्यारा देश-देशान्तरों की मानवप्रजाओं में पारस्प्रेम निष्पादन करनेवाला।

वह होता है **चेतिष्ठ**, सबको सर्वतः, अतिशयत साथ चेतानेवाला। घटनाओं और उनके परिण का पूर्वाभास होते ही वह सब राष्ट्रों को यथाव चेताता है।

विश्वदूत होना चाहिए सर्वथा अरति, नि लासी, निर्व्यसनी।

वह हो शुद्ध अमृत, निर्विष, निर्विकार। सर्वत्र अमृत का संचार करे, कहीं भी मानवप्र के मानस में एक दूसरे के प्रति विष न घोले।

वह हो **अग्नि**, अग्रणी, प्रत्येक सुक्षेत्र में मा को आगे लेजानेवाला, मानवप्रजाओं को बढ़ानेवाला, और प्रत्येक शोभन प्रयास में मार्गदर्शन करनेवाला।

प्रत्यक्षतः सु-अध्वर, सु-निश्छल, सु-अहिंसा तो वह होना ही चाहिए।

ऐसे विश्वदूत को समस्याओं के समाधान लिए प्रत्येक राष्ट्र समुचित सम्मान और स के साथ बुलाता हुआ कहता है—

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मैं पुकारता हूं तुम्हारे लिए
ऊर्जों को न गिरानेवाले,
प्रिय, चेतिष्ठ, अरति, स्वध्वर,
अग्नि, अमृत, विश्वदूत को,
इस नमस्कार के साथ।

७५२ विश्वस्य दूतममृतं विश्वस्य दूतममृतम्। स योजते अरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत् स्वाहुतः॥
[ऋ ७.१६.२; सा ७५०]
य १५.३३
विश्वस्य दूतम् अ-मृतम् विश्वस्य दूतम् अ-मृतम्। सः योजते अ-रुषा विश्व-भोजसा सः दुद्रवत् सु-आहुतः।

विवाद छिड़ जाते हैं और प्रत्येक संकटग्रस्त राष्ट्र समस्याओं के समाधान के लिए विश्वदूत का आह्वान करते हुए कहता है—

१) मैं (आ हुवे) आह्वान करता हूं, बुलाता हूं, निमन्त्रित करता हूं (विश्वस्य अ-मृतम् दूतम्) विश्व के निर्विष [निर्विकार, निष्पक्ष] दूत को।

२) मैं (आ हुवे) निमन्त्रित करता हूं (विश्वस्य अ-मृतम् दूतम्) विश्व के न्यायशील दूत को।

एक एक राष्ट्र उसे निर्णायक बनाने और उसके निर्णय को मानने के लिए तैयार है। विश्व का ऐसा विश्वासप्राप्त होता है विश्व का दूत।

३) (सः) वह (योजते) युक्त करता है, अपने आपको सम्बद्ध करता है समस्याओं के समाधान के लिए (अ-रुषा) रोषराहित्य के साथ, शान्ति के साथ, सुरूपता के साथ, सोम्यता के साथ, और (विश्व-भोजसा) विश्व-पालन की भावना से, विश्व के मानवों की सुरक्षा की भावना से, विश्व-पोषण की भावना के साथ।

४) (सु-आहुतः) सु-आहुत होकर, सहजतया आह्वान किया जाने पर, सुनिमन्त्रण पाते ही (सः दुद्रवत्) वह चल दिया [राष्ट्र राष्ट्र के नायकों से मिलने, और समस्याओं का समाधान खोजने के लिए]।

विश्वदूत प्रतिक्षण सतर्क, सावधान और समुद्यत रहता है। विश्वशान्ति के बिना विश्व में मानव, मानवता तथा मानवधर्म की सुरक्षा असम्भव है, यह वह हर समय आत्मना अनुभव कर रहा होता है। अतः जहां कहीं से भी, ज्यों ही शान्ति की रक्षार्थ उसका आह्वान होता है, वह सद्यः वहां के लिए प्रस्थान कर देता है।

मैं निमन्त्रित करता हूं
विश्व के अमृत दूत को।
मैं निमन्त्रित करता हूं
विश्व के अमृत दूत को।
करता है वह युक्त स्वयं को
रोषरहितता और विश्वपालन के साथ।
वह चल दिया
सु-आहुत होकर।

७५३ स दुद्रवत् स्वाहुतः स दुद्रवत् स्वाहुतः। सुब्रह्मा यज्ञ सुशमी वसूनां देवं राधो जनानाम्॥
य १५.३४
सः दुद्रवत् सु-आहुतः सः दुद्रवत् सु-आहुतः। सु-ब्रह्मा यज्ञः सु-शमी वसूनाम् देवम् राधः जनानाम्।

१) उस (वसूनाम् देवम्) प्राणियों के देव [विश्व-दूत] को [जिस राष्ट्र वा देश ने बुलाया], (सु-आहुतः) सु-आहुत होने पर, बुलाया जाने पर (सः दुद्रवत्) वह चल दिया, (सु-आहुतः) सुनिमन्त्रित

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

होकर (सः दुद्रवत्) वह चल दिया।

विश्वदूत को यहां 'वसुओं का देव' कहा गया है। 'वसु' शब्द के अनेक अर्थों में से एक अर्थ प्राण है। विश्वदूत प्राणों का, विश्व के मानवप्राणियों का वन्दनीय देव है, प्राणों के समान प्यारा देवता है। इसी लिए जहां भी कोई संकट आता है वा कोई उलझन पैदा होती है वहीं से उसके लिये पुकार होती है, और वह अविलम्ब वहां के लिए प्रस्थान कर देता है।

२) क्यों आता है उसके लिए निमन्त्रण? क्योंकि वह है (सु-ब्रह्मा) सुब्रह्मवित्, वेदवित्, सुविवेकी, सार्वभौम-मानवधर्मरूपी यज्ञ का संरक्षक, (सु-यज्ञरूप, यज्ञिय, पूजनीय, संगतिशील, मेल क वाला, (सु-शमी) सु-कर्मा, सु-शामक, शां सुस्थापक, (जनानाम् राधः) जनों का धन, मानवों की अमूल्य सम्पदा, मानवों का आराध्य

बुलाते हैं वसुओं के देव को,
वह चल दिया सु-आहुत होकर,
वह चल दिया सु-आहुत होकर।
वह सुब्रह्मा, वह है यज्ञ,
वह सुशमी, जनों का राध।

७५४ **अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो। अस्मे धेहि जातवेदो महि श्रवः॥**
[ऋ १.७९.४; सा ९९; १५६१] य १५.३५

अग्ने वाजस्य गो-मतः ईशानः सहसः यहो। अस्मे धेहि जात-वेदः महि श्रवः।

१) (अग्ने) अग्रणीः! विश्वनेतः! (सहसः यहो) सहः के पुत्र! सहनशीलता के पुतले! धैर्य के पुतले! तू (गो-मतः वाजस्य) गो-युक्त वाज का (ईशानः) स्वामी है।

विश्वदूत किसी देशविशेष का नहीं, सार्वभौम नेता है। इसी अर्थ में 'अग्ने' सम्बोधन का प्रयोग हुआ है। सार्वभौम नेता को अतिशय सहनशील और धैर्य का धनी होना ही चाहिए। 'सहसः यहो' सम्बोधन में यही भाव निहित है।

विश्वदूत 'गोमान् वाज' का स्वामी है। गौ से, प्रकाशकिरण से, ज्ञानरश्मियों से युक्त होने से वह गोमान् है। वाज नाम ज्योति, शक्ति और संग्राम का है। ज्योति और शक्ति, दोनों से सम्पन्न होने पर ही विश्व के विविध संग्रामों में विजय और सफलता प्राप्त होती है। विश्वदूत तत्त्व-द्योतक और तथ्यप्रकाशक रोशनी से युक्त, और ज्योति तथा शक्ति से सम्पन्न है। इसी लिए उसे प्रत्येक संग्राम और संघर्ष में समाधानकारक साफल्य प्राप्त होता है। अपनी शामक प्रकृति से वह संघर्षों और संग्रामों का शमन कर देता है।

२) (जात-वेदः) जात-वित्! जातमात्र जाननेवाले! प्रत्येक घटित घटना को समझ वाले! ज्ञानिन्! (अस्मे महि श्रवः धेहि) [मानवों] में महान् यश स्थापन कर।

विश्वदूत के प्रति यह जनविनय सुन्दर सुहावनी है। विश्वदूत सर्वत्र सर्व जनों यशोवर्धन करता है। उसका प्रत्येक निर्णय समाधान उभय पक्ष के राष्ट्रजनों का प्रतिपादन करनेवाला होता है। किसी भी राष्ट्रनायकों तथा नागरिकों का वह अपमान होने देता है।

अग्ने! सह के पुत्र!
तू गोमान् वाज का स्वामी।
जातवेदः! कर तू स्थापन
हममें सुयश व्यापक।

सूक्ति : **अस्मे धेहि जातवेदो महि श्रवः।**
ज्ञानिन्! हम में स्थापन कर व्यापक यश।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

७५५ **स इधानो वसुष्कविरग्निरोडेन्यो गिरा । रेवदस्मभ्यं पुर्वणीक दीदिहि ।।**
[ऋ १.७९.५; सा १५६२] य १५.३६

सः इधानः वसुः कविः अग्निः ईडेन्यः गिरा । रे-वत् अस्मभ्यम् पुरु-अनीक दीदिहि ।

सर्व जन विश्वदूत का अभिनन्दन करते हुए कहे चले जारहे हैं—

१) (पुरु-अनीक) बहु-अनीक !

अनीक नाम सेना, युद्ध और आकृति का है। यहां इस शब्द का प्रयोग युद्ध अर्थ में हुआ है। विश्वदूत बहु-युद्ध है। प्रसाधक-प्रसाधिकाएं उसकी सेना है। मानव, मानवता और मानवधर्म की रक्षार्थ उसे अनेक, असंख्य युद्धमय संघर्ष करने पड़ते हैं। यह सब वह विना मुंह बिगाड़े, शोभन आकृति तथा प्रसन्नवदनता के साथ करता है। विशाल पृथिवी पर छोटे-बड़े बहुत देश और बहुत राष्ट्र हैं। उसके विश्वपरिवार में कहीं न कहीं अनेक विकट स्थितियां उत्पन्न होती रहती हैं, जिनके समाधान में वह सदा ही संलग्न रहता है।

२) (इधानः) देदीप्यमान (सः) वह तू है (वसुः) वासयिता, उजड़े हुओं को बसानेवाला, (कविः) क्रान्तप्रज्ञ, गहनता के साथ चिन्तन करनेवाला, क्रान्तकर्मा, क्रान्तदर्शी, (अग्निः) अग्रणी, अग्निवत्-प्रकाशक और तेजस्वी, [जन जन की] (गिरा ईडेन्यः) वाणी द्वारा स्तुत्य।

विश्वदूत, प्रत्यक्षतः, उक्त गुणों तथा क्षमताओं से युक्त होना ही चाहिए।

३) (सः) वह तू (अस्मभ्यम्) हमारे लिए, हम मानवों के लिए (रे-वत्) ऐश्वर्यवत्, धनवत् (दीदिहि) जगमगा, प्रकाशित रह।

विश्वदूत विश्व का शोभन ऐश्वर्य और धनों का सुधन है। सर्व मानवों के सुख-सौभाग्य के लिए वह सदा, सर्वतः प्रशस्तता के साथ जगमगाता रहे, तेज और दीप्ति से सदा प्रकाशित रहे।

पुरु-अनीक !
देदीप्यमान वह तू
है वसु, कवि, अग्नि,
वाणी द्वारा स्तुत्य।
वह तू जगमगा हमारे लिए
ऐश्वर्यवत्।

७५६ **क्षपो राजन्नुत त्मनाग्ने वस्तोरुतोषसः । स तिग्मजम्भ रक्षसो दह प्रति ।।**
[ऋ १.७९.६; सा १५६३] य १५.३७

क्षपः राजन् उत त्मना अग्ने वस्तोः उत उषसः । सः तिग्म-जम्भ रक्षसः दह प्रति ।

अभिनन्दन को जारी रखते हुए सर्व जन विश्वदूत से कहते हैं—

१) विश्व का (राजन्) रंजन करनेवाले ! (तिग्म-जम्भ) तीक्ष्ण-जम्भ ! (अग्ने) अग्रणीः ! विश्वनायक !

२) (सः) वह तू (क्षपः) रात्रि के [समय] (उत) और (वस्तोः) दिन के [समय] (उत) और (उषसः) उषा के [समय] (त्मना) आत्मना (रक्षसः) राक्षसों को (प्रति दह) प्रतिशः भस्म कर, एक एक करके भस्म करता रह।

विश्वदूत का तो मिशन ही विश्व का रंजन करना है, विश्व को सुखी और सुसम्पन्न करना है।

'जम्भ' का अर्थ है जबड़ा, वज्र, और वर्जन करनेवाला, रोकनेवाला। विश्वदूत देश-प्रदेशों, राष्ट्रों और मानवों को जहां परस्पर टकराने से वर्जता है वहां वह दुरितों और बुराइयों से भी

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उनका वर्जन करता है, और तीव्रता तथा तीक्ष्णता के साथ उनका वर्जन करता है। इसी लिए उसे 'तिग्म-जम्भ' से सम्बोधन किया गया है।

अग्नि, अग्रणी, विश्वनायक भी वह है ही।

वे कौनसे राक्षस हैं, रात-दिन, प्रातः-सायं, हर समय, जिनके भस्म करने की विश्वदूत से विनय की गई है। वे राक्षस हैं प्रबल द्वारा निर्बल को सताने की भावनाएं, सबल देश और राष्ट्र द्वारा दुर्बल देश और राष्ट्र को हड़प जाने की दुरा-कांक्षाएं, दूसरों की भूमियों, सम्पत्तियों और सुन्दरियों का अपहरण करने की कुटिल प्रवृत्तियां।

इस प्रकार के असंख्य राक्षसों का कैसे दहन करे विश्वदूत। (त्मना) आत्मना, देश देश और रा राष्ट्र के नायकों तथा नागरिकों के आत्मा में नि नियम और मानवता की प्रबल प्रेरणा द्वारा।

राजन् ! तिग्मजम्भ ! अग्ने !
वह तू रात के और दिन के
और उषा के समय
करता रह भस्म राक्षसों को
प्रतिशः, एक एक करके।

सूक्तिः—**रक्षसो दह प्रति।**

राक्षसों को प्रतिशः भस्म कर।

७५७ **भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः। भद्रा उत प्रशस्तयः।**
[ऋ ८.१९.१९; सा १११; १५५९]

य १५.३

भद्रः नः अग्निः आ-हुतः भद्रा रातिः सु-भग भद्रः अध्वरः। भद्राः उत प्र-शस्तयः।

१) (सु-भग) सौभाग्यशालिन् ! सुधन्य विश्वदूत !

भग नाम धन, ऐश्वर्य और सौभाग्य का है। विश्वदूत मानवों का तथा मानवता का सुधन है, सु-ऐश्वर्य है, सौभाग्य है।

२) (आ-हुतः अग्निः) सुनिमन्त्रित अग्रणी तू (नः) हमारे लिए, हम मानवों के लिए (भद्रः) कल्याण-कारी है/हो।

विश्वदूत का लक्ष्य ही मानवसमाज में कल्याण-प्रद व्यवस्था की स्थापना करना है। वह मानव-प्रजाओं का अग्रणी है, उनका सर्वहितसम्पादक है, उन्हें जीवन का मंगलमय पथ दर्शानेवाला है। सुनिमन्त्रित होकर वह जहां भी जाता है, सबका सब प्रकार कल्याण साधता है।

३) हमारे लिए तेरी (रातिः) देन, सुदेन (भद्रा) कल्याणप्रदा है/हो।

विश्वदूत की प्रत्येक देन मंगलकारिणी और अमंगलहारिणी है। उसकी प्रत्येक देन मानवीय है, मानवता के लिए भद्र सुभद्र है।

५) तेरी अध्यक्षता में मानवता तथा मानवधर्म के प्रचार-प्रसार का यह (अध्वरः) सतत यज्ञ (अ कल्याणकारी है/हो।

५) (उत) और [तेरे अनुग्रह से हमारी] (प्र-शस्त प्रशस्तियां (भद्राः) मुबारिक हों।

विश्वदूत सर्वत्र मानवों को ऐसी पावन प्रे करता रहे कि उनके विचार, आचार, व्यव आहार, साधना—सब कुछ सर्वतः और स प्रशंसनीय बना रहे। उसके शिक्षोपदेश से मा के जीवन और उनका रहन-सहन ऐसा शोभ बना रहे कि सब एक दूसरे के गुण, कर्म स्वभाव से सुप्रभावित हों। शुद्ध सात्त्विकता पावनता से वे ऐसे सुपूत और पावन रहें कि सं मानवधर्म तथा मानवता के प्रति आस्थावान् रहे। भद्र और मांगलिक कार्यों के लिए स प्रशस्त प्रवृत्ति हो।

भद्र हमारे लिए अग्नि आहुत हो,
भद्र देन हो, सुभग !
भद्र ही होवे अध्वर।
और भद्र ही हों प्रशस्तियां।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

७५८ **भद्रा उत् प्रशस्तयो भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये । येना समत्सु सासहः ।।**
[ऋ ८.१९.२०; सा १५६०] य १५.३९

भद्राः उत प्र-शस्तयः भद्रम् मनः कृणुष्व वृत्र-तूर्ये । येन समत्-सु ससहः ।

(उत) और [जहां हमारी] (प्र-शस्तयः भद्राः) प्रशस्तियां भद्र हों वहां तू (वृत्र-तूर्ये) वृत्र-विनाश के लिए [जन जन का] (मनः) मन (भद्रम् कृणुष्व) भद्र कर (येन) जिससे, ताकि [तू मानवता तथा मानवधर्म के] (समत्सु) संग्रामों में (ससहः) डटा रहे।

वृत्र नाम घेरा डालनेवाले और अंधेरा करनेवाले का है। घटाटोप बादल आकाश में घेरा डालकर पृथिवी पर अन्धेरा करते हैं। अतः बादल वृत्र हैं। मानवों के मन में जब पाप-वासनाएं घेरा डालती हैं तो उनके अन्तःकरणों में अन्धेरा छा जाता है और वे अमानवीय पथ पर चल पड़ते हैं। पाप और पापजन्य वासनाएं वे वृत्र हैं जो मन में अन्धेरा तो करते ही हैं, मन को अभद्र भी बना देते हैं। जन जन के मन जब अभद्र होने लगते हैं तो मानवता का क्षय और मानवधर्म का ह्रास होने लगता है। उस अवस्था में, विश्वदूत के लिए सार्वभौम मानवता की रक्षा और मानवधर्म की प्रतिष्ठिति के संग्राम दुस्साध्य होजाते हैं।

मानवता तथा मानवधर्म के स्थायित्व के लिए यह परम आवश्यक है कि अग्रणी विश्वदूत प्रसाधकों द्वारा ऐसी साधना और प्रसाधना कराता रहे कि जन जन का मन भद्र बना रहे।

और प्रशतियां भद्र रहें,
मन मन को कर भद्र,
वृत्रों के विनाश के लिए,
ताकि रहे तू संस्थित संग्रामों में।

सूक्तिः—**भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये ।**
पापवासनाओं के विनाश के लिए मन को भद्र बना।

७५९ **येना समत्सु सासहो ऽव स्थिरा तनुहि भूरि शर्धताम् । वनेमा ते अभिष्टिभिः ।।**
[ऋ ८.१९.२०; सा १५६०] य १५.४०

येन समत्-सु ससहः अव स्थिरा तनुहि भूरि शर्धताम् । वनेम ते अभिष्टि-भिः ।

जन जन के मन को भद्र बनाता हुआ तू हम (भूरि शर्धताम्) बहुत बलकारियों के, सब पराक्रमशालियों के (स्थिरा) स्थिरों को, अविचल आस्थाओं को (अव तनुहि) विस्तार, बढ़ा (येन) जिससे, ताकि [हम] (ते अभिष्टि-भिः) तेरी अभिलाषाओं के/तेरी इच्छाओं के साथ (वनेम) सेवें, सेवन करें, साधें, साधना करें और [तू मानवता तथा मानवधर्म के] (समत्सु) संग्रामों में (ससहः) स्थित रहे।

दृढ़निश्चय प्रसाधक-प्रसाधिकाओं की विश्वदूत के प्रति यह संबलोक्ति है। एकला विश्वदूत पृथिवी की समग्र मानवप्रजा को न भद्र बना सकता है, न भद्र रख सकता है। इस कार्य के लिए उसे मानवता तथा मानवधर्म के प्रबल प्रसाधकों के मनोबल को बढ़ाना होगा, उनके पराक्रम को जगाना होगा, उनकी अडिग आस्थाओं को स्थिर रखना होगा। तभी वे विश्वदूत की सार्वभौम अभिलाषाओं को पूरी करने में सहायक होंगे और तभी स्वयं विश्वदूत मानवता की रक्षा तथा मानवधर्म की प्रतिष्ठिति के संग्रामों में साफल्य प्राप्त कर सकेगा।

बलशालियों के स्थिरों को
बढ़ा, ताकि हम सेवें
तेरी अभिलाषाओं को,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

और रहे तू संस्थित संग्रामों में। हम तेरी अभिलाषाओं के साथ सेवें।
सूक्ति : वनेम ते अभिष्टिभिः। हम तेरी अभिलाषाएं पूरी करें।

७६० अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः।
अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषं स्तोतृभ्य आ भर॥
[ऋ ५.६.१; सा ४२५; १७३७] य १५.४१
अग्निम् तम् मन्ये यः वसुः अस्तम् यम् यन्ति धेनवः।
अस्तम् अर्वन्तः आशवः अस्तम् नित्यासः वाजिनः इषम् स्तोतृ-भ्यः आ भर।

जनाभिनन्दन से द्रवीभूत होकर विश्वदूत ब्रह्माग्नि का अभिनन्दन करने लग जाता है—

१) मैं (तम् अग्निम् मन्ये) उस सृष्टिनायक को मानता हूं (यः वसुः) जो वासयिता है।

'अग्नि' शब्द का प्रयोग यहां अग्रणी अर्थ में हुआ है। ब्रह्माग्नि अग्रणियों का अग्रणी है। वह सकल सृष्टि का अग्रणी नयनकर्ता और नायक है, और है वह अखिल सृष्टि का वासयिता, बसानेवाला। वसु नाम धन और प्राण का भी है। प्रभु ही सृष्टि में और सृष्टि का अविनाशी धन है। वही सृष्टि का प्राण अथवा जीवनाधार है। उसी की प्रेरणा और प्यार के आश्रय से विश्वदूत अपनी सार्वभौम साध में सफल हुआ है और होगा।

२) मैं (मन्ये) मानता हूं (तम् अस्तम् अग्निम्) उस आश्रयरूप सृष्टिनायक को (यम्) जिसे (धेनवः यन्ति) वाणियां प्राप्त होती हैं, स्तुतियां स्तुतती हैं।

अस्त नाम गृह, योनि, छाया और आश्रय का है। गृहस्थ के लिए उसका गृह छायामय और आश्रयरूप होता है। उसी प्रकार ब्रह्माग्नि सारी सृष्टि का आश्रय है। उसी के आश्रय से यह सब आश्रयित है। स्तोताओं की स्तुतिवाणियां उसी की ओर प्रवाहित होती हैं। उसी की प्रेममय प्रेरणा से विश्वदूत अपनी साधना की सिद्धि में निरत हैं।

३) मैं (मन्ये) मानता हूं (तम् अस्तम् अस्तम् अग्निम्) उस सर्वयोनिरूप, आश्रयरूप सृष्टिनायक को (यम्) जिसको (आशवः अर्वन्तः नित्यासः वाजिनः) शीघ्रगामी, तीव्रगामी, नित्य प्रकाशलोक (यन्ति) प्राप्त होरहे हैं, प्रकाशित रहते हैं।

'वाज' के अनेक अर्थों में से एक अर्थ प्रकाश है। 'वाजी' का अर्थ हुआ वाजयुक्त, प्रकाशयुक्त। 'वाजिनः' शब्द का प्रयोग यहां प्रकाशलोकों के लिए हुआ है। जितने भी प्रकाशलोक हैं वे स्वयं आशुगामी और तीव्रगामी हैं वहां उनका प्रकाश उनसे भी अधिक तीव्र गति से दौड़ता है। नित्य [शाश्वत] ब्रह्म के नित्य प्रकाश से प्रकाशित रहने और अतिशय दीर्घ काल तक स्थित रहने के कारण प्रकाशलोकों को यहां नित्य कहा गया है। जिस प्रकाशस्वरूप देव के तीव्र, सुतीव्र प्रकाश से सब प्रकाशलोक प्रकाशित होरहे हैं उसी से प्राप्त प्रकाश में विश्वदूत की साधना का पथ प्रशस्त होगा।

४) और अब विश्वदूत प्रार्थना करता है—हे परम देव! तू अपने (स्तोतृ-भ्यः) स्तोताओं के लिए (इषम् आ भर) इच्छाशक्ति प्रदान कर।

'स्तोतृभ्यः' शब्द का प्रयोग यहां मानवता तथा मानवधर्म के प्रसाधकों के लिए हुआ है।

इष् नाम इच्छा, इच्छाशक्ति, सुख और अन्नैश्वर्य का है। इच्छाशक्ति के आश्रय से सब सुख और ऐश्वर्य प्राप्त किए जा सकते हैं।

विश्वदूत की यह प्रार्थना बहुत तथ्यपूर्ण है। प्रसाधकों की प्रबल इच्छाशक्ति ही सार्वभौम मानवता तथा मानवधर्म की स्थापना को चिरस्थायी बना सकेगी।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मानता हूं मैं उस अग्नि को
जोकि वसु है,
प्राप्त होते हैं जिस आश्रय को
स्तुतिवचन,
जिस योनिमय आश्रय को
शीघ्रगामी, तीव्रगामी, नित्य वाजी।
कर प्रदान स्तोताओं के लिए
इच्छाशक्ति।
सूक्तिः—इषं स्तोतृभ्य आ भर।
स्तोताओं के लिए इच्छाशक्ति प्रदान कर।

७६१ सो अग्निर्यो वसुर्गृणे सं यमायन्ति धेनवः।
समर्वन्तो रघुद्रुवः सं सुजातासो सूरय इषं स्तोतृभ्य आ भर॥
[ऋ ५.६.२; सा १७३९] य १५.४२

सः अग्निः यः वसुः गृणे सम् यम् आ-यन्ति धेनवः।
सम् अर्वन्तः रघु-द्रुवः सम् सु-जातासः सूरयः इषम् स्तोतृ-भ्यः आ भर।

(सः) जिसे मैं (गृणे) स्तुतता हूं, स्तुत रहा हूं वह (सः अग्निः) वह सृष्टिनायक [ब्रह्माग्नि] है (यः वसुः) जो वासयिता है, समग्र सृष्टि का बसानेवाला है, (यम्) जिसे [स्तोताओं की] (धेनवः) स्तुतिवाणियां (सम् आ-यन्ति) सम्यक् आती/पहुंचती/स्तुतती/प्राप्त होती हैं, जिसमें (अर्वन्तः रघु-द्रुवः) तीव्रगामी और लघुगामी [सब लोक] (सम् आ-यन्ति) सम्यक् आते हैं/व्याप्त हैं, जिसमें (सु-जातासः सूरयः) सु-जन्मा ज्ञानी जन, स्वजीवनधन्य साक्षात्कर्मा योगी जन (सम् आ-यन्ति) सम्यक् आते हैं/समाहित रहते हैं।

(इषं स्तोतृभ्य आ भर) ऐसे, हे परम देव! तू अपने प्रसाधक (स्तोतृ-भ्यः) स्तोताओं के लिए (इषम् आ भर) इच्छाशक्ति प्रदान कर।

जिसे स्तुतता हूं मैं,
है वह अग्नि जोकि वसु हैं,
जिसे स्तुतियां स्तुतती हैं,
जिसमें तीव्र और लघुगामी
समा रहे हैं,
जिसमें सु-जात सूरी जन
रहते सम्यक् समाहित।
कर प्रदान स्तोताओं के लिए
इच्छाशक्ति।

७६२ उभे सुश्चन्द्र सर्पिषो दर्वी श्रीणीष आसनि।
उतो न उत् पुपूर्या उक्थेषु शवसस्पत इषं स्तोतृभ्य आ भर॥
[ऋ ५.६.९; सा १०२४] य १५.४३

उभे सु-चन्द्र सर्पिषः दर्वी श्रीणीषे आसनि।
उतो नः उत् पुपूर्याः उक्थेषु शवसः पते इषम् स्तोतृ-भ्यः आ भर।

(उभे सु-चन्द्र) सु-आह्लादक! प्राह्लादक! तू अपने प्रसाधक-प्रसाधिका विश्वदूत के प्रति विनय करते हैं—

(आसनि) मुख में (सर्पिषः) सर्पणशील [वाक्प्रवाह] की (उभे दर्वी) दोनों कर्छियों को (श्रीणीषे) पकाता है।

मुख के ऊपर है मस्तिष्करूपी कर्छी, जिसमें चिन्तनाग्नि द्वारा विचारों को पकाया जाता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मुख के नीचे है हृदयरूपी कर्छी, जिसमें प्रेमाग्नि द्वारा भावनाओं का परिपाक किया जाता है। परिपक्व विचारों और परिपक्व भावनाओं का प्रकाशन किया जाता है मुख द्वारा। यही मुख में दो कर्छियों का पकाना है। पक्व विचार और पक्व भावनाओं से परिपक्व होकर जो परिपक्व वचन मुख से निकलते हैं वे मानवता तथा मानवधर्म का अतिशयता के साथ परिपाक करते हैं। विश्वदूत के परिपक्व वचनप्रवाह प्रसाधकों तथा प्रसाधिकाओं को आह्लादित, प्राह्लादित करते हैं। इसी लिए उसे 'सुश्चन्द्र' सम्बोधन से सम्बोधित किया गया है।

२) (उतो) और, [अपनी परिपक्व वाणी से], (शवसः पते) बल के स्वामिन्! आत्मसंबल के सम्पादक! आत्मशक्ति के सहारक! तू (नः) हमें, हम सब प्रसाधकों को (उक्थेषु) प्रशस्तियों में, प्रशस्त साधनाओं में (उत् पुपूर्याः) उत्पूरित/उत्साहित कर।

विश्वदूत आत्मसंबल का सम्पादक है। मानवता तथा मानवधर्म के प्रसाधक-प्रसाधिकाओं को प्रशस्त मानवीय साधनाओं में निरन्तर प्रोत्साहित करता रहे।

और, प्रसाधक-प्रसाधिकाओं को प्रोत्साहित करता हुआ, विश्वदूत प्रभु से प्रार्थना करता है—

३) प्रभो! (स्तोतृ-भ्यः) स्तुतिशील प्रसाधकों के लिए (इषम् आ भर) इच्छाशक्ति प्रदान कर।

प्राह्लादक प्रभो!
पकाता है मुख में तू
सर्पणशील की, उभय दर्वी।
और, संबल के पते! तू
हमें उक्थों में उत्साहित कर।
कर प्रदान स्तोताओं के लिए
इच्छाशक्ति।

सूक्ति : **न उत् पुपूर्या उक्थेषु।**
प्रशस्त साधनाओं में हमें उत्पूरित कर।

७६३ **अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम्। ऋध्यामा त ओहैः॥**
[ऋ ४.१०.१; य १७.७७; सा ४३४; १७७७] य १५.४४
अग्ने तम् अद्य अश्वम् न स्तोमैः क्रतुम् न भद्रम् हृदि-स्पृशम्। ऋध्याम ते ओहैः।

अपनी प्रशस्त साधनाओं में उसकी उत्प्रेरणाओं से उत्पूरित और उत्साहित रहते हुए प्रसाधक, कृतज्ञतापूर्वक, विश्वनेता विश्वदूत के प्रति कहते हैं—(अग्ने) विश्वनेतः! हम (अद्य) आज (ऋध्याम) बढ़ाएं, सराहें (ते) तेरे (तम्) उस [उत्पूरण, उत्साहवर्धन]को [जो है] (भद्रम्) कल्याणकारी, (हृदि-स्पृशम्) हृदय में स्पर्श करनेवाला, (ओहैः स्तोमैः) ओह स्तुतिसमूहों सहित, (अश्वम् न) अश्व को जैसे, (क्रतुम् न) कर्तृत्व को जैसे।

'अद्य' शब्द का प्रयोग वर्तमान समय के लिए हुआ है।

'ओह स्तोम' नाम परमात्मा के उन स्तुति-समूहों का है जिनका गान वितर्कता अथवा गहन आस्था के साथ हार्दिक कृतज्ञता-प्रकाशन के किया जाता है।

विश्वनेता विश्वदूत द्वारा प्रसाधकों का उत्प्रेरण अथवा उत्साहवर्धन जहां मानवता तथा मानवधर्म के लिए कल्याणकारी है वहां वह प्रसाधकों के हृदयों में स्पर्श करनेवाला तथा हृदयग्राही भी है। आदेशों का पालन करके वे उसके उत्प्रेरण अथवा उत्साहवर्धन को सर्वतः सराहें। किस प्रकार? अश्वारोही जिस प्रकार मंज़िल तय करते हुए अश्व को सराहता है, उसके उत्साह को बढ़ाता है, उसकी चाल को तीव्र करता है। और किस प्रकार? जिस प्रकार कर्मयोगी अथवा कर्म-परायण व्यक्ति अपने कर्तृत्व को, अपनी कर्मण्यता

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

को बढ़ाता है।
अग्ने ! आज बढ़ाएं, सराहें,
हम तेरे उस[उत्पूरण]को
जो है भद्र, हृदि-स्पर्श
और ओह स्तोमों—सहित,
अश्व को जैसे,
ऋतु को जैसे।

७६४ अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः । रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ ॥
[ऋ ४.१०.२; सा १७७८] य १५.४५
अध हि अग्ने क्रतोः भद्रस्य दक्षस्य साधोः । रथीः ऋतस्य बृहतः बभूथ ।

प्रसाधक कहे चले जारहे हैं—(अग्ने) विश्वनेतः ! तू (क्रतोः) ऋतु का, (भद्रस्य दक्षस्य) भद्र दक्षता का, (अध हि) तथा (बृहत्: साधोः ऋतस्य) बृहत् और साधु ऋत का (रथीः) संचालक (बभूथ) हुआ हुआ है।

'ऋतु' शब्द में 'कृ' [करणे, करना] धातु का संस्कार है। 'ऋतु' के दो प्रसिद्ध अर्थ हैं कर्ता और कर्तृत्व, साधक और साधना। यहां 'ऋतु' शब्द का प्रयोग 'साधक' और 'साधना' अर्थों में हुआ है। विश्वदूत प्रसाधकों का भी संचालक है, और उनकी मानवीय साधना का भी प्रशस्तीकरण करता है।

विश्वदूत भद्र दक्षता का भी प्रेरक है। जिस दक्षता का प्रयोग जनकल्याण के लिए होता है वही भद्र दक्षता है। प्रसाधक जिस भद्र साध में संलग्न हैं उसके लिये भद्र दक्षता की, प्रत्यक्षतः, आवश्यकता है। विश्वदूत प्रसाधकों में भद्र दक्षता का संचार करता है।

और है वह 'बृहत् और साधु ऋत का संचालक'/'बृहत्' शब्द का प्रयोग हुआ है यहां 'विशाल' और 'व्यापक' अर्थों में, 'साधु' शब्द का 'साधुता से युक्त' अर्थ में और 'ऋत' का ऋताचार अथवा सदाचार अर्थ में। विश्वदूत होता है साधुशीलता से युक्त, व्यापक सदाचार का सम्प्रेरक।

ऋतु, भद्रदक्षता और बृहत्-साधु ऋत—इस त्रित में प्रसाधकों की सार्वभौम साधना की सिद्धि निहित है। इसी लिए विश्वदूत प्रसाधकों में इनका सतत संचार करता रहता है।

संचालक तू हुआ हुआ है,
अग्ने ! ऋतु का, भद्र दक्ष का,
तथा बृहत् और साधु ऋत का।

७६५ एभिर्नो अर्कैर्भवा नो अर्वाङ् स्वर्ण ज्योतिः । अग्ने विश्वेभिः सुमना अनीकैः ॥
[ऋ ४.१०.३; सा १७७९] य १५.४६
एभिः नः अर्कैः भव नः अर्वाङ् स्वः न ज्योतिः । अग्ने विश्वेभिः सु-मनाः अनीकैः ।

विश्वदूत के प्रति प्रसाधक कहे चले जारहे हैं—(अग्ने) विश्वनेतः ! (एभिः विश्वेभिः अर्कैः अनीकैः) इन सब अर्चनीय शोभनीयताओं के साथ (स्वः ज्योतिः न) आनन्दप्रद ज्योति के समान (नः अर्वाङ् भव) हमारे आगे/सामने हो/रह, (नः सु-मनाः भव) हमारे प्रति सु-मन/सुप्रसन्न हो/रह।

विश्वदूत की यह अभिस्तुति गहनाशयपूर्ण है। शोभनीयताएं दो प्रकार की होती हैं, अनर्चनीय तथा अर्चनीय। एक, वे शोभनीयताएं जिनका अवलोकन करके किसी प्रकार की पूजनीयता की भावना उत्पन्न नहीं होती है, दूसरी, वे शोभनीयताएं जिनका अवलोकन करके पूजनीयता का भाव उत्पन्न होता है। विश्वदूत की सम्पूर्ण शोभ-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नीयताएं नेत्रों और मनों को ही नहीं, आत्माओं को भी मोहनेवाली, मनुष्यमात्र का कल्याण तथा त्राण करनेवाली, और मानवता तथा मानवधर्म का प्रशस्तीकरण करनेवाली हैं। इसी भाव से उसकी शोभनीयताओं को 'अर्चनीय' कहा गया है।

आनन्दप्रद ज्योति जिस प्रकार नयनाभिरामता से युक्त होती है उसी प्रकार विश्वदूत का दर्शन प्रसाधकों के लिए ही नहीं, सर्वत्र सर्व मानवों के लिए भी आनन्दप्रद ज्योति के समान सदा दर्शनीय तथा आंखों के आगे रखा-जाने-योग्य है। सभी सदा उसे अपने सन्दर्शन में, और आपको उसकी सन्दृष्टि में रखने के लिए लालायि रहते हैं। सभी सदा उसे अपने प्रति प्रीतिमान् सुप्रसन्न रखना चाहते हैं।

अग्ने ! इन सब
अर्चनीय शोभनीयताओं से,
आनन्दप्रद ज्योति की तरह,
रह हमारे मुख-समुख तू।
और हमारे प्रति प्रसन्न रह।

७६६ **अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुं सूनुं सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम्।**
य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा।
घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषाजुह्वानस्य सर्पिषः ।।

[ऋ १.१२७.१; सा ४६५; १८१३; अ २०.६७.३] य १५.४

अग्निम् होतारम् मन्ये दास्वन्तम् वसुम् सूनुम् सहसः जात-वेदसम् विप्रम् न जात-वेदसम्।
यः ऊर्ध्वया सु-अध्वरः देवः देवाच्या कृपा।
घृतस्य वि-भ्राष्टिम् अनु वष्टि शोचिषा आ-जुह्वानस्य सर्पिषः।

संसार विश्वदूत को विश्वनेता मान रहा है। किन्तु स्वयं विश्वदूत का भी एक नेता है, नेताओं का नेता, परम नेता। विश्वदूत कहता है—मैं अपना नेता (मन्ये) मानता हूं (होतारम्) यज्ञसम्पादक, (दास्वन्तम्) दाता, (वसुम्) वसुरूप, (सहसः सूनुम्) सहः के प्रेरक, सहनशक्ति के संचारक, (जात-वेदसम्) जातमात्र को जाननेवाले, जातमात्र में व्यापक, सर्वव्यापक, (विप्रम् न जात-वेदसम्) विप्र के समान सर्वज्ञ (अग्निम्) ब्रह्माग्नि को, (यः सु-अध्वरः देवः) जो सु-अविरामी देव (देवाच्या ऊर्ध्वया कृपा) देव-पूज्य, उच्च शक्ति से, (आ-जुह्वानस्य सर्पिषः घृतस्य) आहुत सर्पणशील दीप्ति की (वि-भ्राष्टिम् शोचिषा) ज्वलन्त आभा से (अनु वष्टि) निरन्तर जगमगा रहा है।

ब्रह्माग्नि के लिए जिन विशेषणों का प्रयोग हुआ है वे मननीय हैं। **होता** विशेषण का प्रयोग यहां सृष्टिरूपी शाश्वत यज्ञ के सम्पादक के अर्थ हुआ है। वह अनादि, अनन्त सृष्टिरूपी यज्ञ याजक है।

ब्रह्माग्नि है **दास्वान्**, देनेवाला, दानशील। फलानुसार तो वह सबको सब कुछ देता ही है, अग्नि, वायु, जल, पृथिवी, प्रकाश, असंख्य नियामतें बिना कर्मफल के भी वह उदार पूर्वक सभी प्राणियों को अपनी सहज दानशीलता के साथ देता रहता है।

वसु नाम प्राण, धन और वासयिता का है। वह जगती का प्राण है, जीवनाधार है। वह है, परम धन है। धन्यता प्राप्त करानेवाला, भिन्न और उससे बढ़कर कोई धन नहीं है। है वह विश्व-जगती का वासयिता, वसानेवाला अपनी सर्वव्याप्ति से वह **अस्मिन्** अखिले रहा है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वह है सहः का सूनु, सहनशक्ति का प्रेरक और संचारक। विश्वदूत उसी के द्वारा प्रेरित और संचारित सहनशक्ति के आश्रय से मानवता की सार्वभौम, दुःसाध्य साध की साधना में संलग्न है।

और है वह **जातवेदाः**, विप्र के समान जातवेदा। विप्र, वि-प्रकृष्ट, मेधावी योगी जिस प्रकार अपने निर्धारित विषय में प्रविष्ट होकर उस विषय में सब कुछ जानता है उसी प्रकार ब्रह्माग्नि सर्व में प्रविष्ट और सर्व का ज्ञाता है।

वह है **सु-अध्वर**, सु-अविरामी, अविरामता के साथ, सुष्ठुतया विश्व-चक्र का सुसंचालन करनेवाला।

और है वह **देव**, अखिल दिव्यताओं का दिव्य-संदिव्य पुञ्ज।

'ऐसा वह ब्रह्माग्नि अपनी, देवों अथवा दिव्य जनों द्वारा सम्पूज्य, उच्च शक्ति से तथा सृष्टि-याग में आहुत, सर्पणशील (सर्वत्र प्रकाशिनी] दीप्ति की ज्वलन्त आभा से निरन्तर जगमगा रहा है। उसी देवाधिदेव को मैं अपना अग्नि, अग्रणी, प्रणेता मानता हूं। उसी की प्रेरणा से प्रेरित, उसी की द्युति से द्योतित और उसी की शक्ति से सशक्त होकर मैं इस सार्वभौम साध की साधना कर रहा हूं,' विश्वदूत की यह आत्माभिव्यक्ति उसकी गहन ब्रह्मनिष्ठा की द्योतक है।

मानता हूं मैं होता, दाता,
वसु, सहनशक्ति के प्रेरक,
सर्वव्यापक, विप्र-समान सर्वज्ञ अग्नि को,
जो वह स्वधर देव
देवाच्या, ऊर्ध्वया शक्ति से,
आहुत, सर्पणशील दीप्ति की
जवलन्त आभा से
निरन्तर जगमगा रहा है।

त्रिदोष नाशक

७६७ **अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः।**
वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमं रयिं दाः।
तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः॥ य १५.४८
[ऋ ५.२४.१; २; ४; य ३.२५; २६; २५.४७; सा ४४८; ११०७; ११०८; ११०९]
अग्ने त्वम् नः अन्तमः उत त्राता शिवः भव वरूथ्यः।
वसुः अग्निः वसु-श्रवाः अच्छ नक्षि द्युमत्-तमम् रयिम् दाः।
तम त्वा शोचिष्ठ दीदि-वः सुम्नाय नूनम् ईमहे सखि-भ्यः।

विश्वदूत की ब्रह्मनिष्ठा से आत्मविभोर होकर प्रसाधक जन विनय करते हैं—

१) (अग्ने) ब्रह्माग्ने! (त्वम्) तू है (नः) हमारा (अन्तमः) अनन्य-तम, निकट-तम, अन्तर्यामी।

२) (उत) और [निकटतम होता हुआ, तू] (भव) हो/रह (नः) हमारा (त्राता) तारनेवाला, (शिवः) कल्याणकर्ता, (वरूथ्यः) कवचवत् धारणीय, (वसुः) धन-सर्वस्व, (वसु-श्रवाः) वसुओं का यश, (अग्निः) प्रकाशक, प्रज्वलनकर्ता।

जो निकटतम होता है वही तारता है। जो तारता है वही सच्चा कल्याणकर्ता है।

ब्रह्माग्नि है वरूथ्य, कवचवत् धारणीय। धातुओं से बने कवच शरीर के ऊपर धारण किए जाते हैं। ब्रह्मकवच अन्तःकरण में धारण किया जाता है। ब्रह्मकवच धारण करनेवाले प्रसाधकों की मायाजन्य पापप्रहारों से सर्वथा रक्षा होती है।

ब्रह्म ही प्रसाधकों का वसु है, धनसर्वस्व है, धनों का परम धन है। ब्रह्म ही है प्रसाधकों के

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वसुओं का यश, उनके ब्राह्मधनों का सुयश, उनके आत्मधनों का प्रयश, जिसकी भित्ति पर स्थित होकर वे मानवता का प्रचार तथा मानवधर्म का प्रसार कररहे हैं।

ब्रह्माग्नि है उनका प्रकाशक, उनकी सार्वभौम साध की साधना के पथ को प्रशस्तता के साथ प्रकाशित करनेवाला। वही है उनके अन्तःकरणों में मानवप्रजाओं के प्रति प्रेमज्वाल को प्रज्वलित करनेवाला।

३) तू हममें (अच्छ) अच्छी प्रकार, सम्यक् (नक्षि) गति/प्रेरणा कर।

ब्रह्माग्नि की अन्तःप्रेरणा से ही प्रसाधकों की सुमहान् साध संसिद्ध होगी, इसमें सन्देह ही क्या है!

४) हमें (दाः) दे (द्युमत्-तमम् रयिम्) दीप्ततम/दिव्यतम आत्मैश्वर्य।

अध्यात्मैश्वर्य ही प्रसाधकों का परमैश्वर्य है। दिव्य आत्मैश्वर्यों के आश्रय से ही उनकी महत्तम साध अभीष्ट सुफल प्रदान करेगी।

५) (शोचिष्ठ) पवित्रतम! (दीदिवः) दिव्यतम! हम (सखि-भ्यः) सखाओं के लिए (सुम्नाय) सुप्रसन्नतार्थ, सुखार्थ (तम् त्वा) उस तुझे, (नू) निश्चय ही, (ईमहे) पुकारते हैं।

मानवता तथा मानवधर्म के प्रसाधक, कि ही, ब्रह्माग्नि के सच्चे और अच्छे सखा हैं, वह स्वयं उनका परम सखा है। वह परम सख उनकी उदात्त साधना को सुखकर बनाएगा सुप्रसन्नता के साथ उन्हें साध-संलग्न रखेगा।

अग्ने! तू है हमारा अन्तम,
और हो तू त्राता, शिव, वरूथ्य,
वसु, अग्नि, वसु-श्रवाः।
सम्यक् प्रेर,
कर प्रदान आत्मैश्वर्य दीप्ततम।
पवित्रतम! दिव्यतम!
याचते हैं, निश्चय ही,
हम उस तुझे सखाओं के सुम्नार्थ।

सूक्ति : **अग्ने! त्वं नो अन्तम।**
सुन्दर देव! तू हमारा अन्तर्यामी है।
अच्छा नक्षि।
अच्छी तरह प्रेर।
द्युमत्तमं रयिं दाः।
दीप्ततम आत्मैश्वर्य दे।

७६८ **येन ऋषयस्तपसा सत्रमायन्निन्धाना अग्निं स्वराभरन्तः।**
तस्मिन्नहं निदधे नाके अग्निं यमाहुर्मनव स्तीर्णबर्हिषम्॥ य १५.४६
येन ऋषयः तपसा सत्रम् आयन् इन्धानाः अग्निम् स्वः आ-भरन्तः।
तस्मिन् अहम् नि दधे नाके अग्निम् यम् आहुः मनवः स्तीर्ण-बर्हिषम्।

और प्रसाधकों को सम्बोधता हुआ विश्वदूत पुनः कहता है—प्रसाधको! (येन तपसा) जिस तप से (ऋषयः) ऋषि [जिस] (अग्निम् इन्धानाः) ब्रह्माग्नि को प्रज्वलित/प्रकाशित करते हुए, (स्वः आ-भरन्तः) आनन्द प्राप्त करते हुए, (सत्रम् आयन्) सत्र को पाया/खोजा करते हैं, (मनवः) मननशील (यम् अग्निम्) जिस ब्रह्माग्नि को, (स्तीर्ण-बर्हिषम्) स्तीर्ण-बर्हिः (आहुः) कहते हैं, अपने आपको (अहम्) मैं (तस्मिन् नाके) आनन्दधाम में (नि दधे) नितराम् धारित/स्था समाहित रखता हूं।

सत्र नाम सत्य के उस व्यापक सूत्र का है, **अस्मिन् अखिले**, इस सबमें सूत्रित है।

स्तीर्ण=आच्छादित। बर्हिः=अन्तरिक्ष, काश, व्योम। ब्रह्माग्नि स्तीर्णबर्हिः है, आका सबके बाहर-भीतर व्यापा हुआ है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तप के आश्रय से ही ऋषि जन ब्रह्माग्नि का प्रज्वलन करते हैं, उसका साक्षात्कार करते हैं। तप के आश्रय से ही वे उस शाश्वत सत्य का साक्षात्कार करते हैं जो अखिल सृष्टि में सूत्रित है। मननशील मानव उसी ब्रह्माग्नि को व्योमव्यापी, आकाशवत् व्यापक ब्रह्म कहते हैं। विश्वदूत उसी आनन्दधाम में समाहित रहता हुआ सार्वभौम सत्र का सुसंचालन कर रहा है। अन्यथा तो इतना महान् सत्र संचालित किया ही नहीं जा सकता था। ब्रह्माग्नि से युक्त रहने से ही उसे अक्षय शक्ति और अजस्र ज्योति की सन्तत सम्प्राप्ति होती रहती है, और वह मानवता तथा मानवधर्म के विश्वव्यापी प्रसार में नितराम् संलग्न रह पाता है।

जिस तप से ऋषि
अग्नि को प्रकाशते हुए,
आनन्द प्राप्त करते हुए
खोजा करते हैं सत्र को,
मनु जिस अग्नि को
कहते हैं व्यापक-व्योम
उसी आनन्दधाम में
नितराम् समाहित रखता हूं
मैं अपने आपको।

७६९ **तं पत्नीभिरनु गच्छेम देवाः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः।**
नाकं गृभ्णानाः सुकृतस्य लोके तृतीये पृष्ठे अधि रोचने दिवः॥ य १५.५०
तम् पत्नीभिः अनु गच्छेम देवाः पुत्रैः भ्रातृभिः उत वा हिरण्यैः।
नाकम् गृभ्णानाः सु-कृतस्य लोके तृतीये पृष्ठे अधि रोचने दिवः॥

ब्रह्माग्नि में समाहित विश्वदूत जिस आनन्द को सम्प्राप्त रहता हुआ विश्व साधना के पथ पर अनुगमन कर रहा है (तम् नाकम्) उसी आनन्द को (गृभ्णानाः) ग्रहण करते हुए [हम] (देवाः) देव जन, दिव्य प्रसाधक (पत्नीभिः पुत्रैः भ्रातृ-भिः उत वा हिरण्यैः) पत्नियों, पुत्रों, भ्राताओं अपि च ऐश्वर्यों सहित (सु-कृतस्य लोके) सुकृत के लोक में, (तृतीये पृष्ठे) तृतीय पृष्ठ [उपासना] पर, (दिवः रोचने अधि) द्यौ [ज्ञान] के प्रकाश पर (अनु गच्छेम) अनुगमन करें।

यहां यह पारिवारिक साधना अथवा वंश-परम्परा का संकेत है। किसी भी शुभ, श्रेष्ठ साधना के स्थायित्व के लिए शिष्य-परम्परा उतनी उपादेय नहीं है जितनी वंश-परम्परा। किसी भी सुसाधना के लिए विशेष प्रकार के सुसंस्कारों की आवश्यकता होती है, जिनका सहज समंकन वंश-परम्परा से होता है। वंश के वीर्य और रक्त से ही नहीं, गृह के वातावरण से भी सुसंस्कारों का समंकन, रक्षण, वर्धन और विकास होता है। शिष्य-परम्परा में वह बात कहां! इसी भाव से प्रसाधकों के मुख से यह मन्त्र कहलाया गया है।

प्रसाधकों की वंश-परम्परा, निश्चय ही, ज्ञान, कर्म और उपासना—इन तीन पृष्ठों पर प्रतिष्ठित है। मन्त्र में, 'दिवः' शब्द का प्रयोग ज्ञानप्रकाश अर्थ में हुआ है, 'सुकृत' का कर्म अर्थ में, और 'तृतीय पृष्ठ' का उपासना अर्थ में। प्रथम पृष्ठ है ज्ञान। ज्ञान की पृष्ठ पर ही कर्म और उपासना स्थित हैं। ज्ञान के बिना न सुकृत होते हैं, न यथावत् उपासना की जा सकती है। वेदानुशीलन से इस त्रित की सहज सिद्धि होती है।

मानवता तथा मानवधर्म के स्थायित्व के लिए प्रसाधक जन पत्नियों, पुत्र-पुत्रियों, बन्धु-बान्धवों, परिवारियों, परिजनों सहित सदा सुकृत की राह पर चलें, ज्ञान के आश्रय से मानवता तथा मानव-धर्म का चिरस्थायी सम्पादन करें, और अपने हिरण्यों [ऐश्वर्यों] का मानवसेवा में सद्व्यय करें।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ज्ञान, कर्म और उपासना से उस नाक [आनन्द] की प्राप्ति होती है जिसमें आत्मविभोर हुआ विश्वदूत विश्वसाधना के पथ पर अनुगमन करता है।

उस आनन्द को ग्रहण करते हुए,
अनुगमन करें हम दिव्य साधक

पत्नियों, पुत्रों, बन्धुओं,
अपि च हिरण्यों सहित
सुकृत के लोक में,
तृतीय पृष्ठ पर,
द्यौ के प्रकाश पर।

७७० **आ वाचो मध्यमरुहद् भुरण्युरयमग्निः सत्पतिश्चेकितानः।**
पृष्ठे पृथिव्या निहितो दविद्युतदधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः॥ य १५.५१

आ वाचः मध्यम् अरुहत् भुरण्युः अयम् अग्निः सत्-पतिः चेकितानः।
पृष्ठे पृथिव्याः नि-हितः दविद्युतत् अधः-पदम् कृणुताम् ये पृतन्यवः।

विश्वदूत के नेतृत्व में प्रसाधकों ने सारी पृथिवी पर मानवता तथा मानवधर्म की प्रस्थापना करके सार्वभौम शान्ति तथा विकास का पथ प्रशस्त कर दिया होता है। सम्पूर्ण मानवजाति शान्ति, सौहार्द तथा समृद्धि का आस्वादन कर रही होती है। सर्वत्र सुख और आनन्द है कि कोई सबल राष्ट्र अपनी सैन्य शक्ति अजेय बनाकर, अपने से दुर्बल, किसी राष्ट्र पर आक्रमण करके उसके देश अथवा किसी भूभाग को हडपने का षड्यन्त्र करने लग जाता है। सारे संसार की शान्ति और समृद्धि को ख़तरा उत्पन्न होजाता है। एक स्थान पर भड़की, युद्ध की चिंगारी सारी पृथिवी को अपनी लपटों में लेकर सब किए-कराए को ध्वस्त कर सकती है। युद्ध तो सभ्यता, संस्कृति, कला, धर्म, सदाचार, सबको नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। अतः न केवल प्रसाधक, अपि च सम्पूर्ण मानवप्रजा तथा विश्व संसद् के सभी सभ्य-सभ्या एक स्वर से विश्वदूत को सर्वाधिकार-सम्पन्न करते हुए कहते हैं—

१) (अयम्) यह (भुरण्युः) भरक, पोषक, विश्व का भरण, पोषण करनेवाला, (सत्-पतिः) सत्य का पालक, न्याय का रक्षक, (चेकितानः) ज्ञान-सम्पन्न, विवेकी, सतर्क (अग्निः) अग्रणी, विश्वनेता (वाचः मध्यम्) वाणी के मध्य पर (आ अरुहत्) आरूढ़ हुआ हुआ है।

'वाणी के मध्य पर आरूढ़ होना' एक ईडिअम [मुहावरा] है, जिसका अभि प्रतिज्ञाबद्ध होना। सतर्क विश्वनेता न विश्व के भरण, पोषण के लिए, अ विश्व में सत्य अथवा न्याय की रक्षा के लि प्रतिज्ञाबद्ध है।

२) अतः वह (पृथिव्याः पृष्ठे) पृथिवी की पृ सारी पृथिवी पर (नि-हितः) नितराम् स्थि होकर (दविद्युतत्) जगमगाए, वर्चयुक्त रहे।

विश्वमंगल और विश्वकल्याण का यह ल है कि विश्वदूत सारी पृथिवी का वर्चस्वी के सभी राष्ट्र उसके प्रभुत्व को मानें और प्रभाव का आदर करें।

३) वह उन्हें (अधः-पदम् कृणुताम्) पद-च्यु पद अथवा अधिकार से उतारे, वर्जे, रो पृतन्यवः) जो सेनेच्छु हैं, जो सेना द्वारा आ करने की दुरिच्छा करते हैं।

'सेनेच्छु' शब्द 'युद्धेच्छु' शब्द का पर्याय है। युद्धपिपासुओं को निरुद्ध करना, वर्जना, निलम्बित करना विश्वदूत की विश्व का सर्वश्रेष्ठ और सर्वकुशल कर्म है।

यह भुरण्यु, सत्पति, विवेकी
अग्नि प्रारूढ़ हुआ हुआ है
वाणी के मध्य पर।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जगमगाए निहित होकर
पृथिवी की पृष्ठ पर।

करे अधःपद उन्हें
कि हैं जो सेनेच्छु।

७७१ अयमग्निर्वीरतमो वयोधाः सहस्रियो द्योततामप्रयुच्छन्।
विभ्राजमानः सरिरस्य मध्य उप प्र याहि दिव्यानि धाम ॥ य १५.५२

अयम् अग्निः वीर-तमः वयः-धा सहस्रियः द्योतताम् अ-प्र-युच्छन्।
वि-भ्राजमानः सरिरस्य मध्ये उप प्र याहि दिव्यानि धाम।

प्रसाधक, प्रजा और विश्वसंसद् के सभ्य-सभ्या कहे चले जारहे हैं—

१) (अयम् वीर-तमः वयः-धाः सहस्रियः अग्निः) यह वीर-तम, जीवन-धारक, सहस्रीय अग्रणी [विश्वनेता] (अ-प्र-युच्छन्) प्र-माद न करता हुआ, सतर्क रहता हुआ (द्योताम्) जगमगाए।

विश्वनेता वीरतम तो होना ही चाहिए, उसे मानवों का जीवनधारक अथवा जीवन-रक्षक भी होना चाहिए। जीवन की सुरक्षा विश्वव्यवस्था का सर्वप्रथम पग है। साथ ही वह हो सहस्रीय, उन असंख्य वीरों का नायक और विधायक जिनके आश्रय से वह युद्धेच्छुओं का वर्जन करता है। वह सदा सतर्क, सावधान और वर्चोपेत भी रहे।

२) विश्वनेतः ! (सरिरस्य मध्ये) जल के मध्य में [कमलपुष्प के समान] (वि-भ्राजमानः) प्रकाशता/शोभता हुआ (दिव्यानि धाम) दिव्य स्थितियों को (उप प्र याहि) प्राप्त कर, प्राप्त रह।

'धाम' [धामानि] शब्द का प्रयोग यहां स्थितियों के लिए हुआ है। कमल का पुष्प जिस प्रकार जल में रहता हुआ जल से ऊपर रहता है उसी प्रकार विश्वनेता विश्वदूत संसार में रहता हुआ, संसारिक हानि-लाभ, शोक-मोह, पक्षपात, आदि से ऊपर उठा रहता है, और हर अवस्था में दिव्य स्थितियों में संस्थित रहता है।

यह वीरतम, जीवनधारक,
सहस्रीय अग्नि जगमगाए
सतर्कता के साथ।
जल के मध्य में शोभता हुआ,
रह तू प्राप्त दिव्य धामों को।

७७२ सम्प्रच्यवध्वमुप सम्प्रयातारग्ने पथो देवयानान् कृणुध्वम्।
पुनः कृण्वाना पितरा युवानान्वातांसीत् त्वयि तन्तुमेतम् ॥ य १५.५३

सम्-प्र-च्यवध्वम् उप सम्-प्र-यात अग्ने पथः देव-यानान् कृणुध्वम्।
पुनः कृण्वाना पितरा युवाना अनु-आ-तांसीत् त्वयि तन्तुम् एतम्।

अग्रणी विश्वदूत प्रसाधकों, प्रजाओं और विश्व-संसद् के सभ्य-सभ्याओं को अनुप्रेरित करता हुआ कहता है—

१) तुम सब (सम्-प्र-च्यवध्वम्) संगमन करो, सम्यक् प्रगति करो, आगे बढ़ो।

मानवता और मानवधर्म की संव्याप्ति और सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि उपर्युक्त सर्व जन अपनी अपनी मानवीय संसाधों में निर्बाधता के साथ आगे ही आगे बढ़ते रहें, कदापि शिथिलता न आने दें।

२) तुम सब (उप सम्-प्र-यात) मिलकर संगमन करो।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वे सब संयुक्त होकर प्रगति के पथ पर प्रगमन करें, क़दम से क़दम और कन्धे से कन्धा मिलाकर आगे बढ़ें। उन्हें सदा ध्यान में रखना चाहिए कि स-लग साधना ही सुफल प्रदान करती है और वि-लग साधना बने-बनाए कामों को बिगाड़ देती है।

३) तुम सब (देव-यानान् पथः कृणुध्वम्) देव-यान पथों को/का निर्माण करो।

देव जन [दिव्य जन] चले हैं और चलते हैं जिन पथों पर उनकी ही संज्ञा 'देवयान पथ' है। 'देवयान पथ' से तात्पर्य देव जनों की दिव्य जीवन-पद्धतियों से है। मानवता के हित में, प्रत्यक्षतः, यह आवश्यक है कि सर्व जन, देव जनों की उस दिव्य जीवनपद्धति की स्थापना तथा संव्याप्ति करें, जिससे युक्त रहकर आनेवाली मानवसन्ततियां मानवीय, दिव्य पथ से भटकने न पाएं।

और अब, नवोदित युवा दाम्पत्य को सम्बोधन करता हुआ, अग्रणी विश्वदूत उत्प्रेरणा करता है—(युवाना पितरा) युवा दम्पती ! तुम दोनों (पुनः कृण्वाना) पुनः निर्माण करनेवाले होओ। युवा दम्पति [पति-पत्नी] में नवनिर्माण की अक्षय क्षमता होती है। युवा दाम्पत्य नई पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता है। पीढ़ी दर पीढ़ी, वंशानुवंश जब पुनर्निर्माण का क्रम जारी रहता है तो मानव-प्रजाओं में उत्तरोत्तर नवनिर्माण का नवीन उमड़ता रहता है। इस प्रकार, संसार कभी और नीरस न रहकर सदा नवीन और सरस रहता है।

और अब, उपर्युक्त प्रसाधकादि सर्व जन श्रद्धोपेत होकर विश्वनेता विश्वदूत के लिए कामना करते हैं—(अग्ने) विश्वनेतः ! (त्वयि) तुझमें (एतम् तन्तुम्) इस तन्तु को श्रद्धासूत्र को (अनु-आ-तांसीत्) अनु-निरन्तर बनाए रहे।

जन जन विश्वनेता के प्रति श्रद्धासूत्र से रहता है तो उसके आदेशों के पालन से पृथिवी एक अभिन्न, सुशोभन गृह बना रहे और सम्पूर्ण मानवप्रजा एक अभिन्न, प्रिय परिवार की तरह पारस्परिक सुविश्वास के वातावरण सुख की सांस लेता है।

करो संगमन,
करो संगमन मिलकर,
निर्माणो देवयान पथों को।
युवा दम्पती ! करो पुनर्निर्माण।
अग्ने ! जन जन तुझमें अनुविस्तारे
इस तन्तु को।

सूक्तिः—**पथो देवयानान् कृणुध्वम्।**
देवगमनीय पथों को निर्माणो।

७७३ **उद् बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते सं सृजेथामयं च।**
अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत॥
[य १८.६१]

य १५.५४
उत् बुध्यस्व अग्ने प्रति जागृहि त्वम् इष्ट-पूर्ते सम् सृजेथाम् अयम् च।
अस्मिन् सध-स्थे अधि उत्-तरस्मिन् विश्वे देवाः यजमानः च सीदत।

जन जन की श्रद्धा के सूत्र से सूत्रित विश्वनेता विश्वदूत इस मन्त्र से अपने आपको सदा उद्बुद्ध करता रहता है—

१) (अग्ने) आत्माग्ने ! (उत् बुध्यस्व) उद्बुद्ध हो, उत्कृष्ट बोध से युक्त रह, (प्रति जागृहि) प्रति जागृत रह, प्रतिक्षण सजग और सचेत रह।

जनमंगल, लोकसेवा तथा विश्वव्यवस्था संलग्न मानव प्रायः आत्मसाधना में पिछड़ जाते

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर विश्वदूत नित्य अपने आत्मा को सजग और सावधान करता हुआ कहता रहता है, 'आत्मन् ! तू सदा उद्बुद्ध रहता हुआ, प्रत्येक घटना, गति और चेष्टा में सजग रहता हुआ अपने स्वरूप में स्थित रह। कितनी भी व्यस्तता और कार्याधिक्य क्यों न हो, आत्मसाधना को न भुला, न विसरा।' आत्महानि करके परोपकार किसी के भी लिए वर्जित है।

२) (त्वम्) तू [आत्मा, देही] (च) और (अयम्) यह [देह], दोनों मिलकर (इष्ट-पूर्तं) इष्ट और पूर्त को/का (सम् सृजेथाम्) सम्पादन करो।

आत्मा और देह के संयोग का नाम जीवन है। मानवजीवन से अधिक मूल्यवान् अन्य कुछ नहीं है, और मानवजीवन में भी जीवन के क्षणों से अधिक मूल्यवान् अन्य कुछ नहीं है। मानवजीवन ही है जिसमें पूर्त के द्वारा इष्ट की सिद्धि हो सकती है। इष्ट है आत्मसाक्षात्कार तथा ब्रह्मसाक्षात्कार द्वारा मोक्ष की प्राप्ति, और पूर्त है योगजीवनपद्धतियुक्त योगसाधना। इष्ट और पूर्त को दृष्टि में रखते हुए, अथवा इष्ट और पूर्त से सम्यक् सलग रहते हुए ही विश्व के सब कर्तव्य कर्मों का निर्वहन अपि च समस्त साधों का संचालन किया जाना चाहिये, यह उदात्त उद्बोध इस मन्त्रांश में अन्तर्निहित है।

३) जीवनरूपी (अस्मिन् उत्-तरस्मिन् सध-स्थे) इस उत्-तर सह-स्थान में [तुम] (विश्वे देवाः) सब इन्द्रियदेव (च) और (यजमानः) आत्म-यजमान (अधि सीदत) अधिष्ठित रहो, विराजो।

जीवन एक सधस्थ है, सहस्थान है, साथ साथ रहने की जगह है, और है वह यज्ञशाला, श्रेष्ठतम कर्म करने की एक शुभस्थली, जिसमें आत्मा यजमान है, यज्ञसम्पादक है, श्रेष्ठतम कर्म करनेवाला है। इन्द्रियां हैं उसमें निहित देव, दिव्य सहकार प्रदान करनेवाले दिव्य देव।

यह संसार भी एक सधस्थ है और है एक यज्ञ-स्थल, श्रेष्ठतम कर्म करने का एक सुपावन धाम जिसमें आत्मा को इन्द्रियदेवों के सहकार से देहधाम और विश्वधाम, दोनों धामों को उत्तरोत्तर उत् से उत्-तर, उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर, पवित्र से पवित्रतर, वह से वहतर [बहतर ही बहतर] बनाते रहना है। मुसाफ़िर का काम सराय को बद से बदतर बनाना नहीं है, बहतर ही बहतर, शुद्धतर ही शुद्धतर बनाते रहना है। जो जहां से प्रस्थान करे, अपने पीछे एक बहतर संसार छोड़ कर जाए, बदतर नहीं। जीवन-धाम, परिवारधाम, समाजधाम, राष्ट्रधाम, विश्व-धाम, सभी धामों को मानव उत्तर बनाकर जाए। कितना दिव्य उद्बोध है यह विश्वदूत का अपने स्वयं के आत्मा के लिए भी और सर्व मानवों के लिए भी ! 'अपने पीछे एक बहतर संसार छोड़ कर जाओ'—यह एक प्रचेतना है, जिससे प्रत्येक प्रसाधक, प्रत्येक सांसद और प्रत्येक मानव को प्रचेतित रहना चाहिए।

अग्ने ! रह उद्बुद्ध,
रह जागता प्रतिक्षण प्रतिशः।
तू और यह, दोनों सम्पादन
करो इष्ट और पूर्त।
इस उत्-तर सह-स्थान में
रहो अधिष्ठित सकल देव
अपि च यजमान।

सूक्ति : **उद् बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि।**
उद्बुद्ध हो, आत्माग्ने ! प्रतिक्षण जाग।

७७४ **येन वहसि सहस्रं येनाग्ने सर्ववेदसम्। तेनेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवे॥**
[य १८.६२] य १५.५५

येन वहसि सहस्रम् येन अग्ने सर्व-वेदसम्। तेन इमम् यज्ञम् नः नय स्वः देवेषु गन्तवे।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अब विश्वनेता विश्वदूत, प्रसाधक तथा विश्वसंसद् के सभ्य-सभ्या प्रभु से विनय करते हैं—(अग्ने) ब्रह्माग्ने ! अखिल सृष्टि का अग्रनयन करनेवाले प्रभो ! सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ तू (येन) जिस [प्रकार]से (सहस्रम्) सहस्र को, असंख्य लोक-लोकान्तरसमूह को, (येन) जिस[प्रकार]से (सर्व-वेदसम्) सर्वज्ञान को (वहसि) वहन कररहा है (तेन) उसी[प्रकार]से (नः) हमारे (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ को (देवेषु स्वः गन्तवे) मानवदेवों में आनन्द प्राप्त कराने के लिए (नय) लेचल, वहन करा ।

विश्वदूत, प्रसाधक तथा विश्वसंसद् के सभ्य-सभ्या जिस मानवीय सार्वभौम यज्ञ का सम्पादन कर रहे हैं वह सभी मानवदेवों को सुख, शान्ति और आनन्द से युक्त रखने के लिए है। यह साधारण नहीं, महतो महान् यज्ञ है। इसकी सफलता और सम्पूर्ति सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ ब्रह्माग्नि की कृपा और सहायता के बिना सर्वथा असम्भव है। इसी लिए इस महतो महान् यज्ञ के याज्ञिक कदम कदम पर, क्षणे क्षणे प्रार्थना करते रहते हैं—

ब्रह्माग्ने !
जिस प्रकार से तू सहस्र को,
जिस प्रकार से सर्वज्ञान को
वहन कर रहा है तू सम्यक्
उसी प्रकार से वहन करा तू
हमारे इस यज्ञ को
देवों में आनन्द प्राप्त कराने के लिए।

७७५ **अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः । तं जानन्नग्न आ रोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥**

[ऋ ३.२९.१०; य ३.१४; १२.५२; अ ३.२०.१] य १५.५६

अयम् ते योनिः ऋतु-इयः यतः जातः अरोचथाः । तम् जानन् अग्ने आ रोह अथ नः वर्धय रयिम्

अपनी विनय को जारी रखते हुए वे कहे चले जारहे हैं—

१) (अग्ने) ब्रह्माग्ने ! सुन्दर देव ! (अयम्) यह [संसार] (ते ऋतु-इयः योनिः) तेरा ऋत्विय गृह है, (यतः जातः) जहां से प्रकट/प्रकाशित/प्रतिभासित होकर [तू] (अरोचथाः) रुचा हुआ है, अपने सौन्दर्य की छटा छटकाए हुए है ।

यह अनन्त, असीम संसार एक गृह है, ब्रह्माग्नि जिसका गृही है। ब्रह्म का यह गृह ऋतु-इय है, ऋतु अथवा ऋत के अनुसार गति करनेवाला है। ब्रह्माग्नि अपने इस ऋत्वियगृह में प्रतिभासित होकर सर्वत्र, सब ओर अपने सौन्दर्य की छटा छटका रहा है ।

२) ऐसे, हे सुन्दर देव ! तू अपने (तम्) उस [ऋत्विय गृह] को (जानन्) जानता/प्रकाशता हुआ (आ रोह) उदित हो (अथ) और (नः रयिम् वर्धय) हमारे आत्मैश्वर्य को बढ़ा ।

'सूर्य जिस प्रकार आरोहित होकर हमें दिखाई देता है उसी प्रकार तू हमारे हृदयाकाश में आरोहित होकर हमें अपने दर्शन करा और हमारे आत्मैश्वर्य को बढ़ा ।' ब्रह्मसूर्य के सन्दर्शन से हृदयाकाश धकों के जीवनों में उन अध्यात्म ऐश्वर्यों का संवर्धन होता है जिनके आश्रय से सार्वभौम यज्ञ संसिद्ध की जाती हैं ।

यह ऋत्विय गृह है तेरा,
प्रकट होकर यतः रुच रहा ।
करता हुआ प्रकाशित उसको,
सुन्दर ! हो तू उदित,
बढ़ा हमारे आत्मैश्वर्य को ।

सूक्ति : **आ रोहाथा नो वर्धया रयिम् ।**
उदित हो और हमारे आत्मैश्वर्य को बढ़ा।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

७७६ तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू अग्नेरन्तःश्लेषो ऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः । ये अग्नयः समनसो ऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे । शैशिरावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतया ऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ।।

य १५.५७

तपः च तपस्यः च शैशिरौ ऋतू अग्नेः अन्तः-श्लेषः असि कल्पेताम् द्यावा-पृथिवी कल्पन्ताम् आपः ओषधयः कल्पन्ताम् अग्नयः पृथक् मम ज्यैष्ठ्याय स-व्रताः । ये अग्नयः स-मनसः अन्तरा द्यावा-पृथिवी इमे । शैशिरौ ऋतू अभि-कल्पमानाः इन्द्रम्-इव देवाः अभि-सम्-विशन्तु तया देवतया अङ्गिरस्वत् ध्रुवे सीदतम् ।

विश्वदूत मानवता तथा मानवधर्म के प्रसाधकों तथा विश्वसंसद् के सभ्य-सभ्याओं के प्रति प्रेरणा करता है—

१) (तपः च तपस्यः च शैशिरौ ऋतू) तप [माघ] और तपस्य [फाल्गुन] शैशिर ऋतुएं हैं ।

वर्ष की छह ऋतुओं में से शिशिर ऋतु छठी ऋतु है, तप और तपस्य जिसके दो ऋतु-मास हैं । शिशिर में जो शिशिरत्व है उसे 'शैशिर' कहते हैं । ताप का आरम्भ करनेवाला होने से माघ मास का नाम तप है । ताप अथवा गर्मी बढ़ानेवाला होने से फाल्गुन मास की संज्ञा तपस्य है ।

२) शिशिर ! तू (अग्नेः अन्तः-श्लेषः असि) अग्नि का अन्तरालिंगी है, अग्नि के भीतर आलिंगन करनेवाला है ।

शिशिर ऋतु ठिठुरन के बाद तप—ताप अथवा ऊष्मा बढ़ानेवाली ऋतु है, जिसमें ठिठुरी हुई पुरानी पत्तियां झड़ जाती हैं और टहनियों पर नई कोंपलें अंकुरित होती हैं । इस ऋतु में भौमाग्नि तथा जठराग्नि नवजीवनतत्त्वों का परिपाक करते हैं । उसी प्रकार सार्वभौम मानवता के वातावरण में शिशिर आए तो प्रसाधक मानवों के मानस में मानवप्रेम के तप और मानवसेवा के ताप का नए सिरे से संचार करें ।

३) शिशिर का शैशिर कहता है—(मम ज्यैष्ठ्याय) मेरे ज्येष्ठत्व [बढ़ाव, विकास] के लिए (कल्पेताम् द्यावा-पृथिवी) कल्पें द्यौ और पृथिवी, (कल्पन्ताम् आपः ओषधयः) कल्पें जल और ओषधियां, (कल्पन्ताम् स-व्रताः अग्नयः) कल्पें सव्रत मानवाग्नियां (पृथक्) अलग अलग ।

शिशिर के शैशिर में जिस प्रकार द्यौ और भूमि का, तथा जलों और औषधियों का कल्प होता है उसी प्रकार सार्वभौम मानवता की स्थापना तथा रक्षा के लिए व्रती मानवाग्नि दिशा-विदिशाओं में पृथक् पृथक् जाएं और सम्पूर्ण मानवजाति को मानवता के शैशिर से पल्लवित करें ।

मानवतारूपी शैशिर की मुख्य साध है मानवों के द्यौ [मस्तिष्क] और पृथिवी [जीवन] में मानवता की ज्येष्ठता की नव-स्थापना करना, मानवता के आपः [कर्मप्रवाहों] तथा ओषधयः [सुवृत्तियों] को मानवता की धवल धाराओं में सुप्रवाहित रखना । इस साध की सफल साधना वे व्रती, अग्निरूप साधक ही कर पाते हैं जिनके भीतर मानवता का अग्नि प्रज्वलित रहता है ।

विश्वदूत कामना करता है—(इमे द्यावा-पृथिवी) इन द्यौ और पृथिवी के (अन्तरा) बीच में (ये स-मनसः अग्नयः देवाः) जो स-मन, अग्नि के समान तेजस्वी, देव हैं वे (शैशिरौ ऋतू) शैशिर ऋतुओं को, दोनों शैशिर मासों को (अभि-कल्पमानाः) सर्वतः कल्प करते हुए (इन्द्रम्-इव) सूर्य

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

को जैसे (अभि-सम्-विशन्तु) सब ओर, सम्यक् प्रवेश करें।

द्यौ और पृथिवी के बीच विशाल आकाश का अवलोकन करके विश्वदूत के मानस में उत्ताल तरंगें तरंगित होती हैं और वह कामना करने लगता है कि उमंग और उत्साह से पूरित मनवाले, मनस्वी और तेजस्वी देव-देवियां, रश्मिपुञ्ज सूर्य की तरह, दिशा-विदिशाओं में प्रवेश करें, और माघ तथा फाल्गुन की तरह ऋतु-कल्प करके सारी पृथिवी पर मानवतारूपी शैशिर की नवकोंपलें अंकुरित करें।

मानवप्रजा और अग्निरूप स-मन देवप्रजा, दोनों को सम्बोधन करता हुआ विश्वदूत कहता है—उभय प्रजाओ! तुम दोनों (ध्रुवे) अविचल रहते हुए (तया देवतया) उस [मानवतारूपी] देवता के साथ (अङ्गिरस्वत्) आत्मवत् (सीदतम्) सुस्थित/सुस्थिर रहो।

उभय प्रजाओं के मानवतारत रहने से पृथिवी पर मानवतारूपी शैशिर की नवपल्लव अंकुरित होती है।

तप और तपस्य हैं शैशिर ऋतुएं,
तू है अन्तरालिगी अग्नि का।
मेरे ज्येष्ठत्व के लिए कल्पें द्यु-भू,
कल्पें आपः और ओषधियां,
कल्पें सव्रत अग्नियां।
इन द्यावापृथिवी के मध्य में
हैं जो स-मन, तेजस्वी देव
वे शैशिर ऋतुओं को
सर्वतः कल्पित करते हुए
करें सूर्यवत् सब ओर, सम्यक् प्रवेश।
ध्रुवा तुम दोनों सुस्थित रहो
आत्मवत् उस देवता के साथ।

७७७ **परमेष्ठी त्वा सादयतु दिवस्पृष्ठे ज्योतिष्मतीम्। विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ। सूर्यस्ते ऽधिपतिस्तया देवतया ऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद॥**
[य १४.१२; १५.६४]

य १५

परमे-स्थी त्वा सादयतु दिवः पृष्ठे ज्योतिष्मतीम्। विश्वस्मै प्र-आनाय अप-आनाय वि-आनाय विश्वम् ज्योतिः यच्छ। सूर्यः ते अधि-पतिः तया देवतया अङ्गिरस्वत् ध्रुवा सीद

जिस पृथिवी पर सर्व मानव निवास करते हैं जिस पृथिवी पर मानवता तथा मानवधर्म की स्थापना की जाती है उस पृथिवी को सम्बोधन करता हुआ विश्वनेता विश्वदूत मंगलकामना करता है—

१) पृथिवि! अपने (परमे-स्थी) परम पद में स्थित, परमात्मा (त्वा ज्योतिष्मतीम्) तुझ ज्योतिर्मयी को (सादयतु) स्थित/स्थिर रखे (दिवः पृष्ठे) आकाश की पृष्ठ पर (विश्वस्मै) सर्वार्थ, समस्त मानवजाति के (प्र-आनाय) प्र-जीवन/संजीवन के लिए, (अप-आनाय) दोष-निवारण के लिए, (वि-आनाय) [मानव और मानवता की] व्याप्ति के लिए।

प्राण [नासिका द्वारा भीतर जाता हुआ संजीवन का संचार करता है। अपान [बाहर हुआ वायु] शरीर के भीतर के मलिन तत्व निराकरण करता है। प्राण भीतर प्रविष्ट सारे शरीर में व्यापता है और कण कण शोधन करता है। उपलक्षण से, यहां 'प्राण' का प्रयोग संजीवन अर्थ में हुआ है, 'अपान' दोष-निवारण अर्थ में और 'व्यान' का अर्थ में।

सूर्य के प्रकाश से, चन्द्रमा की चन्द्रिका विज्ञान की आभा से और ऐश्वर्य के प्र पृथिवी ज्योतिष्मती है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आकाश में सूर्य की सतत परिक्रमा करती हुई पृथिवी सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् प्रभु की संव्याप्ति से सदा ही स्थिरता के साथ गति कर रही है। 'हमारी यह पृथिवी स्थिरता के साथ आकाश में गति करती हुई, सदा ज्योतिर्मयी रहती हुई, मनुष्यमात्र में संजीवन का संचार करनेवाली, मानवों के जीवनों को निर्दोष रखनेवाली, मानवता तथा मानवधर्म से सुशोभित और प्रशान्त रहती हुई सम्यक् स्थित रहे,' ऐसी मंगलकामना विश्वदूत के साथ सभी मानवों को करनी चाहिए। मंगल-कामना, निस्सन्देह, मंगलकारिणी होती है।

२) पृथिवि मातः ! प्रभो ! (विश्वम् ज्योतिः यच्छ) विश्व को ज्योति प्रदान कर।

'ज्योति' शब्द का प्रयोग विवेक अर्थ में हुआ है। पृथिवी माता की गोद में निवास करनेवाले सभी मानव विवेक से युक्त रहें। विवेक से युक्त रहने पर ही मानव मानवता तथा मानवधर्म में प्रतिष्ठित रहते हैं।

३) पृथिवि ! (सूर्यः) सूर्यों का सूर्य, प्रकाशकों का प्रकाशक, सर्वप्रकाशक परमात्मा (ते अधि-पतिः) तेरा अधिरक्षक हो, तेरी अधिकाधिक रक्षा करे।

पृथिविलोक का ही नहीं, सकल लोकों का अधिरक्षक प्रकाशस्वरूप परमात्मा ही है। वही परमात्मा हमारी पृथिवी की और पृथिवीस्थ मानव-प्रजाओं की सब प्रकार रक्षा करे।

४) पृथिवि ! (ध्रुवा) ध्रुवा तू, ध्रुवता के साथ स्थित तू (तया देवतया) उस [मानवतारूपी] देवता के साथ (अङ्गिरस्वत्) आत्मवत् (सीद) स्थित रह।

आत्मा से युक्त रहने पर जिस प्रकार शरीर सुस्थित रहता है उसी प्रकार मानवता से युक्त रहने पर पृथिवी सुस्थित रहती है।

परमेष्ठी तुझ ज्योतिर्मयी को
रखे सुस्थित आकाश की पृष्ठ पर
सर्वार्थ संजीवन के लिए,
दोष निवारण के लिए,
व्याप्ति के लिए।
विश्व को ज्योति दे।
सूर्य तेरा अधिपति।
ध्रुवा तू रह आत्मवत् स्थित
उस देवता के साथ।

सूक्ति : विश्वं ज्योतिर्यच्छ।
विश्व को ज्योति दे।

७७८ **लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम्। इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनावसीषदन्॥**

[य १२.५४]

य १५.५९

लोकम् पृण छिद्रम् पृण अथो सीद ध्रुवा त्वम्। इन्द्र-अग्नी त्वा बृहस्पतिः अस्मिन् योनौ असीसदन्।

पृथिवीस्थ सर्वमानवों के जीवनों में मानवतारूपी संजीवन का संचार करना, सबके जीवनों को निर्दोष और निष्पाप बनाए रखना, सारी पृथिवी पर मानव और मानवता की व्याप्ति—यह साधत्रय जिस अविचल भावना की अपेक्षा रखती है उसे सम्बोधन करते हुए विश्वदूत कहता है—

१) भावने ! सर्व जनों के (लोकम् पृण) जीवन-लोक को पूर, उनके जीवनों को मानवता के आलोक से पूरित रख, उनके जीवन की अपूर्णताओं को पूर्णताओं में परिणत कर।

भावना साधना की जननी है। प्रथम भावना, फिर साधना, फिर सिद्धि। भावना का अभाव

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शून्यता की ओर लेजाता है। भावना लक्ष्य की साधना कराकर सिद्धि सम्पादन कराती है। साधक जन मानवजाति में निष्पाप और निर्दोष जीवन-पद्धति की भावना का संचार करते हैं तो उपर्युक्त साधत्रय सतत संसिद्ध बनी रहती है।

२) भावने ! मानवजाति के (छिद्रम् पृण) छिद्र को पूर।

छिद्रपूर्ति के बिना प्राप्ति असम्भव है। पात्र के छिद्र को पूर देने पर ही वह दुग्ध से पूरा जा सकता है। नाव के छिद्रों को पूरकर ही पार उतरा जाता है। मानवजीवन में कामछिद्र [शिश्न, भग] एक ऐसा छिद्र है जो मानव को असंख्य दोषों से दूषित कर देता है। कामछिद्र को खुला छोड़ दिया जाता है तो मानवजाति सर्वथा मलिन होजाती है। मानवजाति को स्वच्छ रखने की अविचल भावना जब मानवों में सम्यक् भावित होती है तभी मानव-प्रजा कामछिद्र को पूरकर संयम और सदाचार से निष्पन्न रहती है।

३) (अथो) और, [भावने !] (ध्रुवा त्वम्) निश्चला तू [सम्पूर्ण मानवजाति में] (सीद) सुस्थित/सुस्थिर रह।

अपूर्णताओं को पूर्णताओं में परिणत करते रहने की भावना जब तक मानवसमाज में चलता के साथ स्थिर रहती है तभी तक पशुता से मुक्त और मानवता से युक्त रहते हैं।

४) भावने ! (इन्द्र-अग्नी बृहस्पतिः) इन्द्र [आत्म अग्नि [ब्रह्माग्नि], बृहस्पति [बृहत् वेद का सा प्रचारक] (त्वा) तुझे (अस्मिन् योनौ) इस [पृथि रूपी] योनि पर (असीसदन्) स्थित/समाहित करते हैं।

मानवों का आत्मा जब उद्बुद्ध रहता है, जन जब ब्रह्माग्नि के प्रकाश में जीवन का निर्म करते हैं, वेद के विद्वान् जब साचार वेदप्रचार रहे होते हैं तो, निस्सन्देह, सारी पृथिवी साधत्रय की संसिद्धि की भावना स्थिरता के स्थित रहती है।

लोक को पूर, छिद्र को पूर
और सुस्थिर रह ध्रुवा तू।
इन्द्र, अग्नि और बृहस्पति
स्थिर रखा करते हैं तुझको
इस योनि पर।

सूक्तिः—**लोकं पृण छिद्रं पृण।**
लोक को पूर, छिद्र को पूर।

७७९ **ता अस्य सूददोहसः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः। जन्मन् देवानां विशस्त्रिषा रोचने दिवः॥**

[ऋ ८.६९.३; य १२.५५] य १५.६०

ताः अस्य सूद-दोहसः सोमम् श्रीणन्ति पृश्नयः। जन्मन् देवानाम् विशः त्रिषु आ रोचने दिवः

भावनामयी (ताः सूद-दोहसः पृश्नयः विशः) वे सूद-दोहा, सींचनेवाली प्रजाएं (अस्य) इस [ब्रह्म] के (सोमम्) आनन्द को (श्रीणन्ति) पकाती हैं (त्रिषु) तीन [योगांगों] में, (देवानाम् जन्मन्) देवों के जन्म/जीवन में, (दिवः आ रोचने) द्यौ के आरोचन/प्रकाशन में।

सूद नाम कूप और स्रोत का है। कूप का सम्बन्ध जलस्रोत से होता है। मानवप्रजाएं हैं। ब्रह्म आनन्द का अक्षय स्रोत है। जो प्रजाएं अपने जीवनकूप का सम्बन्ध अक्षय ब्रह्म से कर लेती हैं वे आनन्दरस से सतत आप्लावि रहती हैं और उस रस से मानवता तथा मानव को सींचती हैं।

यह ब्रह्मसोम पकाया जाता है—

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१) (त्रिषु) तीन में, उस धारणा-ध्यान-समाधिरूपी त्रित में जिसे योग की परिभाषा में संयम कहते हैं।

२) (देवानाम् जन्मन्) देवों के जन्म/जीवन में, देवों की दिव्य जीवनपद्धति में, योगियों की योग-जीवन-पद्धति में। देवों अथवा योगियों की जीवनपद्धति के अनुकरण से ब्रह्मसोम की प्राप्ति होती है।

३) (दिवः आ रोचने) द्यौ के आरोचन/प्रकाशन में। मस्तिष्करूपी द्यौ में विवेक-प्रकाशन से ब्रह्म के दर्शनसोम की प्राप्ति होती है।

सूद-सुदोहा, सेचनशीला वे प्रजाएं
इसके सोम को पकाती हैं
तीन में देवों के जीवन में,
और द्यौ के प्रकाशन में।

७८० **इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः। रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम्॥**
[ऋ १.११.१; यं १२.५६; १७.६१; सा ३४३; ८२७] य १५.६१

इन्द्रम् विश्वाः अवीवृधन् समुद्र-व्यचसम् गिरः। रथि-तमम् रथीनाम् वाजानाम् सत्-पतिम् पतिम्।

ब्रह्मसोम का परिपाक करनेवाले (विश्वाः गिरः) समस्त स्तोता (अवीवृधन्) बढ़ाया करते हैं (समुद्र-व्यचसम्) समुद्र-व्यापी, सृष्टिरूपी अनन्त, असीम समुद्र में ओत-प्रोत (रथीनाम् रथि-तमम्) रथियों के रथितम, (वाजानाम् पतिम्) वाजों के पति, (सत्-पतिम्) सत्पुरुषों के रक्षक (इन्द्रम्) इन्द्र को।

लोक-लोकान्तररूपी इन्द्रियों का स्वामी होने से ब्रह्म को इन्द्र कहा गया है। वह अपनी सर्व-व्याप्ति से सब लोक-लोकान्तररूपी रथों का संचालक होने से, रथियों का रथितम अथवा परम सारथि है।

'वाज' का अर्थ है ज्योति और शक्ति। अपनी अजस्र ज्योतियों और अक्षय शक्तियों से वह सारी सृष्टि का द्योतन तथा धारण कर रहा है। इसी से वह वाजों का पति है।

पति तो वह सत्, असत्, सभी पुरुषों का है। सत्पुरुष उसका सर्वात्मना वरण करते हैं, उसके प्रति समर्पित रहते हैं। इसी से वह सत्पति है। सचमुच, वह शरणागत सत्पुरुषों की विशेषतः रक्षा करता है।

प्रभु की महिमा का वर्णन करना ही उसका वर्धन है।

सकल स्तोता हैं बढ़ाया करते
समुद्रव्यापी, रथियों के रथी,
वाजों के पति, सत्पतीन्द्र को।

७८१ **प्रोथदश्वो न यवसे ऽविष्यन् यदा महः संवरणाद् व्यस्थात्।**
आदस्य वातो अनु वाति शोचिरध स्म ते व्रजनं कृष्णमस्ति॥
[ऋ ७.३.२; सा १२२०] य १५.६२

प्रोथत् अश्वः न यवसे अविष्यन् यदा महः सम्-वरणात् वि अस्थात्।
आत् अस्य वातः अनु वाति शोचिः अध स्म ते व्रजनम् कृष्णम् अस्ति।

१) (यवसे) भूसा/चारा/घास के लिए (प्रोथत्) हुन-हिनाते हुए (अश्वः न) अश्व के समान, (यदा) जब (महः) बादल (अविष्यन्) रक्षा की कामना करता हुआ (सम्-वरणात्) संवरण/रोक-स्थान, समुद्र से (वि अस्थात्) वि-स्थित हुआ/प्रस्थान किया करता है, (आत् स्म) अनन्तर ही, तब ही (अस्य)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इस[बादल]के (शोचिः अनु) तेज/घर्म/घाम/गर्मी के अनुसार (वातः वाति) पवन चलता है, वात बादल को ले जाता है।

२) (अध) और, [बादल !] (ते व्रजनम् कृष्णम् अस्ति) तेरा गमन काला है।

मह नाम महान्, उदकसमूह और बादल का है। बादल महान् है क्योंकि वह जलामृत की वृष्टि करके अनेक अभावों को भावों में परिणत करता है और, इस प्रकार, प्राणियों के प्राण अथवा जीवन की रक्षा करता है।

बादल जब प्राणियों की रक्षा की भावना से अपने संवरणस्थल अथवा निवासस्थान—समुद्र से ऊपर उठकर गमन करता है तो वातायान पर सवार हुआ काली घटा के रूप में दर्शित होता है और वाष्प की तरह गर्म होता है। बादल की ऊष्मा [गर्मी] के लिए ही 'शोचि' शब्द का प्रयोग हुआ है। बादल में जितनी शोचि होती है, पवन उसे उतनी ही तेज़ी से उड़ाकर दूर दूर लेजाता है, और बादल सर्वत्र बरस कर देश-प्रदेशों को हरा-भरा कर देता है।

जौ अथवा घास के हरे-भरे खेत और मैदान को देखकर जिस प्रकार घोड़ा हिन-हिनाता हुआ खेत वा मैदान की ओर भागता है उसी प्रकार बादल हवा में सर-सराते हुए उन प्रदेशों की ओर दौड़े चले जारहे होते हैं जहां जाकर उन्हें बर्स है। कौन लेजारहा है बादल को उन प्रदेशों ओर ? ऊष्मा, गर्मी, शोचि। जितनी अधिक उतनी ही अधिक पवन की गति, और उतनी तीव्रता से बादल अपने अभीष्ट की ओर दौड़ते

स्तोतृसमूह में अथवा ब्रह्मोपासकसमूह में और मानवप्रजाओं के प्रति जितनी अधिक प्रेमोष्मा, प्यार की गर्मी होती है, अपने निवासस्थान से वह उतनी ही तेज़ी से, प्राणशक्ति के साथ, प्रेमगीत गाते हुए उन प्रदेशों की दौड़ा चला जारहा होता है जहां मानवता मानवधर्म की रक्षा करने की आवश्यकता है। वह महा-मानव-समूह घटाटोप काले बादल तरह उमड़-उमड़कर गमन करता है, सुशिक्षा की सुवृष्टि करके मानवप्रजाओं को मानवता मानवधर्म से सींचता है और उनके जीवन हरा-भरा करता है।

घास के लिए हिनहिनाते हुए
अश्व के समान, जब बादल
रक्षा करने की कामना करता हुआ,
विस्थित हुआ करता है निवासस्थान से,
अनन्तर ही, इसके घर्म के अनुसार
पवन लेजाता है इसे।
और काला है तेरा गमन।

७८२ **आयोष्ट्वा सदने सादयाम्यवतश्छायायां समुद्रस्य हृदये।**
रश्मीवतीं भास्वतीमा या द्यां भास्या पृथिवीमोर्वन्तरिक्षम्॥ य १५.६३
आयोः त्वा सदने सादयामि अवतः छायायाम् समुद्रस्य हृदये।
रश्मि-वतीम् भास्वतीम् आ या द्याम् भासि आ पृथिवीम् आ उरु अन्तरिक्षम्।

यह अनन्त, असीम, अपार सृष्टि ब्रह्म की प्रेमरूपी ऊष्मा का प्रकाशन है। सृष्टि के कण कण में, पशु में, खग में, सबमें प्रेमोष्मा गर्माराही है। प्रेमशोचि की प्रकाशमयी किरणों से द्यौ, भू, अन्तरिक्ष—तीनों लोक प्रदीप्त और प्रकाशित होरहे हैं। सबमें सर्वत्र प्रेमज्वाला प्रज्वलित होरही है।' इस अनुभूति अनुभूत हुआ, प्रत्येक स्तोता, प्रसाधक और दूत निरन्तर कहता रहता है—शोचे ! प्रेमज्वाले ! (या) जो तू (द्याम् आ भासि) आभासित कररही है, (पृथिवीम् आ)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आभासित कररही है, (उरु अन्तरिक्षम् आ) विशाल अन्तरिक्ष को आभासित कररही है, मैं उस (त्वा रश्मि-वतीम् भाः-वतीम्) तुझ रश्मिवती, प्रकाश-वती को (सादयामि) स्थापन करता हूं (आयोः सदने) आयु के सदन में, (अवतः छायायाम्) रक्षणकर्ता की छाया में, (समुद्रस्य हृदये) समुद्र के हृदय में।

मानव का जीवन ही आयु का सदन है। यही वह सदन है जिसका आयुष्य सार्थक है। मनुष्य की योनि श्रेष्ठतम कर्म करनेवाली, श्रेष्ठतम योनि है। इसी योनि में प्रेमोष्मा पूर्णतया स्थित होती है।

मानवता तथा मानवधर्म की रक्षा की भावना छाया की तरह सदा जिनके साथ रहती है और जो सतत साचार मानवता का प्रसार और मानवधर्म का प्रचार करते हैं उन्हीं का जीवन, रक्षा, सुरक्षा की वह शीतल छाया है जिसमें मानव विश्राम पाते हैं।

समुद्र के समान विशालाशय, गहन और तरंगित हैं जिनके मानस उन्हीं के हृदय में मानव तथा मानवधर्म की प्रेमोष्मा सदा उष्ण रहती है।

जो तू करती है आभासित द्युलोक को,
पृथिवी को, उरु अन्तरिक्ष को,
करता हूं स्थापन तुझ रश्मिमयी
और प्रकाशमयी को आयु के सदन में,
रक्षणकर्ता की छाया में,
समुद्र के हृदय में।

७८३ **परमेष्ठी त्वा सादयतु दिवस्पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं दिवं यच्छ दिवं दृंह दिवं मा हिंसीः। विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय। सूर्यस्त्वाभि पातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥**

[य १४.१२, १५.५८] य १५.६४

परमे-स्थी त्वा सादयतु दिवः पृष्ठे व्यचस्वतीम् प्रथस्वतीम् दिवम् यच्छ दिवम् दृंह दिवम् मा हिंसीः। विश्वस्मै प्र-आनाय अप-आनाय वि-आनाय उत्-आनाय प्रति-स्थायै चरित्राय। सूर्यः त्वा अभि पातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शम्-तमेन तया देवतया अङ्गिरस्वत् ध्रुवे सीदतम्।

अन्त में, प्रेमोष्मा से प्रदीप्त हुआ, प्रत्येक स्तोता, प्रत्येक प्रसाधक और विश्वदूत पृथिवी माता को सम्बोधन करता हुआ कहता है—

१) पृथिवि! (परमे-स्थी) परम पद में स्थित परमात्मा (त्वा वि-अचः-वतीम् प्रथः-वतीम्) तुझ निरन्तर अचन [गमन] करनेवाली, विस्तारवती को (सादयतु) (स्थित/स्थिर) रखे (दिवः पृष्ठे) आकाश की पृष्ठ पर।

पृथिवी वि-अचः-वती है, निरन्तर अचन [गमन, गति] करनेवाली है। सूर्य की परिक्रमा करती हुई, वह अपनी धुरी पर निरन्तर घूमती रहती है। सब ओर फैली हुई होने से वह प्रथस्वती अथवा विस्तारमयी है। सभी लोकों के समान वह आकाश की पृष्ठ पर स्थित है। समस्त लोकों की तरह इस पृथिवी को भी सृष्टि का रचयिता, परमेष्ठी—ब्रह्म ही आकाश में स्थित रख रहा है।

२) पृथिवि! तू (दिवम्) आकाश को [अपना सहार, अपना भार-सन्तुलन] (यच्छ) दे, दिए रह, [आकाश में सम्यक् स्थित रह]।

३) पृथिवि! तू (दिवम्) आकाश को (दृंह) दृढ़ कर, बढ़ा, निर्बाध कर, [आकाश में स्थित रहती हुई निर्बाधता के साथ गति कर]।

४) पृथिवि! तू (दिवम्) आकाश को (मा हिंसीः) मत हिंस/क्षुब्ध कर।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पृथिवी पर बमों और शस्त्रों के धमाके होते हैं, ज्वालामुखी फटते हैं, भूचाल आते हैं तो आकाश में हिंसन अथवा विक्षोभ होते हैं और दुर्घटनाएं घटित होती हैं। अतः कामना की गई है कि पृथिवी पर हिंसन न हो, और आकाश में विक्षोभ न हो।

५) पृथिवि ! (विश्वस्मै) सर्वार्थ, समस्त मानव-जाति के (प्र-आनाय) संजीवन के लिए, (अप-आनाय) दोष-निवारण के लिए, [मानव और मानवता की] (वि-आनाय) व्याप्ति के लिए, (उत्-आनाय) उत्थान के लिए, (प्रति-स्थायै) प्रतिष्ठा के लिए, (चरित्राय) चरित्र के लिए (सूर्यः) प्रकाशस्वरूप परमेष्ठी/परमात्मा (त्वा अभि पातु) तुझे सर्वतः रक्षे, तेरी सर्वतः रक्षा करे (मह्या स्वस्त्या) महती स्वस्ति के साथ, (शम्-तमेन छर्दिषा) शान्ततम सुरक्षा के साथ।

प्राण जीवन का संचार करता है। यहां 'प्राण' से आशय संजीवन है। अपान मलिन तत्त्वों का निवारण करता है। अपान से आशय दुरितों का निवारण है। शरीर में व्याप्त प्राण की संज्ञा व्यान है। 'व्यान' से आशय व्याप्ति है। ऊपर को, मस्तिष्क की ओर आरोहण करते हुए प्राण की संज्ञा उदान है। 'उदान' से आशय उत्थान है। 'चरित्र' से आशय मानवाचार है।

छर्दि नाम गृह, छत और रक्षा का है। गृह और छत गृहियों की रक्षा करते हैं। 'छर्दि' शब्द का प्रयोग यहां रक्षा अर्थ में हुआ है।

६) पृथिवि ! और मानवप्रजे ! (ध्रुवे) ध्रुवा तुम दोनों, ध्रुवता के साथ सुस्थित तुम दोनों (तम् देवतया) उस [मानवतारूपी] देवता के साथ (अङ्गिरस्वत् सीदतम्) आत्मवत् स्थित रहो।

आत्मा से युक्त रहने पर जिस प्रकार आत्मा सुस्थित रहता है उसी प्रकार पृथिवी तथा पृथिवि मानवप्रजा जब मानवता से युक्त रहती हैं तो पृथिवि तथा मानवप्रजा, दोनों ध्रुवता के साथ स्थि रहती हैं।

परमेष्ठी स्थित रखे
तुझ गमनशीला, विस्तारमयी को
आकाश की पृष्ठ पर।
दे आकाश को,
आकाश को रख दृढ़, निर्बाध,
मत हिंस आकाश को।
सूर्य तेरी रक्षा करे सर्वतः सर्वार्थ
महती स्वस्ति के साथ,
शान्ततम रक्षा के साथ
संजीवन के लिए,
दोषनिवारण के लिए,
व्याप्ति के लिए,
उत्थान के लिए,
प्रतिष्ठा के लिए,
चरित्र के लिए।
ध्रुवा तुम दोनों रहो स्थित आत्मवत्
उस देवता के साथ।

७८४ **सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि सहस्रस्योन्मासि साहस्रो ऽसि सहस्राय त्वा॥**

य १५.६५

सहस्रस्य प्र-मा असि सहस्रस्य प्रति-मा असि सहस्रस्य उत्-मा असि साहस्रः असि सहस्राय त्वा।

१) पृथिवि ! तू (सहस्रस्य प्र-मा असि) असंख्यों की प्र-मा है।

'सहस्र' शब्द का प्रयोग वेद में सर्वत्र 'असंख्य' अर्थ में हुआ है। 'प्र-मा' का अर्थ है प्रकृष्टतया मापी जानेवाली। अपने अस्तित्व में पृथिवी एक अखण्ड अदिति है। किन्तु मानवसमाज उसे शासनिक व्यवस्था तथा सुविधा के लिए ग्राम ग्राम, नगर नगर, परगना परगना, तहसील तहसील

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ज़िला ज़िला, प्रान्त प्रान्त, प्रदेश प्रदेश, देश देश में, असंख्य विभागों में प्रमापित अथवा विभाजित कर देते हैं। इस भूविभाजन का परिणाम मानवजाति का विभाजन नहीं होना चाहिए। सार्वभौम मानवता की सुरक्षा तथा स्थायित्व के लिए, पृथिवी पर निवास करनेवाले सकल मानवों को चाहिए कि वे सारी पृथिवी को एक अखण्ड अदिति माता समझें और उसकी गोद में निवास करनेवाले सकल मानवों को एक अभिन्न परिवार के सभ्य-सभ्या समझें।

२) पृथिवि ! तू (सहस्रस्य प्रति-मा असि) असंख्यों की प्रति-मा है।

'प्रति-मा' का अर्थ है प्रतिमाप तथा मूर्ति। प्रतिमापित होकर पृथिवी असंख्य की सम्पत्ति का मूर्त रूप बन जाती है। असंख्य इसके देश-प्रदेश के स्वामी बनते हैं। मानव वंशानुवंश उस पर निवास करते हैं।

३) पृथिवि ! तू (सहस्रस्य उत्-मा असि) असंख्यों की उत्-मा है।

'उत्' का अर्थ है ऊंचा उत्कृष्ट। असंख्य ऊंचे ऊंचे वृक्ष, पर्वत, दुर्ग, भवन पृथिवी पर ऊपर उठते हैं। असंख्य मानव उस पर उत्थित होते हैं, महान्, सुमहान् बनते हैं, ऊंचे उठते हैं, उत्कृष्टता प्राप्त करते हैं।

४) तू (साहस्रः असि) साहस्र है।

जिसकी हर वस्तु और हर बात सहस्र अथवा असंख्य हो उसे साहस्र कहते हैं। पृथिवी साहस्र है। उस पर सहस्रों प्रकार की धातुएं हैं, सहस्रों प्रकार की वनस्पतियां हैं, सहस्रों प्रकार की योनियां हैं, सहस्रों नदियां और जलस्रोत हैं, सहस्रों पर्वत और मैदान हैं, सहस्रों प्रकार के खाद्य पदार्थ हैं।

५) सब मानव (त्वा) तुझे (सहस्राय) सहस्र के लिए, असंख्य सुख-सुविधाओं के लिए, असंख्य सम्पदाओं तथा ऐश्वर्यों के लिए [सुस्थित तथा सुस्थिर रखें]। [तुझ पर ध्रुवता तथा शान्ति स्थापित रखे]।

तू सहस्र की प्रमा है,
तू सहस्र की प्रतिमा है,
तू सहस्र की उन्मा है,
तू साहस्र है।
तुझे सहस्र के लिए।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वेदव्याख्या-ग्रन्थ, पंचदश पुष्प में व्याख्यात, यजुर्वेद, अध्याय १५ के ६५ मन्त्रों की

अकारादि सूची

जो [३२] मन्त्र अन्य वेदों में भी हू-बहू वा पाठभेद के साथ मिलते हैं उनके प्रतीकों के बाद* चिह्न है, शेष [३३] मन्त्र केवल यजुर्वेद में हैं।

मन्त्र-प्रतीक	अध्याय में मन्त्र-संख्या	यजुर्वेद में मन्त्र-संख्या	'ग्रन्थ' में पृष्ठ-संख्या
अग्नि तं मन्ये*	४१	७६०	१००८
,, होतारं मन्ये*	४७	७६६	१०१२
अग्निर्मूर्धा दिवः*	२०	७३९	९९३
अग्ने जातान् प्र णुदा	१	७२०	९६३
,, तमद्याश्वं*	४४	७६३	१०१०
,, त्वं नो अन्तम*	४८	७६७	१०१३
,, वाजस्य*	३५	७५४	१००४
अधा ह्यग्ने क्रतोर्-*	४५	७६४	१०११
अधिपत्न्यसि बृहती	१४	७३३	९८४
अबोध्यग्निः समिधा*	२४	७४३	९९५
अयं ते योनिर्*	५६	७७५	१०२०
,, दक्षिणा	१६	७३५	९८७
,, पश्चाद्	१७	७३६	९८८
,, पुरो हरिकेशः	१५	७३४	९८६
अयमग्निः सहस्रिणो*	२१	७४०	९९३
,, ग्निर्वीरतमो	५२	७७१	१०१७
,, मिह प्रथमो*	२६	७४५	९९६
,, मुत्तरात्	१८	७३७	९९०
,, ,,पर्यवाग्वसुः	१९	७३८	९९१
अवोचाम कवये*	२५	७४४	९९५
आच्छच्छन्दः	५	७२४	९६९
आयोष्ट्वा सदने	६३	७८२	१०२६

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मन्त्र-प्रतीक	अध्याय में मन्त्र-संख्या	यजुर्वेद में मन्त्र-संख्या	'ग्रन्थ' में पृष्ठ-संख्या
आ वाचो मध्य-	५१	७७०	१०१६
इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त-*	६१	७८०	१०२५
उद् बुध्यस्वाग्ने	५४	७७३	१०१८
उभे सुश्चन्द्र*	४३	७६२	१००९
एना वो अग्निं*	३२	७५१	१००१
एभिर्नो अर्कैर्-*	४६	७६५	१०११
एवश्छन्दो	४	७२३	९६७
क्षपो राजन्नुत*	३७	७५६	१००५
जनस्य गोपा अजनिष्ट*	२७	७४६	९९७
तं पत्नीभिरनु-	५०	७६९	१०१५
तन्तुना रायस्पोषेण	७	७२६	९७३
तपश्च तपस्यश्च	५७	७७६	१०२१
ता अस्य सूददोहसः*	६०	७७९	१०२४
त्रिवृदसि त्रिवृते	९	७२८	९७५
त्वां चित्रश्रवस्तम*	३१	७५०	१००१
त्वामग्ने अङ्गिरसो*	२८	७४७	९९८
" पुष्करादधि-*	२२	७४१	९९३
परमेष्ठी····पृष्ठे ज्योतिष्मतीं	५८	७७७	१०२२
" " व्यचस्वतीं	६४	७८३	१०२७
प्रतिपदसि प्रतिपदे	८	७२७	९७५
प्रोथदश्वो न यवसे*	६२	७८१	१०२५
भद्रा उत प्रशस्तयो*	३९	७५८	१००७
भद्रो नो अग्निराहुतो*	३८	७५७	१००६
भुवो यज्ञस्य रजसश्च*	२३	७४२	९९४
येन ऋषयस्तपसा	४९	७६८	१०१४
" वहसि सहस्रं	५५	७७४	१०१९
येना समत्सु सासहो*	४०	७५९	१००७
रश्मिना सत्याय	६	७२५	९७१
राज्ञ्यसि प्राची दिग्	१०	७२९	९७७
लोकं पृण छिद्रं	५९	७७८	१०२३
विराडसि दक्षिणा दिग्	११	७३०	९७९
विश्वस्य दूतममृतं*	३३	७५२	१००३
षोडशी स्तोम ओजो	३	७२२	९६५
संप्रच्यवध्वमुप	५३	७७२	१०१७

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मन्त्र-प्रतीक	अध्याय में मन्त्र-संख्या	यजुर्वेद में मन्त्र-संख्या	'ग्रन्थ' में पृष्ठ-संख्या
संसमिद् युवसे*	३०	७४९	१०००
स इधानो वसुष्कवि-*	३६	७५५	१००५
सखाय: सं व:*	२९	७४८	९९९
स दुद्रवत्	३४	७५३	१००३
सम्राडसि प्रतीची दिग्	१२	७३१	९८१
सहसा जातान् प्र णुदा	२	७२१	९६४
संहस्रस्य प्रमासि	६५	७८४	१०२८
सो अग्निर्यो*	४२	७६१	१००९
स्वराडस्युदीची दिङ्	१३	७३२	९८२

पाठक से

वेद-संस्थान इस पुस्तक की विषय-वस्तु, लेखनशैली और आकार-प्रकार के बारे में आपके विचारों के लिए आभारी होगा। अन्य कोई सुझाव आप देना चाहें तो उन्हें जानकर भी हमें प्रसन्नता होगी। हमारा पता है :
बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर, भारत

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वेद-संस्थान, अजमेर

स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' द्वारा रचित प्रकाशन

*** केवल पुस्तकों के पूरे सेट का रियायती मूल्य : रु ६२.३५ ***

• कर्मकाण्ड

विजय-याग	०.५० पैसे
वृष्टियज्ञ-पद्धति	०.२० ,,
वैदिक सत्संग	०.४० ,,
सत्यनारायण की कथा	०.४० ,,
स्वस्ति-याग	०.८० ,,

• कर्मकाण्ड-व्याख्या

जीवन-पाथेय	०.५० ,,
यज्ञोपवीत-रहस्य	०.२५ ,,
सन्ध्या-योग	०.४० ,,

• ग्रन्थ-टीकाएं

गीतायोग	रु ८.००
योगालोक	,, ३.५०

• जीवनी

जीवन-ज्योतियाँ	०.४० पैसे
रामचरित	रु १.००

• नैतिकोत्थान

उत्तम स्वभाव	०.२० पैसे
गृहस्थाश्रम	०.५० ,,
चरित्र-निर्माण	०.३० ,,
भारत के अध्यापकों से	०.३० ,,
भारत के विद्यार्थियों से	०.४० ,,
मानव-धर्म	०.२५ ,,
वैदिक बालशिक्षा (तीन भाग)	रु २.४०
प्रथम भाग : ०.७० पैसे	
द्वितीय ,, : ०.७० ,,	
तृतीय ,, : रु १.००	
वैदिक स्त्री-शिक्षा	०.४० पैसे

• पद्य

दयानन्द-चरितामृत	रु १.००
योग-तरङ्ग	०.२० पैसे
'विदेह'-गीतावली	०.६० ,,

• योग

ओङ्कारोपासना	०.४० ,,
गायत्री मन्त्र का अनुष्ठान	०.३० ,,
परम योग	०.८० ,,
महामृत्युञ्जय-मन्त्र का अनुष्ठान	०.३० ,,
वैदिक-योगपद्धति	०.४० ,,
साधना	रु १.२५

• वेदव्याख्या

आनन्द-सुधा (यजुर्वेद अ० ३६ की व्याख्या)	०.४० पैसे
गायत्री	रु २.००
The Vedic Prayers	,, १.५०
वेदव्याख्या-ग्रन्थ (भाग ११, खंड १)	,, २०.००
वेदव्याख्या-ग्रन्थ (प्रथम पुष्प)	,, ३.००
,, ,, (द्वितीय ,,)	,, १.८०
,, ,, (तृतीय ,,)	,, २.२५
,, ,, (चतुर्थ ,,)	,, १.२५
,, ,, (पञ्चम ,,)	,, २.००
,, ,, (षष्ठ ,,)	,, २.००
,, ,, (सप्तम ,,)	,, १.५०
,, ,, (अष्टम ,,)	,, १.५०
,, ,, (नवम ,,)	,, १.००
,, ,, (दशम ,,)	,, १.००
The Exposition of the Vedas	,, ६.००
वेदव्याख्या-ग्रन्थ (एकादश पुष्प)	,, १.२५
,, ,, (द्वादश ,,)	,, २.००
,, ,, (त्रयोदश ,,)	,, १.६०
,, ,, (चतुर्दश ,,)	,, १.३५
,, ,, (पंचदश ,,)	,, ३.५०
शिव-सङ्कल्प	०.४० पैसे
सामवेद का अध्ययन	रु १.२५

• संस्कृत-भाषा

संस्कृत-शिक्षा (दो भाग)	०.६० पैसे
प्रथम भाग : ०.२० पैसे	
द्वितीय ,, : ०.४० ,,	
संस्कृत-स्वयंशिक्षक (दो पुष्प)	रु १.४०
प्रथम पुष्प : ०.७० पैसे	
द्वितीय ,, : ०.७० ,,	

• सामयिक

हिन्दु जाति के अस्तित्व की रक्षा	रु १.००

• स्वास्थ्य

स्वास्थ्य और सौन्दर्य	०.७० पैसे
Health and Beauty	रु १.००

• पत्रिका : 'सविता' (मासिक)

पुरानी उपलब्ध जिल्दें :

वर्ष ४, ५	रु ३.५०
,, ९-१०, १६-२५	प्रतिजिल्द ,, ५.५०
,, २६	,, १०.००
विशेषांक : 'सुपर्णांक'	,, ३.००

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जन्म : १५, नवम्बर, १८९९ ई० । वेद-संस्थान के संस्थापकाध्यक्ष । वेदों के मर्मज्ञ व्याख्याकार, चिन्तक, कवि और संन्यासाश्रमी सन्त । वाणी में अद्भुत माधुर्य और हृदय को छू लेने की क्षमता । व्यक्तित्व जो तत्काल आकर्षित कर लेता है आत्मीयता, स्नेह, सरलता से । सतत कर्मरत, प्रतिक्षण साधनामय, भक्ति और निष्ठा से ओत-प्रोत जीवन । लेखन की शैली ललति, प्रसादगुणयुक्त, अनावश्यक विस्तार से रहित ।

'विदेह' का जीवन वेद और योग को समर्पित है । उन्होंने लोहे के चने समझे जानेवाले वेद को आबाल-वृद्ध, प्रत्येक हिन्दी-भाषी के लिए अतिसरल और रोचक, दैनंदिन जीवन में उपयोगी और प्रेरक ग्रन्थ बनाने में अभूतपूर्व और आश्चर्यकारी सफलता पाई है । उनकी वेद-व्याख्या वेद को मानव और मानवता की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में प्रस्तुत करती है, वेद के वेदत्व को निखारती है और उसे जीवन-ग्रन्थ, मानवधर्म-शास्त्र के रूप में प्रस्तुत करती है ।

'वेदव्याख्या-ग्रन्थ' विश्ववाङ्मय का गौरव तथा हिन्दी वाङ्मय को लेखक की अमर देन है । जिसने भी इसे पढ़ा है वही मुग्ध हो उठा है । यह वेदों के आधुनिकीकरण, सरलीकरण, स्पष्टीकरण, और साथ ही उन्हें जनसुलभ और सुबोध बनाने का एक महान् प्रयास है, जो वेदों को 'रामचरित-मानस'-जैसा सरल ग्रन्थ बना देगा ।

वेदों की इस क्रमिक व्याख्यामाला में चारों वेदों का, जिस क्रम में वे हैं उसी क्रम में, मन्त्र-मन्त्र, सूक्त-सूक्त, अध्याय-अध्याय, और वेद-वेद की संगति लगाने का प्रयास किया जा रहा है, जो वेदाध्ययन के इतिहास में पहली बार इतनी गम्भीरता से किया जा रहा है । इसकी सफलता से वेद परस्पर असंबद्ध मन्त्रों का संकलन-मात्र नहीं रह जाएगा । लेखक प्रत्येक मन्त्र का एक सुनिश्चित अर्थ मानता है, यद्यपि गौण वृत्ति से अन्य अर्थ भी लिए जा सकते हैं । संयमपूर्वक योगाभ्यास से आत्म-अवस्थित होकर, अन्तःश्रवण और अन्तर्ज्योति के द्वारा मन्त्रार्थ को साक्षात् करना लेखक की पद्धति है । वेदों के आशय को स्वयं वेदों में पैठकर, न कि परतःप्रमाण-भूत ग्रन्थों की दासता स्वीकार करके, स्वयं वेदों के ही आश्रय से जानना, यह लेखक की विचारसरणि है ।

'वेदव्याख्या-ग्रन्थ' में प्रत्येक मन्त्र का पदच्छेद, अन्वय, पद्यानुवाद, सूक्तियां, तथा विशद, प्रेरणाप्रद, जीवनोत्थानकारी व्याख्या दी गई है ।

तीन रुपए पचास पैसे

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

स्वामी विद्यानन्द 'विदेह'

वेदव्याख्या-ग्रन्थ

षोडश पुष्प

(यजुर्वेद के षोडश अध्याय की व्याख्या)

विषय : मातृभूमि और राष्ट्र की सुरक्षा

दो रुपये पचास पैसे

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वेद के अध्ययन और मानव-संस्कृति
के
ज्ञान का सर्वोत्तम और सर्वसुलभ माध्यम

स वि ता

[वेद-संस्थान का मासिक पत्र]

देव के दिव्य काव्य, वेद के अध्ययन का सर्वश्रेष्ठ साधन,
वेदमन्त्रों की 'विदेह'-कृत मौलिक, जीवनप्रद, याथातथ्य व्याख्या,
- अत्यन्त ठोस, सुपच, पौष्टिक, प्रेरणाप्रद सामग्री से भरपूर,
- अथर्ववेद का अध्ययन, ऋग्वेद का अध्ययन, आदि स्थायी स्तम्भों से समलंकृत,
- प्रतिवर्ष किसी वैदिक विषय पर स्थायी मूल्य का विशेषांक,
- विद्वानों के उच्च कोटि के पथप्रदर्शक लेखों से समन्वित।

॥ एक एक शब्द पठनीय, मननीय, आचरणीय ॥
॥ एक एक तरंग मानव को ऊंचा उठानेवाली ॥
॥ एक एक प्रेरणा जीवन को आगे लेजानेवाली ॥
॥ एक एक चेतावनी मानव के मानस को चेतानेवाली ॥

वार्षिक मूल्य छह रुपए [विदेशों में बारह रुपए]

स्वयं ग्राहक बनिए और अपने प्रिय जनों को बनाइए

वेद-संस्थान,
बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर 305001 (भारत)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

संस्थान-प्रकाशन-संख्या : ६९

सोहनलाल अग्रवाल एडवो
१०४८ - करियापाथर
जबलपुर
१६-३-६५

नमः शम्भवाय — १६-४

यजुर्वेद - व्याख्या

युद्ध स्तर पर राष्ट्र का निर्म

षोडश पुष्प

मातृभूमि और राष्ट्र की सुरक्षा

स्वामी विद्यानन्द 'विदेह'

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सर्वाधिकार लेखकाधीन

प्रथम संस्करण : माघ, २०३१ वि : फ़रवरी १९७५ ई
२,००० प्रतियां

मूल्य : दो रुपये पचास पैसे

प्रकाशक : वेद-संस्थान, बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर; मुद्रक : प्रिन्ट हाउस, अजमेर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यजुर्वेद-व्याख्या

सोलहवां अध्याय

मातृभूमि और राष्ट्र की सुरक्षा

पन्द्रहवें अध्याय में 'सार्वभौम मानवता तथा मानवधर्म' का प्रतिपादन करके इस अध्याय में वेदमाता 'मातृभूमि और राष्ट्र की सुरक्षा' की शिक्षा करती है।

सारी पृथिवी पर सार्वभौम मानवता तथा मानवधर्म की स्थापना होजाने पर भी प्रत्येक राष्ट्र को अपने देश की सीमाओं की रक्षा तथा अपने राष्ट्र की सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था तथा सज्जा रखनी ही चाहिए। न जाने कब किस देश और राष्ट्र की नीअत बिगड़ जाए, और अपने देश तथा राष्ट्र की स्वतन्त्रता को खतरा पैदा होजाए। अतः अपनी सैन्यशक्ति तथा राष्ट्रव्यवस्था को सदा अक्षुण्ण रखना चाहिए। इसी विषय का प्रशिक्षण इस अध्याय में दिया गया है।

७८५ **नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः। बाहुभ्यामुत ते नमः॥** य १६.१

नमः ते रुद्र मन्यवे उतो ते इषवे नमः। बाहु-भ्याम् उत ते नमः।

यह राष्ट्रजनों की राष्ट्र की रक्षा करनेवाली सैन्य-शक्ति अथवा रक्षाशक्ति के प्रति साधु-वाद है। रुदिर [रुद्] (अश्रुविमोचने [रोना]) धातु से 'रुद्र' शब्द बना है। अन्यायकारियों तथा आक्रमणकारियों को जो रुलाता है उसकी संज्ञा रुद्र है। 'रुद्र' शब्द का प्रयोग यहां उस सैनिक रक्षासंस्थान अर्थ में हुआ है जो राष्ट्र को आन्तरिक विप्लवों से, और देश को बाह्य आक्रमणों से मुक्त करता और मुक्त रखता है। 'नमः' शब्द का प्रयोग यहां शिरोधार्यता तथा सत्कार अर्थों में हुआ है। राष्ट्रजन कहते हैं—

१) (रुद्र) सैन्यशक्ते ! रक्षाशक्ते ! (ते) तेरे (मन्यवे) मनोवेग/मनोबल/अदम्य शौर्य के लिए (नमः) नमस्कार है/शिरोधार्यता है/साधुवाद है।

प्रत्येक राष्ट्र को अपनी सेना, अपने सैनिक और अपने सेनापति का पूर्ण सम्मान तथा समादर करना चाहिए, और उन्हें सब प्रकार की सुविधाएं तथा सेवाएं सदा प्रदान करनी चाहिएं।

२) (उतो ते इषवे नमः) और तेरे अस्त्र के लिए नमस्कार।

लोक में इषु नाम बाण अथवा तीर का है। वेद में 'इषु' शब्द का प्रयोग प्रत्येक उस अस्त्र के लिए हुआ है जो सर-सराता हुआ तीव्र गति के साथ चलता है। जितने युधायुध हैं उन सबकी संज्ञा इषु है। सेना का शस्त्रभण्डार सदैव भर-पूर भरा रहना चाहिए। उनके संचालन में सेना पूर्णतया निपुण होनी चाहिए।

३) (उत ते बाहु-भ्याम् नमः) और तेरे उभय बाहुओं के लिए नमन।

राष्ट्रीय सेना के दो बाहु हैं उसके दो विभाग। एक है गृहविभाग जिसका काम है राष्ट्र में आन्तरिक सुव्यवस्था स्थापित रखना। दूसरा है सुरक्षा-विभाग जिसका काम है देश की सीमाओं की रक्षा करना। दोनों ही विभाग सर्वथा सत्करणीय हैं।

नमन रुद्र ! तेरे मन्यु के लिए,
और नमन तेरे शस्त्र के लिए,
और नमन तेरे उभय बाहुओं के लिए।

७८६ **या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी।**
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभि चाकशीहि॥ य १६.२

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

या ते रुद्र शिवा तनूः अ-घोरा अ-पाप-काशिनी ।
तया नः तन्वा शम्-तमया गिरि-शम्-त अभि चाकशीहि ।

रक्षाकारिणी सैन्यशक्ति के प्रति राष्ट्रजन कहे चले जारहे हैं—(गिरि-शम्-त) गिरा-शान्त ! शान्त वचन बोलनेवाले ! (रुद्र) सैन्यशक्ते ! सेनापते ! सैनिक ! वीर ! (ते) तेरी (या) जो (शिवा) कल्याणकारिणी, मंगलमयी, (अ-घोरा) अ-क्रूरा, सोम्य, (अपाप-काशिनी) पुण्य-प्रकाशिनी, धर्म-प्रस्थापिका (तनूः) तनू है (तया शम्-तमया तन्वा) उस शान्त-तमा तनू से (नः) हम [राष्ट्रजनों] को (अभि) सर्वतः (चाकशीहि) देख, प्रकाशित कर, शिक्षा कर ।

'तनू' शब्द का प्रयोग यहां विस्तृति के लिए हुआ है । सेनापति, सेनाधिकारी, सैनिक—सेना के सम्पूर्ण गठन के लिए 'तनू' शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

सम्पूर्ण सैन्यतनू राष्ट्रजनों के प्रति शान्त वचन बोलनेवाली हो, राष्ट्र के लिए कल्याणकारिणी सुसोम्या हो, जनता में धर्म, पुण्य की प्रस्थापिका हो, और हो शं-तमा, अतिशयता के साथ शान्ति की स्थापना करनेवाली ।

वह राष्ट्रजनों की सुरक्षा के लिए सदा सतर्क दृष्टि रखे, उन्हें सब प्रकार से प्रबुद्ध अथवा प्रबुद्ध करे, और आपत्तिकाल में आलोक करने का प्रशिक्षण दे ।

रुद्र गिरिशन्त !
तेरी जो शिवा, अघोरा,
पुण्य-प्रकाशिनी तनू है
उस शान्त-तमा तनू से
हमें सर्वतः देख, प्रकाश,
प्रशिक्षण कर ।

७८७ **यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे ।**
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत् ।। य १६.३
याम् इषुम् गिरि-शम्-त हस्ते बिभर्षि अस्तवे ।
शिवाम् गिरि-त्र ताम् कुरु मा हिंसीः पुरुषम् जगत् ।

१) (गिरि-शम्-त) वचन-शान्त! शान्त वचन बोलनेवाले ! (गिरि-त्र) वाणी-त्र ! वाणी द्वारा तारनेवाले! वाणी द्वारा मार्गनयन करनेवाले ! तू (अस्तवे) फेंकने/प्रहार करने के लिए (याम् इषुम्) जिस शस्त्र को (हस्ते) हाथ में (बिभर्षि) धारण करता है (ताम् शिवाम् कुरु) उसे कल्याणी कर ।

सेना का प्रत्येक वीर जहां शान्त और सन्तारक वचन बोलनेवाला हो वहां उसका शस्त्रसंचालन भी मंगलप्रद हो । न्याय, धर्म और प्रजा की रक्षा के लिए किया गया शस्त्रप्रयोग कल्याणकारी होता है । अन्याय, अत्याचार और अपहरण के लिए किया गया शस्त्रप्रहार अशिव अथवा अमंगलकारी होता है ।

२) (मा हिंसीः) मत हिंस (पुरुषम्) मानव को (जगत्) जंगम को, पशु को ।

'हिंसीः' क्रिया में मारना और सताना, भाव अन्तर्निहित हैं । शक्ति और शस्त्र के प्रयोग मानव तथा पशु, दोनों को ही न अकारण करना चाहिए, न मारना ।

गिरि-शन्त ! गिरि-त्र !
जिस शस्त्र को प्रहार के लिए
धारण करता है तू हाथ में
उसे शिवा कर ।
हिंस न मानव को, जंगम को ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सूक्ति : मा हिंसीः पुरुषं जगत् ।
मत हिंस मानव को, पशु को ।

७८८ **शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि ।**
यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत् ।। य १६.४
शिवेन वचसा त्वा गिरि-श अच्छ वदामसि । यथा नः सर्वम् इत् जगत् अ-यक्ष्मम् सु-मनाः असत् ।

१) (गिर-श) गिरि में शयन करनेवाले ! वैद्य ! चिकित्सक ! हम (त्वा) तुझे, तेरे प्रति (शिवेन वचसा) भद्र वचन से, आदरसूचक वाणी से (अच्छ वदामसि) अच्छी प्रकार बोलते हैं ।

२) (नः) हमारा (सर्वम् इत् जगत्) सारा ही [सैन्य] संसार (यथा) यथावत् (अ-यक्ष्मम्) अ-यक्ष्म, नीरोग तथा (सु-मनाः) सु-मना, सु-मन-वाला, सुप्रसन्न (असत्) रहा करे ।

वेदमाता ने यह मन्त्र स्वयं सेना द्वारा सैनिक-वैद्य के प्रति कहलवाया है ।

गिरि नाम पर्वत और मेघ का है । पर्वत और मेघ में शयन करनेवाला अथवा व्यापनेवाला जो हो उसकी **गिरिश** संज्ञा है । वैद्य अथवा चिकित्सक पर्वतीय ओषधियों का ज्ञाता, और मेघ के ओषधि-रूप जलों का प्रयोक्ता होने से गिरिश कहाता है । सेना का अपना पृथक् चिकित्सालय, चिकित्साविभाग तथा चिकित्सक होने चाहिएं । सैनिक-वीर चिकित्सक के प्रति आदर के साथ बोलें, और चिकित्सक सारे सैन्यजगत् को नीरोग, स्वस्थ और सुप्रसन्न रखे ।

सेनाओं को सैन्य-चिकित्सक की सेवाओं की आवश्यकता सामान्य अवस्था में भी होती है और संग्राम में भी । सामान्य अवस्था में वह उन्हें रोग-मुक्त, स्वस्थ और सुमनस्क रखने के साधनोपाय करे तो युद्ध में उनके घायल होजाने पर वह अपनी कुशल चिकित्सा द्वारा उन्हें शीघ्र नीरोग और सक्षम करके पुनः सुमनस्कता के साथ युद्ध करने योग्य बनाए ।

नीरोग और स्वस्थ सैनिक ही शान्तिकाल में प्रसन्नता के साथ सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त करते हुए आन्तरिक व्यवस्था स्थापित रखते हैं, और संग्राम का अवसर आने पर कुशलता के साथ युद्ध करके देश और राष्ट्र की रक्षा करते हैं ।

गिरिश ! तेरे प्रति भद्र वचन से
बोलते हैं हम अच्छी तरह ।
जगत् हमारा सारा ही रहे
यथावत् नीरोग, प्रसन्न ।

७८९ **अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक् ।**
अहीँश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्यो ऽधराचीः परा सुव ।। य १६.५
अधि अवोचत् अधि-वक्ता प्रथमः दैव्यः भिषक् ।
अहीन् च सर्वान् जम्भयन् सर्वाः च यातु-धान्यः अधराचीः परा सुव ।

(प्रथमः दैव्यः भिषक् अधि-वक्ता) प्रमुख, दिव्य, चिकित्साकुशल अधि-वक्ता/आज्ञापक ने (अधि अवोचत्) अधिकारपूर्वक कहा, आदेश दिया, ('सर्वान् च अहीन्) सब ही सर्पों को (जम्भयन्) नष्ट करता हुआ (सर्वाः च यातु-धान्यः अधराचीः) सब ही यातुधानियों और अधराचियों को (परा सुव) परे हटा, दूर रख ।'

'सर्पों' से तात्पर्य सर्पों के समान विषैले और

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कुटिल भेदियों से है। 'यातु-धानी' नाम पीड़ा-दायिनी, यौन रोगों से ग्रस्त, व्यभिचारिणी स्त्री का है। 'अधराची' कहते हैं नीच, अधोगामिनी, कुटिला नारी को। सेना के भेदों को शत्रुओं को बतानेवाले साँपों को प्राणदण्ड देकर निर्मूल कर देना ही श्रेयस्कर होता है। साथ ही दुश्चरित्रा स्त्रियों का सैनिक छावनियों में प्रवेश निषिद्ध होना चाहिए।

(अधि-वक्ता) अध्यापक, विद्वान्, आज्ञापक (भिषक्) वैद्य [शासन को] (अधि अवोचत्) आदेश दिया करे, सदा ताकीद किया करे कि 'सब भेदियों को विनष्ट करते हुए, व्यभिचारिणी स्त्रियों तथा कुटिला नारियों को सैनिक छावनियों और से सर्वथा दूर रखे।' इस आदेश के पालन से सैनिक वीर सुरक्षित रहते हैं वहां वे संयमी, और नीरोग भी रहते हैं।

दिया करे आदेश अधि-वक्ता
प्रथम, दैव्य, भिषक्,
'करता हुआ नष्ट
सब ही सर्पों को,
परे हटा, रख दूर, सब ही
कुटिलाओं, व्यभिचारिणियों को।'

७९० **असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः।**
ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशो ऽवैषां हेड ईमहे॥ य १६.६

असौ यः ताम्रः अरुणः उत बभ्रुः सु-मङ्गलः।
ये च एनम् रुद्राः अभितः दिक्षु श्रिताः सहस्र-शः अव एषाम् हेडः ईमहे।

रुद्रों [वीर सेनापति, सेनाधिकारियों तथा सैनिकों] को जहां सर्वथा नीरोग, स्वस्थ, सुमनस्क और सदाचारसम्पन्न रखना चाहिए वहां शासकों तथा राष्ट्रजनों द्वारा उनका सदा, सर्वत्र आदर, सत्कार तथा सम्मान भी होना चाहिए। इसी आशय का प्रकाशन इस मन्त्र में किया गया है।

१) (असौ यः) वह जो (ताम्रः) ताम्रवत्/तांबे के समान दृढ़ाङ्ग, (अरुणः) अग्नि वा सूर्य के समान तेजस्वी, (बभ्रुः) पीत और रक्त वीरपदकों से अलंकृत, (उत सु-मङ्गलः) सुमङ्गलकारी, सुशोभनीय [सेनापति है],

२) (च) और (ये रुद्राः) जो रुद्र, जो वीर सेनाधिकारी तथा सैनिक (एनम्) इस [सेनापति] को (अभितः) सब ओर से, (दिक्षु) सब दिशाओं में (सहस्रशः) हज़ारों की संख्या में (श्रिताः) आश्रय किए हुए हैं,

३) हम शासनाधिकारी तथा प्रजा जन (एषाम्) इन[सब]का (हेडः) अनादर (अव ईमहे) अवयाचते/निषेधते हैं।

सेनापति सर्वातिशय तेजस्वी और शो होना ही चाहिए। उसके आश्रित अथवा अधीन उसके वीर सेनाधिकारी तथा सेना में सब ओर, सब दिशाओं में, सब सीमाओं सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थानों पर रहते हैं। शासनाधिकारियों, शासनिक कर्मच तथा राष्ट्रजनों द्वारा उन सबका सर्वत्र, यथा आदर, सत्कार किया जाना चाहिए, और सब प्रकार की सहूलियतें तथा सुविधाएं दी चाहिएं। उनका कहीं भी किसी भी प्र किसी के भी द्वारा अनादर सारे राष्ट्र में ठहराया जाना चाहिए।

वह जो ताम्र, अरुण, बभ्रु
और सुमङ्गलकर सेनापति,
और जो वीर दिशाओं में अभितः सहस्रशः
इसे आश्रय किए हुए हैं,
हम निषेध करते हैं इन सबका ही अनादर।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

७९१ असौ यो ऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः ।
उतैनं गोपा अदृश्रन्नदृश्रन्नुदहार्यः स दृष्टो मृडयाति नः ।। य १६.७
असौ यः अव-सर्पति नील-ग्रीवः वि-लोहितः ।
उत एनम् गोपाः अदृश्रन् अदृश्रन् उद-हार्यः सः दृष्टः मृडयाति नः ।

सेनापति राष्ट्र के सर्वजनों के आदर का पात्र तभी बनता है जब वह जनता के सम्पर्क में रहता है, और राष्ट्र के साधारण से साधारण व्यक्ति ने उसे देखा हो। यह तभी सम्भव होता है जब वह देश के नगर नगर, ग्राम ग्राम, वन, पर्वत की सामरिक सुरक्षा का स्वयं निरीक्षण करता हो। इसी तथ्य को व्यक्त करने के लिए मन्त्र में कहा गया है—

१) (असौ यः) वह जो (नील-ग्रीवः) नील-ग्रीव, गर्दन में नीला फ़ीता [कॉलर] धारण करनेवाला, (वि-लोहितः) विशेष लाल पोशाक [यूनीफ़ॉर्म] धारण करनेवाला [सेनापति] (अव-सर्पति) अव-सर्पण [निरीक्षण यात्रा, टूर] करता है (एनम्) इस[सेनापति]को (गोपाः अदृश्रन्) गो-पाओं [गौएं चरानेवालों तक] ने देखा है, (उत) और (उद-हार्यः) उदक-हारियों [जल भरनेवालों तक] ने (अदृश्रन्) देखा है।

२) गोपाल और जलहारियां तक जिसे जानती, पहचानती हैं और प्रेम से निहारती हैं ऐसा हम सबका (दृष्टः) दृष्ट, देखा हुआ, जाना-माना (सः) वह [सेनापति] (नः मृडयाति) हम [सब राष्ट्रजनों] को सुखी करता है/प्रिय लगता है। हम सब राष्ट्र-जन उसे इतना प्यार करते हैं कि उसे देखकर हम सुखी होते हैं, और हमें देखकर और हमसे मिलकर वह सुखी होता है।

वह जो नील-ग्रीव वि-लोहित
अवसर्पण करता है
इसे है देखा गो-पालों ने,
इसे है देखा जल-हारियों ने।
दृष्ट वह हमें सुखी करता है।

७९२ नमो ऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे ।
अथो ये अस्य सत्वानो ऽहं तेभ्यो ऽकरं नमः ।। य १६.८
नमः अस्तु नील-ग्रीवाय सहस्र-अक्षाय मीढुषे ।
अथो ये अस्य सत्वानः अहम् तेभ्यः अकरम् नमः ।

'अहम्' [मैं] शब्द का प्रयोग यहां व्यक्तिवाचक है। सेनापति जहां भी जाए और जहां से गुज़रे, प्रत्येक व्यक्ति उसे नमस्कारों द्वारा सत्कृत करे। सेनापति के साथ उसके जो सत्त्वयुक्त वीर चल रहे हों उन्हें भी प्रत्येक व्यक्ति नमस्कारों से सत्कृत करे। इसी भाव से वेदमाता राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक के मुख से सेनापति के तथा उसके साथी वीरों के प्रति कहलवा रही है—

१) (नमः अस्तु) नमस्कार हो (नील-ग्रीवाय सहस्र-अक्षाय मीढुषे) नील-ग्रीव, सहस्र-नेत्र, पराक्रमशाली [सेनापति] के लिए।

देश और राष्ट्र की सुरक्षा के लिए सर्वत्र दृष्टि रखनेवाला होने से सेनापति को सहस्राक्ष कहा गया है। सुरक्षा द्वारा राष्ट्रजनों पर सुखैश्वर्यों की, और आक्रमणकारियों पर शस्त्रों की वर्षा करनेवाला होने से सेनापति को मीढु कहा गया है। मीढु नाम

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वर्षाकारी, सेचनशील मेघ का है। सेनापति वह मेघ है जो निरन्तर देश और राष्ट्र की सुरक्षा करके प्रजाजनों को व्यापार, व्यवसाय द्वारा सुखैश्वर्यों के वर्धन का अवसर देता है।

२) (अथो) और, अपि च (अस्य) इस[सेनापति] के [साथ इसके] (ये) जो (सत्वानः) सत्त्वयुक्त/समर्थ सुभट हैं, (अहम् तेभ्यः नमः अकरम्) मैंने उन्हें नमस्कार किया है, मैं उनके लि नमस्कार किया करता हूं।

नमस्कार हो नील-ग्रीव,
सहस्र-नेत्र, वीर के लिए।
और जो हैं इसके समर्थ भट,
किया है मैंने उनके लिए नमस्कार।

७९३ **प्र मुञ्च धन्वन्स्त्वमुभयोरार्त्न्योर्ज्याम्। याश्च ते हस्त इषवः परा ता भगवो वप**

य १६.

प्र मुञ्च धन्वनः त्वम् उभयोः आर्त्न्योः ज्याम्। याः च ते हस्ते इषवः परा ताः भग-वः व

सेनापति जब दिन में विश्राम, अथवा रात्रि में शयन करे तो उसके अङ्गरक्षक, समर्थ सुभट उससे निवेदन करें—(भग-वः) भगवन्! (त्वम्) तू (धन्वनः उभयोः आर्त्न्योः) धनु की दोनों कोटियों पर [कसी हुई] (ज्याम्) ज्या को (प्र मुञ्च) प्रमुक्त कर, उतार, (च) और (ते हस्ते याः इषवः) तेरे हाथ में जो बाण हैं (ताः) उन्हें (परा वप) परे बो, संभाल कर रख।

'ज्या' शब्द का अर्थ धनुष की डोरी ही नहीं है, जन्मदायिनी अथवा विजय प्राप्त करानेवाली बन्दूक या रिवॉल्वर की गोली भी है। 'धनु' नाम केवल धनुष का नहीं है। धण (शब्दे) धातु से 'धनु' शब्द बना है। जो भी शस्त्र, चलाए जाने ध्वनि करता है वह धनु है। इषु शब्द का बाण और प्रक्षेपणास्त्र [मिज़ाइल, रॉकेट बॅम] दोनों है।

सेनापति के विश्राम तथा शयन के समय उसके जीवन की सुरक्षा तथा उसके शस्त्रों संभाल सावधानी के साथ करें।

भगवन्! तू धनु की उभय कोटियों
पर कसी ज्या को उतार दे।
और अस्त्र जो तेरे हाथ में,
उनको भी रखदे उतार कर।

७९४ **विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवाँ उत।**
अनेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधिः॥ य १६.१०

वि-ज्यम् धनुः कपर्दिनः वि-शल्यः बाण-वान् उत।
अनेशन् अस्य याः इषवः आभुः अस्य नि-षङ्ग-धिः।

१) (कपर्दिनः धनुः वि-ज्यम्) केशवान्/शिरमौर का धनुष, ज्यारहित?

विश्राम अथवा शयनावस्था में सेनापति के केश शोभनीयता के साथ व्यवस्थित, और उसका मौर सुग्रथित रहे, और उसका धनुष ज्या से कसा रहे।

२) सेनापति (बाण-वान्) बाणवान् (उत) (वि-शल्यः) शल्यरहित?

शल्य नाम बाण पर जड़ी नोकदार धा है। विश्राम वा शयन करते हुए भी उसका

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

एक बाण शल्यसहित रहे।

३) (अस्य याः इषवः) इसके जो अस्त्र, (अनेशन्) गाइब, अदृश्य हो जाएं ?

विश्राम वा शयन की अवस्था में सेनापति के अस्त्र गाइब न होने पाएं। यदि अदृश्य हो जाएं तो सद्यः पुनः उपलब्ध करा दिए जाएं।

४) (अस्य) इस[सेनापति]का (नि-षङ्ग-धिः) शस्त्र-धान, (आभुः) शस्त्ररहित ?

शस्त्रागार तो उसका सदा भर-पूर भरा रहना ही चाहिए।

केशवान् का धनुष, ज्यारहित ?
बाणवान् और शल्यरहित ?
अस्त्र जो इसके, अदृश्य ?
शस्त्रधान इसका शस्त्ररहित ?

पश्चवः हेति
मनु: १४-

७९५ **या ते हेतिर्मीढुष्टम हस्ते बभूव ते धनुः। तयास्मान् विश्वतस्त्वमयक्ष्मया परि भुज ।।**

य १६.११

या ते हेतिः मीढुः-तम हस्ते बभूव ते धनुः। तया अस्मान् विश्वतः त्वम् अ-यक्ष्मया परि भुज।

१) (मीढुः-तम) सेचकतम ! सुरक्षा द्वारा प्रजा को अतिशयता के साथ समृद्ध बनाने में सहायक होने-वाले सेनापते ! (ते हस्ते) तेरे हाथ में (हेतिः बभूव) हेति थमी हुई है, (धनुः [बभूव]) धनु [थमा हुआ है]।

'हेति' नाम चमकीले घातक शस्त्र का है। सेना-पति आत्मरक्षार्थ सदैव हेति, धनु, आदि शस्त्रास्त्रों से सशस्त्र रहे।

२) (ते) तेरी (या) जो [सेना है] (तया अ-यक्ष्मया) उस रोगरहिता [सेना] के द्वारा (त्वम् अस्मान् विश्वतः परि भुज) तू हमें सर्वतः परिपाल/परिपोष/परिरक्षण कर।

सेनापति ऐसी व्यवस्था करे कि उसकी सेना सदा रोगमुक्त, स्वस्थ और सुदृढ़ रहे, और स्वस्थ सेना के द्वारा सब राष्ट्रजनों की सब प्रकार रक्षा, पालन और पोषण हो।

सेचकतम ! तेरे हाथ में
थमी है हेति, थमा धनु है।
तेरी जो सेना,
उस रोगरहिता के द्वारा
हमें सर्वतः परिपाल।

७९६ **परि ते धन्वनो हेतिरस्मान् वृणक्तु विश्वतः।**
अथो य इषुधिस्तवारे अस्मन्नि धेहि तम् ।। य १६.१२
परि ते धन्वनः हेतिः अस्मान् वृणक्तु विश्वतः।
अथो यः इषु-धिः तव आरे अस्मत् नि धेहि तम्।

१) सेनापते ! (ते धन्वनः हेतिः) तेरे शस्त्र की गति (अस्मान् विश्वतः परि वृणक्तु) हमें सर्वतः परि-त्यागे, हम प्रजाजनों से सर्वथा बचकर जाए।

सेनापति ऐसी व्यवस्था करे कि जहां कहीं भी सेनाएं शस्त्राभ्यास करें वहां सावधानी के साथ ऐसी व्यवस्था की जाए कि छोड़े गए अस्त्रों की गति आबादी तथा राहगीरों की ओर न होकर निर्जन तथा रिक्त स्थान की ओर हो।

२) (अथो) और (तव यः इषु-धिः) तेरा जो शस्त्रागार है (तम् अस्मत् आरे नि धेहि) उसे हमसे नितान्त दूर रख।

सेनापति अथवा सैन्यविभाग यह सतर्कता वर्ते

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कि शस्त्रागार बस्तियों से इतनी दूर रहे कि गोला, बारूद, आदि के घटनाग्रस्त होकर फटने पर नगरों के जन, धन, आदि की हानि न हो।

तेरे धनु की गति
हमें सर्वतः परित्यागे।
और तेरा जो शस्त्रागार है
उसे नितान्त दूर रख हमसे।

७९७ अवतत्य धनुष्ट्वं सहस्राक्ष शतेषुधे। निशीर्य शल्यानां मुखा शिवो नः सुमना भव

य १६.

अव-तत्य धनुः त्वं सहस्र-अक्ष शत-इषु-धे। नि-शीर्य शल्यानाम् मुखा शिवः नः सु-मनाः भ

१) (सहस्र-अक्ष) असंख्य-नेत्र! सर्वत्र दृष्टि रखनेवाले! (शत-इषु-धे) असंख्य-शस्त्रागार! असंख्य शस्त्रागारों के अध्यक्ष!

सेनापति असंख्य-नेत्र हो, असंख्य छावनियों का निरीक्षण करके सर्वत्र, सम्यक् निगाह रखनेवाला हो। और हो वह असंख्य अस्त्रागारों का संरक्षक। भिन्न भिन्न प्रकार के शस्त्रास्त्र भिन्न भिन्न शस्त्रशालाओं में निर्मित और भिन्न भिन्न स्थानों में सुरक्षा के साथ रखे जाएं। उनका भेद अन्य देशों को न मिलने पाए।

२) (त्वम्) तू (धनुः अव-तत्य) शस्त्र विस्तार कर, (शल्यानाम् मुखा नि-शीर्य) शस्त्रों के अग्रभागों को तीक्ष्ण करके, (नः) हमारे लिए, हम प्रजाजनों के प्रति (शिवः सु-मनाः भव) कल्याणकारी सुमनन करनेवाला हो।

प्रत्येक छावनी तथा सैनिक सदा प्रति सविस्तार शस्त्र-सज्ज रहे और प्रत्येक सुतीक्ष्ण और सुतीव्र हो। सेनापति ऐसी करे कि शस्त्रप्रयोग प्रजा की सुरक्षा सुप्रसन्नता के लिए हो, प्रजापीड़न के लिए ऐसा तभी होता है जब प्रत्येक सेनाधिकारी कल्याण चाहनेवाला और सुमनन करनेवाला

असंख्य-नेत्र! असंख्य-शस्त्रागार!
शस्त्र विस्तारकर,
शस्त्रों के मुख निखारकर,
हो हमारे लिए शिव और सु-मन।

७९८ नमस्त आयुधायानाततताय धृष्णवे। उभाभ्यामुत ते नमो बाहुभ्यां तव धन्वने।

य १६.

नमः ते आ-युधाय अन्-आ-ततताय धृष्णवे। उभाभ्याम् उत ते नमः बाहु-भ्याम् तव धन्वने।

१) (नमः) नमस्कार (ते) तेरे (अन्-आ-ततताय धृष्णवे आ-युधाय) अविस्तृत [सूक्ष्म], प्रगल्भ [धर्षक] शस्त्र के लिए।

२) (नमः) नमस्कार (ते उभाभ्याम् बाहु-भ्याम्) तेरे दोनों बाहुओं के लिए (उत तव धन्वने) और तेरे शस्त्रधर [सैन्य] के लिए।

नमनीय गुणों के लिए गुणी के आगे सभी नतमस्तक होते हैं और धन्यता के साथ उसे नमस्कार करते हैं।

सेनापति का व्यक्तित्व ऐसा तेजोमय उसका व्यक्तिगत शस्त्र स्थूल न होकर ऐसा तथा धर्षक हो कि आक्रमणकारियों के छक्के जाएं, और वे अपने हथियार डाल दें। उसकी अपनी दोनों भुजाएं ऐसी उग्र हों उसका शस्त्रधर सैन्य बल ऐसा अजेय हो आक्रमणकारी परास्त होकर 'वाह-वाह!

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

के आगे झुक जाएं ।
'नमः' शब्द का प्रयोग हथियार डालकर झुक
ने के अर्थ में हुआ है ।

नमस्कार तेरे सूक्ष्म,
धर्षक आयुध के लिए ।
नमस्कार तेरे उभय बाहुओं के लिए
और तेरे शस्त्रधर सैन्य के लिए ।

७९९ **मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम् ।**
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः ।।
[ऋ १.११४.७, अ ११.२.२९] य १६.१५

मा नः महान्तम् उत मा नः अर्भकम् मा नः उक्षन्तम् उत मा नः उक्षितम् ।
मा नः वधीः पितरम् मा उत मातरम् मा नः प्रियाः तन्वः रुद्र रीरिषः ।

(रुद्र) वीर ! सैन्यशक्ते ! सेनापते ! (मा नः
न्तम्) न हमारे बड़े/वृद्ध/आदरणीय को (उत
नः अर्भकम्) और न हमारे छोटे/बालक को,
ा नः उक्षन्तम्) न हमारे सेचक/युवा को (उत
नः उक्षितम्) और न हमारे सिक्त/गर्भस्थ/डिम्ब
, (मा नः पितरम्) न हमारे पिता को (उत मा
मातरम्) और न हमारी माता को (वधीः)
र ।

'नः' शब्द का प्रयोग यहां 'हम प्रजाजनों के'
में हुआ है । आक्रमणकारियों तथा उपद्रव-
रियों पर प्रहार करते हुए, सेनापति ऐसी व्य-
स्था करे कि न लड़नेवाली जनता के महान्तवर्ग,
र्भकवर्ग, युवावर्ग,आदि किसी भी वर्ग के व्यक्तियों
वध न हो, न ही उनकी किसी प्रकार हानि हो ।
(मा नः प्रियाः तन्वः रीरिषः) न हमारे/हम
प्रजाजनों के प्रिय जीवनों को क्षतिग्रस्त किया कर ।

राष्ट्र के एक एक नागरिक का जीवन राष्ट्र की प्रिय सम्पदा है । युद्ध में भी और शान्ति में भी जीवन-जीवन की सतर्कता के साथ रक्षा की जानी चाहिए ।

सीमाओं पर और देश के भीतर पारिवारिक सुरक्षा रक्षाविभाग का पुनीत कर्तव्य है ।

रुद्र ! न मार हमारे महान्त को
और न हमारे अर्भक को,
न हमारे युव को
और न हमारे गर्भस्थ को,
न हमारे पिता को
और न हमारी माता को ।
न मारा कर तू हमारे
प्रिय तनुओं को ।

८०० **मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः ।**
मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे ।।
[ऋ १.११४.८] य १६.१६

मा नः तोके तनये मा नः आयुषि मा नः गोषु मा नः अश्वेषु रीरिषः ।
मा नः वीरान् रुद्र भामिनः वधीः हविष्मन्तः सदम् इत् त्वा हवामहे ।

(रुद्र) सेनापते ! (मा नः तोके तनये) न हमारे जीवन में, (मा नः गोषु) न हमारी गौओं में,
षु में और बालक में, (मा नः आयुषि) न हमारे (मा नः अश्वेषु) न हमारे अश्वों में (रीरिषः)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हिंसा कर।

'नः' का प्रयोग 'हम प्रजाओं के' अर्थ में हुआ है।

'शिशु' से तात्पर्य शिशुवर्ग से है और 'बालक' से बालक-बालिकावर्ग से। ये दोनों ही वर्ग राष्ट्र के भावी नागरिक-नागरिका हैं। इनको हानि पहुंचाना अथवा इन्हें मरने देना राष्ट्र को मारना है।

गोवंश पर राष्ट्र का स्वास्थ्य और जीवन निर्भर होता है। गौ से प्राप्त दुग्ध तथा घृत के सेवन से राष्ट्र स्वस्थ और कर्मक्षम बनता है, तो गोजात बैलों से कृषि होती है। इसलिए वेद में गौ को माता, और बैल को पिता कहा गया है। गौ माता के समान राष्ट्र को अपना दूध पिलाती है, और बैल अन्नोत्पादन में सहायक होकर पिता के समान नागरिकों के जीवन की रक्षा करता है। इनका वध राष्ट्र का वध है।

अश्ववंश राष्ट्र की रक्षा में सहायक होता है। अश्व युद्धयानों तथा आयुधयानों को खींचते हैं। वीरजन अश्वों पर सवारी करके आक्रमणकारियों से युद्ध करते हैं और प्रजा के जीवन की रक्षा करते हैं।

सेनापति ऐसी व्यवस्था करे कि युद्ध और शान्ति में भी उपर्युक्त सभी वर्ग से रक्षा हो।

२) (मा नः भामिनः वीरान् वधीः) ओजस्वी वीरों को वध कर/मरने दे।

सेनापति युद्ध की ऐसी रचना करे कि णकारियों द्वारा अपने वीरों का वध आक्रमणकारियों का अधिकाधिक वध हो।

३) (हविष्मन्तः) हवियोंवाले, देश और रक्षा के लिए सर्वस्व होमनेवाले [हम प्र (सदम् इत्) सदा ही (त्वा हवामहे) तुझे हैं/तुझसे निवेदन करते हैं।

प्रजाजनों को चाहिए कि सेनापति त नियों को सदैव इस प्रकार चेताते रहें।

रुद्र ! हिंस
न हमारे शिशु में, बालक में,
न हमारे जीवन में,
न हमारी गौओं में,
न हमारे घोड़ों में।
मार न हमारे ओजस्वी वीरों को।
हविष्मान् हम हैं पुकारते
सदा ही तुझको।

८०१ **नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशां च पतये नमो नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पतये नमो नमः शष्पिञ्जराय त्विषीमते पथीनां पतये नमो नमो हरिकेशायोपवीतिने पुष्टानां पतये नमः।**

नमः हिरण्य-बाहवे सेना-न्ये दिशाम् च पतये नमः नमः वृक्षेभ्यः हरि-केशेभ्यः पशूनाम् नमः नमः शष्पिञ्जराय त्विषि-मते पथीनाम् पतये नमः नमः हरि-केशाय उपवीतिने पुष्टानाम् पतये नमः।

१) (नमः हिरण्य-बाहवे सेना-न्ये) नमस्कार हिरण्य-बाहु सेनानी के लिए।

वेद में 'नमः' शब्द का प्रयोग प्रियता, स्वीकार, सत्कार, शिरोधार्यता तथा नमन अर्थों में होता है।

जिस सेनानी के बाहुओं में चमकीले होते हैं उसकी संज्ञा हिरण्य-बाहु होती है। शब्द का प्रयोग यहां सेनानीसमूह के लि है। सारा ही सेनानीसमूह चमकीले

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सज्ज रहे। शासन और जनता सत्कारपूर्वक उन्हें सब सुविधाएं प्रदान करें ताकि वे सुचारुता के साथ रक्षाकार्य कर सकें।

२) (च दिशाम् पतये नमः) और दिशाओं की रक्षा करनेवाले के लिए नमस्कार।

राज्य की सीमाओं पर दिक्पालों के अधीन सब दिशाओं में सामरिक महत्त्व के स्थानों पर सैनिक छावनियों की स्थापना की जानी चाहिए। शासन और जनता की ओर से उन्हें सत्कारपूर्वक सब सुविधाएं दी जाएं ताकि वे सुचारुता के साथ सब दिशाओं में देश की सीमाओं पर रक्षाकार्य कर सकें।

३) (नमः हरि-केशेभ्यः वृक्षेभ्यः) नमस्कार हरि-केश वृक्षों के लिए।

जिन वृक्षों में हरणशील [मनोहारी] डालियां, पत्ते तथा फूल-फल लगते हैं उन्हें हरिकेश वृक्ष कहते हैं। सैनिक छावनियों में प्रियता के साथ ऐसे वृक्षों का बाहुल्य किया और रखा जाना चाहिए। छावनियां वृक्षों से ढकी रहनी चाहिएं।

४) (पशूनां पतये नमः) पशुओं के पालक के लिए नमस्कार।

सैनिक छावनियों में गौ, अश्व, आदि की सैनिक पशुशालाएं हों ताकि सैनिकों के पानार्थ प्रचुर शुद्ध दुग्ध, और उनकी सवारी के लिए तीव्र-गामी अश्व सदा उपलब्ध रहें। पशुशालाओं में प्रशिक्षित और चतुर पशुपाल हों। उनका यथोचित सत्कार किया जाए। सत्कार से कार्य सुचारुता के साथ सम्पन्न होता है।

५) (नमः शष्पिञ्जराय त्विषि-मते) नमस्कार बन्धन-मुक्त कान्तिमान् के लिए।

'पिञ्जर' नाम बन्धन का है। भय, भ्रम, विकार, वासना, आसक्ति और लेप—इन छह बन्धनों से जो मुक्त होता है, निस्सन्देह, वह कान्तिमान् होता है। प्रत्येक सैनिक छावनी में एक ऐसा बन्धनमुक्त, सुविद्वान, कान्तिपुञ्ज आचार्य रहना चाहिए जिसके शिक्षोपदेश से सब सेनानी धर्मपरायण, राष्ट्रनिष्ठ, देशप्रेमी बनकर सदाचारयुक्त रहते हैं। ऐसा आचार्य नमस्करणीय होता ही है।

६) (पथीनाम् पतये नमः) पथियों [पथिकों] के रक्षक के लिए नमस्कार।

छावनियों, नगरों तथा ग्रामों को परस्पर-सम्बद्ध रखनेवाले पथों और उन पर चलनेवाले पथियों की रक्षा का उत्तरदायित्व जिस रक्षावर्ग को सोंपा जाए उनका भी सम्यक् सत्कार किया जाए और प्रियता के साथ उनकी सुख-सुविधा की व्यवस्था रखी जाए।

७) (नमः हरि-केशाय उप-वीतिने) नमस्कार हरि-केश यज्ञोपवीतधारी के लिए।

मनोहर केशों से सुशोभित और यज्ञोपवीत से दीक्षित ब्रह्मचारीवर्ग का सब शिरोधार्यता के साथ सम्मान करें। ब्रह्मचारियों में से ही सुविद्वान् सुवीरों की उपलब्धि होती है। अतः सैनिक-विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त कररहे दीक्षित ब्रह्मचारियों का सम्यक् सत्कार तथा पोषण होना चाहिए।

८) (पुष्टानाम् पतये नमः) जवानों के प्रशिक्षक के लिए नमस्कार।

सैनिक प्रशिक्षण-केन्द्रों में जवानों को प्रशिक्षण देनेवाले प्रशिक्षकों का भी पूर्ण आदर किया जाए, और प्रशिक्षणार्थी उन्हें ससम्मान नमस्कार करें।

नमन हिरण्यबाहु सेनानी के लिए,
और दिशाओं के रक्षक के लिए नमन,
नमन हरिकेश वृक्षों के लिए,
पशुओं के पालक के लिए नमन,
नमन बन्धनमुक्त कान्तिमान् के लिए,
पथियों के रक्षक के लिए नमन,
नमन हरि-केश यज्ञोपवीतधारी के लिए।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

८०२ नमो बभ्लुशाय व्याधिने ऽन्नानां पतये नमो नमो भवस्य हेत्यै जगतां पतये नमो
नमो रुद्रायाततायिने क्षेत्राणां पतये नमो नमः सूतायाहन्त्यै वनानां पतये नमः

य १६.१८
नमो बभ्लुशाय व्याधिने अन्नानाम् पतये नमः नमः भवस्य हेत्यै जगताम् पतये नमः नमो
रुद्राय आ-तत-अयिने क्षेत्राणाम् पतये नमः नमः सूताय अहन्त्यै वनानाम् पतये नमः।

१) (नम, बभ्लुशाय व्याधिने) नमः बभ्लुश रोगी के लिए।

'बभ्लु' का अर्थ है भूरा, खाकी वर्ण। बभ्लु रंग की पोशाक में शयन करनेवाले का नाम बभ्लु-श है। खाकी वर्दी पहिने, युद्ध में घायल होकर जो चिकित्सालय में शयन करता है उसकी संज्ञा बभ्लुश है। ऐसे रोगीवर्ग की सनमन चिकित्सा की व्यवस्था होनी चाहिए।

२) (अन्नानाम् पतये नमः) अन्नों के रक्षक के लिए नमस्कार।

युद्धकाल में भी और शान्तिकाल में भी सेना के लिए अन्नों, खाद्यों की सुरक्षा तथा व्यवस्था निष्ठा के साथ की जानी चाहिए।

३) (नमः भवस्य हेत्यै) नमस्कार संसार की हित-वृद्धि करनेवाले के लिए।

जो संसार का हितचिन्तन करते हैं और संसार की हितवृद्धि करते हैं, सेना द्वारा उनका रक्षण और सम्मान किया जाए।

४) (जगताम् पतये नमः) प्राणियों के रक्षक के लिए नमस्कार।

युद्धकाल में मनुष्य, पशु, आदि प्राणियों की रक्षा की जो व्यवस्था करता है, राष्ट्र द्वारा उसके आदेश का शिरोधार्यता के साथ पालन किया जाए।

५) (नमः आ-तत-अयिने रुद्राय) नमस्कार विस्तार-प्रयाणी वीर के लिए।

आक्रमण का मुक़ाबिला करने के लिए जो वीर सेना का विस्तार करके प्रयाण करता है उसे सत्कारपूर्वक नमस्कृति [सलामी] दी जाए।

६) (क्षेत्राणाम् पतये नमः) खेतों के स्वामी लिए नमस्कार।

खेतों में बाहुल्य के साथ जो अन्नों का उत्पा करते हैं उनकी और उनके खेतों की युद्धकाल विशेषतया रक्षा की जाए। साथ ही, उन्हें पुरस्कृ तथा सत्कृत किया जाए।

७) (नमः अहन्त्यै सूताय) नमस्कार न मारनेवा सारथि के लिए।

सारथि यद्यपि केवल युद्धयान का संचा करता है, शस्त्रसंचालन करके शत्रुओं को मार नहीं है, फिर भी उसके चातुर्य से ही महारथ में साफल्य प्राप्त करते हैं। अतः महारथ के सा ही सारथि का सम्मान किया जाए।

८) (वनानाम् पतये नमः) जंगलों के रक्षक के नमस्कार।

शत्रु के सैनिक अथवा भेदिए न जंगलों में आ लगाने पाएं, न उन्हें उजाड़ने पाएं, यह देखना के रक्षक का काम है। वनरक्षक को आत्मसुर के साधन सुलभ कराए जाने चाहिएं।

नमः बभ्लुश रोगी के लिए,
अन्नों के रक्षक के लिए नमन,
नमः संसार के हितवर्धक के लिए,
प्राणियों के रक्षक के लिए नमन,
नमन विस्तारप्रयाणी के लिए,
खेतों के स्वामी के लिए नमन,
नमः अमारक सारथि के लिए,
वनों के रक्षक के लिए नमन।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

८०३ नमो रोहिताय स्थपतये वृक्षाणां पतये नमो नमो भुवन्तये वारिवस्कृतायौषधीनां पतये नमो नमो मन्त्रिणे वाणिजाय कक्षाणां पतये नमो नम उच्चैर्घोषायाक्रन्दयते पत्तीनां पतये नमः ।

य १६.१९

नमः रोहिताय स्थ-पतये वृक्षाणाम् पतये नमः नमः भुवन्तये वारिवः-कृताय ओषधीनाम् पतये नमः नमः मन्त्रिणे वाणिजाय कक्षाणाम् पतये नमः नमः उच्चैः-घोषाय आ-क्रन्दयते पत्तीनाम् पतये नमः ।

१) (नमः रोहिताय स्थ-पतये) नमस्कार ऊपरचढ़े स्थान-पति के लिए ।

ऊंचे मीनार, टीले, शिखर वा मचान पर चढ़कर दुरवीक्षण यन्त्र के द्वारा जो दूर दूर के युद्धमोर्चों, युद्धव्यवस्थाओं, युद्धस्थलों का निरीक्षण तथा रक्षण करता है उसकी संज्ञा **रोहित स्थपति** है। उसके लिए ससत्कार आवश्यक सुविधाओं के साथ साथ, उसके जीवन की रक्षा की व्यवस्था भी की जानी चाहिए।

२) (वृक्षाणाम् पतये नमः) वृक्षों के पति के लिए नमस्कार ।

वृक्षविभाग के अध्यक्ष का कर्तव्य है कि देश को रेगिस्तान होने से बचाने के लिए वृक्षों की सतत वृद्धि के साधनोपाय करे और वृक्षों को बर्बादी से बचाए। वृक्षों के बाहुल्य से ऋतु सुहावना रहता है, ससमय पर्याप्त वर्षा होती है। वृक्षों की छाया में छावनियां तथा बस्तियां सुहावनी और सुरक्षित रहती हैं। वृक्षों की छाया में यात्राएं सुखकर होती हैं। वृक्षपति को इस विभाग के कार्य में पर्याप्त सहयोग, सहकार और सम्मान मिलना चाहिए।

३) (नमः भुवन्तये वारिवः-कृताय) नमस्कार आचारवान् सेवाकारी के लिए ।

'वारिवस्कृत' शब्द का प्रयोग यहां राजकर्मचारीवर्ग के लिए हुआ है। प्रत्येक आचारवान् राजकर्मचारी का शासन और जनता द्वारा मान किया जाए।

४) (ओषधीनाम् पतये नमः) ओषधियों के सम्पादक के लिए नमः ।

युद्धकाल में भी और शान्तिकाल में भी सेना तथा जनता के लिए ओषधियों की आवश्यकता प्रत्यक्ष है। ओषधियों के निष्पादकवर्ग का सम्यक् मानकरण तथा पुरस्करण होना ही चाहिए।

५) (नमः वाणिजाय मन्त्रिणे) नमस्कार व्यापार-कुशल मन्त्री के लिए ।

व्यापारविभाग का मन्त्री ऐसा कुशल हो कि सैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओं की कमी पड़ जाए तो अविलम्ब उनका आयात कर सके। ऐसे मन्त्री का विशेष मान किया जाए।

६) (कक्षाणाम् पतये नमः) आवासों के व्यवस्थापक को नमन ।

सैनिकों के लिए कक्षों [फ़्लैटों, क्वार्टरों] का पर्याप्त संख्या में निर्माण, उनका यथावत् वितरण, उनकी सज्जा तथा मरम्मत आवासपति का कर्तव्य है। ऐसे कर्तव्यपरायण आवासपति का सम्यक् सम्मान किया जाए।

७) (नमः उच्चैः-घोषाय आ-क्रन्दयते) नमस्कार उच्च-घोष हाहाकारी [रुलानेवाले] के लिए ।

जो सैनिकवर्ग आक्रमणकारियों पर ऐसा प्रचण्ड प्रहार करे कि वे आहत होकर ज़ोर ज़ोर से आक्रन्दन करने लगे उसका विशेष सम्मान किया जाना चाहिए।

८) (पत्तीनाम् पतये नमः) पत्तियों के अधिकारी के लिए नमस्कार ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पत्ति नाम पदातियों तथा सैनिक टुकड़ियों [बैटेलिअनों] का है। निश्चय ही, पदातियों तथा टुकड़ियों द्वारा अपने अधिकारी को नमस्कृति [सलामी] दी ही जानी चाहिए।

नमस्कार रोहित स्थपति के लिए,
वृक्षों के पति के लिए नमस्कार,
नमन आचारवान् राजकर्मचारी के लिए,
ओषधियों के सम्पादक के लिए नमन,
नमन वाणिज्य मन्त्री के लिए,
कक्षों के व्यवस्थापक के लिए नमन,
नमन उच्चघोष हाहाकारी के लिए,
पत्तियों के अधिकारी के लिए नमन।

८०४ **नमः कृत्स्नायतया धावते सत्वानां पतये नमो नमः सहमानाय निव्याधिन आ धिनीनां पतये नमो नमो निषङ्गिणे ककुभाय स्तेनानां पतये नमो नमो नि परिचरायारण्यानां पतये नमः।**

य १६

नमः कृत्स्न-आ-अयतया धावते सत्वनाम् पतये नमः नमः सहमानाय नि-व्याधिने। व्याधिनीनाम् पतये नमः नमः नि-सङ्गिने ककुभाय स्तेनानाम् पतये नमः नमः नि परि-चराय अरण्यानाम् पतये नमः।

१) (नमः कृत्स्न-आ-अयतया धावते) नमन पूर्ण-लाभ के साथ दौड़नेवाले के लिए।

युद्ध में ऐसे प्रसंग आते हैं जब किसी सैनिक लाभ के स्थान को शत्रु के वहां पहुंचने से पूर्व ही सेनासहित दौड़कर अविलम्ब अपने अधिकार में कर लेना आवश्यक होता है। इस कार्य को दौड़कर करनेवाले सेनानायक का बहुत सम्मान किया जाना चाहिए।

२) (सत्वनाम् पतये नमः) वीरों के रक्षक के लिए नमः।

युद्ध में वीरों को मारे जाने से बचानेवाले योजनाधिकारी का कर्तव्य होता है कि वह ऐसे युद्धमोर्चों का नियोजन करे कि अपने वीरों का वध न हो, यदि हो भी तो कम से कम हो। ऐसे अधिकारी का भूयो भूयः सम्मान होना चाहिए।

३) (नमः सहमानाय नि-व्याधिने) नमस्कार मार करनेवाले सहमान के लिए।

'सहमान' का अर्थ है मुक़ाबला करनेवाला, परास्त करनेवाला, विजय सम्पादन करनेवाला। निरन्तर मार करके जो मुक़ाबला करता है वही आक्रमणकारियों को परास्त करके विजय क करता है। ऐसे सहमान को नमस्कृति मिल चाहिए।

४) (आ-व्याधिनीनाम् पतये नमः) सर्वतः णियों [प्रहारिणी सेनाओं] के अधिकार नमस्कार।

सर्वप्रहारिणी सेनाओं का काम, हार अपने मोर्चों पर पहुंचकर पराजय को वि परिणत करना होता है। ऐसी सेनाएं स सशक्त और सज्ज होती हैं। उसके नायक भी सर्वातिशय कठोर होता है। जनता द्वारा उसे सदैव सलामी दी जानी चाहिए।

५) (नमः ककुभाय नि-सङ्गिणे) नमस्कार नि-शस्त्र [शस्त्रभण्डारी] के लिए।

दिशा-विदिशाओं में शस्त्र पहुंचानेवाले भण्डार का जो अधिकारी है उसका सम्मा किया जाना चाहिए। यह पद बहुत ही दायित्वपूर्ण है। सभी रक्षापंक्तियों तथा मु में शस्त्रों की कमी न होने देना उसका होता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

६) (स्तेनानाम् पतये नमः) चोरों के वशयिता के लिए नमन।

आक्रमणकारियों से मिले हुए देशद्रोहियों, और स्वयं आक्रमणकारियों के तस्करों द्वारा शस्त्रास्त्रों तथा रसद की चोरी करनेवालों को सैनिक कारागारों में बन्दी बनाकर जो अधिकारी शस्त्रागारों की रक्षा करता है वह नमस्करणीय है।

७) (नमः नि-चेखे परि-चराय) नमन निरन्तर-विचरणकर्ता परिचर्या [सेवा] करनेवाले के लिए।

आक्रमणकारियों के तथा अपने क्षेत्रों में वेश बदले गुप्त रूप से निरन्तर घूमकर जो युद्ध के भेद लेते हैं और अपने सेनाधिकारियों को बताते हैं उनकी अमूल्य सेवाओं का सम्यक् आदर होना चाहिए। उन्हें नमस्कृत भी किया जाना चाहिए।

८) (अरण्यानाम् पतये नमः) जंगलों के रक्षक के लिए नमन।

युद्धकाल में जंगलों में अस्थायी सैनिक छावनियां बनाकर उनमें सैनिकों को रखने से वीरों की सुरक्षा होती है। आक्रमणकारी उन जंगलों में न प्रवेश करने पाएं, न आग लगाने पाएं, ऐसी व्यवस्था करना जंगलों के रक्षक सेनाधिकारी का कर्तव्य है। उसकी कर्तव्यनिष्ठा का जहां आदर किया जाना चाहिए वहां उसे नमस्कृत भी किया जाए।

नमः पूर्णलाभ दौड़नेवाले के लिए,
वीरों के रक्षक के लिए नमः,
नमः निप्रहारी सहमान के लिए,
नमः सर्वतः प्रहारिणियों के नायक के लिए,
नमः दिशि दिशि शस्त्रभण्डारी के लिए,
चोरों के वशयिता के लिए नमन,
नमन निरन्तर-विचरणकर्ता सेवक के लिए,
जंगलों के रक्षक के लिए नमन।

८५ **नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमो नमो निषङ्गिण इषुधिमते तस्कराणां पतये नमो नमः सृकायिभ्यो जिघांसद्भ्यो मुष्णतां पतये नमो नमो ऽसिमद्भ्यो नक्तञ्चरद्भ्यो विकृन्तानां पतये नमः ।** य १६.२१

नमः वञ्चते परि-वञ्चते स्तायूनाम् पतये नमः नमः नि-सङ्गिने इषु-धि-मते तस्कराणाम् पतये नमः नमः सृकायि-भ्यः जिघांसत्-भ्यः मुष्णताम् पतये नमः नमः असिमत्-भ्यः नक्तम् चरत्-भ्य वि-कृन्तानाम् पतये नमः ।

१) (नमः वञ्चते परि-वञ्चते) नमस्कार छलनेवाले के लिए, सर्वतः छलनेवाले के लिए।

भेद लेने के लिए जो गुप्तचर आक्रमणकारियों से मिलकर छल से उनके भेदों को प्राप्त करके अपने पक्ष की सहायता करते हैं उनका मान होना चाहिए।

२) (स्तायूनाम् पतये नमः) चोरी करनेवालों के मुखिया के लिए नमन।

आक्रमणकारियों के शस्त्रास्त्रों तथा खाद्यों, आदि की चोरी करनेवाले अधिकारी का समुचित सम्मान किया जाना चाहिए।

३) (नमः नि-सङ्गिने इषु-धि-मते) आदर हो नि-शस्त्र [शस्त्रभण्डारी] शस्त्रधारक के लिए।

जो शस्त्रभण्डारी शस्त्रागार में शस्त्रों की सुरक्षा और सुव्यवस्था के साथ संभालकर रखता है उसका सम्यक् आदर किया जाए।

४) (तस्कराणाम् पतये नमः) तस्करों के वशयिता के लिए नमस्कार।

आक्रमणकारियों के तस्करों को जो अपने शस्त्रों तथा खाद्यों की तस्करी नहीं करने देता है, और अपने तस्करों से जो आक्रमणकारियों के

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शस्त्रों तथा खाद्यों की तस्करी कराता है ऐसे अधिकारी का सम्यक् आदर किया जाए।

५) (नमः जिघांसत्-भ्यः सृकायि-भ्यः) नमन हननेच्छु शस्त्रधारियों के लिए।

'हननेच्छु शस्त्रधारियों' से तात्पर्य स्वयंसेवक-सैनिकदल (Volunteer Corps] के सैनिकों से है। ऐसे सैनिक भी नमस्कार के पात्र हैं।

६) (मुष्णताम् पतये नमः) अपहरणकर्ताओं के मुखिया के लिए नमस्कार।

आक्रमणकारियों की सम्पदाओं का अपहरण करनेवालों के अधिकारी का आदर किया जाए।

७) (नमः नक्तम् चरत्-भ्यः असिमत्-भ्यः) नमस्कार रात में विचरनेवाले शस्त्रधारियों के लिए।

तलवारादि शस्त्र धारण करके जो रात्रि में विचरकर सर्वत्र सब प्रकार रक्षा करते हैं उनको नमस्कृति हो।

८) (वि-कृन्तानाम् पतये नमः) तोड़-फोड़ वालों के अधिकारियों के लिये नमस्कार।

आक्रमणकारियों के क्षेत्रों में पुल, भवन, आदि की तोड़-फोड़ करनेवाली टुकड़ी अधिकारी का सम्यक् आदर करना चाहिए।

नमन वञ्चक के लिए, परिवञ्चक के लिए,
चोरों के मुखिया के लिए नमस्कार,
नमस्कार शस्त्रभण्डारी शस्त्रधारक के लिए,
तस्करों के वशयिता के लिए नमस्कार,
नमन हननेच्छु शस्त्रधारियों के लिए,
अपहरणकर्ताओं के मुखिया के लिए नमन,
नमस्कार रात्रिचर शस्त्रधारियों के लिए,
तोड़-फोड़कर्ताओं के लिए नमन।

८०६ **नम उष्णीषिणे गिरिचराय कुलुञ्चानां पतये नमो नम इषुमद्भ्यो धन्वाविभ्यो वो नमो नम आतन्वानेभ्यः प्रतिदधानेभ्यश्च वो नमो नम आयच्छद्भ्यः ऽस्यद्भ्यश्च वो नमः।**

नमः उष्णीषिणे गिरि-चराय कु-लुञ्चानाम् पतये नमः नमः इषुमत्-भ्यः धन्वा-यि-भ्यः नमः नमः आ-तन्वानेभ्यः प्रति-दधानेभ्यः च वः नमः नमः आ-यच्छत्-भ्यः अस्यत्-भ्यः च वः नमः।

१) (नमः उष्णीषिणे गिरि-चराय) नमन पगड़ीधारी पर्वत में विचरनेवाले के लिए।

सेना का वह वर्ग जो सैनिक पगड़ी धारण करके पर्वतीय ऊंचे दर्रों वा मार्गों से आक्रमणकारियों को रोकता वा खदेड़ता है, निस्सन्देह, नमस्करणीय है।

२) (कु-लुञ्चानाम् पतये नमः) कु-लुञ्चों के वशयिता के लिए नमन।

कुशीलता के साथ लुञ्चन [अपहरण] करनेवाले का नाम कुलुञ्च है। कुलुञ्चों का वशीकार करनेवाला अधिकारी नमस्कार का पात्र है। युद्ध के दिनों में अवाञ्छनीय तत्त्व लूट-खसोट लगते हैं। उनका वशीकार करनेवाला आदर

३) (नमः इषुमत्-भ्यः च धन्वा-यि-भ्यः) इषुमतों के लिए और धनुषवालों के लिए।

इषु प्रतीक है दूर मार करनेवाले अस्त्रों और धनुष निकट मार करनेवाले शस्त्रों का प्रकार के शस्त्रों का उत्पादन करके शस्त्रीकरण में सहायता देनेवालों को समझा जाए।

४) इषुमतो और धनुषमतो! (वः नमः) लिए नमस्कार। तुम नमस्करणीय हो।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

५) (नमः आ-तन्वानेभ्यः च प्रति-दधानेभ्यः) नमन तानने-विस्तारनेवालों के लिए और प्रति-धारण करनेवालों के लिए।

सैनिकों के लिए सुख-सुविधाओं का विस्तार करनेवाले और आक्रमणकारियों का मुक़ाबला करने की तयारी करनेवाले, निश्चय ही, नमस्करणीय हैं।

६) आतन्वानो ओर प्रतिधारको ! (वः नमः) तुम्हारे लिए नमस्कार; तुम नमस्करणीय हो।

७) (नमः आ-यच्छत्-भ्यः च अस्यत्-भ्यः) नमन रोकनेवालों के लिए और फेंकनेवालों के लिए।

जो आक्रमणकारियों को आगे बढ़ने से रोककर उन्हें पीछे फेंकते हैं वे नमस्करणीय हैं।

८) रोकनेवालो और फेंकनेवालो ! (वः नमः) तुम्हारे लिए नमस्कार; तुम नमस्करणीय हो।

नमस्कार ऊंची-पगड़ी गिरिचर के लिए,
अपहरणकर्ताओं के वशयिता के लिए नमन,
नमन इषुमतों के लिए और धनुषवालों के लिए,
तुम्हारे लिए नमस्कार,
नमन विस्तारनेवालों के लिए और प्रति-धारकों के लिए,
तुम्हारे लिए नमस्कार,
नमन रोकनेवालों के लिए और फेंकनेवालों के लिए,
तुम्हारे लिए नमस्कार।

८०७ **नमो वि-सृजत्-भ्यो विध्यद्भ्यश्च वो नमो नमः स्वपद्भ्यो जाग्रद्भ्यश्च वो नमो नमः शयानेभ्यः आसीनेभ्यश्च वो नमो नमस्तिष्ठद्भ्यो धावद्भ्यश्च वो नमः।**

य १६.२३

नमः विसृजत्भ्यः विध्यत्भ्यः च वः नमः नमः स्वपत्-भ्यः जाग्रत्-भ्यः च वः नमः शयानेभ्यः आसीनेभ्यः च वः नमः नमः तिष्ठत्-भ्यः धावत्-भ्यः च वः नमः।

१) (नमः वि-सृजत्-भ्यः च विध्यत्-भ्यः) नमस्कार शस्त्र-प्रहार करनेवालों के लिए और वेधनेवालों के लिए।

आक्रमणकारियों पर जो उग्रता के साथ शस्त्रों से प्रहार करते हैं और जो अपने शस्त्रों से आक्रमणकारियों को वेधते हैं उन्हें सत्कृत और पुरस्कृत किया ही जाना चाहिए।

२) शस्त्र-प्रहार करनेवालो और वेधनेवालो ! (वः नमः) तुम्हारे लिए नमस्कार।

३) (नमः स्वपत्-भ्यः च जाग्रत्-भ्यः) नमस्कार सोनेवालों के लिए और जागनेवालों के लिए।

युद्ध से श्रान्त होकर जो सोरहे होते हैं, और उनके स्थान पर सोकर उठे ताज़ादम होकर जो युद्ध कर रहे होते हैं वे सब नमस्करणीय हैं।

४) सोनेवालो और जागनेवालो ! (वः नमः) तुम्हारे लिए नमस्कार।

५) (नमः शयानेभ्यः च आसीनेभ्यः) नमस्कार शयन करनेवालों के लिए और बैठनेवालों के लिए।

जब सेनानी रात्रि समय शयन कररहे होते हैं वा यथावकाश बैठे हुए होते हैं तब भी वे आदरार्ह होते हैं।

६) शयन करनेवालो और बैठनेवालो ! (वः नमः) तुम्हारे लिए नमस्कार।

७) (नमः तिष्ठत्-भ्यः च धावत्-भ्यः) नमस्कार स्थित हुओं के लिए और दौड़ते हुओं के लिए।

रक्षापंक्तियों पर स्थित सेनानी और युद्धमोर्चों पर आक्रमणकारियों को पीछे धकेलने के लिए इधर उधर दौड़ते हुए सेनानी, दोनों ही समान-रूपेण नमस्करणीय हैं।

८) स्थितो और दौड़ते हुओ ! (वः नमः) तुम्हारे लिए नमस्कार।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नमस्कार शस्त्रप्रहारियों के लिए
और वेधनेवालों के लिए,
तुम्हारे लिए नमस्कार।
नमस्कार सोनेवालों के लिए
और जागनेवालों के लिए,
तुम्हारे लिए नमस्कार।

नमस्कार शयन करनेवालों के लिए
और बैठनेवालों के लिए,
तुम्हारे लिए नमस्कार।
नमस्कार स्थितों के लिए
और दौड़नेवालों के लिए,
तुम्हारे लिए नमस्कार।

८०८ **नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च वो नमो नमो ऽश्वेभ्यो ऽश्वपतिभ्यश्च वो नमो आव्याधिनीभ्यो विविध्यन्तीभ्यश्च वो नमो नम उगणाभ्यस्तृंहतीभ्यश्च वो न**

य १

नमः सभाभ्यः सभा-पति-भ्यः च वः नमः नमः अश्वेभ्यः अश्व-पति-भ्यः च वः नमः
आ-व्याधिनीभ्यः वि-विध्यन्तीभ्यः च वः नमः नमः उगणाभ्यः तृंहतीभ्यः च वः नमः

१) (नमः सभाभ्यः च सभा-पति-भ्यः) नमस्कार सभाओं के लिए और सभापतियों के लिए।

युद्धसंचालन के लिए सेनापति द्वारा जो विविध सभाएं बनाई जाती हैं उन सभाओं को और उनके सभापतियों के आदेशों को शिरोधार्य किया जाए।

२) सभाओ और सभापतियो! (वः नमः) तुम्हारे लिए नमस्कार।

३) (नमः अश्वेभ्यः च अश्व-पति-भ्यः) नमस्कार अश्वों के लिए और अश्वारोहियों के लिए।

अश्वों के बिना अश्वारोही सेनानी निरुपाय होते हैं। युद्ध में अश्वों का उतना ही महत्त्व है जितना अश्वारोहियों का। अतः दोनों ही के प्रति समान प्रीति तथा शिरोधार्यता होनी योग्य है।

४) अश्वो और अश्वपतियो! (वः नमः) तुम्हारे लिए नमस्कार।

५) (नमः आ-व्याधिनीभ्यः च वि-विध्यन्तीभ्यः) नमस्कार सर्वतः मारनेवालियों के लिए और सब ओर वेधनेवालियों के लिए।

अपनी जो सेनाएं घमासान युद्ध करती हुई आक्रमणकारियों का सब ओर वध कररही हों और जो सेनाएं लक्ष्यवेधी शस्त्रों द्वारा आक्रमणकारियों को वेध रही हों उनके प्रति पूर्णभावेन शिरोधार्यता होनी चाहिए।

६) मार करनेवालियो और वेधनेवालियो (नमः) तुम्हारे लिए नमस्कार।

७) (नमः उगणाभ्यः च तृंहतीभ्यः) नमस्कार उगणाओं के लिए और तृंहतियों के लिए।

'उगणा' नाम सर्वातिशय उग्र और [illegible] का है। 'तृंहती' नाम है महाघातक [illegible] दोनों प्रकार की ये सेनाएं विशेषतया सुरक्षित स्वस्थ रखी जाती हैं। युद्ध की निर्णायक और स्थितियों में ही उनका उपयोग किया है। ये सेनाएं युद्ध का पासा पलटकर पराजय विजयों में परिणत कर देती हैं। राष्ट्र के प्रकार की सेनाओं के प्रति सुधन्यता [illegible] धार्यता की भावना होनी चाहिए।

८) उगणाओ और तृंहतियो! (वः नमः) लिए नमस्कार।

नमस्कार सभाओं के लिए
और सभापतियों के लिए,
तुम्हारे लिए नमस्कार।
नमस्कार अश्वों के लिए
और अश्वपतियों के लिए,
तुम्हारे लिए नमस्कार।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नमस्कार आव्याधिनियों के लिए
और विविध्यन्तियों के लिए,
तुम्हारे लिए नमस्कार ।

नमस्कार उगणाओं के लिए
और तृंहतियों के लिए,
तुम्हारे लिए नमस्कार ।

५०९ **नमो गण्येभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो नमो व्रातेभ्यो व्रातपतिभ्यश्च वो नमो नमो गृत्सेभ्यो गृत्सपतिभ्यश्च वो नमो नमो विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः ।**

य १६.२५

नमः गणेभ्यः गण-पति-भ्यः च वः नमः नमः व्रातेभ्यः व्रात-पति-भ्यः च वः नमः नमः गृत्सेभ्यः गृत्स-पति-भ्यः च वः नमः नमः वि-रूपेभ्यः विश्व-रूपेभ्यः च वः नमः ।

१) (नमः गणेभ्यः च गण-पति-भ्यः) नमस्कार गणों के लिए और गणपतियों के लिए ।

'गण' शब्द का प्रयोग यहां सैनिक-संघ [सैनिक टुकड़ी, बॅटेलिअन] के लिए हुआ है, और 'गणपति' का सैनिक-संघाधिकारी [बॅटेलिअन कमाण्डर] के लिए । सैनिक-संघों और संघाधिकारियों को नमस्कृत और सत्कृत किया जाना चाहिए ।

२) संघो और संघाधिकारियो ! (वः नमः) तुम्हारे लिए नमस्कार ।

३) (नमः व्रातेभ्यः च व्रात-पति-भ्यः) नमस्कार व्रातों के लिए और व्रातपतियों के लिए ।

'व्रत' से 'व्रात' । **व्रात** नाम व्रत धारण करके व्रतों के पालन करनेवाले का है । व्रात शब्द का प्रयोग हुआ है यहां उस सैनिक-संघ [सैनिक टुकड़ी, सैनिक बॅटेलिअन] के लिए जो युद्धकालिक विकट प्रसंगों में प्रतिज्ञाबद्ध होकर विशेष शौर्य के कार्य करते हैं । ऐसे व्रातों [प्रतिज्ञाबद्ध बॅटेलिअनों] और व्राताधिकारियों को, निस्सन्देह, शिरोधार्यता के साथ नमस्कृत किया जाना चाहिए ।

४) व्रातो और व्रातपतियो ! (वः नमः) तुम्हारे लिए नमस्कार ।

५) (नमः गृत्सेभ्यः च गृत्स-पति-भ्यः) नमस्कार गृत्सों के लिए और गृत्सपतियों के लिए ।

'गृत्स' नाम सराहना करनेवाले अथवा सेवाओं का अंकन तथा मूल्यांकन करनेवाले का है । गणों और व्रातों की सेवाओं के विवरण अंकन करनेवालों का, और उन विवरणों के आधार पर संघों और व्रातों के लिए विशेष पदक, पुरस्कार, पदोन्नति, उपाधि, आदि की सिफ़ारिश करनेवाले व्राताधिकारियों को नमस्कृत किया जाए ।

६) गृत्सो और गृत्सपतियो ! (वः नमः) तुम्हारे लिए नमस्कार ।

७) (नमः वि-रूपेभ्यः च विश्व-रूपेभ्यः) नमस्कार विरूपों के लिए और विश्वरूपों के लिए ।

जो विशेष सुन्दर, सोम्य और स्वाभाविक-सा रूप बनाकर शत्रुओं की सैनिक विधियों तथा योजनाओं का पता लगाते हैं उनकी संज्ञा विरूप है । जो किसी भी प्रकार के, सभी प्रकार के रूप बनाकर शत्रुओं की सैनिक छावनियों में प्रवेश करते हैं और सब तरह के भेद लेते हैं उनकी संज्ञा विश्वरूप है । दोनों ही प्रकार के ये भेदिए अपने जीवनों को खतरों में डालकर काम करते हैं । उनकी सेवाओं का मूल्यांकन करके उन्हें सर्वतः आदृत और पुरस्कृत करना योग्य है ।

८) विरूपो और विश्वरूपो ! (वः नमः) तुम्हारे लिए नमस्कार ।

नमस्कार गणों के लिए
और गणपतियों के लिए,
तुम्हारे लिए नमस्कार ।
नमस्कार व्रातों के लिए

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

और व्रातपतियों के लिए,
तुम्हारे लिए नमस्कार।
नमस्कार गृत्सों के लिए
और गृत्सपतियों के लिए,
तुम्हारे लिए नमस्कार।
नमस्कार विरूपों के लिए
और विश्वरूपों के लिए,
तुम्हारे लिए नमस्कार।

८१० नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च वो नमो नमो रथिभ्यो अरथेभ्यश्च वो नमो नमः क्षत्तृभ्यः संग्रहीतृभ्यश्च वो नमो नमो महद्भ्यो अर्भकेभ्यश्च वो नमः ॥ य १६
नमः सेनाभ्यः सेनानि-भ्यः च वः नमः नमः रथि-भ्यः अ-रथेभ्यः च वः नमः नमः क्षत्तृ-भ्यः सम्-ग्रहीतृ-भ्यः च वः नमः नमः महत्-भ्यः अर्भकेभ्यः च वः नमः ।

१) (नमः सेनाभ्यः च सेनानि-भ्यः) नमस्कार सेनाओं के लिए और सेनानायकों के लिए।

प्रत्यक्षतः सेनाएं और सेनानायक, दोनों ही राष्ट्रों द्वारा नमस्करणीय हैं।

२) सेनाओ और सेनानियो ! (वः नमः) तुम्हारे लिए नमस्कार।

३) (नमः रथि-भ्यः च अ-रथेभ्यः) नमस्कार रथियों के लिए और अरथियों के लिए।

युद्धयानों में सवार होकर युद्ध करनेवाले और रथेतर युद्ध करनेवाले, दोनों ही नमस्कारार्ह हैं।

४) रथियो और अरथियो ! (वः नमः) तुम्हारे लिए नमस्कार।

५) (नमः क्षत्तृ-भ्यः च सम्-ग्रहीतृ-भ्यः) नमस्कार रथसंचालकों के लिए और शस्त्रसंग्रहकर्ताओं के लिए।

युद्धयानों के संचालकों तथा शस्त्रसंग्रहकर्ताओं की सेवाएं भी अतिशय मूल्यवान् हैं। उनकी सेवाओं का आदर किया जाना चाहिए।

६) युद्धयानसंचालको और शस्त्रसंग्रहकर्ताओ ! (वः नमः) तुम्हारे लिए नमस्कार।

७) (नमः महत्-भ्यः च अर्भकेभ्यः) नमस्कार के लिए और छोटों के लिए।

युद्ध में अपने अपने स्थान पर बड़े-छोटे की सेवाएं अमूल्य और अनिवार्य हैं। सबकी सेवाओं की सनमन सराहना की जानी चाहिए।

८) बड़ो और छोटो ! (वः नमः) तुम्हारे नमस्कार।

नमस्कार सेनाओं के लिए
और सेनानियों के लिए,
तुम्हारे लिए नमस्कार।
नमस्कार रथियों के लिए
और अरथियों के लिए,
तुम्हारे लिए नमस्कार।
नमस्कार रथसंचालकों के लिए
और शस्त्रसंग्रहकर्ताओं के लिए,
तुम्हारे लिए नमस्कार।
नमस्कार बड़ों के लिए
और छोटों के लिए,
तुम्हारे लिए नमस्कार।

८११ नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमो नमः निषादेभ्यः पुञ्जिष्ठेभ्यश्च वो नमो नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नमः ॥ य १६
नमः तक्ष-भ्यः रथ-कारेभ्यः च वः नमः नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यः च वः नमः नमः नि-सादेभ्यः पुञ्जि-ष्ठेभ्यः च वः नमः नमः श्वनि-भ्यः मृगयु-भ्यः च वः नमः।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१) (नमः तक्ष-भ्यः च रथ-कारेभ्यः) नमस्कार तरखानों के लिए और युद्धयान बनानेवालों के लिए।

युद्धसम्बन्धी काष्ठ की वस्तुओं का और युद्धयानों का जो निर्माण करते हैं वे नमस्करणीय हैं ही।

२) तरखानो और रथकारो ! (वः नमः) तुम्हारे लिए नमस्कार।

३) (नमः कुलालेभ्यः च कर्मारेभ्यः) नमस्कार मिट्टीकारों के लिए और शस्त्रास्त्र बनानेवालों के लिए।

युद्ध के मोर्चों पर मिट्टी की खाइयां, आदि अनेक वस्तुएं बनाई जाती हैं। जो यह कार्य करते हैं वे कुलाल कहलाते हैं। उसी प्रकार, धातुओं के अनेक शस्त्रास्त्र बनाए जाते हैं। जो यह कार्य करते हैं उनकी संज्ञा कर्मार है। दोनों ही प्रकार के कार्यों का सम्पादन करनेवाले शिरोधारणीय हैं।

४) कुलालो और कर्मारो ! (वः नमः) तुम्हारे लिए नमस्कार।

५) (नमः नि-सादेभ्यः च पुञ्जि-स्थेभ्यः) नमस्कार नि-सादों के लिए और पुञ्जि-स्थों के लिए।

निकृष्ट, निम्न स्थिति में स्थित क्रूर-जीवियों की संज्ञा निषाद है। मानवीय उत्तम गुणों के पुञ्ज में स्थित भद्र-जीवियों की संज्ञा पुञ्जिष्ठ है। दोनों ही प्रकार के जन युद्धावसरों में विविध परिस्थितियों में अपने अपने स्थान पर उपयोगी हैं; अतः नमस्करणीय हैं।

६) निषादो और पुञ्जिष्ठो ! (वः नमः) तुम्हारे लिए नमस्कार।

७) (नमः श्वनि-भ्यः च मृगयु-भ्यः) नमस्कार श्वानप्रशिक्षकों के लिए और मृगेच्छुओं के लिए।

प्रशिक्षित श्वान सूंघ-सूंघकर अपराधियों और शत्रुओं के पते लगाने में उपयोगी होते हैं। अतः प्रशिक्षित श्वान और उनके प्रशिक्षक आदरणीय हैं। जैसे शिकारी मृगों को खोजने और उनका शिकार करने की इच्छा करते हैं वैसे ही जो शत्रुओं की खोज करके उनके हनन की इच्छा करते हैं, प्रत्यक्षतः, युद्धकाल में उनकी सेवाएं नमस्करणीय और सराहनीय हैं।

८) श्वानप्रशिक्षको और मृगेच्छुओ ! (वः नमः) तुम्हारे लिए नमस्कार।

नमस्कार तरखानों के लिए
और रथकारों के लिए,
तुम्हारे लिए नमस्कार।
नमस्कार कुलालों के लिए
और कर्मारों के लिए,
तुम्हारे लिए नमस्कार।
नमस्कार निषादों के लिए
और पुञ्जिष्ठों के लिए,
तुम्हारे लिए नमस्कार।
नमस्कार श्वानप्रशिक्षकों के लिए
और मृगेच्छुओं के लिए,
तुम्हारे लिए नमस्कार।

८१२ **नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च वो नमो नमो भवाय च रुद्राय च नमः शर्वाय च पशुपतये च नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च।** य १६.२८

नमः श्व-भ्यः श्व-पति-भ्यः च वः नमः नमः भवाय च रुद्राय च नमः शर्वाय च पशु-पतये च नमः नील-ग्रीवाय च शिति-कण्ठाय च।

१) (नमः श्व-भ्यः च श्व-पति-भ्यः) नमस्कार श्वानों के लिए और श्वानपालकों के लिए।

युद्ध कार्यों के लिए विशेष प्रकार के श्वानों की, जो श्वसन द्वारा सूंघ-सूंघकर अपनी छावनियों

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

में गुप्त रूप से प्रविष्ट शत्रुओं के भेदियों का पता लगाते हैं, बड़ी उपयोगिता होती है। ऐसे श्वानों की और उनके पालनेवाले प्रशिक्षकों की प्रतिष्ठा होनी चाहिए।

२) श्वानो और श्वानपतियो ! (वः नमः) तुम्हारे लिए नमस्कार।

३) (नमः भवाय च रुद्राय च) नमस्कार स्वास्थ्य-सम्पादक के लिए और रोगनिवारक के लिए।

'भव' शब्द के अनेकार्थों में से एक अर्थ स्वास्थ्य भी है। 'भव' शब्द से यहां तात्पर्य स्वास्थ्य-सम्पादक स्वास्थ्याधिकारी से है। 'रुत्' नाम रोग का है। जो रुतों को दीर्ण करता है, रोगों का निवारण करता है उस चिकित्सक के लिए यहां 'रुद्र' शब्द का प्रयोग हुआ है। सेना के प्रत्येक विभाग और छावनी में एक स्वास्थ्याधिकारी, और साथ ही एक रोगनिवारक चिकित्सक तथा चिकित्सालय अवश्य होना चाहिए। उनके पद को नमनीय और सम्मानास्पद माना जाए।

४) (नमः शर्वाय च पशु-पतये च) नमस्कार मारक के लिए और पशुपालक के लिए।

वनैले कृषिनाशक पशुओं का जो हनन है, और गौ, अश्वादि पशुओं का जो रक्षण है वह सेना और जनता का हितसम्पादक उसका हृदय से सम्मान किया जाए।

५) (नमः नील-ग्रीवाय च शिति-कण्ठाय नमस्कार नील-ग्रीव तथा श्वेत-कण्ठ के लिए

सेना का जो उच्चाधिकारी गर्दन में पट्टिका [कॉलर] पहनता है उसकी संज्ञा है। नीलग्रीव सेनाधिकारी का कण्ठ हो श्वेत, सुघोष। नीलग्रीव श्वेतकण्ठ अधिकारी का सम्मान किया जाए।

नमस्कार श्वानों के लिए
और श्वानपतियों के लिए,
तुम्हारे लिए नमस्कार।
नमस्कार भव के लिए
और रुद्र के लिए।
नमस्कार मारक के लिए
और पशुपालक के लिए।
नमस्कार नील-ग्रीव के लिए
और श्वेत-कण्ठ के लिए।

८१३ **नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च नमो गिरिशय च शिपिविष्टाय च नमो मीढुष्टमाय चेषुमते च।** य १६.२९

नमः कपर्दिने च वि-उप्त-केशाय च नमः सहस्र-अक्षाय च शत-धन्वने च नमः गिरिशय च शिपि-विष्टाय च नमः मीढुः-तमाय च इषु-मते च।

१) (नमः कपर्दिने च वि-उप्त-केशाय च) नमस्कार जटाजूट/जटाधारी के लिए और कटे बालवाले/घोटमघोट के लिए।

केशोच्छेदन न करानेवाला जटाजूट ब्रह्मचारी-वर्ग, और बाल कटानेवाला घोटमघोट संन्यासी-वर्ग, दोनों ही देश और राष्ट्र की रक्षा में योगदान करते हैं। सैनिक और असैनिक जनता के मनोबल को बढ़ाकर वे विजयपथ प्रशस्त करते हैं। अतः उनका सप्रणाम सम्मान करना योग्य है।

२) (नमः सहस्र-अक्षाय च शत-धन्वने च) स्कार असंख्य-नेत्र के लिए और असंख्य-लिए।

देशोन्नति और राष्ट्ररक्षा के लिए जो दृष्टि रखते हैं उनकी संज्ञा सहस्राक्ष है, सदा सशस्त्र और सन्नद्ध रहते हैं उनकी शतधन्वा है। दोनों ही वर्ग नमस्करणीय हैं।

३) (नमः गिरि-शयाय च शिपि-विष्ट नमस्कार पर्वतों में शयन करनेवाले के लि

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शुओं में विचरनेवाले के लिए।
पर्वतों में निवास करनेवाले पहाड़ी लोग, और
शुओं में विचरनेवाले ग्वाले भी देश की रक्षा
और राष्ट्र की समृद्धि में सतर्क रहें और जन जन
मान के भाजन बनें।
) (नमः मीढुः-तमाय च इषु-मते च) नमस्कार
तिशयता के साथ सींचनेवाले के लिए और शस्त्र
ारण करनेवाले के लिए।
जो वीर और वीराङ्गनाएं राष्ट्र और देश का
न धान्य से अतिशयता के साथ सेचन करते हैं
और शस्त्र से उनकी रक्षा करते हैं वे नमस्करणीय हैं।

नमस्कार जटाधारी के लिए
और केशोच्छेदन करानेवाले के लिए।
नमस्कार असंख्य-नेत्र के लिए
और असंख्य-शस्त्र के लिए।
नमस्कार पर्वतों में शयन करनेवाले के लिए
और पशुओं में विचरनेवाले के लिए।
नमस्कार अतिशय सेचन करनेवाले के लिए
और शस्त्र धारण करनेवाले के लिए।

८१४ **नमो ह्रस्वाय च वामनाय च नमो बृहते च वर्षीयसे च नमो वृद्धाय च सवृधे च नमो ऽग्रचाय च प्रथमाय च।** य १६.३०

नमः ह्रस्वाय च वामनाय च नमः बृहते च वर्षीयसे च नमः वृद्धाय च स-वृधे च नमः अग्रचाय च प्रथमाय च।

) (नमः ह्रस्वाय च वामनाय च) नमस्कार ह्रस्व
के लिए और वामन के लिए।
'ह्रस्व' का अर्थ है छोटा, लघु। 'वामन' का
र्थ है बौना, आकार में छोटा, सौन्दर्ययुक्त,
सुन्दर। देश और राष्ट्र की रक्षा तथा उन्नति में
जिसकी सेवाएं लघु हैं उसके लिए 'ह्रस्व' शब्द का
प्रयोग हुआ है। जिसकी सेवाएं आकार में लघु
किन्तु प्रकार में सुन्दर हैं उसके लिए 'वामन' शब्द
का प्रयोग हुआ है। भवन के निर्माण में जिस
प्रकार नींव में डाले गए रोड़ों का कम महत्त्व नहीं
है उसी प्रकार देश और राष्ट्र की बुनियाद में ह्रस्व
और वामन का महत्त्व कम नहीं है। अतः दोनों ही
समानरूपेण आदरणीय हैं।
२) (नमः बृहते च वर्षीयसे च) नमस्कार पदवृद्ध के
लिए और आयुवृद्ध के लिए।
जो पद में बड़े हैं उनके आदेश का पालन, और
जो आयु में बड़े हैं उनका सत्कार सैनिक और
असैनिक, उभय क्षेत्रों में अनुशासन का अनिवार्य
अंग है। देश की रक्षा और राष्ट्र की सुव्यवस्था के
लिए यह परमावश्यक है। 'नमः' शब्द से यहां इसी
आशय का प्रकाशन होरहा है।
३) (नमः वृद्धाय च स-वृधे च) नमस्कार वृद्ध के
लिए और स-वृध के लिए।
वृद्ध होजाने के कारण जो कठोर कर्म और
पराक्रम नहीं कर सकते उनके अनुभव का सनमन
लाभ उठाना चाहिए। जो स-वृध हैं, बराबरवालों
में बल-पराक्रम से बड़े [बढ़कर] हैं उनका समादर
किया जाए।
४) (नमः अग्रचाय च प्रथमाय च) नमस्कार
अग्रच के लिए और प्रथम के लिए।
युद्ध, रक्षा, समृद्धि, राष्ट्रनिर्माण, आदि कार्यों
में जो आगे बढ़कर कर्मसाधना करते हैं उनकी
संज्ञा अग्र्य है। जो प्रत्येक क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठता के
साथ काम करते हैं उनकी संज्ञा प्रथम है।
दोनों ही कोटि के नागरिक सर्वथा नमस्करणीय
हैं।

नमस्कार ह्रस्व के लिए
और वामन के लिए।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नमस्कार बड़े के लिए
और वयोवृद्ध के लिए।
नमस्कार वृद्ध के लिए
और सवृध् के लिए।
नमस्कार अग्रच के लिए
और प्रथम के लिए।

८१५ **नम आशवे चाजिराय च नमः शीघ्रचाय च शीभ्याय च नम ऊर्म्याय चावस्क च नमो नादेयाय च द्वीप्याय च।** य १६.३१

नमः आशवे च अजिराय च नमः शीघ्रचाय च शीभ्याय च नमः ऊर्म्याय च अव-स्वन्या नमः नादेयाय च द्वीप्याय च।

१) (नमः आशवे च अजिराय च) नमस्कार शीघ्र-गामी के लिए और सततगामी के लिए।

सेना का जो उड़न-दस्ता आपत्ति में सहायतार्थ सदा इधर-उधर, सर्वत्र गश्त लगाता रहता है उस आशुगामी दस्ते की सेवाएं नमस्करणीय हैं। जो दस्ते छावनियों के अधिकारियों तथा सैनिकों को राहत पहुंचाने और अवकाश प्राप्त कराने के लिए छावनीवार निरन्तर घूमते रहते हैं उनकी सेवाएं भी नमस्करणीय हैं।

२) (नमः शीघ्रचाय च शीभ्याय च) नमस्कार शीघ्रच के लिए और शीघ्रकारी के लिए।

सेना के जो दस्ते आवश्यकतापूर्ति के लिए सदा सन्नद्ध रहते हैं उनकी संज्ञा शीघ्रच है। सेना के जो दस्ते सद्यः प्रयाण करते हैं उनकी संज्ञा शीभ्य है। दोनों ही की सेवाओं का सम्यक् आदर किया जाए।

३) (नमः ऊर्म्याय च अव-स्वन्याय च) नमस्कार तरंग्य के लिए और अव-ध्वनि के लिए।

आक्रमणों को पीछे धकेलने के लिए जो सेनाएं सागर की तरंगों की तरह उमड़-उमड़कर प्रयाण करती हैं उनकी संज्ञा ऊर्म्य है। आक्रमणों को विफल करने के लिए जो सेनाएं बिना किए, ध्वनिशून्य चाल के साथ सहसा आक्रकारियों पर टूट पड़ती हैं उनकी संज्ञा अव है। दोनों ही नमस्करणीय हैं।

४) (नमः नादेयाय च द्वीप्याय च) नमस्कार गत के लिए और टापूगत के लिए।

जो सेनाएं युद्धकाल में नदियों की रक्षा हैं और आक्रमणकारियों को नदियां पार आगे बढ़ने से रोकती हैं उनकी संज्ञा नादे जो सेनाएं टापुओं में स्थापित सैनिक छावनि स्थित रहकर मार करती हैं, उनकी संज्ञा है। दोनों ही का सम्यक् आदर किया चाहिए।

नमस्कार शीघ्रगामी के लिए
और सततगामी के लिए।
नमस्कार शीघ्रच के लिए
और शीघ्रकारी के लिए।
नमस्कार तरंग्य के लिए
और ध्वनिशून्य के लिए।
नमस्कार नदीगत के लिए
और टापूगत के लिए।

८१६ **नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय चापरजाय च नमो मध्य चापगल्भाय च नमो जघन्याय च बुध्न्याय च।** य १६.३२

नमः ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्व-जाय च अपर-जाय च नमः मध्यमाय च अप च नमः जघन्याय च बुध्न्याय च।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१) (नमः ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च) नमस्कार बड़े के लिए और छोटे के लिए।

देश की रक्षा और राष्ट्र की सेवा में बड़े-छोटे, सब समानरूपेण आदरणीय हैं।

२) (नमः पूर्व-जाय च अपर-जाय च) नमस्कार पूर्व-जन्मा के लिए और पश्चात्-जन्मा के लिए।

जो आयु में बड़ा है वह पूर्वजन्मा है। जो आयु में कम है वह पश्चात्-जन्मा है। देश की सुरक्षा और राष्ट्र की सेवा में दोनों ही तत्पर रहकर मान प्राप्त करते हैं।

३) (नमः मध्यमाय च अप-गल्भाय च) नमस्कार मध्यम के लिए और धृष्टतारहित के लिए।

सामाजिक जीवन में जो मध्यम कोटि के हैं और जो धृष्टतारहित अथवा कोमल हैं वे देश की रक्षा तथा राष्ट्र की सेवा में अपना अपना भाग अदा करके आदरणीय बनें।

४) (नमः जघन्याय च बुध्न्याय च) नमस्कार नीच के लिए और आन्तरिक्ष्य के लिए।

नीच से नीच व्यक्ति भी संकटविशेष में देश और राष्ट्र की अमूल्य सेवा करते हैं। अन्तरिक्ष के समान जो विशालाशय व्यक्ति हैं उनके द्वारा भी देश और राष्ट्र की सुरक्षा में योगदान होना योग्य है। निम्न और उच्च, दोनों इस दृष्टि से आदरणीय हैं।

नमस्कार ज्येष्ठ के लिए
और कनिष्ठ के लिए।
नमस्कार पूर्वजात के लिए
और पश्चात्-जात के लिए।
नमस्कार मध्यम के लिए
और कोमल के लिए।
नमस्कार नीच के लिए
और विशालाशय के लिए।

८१७ **नमः सोभ्याय च प्रतिसर्याय च नमो याम्याय च क्षेम्याय च नमः श्लोक्याय चावसान्याय च नमः उर्वर्याय च खल्याय च।** य १६.३३

नमः स-उभ्याय च प्रति-सर्याय च नमः याम्याय च क्षेम्याय च नमः श्लोक्याय च अव-सान्याय च नमः उर्वर्याय च खल्याय च।

१) (नमः स-उभ्याय च प्रति-सर्याय च) नमस्कार स-उभ्य के लिए और प्रति-सर्य के लिए।

जो युद्ध का संचालन और शासन-व्यवस्था, दोनों पार्श्वों को संभालता है वह सोभ्य है। जो दोनों में से किसी एक दिशा में सेवा करता है उसकी संज्ञा प्रति-सर्य है। दोनों प्रकार के अधिकारियों तथा नागरिकों का सम्यक् आदर किया जाए।

२) (नमः याम्याय च क्षैम्याय च) नमस्कार याम्य के लिए और क्षैम्य के लिए।

जो कठोर यमन, नियन्त्रण, अनुशासन करने में कुशल हो वह याम्य अथवा अनुशासक कहलाता हैं। जो सुरक्षा के कार्यों में कुशल हो वह क्षेम्य है। युद्धकाल में दोनों की सेवाओं की अनिवार्य आवश्यकता होती है। दोनों के आदेशों का पूर्ण मान और पालन किया जाए।

३) (नमः श्लोक्याय च अव-सान्याय च) नमस्कार श्लोक्य के लिए और अव-सान्य के लिए।

सेना के ओजोवर्धन के लिए जो उत्तम श्लोकों अथवा कविताओं की ध्वनियां गुंजाते हैं उनकी संज्ञा श्लोक्य है। युद्धसंचालन से सम्बन्धित कार्यों को जो तत्परता के साथ समाप्त [पूर्ण] करते हैं उनकी संज्ञा अवसान्य है। दोनों का ही शिरोधार्यता के साथ मान किया जाए।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

४) (नमः उर्वर्याय च खल्याय च) नमस्कार उर्वर्य के लिए और खल्य के लिए।

उर्वरा [उपजाऊ] भूमियों की जो रक्षा करते हैं उनकी संज्ञा उर्वर्य है। खलिहानों में पड़े धान्यों की जो रक्षा करते हैं वे खल्य कहलाते हैं। युद्धकाल में अन्न की बहुत बर्बादी होती है। युद्ध के लम्बा पड़ जाने और फैल जाने पर बाहर से अन्न की प्राप्ति असम्भव होजाती है। ऐसी स्थिति में देश की उपजाऊ भूमियों को शत्रुओं के हाथों में न पड़ने देने और उन्हें उपजाऊ बनाए रखने की सावधानी आवश्यक होती है। खलिहानों में पड़ा अन्न न ख़राब होने पाए, न आक्रमणकारियों के हाथ लगने पाए, इस विषय में भी पूर्ण सावधानी वर्ती जानी चाहिए। उर्वर्य तथा खल्य, दोनों का कर्तव्य महत्त्वपूर्ण है। उनका समुचित होना योग्य है।

नमस्कार सोम्य के लिए
और प्रतिसर्य के लिए।
नमस्कार अनुशासक के लिए
और सुरक्षक के लिए।
नमस्कार श्लोक्य के लिए
और अवसान्य के लिए।
नमस्कार उर्वर्य के लिए
और खल्य के लिए।

८१८ **नमो वन्याय च कक्ष्याय च नमः श्रवाय च प्रतिश्रवाय च नम आशुषेणाय चाशुरथाय च नमः शूराय चावभेदिने च।** य १६.३४

नमः वन्याय च कक्ष्याय च नमः श्रवाय च प्रति-श्रवाय च नमः आशु-सेनाय च आशु-रथाय च नमः शूराय च अव-भेदिने च।

१) (नमः वन्याय च कक्ष्याय च) नमस्कार वन्य के लिए और कक्ष्य के लिए।

'वन्य' से तात्पर्य वनों में निवास करनेवाली प्रजा की रक्षा करनेवाले अधिकारी से है, और 'कक्ष्य' से तटों पर निवास करनेवाली प्रजा की रक्षा करनेवाले अधिकारी से। दोनों प्रकार के अधिकारी और उनकी सैनिक टुकड़ियां नमस्करणीय हैं।

२) (नमः श्रवाय च प्रति-श्रवाय च) नमस्कार सुननेवाले के लिए और सुनानेवाले के लिए।

'श्रव' और 'प्रतिश्रव' से तात्पर्य यहां सूचना-विभाग तथा प्रसारण-विभाग से है। सूचना-विभाग के अधिकारी तथा कर्मचारी युद्धसम्बन्धी जो सूचनाएं प्राप्त करके उक्त विभाग को देते हैं वह उन्हें जनता तथा सेना में प्रसारित करता है। दोनों ही देश और राष्ट्र के आदर के पात्र हैं।

३) (नमः आशु-सेनाय च आशु-रथाय च) नमस्कार आशु-सेन के लिए और आशु-रथ [रथी, सवार] के लिए।

सेना का वह अधिकारी जो युद्धारम्भ की सूचना पाते ही सद्यः कार्यवाही करता है आशु-सेन है। युद्धारम्भ होने पर जो महारथ आदि कार्यों से फ़ौरन मोर्चा लेता है वह आशु-रथ है। दोनों का सम्यक् आदर किया जाए।

२) (नमः शूराय च अव-भेदिने च) नमस्कार शूर के लिए और व्यूह-छेदक के लिए।

युद्ध में जो शौर्य प्रकट करते हैं और जो शत्रु के मोर्चों को छिन्न भिन्न करते हैं वे शूर नमस्करणीय हैं।

नमस्कार वन्य के लिए
और कक्ष्य के लिए।
नमस्कार श्रव के लिए
और प्रतिश्रव के लिए।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नमस्कार आशु-सेन के लिए
और आशु-रथ के लिए।

नमस्कार शूर के लिए
और व्यूह-भेदक के लिए।

८१९ **नमो बिल्मिने च कवचिने च नमो वर्मिणे च वरूथिने च नमः श्रुताय च श्रुतसेनाय च नमो दुन्दुभ्याय चाहनन्याय च।** य १६.३५

नमः बिल्मिने च कवचिने च नमः वर्मिणे च वरूथिने च नमः श्रुताय च श्रुत-सेनाय च नमः दुन्दुभ्याय च आ-हनन्याय च।

१) (नमः बिल्मिने च कवचिने च) नमस्कार लोह-टोप धारण करनेवाले के लिए और कवचधारी के लिए।

जो सेनाधिकारी शिर की रक्षाविशेष के लिए लोह-टोप धारण करते हैं और जो सम्पूर्ण शरीर की रक्षा के लिए शिर से पैरों तक का कवच पहनते हैं, सभी नमस्करणीय हैं।

२) (नमः वर्मिणे च वरूथिने च) नमस्कार वर्मधारी के लिए और वरूथधारी के लिए।

शिर से नाभि तक के ताम्रकवच का नाम वर्म है। युद्धयान पर जो लोहे का आवरण जड़ा जाता है उसका नाम वरूथ है। वर्मधारी और वरूथधारी, दोनों ही नमस्करणीय हैं।

३) (नमः श्रुताय च श्रुत-सेनाय च) नमस्कार सुननेवाले के लिए और श्रुत-सेन के लिए।

'श्रुत' का अर्थ है सुननेवाला। यहां 'श्रुत' शब्द का प्रयोग उस अधिकारी के लिए हुआ है जो सैनिकों द्वारा की गई शिकायतों का लेखन करता है। 'श्रुतसेन' शब्द का प्रयोग हुआ है उस अधिकारी के लिए जो सैनिकों की शिकायतों की पूर्ति करता है। दोनों ही नमस्करणीय हैं।

४) (नमः दुन्दुभ्याय च आ-हनन्याय च) नमस्कार दुन्दुभ्य के लिए और आहनन्य के लिए।

दुन्दुभि बजानेवाले का नाम दुन्दुभ्य है। जो मारू [फ़ौजी बेंड] बजाते हैं उस समूह की संज्ञा आहनन्य है। दोनों ही बजन्तरी अपने अपने युद्ध-वाद्य बजाकर सैनिकों में जोष फूंकते हैं, अतः नमस्करणीय हैं।

नमस्कार लोह-टोपधारी के लिए
और कवचधारी के लिए।
नमस्कार वर्मधारी के लिए
और वरूथधारी के लिए।
नमस्कार सुननेवाले के लिए
और पूर्ति करनेवाले के लिए।
नमस्कार दुन्दुभि बजानेवाले के लिए
और मारू बजानेवाले के लिए।

८२० **नमो धृष्णवे च प्रमृशाय च नमो निषङ्गिणे चेषुधिमते च नमस्तीक्ष्णेषवे चायुधिने च नमः स्वायुधाय च सुधन्वने च।** य १६.३६

नमः धृष्णवे च प्र-मृशाय च नमः नि-सङ्गिने च इषु-धि-मते च नमः तीक्ष्ण-इषवे च आ-युधिने च नमः सु-आ-युधाय च सु-धन्वने च।

१) (नमः धृष्णवे च प्र-मृशाय च) नमस्कार धृष्णु के लिए और प्र-मृश के लिए।

धृष्णु नाम धर्षणशील, निर्भय, दृढ़, प्रगल्भ पुरुष का है। प्र-मृश नाम है प्रकृष्ट विचारशील पुरुष का। युद्ध में जहां प्रगल्भ, साहसी वीरों की आवश्यकता होती है वहां गहन, गम्भीर, अनुभवी,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विचारशील सेननायकों तथा संग्रामनायकों की भी आवश्यकता होती है। दोनों को सनमन शिरोधार्य करना चाहिए।

२) (नमः नि-सङ्गिने च इषु-धि-मते च) नमस्कार बहुशस्त्रधारी के लिए और शस्त्रकोशधारी के लिए।

जो नाना प्रकार के अनेक शस्त्रास्त्रों का संचालन करना जानते हैं और करते हैं वे नमस्करणीय हैं। जो शस्त्रास्त्रों के कोशों का धारण और रक्षण करते हैं वे भी नमस्करणीय हैं।

३) (नमः तीक्ष्ण-इषवे च आ-युधिने च) नमस्कार तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों के संचालक के लिए और सामान्य अस्त्रों के संचालक के लिए।

जो तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों का संचालन करके युद्ध करते हैं और जो सामान्य हथियारों का संचालन करके युद्ध करते हैं, यथास्थान दोनों ही नमस्करणीय हैं।

४) (नमः सु-आ-युधाय च सु-धन्वने च) नमस्कार शोभन आयुधों का संचालन करके युद्ध करने के लिए और सुदृढ़ अस्त्रों से सज्ज होकर युद्ध करनेवाले के लिए।

उभय प्रकार के योद्धा समानरूपेण सत्कारणीय हैं।

नमस्कार प्रगल्भ के लिए
और सुविमर्शशील के लिए।
नमस्कार बहुशस्त्रधारी के लिए
और शस्त्रकोशधारी के लिए।
नमस्कार तीक्ष्णशस्त्रसंचालक के लिए
और सामान्यशस्त्रसंचालक के लिए।
नमस्कार सुशस्त्रसंचालक के लिए
और सु-अस्त्र-संचालक के लिए।

८२१ **नमः स्रुत्याय च पथ्याय च नमः काट्याय च नीप्याय च नमः कुल्याय च सरस्याय च नमो नादेयाय च वैशन्ताय च।** य १६.३७

नमः स्रुत्याय च पथ्याय च नमः काट्याय च नीप्याय च नमः कुल्याय च सरस्याय च नादेयाय च वैशन्ताय च।

१) (नमः स्रुत्याय च पथ्याय च) नमस्कार स्रुताधिकारी के लिए और पथाधिकारी के लिए।

'स्रुति' नाम छोटे जलस्रोत का और 'पथ' नाम राजमार्ग का है। जलस्रोतों तथा राजमार्गों की रक्षा करनेवाले अधिकारियों को क्रमशः स्रुत्य तथा पथ्य कहते हैं। युद्धकाल में जलों के स्रोतों को सुरक्षित तथा शुद्ध रखना और राजमार्गों को अखण्डित तथा निर्बाध रखना अत्यावश्यक होता है। अतः दोनों ही प्रकार के अधिकारी आदरणीय हैं।

२) (नमः काट्याय च नीप्याय च) नमस्कार पुलाधिकारी के लिए और जलमार्गाधिकारी के लिए।

काट नाम पुल का है। नीप कहते हैं विशाल जलमार्ग को। पुलों और जलमार्गों को युद्धकाल में सामरिक महत्त्व रखती है। निस्सन्देह दोनों प्रकार के अधिकारी समादर के पात्र हैं।

३) (नमः कुल्याय च सरस्याय च) नमस्कार नहररक्षाधिकारी के लिए और झीलरक्षाधिकारी के लिए।

नहरों तथा झीलों की रक्षा युद्धकाल में दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण होती है। दोनों के अधिकारियों का पूर्ण सम्मान किया जाना चाहिए।

४) (नमः नादेयाय च वैशन्ताय च) नमस्कार नदों की रक्षा करनेवाले अधिकारी के लिए और लघुजलमार्गों की रक्षा करनेवाले अधिकारी के लिए।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जिन क्षेत्रों में नदों [बड़े दरियाओं] तथा लघु-जलमार्गों द्वारा सेना तथा सामान का आवागमन होता है वहां उनकी रक्षा करनेवाले अधिकारियों का यथावत् मान किया जाना चाहिए।

नमस्कार नृत्य के लिए
और पथ्य के लिए।

नमस्कार पुलाधिकारी के लिए
और गुरुजलमार्गाधिकारी के लिए।
नमस्कार नहराधिकारी के लिए
और झीलमार्गाधिकारी के लिए।
नमस्कार नदाधिकारी के लिए
और लघुजलमार्गाधिकारी के लिए।

८२२ **नमः कूप्याय चावट्याय च नमो वीध्रचाय चातप्याय च नमो मेघ्याय च विद्युत्याय च नमो वर्ष्याय चावर्ष्याय च।** य १६.३८

नमः कूप्याय च अवट्याय च नमः वि-ईध्रचाय च आ-तप्याय च नम मेघ्याय च वि-द्युत्याय च नमः वर्ष्याय च अ-वर्ष्याय च।

१) (नमः कूप्याय च अवट्याय च) नमस्कार कूपाधिकारी के लिए और गर्ताधिकारी के लिए।

कूप नाम कुएं का है। पेय जलों को निर्मल बनाए रखने के लिएं कुओं की सुरक्षा युद्धकाल में आवश्यक होती है। अवट नाम गर्तों, खाइयों और तलघरों का है जो शत्रुओं द्वारा आकाश से फेंके गए बमों की मार से बचने के लिए युद्धकाल में बनाए जाते हैं। भूमि में खोदे गए गर्तों तथा खाइयों का निर्माण सेना की रक्षा के लिए होता है और तलघरों का ग्रामों और नगरों में निवास करनेवाली प्रजा के बचाव के लिए। कूपाधिकारी तथा अवटाधिकारी, दोनों के ही कर्तव्य महत्त्वपूर्ण हैं। उनकी कर्तव्यनिष्ठा के प्रति सभी को नत-मस्तक होना चाहिए।

२) (नमः वि-ईध्रचाय च आ-तप्याय च) नमस्कार वि-दीप्य के लिए और आ-तप्य के लिए।

वि-ईध्रच नाम उस अधिकारी का है जो विविध स्थानों पर प्रकाश की व्यवस्था करता है। आ-तप्य नाम उस अधिकारी का है जो आतप [धूप] में काम करनेवालों के लिए शीतल छाया तथा शीतल वातावरण की व्यवस्था करता है। युद्धकाल में शस्त्रास्त्र तथा वर्दी, आदि बनाने के कार्य रात-दिन किए जाते हैं। अनेक कार्य ऐसे होते हैं जो मैदानों में किए जाते हैं। वीध्रच रात्रि में चलनेवाले कारखानों में रोशनी की ऐसी व्यवस्था करता है कि अन्दर पूरी रोशनी रहे और बाहर लेशमात्र रोशनी न चमकने पाए। आतप्य दिन के समय मैदानों में काम करनेवालों के लिए छाया तथा शीतल वातावरण की व्यवस्था करता है ताकि कामगारों को कष्ट न हो। दोनों ही अधिकारियों की सेवाएं आदरणीय हैं।

३) (नमः मेघ्याय च वि-द्युत्याय च) नमस्कार मेघाधिकारी के लिए और विद्युदधिकारी के लिए।

युद्ध के दिनों में अतिवृष्टि होजाने पर नदियों और सड़कों के मार्गों में बाधाएं उपस्थित होजाती हैं। उन बाधाओं को सद्यः हटाना और मार्गों को निर्बाध रखना मेघाधिकारी का कर्तव्य है। उसका यह भी कर्तव्य है कि वृष्टि से छावनियों तथा शस्त्रास्त्रों को सील [नमी] से बचाना। वृष्टि के दिनों में बिजुली के तार और खम्भे, आदि गिर जाते हैं, आयुधादि बनाने के कारखानों का काम ठप हो जाता है। विद्युदधिकारी सद्यः उनकी मरम्मत कराके बिजुली की व्यवस्था को निर्बाध रखता है। प्रत्यक्षतः, उभयाधिकारी नमस्करणीय हैं।

४) (नमः वर्ष्याय च अ-वर्ष्याय च) नमस्कार

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वर्षाधिकारी के लिए और अवर्षाधिकारी के लिए।

वर्षाधिकारी का काम है वर्षा ऋतु में वर्षा के जलों को बांधों [डेमों] तथा जलागारों में एकत्र कराना और उन्हें सुरक्षित रखना। अवर्षाधिकारी का काम है अवर्षा-ऋतुओं में बांधों तथा जलागारों के जल से नहरों तथा बम्बों द्वारा खेतों की सिंचाई कराना ताकि अन्नोत्पादन में कमी न होने पाए। उभयाधिकारियों की सेवाएं नमस्करणीय हैं।

नमस्कार कूपाधिकारी के लिए और गर्ताधिकारी के लिए। नमस्कार प्रकाशाधिकारी के लिए और धूपाधिकारी के लिए। नमस्कार मेघाधिकारी के लिए और विद्युदधिकारी के लिए। नमस्कार वर्षाधिकारी के लिए और अवर्षाधिकारी के लिए।

८२३ **नमो वात्याय च रेष्म्याय च नमो वास्तव्याय च वास्तुपाय च नमः सोमाय रुद्राय च नमस्ताम्राय चारुणाय च।** य १६.३९

नमः वात्याय च रेष्म्याय च नमः वास्तव्याय च वास्तु-पाय च नमः सोमाय च रुद्राय च नमः ताम्राय च अरुणाय च।

१) (नमः वात्याय च रेष्म्याय च) नमस्कार वाताधिकारी के लिए और तूफ़ानाधिकारी के लिए।

वातविज्ञान का ज्ञाता वाताधिकारी वात का निरीक्षण करके बताता है कि वात की स्थिति किस दिन कैसी रहेगी, कब रेष्म [हवाई वा समुद्री तूफ़ान] आनेवाला है। वाताधिकारी से आनेवाले रेष्म [अन्धड़] की सूचना पाकर रेष्माधिकारी [तूफ़ानाधिकारी] सेना तथा जनता की सुरक्षा के साधनोपाय करता है। रेष्म युद्धकार्यों में बाधक होता है। अतः रेष्माधिकारी वाताधिकारी के सम्पर्क में रहता हुआ सदा सतर्क और तत्पर रहता है, और सद्यः विनाश से बचाने के साधनोपाय करता है। इस प्रकार, दोनों ही नमस्करणीय हैं।

२) (नमः वास्तव्याय च वास्तु-पाय च) नमस्कार वास्तव्याधिकारी के लिए और वास्तु-रक्षक के लिए।

वास्तव्य नाम वास, निवास करने योग्य स्थान अथवा बस्ती का है। 'वास्तु' का अर्थ है निवास-योग्य गृह। युद्धकाल में कभी कभी ग्राम के ग्राम, और नगर के नगर ध्वस्त हो जाते हैं। उस अवस्था में वास्तव्याधिकारी ध्वस्त ग्रामों, नगरों की प्रजा को अन्य स्थानों पर बसाने के लिए भूमियां [illegible] करता है, नई बस्तियां बसाता है, और वास्तुपाधिकारी पुरानी और नई बस्तियों में गृहों [illegible] जान, माल की रक्षा करता है। उभयाधिकारी नमस्करणीय हैं।

३) (नमः सोमाय च रुद्राय च) नमस्कार सोम के लिए और चिकित्सक के लिए।

'सोम' शब्द का प्रयोग यहां सोम्यता के [illegible] घायलों की परिचर्या करनेवालों [नर्स, कम्पाउण्डर आदि] के लिए हुआ है। 'रुत्' नाम रोग का है। रोगों को जो दीर्ण [नष्ट] करता है उस चिकित्सक वर्ग के लिए यहां 'रुद्र' शब्द का प्रयोग हुआ है। सोम और रुद्र, दोनों की ही सेवाएं सराहनीय और आदरणीय हैं।

४) (नमः ताम्राय च अरुणाय च) नमस्कार [illegible] के लिए और अरुण के लिए।

तांबे के बने शस्त्रास्त्रों का जो संचालन करते हैं उनके लिए 'ताम्र' शब्द का प्रयोग हुआ है। ताम्रास्त्र लोहे वा फ़ोलाद के बने आयुधों से [illegible]

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हुट और मारक होते हैं। 'अरुण' शब्द का प्रयोग
ग्रा है अरुणवर्ण, आग्नेय शस्त्रों के संचालन
रनेवालों के लिए। दोनों ही प्रकार के शस्त्र तम-
साते और जगमगाते हुए सैकड़ों, हज़ारों मील तक
ार करते हैं। प्रत्यक्षतः, उनके संचालकों की
वाएं नमस्करणीय हैं।

नमस्कार वाताधिकारी के लिए
और तूफ़ानाधिकारी के लिए।
नमस्कार ग्रामाधिकारी के लिए
और सम्पदाधिकारी के लिए।
नमस्कार सोम के लिए
और चिकित्सक के लिए।
नमस्कार ताम्र के लिए
और अरुण के लिए।

८२४. **नमः शङ्गवे च पशुपतये च नमः उग्राय च भीमाय च नमो ऽग्रेवधाय च दूरेवधाय च नमो हन्त्रे च हनीयसे च नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यो नमस्ताराय।** य १६.४०

नमः शम्-गवे च पशु-पतये च नमः उग्राय च भीमाय च नमः अग्रे-वधाय च दूरे-वधाय च नमः हन्त्रे च हनीयसे च नमः वृक्षेभ्यः हरि-केशेभ्यः नमः ताराय।

) (नमः शम्-गवे च पशु-पतये च) नमस्कार शम्
ख करानेवाले के लिए और पशु-पति के लिए।
'शम्' शब्द का प्रयोग यहां सुविधा तथा
न्तोष अर्थों में हुआ है। शमधिकारी का कर्तव्य
ता है कि वह सेना के सभी वीरों को उचित
ख-सुविधाएं प्राप्त कराकर उन्हें सन्तुष्ट रखे।
ना में व्यापा असन्तोष पराजय का कारण
ता है।

पशु-पति नाम के अधिकारी का कार्य होता
घोड़े, खच्चर, बैल, सांड, ऊंट, आदि सैनिक
ुओं को स्वस्थ और सक्षम रखना।

उभय अधिकारियों की सेवाएं प्रशंसनीय तथा
मस्करणीय हैं।

) (नमः उग्राय च भीमाय च) नमस्कार उग्र के
ए और भीम के लिए।

जो वीर उग्रता के साथ आक्रमणकारियों पर
हार करते हैं उनकी संज्ञा उग्र है। जो वीर
ंकरता के साथ प्रत्याक्रमण करते हैं उनकी
ा भीम है। दोनों ही प्रकार के वीर शिरोधार्य
।

(नमः अग्रे-वधाय च दूरे-वधाय च) नमस्कार
ग्रे-वध के लिए और दूरे-वध के लिए।

'अग्रे-वध' में दो भाव अन्तर्निहित हैं। एक है वध अथवा आक्रमण करने में पहल करनेवाला। दूसरा है आक्रमणकारियों से वक्ष-सवक्ष [सीना-बसीना] आगे होकर लडनेवाला। कोई अपने देश पर आक्रमण करने की तयारी कर रहा है, यह सूचना मिलते ही पूरी तयारी के साथ सहसा अपनी ओर से उस पर आक्रमण कर देने से आक्रमणकारी निरुपाय और साहसहीन होजाता है। यदि पूर्व-सूचना न मिलने पर शत्रु अपने देश पर सहसा आक्रमण करदे तो फिर आक्रमण-कारियों को पीछे धकेलने के लिए आमने-सामने युद्ध करना होता है। अग्रे-वध सेना का यही कार्य होता है। प्रत्यक्षतः, वह नमस्करणीय है।

'दूरे-वध' में भी दो भाव अन्तर्निहित हैं। एक है आक्रमणकारियों के पीछे हटने पर स्वयं उनके अपने देश में पीछा करते हुए दूर तक घुसे चले जाना। दूसरा है अपने ही देश व मोर्चे से शत्रु के देश में दूर दूर तक दूर-मार शस्त्रों द्वारा प्रहार करना। दूरे-वध सेना का यही कार्य होता है। यह कार्य भी नमस्करणीय है।

४) (नमः हन्त्रे च हनीयसे च) नमस्कार हन्ता के लिए और अतिहन्ता के लिए।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आक्रमणकारियों को जहां भी देखें वहीं हनन करनेवाले और अतिशयता के साथ हनन करनेवाले असैनिक नागरिक-नागरिका भी नमस्करणीय हैं।

५) (नमः हरि-केशेभ्यः वृक्षेभ्यः) नमस्कार हरि डालियों वाले वृक्षों के लिए।

युद्ध करते हुए वीर जन हरे वृक्षों की छाया में विश्राम करके स्वस्थ होते हैं। ऐसे वृक्ष जहां सुरक्षणीय हैं वहां उनके उगाने और रक्षा करनेवाले नमस्करणीय हैं।

६) (नमः ताराय) नमस्कार तारनेवाले के लिए।

आत्मरक्षा तथा न्यायरक्षा के लिए जो वीर युद्ध करते हैं, परमात्मा उनका तारनेवाला और कष्ट निवारण करनेवाला है। धर्म्य और न्याय्य युद्ध करनेवाले सदा उस नियन्ता को नमस्कार करते रहें।

नमस्कार शम्-प्रापक के लिए
और पशुपति के लिए।
नमस्कार उग्र के लिए
और भीम के लिए।
नमस्कार अग्रे-वध के लिए
और दूरे-वध के लिए।
नमस्कार हन्ता के लिए
और अति-हन्ता के लिए।
नमस्कार हरिकेश वृक्षों के लिए,
नमस्कार तारनेवाले के लिए।

८२५ **नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवतराय च शिवतराय च।** य १६.४१

नमः शम्-भवाय च मयः-भवाय च नमः शम्-कराय च मयः-कराय च नमः शिवाय शिव-तराय च।

१) (नमः शम्-भवाय च मयः-भवाय च) नमस्कार शान्ति-मय के लिए और सुख-मय के लिए।

२) (नमः शम्-कराय च मयः-कराय च) नमस्कार शान्ति-कर के लिए और सुख-कर के लिए।

३) (नमः शिवाय च शिव-तराय च) नमस्कार कल्याणकारी के लिए और अधिकाधिक कल्याणकारी के लिए।

वीरों को चाहिए कि न्याय्य तथा धर्म्य संग्रामों में प्रभु को नमस्कार करते हुए शान्ति, सुख तथा कल्याण की कामना करते रहें। परमात्मा शान्ति, सुख और कल्याण का दाता है। प्रभु की शरण में रहते हुए जो न्याय और धर्म की रक्षा के लिए युद्ध करने को कटिबद्ध रहते हैं परमात्मा रक्षा और सहायता करता है। युद्धकाल में प्रार्थना, उपासना करना प्रायः असम्भव है। अतः वीरों को इस मन्त्र से प्रभु को नमस्कार करते रहना चाहिए।

नमस्कार शम्भव के लिए
और मयोभव के लिए।
नमस्कार शंकर के लिए
और मयस्कर के लिए।
नमस्कार शिव के लिए
और शिवतर के लिए।

८२६ **नमः पार्याय चावार्याय च नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च नमस्तीर्थ्याय च कूल्याय च नमः शष्प्याय च फेन्याय च।** य १६.४२

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नमः पार्याय च अवार्याय च नमः प्र-तरणाय च उत्-तरणाय च नमः तीर्थ्याय च कूल्याय च नमः शष्प्याय च फेन्याय च ।

१) (नमः पार्याय च अवार्याय च) नमस्कार परले तट के अधिकारी के लिए और उरले तट के अधिकारी के लिए ।

जलमार्गों के दोनों तटों के रक्षकों की सेवाएं, प्रत्यक्षतः, नमस्करणीय हैं ।

२) (नमः प्र-तरणाय च उत्-तरणाय च) नमस्कार परले तट से उरले तट पर पहुंचानेवाले के लिए और उरले तट से परले तट पर पहुंचानेवाले के लिए ।

जलमार्गों द्वारा सेनाओं तथा सैनिक पदार्थों को इधर से उधर और उधर से इधर पहुंचानेवाले नाविकों तथा जलयानों की रक्षा करनेवालों की भी सेवाएं नमस्करणीय हैं ।

३) (नमः तीर्थ्याय च कूल्याय च) नमस्कार तीर्थाधिकारी के लिए और तटाधिकारी के लिए ।

मनोरम जलाशयों के तट पर जो आत्मसाधना के सुन्दर धाम बने होते हैं उनकी संज्ञा तीर्थ है । युद्ध के दिनों में उनकी रक्षा करनेवाले तीर्थाधिकारी तथा तटाधिकारी श्रद्धास्पद तथा नमस्करणीय होते हैं ।

४) (नमः शष्प्याय च फेन्याय च) नमस्कार शष्पाधिकारी के लिए और फेनाधिकारी के लिए ।

शष्प नाम नई घास तथा जौ, गेहूं, आदि की बाल और तृण का है । ये युद्धकाल में विशेष रक्षणीय होते हैं । बालों से अन्न, और घास तथा तृण पशुओं के चारे का काम देते हैं । जलप्रपातों से झगियाते हुए फेन बनते हैं । फेनीले प्रपातों की रक्षा इसलिए आवश्यक होती है कि उनके क्षतिग्रस्त होजाने पर नगर और ग्राम डूब जाते हैं ।

नमस्कार परले तटाधिकारी के लिए
और उरले तटाधिकारी के लिए ।
नमस्कार प्रतरण के लिए
और उत्तरण के लिए ।
नमस्कार तीर्थाधिकारी के लिए
और तटाधिकारी के लिए ।
नमस्कार शष्पाधिकारी के लिए
और फेनाधिकारी के लिए ।

८२७ **नमः सिकत्याय च प्रवाह्याय च नमः किंशिलाय च क्षयणाय च नमः कर्पर्दिने च पुलस्तये च नमः इरिण्याय च प्रपथ्याय च ।** य १६.४३

नमः सिकत्याय च प्र-वाह्याय च नमः किम्-शिलाय च क्षयणाय च नमः कर्पर्दिने च पुलस्तये च नमः इरिण्याय च प्र-पथ्याय च ।

१) (नमः सिकत्याय च प्र-वाह्याय च) नमस्कार बालू-अधिकारी के लिए और प्रवाहाधिकारी के लिए ।

सिकता नाम बालू रेत और मरुभूमि [रेगिस्तान] का है । मरुभूमि में युद्ध करने वा रेगिस्तान में होकर सेना तथा रसद ले जाने के लिए विशेष प्रशिक्षण, व्यवस्था और अभ्यास की आवश्यकता होती है । इस कार्य का सम्पादन करनेवाला अधिकारी, वास्तव में, नमस्करणीय है ।

मरुभूमि में और उसमें होकर सेना तथा रसद के प्रवाह को जारी रखना अतिशय कौशल की अपेक्षा रखता है । इस कार्य के अधिकारी की सेवाएं भी कम नमस्करणीय नहीं हैं ।

२) (नमः किम्-शिलाय च क्षयणाय च) नमस्कार किंशिल के लिए और क्षयण के लिए ।

'किं-शिल' का अर्थ है शिलाओं को तोड़नेवाला ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

क्षयण नाम जलपूरित गड्ढों का है। किंशिलाधिकारी तथा क्षयणाधिकारी के कार्य एक दूसरे के पूरक हैं। गमनागमन के मार्गों में पक्की सड़कों का महत्त्व प्रत्यक्ष है। पूर्वाधिकारी शिलाओं को तोड़कर बजरी, चूना, सिमेण्ट, आदि का उत्पादन कराता है, और पिछला अधिकारी खड्डों तथा गड्ढों को पूरकर पक्की सड़कों का निर्माण करता है। दोनों ही की सेवाएं राष्ट्र के लिए नमस्करणीय हैं।

३) (नमः कपर्दिने च पुलस्तये च) नमस्कार कपर्दाधिकारी के लिए और भारयन्त्राधिकारी के लिए।

कपर्दाधिकारी का कर्तव्य कपर्द [कौड़ी] का, सैन्यावश्यकता की छोटी से छोटी वस्तु का सम्पादन और संग्रह करना है। भारयन्त्राधिकारी का कार्य है अतिशय भारी वस्तुओं को उठानेवाले क्रेन, आदि यन्त्रों का निर्माण करना। दोनों की सेवाएं, निस्सन्देह, नमस्करणीय हैं।

४) (नमः इरिण्याय च प्र-पथ्याय च) नमस्कार ऊसर भूमि के अधिकारी के लिए और [illegible] अधिकारी के लिए।

सैनिक कारखानों और कार्यों के लिए [illegible] भूमियों का उपयोग न करके ऊसर भूमि [illegible] उपयोग करना, और अन्नवृद्धि के लिए ऊसर [illegible] को उपजाऊ भूमियों में परिणत करना पूर्वाधि[illegible] का काम है। अवर अधिकारी का [illegible] निर्बाध गमनागमन के लिए सब प्रकार के [illegible] को प्रशस्त और निर्बाध रखना।

नमस्कार मरु अधिकारी के लिए
और प्रवाहाधिकारी के लिए।
नमस्कार किंशिल के लिए
और क्षयणाधिकारी के लिए।
नमस्कार कपर्दाधिकारी के लिए
और भारयन्त्राधिकारी के लिए।
नमस्कार ऊसराधिकारी के लिए
और प्रपथाधिकारी के लिए।

८२८ **नमो व्रज्याय च गोष्ठ्याय च नमस्तल्प्याय च गेह्याय च नमो हृदय्याय निवेष्प्याय च नमः काट्याय च गह्वरेष्ठाय च।** य १६.४४

नमः व्रज्याय च गो-स्थ्याय च नमः तल्प्याय च गेह्याय च नमः हृदय्याय च नि-वेष्प्याय च नमः काट्याय च गह्वरे-स्थाय च।

१) (नमः व्रज्याय च गो-स्थ्याय च) नमस्कार व्रजाधिकारी के लिए और गोष्ठाधिकारी के लिए।

गौओं के रेवड़ों को चराने की व्यवस्था करनेवाले सैनिक अधिकारी के लिए 'व्रज्य' शब्द का प्रयोग हुआ है, और सैनिक गोशालाओं में गौओं के दूध के दोहन और वितरण की व्यवस्था करनेवाले के लिए 'गोष्ठ्य' का। गौ का दुग्ध अमृतमय होता है। सैनिकों के लिए गोदुग्ध की व्यवस्था करनेवाले दोनों अधिकारी नमस्करणीय हैं।

२) (नमः तल्प्याय च गेह्याय च) नमस्कार तल्प्य के लिए और गेह्य के लिए।

तल्प नाम खाट, तख्त, पलंग, चारपाई का है। गेह नाम है गृह अथवा निवासस्थान का। [illegible] के शयन के लिए तख्तों तथा बिस्तरों की [illegible] करनेवाला अधिकारी, और उनके निवास[illegible] व्यवस्था तथा सुरक्षा करनेवाला अधिकारी, [illegible] की ही सेवाएं नमस्करणीय हैं।

३) (नमः हृदय्याय च निवेष्प्याय च) नमस्कार हृदय्य के लिए और नि-वेष्प्य के लिए।

सैनिकों के हार्दिक प्राह्लाद, मनोरञ्जन, बहलाव [recreation] के लिए खेल, कूद, [illegible] आदि की व्यवस्था करनेवाले अधिकारी के लिए 'हृदय्य' शब्द का प्रयोग हुआ है, और उन्हें [illegible] कार्यरत रखनेवाले अधिकारी के लिए [illegible]

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शब्द का। मनोरंजन और सतत व्यस्तता सैनिकों के स्वास्थ्य और सदाचार के लिए परम आवश्यक है। दोनों ही अधिकारियों की सेवाएं समादरणीय हैं।

२) (नमः काटचाय च गह्वरेष्ठाय च) नमस्कार काटच के लिए और गह्वरेष्ठ के लिए।

'कट' शब्द के अनेक अर्थों में से एक अर्थ रोगियों और घायलों को चिकित्सालय तथा मृतों को अन्यत्र लेजानेवाले वाहन का है। 'गह्वर' का अर्थ है अप्रवेश्य जंगल, गुहा और छिपने का स्थान।

काटाधिकारी का कार्य है रोगी और घायल सैनिकों को अविलम्ब सैनिक वा असैनिक, किसी भी चिकित्सालय में चिकित्सार्थ पहुंचाना। गह्वरेष्ठाधिकारी का कर्तव्य है संकट के समय गह्वरों में छिपनेवाले अपने सैनिकों की सुरक्षा तथा सुविधा की व्यवस्था करना। दोनों ही की सेवाएं नमस्करणीय हैं।

नमस्कार व्रज्य के लिए
और गोष्ठ्य के लिए।
नमस्कार तल्प्य के लिए
और गेह्य के लिए।
नमस्कार हृदय्य के लिए
और निवेष्प्य के लिए।
नमस्कार काट्य के लिए
और गह्वरेष्ठ के लिए।

८२९ **नमः शुष्क्याय च हरित्याय च नमः पांसव्याय च रजस्याय च नमो लोप्याय चोलप्याय च नम ऊर्व्याय च सूर्व्याय च।** य १६.४५

नमः शुष्क्याय च हरित्याय च नमः पांसव्याय च रजस्याय च नमः लोप्याय च उलप्याय च नमः ऊर्व्याय च सु-ऊर्व्याय च।

१) (नमः शुष्क्याय च हरित्याय च) नमस्कार शुष्काधिकारी के लिए और हरिताधिकारी के लिए।

शुष्काधिकारी का काम है सेना के लिए आटा, दाल, गुड़, शकर, मेवा, आदि खुष्क पदार्थों की प्राप्ति कराना, और हरिताधिकारी का कार्य है शाक, सब्जी, आदि हरे पदार्थों की प्राप्ति कराना। दोनों की सेवाएं नमस्करणीय हैं।

२) (नमः पांसव्याय च रजस्याय च) नमस्कार खादाधिकारी के लिए और खेताधिकारी के लिए।

पांसु नाम रेत का और गोबर की खाद का है। रजस् नाम है धूल, पुष्प, ऋतु और जुते हुए खेत का। यहां 'पांसु' शब्द का प्रयोग गोबर के खाद, और 'रजस्' का जुते हुए खेत के लिए हुआ है। सामान्यावस्था में भी और युद्धकाल में भी कृषि के विकास का विशेष महत्त्व है। खाद और खेत का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। जुताई के साथ प्रचुर खाद की उपलब्धि से अन्नोत्पादन में विपुल वृद्धि होती है। अतः कृषि में खादोत्पादकों का तथा खेत जोतने और बोनेवालों का यथोचित आदर किया जाना चाहिए।

३) (नमः लोप्याय च उलप्याय च) नमस्कार लोपाधिकारी के लिए और तृणाधिकारी के लिए।

शत्रुओं के वस्तुभण्डारों और शस्त्रास्त्रों को नष्ट करनेवाले अधिकारी वर्ग का नाम लोप्य, और तृण, घास, फूंस जलाकर शत्रुओं के पड़ावों को जलानेवाले अधिकारी वर्ग का नाम उलप्य है। दोनों ही वर्गों की ये सामरिक सेवाएं आदरणीय हैं।

४) (नमः ऊर्व्याय च सु-ऊर्व्याय च) नमस्कार ऊर्व्य के लिए और सु-ऊर्व्य के लिए।

ऊर्व्य शब्द का प्रयोग यहां ऊर्वरा [विशाल उपजाऊ भूमियों] के लिए हुआ है, और 'सु-ऊर्व्य'

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

का अधिकाधिक विशाल उपजाऊ भूमियों के लिए। ऐसी भूमियों के स्वामी अमित अन्नोत्पादन करके युद्धकाल में जनता तथा सेना के लिए अन्नभण्डारों को भर-पूर भरते हैं। अतः वे नमस्करणीय हैं।

नमस्कार शुष्क्य के लिए
और हरित्य के लिए।
नमस्कार पांसव्य के लिए
और रजस्य के लिए।
नमस्कार लोप्य के लिए
और उलप्य के लिए।
नमस्कार ऊर्व्य के लिए।
और सु-ऊर्व्य के लिए।

८३० नमः पर्णाय च पर्णशदाय च नम उद्गुरमाणाय चाभिघ्नते च नम आखिदते च प्रखिदते च नम इषुकृद्भ्यो धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमो नमो वः किरिकेभ्यो देवानां हृदयेभ्यो नमो विचिन्वत्केभ्यो नमो विक्षिणत्केभ्यो नम आनिर्हतेभ्यः।

य १६

नमः पर्णाय च पर्ण-शदाय च नमः उत्-गुरमाणाय च अभि-घ्नते च नमः आ-खिदते प्र-खिदते च नमः इषु-कृत्-भ्यः धनुः-कृत्-भ्यः च वः नमः नमः वः किरिकेभ्यः देवानां हृदयेभ्यः नमः वि-चिन्वत्केभ्यः नमः वि-क्षिणत्केभ्यः नमः आ-निः-हतेभ्यः।

१) (नमः पर्णाय च पर्ण-शदाय च) नमस्कार पर्ण के लिए और पर्ण-शद के लिए।

'पर्ण' का अर्थ है पत्ता। 'पर्ण-शद' का अर्थ है पत्तों को काटनेवाला। पेड़ों से झड़कर पेड़ों के नीचे गिरे पत्तों को जो उठाकर लेजाते हैं उनके लिए 'पर्ण' शब्द का प्रयोग हुआ है। जो घने पत्ते वृक्षों की बढ़वार में बाधक होते हैं उनकी काट-छांट करनेवालों के लिए 'पर्णशद' शब्द प्रयुक्त है। इस प्रकार वृक्षों के फलों की वृद्धि और उनकी छाया का विस्तार होता है। दोनों ही कार्य श्रेयस्कर और आदरणीय हैं।

२) (नमः उत्-गुरमाणाय च अभि-घ्नते च) नमस्कार उत-भारवाहक के लिए और अभि-हन्ता के लिए।

युद्धसामग्री के ढोनेवालों और सब ओर मार करते हुए युद्ध करनेवालों की सेवाएं सराहनीय और नमस्करणीय हैं।

३) (नमः आ-खिदते च प्र-खिदते च) नमस्कार आ-दीन के लिए और प्र-दीन के लिए।

शत्रुओं के जो सैनिक पूर्ण दीनता दीनता के साथ हथियार डालें और आत्म करें, युद्धसमाप्ति पर छोड़े जाने तक उन्हें बनाकर तो रखें, किन्तु उनका अपमान सम्मान करें।

४) (नमः इषु-कृत-भ्यः च धनुः-कृत-भ्यः) न इषुकारों के लिए और धनुष्कारों के लिए।

'इषु' से तात्पर्य बहुत दूर से बहुत दूर जानेवाले अस्त्रों से है। 'धनुः' से तात्प साधनों से है जिनके द्वारा प्रक्षेपणास्त्र छो हैं। दोनों प्रकार के शस्त्रनिर्माता नमस्कर

५) (वः नमः) तुम्हारे लिए नमस्कार, पूर्व सब नमनीयों के लिए नमन।

६) (नमः वः) नमस्कार तुम्हारे लिए, (किरि किरिकों के लिए, (देवानाम् हृदयेभ्यः) हृ हृदयों के लिए।

किरिक शब्द में कृ धातु का संस्कार है। इस शब्द का प्रयोग कर्मकुशलता, नीतिमत्ता युद्धकौशल से युक्त युद्धविशारदों [strate

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अर्थ में हुआ है। 'देव' शब्द का प्रयोग हुआ है विजयसम्पादकों के अर्थ में, और 'हृदय' का साहस अर्थ में। निस्सन्देह, किरकों के लिए और विजय-सम्पादकों के साहस के लिए राष्ट्रजन कृतज्ञतापूर्ण हृदय से नतमस्तक हों।

७) (नमः वि-चिन्वत्केभ्यः) नमस्कार विविध-विशेष चयन-संचय-आविष्कार-खोज करनेवालों के लिए।

देश की रक्षा और राष्ट्र के उत्थान के लिए जो युद्ध किए जाते हैं वे धर्मयुद्ध हैं। ऐसे युद्धों के लिए सन्नद्धता के साथ विविध युक्तियों और विधियों का चयन आयुधों और सामरिक विशेष सज्जाओं का संचय, विशेष व्यूहों का आविष्करण, और धातुओं तथा तत्त्वों की खोज की जाती है। इन सब कार्यों के करनेवाले, निस्सन्देह, नमस्करणीय हैं।

८) (नमः वि-क्षिणत्केभ्यः) नमस्कार क्षीणकर्ताओं के लिए।

शत्रुओं को हैरान और परेशान करके उनकी शक्तियों और साधनों को क्षीण करनेवाले वीर सैनिक नमस्कार और सत्कार के पात्र हैं।

९) (नमः आ-निः-हतेभ्यः) नमस्कार पूर्ण निर्हतों [पराजितों] के लिए।

शत्रुपक्ष के जो सेनापति और अधिकारी पराजित किए जाकर बन्दी बनाए जाएं उनके साथ भद्रता का व्यवहार किया जाए। ऐसा करने से वे भविष्य के लिए मित्र बन सकते हैं।

नमस्कार पर्ण के लिए,
और पर्ण-शद के लिए।
नमस्कार उद्भार-वाहकों के लिए
और अभिहन्ता के लिए।
नमस्कार आर्दान के लिए
और प्रदीन के लिए।
नमस्कार इषुकारों के लिए
और धनुष्कारों के लिए।
तुम्हारे लिए नमस्कार।
नमस्कार तुम्हारे लिए,
किरकों के लिए,
विजेताओं के साहसों के लिए।
नमस्कार विचयन, खोज
करनेवालों के लिए।
नमस्कार क्षीणकर्ताओं के लिए।
नमस्कार पूर्ण पराजितों के लिए।

८३१ द्रापे अन्धसस्पते दरिद्र नीललोहित।
आसां प्रजानामेषां पशूनां मा भेर्मा रोङ् मो च नः किंचनाममत्। य १६.४७
द्रा-पे अन्धसः पते दरिद्र नील-लोहित।
आसाम् प्र-जानाम् एषाम् पशूनाम् मा भेः मा रोक् मो च नः किम् चन आममत्।

सेनापति से लेकर सिपाही तक, देश की रक्षा और राष्ट्र की उन्नति में जिस किसी का भी भाग है वह नमस्करणीय है, यह बताने के बाद देश और राष्ट्र की शक्ति के केन्द्र सेनापति के प्रति सेना कहती है—

१) (द्रा-पे) दुर्गति से रक्षा करनेवाले! (अन्धसः पते) सोम की रक्षा करनेवाले! (दरिद्र) त्यागिन्! निर्विलास! (नील-लोहित)!

कुशल सेनापति देश और राष्ट्र को दुर्गति से बचाता है। वह देश-राष्ट्ररूप सोम की रक्षा करता है। वह राष्ट्र का शोषण करके धनवान् और विलासी नहीं बनता है, अपि तु त्यागी और निर्विलासी होता है। गर्दन में नीला पट्टा [कॉलर] और लाल वर्दी उसकी पोषाक में सम्मिलित हैं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

२) तू (आसाम् प्र-जानाम्) इन मानवप्रजाओं में से, (एषाम् पशूनाम्) इन पशुओं में से [किसी से भी] (मा भेः) भयभीत न हो।

सर्वप्रिय होने से सेनापति सभी से निर्भय रहता है। वीर होने से वह सिंह, आदि हिंसक पशुओं से नहीं डरता है। सेना भी अपने प्राणप्रिय सेनापति की प्राणपण से रक्षा करती है।

३) तू (मा रोक्) रोगग्रस्त न हो।

सेनापति को सदा नीरोग रहना ही चाहिए। सेना का चिकित्सक उसकी सदा देख-भाल करता रहे।

४) (च) और (मो) न ही (नः किम् चन) से किसी को भी (आममत्) रोगग्रस्त होने दे

सेनापति ऐसी व्यवस्था करे कि कोई प्रत्येक व्यक्ति कभी रोगग्रस्त न होकर, सदा और सक्षम रहे।

द्रापे ! सोम के रक्षक !
त्यागिन् ! नील-लोहित !
इन प्रजाओं, इन पशुओं में से
हो न किसी से भी भयभीत।
हो न रोगग्रस्त, न ही रोगग्रस्त होने दे
हममें से किसी को भी।

८३२ **इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्र भरामहे मतीः।**
यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम् ॥
[ऋ १.११४.१]
य १६.४८

इमाः रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयत्-वीराय प्र भरामहे मतीः।
यथा शम् असत् द्वि-पदे चतुः-पदे विश्वम् पुष्टम् ग्रामे अस्मिन् अन्-आ-तुरम्।

१) हम सेना जन (प्र भरामहे) प्रकृष्टतया धारण करते हैं [उपर्युक्त मन्त्र में व्यक्त की गईं] (इमाः मतीः) ये सुमतियां (तवसे कपर्दिने क्षयत्-वीराय रुद्राय) बलवान्, जटाजूट, क्षयत्-वीर [वीरों को बसाने, आश्रय देने वाले] सेनापति के लिए।

'जटाजूट' से यहां तात्पर्य है शिर पर बालदार धातु-टोप [helmet] पहिननेवाला। 'क्षयत्-वीर' से तात्पर्य है वीरों की क़द्र करनेवाला।

उपर्युक्त गुण जिस सेनापति में होते हैं, सभी सैनिक उसके प्रति आस्थावान् रहते हुए उसके विषय में सुमतियां, अच्छी रायें रखते हैं।

२) ऐसे सेनापति के प्रताप से (द्वि-पदे चतुः-पदे) दोपाए के लिए, चौपाए के लिए (यथा) यथावत् (शम्) शान्ति (असत्) हुई हो, हो, और (अस्मिन् ग्रामे) इस प्रजासमूह/राष्ट्र/जनपद में (विश्वम्) सब कोई (पुष्टम् अन्-आ-तुरम्) पुष्ट और अदुःखी/सुखी रहे।

सेनापति के सर्वक्षम होने पर सेना और सदाचारयुक्त रहती है। तब राष्ट्र में प्राणी शान्तिलाभ करते हैं और राष्ट्र में सब और सुखी रहते हैं।

राष्ट्रपति अथवा राजा से भी अधिक सेनापति तथा सेना का है। धर्मात्मा, सदा पूर्णक्षम सेनापति अपनी सेना को धर्मशील, चारप्रतिष्ठ और पूर्णक्षम रखता है तो सीमाएं सुरक्षित रहती हैं, राष्ट्र में सुख की व्याप्ति होती है, और राष्ट्रजन निर्बाध प्रत्येक क्षेत्र और पार्श्व में समुन्नति तथा सम्पादन कर रहे होते हैं। शांति की ही सुख की साधना सम्भव होती है।

हम प्रधारते हैं ये मतियां
बली, जटाजूट, क्षयद्वीर सेनापति के लिए।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मानव के लिए, पशु के लिए
हो यथावत् शान्ति ।

इस ग्राम में रहे सब कोई
पुष्ट और सुखी ।

पूरी जीवनी प्राणदायक प्रेरणा प्रोत

८३३ **या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी । शिवा रुतस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे ।।** य १६.४९

या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी । शिवा रुतस्य भेषजी तया नः मृड जीवसे ।

१) (रुद्र) सेनापते ! (ते या शिवा तनूः) तेरी जो कल्याणी जीवनी है वह (शिवा भेषजी) कल्याणी ओषधि है, (रुतस्य शिवा भेषजी) रोग की कल्याणी ओषधि ।

सेनापति की आदर्श जीवनी देश और राष्ट्र के हर रोग की कल्याणकारिणी, अचूक ओषधि है । जिस देश का सेनापति धर्मात्मा, देशप्रेमी और राष्ट्रनिष्ठ होता है उस राष्ट्र का राष्ट्रपति, राजा, नागरिक—सब सब प्रकार के राष्ट्रीय रोगों [भ्रष्टाचारों, दुरितों] से मुक्त और श्रेष्ठाचारों से युक्त रहते हैं ।

२) (जीवसे) जीवनार्थ [अपनी] (तया) उस [कल्याणी जीवनी] से (विश्वाहा) सब दिनों (नः मृड) हमें सुखी कर/रख ।

जीवन और सुख का संयोग सदा, सर्वत्र सर्वथा वाञ्छनीय है । प्रजाजनों के जीवनार्थ सब प्रकार के सुख का मूल सेनापति ही है ।

रुद्र ! तेरी जो शिवा जीवनी
शिवा ओषधि, रुत की शिवा ओषधि ।
जीवनार्थ उससे सब दिनों
हमें सुखी रख ।

८३४ **परि नो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु परि त्वेषस्य दुर्मतिरघायोः ।**
अव स्थिरा मघवद्भ्यस्तनुष्व मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृड ।।
[ऋ २.३३.१४] य १६.५०

परि नः रुद्रस्य हेतिः वृणक्तु परि त्वेषस्य दुः-मतिः अघ-योः ।
अव स्थिरा मघवत्-भ्यः तनुष्व मीढ्वः तोकाय तनयाय मृड ।

और सब राष्ट्रजन सेनापति का अभिनन्दन करते हुए कहते हैं—

१) (नः) हमें, हम प्रजाजनों को (रुद्रस्य हेतिः) सेनापति को हनन-सामर्थ्य, सेनापति का हनन-साधन (परि वृणक्तु) सर्वतः पृथक् रखे, परि-वारे ।

सेनापति की शत्रुमारक शक्ति राष्ट्रजनों की बाह्य आक्रमणों और आन्तरिक विप्लवों से सर्वतः वारण, निवारण, रक्षण करनेवाली हो ।

२) (रुद्रस्य हेतिः) सेनापति की वारक शक्ति (त्वेषस्य अघ-योः दुः-मतिः) जलनेवाले पापेच्छु की दुर्मति को (परि वृणक्तु) सर्वतः पृथक् रखे, परि-वारे ।

जो किसी के देश वा भूमि को हड़पने के उद्देश्य से आक्रमण करता है वह अघायु है, पापेच्छु है, पापी है । 'त्वेष' नाम तेज, प्रकाश और चमक का है । यहां इस शब्द का प्रयोग 'जलन से जलता हुआ' अर्थ में हुआ है । सेनापति की सैन्य शक्ति शत्रुओं का वारण, निवारण करनेवाली हो, और हो आक्रमणकारियों की दुर्मति को ठीक करनेवाली ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

३) (मीढ्वः) सेचक ! राष्ट्र को सुख-शान्ति से सींचनेवाले सेनापते ! हम (मघवत्-भ्यः) ऐश्वर्य-शालियों के लिए, भाग्यशालियों की सुरक्षा और समृद्धि के लिए (स्थिरा) स्थिरों को, स्थिर आयुधों और वीरों को (अत्र तनुष्व) विस्तृत कर, व्याप। हमारे (तोकाय तनयाय) पुत्र के लिए और पौत्र के लिए, बाल-बच्चों के लिए (मृड) सुख सम्पादन कर, वंशानुवंश सुख-शान्ति की व्यवस्था कर।

सैन्य शक्ति के सबल और सुविस्तृत होने पर ही राष्ट्रजनों की वंशानुवंश सुरक्षा होती है, और देश समृद्ध और सुसम्पन्न बनता है। वे नागरिक भाग्यशाली हैं, और वे ही ऐश्वर्यशाली हैं जिनका सेनापति सदा सतर्क और रहता हुआ सुरक्षा की गारण्टी देता है।

हमें परि-वारे रुद्र की हेति,
जलनयुक्त पापेच्छु की
दुर्मति को परि-वारे।
सेचक ! मघवानों के लिए
सुविस्तृत कर तू स्थिरों को,
सुख सम्पादन कर
पुत्र, पौत्र के लिए।

८३५ **मीढुष्टम शिवतम शिवो नः सुमना भव।**
परमे वृक्ष आयुधं निधाय कृत्तिं वसान आ चर पिनाकं बिभ्रदा गहि॥ य॥
मीढुः-तम शिव-तम शिवः नः सु-मनाः भव।
परमे वृक्षे आ-युधम् नि-धाय कृत्तिम् वसानः आ चर पिनाकम् बिभ्रत् आ गहि।

राष्ट्रजन कहे चले जारहे हैं—

१) (मीढुः-तम) सेचकतम ! राष्ट्रजनों पर सुख-शान्ति की अतिशय वृष्टि करनेवाले सेनापते ! (शिव-तम) अतिशय मंगल करनेवाले ! तू (नः) हमारे लिए (शिवः सु-मनाः भव) मंगलप्रद और सुसंकल्पवाला हो।

धर्मशील सेनापति स्वभावतः रात-दिन राष्ट्र-जनों के लिए सुख की मंगल साधना, और उनके लिए सुसंकल्पों का धारण करनेवाला होता है।

२) सेनापते ! (परमे वृक्षे) परम वृक्ष में (आ-युधम् नि-धाय) आयुध धारण करके, (पिनाकम् बिभ्रत्) रक्षासाधन धारण करता हुआ, (कृत्तिम् वसानः) कृत्ति पहिन कर (आ चर आ गहि) जा आ, विचर।

'परम वृक्ष' से तात्पर्य वृक्षवत् शाखा-प्रशाखामय, सुरक्षायुक्त आवागमन के साधन अथवा यान से है। 'पिनाक' से तात्पर्य अभेद्य धातु के बने आवरणों से है। 'कृत्ति' नाम चर्मजटित टोप [helmet] और कोट का है। जनता और सेना का पर है कि वे सेनापति की सुरक्षा की प्रलेक व्यवस्था करें।

राष्ट्रजनों को सेनापति के प्रति यह है। प्रेमासक्त माता-पिता अपने युवा पुत्र उसके स्वास्थ्य और योगक्षेम के लिए प्रेरण करते हैं कि 'यात्रा में रज़ाई अच्छी प्रकार वह खाना, वह पीना, वैसा करना, ऐसा उसी प्रकार आत्मप्रीति के साथ राष्ट्रजन प्रिय सेनापति के प्रति कहते रहते हैं परम वृक्ष में हथियार संजोकर, पिनाक करता हुआ, कृत्ति पहिनकर जाया आया

सेचकतम ! शिवतम !
हो तू हमारे लिए सुमन और शिव।
परम वृक्ष पर आयुध रखकर,
धारण करता हुआ पिनाक,
कृत्ति पहिन कर जा और आ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

८३६ **विकिरिद्र विलोहित नमस्ते अस्तु भगवः ।**
यास्ते सहस्रं हेतयो ऽन्यमस्मन्नि वपन्तु ताः ।। य १६.५२

वि-किरिद्र वि-लोहित नमः ते अस्तु भग-वः । याः ते सहस्रम् हेतयः अन्यम् अस्मत् नि वपन्तु ताः ।

१) (वि-किरिद्र) विकीर्ण करनेवाले ! शस्त्रों की बौछारों से शत्रुओं को मार भगानेवाले ! (वि-लोहित) गहरे लाल रंग की वर्दी पहिननेवाले सेनापते ! (भग-वः) भगवन् ! ऐश्वर्यवन् ! राष्ट्रैश्वर्य के रक्षक ! (ते नमः अस्तु) तेरे लिए नमस्कार हो ।

सेनापति ऐसा युद्धकुशल हो कि प्रबल शस्त्रों की बौछारों से आक्रमणकारियों को मारकर भगादे । वह जहां भी जाए, उसे सलामी दी जाए।

२) (ते याः सहस्रम् हेतयः) तेरी जो असंख्य गोलियां अथवा सैनिकरूप शक्तियां हैं (ताः) वे (अस्मत् अन्यम्) हमसे भिन्न [शत्रुसमूह] को (नि वपन्तु) निरन्तर छेदें, वेधें ।

सेनापति के आदेश से जब सैनिक असंख्य गोले-गोलियां दागें, उनसे अपने जन सुरक्षित रहें, और वे आक्रमणकारियों को निशाना बनाएं ।

विकिरिद्र ! विलोहित ! भगवन् !
तेरे लिए नमस्कार हो ।
तेरी जो असंख्य हेतियां,
छेदें वे हमसे भिन्नों को ।

८३७ **सहस्राणि सहस्रशो बाह्वोस्तव हेतयः । तासामीशानो भगवः पराचीना मुखा कृधि ।।**
य १६.५३

सहस्राणि सहस्र-शः बाह्वोः तव हेतयः । तासाम् ईशानः भग-वः पराचीना मुखा कृधि ।

१) (भग-वः) भगवन् ! ऐश्वर्यशालिन् ! राष्ट्र के ऐश्वर्य की रक्षा करनेवाले सेनापते ! (तव बाह्वोः) तेरे दो बाहुओं में (सहस्र-शः) हज़ारों (सहस्राणि) असंख्यों (हेतयः) हननसाधन/गोलियां/सैनिकरूप शक्तियां हैं । तू (तासाम् ईशानः) उनका स्वामित्व करता हुआ [शत्रुओं के, आक्रमणकारियों के] (मुखा) मुखों को (पराचीना कृधि) परे करदे, फेर दे ।

सेनापति की सैन्य व्यवस्था ऐसी सक्षम, अनुशासित, उग्र और प्रचण्ड हो कि वह आक्रमणकारियों का मुंह फेरदे ।

भगवन् ! तेरे बाहुओं में हैं
सहस्रों, असंख्यों हेतियां ।
उनका स्वामित्व करता हुआ
करदे परे मुखों को ।

८३८ **असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम् । तेषां सहस्रयोजने ऽव धन्वानि तन्मसि ।।**
य १६ ५४

अ-संख्याता सहस्राणि ये रुद्राः अधि भूम्याम् । तेषाम् सहस्र-योजने अव धन्वानि तन्मसि ।

शत्रुओं का मुंह फेरनेवाले, अपने वीर योधाओं के लिए शस्त्रास्त्रों का निर्माण करनेवाले प्रतिज्ञाबद्ध होकर कहते हैं – (भूम्याम् अधि) भूमि पर (ये सहस्राणि अ-संख्याता रुद्राः) जो सहस्रों, अगणित रुद्र हैं, हम (तेषाम्) उनके (धन्वानि) शस्त्रों को (सहस्र-योजने) हज़ार-योजन में (अव तन्मसि) विस्तारें, पहुंचाएं ।

'रुद्राः' शब्द का प्रयोग यहां उग्र सैनिकों तथा प्रचण्ड सेनाधिकारियों के लिए हुआ है ।

एक योजन चार कोस [पांच मील] का होता

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है। 'सहस्र-योजन' से तात्पर्य दूर दूर तक है।

'मातृभूमि' शब्द का प्रयोग न होकर यहां 'भूमि' शब्द का प्रयोग हुआ है। युद्ध जब सारी भूमि पर फैल जाता है तो वह विश्वयुद्ध का रूप धारण कर लेता है। उस अवस्था में पर्याप्त सैनिकों को देश-देशान्तरों में भी युद्धार्थ जाना पड़ता है। तब रात-दिन शस्त्रास्त्रों के निर्माण की और उन्हें तीव्र गति से सर्वत्र पहुंचाने की व्यवस्था करनी आवश्यक होती है। यह बड़े धीर कौशल का कार्य है। इसी आशय से शास्त्रोक्त विभाग ने प्रतिज्ञापूर्वक कहा है—

भूमि पर जो रुद्र सहस्रों
और अगणित,
पहुंचाएं हम उनके शस्त्रों
को सहस्र-योजन में।

८३९ **अस्मिन् महत्यर्णवे ऽन्तरिक्षे भवा अधि। तेषां सहस्रयोजने ऽव धन्वानि तन्मसि।**

अस्मिन् महति अर्णवे अन्तरिक्षे भवाः अधि। तेषाम् सहस्र-योजने अव धन्वानि तन्मसि।

शस्त्रोत्पादक कहे चले जारहे हैं—(अस्मिन् महति अर्णवे) इस विशाल समुद्र में तथा (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (अधि) अधिष्ठित [जो] (भवाः) सर्वसत्तावान् सर्वसमर्थ [रुद्र हैं], हम (तेषाम्) उनके (धन्वानि) शस्त्रों को (सहस्र-योजने) हज़ार-योजन में (अव तन्मसि) विस्तारें, पहुंचाएं।

समुद्र में जलयानों में, और अन्तरिक्ष में वायुयानों में स्थित होकर जो वीर दूर दूर फैले हुए युद्ध कररहे होते हैं उन्हें उनके उपयोग के यथासमय मिलें, ऐसी सुचारु व्यवस्था होनी चाहिए।

इस विशाल सागर में, अन्तरिक्ष में
अधिष्ठित जो समर्थ रुद्र,
पहुंचाएं हम उनके शस्त्रों
को सहस्र-योजन में।

८४० **नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः दिवं रुद्रा उपश्रिताः।**
तेषां सहस्रयोजने ऽव धन्वानि तन्मसि॥ य १६.५६

नील-ग्रीवाः शिति-कण्ठाः दिवम् रुद्राः उप-श्रिताः। तेषाम् सहस्र-योजने अव धन्वानि तन्मसि।

(नील-ग्रीवाः) नीली गर्दनवाले, गर्दन में नीली पट्टी पहननेवाले, (शिति-कण्ठाः) तीक्ष्ण कण्ठवाले, वीर-घोष गुंजानेवाले [जो] (रुद्राः) वीर (दिवम् उप-श्रिताः) द्यौ पर उपश्रित हैं, आकाश में स्थित हैं, हम (तेषाम्) उनके (धन्वानि) शस्त्रों को (सहस्र-योजने) हज़ार-योजन में, दूर दूर (अव तन्मसि) विस्तारें, पहुंचाएं।

अन्तरिक्ष से भी ऊपर आकाश में बहुत ऊंचे उड़ते हुए जो वीर वायुयानों में स्थित होकर दूर युद्ध कररहे होते हैं उन्हें उनके उपयोग के यथासमय प्राप्त होते रहें, ऐसी व्यवस्था बनी रहनी चाहिए।

नीलग्रीव, शितिकण्ठ वीर जो
उपश्रित आकाश में,
पहुंचाएं हम उनके शस्त्रों
को सहस्र-योजन में।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

८४१ **नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वा अधः क्षमा-चराः ।**
तेषां सहस्रयोजने ऽव धन्वानि तन्मसि ।। य १६.५७

नील-ग्रीवाः शिति-कण्ठाः शर्वाः अधः क्षमा-चराः । तेषाम् सहस्र-योजने अव धन्वानि तन्मसि ।

(नील-ग्रीवाः) नीली गर्दनवाले, गर्दन में नील-पट्ट धारण करनेवाले, (शिति-कण्ठाः) तीक्ष्ण-कण्ठ, (क्षमा-चराः) पृथिवी पर विचरनेवाले [जो] (शर्वाः) शूर जन [रुद्र] (अधः) नीचे [स्थित हैं], हम (तेषाम् धन्वानि) उनके शस्त्रों को (सहस्र-योजने अव तन्मसि) हज़ारों योजन में विस्तारें/ पहुंचाएं । अन्तरिक्ष और आकाश में युद्ध करनेवाले वीरों द्वारा जो प्रदेश विजय किए जाते हैं उनमें सुशासन तथा सुव्यवस्था क़ाइम करने के लिए जो वीर नीचे पृथिवी पर आगे बढ़ रहे होते हैं, उन्हें उनके उपयोग के शस्त्र यथावसर प्राप्त होते रहें, ऐसी सुव्यवस्था सदा बनी रहे ।

नीलग्रीव, शितिकण्ठ, भूमिचर
शूर अधिष्ठित हों जो नीचे,
पहुंचाएं हम उनके शस्त्रों
को सहस्र-योजन में ।

८४२ **ये वृक्षेषु शष्पिञ्जरा नीलग्रीवा विलोहिताः ।**
तेषां सहस्रयोजने ऽव धन्वानि तन्मसि ।। य १६.५८

ये वृक्षेषु शष्पिञ्जराः नील-ग्रीवाः वि-लोहिताः । तेषाम् सहस्र-योजने अव धन्वानि तन्मसि ।

(वृक्षेषु) वृक्षों में, मारकाट करनेवालों में (ये) जो (शष्पिञ्जराः) पीली वर्दीवाले मारक, जौहर करनेवाले, (नील-ग्रीवाः) गर्दन में नील-पट्ट धारण करनेवाले, (वि-लोहिताः) विशेष [गहरे] लाल रंग की वर्दी पहननेवाले [रुद्र, वीर हैं], हम (तेषाम् धन्वानि) उनके शस्त्रों को (सहस्र-योजने अव तन्मसि) सहस्र-योजन में विस्तारें/पहुंचाएं ।

वृश्च् (छेदने [काटना]), धातु से 'वृक्ष' शब्द बना है । काटा जाने से 'वृक्ष' नाम पेड़ का है । यहां 'वृक्षेषु' शब्द का प्रयोग 'आक्रमणकारियों की मार-काट करनेवाले वीरों में' अर्थ में हुआ है ।

मार-काट करनेवालों में शष्-पिञ्जर टुकड़ियां विशेष घातक होती हैं । शष् (हिंसायाम्) धातु का अर्थ है हनन । पिञ्जर=पीला । विकट परिस्थितियों में जो आक्रमणकारियों का हनन करने में जान की बाज़ी लगाते हैं, उन विशेष वीरों की वर्दी पीले रंग की होती है । पीला रंग जौहर का माना जाता है । उनकी सहायता के लिए नील-ग्रीव, विलोहित वीर उनके इर्द-गिर्द रहते हैं । उन सबको उनके उपयोग के शस्त्र साथ के साथ प्राप्त होते रहें, ऐसी व्यापक व्यवस्था करणीय है ।

वृक्षों में हैं जो शष्-पिञ्जर,
नील-ग्रीव, विलोहित रुद्र,
पहुंचाएं हम उनके शस्त्रों
को सहस्र-योजन में ।

८४३ **ये भूतानामधिपतयो विशिखासः कपर्दिनः ।**
तेषां सहस्रयोजने ऽव धन्वानि तन्मसि ।। य १६.५९

ये भूतानाम् अधि-पतयः वि-शिखासः कपर्दिनः । तेषाम् सहस्र-योजने अव धन्वानि तन्मसि ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(ये) जो (वि-शिखासः) बिना तुर्रेवाले (कपर्दिनः) जटा-जूट टोप [helmet] धारण करनेवाले (भूतानाम् अधि-पतयः) प्रजारूप प्राणियों के अधि-रक्षक हैं, हम (तेषाम् धन्वानि) उनके शस्त्रों को (सहस्र-योजने) हज़ार-योजन में, दूर दूर तक (अव तन्मसि) विस्तारें, पहुंचाएं।

युद्ध के दिनों में सामान्य प्रजा की सुरक्षा के लिए ग्राम ग्राम, नगर नगर में जो जनरक्षक टुकड़ियां होती हैं वे शिखा अथवा तुर्रे [illegible] असैनिक टोप पहनती हैं। उनकी वर्दी [illegible] होती है। उनके उपयोग के शस्त्र भी [illegible] पहुंचते रहने की व्यवस्था होनी चाहिए।

विशिखा, जटा-जूट जो
प्रजाओं के अधिरक्षक हैं,
पहुंचाएं हम उनके शस्त्रों
को सहस्र-योजन में।

८४४ **ये पथां पथिरक्षय ऐलबृदा आयुर्युधः। तेषां सहस्रयोजने ऽव धन्वानि तन्मसि।**

ये पथाम् पथि-रक्षयः ऐल-बृदाः आयुः-युधः। तेषाम् सहस्र-योजने अव धन्वानि तन्मसि। य १६

(ये) जो (पथाम् पथि-रक्षयः) पथों के पथिकों की रक्षा करनेवाले [पथरक्षक हैं], (ये ऐल-बृदाः) जो पार्थिव सम्पदाओं की वृद्धि करनेवाले [उद्योगपति हैं], (ये आयुः-युधः) जो यावदायुष्य युद्ध करनेवाले [योद्धा हैं], हम (तेषाम्) उनके (धन्वानि) शस्त्रों को (सहस्र-योजने) हज़ार-योजन में, दूर दूर तक (अव तन्मसि) विस्तारें, पहुंचाएं।

युद्ध के दिनों में क्या पथरक्षकों, क्या उद्योगपतियों, क्या अनुभवी वृद्ध योद्धाओं को, [illegible] सशस्त्र करने की प्रत्यक्षतः आवश्यकता [illegible] सभी को रक्षार्थ शस्त्रों के पहुंचाने की [illegible] रहे।

जो पथों के पथिरक्षक,
उद्योगी और आयुर्युध हैं,
पहुंचाएं हम उनके शस्त्रों
को सहस्र-योजन में।

८४५ **ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषङ्गिणः।**
तेषां सहस्रयोजने ऽव धन्वानि तन्मसि॥ य १६.६१

ये तीर्थानि प्र-चरन्ति सृका-हस्ताः निषङ्गिणः। तेषाम् सहस्र-योजने अव धन्वानि तन्मसि।

(ये) जो (सृका-हस्ताः) सृकाओं/शस्त्रों को हाथों में संभालनेवाले (निषङ्गिणः) निषङ्ग/तलवार [धारण करने] वाले (तीर्थानि प्र-चरन्ति) तीर्थों को प्रचरते हैं, तीर्थों अथवा तीर्थयात्रियों की रक्षार्थ तीर्थस्थानों में विचरते हैं, हम (तेषाम् धन्वानि) उनके शस्त्रों को (सहस्र-योजने) हज़ार-योजन में, दूर-दूर तक (अव तन्मसि) विस्तारें, पहुंचाएं।

आत्मसाधना के जो दूर दूर पवित्र स्थान हैं, युद्धकाल में उनकी रक्षा करना पवित्र [illegible] उनकी रक्षा करनेवाले सैनिकों के उपयोग [illegible] यथासमय पहुंचते रहने चाहिएं।

जो सृका-हस्त, असि-हस्त
तीर्थों को हैं प्रचरते,
पहुंचाएं हम उनके शस्त्रों
को सहस्र-योजन में।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

८४६ ये ऽन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान् । तेषां सहस्रयोजने ऽव धन्वानि तन्मसि ।।

य १६ ६२

ये अन्नेषु वि-विध्यन्ति पात्रेषु पिबतः जनान् । तेषाम् सहस्र-योजने अव धन्वानि तन्मसि ।

(अन्नेषु पात्रेषु) अन्नों में, पात्रों में [खाते और] (पिबतः) पीते हुए (जनान्) जनों को (ये) जो (वि-विध्यन्ति) वेधते हैं, निशाना बनाते हैं, मारते हैं, हम (तेषाम् धन्वानि) उनके शस्त्रों को (सहस्र-योजने) हज़ार-योजन में (अव तन्मसि) विस्तारें, पहुंचाएं ।

शत्रुसेनाएं जब निश्शस्त्र होकर खाने-पीने में मस्त होरही हों उस समय उन पर आक्रमण करके उनका संहार करना बहुत सरल होता है । अपने जो सैनिक इस कार्य में दक्ष होते हैं उनके उपयोग के शस्त्रास्त्र उन्हें यथासमय और यथास्थान पहुंचते रहें, ऐसी सुव्यवस्था होनी चाहिए ।

अन्नों में, पात्रों में
खाते-पाते शत्रु जनों को
जो हैं मारते,
पहुंचाएं हम उनके शस्त्रों
को सहस्र-योजन में ।

८४७ य एतावन्तश्च भूयांसश्च दिशो रुद्रा वितस्थिरे ।
तेषां सहस्रयोजने ऽव धन्वानि तन्मसि ।। य १६.६३

ये एतावन्तः च भूयांसः च दिशः रुद्राः वि-तस्थिरे ।
तेषाम् सहस्र-योजने अव धन्वानि तन्मसि ।

(ये एतावन्तः च भूयांसः च रुद्राः) जो इतने [उपर्युक्त प्रकार के] और [इनसे भी] अधिक, अतिरिक्त रुद्र (दिशः वि-तस्थिरे) दिशाओं को/में वि-स्थित हुए हुए हैं, हम (तेषाम् धन्वानि) उनके धनुषों को (सहस्र-योजने) सहस्र-योजन में, दूर दूर तक (अव तन्मसि) विस्तारें, पहुंचाएं ।

पूर्वोक्तों के अतिरिक्त भी, हमारे वीर जहां जहां, जिस जिस स्थिति में कार्य कर रहे हैं उन सबके उपयोग के शस्त्रास्त्र उन्हें यथासमय और यथास्थान पहुंचते रहें, ऐसी सुव्यवस्था राष्ट्र की ओर से होनी चाहिए ।

जो इतने और अधिक रुद्र
सब दिशाओं में विस्थित हैं,
पहुंचाएं हम उनके शस्त्रों
को सहस्र-योजन में ।

८४८ नमो ऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः । तेभ्योदश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः । तेभ्यो नमो अस्तु ते नो ऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ।। य १६.६४

नमः अस्तु रुद्रेभ्यः ये दिवि येषाम् वर्षम् इषवः । तेभ्यः दश प्राचीः दश दक्षिणाः दश प्रतीचीः दश उदीचीः दश ऊर्ध्वाः । तेभ्यः नमः अस्तु ते नः अवन्तु ते नः मृडयन्तु ते यम् द्विष्मः यः च नः द्वेष्टि तम् एषाम् जम्भे दध्मः ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अब शेष तीन मन्त्रों में राष्ट्रजन अपने वीरों का अभिनन्दन करते हैं—

१) (नमः अस्तु रुद्रेभ्यः) नमस्कार हो वीरों के लिए, (ये दिवि) जो द्यौ में नियत हैं, (येषाम् इषवः वर्षम्) जिनके शस्त्र वर्षा हैं।

अन्तरिक्ष से बहुत ऊपर द्यौ [आकाश] में जिनके युद्धयान मंडराते हैं, जो वहां से शत्रुओं की सैन्य-सज्जाओं का पता लगाकर उन पर शस्त्रों की वर्षा करते हैं, राष्ट्र के सर्व जन उनके प्रति नतशिर रहें।

२) (तेभ्यः) उनके लिए, उन वीरों के प्रति (दश प्राचीः) दस पूर्व दिशाएं, (दश दक्षिणाः) दस दक्षिण दिशाएं, (दश प्रतीचीः) दस पश्चिम दिशाएं, (दश उदीचीः) दस उत्तर दिशाएं, (दश ऊर्ध्वाः) दस ऊर्ध्व [ऊपर की] दिशाएं [नमस्कार करें, विजय-सम्पादिका हों]।

दिशा नाम की कोई वस्तु नहीं है। सूर्य की अपेक्षा से निम्न दस दिशाएं कल्पित की गई हैं—(१) पूर्व, (२) दक्षिण, (३) पश्चिम, (४) उत्तर, (५) पूर्व और दक्षिण के बीच की दिशा, (६) दक्षिण और पश्चिम के बीच की दिशा, (७) पश्चिम और उत्तर के बीच की दिशा, (८) उत्तर और पूर्व के बीच की दिशा, (९) ऊपर की दिशा, (१०) नीचे की दिशा। पृथिवी पर जिस किसी भी दिशा में जिस किसी भी स्थान पर स्थित होकर देखिए, वहीं सूर्य की अपेक्षा से दसों दिशाएं वर्तमान हैं। इसी आशय से दस दिशाओं में से हर दिशा को दस दिशा बताया गया है। हमारे वीर इतने दक्ष और सक्षम हों कि दसों दिशाओं में उनकी विजय हो, ऐसी भावना और साधना प्रत्येक देश के राष्ट्र-जनों को करनी चाहिए।

३) सब दिशाओं में (तेभ्यः) उन वीरों के लिए (नमः अस्तु) नमस्कार हो।

४) (ते नः अवन्तु) वे हमारी [हम राष्ट्रजनों की] रक्षा करें।

५) (ते नः मृडयन्तु) वे हमें सुखी करें।

६) (ते) वे हम (यम् द्विष्मः) जिस [राष्ट्रशत्रु] से हैं (च) और (यः नः द्वेष्टि) जो [राष्ट्र] से है, हम (तम्) उस [द्वेष] को (एषाम् जम्भे) इन [दिशाओं के अधीशों] के जबाड़े में रखें।

'जबाड़े' से तात्पर्य यहां विवेकजन्य है। पृथिवी पर की सब दिशाओं में जो के राजा, राष्ट्रपति वा राष्ट्रनेता हैं उनके संयम से ही द्वेष की समाप्ति होगी। 'रखने' का अर्थ है नष्ट करना।

युद्ध ही नहीं, संसार के सभी झगड़े गाल द्वेष के कारण ही होते हैं। सभ्य, श्रेष्ठ को कोटि के अधीश कभी किसी देश पर आक्रमण करने की अनुमति नहीं देते। अनुमति तो वे केवल अपने देश की अपने राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए देते हैं। रक्षार्थ युद्ध करने पर भी उनका प्रयास दिशाओं और देशों में से पारस्परिक द्वे मिटाकर देश-देशान्तरों में पारस्परिक स्थापना करने का होता है। यही आशय दिशाओं के अधिपतियों के जबाड़े में रख है। द्वेष को निर्मूल करके वे सारी दिशा विश्व को युद्ध के अभिशापों से मुक्त करें।

नमस्कार हो रुद्रों के लिए,
जो द्यौ में नियत, वर्षा जिनके शस्त्र।
नमें उनके लिए दस पूर्व, दस दक्षिण,
दस पश्चिम, दस उत्तर, दस ऊर्ध्व।
नमस्कार हो उनके लिए,
रक्षा करें वे हमारी,
करें वे हमें सुखी।
वे हम द्वेषते हैं जिसे,
और द्वेषता है जो हमें,
रखते हैं हम उसे
इनके जम्भ में।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

८४९ नमो ऽस्तु रुद्रेभ्यो ये ऽन्तरिक्षे येषां वात इषवः । तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः । तेभ्यो नमो अस्तु ते नो ऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः । य १६.६५

नमः अस्तु रुद्रेभ्यः ये अन्तरिक्षे येषाम् वातः इषवः । तेभ्यः दश प्राचीः दश दक्षिणाः दश प्रतीचीः दश उदीचीः दश ऊर्ध्वाः । तेभ्यः नमः अस्तु ते नः अवन्तु ते नः मृडयन्तु ते यम् द्विष्मः यः च नः द्वेष्टि तम् एषाम् जम्भे दध्मः ।

१) (नमः अस्तु रुद्रेभ्यः) नमस्कार हो वीरों के लिए, (ये अन्तरिक्षे) जो अन्तरिक्ष में नियत हैं, (येषाम् इषवः वातः) जिनके शस्त्र वात [वायुवेगवत् तीव्र गति से छूटते और चलते] हैं ।

अन्तरिक्ष के युद्ध में वायुयानों से जो शस्त्र [बॅम] छोड़े जाते हैं उनकी गति वायुवत् बडी तीव्र होती है ।

२) (तेभ्यः) उनके लिए [विजय-सम्पादिका हों] (दश प्राचीः) दस पूर्व दिशाएं, (दश दक्षिणाः) दस दक्षिण दिशाएं, (दश प्रतीचीः) दस पश्चिम दिशाएं, (दश उदीचीः) दस उत्तर दिशाएं, (दश ऊर्ध्वाः) दस ऊपर की दिशाएं ।

३) सब दिशाओं में (तेभ्यः) उन वीरों के लिए (नमः अस्तु) नमस्कार हो ।

४) (ते नः अवन्तु) वे हमारी रक्षा करें ।

५) (ते नः मृडयन्तु) वे हमें सुखी करें ।

६) (ते) वे हम (यम् द्विष्मः) जिस[राष्ट्र]को द्वेषते हैं (च) और (यः नः द्वेष्टि) जो [राष्ट्र] हमें द्वेषता है, हम [तम्] उस[द्वेष]को (एषाम्) इन[दिशाओं के अधिपतियों]के (जम्भे दध्मः) जबाड़े में रखते हैं ।

नमस्कार हो वीरों के लिए,
जो अन्तरिक्ष में नियत, वायु जिनके शस्त्र ।
नमें उनके लिए दस पूर्व, दस दक्षिण,
दस पश्चिम, दस उत्तर, दस ऊर्ध्व ।
नमस्कार हो उनके लिए,
रक्षा करें वे हमारी,
करें वे हमें सुखी ।
वे हम द्वेषते हैं जिसे,
और जो द्वेषता है हमें,
रखते हैं हम उसे
इनके जम्भ में ।

८५० नमो ऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येषामन्नमिषवः । तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः । तेभ्यो नमो अस्तु ते नो ऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः । य १६.६६

नमः अस्तु रुद्रेभ्यः ये पृथिव्याम् येषाम् अन्नम् इषवः । तेभ्यः दश प्राचीः दश दक्षिणाः दश प्रतीचीः दश उदीचीः दश ऊर्ध्वाः । तेभ्यः नमः अस्तु ते नः अवन्तु ते नः मृडयन्तु ते यम् द्विष्मः यः च नः द्वेष्टि तम् एषाम् जम्भे दध्मः ।

१) (नमः अस्तु रुद्रेभ्यः) नमस्कार हो वीरों के लिए, (ये पृथिव्याम्) जो पृथिवी पर नियत हैं, (येषाम् इषवः अन्नम्) जिनके शस्त्र अन्न [आक्रमणकारियों को अपना भोजन बनाते] हैं ।

आकाश और अन्तरिक्ष से छोड़े गए शस्त्र इतने निशानबद्ध नहीं होते हैं जितने पृथिवी पर छोड़े

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

गए आमने-सामने के युद्ध में। आमने-सामने के युद्ध में चलाई गईं गोलियां, तलवारें, बाण सामने अड़े शत्रुओं को सीधा अपना ग्रास बनाते हैं।

२) (तेभ्यः) उनके लिए [विजय-सम्पादिका हों] (दश प्राचीः) दस पूर्व दिशाएं, (दश दक्षिणाः) दस दक्षिण दिशाएं, (दश प्रतीचीः) दस पश्चिम दिशाएं. (दश उदीचीः) दस उत्तर दिशाएं, (दश ऊर्ध्वाः) दस ऊपर की दिशाएं।

३) सब दिशाओं में (तेभ्यः) उन वीरों के लिए (नमः अस्तु) नमस्कार हो।

४) (ते नः अवन्तु) वे हमारी रक्षा करें।

५) (ते नः मृडयन्तु) वे हमें सुखी करें।

६) (ते) वे हम (यम् द्विष्मः) जिस[राष्ट्र]को द्वेषते हैं (च) और (यः नः द्वेष्टि) जो [राष्ट्र] हमें द्वेषता है, हम (तम) उस[द्वेष]को (एषाम्) इनके अधिपतियों] के (जम्भे दध्मः)जबाड़े में रखते

नमस्कार हो वीरों के लिए,
जो पृथिवी पर नियत, अन्न जिनके शस्त्र।
नमें उनके लिए दस पूर्व, दस दक्षिण,
दस पश्चिम, दस उत्तर, दस ऊर्ध्व।
नमस्कार हो उनके लिए,
रक्षा करें वे हमारी,
करें वे हमें सुखी।
वे हम द्वेषते हैं जिसे,
और जो द्वेषता है हमें,
रखते हैं हम उसे
इनके जम्भ में।

पाठक से

वेद-संस्थान इस पुस्तक की विषय-वस्तु, लेखनशैली और आकार-प्रकार के बारे में आपके विचारों के लिए आभारी होगा। अन्य कोई सुझाव आप देना चाहें तो उन्हें जानकर भी हमें प्रसन्नता होगी। हमारा पता है :
बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर, भारत

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वेदव्याख्या-ग्रन्थ, षोडश पुष्प में व्याख्यात, यजुर्वेद, अध्याय १६ के ६६ मन्त्रों की

अकारादि सूची

मन्त्र-प्रतीक	अध्याय में मन्त्र-संख्या	यजुर्वेद में मन्त्र-संख्या	'ग्रन्थ' में पृष्ठ-संख्या
अध्यवोचदधिवक्ता	५	७८९	१०३२
अवतत्य	१३	७९७	१०३७
असंख्याता	५४	८३८	१०७०
असौ यस्ताम्रो	६	७९०	१०३३
" यो ऽवसर्पति	७	७९१	१०३४
अस्मिन् महत्यर्णवे	५५	८३९	१०७१
इमा रुद्राय	४८	८३२	१०६७
द्रापे अन्धसस्पते	४७	८३१	१०६६
नमः कपर्दिने	२९	८१३	१०५१
" कूप्याय	३८	८२२	१०५८
" कृत्स्नायतया	२०	८०४	१०४३
" पर्णाय च	४६	८३०	१०६५
" पार्याय	४२	८२६	१०६१
" शङ्गवे	४०	८२४	१०६०
" शम्भवाय	४१	८२५	१०६१
" शुष्क्याय	४५	८२९	१०६४
" स्वभ्यः	२८	८१२	१०५०
" सभाभ्यः	२४	८०८	१०४७
" सिकत्याय	४३	८२७	१०६२
" सेनाभ्यः	२६	८१०	१०४९
" सोभ्याय	३३	८१७	१०५४
" स्रुत्याय	३७	८२१	१०५७
नम आशवे	३१	८१५	१०५३
" उष्णीषिणे	२२	८०६	१०४५
नमस्त आयुधाया-	१४	७९८	१०३७
नमस्तक्षभ्यो	२७	८११	१०४९
नमस्ते रुद्र	१	७८५	१०३०
नमो गणेभ्यो	२५	८०९	१०४८
" ज्येष्ठाय	३२	८१६	१०५३
" धृष्णवे	३६	८२०	१०५६
" बभ्लुशाय	१८	८०२	१०४१

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मन्त्र-प्रतीक	अध्याय में मन्त्र-संख्या	यजुर्वेद में मन्त्र-संख्या	'ग्रन्थ' में पृ
,, बिल्मिने	३५	८१९	
,, रोहिताय	१९	८०३	
,, वञ्चते	२१	८०५	
नमो वन्याय	३४	८१८	
,, वात्याय	३९	८२३	
,, वि-सृजत्-भ्यो	२३	८०७	
,, व्रज्याय	४४	८२८	
,, ऽस्तु नीलग्रीवाय	८	७९२	
,, ,, रुद्रेभ्यो ये दिवि	६४	८४८	
,, ,, ,, ,, ऽन्तरिक्षे	६५	८४९	
,, ,, ,, ,, पृथिव्यां	६६	८५०	
,, हिरण्यबाहवे	१७	८०१	
,, ह्रस्वाय	३०	८१४	
नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वा	५७	८४१	
,, शितिकण्ठा दिवं	५६	८४०	
परि ते धन्वनो	१२	७९६	
,, नो रुद्रस्य	५०	८३४	
प्र मुञ्च	९	७९३	
मा नस्तोके	१६	८००	
,, नो महान्तमुत	१५	७९९	
मीढुष्टम शिवतम	५१	८३५	
य एतावन्तश्च	६३	८४७	
या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा	४९	८३३	
,, ,, ,, ,, तनूरघोरा	२	७८६	
,, ,, हेतिर्मीढुष्टम	११	७९५	
यामिषुं गिरिशन्त	३	७८७	
ये तीर्थानि	६१	८४५	
,, ऽन्नेषु	६२	८४६	
,, पथां	६०	८४४	
,, भूतानां-	५९	८४३	
,, वृक्षेषु	५८	८४२	
विकिरिद्र	५२	८३६	
विज्यं धनुः	१०	७९४	
शिवेन वचसा	४	७८८	
सहस्राणि	५३	८३७	

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वेद-संस्थान, अजमेर

स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' द्वारा रचित प्रकाशन

*** केवल पुस्तकों के पूरे सेट का रियायती मूल्य : रु ७४.०७ ***

• कर्मकाण्ड

विजय-याग	०.८० पैसे
वृष्टियज्ञ-पद्धति	०.६० ,,
वैदिक सत्संग	०.४० ,,
वैदिक साधना	०.८० ,,
सत्यनारायण की कथा	०.८० ,,
स्वस्ति-याग	रु १.४०

• कर्मकाण्ड-व्याख्या

जीवन-पाथेय	०.५० ,,
यज्ञोपवीत-रहस्य	०.२५ ,,
सन्ध्या-योग	०.४० ,,

• ग्रन्थ-टीकाएं

गीतायोग	रु ८.००
योगालोक	,, ३.५०

• जीवनी

जीवन-ज्योतियां	०.४० पैसे
रामचरित	रु २.००

• नैतिकोत्थान

उत्तम स्वभाव	०.२० पैसे
गृहस्थाश्रम	०.७० ,,
चरित्र-निर्माण	०.३० ,,
भारत के अध्यापकों से	०.३० ,,
भारत के विद्यार्थियों से	०.४० ,,
मानव-धर्म	०.२५ ,,
वैदिक बालशिक्षा (तीन भाग)	रु २.७०
प्रथम भाग : ०.७० पैसे	
द्वितीय ,, : १.०० ,,	
तृतीय ,, : रु १.००	
वैदिक स्त्री-शिक्षा	०.४० पैसे

• पद्य

योग-तरङ्ग	०.२० पैसे
'विदेह'-गीतावली	०.६० ,,

• योग

ओङ्कारोपासना	०.४० ,,
गायत्री मन्त्र का अनुष्ठान	०.३० ,,
परम योग	०.८० ,,
महामृत्युञ्जय-मन्त्र का अनुष्ठान	०.३० ,,
वैदिक-योगपद्धति	०.४० ,,
साधना	रु १.२५
The Science of Yog	,, ४.००

• वेदव्याख्या

आनन्द-सुधा (यजुर्वेद अ० ३६ की व्याख्या)	०.८० पैसे
गायत्री	रु २.००
The Vedic Prayers	,, १.५०
वेदव्याख्या-ग्रन्थ (भाग ११, खंड १)	,, २०.००
वेदव्याख्या-ग्रन्थ (प्रथम पुष्प)	,, ३.००
,, ,, (द्वितीय ,,)	,, १.८०
,, ,, (तृतीय ,,)	,, २.२५
,, ,, (चतुर्थ ,,)	,, १.२५
,, ,, (पञ्चम ,,)	,, २.००
,, ,, (षष्ठ ,,)	,, २.००
,, ,, (सप्तम ,,)	,, ३.००
,, ,, (अष्टम ,,)	,, १.५०
,, ,, (नवम ,,)	,, १.००
,, ,, (दशम ,,)	,, १.००
An Exposition of the Vedas	,, ६.००
वेदव्याख्या-ग्रन्थ (एकादश पुष्प)	,, १.२५
,, ,, (द्वादश ,,)	,, २.००
,, ,, (त्रयोदश ,,)	,, १.६०
,, ,, (चतुर्दश ,,)	,, १.३५
,, ,, (पंचदश ,,)	,, ३.५०
,, ,, (षोडश ,,)	,, २.५०
शिव-सङ्कल्प	०.४० पैसे
सामवेद का अध्ययन	रु १.२५

• संस्कृत-भाषा

संस्कृत-शिक्षा (दो भाग)	१.२० पैसे
प्रथम भाग : ०.४० पैसे	
द्वितीय ,, : ०.८० ,,	
संस्कृत-स्वयंशिक्षक (दो पुष्प)	रु २.७०
प्रथम पुष्प : ०.७० पैसे	
द्वितीय ,, : २.०० ,,	

• सामयिक

हिन्दु जाति के अस्तित्व की रक्षा	रु १.००

• स्वास्थ्य

स्वास्थ्य और सौन्दर्य	रु १.००
Health and Beauty	,, १.००

• पत्रिका : 'सविता' पुरानी उपलब्ध जिल्दें :

वर्ष ५	रु ३.५० प्रतिजिल्द
,, २१, २४-२५	,, ५.५०
,, २६	,, १०.००
,, २७	,, ८.००
विशेषांक : 'सुपर्णाक'	,, ३.००

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जन्म : १५ नवम्बर, १८९९ ई० । वेद-संस्थान के संस्थापकाध्यक्ष । वेदों के [illegible] व्याख्याकार, चिन्तक, कवि और संन्यासाश्रमी सन्त । वाणी में अद्भुत माधुर्य [illegible] हृदय को छू लेने की क्षमता । व्यक्तित्व जो तत्काल आकर्षित कर लेता है अत्यन्त [illegible] स्नेह, सरलता से । सतत कर्मरत, प्रतिक्षण साधनामय, भक्ति और निष्ठा से [illegible] प्रोत जीवन । लेखन की शैली ललित, प्रसादगुणयुक्त, अनावश्यक विस्तार से [illegible]

'विदेह' का जीवन वेद और योग को समर्पित है । उन्होंने लोहे के चने [illegible] जानेवाले वेद को आबाल-वृद्ध, प्रत्येक हिन्दी-भाषी के लिए अतिसरल और [illegible] दैनंदिन जीवन में उपयोगी और प्रेरक ग्रन्थ बनाने में अभूतपूर्व और आश्चर्यकारी सफलता पाई है । [illegible] वेद-व्याख्या वेद को मानव और मानवता की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में प्रस्तुत करती है, वेद के [illegible] को निखारती है और उसे जीवन-ग्रन्थ, मानवधर्म-शास्त्र के रूप में प्रस्तुत करती है ।

'वेदव्याख्या-ग्रन्थ' विश्ववाङ्मय का गौरव तथा हिन्दी वाङ्मय को लेखक की अमर देन है । जिसने इसे पढ़ा है वही मुग्ध हो उठा है । यह वेदों के आधुनिकीकरण, सरलीकरण, स्पष्टीकरण, और साथ ही उन्हें जनसुलभ और सुबोध बनाने का एक महान् प्रयास है, जो वेदों को 'रामचरित-मानस'-जैसा सरल [illegible] बना देगा ।

वेदों की इस क्रमिक व्याख्यामाला में चारों वेदों का, जिस क्रम में वे हैं उसी क्रम में, मन्त्र-मन्त्र, [illegible] सूक्त, अध्याय-अध्याय, और वेद-वेद की संगति लगाने का प्रयास किया जा रहा है, जो वेदाध्ययन के इतिहास में पहली बार इतनी गम्भीरता से किया जा रहा है । इसकी सफलता से वेद परस्पर असंबद्ध मन्त्रों का संग्रह मात्र नहीं रह जाएगा । लेखक प्रत्येक मन्त्र का एक सुनिश्चित अर्थ मानता है, यद्यपि गौण वृत्ति से अनेक भी लिए जा सकते हैं । संयमपूर्वक योगाभ्यास से आत्म-अवस्थित होकर, अन्तःश्रवण और अन्तर्ज्योति से मन्त्रार्थ को साक्षात् करना लेखक की पद्धति है । वेदों के आशय को स्वयं वेदों में पैठकर, न कि परवर्ती भूत ग्रन्थों की दासता स्वीकार करके, स्वयं वेदों के ही आश्रय से जानना, यह लेखक की विचारसरणि है ।

'वेदव्याख्या-ग्रन्थ' में प्रत्येक मन्त्र का पदच्छेद, अन्वय, पद्यानुवाद, सूक्तियां, तथा विशद, प्रेरक जीवनोत्थानकारी व्याख्या दी गई है ।

दो रुपए पचास पैसे

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

स्वामी विद्यानन्द 'विदेह'

वेदव्याख्या-ग्रन्थ

सप्तदश पुष्प

(यजुर्वेद के सप्तदश अध्याय की व्याख्या)

विषय : मातृभूमि और राष्ट्र का समृद्धिकरण

वेद संस्थान
अजमेर

चार रुपए

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

संस्थान-प्रकाशन-संख्या : ७३

यजुर्वेद-व्याख्या

सप्तदश पुष्प

मातृभूमि और राष्ट्र का समृद्धिकरण

स्वामी विद्यानन्द 'विदेह'

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सर्वाधिकार लेखकाधीन

प्रथम संस्करण : ज्येष्ठ, २०३३ वि : जून १९७६ ई
२,२०० प्रतियां

मूल्य : चार रुपये

卐

प्रकाशक : वेद-संस्थान, बाबू मौहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर; मुद्रक : प्रिंट हाउस, अजमेर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यजुर्वेद-व्याख्या

सत्रहवां अध्याय

मातृभूमि और राष्ट्र का समृद्धीकरण

सोलहवें अध्याय में मातृभूमि और राष्ट्र की सुरक्षा की शिक्षा करके, इस अध्याय में, वेदमाता भौतिक और आत्मिक समृद्धीकरण की शिक्षा देरही है।

जब मातृभूमि में भीतर और बाहर अक्षुण्ण सुरक्षा स्थापित होती है तभी राष्ट्र में भौतिक और आध्यात्मिक समृद्धि की बेलें सुचारुता के साथ फूलती, फलती और फैलती हैं; तभी समृद्धि की योजनाएं तथा साधनाएं पूर्ण साफल्य प्राप्त करती हैं।

भौतिक और आध्यात्मिक, दोनों ही समृद्धियां जहां साथ साथ पल्लवित होती हैं उसी का नाम सच्ची समृद्धि है। केवल भौतिक समृद्धि जहां राष्ट्रों को निर्दय विलासों के गर्त में धकेल देती है, वहां केवल आध्यात्मिक उन्नति राष्ट्रों को नपुंसक और कायर बना देती है।

८५१ **अश्मन्नूर्जं पर्वते शिश्रियाणामद्भ्य ओषधीभ्यो वनस्पतिभ्यो अधि सम्भृतं पयः। तां न इषमूर्जं धत्त मरुतः संरराणा अश्मँस्ते क्षुन्मयि त ऊर्ग् यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु।** य १७.१

अश्मन् ऊर्जम् पर्वते शिश्रियाणाम् अत्-भ्यः ओषधीभ्यः वनस्पति-भ्यः अधि सम्-भृतम् पयः। ताम् नः इषम् ऊर्जम् धत्त मरुतः सम्-रराणाः अश्मन् ते क्षुत् मयि ते ऊर्क् यम् द्विष्मः तम् ते शुक् ऋच्छतु।

१) (सम्-रराणाः मरुतः) सं-दानी मरुतो ! (नः) हमारे लिए, हम प्रजाजनों के लिए (अधि-धत्त) अधि-धारण करो, प्राप्त कराओ (अश्मन्, पर्वते) पत्थर में, पर्वत पर (ताम् शिश्रियाणाम् ऊर्जम्) उस सुस्थिता ऊर्जा/समृद्धि को; (अत्-भ्यः, ओषधी-भ्यः, वनस्पति-भ्यः सम्-भृतम् पयः) जलों से, ओषधियों से, वनस्पतियों से सं-हृत रस को; (इषम् ऊर्जम्) इच्छाशक्ति को, पराक्रम को।

ताम् शब्द का प्रयोग 'साक्षात्' अर्थ में हुआ है। **म्रियते प्राणी यस्याभावात्**, मर जाता है प्राणी जिसके अभाव से उसकी संज्ञा **मरुत्** है। वायु के बिना प्राणी मर जाता है; इसी लिए वायु मरुत् है। वीरों और विद्वानों के बिना समाज और राष्ट्र मृत/प्राणहीन/जीवनशून्य होजाते हैं। अतः उनकी भी संज्ञा मरुत् है। इसी निरुक्ति के अनुसार, वैश्यों [अर्थशास्त्री] को भी मरुत् कहते हैं क्योंकि उनके बिना आर्थिक दृष्टि से राष्ट्र मृतप्राय रहता है। यहां, 'मरुत्:' शब्द का प्रयोग राष्ट्र के वीरों, विद्वानों और वैश्यों के लिए हुआ है। वीर देश की सीमाओं की रक्षा करते हैं और राष्ट्र में शान्ति तथा सुव्यवस्था बनाए रखते हैं। विद्वान् राष्ट्रजनों में आध्यात्मिक संस्कारों का समंकन करते हैं। वैश्य राष्ट्र की आर्थिक स्थिति को उन्नत और सुस्थिर रखते हुए राष्ट्रजनों की भौतिक समृद्धि का निष्पादन करते हैं। वीर संदानी मरुत् हैं क्योंकि वे सुरक्षा तथा सुव्यवस्था प्रदान करते हैं। विद्वान् संदानी मरुत् हैं क्योंकि वे अध्यात्म सम्पदा प्रदान करते हैं। वैश्य और शूद्र [श्रमिक] संदानी मरुत् हैं क्योंकि वे धनैश्वर्य प्रदान करते हैं।

समृद्धि पत्थर में और पर्वत पर स्थित

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

होती है । समृद्धि सम्पादन के लिए पत्थर तोड़ने पड़ते हैं और पर्वत पर चढ़ना पड़ता है । पत्थर है दृढ़ता, दृढ संकल्प और कठोर श्रम का प्रतीक । पर्वत प्रतीक है ऊंचाई का । राष्ट्र की समृद्धि के लिए राष्ट्रजनों में दृढ़ता, दृढ़ संकल्प और कठोर श्रम के साथ साथ, उनमें पर्वत के समान उदात्त साहस और उच्च चरित्र भी होना आवश्यक है । संदानी मरुत् राष्ट्र के नागरिकों में इन गुणों की स्थापना करते हैं । तब राष्ट्रजन जलों से भूमि को सींचकर अन्नादि ओषधियों तथा फलवती वनस्पतियों से पौष्टिक खाद्यों और पेयों का लाभ प्राप्त करते हैं । सुदानी मरुत् जनों में इच्छाशक्ति और पराक्रम का संचार करते हैं । इच्छाशक्ति और पराक्रम के आश्रय से सर्व जन नितराम् भौतिक और आत्मिक समृद्धि का निष्पादन तथा व्याप्ति करते रहते हैं । इच्छाशक्ति और पराक्रम के आश्रय से नागरिक सर्वांगीण समृद्धि का सम्पादन करते हैं ।

२) (अश्मन्) पत्थर में, श्रम में (ते) तेरी, तुझ नागरिक की (क्षुत्) भूख [निहित है], और (मयि) मुझमें, मुझ राष्ट्र में (ते) तेरा, तुझ नागरिक का (ऊर्क्) रस, प्रेम, आनन्द, उत्साह ।

क्षुत् शब्द का प्रयोग यहां भौतिक अथवा शारीरिक आवश्यकताओं के लिए हुआ है । श्रम से नागरिकों की भौतिक आवश्यकताओं के अभावों को भावों में परिणत किया जाता है। और पितृराष्ट्र के प्रति प्रेमरस से नागरि आनन्द और उत्साह का उमाड़ होता है।

३) हम राष्ट्रजन परस्पर (यम् द्विष्मः) जि हैं (तम्) उसे (ते) तेरा, तुझ राष्ट्र का (शु कान्ति (ऋच्छतु) प्राप्त हो ।

राष्ट्र के तेज और मातृभूमि की क राष्ट्रजनों के पारस्परिक द्वेष का शमन हो राष्ट्रजनों में जब राष्ट्र के तेज और मातृभू कान्ति के वर्धन की भावना भावित रहे वे परस्पर कदापि द्वेष नहीं करते हैं। देश और राष्ट्र सदा समृद्धि के पथ पर रहते हैं ।

सं-दानशील मरुतो !
धारण करो हमारे लिए
पत्थर में, पर्वत पर
उस सुस्थिता समृद्धि को;
जलों से, ओषधियों से,
वनस्पतियों से संहृत रस को;
इच्छाशक्ति को; पराक्रम को ।
पत्थर में है क्षुधा तेरी,
मुझमें तेरा ऊर्क् ।
जिसे द्वेषते हैं हम उसको
प्राप्त हो तेरा तेज ।

८५२ **इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं च शतं च सहस्रं चायुतं चायुतं च नियुतं च नियुतं च प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्र मध्यं चान्तश्च परार्धश्चैता मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिंल्लोके**

इमाः मे अग्ने इष्टकाः धेनवः सन्तु एका च दश च दश च शतम् च शतम् च सहस्रम् च अयुतम् च अयुतम् च नि-युतम् च नि-युतम् च प्र-युतम् च अर्बुदम् च नि-अर्बुदम् च मध्यम् च अन्तः च पर-अर्धः च एताः मे अग्ने इष्टकाः धेनवः सन्तु अमुत्र अमुष्मिन् लोके

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

'अग्नि' नाम अग्रणी का, आगे लेजानेवाला का है। राष्ट्र का जो अग्रणी, प्रणेता, सम्पूर्ण प्रजा का पूर्ण विश्वासपात्र, ऋषि कोटि का, शास्त्रज्ञ, विधानज्ञ प्रथम पुरुष है उसे यहां **अग्ने** शब्द से सम्बोधन करके, राष्ट्रपति राजा उसे आदेश देता है, (अग्ने) प्रणेतः! तू सक्षम शासन-परिषद् बनाकर वेद-संविधान[1] के अनुसार ऐसी सुचारुता तथा कुशलता के साथ शासनसूत्र का संचालन कर कि (मे) मेरी, मेरे राष्ट्र और राज्य की (इमाः) ये (इष्टकाः) ईंटें, सम्पदाएं (धेनवः सन्तु) धेनुएं हों।

'इष्टका' नाम ईंट का है। ईंटें मिट्टी की भी होती हैं, चांदी की भी होती हैं और सोने की भी। मिट्टी की ईंटों से राष्ट्रनागरिकों के भवन बनते हैं और सोने-चांदी की ईंटों से राष्ट्र की सम्पत्ति का वर्धन होता है। **इष्टकाः** शब्द का प्रयोग यहां राष्ट्र की सम्पदाओं के लिए हुआ है। भौतिक और आत्मिक सम्पदाओं की निरन्तर समृद्धि के सम्पादन के लिए ही शासन-परिषद् का निर्माण किया जाता है। धेनु नाम दुधार गौ का है। जिस प्रकार गौएं अपने ओषधिरूप, झगीले दूधों से नागरिकों के स्वास्थ्य का सुसम्पादन करती हैं उसी प्रकार राष्ट्र की उमड़ती हुई सम्पदाएं ओषधिरूप होकर राष्ट्रजनों के शारीरिक, चारित्रिक तथा आत्मिक स्वास्थ्य की सुनिष्पादिका हों। राष्ट्रपति राजा की ओर से राष्ट्रप्रणेता के प्रति यह आदेश कितना तात्त्विक और श्रेयस्कर है।

अपने आदेश को जारी रखते हुए, राजा प्रणेता के प्रति पुनः कहता है, प्रणेतः! धर्मात्मा सचिवों सहित राष्ट्र की ऐसी सुव्यवस्था कर कि (मे) मेरी, मेरे राज्य की (इमाः इष्टकाः) ये सम्पदाएं [होती रहें]—

१. (एका च दश च) एक एक करके दस,
२. (दश च शतम् च) दस दस करके सौ,
३. (शतम् च सहस्रम् च) सौ सौ करके हज़ार,
४. (सहस्रम् च अयुतम् च) हज़ार हज़ार करके दस हज़ार,
५. (अयुतम् च नि-युतम् च) दस दस हज़ार करके लाख,
६. (नि-युतम् च प्र-युतम् च) लाख लाख करके दस लाख।
७. (अर्बुदम् च नि-अर्बुदम् च) दस करोड़ और एक अरब।

अथवा

१. (एका च दश च दश च) १×१०=१० [दस],
२. (दश च दश च शतम् च) १०×१०=१०० [सौ],
३. (शतम् च दश च सहस्रम् च) १००×१०=१,००० [हज़ार],
४. (सहस्रम् च दश च अयुतम् च) १,०००×१०=१०,००० [दस हज़ार],
५. (अयुतम् च दश च नि-युतम् च) १०,०००×१०=१,००,००० [लाख],
६. (नि-युतम् च दश च प्र-युतम् च) १,००,०००×१०=१०,००,००० [दस लाख],
७. (अर्बुदम् च दश च नि-अर्बुदम् च) १०,००,००,०००×१०=१,००,००,००,००० [एक अरब]

इसी प्रकार बढ़ती, बढ़ती, राष्ट्रसम्पदा खर्वों से शंखों तक पहुंचे। मेरा राष्ट्र भौतिक सम्पदाओं का हो वह (समुद्रः च) महासागर, जिसका (मध्यम् च अन्तः च परार्धः च) मध्य, अन्त और परार्ध [सदा आप्लावित रहे]।

स्वच्छ शासन जहां होता है वहां राजा, राष्ट्र और प्रजा की समृद्धि निरन्तर बढ़ती रहती है।

१. वेद-संविधान के लिए देखिए, मत्कृत, यजुर्वेद के दसवें अध्याय की व्याख्या।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उपर्युक्त संख्याएं गणित में दशमलव-पद्धति का ज्ञान प्रदान कररही हैं। गणित के आंकड़े दशमलव में होने से हिसाब रखने में बहुत सुविधा होती है।

राजा प्रणेता के प्रति अपने आदेश को पुनः दोहराता है, (अग्ने) प्रणेतः ! (मे) मेरी, मेरे राज्य की (एताः) ये (इष्टकाः) सम्पदाएं [राष्ट्रजनों के लिए] (धेनवः सन्तु) धेनुएं हों, दुधार गौओं के समान सर्वतः स्वास्थ्यकर और श्रेयस्कर हों। साथ ही, ये सम्पदाएं ऐसी शुद्धता से निष्पादित और सेवित हों कि इनसे जहां इस लोक में प्रजाजनों को सुख की प्राप्ति हो, (अमुत्र) वहां (अमुष्मिन् लोके) उस लोक में, परलोक में भी कल्याणकारिणी हों, परलोक की सिद्धि करने वाली भी हों।

सम्पदाएं धर्म्य साधनों से सिद्ध की जाती हैं और धर्मपूर्वक उनका सेवन किया जाता है तो लोक और परलोक, दोनों लोकों की सार्थक सिद्धि होती

अग्ने ! मेरी ये सम्पदाएं होवें धेनु,
एक गुणा दस, दस होजाएं;
होजाएं दस गुणा दस, सौ;
सौ गुणा दस, सहस्र होजाएं;
हों सहस्र गुणा दस, दस सहस्र;
दस सहस्र गुणा दस, लाख हों;
हों लाख गुणा दस, दस लाख;
दस करोड़ गुणा दस, हों एक अरब।
समुद्र जिसका मध्य, अन्त,
परार्ध रहे आप्लावित।
अग्ने ! मेरी ये सम्पदाएं हों धेनु
वहां, उस लोक में।

सूक्ति : इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्तु।
अग्ने ! मेरी ये सम्पदाएं दुधार गौओं के
अमृतधाराएं हों।

८५३ **ऋतव स्थ ऋतावृध ऋतुष्ठा स्थ ऋतावृधः।**
घृतश्चुतो मधुश्चुतो विराजो नाम कामदुघा अक्षीयमाणाः। य १७.३

ऋतवः स्थ ऋत-वृधः ऋतु-स्थाः स्थ ऋत-वृधः।
घृत-श्चुतः मधु-श्चुतः वि-राजः नाम काम-दुघाः अ-क्षीयमाणाः।

धन और सम्पदाएं प्रायः मानवों को व्यसनों और विलासों में निमग्न कर देती हैं। अतः राष्ट्रप्रणेता को सम्बोधन करने के पश्चात् राष्ट्रपति राजा राष्ट्रजनों को सम्बोधन करते हुए कहता है,

१) तुम (स्थ) हो [मेरे राज्य के] (ऋतवः) ऋतु, (ऋत-वृधः) ऋत का वर्धन करनेवाले।

सभी ऋतु जिस प्रकार ऋत [प्राकृत नियमों] के अनुसार विविध सम्पदाओं का उत्पादन करते हैं उसी प्रकार नागरिक भी ऋत का रक्षण और पालन करते हुए सम्पदाओं का संसर्जन करें।

ऋत का अर्थ जहां नियम और ईश्वरीय विधान है वहां उसका अर्थ सत्य, सही, सत्याचार, सदाचार भी है। एवमेव, ऋतु का अर्थ मौसम है वहां उसका अर्थ ऋताचारी, सत्याचारी और विहित नियमों का पालन करनेवाला भी है।

२) नागरिको ! जहां तुम ऋतु हो, ऋताचारी, सत्याचारी, सत्यनिष्ठ, विहित विधानों और नियमों का पालन करनेवाले हो, वहां तुम (ऋतु-स्थाः) ऋताचार में स्थित [होकर] (ऋत-वृधः) ऋत का वर्धन करनेवाले।

स्वच्छ और स्वस्थ शासन में नागरिक नागरिकाएं ऋत में स्थित रहते हुए

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वर्धन कररहे होते हैं।

३) और हो तुम (घृत-श्चुतः) घृत चुआनेवाले, (मधु-श्चुतः) मधु चुआनेवाले, (वि-राजः) विविध-तथा जगमगानेवाले, विविध गुणों और भद्रताओं से शोभनेवाले, (नाम) नाम पैदा करनेवाले, (काम-दुघाः)काम-दुहा,कामनाओं का दोहन—पूरण करनेवाले, (अ-क्षीयमाणाः) क्षीण न होनेवाले।

समुन्नत राष्ट्र के नागरिक कैसे होने चाहिएं, इस विषय का यह शोभनीय चित्रण है। आदर्श राष्ट्र के आदर्श नागरिक होते हैं

१) घृत-श्चुतः, घृत चुआनेवाले, घृत के समान स्निग्ध स्नेह से प्रज्वलित रहनेवाले, देश और राष्ट्र को हृदय से प्यार करनेवाले, एक दूसरे को आत्मना प्रेम करनेवाले,

२) मधु-श्चुतः, मधु चुआनेवाले, राष्ट्र और विश्व में मधुरता सरसानेवाले, परस्पर सुमधुर व्यवहार करनेवाले,

३) वि-राजः, विविध शोभनीय गुणों और मानवीय भद्रताओं से प्रकाशनेवाले,

४) नाम, नेकनाम, प्रसिद्ध, प्रख्यात,

५) काम-दुघाः, राष्ट्र की और राष्ट्रजनों की कमनीय कामनाओं को पूर्ण करनेवाले, विश्व की आशाओं को पूरी करनेवाले,

६) अ-क्षीयमाणाः, किसी भी दृष्टि से किसी भी प्रकार क्षीण न होनेवाले, सतत समुन्नति करनेवाले।

तुम हो ऋतु, ऋतवर्धन करनेवाले;
तुम हो ऋतु में स्थित, ऋतवर्धन करनेवाले।
तुम हो घृतश्चुत, मधुश्चुत, विविधतया
प्रकाशनेवाले, नाम कमानेवाले,
कामदुहा और क्षीण न होनेवाले।

८५४ **समुद्रस्य त्वावकयाग्ने परि व्ययामसि। पावको अस्मभ्यं शिवो भव। य.१७.४**
समुद्रस्य त्वा अवकया अग्ने परि व्ययामसि। पावकः अस्मभ्यम् शिवः भव।

अब शासन और प्रजाजन अपने राष्ट्रपति राजा को सम्बोधन करते हुए कहते हैं,

१) (अग्ने) राष्ट्रपते ! राजन् ! हम (त्वा) तुझे (समुद्रस्य अवकया) समुद्र की अवका से (परि व्ययामसि) सर्वतः आच्छादित करते हैं, ढांप कर सुरक्षित रखते हैं।

अवका नाम उस समुद्रीय शैवाल वा सेवार का है जो उसमें स्थित समुद्रीय जन्तुओं को ढांपती है और समुद्र के वेगों तथा तूफ़ानों से उनकी रक्षा करती है। प्रजा- और शासन-रूप समुद्र राष्ट्रसेवी राजा की अवका बने। प्रजा और शासन सतर्कता के साथ प्राणपण से उसे सर्वतः सुरक्षित रखें और उसके अधिकार, सम्मान तथा जीवन की रक्षा करें।

२) राजन् ! (पावकः) पवित्रकर्ता तू (अस्मभ्यम्) हमारे लिए, हम प्रजाजनों के लिए (शिवः भव) कल्याणकारी हो।

राष्ट्रपति राजा स्वयं नितान्त पवित्र रहता हुआ जनता को पवित्र रखे और सदा लोकहित में निरत रहे।

अग्ने तुझे ढांपते हैं हम
समुद्र की अवका से।
पावक तू हमारे लिए रह कल्याणकारी।

सूक्ति : **पावको अस्मभ्यं शिवो भव।**
पवित्रकर्ता तू हमारे लिए कल्याणकारी हो।

८५५ **हिमस्य त्वा जरायुणाग्ने परि व्ययामसि। पावको अस्मभ्यं शिवो भव। य १७.५**
हिमस्य त्वा जरायुणा अग्ने परि व्ययामसि। पावकः अस्मभ्यम् शिवः भव।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१) (अग्ने) राजन् ! हम (त्वा) तुझे (हिमस्य जरायुणा) बर्फ़ की झिल्ली से (परि व्ययामसि) ढांपते हैं, सुरक्षित रखते हैं ।

बर्फ़ की झिल्ली [पर्त] से ढंपी हुई वस्तु न सड़ती है, न गलती है, न सूखती है, अपि तु ज्यों की त्यों सुरक्षित रहती है । उसी प्रकार हिम के समान शीतल, शान्त और सुरक्षाकारी नागरिक तथा शासन सर्व साधनों से अपने राष्ट्रसेवी की सर्वतः रक्षा करते हैं ।

२) राजन् ! (पावकः) शोधनशील तू (भ्यम् शिवः भव) हमारे लिए कल्याणकारी

अग्ने ! तुझे ढांपते हैं हम
हिम की जरायु से ।
पावक तू हमारे लिए हो कल्याणकारी ।

८५६ उप ज्मन्नुप वेतसे ऽव तर नदीष्वा ।
अग्ने पित्तमपामसि मण्डूकि ताभिरा गहि सेमं नो यज्ञं पावकवर्णं शिवं कृधि ॥

उप ज्मन् उप वेतसे अव तर नदीषु आ । अग्ने पित्तम् अपाम् असि मण्डूकि ताभिः आ
सा इमम् नः यज्ञम् पावक-वर्णम् शिवम् कृधि ।

१) (अग्ने) राजन् ! तू (अपाम् पित्तम् असि) प्रजाओं का तेज है ।

राष्ट्रसेवी राजा प्रजाओं में तेज का संचार करनेवाला होता है । वह नागरिक-नागरिकाओं के लिए ऐसी शिक्षा, संयम, श्रम और सदाचार की व्यवस्था करता हैं जिससे प्रजाएं तेजस्विनी और पराक्रमशालिनी होती चली जाती हैं ।

२) और (मण्डूकि) समृद्धे ! तू (आ) आ; (ज्मन् वेतसे) भूमि पर विस्तार में (उप अव तर) समीप उतर, (नदीषु) नदियों में, नदियों के प्रवाह में (उप अव तर) समीप उतर ।

'मडि' (भूषायाम्) धातु से **मण्डूकी** शब्द बना है जिसका अर्थ है सुशोभना, शोभामयी । समृद्धि को यहां मण्डूकी [सुशोभना] इसलिए कहा है कि समृद्धि जहां होती है वहां शोभनीयता अवश्य होती है । मातृभूमि के विस्तार में, नदियों में, पर्वतों में समृद्धि की शोभा सुशोभित होती है । समृद्धि का सम्बन्ध भूमि के विस्तार से और नदियों से प्रत्यक्ष है । नदियों से नहरें निकालकर, भूखण्डों और खेतों को सींचकर अन्नसम्पदा उत्पन्न की जाती है । भूमि के विस्तार में और नदियों के अवतरण का यही आशय है । भूमि के में, भूमि के गर्भ में खोज करने से खनिजसम्पदा की प्राप्ति होती है । नदियों के जलों से खेतों की सिंचाई की जाती है, वहां विद्युत् पैदा की जाती है । बिजली से उद्योगों का और संवर्धन होता है । इस प्रकार सम्पदाओं के सम्पादन से समृद्धि की होती है ।

३) समृद्धे ! तू (ताभिः) उनके साथ [सम्पदाओं] सहित (आ गहि) आ । (नः) तू (नः) हमारे, हम राष्ट्रजनों के (इमम् इस यज्ञ को, इस समृद्धियाग को (पावक-पावक-वर्णा और (शिवम्) कल्याणप्रद कर ।

समृद्धि वही धन्य है जो पावकवर्णा और हो । 'पावक' नाम पवित्र करनेवाले का है 'वर्णा' का अर्थ है रूप, सौन्दर्य । समृद्धि के साथ सदाचार का वर्धन होता है तो पावक-वर्णा होती है, राष्ट्र के रूप और

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

को पवित्रता से उपेत करनेवाली होती है, और होती है वह कल्याणप्रद भी। अन्यथा तो वह अ-पावकवर्णा, अशिव और लजानेवाली हो जाती है।

अग्ने ! तू है तेज प्रजाओं का।
समृद्धे ! आ,
उतर भूमि के विस्तार में,
उतर नदियों के प्रवाह में।
उनके सहित आ।
वह तू कर हमारे इस यज्ञ को
पावक-वर्ण, कल्याणप्रद।

८५७ **अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम्।**
अन्यांस्ते अस्मत् तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्यं शिवो भव। य १७.७
अपाम् इदम् नि-अयनम् समुद्रस्य नि-वेशनम्।
अन्यान् ते अस्मत् तपन्तु हेतयः पावकः अस्मभ्यम् शिवः भव।

१) राजन् ! तेरा (इदम्) यह (अपाम् नि-अयनम्) जलों का नि-मार्ग [प्रवाह] और (समुद्रस्य नि-वेशनम्) समुद्र का नि-प्रवेश [बन्दरगाह] है।

'अयन' नाम गमन, मार्ग, गति का है। 'वेश' का अर्थ है अन्दर जाने का रास्ता, प्रवेश द्वार, बन्दरगाह।

जल हरियाली अथवा हरी सम्पदा का आधार है। जहां जलप्रवाह प्रवाहित होते हैं वहीं अन्नों के हरे हरे खेत लहलहाते हैं। राज्य में सिंचाई का आधार आकाश-जलवृष्टि ही न हो, जलप्राप्ति के अन्य अनेक साधन—कूप, तड़ाग, नहर, आदि भी निर्मित किए जाने चाहिएं। इसी का नाम जलों का नि-अयन है।

राष्ट्र की अतिरिक्त वस्तुओं के देश-देशान्तरों में निर्यात के लिए समुद्र तक माल पहुंचाने और ढोने का प्रवेशपथ [Corridor] भी उपलब्ध होना चाहिए। माल ढोने के समुद्री जहाज़ों के साथ साथ सवारी-जलयानों की भी व्यवस्था होनी चाहिए। देश की रक्षा के लिए समुद्री युद्धपोत भी हों। उनके लिए बन्दरगाह भी निर्मित हों।

२) राजन् ! (ते हेतयः) तेरी हेतियां [दण्ड-विधियां] (अस्मत् अन्यान् तपन्तु) हमसे अन्यों को तपाएं।

हम राष्ट्रनिष्ठ जन हैं। हम राष्ट्रनिष्ठों से जो भिन्न [विद्रोही] हैं, राज्य का न्यायदण्ड उनके लिए कठोरता के साथ तपाने/दबानेवाला हो।

३) राजन् ! (पावकः) विद्रोहियों को तपानेवाला तू (अस्मभ्यम्) हमारे लिए, हम राष्ट्रनिष्ठों के लिए (शिवः भव) कल्याणकारी हो।

तेरा यह जलों का प्रवाह,
समुद्र का नि-प्रवेश।
हमसे भिन्नों को तपाएं
तेरी हेतियां।
पावक तू हो शिव हमारे लिए।

८५८ **अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया। आ देवान् वक्षि यक्षि च।**
[ऋ ५.२६.१, सा १५२१] य १७.८
अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया। देव जिह्वया। आ देवान् वक्षि यक्षि च।

१) (पावक) पवित्र करनेवाले ! (देव) दिव्यताओं से युक्त ! राष्ट्र में दिव्यताओं का प्रसार करनेवाले ! (अग्ने) राजन् ! राष्ट्रपति राजा अपने राज्य और राज्यवासियों

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

को पवित्र करनेवाला हो। वह राष्ट्र में ऐसी व्यापक व्यवस्था करे कि राष्ट्रजनों के विचार, आचार, व्यवहार और आहार शुद्ध, परिशुद्ध रहें, और वे सदा सदाचार से सुयुक्त रहें।

वह हो **देव**, दिव्य गुणों से युक्त रहता हुआ राष्ट्रजनों के जीवनों में दिव्यताओं का संचार करनेवाला और मातृभूमि में दिव्य सम्पदाओं का सम्पादन करने और कराने वाला।

२) (मन्द्रया जिह्वया) आनन्द्रप्रद वाणी से (रोचिषा) तेज के साथ (देवान्) नागरिकदेवों को/का (आ वक्षि) आवहन कर (च) और (यक्षि) संगत कर, समादर कर।

राजा पावक होता है तो शासन स्वच्छ रहता है और जनता भी शुद्ध रहती है। राजा दिव्य गुणों से युक्त होता है तो शासन और जनता दिव्यताओं से युक्त रहते हैं। उस अवस्था में शासन और जनता आत्मनिष्ठा के साथ राजनियमों विधिविधानों का पालन करते हुए कर्तव्यों सम्यक् संवहन करते हैं। ऐसे राज्य में रा राजा आनन्दप्रदा वाणी से राष्ट्रजनों समृद्धिकरण के लिए सुप्रेरणा करता है, तेज के साथ, सुन्दर रीति से राष्ट्र के देव-नैति सम्यक् निर्वहन करता है, और सभी नाग नागरिकाओं को परस्पर संगत रखता हुआ आदर करता है। ऐसे उत्साहपूर्ण वातावर देश में सर्वत्र समृद्धिकरण होरहा होता है।

पावक ! देव ! अग्ने !
आनन्दप्रदा वाणी से,
तेजस्विता के साथ
कर देवों का आवहन
और कर संगतिकरण, कर समादर।

८५९ **स नः पावक दीदिवोऽग्ने देवाँ इहा वह। उप यज्ञं हविश्च नः।**
[ऋ १.१२.१०] य १७.९

सः नः पावक दीदि-वः अग्ने देवान् इह आ वह। उप यज्ञम् हविः च नः।

(पावक) पवित्र करनेवाले ! (दीदि-वः) जाज्वल्यमन् ! (अग्ने) राजन् ! (सः) वह तू (इह) यहां, इस राज्य में (देवान् नः उप आ वह) देवजनों को हमारे प्रति आवहन कर/ला (च) और (नः यज्ञम्) हमारे राष्ट्रयज्ञ को (हविः उप आ वह) हवि उपावहन कर, हवि प्राप्त करा।

हवि शब्द का प्रयोग यहां जीवनसुविधा की शुद्ध वस्तुओं के लिए हुआ है। राजा जहां राष्ट्र का शोधक हो, वहां वह अग्नि के समान जाज्वल्यमान, और सूर्य के समान तेजस्वी हो। उसके मंत्रिमण्डल तथा शासन में देवजन अथवा देवकोटि के व्यक्ति हों, जो प्रजा को जीवनावश्यकता की शुद्ध की शुद्धता के साथ प्राप्ति कराते रहें।

शासन का संचालन देव कोटि के व्यक्ति हैं तो राष्ट्र में जीवनसुविधा की सब वस्तुएं के समान नितान्त शुद्ध मिलती हैं और शुद्ध साथ प्राप्त होती हैं। सच्ची समृद्धि का स्वरूप है।

पावक ! जाज्वल्यमन् ! राजन् !
वह तू यहां हमारे प्रति
देवजनों को कर नियुक्त, और
हवि प्राप्त करा हमारे राष्ट्रयज्ञ को।

८६० **पावकया यश्चितयन्त्या कृपा क्षामन् रुरुच उषसो न भानुना।**
तूर्वन् न यामन्नेतशस्य तू रण आ यो घृणे न ततृषाणो अजरः।
[ऋ ६.१५.५] य १७.१०

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पावकया यः चितयन्त्या कृपा क्षामन् रुरुचे उषसः न भानुना ।
तूर्वन् न यामन् एतशस्य नु रणे आ यः घृणे न ततृषाणः अ-जरः ।

हमारा (यः) जो [राष्ट्रपति राजा] (पावकया चितयन्त्या कृपा) पवित्रकारिणी, चेतानेवाली शक्ति से (क्षामन्) पृथिवी पर, राज्यभूमि में (भानुना उषसः न) सूर्यप्रकाश से उषाओं के समान (रुरुचे) सुशोभित हुआ हुआ है, (यः) जो (एतशस्य यामन्) अश्व के मार्ग में (घृणे रणे) प्रदीप्त रण में, प्रचण्ड संग्राम में (ततृषाणः न) प्यासे के समान (तूर्वन् न) संहार करता हुआ सा (नु आ) सद्यः आता है, फ़ौरन आक्रमण करता है वह हमारा राजा सदैव (अ-जरः) जरा-रहित, सर्वसमर्थ रहे।

इस मन्त्र के मिष से वेदमाता ने राष्ट्रपति राजा की क्षमता का संकेत किया है ।

राजा की शक्ति का उपयोग पवित्रता के साथ हो। और हो उसकी शक्ति चेतानेवाली, ऐसी चेतानेवाली कि किसी को भी राष्ट्रनियमों, संविधानों, नियमों तथा आदेशों को भंग करने का भूलकर भी विचार और साहस न हो ।

जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से उषाएं नित्य प्रकाशित होती हैं, उसी प्रकार राज्यभूमि में राष्ट्रपति राजा के व्यक्तित्व के प्रकाश से प्रजाएं प्रकाशित होती रहें ।

तीव्रगामी अश्व के मार्ग में जिस प्रकार अश्व मंज़िल को तय करता हुआ तेज़ी के साथ दौड़ता है उसी प्रकार देश और न्याय की रक्षा के लिए प्रचण्ड संग्राम में राजा शत्रु के ख़ून के प्यासे की तरह आक्रमणकारियों का संहार करता हुआ शत्रुओं पर टूट पड़नेवाला हो ।

प्रजाएं कामना करें कि उनका ऐसा तेजस्वी और न्यायशील राजा सदा जरारहित, सक्षम और सशक्त रहे ।

पवित्रकारिणी, चेतानेवाली शक्ति से जो
सूर्यप्रकाश से उषाओं की तरह
पृथिवी पर सुशोभित हुआ हुआ है,
अश्व के मार्ग में, प्रचण्ड युद्ध में
जो प्यासे की तरह संहार करता हुआ
फ़ौरन आक्रमणकारियों पर आक्रमण करता है,
रहे सदा वह अजर ।

८६१ **नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्ते अस्त्वर्चिषे ।**
अन्यांस्ते अस्मत् तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्यं शिवो भव ।
[य ३६.२०] य १७.११
नमः ते हरसे शोचिषे नमः ते अस्तु अर्चिषे ।
अन्यान् ते अस्मत् तपन्तु हेतयः पावकः अस्मभ्यम् शिवः भव ।

राजा के प्रति मंगलकामना करते करते शासन और प्रजाजन प्रभु से सनमस्कार आत्मविनय करते हैं, १) (नमः ते हरसे, शोचिषे) नमस्कार तुझ हरणशील शोचनशील के लिए ।

प्रभु का सौंदर्य भक्तों के हृदयों को हरण करनेवाला है। हर सौन्दर्य दर्शकों के हृदयों को हर लेता है। प्रभु का सौन्दर्य परम सौन्दर्य है, अनुपम सौन्दर्य है। प्रभु के सौन्दर्य पर मुग्ध भक्तजन कहते हैं, **'नमः ते हरसे**, नमस्कार तुझ हृदयों को हरनेवाले के लिए।' पाप-तापहारी होने से भी प्रभु को हरणशील कहा जाता है। **'नमः ते हरसे,** नमस्कार तुझ पाप-तापहारी के लिए।' उसके

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

दर्शन से सब पाप-तापों का हरण होजाता है।

'शोचनशील' का अर्थ है शोचन [शोधन] करने वाला। 'शोचिः' शब्द में शुचिता का भाव अन्तर्निहित है। उसके संदर्शन से उसके प्रेमी सर्वथा शुद्ध, पवित्र होजाते हैं। इसी भाव से उन्होंने कहा है, **'नमः ते शोचिषे'** नमस्कार तुझ शोचनशील के लिए।'

२) (नमः अस्तु ते अर्चिषे) नमस्कार हो तुझ अर्चनीय के लिए।

केवल सौन्दर्य के कारण कोई अर्चनीय नहीं होता है। अर्चनीय वही है जो सुन्दर होते हुए शोधक भी हो। प्रभु सुन्दर भी है और शोधक भी। इसी लिए वह अर्चनीय है।

३) (ते हेतयः अस्मत् अन्यान् तपन्तु) तेरी हेतियां हमसे भिन्नों को तपाएं।

तपन्तु का अर्थ है तपाएं, तपाकर शुद्ध करें। स्वर्ण जितना अग्नि में तपाया जाता है उतना ही वह शुद्ध जाता है, हो शुद्ध कुन्दन कर तपानेवाली हैं अग्नि की हेतियां, तपनें, रश्मियां। तपाकर पवित्र करनेवाला होने को पावक कहा गया है। 'इस राज्य प्रजाजनों और शासकवर्गों को ही नहीं पड़ोसी राज्यों के जनों को भी तेरी तपनें [किरणें] तपाकर शुद्ध करें। सारे तेरी तपनों से शुद्ध रहें।'

४) (पावकः) शोधक तू (अस्मभ्यम्) हमारे हम सब प्रजाजनों के लिए (शिवः भव) कल्याणकारी हो, ऐसा कल्याणकारी कि हम सब शुद्ध रहते हुए अपने राज्य और राजा सनिष्ठ रहें।

नमस्कार तुझ हरणशील शोचनशील के लिए,
नमस्कार तुझ अर्चनीय के लिए।
हमसे भिन्नों को तपाएं तेरी हेतियां,
पावक तू हो मंगलप्रद हमारे लिए।

८६२ नृषदे वेडप्सुषदे वेड् बर्हिषदे वेड् वनसदे वेट् स्वर्विदे वेट्। य १७.१२

नृ-सदे वेट् अप्सु-सदे वेट् बर्हिसदे वेट् वन-सदे वेट् स्वः-विदे वेट्।

प्रभु से अपनी आत्मविनय जारी रखते हुए प्रशासन और प्रजाजन कहे चले जारहे हैं,

१) हमारे द्वारा (नृ-सदे) नरों/नायकों में स्थित के लिए (वेट्) स्वाहाकार हो, सत्कार हो, प्राणपणता के साथ सुरक्षण हो।

राष्ट्रपति राजा नर-नायकों में स्थित हो तो उसके लिए प्रशासन तथा प्रजाओं का सर्वस्व सुहुत/अर्पित हो, वह उनके द्वारा सत्कृत हो, प्राणपणता के साथ वे उसकी सुरक्षा पर तत्पर हों।

२) हमारे द्वारा (अप्सु-सदे) जलों में स्थित के लिए (वेट्) स्वाहाकार/सत्कार/सुरक्षण हो।

राजा जब समुद्रादि जलाशयों में स्थित हो तो प्रशासन तथा प्रजाओं द्वारा उसके लिए सब सुविधाएं सुहुत हों, वह उनके द्वारा सत्कृत उसकी सुरक्षा सम्पादन करें।

३) हमारे द्वारा (बर्हि-सदे) सिंहासन पर हुए के लिए (वेट्) स्वाहा/सत्कार/सुरक्षण

राजा जब राज-दरबार में विराज रहा प्रशासन तथा प्रजाओं द्वारा उसके लिए अर्पित हो, उनके द्वारा उसका सत्कार उसकी सुरक्षा करें।

४) हमारे द्वारा (वन-सदे) वन में स्थित (वेट्) स्वाहा/सत्कार/सुरक्षा हो।

राजा जब वन में डेरा डाले हुए हो तो और प्रजाओं द्वारा उसके लिए सर्व सुविधाएं हों, उनके द्वारा उसका सत्कार हो,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सुरक्षा करें।

५) हमारे द्वारा (स्वः-विदे) आकाश में विद्यमान के लिए (वेट्) स्वाहा/सत्कार/सुरक्षा हो।

राजा जब वायुयान द्वारा आकाश में हो तो प्रशासन और प्रजाओं द्वारा उसके लिए सर्व सुविधाएं सुहुत हों, उनके द्वारा उसका सत्कार हो, वे उसकी सुरक्षा करें।

राजा के प्रति प्रशासन और जनता की निष्ठा, तथा राजा की ओर से उनके प्रति अनुराग जब होता है तो समृद्धिकरण का पथ सहजतया प्रशस्त रहता है।

नर-नायकों में स्थित के लिए वेट्,
जलों में स्थित के लिए वेट्,
सिंहासन पर स्थित के लिए वेट्,
वन में स्थित के लिए वेट्,
आकाश में स्थित के लिए वेट्।

८६३ **ये देवा देवानां यज्ञिया यज्ञियानां संवत्सरीणमुप भागमासते।**
अहुतादो हविषो यज्ञे अस्मिन्त्स्वयं पिबन्तु मधुनो घृतस्य। य १७.१३

ये देवाः देवानाम् यज्ञियाः यज्ञियानाम् सम्-वत्सरीणम् उप भागम् आसते।
अ-हुत-अदः हविषः यज्ञे अस्मिन् स्वयम् पिबन्तु मधुनः घृतस्य।

प्रशासन तथा प्रजा, दोनों का प्रीतिभाजन राष्ट्रपति राजा अहुतसेवी देवों के प्रति निवेदन करता है, (ये) जो (देवानाम् देवाः) देवों के/में देव, (यज्ञियानाम् यज्ञियाः) यज्ञियों के/में यज्ञिय (सम्-वत्सरीणम् भागम् उप आसते) सम्-वत्सरीण भाग को उपासते हैं वे (अ-हुत-अदः) अ-हुतभक्षी, अ-हुतसेवी [देव] (अस्मिन् यज्ञे) इस राष्ट्र-यज्ञ में (हविषः) हवि का, (मधुनः) मधु का, (घृतस्य) घृत का (स्वयम् पिबन्तु) स्वयं पान करें।

हुत-अदः=हुत का भक्षण, सेवन करनेवाले। जो हुत का, अर्पित का, प्रदत्त दान का सेवन करते हैं उनकी संज्ञा 'हुत-अदः' है। जो हुत का, अर्पित का, दान का सेवन न करके, उसका लोकहित में उपयोग करते हैं उनकी संज्ञा 'अ-हुतअदः' [अ-हुतादः] है। जनसेवी देव और देवियां लोककल्याण की अनेक साधों की साधना कररहे होते हैं। उनकी सिद्धि के लिए राजा भी और प्रजा भी उन्हें लाखों, करोड़ों, अरबों, खरबों का दान करते हैं। वे उस दान में से अपने लिए कुछ भी व्यय न करके सबका सब देश, राष्ट्र और विश्व के सुमंगल में व्यय करते हैं। ऐसे वे अहुताद देव, निस्सन्देह देवों के देव और यज्ञियों के यज्ञिय हैं, और हैं वे संवत्सरीण भाग की उपासना करनेवाले। संवत्सर जिस प्रकार वर्षानुवर्ष और ऋत्वनुऋतु अपने भाग की उपासना करते हुए नाना प्रकार के उत्पादन और उपकार करते हैं किन्तु स्वयं उनका सेवन नहीं करते हैं उसी प्रकार अहुताद देव यावज्जीवन वर्षानुवर्ष, यथाकाल, यथावसर अपने दिव्य कर्तव्यांश की निष्काम उपासना करते हैं। वे जैसे ब्रह्म की उपासना करते हैं वैसे ही वे राष्ट्रजनों और विश्वजनों के प्रति अपने दिव्य भाग की साधना करते हैं। उनके लिए लोकसेवा और जनता का मार्गदर्शन एक सुपावन उपासना है।

ऐसे अहुताद देव सर्वस्व राष्ट्र और राष्ट्रजनों की सेवा में सुहुत करते रहते हैं। अतः वे राष्ट्र में जन जन के प्राणप्यारे बन जाते हैं। परिणामस्वरूप, राजा, शासन और जनता उन्हें हवि, मधु और घृत का पान कराते हैं। हवि से तात्पर्य यहां द्रव्य का दान है, मधु से मधुर आतिथ्य, और घृत से स्निग्ध स्नेह। वे राष्ट्र के लिए सर्वस्व होमते हैं तो

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

राष्ट्रजन भी उनके लिए हवि, मधु और घृत की धाराएं सुप्रवाहित करते रहते हैं, उनका मधुर आतिथ्य करते हैं। और उन्हें प्राणपणता के साथ प्यार करते हैं।

अहुताद देवों के लिए राष्ट्र की सेवा एक पेशा नहीं, एक सुपावन यज्ञ है। वह देश धन्य है, वह राष्ट्र सुधन्य है जिसमें ऐसे देवों का निवास है। जो राजा और राष्ट्र ऐसे देवों का पूजन उनका नितराम समृद्धिकरण होता रहता है।

जो देवों के देव, यज्ञियों के यज्ञिय
संवत्सरीण भाग को हैं उपासते,
वे अहुताद देव पान करें स्वयं
इस यज्ञ में हवि का, मधु का, घृत का।

८६४ **ये देवा देवेष्वधि देवत्वमायन् ये ब्रह्मणः पुरएतारो अस्य।**
येभ्यो न ऋते पवते धाम किञ्चन न ते दिवो न पृथिव्या अधि स्नुषु। य १७.१४

ये देवाः देवेषु अधि देव-त्वम् आयन् ये ब्रह्मणः पुरः-एतारः अस्य।
येभ्यः न ऋते पवते धाम किम् चन न ते दिवः न पृथिव्याः अधि स्नुषु।

अहुतसेवी (ये देवाः) जो देव (देवेषु अधि) नागरिक-देवों में अधिष्ठित [रहकर] (देव-त्वम् आयन्) देव-त्व को प्राप्त हुए रहते हैं, (ये अस्य ब्रह्मणः पुरः-एतारः) जो इस ब्रह्म के सामने-विचरनेवाले हैं, जो प्रत्यक्ष ब्रह्म के साक्षात्कार में गमन करते हैं, (येभ्यः ऋते) जिनके बिना (न पवते) नहीं पवित्र होता है (धाम किम् चन) धाम कोई भी (ते) वे (न दिवः, न पृथिव्याः) न द्यौ के, न पृथिवी के (स्नुषु) प्रान्तों में (अधि) अधिष्ठित रहते हैं।

राष्ट्रपति राजा के मुख से यह उक्ति अहुताद देवों के प्रति यथार्थ श्रद्धाञ्जलि है।

अहुताद देव ब्रह्म के साक्षात्कार में विचरते हैं, ब्रह्मलीन रहते हुए सदा ब्राह्म कर्म करते हैं। ब्रह्म की सृष्टि में उनका अपना कोई स्वार्थ और कार्य नहीं होता है। वे जो कुछ करते हैं, ब्रह्म से प्रेरित और ब्रह्म को प्रार्पित होकर ब्रह्म की प्रजा के समृद्धिकरण तथा सुखीकरण में निरत रहते हैं।

सतत ब्रह्मलीन और ब्रह्म के साक्षात्कार में विचरने से वे इतने निर्मल, निर्विकार और सुपावन होजाते हैं कि जहां भी उनके चरण पड़ते हैं वही स्थान पवित्र होजाता है। कोई धाम वा स्थान उन्हें पवित्र नहीं करता है, अपि तु सब धाम विद्यमानता से पवित्र होजाते हैं।

वे न द्यौ की ऊंचाइयों में, न भूमि के में, अपि तु देवेषु अधि, मानवदेवों में, नागरिकारूप देवों में अधिष्ठित रहकर देवत्व की स्थापना करके अपने देवत्व को करते हैं।

इस मन्त्र का भावार्थ दर्शाते हुए दयानन्द लिखते हैं—

'येऽत्र जगति विद्वत्तमा योगाधिराजा परमेश्वरं जानन्ति ते निखिलजगत् सन्तो जीवन्मुक्तिदशायां परोपकारकाः विदेहमुक्तिदशायां न सूर्यलोके न च नियतं वसन्ति किन्तु ब्रह्मणि स्थित्वाऽव्याहत सर्वत्राभिविहरन्ति।

जो इस जगत् में उत्तम विद्वान् यथार्थता से परमेश्वर को जानते हैं वे प्राणियों को शुद्ध करने और जीवन्मुक्ति परोपकार करते हुए विदेहमुक्ति-अवस्था सूर्यलोक और न पृथिवी पर नियम से किन्तु ईश्वर में स्थिर होके अव्याहत गति विचरा करते हैं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जो देव देवों में अधिष्ठित,
देवत्व को हुए प्राप्त,
जो हैं पुर-एता इस ब्रह्म के,
जिनके बिना नहीं पवित्र होता है
कोई धाम,
वे न द्यौ के, न पृथिवी के
प्रदेशों में अधिष्ठित ।

८६५ **प्राणदा अपानदा व्यानदा वर्चोदा वरिवोदाः ।**
अन्याँस्ते अस्मत् तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्यं शिवो भव । य १७.१५

प्राण-दाः अपान-दाः व्यान-दाः वर्चः-दाः वरिवः-दाः ।
अन्यान् ते अस्मत् तपन्तु हेतयः पावकः अस्मभ्यम् शिवः भव ।

अपने राष्ट्रपति राजा के विनम्र निवेदन से सुप्रभावित होकर अहुतसेवी देव उससे कहते हैं,

१) तू है (प्राण-दाः) प्राण-दाता, प्राण के समान राष्ट्र में संजीवन का संचार करनेवाला ।

राजा राष्ट्रजनों में देश को सजाने, और राष्ट्र को सर्वाङ्गीण समृद्धि से सम्पन्न बनाने की सजीव भावना का सदा संचार करता रहे ।

२) तू है (अपान-दाः) अपान-प्रदाता, अपान के समान देश और राष्ट्र का शोधन करनेवाला ।

राजा राष्ट्रजनों में देश को साफ़-सुथरा, और राष्ट्र को भ्रष्टाचार से मुक्त तथा श्रेष्ठाचार से युक्त रखने की भावना का सतत संचार करता रहे ।

३) तू है (व्यान-दाः) व्यान-प्रदाता, व्यान के समान व्यापने की प्रेरणा करनेवाला !

राजा राष्ट्रजनों में भी तथा अहुतसेवी देवों में भी ऐसी भावना भरे कि वे देश-देशान्तरों में व्यापकर जहां व्यापार-व्यवसाय द्वारा अपने देश और राष्ट्र की समृद्धि का वर्धन करें, वहां वे विश्व में अपनी सुभावन संस्कृति तथा सुभावन सभ्यता का प्रसार भी करें ।

४) तू है (वर्चः-दाः) वर्चः-प्रदाता ।

वर्च नाम प्रतिभा, ओज और सौन्दर्य का है । राजा ऐसी सुव्यवस्था करे कि राष्ट्र के नागरिक-नागरिका प्रतिभा, ओज और सौन्दर्य से सुशोभित रहते हुए देश के वैभव और राष्ट्र के गौरव की वृद्धि करें ।

५) तू है (वरिवः-दाः) ऐश्वर्यों का देनेवाला ।

राजा का शासन ऐसे न्याय, नियम, सुनीति और सुरक्षा से युक्त हो कि समग्र प्रजा सब प्रकार के धनैश्वर्यों तथा शोभनीय गुणों और पराक्रमों से सुयुक्त रहे ।

६) (ते हेतयः) तेरी हेतियां [दण्डनिधियां] (अस्मात् अन्यान् तपन्तु) हमसे अन्यों को तपाएं ।

हम देश, राष्ट्र, राजा और प्रजा के प्रति पूर्ण निष्ठा रखनेवाले जन हैं । अतः हमारे प्रति तेरा समादर और सम्मान का भाव सदा सुस्थिर रहे । तद्विपरीत, जो राजद्रोही, राष्ट्रद्रोही, प्रजापीड़क और जनशोषक जन हैं उनके लिए तेरा न्यायदण्ड कठोरता के साथ तपाने और दबानेवाला हो ।

७) (पावकः) विद्रोहियों और शोषकों को तपाने वाला तू (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (शिवः भव) कल्याणकारी हो ।

तू है प्राणदा, अपानदा,
व्यानदा, वर्चोदा, वरिवोदा ।
हमसे भिन्नों को तपाएं
तेरी हेतियां ।
पावक तू हो शिव हमारे लिए ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

८६६ **अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यासद् विश्वं न्यत्रिणम् । अग्निर्नो वनते रयिम् ।**
[ऋ ६.१६.२८, सा २२] य १७.१६
अग्निः तिग्मेन शोचिषा यासत् विश्वम् नि अत्रिणम् । अग्निः नः वनते रयिम् ।

१) हमारा (अग्निः) अग्रणी राजा (नि यासत्) निरन्तर नष्ट करे, निरन्तर निर्मूल करता रहे (तिग्मेन शोचिषा) तीक्ष्ण तेज से (विश्वम् अत्रिणम्) सब खाजानेवाले को, जो कुछ खाजानेवाला है उस सबको ।

व्यसन, विलास, प्रमाद, आदि दुरितसमूह है जो सुसम्पन्न और समृद्ध राष्ट्रों को घुन की तरह खा जाता है । राजा देश और राष्ट्र का पावक है, अग्रणी है । उसका शासन इतना सजग और तेजोमय हो कि देश की सम्पन्नता और राष्ट्र की समृद्धि के साथ प्रजा में दुरितसमूह न पनपने पाए । यदि वह कभी पनपने लगे तो राजा अपने तेजस्वी शासन द्वारा उसे साथ के साथ निर्मूल करता रहे । राजा के तेज और शासन के ओज से ही यह सम्भव होता है । अहुतसेवी देवों की राजा के प्रति यह प्रद शिक्षा है ।

२) (अग्निः) अग्रणी राजा (वनते) प्रदान करता है (नः) हमें, हम नागरिक-नागरि को (रयिम्) आत्मैश्वर्य ।

आत्मैश्वर्य अथवा अध्यात्मसम्पदा ही राज्यों और राष्ट्रों को सर्वभक्षक, सर्वनाशक समूह से बचाता है । राजा की शासनक तथा शिक्षा ऐसी गहन आध्यात्मिक हो कि प्रजा की जीवनपद्धति नितान्त योगयुक्त आध्यात्मिक हो ।

तीक्ष्ण तेज से अग्नि निरन्तर
नष्ट करे सब अत्रि को ।
अग्नि हमको है प्रदान करता आत्मैश्वर्य ।

८६७ **य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः ।**
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आ विवेश ।
[ऋ १०.८१.१] य १७.१७
यः इमा विश्वा भुवनानि जुहूवत् ऋषिः होता नि असीदत् पिता नः ।
सः आ-शिषा द्रविणम् इच्छमानः प्रथम-छत् अवरान् आ विवेश ।

राजा को प्रभु की महिमा दर्शाते हुए अहुतसेवी देव कहते हैं,

१) (यः ऋषिः होता) जिस ऋषि होता ने (इमा विश्वा भुवनानि) इन सब लोकों को (जुहूवत्) होमा है, प्रादुर्भूत किया है, और उनमें (नि असीदत्) निरन्तर स्थित हुआ हुआ है, (सः नः पिता) हमारा वह पिता (आ-शिषा) साशिष [हमको] (द्रविणम्) धनैश्वर्य [प्रदान करने की] (इच्छमानः) इच्छा करता हुआ, (प्रथम-छत्) प्रथमों को आच्छादन करके (अवरान्) अवरों को (आ विवेश) व्यापे हुए है ।

परमात्मा होता है । उसने सर्वस्व सर्व के लिए सुहुत किया हुआ है, और वह सदा सर्वस्व होमता रहता है । अपने लिए वह बचा नहीं रखता है । अतः वह 'होता' है । शब्द होता का विशेषण है । य ऋषति, संसार-पारं स ऋषिः । जो संसार में रहे संसार से पार है, परे है उसे ऋषि कहते परमात्मा अखिल सृष्टि में व्यापा हुआ भी से परे है । अतः वह ऋषि है ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ऋषि होता प्रभु राजा, प्रजा, सबका समान स्वामी है। अपनी न्यायव्यवस्था से वह साशिष सबको सब कुछ देने की इच्छा से जहां प्रथमों को आच्छादे हुए है, वहां वह अवरों को भी व्यापे हुए है। 'प्रथमों' से तात्पर्य सामाजिक दृष्टि से बड़े लोगों से है। 'अवरों' से तात्पर्य समाज के छोटे व्यक्तियों से है। परमात्मा बड़ों का और छोटों का, सभी का पिता है। सभी को वह सब कुछ देता है। उसी प्रकार राजा को चाहिए कि वह समान रूप से बड़ों और छोटों के सम्पर्क में रहता हुआ, अपनी सारी प्रजा में धनैश्वर्य के संवितरण की व्यवस्था सदा करे। जैसे परमात्मा का सकलैश्वर्य आत्म-प्रजाओं के लिए है अपने लिए नहीं, वैसे ही राजा का राज्य और सारा ऐश्वर्य प्रजाओं के लिए है राजा के लिए नहीं। पिता जिस प्रकार आशीर्वादों के साथ अपने पुत्र-पुत्रियों को सब कुछ देता है, राजा भी पितृभावना के साथ सब कुछ प्रजाजनों में वितरित करने की इच्छा करे। परमात्मा जिस प्रकार सब लोकों और प्राणियों में समाया हुआ है उसी प्रकार राजा सारे राज्य में और प्रजाओं में समाया रहे।

जिस ऋषि होता ने होमा है
इन सारे भुवनों को,
हुआ हुआ है स्थित निरन्तर।
पिता हमारा वह साशिष
करता हुआ इच्छा धन देने की,
प्रथमों को आच्छादन करके
अवरों को व्यापा हुआ है।

८६८ **किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत् स्वित् कथासीत्।**
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः।
[ऋ १०.८१.२] य १७.१८

किम् स्वित् आसीत् अधि-स्थानम् आ-रम्भणम् कतमत् स्वित् कथा आसीत्।
यतः भूमिम् जनयन् विश्व-कर्मा वि द्याम् और्णोत् महिना विश्व-चक्षाः।

(स्वित्) भला (किम् आसीत् अधि-स्थानम्) क्या था आधार, (स्वित्) भला (कतमत् कथा आसीत् आ-रम्भणम्) कौनसा, कैसा था आ-रम्भण/आदि-कारण, (यतः) जिससे (विश्व-चक्षाः विश्व-कर्मा) विश्व-द्रष्टा विश्व-रचयिता ने (महिना) स्वव्याप्ति से (भूमिम् द्याम्) भूमि और द्यौ को (जनयन्) प्रकट/उत्पन्न करते हुए (वि और्णोत्) आच्छादन किया/व्यापा हुआ है।

एक विश्व-द्रष्टा विश्व-कर्मा है जिसने द्यौ-भू का, सारी सृष्टि का संसर्जन किया है। वही इस सबका आश्रय और आधार है।

कौन सा और कैसा था सृष्टि का आरम्भण? प्रकृति तथा प्राकृत नियम थे सृष्टि का आदि-कारण, जिससे विश्वकर्मा ने सृष्टि की रचना की।

'महिना' शब्द का प्रयोग यहां 'व्याप्ति से' अर्थ में हुआ है। विश्वकर्मा ने अपनी व्याप्तिमात्र से सृष्टि का सर्जन किया है और वह स्वयं इसमें व्यापा हुआ है। द्यौ, भू, आदि की रचना में उसे कोई श्रम नहीं करना पड़ता है। उसकी व्याप्ति-मात्र से यह सब कुछ हुआ है और होता रहता है। सृष्टि अभाव से भाव में नहीं आई है, उसका प्रजनन/प्रादुर्भाव हुआ है। ब्रह्म के गर्भ में प्रकृति वर्तमान थी, और रचनाक्रम से उसी गर्भस्थ प्रकृति का सृष्टि के रूप में प्रादुर्भवन हुआ है।

अहुतसेवी देव, इस मन्त्र से, राजा पर यह प्रभाव अंकित करते हैं कि जिस प्रकार विश्वकर्मा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

स्वमहिमा से विश्व की सुरचना करता है उसी प्रकार राजा स्वमहिमा से स्वदेश और स्वराष्ट्र का सुनिर्माता बने। उसे अपने देश और राष्ट्र का सुनिर्माण करना चाहिए।

भला क्या था आधार,
भला कौन सा, कैसा था आरम्भण
जिससे विश्वद्रष्टा विश्वकर्मा ने
स्वव्याप्ति से भू-द्यौ को प्रकट करते हुए
व्यापा हुआ है।

८६९ **विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।**
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः।
[ऋ १०. ८१. ३, अ १३. २. २६] य १७.१९
विश्वतः-चक्षुः उत विश्वतः-मुखः विश्वतः-बाहुः उत विश्वतः-पात्।
सम् बाहु-भ्याम् धमति सम् पतत्रैः द्यावा-भूमी जनयन् देवः एकः।

१) वह विश्वकर्मा है (विश्वतः-चक्षुः) सर्वतः-नेत्र, सर्वत्र देखनेवाला, सर्वद्रष्टा।

अपनी सर्वव्याप्ति से वह सर्वत्र सब कुछ देखता है।

२) (उत) और [वह है] (विश्वतः-मुखः) सर्वतो-मुख।

सर्वव्यापक होने से वह सर्वत्र सबके मुख-समुख है, सबके सम्मुख सदा उपस्थित है, सब उसके सम्मुख है।

३) वह है (विश्वतः-बाहुः) सर्वतो-बाहु।

'बाहृ' (प्रयत्ने) धातु से बाहु शब्द सिद्ध होता है। सर्वव्यापक होने से उसका प्रयत्न [पुरुषार्थ] सर्वत्र कार्य कर रहा है। सर्वशक्तिमान् होने से उसकी प्रयत्नशक्ति सर्वत्र विद्यमान है।

४) (उत) और [है वह] (विश्वतः-पात्) सर्वतो-पग।

'पात्' नाम गमनसाधन का है। सर्वव्यापक होने से वह सर्वत्र गति कररहा है, सदा सर्वत्र पहुंचा हुआ है।

५) वह (देवः) देव (एकः) एकला ही, बिना किसी अन्य की सहायता के (पतत्रैः) पतनशीलों द्वारा, प्रकृति की गतिशील शक्तियों द्वारा (द्यावा-भूमी) द्यौ-भू को (जनयन्) प्रकट करता (बाहु-भ्याम्) धारण- और आकर्षण-[रूप दो बाहुओं] से [सृष्टि को] (सम्, सम् धमति) सन्तत हाँक/प्रेर रहा है।

एवमेव राजा अपने राज्य में सदा सर्वत्र रखता हुआ, प्रजा के मुख-समुख रहता हुआ, प्रयत्न/पुरुषार्थ करता हुआ, सर्वत्र भ्रमण हुआ, सबका सर्वतोमहान् एक अधीश होकर शील सचिवों तथा सुभटों के साहाय्य [शासन] और भूमि [प्रजा] का संवर्धन करता अपने न्याय- और रक्षणसामर्थ्य—[रूप दो से राज्य और राष्ट्र का सुष्ठुतया सम्यक् करे। अहुतसेवी देवों की राजा के प्रति यह अतिशय अनुकरणीय है।

सर्वतोनेत्र और सर्वतोमुख,
सर्वतोबाहु और सर्वतोपग।
उभय बाहुओं से सम्यक् सुष्ठुतया
प्रेर रहा है देव एक,
पतनशीलों द्वारा प्रकट करता हुआ
द्यौ-भू को।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

८७० किं स्विद् वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ।
[ऋ १०.८१.४] य १७.२०

किम् स्वित् वनम् कः उ सः वृक्षः आस यतः द्यावा-पृथिवी निः-ततक्षुः ।
मनीषिणः मनसा पृच्छत इत् उ तत् यत् अधि-अतिष्ठत् भुवनानि धारयन् ।

अहुतसेवी देव अब राजा और राजपुरुषों को सम्बोधन करते हैं—

१) (स्वित्) भला (किम् वनम्) कौन जंगल ? (उ कः सः वृक्षः) और कौन वह वृक्ष (आस) था, (यतः) जिससे [पतनशीलों ने, प्रकृति की गतिशील शक्तियों ने] (द्यावा-पृथिवी) द्यु लोक और पृथिवीलोक को (निः-ततक्षुः) तराश-तराशकर बनाया ?

२) कौन वह [यत्] जो [भुवनानि धारयन्] लोक-लोकान्तरों को धारण करता हुआ [उनमें] [अधि-अतिष्ठत्] अधि-ष्ठित हुआ हुआ है, अधिष्ठाता रूप से विराजा हुआ है, व्यापा हुआ है ।

३) [मनीषिणः] मनीषियो ! मननशीलो ! बुद्धिमानो ! समझदारो ! (तत्) वह, उस विषय में [मनसा] स्वमन से [पृच्छत इत् उ] पूछो तो, जिज्ञासा तो करो ।

उपर्युक्त प्रकार से जिज्ञासायुक्त मनन और चिन्तन करने से राजा और राजपुरुषों के मानस में आस्तिकता तथा प्रभुभक्ति की स्थिर स्थापना होती है और, परिणामस्वरूप, उनमें मानवता तथा मानवधर्म की सतत अनुभूति रहती है, और वे कभी किसी प्रकार का भ्रष्टाचार तथा कदाचार नहीं करते हैं ।

परमाणुसमूह वह वन है, प्रकृति वह वृक्ष है, गतिशील प्राकृत नियमों ने जिससे द्यौ, भू तथा लोक-लोकान्तरों का निर्माण किया है । ब्रह्म वह अनन्त, असीम, अपार आधार है जिसमें यह असीम, अपार सृष्टि अधिष्ठित है, और जो स्वयं इस सबमें अधिष्ठित है । इस तथ्य की अनुभूति से राजा और राजपुरुष राज्य की भूमि का विकास, राष्ट्र का सुनिर्माण और प्रजा के सुखैश्वर्यों का संवर्धन सदा करते रहें ।

भला कौन जंगल ?
और कौन था वह वृक्ष
जिससे [पतत्रों ने] तराश-तराशकर
बनाया द्यौ-भू को ?
कौन जो भुवनों को धारण करता हुआ,
हुआ हुआ है अधिष्ठित ?
मनीषियो ! पूछो तो मन से वह ।

८७१ या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा ।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ।
[ऋ १०. ८१. ५] य १७.२१

या ते धामानि परमाणि या अवमा या मध्यमा विश्व-कर्मन् उत इमा ।
शिक्ष सखि-भ्यः हविषि स्व-धा-वः स्वयम् यजस्व तन्वम् वृधानः ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अहुतसेवी देव अब समृद्धिशील राजा को सम्बोधन करते हुए कहते हैं—

१) (विश्व-कर्मन्) ! (स्व-धा-वः) स्व-धारणा-वाले ! आत्म-धारणा-वन् ! (ते) तेरे (या परमाणि धामानि) जो परम धाम हैं, (या अवमा) जो निम्न [धाम हैं], (उत) और (या मध्यमा) जो मध्यम [धाम हैं], (इमा) इनको (शिक्ष) दे (सखि-भ्यः) सखाओं के लिए, राज्यनिष्ठों के लिए (हविषि) हवि में, धन-धान्य में (तन्वम्) राष्ट्र-तनू को (वृधानः) बढ़ाता हुआ।

राष्ट्रपति राजा को विश्वकर्मा और आत्म-धारणा-सम्पन्न होना ही चाहिए। राज्य और राष्ट्र के सभी कर्तव्य कर्मों के सम्पादन में कुशल तथा सक्षम होने से ही उसका विश्वकर्मा कहलाना सार्थक होता है। अविचल आत्मधारणा से युक्त रहते हुए ही वह विश्वकर्मा बना रह सकता है। विश्वकर्मत्व तथा आत्मधारणा का परस्पर अटूट सम्बन्ध है। आत्मधारणावान् ही विश्वकर्मा हो सकता है, अन्य नहीं।

राष्ट्र में तीन ही प्रकार के धाम अथवा पद होते हैं, परम अथवा उच्चतम, मध्यम, निम्न। मन्त्रियों के पद परम पद हैं। विभागों के सर्वोच्च अधिकारियों के पद मध्यम पद हैं। शेष सब राजकर्मचारियों के पद निम्न पद हैं। राजा को चाहिए कि राष्ट्रतनू को धन-धान्य में, कर्मकौशल में समृद्ध करता हुआ, और समृद्ध रखने के लिए, तीनों प्रकार के पदों पर राज्य और राष्ट्र के प्रति निष्ठा रखनेवालों को ही नियुक्त करे।

२) तू (स्वयम्) स्वयं (यजस्व) संगत हो कर, राष्ट्रयज्ञ का सम्पादन कर, शासनतन्त्र का संचालन कर।

राजा राजकाज को सम्पूर्णतया मन्त्रियों, अधिकारियों और कर्मचारियों पर छोड़ देवे। स्वयं राज्य और राष्ट्र की गतिविधि से अवगत और संगत रहे।

विश्वकर्मन् ! आत्मधारणावन् !
तेरे जो परम धाम, जो निम्न धाम,
जो मध्यम धाम,
इनको दे सखाओं के लिए,
हवि में तनु को बढ़ाता हुआ।
यज्ञ कर स्वयम्।

सूक्ति : **शिक्षा सखिभ्यः।**
दे सखाओं के लिए।
स्वयं यजस्व।
स्वयं यज्ञ कर।

८७२ **विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्।**
मुह्यन्त्वन्ये अभितः सपत्ना इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु।
[ऋ १०.८१.६, सा१५८९] य १७.२२

विश्व-कर्मन् हविषा ववृधानः स्वयम् यजस्व पृथिवीम् उत द्याम्।
मुह्यन्तु अन्ये अभितः स-पत्नाः इह अस्माकम् मघ-वा सूरिः अस्तु।

१) (विश्व-कर्मन्) ! (हविषा) धन-धान्य से, धनैश्वर्य से (ववृधानः) बढ़ता हुआ, समृद्धि करता हुआ (स्वयम्) खुद (पृथिवीम् उत द्याम् यजस्व) पृथिवी और द्यौ को संगत कर, ज़मीन-आसमान एक कर।

जो राष्ट्रनिष्ठ राजा राष्ट्र की समृद्धि और संवर्धन में ज़मीन-आस्मान एक करता है, वह निस्सन्देह, 'विश्वकर्मन्' सम्बोधन को

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

करनेवाला है।

२) राजा अपने राष्ट्र का संवर्धन तथा समृद्धीकरण ऐसी तन्मयता, कुशलता और पूर्णता के साथ कररहा हो कि उस पर (अन्ये स-पत्नाः) अन्य स्पर्धा करनेवाले [राष्ट्र] (अभितः) सर्वतः (मुह्यन्तु) मुग्ध होजाएं।

विकास, वर्धन और समृद्धि के विषय में राष्ट्रों की पारस्परिक स्पर्धा सर्वथा वाञ्छनीय और प्रशंसनीय होती है। अपने अपने राष्ट्र की उन्नति के लिए टकराना जहां नितान्त निषिद्ध है, वहां उनमें उन्नत्यर्थ स्वस्थ स्पर्धा सर्वथा सराहनीय है। एक दूसरे की उन्नति से प्रेरित होकर एक दूसरे से आगे बढ़ने की भावना सभी राष्ट्रों के लिए श्रेयस्कर है।

३) (इह) यहां, इस राष्ट्र में (अस्माकम्) हमारा (सूरिः) सूर्य के समान तेजस्वी राजा (अस्तु) हो (मघ-वा) मघवान्, पूजित धनों का स्वामी।

'मघ' नाम पूजित अथवा पूजनीय धन का है। सभी भौतिक धन उपयोगी तो हैं पर पूजा के योग्य नहीं। पूजा के योग्य धन मानवीय भद्रताएं ही हैं। हमारा सूरि [राजा] मघवा हो, अहुतसेवी देवों की यह मंगलभावना सर्वतः आदरणीय है। राष्ट्र के तीनों धाम भी वैसे हों।

विश्वकर्मन् !
हवि से वर्धन करता हुआ
स्वयं तू संगत कर द्यौ-भू को।
अन्य स्पर्धा करनेवाले
अभितः मुग्ध होजाएं।
यहां हमारा सूरि होवे
पूज्य धनों का स्वामी।

सूक्ति : स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्।
स्वयं ज़मीन-आस्मान एक कर।

८७३ **वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम।**
स नो विश्वानि हवनानि जोषद् विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा।
[ऋ १०.८१.७, य ८.४५] य १७.२३

वाचः पतिम् विश्व-कर्माणम् ऊतये मनः-जुवम् वाजे अद्य हुवेम।
सः नः विश्वानि हवनानि जोषत् विश्व-शम्भूः अवसे साधु-कर्मा।

हुम [अहुतसेवी देव तथा प्रजाएं] (अद्य) आज, प्रतिदिन (हुवेम) पुकारें, बुलाएं (वाजे) वाज में (ऊतये) रक्षार्थ (वाचः पतिम् मनः-जुवम् विश्व-शम्भूः साधु-कर्मा विश्व-कर्माणम्) वाक्-पति, मनो-वेगी, विश्व-शं-भावयिता, शोभन-कर्मा, विश्व-कर्मा [राष्ट्रसेवी राजा] को।

अद्य शब्द का प्रयोग यहां दिन दिन, प्रतिदिन अर्थ में हुआ है।

वाज नाम ज्योति, शक्ति और संग्राम का है। देश का संरक्षण और राष्ट्र का समृद्धीकरण कोई साधारण संग्राम नहीं है, एक असाधारण संग्राम है जिसमें विजय वा साफल्य ज्योति और शक्ति के संयोग से होता है।

ऊति नाम रक्षा, प्रगति तथा समृद्धि का है। देश और राष्ट्र के सर्वतः सुरक्षित रहने पर ही प्रगति और समृद्धि सम्यक् सम्भव होती है।

राजा हो वाचः पति, वाणी का पति, वक्तृत्व-निष्पन्न, सुभाषी, सुभाषण-कर्ता। राजा सबके प्रति स्नेह और सौहार्द के साथ बोले और सार्वजनिक सभाओं में दक्षतापूर्वक भाषण करे। उसका भाषण जन जन में ज्योति और शक्ति का संचार करनेवाला हो। उसके प्रेरणाप्रद भाषणों से प्रजा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

में विजय की भावना का आपूरण हो।

राजा हो **मनः-जू**, मनों में वेग का संचार करनेवाला, सर्वजनों को मनोवेगी बनानेवाला।

राजा हो **विश्व-शम्भू**, विश्व में शम् [शान्ति, सुख, स्वस्ति] की स्थापना करनेवाला। राजा की नीति विश्व में अशान्ति और उत्तेजना फैलाने वाली न होकर, विश्व में पारस्परिकता की स्थापना करनेवाली हो। राजा युद्धजयी तो हो, युद्ध भड़कानेवाला न हो।

राजा हो **साधु-कर्मा**, साधुतायुक्त कर्म करनेवाला और, साथ ही, साधुता के साथ सब निर्णय और कार्य करनेवाला। साधुशील और साधुताप्रिय राजा ही स्वराष्ट्र और विश्व के लिए महावरदान सिद्ध होता है।

राजा हो **विश्व-कर्मा**, सब राज-कार्यों का दक्षता और कुशलता के साथ सम्पादन करनेवाला।

निर्माण और समृद्धीकरण के जौहरपूर्ण संग्राम में रक्षा तथा मार्गदर्शन के लिए दिग्-दे जहां से भी बुलावा आए और पुकार हो वहीं पहुंचे। जनता उसका अभिनन्दन करे वह देवों तथा सर्व जनों की कठिनाइयों समस्याओं का समाधान करे।

२) (अवसे) रक्षार्थ (सः) वह (नः) हमारी प्रजाओं और देवों के (विश्वानि) सब (हवं निवेदनों को, पुकारों को (जोषत्) सप्रेम करे, आत्मीयता के साथ स्वीकार करे।

अपने सार्वजनिक अभिनन्दनों के समाप्ति घोषणा करके राजा उनकी सम्पूर्ति की व्य करे। राज्य की नीतियों की घोषणा करे उनके क्रियान्वयन की सद्यः व्यवस्था करे।

हम प्रतिदिन बुलाएं वाज में
रक्षार्थ वाक् के पति, मनोजू,
विश्वशम्भू, साधुकर्मा विश्वकर्मा को।
रक्षार्थ वह हमारे सब हवनों को
सेवन करे सप्रेम।

८७४ **विश्वकर्मन् हविषा वर्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरवध्यम्।**
तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीरयमुग्रो विहव्यो यथासत्।
[य ८.४६]
य १७.२४

विश्व-कर्मन् हविषा वर्धनेन त्रातारम् इन्द्रम् अकृणोः अ-वध्यम्।
तस्मै विशः सम् अनमन्त पूर्वीः अयम् उग्रः वि-हव्याः यथा असत्।

राष्ट्रसेवी विश्वकर्मा राजा जहां भी जाता है प्रजाएं तथा अहुतसेवी देव उसका अभिनन्दन करते हुए उसके प्रति कहते हैं,

१) (विश्व-कर्मन्)! तूने (हविषा वर्धनेन) हवि द्वारा वर्धन से (इन्द्रम्) राष्ट्र को (त्रातारम्, अ-वध्यम्) तारक और अ-वध्य (अकृणोः) कर लिया है, बना दिया है।

हवि से तात्पर्य यहां धन-धान्य तथा ऐश्वर्य से है।

इन्द्र शब्द का प्रयोग यहां राष्ट्र के लि है। प्रजारूप इन्द्रियों का स्वामी होने से इन्द्र है।

विश्वकर्मा राजा का सर्वकर्मत्व इसी में वह अपने देश को हवि से समृद्ध, और रा राष्ट्रजनों का तारनेवाला बनाए। साथ ही की दृष्टि से उसका राष्ट्र अवध्य हो। उस और राष्ट्र का कोई बाल बांका न करे ऐसा ही राजा प्रजा द्वारा वन्दनीय

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अभिनन्दनीय होता है।
२) (तस्मै) उसके लिए, उस तेरे लिए (पूर्वीः विशः) श्रेष्ठ प्रजाएं (सम् अनमन्त) सम्यक् नम गई हैं, सम्यक् नमन किया करती हैं।
'संनमन' से तात्पर्य शिरोधार्यता तथा आदेश-पालन है। श्रेष्ठ प्रजाएं जब शिरोधार्यता के साथ श्रेष्ठ राजा के आदेशों का पालन करती हैं तो ही राष्ट्र समद्धिशाली, तारक और अवध्य बनता है।
३) राजा और प्रजा की राष्ट्रनिष्ठा से (अयम्) यह [राष्ट्र] (यथा) यथावत् (उग्रः) प्रखर, प्रचण्ड और (वि-हव्यः) विविध हवियों/धन-धान्यों/धनैश्वर्यों से सम्पन्न (असत्) होगया है, हुआ है।

जहां राजा और प्रजा के सम्बन्ध दृढ़ और गहन आत्मीयता से परस्पर सम्बद्ध रहते हैं वहीं राष्ट्र उग्र और विहव्य रहता है।

विश्व-कर्मन् !
हवि द्वारा वर्धन से तूने
बना दिया है राष्ट्र को त्राता और अवध्य।
उस तेरे प्रति श्रेष्ठ प्रजाएं
सम्यक् नमन किया करती हैं।
यह होगया यथावत् उग्र और विहव्य।

८७५ **चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेने अजनन्नम्नमाने।**
यदेदन्ता अददृहन्त पूर्व आदिद् द्यावापृथिवी अप्रथेताम्।
[ऋ १०.८२.१] य १७.२५

चक्षुषः पिता मनसा हि धीरः घृतम् एने अजनत् नम्नमाने।
यदा इत् अन्ताः अददृहन्त पूर्वे आत् इत् द्यावा-पृथिवी अप्रथेताम्।

१) उग्र और विहव्य राष्ट्र के (चक्षुषः पिता) नेत्र [दृष्टि] का रक्षक (धीरः) धीर [राजा] (हि) ही (मनसा घृतम् अजनत्) मन से स्नेह प्रकट किया करता है।

धीर राजा अपने राष्ट्र की समृद्धि में निरत रहता हुआ, राष्ट्रजनों को मन से प्यार करता हुआ सभी प्रजाजनों की दृष्टि में सदा समाया रहता है। यही उसका नेत्र का रक्षक होना है। राष्ट्रजनों की दृष्टि को सुदृष्टि बनाए रखना भी नेत्र की रक्षा है। कोई भी नागरिक अपने प्रिय राष्ट्र और प्यारे राजा को कुदृष्टि से न देखे, आत्मीयता की दृष्टि से देखे।
२) (यदा इत्) जब ही (पूर्वे-अन्ताः) पूर्व क्षितिज (अददृहन्त) दृढ़ होगए होते हैं, (आत् इत्) अनन्तर ही (एने नम्नमाने द्यावा-पृथिवी) ये नमनशील द्यौ और पृथिवी (अप्रथेताम्) विस्तारा करते हैं, बहुत समृद्ध हुआ करते हैं।
ऊंचाई पर खड़े होकर जब सब ओर देखते हैं तो चारों ओर दूर तक ज़मीन और आस्मान एक दूसरे की ओर झुके और मिले दिखाई देते हैं। सब ओर दिखाई देनेवाले इन क्षितिजों को वेद में अन्ताः कहा गया है। जहां दृष्टि में प्रेम होता है वहां शासकवर्ग और प्रजावर्ग मातृभूमि और पितृ-राष्ट्र के क्षितिज बन जाते हैं। ये क्षितिज पारस्परिक नमनशीलता द्वारा जब पूर्व [श्रेष्ठ, पुराने] होकर सुदृढ़ होजाते हैं तो द्यौ [शासकवर्ग] और पृथिवी [नागरिकवर्ग], दोनों ही मिलकर सर्वांगीण समृद्धि का सतत विस्तार करते रहा करते हैं।

चक्षु का रक्षक, धीर ही प्रकट
किया करता है मन से स्नेह।
जब ही दृढ़ हुआ करते हैं
क्षितिज पूर्व, तब ही,
नम्नमान ये द्यावापृथिवी
हुआ करते हैं बहुसमृद्ध।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

८७६ **विश्वकर्मा विमना आद् विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक्।**
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन् पर एकमाहुः।
[ऋ १०.८२.२] य १७.२६

विश्व-कर्मा वि-मनाः आत् वि-हायाः धाता वि-धाता परमा उत सम्-दृक्।
तेषाम् इष्टानि सम् इषा मदन्ति यत्र सप्त-ऋषीन् परः एकम् आहुः।

आदर्श राष्ट्र के आदर्श शासक जन और आदर्श नागरिक जन (आत्) अनन्तर, विश्वकर्मा राजा के अनन्तर [उस] (एकम्) एक [ब्रह्म] को [विश्व-कर्मा] विश्व-कर्ता, सृष्टि रचनेवाला, (वि-मनाः) विविध विज्ञानों से युक्त, (वि-हायाः) विशेषतः आप्त, विश्वतः व्याप्त, (धाता) धारक, निर्माता, (वि-धाता) वि-धारक, वि-निर्माता, (सम्-दृक्) सन्द्रष्टा, सबको सम्यक् देखनेवाला (उत) और (सप्त-ऋषीन् परः) सात ऋषियों को लांघने-वाला (आहुः) कहते हैं, (यत्र) जहां, जिसमें (तेषाम्) उन [शासक जनों और नागरिक जनों] के, अपने (परमा इष्टानि) परम इष्टों को (इषा) [उसकी] इच्छा से [सिद्ध करके वे] (सम् मदन्ति) सम्यक् आनन्दित होते हैं।

पांच ज्ञानेन्द्रियां, बुद्धि, मन, इन सात ऋषियों की दौड़ से वह परे है। यही भाव 'सप्त-परः' में निहित है। राजा, रंक, सर्व उपासना करते हैं, उसी की इच्छा अथवा उनके परम इष्ट सिद्ध होते हैं, और वे प्राप्त करते हैं। राष्ट्र के सभी नागरिक परम आस्तिक बनकर उसकी भक्ति करें। कता और धार्मिकता से विहीन समृद्धि वस्तु अभिशाप सिद्ध होती है।

अनन्तर उसी एक को हैं कहते
विश्वकर्मा, विमना, विश्वव्यापक,
धाता, विधाता, संद्रष्टा और
सप्त-ऋषियों को लांघनेवाला,
जहां उसकी इच्छा से करके
सिद्ध उनके परम इष्टों को,
होते हैं, सम्यक् आनन्दित।

८७७ **यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।**
यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या।
[ऋ १०.८२.३, अ २.१.३] य १७.२७

यः नः पिता जनिता यः वि-धाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यः देवानाम् नाम-धाः एकः एव तम् सम्-प्रश्नम् भुवना यन्ति अन्या।

ब्रह्म के प्रति अपनी आस्था प्रकट करते हुए वे कहे चले जारहे हैं,

१) (यः) जो (नः) हमारा, हम सबका (पिता) पालनकर्ता [और सृष्टि का] (जनिता) प्रादुर्भा-वयिता है,

२) (यः) जो (वि-धाता) वि-धारक, कर्मफलदाता (विश्वा धामानि भुवनानि वेद) सब स्थानों लोकों को जानता है,

३) (य एकः एव) जो एक ही (देवानाम् नाम देवों का नाम धारण करनेवाला है, किसी से सब देवों के नाम रखे गए हैं,

४) (अन्या भुवना) अन्य भुवन, सब लोग

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सम्-प्रश्नम्) उस सं-प्रश्न को (यन्ति) प्राप्त होरहे हैं, उसी में स्थित हैं।

वह सबका पालन करनेवाला है। उसी की न्यायव्यवस्था से सबका सर्वतः पालन होरहा है।

सकल सृष्टि का प्रादुर्भावयिता भी वह ब्रह्म ही है। उसी की व्याप्ति से और उसी की सत्ता में सृष्टिप्रवाह चल रहा है।

वही सबके कर्मानुसार सबका भाग्यविधाता है।

कोई धाम [स्थान] वा कोई लोक ऐसा नहीं है जो उसकी सर्वज्ञता से ओझल हो।

अग्नि, वायु, जल, पृथिवी, सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्र, वरुण, मातरिश्वा, आदि देवों के जितने नाम हैं वे सब नाम उस ब्रह्म के भी हैं। **इन्द्रं मित्रं वरुण-मग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।**

(ऋ १.१६४.४६)

इस श्रुति के अनुसार ज्ञानी जन उस एक सद् ब्रह्म को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा, आदि अनेक नामों से पुकारते हैं।

सारे लोक जिस एक में स्थित हैं वह सम्प्रश्न है। उसके विषय में सदा ही सम्यक् प्रश्न होते रहे हैं और होते रहेंगे। उसके विषय में बहुत कुछ जान लेने पर भी, विप्रों द्वारा उसके निज रूप का दर्शन किए जाने पर भी वह जिज्ञासात्मक प्रश्नों का विषय सम्यक् बना रहा है और बना रहेगा।

जो हमारा पिता, प्रादुर्भावयिता,
जो विधाता जानता है सब धामों, भुवनों को,
जो एक ही देवों का नामधा
उस सम्प्रश्न को प्राप्त होरहे हैं भुवन सब।

सूक्ति : **तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या।**

सारे लोक उस सम्प्रश्न को प्राप्त हैं।

८७८ **त आयजन्त द्रविणं समस्मा ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना।**
असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि।

[ऋ १०.८२.४] य १७.२८

ते आ अयजन्त द्रविणम् सम् अस्मै ऋषयः पूर्वे जरितारः न भूना।
अ-सूर्ते सूर्ते रजसि नि-षत्ते ये भूतानि सम्-अकृण्वन् इमानि।

१) ब्रह्मभाव अथवा आस्तिकता की भावना का व्यापक प्रसार कौन करते हैं? वे (ये पूर्वे ऋषयः) जो श्रेष्ठ ऋषि होते हैं।

२) (ते) वे [श्रेष्ठ ऋषि] (जरितारः न) [प्रभु के] स्तुतिकर्ताओं के, समान, सच्चे भक्तों की तरह (अस्मै) इस [मानवसमाज] के लिए (भूना) बाहुल्य के साथ (द्रविणम्) ब्रह्म-धन (सम् आ अयजन्त) सम्यक् संगत/प्राप्त कराया करते हैं।

श्रेष्ठ ऋषि प्रभु के सच्चे स्तोता और भक्त होते हैं। वे प्रभु की महिमा का वर्णन तथा गान करते हुए मानवसमाज को अतिशयता के साथ ब्रह्मधन प्रदान करते हैं, नागरिकों को ब्रह्मसम्पदा से निहाल किया करते हैं, सर्व मानवों को ब्रह्म का उपासक बनाते हैं।

३) वे (नि-सत्ते रजसि) निश्चल लोक में [निवास करते हुए, स्थित रहते हुए] (अ-सूर्ते) अ-प्राप्त में, परोक्ष में (सूर्ते) प्राप्त में, प्रत्यक्ष में (इमानि भूतानि) इन मानवप्राणियों को (सम्-अकृण्वन्) सुसंस्कृत किया करते हैं।

श्रेष्ठ ऋषि निश्चल लोक में स्थित रहते हैं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ब्रह्म और धर्म में निश्चल आस्थावान् रहना ही 'निश्चल लोक में' निवास करना है। निश्चल आस्था से युक्त रहते हुए वे प्रत्यक्ष रूप से भी और अप्रत्यक्ष रूप से भी असंस्कृत मानवों को सुसंस्कृत बनाते रहा करते हैं। सुसंस्कृत होजाने पर ही मानव ईशविश्वासी और ईशोपासक बनते हैं। ईश्वर की सत्ता और महत्ता में अविश्वास करने वाले, निश्चय ही, असभ्य और असंस्कृत होते हैं।

होते हैं जो श्रेष्ठ ऋषि वे
स्तुतिकर्ताओं की तरह
इस मानवसमाज के लिए
प्राप्त कराया करते सम्यक्
बहुना ब्रह्मसम्पदा।
निश्चल लोक में स्थित हुए वे
प्रत्यक्ष में, अप्रत्यक्ष में
किया करते हैं सुसंस्कृत
इन सब मानवप्राणियों को।

८७९ **परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।**
कं स्विद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त पूर्वे।
[ऋ १०.८२.५] य १७.२९
परः दिवा परः एना पृथिव्या परः देवेभिः असुरैः यत् अस्ति।
कम् स्वित् गर्भम् प्रथमम् दध्रे आपः यत्र देवाः सम्-अपश्यन्त पूर्वे।

श्रेष्ठ ऋषि समृद्ध राष्ट्र की प्रजाओं को ब्रह्म के प्रति आस्थावान् बनाए रखने के लिए उपदेश करते हैं, १) लोगो! (स्वित्) भला [सोचो तो, बताओ तो], (आपः) सृष्टि के प्रवाह, सतत प्रवाहित रहने-वाले लोक-लोकान्तर (कम् प्रथमम् गर्भम्) किस विस्तृत गर्भ को, किस व्यापक ग्राहक को (दध्रे) आश्रय किए हुए हैं?

यह एक विवेकोत्तेजक सम्प्रश्न है। यह अनन्त, असीम सृष्टि निराधार नहीं है। एक सर्वाधार है जिसके आधार पर यह सब आधृत है।

२) (यत्र) जहां, जिस आधार पर (विश्वे पूर्वे देवाः) सब पूर्ण देव, सब विप्र दिव्य जन [इस सबको आधारित] (सम्-अपश्यन्त) सम्यक् देखा करते हैं, [वह आधार वह ब्रह्म ही है] (यत्) जो (अस्ति) है (दिवा परः) द्यौ से परे, (एना पृथिव्या परः) इस पृथिवी से परे, (देवेभिः, असुरैः परः) देवों और असुरों से परे।

परः शब्द परे, बृहत्तर, श्रेष्ठतर अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। समष्टि सृष्टि को तो सिवाय ब्रह्म के अन्य कोई देख नहीं पाता है। देव जन भी, असु भी सृष्टि को त्रिलोकांश के रूप में ही देख पा जिस लोक के हम निवासी हैं वह पृथिवी लो आकाश में बहुत ऊपर जो प्रकाशलोक दिखा हैं वह द्यु लोक है। द्यौ और पृथिवी के बीच अवकाश है उसकी संज्ञा अन्तरिक्ष है। ब्रह्म लोकों, देवों और असुरों की पहुंच से **नैनद् देवा आप्नुवन्** (य ४०.४), प्राकृतिक मानवी, दोनों ही प्रकार के देव उसकी थाह पाते हैं। मानवों की दो ही कोटियां हैं, दे असुर, अथवा योगी और भोगी। दोनों के विषय में 'नेति नेति' कहकर मौन होजा उसी के गर्भ में सब जगत् निहित है।

भला, किस व्यापक गर्भ को
आश्रय किए हुए हैं आपः?
जहां सम्यक् देखा करते हैं सब पूर्ण देव,
जो द्यौ से परे, इस पृथिवी से परे,
देवों, असुरों से परे।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

८८० तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ।
[ऋ १०.८२.६] य १७.३०

तम् इत् गर्भम् प्रथमम् दध्रे आपः यत्र देवाः सम्-अगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभौ अधि एकम् अर्पितम् यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ।

पूर्व-मन्त्र के आशय को दोहराते हुए श्रेष्ठ ऋषि प्रजाओं के प्रति कहे चले जारहे हैं,

लोगो ! (यत्र) जहां, जिस ब्रह्म में (विश्वे देवाः) सब दिव्य जन, सब योगी [आत्मसाधना द्वारा] (सम्-अगच्छन्त) सम्यक् प्राप्त [समाहित], हुआ करते हैं, जिस (अ-जस्य) अ-जन्मा [ब्रह्म] की (नाभौ) नाभि में, अन्तःस्थली में (एकम् अर्पितम्) एक [ब्रह्म] को अर्पित हुआ [संसार] (अधि) अधिष्ठित है, (यस्मिन्) जिस [ब्रह्म] में (विश्वानि भुवनानि) सब लोक (तस्थुः) स्थित हुए हुए हैं (तम् प्रथमम् गर्भम् इत्) उस व्यापक गर्भ को ही (आपः) सृष्टिप्रवाह, प्रवाहित लोक-लोकान्तर (दध्रे) आश्रय किए हुए हैं ।

जहां देव सब आत्मसमाहित
हुआ करते हैं,
जिस अज की नाभि में, अर्पित
एक को, विश्व अधिष्ठित,
जिसमें सारे लोक संस्थित हुए हुए हैं
उस ही व्यापक गर्भ को आश्रय
किए हुए हैं आपः ।

८८१ न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ।
[ऋ १०.८२.७] य १७.३१

न तम् विदाथ यः इमा जजान अन्यत् युष्माकम् अन्तरम् बभूव ।
नीहारेण प्र-आ-वृताः जल्प्या च असु-तृपः उक्थ-शसः चरन्ति ।

प्यारो ! तुम (तम् न विदाथ) उसे नहीं जानते हो (यः) जिसने (इमा) इनको, इन लोकों और लोकस्थ पदार्थों को (जजान) प्रकट [उत्पन्न] किया है ।

यह इतना सुन्दर, सुव्यवस्थित, नियमित और लाभप्रद जगत् यों ही, अपने आप ही, स्वयमेव, बिना प्रयास ही उत्पन्न नहीं होगया है । एक सर्व-व्यापक और सर्वज्ञ रचयिता और नियन्ता है, जिसने इस सृष्टि की सुरचना की है । अफ़सोस, तुमने उसे नहीं जाना, उसका साक्षात्कार नहीं किया । उसे जानो । उसकी स्तुति-प्रार्थनोपासना करो । उसका दर्शन करो ।

२) तुमने उसे नहीं जाना, इतना ही नहीं । (अन्यत्) तद्विपरीत, उलटा (युष्माकम्) तुम्हारा [उससे] (अन्तरम्) अन्तर, दूरीकरण (बभूव) होगया है, होता चला जारहा है ।

वह तुम्हारे अन्तस्तम में है, तुम्हारे निकटतम है । फिर भी तुम उसकी विस्मृति के कारण उससे दूर होगए हो और उससे दूर होते चले जारहे हो । वह तुम्हारी दृष्टि से ओझल होरहा है । तुम उसके दर्शन से वंचित होरहे हो ।

अब श्रेष्ठ ऋषि संसार के मायालीन, वाक्पटु,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रमाणवादियों को दृष्टि में रखकर कहते हैं, ये (असु-तृपः) प्राण-तर्पक, शरीर-पोशी, भोगी, विलासी, (उक्थ-शसः) कथन-विलासी, प्रमाण-वादी (नीहा-रेण च जल्प्या) नीहार से और वितण्डावाद से, कोहरा से और बकवाद से (प्र-आ-वृताः) आच्छन्न/आच्छादित/ढंपे हुए (चरन्ति) विचरते हैं। विलासी जीवन बिताने, कथनोपकथन करने, शास्त्रों के प्रमाण प्रस्तुत करने से उसका साक्षात्कार और संदर्शन असम्भव है। उसका साक्षात्कार और संदर्शन तो योग-जीवन आश्रय से होता है।

नहीं जानते हो तुम उसे,
इन सबको प्रकट किया है जिसने।
उलटा, होगया है अन्तर तुम्हारा।
विचरते हैं प्राण-तर्पक, प्रमाण-वादी
नीहार और जल्पि से ढंपे हुए।

सूक्ति : न तं विदाथ य इमा जजान
तुम उसे नहीं जानते जिसने रचा है

८८२ **विश्वकर्मा ह्यजनिष्ट देव आदिद् गन्धर्वो अभवद् द्वितीयः।**
तृतीयः पिता जनितौषधीनामपां गर्भं व्यदधात् पुरुत्रा। य १७.३२
विश्व-कर्मा हि अजनिष्ट देवः आत् इत् गन्धर्वः अभवत् द्वितीयः।
तृतीयः पिता जनिता ओषधीनाम् अपाम् गर्भम् वि अदधात् पुरु-त्रा।

१) मानवो ! (देवः) दिव्यस्वरूप परमात्मा (हि) ही (विश्व-कर्मा) विश्व-रचयिता [के रूप में] (अजनिष्ट) प्रकट हुआ हुआ है। यह उसका प्रथम रूप है।

२) (आत् इत्) अनन्तर ही [वह] (गन्धर्वः अभवत्) गन्धर्व हुआ [करता है]। वह उसका (द्वितीयः) दूसरा रूप है।

गन्धर्व शब्द का प्रयोग यहां दो प्रकार से हुआ है, गम्-धर्वः और गन्धः+वः। 'गम्' गमनशील विश्व को धारण करनेवाला। 'गन्धः' गन्ध, सुगन्ध, दिव्य गन्ध वाला।

सृष्टि की अपेक्षा से परमात्मा का प्रथम रूप है रचयिता का। रचना के उपरान्त वही सृष्टि को धारण करता है और उसके कण कण को अपनी सुवास से सुवासित करता है। यह परमात्मा का दूसरा रूप है।

३) वह (जनिता) प्रादुर्भावयिता, रचयिता, (पिता) रक्षक, धारक [ही] (ओषधीनाम् अपाम् गर्भम्) ओषधियों और जलों के गर्भ को (वि अदधात्) विविधतया स्थापन [सम्पादन] किया [कर] वह उसका (तृतीयः) तीसरा (पुरु-त्रा) कर तारनेवाला [रूप है]।

गर्भ से तात्पर्य यहां भण्डार है, 'ओषधि' तात्पर्य है शाक, फल, अन्न, आदि वन अथवा खाद्यों से, और 'जलों' से तात्पर्य है पेयों से। प्राणियों की उत्पत्ति से पूर्व, उनके लिए खाद्यों और पेयों की व्यवस्था है। ऐसा उस विश्वकर्मा का अद्भुत उसकी इस व्यवस्था के द्वारा बहुतों प्राणियों का बहुत त्राण और अमित है। समृद्ध नागरिक-नागरिका ऐसे देव की स्तुति-प्रार्थनोपासना करें और साक्षात्कार करें।

देव ही प्रकटा विश्वकर्मा,
अनन्तर ही हुआ गन्धर्व, द्वितीय।
जनिता पिता ने सम्पादन किया
ओषधियों का, जलों का गर्भ;
तृतीय पुरुत्रा।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

८८३ आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् ।
संक्रन्दनो ऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः ।
[ऋ १०.१०३.१, सा १८४६, अ १६.१३.२] य १७.३३
आशुः शिशानः वृषभः न भीमः घनाघनः क्षोभणः चर्षणीनाम् ।
सम्-क्रन्दनः अ-नि-मिषः एक-वीरः शतम् सेनाः अजयत् साकम् इन्द्रः ।

समृद्ध राष्ट्र जहां सर्वतः सुसम्पन्न और आस्तिक हो, वहां वह सब प्रकार से सक्षम और सुरक्षित भी रहना चाहिए। उसका सेनापति पूर्णतः दक्ष, और उसकी सेना नितान्त सशक्त हो। इस आशय का प्रकाशन इस मन्त्र से आरम्भ किया गया है। (आशुः) शीघ्रकारी, (शिशानः) तीक्ष्णकृत्, (वृषभः न भीमः) सांड के समान भयंकर, (घनाघनः) मदमत्त हाथी, काला बादल, (चर्षणीनाम् क्षोभणः) मनुष्यों का क्षोभयिता [उत्साहित करनेवाला], (सम्-क्रन्दनः) सम्यक्-क्रन्दक, गर्जनशील, (अ-नि-मिषः) अ-पलकझपक, सतर्क, (एक-वीरः) अद्वितीय-वीर (इन्द्रः) सेनापति (शतम् सेनाः) असंख्य सेनाओं को (साकम् अजयत्) एक साथ विजय किया करता है।

इन शत्रूणां दारयिता इन्द्रः, शत्रुओं को दीर्ण करनेवाला होने से सेनापति की संज्ञा इन्द्र है। वही (इन्द्रः) सेनापति (अजयत्) जीता करता है (शतम् सेनाः) असंख्य सैन्य मोर्चों को (साकम्) एक साथ, जो होता है (आशुः) बहुत चुस्त, फुर्तीला, (शिशानः) तीक्ष्ण शस्त्रों से सज्ज और तीक्ष्ण बुद्धि से सुयुक्त, (वृषभः न भीमः) सांड के समान भिड़नेवाला, (घनाघनः) मदमत्त हाथी के समान मस्त और काले बादल के समान आच्छादक, (चर्षणीनाम् क्षोभणः) नागरिकों का उत्साहवर्धन करनेवाला, (सम्-क्रन्दनः) सम्यक् गर्जना करनेवाला, (अ-नि-मिषः) एक निमेष [क्षण] का भी विलम्ब न करनेवाला, अनलस, (एक-वीरः) अपने प्रकार का एक वीर।

किया करता है विजय असंख्य सेनाओं को
आशु, तीक्ष्ण, वृषभवत् भीम, घनाघन,
नागरिकों का क्षोभयिता, सम्यक् गर्जना करनेवाला,
अनिमेष, एक-वीर सेनापति।

८८४ संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना ।
तदिन्द्रेण जयत तत् सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा ।
[ऋ १०.१०३.२, सा १८५०, अ १६.१३.३] य १७.३४
सम्-क्रन्दनेन अ-नि-मिषेण जिष्णुना युत्-कारेण दुःच्यवनेन धृष्णुना ।
तत् इन्द्रेण जयत तत् सहध्वम् युधः नरः इषु-हस्तेन वृष्णा ।

और (युधः नरः) योधा नरो ! वीर सैनिको ! तुम (सम्-क्रन्दनेन अ-नि-मिषेण जिष्णुना युत्-कारेण दुःच्यवनेन धृष्णुना इषु-हस्तेन वृष्णा इन्द्रेण) सम्यक्-गर्जनशील, सतर्क, जयशील, युद्ध-कारी अ-विचाल्य, धर्षणशील, शस्त्र-हस्त, वीर्यवान् सेनापति के साथ (तत्) उस[युद्ध]को (जयत) विजय करो, (तत्) उस[शत्रु की सेना]को (सहध्वम्) सहो, मुक़ाबला करो, परास्त करो।

सेनापति हो
१) सम्यक् क्रन्दनशील, संगर्जन अथवा संघोषणा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

करनेवाला शौर्य का संघोष करनेवाला,

२) अ-निमेष, अ-पलकझपक, सदा सतर्क और सावधान रहनेवाला, निमेष [पलक खोलने अथवा बन्द करने में जो क्षण लगता है उतनी] की भी देरी न करनेवाला, अनलस, फ़ौरन प्रत्याक्रमण करनेवाला,

३) **जिष्णु**, जयशील, पराजय स्वीकार न करनेवाला, विजय प्राप्त करके ही दम लेनेवाला,

४) **युत्-कार**, युद्धकारी, युद्ध का सतत अभ्यास करने-करानेवाला,

५) **दुः-च्यवन**, कभी च्युत न होनेवाला, अविचल, अविचाल्य, देश और राष्ट्र का वफ़ादार,

६) धर्षणशील, प्रगल्भ, निर्भीक, धर-दबोचनेवाला,

७) **इषु-हस्त**, शस्त्रास्त्र से सदा सज्ज, सदा सशस्त्र रखनेवाला,

८) **वृषा**, युद्ध में शस्त्रास्त्र की वृष्टि करनेवाला, हल्ला बोलनेवाला वीर्यवान्।

वीर सैनिक ऐसे सेनापति की अध्यक्षता विजय पर विजय लाभ करते हैं और सफलता साथ शत्रुओं का मुक़ाबला करके उन्हें परा करते हैं।

वीर सैनिको !
संघोषी, सतर्क, जयशील,
युत्कारी, अविचल, धर्षणशील,
शस्त्र-हस्त, वृषा सेनापति के साथ
जीतो उसे, उसे हराओ।

८८५ **स इषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी संस्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन।**
संसृष्टजित् सोमपा बाहुशर्ध्युग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता।
[ऋ १०.१०३.३, सा १८५१, अ १९.१३.४] य १७.३५

सः इषु-हस्तैः सः नि-षङ्गि-भिः वशी सम्-स्रष्टा सः युधः इन्द्रः गणेन।
सम्-सृष्ट-जित् सोम-पाः बाहु-शर्धी उग्र-धन्वा प्रति-हिताभिः अस्ता।

१) (सः) वह [सेनापति हो] (इषु-हस्तैः) शस्त्रधरों द्वारा, (सः) वह [सेनापति हो] (नि-षङ्गि-भिः) प्रक्षेपास्त्रों से सज्ज सेनाओं द्वारा [शत्रुओं को] (वशी) बस में करनेवाला।

सेनापति का परम कौशल चक्रव्यूह की ऐसी रचना करना है कि अल्पसंख्यक सैनिकों द्वारा शत्रु की विशाल सेना को घेरे में लेकर उसे हथियार डालने को मजबूर किया जा सके।

२) (सः युधः इन्द्रः) वह युद्धकुशल सेनापति हो (गणेन) गण [बटालियन] के साथ (सम्-स्रष्टा) संसर्जन करनेवाला, सक्षम मोर्चों की रचना करनेवाला।

सामरिक दृष्टि से महत्त्व के स्थानों पर सफल युद्धमोर्चों की स्थापना करना युद्धकुशल सेनापति का ही काम है।

३) शत्रुओं के (सम्-सृष्ट-जित्) सुगठित मोर्चों को जीतनेवाला [वह सेनापति हो] (सोम-पाः) [सेना] की रक्षा करनेवाला, (बाहु-शर्धी) बाहुबल से युक्त, (उग्र-धन्वा) उग्र-शस्त्री, (प्रति-हिताभिः) प्रहार/प्रति-आक्रमण करनेवाली सेनाओं से [शत्रुओं को] (अस्ता) उखाड़ फेंकनेवाला।

शत्रुओं के सुदृढ़ मोर्चों को छिन्न-भिन्न करने की विधि दर्शाना, बाहुबल से युक्त होना, उग्र और तीक्ष्ण शस्त्रों से सेनासहित सज्ज रहना, प्रत्याक्रमणों द्वारा शत्रुओं के आक्रमणों को विफल कर देना, ये सब बातें तो सेनापति की अनिवार्य योग्यताएं हैं ही। किन्तु युद्ध के दिनों में भी विजय पर विजय सम्पादन करते हुए भी सोम की रक्षा करना एक आचारनिष्ठ सेनापति का ही काम है। 'सोम' शब्द से तात्पर्य यहां मानवीय सोम्यता का

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भद्रता है। युद्ध में मानवता तथा मानवीय सौजन्य और भद्रता का परित्याग न स्वयं करना न अपनी सेना को करने देना, यह वीर सेनापति का श्रेष्ठाचार है।

वह हो इषुहस्तों द्वारा,
प्रक्षेपणशस्त्रियों द्वारा वशी।
वह योद्धा सेनापति हो
सम्यक् सर्जन करनेवाला।
संसृष्टों को जीतनेवाला सेनापति हो
सोम की रक्षा करनेवाला, बाहुबली,
तीक्ष्ण-शस्त्री, प्रतिप्रहारियों द्वारा
उखाड़ फेंकनेवाला।

८८६ **बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः।**
प्रभञ्जन्त्सेनाः प्रमृणो युधा जयन्नस्माकमेध्यविता रथानाम्।
[ऋ १०.१०३.४, सा १८५२, अ १९.१३.८] य १७.३६

बृहस्पते परि दीय रथेन रक्षः-हा अ-मित्रान् अप-बाधमानः।
प्र-भञ्जन् सेनाः प्र-मृणः युधा जयन् अस्माकम् एधि अविता रथानाम्।

१) (बृहस्पते) महान् सेनापते!

बृहतां पतिः = बृहस्पतिः। महान् सेनाओं और वीरों का संचालक होने से सेनापति को 'बृहस्पते' शब्द से सम्बोधित किया गया है।

२) (रक्षः-हा) राक्षसों का हनन करनेवाला तू (रथेन) युद्धयान द्वारा (परि दीय) सब ओर काट, सब ओर गमन कर।

युद्धावसरों पर सेनापति सुरक्षित युद्धयान में सवार होकर सब मोर्चों पर जा-जाकर ऐसी सुचारु व्यवस्था करे कि उसकी सेनाएं शत्रुओं का हनन करती हुई आगे बढ़ती रहें।

३) (अ-मित्रान्) शत्रुओं को [आगे बढ़ने से] (अप-बाधमानः) रोकता हुआ, [उनकी] (सेनाः) सेनाओं को (प्र-भञ्जन्) भंग करता हुआ, छिन्न-भिन्न करता हुआ, (प्र-मृणः) हिंसाकारियों को, हिंसक आक्रमणकारियों को (युधा) युद्ध द्वारा (जयन्) विजय करता हुआ (अस्माकम् रथानाम् अविता एधि) हमारे युद्धयानों का रक्षक हो।

युद्धयानों की रक्षा युद्धकाल में परमावश्यक है। आकाश, जल और भूमि, तीनों क्षेत्रों के युद्धयानों की कम से कम क्षति हो, इस बात का विशेष प्रबन्ध युद्ध के दिनों में होना चाहिए।

बृहस्पते! रक्षोहा तू रथ के द्वारा
कर सब ओर गमन और काट।
बाधता हुआ अमित्रों को,
छेदता हुआ सेनाओं को,
करता हुआ विजय युद्ध द्वारा हिंसकों को,
रक्षक हो हमारे यानों का।

८८७ **बलविज्ञाय स्थविरः प्रवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः।**
अभिवीरो अभिसत्त्वा सहोजा जैत्रमिन्द्र रथमा तिष्ठ गोवित्।
[ऋ १०.१०३.५, सा १८५३, अ १९.३.५] य १७.३७

बल-वि-ज्ञायः स्थविरः प्र-वीरः सहस्वान् वाजी सहमानः उग्रः।
अभि-वीरः अभि-सत्त्वा सहः-जाः जैत्रम् इन्द्र रथम् आ तिष्ठ गो-वित्।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(इन्द्र) सेनापते ! (बल-वि-ज्ञायः) बल-वि-ज्ञ, बल-वित्, (स्थविरः) स्थिर, अनुभवी, (प्र-वीरः) सुवीर, (सहस्वान्) बलवान्, (वाजी) वेगवान्, (सहमानः) सहमान, (उग्रः) प्रचण्ड, तीक्ष्ण, (अभि-वीरः) वीरों से घिरा हुआ, (अभि-सत्त्वा) सत्ववानों से घिरा हुआ, (सहः-जाः) बल-जा, (गो-वित्) भूमि-वित् तू (जैत्रम् रथम् आ तिष्ठ) जयसम्पादक युद्धयान पर सवार हो।

सेनापति हो

१) (बल-वि-ज्ञायः) बलाबल को जाननेवाला, अपने सैन्य बल को बढ़ाने की विधि को जाननेवाला, व्यूहों की रचना में कुशल।

२) (स्थविरः) स्थिर, अनुभवी, युद्धकुशल।

३) (प्र-वीरः) प्रकृष्ट वीर, सुवीर, सुवीरता से युक्त।

४) (सहस्वान्) बलवान्, शत्रुपराजयकारी।

५) (वाजी) ज्योति और शक्ति के आश्रय से संग्राम करनेवाला।

वाज नाम ज्योति, शक्ति और संग्राम का है। ज्योति और शक्ति के संयोग से ही युद्धों में विजय प्राप्त की जाती है।

६) (सहमानः) सहनशक्ति से युक्त, शत्रुओं को परास्त करने की क्षमता से सम्पन्न, मुक़ाबला, करनेवाला, मोर्चों पर डटनेवाला।

७) (उग्रः) प्रखर, प्रचण्ड, प्रदीप्त।

८) (अभि-वीरः) सब ओर अपने वीरों से घिरा हुआ, सब ओर वीरता का परिचय देनेवाला, सुभटों द्वारा सर्वतः सुरक्षित।

९) (अभि-सत्त्वा) सर्वतः सत्वयुक्त, आत्मसंबल से संयुक्त, सत्त्ववानों से घिरा हुआ।

१०) (सहः-जाः) बल-सम्पादक, मुक़ाबला करने का संबल सम्पादन करनेवाला।

११) (गो-वित्) भूमि-वित्, क्षैत्र क्षैत्र को जाननेवाला, भूमि-विजेता, शत्रुओं से जीती गई भूमियों पर स्वशासन स्थापन करनेवाला।

सेनापति को चाहिए विजित इलाक़ों पर साथ के साथ साधिकार शासन की स्थापना करके सुव्यवस्था क़ाइम करता चला जाए, ताकि उन प्रदेशों में अव्यवस्था तथा अशान्ति न होने पाए। विजय समृद्धि का सोपान है।

वह सदा जैत्र अथवा अभेद्य युद्धयानों पर स्थित होकर सर्वत्र भ्रमण तथा निरीक्षण करता रहे।

इन्द्र ! बलवित्, स्थविर, प्रवीर,
सहस्वान्, वाजी, सहमान, उग्र,
अभिवीर, अभिसत्त्वा, सहोजा,
गोवित् तू संस्थित हो जैत्र यान पर।

८८८ **गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा।**
इमं सजाता अनु वीरयध्वमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम्।
[ऋ १०.१०३.६, सा १८५४] य १७.३८

गोत्र-भिदम् गो-विदम् वज्र-बाहुम् जयन्तम् अज्म प्र-मृणन्तम् ओजसा।
इमम् स-जाताः अनु वीरयध्वम् इन्द्रम् सखायः अनु सम् रभध्वम्।

(स-जाताः) स-जातो ! (सखायः) सखाओ ! (इमम्) इस (गोत्र-भिदम्) गोत्रों को भेदनेवाले, शत्रुवंशों को निर्मूल करनेवाले, (गो-विदम्) भूमि प्राप्त करानेवाले, शत्रुओं की भूमियों को विजय करनेवाले, (वज्र-बाहुम्) शस्त्र-बाहु, स-शस्त्र, दृढ़-भुज, बाहु-बल से युक्त, (अज्म जयन्तम्) संग्राम में

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विजय करनेवाले, (ओजसा प्र-मृणन्तम्) ओज के साथ प्रकृष्टतया हनन/प्रहार/संहार करनेवाले (इन्द्रम्) सेनापति को [नेता, नायक बनाकर युद्ध में] (अनु वीरयध्वम्) निरन्तर पराक्रम करो, (सम् अनु रभध्वम्) सम्यक् निरन्तर [युद्ध] आरम्भ करो।

सैनिकों और सेनाधिकारियों को यहां 'सजाताः' तथा 'सखायः' सम्बोधनों से सम्बोधित किया गया है। **समानदेशे जाता अथवा समानराष्ट्रे उत्पन्ना वै सजाताः।** समान देश और राष्ट्र में उत्पन्नों को ही देश की सेनाओं का सैनिक और अधिकारी बनाना चाहिए, विदेशियों को कदापि नहीं। सब सैनिक सेनापति के प्रति सखाओं के समान स्नेह करनेवाले, सनिष्ठ, वफ़ादार और जी-जान से युद्ध में साथ देनेवाले हों। ऐसे सैनिक और सेनाधिकारी उपर्युक्त योग्यताओं और क्षमताओं से युक्त सेनापति के नायकत्व में अन्तिम विजय सम्पादन करने तक निरन्तर पराक्रम करते हैं और पुनः पुनः युद्धारम्भ करते हैं।

संग्राम के लिए मन्त्र में **अज्म** शब्द का प्रयोग हुआ है। **अजन्ति, प्रक्षिपन्ति शत्रून् येन, यस्मिन् वा तदज्म;** जिसमें वा जिससे शत्रुओं को फेंका, पछाड़ा जाता है उससे युद्ध को अज्म कहते हैं।

सजातो ! सखाओ !
इस गोत्रभिद, भूमिप्रापक, वज्रबाहु,
संग्राम-विजयी, ओज से प्रहनन करनेवाले
सेनापति के प्रति रहते हुए सनिष्ठ,
करो निरन्तर पराक्रम,
करो निरन्तर समारम्भ।

सूक्ति : **अनु वीरयध्वम्।**
निरन्तर पराक्रम करो।
अनु सं रभध्वम्।
निरन्तर समारम्भ करो।

८८९ **अभि गोत्राणि सहसा गाहमानो ऽदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः।**
दुश्च्यवनः पृतनाषाडयुध्यो ऽस्माकं सेना अवतु प्र युत्सु।
[ऋ १०.१०३.७, सा १८५५, अ १९.१३.७] य १७.३९
अभि गोत्राणि सहसा गाहमानः अ-दयः वीरः शत-मन्युः इन्द्रः।
दुः-च्यवनः पृतनाषाट् अ-युध्यः अस्माकम् सेनाः अवतु प्र युत्-सु।

१) (इन्द्रः) सेनापति हो (अ-दयः) दयारहित, कठोर, शत्रु को क्षमा न करनेवाला, (वीरः) शौर्ययुक्त, बहादुर, (शत-मन्युः) असंख्य-उत्साह, अदम्य, (दुः-च्यवनः) अ-च्युत, विचलित न होनेवाला, (पृतनाषाट्) [शत्रुओं की] सेनाओं को परास्त करनेवाला, (अ-युध्यः) अयुध्य, अजेय।

२) वह (युत्-सु) युद्धों में, संग्रामों में (सहसा) ओज के साथ, संबल द्वारा [शत्रुओं के] (गोत्राणि) कुलों को, दलों को (अभि गाहमानः) सर्वतः विलोडता/छकाता हुआ, (अस्माकम्) हमारी, अपनी (सेनाः) सेनाओं को/की (प्र अवतु) प्रकृष्टतया रक्षा करे।

कुशल सेनापति ऐसी कुशल व्यूहरचना करे कि अपनी सेनाओं की किसी भी प्रकार की क्षति न होकर आक्रमणकारियों के कुलों और दलों का संहार हो।

अदय, वीर, शतमन्यु, अच्युत,
सेनाजित, अजेय सेनापति
संग्रामों में सर्वतः छकाता हुआ कुलों, दलों को,
रक्षा करे हमारी अपनी सेनाओं की।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

८९० **इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः।**
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्।
[ऋ १०.१०३.८, सा १८५६, अ १९.१३.९] य १७.४०

इन्द्रः आसाम् नेता बृहस्पतिः दक्षिणा यज्ञः पुरः एतु सोमः।
देव-सेनानाम् अभि-भञ्जतीनाम् जयन्तीनाम् मरुतः यन्तु अग्रम्।

(आसाम् अभि-भञ्जतीनाम् जयन्तीनाम् देव-सेनानाम्) इन अभि-मर्दनकारिणी, विजयसम्पादिनी देव-सेनाओं का (इन्द्रः नेता) सेनापति हो नेता, (बृहस्पतिः) महान् अधिपति हो (दक्षिणा) वृद्धि [सम्पादन करनेवाला]।(सोमः यज्ञः) प्रेरक संगठन-कर्ता (पुरः एतु) आगे चले। (मरुतः) सुभट, वीर सैनिक (अग्रम् यन्तु) आगे बढ़ें।

जिन सेनाओं के सैनिक देव कोटि के होते हैं उनकी संज्ञा **देव-सेनाः** होती है।

बृहस्पति से तात्पर्य यहां महाधिकारी से है। जो महाधिकारी युद्ध का संचालन करता हुआ सेना की युद्धविधियों का निर्धारण कर रहा होता है, उसकी संज्ञा बृहस्पति है।

सेनापति प्रत्येक मोर्चे पर नेतृत्व करे। मोर्चे मोर्चे पर युद्धकार्य में नेतृत्व करना सेनापति का कार्य है।

बृहस्पति का कार्य है हर मोर्चे पर सैनिकों और युद्धसामग्रियों का यथासमय और यथावश्यकता वर्धन करते रहना।

मोर्चों और सेनाओं का संगठन करनेवाला अधिकारी प्रेरणाकुशल हो, और हो वह सदा सेनाओं के आगे आगे चलता हुआ सैनिकों को प्रबल प्रेरणाएं करनेवाला।

तब वीर सैनिक योजनाबद्ध रीति से व्यवस्था के साथ आगे बढ़ रहे होते हैं।

इन अभिभञ्जन करनेवाली,
विजयिनी देवसेनाओं का
सेनापति हो नेता, बृहस्पति वृद्धि।
आगे चले प्रेरक संगठनकर्ता,
बढ़ें वीर आगे।

८९१ **इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्ध उग्रम्।**
महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात्।
[ऋ १०.१०३.९, सा १८५७, अ १९.१३.१०] य १७.४१

इन्द्रस्य वृष्णः वरुणस्य राज्ञः आदित्यानाम् मरुताम् शर्धः उग्रम्।
महा-मनसाम् भुवन-च्यवानाम् घोषः देवानाम् जयताम् उत् अस्थात्।

१) नेतृत्व करनेवाले (वृष्णः) वीर्यवान्,(वरुणस्य) वरणीयताओं से सुशोभित, (राज्ञः) प्रकाशमान्, तेजस्वी (इन्द्रस्य) सेनापति के (आदित्यानाम् मरुताम्) आदित्य मरुतों का, सूर्य के समान तेजस्वी वीरों का (शर्धः) बल [हो] (उग्रम्) अतिशय प्रचण्ड, असह्य।

देवसेनाओं के सेनापति के सफल नेतृत्व के लिए यह अनिवार्यतः आवश्यक होता है कि उसकी सेनाओं तथा सैनिकों का संबल ऐसी उच्च कोटि का हो कि आक्रमणकारी उनके मुक़ाबले पर ठहरने न पाए।

२) सेनापति के (महा-मनसाम् भुवन-च्यवानाम्

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जयताम् देवानाम्) महा-मनस्वी, विश्वभुवन को कंपानेवाले, जयसम्पादक विजिगीषुओं का (घोषः) जयघोष (उत् अस्थात्) उठा, गूँजा।

देव शब्द का प्रयोग यहां विजिगीषुओं [विजयी वीरों] के लिए हुआ है। राष्ट्र की सक्षम सेनाएं जब आक्रमणकारियों का मुंह फेरकर विजय पर विजय सम्पादन करनेवाली होती हैं, तभी राष्ट्र अक्षुण्णता के साथ समृद्धि के राजपथ पर अग्रसर होता हुआ अन्य राष्ट्रों का भी समृद्धीकरण करने को समर्थ होता है।

वीर्यवान्, वरणीय, तेजस्वी सेनापति के
तेजस्वी वीरों का संबल हो अतिशय प्रचण्ड।
महामनस्वी, विश्वभुवन कम्पानेवाले,
जयसम्पादक विजिगीषुओं का गूंजे विजयघोष।

८९२ **उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत् सत्त्वनां मामकानां मनांसि।**
उद् वृत्रहन् वाजिनां वाजनान्युद् रथानां जयतां यन्तु घोषाः।
[ऋ १०.१०३.१०, सा १८५८] य १७.४२
उत् हर्षय मघ-वन् आ-युधानि उत् सत्त्वनाम् मामकानाम् मनांसि।
उत् वृत्र-हन् वाजिनाम् वाजिनानि उत् रथानाम् जयताम् यन्तु घोषाः।

राष्ट्रपति राजा सेनापति के प्रति कहे,

१) (मघ-वन्) ऐश्वर्य-वन्! देश की सम्पदा और राष्ट्र के ऐश्वर्य की रक्षा करनेवाले! (मामकानाम् सत्त्वनाम्) मेरे सुभटों के (आ-युधानि) शस्त्रों को (उत् हर्षय) उल्लसित कर और (मनांसि) मनों को (उत्) उल्लसित कर।

सेनापति सेना को आधुनिकतम शस्त्रास्त्रों से सुसज्ज और झंकृत रखे। ऐसा होने पर सैनिकों के मन उल्लसित रहते हैं।

२) (वृत्र-हन्) शत्रु-हन्! आक्रमणकारियों का हनन करनेवाले! (वाजिनाम् वाजिनानि) वेगवानों के वेगों को (उत्) उल्लसित कर।

सवेग युद्ध करनेवाले सैनिकों को उत्साहित करके उनके वेग का संवर्धन करना ही वेगों को उल्लसित करना है।

३) (जयताम्) विजेताओं के, विजयी वीरों के (रथानाम्) युद्धयानों के (घोषाः) घोष (उत् यन्तु) ऊपर उठें, गूंजें।

भूमि भूयुद्धयानों से, जल जलयुद्धयानों से, आकाश आकाशयुद्धयानों से गूंजते रहें।

मघवन्! मेरे सुभटों के
आयुधों को कर उल्लसित।
वृत्रहन्! कर उल्लसित
वेगवानों के वेगों को।
विजेताओं के युद्धयानों के
घोष उठें ऊपर और गूंजें।

८९३ **अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु।**
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्माँ उ देवा अवता हवेषु।
[ऋ १०.१०३.११, सा १८५९] य १७.४३
अस्माकम् इन्द्रः सम्-ऋतेषु ध्वजेषु अस्माकम् याः इषवः ताः जयन्तु।
अस्माकम् वीराः उत्-तरे भवन्तु अस्मान् उ देवाः अवत हवेषु।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अब सैनिक अपने सेनापति को लक्ष्य करके कहते हैं,

१) (सम्-ऋतेषु ध्वजेषु) सम्यक् फहरा रहे ध्वजों में (अस्माकम् इन्द्रः) हमारा सेनापति [संस्थित हो]।

जहां जहां हमारे राष्ट्रीय ध्वज फहराएं वहां वहां हमारा सेनापति निर्बाधता के साथ विचरे, राष्ट्रीय सेनाओं की यह उक्ति सेनापति के प्रति उनकी निष्ठा का द्योतन है।

२) (अस्माकम्) हमारे (याः इषवः) जो शस्त्र हैं (ताः) वे (जयन्तु) विजय सम्पादन करें।

विजयलाभ में सक्षम शस्त्रों का प्रत्यक्ष महत्त्व है। सक्षम सैनिकों के हाथों में जो शस्त्र हों वे ऐसे सक्षम हों कि उनकी मार से आक्रमणकारी परास्त किए जा सकें।

३) (अस्माकम् वीराः उत्-तरे भवन्तु) हमारे वीर उच्चतर स्थिति में हों।

सेनापति ऐसी व्यूहरचना करे कि उसके वीर आक्रमणकारियों को परास्त करते चले जाएं।

४) (देवाः) विजिगीषुओ ! विजयशीलो ! वीरो ! (हवेषु) ललकारों में, संग्रामों में (अस्मान्) हमें/हमारी, (उ) अवश्य ही, (अवत) रक्षा करो।

देव शब्द का प्रयोग यहां उन विशिष्ट युद्ध-कुशल अधिकारियों के लिए हुआ है जिन्होंने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की है, जिन्हें युद्धों का विशेष अनुभव है और जो रक्षापंक्तियों में नियुक्त रहते हैं !

सम्यक् फहराते ध्वजों में
सेनापति सम्यक् स्थित हो।
हमारे जो शस्त्र, वे जीतें।
वीर हमारे रहें उच्चतर।
देवो ! संग्रामों में अवश्य
रक्षा करो हमारी।

सूक्ति : **अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्तु।**
वीर हमारे रहें उच्चतर।
अस्माँ उ देवा अवता हवेषु।
देवो ! संग्रामों में हमारी अवश्य रक्षा करो।

८९४ **अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।**
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम्।
[ऋ१०.१०३.१२, सा १८६१, अ ३.२.५] य १७.४४
अमीषाम् चित्तम् प्रति-लोभयन्ती गृहाण अङ्गानि अप्वे परा इहि।
अभि प्र इहि निः दह हृत्-सु शोकैः अन्धेन अ-मित्राः तमसा सचन्ताम्।

पूर्व-मन्त्र में कहा गया है, 'अस्माकं इषवः जयन्तु' =हमारे शस्त्र विजय सम्पादन करें, हमारे शस्त्रों की विजय हो, हमारे शस्त्र विजय सम्पादन करानेवाले हों। इस मन्त्र में एक अतिशय सक्षम, 'अप्वा' नामक शस्त्र के प्रयोग का संकेत है। अप्वा, अप्-वा, नाम उस शस्त्र का है जो दूर दूर तक बड़ी तीव्र गति से धूआँ-धाड़ मार करता है और शत्रुओं के क्षेत्रों को घोर अन्धकार से आच्छादित कर देता है। परिणामस्वरूप, आक्रमणकारियों की सेनाओं को कुछ सूझता नहीं है। अप्वा का आधुनिक नाम टैंक हो सकता है।

१) (अप्वे) !

२) (अमीषाम्) उन[आक्रमणकारियों]के (चित्तम्) चित्त को, मानस को (प्रति-लोभयन्ती) प्रतिलोभित/मोहित/मूर्च्छित करती हुई [उनकी सेनाओं के सब] (अङ्गानि) अंगों को (गृहाण) पकड़, जकड़,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

निरुपाय कर।
३) (परा इहि) परे जा, दूर दूर तक मार कर।
४) (अभि प्र इहि) सब ओर जा, सब ओर प्रहार कर।
५) आक्रमणकारियों के (हृत्-सु) हृदयों में (शोकैः) शोकों/सन्तापों से (निः दह) जलन पैदा करदे।
६) (अ-मित्राः) शत्रु (अन्धेन तमसा) अन्ध अन्धकार से (सचन्ताम्) युक्त/आच्छादित होजाएं।

अप्वे !
उनके मानस को प्रतिलोभित
करती हुई पकड़ अंगों को।
दूर दूर जा, सभी ओर जा,
हृदयों में शोकों से जलन कर।
अन्धे अन्धकार से शत्रु
आच्छादित होजाएं।

८९५ **अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते।**
गच्छामित्रान् प्र पद्यस्व मामीषां कंञ्चनोच्छिषः।
[ऋ ६.७५.१६, सा १८६३, अ ३.१९.८] य १७.४५
अव-सृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्म-सम्-शिते।
गच्छ अ-मित्रान् प्र पद्यस्व मा अमीषाम् कम् चन उत् शिवः।

इस मन्त्र में एक अन्य सक्षम शस्त्र, 'शरव्या' का उल्लेख है। सलक्ष्य छोड़ी जाने पर शरव्या शर-वत् सरसर करती हुई, सैकड़ों, हज़ारों मील पर जाकर फटती है और अपार हानि करती है। शरव्या का आधुनिक नाम मिज़ाइल [MISSILE] है। शरव्या को छोड़नेवाला कहता है,
१) (ब्रह्म-सम्-शिते शरव्ये) विज्ञान-तीक्ष्ण शरव्ये ! वैज्ञानिक तथा विज्ञान द्वारा तीव्रगंत्री मिज़ाइल !
२) सलक्ष्य (अव-सृष्टा) छोड़ी गई तू (परा पत) परे गिर, झपाटे के साथ बहुत दूर पहुंच कर फट।
३) (अ-मित्रान् गच्छ) शत्रुओं के प्रति जा, शत्रुओं को लक्ष्य करके उड़ और उन तक (प्र पद्यस्व) पहुंच।
शरव्या ऐसे सही निशाने के साथ छोड़ी जाती है कि वह शत्रुओं के मोर्चों तथा नगरों तक पहुंचकर संहार करती है।
४) (अमीषाम्) उन[शत्रुओं]में से (कम् चन मा उत् शिषः) किसी को भी मत शेष रहने दे, सबको निःशेष करदे।

ब्रह्मसंशिते शरव्ये !
छोड़ी गई तू झपट दूर जा।
जा, शत्रुओं तक पहुंच।
उनमें से किसी को भी
मत रहने दे शेष।

८९६ **प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु।**
उग्रा वः सन्तु बाहवो ऽनाधृष्या यथासथ।
[ऋ १० १०३.१३, सा १८६२, अ ३.१९.७] य १७.४६
प्र इत जयत नरः इन्द्रः वः शर्म यच्छतु।
उग्राः वः सन्तु बाहवः अन्-आ-धृष्याः यथा असथ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सक्षम शस्त्रों से सज्ज, सक्षम वीरों को प्रस्थान का आदेश देते हुए राष्ट्रपति राजा कहे,

१) (नरः) नरो ! वीरो !
२) (प्र इत) प्रगमन/प्रस्थान करो।
३) (जयत) विजय सम्पादन करो।
४) (इन्द्रः) सेनापति (वः) तुम्हें (शर्म) सुख, सुविधा, संरक्षा (यच्छतु) प्रदान करे।

कुशल सेनापति ऐसी कुशल व्यवस्था करे कि उसके वीरों को अनावश्यक कष्ट न होने पाएं। यथासम्भव उनके जीवनों की संरक्षा भी हो।

५) (वः बाहवः उग्राः सन्तु) तुम्हारे बाहु प्रचण्ड हों। तुम सक्षम बाहुओं से सक्षम शस्त्रों का संचालन करो, (यथा) ताकि [तुम] (अन्-आ-धृष्याः) प्रगल्भ, अधर्षणीय, अजेय (असथ) होओ।

नरो ! करो प्रस्थान,
करो सम्पादन विजय।
इन्द्र करे प्रदान तुम्हें संरक्षा।
उग्र हों सम्यक् बाहु तुम्हारे,
ताकि रहो अधर्षणीय तुम।

सूक्ति : प्रेता जयता नरः।
नरो ! प्रस्थान करो, विजय सम्पादन करो।
उग्रा वः सन्तु बाहवः।
उग्र हों तुम्हारे बाहु।

८९७ **असौ या सेना मरुतः परेषामभ्यैति न ओजसा स्पर्धमाना।**
तां गूहत तमसापव्रतेन यथामी अन्यो अन्यं न जानन्।
[सा १८६०, अ ३.२.६]
य १७.४७

असौ या सेना मरुतः परेषाम् अभि आ एति नः ओजसा स्पर्धमाना।
ताम् गूहत तमसा अप-व्रतेन यथा अमी अन्यः अन्यम् न जानन्।

१) (मरुतः) वीरो !
२) (परेषाम्) परों/परायों/शत्रुओं की (या असौ सेना) जो वह सेना (स्पर्धमाना) स्पर्धा/मुक़ाबला करती हुई (ओजसा) ओज/प्रबल वेग के साथ (नः अभि) हमारे अभिमुख (आ एति) आरही है, (ताम्) उसे (अप-व्रतेन) निरुपाय करनेवाले, अप-व्रत नामक धूमास्त्र द्वारा (तमसा) अन्धकार से (गूहत) ढांप दो, (यथा) जिससे, ताकि (अमी) वे [शत्रु के सैनिक] (अन्यः अन्यम् न जानन्) एक दूसरे को न पहचान पाएं।

जब शत्रुसेना इतनी प्रबल होजाए कि उसे रोकना वा उसका मुक़ाबला करना असम्भव होजाए तो शत्रुओं के सैनिकों पर अपव्रत धूमास्त्र छोड़कर उनके क्षैत्र में घोर अन्धेरा कर दिया जाए। तब वे निरुपाय होजाते हैं, और उस अवस्था में उन्हें घेरे में लेकर उनका हनन सरल होजाता है।

वीरो ! परों की जो वह सेना,
करती हुई स्पर्धा, आरही है
हमारे अभिमुख प्रबल वेग के साथ,
उसे ढांप दो अपव्रत द्वारा अन्धकार से,
ताकि वे पहचान न पाएं
एक दूसरे को परस्पर।

८९८ **यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखाइव।**
तत्र इन्द्रो बृहस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु विश्वाहा शर्म यच्छतु।
[ऋ ६.७५.१७, सा १८६६]
य १७.४८

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यत्र बाणाः सम्-पतन्ति कुमाराः वि-शिखाः-इव ।
तत् नः इन्द्रः बृहस्पतिः अदितिः शर्म यच्छतु विश्वाहा शर्म यच्छतु ।

यहां आक्रमणों से रक्षा के लिए प्रजा-जन कहते हैं, (यत्र) जहां (सम्-पतन्ति) गिरते हैं (कु-मारा: बाणाः) बुरी मार करनेवाले बाण (वि-शिखा: इव) बिखरी **चोटियों** [ज़ुल्फ़ों, अलकों] की तरह, (तत्) तत्र, वहां (नः) हमें (विश्वाहा) सब दिनों, दिनों दिन (बृहस्पतिः इन्द्रः) महान्-रक्षक सेनापति (शर्म यच्छतु) सुरक्षा प्रदान करे, (अदितिः) अदीना [अदम्य सेना] (शर्म यच्छतु) सुरक्षा प्रदान करे ।

बाण नाम उन बम आदि शस्त्रों का है जो 'बण बण' जैसी ध्वनि करते हुए निशाने पर जाकर फटते हैं और बिखरी शिखाओं के बालों की तरह बिखरकर जनों, भवनों, पशुओं, सबको जला देते हैं ।

युद्ध के दिनों में ग्रामों और नगरों में निवास करनेवाली प्रजा के जान, माल की सुरक्षा की व्यवस्था करना महान्-रक्षक सेनापति का कर्तव्य है । प्रजाओं की रक्षा के लिए अदम्य सेना नियुक्त की जाए ।

जहां गिरते हैं कुमार बाण
बिखरी शिखाओं की तरह,
वहां सब दिनों हमें
बृहस्पति इन्द्र करे प्रदान सुरक्षा,
अदिति करे प्रदान सुरक्षा ।

८९९ **मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानु वस्ताम् ।**
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु ।
[ऋ ६.७५.१८, सा १८७०, अ ७.११८.१] य १७.४६

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमः त्वा राजा अ-मृतेन अनु वस्ताम् ।
उरोः वरीयः वरुणः ते कृणोतु जयन्तम् त्वा अनु देवाः मदन्तु ।

अपनी अदिति [अदीना, अदम्या सेना] को सम्बोधन करता हुआ सेनापति कहता है,
१) मैं (ते मर्माणि) तेरे मर्मस्थलों को (वर्मणा छादयामि) वर्म से आच्छादित करता हूं ।

वर्म नाम कवच और गृह का है । सेनापति सेना के लिए सुरक्षित निवास तथा मर्माघात से बचानेवाले कवच, आदि उपकरणों की व्यवस्था करे ।
२) (सोमः राजा) सोम राजा, शामक [घावपूरक] ओषधियों का ज्ञाता राजवैद्य (त्वा) तुझे (अ-मृतेन) अमृत से, मृत्यु से बचानेवाली संजीवनी ओषधि से (अनु वस्ताम्) निरन्तर आच्छादे ।

राज्य की ओर से दक्ष चिकित्सक, सुचारु चिकित्सा और अचूक ओषधियों की सुष्ठु व्यवस्था हो । चिकित्सा-विभाग सामान्य अवस्था में सैनिकों को पूर्णतया स्वस्थ रखे और युद्धावस्था में घायलों की सद्यः सफल चिकित्सा करे ।
३) (वरुणः) प्रधानाधिपति, राष्ट्रपति राजा (ते) तेरे लिए (उरोः) उरु का, विशाल का, विशाल कोष [बजट] का (वरीयः कृणोतु) ऐश्वर्य [प्रदान] करे, धन सुरक्षित रखे ।

सेना को सन्तुष्ट और सन्नद्ध रखने के लिए सैनिक बजट की राशि बहुत विपुल रखी जानी चाहिए ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अब अदिति [विजयिनी सेना] अपने सेनापति को सम्बोधन करती हुई कहती है, राष्ट्र के विजय-कामी (देवाः) नागरिक देव (जयन्तम् त्वा) विजयसम्पादक तुझे (अनु मदन्तु) अनु-मोदें, प्रहर्षित करें, उत्साहित करें।

नागरिक-नागरिकाओं का यह कर्तव्य है कि वे सेनापति की आलोचना न करके हमेशा उसका अनुमोदन करें, प्रत्येक विजय पर उसे प्रहर्षित करें और विकट प्रसंगों पर उसे उत्साहित करें।

ढांकता हूं तेरे मर्मों को
रक्षाकारी दृढ़ वर्म से।
अनु-वासे अमृत से तुझको
सोम राजा।
तेरे लिए वरुण सुरक्षित
करे प्रचुर धन उस कोष का
वरीयता के साथ।
विजयसम्पादक तुझे अनुमोदें
देव नागरिक।

९०० **उदेनमुत्तरां नयाग्ने घृतेनाहुत। रायस्पोषेण सं सृज प्रजया च बहुं कृधि।**
[अ ६.५.१]
य १७.५०

उत् एनम् उत्-तराम् नय अग्ने घृतेन आ-हुत। रायः पोषेण सम् सृज प्र-जया च बहुम् कृधि।

अजेय सैन्य शक्ति से सशक्त, और मातृभूमि तथा राष्ट्र की सुरक्षा के विषय में विश्वस्त हुआ राष्ट्रपति राजा राष्ट्र के तथा विधानसभा के अग्रणी प्रणेता [प्रधान मन्त्री] के प्रति कहता है,

१) (घृतेन आ-हुत अग्ने!) घृत से आहुत अग्रणी प्रणेतः! जनता के स्नेहरूप अथवा प्रजा के प्रेमरूप घृत से आहुत/प्रज्वलित/सुप्रकाशित प्रणेतः! [विशद व्याख्या के लिए देखिए इसी अध्याय के मन्त्र दो की व्याख्या।]

२) (एनम्) इस[राष्ट्र]को (उत् नय) ऊंचा ले जा, ऊंचा उठा, उन्नत कर, उत्कृष्टता प्राप्त करा।

प्रणेता ऐसे स्वच्छ और सक्षम शासन की स्थापना करे कि राष्ट्र सब प्रकार से उत्तरोत्तर उन्नत, समृद्ध और सक्षम होता चला जाए। किसी भी दृष्टि से वह अवनत और अभावग्रस्त न रहने पाए।

३) (उत्-तराम्) उत्-तरा, उत्कृष्टता के साथ तारनेवाली [मातृभूमि] को [उत् नय] ऊंचा लेजा, ऊंचा उठा, उन्नत कर, उत्कृष्टता प्राप्त करा।

मातृभूमि की गोद में, उसके गर्भ में अमित सम्पदाएं निहित हैं। अपनी अपनी मातृभूमि को उत्तरा बनाकर, सारे संसार को सर्वथा सुखी और सम्पन्न बनाया जा सकता है।

४) इसे (रायः पोषेण) आत्मैश्वर्य के पोष से (सम् सृज) सं-सृष्ट कर।

भौतिक ऐश्वर्यों के सम्पादन के साथ साथ आत्मैश्वर्य का भी संसर्जन किया जाना चाहिए। आत्मिक ऐश्वर्य के पोषण के बिना भौतिक ऐश्वर्य भ्रष्टाचार का कारण बनता है।

५) (च) और [इस राष्ट्र को] (प्र-जया) प्र-जा के द्वारा, प्रकृष्ट जनशक्ति द्वारा (बहुम् कृधि) बाहुल्य से युक्त करदे।

जिस देश वा राष्ट्र में सभी वस्तुओं का बाहुल्य होता है वही राष्ट्र समृद्ध माना जाता है। जनशक्ति के पूर्ण सहयोग के बिना कोई भी शासन देश को समृद्ध और राष्ट्र को उन्नत नहीं कर सकता। स्वच्छ और सक्षम शासन ही जनता का सहयोग प्राप्त कर पाता है।

CC-0, Panini Kanya Maha-Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

घृत से आहुत अग्ने !
उन्नत कर इसको, उत्तरा को ।
सं-सृष्ट कर आत्मैश्वर्य के पोष से,
प्रजा द्वारा कर बाहुल्य ।

९०१ इन्द्रेमं प्रतरां नय सजातानामसद् वशी । समेनं वर्चसा सृज देवानां भागदा असत् ।
य १७.५१
[अ ६.५.२]
इन्द्र इमम् प्र-तराम् नय स-जातानाम् असत् वशी । सम् एनम् वर्चसा सृज देवानाम् भाग-दाः असत् ।

यहां राष्ट्रपति राजा सेनापति को आदेश देता है,
१) (इन्द्र) सेनापते ! (इमम्) इस[प्रणेता]को और इस (प्र-तराम्) प्रकृष्टतया तारनेवाली [विधानसभा अथवा शासनपरिषद्] को (नय) अग्रसर कर/रख, ताकि यह प्रणेता (स-जातानाम्) समान-जन्माओं का, समान देश में जन्मे नागरिक—नागरिकाओं का (वशी असत्) वशयिता हुआ रहे, उनका अनुशासक बना रहे ।

सेनापति कदापि प्रणेता [प्रशासक] तथा प्रशासन के कार्यों में हस्तक्षेप न करे, अपि तु शासनव्यवस्था में प्रणेता और प्रशासन को अग्रसर रखे और शासन के मामलों में प्रशासक के आदेशों का पालन करे । ऐसा होने पर ही प्रणेता तथा प्रशासन सुचारुता के साथ नागरिकों को अनुशासन में रखता हुआ, उनकी यथावत् सेवा और समृद्धि के साधनोपाय करने में समर्थ होता है ।
२) (एनम्) इस [प्रणेता] को (वर्चसा) वर्च से (सम् सृज) सं-सृष्ट कर, ताकि यह (देवानाम्) देवों का, दिव्य नागरिक—नागरिकाओं का (भाग-दाः असत्) भाग-दा हुआ हो, भाग-दा रहे ।

भाग-दा का अर्थ है भागों का देनेवाला, सम्पदाओं का सम-वितरण करनेवाला, जन जन की आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाला । जन-कल्याण राज्य में कोई भी नागरिक अभावग्रस्त नहीं होने दिया जाता है, प्रत्येक को उसके श्रम का शुल्क पहुंचाया जाता है ।

सभ्य और अनुशासित सैन्य शक्ति का काम प्रणेता के वर्च की स्थापना करना और उसके वर्चस्व को बढ़ाना होता है । वर्चोहीन और वर्चस्वविहीन प्रणेता राष्ट्र के नागरिकों का भागदा सिद्ध नहीं हो सकता । भागदान के लिए प्रणेता का सर्वाधिकारसम्पन्न तथा सर्वक्षम होना परमावश्यक होता है ।

इन्द्र ! अग्रसर कर इसको, प्रतरा को,
ताकि रहे यह सजातों का वशयिता ।
इसको कर संसृष्ट वर्च से,
रहे भागदा यह देवों का ।

९०२ यस्य कुर्मो गृहे हविस्तमग्ने वर्धया त्वम् । तस्मै देवा अधि ब्रुवन्नयं च ब्रह्मणस्पतिः ।
य १७.५२
[अ ६.५.३]
यस्य कुर्मः गृहे हविः तम् अग्ने वर्धय त्वम् । तस्मै देवाः अधि ब्रुवन् अयम् च ब्रह्मणः पतिः ।

यहां प्रजा अग्रणी प्रणेता के प्रति कहती है,
१) (अग्ने) प्रणेतः ! हम (यस्य) जिसके (गृहे) गृह में, राज्य में (हविः) हवि, अन्नादि सामग्री, ऐश्वर्य, सम्पदा (कुर्मः) सम्पादन करते हैं, (त्वम् तम् वर्धय) तू उसे बढ़ा, उसका वर्धन कर, उसके राजकोष की वृद्धि कर ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रजा जिस राष्ट्रपति राजा के राज्य में सब प्रकार के सुखैश्वर्य का सम्पादन करती है, प्रणेता उसके राजकोष को बढ़ाने का सदा ध्यान रखे और सतत प्रयास करे। राजकोष के वर्धन से राज्य की आय बढ़ती है। आयवृद्धि से राज्य और राष्ट्र की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती है। आर्थिक सुदृढ़ता से ही नाना प्रकार की राष्ट्रीय योजनाओं का क्रियान्वयन सम्भव होता है और राज्य के सब विभागों के कर्मचारियों तथा राष्ट्रसेवियों का यथायोग्य वेतन, भत्ता, आदि दिया जाता है। राजकोष का वर्धन प्रजा के सर्वांगीण पोषण के लिए ही किया जाना चाहिए, अन्यथा नहीं।

२) (तस्मै) उसके लिए, उस प्रणेता के प्रति (देवाः) देव जन, सब नागरिक देव (च) तथा (अयम्) यह (ब्रह्मणः-पतिः) ज्ञान का पति, वेद का विद्वान्, वेदज्ञ राजपुरोहित (अधि ब्रूतात्) अधिकारपूर्वक [वैसा] कहें।

सामान्य जनता तथा विद्वान् प्रणेता के प्रति साधिकार कहें कि वह सुनियोजित आर्थिक योजनाएं प्रकाशित करे, और प्रजा तथा प्रज्ञानी उनके क्रियान्वयन में अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करें।

करते हैं हम जिसके गृह में
हवि सम्पादन,
बढ़ा उसे तू, अग्ने !
दिव्य नागरिक और ब्रह्म का पति
साधिकार उसके प्रति बोलें।

९०३ **उदु त्वा विश्वे देवा अग्ने भरन्तु चित्तिभिः । स नो भव शिवस्त्वं सुप्रतीको विभावसुः ।**
[य १२.३१]

य १७.५३

उत् उ त्वा विश्वे देवाः अग्ने भरन्तु चित्ति-भिः । सः नः भव शिवः त्वम् सु-प्रतीकः वि-भा-वसुः ।

नागरिक-नागरिकाओं का वशयिता तथा भागदा, और राष्ट्रपति राजा का वर्धनकर्ता होना सरल कार्य नहीं है। उसके लिए जिन शिवतामय चेतनाओं की आवश्यकता होती है उसका अनुभव करता हुआ प्रणेता अपने आत्मा को सम्बोधन करता है,

१) (अग्ने) आत्माग्ने ! (विश्वे देवाः) सब देव, समस्त इन्द्रियदेव (चित्ति-भिः) चेतनाओं द्वारा (त्वा उत् उ भरन्तु) तुझे ऊंचा ही उठाएं।

इन्द्रियदेवों की अपनी अपनी प्रचेतना है। उन सभी की अपनी अपनी चित्ति जब प्रचेतित रहती है तो ही आत्मा प्रबुद्ध और उद्बुद्ध रहता है और मानव का प्रत्येक कृत्य कल्याणकर होता है। मस्तिष्क की चित्ति है श्रेय का चिन्तन, नेत्र की भद्र दर्शन, श्रोत्र की भद्र श्रवण, प्राण की निर्विकार और निरासक्त सतत साधना, मन की शिव संकल्प, हृदय की मंगलभावना।

२) और अब चित्तियों से प्रचेतित प्रणेता के प्रति नागरिक जन कहते हैं,

[अग्ने प्रणेतः !] (सः त्वम् भव) वह तू हो (नः) हमारे लिए (शिवः) मंगलकारी, (सु-प्रतीकः) सुरूपता का सम्पादक, (वि-भा-वसुः) विविध आभाओं और ऐश्वर्यों का सम्पादक।

प्रचेतनाओं से प्रबुद्ध प्रणेता ही शासन को मंगलप्रद बनाकर, राष्ट्र के रहन-सहन को स्वच्छ और स्वस्थ करके, नागरिकों को सुरूपित करता है, देश और देशवासियों को विविध आभाओं और ऐश्वर्यों से जगमगाता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अग्ने ! सारे देव चित्तियों द्वारा
तुझे ऊंचा ही उठाएं ।
वह तू हो हमारे लिए
शिव, सुन्दर, विभावसु ।
सूक्ति : स नो भव शिवस्त्वम् ।
वह तू हो हमारे लिए मंगलकारी ।

९०४ पञ्च दिशो दैवीर्यज्ञमवन्तु देवीरपामतिं दुर्मतिं बाधमानाः ।
रायस्पोषे यज्ञपतिमाभजन्ती रायस्पोषे अधि यज्ञो अस्थात् । य १७.५४

पञ्च दिशः दैवीः यज्ञम् अवन्तु देवीः अप अ-मतिम् दुः-मतिम् बाधमानाः ।
रायः पोषे यज्ञ-पतिम् आ-भजन्तीः रायः पोषे अधि यज्ञः अस्थात् ।

प्रणेता के प्रति नागरिक कहे चले जारहे हैं, प्रणेतः! (दैवीः देवीः पञ्च दिशः) दैवी दिव्य पांचों दिशाएं, पांचों दिशाओं में निवास करनेवाली प्रकाशमयी दिव्य प्रजाएं (अ-मतिम् दुः-मतिम् अप बाधमानाः) अ-मति और दुर्मति को हटाती हुई, (यज्ञ-पतिम् रायः पोषे आ-भजन्तीः) यज्ञ-पति को आत्मैश्वर्य के पोष में पूर्णतया सेवती हुई, (यज्ञम्) यज्ञ को/की (अवन्तु) रक्षा करें, ताकि (यज्ञः) यज्ञ (रायः पोषे) आत्मैश्वर्य के पोष में (अधि अस्थात्) अधिष्ठित हुआ हो. अधिकाधिक स्थिर रहा आए ।

पांच दिशाएं हैं प्राची [पूर्व], दक्षिणा [दक्षिण], प्रतीची [पश्चिम], उदीची [उत्तर], ध्रुवा [नीचे की दिशा अथवा पृथिवी जिस पर सब ध्रुवता के साथ निवास करते हैं] । ये पांच दिशाएं हैं जिनमें मानव तथा अन्य सब प्राणी निवास करते हैं । पांचों दिशाएं दैवी और दिव्य हैं । **दैवी** से तात्पर्य है प्रकाशमयी, और **देवी** से दिव्यताओं से युक्त दिव्य प्रजाएं ।

अ-मति नाम मानव के मस्तिष्क की उस अस्थिरता का है जो निश्चित निर्णय नहीं करने देती है । निर्णय करने में असमर्थ मति का ही नाम अमति है । दुर्मति=दुः-मति, कु-मति । अमति तथा दुर्मति, दोनों ही मतियां देश और राष्ट्र के रक्षण तथा विकास में बाधक होती हैं ।

यज्ञ-पति शब्द का प्रयोग हुआ है यहां राष्ट्रयज्ञ की रक्षा करनेवाले शासन अर्थ में, और **यज्ञ** शब्द का राष्ट्रयज्ञ अर्थ में ।

राष्ट्र के प्रणेता का कर्तव्य है कि वह स्वराष्ट्र में शासन की ऐसी शोभनीय व्यवस्था करे कि प्रजाएं प्रकाशमयी और दिव्यताओं से द्योतित रहती हुई राष्ट्र को अमति और दुर्मति से मुक्त रखें, राष्ट्रयज्ञ की रक्षा करनेवाले शासन में आत्मैश्वर्य का पोषण करती हुई राष्ट्र की सर्वतः रक्षा करें, ताकि राष्ट्र आत्मिक सम्पदा से अधिकाधिक प्रतिष्ठित और स्थिर रहे ।

जिस राष्ट्र में केवल भौतिक सम्पदा का संवर्धन होता है और आत्मैश्वर्य का अभाव रहता है वह राष्ट्र विलासी बनकर सर्वथा पौरुषहीन और खोखला होजाता है । राष्ट्र की प्रबुद्ध और दिव्य प्रजाएं इस बात का सदा ध्यान रखें । अन्यथा स्वयं प्रजाओं को ही कुफल भोगना, और पछताना पड़ता है ।

दैवी देवी पांच दिशाएं
अमति दुर्मति हटाती हुई,
यज्ञपति को आत्मैश्वर्य के पोष में
पूर्णतया सेवती हुई,
रक्षा करें यज्ञ की ।
रहे अधिष्ठित यज्ञ
आत्मैश्वर्य के पोष में ।
सूक्ति : यज्ञमवन्तु देवीः ।
देवियां यज्ञ को/की रक्षा करें ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

९०५ **समिद्धे अग्नावधि मामहान उक्थपत्र ईड्यो गृभीतः ।**
तप्तं घर्मं परिगृह्यायजन्तोर्जा यद् यज्ञमयजन्त देवाः । य १७.५५
सम-इद्धे अग्नौ अधि ममहानः उक्थ-पत्रः ईड्यः गृभीतः ।
तप्तम् घर्मम् परि-गृह्य अयजन्त ऊर्जा यत् यज्ञम् अयजन्त देवाः ।

राष्ट्रयज्ञ को आत्मैश्वर्य के पोष में अधिष्ठित रखने के लिए (यत्) जब (देवाः) देव जन, दिव्य नागरिक (तप्तम् घर्मम्) तप्त घर्म को (परि-गृह्य) परिग्रहण करके, संभालकर (सम्-इद्धे अग्नौ) प्रज्वलित अग्नि में (यज्ञम्) राष्ट्रयज्ञ को/का (अयजन्त) अनुष्ठान किया करते हैं, (ऊर्जा) उत्पादक बल के साथ, आत्मसंबल के साथ (अधि अयजन्त) अधिकाधिक अनुष्ठान किया करते हैं तभी वह (ममहानः उक्थ-पत्रः ईड्यः) महतो महान्, उक्थ-पत्र, स्तुत्य [ब्रह्म] (गृभीतः) गृहीत [आत्मसात्] हुआ होता है ।

आत्मैश्वर्य के पोष का अक्षय स्रोत ममहान, उक्थपत्र, स्तुत्य ब्रह्म ही है । देव जन, दिव्य मानव देव तप्त घर्म को परिग्रहण करके प्रज्वलित अग्नि में राष्ट्रयज्ञ का अनुष्ठान करते हैं, अधिष्ठित किया करते हैं तभी ब्रह्म प्रजाओं में गृहीत [मान्य] होता है ।

ब्रह्म है ममहान, महतो महान्, सर्वतो महान् । ब्रह्म है उक्थ-पत्र, स्तुति-पात्र, स्तोत्र का एकमात्र देवता । प्रशंसा किसी की भी की जा सकती है । स्तुति केवल ब्रह्म की विहित है । इसी से उसे उक्थ-पत्र कहा गया है । इसी से उसे ईड्य कहा गया है ।

तप्त-घर्म का प्रयोग यहां प्रतप्त प्रेम-ऊष्मा, भक्ति की गर्मी के लिए हुआ है, और समिद्ध अग्नि का प्रज्वलित ब्रह्माग्नि के लिए ।

किसी भी राष्ट्र के देव कोटि के नागरिक ब्रह्म के प्रति अपनी तप्त प्रेमोष्मा को परिग्रहण करके उसे प्रज्वलित ब्रह्माग्नि में अनुष्ठान करते अथवा सुहुत करते हैं, आत्मसंबल के साथ अधिकाधिक सुहुत करते रहते हैं, तो ही महतो महान्, स्तोत्र-पात्र, स्तुत्य ब्रह्म राष्ट्रसात् रहता है, राष्ट्रजनों के जीवनों में स्थापित तथा आचरित रहता है । परिणामस्वरूप, राष्ट्र भौतिक समृद्धि के साथ आध्यात्मिक समृद्धि से भी समृद्ध रहता है ।

दिव्य नागरिक जब प्रतप्त प्रेमोष्मा को
परिग्रहण करके प्रज्वलित ब्रह्माग्नि में
सुहुत किया करते हैं, आत्मसंबल के साथ
अधिकाधिक सुहुत किया करते हैं,
आत्मसात् हुआ होता है महतो महान्,
स्तोत्र-पात्र, स्तुत्य ।

९०६ **दैव्याय धर्त्रे जोष्ट्रे देवश्रीः श्रीमनाः शतपयाः ।**
परिगृह्य देवा यज्ञमायन् देवा देवेभ्यो अध्वर्यन्तो अस्थुः । य १७.५६
दैव्याय धर्त्रे जोष्ट्रे देव-श्रीः श्री-मनाः शत-पयाः ।
परि-गृह्य देवाः यज्ञम् आयन् देवाः देवेभ्यः अध्वर्यन्तः अस्थुः ।

भौतिक समृद्धि के साथ आध्यात्मिक समृद्ध्यर्थ १) (देवाः) देव जन, सुसभ्य और सुसंस्कृत नागरिक (दैव्याय जोष्ट्रे धर्त्रे) दिव्य, प्रेममय धर्ता के लिए (देव-श्रीः श्री-मनाः शत-पयाः)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

देव-श्री, श्री-मन, शत-पेय [राष्ट्रपति राजा] को (परि-गृह्य) परि-ग्रहण करके, सप्रेम अपनाकर (यज्ञम् आयन्) राष्ट्रयज्ञ के प्रति आएं/सनिष्ठ रहें।

सृष्टि का धर्ता [धारक] ब्रह्म जहां सर्वतः दैव्य है वहां वह प्रेममय भी है। तभी तो उसने शाश्वत समाओं [आत्माओं] के सुख के लिए असंख्य पदार्थ बनाए हैं।

राष्ट्रपति राजा के लिए प्रयुक्त विशेषण महत्त्व-पूर्ण हैं। वह हो **देव-श्री**, दिव्य श्री से युक्त। 'श्री' नाम उस सौन्दर्य का है जिसकी उपलब्धि अन्तः-करण की पवित्रता से होती है। वह हो **श्री-मना**, राष्ट्र की समग्र जनता को श्री से श्रीयुत करने की अभिलाषा रखनेवाला। वह हो **शत-पयाः**, असंख्य भौतिक और आत्मिक सुपेयों अथवा सरसताओं से राष्ट्रजनों को सन्तृप्त और सन्तुष्ट रखनेवाला। ऐसे साधु राष्ट्रपति राजा के पवित्र राज्य में ही नागरिक दिव्य, प्रेममय, धर्ता ब्रह्म की स्तुति-प्रार्थनोपासना करते हुए राष्ट्रयज्ञ का आत्मनिष्ठा के साथ अनुष्ठान करते हैं, राष्ट्र की यथावत् सेवा और समुन्नति में संलग्न रहते हैं।

२) (देवाः) दिव्य नागरिक (देवेभ्यः) दिव्य नागरिकों के प्रति (अध्वर्यन्तः) अध्वर की कामना करते हुए (अस्थुः) स्थित—संस्थित रहा करते हैं।

अध्वर नाम यज्ञ और अहिंसा का है। आदर्श नागरिक अपनी पुण्य मातृभूमि में निवास करते हुए अपने राष्ट्रयज्ञ के प्रति निष्ठा रखते हुए परस्पर अहिंसापूर्वक वर्तने की इच्छा रखते हैं। कभी भूलकर भी वे न एक दूसरे को कष्ट देते हैं, न एक दूसरे की भावनाओं को ठेस पहुंचाते हैं।

दिव्य, प्रेममय, धर्ता के लिए
देवश्री, श्रीमना, शतपया को परिग्रहण कर
देव यज्ञ के प्रति आएं।
अध्वर की करते हुए कामना,
देव संस्थित रहा करते हैं देवों के प्रति।

९०७ **वीतं हविः शमितं शमिता यजध्यै तुरीयो यज्ञो यत्रय ह्व्मेति।**
ततो वाका आशिषो नो जुषन्ताम्। य १७.५७

वीतम् हविः शमितम् शमिता यजध्यै तुरीयः यज्ञः यत्र हव्यम् एति।
ततः वाकाः आ-शिषः नः जुषन्ताम्।

(यत्र) जहां, जिस राज्य में, जिस देश में, जिस राष्ट्र में (शमिता एति) शमिता प्राप्त कराता है (यजध्यै) यजनार्थं, यज्ञसम्पादनार्थं (वीतम्, शमितम् हविः) व्यापक और शामक हवि, (तुरीयः यज्ञः) चतुर्थ यज्ञ, (हव्यम्) हव्य; (ततः) वहां से (जुषन्ताम्) सप्रेम सेवन करें (नः) हमें, हम दिव्य नागरिकों को (वाकाः) वाह-वाहें, धन्यताएं तथा (आ-शिषः) आशीर्वादें।

सुनागरिकों की यह दिव्योक्ति है।

शम् की प्राप्ति करानेवाला होने से परमात्मा शमिता है। शम् नाम है शान्ति की उस स्थिति का, जिसमें उत्तेजना का लेशमात्र कोई पुट नहीं होता है। जहां सब नागरिक भक्तिभाव के साथ शमिता ब्रह्म से संगत रहते हैं उस राज्य और राष्ट्र में प्रभु अपनी पावमानी कृपा से सर्व नागरिकों को सतत सम्प्राप्त कराता है

१) (यजध्यै) शुभ श्रेष्ठ कर्मों तथा कर्तव्यों के निर्वहनार्थं (वीतम्, शमितम् हविः) व्यापक और शामक हवि।

यज्ञ इति श्रेष्ठतमं कर्म। जिस राष्ट्र की जनता

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परम आस्तिक और प्रभुभक्त होती है उस राष्ट्र के सभी नागरिक व्यापक और शामक हवि को प्राप्त रहते हैं। हवि नाम आहवनीय शुद्ध घृत, शुद्ध सामग्री और शुद्ध समिधा के समुच्चय का है। हृदय का शुद्ध और व्यापक प्रेम वह घृत है, शुद्ध और उदार विचार वह सामग्री है, संशुद्ध ज्ञानेन्द्रियां तथा कर्मेन्द्रियां वह समिधा है जिनके द्वारा शुभ, श्रेष्ठ कर्मों तथा कर्तव्यों का निर्वहन किया जाता है। यह त्रित ही वह शामक हवि है जिसके द्वारा देश और राष्ट्र में शम्, शान्ति, स्वस्ति की व्याप्ति होती है।

२) (तुरीयः यज्ञः) चतुर्थ यज्ञ।

व्यक्तित्व के सुनिर्माण के लिए की गई सुसाधना प्रथम यज्ञ है। परिवार के सुनिर्माण के लिए की गई सुसाधना द्वितीय यज्ञ है। समाज के संशोधन के लिए की गई सुसाधना तृतीय यज्ञ है। देश और राष्ट्र के सर्वोदय के लिए की गई सुसाधना चतुर्थ यज्ञ है। जिस राष्ट्र के नागरिक ब्रह्मपरायण होते हैं उसी राष्ट्र के नागरिक शुद्धता, पवित्रता, तन्मयता तथा निष्ठा के साथ तुरीय यज्ञ का सम्पादन करते हैं।

३) (हव्यम्) हव्य।

हव्य शब्द का प्रयोग यहां शुद्ध, परिशुद्ध भौतिक और आत्मिक सम्पदा के लिए हुआ है। जिस राष्ट्र के देव-देवियां प्रभुभक्त होते हैं उस राष्ट्र में लौकिक और पारलौकिक, सभी प्रकार की पावन सम्पदा आपूर भरी रहती है।

ऐसे राष्ट्र के सभी सुनागरिक अन्तस्तम से यह कामना करते हैं कि उनके जीवन, उनका देश और उनका राष्ट्र ऐसे आदर्शरूप और विश्व का कल्याण करनेवाले हों कि स्वदेश से भी और विदेशों से भी उनके अपने देश और राष्ट्र के लिए, अपि च स्वयं उनके लिए वाह-वाहें और आशीर्वादें प्राप्त हों जिनका वे सप्रेम सेवन/श्रवण करें।

जहां प्राप्त कराता है शमिता
यजनार्थ व्यापक, शामक हवि,
चतुर्थ यज्ञ, और पवित्र सम्पदा,
वहां से सप्रेम सेवन करें
हमें वाह-वाहें, आशीषें।

९०८ **सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात् सविता ज्योतिरुदयाँ अजस्रम्।**
तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्त्सम्पश्यन् विश्वा भुवनानि गोपाः।
[ऋ १०.१३९.१] य १७.५८

सूर्य-रश्मिः हरि-केशः पुरस्तात् सविता ज्योतिः उत् अयान् अ-जस्रम्।
तस्य पूषा प्र-सवे याति विद्वान् सम्-पश्यन् विश्वा भुवनानि गोपाः।

१) (सूर्य-रश्मिः हरि-केशः सविता) सूर्य-रश्मि, हरि-केश सविता (पुरस्तात्) सामने से [सर्वत्र], पूर्व काल से, सदा से (अ-जस्रम् ज्योतिः) अ-जस्र ज्योति (उत् अयान्) उदय किए हुए है।

पूर्व-मन्त्र में प्रभु को शमिता कहा गया है। यहां, इस मन्त्र में उसे 'सूर्य-रश्मि, हरि-केश सविता' कहा गया है। असंख्य सूर्य तथा प्रकाश-लोक उसकी रश्मियां हैं। हरि=हरणशील, दिल-फ़रेब, आकर्षक। केश=शिर के बाल, ज़ुल्फ़। सृष्टि में सब ओर व्याप्त आभाएं, विभाएं उसके हरणशील केश हैं। सृष्टि का रचयिता, प्रेरक और प्रकाशक होने से वह सविता है। उसकी ज्योति, द्युति अजस्र है, अक्षय और शाश्वत है। उसकी शाश्वत और अक्षय ज्योति उदित सूर्य के

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

समान सदा प्रकाशित रहती है।

२) (विद्वान्) संज्ञानी, (पूषा) पोषक, स्वराष्ट्र को पुष्ट करनेवाला (गोपाः) भूपाल [राष्ट्रपति राजा] (विश्वा भुवनानि) सब भुवनों को, समस्त लोकों को (सम्-पश्यन्) सम्यक् देखता हुआ, (तस्य) उस[सविता]के (प्र-सवे) प्र-सव में, समुत्पन्न संसार में, सम्प्रेरणा में (याति) गति करता है।

सृष्टि का रचयिता परमात्मा किस प्रकार निष्कामता के साथ समस्त लोकों को प्रेरता, प्रकाशता और अनुशासित रखता है यह अवलोकन करता हुआ, राष्ट्रपति राजा प्रभु के संसार में प्रभु की ही प्रेरणा से प्रेरित रहता हुआ, अपने राष्ट्र का पोषण और अपने देश का रक्षण करता है।

सूर्यरश्मि, हरिकेश सविता
उदय किए हुए है पुरस्तात्
ज्योति शाश्वत अक्षय।
विद्वान्, पूषा गोपा गति करता है
उसके प्रसव में, सब लोकों को
सम्यक् अवलोकन करता हुआ।

९०९ विमान एष दिवो मध्य आस्त आपप्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षम्। स विश्वाचीरभि चष्टे घृताचीरन्तरा पूर्वमपरं च केतुम्।

य १७.५९

[ऋ १०.१३९.२]

वि-मानः एषः दिवः मध्ये आस्ते आ-पप्रि-वान् रोदसी अन्तरिक्षम्।
सः विश्वाचीः अभि चष्टे घृताचीः अन्तरा पूर्वम् अपरम् च केतुम्।

१) (एषः) यह (वि-मानः) विशेष मान-सम्मान-प्राप्त [गोपा, भूपाल] (दिवः मध्ये) प्रकाश के मध्य में (आस्ते) विराजता है (आ-पप्रि-वान्) आ-पूरता हुआ (रोदसी, अन्तरिक्षम्) द्यौ-भू और अन्तरिक्ष को।

जिस प्रकार सूर्य द्यौ, भू और अन्तरिक्ष को अपने प्रकाश से सतत आपूरता हुआ, विमान-वायुयान-व्योमयान की तरह प्रकाश में विराजता है, अपने प्रकाश में प्रकाशता है उसी प्रकार राष्ट्रपति राजा अपने प्रजाजनों का विशेष मान-सम्मान प्राप्त करता हुआ, ज्ञान, विज्ञान, संज्ञान के प्रकाश से प्रकाशता हुआ, आत्मप्रकाश तथा धर्मप्रकाश से सदा प्रकाशित रहे, और अपने राष्ट्र के द्यौ [मस्तिष्क] को, अन्तरिक्ष [अन्तःकरण, आत्मा] को, भू [जीवन] को ज्ञान, बल, भक्ति और सम्पदा से भरपूर भरता रहे।

२) (सः) वह (अभि चष्टे) सब ओर देखता है, सम्यक् देखता रहता है (विश्वाचीः) विश्वव्यापिनी प्रजाओं को, (घृताचीः) स्नेहमयी प्रजाओं को, (अन्तरा) अन्तराल को, (पूर्वम्) आगे को, (अपरम्) पीछे को (च) और (केतुम्) ध्वज को।

वह अपने राज्य और राष्ट्र में सब ओर सतर्क दृष्टि रखे। उसकी शासनव्यवस्था तथा शिक्षा ऐसी उच्च हो कि उसके नागरिक हों व्यापार, व्यवसाय, प्रचार के द्वारा विश्व में व्यापनेवाले, उसकी प्रजाएं हों अपने देश और राष्ट्र से आत्मना स्नेह करने-वाली, उसके राष्ट्र का अन्तराल हो गहन और उदात्त, उसके राज्य और राष्ट्र के आगे, पीछे, सर्वत्र हों समृद्धियां और खुशहालियां, उसके राष्ट्र का ध्वज रहे सदा ऊंचा।

यह विमान संस्थित हो
प्रकाश के मध्य में,
आपूरता हुआ द्यौ, भू, अन्तरिक्ष को।
वह देखता है सब ओर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विश्वव्यापिनी प्रजाओं को, स्नेहमयी प्रजाओं को, अन्तराल को, आगे को, पीछे को, ध्वज को।

६१० उक्षा समुद्रो अरुणः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुरा विवेश।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा वि चक्रमे रजसस्पात्यन्तौ।
[ऋ ५.४७.३] य १७.६०
उक्षा समुद्रः अरुणः सु-पर्णः पूर्वस्य योनिम् पितुः आ विवेश।
मध्ये दिवः नि-हितः पृश्निः अश्मा वि चक्रमे रजसः पाति अन्तौ।

१) (उक्षा) सेचक, समृद्धि का सम्पादक, (समुद्रः) समुद्र के समान गहन और तरंगित, (अरुणः) उदय होते हुए सूर्य के समान अरुण आभा से युक्त, (सु-पर्णः) सु-पालक [राष्ट्रपति राजा] (पूर्वस्य पितुः) पूर्व पिता की, सूर्य की (योनिम्) योनि को/में (आ विवेश) प्र-वेश किया करता है।

सूर्य पूर्व दिशा का पिता है। प्रातःकाल जिस ओर से सूर्य उदय होता है उसी दिशा का नाम पूर्व है। इसी से उसे पूर्व दिशा का पिता [जनक] कहा जाता है। राष्ट्रपति राजा भी सूर्य के समान अपने राज्य और राष्ट्र का जनक है। वह हो बादल के समान राष्ट्र का उक्षा, राष्ट्र की समृद्धि का सेचक। वह हो समुद्र के समान गहरा और तरंगमय। समुद्र में जिस प्रकार जल तरंगित होते हैं उसी प्रकार राष्ट्रपति राजा के कुशल शासन में प्रजाएं तरंगित हों। उषा की लालिमा जिस प्रकार आकाश को मनोहारिणी अरुणाभा से आभासित करती है उसी प्रकार वह अपने राष्ट्र को अरुणाभाओं से आभासित करनेवाला हो। और हो वह सु-पर्ण, राष्ट्र का सुष्ठुतया पालन करनेवाला।

२) जिस प्रकार (पृश्निः) सूर्य (दिवः मध्ये) आकाश के मध्य में (नि-हितः) नितराम् स्थित रहता हुआ (अश्मा वि चक्रमे) बादल को/का निर्माण करता और (रजसः) लोक के, भू-आकाश की सन्धिलोक के (अन्तौ) उभय छोरों को, दोनों क्षितिजों को/की (पाति) रक्षा करता है उसी प्रकार राष्ट्रपति राजा भी वह सूर्य है जो राज्य के आकाश के मध्य में, राज्य के अवकाश में स्थित होकर बादल के समान राष्ट्र को हरा-भरा करता है, उसकी समृद्धि का सम्पादन करता है और राज्य-रजोलोक के भूमि-और-प्रजा-रूप क्षितिज के दोनों अन्तों [सिरों] की रक्षा तथा पालना करता है।

उक्षा, समुद्र सुपर्ण प्रवेश किया करता है
पूर्व पिता की योनि में।
आकाश के मध्य में निहित सूर्य
किया करता है निर्मित बादल।
रक्षा करता है लोक के
उभय सिरों की।

६११ इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः। रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम्।
[ऋ. १.११.१, य १२.५६, १५.६१, सा ३४३,८२७] य १७.६१
इन्द्रम् विश्वाः अवीवृधन् समुद्र-व्यचसम् गिरः। रथि-तमम् रथि-नाम् वाजानाम् सत्-पतिम् पतिम्।

राष्ट्रपति राजा, प्रणेता, प्रजा जन, (विश्वाः गिरः) सभी स्तोता [बनकर] (अवीवृधन्) बढ़ाया करते हैं, बढ़ाया करें (समुद्र-व्यचसम्) समुद्र-व्यापी, अनन्त और असीम सृष्टिरूप समुद्र में ओत-प्रोत,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(रथि-नाम् रथि-तमम्) रथियों के रथितम, (वाजानाम् पतिम्) ज्योति और शक्तियों के पति, (सत्-पतिम्) सत्पुरुषों के रक्षक (इन्द्रम्) लोक-लोकान्तररूपी इन्द्रियों के स्वामी [प्रभु को]।

प्रभु अपनी सर्वव्याप्ति से लोक-लोकान्तररूप रथों का संचालक होने से 'रथियों का रथितम' अथवा परम सारथि है। अपनी अजस्र ज्योति और अक्षय शक्तियों से वह सृष्टि का द्योतन तथा धारण करता है। इसी से वह वाजों का पति है। सत्पुरुषों की विशेषतः रक्षा करनेवाला होने से वह 'सत्पुरुषों का पति' कहाता है। प्रभु की महिमा का वर्णन करना, सर्वमानवों को उसका उपासक बनाना ही उसका वर्धन है।

राजा, प्रजा, प्रणेता, सभी प्रभु के परम भक्त और उपासक बनकर उसकी उपासना करते हैं तो वे सभी परमधर्मा बने रहते हैं और सत्य निष्ठा के साथ मातृभूमि तथा राष्ट्रजनों की सच्ची सेवा करते हैं।

बढ़ाया करते हैं स्तोता सकल
समुद्र-व्यापी, रथियों के रथि,
वाजों के पति, सत्पतीन्द्र को।

९१२ **देवहूर्यज्ञ आ च वक्षत् सुम्नहूर्यज्ञ आ च वक्षत्। यक्षदग्निर्देवो देवाँ आ च वक्षत्।** य १७.६२

देव-हूः यज्ञः आ च वक्षत् सुम्न-हूः यज्ञः आ च वक्षत्। यक्षत् अग्निः देवः देवान् आ च वक्षत्।

इन्द्र [प्रभु] का वर्धन करनेवाले नागरिकों में से (देव-हूः च) परमात्मदेव का आह्वान करनेवाला भी (यज्ञः आ वक्षत्) राष्ट्रयज्ञ आवहन करे, (सुम्न-हूः च) सुखैश्वर्यों का आह्वान करनेवाला भी (यज्ञः आ वक्षत्) राष्ट्रयज्ञ आवहन करे।

एक आदर्श राष्ट्र के सभी नागरिक देव अथवा दिव्य होते हैं। दिव्य नागरिकों में से एक वर्ग होता है देवहू, परमात्मदेव का आह्वान करनेवाला, दैवी सम्पदाओं का सम्पादन करनेवाला। दूसरा वर्ग होता है सुखैश्वर्यों का सम्पादन करनेवाला। दोनों ही वर्ग आत्मनिष्ठा के साथ राष्ट्रयज्ञ का सम्यक् निर्वहन करनेवाले हों।

(अग्निः देवः) अग्रणी देव, दिव्य प्रणेता (देवान्) नागरिक देवों को, दिव्य नागरिकों को (यक्षत्) संगत करे (च) और [राष्ट्रयज्ञ का] (आ वक्षत्) आवहन/निर्वहन करे।

राष्ट्रयज्ञ वह यज्ञ है जो अध्वरता के साथ निरन्तर चलता रहता है। यह वह यज्ञ है जिसकी पूर्णाहुति कभी नहीं होती है। राष्ट्र का प्रणेता राष्ट्रयज्ञ का ब्रह्मा है तो देव-नागरिक हैं उसके यजमान। यह यज्ञ यथाविधि तभी सम्पादित होता है जब प्रणेता सभी नागरिकों को सुसंगत, सुगठित और अनुशासित रखता है।

देव-आह्वाता भी करे आवहन यज्ञ,
यज्ञ आवहन करे सुम्न-आह्वाता भी।
देव अग्रणी करे संगठित देवों को
और करे आवहन।

सूक्ति : **यक्षदग्निर्देवो देवान्।**
दिव्य प्रणेता नागरिकों को संगत करे।

९१३ **वाजस्य मा प्रसव उद्ग्राभेणोदग्रभीत्।**
अधा सपत्नानिन्द्रो मे निग्राभेणाधराँ अकः। य १७.६३

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वाजस्य मा प्र-सवः उत्-ग्राभेण उत् अग्रभीत् ।
अध स-पत्नान् इन्द्रः मे नि-ग्राभेण अधरान् अकः ।

नागरिकों को संगत करता हुआ प्रणेता कहता है,
१) (वाजस्य प्र-सवः इन्द्रः) वाज के प्रसवनकर्ता इन्द्र ने (मा) मुझे (उत्-ग्राभेण) उत्-ग्रहण द्वारा (उत् अग्रभीत्) उत्-गृहीत किया है।

राज्य और राष्ट्र की प्रजा-तथा-शासनरूप इन्द्रियों का स्वामी होने से राष्ट्रपति राजा को यहां इन्द्र कहा गया है। राजा वाज का प्रसवनकर्ता अथवा सम्पादक होता है। **वाज** नाम ज्योति, शक्ति और संग्राम का है। राष्ट्रपति, निश्चय ही, राष्ट्र की ज्योति और शक्ति का संवर्धन-केन्द्र होना चाहिए और होना चाहिए वह संग्राम के अवसरों पर सर्वोपरि अनुशासक।

'इन्द्र ने मुझे उत्-ग्रहण द्वारा उत्-गृहीत किया है,' प्रणेता की इस उक्ति में विधि और विधान की व्यवस्था निहित है। प्रणेता हो राष्ट्रपति के उत्-ग्रहण से, अथवा उत्कृष्टता के आधार पर उत्-गृहीत, विधि-कृत, विधान-सम्मत। विधानसम्मत होकर ही वह जनता को संगत करके अपने साथ रख सकता है और जन जन को राष्ट्र की समृद्धि की राह पर अपने साथ बहुत दूर तक चला सकता है।

२) (अध) और [राष्ट्रपति राजा ने] (मे स-पत्नान्) मेरे प्रतिस्पर्धियों को, मेरे सहगामियों को (नि-ग्राभेण) नि-ग्रहण [निकट नियुक्ति] द्वारा (अधरान् अकः) अधर [अधीन] किया है।

उत्-गृहीत प्रणेता के प्रतिस्पर्धियों को उसी के अधीन सहकारी पदों पर नियुक्त किए जाने से वे विरोधी न बनकर उसके सहयोगी बने रहते हैं। इस प्रकार, राष्ट्र के समृद्धिकरण में बाधा नहीं होती है। सहगामियों और प्रतिस्पर्धियों को साथ रखना निपुण नीति का एक कुशल अंग है।

वाज के प्रसवनकर्ता इन्द्र ने
मुझे उद्गृहीत किया उद्ग्रहण से।
और किया है अधीन निग्रहण से
मेरे प्रतिस्पर्धियों को।

६१४ **उद्ग्राभं च निग्राभं च ब्रह्म देवा अवीवृधन् ।**
अधा सपत्नानिन्द्राग्नी मे विषूचीनान् व्यस्यताम् । य १७.६४
उत्-ग्राभम् च नि-ग्राभम् च ब्रह्म देवाः अवीवृधन् ।
अध स-पत्नान् इन्द्र-अग्नी मे विषूचीनान् वि अस्यताम् ।

यहां वेदमाता स्वयं राष्ट्र तथा मातृभूमि के मुख से कहलवाती है,
१) (देवाः) नागरिक देव (उत्-ग्राभम्) उत्-ग्रहण को, उत्कृष्टता के आधार पर उत्-गृहीत प्रणेता को (च) और (नि-ग्राभम्) नि-ग्रहण [अधीन-नियुक्त समूह] को (च) और (ब्रह्म) धन को, राष्ट्रसम्पदा को (अवीवृधन्) बढ़ाया करते हैं, बढ़ाया करें।

नागरिकों का कर्तव्य है कि विधान और अनुशासन का पालन करते हुए, वे शासन के शिरमौर प्रणेता तथा उसके अधीनस्थ वर्ग के सम्मान का वर्धन करते हुए राष्ट्र के धनैश्वर्य की वृद्धि में सतत यत्नशील और उद्योगरत रहें। किसी भी राष्ट्र की समृद्धि की साधना उसके नागरिकों के तप और श्रम से ही सिद्ध होती है। शासन सर्वथा निरुपाय होजाता है यदि जनता तप और श्रम से शून्य

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

होती है।

२) (अध) और (इन्द्र-अग्नी) इन्द्र और अग्नि, राष्ट्रपति और प्रणेता (मे) मेरे, मुझ राष्ट्र के, मुझ मातृभूमि के (विषूचीनान् स-पत्नान्) विरोधाचारी प्रतिस्पर्धियों को (वि अस्यताम्) वि-प्रक्षैपें, छिन्न-भिन्न करें, निवारण करें।

यहां **सपत्न** से तात्पर्य राष्ट्रविरोधी राष्ट्रों से है। किसी राष्ट्र को उन्नति करते हुए देखकर अन्य राष्ट्र ईर्ष्यावश या तो नाना प्रकार की रुकावटें डालते हैं या युद्ध छेड़ देते हैं। राष्ट्रपति और प्रणेता का कर्तव्य है कि इस प्रकार की प्रतिकूल परिस्थितियों को यथासम्भव आड़े न आने दें। या फिर यथासमय उनका दृढ़ता के साथ निराकरण और निवारण करें।

नागरिक देव बढ़ाया करें
उद्ग्राभ को और निग्राभ को
और ब्रह्म को।
और राष्ट्रपति तथा प्रणेता
किया करें छिन्न-भिन्न मेरे
विरोधाचारी प्रतिस्पर्धियों को।

९१५ **क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यं हस्तेषु बिभ्रतः।**
दिवस्पृष्ठं स्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम्। य १७.६५
क्रमध्वम् अग्निना नाकम् उख्यम् हस्तेषु बिभ्रतः।
दिवः पृष्ठम् स्वः गत्वा मिश्राः देवेभिः आध्वम्।

१) (मिश्राः) मिश्रो! सभी पक्ष, कक्ष, अपिकक्ष, वर्ग के मिश्रित नागरिको! (उख्यम् नाकम्) उख्य नाक को (हस्तेषु बिभ्रतः) हाथों में धारण करते हुए (अग्निना) प्रणेता के साथ (क्रमध्वम्) आगे बढ़ो, पराक्रम करो।

किसी भी राष्ट्र के मिश्रों के लिए अपनी मातृभूमि उख्य नाक है। उखा नाम बटलोई अथवा डेगची का है जिसमें खाद्य पदार्थ उबाले जाते हैं। नाक नाम सुखधाम अथवा स्वर्ग का है। मातृभूमि वह उख्य नाक है जिसमें सभी नागरिकों के लिए सब प्रकार के भोज्य और सेवनीय पदार्थ तथा सुख-सुविधा के सभी सामान पकाए और उत्पन्न किए जाते हैं। पाचन और उत्पादन के लिए हाथों का महत्त्व प्रत्यक्ष है। नागरिकों के श्रमशील हाथ जब पाचन और उत्पादन में जुट जाते हैं तो मातृभूमि राष्ट्रजनों को माला-माल और निहाल कर देती है। प्रणेता का ओजःपूर्ण नेतृत्व और नर-नारियों के हाथ ही भूमि में से वसुओं का संसर्जन करके राष्ट्र को समृद्ध बनाते हैं।

२) मिश्रो! अपनी मातृभूमि में (स्वः गत्वा) स्वर्ग प्राप्त करके, स्वर्ग का निर्माण करके, समृद्धि का सम्पादन करके (देवेभिः) दिव्यताओं के साथ (दिवः पृष्ठम्) द्यौ की पृष्ठ पर (आध्वम्) स्थित होओ।

'दिव्यताओं के साथ द्यौ की पृष्ठ पर स्थित होना,' एक वैदिक ईडिअम है जिसका अर्थ है सुशोभनीयता के साथ रहना। समृद्ध राष्ट्र ही सुशोभनीयता के साथ रहते हैं।

मिश्रो! धारण करते हुए
उख्य नाक को बाहुओं में,
आगे बढ़ो अग्नि के साथ।
रचकर स्वर्ग स्थित होओ
द्यौ की पृष्ठ पर दिव्यताओं के साथ।

सूक्ति : **क्रमध्वमग्निना।**
प्रणेता के साथ आगे बढ़ो।
मिश्रा देवेभिराध्वम्।
नागरिको! दिव्यताओं के साथ स्थित रहो।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

६१६ **प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि विद्वानग्नेरग्ने पुरोअग्निर्भवेह ।**
विश्वा आशा दीद्यानो वि भाह्यूर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे । य १७.६६

प्राचीम् अनु प्र-दिशम् प्र इहि विद्वान् अग्नेः अग्ने पुरः-अग्निः भव इह ।
विश्वाः आ-शाः दीद्यानः वि भाहि ऊर्जम् नः धेहि द्वि-पदे चतुः-पदे ।

१) और, (अग्ने) प्रणेतः ! (विद्वान्) विद्वान् तू (प्राचीम् प्र-दिशम् अनु) पूर्व प्रकृष्ट-दिशा को अनुसरता हुआ, पूर्व प्रदिशा का अनुसरण करता हुआ (प्र इहि) प्रगमन कर, प्रसाधना कर ।

पूर्व दिशा जिस प्रकार सूर्य का उदय करके सारी दिशाओं को प्रकाशित करती है उसी प्रकार प्रणेता अपने राष्ट्र का सर्वोदय करके सारे देश को प्रकाशित करे और अन्य सब देशों तथा राष्ट्रों को समृद्धि का आदर्श मार्ग सुझाए ।

२) (इह) यहां, मातृभूमि में, राष्ट्र में, संसार में (अग्नेः पुरः-अग्निः भव) अग्नि के सामने अग्नि हो, (विश्वाः आ-शाः दीद्यानः) सब दिशाओं को द्योतित करता हुआ (वि भाहि) प्रकाशित हो ।

किसी भी देश, राष्ट्र और क्षेत्र के, अपि च विश्व के प्रणेता के लिए यहां यह एक उद्दाम प्रेरणा है । 'अग्नि के सामने अग्नि हो । सूर्य के सामने सूर्य बनकर कार्य कर । पूर्व में उदित होकर अग्निपुञ्ज सूर्य जिस प्रकार अन्धकार का निवारण करके सर्वत्र प्रकाश पूर देता है उसी प्रकार तू संयोजनाओं द्वारा स्वयं प्रकाशित होकर, समाज, राष्ट्र और संसार से अज्ञान, अभाव और भ्रम-भ्रान्तियों का निवारण करके, दिशा-विदिशाओं में प्रकाश, समृद्धि और विज्ञान पूरदे ।'

३) (नः) हमारे, हम मिश्रों के (द्वि-पदे चतुः-पदे) दोपाए [मनुष्यवर्ग] के लिए, चौपाए [पशुवर्ग] के लिए (ऊर्जम् धेहि) बल स्थापन कर ।

नागरिकों तथा गौ, अश्व, आदि पशुओं के बलवान् और हृष्ट-पुष्ट होने से राष्ट्र की समृद्धि में प्रत्यक्षतः सहायता मिलती है ।

प्रणेतः । विद्वान् तू
पूर्व प्रदिशा को अनुसरता हुआ,
प्रगमन कर ।
हो यहां अग्नि के सामने अग्नि,
सकल दिशाओं को द्योतित करता हुआ
प्रकाशित हो ।
स्थापन कर ऊर्ज
दोपाए के लिए, चौपाए के लिए ।

सूक्ति : **प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि ।**
पूर्व दिशा को/का अनुसरण करता हुआ प्रसाधना कर ।
अग्नेरग्ने पुरोअग्निर्भवेह ।
प्रणेतः ! यहां अग्नि के सामने अग्नि हो ।
विश्वा आशा दीद्यानो वि भाहि ।
सब दिशाओं को द्योतित करता हुआ प्रकाशित हो ।
ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ।
बल स्थापन कर हमारे दोपाए और चौपाए के लिए ।

६१७ **पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम् ।**
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ।
[अ ४.१४.३] य १७.६७

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पृथिव्याः अहम् उत् अन्तरिक्षम् आ अरुहम् अन्तरिक्षात् दिवम् आ अरुहम् ।
दिवः नाकस्य पृष्ठात् स्वः ज्योतिः अगाम अहम् ।

प्राची दिशा का अनुसरणकर्ता प्रणेता कहता है, (पृथिव्याः उत्) पृथिवी से ऊपर उठकर (अहम् अन्तरिक्षम् आ अरुहम्) मैं अन्तरिक्ष पर चढ़ा, (अन्तरिक्षात् दिवम् आ अरुहम्) अन्तरिक्ष से द्यौ पर चढ़ा, (नाकस्य दिवः पृष्ठात्) स्वर्गिम द्यौ की पृष्ठ से (अहम्) मैं (स्वः ज्योतिः अगाम्) आनन्द और ज्योति को प्राप्त हुआ ।

पूर्व-मन्त्र में राष्ट्र ने भी और मातृभूमि ने भी प्रणेता से कहा था, 'पूर्व प्रदिशा का अनुसरण करता हुआ प्रगमन कर, अग्नि के सामने अग्नि हो, ऊर्ज स्थापन कर ।'

यहां प्रणेता कहता है, 'मातृभूमे ! राष्ट्र ! मैं साधनाहीन नहीं हूं, साधनासम्पन्न हूं । मैं पृथिवी से उठकर अन्तरिक्ष में पहुंचा, अन्तरिक्ष से सुखमय द्यौ में, द्यौ से आनन्द और ज्योति में ।'

नाभि से नीचे पृथिवीलोक है । जिससे प्राणियों का जन्म और विस्तार होता है, नाभि से नीचे के उस भोगलोक को पृथिवी कहते हैं । जिसमें आत्मा और परमात्मा का ईक्षण [दर्शन] होता है उस अन्तःकरण को अन्तरिक्ष कहते हैं । जिसमें ज्ञान और विवेक का प्रकाश होता है उस मस्तिष्क को द्यौ कहते हैं ।

प्रणेता योग-जीवनपद्धति के आश्रय से पृथिवी-लोक [भोगलोक, अधमलोक] से ऊपर उठकर अन्तरिक्षलोक [अन्त.करणलोक, मध्यमलोक] में समाहित हुआ है । वहां उसने आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार किया है और आत्म-अवस्थिति तथा ब्राह्मी स्थिति का सम्पादन किया है । परिणामस्वरूप, उसका द्युलोक [मस्तिष्क] सर्वतः परिष्कृत और दिव्यालोक से आलोकित होगया है । अब उसका मस्तिष्क संज्ञान तथा विवेक का दिव्य धाम बन गया है । संज्ञान और विवेक ने उसे उस लोक [स्थिति] में पहुंचा दिया है जहां अजस्र आनन्द और अक्षय ज्योति है ।

सभी देशों और राष्ट्रों के, अपि च सभी समाजों और संस्थाओं के नेताओं तथा प्रणेताओं के लिए यहां यह एक उत्प्रेरणा और सत्साधना का सन्देश है । अच्छा नेता और सच्चा प्रणेता वही है जो योग-जीवनपद्धति से निर्मल, निर्विकार होकर, आनन्द और ज्योति से सम्पन्न हो ।

पृथिवी से ऊपर उठकर मैं
चढ़ा था अन्तरिक्ष लोक पर ।
अन्तरिक्ष से मैं चढ़ा हूं द्युलोक पर,
स्वर्गिम द्युलोक की पृष्ठ से
प्राप्त हुआ मैं आनन्द ज्योति को ।

६१८ **स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी ।**
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे ।
[अ ४.१४.४] य १७.६८
स्वः यन्तः न अप ईक्षन्ते आ द्याम् रोहन्ति रोदसी ।
यज्ञम् ये विश्वतः-धारम् सु-विद्वांसः वि-तेनिरे ।

राष्ट्र के सुविद्वानों को सम्बोधन करता हुआ अब प्रणेता कहता है

१) (ये सु-विद्वांसः) जो सुविद्वान् होते हैं
२) वे किसी की (न अप ईक्षन्ते) अपेक्षा नहीं

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

करते हैं।

३) वे (स्वः यन्तः) अपने आपको नियन्त्रित करते हुए (रोदसी) पृथिवी और अन्तरिक्ष [पर आरोहण करके] (द्याम् आ रोहन्ति) द्युलोक पर चढ़ जाते हैं।

४) वे (विश्वतः-धारम्) सर्वतः-धार, असंख्यधार, सर्वाङ्गीण (यज्ञम्) यज्ञ को (वि-तेनिरे) विस्तारा करते हैं।

इस मन्त्र में राष्ट्रयज्ञ के मिष से जहां सुविद्वान् की परिभाषा की गई है, वहां उनकी साधों की गुरुता का भी संकेत किया गया है।

जो सुविद्वान् होते हैं वे अपनी साधों की साधना में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करते हैं। आत्मनिर्भर रहते हुए वे पृथिवी और अन्तरिक्ष को पार करके द्युलोक पर चढ़ जाते हैं।

पृथिवी और अन्तरिक्ष को पार करके द्यौ पर चढ़ने का एक तो वही आशय है जो पूर्व-मन्त्र में प्रकट किया गया है, भोगलोक से अन्तःकरण पर चढ़कर अन्तःकरण में आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार करना। मस्तिष्क को संज्ञान और विवेक का दिव्य धाम बनाकर, अजस्र आनन्द और अक्षय ज्योति से सम्पन्न रहना।

दूसरा आशय है निम्नतम स्थिति से उच्चतम स्थिति प्राप्त करना।

तीसरा आशय है उदात्त उद्देश्य अथवा लक्ष्य की प्राप्ति में ज़मीन-आस्मान एक करना।

चौथा आशय है साधना के उच्चतम शिखर पर पहुंचकर ही दम लेना।

जो सुविद्वान् होते हैं वे एकाङ्गी नहीं, विश्वतोधार अथवा सर्वाङ्गीण यज्ञ का, विश्वसाधक साध का अनुष्ठान किया करते हैं। राष्ट्रयज्ञ एक असंख्यधार यज्ञ है। उसके निष्पादन में सुविद्वान् नागरिक शासन की अधीनता में नहीं, स्वाधीनता के साथ राष्ट्र के असंख्यधार यज्ञ का निर्वहन करते हैं। साथ ही, वे शासन तथा जनता के बीच में पुल का काम देते हैं। शासन और जनता, दोनों ही सुविद्वान् नागरिकों के आश्रय से इस ओर से उस ओर जाते हैं, और उस ओर से इस ओर आते हैं। दोनों ही राष्ट्र की समृद्धि और विस्तार में उनके ब्रह्मत्व से लाभान्वित होते हैं।

स्वयं प्रणेता भी राष्ट्रयज्ञ का सुविद्वान् ब्रह्मा है। वह भी आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता के साथ राष्ट्रयज्ञ का सभी दिशाओं में सुसंचालन तथा प्रसार कर रहा है।

होते हैं जो सुविद्वान्
वे नहीं अपेक्षा करते हैं;
आत्मनियन्त्रण करते हुए,
भूमि-अन्तरिक्ष पर चढ़कर,
द्यौ पर चढ़ जाते हैं।
विश्वतोधार यज्ञ को वे
सम्यक् विस्तारा करते हैं।

९१९ **अग्ने प्रेहि प्रथमो देवयतां चक्षुर्देवानामुत मर्त्यानाम्।**
इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्ति।
[अ ४.१४.५] य १७.६९

अग्ने प्र इहि प्रथमः देव-यताम् चक्षुः देवानाम् उत मर्त्यानाम्।
इयक्षमाणाः भृगु-भिः स-जोषाः स्वः यन्तु यजमानाः स्वस्ति।

सुविद्वान् कहते हैं,

१) (अग्ने) प्रणेतः! तू (देवानाम् उत मर्त्यानाम्) देवों का और सामान्य जनों का (चक्षुः) नेत्र है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

किसी भी राष्ट्र में दो प्रकार के नागरिक होते ही हैं, एक दिव्यताओं अथवा विशेष प्रतिभाओं से युक्त जिन्हें यहां देव कहा गया है, दूसरे सामान्य अथवा साधारण जन जिन्हें यहां मर्त्य कहा गया है। प्रणेता दोनों ही कोटि के नागरिकों का वह नेत्र है जो जीवन के प्रत्येक पार्श्व में उनका नयन, सुनयन करता है।

२) तू दोनों प्रकार के (देव-यताम्) कामयमान नागरिकों का (प्रथमः) प्रथम, अगुआ [बनकर] (प्र इहि) चल।

सुनयनकर्ता आगे चलता है तो ही क़ाफ़ला अपनी मंज़िल तय करके अभीष्ट स्थान पर पहुंच पाता है। राष्ट्र मंज़िल है। नागरिकसमूह क़ाफ़ला है। राष्ट्र की समृद्धि और संवृद्धि अभीष्ट है। वैसा तभी होगा जब प्रणेता सभी को ठोकरों से बचाता हुआ, योजनाबद्ध रीति से प्रत्येक पार्श्व में सभी से सही साधना करा रहा होगा। साधना-विहीन कामना कभी सफल नहीं होती है।

३) (स-जोषाः) प्रीतिमान, परस्पर प्रेम करनेवाले (यजमानाः) यजमान, यज्ञशील नागरिक (इयक्षमाणाः) यज्ञ सम्पादन करते हुए, राष्ट्रयज्ञ के सुसम्पादन की कामना करते हुए (भृगु-भिः) तेजस्वियों/विपश्चितों/प्रतिभाओं के साथ (स्वः) आनन्द, मोक्ष, (स्वस्ति) सु-अस्ति, सु-अस्तित्व, सुजीवन, सुख (यन्तु) प्राप्त करें।

राष्ट्रपति राजा, प्रणेता, नागरिक, सभी राष्ट्र-यज्ञ के यजमान हैं। सभी पारस्परिकतामय प्रेम से परस्पर प्रबद्ध रहते हुए, राष्ट्रयज्ञ के सम्पादन की कामना से युक्त होकर, निष्ठापूर्वक अपने अपने दिव्य कर्तव्यांश का पालन करें। सभी यजमान राष्ट्र की प्रतिभाओं से प्रकाश और प्रेरणा प्राप्त करके देश में सुख, शान्ति, स्वस्ति, आनन्द और मोक्ष का पथ प्रशस्त करें।

अग्ने ! तू चक्षु देवों का और मर्त्यों का,
कामयमानों का प्रथम बनकर चल।
प्रीतिमय यजमान यज्ञ सम्पादन करते हुए,
भृगुओं के साथ स्वः स्वस्ति सम्पादें !
सूक्ति : स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्ति।
यजमान आनन्द और सुख प्राप्त करें।

९२० **नक्तोषासा समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकं समीची।**
द्यावाक्षामा रुक्मो अन्तर्वि भाति देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाः।
य १७.७०

[ऋ १.९६.५, य १२.२]

नक्त-उषसा स-मनसा वि-रूपे धापयेते शिशुम् एकम् सम्-ईची।
द्यावा-क्षामा रुक्मः अन्तः वि भाति देवाः अग्निम् धारयन् द्रविणः-दाः।

स्वः [आनन्द] और स्वस्ति [सुजीवन, सुख] की प्राप्ति के लिए, प्रत्यक्षतः, योग-जीवनपद्धति की आवश्यकता है। तभी आत्मा को आनन्द, और जीवन को स्वस्ति की उपलब्धि होती है। आत्मा से आनन्द का सेवन और आस्वादन किया जाता है, शरीर से स्वस्ति का। आनन्द केवल ब्रह्म में है। योग-जीवनपद्धति से शरीर को स्वस्तियुक्त रखते हुए आत्मना ब्रह्मानन्द का प्रपान किया जाता है। पूर्ण समृद्ध राष्ट्र वही है जिसका सम्पूर्ण नागरिक-समूह भौतिक सम्पन्नता के साथ साथ परम आस्तिक भी हो और प्रातः-सायं ध्यान-समाधि द्वारा ब्रह्मानन्द का पान करता हो।

योग-जीवनपद्धति से विभूषित राष्ट्र में (स-मनसा, वि-रूपे, सम्-ईची, नक्त-उषसा) स-मन,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वि-रूप, सम्यक् संगत नक्त और उषा (एकम् शिशुम्) एक एक शिशु को, प्रत्येक आत्मशिशु को (धापयेते) दूध पिलाती हैं।

नक्त नाम सायं सन्धिवेला का है, उषा प्रातः सन्धिवेला का। दोनों सन्धिवेलाएं समना हैं, मन को सन्धियुक्त [समाहित] करनेवाली हैं, यद्यपि वे हैं वि-रूपा, भिन्न भिन्न रूपवाली। एक है सांवली, एक है गोरी। फिर भी वे सुसंगता हैं, संगत होनेवाली, संगति [सन्धि, समाहिति] करानेवाली। दोनों ही मिलन की वेलाएं हैं। मिलन की वेला में मिलन का संस्कार होता है। दोनों वेलाओं में अन्तर्मुख होकर ब्रह्म का ध्यान करने पर, प्रत्येक वेला प्रत्येक आत्मशिशु को ब्रह्मदुग्ध का पान कराती है।

दोनों वेलाओं में ब्रह्मदुग्ध का पान करनेवाले देव-देवियां प्रत्यक्ष देखते हैं कि (द्यावा-क्षामा अन्तः) द्यौ और भू के अन्दर (रुक्मः वि भाति) सुन्दर जगमगा रहा है।

ब्रह्म रुक्म है, जगमगानेवाला है, परम सुन्दर है, सर्वसौन्दर्य है। उसी (अग्निम्) सौन्दर्यपुञ्ज को (द्रविणः-दाः देवाः) धन-दानी देव (धारयन्) धारण किए हुए हैं।

धनदानियों को धनों का देनेवाला वह ब्रह्माग्नि है। सब उसी से ले-लेकर उसो की राह पर दान करते रहें।

समन, विरूप, सुसंगत दोनों
सायं प्रातः की वेलाएं
एक एक शिशु को हैं दूध पिलाती।
रुक्म जगमगाता है द्यौ-भू के अन्दर।
धारण किए हुए अग्नि को
द्रविण-दानी देव।

६२१ **अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्धञ्छतं ते प्राणाः सहस्रम् व्यानाः।**
त्वं साहस्रस्य राय ईशिषे तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहा। य १७.७१
अग्ने सहस्र-अक्ष शत-मूर्धन् शतम् ते प्र-आनाः सहस्रम् वि-आनाः।
त्वम् साहस्रस्य रायः ईशिषे तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहा।

दोनों समय ध्यान-समाधि द्वारा आत्मना ब्रह्मानन्द का प्रपान करते हुए, परम आस्तिक राष्ट्रजन प्रभु के प्रति सदा समर्पित रहने की भावना से प्रगान करते हैं,

१) (अग्ने) सौन्दर्यपुञ्ज ! (सहस्र-अक्ष) असंख्य-नेत्र ! (शत-मूर्धन्) असंख्य-मस्तक !

अपनी सर्वव्याप्ति तथा सर्वज्ञता से सबको सर्वत्र देखनेवाला होने से ब्रह्म को 'असंख्य-नेत्र', और सर्वत्र सब कुछ जाननेवाला होने से उसे 'असंख्य-मस्तक' कहा गया है। **सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः** (ऋ १०.९०.१)। अक्ष देखने का प्रतीक है, और मस्तिष्क जानने का। वह सर्वत्र सब कुछ देख रहा है और सब कुछ जान रहा है।

२) (ते शतम् प्र-आनाः, सहस्रम् वि-आनाः) तेरे असंख्य प्राण और असंख्य व्यान हैं।

प्राणाः से तात्पर्य यहां संजीवन-संचारिणी शक्तियों से है, और **व्यानाः** से तात्पर्य अन्तर्व्यापिनी सुप्रेरणाओं से। 'अपनी असंख्य संजीवन-संचारिणी शक्तियों से हमें संजीवन से युक्त रख, और अपनी अन्तर्व्यापिनी सुप्रेरणाओं से हमें सुप्रेरित रख', ऐसी प्रार्थनाओं से नागरिकों के जीवन सदा सुपथगामी रहते हैं, और दुःखराहित्य तथा मोक्ष का पथ प्रशस्त होता है।

३) (त्वम् साहस्रस्य रायः ईशिषे) तू असंख्य-धार आत्मैश्वर्य का स्वामित्व कर रहा है, तुझमें असंख्यों आत्मानन्द हैं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आत्मैश्वर्य का मूल आधार है ब्रह्म, जिसका आनन्द असंख्य-धार होकर सर्वत्र प्रवाहित हो रहा है।

४) हम (तस्मै ते वाजाय) उस तुझ वाजस्वरूप के लिए (स्वाहा विधेम) स्वाहा विहित करें, स्व-आहुतिपूर्वक विधारित रहें, पूर्णतया सुहुत [समर्पित] रहें।

वाज नाम ज्योति और शक्ति का है। परमात्मा ज्योतियों की ज्योति, और शक्तियों की शक्ति है। उसके प्रति सुहुत, समर्पित रहते हुए हम अपने जीवन में उसकी ज्योति और शक्ति का संचार तथा संधारण करें।

अग्ने ! सहस्राक्ष ! शतमूर्धन् !
तेरे असंख्य प्राण और व्यान।
तू है स्वामी साहस्र आत्मिक धन का,
उस तुझ वाजरूप के प्रति रहें सुहुत हम।

सूक्ति : **त्वं साहस्रस्य रायः ईशिषे।**
तू साहस्र आत्मधन का स्वामित्व करता है।

६२२ सुपर्णो ऽसि गरुत्मान् पृष्ठे पृथिव्याः सीद। भासान्तरिक्षमा पृण ज्योतिषा दिवमुत् तभान तेजसा दिश उद् दंह। य १७.७२

सु-पर्णः असि गरुत्मान् पृष्ठे पृथिव्याः सीद।
भासा अन्तरिक्षम् आ पृण ज्योतिषा दिवम् उत् स्तभान तेजसा दिशः उत् दंह।

पूर्व-मन्त्र में ब्रह्म को सम्बोधन करने के पश्चात् समृद्ध राष्ट्र की अध्यात्मसम्पदा के धनी राष्ट्रजन अपने अपने आत्मा को सम्बोधन करते हैं,

१) आत्मन् ! तू (सु-पर्णः असि गरुत्मान्) बाज़ है पंखोंवाला।

'गरुत्' नाम पंख का है। मानवदेह में विराजे हुए आत्मारूप बाज़ के दो ऐसे पंख हैं जिनके आश्रय से उड़कर वह उच्चतम ऊंचाइयों तक पहुंच सकता है। वे पंख हैं मस्तिष्क और हृदय, बुद्धि और मन। बुद्धि के चिन्तन, और मन के संकल्प से असम्भव दिखाई देनेवाली साधें सर्वथा सम्भव होजाती हैं। सु, सुन्दर, सुदृढ़ पर्णों [पंखों] वाला होने से ही बाज़ पक्षी को सुपर्ण कहते हैं। बुद्धि और मनरूप पंख स्वतः नहीं उड़ते हैं, आत्मबाज़ ही उन्हें उड़ाकर वा उनके आश्रय से उड़कर विष्णु के परम धाम में पहुंचता है।

२) आत्म-बाज़ ! आत्मस्थ होकर (पृथिव्याः पृष्ठे सीद) पृथिवी की पीठ पर स्थित हो।

'जिस पृथिवी पर तू सदेह निवास कर रहा है वह विलास-धाम नहीं है। वह तो वह कुरु-क्षेत्र है जहां से 'कुरु, कुरु' [कर, कर] की सतत ध्वनि ध्वनित होती रहती है। वह तो वह कर्मक्षेत्र है जहां कभी भी कर्म का अवसान नहीं होता है। वह तो वह सुपावन साधनास्थल है जहां लोक और परलोक की, आत्मा और अमृतत्व की सन्तत साधना की जाती है। वह तो वह परम धाम है जहां परम और परम पद की प्राप्ति का अभ्यास किया जाता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि भी तो इस पृथिवी पर ही की जाती है। ऐसी इस पृथिवी पर तू स्थिरता के साथ स्थित हो। जिस परिवार का तू सभ्य है, जिस समाज का तू सदस्य है, जिस राष्ट्र का तू नागरिक है, जिस अदिति [पृथिवी] का तू आदित्य [पुत्र] है, उसके प्रति भी तुझे अपने कर्तव्य का निर्वहन करना है। उसे सर्वतः समृद्ध और सम्पन्न बनाना है।'

३) आत्म-सुपर्ण ! अपनी (भासा) आभा से (अन्तरिक्षम् आ पृण) अन्तरिक्ष को पूरदे।

'भा' का अर्थ है आभा, सुन्दरता, कान्ति,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

चमक। द्युलोक और पृथिवीलोक के बीच के अवकाश का नाम है अन्तरिक्ष। शरीर में मस्तिष्क है द्युलोक, नाभि से नीचे का भाग है पृथिवी लोक, और दोनों लोकों के बीच का भाग है अन्तरिक्ष लोक।

'आत्मन्! तू आभामय है। अपनी आभा से सारे अन्तरिक्ष को पूरदे! देहान्तरिक्ष को भी और विश्वान्तरिक्ष को भी अपनी आभा से आभासित करदे।'

४) आत्मन्! अपनी (ज्योतिषा) ज्योति से (दिवम् उत् स्तभान) द्यौ को उत्स्थ कर/ऊपर सहार।

द्यौ से तात्पर्य यहां प्रत्यक्षतः मस्तिष्क से है। मस्तिष्क में उत्कृष्ट चिन्तन और उच्च विचार स्थिर रहते हैं तो मस्तिष्करूप द्यौ दिव्य विचारों से जगमगाता रहता है। वही द्यौ का उत्स्थ वा उत्थित रहना है।

५) आत्मन्! अपने (तेजसा) तेज से (दिशः उत् दृंह) दिशाओं को उत्-दृढ़ कर, दिशाओं का उद्धार कर, सब दिशाओं में निवास करनेवाली मानवप्रजाओं का त्राण कर।

आत्मतेज की महिमा अपार है। आत्मतेज के द्वारा मानव राष्ट्र और विश्व की सभी दिशाओं में, और मानवप्रजाओं के सभी पार्श्वों में उत्थान, उदय, उन्नति और उच्चता का सम्पादन, तथा समृद्धि और सम्पन्नता का निष्पादन कर सकता है।

तू है गरुत्मान् सुपर्ण,
हो संस्थित पृथिवी की पीठ पर।
पूर आभा से अन्तरिक्ष को,
ज्योति से द्यौ को उत्थित कर,
उद्धर तेज से दिशाओं को।

सूक्ति : **पृष्ठे पृथिव्याः सीद।**
पृथिवी की पीठ पर संस्थित हो।
भासान्तरिक्षमा पृण।
आभा से अन्तरिक्ष को जगमगादे।
तेजसा दिश उद् दृंह।
तेज से दिशाओं को/का उद्धार कर।

९२३ **आजुह्वानः सुप्रतीकः पुरस्तादग्ने स्वं योनिमा सीद साधुया।**
अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत। य १७.७३

आ-जुह्वानः सु-प्रतीकः पुरस्तात् अग्ने स्वम् योनिम् आ सीद साधु-या।
अस्मिन् सध-स्थे अधि उत्-तरस्मिन् विश्वे देवाः यजमानः च सीदत।

१) (अग्ने) आत्माग्ने! (पुरस्तात्) पूर्व से, सामने, साक्षात्, प्रत्यक्ष (आ-जुह्वानः) आहूत/सम्बोधित हुआ, (सु-प्रतीकः) सु-सुन्दर [तू] (साधु-या) साधुता के साथ (स्वम् योनिम्) अपनी योनि पर, अपने स्वरूप में (आ सीद) संस्थित/समाहित हो।

नागरिक-नागरिक का यह आत्म-उद्बोधन एक गहन तत्त्व का परिचायक और एक गुह्य रहस्य का उद्घाटक है। मानवयोनि में निहित आत्मा जब अपने स्वरूप का दर्शन करके आत्म-समाहित होजाता है तभी उसकी प्रत्येक गति याथातथ्य, और उसके द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य यथावत् होता है। सच्ची समृद्धि और सर्वांगीण संवर्धन किसी भी राज्य वा राष्ट्र का तभी होता है जब नागरिक-नागरिक का जीवन आत्मप्रचेतना से प्रबुद्ध होता है। तभी सुसुन्दर आत्मा साधुता के साथ जीवनयज्ञ में संस्थित रहता है।

२) (विश्वे देवाः च यजमानः) सब देव और

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आत्म-यजमान, तुम सब (अस्मिन् उत्-तरस्मिन् सध-स्थे) इस उत्कृष्ट-तर सह-स्थान में (अधि सीदत) अधि-ष्ठित होओ, संस्थित रहो, अधिकार-पूर्वक निवास करो।

देव शब्द का प्रयोग यहां नागरिक देवों के लिए हुआ है, और **यजमान** शब्द का यज्ञशील राष्ट्र के लिए। मातृभूमि है वह सह-स्थान जिसमें नागरिक-देवों का समूह राष्ट्र के रूप में अधिष्ठित है। इस सहस्थान को उत्तरोत्तर श्रेष्ठतर बनाते रहना चाहिए।

नागरिक अथवा व्यक्ति के रूप में सब इन्द्रियां हैं **विश्वे देवाः**, आत्मा है जीवनयज्ञ का यजमान, और शरीर है वह सहस्थान जिसमें सब इन्द्रियदेव और आत्म-यजमान अधिष्ठित हैं। ऐसे इस सह-स्थान को उत्तरोत्तर श्रेष्ठतर बनाते रहना चाहिए।

अग्ने ! पुरस्तात् सम्बोधित हुआ,
सुसुन्दर तू साधुतया हो संस्थित निज स्वरूप में।
सब देव और यजमान, सभी तुम
इस उत्तर सहस्थान में
रहो अधिष्ठित।

सूक्ति : स्वं योनिमा सीद साधुया।
साधुता के साथ अपने स्वरूप में संस्थित हो।

९२४ **तां सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम्।**
यामस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनां सहस्रधारां पयसा महीं गाम्। य १७.७४

ताम् सवितुः वरेण्यस्य चित्राम् आ अहम् वृणे सु-मतिम् विश्व-जन्याम्।
याम् अस्य कण्वः अदुहत् प्र-पीनाम् सहस्र-धाराम् पयसा महीम् गाम्।

आत्मना प्रबुद्ध नागरिक (अहम्) मैं (आ वृणे) वरण करता हूं (वरेण्यस्य सवितुः) वरणीय सविता की [वरेण्य सविता द्वारा प्रेरित] (ताम् चित्राम्, विश्व-जन्याम् सु-मतिम्) उस चित्रा, विश्व-जन्या सुमति को, (अस्य) इस [वरेण्य सविता] की (याम् प्र-पीनाम्, सहस्र-धाराम्, महीम् गाम्) जिस प्र-पुष्टा, सहस्र-धारा, महान् गौ को (कण्वः) मेधावी (अदुहत्) दुहा करता है (पयसा) अमृत से, सुमतिरूपा सोम से, सुमतिमय सोम्यता से।

सविता नाम प्रसविता [सुरचयिता], प्रेरक और प्रकाशक का है। अखिल सृष्टि का प्रसवन-कर्ता, प्रेरक और प्रकाशक होने से ब्रह्म को सविता कहते हैं। वरणीय गुणों से युक्त होने से वह वरेण्य है।

मन्त्रप्रयुक्त सुमति के विशेषण गहन और गम्भीर हैं। **चित्रा** का अर्थ है चयनीया, चयनीय चिन्तनों और विचारों का चयन करनेवाली। 'चित्रा' का अर्थ अद्भुता भी है। 'चित्रा' नाम उषा का भी है। सुमति भद्रताओं का चयन करती है और उषा के समान अद्भुता और प्रकाश-कारिणी है। **विश्व-जन्या** = सर्व-जन्या, सबका हित जतानेवाली, सार्वजनिक भावना से उपेता, सर्व-हिताय सजगा। एक आदर्श नागरिक की मति जहां सु हो, वहां वह चित्रा और विश्वजन्या भी हो।

सविता देव की एक महान् गौ है जो प्र-पुष्टा है और सहस्र-धारा है और जिसका दोहन सुमतिरूप पय के आश्रय से किया जाता है। वेदवाणी ही सविता देव की वह गौ है जिसका दोहन प्रत्येक मेधावी नागरिक को सुमतिपय द्वारा करना चाहिए। प्रत्य-क्षतः, वेदगौ ही अपनी सत्य विद्याओं तथा संज्ञानों द्वारा सबको सर्वतः प्रपुष्ट करनेवाली है। उसी का

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ज्ञान-विज्ञान असंख्य-धार है।
करता हूं मैं वरण वरणीय सविता की
उस चित्रा, विश्वजन्या सुमति को,
इसकी जिस प्रपुष्टा, सहस्रधारा गौ को
मेधावी दुहा करता है पय द्वारा।
सूक्ति : चित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम्।
मैं चयनशीला विश्वजन्या सुमति को वरण
करता हूं।

९२५ विधेम ते परमे जन्मन्नग्ने विधेम स्तोमैरवरे सधस्थे।
यस्माद् योनेरुदारिथा यजे तं प्र त्वे हवींषि जुहुरे समिद्धे।
[ऋ २.९.३] य १७.७५

विधेम ते परमे जन्मन् अग्ने विधेम स्तोमैः अवरे सध-स्थे।
यस्मात् योनेः उत्-आरिथ यजे तम् प्र त्वे हवींषि जुहुरे सम्-इद्धे।

१) (अग्ने) प्रकाशस्वरूप! सुन्दर देव! आदर्श राष्ट्र के आदर्श नागरिक हम, अदिति के आदित्य हम (स्तोमैः) स्तोमों से, स्तुतियों द्वारा (ते) तेरा (परमे जन्मन् विधेम) परम जन्म में विधान करें, (अवरे सध-स्थे) अवर सह-स्थान में (विधेम) विधान करें।

विधान = वि-धान, विशेष-धारणा, पूर्ण-आधान, विशेष ध्यान। धारणा से ध्यान सिद्ध होता है। ध्यान से ध्याता में ब्रह्माग्नि का वि-धान अथवा आधान होता है। ध्यान के समाधि में परिणत होने पर ब्रह्माग्नि का प्रज्वलन, प्रकाशन, साक्षात्कार होता है।

रात्रिशयन के पश्चात्, प्रतिप्रातः मनुष्य का पुनर्जन्म होता है। वह उसका दैनिक परम जन्म है। प्रत्येक परम जन्म में मनुष्यों को प्रातः बहुत सवेरे उठकर प्रकाशस्वरूप वरेण्य सविता का विधान करना चाहिए। प्रतिसायं मनुष्य के दैनिक जीवन का अवसान होता है। वह उसका अवर सह-स्थान है। प्रत्येक अवर सहस्थान में मनुष्यों को पर ब्रह्म का विधान करना चाहिए। दोनों समय विशेष ध्यान के पूर्व और पश्चात् स्तवन करना चाहिए। इसी आशय के प्रकाशन के लिए वेदमाता ने परम आस्तिक, ब्रह्मपरायण, धर्मात्मा नागरिकों के मुख से कहलवाया है, 'हम परम जन्म में भी और अवर जन्म में भी स्तुतियों सहित तेरा विधान करें।'

२) सुन्दर देव! तू (यस्मात् योनेः) जिस योनि से (उत्-आरिथ) ऊंचा उठा हुआ है, मैं (तम् प्र यजे) उसे प्रकृष्टतया संगत करता हूं।

प्रत्येक आस्तिक नागरिक और आदित्य की यह साधोक्ति है। **योनि** से तात्पर्य निज रूप से है। परमात्मा अपनी सर्वव्याप्ति से जहां सब में ओत-प्रोत है, वहां वह अपने निजरूप से इस सबसे ऊपर उठा हुआ हैं, सर्वथा पृथक् है। **तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः** (यजुर्वेद ४०.५); वह इस सबके भीतर है, वह इस सबसे बाहर भी है। प्रातः-सायं के विशेष ध्यान से उसके निजरूप से संगत होकर उसके निजरूप का दर्शन भी करना चाहिए।

३) मानव तेरे (सम्-इद्धे) प्र-ज्वलन में, साक्षात् प्रकाशित होने पर (त्वे = त्वयि) तुझमें (हवींषि) आत्महवियां, जीवनहवियां; प्रेमहवियां (जुहुरे) होमा करते हैं, अर्पण किया करते हैं।

अर्पण का आनन्द ही तब है जब अर्पक और देव, जिसको अर्पण होना है, नेत्र सनेत्र हों।

अग्ने! स्तोमों से तेरा हम

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परम जन्म में करें विधान,
अवर सधस्थ में करें विधान।
जिस निजरूप से तू उत्थित है,
प्र-संगत करता हूं उसको।
प्रज्वलित होने पर तुझमें
होमा करते जीवनहवियां।

९२६ प्रेद्धो अग्ने दीदिहि पुरो नो ऽजस्रया सूर्म्या यविष्ठ। त्वां शश्वन्त उप यन्ति वाजाः।
[ऋ ७.१.३, सा १३७५] य १७.७६

प्र-इद्धः अग्ने दीदिहि पुरः नः अ-जस्रया सूर्म्या यविष्ठ। त्वाम् शश्वन्तः उप यन्ति वाजाः।

१) (अग्ने) सुन्दर देव! (यविष्ठ) युवतम! बलिष्ठ! बलवत्तम! शक्तिमत्तम!
(प्र-इद्धः) प्रज्वलित/प्रकाशित होकर (अ-जस्रया सूर्म्या) अक्षय आभा/सौन्दर्य से (नः) हमारे, हम आत्मिक और साधनाशील नागरिकों के (पुरः) सामने (दीदिहि) जगमगा।

सूर्मी नाम सौन्दर्य, आभा और ज्वाला का है। निस्सन्देह, ब्रह्म सौन्दर्यज्वाल है। उसी की सौन्दर्यज्वाल से यह सब सुन्दर होरहा है। उसी का सौन्दर्य इस सबमें प्रतिबिम्बित होरहा है। और है वह बलवत्तम, शक्तिमत्तम।

सौन्दर्य से उसी के सुन्दर जहान सारा।
और शक्ति से उसी की है संस्थित यह सारा।

साधनाशील नागरिकों में उसके निजरूप के संदर्शन की अभिलाषा का होना, प्रत्यक्षतः, स्वाभाविक ही है। वह कह रहे हैं—

परदा हटाइए, हमें जलवा दिखाइए।
निज सौन्दर्य का हमको दर्शन कराइए।

२) (शश्वन्तः वाजाः) शाश्वत वाज (त्वाम् उप यन्ति) तुझे उपयमन कर रहे हैं, तुझसे संगत होरहे हैं, तेरा आलिंगन कर रहे हैं, तुझे प्राप्त होरहे हैं।

वाज नाम ज्योति, शक्ति और संग्राम का है। ब्रह्म की ज्योति वह दिव्य ज्योति है जिससे यह सब द्योतित होरहा है। उसकी शक्ति वह शक्ति है जिससे यह सब सुव्यवस्थित और संस्थित है। उसी की ज्योति और शक्ति शाश्वत है। उसी की शाश्वत ज्योति और शक्ति से युक्त होकर सुनागरिक और आदित्य उभय लोकों की समृद्धि के संग्रामों में विजय, साफल्य प्राप्त करते हैं।

सुन्दर देव! सर्वशक्तिमन्!
अक्षय सूर्मी से प्रकाशित
होकर चमक हमारे आगे।
तुझे प्राप्त हैं वाज शाश्वत।

सूक्ति : दीदिहि पुरो नो ऽजस्रया सूर्म्या।
जगमगा सामने हमारे अक्षय सौन्दर्य से।

९२७ अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम्। ऋध्यामा त ओहैः।
[ऋ ४.१०.१, य १५.४४, सा ४३४,१७७७] य १७.७७

अग्ने तम् अद्य अश्वम् न स्तोमैः क्रतुम् न भद्रम् हृदि-स्पृशम्। ऋध्याम ते ओहैः।

आत्मानुभूति तथा ब्रह्मानुभूति से भावित राष्ट्रजन अब पुनः अपने परम आस्तिक और ब्रह्मपरायण प्रणेता को सम्बोधन करते हैं,

१) (अग्ने) प्रणेतः! शाश्वत वाजों के स्वामी के आराधक हम सुनागरिक (अद्य) आज (ऋध्याम) बढ़ाएं, सराहें (ते) तेरे (तम्) उस [सुनेतृत्व] को [जो है] (भद्रम्) कल्याणकारी, (हृदि-स्पृशम्) हृदय में स्पर्श करनेवाला, (ओहैः

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

स्तोमैः) ओह स्तुतिसमूहों सहित, (अश्वम् न) अश्व को जैसे, (क्रतुम् न) कर्तृत्व को जैसे।

अद्य शब्द का प्रयोग वर्तमान समय के लिए हुआ है।

'ओह स्तोमों' का प्रयोग होता है परमात्मा के उन स्तुतिसमूहों के लिए जिनका गान वितर्कता तथा गहन आस्था के साथ कृतज्ञता प्रकाशन के लिए किया जाता है।

मन्त्र ६९ के अनुसार प्रणेता देवों और मर्त्यों का नेत्र, तथा राष्ट्रजनों का प्रथम/पुरुष है। इस प्रकार, जहां वह राष्ट्र के लिए कल्याणकारी है वहां वह अपने स्नेह और सेवा से राष्ट्रजनों के हृदयों में स्पर्श करनेवाला, उनके हृदयों में बसनेवाला भी है। उसके नेतृत्व का आदर और उसके आदेशों का पालन करते हुए वे उसकी समृद्धीकरण की साध को सर्वतः सराहें और उसके उत्साह को बढ़ाएं। किस प्रकार? अश्वारोही जिस प्रकार मंज़िल तय कराते हुए अश्व को सराहता और उत्साहित करता है और उसकी चाल को तीव्र करता है। और किस प्रकार? जिस प्रकार कर्मशील, कर्मयोगी, कर्तव्यपरायण व्यक्ति अपने कर्तृत्व को, अपनी कर्मक्षमता को बढ़ाता और अपने आपको सराहता है।

अग्ने! आज बढ़ाएं हम
तेरे उस[नेतृत्व]को,
जो है भद्र हृदि-स्पर्श,
ओह स्तोमों सहित,
अश्व को जैसे, क्रतु को जैसे।

९२८ **चित्तिं जुहोमि मनसा घृतेन यथा देवा इहागमन् वीतिहोत्रा ऋतावृधः।**
पत्ये विश्वस्य भूमनो जुहोमि विश्वकर्मणे विश्वाहादाभ्यं हविः। य १७.७८

चित्तिम् जुहोमि मनसा घृतेन यथा देवाः इह आ-गमन् वीति-होत्राः ऋत-वृधः।
पत्ये विश्वस्य भूमनः जुहोमि विश्व-कर्मणे विश्वाहा अ-दाभ्यम् हविः।

सम्बोधित होकर प्रणेता कहता है,

१) सुनागरिको! मैं (मनसा) मन से, मन के सुसंकल्प के साथ, (घृतेन) स्नेह से, हृदय के प्यार के साथ (चित्तिम् जुहोमि) चित्ति होमता हूं।

'चित्ति होमना' एक वैदिक ईडियम है, जिसका आशय है समर्पित होकर सम्पूर्ण प्रचेतना, लग्न और सतर्कता के साथ कर्तव्यों का निर्वहन करना। 'मैं पूरे मन और पूर्ण निष्ठा के साथ देश और राष्ट्र के प्रति पूरी वफ़ादारी की भावना से अपने कर्तव्यों का निर्वहन कर रहा हूं।'

२) (वीति-होत्राः ऋत-वृधः देवाः) होत्र-प्रकाशक, ऋत-वर्धक देव जन (इह) यहां, राष्ट्रसाधना के क्षेत्र में (यथा) यथावत् (आ-गमन्) आगमन करें।

होत्र नाम हवनसामग्री का है। यहां इस शब्द का प्रयोग राष्ट्रवैभव और भूसम्पदा के लिए हुआ है। ऋत नाम ऋताचार, सही व्यवहार, सदाचार और अनुशासन का है। देव शब्द का प्रयोग हुआ है यहां सुविद्वान् आचार्य—आचार्याओं और वेदोपदेष्टाओं के लिए। 'राष्ट्रवैभव और भूसम्पदा को प्रकाशित करनेवाले, ऋताचारयुक्त सदाचार और अनुशासन को बढ़ाने-व्यापनेवाले देव जन राष्ट्र और भूमि की समृद्धि की साधना के क्षेत्र में पदार्पण करें और मेरा हाथ बटाएं।'

३) मैं (विश्व-कर्मणे भूमनः विश्वस्य पत्ये) विश्व के रचयिता, विशाल विश्व के स्वामी के प्रति (विश्वाहा) सब दिनों, सदा, सतत (अ-दाभ्यम् हविः) अ-दाभ्य हवि (जुहोमि) होमता हूं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परमात्मा वह विश्वकर्मा है जिसने सारी सृष्टि को रचा है। वही इस **भूमनः विश्वस्य**, विशाल विश्व का पति [स्वामी] है। **अदाभ्य** का अर्थ है अ-हिंसनीय, अ-दम्य, अ-मर। **हवि** का अर्थ है होमी जाने योग्य शुद्ध वस्तु। आत्मा ही अदाभ्य हवि है। परमात्मा के प्रति अदाभ्य हवि होमने का अर्थ है आत्मना परमात्मा को समर्पित होकर कर्मसाधना करना। 'विश्व-कर्मा, विशाल विश्व के स्वामी के प्रति आत्मना समर्पित होकर, मैं भूसम्पदा के संवर्धन और राष्ट्र के समृद्धिकरण में संलग्न हूं। इस सुसाध में प्रभु मेरी रक्षा और सहायता करे।'

चित्ति होमता हूं मैं मन से, धृत से।
होत्रप्रकाशक, ऋत-संवर्धक देव यहां यथावत् आएं।
विश्वकर्मा, विशाल विश्व के स्वामी के प्रति
होमता हूं मैं हवि अदाभ्य सब दिनों।

९२९ **सप्त ते अग्ने समिधः सप्त जिह्वाः सप्त ऋषयः सप्त धाम प्रियाणि।**
सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति सप्त योनीरा पृणस्व घृतेन स्वाहा। य १७.७९

सप्त ते अग्ने सम्-इधः सप्त जिह्वाः सप्त ऋषयः सप्त धाम प्रियाणि।
सप्त होत्राः सप्त-धा त्वा यजन्ति सप्त योनीः आ पृणस्व घृतेन स्वाहा।

प्रणेता की उपर्युक्त विनयोक्ति से प्रभावित होकर राष्ट्रजन उसका अभिनन्दन करते हैं,

१) (अग्ने) प्रणेतः! (ते) तेरे (सप्त सम्-इधः) सात प्रज्वलन [प्रकाशन]-साधन, (सप्त जिह्वाः) सात जिह्वाएं, (सप्त ऋषयः) सात ऋषि, (सप्त प्रियाणि धाम=धामानि) सात प्रिय धाम, (सप्त होत्राः) सात होता (त्वा) तुझे (सप्त-धा) सात प्रकार से (यजन्ति) संगत कर रहे हैं, तुझसे संगत हैं।

चिन्तन, धारणा, ध्यान, संकल्प, भावना, वृत्ति और संयम, ये सात हैं वे प्रज्वलनसाधन जिनके परिष्कार से प्रणेता सदा सुप्रकाशित रहता है।

सत्य भाषण, प्रिय भाषण, मधुर भाषण, मित भाषण, हित भाषण, प्रासंगिक भाषण, समाधानकारक भाषण, वाणी की ये सात साधनाएं सप्त जिह्वा हैं।

दो नेत्र, दो श्रोत्र, दो नासिका-छिद्र और मुख हैं सप्त ऋषि।

बुद्धिधाम, प्रज्ञाधाम, संकल्पधाम [मन], वृत्तिधाम [चित्त] आत्मधाम [व्योम], ब्रह्मधाम [परम व्योम], शरीरधाम, ये हैं सात प्रिय धाम। हृदयाकाश का वह भाग जिसमें आत्मा निवास करता है 'व्योम' कहलाता है। सम्पूर्ण हृदयाकाश, जिसमें परम का दर्शन होता है, परम व्योम है।

ओज, तेज, धैर्य, बल, जितेन्द्रियता, वक्तृत्व, कर्तृत्व, ये सात हैं वे होता जिनके आश्रय से प्रणेता राष्ट्रयज्ञ के सतत और सफल संचालन में समर्थ होता है। उपर्युक्त सभी सप्त प्रणेता को ब्रह्म, क्षत्र, राष्ट्र, देश, प्रजा, धन और यश, इस सप्त-धा से संगत रखते हैं?

२) सब सप्तों से संगत हुआ तू (घृतेन) घृत से (स्वाहा) सुहुत होकर (सप्त योनीः) सातों योनियों को (आ पृणस्व) पूर्णतया पूर।

घृत की स्निग्धता स्नेह अथवा प्रेम का प्रतीक है। **स्वाहा वाड् वै यज्ञस्यात्मा**। जहां स्नेह तहां स्वाहा। स्नेह और स्वाहा के आश्रय से प्रणेता राष्ट्र की सातों योनियों को पूर्णतया पूरता है, उन्हें तृप्त और सन्तुष्ट करता है, उन्हें सींचता है—सींचकर हरा भरा करता है। गृहस्थाश्रम की चार

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

योनियां हैं (१) ब्राह्मण [विद्वान्], (२) क्षत्रिय [वीर], (३) वैश्य [व्यापारी], (४) शूद्र [श्रमिक]। गृहस्थेतर तीन योनियां हैं— (१) ब्रह्मचारी [विद्यार्थी वर्ग], (२) वनी [वानप्रस्थी वर्ग], (३) संन्यासी वर्ग। चार और तीन मिलकर राष्ट्र की ये सात योनियां हैं।

मन्त्रोक्त सप्तों से सशक्त, सुसज्ज और परिमार्जित होकर ही प्रणेता राष्ट्र की सातों योनियों को पूर्णतया समृद्ध, सुपुष्ट और सन्तुष्ट कर पाता है।

अग्ने ! तेरे सप्त समिधः, सप्त जिह्वाः,
सप्त ऋषि, सप्त धाम प्रिय,
सप्त होता, तुझे सप्तधा संगत करते।
पूर पूर्णतया सातों योनियां
ऋत से सुहुत होकर।

९३० शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च सत्यज्योतिश्च ज्योतिष्माँश्च।
शुक्रश्च ऋतपाश्चात्यंहाः। य १७.८०
शुक्र ज्योतिः च चित्र-ज्योतिः च सत्य-ज्योतिः च ज्योतिष्मान् च।
शुक्रः च ऋत-पा च अति-अंहाः।

९३१ ईदृङ् चान्यादृङ् च सदृङ् च प्रतिसदृङ् च। मितश्च सम्मितश्च सभराः। य १७.८१
ईदृङ् च अन्यादृङ् च स-दृङ् च प्रति-स-दृङ् च। मितः च सम्-मितः च स-भराः।

९३२ ऋतश्च सत्यश्च ध्रुवश्च धरुणश्च। धर्ता च विधर्ता च विधारयः। य १७.८२
ऋतः च सत्यः च ध्रुवः च धरुणः च। धर्ता च वि-धर्ता च वि-धारयः।

९३३ ऋतजिच्च सत्यजिच्च सेनजिच्च सुषेणश्च। अन्तिमित्रश्च दूरेअमित्रश्च गणः।
य १७.८३
ऋत-जित् च सत्य-जित् च सेन-जित् च सु-सेनः च। अन्ति-मित्रः च दूरे-अ-मित्रः च गणः।

९३४ ईदृक्षास एतादृक्षास ऊ षु णः सदृक्षासः प्रतिसदृक्षास एतन।
मितासश्च सम्मितासो नो अद्य सभरसो मरुतो यज्ञे अस्मिन्। य १७.८४
ईदृक्षासः एतादृक्षासः उ सु नः स-दृक्षासः प्रति-स-दृक्षासः आ इतन।
मितासः च सम्-मितासः नः अद्य स-भरसः मरुतः यज्ञे अस्मिन्।

९३५ स्वतवाँश्च प्रघासी च सान्तपनश्च गृहमेधी च। क्रीडी च शाकी चोज्जेषी।
य १७.८५
स्व-तवान् च प्र-घासी च साम्-तपनः च गृह-मेधी च। क्रीडी च शाकी च उत्-जेषी।

इन छह मन्त्रों में प्रणेता ने राष्ट्र के विविध वर्गों का आह्वान किया है राष्ट्र की समृद्धि के यज्ञ में अपने अपने कर्त्तव्यांश के सम्यक् पालन के लिए। किसी भी देश का कोई भी प्रणेता कितना भी प्राज्ञ और सुदक्ष क्यों न हो, जनहित के कार्यों में स्वयं जनता का भी सहयोग पर्याप्त महत्त्व रखता है।

वह कहता है, (अद्य) आज (नः) हमारे, (नः) हम सबके (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञ में, समृद्धीकरण

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

की इस संसाधना में, (उ) अवश्य, (सु आ इतन) सु-आगमन करो, शुभागमन करो, अपना अपना दिव्य भाग निर्वाहो।

कौन कौन आए ?

१) (शुक्र-ज्योतिः च) शुक्र-ज्योति भी, पवित्रात्म-वर्ग भी।

शुक्र [शुद्ध] है ज्योति जिसकी उसकी संज्ञा **शुक्र-ज्योति** है। 'ज्योति' नाम ज्योत्स्ना, प्रचेतना, ज्ञान, आत्मा और प्रतिभा का है। यहां 'ज्योति' शब्द का प्रयोग आत्मा के लिए हुआ है। पवित्र है आत्मा जिसका ऐसा वर्ग भी राष्ट्रसेवा में संलग्न हो।

२) (चित्र-ज्योतिः च) अद्भुत-प्रतिभावाला भी, अद्भुत है प्रतिभा जिसकी वह वर्ग भी।

३) (सत्य-ज्योतिः च) सत्य-ज्योति भी, सत्य की ज्योति से द्योतित है जो वर्ग वह भी, सत्य है ज्ञान जिसका वह वर्ग भी।

४) (ज्योतिष्मान् च) ज्योतिष्मान् भी, प्रचेतना से प्रचेतित है जो वर्ग वह भी।

५) (शुक्रः च) शुद्ध भी, पवित्र है जीवन जिसका वह वर्ग भी।

६) (ऋत-पाः च) ऋत की रक्षा करनेवाला भी, ऋत की रक्षा करता है जो वर्ग वह भी।

ऋत=सही [right] सत्य, ऋताचार, सदाचार। जिसका हर क़दम, प्रत्येक कार्य सही होता है उसकी संज्ञा **ऋत-पा** है। जो सत्य की रक्षा करता है वह ऋतपा है। जो सदाचार की रक्षा करता है वह ऋतपा है।

७) (अति-अंहाः) निष्पाप भी, निरपराध भी, ईमानदार वर्ग भी।

अति=अतिक्रमण करनेवाला, लांघनेवाला। अंहस्=पाप, अपराध। जो पाप और अपराध से मुक्त है वह वर्ग भी।

८) (ईदृङ् च) इसके तुल्य भी, ऐसा भी, ऐसा वर्ग भी।

९) (अन्यादृङ् च) अन्यों के तुल्य भी, वैसा भी, वैसा वर्ग भी।

१०) (स-दृङ् च) समान भी, साधारण वर्ग भी।

११) (प्रति-स-दृङ् च) प्रति-स-दृश भी, विभिन्न वर्ग भी।

१२) (मितः च) मितशील भी, मिताचारी वर्ग भी।

१३) (सम्-मितः च) सम्यक् मितशील भी, सम्यक् मिताचारी वर्ग भी।

१४) (स-भराः) सभरण करनेवाले, भरण पोषण में संलग्न रहनेवाले वर्ग भी।

स-भर का अर्थ है स-भरण, स-पोषण। भरण-पोषण की क्षमता और भावना से युक्त, जो परोपकाररत जन हैं उनकी संज्ञा 'सभराः' है।

१५) (ऋतः च) ऋत भी, ऋताचारी वर्ग भी।

१६) (सत्यः च) सत्य भी, सत्यव्रती भी, सत्यसेवी वर्ग भी।

१७) (ध्रुवः च) ध्रुव भी, ध्रुवता के साथ साधों को सिद्ध करनेवाला वर्ग भी।

१८) (धरुणः च) धरुण भी, धैर्य धारण करनेवाला वर्ग भी, विकट प्रसंगों में डटकर कार्य करनेवाला वर्ग भी।

१९) (धर्ता च) धारक भी, उत्तरदायित्वों को निर्वाहनेवाला वर्ग भी।

२०) (वि-धर्ता च) वि-धारक भी, विशेष उत्तरदायित्वों को निर्वाहनेवाला वर्ग भी।

२१) (वि-धारयः) वि-धारणशील भी, विविध और विशेष आयोजनों का नियोजन करनेवाला वर्ग भी।

२२) (ऋत-जित् च) ऋत-जित् भी, ऋताचार का उत्कर्ष सम्पादन करनेवाला भी, ऋताचार के द्वारा उत्कर्ष सम्पादन करनेवाला वर्ग भी।

२३) (सत्य-जित् च) सत्य-जित् भी, सत्य का उत्कर्ष सम्पादन करनेवाला वर्ग भी, सत्य के आश्रय से विजय सम्पादन करनेवाला वर्ग भी।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

२४) (सेन-जित् च) सेन-जित् भी, सेना को प्रशिक्षित और अनुशासित रखनेवाला वर्ग भी।
२५) (सु-सेनः च) सु-सेन भी, सुसेना का अधिकारी वर्ग भी।
२६) (अन्ति-मित्रः च) अन्ति-मित्र भी, निकट में मित्र भी, निकटस्थ मित्र वर्ग भी।
२७) (दूरे-अ-मित्रः च) दूरे अमित्राः शत्रवो यस्य सः। दूर भाग जाएं शत्रु जिससे वह वीर वर्ग भी।
२८) (गणः) गणनीय, प्रत्येक गणनीय वर्ग, प्रत्येक व्यावसायिक संघ [Union]।
२९) (ईदृक्षासः) इस प्रकार के नागरिक।
३०) (एतादृक्षासः) ऐसे, इस प्रकार के नागरिक।
३१) (स-दृक्षासः) समान प्रकार के नागरिक, समान दृष्टिवाले।
३२) (प्रति-स-दृक्षासः) आप्त कोटि के नागरिक।
३३) (मितासः च) मितशील भी, मिताचार के साथ व्यवहार करनेवाले नागरिक भी।
३४) (सम्-मितासः) सम्यक् मितशील, सम्यक् मितशीलता के साथ व्यवहार करनेवाले नागरिक।
३५) (स-भरसः) आत्मवत् सबका भरण-पोषण करनेवाले, परोपकारी जन।
३६) (मरुतः) पवन, प्राण के समान मानवों में जीवनसंचार करनेवाले।
३७) (स्व-तवान् च) स्व-बल से युक्त भी, आत्म-संबल से युक्त वर्ग भी, अपनों की वृद्धि करनेवाला वर्ग भी।
३८) (प्र-घासी च) प्र-भक्षी भी, सु-भक्ष्य का भक्षण करनेवाला वर्ग भी, शुद्ध आजीविकावाला वर्ग भी।
३९) (साम्-तपनः च) अच्छी प्रकार तप करनेवाला भी, उत्कृष्टता के साथ घोर श्रम करनेवाला वर्ग भी।
४०) (गृह-मेधी च) गृह-याजी भी, गृहस्थाश्रम का यज्ञियता के साथ संचालन करनेवाला वर्ग भी।
४१) (क्रीडी च) क्रीडाशील भी, खिलाड़ी वर्ग भी।
४२) (शाकी च) सशक्त भी, शक्तिशाली वर्ग भी।
४३) (उत्-जेषी) उद्विजयशील भी, उत्कृष्टता के साथ विजय साफल्य सम्पादन करनेवाला वर्ग भी।

आज हमारे, हम सबके, इस यज्ञ में
अवश्यमेव करो सु-आगमन—
शुक्रज्योति भी, चित्रज्योति भी, सत्यज्योति भी,
ज्योतिष्मान् भी, शुक्र भी, ऋतपा भी,
अति-अंहा भी।
ऐसा भी, वैसा भी, साधारण भी,
भिन्न भी, मितशील भी, सम्मितशील भी,
सभर भी।
ऋत भी, सत्य भी, ध्रुव भी, धरुण भी।
धर्ता भी, विधर्ता भी, विधारक भी।
ऋतजित् भी, सत्यजित् भी, सेनजित् भी,
सुसेन भी, अन्तिमित्र भी, दूरे अमित्र भी,
गण भी।
इस प्रकार के, ऐसे इस प्रकार के,
समान प्रकार के, आप्त कोटि के,
मित शील के, सम्मित शील के,
भरण पोषण करनेवाले, मरुत !
आत्मबली भी, प्रभक्षी भी,
संतपनशील भी, गृहयाज्ञी भी,
खिलाड़ी भी, शक्तिशाली भी,
उद्विजयी भी।

९३६ इन्द्रं दैवीर्विशो मरुतो ऽनुवर्त्मानो ऽभवन् यथेन्द्रं दैवीर्विशो मरुतो ऽनुवर्त्मानो ऽभवन्।
एवमिमं यजमानं दैवीश्च विशो मानुषीश्चानुवर्त्मानो भवन्तु य १७.८६

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इन्द्रम् दैवीः विशः मरुतः अनु-वर्त्मानः अभवन् यथा इन्द्रम् दैवीः विशः मरुतः अनु-वर्त्मानः अभवन् । एवम् इमम् यजमानम् दैवीः च विशः मानुषीः च अनु-वर्त्मानः भवन्तु ।

अपने आह्वान के सुप्रवाह में प्रणेता अनुकामना करता है और करता रहता है, (यथा) जैसे, जिस प्रकार (मरुतः) प्राणरूप, (दैवीः) दिव्य गुणों से युक्त (विशः) प्रजाएं (इन्द्रम्) राष्ट्रपति राजा के प्रति (अनु-वर्त्मानः अभवन्) अनु-वर्तन करनेवाली हुआ करती हैं, (दैवीः) दिव्यताओं से युक्त (मरुतः) प्राणरूप (विशः) इन्द्रियरूप प्रजाएं (इन्द्रम् अनु-वर्त्मानः अभवन्) आत्मा के प्रति अनुगमन करनेवाली हुआ करती हैं (एवम्) वैसे ही, उसी प्रकार (दैवीः च मानुषीः च) दैवी भी और मानुषी भी, दोनों प्रकार की (विशः) प्रजाएं (इमम् यजमानम्) इस यजमान के प्रति, इस यज्ञशील राष्ट्र के प्रति (अनु-वर्त्मानः) अनु-वर्तन करनेवाली (भवन्तु) हों।

मन्त्र में दी गई दोनों उपमाएं यथार्थ और स्पष्ट हैं। प्राण जिस प्रकार जीवन का आधार-स्तम्भ है वैसे ही प्रजाएं राजा का आधार-स्तम्भ हैं और इन्द्रिय-प्रजाएं आत्मा का। इसी से उनके लिए 'मरुतः' विशेषण का प्रयोग किया गया है। राजनिष्ठ प्रजाएं और आत्मनिष्ठ इन्द्रियां दैवी प्रजा हैं क्योंकि निष्ठा एक दिव्य गुण है।

देश और राष्ट्र के प्रति गहन निष्ठा रखनेवाले सुविद्वानों के लिए 'दैवीः विशः' का, और सामान्य स्थिति के राष्ट्रनिष्ठों के लिए 'मानुषीः विशः' का प्रयोग किया गया है। दैवीः विशः तथा मानुषीः विशः, दोनों ही प्रकार की राष्ट्रनिष्ठ और प्राणरूप प्रजाएं अपने यज्ञशील राष्ट्र के प्रति अनुवर्तन करनेवाली हों, देश और राष्ट्र को किसी भी प्रकार की हानि पहुंचानेवाली न हों।

जैसे प्राणरूप दैवी प्रजाएं राजा के प्रति अनुवर्तन किया करती हैं, प्राणरूप दैवी इन्द्रियां आत्मा के प्रति अनुवर्तन किया करती हैं वैसे ही प्रजाएं दैवी भी, मानुषी भी अनुवर्तन करनेवाली हों इस यजमान के प्रति।

९३७ **इमं स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये ।**
उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियं सदनमा विशस्व । य १७.८७
इमम् स्तनम् ऊर्जस्वन्तम् धय अपाम् प्र-पीनम् अग्ने सरिरस्य मध्ये ।
उत्सम् जुषस्व मधु-मन्तम् अर्वन् समुद्रियम् सदनम् आ विशस्व ।

अब प्रजाएं प्रणेता से कहती हैं,

१) (अग्ने) अग्नेतः ! (सरिरस्य, अपाम् मध्ये) बहुत-प्रजाओं के मध्य में (इमम् ऊर्जस्वन्तम् प्र-पीनम् स्तनम्) इस बलकारक प्र-पूरित स्तन को (धय) पी।

सरिर नाम सलिल, जल का है। ये तीनों पर्यायवाची शब्द हैं। निघण्टु ३.१ के अनुसार 'सरिर' का अर्थ बहु अथवा बहुत भी है। यहां सरिर का 'बहु' अर्थ ही सार्थक है। 'पीन' का अर्थ है स्थूल, मोटा, पूरा, पुष्ट। 'बहुत-प्रजाओं के मध्य में' से तात्पर्य 'सब प्रजाओं के साथ से है।' देश की भूमि ही वह बलकारक, प्रपीन, पुष्टिकर स्तन है जिसमें उत्पन्न पेयों और खाद्यों से मातृभूमि के सभी पुत्र-पुत्रियों का पोषण होता है। प्रणेता सभी प्रजाओं के मध्य में, सभी प्रजाओं के साथ, मातृभूस्तन का पान करे, बांटकर खाए। अपने लिए अधिक और जनता के लिए कम ऐसी स्वार्थमय वृत्ति उसकी न हो। राष्ट्र की समृद्धि प्रजाओं के

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Koshà

लाभ, सुख, सुविधा के लिए हो, शासकों की लूट-खसोट के लिए नहीं।

२) (अर्वन्) ! (मधु-मन्तम् उत्सम्) मधुर उत्स को (जुषस्व) सप्रेम सेवन कर।

अर्वन् नाम बहुत तीव्र अश्व का है। यहां इस शब्द का प्रयोग तीव्रता के साथ कर्मसाधना करनेवाले प्रणेता के लिए हुआ है। **उत्स** का अर्थ है कूप, झरना, स्रोत।

अपने देश और राष्ट्र को भौतिक और आत्मिक, उभय समृद्धियों से समृद्ध देखकर, प्रणेता के मानस में मधुर आनन्द और मधुर सन्तोष का जो झरना झरता है, जो मधुर स्रोत प्रवाहित होता है, प्रणेता उसे सप्रेम सेवन करे, सप्रेम उस आनन्द से आनन्दित रहे।

३) (समुद्रियम् सदनम् आ विशस्व) समुद्रिय भवन पर सम्यक् प्रवेश करे।

समुद्र के भीतर उभरे हुए किसी टीले पर बने हुए भवन में निवास करनेवाला व्यक्ति जब जब भवन की छत पर चढ़ता है, उसे सब ओर अथाह जल ठाठें मारता हुआ दिखाई देता है। वह उसका समुद्रिय सदन पर प्रवेश है। प्रणेता को अपने देश और राष्ट्र में सब ओर उभय समृद्धियां ठाठें मारती हुई दिखाई पड़ें, वैसी उसकी नीतियां और योजनाएं हों।

अग्ने ! बहु प्रजाओं के मध्य
पी इस बलकारक प्रपीन स्तन को।
अर्वन् ! सेवन कर सप्रेम मधुर उत्स को,
सम्यक् कर प्रवेश समुद्रिय सदन पर।

९३८ **घृतं मिमिक्षे घृतमस्य योनिर्घृते श्रितो घृतमवस्य धाम।**
अनुष्वधमा वह मादयस्व स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम्।
[ऋ २.३.११] य १७.८८

घृतम् मिमिक्षे घृतम् अस्य योनिः घृते श्रितः घृतम् उ अस्य धाम।
अनु-स्व-धम् आ वह मादयस्व स्वाहा-कृतम् वृषभ वक्षि हव्यम्।

१) (वृषभ) वृष्टि करनेवाले !

प्रणेता के लिए प्रजाओं द्वारा 'वृषभ' सम्बोधन उद्बोधक है। प्रणेता की सारी नीतियां और योजनाएं प्रजाओं के लिए सुख, सौभाग्य तथा उभय ऐश्वर्यों की वृष्टि, वृद्धि करनेवाली हों। इसी आशय से उसे 'वृषभ' कहकर पुकारा गया है।

२) (घृतम् मिमिक्षे) स्नेह सींचता है।

घृत शब्द का प्रयोग वेदों में, अधिकांशतः, स्नेह के लिए हुआ है। घृत के समान स्निग्ध होने से प्रेम की संज्ञा घृत है। प्रेम सेचन करता है। माली बाग़ से स्नेह करता है तो सम्यक् सींचकर उसे सदैव हरा-भरा रखता है। राष्ट्रपति राजा, प्रणेता, जनता, सभी जब अपने देश और राष्ट्र के प्रति स्निग्ध स्नेह से प्रबद्ध रहते हैं तो वे अपने देश और राष्ट्र को ऐसे सींचते हैं कि सम्पूर्ण प्रजा हरी-भरी, सुसम्पन्न रहती है। प्रणेता का कर्तव्य है कि वह राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को अपने देश और राष्ट्र के प्रति सस्नेह और सनिष्ठ रखे। शिक्षा ऐसी हो कि समग्र नागरिक देश के प्रति दिल और जान से वफ़ादार बने रहें।

३) (घृतम्) स्नेह (अस्य) इसका, इस देश का, इस राष्ट्र का (योनिः) आधार है।

देश की उन्नति और राष्ट्र की समृद्धि का आधार, प्रत्यक्षतः, राष्ट्रजनों का अपने देश और राष्ट्र के प्रति स्नेह ही है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

४) (घृते श्रितः) स्नेह में रक्षित, प्रेम में निहित (घृतम् उ) प्रेम ही (अस्य) इसका, इस देश का, इस राष्ट्र का (धाम) धारण-सामर्थ्य है, धारक बल है।

'प्रेम में निहित प्रेम' से तात्पर्य पूर्ण स्नेह, आपूर प्यार है। जिन्हें अपने देश और राष्ट्र से स्निग्ध स्नेह होता है, संख्या में बहुत कम होने पर भी वे अपने देश और राष्ट्र को अजेय, अदम्य और सुसमृद्ध बनाए रखते हैं।

५) वर्षणशील प्रणेतः ! (अनु-स्व-धम् आ वह) आत्म-धारणा को सतत वहन कर।

प्रणेता देश और राष्ट्र के प्रति अपनी आत्म-धारणा को निरन्तर अक्षुण्ण बनाए रहे, उसमें शिथिलता न आने दे।

६) आत्मधारणा के आश्रय से (मादयस्व) हर्षित हो, हर्षित कर, तृप्त हो, तृप्त कर, आनन्दित हो, आनन्दित कर।

७) (स्वाहा-कृतम् हव्यम् वक्षि) स्वाहा-कृत हव्य को वहन कर।

यहां यह यज्ञशेष के सेवन की भावना है। सम्पूर्ण समृद्धि प्रजाओं के लिए सुहुत हो। तप और श्रम से सम्पादित, शुद्ध अन्न तथा धनैश्वर्य की संज्ञा हव्य है। वह सब प्रजा के लिए स्वाहा-कृत हो, सुहुत हो। प्रजा को परितृप्त करने के पश्चात् राजवर्ग उनका सेवन करे। 'इदं प्रजायै, इदं न मम' यह आत्मध्वनि राजा, प्रणेता, शासन के मानस में सतत—सन्तत—निरन्तर गूंजती रहे।

सींचता है घृत, इसकी योनि घृत,
घृत में निहित घृत ही इसका धाम।
सतत वहन कर आत्मधारणा,
हर्षित हो, हर्षित कर,
सेवन कर स्वाहाकृत हव्य।

सूक्ति : घृतं मिमिक्षे।
स्नेह सींचता है।
स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम्।
वृषभ ! यज्ञशेष सेवन कर।

९३९ **समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट्।**
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः।
य १७.८९
[ऋ ४.५८.१]
समुद्रात् ऊर्मिः मधु-मान् उत् आरत् उप अंशुना सम् अ-मृत-त्वम् आनट्।
घृतस्य नाम गुह्यम् यत् अस्ति जिह्वा देवानाम् अ-मृतस्य नाभिः।

प्रणेता के प्रति प्रजा की ओर से वह मन्त्रोक्ति बहुत गहन और गम्भीर है,

२) (समुद्रात्) समुद्र से (मधु-मान् ऊर्मिः) मधुर तरंग (उत् आरत्) उत्तरंगित हुआ करती है/हुआ करे।

प्रणेतः ! देख। समुद्र से जिस प्रकार निरन्तर मधुर तरंगें उत्तरंगित होती रहती हैं उसी प्रकार जन जन के और तेरे स्वयं के मानस में स्वराष्ट्र की भौतिक और आत्मिक समृद्धि की उत्ताल तरंगें तरंगित होती रहें।

२) (अंशुना) अंशु से (अ-मृत-त्वम्) अमृतत्व (सम्) सम्यक् (उप आनट्) व्यापा करता है।

अंशु शब्द का प्रयोग यहां अत्यल्प अंकुर [बीजांश] के लिए हुआ है। बीजांश से अंकुर का उद्भवन होता है, जो बढ़ते बढ़ते अमृतत्व अथवा अमृतमय फल देनेवाला वृक्ष बन जाता है। प्रणेता जन जन के मानस में, प्रत्येक नागरिकदेव के हृदय में वह अंकुर अंकुरित करे जिससे राष्ट्रसमृद्धि का

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विशाल वृक्ष आरोहित होकर, सम्पूर्ण राष्ट्र में अमृतत्व की, सुख और आनन्द की सम्यक् व्याप्ति होती रहे।

३) (घृतस्य यत् गुह्यम् नाम अस्ति) घृत का जो गूढ़ नाम है वह हो (देवानाम् जिह्वा) देवों की जिह्वा, (अ-मृतस्य नाभिः) अमृत की नाभि, सुखसमृद्धि का केन्द्र।

घृत का गुह्य नाम है प्रज्वलनसाधन। यज्ञाग्नि बुझने लगता है तो घृत की आहुतियां देने से अग्नि का प्रज्वलन होजाता है। उसी प्रकार राष्ट्रयज्ञ का अग्नि मन्द होने वा बुझने लगे तो राष्ट्रप्रेमरूप घृत की आहुतियां देकर उसे प्रज्वलित किया जाए। राष्ट्रघृत अथवा राष्ट्रप्रेम ही है जो राष्ट्रसमृद्धि की भावना और साधना को प्रज्वलित रखता है। घृत का यह गूढ़ नाम सभी नागरिकदेवों की जिह्वा पर बना रहे। यह घृत राष्ट्रार्थ अमृत की नाभि है, सुखसमृद्धि का केन्द्र है। ऐसे देवों की जिह्वा राष्ट्र और संसार में अक्षयअमृत का अक्षय स्रोत होती है।

समुद्र से उत्तरंगित हुआ करे मधुर तरंग,
अंशु से सर्वत्र व्यापा करे अमृतत्व।
घृत का है जो गूढ़ नाम,
जिह्वा देवों की, अमृत की नाभि।

सूक्ति : जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः।
देवों की वाणी, अमृत की नाभि।

९४० **वयं नाम प्र ब्रवामा घृतस्यास्मिन् यज्ञे धारयामा नमोभिः।**
उप ब्रह्मा शृणवच्छस्यमानं चतुःशृङ्गो ऽवमीद् गौर एतत्।
[ऋ ४.५८.२] य १७.९०

वयम् नाम प्र ब्रवाम घृतस्य अस्मिन् यज्ञे धारयाम नमः-भिः।
उप ब्रह्मा शृणवत् शस्यमानम् चतुः-शृङ्गः अवमीत् गौरः एतत्।

१) और स्वयं (वयम्) हम [प्रजाजन] (प्र ब्रवाम) प्रकृष्टतया बोलें, उच्चारें, (धारयाम) धारण करें (नमः-भिः) नमस्कारों/शिरोधार्यताओं/नमनीयताओं के साथ (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञ में, इस समृद्धियाग में (घृतस्य नाम) घृत का [गुह्य] नाम।

घृत का गुह्य नाम 'प्रेम' है, यह पूर्व पढ़ा जा चुका है। राष्ट्र के समृद्धियाग के सतत निर्वहनार्थ इस नाम को अपने हृदयों और मस्तिष्कों में धारण किए हुए प्रजाजन अपने मानस में प्रेम का सतत उच्चारण करें। 'प्रेम, राष्ट्र के प्रति प्रेम, देश के प्रति प्रेम, राष्ट्रपति राजा के प्रति प्रेम, प्रणेता के प्रति प्रेम, राज्य के प्रति प्रेम, शासन के प्रति प्रेम, प्रजा के प्रति प्रेम।' प्रेम हो प्रजाजनों का, सब नागरिकों का, सतत जाप।

२) (गौरः) श्वेत, शुद्ध, सुपावन (चतुः-शृङ्गः) चार शृंगोंवाला (ब्रह्मा) ब्रह्मा (एतत् शस्यमानम्) इस प्रशंसनीय [गुह्य नाम] को (उप शृणवत्) समीप सुना करे, (अवमीत्) प्रसारा/प्रचारा करे।

'प्रेम' यह गुह्य नाम प्रत्यक्षतः प्रशंसनीय है।

ब्रह्मा शब्द का प्रयोग यहां उस सर्वोच्च, सुपावन गुरुपद के लिए हुआ है जिसका कार्य स्थान स्थान और व्यक्ति व्यक्ति की गतिविधियों की सूचनाएं प्राप्त करना, मंत्रियों और राजकर्मचारियों की चेष्टाओं से अभिज्ञ रहना, साधनोपाय सुझाना, नीतियों का निर्धारण करना, उठाए जानेवाले पगों का निर्णय लेना, आदि होता है। वह जहां सर्व नीतियों का सर्वज्ञ ज्ञाता हो, वहां वह परम पवित्र और चतुःशृंग, अर्थात्, चारों दिशाओं में सतर्क दृष्टि रखनेवाला और सदैव चौकन्ना रहनेवाला

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भी हो। वह देखे और सुने कि राष्ट्र के कौन कौन नागरिक राष्ट्रप्रेम के गुप्त नाम में पूर्ण आस्था रखते हैं, और कौन कौन ऐसे हैं जो मुख से गुप्त नाम की दुहाई देते हैं किन्तु गुप्त रूप से राष्ट्र-विरोधी कार्य करते हैं। राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय सूचनाएं सुनना, प्राप्त करना और उनका प्रसारण करना भी उसका कर्तव्य होता है। गोपनीय सूचनाओं को वह राष्ट्रपति राजा तथा प्रणेता को प्रेषित करता है और, सावधानीय तथा साधनीय सूचनाओं का वह जनता में प्रसारण करता है।

हम उच्चारें, धारण करें
नमनीयताओं के साथ
इस यज्ञ में घृत का नाम।
गौर चतुःशृंग ब्रह्मा सुने, प्रसारे
इस प्रशंसनीय [गुह्य नाम] को।

९४१ **चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।**
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश।
य १७.९१
[ऋ ४.५८.३]

चत्वारि शृङ्गा त्रयः अस्य पादाः द्वे शीर्षे सप्त हस्तासः अस्य।
त्रि-धा बद्धः वृषभः रोरवीति महः देवः मर्त्यान् आ विवेश।

१) (अस्य) इस [राष्ट्र] के (चत्वारि शृङ्गा) चार शृंग हैं [चार दिशाएं], (त्रयः पादाः) तीन गाद [प्रगतिसाधन] हैं [शिक्षा, श्रम, प्रसाधना], (द्वे शीर्षे) दो शिर हैं [ब्रह्म और क्षत्र]। (अस्य) इस [राष्ट्र] के (सप्त हस्तासः) सात हाथ हैं [सेना, कोष, खाद्य, जल, विद्युत्, यान, विज्ञान]।

इस प्रकार सज्ज, सशक्त, सम्पन्न होकर राष्ट्र की 'वृषभ' संज्ञा होती है। वृषभ का अर्थ है वृष्टि करनेवाला, वर्षणशील। वर्षणशील होने से ही बादल की भी संज्ञा वृषभ है। ऐसा राष्ट्र, निस्सन्देह, प्रजाओं के लिए मेघवत् सब प्रकार के सुखैश्वर्यों की वर्षा करता है।

२) संयम, अनुशासन, सुव्यवस्था, (त्रि-धा बद्धः) तीन प्रकार से बद्ध [संगठित] होकर, (वृषभः) वर्षणशील राष्ट्र (रोरवीति) गर्जता है, गर्जना करता है, अदम्यता तथा अदीनता के साथ बोलता है, (महः देवः) महान् देव [बनकर] (मर्त्यान्) मानवों को, नागरिकों को (आ विवेश) व्यापा करता है।

'नागरिकों को व्यापने' से तात्पर्य नागरिकों की निष्ठा का आधार बनने से है।

है इसके चार शृंग, तीन पाद, दो शिर,
हैं इसके सात हाथ।
त्रिधा बद्ध वृषभ गर्जता है,
बन महान् देव व्यापता है मर्त्यों को।

९४२ **त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्।**
इन्द्र एकं सूर्य एकं जजान वेनादेकं स्वधया निष्टतक्षुः।
य १७.९२
[ऋ ४.५८.४]

त्रि-धा हितम् पणि-भिः गुह्यमानम् गवि देवासः घृतम् अनु अविन्दन्।
इन्द्रः एकम् सूर्यः एकम् जजान वेनात् एकम् स्व-धया निः ततक्षुः।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१) वृषभ राष्ट्र के (देवासः) नागरिक देव (अनु अविन्दन्) निरन्तर प्राप्त किया करते हैं (पणिभिः) व्यापारियों/कुशलकर्माओं द्वारा (गवि त्रिधा हितम्) गौ में तीन प्रकार से स्थित (गुह्यमानम् घृतम्) अन्तर्निहित घृत को।

गौ शब्द यहां गाय, मातृभूमि और अदिति [सम्पूर्ण पृथिवी], इन तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। इस त्रित में अलग अलग तीन प्रकार का घृत निहित है। गौ के ऊध में जो दूध है उसमें घी अन्तर्निहित है ही। मातृभूमि में उत्पन्न होनेवाले खाद्यों और पेयों में जो रस है वह मातृभूमि का घृत है। अन्तरराष्ट्रीय व्यापार द्वारा प्राप्त किया गया ऐश्वर्य, खाद्य और पेय पृथिवी का घृत है। राष्ट्र जब वृषभ और महान् देव बनता है तो ही और तभी उसके नागरिक देव तीनों प्रकार के घृत का निरन्तर आस्वादन करते हैं।

२) (जजान) प्रकट/प्रकाशित किया करता है (इन्द्रः एकम्) राष्ट्रपति राजा एक [गौ, राष्ट्र] को, (सूर्यः) सूर्य [के समान प्रणेता] (एकम्) एक [गौ, राष्ट्र] को।

राष्ट्रपति राजा और प्रणेता का यह परम धर्म है कि वह निरन्तर अपने राष्ट्र को प्रकट, प्रकाशित, समृद्ध करता रहे।

३) नागरिक देव (निः ततक्षुः) सूक्ष्म/परिष्कृत किया करते हैं (वेनात्) वेन से (स्व-धया) आत्म-धारणा द्वारा (एकम्) एक [अध्यात्म घृत] को।

'वेणृ' धातु, जिससे **वेन** शब्द बना है, का अर्थ है गति [साधना], ज्ञान, चिन्तन और दर्शन। वेन नाम उस संसिद्ध योगी का है जिसने चिन्तन, ज्ञान और साधना के आश्रय से आत्मा और ब्रह्म का दर्शन और तत्त्वज्ञान का सम्पादन किया है।

आध्यात्मिक घृत के बिना भौतिक घृत विनाशकारी होता है। आध्यात्मिक धन से विहीन भौतिक धनैश्वर्य अनिष्टकारी सिद्ध होता है। एक वृषभ और महान् देव राष्ट्र के नागरिकों के लिए यही कल्याणकर है कि वे वेन के चरणों में बैठकर अपनी सम्पूर्ण आत्मधारणा और आत्मश्रद्धा के साथ, सूक्ष्म गहन साधना द्वारा, अध्यात्मघृत का निरन्तर परिष्कार करते रहें।

देव निरन्तर प्राप्त किया करते हैं
पणियों द्वारा गौ में त्रिधा-स्थित
अन्तर्निहित घृत को।
प्रकाशित किया करता है
इन्द्र एक को, सूर्य एक को।
परिष्कृत किया करते हैं देव वेन से
आत्मधारणा द्वारा एक को।

९४३ **एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे।**
घृतस्य धारा अभि चाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्य आसाम्।
[ऋ ४.५८.५, य १३.३८] य १७.९३

एताः अर्षन्ति हृद्यात् समुद्रात् शत-व्रजाः रिपुणा न अव-चक्षे।
घृतस्य धाराः अभि चाकशीमि हिरण्ययः वेतसः मध्ये आसाम्।

नागरिक देवों के प्रति वेन कहता है,

१) (घृतस्य) अध्यात्मघृत की, ब्रह्मस्नेह—सोम की (एताः शत-व्रजाः धाराः) ये असंख्य-मार्गी धाराएं (हृद्यात् समुद्रात्) हृदयरूप समुद्र से, हृदयरूप अन्तरिक्ष से, हृदयाकाश से (अर्षन्ति) निस्सरण करती हैं, निकलती हैं, प्रवाहित होती हैं।

समाधि की सिद्धि पर जब वेन [साक्षात्कर्मा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

योगी] का आत्मा अपने आत्मनेत्र से ब्रह्म के वरेण्य भर्ग तथा आदित्य वर्ण का दर्शन करता है तो उसके हृदयाकाश से ब्रह्म के दिव्य प्रकाश और दिव्य सौन्दर्य की असंख्य रश्मियां धारावाही होकर असंख्य मार्गों [प्रवाहों] से सब ओर इतनी सघनता से फैलती हैं कि सारा विश्व, सारी सृष्टि ब्रह्ममय दिखाई पड़ती है।

२) (आसाम् मध्ये) इन [धाराओं] के मध्य में, इनके भीतर [अन्तर्निहित है, जगमगाता है] (हिरण्ययः वेतसः) स्वर्णमय कमनीय ब्रह्म। उसे मैं (अभि चाकशीमि) सब ओर देखता हूं, अभितः अवलोकता हूं, साक्षात् देखता हूं।

३) वह ब्रह्मपरायण साधकों द्वारा ही देखा जाता है (रिपुणा न अव-चक्षे) रिपु द्वारा नहीं देखा जाता है, विमुख द्वारा उसका दर्शन नहीं होता है।

रप् व्यक्तायां वाचि। अनिष्टं रपति यः स रिपुः। बातें बनानेवाले, अनिष्टभाषी, वितण्डावादी उसका कदापि साक्षात्कार नहीं कर पाते हैं। आत्मसाधना करनेवाले वेन ही उसे देखते हैं।

समृद्ध राष्ट्र के नागरिकों के प्रति वेन की यह गहनोक्ति मनन और साधना की अपेक्षा रखती है।

घृत की ये असंख्य-प्रवाह धाराएं
हृदय समुद्र से निस्सरती हैं।
इनके मध्य स्वर्णमय कमनीय।
सर्वतः दर्शन करता हूं;
रिपु द्वारा नहीं देखा जाता।
सूक्ति : रिपुणा नावचक्षे।
विमुख द्वारा नहीं देखा जाता है।

९४ **सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।**
एते अर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य मृगाइव क्षिपणोरीषमाणाः।
[ऋ ४.५८.६, य १३.३८] य १७.९४

सम्यक् स्रवन्ति सरितः न धेनाः अन्तः हृदा मनसा पूयमानाः।
एते अर्षन्ति ऊर्मयः घृतस्य मृगाः-इव क्षिपणोः ईषमाणाः।

स्वर्णमय, कमनीय ब्रह्म के दर्शन से अनायास ही (धेनाः) वाणियां, स्तुतियां (अन्तः) अन्दर (हृदा, मनसा पूयमानाः) हृदय से और मन से पवित्र होती हुई (सरितः न) सरिताओं के समान, नदियों की तरह (सम्यक् स्रवन्ति) सम्यक् क्षरण करती हैं, अनायास प्रवाहित होती हैं।

धेना नाम है ही उन स्वयं-क्षरित वाणियों अथवा स्तुतियों का जो ब्रह्मसाक्षात्कार के साथ, आत्मना ब्रह्म से नेत्र-सनेत्र और मुख-समुख होते हुए, अनायास अन्तःकरण से सुप्रवाहित होती हैं। अदर्शन में जो उच्चारित की जाती हैं वे स्तुतियां नहीं, विनयरूप पुकारें होती हैं।

२) संदर्शन की वेला में (घृतस्य एते ऊर्मयः) प्रेम की ये [स्तुतिमय] तरंगें (अर्षन्ति) उठती हैं, दौड़ती हैं (क्षिपणोः) हिंसक/व्याध से (ईषमाणाः) डरकर भागते हुए (मृगाः-इव) मृगों के समान।

भयभीत मृग जिस तेज़ी के साथ भागते हैं उसी तीव्रता के साथ ब्रह्मदर्शन की वेला में आत्मा से सस्नेह सरित स्तुतियां प्रवाहित होती हैं।

किसी भी राष्ट्र की सच्ची समृद्धि में जहां भौतिक रसों की धाराएं प्रवाहित होती हैं, वहां साथ ही अध्यात्म-धाराएं भी सर्वत्र क्षरण करती हैं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वाणियां अन्दर हृदय से, मन से
होती हुई पवित्र होती हैं संप्रवाहित
सरिताओं की तरह ।

दौड़ती हैं घृत की ये तरंगें,
व्याध से भागते हुए मृगों की तरह ।

९४५ सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासो वातप्रमियः पतयन्ति यह्वाः ।
घृतस्य धारा अरुषो न वाजी काष्ठा भिन्दन्नूर्मिभिः पिन्वमानः ।
[ऋ ४.५८.७] य १७.९५

सिन्धोः-इव प्र-अध्वने शूघनासः वात-प्र-मियः पतयन्ति यह्वाः ।
घृतस्य धाराः अरुषः न वाजी काष्ठाः भिन्दन् ऊर्मि-भिः पिन्वमानः ।

पारस्परिक (घृतस्य) प्रेम की (शूघनासः) शीघ्र-गामिनी, वेगवती (वात-प्र-मियः) वायु को मापने-वाली, तीव्र (यह्वाः) महती (धाराः) धाराएं (प्र-अध्वने) प्र-मार्ग [प्रगमन] के लिए, सुपथ पर चलने के लिए (पतयन्ति) दौड़ती हैं, झपटती हैं, सुप्रवाहित रहती हैं (ऊर्मि-भिः) तरंगों से (काष्ठाः) दिशाओं को, सीमाओं को (भिन्दन्) भेदती हुई, (सिन्धोः-इव) सागर की तरह, (पिन्वमानः अरुषः वाजी न) सींचते हुए रोषरहित वाजी की तरह ।

एक समृद्ध राष्ट्र में भौतिक ऐश्वर्यों की और आध्यात्मिक ऐश्वर्यों की धाराएं तो प्रवाहित रहनी ही चाहिएं, उनसे भी अधिक प्रवाहित रहनी चाहिएं नागरिकों में पारस्परिक प्रेम की वेगवती, तीव्र, महती धाराएं ।

पारस्परिक प्रेमधाराओं के लिए दो उपमाएं दी गई हैं, (१) (सिन्धोः-इव) समुद्र की [तरंगों की] तरह, (२) (पिन्वमानः अरुषः वाजी न) सेचनशील, रोषरहित वाजी के समान ।

सिन्धु की उपमा का आशय स्पष्ट है । समुद्र में जैसे जल की तरंगें तरंगित रहती हैं वैसे ही राष्ट्र-रूप समुद्र में नागरिकों के पारस्परिक प्रेम की तरंगें तरंगित होती रहें ।

वैदिक वाङ्मय में **वाज** शब्द के तीन प्रसिद्ध अर्थ हैं ज्योति, शक्ति और संग्राम । वाज से जो युक्त हो, ज्योति [विद्या] और शक्ति [संबल] के आश्रय से जो संग्राम करता हो उसकी संज्ञा वाजी है । विद्या और संबल से जो युक्त होता है वह मानवप्रेम से भीना रहता हुआ, रोषमुक्त होकर, रोषरहित रहकर राष्ट्र और विश्व के शोधन और बोधन के संग्रामों में सदा निरत रहता है और जनता को सुखसौभाग्य-वारि से सींचता है ।

सिन्धु और वाजी, दोनों ही संकुचित सीमाओं में सीमित न रहकर तरंगित रहते हुए सर्वार्थ सबमें व्यापते हैं । उसी प्रकार एक आदर्श राष्ट्र के समृद्ध नागरिकों के पारस्परिक प्रेम की धाराएं दिशाओं, वर्गों और वादों की सीमाओं के बन्धनों को तोड़ कर सम्पूर्ण राष्ट्र और विश्व में प्रवाहित रहती हैं ।

घृत की वेगवती, सुतीव्र, महती धाराएं
प्रगमन के लिए रहती हैं सुप्रवाहित,
तरंगों से भेदती हुई दिशाओं को
सागर के समान,
सेचनशील, रोषरहित वाजी की तरह ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

९४६ अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम् ।
घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः ।
य १७.९६
[ऋ ४.५८.८]
अभि प्रवन्त समना-इव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासः अग्निम् ।
घृतस्य धाराः सम्-इधः नसन्त ताः जुषाणः हर्यति जात-वेदाः ।

एक सर्वसमृद्ध और सर्वतरंगित राष्ट्र में (जात-वेदाः) जात-वेदा, वेदों का विद्वान् (जुषाणः) प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ, प्रीतिशील रहता हुआ (हर्यति) चाहता है, कामना करता है,

१) (ताः) वे (कल्याण्यः स्मयमानासः योषाः) कल्याणी, मुस्काती हुई युवतियां (अग्निम् अभि प्रवन्त) अग्नि को/के सब ओर फिरा करें, अग्नि की परिक्रमा किया करें, (स-मना-इव), समना-वत् श्रद्धोपेत मन से सहिता-जैसी ।

२) (घृतस्य धाराः) घृत की धारा से (सम्-इधः) समिधाओं को (नसन्त) प्राप्त [प्रज्वलित] किया करें ।

प्रत्यक्षतः, यहां यह अग्नियाग का संकेत है । न केवल वृद्ध और वृद्धाएं, अपि च युवतियां और युवक भी घर घर में यज्ञ किया करें, यज्ञ करके यज्ञवेदि की परिक्रमा किया करें, विपुल घृताहुतियों से समिधाओं को सम्यक् प्रज्वलित करके सुगन्धित पदार्थों की आहुतियां दिया करें । यज्ञ वेद के विद्वानों द्वारा प्रीतिपूर्वक सम्पन्न कराए जाएं । वेदमन्त्रों के उच्चारण के साथ किए गए यज्ञों के लाभ सर्वविदित हैं ।

प्रीतिशील वेदज्ञ है चाहता—
वे कल्याणी, मुस्कानशीला युवतियां
करें अग्नि की परिक्रमा, समना-जैसे ।
घृत की धाराएं प्रज्वलित
किया करें समिधाओं को ।

९४७ कन्याइव वहतुमेतवा उ अञ्ज्यञ्जाना अभि चाकशीमि ।
यत्र सोमः सूयते यत्र यज्ञो घृतस्य धारा अभि तत् पवन्ते ।
य १७.९७
[ऋ ४.५८.९]
कन्याः-इव वहतुम् एतवै उ अञ्जि अञ्जानाः अभि चाकशीमि ।
यत्र सोमः सूयते यत्र यज्ञः घृतस्य धाराः अभि तत् पवन्ते ।

वेदज्ञ जातवेदा मैं (तत्) उस [समृद्ध राष्ट्र] को (अभि) सब ओर (चाकशीमि) देखता हूं,

१) जहां (कन्याः-इव) अछूती कुमारियां जैसे [कैसे] (एतवै उ) प्राप्त करने के लिए ही, सदा के लिए अपनाने के लिए ही [अपने] (अञ्जि) शोभन रूप को (अञ्जानाः) प्रकट करती हुई (वहतुम्) विवाहयोग्य को, अछूते कुमार को [वरण करती हैं] ।

२) (यत्र) जहां (सोमः) भक्ति-सोम (सूयते) निष्पादन किया जाता है ।

३) (यत्र) जहां (यज्ञः) यज्ञ [सम्पादन करते हुए] (घृतस्य धाराः) घी की धाराएं [वातावरण को] (अभि) सब ओर (पवन्ते) पवित्र करती हैं ।

एक समृद्ध और सर्वसम्पन्न राष्ट्र में विलास और अनाचार के पनपने की बहुत सम्भावना होती है । वेदज्ञ विद्वान्समूह देखे कि सारे राष्ट्र में सब

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ओर. सर्वत्र, घर घर में कौमार्य की प्रतिष्ठा हो। विवाह तक कुमार और कुमारियां अछूते रहें, और विधिपूर्वक विवाह होजाने पर ही एक दूसरे के शरीर का स्पर्श करें।

जातवेदाः-समूह यह भी देखे कि राष्ट्र में सर्वत्र ईशभक्तिरूप सोम का निष्पादन हो रहा हो। सभी नागरिक गहन आस्तिक और प्रभुभक्त हों।

वह यह भी देखे कि राष्ट्र में शुद्ध घी और सामग्री से ऋत्वनुसार यज्ञ किए जाएं, जिनमें प्रचुरता से घृत की धाराएं प्रवाहित हों ताकि दूषण का निवारण होकर सर्वत्र शुद्ध वातावरण रहे।

देखता हूं सब ओर उसे मैं,
कन्यायें जैसे अपनाने को ही
रूप को प्रकाशती हुई
कुमार को वरण करती हैं,
जहां सोम है निष्पादा जाता,
जहां यज्ञ में घृत की धाराएं
सभी ओर शोधन करती हैं।

९४८ **अभ्यर्षत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त।**
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत् पवन्ते।
[ऋ ४ ५८.१०, अ ७.८२.१] य १७.९८

अभि अर्षत सु-स्तुतिम् गव्यम् आजिम् अस्मासु भद्रा द्रावणानि धत्त।
इमम् यज्ञम् नयत देवताः नः घृतस्य धाराः मधु-मत् पवन्ते।

यहां राष्ट्रजन जातवेदाओं से, वेदज्ञ विद्वानों से विनय करते हैं,

१) (देवताः) देवताओ! (नः) हमें (अभि अर्षत) सर्वतः प्राप्त कराओ, अभितः प्राप्त कराते रहो (सु-स्तुतिम्) सु-प्रशस्ति, (गव्यम्) वाणी-सम्बन्धी रस, (आजिम्) अजन्ति जानन्ति सुकर्माणि येन तं संग्रामम्, सुसाधनामय संग्राम को।

वेदज्ञ जातवेदाओं के साचार वेदप्रचार से राष्ट्रजनों को उस विवेक अथवा विज्ञान की उपलब्धि होती रहे जिसके द्वारा वे सुप्रशस्ति तथा वाणी के माधुर्य से युक्त रहते हुए साधनामय संग्रामों में विजय और साफल्य प्राप्त करते हैं।

२) (अस्मासु) हममें (भद्रा द्रविणानि) भद्र धनों को (धत्त) धारण करो।

'हममें ऐसी भद्र धारणाएं और भावनाएं भरो कि हम भद्र साधनों से भद्र धन ही कमाएं। कभी भूलकर भी हम अभद्र साधनों से अभद्र धनों का उपार्जन न करें।'

३) हमारे (इमम् यज्ञम्) इस यज्ञ को, इस यज्ञिय राष्ट्र को (नयत) लेचलो, आगे बढ़ाओ, अपना दिव्य मार्गदर्शन प्रदान करो।

उत्तर में वेदज्ञ जातवेदा राष्ट्रजनों को चेताते हुए कहते हैं, राष्ट्रजनो! स्मरण रखो कि (मधु-मत्) मधु से युक्त को, मधुरता से उपेत राष्ट्र को (घृतस्य धाराः) प्रेम की धाराएं (पवन्ते) पवित्र करती हैं।

जिस राष्ट्र में मधुरता का सुप्रवाह सुप्रवाहित रहता है उसी राष्ट्र में प्रेम की धाराएं बहती हैं, वही राष्ट्र सब प्रकार से पवित्र रहता है। परिणामस्वरूप, वह राष्ट्र सकल समृद्धियों से समृद्ध बना रहता है।

जिस राष्ट्र में पारस्परिक कटुता का नृत्य होता है उसमें सर्वजन एक दूसरे से घृणा करते हैं। परिणामस्वरूप, उस राष्ट्र की पवित्रता नष्ट होजाती है और समृद्धि के स्रोत सूखने लगते हैं।

देवताओ! सर्वतः प्राप्त कराओ प्रशस्तिं,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वाणी का रस और साधनामय संग्राम ।
भद्र धनों को करो स्थापित हममें ।
मधुमत् को घृत की धाराएं
करती हैं पवित्र ।

९४९ धामन् ते विश्वं भुवनमधि श्रितमन्तः समुद्रे हृद्यन्तरायुषि ।
अपामनीके समिथे य आभृतस्तमश्याम मधुमन्तं त ऊर्मिम् ।
य १७.९९
[ऋ ४.५८.११]

धामन् ते विश्वम् भुवनम् अधि श्रितम् अन्तः समुद्रे हृदि अन्तः आयुषि ।
अपाम् अनीके सम्-इथे यः आ-भृतः तम् अश्याम मधु-मन्तम् ते ऊर्मिम् ।

कोई राष्ट्र कितना भी सशक्त, सक्षम, समुन्नत, सुसम्पन्न और सुसमृद्ध क्यों न होजाए, राष्ट्र के सभी कर्णधारों तथा नागरिक-नागरिकाओं को विनम्रता और निष्ठा के साथ प्रभु से नित्य ही विनय करते रहनी चाहिए,

१) प्रभो ! (ते धामन्) तेरे धाम में, तेरी सत्ता में (विश्वम् भुवनम्) विश्व भुवन, सारी सृष्टि (अधि श्रितम्) अधि-श्रित है, अधि-ष्ठित है, आ-श्रित है, स्थित है ।

२) तेरा (यः) जो [बोधतरंग, प्रेरणाप्रवाह] (समुद्रे अन्तः) समुद्र के भीतर, (हृदि अन्तः) हृदय के भीतर, (आयुषि) जीवन में, (अपाम् अनीके) आप्तजनों के रूप [दर्शन] में, (सम्-इथे) धर्मसंग्राम में, सुकर्म-युद्ध में, कर्तव्य-संघर्ष में (आ-भृतः) आहित है, भरा हुआ है, हम (ते तम् मधु-मन्तम् ऊर्मिम्) तेरे उस मधुर बोधतरंग/प्रेरणाप्रवाह को (अश्याम) सेवन करें, प्राप्त करें, सम्प्राप्त रहें ।

समृद्धि और सम्पन्नता में आत्मबोध और प्रभु के प्रेरणाप्रवाह की पदे पदे आवश्यकता होती है । राष्ट्र के कर्णधारों तथा राष्ट्रजनों को चाहिए कि वे प्रार्थना द्वारा प्रभु से सदा ऊर्मि की याचना करते रहें । अन्यतः आत्मबोध और ईशप्रेरणाप्रवाह की प्राप्ति होती है समुद्र की लहरों के अवलोकन से, हृदय में आत्मसमाहिति से, जीवन में साधनामय स्थिति से, आप्त पुरुषों के दर्शन और उपदेशश्रवण से, धर्म-कर्म-कर्तव्य के संघर्षों में निरत रहने से ।

धाम में तेरे विश्व भुवन है अधिश्रित;
समुद्र के भीतर, हृदय के भीतर,
जीवन में, आप्तों के दर्शन में,
समिथ में है जो आभृत,
तेरे उस मधुर तरंग को
सदा करें हम सेवन ।

सूक्ति : धामन् ते विश्वं भुवनमधि श्रितम् ।
धाम में तेरे विश्व भुवन है अधिश्रित ।
अश्याम मधुमन्तं त ऊर्मिम् ।
हम तेरे मधुर बोध तरंग को सेवन करें ।
हम तेरे मधुर प्रेरणाप्रवाह को प्राप्त रहें ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वेदव्याख्या-ग्रन्थ (१७वां पुष्प) में व्याख्यात्, यजुर्वेद के १७वें अध्याय के (९९) मंत्रों की

वर्णानुसारिणी सूची

[जो मन्त्र अन्य वेदों में भी मिलते हैं उनके प्रतीकों के पश्चात् * चिह्न लगा हुआ है। शेष (३५) मन्त्र केवल यजुर्वेद में हैं।]

मन्त्र-प्रतीक	अध्याय में मन्त्र-संख्या	यजुर्वेद में मन्त्र-संख्या	'ग्रन्थ' में पृष्ठ-संख्या
अग्निस्तिग्मेन*	१६	८६६	१०९१
अग्ने तमद्याश्वं*	७७	९२७	११३६
" पावक रोचिषा*	८	८५८	१०८४
" प्रेहि प्रथमो*	६९	९१९	११२९
" सहस्राक्ष	७१	९२१	११३१
अपामिदं न्ययनं	७	८५७	१०८४
अभि गोत्राणि सहसा*	३९	८८९	११०८
" प्रवन्त समनेव*	९६	९४६	११५०
अभ्यर्षत सुष्टुतिं*	९८	९४८	११५१
अमीषां चित्त *	४४	८९४	१११९
अवसृष्टा परा पत*	४५	८९५	१११२
अश्मन्नूर्जं पर्वते	१	८५१	१०७८
असौ या सेना मरुतः*	४७	८९७	१११३
अस्माकमिन्द्रः समृतेषु*	४३	८९३	१११०
आजुह्वानः सुप्रतीकः	७३	९२३	११३३
आशुः शिशानो वृषभो*	३३	८८३	११०४
इन्द्रं दैवीर्विशो मरुतो	८६	९३६	११४१
" विश्वा अवीवृधन्त-*	६१	९११	११२३
इन्द्र आसां नेता*	४०	८९०	११०९
इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य*	४१	८९१	११०९
इन्द्रेमं प्रतरां नय*	५१	९०१	१११६
इमं स्तनमूर्जस्वन्तं	८७	९३७	११४२
इमा मे अग्न इष्टका	२	८५२	१०७९
ईदृक्षास एतादृक्षास	८४	९३४	११३९
ईदृङ् चान्यादृङ् च	८१	९३१	११३९
उक्षा समुद्रो अरुणः*	६०	९१०	११२३
उदु त्वा विश्वे देवा*	५३	९०३	१११७
उदेनमुत्तरां नयाग्ने*	५०	९००	१११५
उद्ग्राभं च निग्राभं च	६४	९१४	११२५
उद्धर्षय मघवन्नायुधान-*	४२	८९२	१११०

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मन्त्र-प्रतीक	अध्याय में मन्त्र-संख्या	यजुर्वेद में मन्त्र-संख्या	'ग्रन्थ' में पृष्ठ-संख्या
उप ज्मन्नुप वेतसे	६	८५६	१०८३
ऋतजिच्च सत्यजिच्च	८३	६३३	११३६
ऋतव स्थ ऋतावृध	३	८५३	१०८१
ऋतश्च सत्यश्च	८२	६३२	११३६
एता अर्षन्ति हृद्यात्*	६३	६४३	११४७
कन्याइव वहतुमेतवा*	६७	६४७	११५०
किं स्विदासीदधिष्ठान-*	१८	८६८	१०६२
" स्विद् वनं क उ*	२०	८७०	१०६४
क्रमध्वमग्निना	६५	६१५	११२६
गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं*	३८	८८८	११०७
घृतं मिमिक्षे घृतमस्य*	८८	६३८	११४३
चक्षुषः पिता मनसा*	२५	८७५	१०६८
चत्वारि शृङ्गा त्रयो*	६१	६४१	११४६
चितिं जुहोमि मनसा	७८	६२८	११३७
त आयजन्त द्रविणं*	२८	८७८	११००
तमिद् गर्भं प्रथमं*	३०	८८०	११०२
तां सवितुर्वरेण्यस्य	७४	६२४	११३४
त्रिधा हितं पणिभिर्-*	६२	६४२	११४६
देवहूर्यज्ञ आ च	६२	६१२	११२४
दैव्याय धर्त्रे जोष्ट्रे	५६	६०६	१११६
धामन् ते विश्वं भुवन-*	६६	६४६	११५२
नक्तोषासा समनसा*	७०	६२०	११३०
न तं विदाथ य इमा*	३१	८८१	११०२
नमस्ते हरसे शोचिषे*	११	८६१	१०८६
नृषदे वेडप्सुषदे	१२	८६२	१०८७
पञ्च दिशो दैवीर्यज्ञ-	५४	६०४	१११८
परो दिवा पर एना*	२६	८७६	११०१
पावकया यश्चितयन्त्या*	१०	८६०	१०८५
पृथिव्या अहमुदन्तरिक्ष-*	६७	६१७	११२७
प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि	६६	६१६	११२७
प्राणदा अपानदा व्यानदा	१५	८६५	१०६०
प्रेता जयता नर*	४६	८६६	१११२
प्रेद्धो अग्ने दीदिहि*	७६	६२६	११३६
बलविज्ञाय स्थविरः*	३७	८८७	११०६
बृहस्पते परि दीया*	३६	८८६	११०६

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मन्त्र-प्रतीक	अध्याय में मन्त्र-संख्या	यजुर्वेद में मन्त्र-संख्या	'ग्रन्थ' में पृष्ठ-संख्या
मर्माणि ते वर्मणा*	४९	८९९	१११४
य इमा विश्वा भुवनानि*	१७	८६७	१०९१
यत्र बाणाः सम्पतन्ति*	४८	८९८	१११३
यस्य कुर्मो गृहे हविस्-*	५२	९०२	१११६
या ते धामानि परमाणि*	२१	८७१	१०९४
यो नः पिता जनिता*	२७	८७७	१०९९
ये देवा देवानां यज्ञिया	१३	८६३	१०८८
" " देवेष्वधि	१४	८६४	१०८९
वयं नाम प्र ब्रवामा*	९०	९४०	११४५
वाचस्पतिं विश्वकर्माण-*	२३	८७३	१०९६
वाजस्य मा प्रसव	६३	९१३	११२४
विधेम ते परमे जन्मन्नग्ने*	७५	९२५	११३५
विमान एष दिवो मध्य*	५९	९०९	११२२
विश्वकर्मन् हविषा वर्धनेन*	२४	८७४	१०९७
" " वावृधानः*	२२	८७२	१०९५
विश्वकर्मा विमना आद्*	२६	८७६	१०९९
" ह्वयनिष्ट देव	३२	८८२	११०३
विश्वतश्चक्षुरुत*	१९	८६९	१०९३
वीतं हविः शमितं	५७	९०७	११२०
शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च	८०	९३०	११३९
संक्रन्दनेनानिमिषेण*	३४	८८४	११०४
स इषुहस्तैः स*	३५	८८५	११०५
" नः पावक दीदिवो*	९	८५९	१०८५
सप्त ते अग्ने समिधः	७९	९२९	११३८
समिद्धे अग्नावधि मामहान	५५	९०५	१११९
समुद्रस्य त्वावकयाग्ने	४	८५४	१०८२
समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ*	८९	९३९	११४४
सम्यक् स्रवन्ति सरितो न*	९४	९४४	११४८
सिन्धोरिव प्राध्वने*	९५	९४५	११४९
सुपर्णोऽसि गरुत्मान्	७२	९२२	११३२
सूर्यरश्मिर्हरिकेशः*	५८	९०८	११२१
स्वतवाँश्च प्रघासी च	८५	९३५	११३९
स्वर्यन्तो नापेक्षन्त*	६८	९१८	११२८
हिमस्य त्वा जरायुणाग्ने	५	८५५	१०८२

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जन्म : १५ नवम्बर, १८९९ ई०। वेद-संस्थान के संस्थापकाध्यक्ष। वेदों के मर्मज्ञ व्याख्याकार, चिन्तक, कवि और संन्यासाश्रमी सन्त। वाणी में अद्भुत माधुर्य और हृदय को छू लेने की क्षमता। व्यक्तित्व जो तत्काल आकर्षित कर लेता है आत्मीयता, स्नेह, सरलता से। सतत कर्मरत, प्रतिक्षण साधनामय, भक्ति और निष्ठा से ओत-प्रोत जीवन। लेखन की शैली ललित, प्रसादगुणयुक्त, अनावश्यक विस्तार से रहित।

'विदेह' का जीवन वेद और योग को समर्पित है। उन्होंने लोहे के चने समझे जानेवाले वेद को आबाल-वृद्ध, प्रत्येक हिन्दी-भाषी के लिए अतिसरल और रोचक, दैनंदिन जीवन में उपयोगी और प्रेरक ग्रन्थ बनाने में अभूतपूर्व और आश्चर्यकारी सफलता पाई है। उनकी वेद-व्याख्या वेद को मानव और मानवता की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में प्रस्तुत करती है, वेद के वेदत्व को निखारती है और उसे जीवन-ग्रन्थ, मानवधर्म-शास्त्र के रूप में प्रस्तुत करती है।

'वेदव्याख्या-ग्रन्थ' विश्वाङ्मय का गौरव तथा हिन्दी वाङ्मय को लेखक की अमर देन है। जिसने भी इसे पढ़ा है वही मुग्ध हो उठा है। यह वेदों के आधुनिकीकरण, सरलीकरण, स्पष्टीकरण, और साथ ही उन्हें जनसुलभ और सुबोध बनाने का एक महान् प्रयास है, जो वेदों को 'रामचरित-मानस'-जैसा सरल ग्रन्थ बना देगा।

वेदों की इस क्रमिक व्याख्यामाला में चारों वेदों का, जिस क्रम में वे हैं उसी क्रम में, मन्त्र-मन्त्र, सूक्त-सूक्त, अध्याय-अध्याय, और वेद-वेद की संगति लगाने का प्रयास किया जा रहा है, जो वेदाध्ययन के इतिहास में पहली बार इतनी गम्भीरता से किया जा रहा है। इसकी सफलता से वेद परस्पर असंबद्ध मन्त्रों का संकलन-मात्र नहीं रह जाएगा। लेखक प्रत्येक मन्त्र का एक सुनिश्चित अर्थ मानता है, यद्यपि गौण वृत्ति से अन्य अर्थ भी लिए जा सकते हैं। संयमपूर्वक योगाभ्यास से आत्म-अवस्थित होकर, अन्तःश्रवण और अन्तर्ज्योति के द्वारा मन्त्रार्थ को साक्षात् करना लेखक की पद्धति है। वेदों के आशय को स्वयं वेदों में पैठकर, न कि परतःप्रमाण-भूत ग्रन्थों की दासता स्वीकार करके, स्वयं वेदों के ही आश्रय से जानना, यह लेखक की विचारसरणि है।

'वेदव्याख्या-ग्रन्थ' में प्रत्येक मन्त्र का पदच्छेद, अन्वय, पद्यानुवाद, सूक्तियां, तथा विशद, प्रेरणाप्रद, जीवनोत्थानकारी व्याख्या दी गई है।

चार रुपए

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

स्वामी विद्यानन्द 'विदेह'

वेदव्याख्या-ग्रन्थ

अष्टादश पुष्प

(यजुर्वेद के अष्टादश अध्याय की व्याख्या)

विषय : समृद्ध राष्ट्र की यज्ञमय जीवन पद्धति

वेद संस्थान
अजमेर

तीन रुपए पचास पैसे

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शुद्ध कीजिए

पृष्ठ	स्तम्भ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११५९	मन्त्र	९५८	औद्भिद्यं	औद्भिद्यं
११६१	मन्त्र	९६३	आरण्यश्च	आरण्याश्च
११६५	मन्त्र	९६९	आग्रयणश्च	आग्रयणश्च मे
,,	,,	,,	पत्नीवतश्च	पात्नीवतश्च
११६७	१	३	स्थन्तर	रथन्तर
११७२	२	१६	(मित्र)	मित्राय
११७३	मन्त्र ९७८ के पदपाठ की पंक्ति १		प्र-आन	प्र-आनः
११७७	मन्त्र	९८४	सोमं	सो ऽहं
११७८	१	२	[स्वादिष्ट]	[स्वादिष्ठ]
११७९	१	५	मुक्त	युक्त
११८०	२	१२	भी	की
१२०८	मन्त्र १०२६ के पदपाठ की पंक्ति १		उतम	उत
,,	,, ,, ,, १		ना	त्मना

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

श्रीमाता भगवान देवी जी,
37/21, राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली—110060
जिनके उदार और पवित्र दान से इस ग्रन्थ का मुद्रण तथा
सस्ता संस्करण प्रकाशित हुआ है ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यजुर्वेद-व्याख्या

अठारहवाँ अध्याय

समृद्ध राष्ट्र की यज्ञमय जीवनपद्धति

सत्रहवें अध्याय में राष्ट्र की समृद्धि का निरूपण करके, इस अध्याय में वेदमाता समृद्ध राष्ट्र के नागरिकों के लिए यज्ञमय जीवनपद्धति का प्रतिपादन करती है।

राष्ट्र की समृद्धि की प्रगति के साथ साथ उसके नागरिकों के जीवन की पद्धति को भी शोधते, बोधते और परिष्कृत करते रहने की प्रत्यक्ष आवश्यकता है। अन्यथा समृद्धि राष्ट्र को पतन के कगार पर खड़ा करके उसे विनाश के गर्त में गिरा देती है। यज्ञमय जीवनपद्धति से शून्य सत्ता भ्रष्टाचार को पनपाती है, तो समृद्धि व्यसन, विलास और स्वार्थपरता में फंसा देती है। किसी भी राष्ट्र के कर्णधारों और नागरिकों के लिए यह अध्याय चिन्तनीय तथा आचरणीय है।

९५० **वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे स्वरश्च मे श्लोकश्च मे श्रवश्च मे श्रुतिश्च मे ज्योतिश्च मे स्वश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।**

य १८.१

वाजः च मे प्र-सवः च मे प्र-यतिः च मे प्र-सितिः च मे धीतिः च मे क्रतुः च मे स्वरः च मे श्लोकः च मे श्रवः च मे श्रुतिः च मे ज्योतिः च मे स्वः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक की यह धारणा हो कि
१) (मे वाजः च) मेरा संग्राम [संघर्ष] भी,
२) (मे प्र-सवः च) मेरा प्र-सव भी,
३) (मे प्र-यतिः च) मेरी प्र-यति भी,
४) (मे प्र-सितिः च) मेरी प्र-सिति भी,
५) (मे धीतिः च) मेरी धारणा भी,
६) (मे क्रतुः च) मेरा क्रतु भी,
७) (मे स्वरः च) मेरा स्वर भी,
८) (मे श्लोकः च) मेरा श्लोक भी,
९) (मे श्रवः च) मेरा यश भी,
१०) (मे श्रुतिः च) मेरी श्रुति, मेरा वेद भी,
११) (मे ज्योतिः च) मेरी ज्योति भी,
१२) (मे स्वः च) मेरा आनन्द भी
(यज्ञेन) यज्ञ से, 'स्वाहा'-कार से, सर्वहितसाधन द्वारा
(कल्पन्ताम्) कल्प करें, समर्थ—सक्षम—सशक्त करें।
किसको ? समृद्ध राष्ट्र को जिसका निरूपण पूर्व अध्याय में किया गया है।

वैदिक वाङ्मय का प्रसिद्ध **यज्ञ** शब्द जहां अनेकार्थवाची है वहां वह एक व्यापक भाव, गहन अर्थ और गुह्य मर्म का द्योतन करनेवाला भी है। यज् (देवपूजासंगतिकरणदानेषु) धातु से 'यज्ञ' शब्द की रचना हुई है। देवों का पूजन, देवों का संगतिकरण और देवों के लिए दान, ऐसा 'यज्' धातु का अर्थ और आशय है। 'पूजा' का अर्थ है आदर, सत्कार करना। 'संगतिकरण' का अर्थ है संगठित करना, संगठित रखना, युक्त करना, युक्त रखना, एकता के सूत्र में सूत्रित करना और रखना। 'दान' का अर्थ है देना, त्याग करना, अर्पण करना, आहुति देना। 'देवों' से तात्पर्य दिव्य, सुसंस्कृत, सुसभ्य नागरिक-नागरिकाओं से है। किसी भी राष्ट्र के नागरिक ही वे देव हैं जिनका सम्यक् पूजन [आदर] किया जाना चाहिए, जिनका सम्यक् संगतिकरण किया जाना चाहिए, जिनके लिए सब सुखैश्वर्य अर्पित रहना चाहिए।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यज्ञ का एक दूसरा दृष्टिकोण भी है। **स्वाहावाड् वै यज्ञस्य आत्मा**। स्वाहावाट्, स्वाहाकृति, सर्वार्थ सर्वस्व अर्पिति, निश्चय से, यज्ञ का आत्मा है। **'इदन्न मम' वै यज्ञस्य प्राणः**। 'यह मेरा नहीं', मेरापन का अभाव, mylessness यज्ञ का प्राण है। मेरे पास जो कुछ भी शुभ, श्रेष्ठ है वह सब मेरे लिए ही नहीं, सबके लिए भी है, यह भावना यज्ञ का प्राण है। **सुरभिर्वै यज्ञस्य सारम्**। सुगन्धि ही यज्ञ का सार है। मेरे जीवन से कहीं भी, किसी भी प्रकार की गन्दगी न होकर सर्वत्र सुगन्धि ही हो, यह यज्ञ का सार है।

मे शब्द व्यक्तिवाचक भी है और समूहवाचक भी। 'मे' शब्द का प्रयोग 'मेरा, मुझ नागरिक का, मुझ नागरिकसमूह का' अर्थ में हुआ है। **यज्ञेन** शब्द का प्रयोग हुआ है 'स्व सर्वस्व की सर्वार्थ आहुति से, सर्वनागरिकार्थ तथा विश्वमानवार्थ अर्पण से' अर्थ में।

इस अध्याय के मन्त्र २७ तक 'मे' और 'यज्ञेन कल्पन्तां' का, और २९वें मंत्र में 'यज्ञेन कल्पतां' का आशय वही समझना चाहिए जैसा इस मन्त्र की व्याख्या में ऊपर प्रकट किया गया है।

परमात्मा ने जो कुछ बनाया है वह सब अपने लिए नहीं, सर्व आत्माओं के लिए ही बनाया है और सर्व आत्माओं के लिए ही अर्पित किया हुआ है। स्वार्थ [स्व-अर्थ] नहीं, परार्थ और सर्वार्थ ही स्रष्टा का विधान और सृष्टि का नियम है। 'स्वार्थ ही नहीं, सर्वार्थ भी,' नागरिक देवों की ऐसी भावना होनी चाहिए। इसी भावना से राष्ट्र का और विश्व का कल्प होता है।

वाज शब्द अनेकार्थवाची है। यहां इसका प्रयोग संग्राम अथ वा संघर्ष अर्थ में हुआ है।

प्र-सव नाम प्रसवक्रिया तथा सन्तान का है।

प्र-यति का अर्थ है जितेन्द्रियता तथा पवित्रता। जितेन्द्रियता से पवित्रता का सम्पादन होता है तो पवित्रता से जितेन्द्रियता का।

प्र-सिति का अर्थ है बाँधने का साधन, रस्सी। प्रीति ही वह रस्सी है जो नागरिकदेवों को एक दूसरे से आत्मना युक्त, संयुक्त रखती है।

धीति नाम धारणा और सतत चिन्तन का है।

क्रतु नाम है कर्तृत्व, कर्मकुशलता, कर्मक्षमता, आचरणशीलता का।

स्वर नाम कण्ठ के सुरीलेपन का है।

श्लोक शब्द का प्रयोग हुआ है पद्यरचना, अथ वा कवित्व अर्थ में।

श्रव शब्द का प्रयोग यश अर्थ में हुआ है।

श्रुति का प्रसिद्ध अर्थ वेद है।

ज्योति नाम द्युति, विवेक और चेतना का है।

स्वः नाम है आनन्द का।

उपर्युक्त सारी उपलब्धियां सर्वहितसाधन द्वारा राष्ट्र का कल्प करें, राष्ट्र को सशक्त और सक्षम बनाएं, राष्ट्र की शक्ति का संवर्धन करती रहें। किसी भी सम्पदा और उपलब्धि का क्या महत्त्व और क्या लाभ यदि उससे यज्ञ [सर्वहितसम्पादन] और राष्ट्र तथा विश्व का कल्प न हो ?

मेरा संग्राम भी, मेरा प्रसव भी,
मेरी प्रयति भी, मेरी प्रसिति भी,
मेरी धीति भी, मेरा क्रतु भी,
मेरा स्वर भी, मेरा श्लोक भी,
मेरा यश भी, मेरी श्रुति भी,
मेरी ज्योति भी, मेरा आनन्द भी
यज्ञ से कल्प करें।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

९५१ प्राणश्च मेपानश्च मे व्यानश्च मेसुश्च मे चित्तं च म आधीतं च मे वाक् च मे मनश्च मे चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे दक्षश्च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।

य १८.२

प्र-आनः च मे अप-आनः च मे वि-आनः च मे असुः च मे चित्तम् च मे आ-धीतम् च मे वाक् च मे मनः च मे चक्षुः च मे श्रोत्रम् च मे दक्षः च मे बलम् च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।

१) (मे प्र-आनः च) मेरा प्राण भी,
२) (मे अप-आनः च) मेरा अपान भी,
३) (मे वि-आनः च) मेरा व्यान भी,
४) (मे असुः च) मेरी आध्यात्मिकता [आत्म-साधना] भी,
५) (मे चित्तम् च) मेरा चित्त भी,
६) (मे) मेरा (आ-धीतम्) तत्त्वज्ञान, निर्णय (च) भी,
७) (मे वाक् च) मेरी वाणी भी,
८) (मे मनः च) मेरा मन भी,
९) (मे चक्षुः च) मेरा नेत्र भी,
१०) (मे श्रोत्रम् च) मेरा कर्ण [कान] भी,
११) (मे दक्षः च) मेरी दक्षता भी,
१२) (मे बलम् च) मेरा बल भी
(यज्ञेन) यज्ञ द्वारा [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें ।

मेरा प्राण भी, मेरा अपान भी,
मेरा व्यान भी, मेरी साधना भी,
मेरा चित्त भी, मेरा तत्त्वज्ञान भी,
मेरी वाणी भी, मेरा मन भी,
मेरा नेत्र भी, मेरा कर्ण भी,
मेरी दक्षता भी, मेरा बल भी
यज्ञ से कल्प करें ।

९५२ ओजश्च मे सहश्च म आत्मा च मे तनूश्च मे शर्म च मे वर्म च मेङ्गानि च मेस्थीनि च मे परूंषि च मे शरीराणि च म आयुश्च मे जरा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । य १८.३

ओजः च मे सहः च मे आत्मा च मे तनूः च मे शर्म च मे वर्म च मे अङ्गानि च मे अस्थीनि च मे परूंषि च मे शरीराणि च मे आयुः च मे जरा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।

१) (मे) मेरा (ओजः) उमाड़, साहस, उत्साह, प्राणबल, आभा (च) भी,
२) (मे) मेरा (सहः) सहन-संबल, सहनशक्ति, धैर्य, सांमुख्य–सामर्थ्य, परास्त करने की क्षमता (च) भी,
३) (मे आत्मा च) मेरा आत्मा भी,
४) (मे तनूः च) मेरा विस्तार भी,
५) (मे) मेरा (शर्म) गृह, सुख, हर्ष (च) भी,
६) (मे वर्म च) मेरा कवच भी,
७) (मे अङ्गानि च) मेरे अंग भी,
८) (मे अस्थीनि च) मेरी हड्डियां भी,
९) (मे) मेरे (परूंषि) जोड़, पोरू, मर्मस्थल (च) भी,
१०) (मे) मेरे (शरीराणि) शरीर [स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर, महाकारण शरीर] (च) भी,
११) (मे) मेरा (आयुः) आयुष्य, जीवन (च) भी,
१२) (मे जरा च) मेरा बुढ़ापा भी
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मेरा ओज भी, मेरा सह भी,
मेरा आत्मा भी, मेरा विस्तार भी,
मेरा शर्म भी, मेरा वर्म भी,
मेरे अंग भी, मेरी अस्थियां भी,
मेरे पोरू भी, मेरे शरीर भी,
मेरा आयु भी, मेरा बुढ़ापा भी
यज्ञ से कल्प करें।

९५३ **ज्यैष्ठ्यं च म आधिपत्यं च मे मन्युश्च मे भामश्च मेमश्च मेम्भश्च में जेमा च मे महिमा च मे वरिमा च मे प्रथिमा च मे वर्षिमा च मे द्राघिमा च मे वृद्धं च मे वृद्धिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।** य १८.४

ज्यैष्ठ्यम् च मे आधि-पत्यम् च मे मन्युः च मे भामः च मे अ-मः च मे अम्भः च मे जेमा च मे महिमा च मे वरिमा च मे प्रथिमा च मे वर्षिमा च मे द्राघिमा च मे वृद्धम् च मे वृद्धिः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (च मे ज्यैष्ठ्यम्) और मेरा ज्येष्ठत्व,
२) (च मे आधि-पत्यम्) और मेरा प्रभुत्व,
३) (च मे मन्युः) और मेरा मन-ओज,
४) (च मे भामः) और मेरी चमक,
५) (च मे अ-मः) और मेरी अ-मितता,
६) (च मे अम्भः) और मेरी तुष्टि [जलवत् शान्ति],
७) (च मे जेमा) और मेरी जयशीलता,
८) (च मे महिमा) और मेरी महिमा,
९) (च मे वरिमा) और मेरी विशालता [बड़प्पन],
१०) (च मे प्रथिमा) और मेरा फैलाव,
११) (च मे) और मेरा (वर्षिमा) दीर्घजीवित्व [वार्द्धक्य],
१२) (च मे) और मेरी (द्राघिमा) दीर्घता, परम्परा, दीर्घदर्शिता, दीर्घसूत्रता,
१३) (च मे वृद्धम्) और मेरा बढ़ा हुआ [भण्डार, पद, वैभव],
१४) (च मे वृद्धिः) और मेरी वृद्धि
(यज्ञेन) यज्ञ द्वारा [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

**और मेरा ज्येष्ठत्व, और मेरा आधिपत्य,
और मेरा मन-ओज, और मेरी आभा,
और मेरी अमितता, और मेरी तुष्टि,
और मेरी जयशीलता, और मेरी महिमा,
और मेरी विशालता, और मेरा फैलाव,
और मेरा वार्द्धक्य, और मेरी दीर्घता,
और मेरा वृद्ध, और मेरी वृद्धि
यज्ञ से कल्प करें।**

९५४ **सत्यं च मे श्रद्धा च मे जगच्च मे धनं च मे विश्वं च मे महश्च मे क्रीडा च मे मोदश्च मे जातं च मे जनिष्यमाणं च मे सूक्तं च मे सुकृतं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।** य १८.५

सत्यम् च मे श्रत्-धा च मे जगत् च मे धनम् च मे विश्वम् च मे महः च मे क्रीडा च मे मोदः च मे जातम् च मे जनिष्यमाणम् च मे सु-उक्तम् च मे सु-कृतम् च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (मे सत्यम् च) मेरा सत्य [सचाई] भी,
२) (मे श्रत्-धा च) मेरी श्रद्धा [सत्य-धारणा] भी,
३) (मे जगत् च) मेरा जगत् [संसार] भी,
४) (मे धनम् च) मेरा धन भी,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

५) (मे विश्वम् च) मेरा विश्व [सर्वस्व] भी,
६) (मे महः च) मेरा मह [पूज्यता, महत्त्व] भी,
७) (मे क्रीडा च) मेरी क्रीडा [खेल, विहार] भी,
८) (मे मोदः च) मेरा मोद [प्रहर्ष] भी,
९) (मे जातम् च) मेरा जात [जन्मा, उत्पादित] भी,
१०) (मे जनिष्यमाणम् च) मेरा जनिष्यमाण [जन्मनेवाला, उत्पादन किया जानेवाला] भी,
११) (मे सु-उक्तम् च) मेरा सु-कथन [सुभाषित] भी,
१२) (मे सु-कृतम् च) मेरा सु-कृत [सु-कर्म] भी
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें, सुनिर्माण करें।

मेरा सत्य भी, मेरी श्रद्धा भी,
मेरा जगत् भी, मेरा धन भी,
मेरा विश्व भी, मेरा मह भी,
मेरा खेल भी, मेरा मोद भी,
मेरा जात भी, मेरा जनिष्यमाण भी,
मेरा सूक्त भी, मेरा सुकृत भी
यज्ञ से कल्प करें।

९५५ **ऋतं च मेमृतं च मेयक्ष्मं च मेनामयच्च मे जीवातुश्च मे दीर्घायुत्वं च मेनमित्रं च मेभयं च मे सुखं च मे शयनं च मे सूषाश्च मे सुदिनं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।**

य १८.६

ऋतम् च मे अ-मृतम् च मे अ-यक्ष्मम् च मे अन्-आमयत् च मे जीवातुः च मे दीर्घायु-त्वम् च मे अन्-अ-मित्रम् च मे अ-भयम् च मे सु-खम् च मे शयनम् च मे सु-उषाः च मे सु-दिनम् च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (मे ऋतं च) मेरा ऋत [सही आचार और व्यवहार] भी,
२) (मे अ-मृतम् च) मेरा अ-मृत [निर्विषत्व, निर्मलत्व, मोक्ष] भी,
३) (मे अ-यक्ष्मम् च) मेरा अयक्ष्म [क्षयरहित होना] भी,
४) (मे अन्-आमयत् च) मेरी अनामयता [अनामयपद-प्राप्ति] भी,
५) (मे जीवातुः चः) मेरा जीवातु [भोजन, पुनरुज्जीवन] भी,
६) (मे दीर्घायु-त्वम् च) मेरा दीर्घायु-त्व [लम्बी आयुवाला होना] भी,
७) (मे अन्-अ-मित्रम् च) मेरा शत्रुरहित होना भी,
८) (मे अ-भयम् च) मेरी निर्भयता भी,
९) (मे सुखम् च) मेरा सुख भी,
१०) (मे शयनम् च) मेरा शयन [सोना] भी,
११) (मे सु-उषाः च) मेरा सु-उषाकाल, प्रभातकाल भी,
१२) (मे सु-दिनम् च) मेरा सुदिन भी
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

मेरा ऋत भी, मेरा अमृत भी,
मेरा अयक्ष्म भी, मेरी अनामयता भी,
मेरा जीवातु भी, मेरा दीर्घायुत्व भी,
मेरा शत्रुराहित्य भी, मेरी निर्भयता भी,
मेरा सुख भी, मेरा शयन भी,
मेरा प्रभात भी, मेरा सुदिन भी
यज्ञ से कल्प करें।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

६५६ **यन्ता च मे धर्ता च मे क्षेमश्च मे धृतिश्च मे विश्वं च मे महश्च मे संविच्च मे ज्ञात्रं च मे सूश्च मे प्रसूश्च मे सीरं च मे लयश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।** य १८.७

यन्ता च मे धर्ता च मे क्षेमः च मे धृतिः च मे विश्वम् च मे महः च मे सम्-वित् च मे ज्ञात्रम् च मे सूः च मे प्र-सूः च मे सीरम् च मे लयः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (मे यन्ता च) मेरा परिचालक भी,
२) (मे धर्ता च) मेरा धारक [सहारा, सहायक] भी,
३) (मे क्षेमः च) मेरा रक्षण भी,
४) (मे धृतिः च) मेरी धृति [धारणा, स्थैर्य, धैर्य] भी,
५) (मे विश्वम् च) मेरा सर्वस्व भी,
६) (मे महः च) मेरा मह [पूजन, आदर] भी,
७) (मे सम्-वित् च) मेरा सं-वित् [सं-ज्ञान, प्रतिज्ञा] भी,
८) (मे ज्ञात्रम् च) मेरा ज्ञानसाधन भी,
९) (मे सूः च) मेरी वृत्ति भी,
१०) (मे प्र-सूः च) मेरी प्र-वृत्ति भी,
११) (मे सीरम् च) मेरा हल भी,
१२) (मे लयः च) मेरा लय [लीनता, एकाग्रता] भी,
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

मेरा यन्ता भी, मेरा धर्ता भी,
मेरा क्षेम भी, मेरी धृति भी,
मेरा विश्व भी, मेरा मह भी,
मेरा संवित् भी, मेरा ज्ञात्र भी,
मेरी वृत्ति भी, मेरी प्रवृत्ति भी,
मेरा सीर भी, मेरा लय भी
यज्ञ से कल्प करें।

६५७ **शं च मे मयश्च मे प्रियं च मेनुकामश्च मे कामश्च मे सौमनसश्च मे भगश्च मे द्रविणं च मे भद्रं च मे श्रेयश्च मे वसीयश्च मे यशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।** य १८.८

शम् च मे मयः च मे प्रियम् च मे अनु-कामः च मे कामः च मे सौमनसः च मे भगः च मे द्रविणम् च मे भद्रम् च मे श्रेयः च मे वसीयः च मे यशः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (मे शम् च) मेरा शमन भी,
२) (मे मयः च) मेरा सुख भी,
३) (मे प्रियम् च) मेरा प्रिय भी,
४) (मे अनु-कामः च) मेरी अनु-कामना भी,
५) (मे कामः च) मेरी कामना भी,
६) (मे सौमनसः च) मेरा सौमनस्य भी,
७) (मे भगः च) मेरा सौभाग्य भी,
८) (मे द्रविणम् च) मेरा धन भी,
९) (मे भद्रम् च) मेरा भद्र भी,
१०) (मे श्रेयः च) मेरा श्रेय भी,
११) (मे वसीयः च) मेरा घनिष्ठ निवासी [प्राण] भी,
१२) (मे यशः च) मेरा यश भी
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

मेरा शमन भी, मेरा सुख भी,
मेरा प्रिय भी, मेरी अनुकामना भी,
मेरी कामना भी, मेरा सौमनस्य भी,
मेरा सौभाग्य भी, मेरा धन भी,
मेरा भद्र भी, मेरा श्रेय भी,
मेरा प्राण भी, मेरा यश भी
यज्ञ से कल्प करें।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

९५८ ऊर्क् च मे सूनृता च मे पयश्च मे रसश्च मे घृतं च मे मधु च मे सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे जैत्रं च म औद्भिद्यं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। १८.९

ऊर्क् च मे सूनृता च मे पयः च मे रसः च मे घृतम् च मे मधु च मे सग्धिः च मे स-पीतिः च मे कृषिः च मे वृष्टिः च मे जैत्रम् च मे औत्-भिद्यम् च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (मे ऊर्क् च) मेरा सुसंस्कृतान्न भी,
२) (मे सूनृता च) मेरी सु-सत्य-वाणी भी,
३) (मे पयः च) मेरा सुपेय भी,
४) (मे रसः च) मेरा रस भी,
५) (मे घृतम् च) मेरा घृत भी,
६) (मे मधु च) मेरा शहद भी,
७) (मे सग्धिः च) मेरा सहभोज भी,
८) (मे स-पीतिः च) मेरा सहपान भी,
९) (मे कृषिः च) मेरी खेती भी,
१०) (मे वृष्टिः च) मेरी वृष्टि भी,
११) (मे जैत्रम् च) मेरी जयशीलता भी,
१२) (मे औत्-भिद्यम् च) मेरा उद्-भेदन [अंकुरण] भी

(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] कल्पन्ताम् कल्प करें।

मेरा ऊर्क् भी, मेरी सूनृता भी,
मेरा पेय भी, मेरा रस भी,
मेरा घृत भी, मेरा मधु भी,
मेरा सहभोज भी, मेरा सहपान भी,
मेरी कृषि भी, मेरी वृष्टि भी,
मेरी जयशीलता भी, मेरा उद्भेदन भी
यज्ञ से कल्प करें।

९५९ रयिश्च मे रायश्च मे पुष्टं च मे पुष्टिश्च मे विभु च मे प्रभु च मे पूर्णं च मे पूर्णतरं च मे कुयवं च मेक्षितं च मेन्नं च मेक्षुच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। य १८.१०

रयिः च मे रायः च मे पुष्टम् च मे पुष्टिः च मे वि-भु च मे प्र-भु च मे पूर्णम् च मे पूर्ण-तरम् च मे कु-यवम् च मे अ-क्षितम् च मे अन्नम् च मे अ-क्षुत् च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (मे रयिः च) मेरा आत्मैश्वर्य भी,
२) (मे रायः च) मेरे दिव्यैश्वर्य भी,
३) (मे पुष्टम् च) मेरा पुष्ट भी,
४) (मे पुष्टिः च) मेरी पुष्टि भी,
५) (मे वि-भु च) मेरा व्यापन भी,
६) (मे प्र-भु च) मेरा प्रभु [प्रभुत्व] भी,
७) (मे पूर्णम् च) मेरा पूर्ण भी,
८) (मे पूर्ण-तरम् च) मेरा पूर्णतर भी,
९) (मे कु-यवम् च) मे कु-यव [कु-विनाश, दुरित-नाश] भी,
१०) (मे अ-क्षितम् च) मेरा-अ-क्षितत्व [क्षय-रहित होना] भी,
११) (मे अन्नम् च) मेरा अन्न भी,
१२) (मे अ-क्षुत् च) मेरा अ-क्षुत् [अ-भूखा होना, पेट-भरा होना] भी

(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

मेरा आत्मैश्वर्य भी, मेरे दिव्यैश्वर्य भी,
मेरा पुष्ट भी, मेरी पुष्टि भी,
मेरा वि-भु भी, मेरा प्र-भु भी,
मेरा पूर्ण भी, मेरा पूर्णतर भी,
मेरा कु-यव भी, मेरा अ-क्षित् भी,
मेरा अन्न भी, मेरा अक्षुत् भी
यज्ञ से कल्प करें।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

९६० **वित्तं च मे वेद्यं च मे भूतं च मे भविष्यच्च मे सुगं च मे सुपथ्यं च म ऋद्धं च म ऋद्धिश्च मे क्लृप्तं च मे क्लृप्तिश्च मे मतिश्च मे सुमतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।** य १८.११

वित्तम् च मे वेद्यम् च मे भूतम् च मे भविष्यत् च मे सु-गम् च मे सु-पथ्यम् च मे ऋद्धम् च मे ऋद्धिः चमे क्लृप्तम् च मे क्लृप्तिः च मे मतिः च मे सु-मतिः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।

१) (च मे वित्तम्) और मेरा वित्त [प्राप्त धन, प्राप्त ज्ञान],
२) (च मे वेद्यम्) और मेरा वेद्य [विचार्य ज्ञान, प्राप्तव्य द्रव्य],
३) (च मे भूतम्) और मेरा अतीत [भूत का अनुभव],
४) (च मे भविष्यत्) और मेरा भविष्यत् [भविष्य, भावी जीवन],
५) (च मे सु-गम्) और मेरा सु-गम [सु-गमन, सु-गम मार्ग],
६) (च मे सु-पथ्यम्) और मेरा सु-पथ्य [सु-पथित्व, सु-पथगामिता],
७) (च मे ऋद्धम्) और मेरा संवर्धन,
८) (च मे ऋद्धिः) और मेरी समृद्धि,
९) (च मे क्लृप्तम्) और मेरा सामर्थ्य,
१०) (च मे क्लृप्तिः) और मेरी क्षमता,
११) (च मे मतिः) और मेरी मति,
१२) (च मे सु-मतिः) और मेरी सु-मति
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

और मेरा वित्त, और मेरा वेद्य,
और मेरा भूत, और मेरा भविष्यत्,
और मेरा सुगम, और मेरा सुपथ्य,
और मेरा संवर्धन, और मेरी समृद्धि,
और मेरा सामर्थ्य, और मेरी क्षमता,
और मेरी मति, और मेरी सुमति
यज्ञ से कल्प करें।

९६१ **व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।** य १८.१२

व्रीहयः च मे यवाः च मे माषाः च मे तिलाः च मे मुद्गाः च मे खल्वाः च मे प्रियङ्गवः च मे अणवः च मे श्यामाकाः च मे नीवाराः च मे गो-धूमाः च मे मसूराः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।

१) (च मे व्रीहयः) और मेरे चावल,
२) (च मे यवाः) और मेरे जौ,
३) (च मे माषाः) और मेरे उड़द,
४) (च मे तिलाः) और मेरे तिल,
५) (च मे मुद्गाः) और मेरे मूंग,
६) (च मे खल्वाः) और मेरे चने,
७) (च मे प्रिङ्गवः) और मेरे प्रियंगु [कंगनी],
८) (च मे अणवः) और मेरे अणु [बहुत बारीक, छोटे चावल],
९) (च मे श्यामाकाः) और मेरे समा [सांवा चावल],
१०) (च मे निवाराः) और मेरे नीवार [पसाई चावल जो बिना बोए उगते हैं और जिन्हें जंगली चावल भी कहते हैं],

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

११) (च मे गो-धूमाः) और मेरे गेहूं,
१२) (च मे मसूराः) और मेरे मसूर
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।
और मेरे चावल, और मेरे जौ,
और मेरे उड़द, और मेरे तिल,
और मेरे मूंग, और मेरे चने,
और मेरे प्रियङ्गु, और मेरे अणु,
और मेरे समा, और मेरे नीवार,
और मेरे मूंग, और मेरे मसूर,
यज्ञ से कल्प करें।

९६२ **अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेयश्च मे श्यामं च मे लोहं च मे सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।** य १८.१३

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयः च मे पर्वताः च मे सिकताः च मे वनस्पतयः च मे हिरण्यम् च मे अयः च मे श्यामम् च मे लोहम् च मे सीसम् च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (च मे अश्मा) और मेरा पत्थर,
२) (च मे मृत्तिका) और मेरी मिट्टी,
३) (च मे गिरयः) और मेरे मेघ,
४) (च मे पर्वताः) और मेरे पर्वत,
५) (च मे सिकताः) और मेरे रेत [रेतस्थान, रेगिस्तान],
६) (च मे वनस्पतयः) और मेरी वनस्पतियां,
७) (च मे हिरण्यम्) और मेरा सोना,
८) (च मे अयः) और मेरा इस्पात,
९) (च मे श्यामम्) और मेरा कृष्णमणि,
१०) (च मे लोहम्) और मेरा लोहा,
११) (च मे सीसम्) और मेरा सीसा,
१२) (च मे त्रपु) और मेरा जस्ता,
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।
और मेरा पत्थर, और मेरी मिट्टी,
और मेरे मेघ, और मेरे पर्वत,
और मेरे रेगिस्तान, और मेरी वनस्पतियां,
और मेरा सोना, और मेरा इस्पात,
और मेरी कृष्णमणि, और मेरा लोहा,
और मेरा सीसा, और मेरा जस्ता
यज्ञ से कल्प करें।

९६३ **अग्निश्च म आपश्च मे वीरुधश्च म ओषधयश्च मे कृष्टपच्याश्च मेकृष्टपच्याश्च मे ग्राम्याश्च मे पशव आरण्यश्च मे वित्तं च मे वित्तिश्च मे भूतं च मे भूतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।** य १८.१४

अग्निः च मे आपः च मे वीरुधः च मे ओषधयः च मे कृष्ट-पच्याः च मे अ-कृष्ट-पच्याः च मे ग्राम्याः च मे पशवः आरण्याः च मे वित्तम् च मे वित्तिः च मे भूतम् च मे भूतिः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (च मे अग्निः) और मेरा अग्नि,
२) (च मे आपः) और मेरे जल,
३) (च मे वीरुधः) और मेरी लताएं,
४) (च मे ओषधयः) और मेरी ओषधियां,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

५) (च मे कृष्ट-पच्याः) और मेरे खेतों में पकनेवाले [अन्न, शाक, क़न्द, आदि],
६) (च मे अ-कृष्ट-पच्याः) और मेरे खेतों में न पकनेवाले [जंगल में पकनेवाले फल, क़न्द, आदि खाद्य पदार्थ],
७) (च मे ग्राम्याः च मे आरण्याः पशवः) और मेरे ग्राम्य और मेरे जंगली पशु,
८) (च मे वित्तम्) और मेरा प्राप्त,
९) (च मे वित्तिः) और मेरी प्राप्ति,
१०) (च मे भूतम्) और मेरा भूत [होना, रूप, प्राणिजगत्, भौतिक],
११) (च मे भूतिः) और मेरी भूति [विभूति, ऐश्वर्य],
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

और मेरा अग्नि, और मेरे जल,
और मेरी लताएं, और मेरी ओषधियां,
और मेरे कृष्ट-पच्य, और मेरे अ-कृष्ट-पच्य,
और मेरे ग्राम्य और मेरे जंगली पशु,
और मेरा उपलब्ध, और मेरी उपलब्धि,
और मेरा भूत, और मेरी भूति
यज्ञ से कल्प करें।

९६४ **वसु च मे वसतिश्च मे कर्म च मे शक्तिश्च मेऽर्थश्च म एमश्च म इत्या च मे गतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।** य १८.१५

वसु च मे वसतिः च मे कर्म च मे शक्तिः च मे अर्थः च मे एमः च मे इत्या च मे गतिः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (मे वसु च) मेरा वसु [प्राप्त, वास, वस्तु, निवास] भी,
२) (मे वसतिः च) मेरी बस्ती भी,
३) (मे कर्म च) मेरा कर्म भी,
४) (मे शक्तिः च) मेरी शक्ति भी,
५) (मे अर्थः च) मेरा अर्थ भी,
६) (मे एमः च) मेरा एम [लक्ष्य, प्राप्तव्य] भी,
७) (मे इत्या च) मेरा साधन भी,
८) (मे गतिः च) मेरी गति भी
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

मेरा वसु भी, मेरी वसति भी,
मेरा कर्म भी, मेरी शक्ति भी,
मेरा अर्थ भी, मेरा लक्ष्य भी,
मेरा साधन भी, मेरी गति भी
यज्ञ से कल्प करें।

९६५ **अग्निश्च म इन्द्रश्च मे सोमश्च म इन्द्रश्च मे सविता च म इन्द्रश्च मे सरस्वती च म इन्द्रश्च मे पूषा च म इन्द्रश्च मे बृहस्पतिश्च म इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।** य १८.१६

अग्निः च मे इन्द्रः च मे सोमः च मे इन्द्रः च मे सविता च मे इन्द्रः च मे सरः-वती च मे इन्द्रः च मे पूषा च मे इन्द्रः च मे बृहस्-पतिः च मे इन्द्रः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (च मे अग्निः च मे इन्द्रः) और मेरा प्रेमाग्नि और मेरा आत्मा,
२) (च मे सोमः च मे इन्द्रः) और मेरा भक्तिसोम और मेरा आत्मा,
३) (च मे सविता च मे इन्द्रः) और मेरा सविता [रचयिता, प्रेरक, प्रकाशक परमात्मा] और

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मेरा आत्मा,

४) (च मे सरस्वती च मे इन्द्रः) और मेरी विद्या और मेरा आत्मा,

५) (च मे पूषा च मे इन्द्रः) और मेरा पूषा [पोषक मन] और मेरा आत्मा,

६) (च मे बृहस्-पतिः च मे इन्द्रः) और मेरा मस्तिष्क और मेरा आत्मा

(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

इस मन्त्र में और आगामी दो मन्त्रों में 'इन्द्र' शब्द का प्रयोग आत्मिक सम्बन्ध का द्योतक है। आत्मिक साधना तथा आत्मीयता के बिना प्रेम, भक्ति, परमात्मा की स्तुतिप्रार्थनोपासना, विद्या, मन का व्यापार, मस्तिष्क का संज्ञान, सब निष्फल जाते हैं। आत्मसाधना तथा आत्मीयता के साथ किया गया राष्ट्रयज्ञ और विश्वयज्ञ सार्थक सिद्ध होते हैं।

और मेरा अग्नि और मेरा आत्मा,
और मेरा सोम और मेरा आत्मा,
और मेरा सविता और मेरा आत्मा,
और मेरी सरस्वती और मेरा आत्मा,
और मेरा पूषा और मेरा आत्मा,
और मेरा बृहस्पति और मेरा आत्मा
यज्ञ से कल्प करें।

९६६ **मित्रश्च म इन्द्रश्च मे वरुणश्च म इन्द्रश्च मे धाता च म इन्द्रश्च मे त्वष्टा च म इन्द्रश्च मे मरुतश्च म इन्द्रश्च मे विश्वे च मे देवा इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।**

य १८.१७

मित्रः च मे इन्द्रः च मे वरुणः च मे इन्द्रः च मे धाता च मे इन्द्रः च मे त्वष्टा च मे इन्द्रः च मे मरुतः च मे इन्द्रः च मे विश्वे च मे देवाः इन्द्रः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (च मे मित्रः च मे इन्द्रः) और मेरा मित्र और मेरा आत्मा,

२) (च मे वरुणः च मे इन्द्रः) और मेरा वरणीय और मेरा आत्मा,

३) (च मे धाता च मे इन्द्रः) और मेरा धारक और मेरा आत्मा,

४) (च मे त्वष्टा च मे इन्द्रः) और मेरा कुशलकर्मा और मेरा आत्मा,

५) (च मे मरुतः च मे इन्द्रः) और मेरे वीर और मेरा आत्मा,

६) (च मे विश्वे देवाः च मे इन्द्रः) और मेरे सब देव और मेरा आत्मा

(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

और मेरा मित्र और मेरा आत्मा,
और मेरा वरुण और मेरा आत्मा,
और मेरा धाता और मेरा आत्मा,
और मेरा त्वष्टा और मेरा आत्मा,
और मेरे मरुत और मेरा आत्मा,
और मेरे सब देव और मेरा आत्मा
यज्ञ से कल्प करें।

९६७ **पृथिवी च म इन्द्रश्च मेन्तरिक्षं च म इन्द्रश्च मे द्यौश्च म इन्द्रश्च मे समाश्च म इन्द्रश्च मे नक्षत्राणि च म इन्द्रश्च मे दिशश्च म इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।**

य १८.१८

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पृथिवी च मे इन्द्रः च मे अन्तरिक्षम् च मे इन्द्रः च मे द्यौः च मे इन्द्रः च मे समाः च मे इन्द्रः च मे नक्षत्राणि च मे इन्द्रः च मे दिशः च मे इन्द्रः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।

१) (च मे पृथिवी च मे इन्द्रः) और मेरी पृथिवी और मेरा आत्मा,
२) (च मे अन्तरिक्षम् च मे इन्द्रः) और मेरा अन्तरिक्ष और मेरा आत्मा,
३) (च मे द्यौः च मे इन्द्रः) और मेरा द्यौ और मेरा आत्मा,
४) (च मे समाः च मे इन्द्रः) और मेरे संवत्सर [वर्ष] और मेरा आत्मा,
५) (च मे नक्षत्राणि च मे इन्द्रः) और मेरे नक्षत्र और मेरा आत्मा,
६) (च मे दिशः च मे इन्द्रः) और मेरी दिशाएं और मेरा आत्मा
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें ।

और मेरी पृथिवी और मेरा आत्मा,
और मेरा अन्तरिक्ष और मेरा आत्मा,
और मेरा द्यौ और मेरा आत्मा,
और मेरे संवत्सर और मेरा आत्मा,
और मेरे नक्षत्र और मेरा आत्मा,
और मेरी दिशाएं और मेरा आत्मा,
यज्ञ से कल्प करें ।

९६८ **अंशुश्च मे रश्मिश्च मेदाभ्यश्च मेधिपतिश्च म उपांशुश्च मेन्तर्यामश्चम ऐन्द्रवायवश्च मे मैत्रावरुणश्च म आश्विनश्च मे प्रतिप्रस्थानश्च मे शुक्रश्च मे मन्थी च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।** य १८.१९

अंशुः च मे रश्मिः च मे अ-दाभ्यः च मे अधि-पतिः च मे उप-अंशुः च मे अन्तः-यामः च मे ऐन्द्रवायवः च मे मैत्रावरुणः च मे आश्विनः चमे प्रति-प्र-स्थानः च मे शुक्रः च मे मन्थी च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।

१) (च मे अंशुः च मे रश्मिः) और मेरी चमक और मेरी किरण,
२) (च मे अ-दाभ्यः च मे अधिपतिः) और मेरा उपक्षय-राहित्य और मेरा स्वामी,
३) (च मे उप-अंशुः च मे अन्तः-यामः) और मेरा जप और मेरी अन्तस्साधना,
४) (च मे ऐन्द्रवायवः च मे मैत्रावरुणः) और मेरे आत्मवेग और मेरा सद्भाव,
५) (च मे आश्विनः च मे प्रति-प्र-स्थानः) और मेरा सौर-चान्द्र तेज और मेरा गमनागमन,
६) (च मे शुक्रः च मे मन्थी) और मेरा शुद्धस्वरूप और मेरा मन्थी [मन]
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें ।

और मेरा अंशु और मेरी किरण,
और मेरा अदाभ्य और मेरा स्वामी,
और मेरा जप और मेरी अन्तस्साधना,
और मेरा आत्मवेग और मेरा सद्भाव,
और मेरा तेज और मेरा गमनागमन,
और मेरा शुक्र और मेरा मन्थी
यज्ञ से कल्प करें ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

९६९ आग्रयणश्च वैश्वदेवश्च मे ध्रुवश्च मे वैश्वानरश्च म ऐन्द्राग्नश्च मे महावैश्व-देवश्च मे मरुत्वतीयाश्च मे निष्केवल्यश्च मे सावित्रश्च मे सारस्वतश्च मे पत्नी-वतश्च मे हारियोचनश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । य १८.२०

आग्रयणः च मे वैश्व-देवः च मे ध्रुवः च मे वैश्वानरः च मे ऐन्द्राग्नः च मे महा-वैश्व-देवः च मे मरुत्वतीयाः च मे नि-केवल्यः च मे सावित्रः च मे सारस्वतः च मे पात्नी-वतः च मे हारि-योजनः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।

१) (च मे आग्रयणः च मे वैश्व-देवः) और मेरा प्रथम आहुति देनेवाला होना और मेरा विश्व-देवत्व,

२) (च मे ध्रुवः च मे वैश्वानरः) और मेरा निश्चल [स्वभाव, निर्णय] और मेरा वैश्वा-नर [विश्व-नायकत्व],

३) (च मे ऐन्द्राग्नः च मे महा-वैश्व-देवः) और मेरा आत्म-अग्नित्व और मेरा महा-विश्व-देवत्व,

४) (च मे मरुत्वतीयाः च मे निःकेवल्यः) और मेरे प्राणाचार [प्राण के समान निर्विश्राम, निर्विषय, निर्विकार और निरासक्त होना] और निष्केवल्य [ब्रह्मपरायणत्व],

५) (च मे सावित्र च मे सारस्वतः) और मेरा सावित्र [सविता के गुणों से युक्त होना] और मेरा सारस्वत [सरस्वती, वाणी, विद्या में सिद्ध होना],

६) (च मे पात्नीवतः च मे हारि-योजनः) और मेरा प्रशस्त पत्नीवाला होना और मेरा घोड़ों को [रथ में] जोड़नेवाला होना

(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें ।

और मेरा आग्रयण और मेरा वैश्वदेव,
और मेरा ध्रुव और मेरा वैश्वानर,
और मेरा ऐन्द्राग्न और मेरा महावैश्वदेव,
और मेरा प्राणाचार और मेरा निष्केवल्य,
और मेरा सावित्र और मेरा सारस्वत,
और मेरा पात्नीवत और मेरा हारियोजन
यज्ञ से कल्प करें ।

९७० स्रुचश्च मे चमसाश्च मे वायव्यानि च मे द्रोणकलशश्च मे ग्रावाणश्च मेधिषवणे च मे पूतभृच्च म आधवनीयश्च मे वेदिश्च मे बर्हिश्च मेवभृथश्च मेस्वगाकारश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । य १८.२१

स्रुचः च मे चमसाः च मे वायव्यानि च मे द्रोण-कलशः च मे ग्रावाणः च मे अधि-सवने च मे पूत-भृत् च मे आ-धवनीयः च मे वेदिः च मे बर्हिः च मे अव-भृथः च मे स्व-गा-कारः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।

१) (च मे स्रुचः च मे चमसाः) और मेरा स्रुवा और मेरे चमस,

२) (च मे वायव्यानि च मे द्रोण-कलशः) और मेरे वायव्य [पंखा, सूप, आदि हवा से झलने, फटकने के साधन] और मेरा कलसा,

३) (च मे ग्रावाणः च मे अधि-सवने) और मेरा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शिल-बट्टा और मेरे दो अधि-षवण [रस निकालने के ऊपर नीचे की दो फलक],
४) (च मे पूत-भृत् च मे आ-धवनीयः) और मेरा पूत-धारक और मेरा प्र-क्षालनीय,
५) (च मे वेदिः च मे बर्हिः) और मेरी वेदि और मेरा आसन,
६) (च मे अव-भृथः च मे स्व-गा-कारः) और मेरा यज्ञान्त-स्नान और मेरा आत्म-गमन [लक्ष्य—मोक्ष] की साधक, आत्म-साधना
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

और मेरा स्रुवा और मेरे चमस,
और मेरे वायव्य और मेरा कलसा,
और मेरा शिलबट्टा और मेरे द्विफलक,
और मेरा पूतभृत् और मेरा आधवनीय,
और मेरी वेदि और मेरा आसन,
और मेरा यज्ञान्त-स्नान और मेरा स्वगाकार यज्ञ से कल्प करें।

९७१ **अग्निश्च मे घर्मश्च मेर्कश्च मे सूर्यश्च मे प्राणश्च मेश्वमेधश्च मे पृथिवी च मेदितिश्च मे दितिश्च मे द्यौश्च मेऽङ्गुलयः शक्वरयो दिशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।** य १८.२२

अग्निः च मे घर्मः च मे अर्कः च मे सूर्यः च मे प्राणः च मे अश्व-मेधः च मे पृथिवी च मे अ-दितिः च मे दितिः च मे द्यौः च मे अङ्गुलयः शक्वरयः दिशः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (च मे अग्निः च मे घर्मः) और मेरा पावक और मेरा ताप,
२) (च मे अर्कः च मे सूर्यः) और मेरा किरण और मेरा सूर्य,
३) (च मे प्राणः च मे अश्व-मेधः) और मेरा जीवन और मेरा राष्ट्र,
४) (च मे पृथिवी च मे अ-दितिः) और मेरी भूमि और मेरी वाणी,
५) (च मे दितिः च मे द्यौः) और मेरी खण्ड खण्ड करने की शक्ति और मेरा प्रकाश,
६) (च मे अङ्गुलयः शक्वरयः दिशः) और मेरी अंगुलियां, शक्तियां, दिशाएं
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

और मेरा अग्नि और मेरा ताप,
और मेरा किरण और मेरा सूर्य,
और मेरा जीवन और मेरा राष्ट्र,
और मेरी पृथिवी और मेरी वाणी,
और मेरी दिति और मेरा प्रकाश,
और मेरी अंगुलियां, शक्तियां, दिशाएं यज्ञ से कल्प करें।

९७२ **व्रतं च म ऋतवश्च मे तपश्च मे संवत्सरश्च मेहोरात्रे ऊर्वष्ठीवे बृहद्रथन्तरे च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।** य १८.२३

व्रतम् च मे ऋतवः च मे तपः च मे संवत्सरः च मे अहः-रात्रे ऊरू-अष्ठीवे बृहत्-रथम्-तरे च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (च मे व्रतम् च मे ऋतवः) और मेरा व्रत और मेरे ऋतु,
२) (च मे तपः च मे संवत्सरः) और मेरा तप और मेरा वर्ष,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

३) (च मे अहः-रात्रे ऊरू-अष्ठीवे बृहत्-रथम्-तरे) और मेरे दिन-रात, जंघा-घुटने, दोनों बृहत्-स्थन्तर [जीवनरूप रथ से तरनेवाले मस्तिष्क और हृदय]

(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

और मेरा तप और मेरे ऋतु,
और मेरा तप और मेरा संवत्सर,
और मेरे दिन-रात, जंघा-घुटने,
उभय बृहत्-रथन्तर,
यज्ञ से कल्प करें।

९७३ **एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे पञ्च च मे सप्त च मे सप्त च मे नव च मे नव च म एकादश च म एकादश च मे त्रयोदश च मे त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे पञ्चदश च मे सप्तदश च मे सप्तदश च मे नवदश च मे नवदश च म एकविंशतिश्च म एकविंशतिश्च मे त्रयोविंशतिश्च मे त्रयोविंशतिश्च मे पञ्चविंशतिश्च मे पञ्चविंशतिश्च मे सप्तविंशतिश्च मे सप्तविंशतिश्च मे नवविंशतिश्च मे नवविंशतिश्च म एकत्रिंशच्च म एकत्रिंशच्च मे त्रयस्त्रिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।**

य १८.२४

एका च मे तिस्रः च मे तिस्रः च मे पञ्च च मे पञ्च च मे सप्त च मे सप्त च मे नव च मे नव च मे एकादश च मे एकादश च मे त्रयः-दश च मे त्रयः-दश च मे पञ्च-दश च मे पञ्च-दश च मे सप्त-दश च मे सप्त-दश च मे नव-दश च मे नव दश च मे एक-विंशतिः च मे एक-विंशतिः च मे त्रयः-विंशतिः च मे त्रयः-विंशतिः च मे पञ्च-विंशतिः च मे पञ्च-विंशतिः च मे सप्त-विंशतिः च मे सप्त-विंशतिः च मे नव-विंशतिः च मे नव-विंशतिः च मे एक-त्रिंशत् च मे एक-त्रिंशत् च मे त्रयः-त्रिंशत् च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

यजुर्वेद के चौदहवें अध्याय के मन्त्र संख्या २८, २९, ३०, ३१ में भी इन संख्याओं का उल्लेख है। यजुर्वेद के चौदहवें अध्याय की मद्रचित व्याख्या में उपर्युक्त चारों मन्त्रों की जो व्याख्या की गई है उसी पर आधारित इस मंत्र की संख्याएं हैं।

(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

१) (मे एका च) मेरी एक [आत्म धारणा] भी,

२) (मे तिस्रः च मे तिस्रः च) मेरी तीन [ज्ञान-साधना, कर्मसाधना, उपासना] भी, मेरी तीन [ज्ञानसिद्धि, कर्मसिद्धि, उपासनासिद्धि] भी,

३) (मे पञ्च च मे पञ्च च) मेरी पांच [दृष्टि, श्रुति, सूंघने की शक्ति, रसना, त्वचा] भी, मेरी पांच [देखने की पवित्रता, सुनने की पवित्रता, सूंघने की पवित्रता, स्वाद की पवित्रता, स्पर्श की पवित्रता] भी,

४) (मे सप्त च मे सप्त च) मेरी सात [भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यं व्याहृतियां] भी, मेरी सात [व्याहृतियों की भावनाएं = भूः की भावना सत्, भुवः की भावना चित्, स्वः की भावना आनन्द, महः की भावना महत्ता, जनः की भावना प्रादुर्भवन, तपः की भावना व्याप्ति, सत्यं की भावना अपरिणामिता] भी,

५) (मे नव च मे नव च) मेरी नौ [दो नेत्र, दो

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

श्रोत्र, दो नासिकाछिद्र, मुख, मूत्रावयव, मलावयव इन्द्रियां] भी, मेरी नौ [इन्द्रियों की नौ क्रियाएं] भी,

६) (मे एकादश च मे एकादश च) मेरी ग्यारह [छह ऋतुएं+पांच ऋतुसन्धियां] भी, मेरी ग्यारह [की, प्राप्त ग्यारह सम्पदाएं] भी,

७) (मे त्रयः-दश च मे त्रयः-दश च) मेरी तेरह [बारह महिनों की बारह अवधियां तथा उन पर चढ़ी, संवत्सर की परिधि] भी, मेरी तेरह [बारह मासिक और तेरहवीं सांवत्सरिक उपलब्धियां] भी,

८) (मे पञ्च-दश च मे पञ्च-दश च) मेरी पन्द्रह [पांच प्राणों, पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों की गतियां] भी, मेरी पन्द्रह [पन्द्रहों की पन्द्रह प्रशस्तियां] भी,

९) (मे सप्त-दश च मे सप्त-दश च) मेरी सत्रह [पांच प्राणों, पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों, बुद्धि, मन की साधनाएं] भी, मेरी सत्रह [की सत्रह उपलब्धियां] भी,

१०) (मे नव-दश च मे नव-दश च) मेरी उन्नीस [पांच प्राणों, पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों, बुद्धि, मन, मस्तिष्क, हृदय की प्रगतियां] भी, मेरी उन्नीस [की उन्नीस प्रशस्तियां] भी,

११) (मे एक-विंशतिः च मे एक-विंशतिः च) मेरी एकीस [पांच प्राणों, पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों, बुद्धि, मन, मस्तिष्क, हृदय, चित्त, आत्मा की प्रगतियां] भी, मेरी एकीस [की एकीस प्राप्तियां] भी,

१२) (मे त्रयः-विंशतिः च मे त्रयः-विंशतिः च) मेरी तेईस [हाथ की दस अंगुलियां, दो नेत्र, दो श्रोत्र, दो हाथ, दो पैर, तप, श्रम, चिन्तन, संयम, सद्भाव की सत्साधनाएं] भी, मेरी तेईस [की तेईस उपलब्धियां] भी,

१३) (मे पञ्च-विंशतिः च मे पञ्च-विंशतिः च) मेरी पच्चीस [उपर्युक्त २३+ज्ञान+विज्ञान की साधनाएं] भी, मेरी पच्चीस [की पच्चीस प्रशस्तियां] भी,

१४) (मे सप्त-विंशतिः च मे सप्त-विंशतिः च) मेरी सत्ताईस [उपर्युक्त पच्चीस के साथ, यम-नियम की साधनाएं] भी, मेरी सत्ताईस [की सत्ताईस सिद्धियां] भी,

१५) (मे नव-विंशति च मे नव-विंशतिः च) मेरी उन्तीस [उपर्युक्त सत्ताईसों के साथ [आसन-सिद्धि और प्राणवशीकार की साधनाएं] भी, मेरी उन्तीस [की उन्तीस अभीष्टियां] भी,

१६) (मे एक-त्रिंशत् च मे एक-त्रिंशत् च) मेरी एकतीस [उपर्युक्त उन्तीस, प्रत्याहार, धारणा की साधनाएं] भी, मेरी एकतीस [की एकतीस उपलब्धियां] भी,

१७) (मे त्रयः-त्रिंशत् च) मेरी तेतीस [उपर्युक्त एकतीस के साथ ध्यान, समाधि की साधनाएं] भी [,मेरी तेतीस की तेतीस सिद्धियां भी]।

मेरी एक,
मेरी तीन भी, मेरी तीन भी,
मेरी पांच भी, मेरी पांच भी,
मेरी सात भी, मेरी सात भी,
मेरी नौ भी, मेरी नौ भी,
मेरी ग्यारह भी, मेरी ग्यारह भी,
मेरी तेरह भी, मेरी तेरह भी,
मेरी पन्द्रह भी, मेरी पन्द्रह भी,
मेरी सत्रह भी, मेरी सत्रह भी,
मेरी उन्नीस भी, मेरी उन्नीस भी,
मेरी एकीस भी, मेरी एकीस भी,
मेरी तेईस भी, मेरी तेईस भी,
मेरी पच्चीस भी, मेरी पच्चीस भी,
मेरी सत्ताईस भी, मेरी सत्ताईस भी,
मेरी एकतीस भी, मेरी एकतीस भी,
मेरी तेतीस भी
यज्ञ से कल्प करें।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

६७४ चतस्रश्च मेष्टौ च मेष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे षोडश च मे षोडश च मे विंशतिश्च मे विंशतिश्च मे चतुर्विंशतिश्च मे चतुर्विंशतिश्च मेष्टाविंशतिश्च मेष्टा विंशतिश्च मे द्वात्रिंशच्च मे द्वात्रिंशच्च मे षट्त्रिंशच्च मे षट्त्रिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मेष्टाचत्वारिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । य १८.२५

चतस्रः च मे अष्टौ च मे अष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे षोडश च मे षोडश च मे विंशतिः च मे विंशतिः च मे चतुः-विंशतिः च मे चतुः-विंशतिः च मे अष्टा-विंशतिः च मे अष्टा-विंशतिः च मे द्वा-त्रिंशत् च मे द्वा-त्रिंशत् च मे षट्-त्रिंशत् च मे षट्-त्रिंशत् च मे चत्वारिंशत् च मे चत्वारिंशत् च मे चतुः-चत्वारिंशत् च मे चतुः-चत्वारिंशत् च मे अष्टा-चत्वारिंशत् च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।

१) (मे चतस्रः च मे अष्टौ च) मेरी चार[-वर्षावस्था] भी, मेरी आठ[-वर्षावस्था] भी,

२) (मे अष्टौ च मे द्वादश च) मेरी आठ[-वर्षावस्था] भी, मेरी बारह[-वर्षावस्था] भी,

३) (मे द्वादश च मे षोडश च) मेरी बारह[-वर्षावस्था] भी, सोलह[-वर्षावस्था] भी,

४) (मे षोडश च मे विंशतिः च) मेरी सोलह [-वर्षावस्था] भी, मेरी बीस[-वर्षावस्था] भी,

५) (मे विंशतिः च मे चतुः-विंशतिः च) मेरी बीस[-वर्षावस्था] भी, मेरी चौबीस[-वर्षावस्था] भी,

६) (मे चतुः-विंशतिः च मे अष्टा-विंशतिः च)मेरी चौबीस[-वर्षावस्था] भी, मेरी अठाईस[-वर्षावस्था] भी,

७) (मे अष्टा-विंशतिः च मे द्वा-त्रिंशत् च) मेरी अठाईस[-वर्षावस्था] भी, मेरी बत्तीस[-वर्षावस्था] भी,

८) (मे द्वा-त्रिंशत् च मे षट्-त्रिंशत् च) मेरी बत्तीस[-वर्षावस्था] भी, मेरी छत्तीस[-वर्षावस्था] भी,

९) (मे षट्-त्रिंशत् च मे चत्वारिंशत् च) मेरी छत्तीस[-वर्षावस्था] भी, मेरी चालीस[-वर्षावस्था] भी,

१०) (मे चत्वारिंशत् च मे चतुः-चत्वारिंशत् च) मेरी चालीस[-वर्षावस्था] भी, मेरी चवालीस [-वर्षावस्था] भी,

११) (मे चतुःचत्वारिंशत् च मे अष्टा-चत्वारिंशत् च) मेरी चवालीस[-वर्षावस्था] भी, मेरी अड़तालीस[-वर्षावस्था] भी

(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] कल्पन्ताम् कल्प करें ।

इस मन्त्र में चार चार वर्ष के पर्व के साथ अड़तालीस वर्ष तक शरीरविकास का क्रम है । अड़तालीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य साधनेवाले को 'आदित्य ब्रह्मचारी' संज्ञा दी गई है । शरीरविकास-क्रम में चार चार वर्ष के बारह पर्व होते हैं । अड़तालीस वर्ष के बाद शरीर में क्षीणता का क्रम आरम्भ होता है । अड़तालीस वर्ष तक मानवजीवन का आयु-आरोहण अथ वा उदययुग होता है ।

उनञ्चासवें वर्ष से जीवन में आयु-अवरोहण अथ वा अस्तयुग आरम्भ होता है । उसके भी चार चार वर्ष के तेरह पर्व होते हैं । १२ आरोहण-पर्व [४८ वर्ष] और तेरह अवरोहण-पर्व [५२ वर्ष] मिलकर १०० वर्ष होते हैं । आश्रम-व्यवस्था

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

से १०० वर्षों को पच्चीस पच्चीस वर्षों के चार पर्वों में विभक्त किया गया है; ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रमों के पच्चास वर्ष इधर, और वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों के पच्चास वर्ष उधर। चढ़ती आयु के पच्चास वर्ष प्रथम दो आश्रमों के लिए और उतरती आयु के पच्चास वर्ष अन्तिम दो आश्रमों के लिए।

मन्त्र में आयु-आरोहण के अड़तालीस वर्षों का उल्लेख है।

मेरी चार भी, मेरी आठ भी,
मेरी आठ भी, मेरी बारह भी,
मेरी बारह भी, मेरी सोलह भी,
मेरी सोलह भी, मेरी बीस भी,
मेरी बीस भी, मेरी चौबीस भी,
मेरी चौबीस भी, मेरी अट्ठाईस भी,
मेरी अट्ठाईस भी, मेरी बत्तीस भी,
मेरी बत्तीस भी, मेरी छत्तीस भी,
मेरी छत्तीस भी, मेरी चालीस भी,
मेरी चालीस भी, मेरी चवालीस भी,
मेरी चवालीस भी, मेरी अड़तालीस भी
यज्ञ से कल्प करें।

९७५ **त्र्यविश्च मे त्र्यवी च मे दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे पञ्चाविश्च मे पञ्चावी च मे त्रिवत्सश्च मे त्रिवत्सा च मे तुर्यवाट् च मे तुर्यौही च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।**

य १८.२६

त्रिलोकरत्न

त्रि-अविः च मे त्रि-अवी च मे दित्य-वाट् च मे दित्यौही च मे पञ्च-अविः च मे पञ्च-अवी च मे त्रि-वत्सः च मे त्रि-वत्सा च मे तुर्य-वाट् च मे तुर्यौही च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (च मे त्रि-अविः च मे त्रि-अवी) और मेरा त्रि-भेड़ और मेरी त्रि-भेड़ी,
२) (च मे दित्य-वाट् च मे दित्यौही) और मेरा दित्य-वाट् और मेरी दित्यौही,
३) (च मे पञ्च-अविः च मे पञ्च-अवी) और मेरा पञ्च-भेड़ और मेरी पञ्च-भेड़ी,
४) (च मे त्रि-वत्सः च मे त्रि-वत्सा) और मेरा त्रि-वत्स और मेरी त्रि-वत्सा,
५) (च मे तुर्य-वाट् च मे तुर्यौही) और मेरा तुर्य-वाट् और मेरी तुर्यौही

(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

तीन प्रकार की भेड़ें हों जिसके पास उस गड़रिये की संज्ञा त्रि-अवि है। तीन प्रकार की भेड़ें हों जिसके पास उस गड़रिनी की संज्ञा त्रि-अवी है।

दो वर्ष की आयु के वृष की संज्ञा दित्य-वाट् है, और दो वर्ष की आयु की गौ की संज्ञा दित्यौही है।

पांच प्रकार की भेड़ें हों जिसके पास उस गड़रिये की संज्ञा पञ्च-अवि है। पांच प्रकार की भेड़ें हों जिसके पास उस गड़रिनी की संज्ञा पञ्च-अवी है।

तीन बछड़ोंवाले गोपाल की संज्ञा त्रि-वत्स है। तीन बछड़ोंवाली गोपी की संज्ञा त्रि-वत्सा है। तीन पुत्रों का पिता भी त्रि-वत्स है, और तीन पुत्रों की माता भी त्रि-वत्सा है।

चार वर्ष के बैल का नाम तुर्य-वाट् है, और चार वर्ष की गौ का नाम तुर्यौही है।

और मेरा त्रि-अवि और मेरी त्रि-अवी,
और मेरा दित्य-वाट् और मेरी दित्यौही,
और मेरा पञ्च-अवि और मेरी पञ्च-अवी,
और मेरा त्रि-वत्स और मेरी त्रि-वत्सा,
और मेरा तुर्य-वाट् और मेरी तुर्यौही
यज्ञ से कल्प करें।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

९७६ **पष्ठवाट् च मे पष्ठौही च म उक्षा च मे वशा च म ऋषभश्च मे वेहच्च मेनड्-वाँश्च मे धेनुश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।** य १८.२७

पष्ठ-वाट् च मे पष्ठौही च मे उक्षा च मे वशा च मे ऋषभः च मे वेहत् च मे अनड्वान च मे धेनुः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (च मे पष्ठ-वाट् च मे पष्ठौही) और मेरा भार-वाही [ऊंट, बैल, घोड़ा, हाथी] और मेरी भार-वाहिनी [ऊंटनी, घोड़ी, हथिनी],

२) (च मे उक्षा च मे वशा) और मेरा सांड और मेरी अवत्सा गाय,

३) (च मे ऋषभः च मे वेहत्) और मेरा सांड और मेरी अगर्भवती गौ,

४) (च मे अनड्वान् च मे धेनुः) और मेरा [गाड़ी में जुड़कर बोझा ढोनेवाला] बैल और मेरी दुधार गौ

(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

और मेरा भारवाही और मेरी भारवाहिनी,
और मेरा उक्षा और मेरी वशा,
और मेरा सांड और मेरी अगर्भा गाय,
और मेरा अनड्वान् और मेरी धेनु
यज्ञ से कल्प करें।

९७७ **वाजाय स्वाहा प्रसवाय स्वाहापिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा वसवे स्वाहाहर्पतये स्वाहाह्ने मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनंशिनाय स्वाहा विनंशिन आन्त्यायनाय स्वाहान्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाधिपतये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा। इयं ते राण्मित्राय यन्तासि यमन ऊर्जे त्वा वृष्टयै त्वा प्रजानां त्वाधिपत्याय।** य १८.२८

[य २२.३२]

वाजाय स्वाहा प्र-सवाय स्वाहा अपिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा वसवे स्वाहा अहः-पतये स्वाहा अह्ने मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनंशिनाय स्वाहा विनंशिने आन्त्यायनाय स्वाहा आन्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहा अधि-पतये स्वाहा प्र-जा-पतये स्वाहा। इयम् ते राट् मित्राय यन्ता असि यमनः ऊर्जे त्वा वृष्टयै त्वा प्र-जानाम् त्वा आधि-पत्याय।

कृत कल्प राष्ट्र का सर्वस्व

१) (स्वाहा) सुहुत हो (वाजाय) वाज के लिए, ज्योति और शक्ति के आश्रय से संग्राम संग्राम में विजयसम्पादन के लिए।

२) (स्वाहा) सुहुत हो (प्र-सवाय) प्र-सव के लिए, प्र-जनन के लिए।

जच्चा और बच्चा के सुस्वास्थ्य की दृष्टि से यह परम आवश्यक है कि राष्ट्रीय स्तर पर जापों की सुव्यवस्था की जाए। प्रत्येक माता पूर्ण सुविधा और सुरक्षा के साथ अपने शिशु को जन्म देवे, प्रत्येक राष्ट्र ऐसे सुशोभन प्रसूति-गृहों का निर्माण करे।

३) (स्वाहा) सुहुत हो (अपिजाय) प्रसिद्धि के लिए।

प्रसिद्धि, ख्याति, कीर्ति, साख किसी भी राष्ट्र की सच्ची प्रतिष्ठा है। उसके लिए कितना भी त्याग किया जाए, थोड़ा है।

४) (स्वाहा) सुहुत हो (क्रतवे) कर्तृत्व के लिए, कर्मकुशलता के लिए, कर्तव्यपालन की शिक्षा के लिए।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

५) (स्वाहा) सुहुत हो (वसवे) निवास के लिए, बसावट के लिए।

नागरिकों के आवास की व्यवस्था राष्ट्रीय स्तर पर होनी ही चाहिए।

६) (स्वाहा) सुहुत हो (अहः-पतये) दिन-पति [सूर्य] के लिए।

सूर्य का प्रकाश और उसकी ऊर्जा का उपयोग सभी आवासों में सुलभ हो, ऐसी आवासीय व्यवस्था राष्ट्र के विज्ञान-विभाग की ओर से हो।

७) (स्वाहा) सुहुत हो (मुग्धाय अह्ने) मूढ़ दिन के लिए।

बेकारी में जो दिन बीतता है उसकी संज्ञा मुग्ध दिन है। बेकारी में दिन बितानेवाले प्रजा-समूह को रोज़गार दिलाने में राष्ट्रीय आय का सदव्यय हो।

८) (स्वाहा) सुहुत हो (वैनंशिनाय मुग्धाय) विनाशोन्मुख मुग्ध के लिए।

मूढ़ता से ग्रस्त जो मानवसमूह व्यर्थ व्यासंगों में अपना जीवन नष्ट करता है उसके सुधार में राष्ट्र के साधनोपाय काम में लाए जाएं।

९) (स्वाहा) सुहुत हो (विनंशिने आन्त्यायनाय) विनाशोन्मुख आन्त्यायन के लिए।

विनाश के अन्तिम छोर पर पहुंचे हुए व्यसनी-विलासियों को विवेकी बनाकर सुपथ पर चलाने की राष्ट्रीय व्यवस्था होनी चाहिए।

१०) (स्वाहा) सुहुत हो (आन्त्याय भौवनाय) निम्नतम उच्चतम के लिए।

सामाजिक जीवन में जो निम्नतम स्तर पर हैं उन्हें उच्चतम स्तर पर पहुंचने के अवसर और साधन प्राप्त कराना राष्ट्र का कर्तव्य है।

११) (स्वाहा) सुहुत हो (भुवनस्य पतये) भुवन के पति के लिए।

भुवन नाम पृथिवी और स्वर्ग का है। जो पृथिवी को स्वर्ग [सुखधाम] बनाने की साध में संलग्न हो उसे भुवन का पति कहा गया है। ऐसे मानव को सब साधन और सुविधाएं प्रदान की जानी चाहिएं।

१२) (स्वाहा) सुहुत हो (अधि-पतये) शासक [शासन] के लिए।

शासन का बजट आर्थिक तथा शासनिक दृष्टि से पर्याप्त उदार होना चाहिए।

१३) (स्वाहा) सुहुत हो (प्र-जा-पतये) प्र-जा के रक्षक [पुलिस]-विभाग के लिए।

पुलिस-विभाग एक अतिशय महत्त्वपूर्ण विभाग है। उसका मुख्य कर्तव्य प्रजा के सम्मान, सम्पत्ति और जीवन की रक्षा करना है। अतः राष्ट्र द्वारा उसका सम्यक् पोषण होना ही चाहिए।

१४) (ते) तेरी, तुझ राष्ट्र की (इयम्) यह [स्वाहा-कृति] (राट्) रंजित, प्रकाशित रहे।

१५) तू [राष्ट्र] (मित्र) वफ़ादार के लिए (असि) है (यमनः यन्ता) नियामक, वशयिता।

वफ़ादार नागरिक भी अनियन्त्रित और उच्छृंखल न रहने पाएं, राष्ट्र की ऐसी नियामक और वशीकारमयी व्यवस्था हो।

१६) हम नागरिक (त्वा) तुझे, तुझ राष्ट्र को (ऊर्जे) समृद्धि के लिए, (त्वा) तुझे, तुझ राष्ट्र को (वृष्टयै) वृष्टि के लिए, सुख-सौभाग्य के बाहुल्य के लिए, (त्वा) तुझे, तुझ राष्ट्र को (प्र-जानाम् आधि-पत्याय) प्र-जाओं के शासन के लिए, प्रजाओं के प्रशस्तीकरण के लिए [प्रतिष्ठित करते हैं]।

वाज के लिए स्वाहा, प्रसव के लिए स्वाहा,
ख्याति के लिए स्वाहा, क्रतु के लिए स्वाहा,
वसु के लिए स्वाहा, दिनपति के लिए स्वाहा,
मुग्ध दिन के लिए स्वाहा,
विनाशोन्मुख मुग्ध के लिए स्वाहा,
विनाशोन्मुख आन्त्यायन के लिए स्वाहा,
निम्नतम उच्चतम के लिए स्वाहा,
भुवन के पति के लिए स्वाहा,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अधिपति के लिए स्वाहा, प्रजापति के लिए स्वाहा।
तेरी यह स्वाहाकृति राट्,
तू है मित्र के लिए नियामक यन्ता,
तुझे समृद्धि के लिए, तुझे वृष्टि के लिए,
तुझे प्रजाओं के आधि-पत्य के लिए।

९७८ **आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग् यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पतां स्वर्यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। स्तोमश्च यजुश्च ऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरं च। स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम प्रजापतेः प्रजा अभूम वेट् स्वाहा।**

य १८.२९

[य ९.२१,२२.३३]

आयुः यज्ञेन कल्पताम् प्र-आन-यज्ञेन कल्पताम् चक्षुः यज्ञेन कल्पताम् श्रोत्रम् यज्ञेन कल्पताम् वाक् यज्ञेन कल्पताम् मनः यज्ञेन कल्पताम् आत्मा यज्ञेन कल्पताम् ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताम् ज्योतिः यज्ञेन कल्पताम् स्वः यज्ञेन कल्पताम् पृष्ठम् यज्ञेन कल्पताम् यज्ञः यज्ञेन कल्पताम्। स्तोमः च यजुः च ऋक् च साम च बृहत् च रथम्-तरम् च। स्वः देवाः अगन्म अ-मृताः अभूम प्र-जा-पतेः प्र-जाः अभूम वेट् स्वाहा।

कृतकल्प राष्ट्र का राष्ट्रपति राजा, प्रत्येक सचिव, प्रत्येक राजपुरुष राष्ट्रनिष्ठा की शपथ ग्रहण करता हुआ कहता है,

१) मेरा (आयुः) आयु (यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पताम्) कल्प करे।

यज्ञ शब्द का प्रयोग इस मन्त्र में उसी अर्थ और आशय में हुआ है जैसा इसी अध्याय के प्रथम मन्त्र की व्याख्या में।

२) मेरा (प्र-आनः) प्राण (यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पताम्) कल्प करे।

३) मेरा (चक्षुः) नेत्र (यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पताम्) कल्प करे।

४) मेरा (श्रोत्रम्) कान (यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पताम्) कल्प करे।

५) मेरी (वाक्) वाणी (यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पताम्) कल्प करे।

६) मेरा (मनः) मन (यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पताम्) कल्प करे।

७) मेरा (आत्मा) आत्मा (यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पताम्) कल्प करे।

८) मेरा (ब्रह्मा) रचयिता, परमेश्वर (यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पताम्) कल्प करे।

९) मेरी (ज्योतिः) ज्योति (यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पताम्) कल्प करे।

१०) मेरा (स्वः) सुख, सौभाग्य, आनन्द (यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पताम्) कल्प करे।

११) मेरा (पृष्ठम्) पीठ (यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पताम्) कल्प करे।

१२) मेरा (यज्ञः) यज्ञ—शुभानुष्ठान (यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पताम्) कल्प करे।

१३) मेरा (स्तोमः च) स्तुतिमय अथर्ववेद भी, (यजुः च) यजुर्वेद भी, (ऋक् च) ऋग्वेद भी, (साम च) सामवेद भी, (बृहत् च) सवन भी, (रथम्-तरम् च)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जीवनोत्कर्ष भी, जीवनरथ का उत्तरण भी [यज्ञ से राष्ट्र और विश्व का कल्प करे]।

और अब राष्ट्र के समग्र नागरिक कहते हैं, (देवाः) देवो! दिव्य राजपुरुषो! तुम्हारी राष्ट्र-साधना से हम (स्वः अगन्म) सुखानन्द को प्राप्त हुए हों, (अमृताः अभूम) अमृतमय हुए हों, (प्र-जा-पतेः प्र-जाः अभूम) परमेश्वर की प्र-जा होगए हों, सर्वत्र (वेट्) उत्तम, शुभ [हो], सबमें (स्वाहा) बलिदान की भावना हो।

आयु यज्ञ से कल्प करे, प्राण यज्ञ से कल्प करे,
चक्षु यज्ञ से कल्प करे, कान यज्ञ से कल्प करे,
वाणी यज्ञ से कल्प करे, मन यज्ञ से कल्प करे,
आत्मा यज्ञ से कल्प करे, ब्रह्मा यज्ञ से कल्प करे,
ज्योति यज्ञ से कल्प करे, आनन्द यज्ञ से कल्प करे,
पृष्ठ यज्ञ से कल्प करे, यज्ञ यज्ञ से कल्प करे।
स्तोम भी, यजुः भी, ऋक् भी, साम भी,
बृहत् भी, रथन्तर भी।
देवो! हम प्राप्त हुए हों सुखानन्द को,
हम होगए हों अमृतमय,
प्रजापति की प्रजा होगए हों।
शुभ, स्वाहा।

९७९ **वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे।**
यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश तस्यां नो देवः सविता धर्म साविषत्।
[य ९.५, अ ७.६.४] य १८.३०

वाजस्य नु प्र-सवे मातरम् महीम् अ-दितिम् नाम वचसा करामहे। यस्याम् इदम् विश्वम् भुवनम् आ-विवेश तस्याम् नः देवः सविता धर्म साविषत्।

आदर्श राष्ट्र के आदर्श नागरिक कहे चले जारहे हैं,

१) हम वेट् और स्वाहा के, शुभ और बलिदान के (वाजस्य) संग्राम के (प्र-सवे) प्र-सवन में, सुसम्पादन में, (नु) अवश्य ही, (महीम् अ-दितिम् मातरम्) सर्वव्यापिनी, अखण्डिता माता को/का (वचसा नाम करामहे) वाणी से नाम करें [लें], (यस्याम्) जिस [मही अदिति माता] में (इदम् विश्वम् भुवनम्) वह अखिल भुवन (आ-विवेश) आ-विष्ट [प्रविष्ट] हुआ हुआ है।

परमेश्वरी माता ही वह मही और अखण्डिता माता है जिसमें यह विश्व भुवन, यह सारी सृष्टि समाई हुई है। राष्ट्र और विश्व के सब शुभ और स्वाहाकारी वाज [ज्योति और शक्ति के आश्रय से लड़े जानेवाले संग्राम] उस माता का नाम लेते हुए ही किए जाने हैं। उसका नाम लेते रहें, संग्राम करते रहें। ऐसा करने से ही सुनागरिकों के शुभ संग्राम सुपरिणामकारी होंगे।

२) (तस्याम्) उस[अदिति माता]में (देवः सविता) देव सविता (नः) हमें (धर्म साविषत्) धर्म सेवन कराए।

देव सविता प्रयोग यहां मानवजीवन के प्रेरक आत्म-देव के लिए हुआ है। धर्म से तात्पर्य मानव-धर्म अथ वा मानवता से है। आत्मना परमेश्वरी माता में समाहित रहकर संग्रामरत रहने से ही सुनागरिक मानवधर्म का निर्वहन और मानवता का मान कर पाते हैं।

अवश्य, वाज के प्रसव में हम
वाणी से लें नाम मही अदिति माता का,
जिसमें यह सब भुवन स्थित है।
उसमें सेवन धर्म कराए
हमें देव सविता नितराम्।
सूक्ति : नो देवः सविता धर्म साविषत्।
हमें देव सविता धर्म सेवन कराए।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

६८० **विश्वे अद्य मरुतो विश्व ऊती विश्वे भवन्त्वग्नयः समिद्धाः ।**
विश्वे नो देवा अवसा गमन्तु विश्वमस्तु द्रविणं वाजो अस्मे ।

[ऋ १०.३५.१३, य ३३.५२] य १८.३१

विश्वे अद्य मरुतः विश्वे ऊती विश्वे भवन्तु अग्नयः सम्-इद्धाः । विश्वे नः देवाः अवसा आ गमन्तु विश्वम् अस्तु द्रविणम् वाजः अस्मे ।

१) (अद्य) आज (ऊती=ऊत्यै) रक्षार्थ (विश्वे मरुतः) समस्त वीर, (विश्वे अग्नयः) सब ज्ञानी, (विश्वे) सभी (सम्-इद्धाः) सम्यक् प्रदीप्त (भवन्तु) हों ।

वीर और ज्ञानी [विद्वान्], ये दो वर्ग ही हैं जो राष्ट्र की सम्यक् रक्षा और समृद्धि सम्पादन करते हैं । वीर क्षत्र हैं । विद्वान् ब्रह्म हैं । क्षत्र जहां देश की सीमाओं की रक्षा करता है, वहां ब्रह्म राष्ट्र में ज्ञान, विज्ञान का विकास करके देश और राष्ट्र की दर्शनीयता तथा समृद्धि का संवर्धन करता है ।

२) (विश्वे देवाः) सारी दिव्यताएं (अवसा) कान्ति के साथ (नः) हमारे लिए, हम नागरिकों के प्रति (आ गमन्तु) आएं, चली आएं ।

वीर और विद्वान् जहां होते हैं वहां सारी दिव्यताएं सभी नागरिकों को सम्प्राप्त होती ही हैं ।

३) (द्रविणम् वाजः) धनैश्वर्य और वाज [ज्योति और शक्ति], (विश्वम्) सब कुछ (अस्मे अस्तु) हमारे लिए हो ।

वीरों और विद्वानों की सुव्यवस्था तथा संरक्षा में धन और वाज नागरिकों को भर-पूर प्राप्त रहते हैं ।

आज सुरक्षार्थ सारे वीर, सारे ज्ञानी,
सभी हों सुप्रदीप्त ।
सभी दिव्यताएं चली आएं
हमारे प्रति कान्ति के साथ ।
धन और वाज, सभी कुछ
हो हमारे लिए ।

६८१ **वाजो नः सप्त प्रदिशश्चतस्रो वा परावतः । वाजो नो विश्वैर्देवैर्धनसाताविहावतु ।**

य १८.३२

वाजः नः सप्त प्र-दिशः चतस्रः वा परा-वतः । वाजः नः विश्वैः देवैः धन-सातौ इह अवतु ।

१) (नः) हमारा (सप्त) सर्पणशील, व्यापनशील (वाजः) संग्राम (चतस्रः प्र-दिशः) चारों प्र-दिशाओं को (वा) अथ वा (परा-वतः) दूर तक, सर्वत्र [राष्ट्र और विश्व का कल्प करे] ।

वाज नाम उस संग्राम का है जो ज्योति [ज्ञान, संज्ञान, विवेक] और शक्ति [आत्मसंबल] के आश्रय से किए जाते हैं, पशुबल और विध्वंसक शस्त्रों से नहीं । ऐसे वाज ही राष्ट्र और संसार में सर्वत्र कल्प करने में समर्थ और सफल होते हैं ।

२) (नः वाजः) हमारा संग्राम (विश्वैः देवैः) समस्त दिव्यताओं के साथ (धन-सातौ) धनों के विभाग में, ऐश्वर्यों के वितरण में (इह) यहां, संसार में, पृथिवी पर [सबके सुख, सुविधा, सौभाग्य की] (अवतु) रक्षा करे ।

ज्योति और आत्मसंबल के आश्रय से जो संग्राम किए जाते हैं वे जहां समस्त दिव्यताओं, समस्त मानवीय भद्रताओं से अलंकृत होते हैं, वहां वे मानवजाति का शोषण करनेवाले न होकर संसार

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

में सर्वत्र सबके लिए धन, ऐश्वर्य, सुख, सुविधा और सौभाग्य का वितरण करके सबका पोषण करनेवाले होते हैं। समुज्ज्वल राष्ट्र के समुज्ज्वल नागरिकों में सर्वशोषण की भावना न होकर सर्वपोषण की भावना होती है। न वे आपस में एक दूसरे के शोषण का विचार करते हैं न अन्य राष्ट्रों के नागरिकों के शोषण का। वे सदा आपस में एक दूसरे का पोषण करें और, साथ ही, अन्य राष्ट्रों में पारस्परिक पोषण की भावना जगाएं।

हमारा सर्पणशील वाज करे कल्प
चारों दिशाओं को अथ वा दूर तक।
वाज हमारा, समस्त दिव्यताओं के साथ,
यहां रक्षा करे धनों के वितरण में।

९८२ **वाजो नो अद्य प्र सुवाति दानं वाजो देवाँ ऋतुभिः कल्पयाति।**
वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयम्। य १८.३३

वाजः नः अद्य प्र सुवाति दानम् वाजः देवान् ऋतु-भिः कल्पयाति।
वाजः हि मा सर्व-वीरम् जजान विश्वाः आ-शाः वाज-पतिः जयेयम्।

(अद्य) आज (नः वाजः) हमारा वाज (दानम् प्र सुवाति) दान प्र-प्रेर रहा है, हमारा (वाजः) वाज (ऋतु-भिः देवान् कल्पयाति) ऋतुओं द्वारा देवों को/का कल्प कर रहा है।

आदर्श राष्ट्र के आदर्श नागरिक ज्योति और शक्ति के आश्रय से जब जो संग्राम करते हैं उसमें दान की भावना निहित होती है। वे स्वराष्ट्र को भी और अन्य राष्ट्रों को भी भौतिक देनों के साथ साथ ज्ञान, विज्ञान, धर्म, संस्कृति, सभ्यता, सुविचार, सदाचार की दैवी देनें भी देते हैं। वे सदा सब मानवदेवों का यथा-ऋतु, यथावसर कायाकल्प [जीवननिर्माण] भी करते हैं।

और अब आदर्श नागरिकों का आदर्श राष्ट्र स्वयं बोल रहा है,

१) मेरे आदर्श नागरिकों के (वाजः हि) वाज ने ही (मा) मुझे, मुझ राष्ट्र को (सर्व-वीरम् जजान) सर्व-वीर प्रकट किया है, सर्व वीरों और वीरताओं से सुयुक्त करके दिखाया है।

सुनागरिकों का ज्योतिर्मय और शक्ति-सम्पन्न संग्राम ही राष्ट्र को सर्ववीर बनाता है।

२) (वाज-पतिः) वाजों का पति मैं (विश्वाः आ-शाः) समस्त आ-शाओं और दिशाओं को (जयेयम्) विजय करूं।

जिस राष्ट्र के नागरिक सकल जीवनसंग्रामों को ज्योति और शक्ति के संयोग से सम्पादन करते हैं वही राष्ट्र वाजपति के पद को प्रतिष्ठित करता है, वही राष्ट्र वाजों का वाजपति बनता है, वही राष्ट्र सब दिशाओं में सबकी आशाओं को पूरी करके विजयी बनता है।

आज हमारा वाज दान प्रप्रेर रहा है,
ऋतुओं द्वारा वाज देवों को कल्प रहा है।
वाज ने ही प्रकट किया है मुझे सर्ववीर।
वाजपति मैं विजय करूं सब आशाएं,
सब दिशाएं।

सूक्ति : **सर्वा आशा वाजपतिर्जयेयम्।**
संघर्षशील मैं सब दिशाओं को विजय करूं।

९८३ **वाजः पुरस्तादुत मध्यतो नो वाजो देवान् हविषा वर्धयाति।**
वाजो हि मा सर्ववीरं चकार सर्वा आशा वाजपतिर्भवेयम्। य १८.३४

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वाजः पुरस्तात् उत मध्यतः नः वाजः देवान् हविषा वर्धयाति।
वाजः हि मा सर्व-वीरम् चकार सर्वाः आ-शाः वाज-पतिः भवेयम्।

(वाजः) वाज, (नः) हमारा, हम नागरिकों का (वाजः) वाज (देवान्) मानवदेवों को (पुरस्तात्) सामने से, प्रत्यक्ष (उत मध्यतः) और मध्य से (हविषा वर्धयाति) हवि से बढ़ा रहा है।

मध्यतः से तात्पर्य यहां भीतरी भरपूरता से है। जहां ज्योति और शक्ति के आश्रय से संग्राम किए जाते हैं वहां जिधर देखिए उधर ही सब प्रकार की हवियां, सब प्रकार के प्रिय और पवित्र पदार्थ, सब प्रकार की शुद्ध सम्पदाएं भर-पूर भरी दिखाई पड़ती हैं; वहां सभी नागरिकदेव पावन हवियों से हविष्मान् होरहे होते हैं।

और अब राष्ट्र बोलता है,

१) आदर्श नागरिकों के (वाजः हि) वाज ने ही (मा) मुझे, मुझ राष्ट्र को (सर्व-वीरम् चकार) सर्व-वीर बनाया है, सर्व वीरों और वीरताओं से सम्पन्न किया है।

सुनागरिकों के ज्योति-शक्तिसम्पन्न संग्राम ही राष्ट्रों को सर्ववीर बनाते हैं।

२) (वाज-पतिः) वाजों का स्वामी मैं (सर्वाः आ-शाः) समस्त आशाओं और दिशाओं को (भवेयम्) व्याप जाऊं।

जिस राष्ट्र के नागरिक सब प्रकार के राष्ट्रीय संग्रामों को ज्योति और शक्ति के संयोग से सम्पादन करते हैं वही राष्ट्र वाजों का वाजपति कहाता है, वही राष्ट्र वाजों का वाजपति बनता है, वही राष्ट्र सब दिशाओं में व्यापकर सबकी आशाओं की पूर्ति करता है।

वाज, हमारा वाज देवों को
सामने से और मध्यतः
हवि से बढ़ा रहा है।
वाज ने ही बनाया है मुझे सर्ववीर।
वाजपति मैं व्याप जाऊं सब आशाओं/दिशाओं को।

सूक्ति : **वाजो हि मा सर्ववीरं चकार।**
संघर्ष ने ही मुझे सर्ववीर बनाया है।
सर्वा आशा वाजपतिर्भवेयम्।
संघर्षशील मैं सब दिशाओं को व्याप जाऊं।

९८४ **सं मा सृजामि पयसा पृथिव्याः सं मा सृजाम्यद्भिरोषधीभिः।**
सोमं वाजं सनेयमग्ने। य १८.३५
सम् मा सृजामि पयसा पृथिव्याः सम् मा सृजामि अत्-भिः ओषधीभिः। सः अहम् वाजम् सनेयम् अग्ने।

प्रत्येक नागरिक व्यक्तिशः विनय करता है,

१) मैं (मा) मुझको, अपने आपको (सम् सृजामि) सं-सर्जता हूं, सम्यक् रचता [पुष्ट करता] हूं (पृथिव्याः पयसा) पृथिवी के रस से।

२) मैं (मा) अपने आपको (सम् सृजामि) सम्यक् पोषता हूं (अत्-भिः ओषधीभिः) जलों से, ओषधियों से।

३) (अग्ने) प्रकाशस्वरूप देव ! परम पावन प्रभो ! (सः अहम्) वह मैं (वाजम्) वाज को, ज्योति-शक्ति-सम्पन्न संग्राम को (सनेयम्) सेवूं, सेवन करूं, निष्ठा-पूर्वक सम्पादन करूं।

राष्ट्रपति राजा से लेकर निम्नतम स्थिति में स्थित नागरिक तक, सब समान रूप से, अपने पितृ-राष्ट्र के नागरिक और अपनी मातृभूमि के पुत्र-पुत्री हैं। प्रत्येक नागरिक-नागरिका को चाहिए कि वह सदैव यह अनुभव करे कि 'मैं अपने राष्ट्र और देश

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

का ऋणी हूं। राष्ट्र की विविध सेवाओं से मैं उपकृत होता हूं। पृथिवी से उत्पन्न सरस [स्वादिष्ट] पदार्थों से, उसके जलों और ओषधियों से मैं परिपुष्ट होता हूं। मुझे चाहिए कि मैं अपनी सम्पूर्ण ज्योति और शक्ति से उसकी समुन्नति तथा समृद्धि के लिए श्रममय संघर्ष करूं।'

मैं अपने को संसर्जता हूं पृथिवी के रस से,
मैं अपने को पुष्ट करता हूं जलों से, ओषधियों से।
वह मैं सेवन करूं वाज को, अग्ने !
सूक्ति : **सोहं वाजं सनेयम्।**
वह मैं संघर्ष सेवन करूं।

९८५ **पयः पृथिव्यां पय ओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे पयो धाः।**
पयस्वतीः प्रदिशः सन्तु मह्यम्। य १८.३६
पयः पृथिव्याम् पयः ओषधीषु पयः दिवि अन्तरिक्षे पयः धाः। पयः-वतीः प्र-दिशः सन्तु मह्यम्।

प्रत्येक आदर्श नागरिक अपने आदर्श राष्ट्र के प्रति कहता है,

१) (धाः) धारण [स्थापन, सम्पादन] कर (पयः पृथिव्याम्) रस पृथिवी पर, (पयः ओषधीषु) रस ओषधियों में, (पयः दिवि) रस द्युलोक में, (पयः अन्तरिक्षे) रस अन्तरिक्ष में।

एक आदर्श राष्ट्र अपनी मातृभूमि के चप्पे चप्पे को रस से आ-पूर, और सरसता से भर-पूर रखता है। रस से तात्पर्य प्रियता तथा सुरोचकता से है। शासन तथा नागरिकों का पूरा प्रयास और पूर्ण परिश्रम इस दिशा में हो कि उनके राष्ट्र की भूमि और उनकी भूमि पर उगी ओषधियां, फलवती वनस्पतियां तथा अन्न की फसलें रसमयी और स्वादिष्ठ हों; उनकी भूमि के ऊपर का द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक भी सुहावना प्रतीत हो। भूमि जब सुखदा और सुफला होती है तो द्यौ और अन्तरिक्ष भी सुहावने प्रतीत होते हैं।

२) (मह्यम्) मेरे लिए, नागरिक नागरिक के लिए (प्र-दिशः पयः-वतीः सन्तु) प्र-दिशाएं रस-मयी हों।

सुखदा और सुफला भूमि की सब दिशाएं और प्रदिशाएं भी सोहनी और सुहावनी प्रतीत होती हैं।

सम्पादन कर रस पृथिवी पर,
रस ओषधियों में, रस द्यौ में,
रस अन्तरिक्ष में,
हों रसमयी प्रदिशाएं मेरे लिए।
सूक्ति : **पयस्वतीः प्रदिशः सन्तु मह्यम्।**
हों रसमयी प्रदिशाएं मेरे लिए।

९८६ **देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।**
सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रेणाग्नेः साम्राज्येनाभिषिञ्चामि। य १८.३७
देवस्य त्वा सवितुः प्र-सवे अश्विनोः बाहु-भ्याम् पूष्णः हस्ताभ्याम्। सरः-वत्यै वाचः यन्तुः यन्त्रेण अग्नेः साम्-राज्येन अभि-सिञ्चामि।

प्रत्येक नागरिक अपने राष्ट्र को लक्ष्य करके नित्य कहे, मैं (अभि-सिञ्चामि) सर्वतः सींचता हूं, (सवितुः देवस्य प्र-सवे) रचयिता देव के समुत्पन्न संसार में, (त्वा) तुझे, तुझ राष्ट्र को, (अश्विनोः बाहु-भ्याम्) शासन- और जनता-रूप अश्विओं के ब्रह्म-और क्षत्र-रूप दो बाहुओं से; (पूष्णः हस्ताभ्याम्) आत्मपूषा के [मस्तिष्क और हृदय, बुद्धि और मन, विवेक और संकल्प रूप] दो हाथों से;

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(यन्तुः वाचः यन्त्रेण) यन्ता के वचन [आदेश] के नियन्त्रण से; (अग्नेः साम्-राज्येन) अग्नि के साम्राज्य से, (सरः-वत्यै) सरस्वती के लिए।

राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक ब्रह्म और क्षत्र से तथा बुद्धिबल और शरीरबल से युक्त होना ही चाहिए। उभय बलों के आश्रय से ही राष्ट्र की स्वतन्त्रता की रक्षा और देश की सीमाओं की सुरक्षा होती है।

राष्ट्रपति राजा ही राष्ट्र का यन्ता, नियन्ता, नियामक होता है। प्रत्येक नागरिक को उसके वचन वा आदेश का पालन और उसके नियन्त्रण वा अनुशासन का आदर करना चाहिए।

प्रकाश और ऊष्मा ही अग्नि का वा सूर्य का साम्राज्य है। प्रत्येक नागरिक के मानस में अपने राष्ट्र के लिए उज्ज्वल प्रकाश और प्रखर प्रेम की ऊष्मा होनी चाहिए।

राष्ट्रनिष्ठ नागरिक के लिए राष्ट्र देव सविता की सृष्टि में एक सदा सुप्रवाहित रहनेवाली एक सरस्वती है, एक सरस धारा है।

सरसता के साथ राष्ट्र-सरस्वती की सतत सरस-प्रवाहिति के लिए उपर्युक्त अश्विद्वयों के दो बाहुओं से, पूषा के दो हाथों से, यन्ता के आदेश के नियन्त्रण से और अग्नि के साम्राज्य से सम्यक् साधना की जानी चाहिए। प्रत्येक नागरिक इस भावना से अपने देश और राष्ट्र को सदा सींचता रहे।

तुझे सर्वतः सींचता हूं मैं,
देव सविता के प्रसव में,
अश्विद्वयों के बाहुओं से,
पूषा के हाथों से, यन्ता के
आदेश के अनुशासन से,
अग्नि के साम्राज्य से,
सरस्वती के लिए।

९८७ **ऋताषाड्ऋतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम। स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा।** य १८.३८

ऋत-आ-षाट् ऋत-धामा अग्निः गन्धर्वः तस्य ओषधयः अप्सरसः मुदः नाम। सः नः इदम् ब्रह्म क्षत्रम् पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा।

१) (ऋत-आ-षाट्) ऋत को पूर्णतया सहने—सहारने—धारने वाला, (ऋत-धामा) ऋत-धामा, (अग्निः) पावक, पवित्र करनेवाला (गन्धर्वः) गन्धर्व।

२) (तस्य ओषधयः) उसकी ओषधियां (अप्सरसः) जलमयी, रसमयी, आनन्दमयी, (मुदः) हर्षयित्री, आह्लादित करनेवाली।

३) (नाम सः) नमनीय वह (नः) हमारे, हम नागरिकों के (इदम् ब्रह्म, क्षत्रम्) इस ब्रह्म, क्षत्र को/की (पातु) रक्षा करे।

४) (तस्मै) उस [गन्धर्व] के लिए (स्वाहा, वाट्) सु-आहुति और संवहन।

५) (ताभ्यः) उन [ओषधियों] के लिए (स्वाहा) सु-आहुति।

गन्धर्वः वै गन्धः-वः, गन्धवाला, सुगन्ध को धारण करके सुगन्धि व्यापनेवाला जो हो उसकी संज्ञा गन्धर्व है। सुगन्धि से युक्त होकर सुगन्धि व्यापनेवाला होने से पुष्प गन्धर्व है। **गन्धर्व** शब्द का प्रयोग यहां यशोरूप सुगन्धि से सुगन्धित राष्ट्र के लिए हुआ है।

ऋत शब्द का प्रयोग हुआ है यहां ऋताचार, सत्याचार, सही और शालीन व्यवहार के लिए।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यशस्वी राष्ट्र ऋत को पूर्णतया धारण करनेवाला होता है।

यशस्वी राष्ट्र होता है ऋत का धाम भी और राष्ट्र जनों को अग्नि के समान पवित्र करनेवाला भी।

ऐसे यशस्वी राष्ट्र की ओषधियां आनन्दमयी और हर्षयित्री होती हैं। **ओषधिर्वै दोषधिर्भवति**। **ओषधि** का अर्थ है दोषों को दूर करनेवाली। 'ओषधयः' शब्द का प्रयोग यहां राष्ट्र को स्वच्छ व्यवस्थाओं तथा न्याय, नगर, आदि की पवित्र पालिकाओं के लिए हुआ है। ये स्वच्छताएं और पवित्रताएं, प्रत्यक्षतः, नागरिकों को आनन्दित और हर्षित करनेवाली होती हैं।

'नम' से 'नाम'। **नाम** शब्द में नमनीयता का भाव है। उपर्युक्त गुणों से युक्त राष्ट्र नमनीय होता हैं। ऐसा वह नमनीय राष्ट्र राष्ट्रजनों के ब्रह्म और क्षत्र की, संज्ञान और संबल की, भक्ति और शक्ति की, योग और क्षेम की रक्षा करता है।

ऐसे उस राष्ट्र के लिए सब नागरिक-नागरिकाएं सदा सर्वतः सुहुत [अर्पित] रहें, और आत्मनिष्ठा के साथ वे उसका सम्यक् संवहन करें। राष्ट्र की ओषधियों [स्वच्छ व्यवस्थाओं और पवित्र पालिकाओं] के लिए भी वे सम्यक् सुहुत रहें।

ऋतषाट्, ऋतधामा, पावक गन्धर्वः;
उसकी ओषधियां रसमयी, हर्षयित्री।
नमनीय वह रक्षा करे
हमारे इस ब्रह्म और क्षत्र भी।
उसके लिए स्वाहा वाट्।
उनके लिए स्वाहा।

९८८ **संहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोप्सरस आयुवो नाम।**
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा। य १८.३९

सम-हितः विश्व-सामा सूर्यः गन्धर्वः तस्य मरीचयः अप्सरसः आ-युवः नाम। सः नः इदम् ब्रह्म क्षत्रम् पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा।

१) (सम्-हितः) सं-हित, (विश्व-सामा) विश्व-सामा (सूर्यः) प्रकाशक (गन्धर्वः) सुगन्धित [यशस्वी] राष्ट्र।

२) (तस्य) उसकी (मरीचयः) किरणें (अप्सरसः) रसमयी, आनन्दमयी, (आ-युवः) [मानवों को मानव] बनानेवाली।

३) (नाम सः) नमनीय वह (नः) हमारे (इदम् ब्रह्म, क्षत्रम्) इस ब्रह्म और क्षत्र को/की (पातु) रक्षा करे।

४) (तस्मै) उस [गन्धर्व] के लिए (स्वाहा, वाट्) सु-आहुति और संवहन।

५) (ताभ्यः) उन [किरणों] के लिए (स्वाहा) सु-आहुति।

यशस्वी राष्ट्र होता है सं-हित, सम्यक् समाहित, सं-मिलित, सुगठित, सुसंगठित। वह होता है विश्व-सामा, विश्व में साम [समता, शम्, शान्ति] की स्थापना करनेवाला। और होता है वह सूर्य के समान विश्व में प्रकाश प्रसारनेवाला।

ऐसे राष्ट्र से ज्ञान, विज्ञान और सदाचार की किरणें देश-प्रदेशों में आनन्दरस का संचार करती हैं और मानवों को सच्चे और अच्छे मानव बनाती हैं।

उपयुक्त गुणों से युक्त राष्ट्र नमनीय होता है। ऐसा वह नमनीय राष्ट्र राष्ट्रजनों के ब्रह्म और क्षत्र की रक्षा करता है।

ऐसे उस राष्ट्र के लिए राष्ट्रजन सदा सुहुत रहें और आत्मनिष्ठा के साथ उसका संवहन करें। राष्ट्र की मरीचियों, ज्ञान-विज्ञान की किरणों की विश्व-व्याप्ति के लिए भी वे सुष्ठुतया अर्पित रहें।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

संहित, विश्वसामा, प्रकाशक गन्धर्व;
उसकी मरीचियां आनन्दमयी, मानवीय ।
नमनीय वह रक्षा करे
हमारे इस ब्रह्म, क्षत्र की ।
उसके लिए स्वाहा, संवहन ।
उनके लिए अर्पिति ।

९८९ सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम ।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा । य १८.४०

सु-सुम्नः सूर्य-रश्मिः चन्द्रमाः गन्धर्वः तस्य नक्षत्राणि अप्सरसः भेकुरयः नाम । सः नः इदम् ब्रह्म क्षत्रम् पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ।

१) (सु-सुम्नः) सु-सुम्न, (सूर्य-रश्मिः) सूर्य-रश्मि, (चन्द्रमाः) आह्लादक (गन्धर्वः) सुगन्धित [यशस्वी] राष्ट्र ।
२) (तस्य) उसकी (नक्षत्राणि) शोभाएं, शोभनीयताएं (अप्सरसः) रसमयी, आनन्दमयी, (भेकुरयः) भा-करी, दीप्तिकरी ।
३) (नाम सः) नमनीय वह (नः) हमारे (इदम् ब्रह्म, क्षत्रम् पातु) इस ब्रह्म और क्षत्र को/की (पातु) रक्षा करे ।
४) (तस्मै) उस [गन्धर्व] के लिए (स्वाहा, वाट्) सु-आहुति और संवहन ।
५) (ताभ्यः) उन [शोभनीयताओं] के लिए (स्वाहा) सु-आहुति ।

सुम्न शब्द का प्रयोग होता है सुख और सुमनस्कता [प्रसन्नता] के अर्थ में । यशस्वी राष्ट्र होता है सुख से सुसम्पन्न और प्रसन्नता से सुप्रसन्न ।

वह होता है सूर्य-रश्मि, सूर्य के समान ज्ञान-प्रकाश की रश्मियों से रश्मित । जिस प्रकार चन्द्रमा सूर्य की किरणों से द्योतित होकर चन्द्रिका छिटकाता है उसी प्रकार यशस्वी राष्ट्र सब ओर स्वयश की किरणें विकीर्ण करता है ।

वह होता है चन्द्रमा के समान आह्लादपूर्ण और विश्व को आह्लादित करनेवाला ।

ऐसे राष्ट्र की शोभाएं [शोभनीयताएं] आनन्दमयी और दीप्तिकरी होती हैं । ऐसे राष्ट्र की दिव्य द्युतियां देश-विदेश को, सारे विश्व को सरसता के साथ द्योतित, प्रद्योतित करती रहती हैं ।

ऐसा राष्ट्र नमनीय होता है । सारा विश्व उसे नमता है, उसका आदर करता है । ऐसा वह नमनीय राष्ट्र राष्ट्रजनों के ब्रह्म और क्षत्र की रक्षा करता है ।

ऐसे उस अपने राष्ट्र के लिए राष्ट्र जन सदा सुहुत रहें और राष्ट्रनिष्ठा के साथ उसका संवहन करें ।

स्वराष्ट्र की शोभाओं और शोभनीयताओं से विश्व को सुशोभन और शोभनीय बनाने की साध में भी वे सुष्ठुतया अर्पित रहें ।

सु-सुम्न, सूर्य-रश्मि, आह्लादक गन्धर्व;
उसकी शोभाएं रसमयी, भा-करी ।
नमनीय वह रक्षा करे
हमारे इस ब्रह्म, क्षत्र की ।
उसके लिए स्वाहा, संवहन ।
उनके लिए अर्पिति ।

९९० इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापो अप्सरस ऊर्जो नाम ।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा । य १८.४१

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इषिरः विश्व-व्यचाः वातः गन्धर्वः तस्य आपः अप्सरसः ऊर्जः नाम। सः नः इदम् ब्रह्म क्षत्रम् पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा।

१) (इषिरः) गमनशील, प्रगतिशील, (विश्व-व्यचाः) विश्व-व्यापक, (वातः) वेगवान्, वेगशील, (गन्धर्वः) सुगन्धित [यशस्वी] राष्ट्र।

यशस्वी राष्ट्र होता है गतिशील, प्रगतिशील। विकास और वृद्धि की साधना में कभी भी और कहीं भी विराम नहीं होना चाहिए। अविरामता के साथ, निरन्तर प्रत्येक क्षेत्र और पार्श्व में सदा प्रगति करते रहने से राष्ट्र यशोर्जन करता है।

ऐसा राष्ट्र ही अपने उत्तम गुणों और विपुल ऐश्वर्यों से संसार को उपकृत करके विश्व में व्यापता है और सार्वभौम मान, सम्मान तथा प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।

वात के समान वेगवान् राष्ट्र ही तीव्रता के साथ प्रगति करता हुआ सर्वपोषक सार्वभौम साम्राज्य की स्थापना करके सर्वतः जगमगाता है।

२) ऐसे (तस्य) उस [राष्ट्र] की (आपः) प्रजाएं (अप्सरसः) आनन्दमयी, (ऊर्जः) बलवती, पराक्रम्-शीला [होती हैं]।

३) (नाम सः) नमनीय वह [राष्ट्र] (नः) हमारे (इदम् ब्रह्म, क्षत्रम्) इस ब्रह्म और क्षत्र को/की (पातु) रक्षा करे।

४) (तस्मै) उस [गन्धर्व] के लिए (स्वाहा वाट्) सु-आहुति और संवहन।

५) (ताभ्यः) उन [प्रजाओं] के लिए (स्वाहा) सु-आहुति, सु-अर्पिति।

प्रगतिशील, विश्वव्यापक, वेगशील गन्धर्व;
उसकी प्रजाएं आनन्दमयी, बलवती।
नमनीय वह रक्षा करे
हमारे इस ब्रह्म, क्षत्र की।
उसके लिए स्वाहा, संवहन।
उनके लिए स्वाहा।

९९१ **भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरस स्तावा नाम।**
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा। य १८.४२

भुज्युः सु-पर्णः यज्ञः गन्धर्वः तस्य दक्षिणाः अप्सरसः स्तावाः नाम। सः नः इदम् ब्रह्म क्षत्रम् पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा।

१) (भुज्युः) भरणशील, पोषणशील, (सु-पर्णः) सु-पालनशील, सु-पूरक, (यज्ञः) संगतिशील (गन्धर्वः) सुगन्धित [यशस्वी] राष्ट्र।

यशस्वी राष्ट्र होता है स्वदेश के नागरिकों के साथ साथ, आवश्यकता पड़ने पर, अन्य देशों के नागरिकों का भी भरण-पोषण करनेवाला।

ऐसा राष्ट्र होता है स्वदेश और विदेशों की पालना और सुपूर्णता वा सुपूर्ति सम्पादन करनेवाला।

ऐसा वह राष्ट्र होता है सब राष्ट्रों को अपने साथ संगत रखकर साम्राज्य स्थापन करनेवाला।

२) ऐसे (तस्य) उस [राष्ट्र] की (दक्षिणाः) वृद्धियां, समृद्धियां [होती हैं] (अप्सरसः) आनन्दमयी, (स्तावाः) प्रशंसनीया।

३) (नाम सः) नमनीय वह [राष्ट्र] (नः) हमारे (इदम् ब्रह्म, क्षत्रम्) इस ब्रह्म और क्षत्र को/की (पातु) रक्षा करे।

४) (तस्मै) उस [गन्धर्व] के लिए (स्वाहा, वाट्) सु-आहुति और संवहन।

५) (ताभ्यः) उन [दक्षिणाओं] के लिए (स्वाहा) सु-आहुति, सु-अर्पिति।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भरणशील, सुपर्ण, संगतिशील गन्धर्व;
उसकी वृद्धियां आनन्दमयी, प्रशंसनीया।
नमनीय वह रक्षा करे
हमारे इस ब्रह्म, क्षत्र की।
उसके लिए स्वाहा, संवहन।
इनके लिए सु-अर्पिति।

९९२ प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम। स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा। य १८.४३

प्र-जा-पतिः विश्व-कर्मा मनः गन्धर्वः तस्य ऋक्-सामानि अप्सरसः आ-इष्टयः नाम। सः नः इदम् ब्रह्म क्षत्रम् पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा।

१) (प्र-जा-पतिः) प्रजा का पालन करनेवाला, (विश्व-कर्मा) विश्व-कर्मा, (मनः) मननशील (गन्धर्वः) सुगन्धित [यशस्वी] राष्ट्र।

यशस्वी राष्ट्र होता है न केवल अपनी प्रजाओं का अपि च अन्य राष्ट्रों की प्रजाओं का भी पालन करनेवाला।

वह होता है **विश्वकर्मा**, कुशलकर्मा, सब कुछ स्वयं सम्पादन करनेवाला, प्रत्येक पार्श्व में आत्म-निर्भर, सुदक्ष।

वह होता है मनोरूप संकल्पसिद्ध, मनस्वी, मनन-शील, मनोबल से सम्पन्न।

२) ऐसे (तस्य) उस [राष्ट्र] की (ऋक्-सामानि) स्तुत्य समताएं होती हैं (अप्सरसः) आनन्दमयी, (आ-इष्टयः) पूर्ण-इष्ट-साधिका।

ऐसा राष्ट्र विषमताओं से सर्वथा मुक्त रहता है। उसमें प्रशस्त समताओं का राज होता है। वहां सबको समान अवसर और समान साधन उपलब्ध होते हैं।

३) (नाम सः) नमनीय वह [राष्ट्र] (नः) हमारे (इदम् ब्रह्म, क्षत्रम्) इस ब्रह्म और क्षत्र को/की (पातु) रक्षा करे।

४) (तस्मै) उस [गन्धर्व] के लिए (स्वाहा, वाट्) सु-आहुति और संवहन।

५) (ताभ्यः) उन [प्रशस्त समताओं] के लिए (स्वाहा) सु-आहुति, सु-अर्पिति।

प्रजापालक, सुदक्ष, मनस्वी गन्धर्व;
उसकी प्रशस्त समताएं आनन्दमयी इष्टसाधिका।
नमनीय वह रक्षा करे
हमारे इस ब्रह्म, क्षत्र की।
उसके लिए स्वाहा संवहन।
उनके लिए सु-आहुति।

९९३ स नो भुवनस्य पते प्रजापते यस्य त उपरि गृहा यस्य वेह। अस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्राय महि शर्म यच्छ स्वाहा। य १८.४४

सः नः भुवनस्य पते प्र-जा-पते यस्य ते उपरि गृहाः यस्य वा इह। अस्मै ब्रह्मणे अस्मै क्षत्राय महि शर्म यच्छ स्वाहा।

१) (भुवनस्य पते) भुवन के रक्षक! (प्र-जा-पते) प्र-जा-पालक!

सुगन्धित [यशस्वी] राष्ट्र के लिए ये दो सम्बोधन कर्तव्यसूचक हैं। एक यशस्वी राष्ट्र का यह प्रथम कर्तव्य है कि वह मातृभूमिरूप भुवन की बाह्य आक्रमणों, आन्तरिक विप्लवों और सब प्रकार की आपदाओं से सर्वतः रक्षा करे। साथ ही, उसका यह भी प्रथम कर्तव्य है कि जीवन की आवश्यकताओं की

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रपूर्ति द्वारा प्रजा की, नागरिकसमूह की सर्वतः पालना करे।

२) (इह) यहां, इस मातृभूमि में (गृहाः) गृही जन (यस्य ते उपरि) जिस तेरे ऊपर [निर्भर हैं], (वा) या [वे] (यस्य) जिस[मातृभूमि]के [पुत्र-पुत्रियां हैं उन सबका तू पोषण, संवर्धन, सुविकास कर]।

घरों में निवास करनेवाले होने से गृहस्थों को **गृहाः** कहा गया है। 'गृहाः' शब्द की अन्तर्निहित भावना यह है कि राष्ट्र में गृहस्थाश्रम तथा पारिवारिक जीवन की सुप्रतिष्ठा हो और सभी परिवारों के लिए अपना अपना निजी घर हो, कोई भी परिवार गृहविहीन न हो। सभी प्रजाजन, सभी नागरिक राष्ट्र के समान अंग हैं। सभी के लिए आवास, सुनिवास की सुव्यवस्था होनी चाहिए। सर्व जन राष्ट्र के हैं और राष्ट्र सर्व जनों का है। मातृभूमि सब नागरिकों की समान माता है, और सब नागरिक मातृभूमि की समान पुत्र-पुत्रियां हैं।

३) (सः) वह तू (नः) हमारे लिए, हम सब नागरिकों के लिए, (अस्मै ब्रह्मणे) इस विद्वद्वर्ग के लिए, (अस्मै क्षत्राय) इस वीरवर्ग के लिए (महि शर्म यच्छ) महती सुविधा—सुरक्षा दे (स्वाहा) सु-आहुति द्वारा, सत्कारपूर्वक।

एक आदर्श राष्ट्र में जहां सभी राष्ट्रजनों को समानरूपेण सभी सुख, सुविधा, सुरक्षा उपलब्ध होती हैं, वहां विद्वद्वर्ग और वीरवर्ग को सत्कारपूर्वक विशेष सुविधाएं प्राप्त कराई जाती हैं। जहां विद्वानों और वीरों का विशेष सत्कार होता है उस राष्ट्र की ही जीवनपद्धति यज्ञमय रह पाती है, वही राष्ट्र सर्वतः सुरक्षित और समुन्नत रह पाता है।

भुवन के रक्षक ! प्रजा-पालक !
यहां गृही जिस तेरे ऊपर, वा वे जिसके।
वह तू महि शर्म दे हमारे लिए,
इस ब्रह्म के लिए, इस क्षत्र के लिए,
सु-आहुति द्वारा।

९९४ **समुद्रोसि नभस्वानार्द्रदानुः शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा मारुतोसि मरुतां गणः शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहावस्यूरसि दुवस्वाञ्छम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा।** य १८.४५

समुद्रः असि नभः-वान् आर्द्र-दानुः शम्-भूः मयः-भूः अभि मा वाहि स्वाहा मारुतः असि मरुताम् गणः शम्-भूः मयः-भूः अभि मा वाहि स्वाहा अवस्-यूः असि दुवः-वान् शम्-भूः मयः-भूः अभि मा वाहि स्वाहा।

अब राष्ट्र की प्रजा [जनता] स्वराष्ट्र का अभिनन्दन करती हुई कहती है,

१) तू (असि) है (समुद्रः) समुद्र (नभः-वान्) नभवाला, (आर्द्र-दानुः) आर्द्र भाव से देनेवाला, (शम्-भूः) शम्-भावयिता, शान्ति-कर, (मयः-भूः) सुख-भावयिता, सुख-कर।

यज्ञिय जीवनपद्धति से युक्त यशस्वी राष्ट्र होता है समुद्र के समान गहन, गम्भीर, तरंगित और भरा-पूरा। वह होता है **नभस्-वान्**, आकाश के समान समुदार, वायु के समान वेगवान्, मेघ के समान प्रजा पर धनैश्वर्य की वृष्टि करनेवाला और जल के समान प्रजा को सींचनेवाला। **नभस्** नाम आकाश, वायुमण्डल, मेघ और जल का है।

वह होता है **आर्द्र-दानु**, आर्द्र-भाव से प्रजा को सब प्रकार की सेवा, सहायता, संरक्षा प्रदान करनेवाला; **शम्भू**, शान्ति का धाम; **मयोभू**, सुख का धाम।

२) ऐसा तू राष्ट्र (स्वाहा) सु-आहुति द्वारा,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सत्कारपूर्वक (मा) मुझे, मुझ प्रजा को (अभि वाहि) सर्वतः वहन कर, सर्वतः सब कुछ प्राप्त करा।

यज्ञिय राष्ट्र में जन जन को सत्कारपूर्वक सब प्रकार सब कुछ प्राप्त कराया जाता है।

३) तू (असि) है (मारुतः) मारुत, (मरुताम् गणः) मरुतों का समूह, (शम्-भूः) शान्ति-धाम, (मयः-भूः) सुख-धाम।

जिसके बिना प्राणी मर जाते हैं, उसका नाम मरुत् है। किसी भी राष्ट्र के वीर और विद्वान् मरुत् हैं क्यों कि उनके बिना राष्ट्र मृतवत् निष्प्राण होजाता है। **मारुतः** शब्द का प्रयोग वीरों-और-विद्वानों-वाला अर्थ में हुआ है। एक यज्ञिय और यशस्वी राष्ट्र में वीरों और विद्वानों का विशेष स्थान होता है। उसमें वीरों और विद्वानों का मान्य समूह होता है। उसमें उनका बाहुल्य होता है। शान्ति और सुख का धाम भी वह होता ही है।

४) ऐसा तू राष्ट्र (स्वाहा) सु-आहुति द्वारा, सत्कारपूर्वक (मा) मुझ प्रजा को (अभि वाहि) सर्वतः वहन कर, सर्वतः सब कुछ प्राप्त करा।

५) तू (असि) है (अवस्-यूः) रक्षा-कामी, (दुवस्-वान्) सेवा-वान्, सेवा-भावी, (शम्-भूः) शान्ति-धाम, (मयः-भूः) सुख-धाम।

यज्ञिय राष्ट्र होता है रक्षा-कामी, सुरक्षा की अभिलाषा रखनेवाला। वह जहां स्वयं अपनी रक्षा की सजग कामना से ओत-प्रोत होता है, वहां वह अन्य देशों और देशवासियों की रक्षा के लिए भी कटिबद्ध रहता है। साथ ही, वह होता है सेवावान्, सेवाकारी। स्वयं अपने नागरिकों की सर्वतः सेवा करता हुआ वह विश्व की सुसेवा के लिए भी तत्पर रहता है। शान्तिधाम और सुखधाम भी वह होता ही है।

६) ऐसा तू राष्ट्र (स्वाहा) सु-आहुति द्वारा, सत्कारपूर्वक (मा) मुझ प्रजा को (अभि वाहि) सर्वतः वहन कर, सर्वतः सब कुछ प्राप्त करा।

तू है समुद्र नमस्वान्, आर्द्र-दानु,
शान्तिधाम, सुखधाम;
प्राप्त करा सत्कारपूर्वक मुझे सर्वतः।
तू है मारुत मरुतों का गण,
शान्तिधाम, सुखधाम;
प्राप्त करा सत्कारपूर्वक मुझे सर्वतः।
तू है रक्षाकामी, सेवाभावी,
शान्तिधाम सुखधाम;
प्राप्त करा सत्कारपूर्वक मुझे सर्वतः।

९९५ **यास्ते अग्ने सूर्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः।**
ताभिर्नो अद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृधि।

[य १३.२२]

य १८.४६

याः ते अग्ने सूर्ये रुचः दिवम् आ-तन्वन्ति रश्मि-भिः। ताभिः नः अद्य सर्वाभिः रुचे जनाय नः कृधि।

स्वराष्ट्र का अभिनन्दन करके यज्ञिय राष्ट्र की यज्ञिय प्रजा अब ब्रह्माग्नि से विनय करती है, (अग्ने) ब्रह्माग्ने! (ते याः रुचः) तेरी जो कान्तियां (सूर्ये) सूर्य में (रश्मि-भिः) किरणों द्वारा (दिवम्) द्यौ को, द्युलोक तक (आ-तन्वन्ति) फैल [व्याप] रही हैं, (जनाय रुचे) जन जन की कान्ति के लिए (ताभिः सर्वाभिः) उन सब[कान्तियों]से (नः) हमें, हम यज्ञिय-जीवनपद्धति से अलंकृत प्रजाजनों को (अद्य) आज, अब, सद्यः [प्रकान्त] (कृधि) कर।

सूर्य और द्यौ शब्दों का प्रयोग प्रकाशलोकसमूह के लिए हुआ है। प्रकाशलोकसमूहों की किरणों में जो प्रकाश और कान्तियां हैं वे सब ब्रह्माग्नि के

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रकाश की प्रतिछायामात्र हैं। जन जन की रुचि और कान्ति के लिए परमात्मा अपनी पावमानी कान्तियों से सर्व राष्ट्रजनों [राष्ट्रनागरिकों] को प्रकान्त करे।

यज्ञिय राष्ट्र की यज्ञिय प्रजा कान्तियों से प्रकान्त होनी ही चाहिए।

ब्रह्माग्ने ! तेरी रुचियां सूर्य में
किरणों द्वारा द्युलोक तक फैल रही हैं,
जन-प्रकाशन के लिए आज तू
उन सब रुचियों से हम सबको
प्रकान्त करदे।

९९६ **या वो देवाः सूर्ये रुचो गोष्वश्वेषु या रुचः।**
इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभी रुचं नो धत्त बृहस्पते।
[य १३.२३] य १८.४७
याः वः देवाः सूर्ये रुचः गोषु अश्वेषु याः रुचः। इन्द्र-अग्नी ताभिः सर्वाभिः रुचम् नः धत्त बृहस्-पते।

यज्ञिय प्रजा कहे चली जारही है,
(इन्द्र-अग्नी बृहस्-पते देवाः) इन्द्रत्व, अग्रनयन, बृहत्पालकत्व, दिव्यताओ ! (वः) तुम्हारी (याः रुचः सूर्ये) जो रुचियां सूर्य [प्रकाशलोकसमूह] में हैं, (याः रुचः अश्वेषु गोषु) जो कान्तियां आशुगामी किरणों में हैं (ताभिः सर्वाभिः) उन सब[कान्तियों]से (नः) हमारे लिए (रुचम् धत्त) कान्ति स्थापन करो।

इन्द्र, अग्नि और बृहस्पति, इन तीन शब्दों से यहां तात्पर्य परमात्मा के तीन व्यापक गुणों से है।

लोकलोकान्तर-रूप इन्द्रियों का स्वामी होने से परमात्मा इन्द्र है। सम्पूर्ण सृष्टि का अग्रनयनकर्ता और संचालक होने से वह अग्नि है। बृहत् सृष्टि का तथा प्रजाओं का पालक होने से वह बृहस्पति है। इन्द्रत्व, अग्रनयन तथा पालकत्व, परमात्मा की ये तीन दिव्यताएं प्रकाशलोकसमूह तथा प्रकाशलोक-समूह की तीव्र किरणों में द्योतित हैं। जन जन की रुचि वां कान्ति के लिए परमात्मा की ये दिव्यताएं यज्ञिय प्रजाओं को प्रकान्त करें। स्तुतिप्रार्थनोपासना द्वारा समग्र प्रजाएं परमात्मा की कान्ति को अपने भीतर धारण, स्थापन करें।

इन्द्र, अग्नि, बृहस्पति देवो।
जो रुचियां तुम्हारी सूर्य में,
जो रुचियां आशुगामी किरणों में
उन सब रुचियों से हम सबके
लिए कान्ति स्थापन कर दो।

९९७ **रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।**
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्। य १८.४८
रुचम् नः धेहि ब्राह्मणेषु रुचम् राज-सु नः कृधि। रुचम् विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्।

१) (नः ब्राह्मणेषु रुचम् धेहि) हमारे ब्राह्मणों में कान्ति स्थापन कर, (नः राज-सु रुचम् कृधि) हमारे राजाओं में कान्ति सम्पादन कर, हमारे (विश्येषु शूद्रेषु) विश्यों और शूद्रों में (रुचम्) कान्ति [स्थापन कर], यज्ञिय नागरिकों की यह अतिशय यज्ञिय प्रार्थना है।

ब्रह्म नाम परमात्मा का है। ब्रह्मणो अपत्यं ब्राह्मणः; ब्रह्म का पुत्र ब्राह्मण। ब्रह्म नाम वेद का

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भी है। जो वेदज्ञ है वह ब्राह्मण है। ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः। जो ब्रह्म को जानता है वह ब्राह्मण है। ब्रह्म नाम ज्ञान का है। जो ज्ञानी है, तत्त्ववेत्ता है, सुविद्वान् है, उसकी संज्ञा ब्राह्मण है। ब्राह्मण शब्द न वर्गवाची है, न जातिवाची, न व्यवसायवाची। वह तो साधनावाची है। व्यक्ति में जो स्थान मूर्धा का है, समाज में वही स्थान ब्राह्मण का है। ब्राह्मण आत्म-अवस्थित, ब्रह्मसमाहित और वेदप्रतिष्ठ रहता हुआ ब्राह्म कर्म करता है।

सम्राट् से लेकर निम्नतम राजकर्मचारियों तक का समावेश **राजा** वा 'राजन्य' शब्द में होता है। जितने भी शासकीय विभाग हैं उन सबमें कार्य करते हुए जो राष्ट्र के शासन-सत्र का संचालन करते हैं वे सब राजा हैं, राजन्य हैं। 'राजा, राजन्य, क्षत्रिय' शब्द पर्यायवाची हैं। वे न वर्गवाची हैं, न जातिवाची, न व्यवसायवाची। वे तो कर्तव्यवाची हैं।

विश्य [वैश्य] और शूद्र [श्रमिक] शब्द भी न वर्गवाची हैं न जातिवाची। वे तो व्यवसायवाची हैं। किसी भी राष्ट्र का आर्थिक आधार हैं ये। विश्य पूंजी सम्पादन करता है, तो श्रमिक श्रम संदान करता है।

जिस राष्ट्र की जीवनपद्धति यज्ञिय होती है उसके ब्राह्मण, राजन्य, विश्य और श्रमिक सर्वतः प्रकान्त होते हैं।

२) उस राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक प्रार्थना करता है, प्रभो! (मयि धेहि) मुझमें स्थापन कर (रुचा रुचम्) कान्ति द्वारा कान्ति, सौन्दर्य से सौन्दर्य।

राष्ट्रव्यापी कान्ति से प्रत्येक नागरिक प्रकान्त और सुशोभनीय बनता है।

कर प्रस्थापन कान्ति हमारे ब्राह्मणों में,
कर प्रस्थापन कान्ति हमारे राजन्यों में,
कान्ति वैश्यों में, शूद्रों में,
कर प्रस्थापन कान्ति कान्ति से मेरे भीतर।

९९८ **तत् त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः।**
अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्र मोषीः।

य १८.४९

[ऋ १.२४.११, य २१.२]

तत् त्वा यामि ब्रह्मणा वन्द-मानः तत् आ शास्ते यज-मानः हविः-भिः। अ-हेडमानः वरुण इह बोधि उरु-शंस मा नः आयुः प्र मोषीः।

१) (उरु-शंस वरुण) बहुतों द्वारा/बहुत स्तुत्य वरुण! मैं (ब्रह्मणा वन्द-मानः) आत्मना स्तुतता हुआ (तत् त्वा) उस तुझे (यामि) प्राप्त करता/होता/रहता हूं।

यज्ञिय राष्ट्र के एक एक नागरिक की यह आस्तिक्योक्ति है। भद्र राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक अपने आत्मविवेक के साथ उरुशंस वरुण के प्रति आस्थावान् रहता है। उरु=बहुत। स्तोताओं द्वारा बहुत स्तुति किए जाने से प्रभु उरुशंस है। वरणीयताओं से, वरणीय गुणों से युक्त होने से ब्रह्म को वरुण कहा गया है।

२) प्रत्येक (यज्ञ-मानः) यज्ञ-शील [मानव, नागरिक] (तत् [त्वा]) उस तुझे (आ शास्ते) आशासता है (हविः-भिः) परिष्कृत अर्पितियों से, प्रशस्त स्तुतियों द्वारा।

प्रत्येक सभ्य नागरिक प्रभु से हवियों [परिशुद्ध ऐश्वर्यों] की प्राप्ति की आशा करता है और प्रभु की प्रशस्त स्तुतियां करता है।

३) (अ-हेडमानः) अ-तिरस्कृत [सत्कृत] होता हुआ (इह) यहां, इस जीवन में, इस संसार में [हमें] (बोधि) बोध प्राप्त करा।

एक सभ्य मानव, एक प्रबुद्ध नागरिक जहां

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परम पावन प्रभु का आत्मना सत्कार [पूजन] करता है, वहां वह प्रभु से सुबोध को याचना करता है।

४) (नः) हमारे, हम यज्ञशील नागरिकों के (आयुः मा प्र मोषीः) आयु को मत चोर, जीवन को क्षीण [बर्बाद] न होने दे।

प्रभु के प्रभक्त, प्रबुद्ध और यज्ञशील नागरिक सर्वशक्तिमान् प्रभु के आश्रय से अपने जीवन को व्यर्थ व्यासंगों में नहीं चोरने देते [खोते] हैं। वे तो अपने जीवन को राष्ट्रसेवा और विश्वकल्याण में निरत रखते हैं।

बहु-स्तुत्य ! वरुण ! मैं तुझको
प्राप्त रहता हूं आत्मना स्तुतता हुआ ।
यज्ञशील आ-शासता है
उस तुझको हवियों से ।
सत्कृत होता हुआ यहां तू
करा प्राप्त सुबोध ।
होने दे न बर्बाद
हमारे जीवनों को ।

सूक्ति : **तत् त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानः ।**
उस तुझको प्राप्त रहता हूं आत्मना स्तुतता हुआ ।
मा न आयुः प्र मोषीः ।
हमारे जीवन को बर्बाद न होने दे ।

९९९ **स्वर्ण घर्मः स्वाहा स्वर्णार्कः स्वाहा स्वर्ण शुक्रः स्वाहा स्वर्ण ज्योतिः स्वाहा स्वर्ण सूर्यः स्वाहा ।** य १८.५०

स्वः न घर्मः स्वाहा स्वः न अर्कः स्वाहा स्वः न शुक्रः स्वाहा स्वः न ज्योतिः स्वाहा स्वः न सूर्यः स्वाहा ।

प्रत्येक नागरिक अपने यज्ञिय राष्ट्र के लिए अपने भीतर

१) (स्वः न) आत्मा के समान, आत्मीयता के साथ (घर्मः) प्रेम-घर्म, प्रेम की ऊष्मा (स्वाहा) सुहुत [संचार] करे।

प्रेमोष्मा ही है जो राष्ट्र के हित और रक्षा के लिए सर्वस्व स्वाहा करने की प्रेरणा करती है। जहां आत्मीयता होती है वहां स्वाहा वाट् होता ही है।

२) (स्वः न) आत्मा के समान, आत्मीयता के साथ (अर्कः) किरण, ज्ञानरश्मि (स्वाहा) सुहुत करे, सञ्चारे।

ज्ञान की रश्मियां ही हैं जो राष्ट्रजनों को देश-द्रोह, राष्ट्रद्रोह, जन-अहित से सर्वथा मुक्त रखती हैं और देशहित, राष्ट्रसंवर्धन और जनसेवा में निरत रखती हैं।

३) (स्वः न) आत्मा के समान, आत्मीयता के साथ (शुक्रः) शक्ति (स्वाहा) सुहुत करे, संचारे।

शक्ति और संबल ही है जिसके द्वारा देश तथा राष्ट्र की रक्षा की जाती है।

४) (स्वः न) आत्मा के समान, आत्मीयता के साथ (ज्योतिः) ज्योति, आत्मज्योत्स्ना (स्वाहा) सुहुत करे, संचारे।

जन जन आत्मा की ज्योति से द्योतित होकर, आध्यात्मिकता से अलंकृत हो, तब ही राष्ट्र की यज्ञियता सुस्थिर रहती है।

५) (स्वः न) आत्मा के समान, आत्मीयता के साथ (सूर्यः) ब्रह्मप्रकाश (स्वाहा) सुहुत करे, संचारे।

ब्रह्मसूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होकर ही जन-जीवन जगमगाता है और राष्ट्र सम्यक् प्रकाशता है।

आत्मा के समान घर्म सुहुत,
आत्मा के समान किरण सुहुत,
आत्मा के समान शुक्र सुहुत,
आत्मा के समान ज्योति सुहुत,
आत्मा के समान सूर्य सुहुत ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१००० **अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं वयसा बृहन्तम् ।**
तेन वयं गमेम ब्रध्नस्य विष्टपं स्वो रुहाणा अधि नाकमुत्तमम् । य १८.५१
अग्निम् युनज्मि शवसा घृतेन दिव्यम् सु-पर्णम् वयसा बृहन्तम् । तेन वयम् गमेम ब्रध्नस्य विष्ट-पम् स्वः रुहाणाः अधि नाकम् उत्-तमम् ।

धर्म, अर्क, शुक्र, ज्योति और प्रकाश से युक्त हुआ प्रत्येक नागरिक आत्मसम्बोधन करता है, मैं (युनज्मि) युक्त करता हूं [अपने] (दिव्यम्) दिव्य, दिव्यताओं से युक्त (सु-पर्णम्) सु-पालयिता, सुपूर्ति-कर्ता, सु-पंख, (बृहन्तम्) महान् (अग्निम्) आत्माग्नि को (शवसा) आत्मसंबल से, (घृतेन) तेज से, स्नेह से, (वयसा) व्याप्ति से ।

आत्मा स्वरूप से दिव्य है ही । आत्मा सु-पर्ण है, बुद्धि-मन-पंखों से उड़नेवाला, और है वह जीवन का पालक और पूर्तिकर्ता । वह है अजरता, अमरता, प्रचेतना, इच्छाशक्ति, आदि गुणों से महान् । आत्म-साधना द्वारा प्रत्येक नागरिक उसे आत्मसंबल, आत्मतेज, आत्मस्नेह तथा व्यापनशीलता से युक्त रखे ।

(वयम्) हम, हम सब नागरिक (तेन) उससे, उस आत्मा के आश्रय से (स्वः रुहाणाः) स्वः पर आरूढ़ होते हुए, आनन्द पर आरोहण करते हुए, (ब्रध्नस्य) महान् [ब्रह्म] के (विष्ट-पम्) विष्ट/प्रविष्ट की रक्षा करनेवाले, (उत्-तमम्) उच्च-तम (नाकम्) आनन्दधाम [मोक्ष] को (अधि गमेम) अधिगमन करें, प्राप्त करें ।

यह आदर्श राष्ट्र के आदर्श नागरिकों की आदर्श जीवनपद्धति का चित्रण है । 'आनन्द पर आरोहण' से तात्पर्य आत्मा का आत्मानन्द से युक्त रहना है । आत्मानन्द की प्राप्ति महान् ब्रह्म में प्रविष्ट वा लीन रहने से होती है । ब्रह्मलीन रहने पर ब्रह्म का त्राण-कल्याणकारी रक्षण प्राप्त होता है, जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है । जहां मोक्ष की साध होती है वहां जीवन संजीवन होता है ।

मैं करता हूं युक्त दिव्य,
सुपर्ण, महान् आत्माग्नि को
बल से, तेज से, व्याप्ति से,
करते हुए स्वः आरोहण,
करें अधिगमन हम महान् के
विष्टप, उच्चतम मोक्षधाम को ।

१००१ **इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ याभ्यां रक्षांस्यपहंस्यग्ने ।**
ताभ्यां पतेम सुकृतामु लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः । य १८.५२
इमौ ते पक्षौ अ-जरौ पतत्रिणौ याभ्याम् रक्षांसि अप-हंसि अग्ने । ताभ्याम् पतेम सु-कृताम् उ लोकम् यत्र ऋषयः जग्मुः प्रथम-जाः पुराणाः ।

प्रत्येक नागरिक अपने अपने आत्माग्नि को सम्बोधता हुआ कहता है, (अग्ने) आत्माग्ने ! (ते) तेरे (इमौ पक्षौ) ये दो पंख [रहें] (अ-जरौ) अ-जर, अ-जीर्ण, स्वस्थ, नवीन और (पतत्रिणौ) उड़नेवाले, (याभ्याम्) जिनसे तू (रक्षांसि अप हंसि) राक्षसों को अप-हनता/मार भगाता है ।

स्वस्थ मस्तिष्क का परिष्कृत और गहन चिन्तन, तथा मन [हृदय] का शिव और अविचल संकल्प, ये दो आत्मा के बहुत ऊंची उड़ान भरनेवाले पंख हैं जिनके आश्रय से साधनाशील नागरिक स्वः-आरो-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हण करता हुआ उपर्युक्त उच्चतम धाम को प्राप्त करने की साधना में बाधक विकार, वासना, पाप, विरोध, प्रमाद, आदि राक्षसों को मार भगाता है।

हम (ताभ्याम् उ) उन[चिन्तन और संकल्प]के द्वारा ही (पतेम) उड़ें, उड़कर पहुंचें (सु-कृताम् लोकम्) सु-कृतों के लोक को (यत्र) जहां (प्रथम-जाः) प्रथम-जन्मा [अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा], (पुराणाः) पुराने, आदिम (ऋषयः) ऋषि (जग्मुः) पहुंचे थे।

आदर्श राष्ट्र के आदर्श नागरिकों की यह अद्-भुत साधनापरक उक्ति है। जहां सुकृत ही सुकृत होते हैं, जहां सुकर्म ही सुकर्म किए जाते हैं उसी की संज्ञा सुकृतों का लोक है। लोक शब्द का प्रयोग यहां स्थितिसूचक है। जिस प्रकार आदिम ऋषियों के जीवन सुकृतों में स्थित थे उसी प्रकार राष्ट्र के सकल नागरिकों के जीवन सुकृतों में संस्थित हों-ऐसे स्तुत्य नागरिकों का स्तुत्य राष्ट्र ही सच्चे रूप में सुकृतों का लोक है।

अग्ने ! तेरे उभय पंख ये
रहें अजर और उड़नेवाले,
जिनसे तू है मार भगाता राक्षसों को।
उनसे ही हम उड़कर पहुंचें
सुकृतों के उस सुलोक को
जहां थे पहुंचे प्रथम-जन्मा ऋषि पुराने।

१००२ **इन्दुर्दक्षः श्येन ऋतावा हिरण्यपक्षः शकुनो भुरण्युः।**
महान्त्सधस्थे ध्रुव आ निषत्तो नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः। य १८.५३

इन्दुः दक्षः श्येनः ऋत-वा हिरण्य-पक्षः शकुनः भुरण्युः। महान् सध-स्थे ध्रुवः आ नि-सत्तः नमः ते अस्तु मा मा हिंसीः।

आत्माग्नि के स्वरूप की अनुभूति के साथ यज्ञमय जीवनपद्धति से प्रशस्त नागरिकसमूह आत्मा की प्रशस्ति का प्रगान करते हैं,

१) (दक्षः) कर्मक्षमता से सुदक्ष, (श्येनः) बाज़, बाज़ के समान तीव्रता के साथ उड़नेवाला, कर्म-उड़ान भरनेवाला, (ऋत-वा) ऋत-वाला, सत्त्व-सम्पन्न, (हिरण्य-पक्षः) हिरण्य-पक्ष, सुनहरी-पार्श्व, दिव्य-ताओं से सर्वतः अलंकृत, (शकुनः) शक्यतासम्पन्न, सशक्त, (भुरण्युः) [जीवनराज्य का]भरक, पोषक, (महान्) महत्ता से सम्पन्न, (ध्रुवः) अविचल, सदा-सत्तावान्, अजर-अमर, (इन्दुः) आत्मबिन्दु (सध-स्थे) सह-स्थान में, जीवन-सदन में, हृदयाकाश में (आ नि-सत्तः) नितराम स्थित रहता है, नितराम् विराजा रहता है।

शरीर में प्रविष्ट होकर आत्मा अन्तिम क्षण तक उसमें निरन्तर सम्यक् विराजा रहता है।

२) (नमः ते अस्तु) नमन हो तेरे लिए।

जीवन में आत्मा ही नमनीय है। समस्त इन्द्रियां उसके प्रति नमें और उसकी प्रेरणा से प्रेरित होकर कर्म करें, उसी की प्रेरणा से प्रेरित रहें।

और अब आत्मा मानव मानव के प्रति कहता है, (मा मा हिंसीः) मुझे मत हिंस।

'आत्महनो जनाः' आत्महनन किया करते हैं। आसुरी वृत्तियों से युक्त होकर वे आत्मसाधना-विहीन रहते हैं और आत्महानि करते हैं। वही आत्मा की हिंसा है। यज्ञिय जीवनपद्धति से युक्त नागरिक आत्मसाधना द्वारा आत्मकल्याण के राही रहते हैं।

दक्ष, श्येन, ऋतसम्पन्न, हिरण्यपक्ष,
शक्त, पोषक, महान्, ध्रुव आत्मबिन्दु
सहस्थान में आ बैठा है।
नमस्कार तेरे लिए हो।
मुझे न हिंस।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१००३ दिवो मूर्धासि पृथिव्या नाभिरूर्गपामोषधीनाम् । विश्वायुः शर्म सप्रथा नमस्पथे ।
य १८.५४

दिवः मूर्धा असि पृथिव्याः नाभिः ऊर्क् अपाम् ओषधीनाम् । विश्व-आयुः शर्म स-प्रथाः नमः पथे ।

१) तू (असि) है (दिवः मूर्धा) प्रकाश का शिर, (पृथिव्याः नाभिः) पृथिवी की नाभि, (अपाम्, ओषधीनाम् ऊर्क्) जलों और ओषधियों का अन्न, (विश्व-आयुः) सर्व-आयु, सबका जीवन, (शर्म) सुख, आनन्द, (स-प्रथाः) स-विस्तार, व्यापनशील ।

आत्मा प्रकाश का मूर्धा है, सर्वोपरि प्रकाश है। मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां, सब आत्मा के प्रकाश से ही प्रकाशित हैं ।

आत्मा पृथिवी की नाभि है, पार्थिव देह का जीवनकेन्द्र है । आत्मा की ही चेतना और शक्ति से जीवनचक्र घूमता है ।

आत्मा ही जलों और ओषधियों का अन्न है । अन्न से ही प्राणी जीते और सशक्त होते हैं । सचमुच, आत्मा जीवन का अन्न है । जल [पेय] और ओषधि [खाद्य], जो कुछ पिया और खाया जाता है, उस सबका पाचन तभी तक होता है जब तक आत्मा का शरीर में निवास है ।

आत्मा ही विश्व-आयु है, सर्व-आयु है, जीवन-सर्वस्व है ।

आत्मा ही जीवन का शर्म है, सुख है, आनन्द है । जीवनरूप शर्म [सदन] में जो शर्म [सुख, शान्ति, आनन्द] है वह आत्मा से ही है ।

और है आत्मा स-प्रथाः, स-विस्तार, व्यापनेवाला । आत्मसंबल और आत्मज्योति के द्वारा ही मानव विस्तारता है, व्यापता है और विश्व में यश का भागी होता है ।

२) (नमः पथे) नमस्कार पथ के लिए ।

यज्ञिय राष्ट्र के देवोपम नागरिकों के लिए यज्ञिय जीवनपथ विहित है । उसके लिए वे सब नमें । सब नमनपूर्वक उस पर चलें ।

तू है शिर प्रकाश का,
नाभि पृथिवी की,
अन्न जलों का, ओषधियों का,
विश्वायु, शर्म, सप्रथा ।
पथ के लिए नमन ।

१००४ विश्वस्य मूर्धन्नधि तिष्ठसि श्रितः समुद्रे ते हृदयमप्स्वायुरपो दत्तोर्दधि भिन्त ।
दिवस्पर्जन्यादन्तरिक्षात् पृथिव्यास्ततो नो वृष्ट्याव । य १८.५५
विश्वस्य मूर्धन् अधि तिष्ठसि श्रितः समुद्रे ते हृदयम् अप्-सु आयुः अपः दत्त उद-धिम् भिन्त ।
दिवः पर्जन्यात् अन्तरिक्षात् पृथिव्याः ततः नः वृष्ट्या अव ।

अब नागरिक अपने यज्ञिय राष्ट्र का अभिनन्दन करते हुए कहते हैं,

१) तू (विश्वस्य मूर्धन् अधि तिष्ठसि) विश्व के शिर पर अधि-ष्ठित है ।

यज्ञिय नागरिकों का यज्ञिय राष्ट्र विश्व का मूर्धा [विश्वशिरोमणि] होना ही चाहिए ।

२) तू है विश्व का (श्रितः) श्रित ।

श्रित के प्रसिद्ध अर्थ हैं रक्षाकारी, सेवित, सम्पन्न, सहारा, आश्रय किया गया ।

विश्वशिरोमणि राष्ट्र विश्व की रक्षा करने की क्षमता रखता है । विश्व द्वारा वह सर्वतः सेवित होता है । वह सर्वतः सम्पन्न होता है । वह अन्य

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

राष्ट्रों का सहारा होता है। अन्य राष्ट्रों द्वारा उसका आश्रय लिया जाता है।

३) (समुद्रे ते हृदयम्) समुद्र में तेरा हृदय है।

विश्वशिरोमणि राष्ट्र का हृदय [आशय] समुद्र की तरह गहन, गम्भीर, तरंगित और भरा-पूरा होता है।

४) तेरा (आयुः) जीवन (अप्-सु) प्रजाओं में [यापित हो]।

प्रजाओं की सर्वांगीण उन्नति तथा समृद्धि में ही राष्ट्र का सम्पूर्ण आयुष्य और जीवन यापित हो।

५) (अपः दत्त) जल दे, (उद-धिम् भिन्त) समुद्र को भेद, सागर का भेदन कर, सागर को पार कर।

जिस प्रकार सूर्य सागर को भेदकर, बादलों को तोड़कर, जलों की वृष्टि करता है उसी प्रकार एक शिरोमणि राष्ट्र साधनों का भेदन करके विश्व में सुखैश्वर्य की वृष्टि करता है।

६) (दिवः) द्यौ से, (पर्जन्यात्) बादल से, (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से, (पृथिव्याः) पृथिवी से, (ततः) वहां से, जहां कहीं से, सब ओर से (वृष्ट्या) वृष्टि द्वारा (नः) हमारी, हम नागरिकों की (अव) रक्षा कर।

एक शिरोमणि राष्ट्र अपने समस्त नागरिकों पर सब ओर से सब प्रकार के सुखैश्वर्यों तथा सुरक्षणों की वृष्टि करता है। सम्पन्न और सक्षम राष्ट्र अपने नागरिकों को सम्पन्न और सक्षम बनाए रखता है।

तू है अधिष्ठित विश्व के सिर पर,
तू है श्रित।
है समुद्र में तेरा हृदय,
प्रजाओं में जीवन।
जल दे, भेद समुद्र को,
द्यौ से, बादल से, अन्तरिक्ष से,
पृथिवी से, जहां कहीं से,
वृष्टया रक्षा कर हमारी।

१००५ इष्टो यज्ञो भृगुभिराशीर्दा वसुभिः। तस्य न इष्टस्य प्रीतस्य द्रविणेहा गमेः।

य १८.५६

इष्टः यज्ञः भृगु-भिः आ-शीः-दाः वसु-भिः। तस्य नः इष्टस्य प्रीतस्य द्रविण इह आ गमेः।

१) (इष्टः यज्ञः) अभिलषित यज्ञ, इष्ट राष्ट्रयज्ञ (भृगु-भिः) तेजस्वियों द्वारा, तेजस्वी शासकों द्वारा, (वसु-भिः) राष्ट्रवासियों द्वारा, नागरिकों द्वारा (आ-शीः-दाः) अभिलाषाएं पूरी करनेवाला हो।

तेजस्वी शासकों तथा राष्ट्रनिष्ठ नागरिकों के पारस्परिक उद्योग तथा सहयोग से ही राष्ट्र राष्ट्रवासियों की अभिलाषाओं की पूर्ति करनेवाला बनता है। नागरिकों की अभिलाषाएं और आकांक्षाएं भिन्न भिन्न होती हैं। राष्ट्रवासियों के लिए प्रगति, समुन्नति, विकास तथा समृद्धि के सभी क्षेत्र निर्बाध खुले हों। सभी को सभी व्यवसायों और उद्योगों के चुनाव और बनाव की पूर्ण स्वतन्त्रता हों। सभी को समान रूप से अवसरों की ग्राह्यता हो। शासन और जनता अभिन्नता के साथ राष्ट्रयज्ञ के सुसम्पादन में सम्यक् संलग्न रहें। तभी राष्ट्र सबकी सब अभिलाषाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ और सक्षम होता है।

२) (नः) हमारे, हम राष्ट्रवासियों के (तस्य प्रीतस्य, इष्टस्य) उस प्यारे, अभिलषित [राष्ट्र] के (द्रविण) धन ! ऐश्वर्य ! वैभव ! (इह) यहां, सर्वत्र (आ गमेः) आ, प्राप्त रह।

राष्ट्र का धनैश्वर्य विशेष व्यक्तियों वा वर्गों में संगृहीत न रहकर सभी नागरिकों में समान रूप से वितरित होता रहे, शासनिक तथा सामाजिक व्यवस्था ऐसी सुचारु हो।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इष्ट यज्ञ हो आशीर्दा
भृगुओं, वसुओं द्वारा।

हमारे उस प्रीत इष्ट के वैभव !
यहां प्राप्त रह।

१००६ **इष्टो अग्निराहुतः पिपर्तु न इष्टं हविः। स्वगेदं देवेभ्यो नमः।** य १८.५७
इष्टः अग्निः आ-हुतः पिपर्तु नः इष्टम् हविः। स्व-गा इदम् देवेभ्यः नमः।

१) (इष्टः अग्निः) अभिलषित राष्ट्राग्नि, राष्ट्रप्रेम का कमनीयाग्नि (आ-हुतः) आ-हुति दिया गया, आहुति से प्रज्वलित होकर (नः) हमें, हम नागरिकों को (पिपर्तु) पूरे, पाले।

परिष्कृत हवियों की आहुति से यज्ञाग्नि का प्रज्वलन होता है। एवमेव, राष्ट्रनागरिकों की जीवनहवियों से राष्ट्राग्नि का प्रज्वलन होता है। राष्ट्रप्रेमाग्नि में होमी गई जीवनों की आहुतियां राष्ट्र को सक्षम, सम्पन्न और समृद्ध करती हैं। वैसा राष्ट्र राष्ट्रजनों को, सर्व नागरिकों को सम्यक् पालता, पोषता और उन्हें सर्वतः पूरता है।

२) (नः) हमारी, हम नागरिकों की, (इष्टम् हविः) अभिलषित हवि हो (स्व-गा) स्वयं [अनायास] प्राप्त होनेवाली।

हवि शब्द का प्रयोग यहां राष्ट्र के तप-श्रम-साध्य परिष्कृत धनैश्वर्य के लिए हुआ है। राष्ट्र की सुसम्पादित हवि, राष्ट्र का शुद्ध ऐश्वर्य सभी राष्ट्र-वासियों तक निर्बाधतया पहुंचे।

३) (इदम् देवभ्यः नमः) यह देवों [दिव्य नागरिकों] के लिए नमन।

यज्ञिय राष्ट्र में निवास करनेवाले सभी नागरिक देवोपम होते हैं। देवोपम होने से वे नमस्करणीय होते हैं। धन्य है यज्ञिय राष्ट्र, धन्य हैं यज्ञिय नागरिक।

इष्ट अग्नि, आहुत हो,
हमको पूरे, पाले।
हमें इष्ट हवि स्वयंसृत हो।
यह देवों के लिए नमन।

१००७ **यदाकूतात् समसुस्रोद्धृदो वा मनसो वा सम्भृतं चक्षुषो वा।**
तदनुप्रेत सुकृतामु लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः। य १८.५८
यत् आ-कूतात् सम्-असुस्रोत् हृदः वा मनसः वा सम्-भृतम् चक्षुषः वा। तत् अनु-प्र-इत सु-कृताम् उ लोकम् यत्र ऋषयः जग्मुः प्रथम-जाः पुराणाः।

यज्ञिय राष्ट्र के यज्ञिय नागरिकों को सम्बोधती हुई वेदमाता कहती है, यज्ञिय नागरिको ! यज्ञियता का (यत्) जो [प्रवाह तुम्हारे] (आ-कूतात्) भाव, चित्त से, (वा हृदः) वा हृदय से, (वा मनसः) वा मन से, (वा चक्षुषः) वा नेत्र से (सम्-भृतम्) सम्-धृत होकर (सम्-असुस्रोत्) सम्यक् प्रवाहित हुआ करता है उसे (सु-कृताम् तत् लोकम् उ) सुकर्माओं के उस लोक [आलोक] के प्रति ही (अनु-प्र-इत) निरन्तर प्रेरो (यत्र) जहां, जिस लोक [आलोक] में (प्रथम-जाः, पुराणाः ऋषयः) प्रथम-जन्मा, पुराने ऋषि (जग्मुः) पहुंचे थे।

यज्ञिय नागरिकों के प्रति यह एक समुदात्त प्रेरणा है। यज्ञिय नागरिकों के चित्त, हृदय, मन तथा नेत्र से निरन्तर यज्ञियता का प्रवाह प्रवाहित रहता है। उनके चित्त से सदा यज्ञिय भाव का, हृदय से यज्ञिय प्रेम तथा भावनाओं का, मन से यज्ञिय संकल्पों का, नेत्र से यज्ञिय दृष्टि का सुप्रवाह प्रवाहित रहा करता है। उन्हें चाहिए कि वे अपने

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इन सुपावन प्रवाहों को सुकर्मा ऋषियों के उस लोक [आलोक] के प्रति प्रवाहित रखें जिस लोक [आलोक] में प्रथम-जन्मा ऋषि, जिन पर वेदचतुष्टय प्रकट—प्रकाशित हुए, वैदिक विचार आचार से युक्त होकर वेद के आलोक में विचरा और जीवनयापन किया करते थे।

जो प्रवाह आकूत से, वा हृदय से,
वा मन से, वा चक्षु से सन्धृत होकर
प्रवाहित हुआ करता है
उसे निरन्तर प्रेरा करो
सुकर्माओं के उस आलोक के प्रति
जहां थे पहुंचे ऋषि प्रथमजा और पुराने।

१००८ **एतं सधस्थ परि ते ददामि यमावहाच्छेवधिं जातवेदाः।**
अन्वागन्ता यज्ञपतिर्वो अत्र तं स्म जानीत परमे व्योमन्।
[अ ६.१२३.१] य १८.५९

एतम् सध-स्थ परि ते ददामि यम् आ-वहात् शेव-धिम् जात-वेदाः। अनु-आ-गन्ता यज्ञ-पतिः वः अत्र तम् स्म जानीत परमे वि-ओमन्।

वेदमाता कहे चली जारही है,

१) (सध-स्थ) सह-स्थान ! राष्ट्र ! (यम् शेव-धिम्) जिस सुख-निधि [परमात्मा] को (जात-वेदाः) जात-प्रज्ञ, वेदज्ञ योगी (आ-वहात्) आ-वहन/प्राप्त/साक्षात्कार किया करता है (एतम्) इस[सुखनिधि]को (ते) तेरे [तुझ राष्ट्रसमूह के] लिए (परि ददामि) सर्वतः देती/उपदेशती हूं।

सधस्थ शब्द का प्रयोग यहां, प्रत्यक्षतः, राष्ट्र के लिए हुआ है। राष्ट्र वह सह-स्थान है जिसमें नागरिक-नागरिका सहनशीलता के साथ, साथ साथ, रहते हैं। अतः 'सधस्थ' से तात्पर्य नागरिकसमूह भी है। परमात्मा सर्व सुखों की अक्षय निधि है। जातप्रज्ञ योगी आत्मसाधना द्वारा उसका साक्षात्कार किया करता है। नागरिकसमूह को उसकी स्तुतिप्रार्थनोपासना करनी चाहिए। यज्ञिय राष्ट्र का नागरिकसमूह परम आस्तिक और ईशोपासक होना चाहिए।

२) (अत्र) यहां, इस संसार में [वह] (अनु-आ-गन्ता) सदा सर्वत्र आगत [प्राप्त, व्याप्त प्रभु] (वः यज्ञ-पतिः) तुम्हारा यज्ञ-पति हो, तुम नागरिकों के जीवनयज्ञों का रक्षक हो।

३) तुम (तम्) उसे (परमे वि-ओमन्) परम आकाश में (जानीत स्म) जानो ही, साक्षात् करो ही।

उन्हीं नागरिकों का जीवन यज्ञिय हो पाता है जो सर्वव्यापक यज्ञिय प्रभु को अपने जीवनयज्ञ का यज्ञपति बना लेते हैं। नागरिकों को चाहिए कि योगसाधना द्वारा उसे जानें और अपने हृदयाकाश में उसका साक्षात्कार करें। हृदयाकाश ही वह परम व्योम है जिसमें परम [ब्रह्म] का दर्शन होता है।

सधस्थ ! जिस सुखनिधि को
किया करता है आवहन जातवेदा,
उसे सर्वतः देती हूं मैं तेरे लिए।
यज्ञपति हो यहां तुम्हारा अन्वागन्ता।
उसे जानो ही परम व्योम में।

सूक्ति : **अन्वागन्ता यज्ञपतिर्वो अत्र।**
सर्वव्यापक प्रभु यहां तुम्हारा यज्ञपति हो।
तं स्म जानीत परमे व्योमन्।
उसे जानो ही परम व्योम में।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१००९ एतं जानाथ परमे व्योमन् देवाः सधस्था विद रूपमस्य।
यदागच्छात् पथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्ते कृणवाथाविरस्मै। य १८.६०
एतम् जानाथ परमे वि-ओमन् देवाः सध-स्थाः विद रूपम् अस्य। यत् आ-गच्छात् पथि-भिः देव-यानैः इष्टा-पूर्ते कृणवाथ आविः अस्मै।

१) (सध-स्थाः देवाः) सह-स्थानी देवो ! समान मातृभूमि में निवास करनेवाले दिव्य नागरिको ! (एतम्) इस[सुखनिधि ब्रह्म]को (परमे वि-ओमन्) परम व्योम में, परम आकाश [हृदयाकाश] में (जानाथ) जानो, (अस्य रूपम् विद) इसके निजरूप को पहचानो।

विद्युत् [बिजली] सर्वत्र है। उसकी शक्ति से असंख्य महान् कार्य हो रहे हैं। किन्तु उसके सौन्दर्य [प्रकाश] का दर्शन बिजलीयन्त्र से युक्त बल्ब में ही होता है। वैसे ही परम [ब्रह्म] सर्वत्र है। उसकी सत्ता तथा शक्ति सर्वत्र काम कर रही है। किन्तु उसके निज रूप [वरेण्य भर्ग तथा आदित्य वर्ण] का दर्शन आत्मा की ब्रह्मसमाहिति द्वारा हृदयाकाशरूप बल्ब में ही होता है। देवकोटि के नागरिक वे ही बनते हैं जो योग-जीवनपद्धति से सुशोभित रहते हुए ब्रह्म के संदर्शन में सब कार्य करते हैं।

२) (यत्) जो [सुखानन्दनिधि परमात्मा] (देव-यानैः पथि-भिः) देव-गमनीय पथों से (आ-गच्छात्) आया करता है, प्राप्त हुआ करता है

३) (अस्मै) इस[ब्रह्म की प्राप्ति]के लिए (इष्टा-पूर्ते) इष्ट और पूर्त, यज्ञ [श्रेष्ठतम कर्म] और पूर्ति [परोपकार], यज्ञीयता और जीवन की परिपूर्णता (आविः कृणवाथ) आविष्कार करो।

सुखानन्दनिधि परमात्मा की प्राप्ति देवयान पथों पर चलने से होती है, असुरयान पथों पर चलने से नहीं। देवयान पथ के पथिक ही उस परम सत्ता के निजरूप का दर्शन कर पाते हैं। देवयान पथ के पथिक ही उसकी प्राप्त्यर्थ इष्ट और पूर्त का आविष्करण करते हैं, श्रेष्ठतम कर्म और परोपकार-मय साधना आरम्भ करके यावज्जीवन आनन्दमग्न रहते हैं।

सधस्थ देवो !
इसको जानो परम व्योम में,
इसके रूप को पहचानो।
जो आया करता है देवयान पथों से
इसके लिए करो प्रकाशित
यज्ञ और परोपकार।

सूक्ति : एतं जानाथ परमे व्योमन्।
इसको जानो परम व्योम में।
विद रूपमस्य।
जानो रूप को इसके।

१०१० उद् बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते सं सृजेथामयं च।
अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत।
य १८.६१
[य १५.५४]
उत् बुध्यस्व अग्ने प्रति जागृहि त्वम् इष्टा-पूर्ते सम् सृजेथाम् अयम् च। अस्मिन् सध-स्थे अधि उत्-तरस्मिन् विश्वे देवाः यज-मानः च सीदत।

वेदमाता के सम्बोधनों से संबुद्ध होकर आदर्श राष्ट्र के आदर्श नागरिक इस मन्त्र से सदा अपने अपने आत्मा को उद्बुद्ध करते रहें,

१) (अग्ने) आत्माग्ने, (उत् बुध्यस्व) उद्-बुद्ध हो,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उत्कृष्ट बोध से युक्त रह, (प्रति जागृहि) प्रतिशः जागरित रह, प्रतिक्षण सजग–सचेत–सावधान रह।

आत्मबोध, आत्मचेतना, आत्मसजगता ही है जो यज्ञिय नागरिकों को यज्ञीयता की प्रतिक्षण, प्रतिशः रक्षा तथा वृद्धि करती है।

२) (त्वम्) तू [आत्मा] (च) और (अयम्) यह [शरीर], दोनों मिलकर (इष्टा-पूर्ते) इष्ट और पूर्त को/का (सम् सृजेथाम्) सं-सर्जन [सम्पादन] करो।

आत्मा और शरीर के संयोग का ही नाम है जीवन। मानवजीवन ही है जिसमें पूर्त के द्वारा इष्ट की पूर्णतया सिद्धि होती है। इष्ट है आत्म-ब्रह्म-साक्षात्कार द्वारा मोक्ष की प्राप्ति। पूर्त है योग-जीवनपद्धति-युक्त जीवनसाधना। आदर्श नागरिक इष्ट और पूर्त से सलग रहते हुए ही राष्ट्र की सनिष्ठ सेवा करते हैं।

३) (अस्मिन् उत्-तरस्मिन् सध-स्थे) इस उत्-तर जीवन-सहस्थान में [तुम] (विश्वे देवाः) सब इन्द्रिय-देव (च) और (यज-मानः) आत्म-यजमान (अधि सीदत) अधि-ष्ठित रहो।

जीवन एक सधस्थ है, सहस्थान है, साथ साथ रहने की जगह है, और है वह एक यज्ञशाला, श्रेष्ठ-तम कर्म और साधना करने का एक सुपावन धाम। आत्मा है यजमान; शुभश्रेष्ठकर्मा। शुद्ध, पवित्र, संयत और दिव्य इन्द्रियां हैं कर्मसाधना के सुपावन करण [साधन]। यज्ञिय नागरिक अपने आत्मा और इन्द्रियों के सहकार से अपने जीवन और राष्ट्र को उत्तरोत्तर उत् से उत्-तर, उत्कृष्ट से उत्कृष्ट-तर, वह [बह] से वहतर [बहतर] बनाते रहें।

अग्ने ! रह उद्बुद्ध,
रह जागता प्रतिक्षण प्रतिशः।
तू और यह करो सम्पादन
इष्ट और पूर्त।
इस उत्-तर सहस्थान में
रहो अधिष्ठित सारे देव और यजमान।

सूक्ति : **उद् बुध्यस्वाग्ने।**
उद्-बुद्ध रह, आत्माग्ने !
अग्ने प्रति जागृहि।
आत्माग्ने ! रह जागता प्रतिक्षण, प्रतिशः।

१०११ **येन वहसि सहस्रं येनाग्ने सर्ववेदसम्। तेनेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवे।**
[य १५.५५] य १८.६२
येन वहसि सहस्रम् येन अग्ने सर्व-वेदसम्। तेन इमम् यज्ञम् नः नय स्वः देवेषु गन्तवे।

और अब प्रबुद्ध नागरिक स्वयं अपने इष्ट देव से विनय करते हैं, (अग्ने) प्रकाशस्वरूप देव ! तू (येन) जिस[प्रकार]से (सहस्रम्) सहस्र को, असंख्य लोक-समूह को, (येन) जिस[प्रकार]से (सर्व-वेदसम्) सर्व-ज्ञान को (वहसि) वहन कर रहा है, (तेन) उसी [प्रकार] से (नः इमम् यज्ञम्) हमारे इस राष्ट्र-यज्ञ को (देवेषु स्वः गन्तवे) नागरिक-देवों में स्वः प्राप्त कराने के लिए (नय) लेचल, वहन करा।

स्वः का अर्थ आनन्द भी है और प्रकाश भी है। प्रकाश में ही आनन्द का निवास है। अपने जिस प्र-ज्ञान और प्र-बल से प्रभु अखिल सृष्टि और संज्ञान का प्रनयन कर रहा है, वह अपने उसी प्र-ज्ञान और प्र-बल का यज्ञिय राष्ट्र के यज्ञिय नागरिकों में संचार करे ताकि वे राष्ट्र की सम्पूर्ण तनू को आनन्द और प्रकाश से परिपूर्ण रखते हुए अपने राष्ट्र को सर्वतः यज्ञिय बनाए रहें।

ब्रह्माग्ने !
जिस प्रकार से तू सहस्र को,
जिस प्रकार से सर्वज्ञान को
वहन कर रहा है सम्यक्
उसी प्रकार से वहन करा तू
हमारे इस यज्ञ को
देवों में स्वः प्राप्त कराने के लिए।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

य १८.६३,६४

१०१२ प्रस्तरेण परिधिना स्रुचा वेद्या च बर्हिषा । ऋचेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवे ।

य १८.६३

प्र-स्तरेण परि-धिना स्रुचा वेद्या च बर्हिषा । ऋचा इमम् यज्ञम् नः नय स्वः देवेषु गन्तवे ।

प्रभो ! (प्र-स्तरेण, परि-धिना, स्रुचा, वेद्या, बर्हिषा च ऋचा) प्र-स्तर, परि-धि, स्रुक्, वेदि, बर्हि और ऋक् से (नः इमम् यज्ञम्) हमारे इस राष्ट्र-यज्ञ को (देवेषु स्वः गन्तवे) नागरिक-देवों में स्वः [प्रकाश, आनन्द] प्राप्त कराने के लिए (नय) लेचल, वहन करा ।

क्षत्रं वै 'प्रस्तरः' । 'प्रस्तर' नाम क्षत्र, शक्ति और प्रभुता का है । स्तृ (आच्छादने) धातु से, प्र-पूर्वक, 'प्रस्तर' शब्द बना है । क्षत्र ही राष्ट्र को प्रभुता से प्रभावी बनाता है ।

दिशः 'परिधयः' । दिशाएं परिधियां हैं । यहां 'परिधयः' से तात्पर्य देश की सब ओर की सीमाओं से है । क्षत्र के आश्रय से ही देश की सीमाओं की रक्षा तथा वृद्धि होती है ।

स्रु गतौ धातु से **स्रुक्** शब्द का जन्म हुआ है । **वाग् वै स्रुक्** । वाणी ही वह स्रुक्, स्रुच्, स्रुवा है जिसमें से सरस्वती की धारायें प्रवाहित होती हैं । यज्ञिय राष्ट्र के नागरिकों की वाणी सर्वत्र सरस्वती का प्रवाह प्रवाहित करती है ।

पृथिवी 'वेदिः' । सारी पृथिवी वह वेदि है जिस पर स्थित मानवप्रजा यज्ञानुष्ठान करती है । यज्ञिय राष्ट्र के नागरिकों के लिए सम्पूर्ण पृथिवी यज्ञस्थली है । वे पृथिवी पर सर्वत्र श्रेष्ठतम कर्मों का सम्पादन करते हैं ।

प्रजा वै 'बर्हिः' । मानव प्रजा ही वह बर्हि [आसन] है जिसपर सम्पूर्ण राष्ट्र स्थित रहता है । यज्ञिय राष्ट्र की प्रजा अपनी मातृभूमि और पितृ-राष्ट्र को अपने ऊपर सहारते और धारते हैं ।

ऋच् स्तुतौ । ऋक् नाम स्तुति, प्रशंसा, ख्याति, साख का है । यज्ञिय राष्ट्र के नागरिक अपनी मातृ-भूमि और अपने राष्ट्र की ख्याति की प्राणपण से प्रतिष्ठा करते हैं ।

प्रबुद्ध नागरिकों की यह विनय कितनी मार्मिक है ! वे उपर्युक्त छह अलंकारों से अलंकृत होकर अपने राष्ट्र की सम्पूर्ण तनू में प्रकाश और आनन्द का आप्लावन करते हैं ।

करा वहन हमारे इस यज्ञ को
प्रस्तर, परिधि, स्रुच्, वेदि, बर्हि,
ऋक् के आश्रय से
देवों में स्वः प्राप्त्यर्थ ।

१०१३ यद् दत्तं यत् परादानं यत् पूर्तं याश्च दक्षिणाः । तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत् ।

य १८.६४

यत् दत्तम् यत् परा-दानम् यत् पूर्तम् याः च दक्षिणाः । तत् अग्निः वैश्व-कर्मणः स्वः देवेषु नः दधत् ।

हमने दूसरों को (यत् दत्तम्) जो दिया, दूसरों से (यत् परा दानम्) जो लिया, एक दूसरे का (यत् पूर्तम्) जो पूर्तिकरण किया, (च) और (याः दक्षिणाः) जो वृद्धियां कीं, (स्वः वैश्व-कर्मणः अग्निः) आनन्दमय, विश्व-रचयिता, प्रकाशस्वरूप परमात्मा (तत्) उस[सब]को (नः) हमारे, [हमारे देश में निवास करनेवाले] (देवेषु) नागरिकदेवों में (दधत्) धारण [स्थापन] करे ।

यज्ञिय नागरिकदेवों का लेन-देन, एक दूसरे की सम्पूर्ति और संवृद्धि, सब कुछ सर्वभावना के साथ

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हो, स्वार्थपरता और शोषण की भावना से नहीं। प्रभु से की गई ऐसी यह कामना आदर्श राष्ट्रीय शील की द्योतक है।

जो दिया, जो लिया,
जो पूर्तिकरण और जो दक्षिणाएं,
आनन्दमय विश्वकर्मा अग्नि
स्थापन करे उसे
हमारे देवों में।

१०१४ **यत्र धारा अनपेता मधोर्घृतस्य च याः। तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत्।**

य १८.६५

यत्र धाराः अन्-अप-इताः मधोः घृतस्य च याः। तत् अग्निः वैश्व-कर्मणः स्वः देवेषु नः दधत्।

हमारा राष्ट्र (यत्र) जहां, जिसमें (मधोः च घृतस्य याः धाराः) माधुर्य तथा स्नेह की जो धाराएं (अन्-अप-इताः) अ-पृथक्-गत, निरन्तर [प्रवाहित होती रहती हैं], (स्वः वैश्व-कर्मणः अग्निः) आनन्दमय, विश्व-रचयिता, प्रकाशस्वरूप परमात्मा (तत्) उस [मधुरता और प्रेम के प्रवाह]को (नः) हमारे, [हमारे देश में निवास करनेवाले] (देवेषु) नागरिक-देवों में (दधत्) धारण [स्थापन] करे।

एक सच्चे और अच्छे राष्ट्र में सर्वत्र, निरन्तर मधुरता और प्रेम की धाराएं प्रवाहित रहती हैं। ऐसे उस राष्ट्र के सर्वमानवों ने प्रभु से जो यह कामना की है कि 'माधुर्य और प्रेम का वह प्रवाह हमारे नागरिकदेवों में अनवरत प्रवाहित रहे,' यह भी आदर्श राष्ट्र के आदर्श शील का परिचायक है।

जहां प्रवाहित हैं निरन्तर
मधु और घृत की जो धाराएं,
आनन्दमय, विश्वकर्मा अग्नि
करे स्थापन उसे हमारे देवों में।

१०१५ **अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।**
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम।

[ऋ ३.२६.७, सा ६१३] य १८.६६

अग्निः अस्मि जन्मना जात-वेदाः घृतम् मे चक्षुः अ-मृतम् मे आसन्। अर्कः त्रि-धातुः रजसः वि-मानः अ-जस्रः घर्मः हविः अस्मि नाम।

यज्ञिय राष्ट्र के एक यज्ञशील नागरिक और साधना-शील सभ्य-सभ्या की यह कितनी गहनाशयपूर्ण श्रेय-उक्ति है,

१) मैं (अग्निः अस्मि जन्मना जात-वेदाः) जन्म से जात-वेदा अग्नि हूं।

यहां जन्मगत स्वभाव, संस्कार और प्रकृति के लिए **जन्म** शब्द का प्रयोग हुआ है। जन्मगत संस्कार अमिट होते हैं। गर्भ में रहते हुए जो संस्कार अंकित होजाते हैं वे जन्म से लेकर जीवन के अन्तिम क्षण तक स्वभाव—प्रकृति-रूप होकर अन्तर्निहित रहते हैं। गर्भविज्ञान का यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। यज्ञिय राष्ट्र की यज्ञिया माताएं गर्भ में शिशु को अग्निरूप बनाती हैं। वे गर्भावस्था में अपनी साधना और अपना रहन-सहन, व्यवहार और आचार ऐसा दिव्य और संशुद्ध रखती हैं कि उनका जन्मा यावज्जीवन अग्नि के समान तपःपुञ्ज, तेजस्वी, प्रकाशक और पावक बना रहता है। साथ ही, होता है वह **जात-वेदाः**, जातमात्र को जाननेवाला, संज्ञानी, विज्ञानी, विवेकी। **यो वै यथा चिन्तयति तथा भवति;** अपने विषय में जो जैसा चिन्तन करता है

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वह वैसा ही होजाता है। यज्ञिय नागरिक आत्म-चिन्तन से भी और स्वभाव, संस्कार तथा प्रकृति से भी जातवेदाग्नि ही होता है। **अग्निर्वै अग्रणीर्भवति;** अग्नि नाम अग्रणी का भी है। संज्ञानी नागरिक जन्मतः, स्वभावतः ही अग्रणी, अग्रगामी, प्रगतिशील होता है।

२) (घृतम् मे चक्षुः) घृत है मेरा नेत्र।

घृत प्रतीक है स्निग्धता का, स्नेह का। 'मेरा नेत्र घृत है। मेरा नेत्र स्नेहमय है। मेरी दृष्टि में आत्मप्रेम निहित है। मैं सबको प्रेमभरी दृष्टि से देखता हूं।' शिष्ट और शालीन नागरिक की यह, निस्सन्देह, एक श्रेयोमय उक्ति है।

३) (अ-मृतम् मे आसन्) अमृत है मेरे मुख में।

'मेरे मुख में अमृत है। मैं अपने मुख से अमृत-मय वचन बोलता हूं। मैं अपनी वाणी से अमृत उंडेलता हूं।' ऐसी यह अमृतमयी वाक्-साधना है एक शालीन नागरिक की।

४) मैं (अस्मि) हूं (अर्कः त्रि-धातुः) त्रि-धातु अर्क, (रजसः विमानः) लोकसमूह का प्रेरक, (अ-जस्रः घर्मः) अ-क्षय प्रेमोष्मा, (हविः नाम) हवि नाम-वाला, नमनीय हवि।

यज्ञशील और साधनाशील नागरिक की यह श्रेयोक्ति चिन्तनीय तथा साधनीय है। वह कहता है, मैं हूं (त्रि-धातुः अर्कः) त्रि-धातु अर्क। निघण्टु (२.७) के अनुसार **अर्क** नाम अन्न का है, वज्र का है। **अर्च्** (पूजायाम्) धातु से उसकी व्युत्पत्ति है। अर्क नाम स्तुति, सूर्य-किरण, विद्युत्-कौंध और अग्नि का भी है। यहां इस शब्द का प्रयोग अन्न अर्थ में हुआ है। **धातु** शब्द का अर्थ है धारण करने-वाला। आत्मा शरीर का धातु [धारक] है। पर-मात्मा सृष्टि का धातु है। राजा राष्ट्र का धातु है। सूर्य प्रकाश का धातु है। चन्द्रमा चन्द्रिका का धातु है। इस प्रकार, धातु असंख्य और अनन्त हैं। मधु, और घृत की धाराओं के प्रसंग में यहां 'त्रिधातु अर्क' से तात्पर्य है मन, बुद्धि और चित्त का अन्न [पोषक, पोषण]। बुद्धि के पोषण से सुविचारों की धाराएं प्रवाहित होती हैं। मन के पोषण से शिव संकल्पों की धाराएं प्रवाहित होती हैं। चित्त के पोषण से सुवृ-त्तियों की धाराएं प्रवाहित होती रहती हैं। जहां इस त्रिधातु अन्न की पुष्टि होती रहती है वहीं चक्षु में स्नेह और मुख [वाणी] में अमृत होता है। मस्तिष्क विचारों का धातु [धारक] है, मन संकल्पों का, और चित्त वृतियों का। 'मैं त्रिधातु अन्न हूं,' साधनाशील नागरिक की इस उक्ति में आत्मसाधना का एक अतिगहन तत्त्व अन्तर्निहित है। यह शाब्दिक स्पष्टीकरण का नहीं साधनाजन्य अनुभूति की अपेक्षा रखता है। 'मैं त्रिधातु अर्क हूं। मेरे मस्तिष्क से ज्ञानान्न अथ वा बोधिसत्त्व का सम्पादन होरहा है। मेरे मन से शिवसंकल्पान्न का उत्पादन होरहा है। मेरे चित्त से सुवृत्तिसत्त्व का निष्पादन होरहा है।

मैं हूं (रजसः विमानः) लोकसमूह का प्रेरक। 'लोकसमूह' से तात्पर्य है राष्ट्र में निवास करनेवाले जनसमूह से, अपि च पृथिवी लोक से। यज्ञिय नाग-रिक का जीवन, निस्सन्देह, सबके लिए सर्वतः प्रेरणाप्रद होता है।

मैं हूं (अ-जस्रः घर्मः) अ-क्षय घर्म। घर्म नाम है प्रेम की गर्मी का, प्रेमोष्मा का। सचमुच, एक आदर्श नागरिक अपने मानस में अपने देश, राष्ट्र और विश्व के प्रति प्रेम की गर्मी से सदा गर्मागर्म रहता है।

मानस क्या वह नहीं प्रेम की गर्मी जिसमें।
मानव क्या जो नहीं प्यार करता मानव से।

मैं हूं (नाम हविः) नमनीय हवि। नम से नाम। नाम वही है जिसमें नमनीयता का गुण हो। हवि नाम है यज्ञ में हवनीय शुद्ध वस्तु का। एक आदर्श नागरिक अपने हविरूप शुद्ध जीवन को नमनीयता के साथ अपने राष्ट्र के प्रति अर्पित रखता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मैं हूं जन्मना जातवेदाग्नि,
घृत है मेरा नेत्र, मेरे मुख में है अमृत।
मैं हूं अर्क त्रिधातु, लोकसमूह का प्रेरक,
अक्षय घर्म, हवि नमनीय।

सूक्ति : अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः।
मैं जन्मतः संज्ञानी अग्रणी हूं।

घृतं मे चक्षुः।
मेरा नेत्र स्नेहमय है।
अमृतं म आसन्।
मेरे मुख में अमृत है।
हविरस्मि नाम।
मैं नमनीय हवि हूं।

१०१६ **ऋचो नामास्मि यजूंषि नामास्मि सामानि नामास्मि। ये अग्नयः पाञ्चजन्या अस्यां पृथिव्यामधि। तेषामसि त्वमुत्तमः प्र नो जीवातवे सुव।** य १८.६७

ऋचः नाम अस्मि यजूंषि नाम अस्मि सामानि नाम अस्मि। ये अग्नयः पाञ्च-जन्याः अस्याम् पृथिव्याम् अधि। तेषाम् असि त्वम् उत्-तमः प्र नः जीवातवे सुव।

अपनी श्रेय-उक्ति को जारी रखते हुए यज्ञिय साधनाशील नागरिक कहे चला जारहा है,

१) मैं (ऋचः नाम अस्मि) मैं ऋचाओं नाम हूं। **ऋच** स्तुतौ, गुण वर्णन करना। 'मैं ऋचाओं नाम हूं' से आशय है 'मैं हूं प्रशंसाओं का नमनकर्ता, गुणों का सत्कारकर्ता। मैं अपने देश और राष्ट्र के गुणों का नमनकर्ता तथा वर्धनकर्ता हूं।' एक राष्ट्रनिष्ठ सदैव अपने देश और राष्ट्र को गुणों का पुञ्ज बनाने, और देश-देशान्तरों में उनके गुणों का फैलानेवाला होता है। स्तुतियों का वाचक होने से ही ऋग्वेद के मन्त्रों की संज्ञा ऋचा है।

२) मैं (यजूंषि नाम अस्मि) मैं यजुओं नाम हूं। यजु नाम श्रेष्ठतम कर्मों के सम्पादन का है। श्रेष्ठतम कर्मों का प्रतिपादक होने से ही एक वेद का नाम यजुर्वेद है। यज्ञिय नागरिक जहां कहीं भी हो, सदा सर्वत्र श्रेष्ठतम कर्मों का सम्पादन करता है। वह कहीं, कभी, कोई ऐसे काम नहीं करता है जिनसे उसके देश और राष्ट्र का अपयश हो।

३) मैं (सामानि नाम अस्मि) सामों नाम हूं। सम से साम। साम नाम समत्व, समता, शमन, शालीनता, शील का है। ब्रह्मोपासना से सम की, शान्ति की, समत्व की सिद्धि होती है। इसी लिए ब्रह्मोपासनावेद का नाम सामवेद है। सुसंस्कृत नागरिक का व्यक्तित्व, परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्वादि की सकल समताओं से युक्त होता है।

४) (अस्याम् पृथिव्याम् अधि) इस पृथिवी के ऊपर (ये पाञ्च-जन्याः अग्नयः) जो पाञ्चजन्य अग्नि हैं (तेषाम् त्वम् उत्-तमः असि) उनमें से तू सर्वश्रेष्ठ है। इस पृथिवी पर निवास करनेवाले मानवों के पांच अग्नि हैं व्यक्तित्वाग्नि, परिवाराग्नि, समाजाग्नि, राष्ट्राग्नि, विश्वाग्नि। इन सबमें उत्तम है व्यक्तित्वाग्नि। जिस व्यक्ति में अपने व्यक्तित्व के सुनिर्माण का अग्नि प्रज्वलित होता है वही व्यक्ति अग्नि के समान अग्रणी, पावक और प्रकाशक बनता है। जिस परिवार में अपने उत्कर्ष का अग्नि प्रज्वलित होता है वही परिवार सर्वगुणसम्पन्न आदर्श परिवार बनता है। जिस समाज में अपने उत्थान और समुत्थान के साथ साथ विश्व में व्यापने का अग्नि प्रज्वलित होता है वही समाज मानवजाति की अपि च प्राणिमात्र की सच्ची सेवा करके सद्धर्म और सुसंस्कृति की विश्व में व्याप्ति करता है। जिस राष्ट्र में अपने संशोधन और संवर्धन का अग्नि प्रज्वलित होता है वही राष्ट्र वैश्वानर, विश्वनायक, विश्वपोषक और विश्वशिरोमणि बनता है। वही राष्ट्र सारे विश्व को एक अभिन्न, पवित्र, प्रिय परिवार में परिणत करता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पांचों अग्नियों में श्रेष्ठतम है व्यक्तित्वाग्नि। व्यक्ति व्यक्ति के सुनिर्माण से ही परिवार का सुनिर्माण होता है। व्यक्ति व्यक्ति के सुनिर्माण से ही समाज, राष्ट्र और विश्व का सुनिर्माण होता है। परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व, सब व्यक्तियों के समूह ही तो हैं। इसी लिए यज्ञिय राष्ट्र के नागरिक अपने अपने व्यक्तित्व को अग्नि के समान पावक, प्रकाशक और पोषक बनाते हैं, और, इस प्रकार वे अपने राष्ट्र को विश्वपोषक, विश्वशिरोमणि और विश्ववन्द्य बनाते हैं।

५) विश्वकर्मा, विश्वरचयिता प्रभु तू (नः जीवातवे) हमारे जीवन के लिए (प्र सुव) सुप्रेरणा कर।

विश्वकर्मा प्रभु से यज्ञिय नागरिकों की यह कितनी सुन्दर विनय है। 'हम सब नागरिक अपने व्यक्तित्त्वाग्नियों को उत्तमतया पावक और प्रकाशक बनाए रखें, हमें सदा ऐसी सुप्रेरणा करता रह।'

ऋचः नाम हूं, यजूंषि नाम हूं,
हूं सःमानि नाम।
हैं जो पाञ्चजन्य अग्नियां
इस पृथिवी के ऊपर,
उनमें से है तू उत्तम।
कर सुप्रेरणा हमारे जीवन के लिए।

सूक्ति : प्र नो जीवातवे सुव।
हमारे जीवन के लिए सुप्रेरणा कर।

१०१७ **वार्त्रहत्याय शवसे पृतनाषाह्याय च। इन्द्र त्वा वर्तयामसि।**
य १८.६८
[ऋ ३.३७.१, आ २०.१९.१]
वार्त्र-हत्याय शवसे पृतना-सह्याय च। इन्द्र त्वा आ वर्तयामसि।

(इन्द्र)! हम यज्ञिय नागरिक (त्वा) तुझे (आ वर्तयामसि) आ-वर्तते हैं, आश्रय करते हैं (वार्त्र-हत्याय च पृतना-साह्याय शवसे) वृत्र-विनाशक और संग्राम-सह संबल के लिए।

यज्ञिय नागरिकों की यह श्रेय-उक्ति और भी अधिक प्रशंसनीय है। पूर्व-मन्त्र में उन्होंने प्रभु से प्रार्थना की थी कि 'हमारे जीवन के लिए सुप्रेरणा करता रह।' यहां वे अपने अपने आत्मा को सम्बोधते हुए कहते हैं, 'आत्मन्! हम मुझे पूर्णतया वर्तते हैं उस संबल के लिए जो वृत्रों का हनन और संग्रामों का सहन [मुक़ाबला] किया करता है।'

वृत्र शब्द का प्रयोग यहां पाप वा भ्रष्टाचार के लिए हुआ है और पृतना शब्द का संघर्ष तथा संग्राम के लिए। आत्मसंबल शस्त्रबल से अधिक महान् है। जिन नागरिकों के आत्माओं में आत्मसंबल होता है वे ही प्रभु की प्रेरणा से प्रेरित होकर अपने राष्ट्र को भ्रष्टाचारों से मुक्त रखते हैं और भ्रष्टाचारों के व्याप जाने पर उनका हनन, निवारण करते हैं। वे ही राष्ट्र के आन्तरिक संघर्षों तथा बाह्य संग्रामों [आक्रमणों] का मुक़ाबला करके विजय सम्पादन करते हैं।

इन्द्र! तुझे आ-वर्तते हैं हम
वृत्र-विनाशक और संग्राम-सह
आत्मसंबल के लिए।

१०१८ **सहदानुं पुरुहूत क्षियन्तमहस्तमिन्द्र सं पिणक् कुणारुम्।**
अभि वृत्रं वर्धमानं पियारुमपादमिन्द्र तवसा जघन्थ।
य १८.६९
[ऋ ३.३०.८]
सह-दानुम् पुरु-हूत क्षियन्तम् अ-हस्तम् इन्द्र सम् पिणक् कुणारुम्। अभि वृत्रम् वर्धमानम् पियारुम् अ-पादम् इन्द्र तवसा जघन्थ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१) (पुरु-हूत) बहु-आहूत ! बहुत पुकारे गए ! [सर्व-ज्ञात] ! (इन्द्र) आत्मन् ! (सम् पिणक्) पीस डाल, चूर चूर करदे (सह-दानुम्) सह-दा, भ्रष्टाचार करने का सह [बल] देनेवाले, (क्षियन्तम्) निवास और गति करनेवाले, (अ-हस्तम्) हस्त-रहित, बिना हाथवाले, (कुणारुम्) कुशब्द [कुप्रेरणा] करनेवाले [वृत्रम्=पाप, भ्रष्टाचार] को।

पाप भ्रष्टाचार का जनक है। पाप नाम भ्रष्ट चिन्तन का है। जब भ्रष्ट विचार मस्तिष्क में आकर निवास करता है तभी वह भ्रष्टाचार की ओर प्रवृत्त करता है। इस मन्त्रांश में वृत्र, पाप वा भ्रष्टाचार के लिए जो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं वे चिन्तनीय हैं। पाप **सह-दानु** है। सह=शक्ति। दानु=देनेवाला। पाप भ्रष्टाचार करने की शक्ति देता है। वह क्षियत् है [क्षि निवासगत्योः]; मस्तिष्क में निवास करके भ्रष्टाचार करानेवाला है। वह स्वयं **अहस्त** है और सहस्तों से भ्रष्टाचार कराता है। और है वह **कुणारु**, कुवाची, कु [बुराई, भ्रष्टाचार] की प्रेरणा करनेवाला। अन्तःकरण में भ्रष्टाचार की प्रेरणा करने से ही पाप कुणारु है।

ऐसे इस वृत्र का हनन सरल काम नहीं है। पुरुहूत इन्द्र ही इसका हनन करता है। पाप ऐसा बलवान् है कि बड़े बड़े बलवानों और विद्वानों को भी भ्रष्टाचार-रत कर देता है। जिनका जीवन आत्मिक होता है, जिनकी जीवनपद्धति आध्यात्मिक होती है, जिनके जीवन में आत्मा का शासन होता है वे ही वृत्र का हनन करते हैं, उसे पीस डालते हैं, उसे चूर चूर करते हैं। समृद्ध राष्ट्र के नागरिकों की जीवनपद्धति आत्मिक रहनी चाहिए, अन्यथा समृद्धि उनके लिए एक वरदान सिद्ध न होकर एक अभिशाप सिद्ध होती है।

२) (इन्द्र) आत्मन् ! तूने एक बार नहीं, अनेक बार, अपने (तवसा) बल से (वर्धमानम्) बढ़नेवाले, (पियारुम्) पेयी, पीनेवाले (अ-पादम्) पाद-रहित, बिना पैरवाले (वृत्रम्) वृत्र को (अभि जघन्थ) सब ओर हना है, मिटाया है।

समृद्धि जहां परम सुखदायी है वहां वह बहुत खतरनाक भी है। समृद्ध राष्ट्र को और उसके अधिनायकों को सदा यह ध्यान रखना चाहिए और शिक्षा दीक्षा की ऐसी शुद्ध व्यवस्था करनी चाहिए कि नागरिकों में मद्यपान, व्यभिचार, विलास और भ्रष्टाचार न व्यापने पाएं। यदि राष्ट्र में भ्रष्टाचार फैल भी जाए तो सद्यः नागरिकों की भोग-विलासमय जीवनपद्धति को आत्मिक, तपोमय और योगमय बनाने की व्यवस्था करनी चाहिए।

पाप **पियारु** है। इसका एक और गहन आशय भी है। सब ओर भ्रष्टाचार को फैलाकर पाप राष्ट्र के सत्त्व को पी जाता है और नागरिकों को सत्त्वहीन बना देता है। पाप के पैर नहीं हैं, फिर भी वह सर्वत्र पहुंच जाता है।

प्रहूत ! इन्द्र ! चूर चूर करदे सहदानु,
अन्तःवासी, हस्तहीन, कुणारु को।
इन्द्र ! तूने हनन किया है आत्मिक बल से
सब ओर बढ़ते हुए, पियारु, अपाद वृत्र को।

१०१९ **वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः। यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः।**

[ऋ १०.१५२.४, य ८.४४, सा १८६८, अ १.२१.२] य १८.७०

वि नः इन्द्र मृधः जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः। यः अस्मान् अभि-दासति अधरम् गमय तमः।

समृद्ध राष्ट्र के आदर्श नागरिक आत्मसम्बोधन को जारी रखते हुए कहे चले जा रहे हैं,

१) (इन्द्र) आत्मन् ! (नः) हमारे (मृधः) हिंसाकारियों को, हमारी वासनाओं को, हमारे भ्रष्टा-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

चारों को (वि जहि) विनष्ट करदे।

समृद्धिजन्य भ्रष्टाचार जब समूचे राष्ट्र के तनू में व्याप जाता है तो राष्ट्र को श्रेष्ठाचार से अलंकृत करना असम्भव नहीं तो बहुत कठिन तो हो ही जाता है। तब, जैसा कि पूर्व-मन्त्र की व्याख्या में कहा गया है, नागरिकों की भ्रष्ट, भोगमय जीवन-पद्धति को योगमय जीवनपद्धति में परिणत करने की आवश्यकता होती है। वैसा करने में केवल आत्मिक शक्ति ही सफलता-और सुफलता-दायिनी होती है। इसी आशय से यहां कहा गया है, 'आत्मन! हमारे भ्रष्टाचारों को निर्मूल करदे।'

२) इन्द्र ! (पृतन्यतः नीचा यच्छ) संग्रामेच्छुओं को नीचे दबादे ।

भ्रष्टाचारों के निवारण के लिए जहां शुद्ध शिक्षा दीक्षा की व्यवस्था करनी होती है वहां भ्रष्टाचारियों की सेनाओं से विपुल संग्राम भी करना होता है। अपने निहित स्वार्थों के लिए वे पग पग पर विरोध और बाधाएं उपस्थित करते हैं। उनके साम्मुख्य और शमन के लिए आत्मशक्ति प्रमुख शस्त्र वा साधन का काम करती है। भ्रष्टाचार-निवारण के विरोधियों के लिए ही यहां पृतन्यत् शब्द का प्रयोग हुआ है।

३) इन्द्र ! (यः तमः) जो तम (अस्मान्) हमें (अभि-दासति) सर्वतः उपक्षीण करता है, हमारा और हमारे राष्ट्र का सर्वथा विनाश करता है, उसे (अधरम् गमय) अध-र पहुंचा, अध-र उठा लेजा, सर्वथा दूर करदे।

तम शब्द का प्रयोग यहां अन्धकार, अविवेक के लिए हुआ है। समृद्ध राष्ट्र के नागरिक जब स्वार्थान्ध होकर भ्रष्टाचार में लथ-पथ होजाते हैं तो देश में अविवेकरूप तम छा जाता है। तब राष्ट्र के विवेकी नायक और प्रणेता अपने आत्मसंबल को संभालकर खड़े होते हैं, राष्ट्र में विवेक का प्रकाश करके भ्रष्टाचार को मार भगाते हैं।

इन्द्र ! मृधों को कर विनष्ट तू,
नीचे दबा पृतन्यतों को।
जो तम हमें उपक्षयता है,
उसे अधर हटादे।

१०२० **मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगन्था परस्याः।**
सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून् ताढि वि मृधो नुदस्व।
[ऋ १०.१८०.२, सा १८७३, अ ७.८४.३] य १८.७१

मृगः न भीमः कु-चरः गिरि-स्थाः परा-वतः आ जगन्थ परस्याः। सृकम् सम्-शाय पविम् इन्द्र तिग्मम् वि शत्रून ताढि वि मृधः नुदस्व।

१) पाप ! भ्रष्टाचार ! तू (भीमः) भयंकर, (कु-चरः) कु-चाली, (गिरि-स्थाः) पर्वत में स्थित, पर्वतीय गुहा में निवास करनेवाले (मृगः न) सिंह के समान (परा-वतः) दूर दूर से, दूर दूर तक (पर-स्याः) परों पर, पर [श्रेष्ठ] प्रजाओं पर (आ जगन्थ) आ-क्रमण किया करता है।

पाप वा भ्रष्टाचार जहां सिंहवत् भीम है, भयंकर है, वहां वह कुचर भी है, कुचाली भी है। और है वह गिरि-स्थाः, मानवजीवनरूप पर्वत की मस्तिष्कगुहा में निवास करनेवाला। उक्त गुहा में निवास करता हुआ वह परों पर, श्रेष्ठ प्रजाओं पर दूर दूर तक मार करता है, सर्वत्र व्याप जाता है। शासन तथा शिक्षा दीक्षा में तनिक भी शिथिलता आई कि वह श्रेष्ठ से श्रेष्ठ राष्ट्र के सम्पूर्ण तनू को भ्रष्ट करके समस्त नागरिकों में व्याप जाता है।

२) (इन्द्र) आत्मन् ! (पविम्) पावक, पवित्रता का

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सम्पादन करनेवाले, (तिग्मम्) तीक्ष्ण (सृकम्) वज्र [शस्त्र] को (सम्-शाय) सु-तीक्ष्ण करके (शत्रून्) शत्रुओं को, भ्रष्टाचारियों को (वि ताढि) विशेष ताड़ना कर, (मृधः) भ्रष्टाचारों को (वि नुदस्व) वि-च्छिन्न कर, छिन्न भिन्न कर।

'सृकः' वज्रनाम (निघण्टु २.२०); सरणशील शस्त्र का नाम सृक है। पू पवने [पवित्र करना] धातु से **पवि** शब्द बना है। आत्मसंबल ही वह तीक्ष्ण शस्त्र है जिसे सुतीक्ष्ण करके भ्रष्टाचारियों की प्रताड़ना की जाती है और उन्हें श्रेष्ठाचारी बनाया जाता है और भ्रष्टाचारों को छिन्न भिन्न किया जाता है। आत्मप्रताड़ना भी वह शोधक सृक है जिससे भ्रष्टाचारी श्रेष्ठाचारी बनते हैं। समृद्ध राष्ट्र के नागरिकों के लिए यहां यह एक स्वर्णसूत्र है। सुधार के लिए ताड़ना, आत्मप्रताड़ना का, प्रत्यक्षतः, अपना एक विशेष स्थान है। भ्रष्टाचारी नागरिक किसी भी राष्ट्र के सबसे बड़े शत्रु होते हैं।

भीम, कुवर, गिरि-स्थित सिंह-सम,
दूर दूर से दूर दूर तक
तू आक्रमण किया करता है परों पर।
इन्द्र ! सुशोधक, तीक्ष्ण शस्त्र को,
करके सम्यक् तीक्ष्ण, ताड़ना कर शत्रुओं को,
छिन्न भिन्न कर मृधों को।

१०२१ **वैश्वानरो न ऊतय आ प्र यातु परावतः। अग्निर्नः सुष्टुतीरुप।**
[अ ६.३५.१] य १८.७२
वैश्वानरः नः ऊतये आ प्र यातु परा-वतः। अग्निः नः सु-स्तुतीः उप।

(वैश्वानरः अग्निः) विश्व-नायक अग्नि (नः ऊतये) हमारी रक्षार्थ (परा-वतः) दूर से (आ) आए, [हमें सुरक्षा] (प्र यातु) प्राप्त कराए, (नः) हमारी (सु-स्तुतीः) सु-स्तुतियां (उप) उप-शृणोतु, सुने।

भ्रष्टाचार से मुक्त और श्रेष्ठाचार से युक्त राष्ट्र को यहां वैश्वानर अग्नि कहा गया है। अग्नि के समान प्रकाशक और पावक राष्ट्र ही वैश्वानर कहाता है और वह विश्व का सुनयन तथा सुरक्षण करता है। संकट पड़ने पर ऐसे उस राष्ट्र के प्रति विश्व के सकल मानव कहते हैं कि 'वह दूर से हमारी रक्षार्थ आए और हमें सुरक्षा प्राप्त कराए।' ऐसे उस राष्ट्र का आह्वान सुस्तुतियों [प्रशस्तियों] द्वारा किया जाता है।

वैश्वानर अग्नि हमारी रक्षार्थ
दूर से आए, प्राप्त कराए,
सुने हमारी सुस्तुतियां।

१०२२ **पृष्टो दिवि पृष्टो अग्निः पृथिव्यां पृष्टो विश्वा ओषधीरा विवेश।**
वैश्वानरः सहसा पृष्टो अग्निः स नो दिवा स रिषस्पातु नक्तम्।
[ऋ १.९८.२] य १८.७३
पृष्टः दिवि पृष्टः अग्निः पृथिव्याम् पृष्टः विश्वाः ओषधीः आ विवेश। वैश्वानरः सहसा पृष्टः अग्निः सः नः दिवा सः रिषः पातु नक्तम्।

समृद्ध वैश्वानर राष्ट्र के नागरिकों की यहां यह एक अतिगहन और परिचायक मंगलभावना है, जो (वैश्वानरः अग्निः) वैश्वानर अग्नि (दिवि पृष्टः) द्यौ में पृष्ट है, (पृथिव्याम् पृष्टः) पृथिवी में पृष्ट है, वह (पृष्टः) पृष्ट अग्नि (विश्वाः ओषधीः) समस्त ओषधियों में, अखिल सृष्टि में (आ विवेश) प्रवेश

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

किए हुए है, समाया हुआ है, व्यापा हुआ है (सः पृष्टः अग्निः) वही पृष्ट अग्नि [अपने] (सहसा) सहज बल से (नः) हमें (दिवा) दिन [में], (सः) वही (नक्तम्) रात [में] (रिषः पातु) हिंसा से बचाए।

पृष्ट शब्द की व्युत्पत्ति अनेक धातुओं से की जाती है। यहां इस शब्द का जन्म **पृषु** (सेचने) धातु से माना जाना सर्वथा सुसंगत है। 'एक वैश्वानर अग्नि है जो द्युलोक में, पृथिवी लोक में पृष्ट है, सिंचित है; जो अपनी सर्वव्याप्ति से अखिल विश्व को सींच रहा है, वही पृष्ट अग्नि अपने सर्वसह सामर्थ्य से, अन्तःप्रेरणा द्वारा, हमें प्रतिदिन, प्रतिरात्रि हिंसा से बचाए', समृद्ध राष्ट्र के यज्ञिय नागरिकों की यह भावना कितनी सार्थक है!

हिंसा दो प्रकार की होती है, एक आत्महिंसा, दूसरी परहिंसा। समृद्ध राष्ट्र के नागरिक व्यसन-विलासों के लिए अपनी समृद्धि का उपयोग कर रहे होते हैं तो वे आत्महिंसा कर रहे होते हैं। व्यसन-विलास नास्तिकता और अधार्मिकता के गर्त में गिरा देते हैं। इस प्रकार वे **आत्महनो जनाः**, (यजुर्वेद ४०.३) बन रहे होते हैं। 'आत्महनो जनाः' बनने पर उनमें स्वार्थपरता का बाज़ार गरम होता है, जिसके परिणामस्वरूप वे एक दूसरे को मारने, मिटाने और सताने में लीन होजाते हैं, जिसका परिणाम होता है नागरिकों का पतन, राष्ट्र का ह्रास और जनत्रास।

किसी भी समृद्ध राष्ट्र के नागरिकों को दोनों ही प्रकार की हिंसा से अपने आपको मुक्त रखना चाहिए। ऐसा तभी सम्भव होता है जब वे वैश्वानर अग्नि की भक्ति में निरत और धर्म में सुरत रहते हैं।

वैश्वानर अग्नि पृष्ट द्यौ में,
पृष्ट पृथिवी में,
पृष्ट किए हुए प्रवेश
सकल ओषधियों में [सृष्टि में]।
वही पृष्ट अग्नि सहसा हमें बचाए
दिन में, रात में, हिंसा से।

सूक्ति : स नो दिवा स रिषस्पातु नक्तम्।
वह ही दिन में, वह ही रात में,
हमें हिंसा से बचाए।

१०२३ **अश्याम तं काममग्ने तवोती अश्याम रयिं रयिवः सुवीरम्।**
अश्याम वाजमभि वाजयन्तोश्याम द्युम्नमजराजरं ते।
य १८.७४
[ऋ ६.५.७]

अश्याम तम् कामम् अग्ने तव ऊती अश्याम रयिम् रयि-वः सु-वीरम्। अश्याम वाजम् अभि वाजयन्तः अश्याम द्युम्नम् अ-जर अ-जरम् ते।

और अब वे वैश्वानर अग्नि से प्रार्थना करते हैं,

१) (अग्ने) प्रकाशस्वरूप! हम (तव ऊती) तेरी रक्षा [कृपा] द्वारा (तम् कामम्) उस कामना को (अश्याम) सेवन करें, संसाधना के आश्रय से पूरी करें।

कौन-सी कामना को? पूर्व-मन्त्र में प्रकट की गई उस कामना को कि हम दिन रात हिंसा से बचें। हमारा समाज एक ऐसा समाज हो जिसमें कोई किसी की हिंसा न करके एक दूसरे की सस्नेह सेवा और सहायता कर रहा हो।

२) (रयि-वः) ऐश्वर्य-वन्! हम (सु-वीरम् रयिम्) सु-वीर ऐश्वर्य को (अश्याम) सेवन करें।

रयि का प्रयोग यहां आत्मैश्वर्य अथ वा आध्यात्मिक धन के लिए हुआ है। पुरुषार्थ करने पर भौतिक धन तो नास्तिकों को भी प्राप्त होजाता है। वह तो आत्मैश्वर्य ही है जो प्रभु की ऊति

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

[कृपा] से प्राप्त होता है। आत्मैश्वर्य ही सुवीरताओं से युक्त ऐश्वर्य है, सुवीरत्व का सम्पादक है। आत्मैश्वर्य से विहीन भौतिक ऐश्वर्य मानवों को कुवीर बनाता है।

३) (वाजयन्तः) संग्राम [संघर्ष] करते हुए [हम] (वाजम्) ज्योति, शक्ति (अभि अश्याम) सर्वतः सेवन करें।

वैदिक वाङ्मय में, **वाज** शब्द के तीन प्रसिद्ध अर्थ हैं ज्योति, शक्ति और संग्राम। सभी प्रकार के संग्रामों में शुद्ध और पूर्ण साफल्य वहीं प्राप्त होता है जहां ज्योति और शक्ति का संयोग होता है।

४) (अजर) अविनाशिन् ! हम (ते अ-जरम् द्युम्नम्) तेरे अ-विनश्वर द्युम्न को (अश्याम) सेवन करें।

द्युम्न नाम द्युति, दीप्ति, सौन्दर्य और धन का है। इस शब्द में मन के द्योतन का संस्कार है। अखिल सृष्टि में जहां जो द्युति है वह परम सुन्दर देव के सौन्दर्य की छटा है।

सौन्दर्य से तुम्हारे सुन्दर जहान सारा।
हर वस्तु में तुम्हारा सौन्दर्य प्यारा प्यारा।

'धन' नाम उस सम्पदा का है जो धन्यता प्राप्त कराए। धन उसी का सुधन्य है जो प्रभु के सौन्दर्य के संदर्शन में सम्पादन और सेवन किया जाता है। आत्मैश्वर्य और ब्रह्मसम्पदा ही अविनश्वर धन है। मिट्टी के खिलौने और मांटी के धन टूटने फूटने वाले हैं।

अग्ने ! तेरी कृपा द्वारा, सेवन करें हम उस इच्छा को,
ऐश्वर्यवन् ! सेवन करें हम सुवीर ऐश्वर्य को।
अभितः संघर्ष करते हुए हम सेवन करें वाज,
अजर ! सेवन करें हम तेरे अजर द्युम्न को।

सूक्ति : **अश्याम वाजमभि वाजयन्तः।**
संघर्ष करते हुए हम ज्योति और शक्ति सेवन करें।

१०२४ **वयं ते अद्य ररिमा हि काममुत्तानहस्ता नमसोपसद्य।**
यजिष्ठेन मनसा यक्षि देवानस्रेधता मन्मना विप्रो अग्ने।
[ऋ ३.१४.५] य १८.७५

वयम् ते अद्य ररिम हि कामम् उत्-तान-हस्ताः नमसा उप-सद्य। यजिष्ठेन मनसा यक्षि देवान् अ-स्रेधता मन्मना विप्रः अग्ने।

अपनी प्रार्थना को जारी रखते हुए वे कहे चले जारहे हैं,

१) (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! (उत्तान-हस्ताः वयम्) उत्तान-हस्त हम [नागरिकदेव] (अद्य) आज (नमसा) नमस्कारपूर्वक [तेरे] (उप-सद्य) समीप बैठकर (ते कामम् हि ररिम) तेरी इच्छा को/पर ही समर्पित होगए हैं/हुए हुए हैं।

उत्तान = उद्गतस्तानो विस्तारो यस्मात्। उत् = ऊंचा। तान = तना हुआ, फैला हुआ। **उत्तान-हस्त** में दो भाव निहित हैं। देनेवाले के हाथ ऊपर तने होते हैं, लेनेवाले के नीचे। दाता उत्तान-हस्त, आदाता [लेनेवाला] अधोहस्त। जब कोई महत्त्वपूर्ण घोषणा वा प्रतिज्ञा करता है तो दोनों हाथों को ऊपर उठाकर और फैलाकर करता है। सच्चे, समृद्ध राष्ट्र के यज्ञिय नागरिक अन्य राष्ट्रों को देते हैं, किसी से कुछ लेते नहीं। जो राष्ट्र अन्य देशों के अनुदानों और ऋणों पर पलते हैं उनके नागरिकों का मनोबल क्षीण, और आत्मसम्मान हीन होजाता है। जो राष्ट्र अपने स्वयं के हाथों से अपना विकास और संवर्धन करते हैं वे ही आत्मविश्वासी और आत्मनिर्भर होते हैं।

परमात्मा को सर्वव्यापक और सर्वज्ञ जानकर अपने को सदा उसके निकट, और उसे सदा अपने निकट जानना ही परमात्मा के पास बैठना है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यज्ञिय और समृद्ध राष्ट्र के यज्ञिय नागरिक उत्तान-हस्तता के साथ विश्व को अपनी देनें देते हुए, ऊपर हाथ उठाकर और भुजाओं को फैलाकर कहते हैं, 'प्रभो ! आज हम नमस्कारपूर्वक तेरी इच्छा पर ही समर्पित होगए हैं।' प्रभु को समर्पित नागरिक प्रभु की इच्छा को समझनेवाले, और प्रभु के होकर काम करनेवाले होते हैं। वे प्रभु के राज्य की प्रजा होते हैं, स्तेन के राज्य की नहीं। इसी आशय से वेदमाता ने यजुर्वेद १.१ में कहा है, **'मा व स्तेन ईशत'** = तुम पर स्तेन [शैतान] हुकूमत न करे। तुम प्रजापति की प्रजा बनकर रहो।

२) प्रकाशस्वरूप प्रभो ! (वि-प्रः) वि-प्रकृष्ट तू, निर्मल-निर्विकार तू (यक्षि) संगत कर, युक्त रख (देवान्) [हम] नागरिकदेवों को (यजिष्ठेन) अति-शय यज्ञशील, श्रेष्ठतम कर्म की प्रेरणा करनेवाले, (अ-स्रेधता) अ-हिंसाशील, शिव-संकल्प, (मन्मना) मननशील (मनसा) मन से।

कितनी मोहक और शोधक है नागरिकदेवों की यह विनय ! मानसिक यजिष्ठता, शिवसंकल्पता तथा मननशीलता किसी भी राष्ट्र के नागरिकों को यज्ञिय बना देती है।

अग्ने ! उत्तानहस्त हम आज नमसा
पास बैठकर, तेरी इच्छा पर ही समर्पित
हो गए हैं।
विप्र तू संगत रख देवों को
यजिष्ठ, अहिंसाशील, मननशील मन से।

सूक्ति : **वयं ते अद्य ररिमा हि कामम्।**
आज हम तेरी इच्छा पर ही समर्पित होगए हैं।

१०२५ **धामच्छदग्निरिन्द्रो ब्रह्मा देवो बृहस्पतिः। सचेतसो विश्वे देवा यज्ञं प्रावन्तु नः शुभे।**
य १८.७६

धाम-छत् अग्निः इन्द्रः ब्रह्मा देवः बृहस्-पतिः। स-चेतसः विश्वे देवाः यज्ञम् प्र अवन्तु नः शुभे।

ईशविनय के पश्चात्, नागरिकदेव मंगलकामना करते हैं, (धाम-छत् अग्निः) धाम-छत् अग्नि, (इन्द्रः) इन्द्र, (ब्रह्मा) ब्रह्मा, (देवः बृहस्पतिः) देव बृहस्पति, ये (विश्वे स-चेतसः देवाः) सब स-चेत देव (नः शुभे) हमारे शुभ् के लिए (यज्ञम्) राष्ट्रयज्ञ को/की (प्र अवन्तु) सु-रक्षा करें।

नागरिकदेवों के मुख से इस मन्त्र को बुलवाकर वेदमाता ने यहां एक गहन राष्ट्रीय संज्ञान का उद्-घाटन किया है। दिव्य देवों के चार वर्ग हैं जो किसी भी राष्ट्र के चरित्र, संबल और धर्म की रक्षा करके जन जन को सब प्रकार के दुरितों से बचाते हैं।

प्रथम वर्ग है धाम-छत् अग्नि। **धाम-छत्** का अर्थ है धामों को आच्छादन करनेवाला, सब धामों की रक्षा करनेवाला, सब प्रदेशों को प्रकाशित करनेवाला। **अग्नि** नाम अग्रणी का है। 'धाम-छत् अग्नि' से तात्पर्य यहां उस अग्रणी विरक्त वर्ग से है जो निष्काम भाव से समूचे देश में स्थान स्थान पर विचरते हुए राष्ट्रजनों को सत्य, सदाचार, न्याय और धर्म में रत तथा राष्ट्रसेवा और विश्वहित में निरत रखते हैं।

दूसरा वर्ग है इन्द्र। **इन् शत्रूणां दारयिता।** इन्द्र से तात्पर्य उस वीर वर्ग से है जो देश के आन्तर और बाह्य शत्रुओं का निराकरण करते हैं।

तीसरा वर्ग है ब्रह्मा। **ब्रह्मा** से तात्पर्य वेद-प्रचारक वर्ग से है। वेद केवल विद्यालयों की वस्तु नहीं है, घर घर की और जन जन की वस्तु है। वेदमन्त्रों की सरल, सुस्पष्ट और सुसंगत व्याख्याएं करके वेदों के संज्ञान और सुशिक्षाओं को घर घर और जन जन तक पहुंचाना तथा सर्व जनों को वेदाचारी बनाना ब्रह्मा वर्ग का काम है।

चौथा वर्ग है देव बृहस्पति, दिव्यताओं से

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

द्योतित आचार्य-आचार्या, अध्यापक-अध्यापिका। बृहस्पति नाम बृहत्-पति आचार्य का है। आचार्य वर्ग ही राष्ट्र का महान् पति है, राष्ट्र और विश्व का सुनिर्माता है, सुविचार और सदाचार का प्रस्थापक है, जीवन-तराश है, तराश-तराशकर जीवनों को अलंकृत करनेवाला है।

जिस राष्ट्र में ये चारों वर्ग अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित और सचेत रहते हुए राष्ट्रयज्ञ की सर्वतः रक्षा करते हैं तथा नागरिकों के शुभ के लिए सदा तत्पर रहते हैं, निस्सन्देह, उसी राष्ट्र के नागरिकों की जीवनपद्धति यज्ञिय बनी रहती है।

धाम-छदग्नि, इन्द्र, ब्रह्मा,
देव बृहस्पति, सब ही देव सचेत,
करें सुरक्षा राष्ट्रयज्ञ की शुभ के लिए हमारे।

१०२६ **त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄँः पाहि शृणुधी गिरः। रक्षा तोकमुत त्मना।**

[ऋ ८.८४.३, य १३.५२, सा १२४६] य १८.७७

त्वम् यविष्ठ दाशुषः नॄन् पाहि शृणुधि गिरः। रक्ष तोकम् उतम ना।

अब शासनाग्नि को 'यविष्ठ' शब्द से सम्बोधन करते हुए नागरिक देव कहते हैं,

१) (यविष्ठ) युवतम ! सक्षमतम ! बलवत्तम !
२) (त्वम्) तू (दाशुषः नॄन्) दानशील नरों को/की, अर्पित नागरिकों को/की (पाहि) रक्षा कर।
३) उनकी (गिरः) वाणिएं/पुकारें/प्रार्थनाएं (शृणुधि) सुन।
४) (उत) और [उनके] (तोकम्) सन्तान को/की (त्मना रक्ष) आत्मना रक्षा कर।

किसी भी राष्ट्र के शासन को पूर्णतः सक्षम रहना चाहिए। सक्षम शासन ही नागरिक—नागरिकाओं की सर्वतः रक्षा करने में समर्थ होता है। सक्षम शासन में ही न्याय, व्यवस्था, अनुशासन, मर्यादापालन तथा सदाचार सुस्थित और सुस्थिर रहते हैं। सक्षम शासन के प्रति ही प्रजा आत्म-निष्ठा के साथ अर्पित रहती है। सनिष्ठ प्रजा की रक्षा शासन का धर्म है।

जनपुकार को सतर्कता के साथ खुले कानों से सुनना, जनमत और जनप्रनिक्रियाओं से सदा अवगत रहना किसी भी जनसेवी और जनकल्याणी शासन के लिए एक भद्र कर्तव्य है।

सक्षम शासन के लिए सर्वातिशय महत्त्वपूर्ण कार्य है सन्तान का संरक्षण तथा सम्पोषण। आज की सन्तान ही कल के नागरिक और कर्णधार हैं। बच्चा मानव का पिता है। बच्चा-बच्ची पिता-माता बनते हैं। एक विवेकी और सक्षम राष्ट्र सन्तति के सुनिर्माण में आत्मयोग के साथ निरत रहता है। सन्तति का सुपोषण, शिक्षण और प्रशिक्षण पूर्ण तत्परता के साथ करना ही सन्तति की रक्षा करना है।

युवतम ! तू रक्षा कर
दानशील अर्पित प्रजा की।
सुन पुकार, त्मना रक्षा कर सन्तति की।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परिशिष्ट १

व्याख्या में विवेचित मन्त्रपद तथा धातुएं

अग्नि ११८६, ११९८-९९, १२००-०१, १२०४, १२०५, १२०७, १२०८
अर्क ११९९
√अर्च् ११९९
अहस्त १२०२
आर्द्रदानुः ११८४
इन्द्रः ११६३, ११८६, १२०७
इष्टः ११९६
उत्तानहस्त १२०६
उरुशंस ११८७
ऋक् (० चा) ११९७, १२००
√ऋच् ११९७, १२००
ऋत- ११७९-८०
ओषधयः ११८०
कुणारुः १२०२
ऋतुः ११५४
√क्षि १२०२
क्षियत्- १२०२
गन्धर्वः ११७९
गिरिस्थाः १२०३
गृहाः ११८४
घर्मः ११९९
घृतम् ११९९
जन्मन्- ११९८
जातवेदाः ११९८
ज्योतिः ११५४
तमः १२०३
त्रिधातुः ११९९
द्युम्नम् १२०६
द्यौः- ११८५-८६
धर्म ११७४
धातुः ११९९
धामच्छत् १२०७
धीतिः ११५४
नभः ११८४
नभस्वान् ११८४
नाम ११८०, ११९९
परिधयः ११९७
पवि १२०४
पियारु १२०२
√पू १२०४
पूर्त ११९६
पृतनाः १२०१
पृतन्यत् १२०३
√पृषु १२०५
पृष्टः १२०५

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रयतिः ११५४
प्रसवः ११५४
प्रसितिः ११५४
प्रस्तरः ११९७
बर्हिः ११९७
बृहस्पतिः ११८६, १२०७-८
ब्रह्मा १२०७
भुवनम् ११७२
मध्यतः ११७७
मयोभू ११८४
मरुत् ११८५
माता ११७४
मे ११५४
√यज् ११५३
यजमानः ११९६
यजुः १२००
यज्ञः ११५३, ११५४, ११७३
रयिः १२०५-६
राजा ११८७
लोकः ११९०
वरुणः ११८७
वाजः ११५४, ११७४, ११७५, १२०६
विश्य ११८७
विश्वकर्मा ११८३
विश्वायु ११९१
वृत्रः १२०१
वेदिः ११९७
वैश्वानरः १२०४
शंभू ११८४
शूद्रः ११८७
श्लोक ११५४
श्रवः ११५४
श्रित ११९१
श्रुतिः ११५४
सधस्थ ११९४, ११९६
सप्रथाः ११९१
सविता ११७४
सहदानुः १२०२
साम १२००
सुपर्ण ११८९
सुम्न ११८१
सूर्य ११८५-८६
सृक्क १२०४
√स्तृ ११९७
√स्रु ११९७
स्रुक् ११९७
स्वः ११५४, ११९६
स्वरः ११५४
हविः ११९३, ११९९

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परिशिष्ट २

व्याख्या में चर्चित प्रसंग

आत्मा ११८८, ११८९, ११९०, ११९५-९६, १२०१
आयु ११६९-७०
आश्रम ११६९-७०
ऋग्वेद १२००
ऋषि ११९०, ११९४
कल्प ११५४
क्षत्र ११७५, ११७९, ११८०, ११९७
क्षत्रिय ११८७
गर्भ विज्ञान ११९८
जीवन ११९६
जीवन पद्धति ११५३, ११९६
दान ११७६
धन १२०५-६, १२०६
नागरिक ११७२, ११७६, ११७७, ७८, ७९, ८६, ८७, ८८, ९०, ९१, ९२, ९३, ९४, ९६, ९७, ९८, ९९, १२००, १२०१, १२०४, १२०५, १२०७, १२०८
निघण्टु ११९९, १२०४
परमात्मा १२०६
पाप १२०२, १२०३
पुलिस-विभाग ११७२
पृथिवी ११९७
प्रजा ११९७
प्रसूति-गृह ११७१
बजट ११७२
ब्रह्म ११७५, ११७९, ११८०, ११८६-७
ब्रह्मचर्य ११७०
ब्रह्मचारी ११६९
ब्राह्मण ११८६-७
भ्रष्टाचार १२०२, १२०३, १२०४
यजुर्वेद १२००
रस ११७८
राजन्य ११८७
राष्ट्र ११७१-२, ११७६, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ९१, ९२, ९३, ९७, ९८, ९९, १२०३, १२०४
राष्ट्रनिष्ठा १९७३
राष्ट्रपति ११७९
वाक्(णी) ११९७, ११९९
विद्युत् ११९५
विज्ञान-विभाग ११७२
वेद १२०७
व्यक्ति १२००
व्यक्तित्व १२००, १२०१
शरीर विकास ११६९
शासन १२०८
सरस्वती ११९७
साम १२००
सामवेद १२००
हिंसा १२०५

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परिशिष्ट ३

वेदव्याख्या-ग्रन्थ [१८वां पुष्प] में व्याख्यात, यजुर्वेद [१८वां अध्याय] के मन्त्रों की

वर्णानुक्रम-सूची

[जो मन्त्र अन्य वेदों में भी मिलते हैं उनके प्रतीकों के पश्चात् * चिह्न लगा हुआ है। शेष (६३) मन्त्र केवल यजुर्वेद में हैं।]

मन्त्र-प्रतीक	अध्याय में मन्त्र-सं.	'वेदव्याख्या-ग्रन्थ' में मन्त्र-सं.	पृष्ठ-सं.
अंशुश्च मे रश्मिश्च	१९	९६८	११६४
अग्निं युनज्मि शवसा	५१	१०००	११८९
अग्निरस्मि जन्मना*	६६	१०१५	११९८
अग्निश्च म आपश्च	१४	९६३	११६१
" " इन्द्रश्च	१६	९६५	११६२
" मे घर्मश्च	२२	९७१	११६६
अश्मा च " मृत्तिका	१३	९६२	११६१
अश्याम तं काममग्ने*	७४	१०२३	१२०५
आग्रयणश्च मे वैश्व-	२०	९६९	११६५
आयुर्यज्ञेन कल्पतां	२९	९७८	११७३
इन्दुर्दक्षः श्येन ऋतावा	५३	१००२	११९०
इमौ ते पक्षावजसौ	५२	१००१	११८९
इषिरो विश्वव्यचा वातो	४१	९९०	११८१
इष्टो अग्निराहुतः पिपर्तु	५७	१००६	११९३
" यज्ञो भृगुभिराशीर्	५६	१००५	११९२
उद् बुध्यस्वाग्ने प्रति	६१	१०१०	११९५
ऊर्क् च मे सूनृता च	९	९५८	११५९
ऋचो नामास्मि यजूंषि	६७	१०१६	१२००
ऋतं च मेमृतं च	६	९५५	११५७
ऋताषाड्ऋतधामाग्निर्--	३८	९८७	११७९
एका च मे तिस्रश्च	२४	९७३	११६७
एतं जानाथ परमे व्योमन्	६०	१००९	११९५
" सधस्थ परि ते*	५९	१००८	११९४
ओजश्च मे सहश्च म	३	९५२	११५५
चतस्रश्च मेष्टौ च मे-	२५	९७४	११६९
ज्यैष्ठ्यं च म आधिपत्यं	४	९५३	११५६
तत् त्वा यामि ब्रह्मणा*	४९	९९८	११८७

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मन्त्र-प्रतीक	अध्याय में मन्त्र-सं.	वेदव्याख्या-ग्रन्थ में मन्त्र-सं.	पृष्ठ-सं.
व्यविश्च मे व्यवी च	२६	९७५	११७०
त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄं:*	७७	१०२६	१२०८
दिवो मूर्धासि पृथिव्या	५४	१००३	११९१
देवस्य त्वा सवितुः	३७	९८६	११७८
धामच्छदग्निरिन्द्रो ब्रह्मा	७६	१०२५	१२०७
पयः पृथिव्यां पय ओषधीषु	३६	९८५	११७८
पष्ठवाट् च मे पष्ठौही	२७	९७६	११७१
पृथिवी च म इन्द्रश्च	१८	९६७	११६३
पृष्टो दिवि पृष्टो अग्निः*	७३	१०२२	१२०४
प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो	४३	९९२	११८३
प्रस्तरेण परिधिना स्रुचा	६३	१०१२	११९७
प्राणश्च मेपानश्च	२	९५१	११५५
भुज्युः सुपर्णो यज्ञो	४२	९९१	११८२
मित्रश्च म इन्द्रश्च	१७	९६६	११६३
मृगो न भीमः कुचरो*	७१	१०२०	१२०३
यत्र धारा अनपेता	६५	१०१४	११९८
यदाकूतात् समसुस्रोद्	५८	१००७	११९३
यद् दत्तं यत् परादानं	६४	१०१३	११९७
यन्ता च मे धर्ता च	७	९५६	११५८
या वो देवाः सूर्ये	४७	९९६	११८६
यास्ते अग्ने सूर्ये रुचो	४६	९९५	११८५
येन वहसि सहस्रं	६२	१०११	११९६
रयिश्च मे रायश्च मे	१०	९५९	११५९
रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु	४८	९९७	११८६
वयं ते अद्य ररिमा हि*	७५	१०२४	१२०६
वसु च मे वसतिश्च मे	१५	९६४	११६२
वाजः पुरस्तादुत मध्यतो	३४	९८३	११७६
वाजश्च मे प्रसवश्च	१	९५०	११५३
वाजस्य नु प्रसवे*	३०	९७९	११७४
वाजाय स्वाहा प्रसवाय	२८	९७७	११७१
वाजो नः सप्त प्रदिशश-	३२	९८१	११७५
" नो अद्य प्र सुवाति	३३	९८२	११७६
वार्त्रहत्याय शवसे*	६८	१०१७	१२०१
वित्तं च मे वेद्यं च मे	११	९६०	११६०
वि न इन्द्र मृधो जहि*	७०	१०१९	१२०२

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मन्त्र-प्रतीक	अध्याय में मन्त्र-सं.	वेदव्याख्या-ग्रन्थ में मन्त्र-सं.	पृष्ठ-सं.
विश्वस्य मूर्धन्नधि	५५	१००४	११९१
विश्वे अद्य मरुतो विश्व*	३१	९८०	११७५
वैश्वानरो न ऊतय*	७२	१०२१	१२०४
व्रतं च म ऋतवश्च	२३	९७२	११६६
व्रीहयश्च मे यवाश्च	१२	९६१	११६०
शं च मे मयश्च मे	८	९५७	११५८
सत्यं च मे श्रद्धा च	५	९५४	११५६
स नो भुवनस्य पते	४४	९९३	११८३
समुद्रोसि नभस्वानार्द्र-	४५	९९४	११८४
सहदानुं पुरुहूत*	६९	१०१८	१२०१
सं मा सृजामि पयसा	३५	९८४	११७७
संहितो विश्वसामा	३९	९८८	११८०
सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्-	४०	९८९	११८१
स्रुचश्च मे चमसाश्च	२१	९७०	११६५
स्वर्णो घर्मः स्वाहा	५०	९९९	११८८

पाठक से

वेद-संस्थान इस पुस्तक की विषयवस्तु, लेखनशैली और आकार प्रकार के बारे में आपके विचारों के लिए आभारी होगा। अन्य कोई सुझाव आप देना चाहें तो उन्हें जानकर भी हमें प्रसन्नता होगी। हमारा पता है : बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर, भारत।

— ऊ —

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जन्म : १५ नवम्बर, १८९९ ई० । वेद-संस्थान के संस्थापकाध्यक्ष । वेदों के मर्मज्ञ व्याख्याकार, चिन्तक, कवि और संन्यासाश्रमी सन्त । वाणी में अद्भुत माधुर्य और हृदय को छू लेने की क्षमता । व्यक्तित्व जो तत्काल आकर्षित कर लेता है आत्मीयता, स्नेह, सरलता से । सतत कर्मरत, प्रतिक्षण साधनामय, भक्ति और निष्ठा से ओत-प्रोत जीवन । लेखन की शैली ललित, प्रसादगुणयुक्त, अनावश्यक विस्तार से रहित ।

'विदेह' का जीवन वेद और योग को समर्पित है । उन्होंने लोहे के चने समझे जानेवाले वेद को आबाल-वृद्ध, प्रत्येक हिन्दी-भाषी के लिए अतिसरल और रोचक, दैनंदिन जीवन में उपयोगी और प्रेरक ग्रन्थ बनाने में अभूतपूर्व और आश्चर्यकारी सफलता पाई है । उनकी वेद-व्याख्या वेद को मानव और मानवता की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में प्रस्तुत करती है, वेद के वेदत्व को निखारती है और उसे जीवन-ग्रन्थ, मानवधर्म-शास्त्र के रूप में प्रस्तुत करती है ।

'वेदव्याख्या-ग्रन्थ' विश्वाङ्मय का गौरव तथा हिन्दी वाङ्मय को लेखक की अमर देन है । जिसने भी इसे पढ़ा है वही मुग्ध हो उठा है । यह वेदों के आधुनिकीकरण, सरलीकरण, स्पष्टीकरण, और साथ ही उन्हें जनसुलभ और सुबोध बनाने का एक महान् प्रयास है, जो वेदों को 'रामचरित-मानस'-जैसा सरल ग्रन्थ बना देगा ।

वेदों की इस क्रमिक व्याख्यामाला में चारों वेदों का, जिस क्रम में वे हैं उसी क्रम में, मन्त्र-मन्त्र, सूक्त-सूक्त, अध्याय-अध्याय, और वेद-वेद की संगति लगाने का प्रयास किया जा रहा है, जो वेदाध्ययन के इतिहास में पहली बार इतनी गम्भीरता से किया जा रहा है । इसकी सफलता से वेद परस्पर असंबद्ध मन्त्रों का संकलन-मात्र नहीं रह जाएगा । लेखक प्रत्येक मन्त्र का एक सुनिश्चित अर्थ मानता है, यद्यपि गौण वृत्ति से अन्य अर्थ भी लिए जा सकते हैं । संयमपूर्वक योगाभ्यास से आत्म-अवस्थित होकर, अन्तःश्रवण और अन्तर्ज्योति के द्वारा मन्त्रार्थ को साक्षात् करना लेखक की पद्धति है । वेदों के आशय को स्वयं वेदों में पैठकर, न कि परतःप्रमाण-भूत ग्रन्थों की दासता स्वीकार करके, स्वयं वेदों के ही आश्रय से जानना, यह लेखक की विचारसरणि है ।

'वेदव्याख्या-ग्रन्थ' में प्रत्येक मन्त्र का पदच्छेद, अन्वय, पद्यानुवाद, सूक्तियां, तथा विशद, प्रेरणाप्रद, जीवनोत्थानकारी व्याख्या दी गई है ।

तीन रुपए पचास पैसे

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

स्वामी विद्यानन्द 'विदेह'
डॉ अभयदेव शर्मा

वेदव्याख्या-ग्रन्थ

उन्नीसवां पुष्प
(यजुर्वेद के १९वें अध्याय की व्याख्या)

जगती का आनन्दमयीकरण

वेद-संस्थान,
अजमेर
१९७८

मूल्य : सात रुपए

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

संस्थान-प्रकाशन-संख्या : ८२

यजुर्वेद-व्याख्या

उन्नीसवां पुष्प

जगती का आनन्दमयीकरण

स्वामी विद्यानन्द 'विदेह'
डॉ अभयदेव शर्मा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण : कार्तिक, २०३५ वि : नवम्बर, १९७८ ई
१,२०० प्रतियां

सम्पादिका : वीणा गोयल, एम ए (संस्कृत)

मूल्य : सात रुपए

卐

प्रकाशक : वेद-संस्थान, बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर ३०५ ००१; मुद्रक : प्रिण्ट हाउस, अजमेर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

निवेदन

इस शती के श्रेष्ठ वेदोपदेष्टा और अद्वितीय 'वेद-परवाने' श्री स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' की वेदार्थ के विकास की दिशा में चिर काल तक स्मरणीय और मननीय सर्वोत्कृष्ट देन उनका 'वेद-व्याख्या-ग्रन्थ' है। इस शीर्षक से वे चारों वेदों की व्याख्या प्रस्तुत करने का विचार रखते थे। पर काल के विधानानुसार यजुर्वेद के १९वें अध्याय के ८१वें मंत्र तक की ही व्याख्या वे लिख पाए। १८ अध्यायों की क्रमिक व्याख्या वे अपने जीवनकाल में प्रकाशित देख चुके थे।

श्री स्वामी जी द्वारा उनकी अपूर्ण वेदव्याख्यासाध को पूरा करने का यत्न करने की मुझे दी गई उनकी आज्ञा, *आज्ञा गुरूणामविचारणीया* के अनुसार, मेरे लिए एक पावन दायित्व के साथ साथ इस बहाने साधनासोपानों पर क्रमशः आरोहण करने और वेदमहोदधि के तल के रत्न चुनने के लिए प्रेरणारूप उनका दिव्य प्रसाद है।

१९वें अध्याय के अवशिष्ट १४ मंत्रों पर इन पंक्तियों के विनीत लेखक द्वारा व्याख्या लिखकर, इस अध्याय की यह 'विदेह'-व्याख्या वेदानुशीलकों की सेवा में प्रस्तुत है। इसका संपादन मेरी प्रिय शिष्या, वीणा गोयल ने श्रद्धा और परिश्रम के साथ किया है। मेरी संपादन-शैली को उन्होंने बड़ी द्रुति से समझ लिया, यह मेरे लिए संतोष की बात है।

यजुर्वेद के २०वें अध्याय की व्याख्या का लेखन आरंभ कर चुका हूं और यथाशीघ्र वह पाठकों की सेवा में प्रस्तुत होगी।

'वेदव्याख्या-ग्रन्थ' श्री स्वामी जो की परम प्रिय साधना थी। इसके लेखन का दायित्व मैंने ले लिया है पर इसके भावी प्रकाशन का दायित्व अपने कंधों पर उठाना वेदप्रेमियों के विचारने का विषय है। साधनों के अभाव में इसके प्रकाशन की गति वेद-संस्थान को कहीं मन्द न करनी पड़े। एक ऐसी स्थायी निधि की स्थापना की जानी चाहिए जिसके ब्याज से वेदव्याख्या-ग्रन्थों के भावी पुष्प सतत प्रकाशित होते रहें।

५ नवम्बर, १९७८

अभयदेव शर्मा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विषयक्रम

विषय	मन्त्र-सं.	पृष्ठ-सं.
विश्वसाधक की साध	१	१२०९
,, द्वारा संबोधन	२-५	१२११
,, को संबोधन	६	१२१४
,, की उक्ति	७	१२१६
,, को उत्प्रेरणा	८	१२१७
,, की प्रार्थना	९-११	१८१८
भेषजयज्ञ	१२-१३	१२२१
विश्वसाधक की साधना	१४-३२	१२२३
,, की प्रार्थना	३३	१२३९
,, की भावना	३४-३७	१२४०
,, की प्रार्थना	३८-४३	१२४४
,, की कामना	४४-४८	१२४७
जनता की विश्वसाधक को श्रद्धांजलि	४९-५१	१२५१
,, ,, के लिए प्रार्थना	५२-५४	१२५३
जनता द्वारा ,, का आतिथ्य	५५	१२५५
,, ,, अभिनंदन	५६-६३	१२५६
विवेकाग्नि	६४-६७	१२६२
जनता द्वारा विश्वसाधक को प्रणाम	६८-६९	१२६४
विश्वसाधक की प्रभु से विनय	७०	१२६६
,, का आत्मसंबोधन	७१-८१	१२६६
विश्वसाधक का ऐंद्र यज्ञ और रूप	८२-९३	१२७३
,, की ,, साधना	९४	१२८६
,, ,, ,, ,, का फल	९५	१२८७

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यजुर्वेद-व्याख्या

उन्नीसवां अध्याय

जगती का आनन्दमयीकरण

अठारहवें अध्याय में समृद्ध राष्ट्र के नागरिकों के लिए यज्ञमय जीवनपद्धति का निरूपण करके, इस अध्याय में, वेदमाता जगती [सम्पूर्ण पृथिवी] के स्वाद्वीकरण, तीव्रीकरण, अमृतीकरण और मधुरीकरण का प्रतिपादन करती है। यज्ञिय जीवनपद्धति से अलंकृत प्रत्येक समृद्ध राष्ट्र की और उस राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक की यह पूत साध होनी चाहिए कि अन्य राष्ट्रों को समृद्ध करके वह सारी पृथिवी को स्वाद्वी, तीव्रा, अमृता, मधुमती बनाए। पृथिवी माता के तनू के किसी एक अंग [देश] में भी पीड़ा होगी तो उसके सम्पूर्ण तनू में व्याकुलता रहेगी।

१०२७ **स्वाद्वीं त्वा स्वादुना तीव्रां तीव्रेणामृताममृतेन। मधुमतीं मधुमता सृजामि सं सोमेन। सोमोस्यश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व।**

य १९.१

स्वाद्वीम् त्वा स्वादुना तीव्राम् तीव्रेण अ-मृताम् अ-मृतेन। मधु-मतीम् मधु-मता सृजामि सम् सोमेन। सोमः असि अश्वि-भ्याम् पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्व इन्द्राय सु-त्राम्णे पच्यस्व।

प्रायः सत्ता भ्रष्ट करती है, और समृद्धि विलासी बनाती है। समृद्ध राष्ट्रों की विलासिता और उनका भ्रष्टाचार छूत रोगों की तरह फैलते फैलते सारी पृथिवी पर छा जाता है। भौतिकवादजन्य स्वार्थ-परता का नग्न ताण्डव हो रहा होता है। वसुन्धरा पर अरोचकता, शिथिलता, विषाक्तता और कटुता का दौर-दौरा होने लगता है। मानवप्रजा त्रस्त होकर त्राण और कल्याण के लिए चीत्कार कर-रही होती है। तब कहीं से भी आत्म-धुन का धनी उठता है, विश्वसाधक बनकर खड़ा होता है और जगती [पृथिवी] को सान्त्वना देता हुआ कहता है,

१) मैं [अपने] (स्वादुना) स्वादु [सोम—आनन्द] से (त्वा) तुझे (स्वाद्वीम्) स्वादवी—आनन्दमयी [(सम् सृजामि) सं-सर्जता/बनाता हूं]।

जगती को स्वाद्वी बनाने के लिए विश्वसाधक को प्रथम अपने आपको स्वादिष्ठ बनाना होता है। अपने आत्मा, चिन्तन, भावना, संकल्प, दृष्टि, श्रुति, वाणी, कृति, गति, जीवनसर्वस्व को स्वाद-मय बनाकर वह जगती के स्वाद्वीकरण की साध में सफलकाम हो पाता है। दुनिया कहरही होती है,

लुत्फ़ क्या जीने में जब लुत्फ़े ज़िन्दगी ही नहीं।
वह जीना ख़ाक है जिसमें कि कोई स्वाद नहीं।

और विश्वसाधक बोल पड़ता है,

मैं अपने स्वाद से स्वादिष्ठ बनाऊंगा तुझे।
मैं अपने लुत्फ़ से पुरलुत्फ बना दूंगा तुझे।

२) मैं [अपनी] (तीव्रेण) तीव्रता से ([त्वा] तीव्राम् [सम् सृजामि]) [तुझे] तीव्रा [सं-सर्जता/बनाता हूं]।

जीवन में जब स्वाद नहीं रहता है तो दुनिया में शिथिलता व्याप जाती है। विश्वसाधक अपनी तीव्रता से जगती में तीव्रता पैदा करता है। रेलवे का एक एंजिन जितनी तीव्र गति से चलता है उतनी ही तीव्र गति से उसमें जुड़े हुए डिब्बे भी दौड़ने लगते हैं। अपनी जीवनी और वाणी की प्रेरणामयी तीव्रता से वह जगती में तीव्रता का,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उमंग—उत्साह का संचार करता है। दुनिया कह रही होती है,

निराशा से शिथिलता का कुछ ऐसा दौर आया है।
कि बेक़दरी से है मायूस दिल हर एक इंसां का।

और विश्वसाधक बोल पड़ता है,

मैं अपने ओज से करता हूं ओजित सारी दुनिया को।
मैं अपनी तीव्रता से तीव्र करता हूं ज़माने को।

३) मैं [अपने] (अ-मृतेन) अ-मृत से ([त्वा] अ-मृताम् [सम् सृजामि]) [तुझे] अ-मृता [सं-सर्जता/बनाता हूं]।

स्वादविहीनता और शिथिलता से जगती का वातावरण विषाक्त होजाता है, अधार्मिकता और नास्तिकता की व्याप्ति से मानवों में आसुरी वृत्तियां पनपती हैं, दुनिया विषैली रंगरेलियों में निमग्न होकर सर्वनाश के कगार पर पहुंच जाती है। शोभन परम्पराओं का लोप होजाता है। मानवता कराहती हुई कहरही होती है,

जीना दुस्तर हुआ हुआ है विष से बुझी हुई दुनिया में।
मानव दानव से बदतर हो विष की बेलें बोए जारहा।

और विश्वसाधक बोल पड़ता है,

अपने अमृत से मैं जगती को अमृतमय बना रहा हूं।
मानव को निर्विष करके मैं मानवता को सजा रहा हूं।

४) मैं [अपने] (मधु-मता सोमेन) माधुर्य-युक्त प्रेम से ([त्वा] मधु-मतीम् सम् सृजामि) [तुझे] मधुरीली सं-सर्जता/करता हूं।

स्वादहीनता, शिथिलता और विषैले वातावरण की व्याप्ति से दुनिया में कटुता फैलती है। कटुता क्लेश की जननी है। कटुताजन्य क्लेशों से उद्विग्न हुई मानवप्रजा कहरही होती है,

कटुता से कड़वीली दुनिया में जीवन-आनन्द नहीं है।
जीने को जीते हैं लेकिन जीवन में प्राह्लाद नहीं है।

और विश्वसाधक बोल पड़ता है,

अपने मधुर प्रेम से मैं जगती को मधुमती बना रहा हूं।
विश्व-वाटिका में प्रफुल्लता-पुष्प सुरभित खिला रहा हूं।

प्रेम और प्रेरणा से ही संसार का बोधन और शोधन होता है, घृणा और धुत्कार से नहीं।

और अब विश्वसाधक के प्रति वेदमाता अपने सम्पूर्ण प्यार और दुलार के साथ कहती है,

१) तू (सोमः असि) सोम—चन्द्रमा है, चान्द्र गुणों से युक्त है।

वैदिक वाङ्मय में **सोम** शब्द के अनेक अर्थों में से एक अर्थ चन्द्रमा भी है। विश्वसाधक को चन्द्रमा के गुणों से युक्त होना चाहिए। उसे सदा चन्द्रमा के समान आह्लादित, शीतल, शान्त और खिला रहना चाहिए। काली घटाओं से घिरा होने पर जैसे चन्द्रमा बहुत सुन्दर प्रतीत होता है वैसे कठिनाइयों की घटाओं में उसका सौन्दर्य निखरना चाहिए। चन्द्रमा चांदनी रात में जैसे सागरों के जलों को तरंगित करता है वैसे वह जहां स्वयं तरंगित रहे वहां मानवप्रजाओं को भी तरंगित करता रहे। तरंगित-हृदय ही संसार में आनन्द का प्रसार कर पाते हैं। तरंगों पर तैरकर ही इस पार से उस पार पहुंचा जाता है।

२) (अश्वि-भ्याम् पच्यस्व) अश्वियों के लिए पका।

मस्तिष्क का चिन्तन और मन [हृदय] का संकल्प, ये दो अश्वी हैं, जिनका परिपाक किए बिना विश्वसाधक जगती का आनन्दमयीकरण न कर पाएगा। चिन्तन और संकल्प, यह आशुगामी युगल बहुत दूरगामी और ऊर्ध्वगामी है। चिन्तन का शुद्ध, पवित्र, गहन, शान्त और सहीनिर्णयकारी होना चिन्तन का परिपाक है। संकल्प का शिव, दृढ़ और परिणामकारी होना संकल्प का परिपाक है।

३) (सरस्वत्यै पच्यस्व) सरस्वती के लिए पका।

सरस्वती नाम सरस, सुबोधक और प्रकाशयित्री वाणी का है। चिन्तन और संकल्प की परिपक्वता के साथ, प्रत्यक्षतः, वाणी का परिपाक नितान्त आवश्यक है। परिपक्व वाणी के प्रवाह से मानव-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रजा का जितना बोधन और शोधन होता है उतना अन्य किसी प्रकार से नहीं। परिपक्व वाणी ही विश्वविजयिनी सिद्ध होती है। शस्त्र से जो विजय प्राप्त की जाती है वह कालान्तर में शस्त्र से ही परास्त कर दी जाती है। सरस्वती से विश्व को विजय करनेवालों का राज्य विश्व के मानवों के हृदयों में सदा स्थापित रहता है। विश्व को आनन्दमय बनाने के लिए विश्वसाधक को अनिवार्यतः सरस्वती के द्वारा विश्व को विजय करना होगा।

४) (सु-त्राम्णे इन्द्राय पच्यस्व) सु-तारक आत्मा के लिए पका।

आत्मा ही सु-तारक है। आत्मसंबल, निश्चय ही, तारनेवाला है। शस्त्रबल से आत्मसंबल कहीं अधिक प्रबल है। योग-जीवनपद्धति से युक्त रहते हुए आत्मसाधना द्वारा आत्मा का परिपाक होता है।

आत्मा के परिपाक से विश्वसाधक सतत—सन्तत—निरन्तर ब्रह्मस्थ रहता हुआ विवेक के प्रकाश से प्रकाशित रहता है, ठोकरों से स्वयं बचता और मानवों को बचाता रहता है।

मैं सं-सर्जता हूं तुझे
स्वादु से स्वादी, तीव्र से तीव्रा,
अमृत से अमृता, मधुर सोम से मधुमती।
सोम है तू; पका अश्वियों के लिए,
पका सरस्वती के लिए;
पका सुतारक इन्द्र के लिए।

सूक्ति : **अश्विभ्यां पच्यस्व।**
चिन्तन और संकल्प के लिए परिपाक कर।
सरस्वत्यै पच्यस्व।
सरस्वती के लिए पक्वता सम्पादन कर।
इन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व।
सुतारक आत्मा के लिए पक्वता सम्पादन कर।

१०२८ **परीतो षिञ्चता सुतं, सोमो य उत्तमं हविः।**
दधन्वाँ यो नर्यो अप्स्वन्तरा, सुषाव सोममद्रिभिः।
[ऋ ९.१०७.१, सा ५१२, १३१३] य १९.२
परि इतः सिञ्चत सुतम् सोमः यः उत्-तमम् हविः। दधन्वान् यः नर्यः अप्-सु अन्तः आ सुसाव सोमम् अद्रि-भिः।

वेदमाता की प्रेरणा से सम्प्रेरित हुआ विश्वसाधक पृथिवीस्थ समस्त मानवप्रजा को सम्बोधता हुआ कहता है,

१) (परि सिञ्चत) सर्वतः सींचो (इतः) अब से [प्रभु के इस] [सुतम्] उत्पन्न [पृथिवीलोक] को।

यह सृष्टि, यह पृथिवी सुत है, उत्पन्न है, देव सविता के द्वारा उत्पादित है। यह वसुन्धरा देव सविता की एक शोभन सुरचना है। यह तुम्हारे इष् [सुख] और स्वः [आनन्द] के लिए रची गई है। यह वह वेदि है जिस पर स्थित होकर तुम्हें लोक-परलोकसाधक यज्ञ करना है। विलास का अग्नि जलाकर तुमने इसे झुलस दिया है। अब आओ, सब मिलकर इसे श्रेष्ठतम हवि से सींचें। कौन-सी है वह हवि ?

२) [यह] (यः सोमः) जो प्रेम [है वही] (उत्-तमम् हविः) श्रेष्ठ हवि [है]।

हवि नाम हवनीय, होमनीय पदार्थ का है। आनन्दमयीकरण-यज्ञ में प्रेम-हवि श्रेष्ठ हवि है। इसी हवि की आहुति से यह झुलसी हुई वसुन्धरा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हरी-भरी, और यह दुःखित मानवप्रजा सुखी तथा आनन्दित होगी। प्रेम महत्तम है। प्रेम से बढ़कर अन्य कोई वस्तु देव सविता के इस समुत्पन्न संसार में नहीं है। प्रेमपूर्वक प्रेरणा करने से ही संसार का सुधार होता है। प्रेमपूर्वक सेवा की जाने पर ही दुनिया में सुखानन्द के सुप्रवाह प्रवाहित होते हैं।

३) (यः) जो (दधन्वान् नर्यः) धारणशील नरोत्तम [है वह] (आ सुसाव) सुसम्पादन किया करता है (आप्-सु अन्तः) प्रजाओं के भीतर (सोमम्) प्रेम को (अद्रि-भिः) अद्रियों द्वारा।

नर्यः नरेषु साधुः। जो नरों में साधुशील है, साधनाशील है वह नर्य है। जो नरों में भद्र है, मानवीय भद्रताओं से अलंकृत है वह नर्य है। नर्य, निस्सन्देह, धारणशील होता है। सहनशीलता के साथ वह मानवप्रजाओं के भीतर, उनके दिलों में प्रेम की स्थापना किया करता है, प्रजाओं के मानस में प्रेम-सोम का सुसम्पादन किया करता है। प्रत्येक विश्व-साधक नर्य है। विश्व के आनन्दमयीकरण के लिए नर्य विश्वसाधकों को अनिवार्यतः अपने साथ अद्रियों को लेना होगा। **अद्रि** नाम पर्वत और बादल का है। जो जन पर्वत के समान जीवन की ऊंचाइयों से ऊंचे और बादल के समान वर्षणशील [उदार] होते हैं वे ही प्रेमसोम का सुसम्पादन करते हैं। स्वल्प संख्या में ही क्यों न हों, प्रत्येक देश और राष्ट्र में अद्रियों की विद्यमानता होती है। खोजकर उन्हें साथ लिया जाना चाहिए।

सर्वतः सींचो अब से सुत को।
जो सोम, उत्तम हवि।
सहनशील जो नरोत्तम,
सुसम्पादन किया करता है
प्रजाओं में सोम, अद्रियों द्वारा।

१०२९ **वायोः पूतः पवित्रेण, प्रत्यङ् सोमो अतिद्रुतः। इन्द्रस्य युज्यः सखा।**
वायोः पूतः पवित्रेण, प्राङ् सोमो अतिद्रुतः। इन्द्रस्य युज्यः सखा।
[अ ६.५१.१] य १९.३
वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमः अति-द्रुतः। इन्द्रस्य युज्यः सखा। वायोः पूतः पवित्रेण प्राङ् सोमः अति-द्रुतः। इन्द्रस्य युज्यः सखा।

वा गतिगन्धनयोः। गति देनेवाला और गन्धवाहक होने से पवन का नाम वायु है। शरीर में जो गति और गन्ध है वह आत्मा से है। सृष्टि में जो गति और गन्ध है वह स्रष्टा ब्रह्म से है। यहां **वायु** शब्द का प्रयोग आत्मा के लिए हुआ है।

१) (वायोः पूतः सोमः) आत्मा का पवित्रकृत प्रेम (पवित्रेण) पवित्रता के साथ (प्रत्यङ्) प्रत्यक्ष (अति-द्रुतः) अति-धावन करनेवाला [होता है]।

प्रेम आत्मा का विषय है, दिल और दिमाग़ का नहीं। मस्तिष्क और हृदय भौतिक हैं। जहां इन दो को प्रेम का आधार बनाया जाता है वहां स्वार्थ, संकोच और विकार होता है। प्रेम का आधार जहां आत्मा होता है वहां प्रेम की व्याप्ति होती है और प्राणी प्राणी में निवास करनेवाले आत्मा के साथ आत्मीयता का सम्बन्ध जुड़ता है। प्राणी प्राणी में जो आत्मवत् आत्मा का दर्शन करता है वह, प्रत्यक्षतः, प्राणिमात्र में, मनुष्यमात्र के प्रति प्यार करता है। उसके प्रेम की गति बहुत तीव्र होती है, सर्वमय होती है।

२) प्रेम तो (इन्द्रस्य) आत्मा का (युज्यः सखा) युक्त सखा [है]।

प्रेम आत्मा का अभिन्न, कभी अलग न होने-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वाला मित्र है। आत्मा द्वारा आत्मवत् प्रेम किसी अवस्था में, कभी घृणा में परिवर्तित नहीं होता है।

३) (वायोः पूतः सोमः) आत्मा का पवित्रकृत सोम (पवित्रेण) पवित्रता के साथ (प्राङ्) प्रकृष्टतः (अति-द्रुतः) अति-तीव्रगामी, सर्वमय [होता है]। वह बहुत तीव्रता के साथ व्यापता है और व्यापता ही चला जाता है क्यों कि प्रेम (इन्द्रस्य युज्यः सखा) आत्मा का सदायुक्त मित्र [है]।

आत्मा से पूत प्रेम प्रत्यक्षतः
अतिधावता है पवित्रता के साथ,
आत्मा का युक्त सखा।
आत्मा से पूत प्रेम प्रकृष्टतः
अतिधावता है पवित्रता के साथ,
आत्मा का युक्त सखा।

१०३० **पुनाति ते परिस्रुतं, सोमं सूर्यस्य दुहिता। वारेण शश्वता तना।**
[ऋ ९.१.६] य १९.४
पुनाति ते परि-स्रुतम् सोमम् सूर्यस्य दुहिता। वारेण शश्वता तना।

और [प्रेममय प्रभो! मुझ] (सूर्यस्य) सूर्य की (दुहिता) दुहिता (वारेण, शश्वता तना) वरणीय, सनातन तनाव [विस्तार] से (ते) तेरे (परि-स्रुतम्) अभितः झरण/क्षरण करनेवाले (सोमम्) प्रेम को (पुनाति) पवित्र करती है।

विश्वसाधक की यह प्रीति-गीति एक गहन प्रेमानुभूति का प्रकाश कररही है।

दुह् (प्रपूरणे) धातु से **दुहिता** शब्द बना है। 'दुहिता' का अर्थ है दोहन—प्रपूरण करनेवाली। 'दुहिता' का अर्थ पुत्री इसलिए है कि वह पिता के कुल में रहती हुई पिता के कुल का और पति के कुल में रहती हुई पति के कुल का प्रपूरण करती है।

सूर्य प्रकाश का प्रतीक है। सूर्य शब्द का प्रयोग यहां प्रतीकात्मक है। श्रद्धा ही प्रकाश की वह दुहिता है जो संसाररूप सुन्दर शाश्वत तनाव में, सृष्टि के कण कण में और जगती के जन जन में क्षरण करनेवाले प्रेममय प्रभु के प्रेमसोम को पवित्र करती है। प्रेममय प्रभु का प्रेम सुन्दर सनातन सृष्टि के कण कण से निर्झरित होता है।

विश्वसाधक सूर्य के समान प्रकाश का पुञ्ज है। वह साक्षात् सूर्य है। उसकी आत्मश्रद्धा इस शोभन, सनातन विस्तृति [जगती] में प्रभु के परिस्रुता प्रेम को पवित्र रख रही है और उसे व्याप रही है। अतः प्रभु को सम्बोधन करते हुए उसने गाया है,

मुझ सूर्य की दुहिता पवित्र
करती है वरणीय, शाश्वत तना से
क्षरण करनेवाले तेरे प्रेम को।

१०३१ **ब्रह्म क्षत्रं पवते तेज इन्द्रियं, सुरया सोमः सुत आसुतो मदाय।**
शुक्रेण देव! देवताः पिपृग्धि, रसेनान्नं यजमानाय धेहि। य १९.५
ब्रह्म क्षत्रम् पवते तेजः इन्द्रियम् सुरया सोमः सुतः आ-सुतः मदाय। शुक्रेण देव देवताः पिपृग्धि रसेन अन्नम् यजमानाय धेहि।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रभु के प्रेम को आत्मश्रद्धा के साथ पवित्र रखता हुआ, सन्तत निखारता हुआ विश्वसाधक कहता है,

१) तेरा (सुतः आ-सुतः सोमः) पवित्र, पूर्ण-पवित्र प्रेम (मदाय) मदार्थ, [मस्ती के लिए/आनन्दार्थ] (सु-रया) सुरमणीयता के साथ (ब्रह्म, क्षत्रम्, तेजः, इन्द्रियम्) ब्रह्म, क्षत्र, तेज [और] इन्द्रिय इन्द्रिय को (पवते) पवित्र करता है।

सुत में एक नितान्त अमिश्रित शुद्धता का भाव निहित है। दूध एक मिश्रित वस्तु है। उसे जमाया। वह दही बन गया। दही को बिलोया। छाछ अलग होगई, लौनी अलग होगई। लौनी को आग पर तपाकर कपड़े में छाना। खट्टा अंश अलग होगया। शुद्ध घी बन गया। घी की स्थिति सुत है, नितान्त सुत है। अब उसमें कोई विजातीय द्रव्य मिश्रित नहीं है। घृत सुत है, आसुत है, पूर्ण-सुत है।

जिस प्रेम में मिलावट, दिखावट, स्वार्थ, वासना, मोह मिश्रित हो वह सुत सोम [अमिश्रित, निर्मल प्रेम] नहीं है। सुत आ-सुत प्रेम, नितान्त निर्मल प्रेम तो परम पावन प्रभु का है। उसी प्रेम में आनन्द है और वही प्रेम ब्रह्म [विवेक], क्षत्र [संबल], तेज और इन्द्रियग्राम को सदा शुद्ध, संशुद्ध रखता है।

२) (देव) परम पावन प्रभो! (शु-क्रेण) आशु-क्रम से, पवित्र पवित्रता से (देवताः) [मानव-] देवताओं को (पिपृग्धि) पूर दे, तृप्त-आप्लावित कर दे।

मानवदेवताओं के पूतीकरण से जगती का पूतीकरण और तृप्तीकरण होता है। मानवसमाज के अपवित्र होजाने से जगती में दुःख और क्लेश की वृद्धि होती है और, परिणामस्वरूप, मानव-समाज खोखला और तृष्णालु होजाता है। पवित्रता ही है जो मानवजीवन को मानवता से पूरित और परितृप्त रखती है।

३) देव! (यजमानाय) यज्ञशील के लिए (रसेन) रस से, सरसता के साथ (अन्नम्) अन्न, आजीविका (धेहि) धारण/प्रदान कर।

मानवसमाज में जब पवित्रता प्रस्थापित रहती है तो अन्न की सरसता सम्प्राप्त रहती है। अन्न शब्द का प्रयोग यहां आजीविका के लिए हुआ है। पवित्र साधनों से प्राप्त आजीविका में जो रस, आनन्द, सरसता होती है वह अन्यथा कहां!

पवित्र करता है प्रेम सुत आ-सुत
ब्रह्म, क्षत्र, तेज, इन्द्रिय को
आनन्दार्थ, सुरमणीयता के साथ।
देव! तृप्त कर देवताओं को
पवित्रता से,
यज्ञशील के लिए धारण कर
अन्न सरसता के साथ।

सूक्ति : **शुक्रेण देव! देवताः पिपृग्धि।**
देव! देवताओं को पवित्रता से तृप्त कर।
रसेनान्नं यजमानाय धेहि।
यज्ञशील के लिए सरसता के साथ अन्न प्रदान कर।

१०३२ **कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्, यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय।**
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि, ये बर्हिषो नमउक्तिं यजन्ति।
उपयामगृहीतोस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्ण एष ते योनिस्तेजसे त्वा वीर्याय त्वा बलाय त्वा।
[ऋ १०.१३१.२, य १०.३२, २३.३८, अ २०.१२५.२] य १९.६

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कुवित् अङ्ग यव-मन्तः यवम् चित् यथा दान्ति अनु-पूर्वम् वि-यूय। इह-इह एषाम् कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषः नमः-उक्तिम् यजन्ति। उप-याम-गृहीतः असि अश्विभ्याम् त्वा सरस्वत्यै त्वा इन्द्राय त्वा सु-त्राम्णे एषः ते योनिः तेजसे त्वा वीर्याय त्वा बलाय त्वा।

और अब उत्प्रेरणा करती हुई वेदमाता विश्वसाधक के प्रति कहती है,

१) (कु-वित्) ज्ञानिन् !

२) (अङ्ग) परम प्रिय !

३) (यथा चित्) जिस प्रकार (यव-मन्तः) जौ-वाले (यवम् दान्ति) जौ काटते हैं, (अनु-पूर्वम्) यथा-क्रम (वि-यूय) [भूसा, बूर, आदि] पृथक् करके [खाद्य पदार्थ बनाते और सेवन करते हैं] [वैसे तू] (इह-इह) यहां-यहां, सर्वत्र (एषाम् भोजनानि) इन[मानवों]के भोजनों को [निर्मल] (कृणुहि) कर।

विश्वसाधक को यहां **कु-वित्** [बुराइयों का ज्ञाता] तथा **अङ्ग** [परम प्रिय] सम्बोधनों से सम्बोधित किया गया है। मानवसमाज में जब दुरित व्याप जाते हैं तो पृथिवी आनन्दधाम न रहकर दुःखधाम बन जाती है। जगती के आनन्द-मयीकरण के लिए विश्वसाधक को दुरितों का सतत निराकरण और भद्रताओं का सन्तत समाकरण करते रहना चाहिए। आनन्दमयीकरण की संसाध का साधक होने से विश्वसाधक सबका परम प्रिय है।

यव [जौ] शब्द का प्रयोग यहां पूर्व-मन्त्र में प्रयुक्त **अन्न** शब्द के स्थान में हुआ है। जौ की खेती करनेवाला जौओं को काटकर उनकी भूसी दूर करता है। फिर उन्हें कूटकर वह उनका बूरा उतारता है। तब जौओं को पीसकर आटा बनाया जाता है। आटे को छानकर बूर दूर की जाती है। इस प्रकार अनुक्रम से शोधकर, आटे से विविध खाद्य पदार्थ बनाकर, निष्पन्न भोजनों का सेवन किया जाता है।

मस्तिष्काहार [विचार], नेत्राहार [दृष्टि], श्रोत्राहार [श्रवण], मुखाहार [अन्न], हृदयाहार [भावना]—प्रत्येक मानव के ये पांच भोजन हैं। विश्वसाधक मानवजाति के पांचों भोजनों को जब शुद्ध करेगा तभी इस पृथिवी का वास्तव में आनन्द-मयीकरण हो पाएगा। एतदर्थ उसे सर्व मानवों की भोग-जीवनपद्धति को योग-जीवनपद्धति में परिणत करना होगा।

४) उपर्युक्त पांचों भोजनों के संशोधन से मानव-प्रजा मर्यादापालक बनती है। तब (ये) जो (बर्हिषः) प्रवृद्ध [होते हैं वे] (नमः-उक्तिम्) नमः और उक्ति (यजन्ति) प्राप्त करते हैं।

नमः में नमन और शिरोधार्यता का, तथा **उक्ति** में शालीन वचन का भाव है। पांचों भोजनों के परिष्कृत होने पर वृद्धों, प्रवृद्धों को जन जन से नमः और उक्ति की प्राप्ति होती है। जहां बड़ों का मान होता है वहां आनन्द की वृद्धि और दुःख का नाश होता है।

५) तू (उप-याम-गृहीतः असि) पृथिवी-गृहीत है, तेरी साध सार्वभौम है, (त्वा अश्वि-भ्याम्) तुझे अश्वियों [मस्तिष्क और हृदय, चिन्तन और भावना] के लिए, (त्वा सरस्वत्यै) तुझे वाणी के लिए, (त्वा सु-त्राम्णे इन्द्राय) तुझे सु-तारक आत्मा के लिए [परिपाक करते रहना है]।

मस्तिष्क और हृदय के परिपाक से सरस्वती [सुप्रवाहा वाणी] का परिपाक होता है। परिपक्व सरस्वती के सुप्रवाह से मानवसमाज के सुतारक आत्मा का परिपाक वा उद्बोधन होता है। आत्मोद्बोधन से जगती में आनन्द की वृद्धि होती है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

६) (ते एषः योनिः) तेरी यह जीवनी (त्वा तेजसे) तुझे तेज के लिए, (त्वा वीर्याय) तुझे पराक्रम के लिए, (त्वा बलाय) तुझे बल के लिए [सम्प्राप्त है]।

प्रत्यक्षतः, अपनी सार्वभौम साध की सिद्धि के लिए विश्वसाधक को तेज, पराक्रम और बल की आवश्यकता है। उसकी जीवनी इस त्रित से आपूर भर-पूर रहनी चाहिए।

कुवित् ! अङ्ग !
जिस प्रकार यवमान् काटते हैं यव,
अनुक्रम से करते हैं पृथक्,
वैसे कर यहां-यहां इनके भोजनों को।
जो प्रवृद्ध हैं, प्राप्त करते हैं नमः-उक्ति।
तू है पृथिवी-गृहीत; तुझे अश्वियों के लिए,
तुझे सरस्वती के लिए, तुझे सुतारक इन्द्र के लिए
करते रहना है परिपाक।
तेरी यह योनि मिली है तुझे तेज के लिए,
तुझे पराक्रम के लिए, तुझे बल के लिए।

सूक्ति : ये बर्हिषो नमउक्तिं यजन्ति।
जो बुजुर्ग [होते हैं वे] नमन और सत्कार-वचन प्राप्त करते हैं।

१०३३ **नाना हि वां देवहितं सदस्कृतं, मा सं सृक्षाथां परमे व्योमन्।**
सुरा त्वमसि शुष्मिणी सोम एष, मा मा हिंसीः स्वां योनिमाविशन्ती। य १९.७
नाना हि वाम् देव-हितम् सदः कृतम् मा सम् सृक्षाथाम् परमे वि-ओमन्। सुरा त्वम् असि शुष्मिणी सोमः एषः मा मा हिंसीः स्वाम् योनिम् आ-विशन्ती।

विश्वसाधक की मंज़िल जितनी महान् और विशाल है, वह उतनी ही सतर्कता और सावधानी की अपेक्षा रखती है। उसके सामने दो सत्ताएं वर्तमान हैं, एक है माया [भौतिक सुखैश्वर्य तथा सौन्दर्य], दूसरी ब्रह्म। माया है शुष्मिणी सुरा और ब्रह्म है सोम। यदि कहीं वह मायासुरा का पान करने लगा तो उसका जीवन कलंकित होजाएगा और उसकी साध भ्रष्ट होजाएगी। वेदमाता की पूर्व-मन्त्र-स्थ प्रेरणा से प्रेरित और प्रभावित होकर विश्वसाधक द्यौ और पृथिवी के बीच स्थित होकर कहता है,

१) [माये ! ब्रह्म !] (वाम्) तुम दोनों का (देव-हितम्) देव-विहित, देवों में निहित (सदः) स्थान, फल (नाना हि कृतम्) [पृथक् पृथक्] ही किया गया [है]।

माया वा भौतिक सम्पदा का स्थान शरीर है, और उसका फल है शारीरिक सुखभोग। ब्रह्म [दिव्य वा दैवी सम्पदा] का स्थान है परम व्योम [हृदयाकाश], जहां आत्मा का निवास है। उसका फल है आत्मानन्द। मायाजन्य वा भौतिक जो कुछ है उसका उपयोग शारीरिक सुख और स्वास्थ्य के लिए होना चाहिए, विलास के लिए नहीं। ब्रह्म है आनन्दस्वरूप। आत्मा आत्मसाधना द्वारा ब्रह्मसमाहित रहकर आनन्द प्राप्त करता है और आनन्दित रहता है। माया का सही उपयोग शरीर को स्वस्थ, सुन्दर और नीरोग रखता है। उसका विकृत उपयोग जीवनसम्पदा को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। ऐसा दिव्य जनों ने विधान किया है और दिव्य जनों के जीवन में देखा जाता है।

२) तुम दोनों मेरे (परमे वि-ओमन्) परम व्योम में (मा सम् सृक्षाथाम्) मत सं-सर्ग करो।

व्योम तो यह अनन्त असीम आकाश है। परम व्योम क्या और कहां है ? हृदयाकाश ही परम व्योम वा परम आकाश है क्यों कि उसमें परम का,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परम ब्रह्म का दर्शन होता है। जहां परम का साक्षात् दर्शन होता है उसी हृदयाकाश का नाम परम व्योम है। हृदयाकाश में केवल ब्रह्म के प्रेम का निवास होना चाहिए, माया का नहीं। जब उसमें माया के प्रेम का प्रवेश होता है तो आत्मा को मायासुरा का नशा होजाता है और आत्म-विस्मृति होजाती है। फल यह होता है कि आत्मा ब्राह्म सम्पदा, ब्रह्मदर्शन और ब्रह्मानन्द से वञ्चित होकर क्लेशयुक्त तथा विषादग्रस्त रहता है। माया केवल शरीर तक सीमित रहनी चाहिए। परम व्योम में केवल आत्मसमाहिति, ब्रह्मदर्शन और ब्रह्मानन्द रहना चाहिए। परम व्योम में दोनों का मिश्रण न होना चाहिए। शरीर को स्वस्थ, और आत्मा को ब्रह्मस्थ रखकर ही विश्वसाधक जगती के आनन्दमयीकरण की साध में सफलकाम हो सकता है।

३) माये ! (त्वम्) तू (असि) है (सुरा शुष्मिणी) मदिरा शुष्म-कारिणी, (स्वाम् योनिम् आ-विशन्ती) अपने स्थान [शरीर] को प्रवेशती हुई, अपने आपको शरीररक्षा तक सीमित रखती हुई, (मा मा हिंसीः) मुझे मत हिंस।

शुष्म नाम बल का है, पोषक बल का नहीं शोषक बल का। सचमुच, माया मदिरा है बेहोश और दुर्गन्धित करनेवाली, और है शोषक बल का उत्तेजन करनेवाली।

'माया मुझे न हिंसे, लुभावनी माया की पहुंच मुझ तक न हो, माया मुझे आत्मविस्मृति से मूर्छित न करने पाए। उसका सदुपयोग मेरे शरीर तक सीमित रहे। मेरे परम व्योम में उसका प्रभाव न हो,' यह हृदयाकाशनिवासी आत्मा की आत्मोक्ति है।

४) (एषः) यह [ब्रह्म] (सोमः) सोम है, जिसके पान से आत्मा अजस्र ज्योति, प्रखर प्रकाश और अक्षय शक्ति से सम्पन्न होकर जगती का आनन्द-मयीकरण करता है।

तुम दोनों का देवहित स्थान और फल
पृथक् पृथक् ही किया गया है।
करो न तुम संसर्ग परम व्योम में।
तू है मदिरा शुष्मकारिणी,
अपने स्थान को प्र-वेशती हुई
तू मुझको मत हिंस;
यह है सोम।

१०३४ **उपयामगृहीतोस्याश्विनं तेजः, सारस्वतं वीर्यमैन्द्रं बलम्।**
एष ते योनिर्मोदाय त्वा,नन्दाय त्वा महसे त्वा। य १९.८
उप-याम-गृहीतः असि आश्विनम् तेजः सारस्वतम् वीर्यम् ऐन्द्रम् बलम्। एषः ते योनिः मोदाय त्वा आ-नन्दाय त्वा महसे त्वा।

वेदमाता पुनः विश्वसाधक को उत्प्रेरणा करती है,

१) तू (असि) है (उप-याम-गृहीतः) पृथिवी-गृहीत, (आश्विनम् तेजः) सूर्याचन्द्रमसोः तेजः; सूर्य के प्रकाश और चन्द्रमा की चन्द्रिका, दोनों के तेज के समान तेजवाला, (सारस्वतम् वीर्यम्) सरस्वती के वीर्य [प्रबल प्रवाह] से प्रवाहित वाणी का कौशल, (ऐन्द्रम् बलम्) आत्मिक बल [से बलवती शक्ति]।

२) (ते एषः योनिः) तेरी यह जीवनी [मिली है] (त्वा मोदाय) तुझे प्रहर्ष के लिए, (त्वा आ-नन्दाय) तुझे आ-नन्द के लिए, (त्वा महसे) तुझे महस [महत्ता] के लिए।

वेदमाता की यह उत्प्रेरणा आत्मस्वरूप-बोधक और आशीर्वादात्मक है।

विश्वसाधक, निस्सन्देह, पृथिवी-गृहीत है;

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उसकी साध सार्वभौम है। विश्व के आनन्दमयी-करण की महतो महान् साध की संसिद्धि के लिए वह हो आश्विन तेज, सूर्य के से प्रखर प्रकाश से प्रकाशित और चन्द्रमा की सी शीतल-शान्त-सोहिनी-मोहिनी चन्द्रिका से चन्द्रित। वह हो सारस्वत वीर्य से वीर्योपेत। उसकी वाणी का सुप्रवाह सर्वत्र सुप्रवाहित रहे ताकि उसके उपदेशों के प्रभाव से प्रभावित होकर पृथिवी की सम्पूर्ण मानवप्रजा उसके आनन्दमय वचनों को आचार का विषय बनाए और आनन्दी होती चली जाए। और आत्मिक शक्ति सर्वोपरि शक्ति है ही। आत्म-संबल से ही वह संसार को आनन्द के पथ का पथिक बना पाएगा।

'तेरी यह जीवनी तुझे प्रहर्ष, आनन्द और महत्ता के लिए मिली है। प्रहृष्ट रहता हुआ तू संसार को हर्षधाम बना, अपने आनन्द से विश्व को आनन्दी बना, अपनी महत्ता से मानवसमाज और मानवता की महत्ता स्थापित कर,' कितनी वात्सल्यमयी और श्रेयोमयी है वेदमाता की यह प्रेरणा! प्रत्येक विश्वसाधक को इस उत्प्रेरणा से सदा उत्प्रेरित रहना चाहिए।

तू है पृथिवीगृहीत, आश्विन तेज,
सारस्वत वीर्य, आत्मिक बल।
मिली है तेरी यह जीवनी
तुझे प्रहर्ष के लिए, तुझे आनन्द के लिए,
तुझे महत्ता के लिए।

सूक्ति : **एष ते योनिर्मोदाय त्वा।**
मिली है तेरी यह जीवनी तुझे प्रहर्ष के लिए।

१०३५ **तेजोसि तेजो मयि धेहि, वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि, बलमसि बलं मयि धे,ह्योजोस्योजो मयि धेहि, मन्युरसि मन्युं मयि धेहि, सहोसि सहो मयि धेहि।** य १९.९

तेजः असि तेजः मयि धेहि वीर्यम् असि वीर्यम् मयि धेहि बलम् असि बलम् मयि धेहि ओजः असि ओजः मयि धेहि मन्युः असि मन्युम् मयि धेहि सहः असि सहः मयि धेहि।

पूर्व-मन्त्र की प्रेरणा से प्रेरित और अपनी महतो महान् साध की गुरुता से उद्दोलित होकर विश्व-साधक सर्वशक्तिमान् प्रभु से प्रार्थना करता है,

१) तू (तेजः असि) तेज, तेजःस्वरूप, तेजोमय है; (मयि तेजः धेहि) मुझमें तेज धारण—स्थापन कर।

'तेरे तेज से तेजस्वी होकर ही, मैं विश्व में आनन्द की संव्याप्ति कर सकूंगा।'

२) तू (वीर्यम् असि) पराक्रमी, पराक्रमशाली है; (मयि वीर्यम् धेहि) मुझमें पराक्रम धारण—स्थापन कर।

'अपने जिस पराक्रम से तू इस अनन्त, असीम, अपार सृष्टि का संचालन कर रहा है उसी पराक्रम से मुझे पराक्रमशाली बना दे ताकि जगती के आनन्दमयीकरण की साध में मैं सफलकाम हो सकूं।'

३) तू (बलम् असि) बली, बलवान्, बलस्वरूप है; (मयि बलम् धेहि) मुझमें बल धारण—स्थापन कर।

'अपने जिस बल में तू इस सबका रक्षण और धारण कर रहा है उसी बल से मुझे बलशाली बना दे।'

४) तू (ओजः असि) ओज, ओजोमय है; (मयि ओजः धेहि) मुझमें ओज धारण—स्थापन कर।

'तेरे जिस ओज से यह सब अनुशासित है उसी ओज से मुझे ओजस्वी कर दे।'

५) तू (मन्युः असि) उत्साहमय है; (मयि मन्युम् धेहि) मुझमें मन्यु धारण—स्थापन कर।

मन्यु नाम अन्तर्निहित अदम्यता का है। 'तू

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जिस अन्तर्निहित अदम्यता से अखिल सृष्टि का नियन्त्रण और नियमन कररहा है उसी अदम्यता का मुझमें संचार कर दे।'

६) तू (सहः असि) सहन है, सहनशक्ति से युक्त है; (मयि सहः धेहि) मुझमें सहनशक्ति धारण—स्थापन कर।

सहन से ही धारण और स्थापन होता है। सहन से ही तेज, वीर्य, वल, ओज और मन्यु सार्थक होते हैं।

तू तेज है; मुझमें तेज भर दे।
तू वीर्य है; मुझमें वीर्य भर दे।
तू बल है; मुझमें बल भर दे।
तू ओज है; मुझमें ओज भर दे।
तू मन्यु है; मुझमें मन्यु भर दे।
तू सहन है; मुझमें सहन भर दे।

१०३६ **या व्याघ्रं विषूचिको,भौ वृकं च रक्षति। श्येनं पतत्रिणं सिंहं, सेमं पात्वंहसः।**

य १९.१०

या व्याघ्रम् वि-सूचिका उभौ वृकम् च रक्षति। श्येनम् पतत्रिणम् सिंहम् सा इमम् पातु अंहसः।

विशेषेण सूचयति या सा **वि-सूचिका**। जो विशेषतया सूचना देती है उसका नाम वि-सूचिका है। **सूच** धातु, जिससे सूचिका शब्द की उत्पत्ति हुई है, का अर्थ है चुग़ली करना, सूचना देना। यहां इस शब्द का प्रयोग निशाने की अचूकता के लिए हुआ है। निशाने की अचूकता ही शिकार के मारे जाने की सूचना प्राप्त कराती है। इस निरुक्ति के अनुसार, वि-सूचिका का दूसरा अर्थ है लक्ष्य-सूचकता।

ईशविनय जारी रखते हुए विश्वसाधक कहता है, (या वि-सूचिका) जो लक्ष्य-सूचकता (व्याघ्रम् वृकम्) बाघ [और] भेड़िया को (च) तथा (श्येनम्, पतत्रिणम्, सिंहम्) श्येन पक्षी [और] शेर को, (उभौ) दोनों को [मारकर अन्य प्राणियों तथा मानवों की] (रक्षति) रक्षा करती है (सा) वही [लक्ष्य-सूचकता] (इमम्) इस [मुझ विश्व साधक] को (अंहसः) पाप से (पातु) बचाए।

विश्वसाधक का लक्ष्य जगती का आनन्दमयीकरण है। तेज, वीर्य, बल, ओज, मन्यु और सहन से युक्त होकर वह लक्ष्यभ्रष्ट न होने पाए। अन्यथा अर्थ का अनर्थ होजाएगा। इसी लिए उसने प्रार्थना की है,

जो वि-सूचिका बाघ, भेड़िए को,
तथा श्येन पक्षी और सिंह को,
दोनों को [मारकर]
रक्षा करती [अन्य प्राणियों की],
वही बचाए इस मुझे पाप से।

१०३७ **यदापिपेष मातरं, पुत्रः प्रमुदितो धयन्। एतत् तदग्ने अनृणो भवाम्,यहतौ पितरौ मया। सम्पृच स्थ सं मा भद्रेण पृङ्क्त, विपृच स्थ वि मा पाप्मना पृङ्क्त।**

य १९.११

यत् आ-पिपेष मातरम् पुत्रः प्र-मुदितः धयन्। एतत् तत् अग्ने अन्-ऋणः भवामि अ-हतौ पितरौ मया। सम्-पृचः स्थ सम् मा भद्रेण पृङ्क्त वि-पृचः स्थ वि मा पाप्मना पृङ्क्त।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पाप का मूल है ऋणों की विस्मृति, ऋणों को भुला देना। ऋणविस्मृति ऋणों से उऋ॑ण होने की भावना को नष्ट कर देती है। उऋ॑ण होने की भावना के लुप्त होने पर मनुष्य कृतघ्न, अकृतज्ञ, स्वार्थपर, निर्लज्ज, निर्दय और अन्यायी बनकर पापी होजाता है। वह कौन-सा पाप है जिसे ऋणविस्मृत व्यक्ति नहीं कर सकता! ऋणानुभूति है पुण्य, धर्म और मानवता का मूल। जहां ऋणों की अनुभूति होती है वहां ऋणों से उऋ॑ण होने की भावना जागरित रहती है। उऋ॑ण होने की भावना मानव को कृतज्ञ, सेवाभावी, धर्मात्मा तथा निष्पाप बनाती है। ऋणानुभूति निष्पापता का मूल है तो ऋणविस्मृति सपापता का मूल है।

१) (धयन्) [स्तन] पान करते हुए (प्र-मुदितः पुत्रः) प्र-हृष्ट शिशु ने (यत्) जो (मातरम्) माता को (आ-पिपेष) पीस डाला, स्तन चबाया, दांत से काटा।

२) बड़ा होकर ऋणानुभूति के साथ पुत्र प्रार्थना करता है, (अग्ने) पावक! पवित्रकर्तः! प्रकाश-प्रदातः! (एतत् तत्) इस उस [ऋण से] (अन्-ऋणः भवामि) उऋ॑ण होता हूं।

३) (मया) मेरे द्वारा (पितरौ) माता-पिता (अ-हतौ) अ-हत, अ-दुःखी, सुखी [हों]।

४) परिवार के जनो! तुम (सम्-पृचः स्थ) सम्पर्की हो; (मा) मुझे (भद्रेण) भद्रता, सुसंस्कार से (सम् पृङ्क्त) सं-युक्त/सुसंस्कृत करो। तुम अभद्र से, कुसंस्कार से (वि-पृचः स्थ) वि-युक्त करनेवाले हो; (मा) मुझे (पाप्मना) सपापता से (वि पृङ्क्त) वि-युक्त करो।

यह मन्त्र उपलक्षणात्मक है। जगती के आनन्दमयीकरण की साधनाओं में से सर्वोपरि साधना है मानवों में ऋणों की अनुभूति के संस्कार का समंकन करना। पुत्र-पुत्रियों के मानस में माता-पिता के ऋणों की अनुभूति हो। बड़े होने पर उनके मानस में बडों के, परस्पर के, मित्रों और सखाओं के, पास-पड़ौस के, मोहल्ला-ग्राम-नगर के, परिवार और समाज के, राष्ट्र और विश्व के ऋणों की अनुभूति हो। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में जन्मता, पलता, बड़ा होता, रहता और मरता है। समाज में मनुष्यों पर क़दम क़दम पर एक दूसरे के ऋण चढ़ते हैं। अतः यथायोग्य पारस्परिक सेवा-सत्कार से, आदान-प्रदान से, आशीर्वाद और प्यार से, प्रार्थना और शुभ-कामना से, सुख-सुविधा से एक दूसरे के ऋणों से उऋ॑ण होते रहने का ध्यान रखना चाहिए।

शिशु माता का स्तनपान कर रहा है। माता उसकी ओर देखकर सिहा रही है। शिशु ने प्रमुदित होकर माता के स्तन को अपने नए निकले दांतों से पीस—चबा—काट लिया। माता ने सिरहन के साथ 'सी' की, सिस्कारी की। शिशु खिलखिला कर प्रहर्षित हुआ। माता ने स्तन हटाकर फिर भी उसे प्यार किया। इस प्रकार पालने-पोषने में माता-पिता ने असंख्य कष्ट उठाए हैं। वड़ा होने पर वह माता-पिता के उपकारों का स्मरण करके अपने ऊपर चढ़े उनके ऋणों की अनुभूति से अनुभूत हो-जाता है और उनसे उऋ॑ण होने के लिए प्रतिज्ञा करता है कि वह अब कोई ऐसा काम न करेगा जिससे उन्हें क्लेश हो, अपि तु वह उन्हें सदैव सुखी और सुप्रसन्न रखेगा।

ऋणानुभूति के सुसंस्कारों से सुसंस्कृत होकर मानव-सन्तति सभी क्षेत्रों में ऋणों से उऋ॑ण रहने की साधना करेगी। इस प्रकार ऋणानुभूति उन्हें क़दम क़दम पर निर्दोष और निष्पाप रखेगी।

परिवार के जो जन शिशुओं के सम्पर्क में रहते हैं वे उनमें ऋणानुभूति के संस्कार का तो समंकन करें ही, वे उन्हें मानवीय भद्रताओं के सुसंस्कारों से भी सुसंस्कृत करें। ऋणानुभूति के संस्कार मानवीय भद्रताओं के पुरोगामी हैं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शिशुओं के सम्पर्क में रहनेवाले सभी जन सतर्कतापूर्वक उन्हें अभद्रता के कुसंस्कारों से सर्वतः अछूता रखें। ऐसा करने से मानव-सन्ततियां सपापता से मुक्त और निष्पापता से सुयुक्त रहती हैं।

स्तनपान करते हुए प्रमुदित पुत्र ने
जो माता को आ-पीसा,
पावक ! इस उस [ऋण से] उऋण होजाऊं,
मेरे द्वारा माता-पिता रहें अहत।

सम्पर्की हो तुम; मुझे भद्र से रखो सुसंस्कृत।
तुम हो वियुक्त करनेवाले;
मुझे रखो वियुक्त सपापता से।

सूक्ति : अहतौ पितरौ मया।
मेरे द्वारा माता-पिता सुखी हों।
सं मा भद्रेण पृङ्क्त।
मुझे भद्र से संयुक्त रखो।
वि मा पाप्मना पृङ्क्त।
मुझे सपापता से मुक्त रखो।

१०३८ **देवा यज्ञमतन्वत, भेषजं भिषजाश्विना।**
वाचा सरस्वती भिष,गिन्द्रायेन्द्रियाणि दधतः। य १९.१२

देवाः यज्ञम् अतन्वत भेषजम् भिषजा अश्विना। वाचा सरस्वती भिषक् इन्द्राय इन्द्रियाणि दधतः।

पाप एक रोग है जो मानवों को सकल अभद्रताओं का पुञ्ज बना देता है। इस रोग से मानवसमाज को मुक्त करने के लिए (देवाः) देव जन, (भिषजा अश्विना) भिषज अश्वी, (सरस्वती) ज्ञानप्रवाह, (भिषक्) वैद्य, आचार्य (इन्द्राय इन्द्रियाणि दधतः) आत्मा के लिए इन्द्रियों को धारण करते हुए (वाचा) वाणी द्वारा (भेषजम् यज्ञम्) दोषनिवारक यज्ञ को (अतन्वत) विस्तारा करते हैं।

इस मन्त्र में विश्व के आनन्दमयीकरण की एक गुह्य और गहन शिक्षा अन्तर्निहित है।

देवाः शब्द का प्रयोग यहां उन दिव्य जनों के लिए हुआ है जो वेद की दिव्य शिक्षाओं का साचार प्रचार करते हैं। साचार वेदप्रचार से ही मानवों का वास्तविक आर्यकरण और आनन्दमयीकरण होता है।

दो **भिषजा अश्वी** हैं माता और पिता।

भिषजा का अर्थ है चिकित्सा करनेवाले, ओषधिवित्, ओषधिरूप। **अश्वी** नाम है आशुगामी, अनलस, सद्यःकारी, यथासमय काम करनेवाले का। **ओषधिर्वै दोषधिर्भवति**। 'ओषधि' का अर्थ है दोष दूर करनेवाली। माता-पिता ही सन्तति को दोषों से, अभद्रताओं से, दुरितों से, कुसंस्कारों से, पाप से मुक्त और स्वस्थ आचार से युक्त करते हैं।

सरस्वती शब्द का प्रयोग यहां, प्रत्यक्षतः, ज्ञान के प्रवाह के लिए हुआ है।

भिषक् नाम वैद्य का है। यहां इस शब्द का प्रयोग हुआ है ओषधिरूप आचार्य के लिए। आचार्यवर्ग, निस्सन्देह, राष्ट्र और विश्व का चिकित्सक, शोधक और निर्माता है।

भेषज यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है। **भेषज** शब्द का सामान्य अर्थ है ओषधि, दवा। भेषज यज्ञ नाम उस यज्ञ का है जिससे मानवसमाज के दुरितों की चिकित्सा होती है, जिसके द्वारा अन्तःकरण और बाह्यकरण के दोषों का निराकरण होता है।

भेषज यज्ञ का सम्पादन किया जाता है परिष्कृत और संसिद्ध वाणी के द्वारा।

इन्द्र नाम इन्द्रियों के स्वामी आत्मा का है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जगती के आनन्दमयीकरण के लिए विश्व-साधकवर्ग को निर्माण करना होगा दिव्यताओं से युक्त वेदप्रचारक देवजनों का, ओषधिरूप चिकित्सक माता-पिताओं का, ओषधिरूप चिकित्सक आचार्य-वर्ग का। ये सब जब **स्वे स्वे क्षेत्रे** आत्मीयता से स्निग्ध वाणियों से सरस्वती का प्रवाह प्रवाहित करेंगे तो जन जन के आत्मा के लिए जन जन की इन्द्रियों का धारण होगा। इसी का नाम भेषज यज्ञ का विस्तरण है। इन्द्रियों का आत्मा के अनुशासन में रहना ही आत्मा के लिए इन्द्रियों का धारण है। आत्मानुशासन ही भेषज यज्ञ की हवि है। प्रत्यक्षतः, भेषज यज्ञ आनन्दमयीकरण की बुनियाद है।

देवजन, भिषजा अश्वी, सरस्वती,
भिषक् धारण करते हुए
इन्द्रियां इन्द्र के लिए,
विस्तारा करते हैं भेषज यज्ञ को
वाणी द्वारा।

सूक्ति : **देवाः यज्ञमतन्वत भेषजम्।**
देव जन भेषज यज्ञ को विस्तारा करते हैं।

१०३९ **दीक्षायै रूपं शष्पाणि, प्रायणीयस्य तोक्मानि।**
क्रयस्य रूपं सोमस्य, लाजाः सोमांशवो मधु। य १९.१३

दीक्षायै रूपम् शष्पाणि प्र-अयनीयस्य तोक्मानि। क्रयस्य रूपम् सोमस्य लाजाः सोम-अंशवः मधु।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति (य १९.३०); व्रत धारण करने का नाम दीक्षा है।

शष्प का अर्थ है बाल-तृण, अंकुर। **तोक्म** का अर्थ है शिशु।

अयन=गमन, मार्ग। प्र-अयन=सु-गमन, सु-मार्ग। **प्र-अयनीय**=सु-गमनीय सु-पथ, राज-मार्ग, राजपथ।

१) (दीक्षायै) दीक्षा के लिए (शष्पाणि, तोक्मानि) अंकुर [और] शिशु [हैं] (प्र-अयनीयस्य) राज-मार्ग का (रूपम्) रूप।

अंकुर और शिशु आनन्दमयीकरण के राजपथ का रूप हैं। जगती के आनन्दमयीकरण के लिए जिस भेषज यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है उसकी दीक्षा के लिए प्रथम व्रत है अंकुरों की तरह शिशुओं का सेचन। सेचन से सुसंस्कारों का समंकन होता है। कुशल माली अंकुरों को कुशलता के साथ सींचता है तो उनके तने सीधे, और डालियां सघन होती चली जाती हैं। वृक्ष बनने पर उन पर जो फल लगते हैं वे स्वास्थ्यकर और स्वादिष्ठ होते हैं।

२) (लाजाः) खीलें, (सोम-अंशवः) सोम के अंशु [और] (मधु) शहद [है] (सोमस्य क्रयस्य) चन्द्रमा के क्रय का (रूपम्) रूप।

खिली हुई खीलें हास्य और प्रफुल्लता का प्रतीक हैं।

अंशु नाम रश्मि, चमक और दमक का है। चन्द्रमा की चन्द्रिका की शीतल रश्मियां उसके वे अंशु हैं जो चन्द्रमा की चमक-दमक को व्यापकर सर्वत्र सबको आह्लादित करती हैं।

मधु नाम शहद का है। शहद फूलों के हृदयों का सार है और उसमें असंख्य फूलों की सुगन्धि निहित होती है। इसी लिए मधु को मधुरता और सुगन्धि का समुच्चय माना गया है।

भेषज यज्ञ में दीक्षार्थ सोम के क्रय की, चन्द्रमा को खरीदने की आवश्यकता होती है। चन्द्रमा को खरीदने का आशय है चन्द्रमा को अपने पर मुग्ध करना, अपने आपको ऐसा सोम्य और प्राह्-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

लादक बनाना कि अपने पर स्वयं चन्द्रमा मुग्ध होजाए।

भेषज यज्ञ के सम्पादकों को उसकी दीक्षार्थ चन्द्रमा को खरीदना होगा, साक्षात् चन्द्रमा बनना पड़ेगा। चन्द्रमा बनने पर जहां वे चन्द्रमा की रश्मियों के समान शीतल, शान्त और दमक से युक्त रहेंगे, वहां वे सदा खीलों के समान खिले रहेंगे और सदैव शहद के समान माधुर्योपेत और सुगन्धित रहेंगे। तभी वे विश्वव्यापी भेषज यज्ञ का सम्पादन करके जगती का आनन्दमयीकरण करने में सफल होंगे।

दीक्षार्थ अंकुर और शिशु हैं
प्र-अयनीय का रूप।
लाजा, चन्द्ररश्मियां और मधु
सोम के क्रय का रूप।

१०४० आतिथ्यरूपं मासरं, महावीरस्य नग्नहुः। रूपमुपसदामेतत्, तिस्रो रात्रीः सुरासुता।

य १९.१४

आतिथ्य-रूपम् मासरम् महा-वीरस्य नग्नहुः। रूपम् उप-सदाम् एतत् तिस्रः रात्रीः सुरा आ-सुता।

१) (मासरम् आतिथ्य-रूपम्) माँड आतिथ्य का रूप [है]।

माँड चावलों का विकार है। जिस प्रकार पानी में डुबोकर आग पर पकाने से चावलों का माँड दूर हो जाता है उसी प्रकार अतिथियों के आतिथ्य से मानवप्रजाओं के विकार दूर होजाते हैं। जो ऋषि, साधु, सन्त लोकहिताय सतत भ्रमण करते रहते हैं उन्हें सादर ठहराकर, उनकी यथोचित सेवा करते हुए उनके वेदोपदेश श्रवण करने से मानवों के जीवन शुद्ध होते हैं।

२) (नग्न-हुः) नंगों को प्रसन्न करना (महा-वीरस्य) महा-वीर के [भेषज यज्ञ का रूप है]।

वीर अनेक प्रकार के होते हैं। कोई दानवीर होते हैं, कोई रणवीर, कोई ज्ञानवीर, कोई कर्मवीर। किन्तु वीरों का वीर, महावीर वह है जो नग्नों को ढककर उन्हें प्रसन्न करता है। नंगे जब ढके जाते हैं, अभावों से मुक्त करके जब उन्हें भावों से आच्छादित किया जाता है तो वे प्रसन्न और प्रहृष्ट होते हैं। नग्नताएं भी अनेक प्रकार की हैं। किन्तु सबसे बुरी और भयावह नग्नता है चारित्रिक नग्नता। चारित्रिक नग्नता को सदाचार से ढककर, चरित्रहीनों को चरित्रवान् बनाना वीरों का नहीं, महावीरों का भेषज यज्ञ है।

३) (तिस्रः रात्रीः) तीन रात्रियां [और] (आ-सुता सु-रा) निष्पादित आनन्दवृत्ति, (एतत् उप-सदाम्) यह उप-सदों के [भेषज यज्ञ का] (रूपम्) रूप [है]।

रात्री सुखदात्री। रात्री राति ददाति, कर्म-भ्योवसरं निद्रादिसुखं वा। रात्री वै सुखयित्री। तीन ही सुखयित्रियां हैं। प्रथम सुखयित्री है निर्मल ज्ञानधारा जो मस्तिष्क से प्रवाहित होती है। दूसरी है निर्मल भावनाधारा जो हृदय से उमड़ती है। तीसरी है कल्याणी वाग्धारा जो निर्मल ज्ञानों और भावनाओं का प्रकाशन करती है और जिससे **उपसदों** का, उपस्थित श्रोताओं का, शिष्यों का शोधन और बोधन होता है।

शोधन और बोधन से मानवसमाज में आ-सुता सु-रा का, पूर्णतया संशुद्ध आनन्दवृत्ति का निष्पादन होता है। सुरा=सु-रा, सु-प्रदान करनेवाली, जो कुछ सु है उस सबका दान करनेवाली,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सु ही सु देनेवाली, सुवृत्ति, आनन्दवृत्ति। मानवप्रजा में आनन्दवृत्ति की व्याप्ति से सुखानन्द की संवृद्धि होती है।

मांड है आतिथ्य का रूप,
नग्नहु है महावीर का रूप,
तीन रात्रियां, निष्पादिता आनन्दवृत्ति,
यह है उपसदों का रूप।

१०४१ **सोमस्य रूपं क्रीतस्य, परिस्रुत् परि षिच्यते।**
अश्विभ्यां दुग्धं भेषज,मिन्द्रायैन्द्रं सरस्वत्या। य १९.१५

सोमस्य रूपम् क्रीतस्य परि-स्रुत् परि सिच्यते। अश्वि-भ्याम् दुग्धम् भेषजम् इन्द्राय ऐन्द्रम् सरस्वत्या।

(सरस्वत्या) सरस्वती द्वारा (अश्वि-भ्याम् दुग्धम्) अश्वियों के लिए दुग्ध, (इन्द्राय ऐन्द्रम् भेषजम्) आत्मा के लिए ऐन्द्र ओषधि [सम्पादन किया जाता है] [तो] (क्रीतस्य सोमस्य परि-स्रुत् रूपम्) क्रीत चन्द्रमा का परि-प्रवाहित रूप (परि सिच्यते) सब ओर सींचा जाता है।

सरस्वती शब्द का प्रयोग यहां ज्ञान की सरस निर्मल धारा के लिए हुआ है।

अश्वि शब्द का प्रयोग हुआ है आशुगामी, तीव्रगति मस्तिष्क और हृदय के लिए। मस्तिष्क की चिन्तन लहरियां और विचारतरंगें एक सैकण्ड में सड़सठ लाख बाईस हज़ार मील की गति से दौड़ती हैं तो हृदय की भावतरंगें एक सैकण्ड में इक्यासी लाख मील की गति से दौड़ती हैं। भावतरंग का ही नाम संकल्पतरंग है। निर्विकार चिन्तन वा विचार मस्तिष्क का दुग्ध है, तो निर्मल भावना वा संकल्प हृदय का दुग्ध है।

इन्द्रियों का वामी होने से आत्मा **इन्द्र** कहाता है। आत्मचिन्तन और ब्रह्म का ध्यान है आत्मा का **ऐन्द्र** [आत्मसम्बन्धी] ओषधि। इसी ओषधि द्वारा आत्मा आत्मविस्मृति-रोग से मुक्त होकर ब्रह्मलीनता प्राप्त करता है।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, सोम्यता और प्राह्लाद ही क्रीत चन्द्रमा का रूप हैं।

निर्मल ज्ञानधारा द्वारा जब सर्व मानवों के अश्वियों [मस्तिष्क और हृदय] के लिए निर्मल विचार और निर्मल भावना-रूप दुग्ध और आत्मा के लिए ऐन्द्र [आत्मा-सम्बन्धी] भेषज [आत्मचिन्तन- और ब्रह्मध्यान-रूप ओषधि] का सम्पादन किया जाता है तब क्रीत सोम का, सोम्यता तथा प्राह्लाद का परिस्रुत् रूप और परिष्कृत स्वरूप सर्वत्र सब ओर प्रवाहित होता है, उसके परि-सेचन से मानवों के जीवन आनन्द से आप्लावित होते हैं और विश्व के आनन्दमयी-करण की साध सिद्ध होरही होती है। विश्वसाधकों के लिए यह एक प्रचेतनाप्रद प्रेरणा है।

सरस्वती द्वारा
अश्वियों के लिए दुग्ध,
इन्द्र के लिए ऐन्द्र भेषज
सम्पादन किया जाता है।
क्रीत सोम का रूप परिस्रुत्
सभी ओर सींचा जाता है।

१०४२ **आसन्दो रूपं राजासन्द्यै, वेद्यै कुम्भी सुराधानी।**
अन्तर उत्तरवेद्या, रूपं कारोतरो भिषक्। य १९.१६

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आ-सन्दी रूपं राज-आ-सन्द्यै वेद्यै कुम्भी सुरा-धानी। अन्तरः उत्-तर-वेद्याः रूपम् कारोतरः भिषक्।

जगती का आनन्दमयाकरण करनेवाले विश्व-साधकों के लिए

१) (आ-सन्दी रूपम् राज-आ-सन्द्यै) पृथिवी रूप [है] राज-सिंहासन के लिए।

आसीन हुआ जाता है जिस पर, संस्थित हुआ जाता है जिस पर उसे **आसन्दी** कहते हैं। राजा जिस पर आसीन होता है उसे राज-आसन्दी कहते हैं। पृथिवी पर सब प्राणी आसीन हैं। अतः वह आसन्दी है। विश्वसाधकों के लिए **'इयं [पृथिवी] आसन्दी'** (शतपथब्राह्मण ६.७.१.१२), यह सारी पृथिवी उनकी आसन्दी है। राजा एक देश का शासक है और एकस्थानीय ही है उसका सिंहासन। विश्वसाधकों के लिए सारी पृथिवी उनका राज-सिंहासन है। वे सम्पूर्ण पृथिवी के राजा हैं और अपने सिंहासन के लिए उन्होंने सारी पृथिवी वरण की हुई है।

२) (वेद्यै) वेदि के लिए (सुरा-धानी कुम्भी) सुरा-धानी मटकी।

विश्वसाधक की एक अद्भुत वेदि है जो सदा उसके साथ रहती है। वह है उसकी सुराधानी कुम्भी। **सु-रा** का अर्थ है यहां सु-देनेवाली। **कुम्भी** का अर्थ है मटकी, घड़िया। वह कौन सी मटकी है जो सदा सु ही सु देती है? वह है सु-चिन्तन, सुविचार, गहन चिन्तन करनेवाली मस्तिष्क-मटकी। इसी मटकी का नाम अथर्ववेद ८.१.६ में **दक्षताति** है। यह मटकी, यह दक्षताति दक्षताओं, वृद्धियों, व्याप्तियों का विस्तार करनेवाली अक्षय पिटारी है। यह वेदि विश्व-साधक को प्रतिक्षण श्रेष्ठतम कर्मों की भूमि पर आसीन रखती है।

३) (अन्तरः) अन्तराकाश, अन्तरिक्ष [है] (उत्-तर-वेद्याः रूपम्) उत्-तर-वेदि का रूप।

द्युलोक और पृथिवी लोक के बीच में जो अवकाश है उसी की संज्ञा है **अन्तर** अथ वा अन्त-रिक्ष। विश्वसाधकों के लिए जहां पृथिवी उनकी राजासन्दी है, वहां पृथिवी के ऊपर, पृथिवी से उत्-तर, उच्चतर जो अन्तराकाश है वह उनकी उत्-तर वेदि है, उनकी उच्चतर पवित्र भूमि है, उनकी छत है। भूमि-शय्या, आकाश-छत, यही विश्वसाधकों की सम्पदा है।

४) (कारोतरः भिषक्) कारोतर चिकित्सक [है] [भेषज यज्ञ का]।

भिषक् नाम वैद्य, चिकित्सक का है। निघण्टु ३.२३ के अनुसार **कारोतर** का अर्थ है कूप, कुआँ। कारोतर नाम छनना वा छानने के साधन का भी है। भेजष यज्ञ में कारोतर ही चिकित्सक का काम देता है। जिस प्रकार कुएँ के शुद्ध जल को वस्त्र से छानकर पीने से आरोग्य की सिद्धि होती है उसी प्रकार संसाररूप कूप के जलों [रसों] को विवेकछाननी में छानकर सेवन करना चाहिए।

पृथिवी रूप है राजसिंहासन का,
वेदि के लिए है सुरा-धानी कुम्भी।
अन्तर रूप उत्-तर-वेदि का,
कारोतर चिकित्सक।

१०४३ **वेद्या वेदिः समाप्यते, बर्हिषा बर्हिरिन्द्रियम्। यूपेन यूप आप्यते, प्रणीतो अग्निरग्निना।**
य १९.१७

वेद्या वेदिः सम् आप्यते बर्हिषा बर्हिः इन्द्रियम्। यूपेन यूपः आप्यते प्र-नीतः अग्निः अग्निना।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विश्वसाधकों को स्मरण रखना चाहिए कि
१) (वेद्या वेदिः सम् आप्यते) वेदि से वेदि सम्प्राप्त की जाती है, (बर्हिषा बर्हिः, इन्द्रियम्) हृदय [सौहार्द] से हृदय [सौहार्द] [और] आत्मीयता।
२) (यूपेन यूपः आप्यते) स्थिरता से स्थायित्व प्राप्त किया जाता है।
३) (अग्निना अग्निः प्र-नीतः) अग्नि से अग्नि प्र-नीत [होता है]।

वेदि शब्द का रूढ़ अर्थ विद्वान्, ऋषि और आचार्य है। **वेदात् वेदिः**, वेद से वेदि। जो वेदज्ञान से युक्त और वेदाचार से सुयुक्त है वही वेदि है। वेदवित् और वेदाचारी के जीवन से सर्वत्र व्यापने-वाले सुरभित विचारों और सुगन्धित भावनाओं से, निस्सन्देह, विश्व का आनन्दमयीकरण होता है।

जिसे विस्तारकर, फैलाकर, बिछाकर जिस पर बैठा जाता है, जिस पर आसीन हुआ जाता है, जिस पर वा जिसमें स्थित हुआ जाता है उसे **बर्हि** वा आसन कहते हैं। बर्हि वा आसन अनेक हैं। अन्तरिक्ष वा आकाश वह बर्हि है जिसमें सब लोकलोकान्तर स्थित हैं। ब्रह्म बर्हि है **'यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्'** (अथर्ववेद ११.४.१), जिसमें यह सब स्थित है। हृदय बर्हि है, वह अनुपम बर्हि, भक्त जन जिस पर प्रेमाधार को बिठाते हैं, उदार जन जिस पर प्राणिमात्र को बिठाते हैं। **बर्हि** शब्द का प्रयोग मन्त्र में **हृदयासन** के लिए हुआ है।

इन्द्र से इन्द्रिय। इन्द्रियों का स्वामी होने से आत्मा इन्द्र है। 'इन्द्रिय' का अर्थ है आत्मीयता। जिसमें वा जिसके प्रति आत्मीयता होती है, अपनापन होता है उसे इन्द्रिय कहते हैं। आंख, नाक, कान, आदि, अवयवों में आत्मा की आत्मीयता होती है; इसी से शरीरावयवों को इन्द्रिय कहते हैं। 'इन्द्रिय' शब्द का प्रयोग मन्त्र में आत्मीयता अर्थ में हुआ है।

यूप नाम खम्भा, स्तम्भ, थम्भ का है। यूप स्थिरता के साथ अपने स्थान पर स्थिर रहता हुआ भवन के भार को सहारता है। भवन का स्थायित्व यूप की स्थिरता पर आश्रित है। किसी भी साध का स्थायित्व साधक की साधना की स्थिरता पर निर्भर करता है। यहां प्रथम 'यूप' शब्द का प्रयोग स्थिरता और द्वितीय 'यूप' शब्द का प्रयोग स्थायित्व अर्थ में हुआ है।

वेदि से वेदि का सम्पादन होता है। एक विशुद्ध मानव, जिसने अपने आपको शोधकर अपने जीवन को वेदि बनाया है, अपने सम्पर्क से असंख्यों को वेदि बना सकता है। वेदि से वेदि का निर्माण होता है, संस्था वा सम्प्रदाय से नहीं। जीवन से जीवन बनता है, संस्थावाद वा सम्प्रदायवाद से नहीं।

हृदय [सौहार्द] से हृदय [सौहार्द] प्राप्त किया जाता है, आत्मीयता सम्पादन की जाती है। स्वयं वेदि बनकर अन्यों को वेदि बनाने की व्यापक, विशाल और वरणीय साध कटाक्ष और कटुता से नहीं, प्रियता और आत्मीयता से सिद्ध होगी। विश्वसाधकों को हृदय से हृदयों को जीतना होगा, अपने हृदय के प्यार से जन जन के हृदय को आहृत करके जन जन से आत्मीयता सम्पादन करनी होगी। प्यार से सुधार। घृणा से बिगाड़। मानवों के निकट और बीच में रहकर जब वे सौहार्द और आत्मीयता के साथ उनकी दीक्षा, शिक्षा और सेवा करेंगे तो ही विश्व का परिष्कार और आनन्दमयी-करण होगा।

यूप से यूप प्राप्त होता है। स्थिरता से स्थायित्व सिद्ध होता है। सतत, सन्तत, निरन्तर, वंशानुवंश स्थिरता के साथ विश्व के शोधन और बोधन से आनन्दमयीकरण में स्थायित्व आएगा।

अग्नि से अग्नि प्रज्वलित होता है। आत्माग्नि ही आत्माग्नियों का प्र-नयन करता है। प्रबुद्ध आत्मा ही आत्माओं को प्रबुद्ध करता है। प्रज्वलित अग्नि

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ही समिधाओं में प्रज्वलित होता है। विश्व के वैदिकीकरण और आनन्दमयीकरण के लिए बुझे हुए नहीं, अग्नि के समान प्रज्वलित और अंगारों के समान धधकते हुए जीवन चाहिएं।

प्राप्त होती है वेदि से वेदि,
बर्हि से बर्हि और इन्द्रिय।
प्राप्त होता है यूप से यूप,
अग्नि से अग्नि प्र-नीत।

सूक्ति : **वेद्या वेदिः समाप्यते।**

प्राप्त की जाती है सम्यक् वेदि से वेदि।
समाप्यते बर्हिषा बर्हिरिन्द्रियम्।
सम्यक् प्राप्त किया जाता है हृदय से हृदय, आत्मीयता।
यूपेन यूप आप्यते।
स्थिरता से स्थायित्व सिद्ध किया जाता है।
प्रणीतो अग्निरग्निना।
अग्नि से अग्नि प्रणीत होता है।

१०४४ **हविर्धानं यदश्विना,ग्नीध्रं यत् सरस्वती। इन्द्रायैन्द्रं सदस्कृतं, पत्नीशालं गार्हपत्यः।**

य १९.१८

हविः-धानम् यत् अश्विना आग्नीध्रम् यत् सरस्वती। इन्द्राय ऐन्द्रम् सदः कृतम् पत्नी-शालम् गार्ह-पत्यः।

१) (इन्द्राय ऐन्द्रम् सदः कृतम्) इन्द्र के लिए ऐन्द्र सद कृत—निर्मित [है]।

पूर्व-मन्त्र के **'वेदि'** के लिए इस मन्त्र में **'ऐन्द्र सद'** का प्रयोग हुआ है। इन्द्र [आत्मा] है इन्द्रियों का स्वामी और जीवनराज्य का राजा। जीवनराज्य है इन्द्र का ऐन्द्र सद, आत्मा-राजा का राजभवन। इन्द्र की आत्मसाधना के लिए ही ऐन्द्र सद का निर्माण किया गया है। आत्मसाधना के लिए ही मानवदेह मिली है।

२) आत्मराजा का यह शरीररूप राजभवन वह है (यत्) जिसे (अश्विना हविः-धानम्) अश्वि हविर्धान [बनाएं]।

हवि नाम यज्ञसाधन का है। शुद्ध सामग्री, शुद्ध घृत, शुद्ध समिधा, इस त्रित का नाम हवि है। मस्तिष्क में शुद्धविचाररूप सामग्री का, हृदय में शुद्ध स्नेहरूप घृत का, जीवन में शुद्ध इन्द्रियरूप समिधाओं का संयोजन किया जाता है तो मानव-देह हविर्धान अथ वा हविः-पात्र बनता है। तब इससे श्रेष्ठतमकर्मरूप यज्ञ किया जाता है। श्रेष्ठतम कर्म की साध जगती को आनन्द से आप्लावित करती है। कौन हैं वे दो अश्वी जो जीवन को हविर्धान बनाते हैं? वे हैं मस्तिष्क का निर्विकार चिन्तन और मन का शिव संकल्प।

३) आत्मराजा का यह शरीररूप राजभवन वह है (यत्) जिसे (सरस्वती) सरस्वती (आग्नीध्रम्) आग्नीध्र [बनाती है]।

सरस्वती नाम आत्मीयता से युक्त वाणी का है। **आग्नीध्र** नाम है उस पावन स्थल का जहां यज्ञवेदि में आधान करने से पूर्व अग्न्याधानार्थ अग्नि का प्रज्वलन किया जाता है। **बोध** ही वह **आग्नीध्र** है सरस्वती के आश्रय से जिसे जन जन के जीवन में जगाया जाता है, जिससे आत्मा आत्मा को उद्बुद्ध किया जाता है।

४) जिस प्रकार (गार्ह-पत्यः) गृहस्थ धर्म (पत्नी-शालम्) पत्नी-शाला को, पतिव्रता गृहिणी के गृह को [आनन्द-धाम बनाता है उसी प्रकार मन्त्रोक्त संसाधनाएं सारी पृथिवी को आनन्दधाम बनाती हैं]।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इन्द्र के लिए ऐन्द्र सद कृत, जिसे सरस्वती आग्नीध्र बनाए,
जिसे अश्वि हविर्धान बनाएं, गार्हपत्य पत्नी-शाला को [बनाता आनन्द-धाम]।

१०४५ **प्रैषेभिः प्रैषानाप्नोत,याप्रीभिराप्रीर्यज्ञस्य । प्रयाजेभिरनुयाजान्, वषट्कारेभि-राहुतीः ।**

य १९.१९

प्र-एषेभिः प्र-एषान् आप्नोति आ-प्रीभिः आ-प्रीः यज्ञस्य । प्र-याजेभिः अनु-याजान् वषट्-कारेभिः आ-हुतीः ।

उपर्युक्त मन्त्र में उल्लिखित संसाधनाओं की संसिद्धि के लिए विश्वसाधक (आप्नोति) प्राप्त करता है—
१) (प्र-एषेभिः) प्र-प्रेरणाओं द्वारा (प्र-एषान्) प्र-प्रेरकों/प्र-साधकों को,
२) (आ-प्रीभिः आ-प्रीः) प्रसन्नताओं से प्रसन्नताओं को, प्रियताओं से प्रियताओं को,
३) (प्र-याजेभिः अनु-याजान्) प्र-याजों से अनु-याजों को, प्र-साधनाओं से प्र-सिद्धियों/सं-सिद्धियों को,
४) (वषट्-कारेभिः यज्ञस्य आ-हुतीः) स्वाहा-कारों से यज्ञ की आहुतियां।

जगती के आनन्दमयीकरण के लिए ही नहीं, किसी भी सुसाध की संसिद्धि के लिए इस मन्त्र में वर्णित चार साधनाएं निश्चय ही सुफलदायिनी होती हैं।

१) संसार में सत्य साधों के लिए साधनों का मिलना जितना कठिन है उससे कहीं अधिक कठिन है साधकों का मिलना। जो अपने संशुद्ध और प्रबुद्ध जीवनों को किसी कल्याण-कारिणी साध की साधना के लिए अर्पित करते हैं उनकी संज्ञा प्र-साधक है। ऐसे साधक-साधिकाओं की प्राप्ति प्रप्रेरणाओं द्वारा होती है। विश्वसाधक के प्रप्रेरणाप्रद वचन जिन सुपात्रों के मानसों में घर कर जाते हैं वे ही विश्वकल्याणी साध के लिए अपने जीवन अर्पण करते हैं।

२) प्रसन्नता और प्रियता का परस्पर अभिन्न सम्बन्ध है। सच्चे प्रसाधक-प्रसाधिका उसी क्षेत्र में सफलता के साथ कार्य कर पाते हैं जहां सब कुछ प्रियता और प्रसन्नता के साथ किया जाता है। विश्वसाधकों को चाहिए कि वे प्रसाधक-प्रसाधिकाओं को निरन्तर यह प्रेरणा करते रहें कि वे विघ्न-बाधाओं और कठिनाइयों को समुस्कान पार करते हुए प्रेमपूर्वक, आत्मनिष्ठा के साथ साधरत रहें।

३) **प्र-याज** नाम प्रयज्ञ, सुयज्ञ, श्रेष्ठ और उत्कृष्ट साधना का है। **अनु-याज** नाम यज्ञ के अनुकूल परिणाम वा संसिद्धि का है। **साधना से सिद्धि,** यह एक स्वर्णिम उक्ति है। भावना और प्रार्थना साधना में सहायक होती हैं। किन्तु सिद्धि तभी प्राप्त होती है जब उत्कृष्ट भावना और प्रार्थना के साथ उत्कट साधना की जाती है।

४) मन्त्र बोलते हुए, मन्त्र के अन्त में जो 'स्वाहा' बोलकर आहुति दी जाती है उसका नाम **वषट्कार** है। वषट्कार वा स्वाहाकार के साथ ही आहुति-दान की महिमा है। स्वाहा के बिना यज्ञ असम्भव है। **'सर्वं वै पूर्णं स्वाहा'** का अर्थ है यज्ञ अथ वा साध की पूर्त्यर्थ स्व सर्वस्व अर्पण करना। महान् साधों की संसिद्धि के लिए मानस में जो स्व सर्वस्व अर्पण करने की अन्तर्ध्वनियां उठती हैं वे वषट्कार हैं और उनके परिणामस्वरूप जो स्व सर्वस्व अर्पण करते रहना है, वे आहुतियां हैं।

प्राप्त करता है . . . . . .

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रप्रेरणाओं से प्रप्रेरकों को,
आप्रियों से आप्रियों को,
प्रसाधनाओं से सं-सिद्धियों को,
स्वाहाकारों से आहुतियों को।

१०४६ पशुभिः पशूनाप्नोति, पुरोडाशैर्हवींष्या। छन्दोभिः सामिधेनी,र्याज्याभिर्वषट्कारान्।
य १९.२०

पशु-भिः पशून् आप्नोति पुरोडाशैः हवींषि आ। छन्दः-भिः साम्-इधेनीः याज्याभिः वषट्-कारान्।

विश्वसाधक (आप्नोति) प्राप्त करता है—
१) (पशु-भिः पशून्) पशुओं से पशुओं को।

पशु शब्द का अर्थ जानवर ही नहीं है, इन्द्रिय और तत्त्वदर्शी भी है। **पश्यतीति पशुः**, जो देखता है वह पशु है। जानवर पशु है क्यों कि वह अपने भक्ष्य को देखता है। तत्त्वदर्शी पशु हैक्यों कि वह तत्त्व को देखता है। इन्द्रिय पशु हैं क्यों कि वे पअने अपने विषय को देखती हैं। यहां 'पशु' शब्द का प्रयोग तत्त्वदर्शी अर्थ में हुआ है।

विश्वसाधक को जगती के आनन्दमयीकरण के लिए तत्त्वदर्शियों की अवश्य आवश्यकता होगी। मानवप्रजाओं को तत्त्व समझाकर और तत्त्व का दर्शन कराकर ही उन्हें आनन्द की राह दर्शाई जा सकेगी। तत्त्वदर्शी ही तत्त्वदर्शियों का निर्माण करते हैं। तत्त्वदर्शी ही आनन्द का पथ प्रशस्त करते हैं।

२) (पुरः-दाशैः हवींषि आ [आप्नोति]) अर्पणों से हवियों को [प्राप्त करता है]।

हवि नाम यज्ञसाधनों का है। जगती का आनन्दमयीकरण एक सर्वतो महान् यज्ञ है। उसके लिए अमित साधनों की आवश्यकता होगी। जितनी अधिक संख्या में तत्त्वदर्शी साधक-साधिकाओं के जीवन अर्पित होंगे और अर्पित होकर वे जितनी उत्कट साधना करेंगे उतनी ही मात्रा में साधनों की उपलब्धि होगी। जीवनार्पणों से ही अमित साधनों की प्राप्ति होती है।

३) (छन्दः-भिः साम्-इधेनीः) इच्छाओं/इच्छा-शक्तियों से सुन्दर-प्रज्वलनसाधनों को।

प्रसंगार्थवाची होने से **छन्द** शब्द के अनेक अर्थ हैं। यहां इस शब्द का प्रयोग इच्छा, चाह, इच्छा-शक्ति अर्थ में हुआ है। साध जितनी उत्कट होती है, उसकी पूर्ति के लिए उतनी ही उत्कट चाह वा इच्छाशक्ति होनी चाहिए। **जहां चाह तहां राह।** साथ ही उतनी ही अधिकता के साथ उसके लिए प्रज्वलन-साधनों की आवश्यकता होती है। जगती के आनन्दमयीकरण की साध की सिद्धि के लिए जहां विश्वसाधकों और विश्वसाधिकाओं की इच्छाशक्तियों को जगाने की आवश्यकता होती है वहां विश्व की मानवप्रजाओं के मानसों में उसके लिए अग्निप्रज्वलन की भी आवश्यकता होती है। इस अग्निप्रज्वलन के तीन मुख्य साधन हैं प्रचार, प्रेरणा और स्वाध्याय। इस त्रित के द्वारा जन जन के हृदय में जगती के आनन्दमयीकरण की ज्वाला प्रज्वलित की जा सकती है। ये ही तीन साधन हैं जिनके द्वारा सर्व मानवों का प्रज्वलन [बोधन और शोधन] करके जगती का आनन्द-मयीकरण किया जा सकता है।

४) (याज्याभिः वषट्-कारान्) यज्ञक्रियाओं/यज्ञिय-ताओं से स्वाहाकारों को।

साधक-साधिकाओं की यज्ञियताओं के आगे नतमस्तक होकर मानवप्रजाएं उनके चरणों में स्वाहाकारों की झाड़ियां लगा देती हैं, धन-मन

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जनार्पणों के सुप्रवाह प्रवाहित करती हैं ।
प्राप्त करता है
पशुओं से पशुओं को,

अर्पणों से हवियों को,
छन्दों से सामिधेनियों को,
यज्ञियताओं से स्वाहाकारों को ।

१०४७ **धानाः करम्भः सक्तवः, परिवापः पयो दधि ।**
सोमस्य रूपं हविष, आमिक्षा वाजिनं मधु । य १९.२१
धानाः करम्भः सक्तवः परि-वापः पयः दधि । सोमस्य रूपम् हविषः आ-मिक्षा वाजिनम् मधु ।

सोम शब्द भी एक प्रसंगवाची शब्द है । सोम नाम रस, आनन्द, चन्द्रमा, सोम्यता, प्राह्लाद, प्रेम और भक्ति का है । प्रेमरूप और आनन्दस्वरूप होने से परमात्मा सोम है । सोम शब्द का प्रयोग 'धर्म' अर्थ में भी होता है । यहां सोम की हवि के रूप का प्रसंग है । हवि के प्रसंग में **सोम** शब्द का अर्थ सोमयाग वा आनन्दमयीकरण-यज्ञ होगा । इस यज्ञ के याजक विश्व-साधकों और विश्व-साधिकाओं को जिस हवि का सम्पादन करना है वह है—

१) (धानाः) धारण-पोषण की व्यवस्थाएं ।

धा (धारण-पोषणयोः) धातु से इस शब्द की व्युत्पत्ति है । धारण-पोषण का साधन होने से ही अन्नों और भुने अनाजों को धाना कहते हैं । परस्पर के धारण-पोषण से सुख और आनन्द की वृद्धि होती है ।

२) (करम्भः) कर्मशीलता, कर्तव्य-परायणता ।

कृ (करणे) धातु से यह शब्द बना है । इसमें कर्मक्षमता और कर्तृत्व का भाव निहित है । कर्मशीलता, निस्सन्देह, सुख और आनन्द की वर्धिका है ।

३) (सक्तवः) संगतियां, पारस्परिक मिलनसारियां ।

यह शब्द **षञ्ज** (सङ्गे) धातु की निर्मिति है । अन्नों का मिश्रण होने से **सक्तु** शब्द का लौकिक अर्थ सत्तू है । पारस्परिक मिलनसारियां और संगतियां स्नेह और सौहार्द का वर्धन करती हैं ।

४) (परि-वापः) परि-वपन, सब ओर मानवीय भद्रताओं के वीज बोना ।

भद्रताओं और श्रेष्ठाचारों के बीजवपन से आनन्द की बेलें फूलती और फलती हैं ।

५) (पयः) मानवता के दुग्ध की परिसृति, मानवीय मूल्यों का प्रवहन ।

पयस् (प्रसृतौ) धातु से **पयः** शब्द बना है । पयः नाम पेय, रस और दुग्ध का भी है । सर्व मानवों को जब मानवता के दुग्ध का प्रपान और मानवीय मूल्यों का प्रवहन कराया जाता है तो वसुन्धरा आनन्दधाम बनती है ।

६) (दधि) धारणा, स्थिरता, अविचलता ।

दध् (धारणे) धातु से **दधि** शब्द की व्युत्पत्ति है । दुग्ध जब जमकर अविचल होजाता है तो उसकी दधि संज्ञा होती है । मानवों के मानसों में जब ध्रुव धारणा, स्थिरता, अविचलता होती है तो ही वे उत्तम आदर्शों और उत्कट साधों की साधना में रत होते हैं । तब ही मानवधर्म और विशुद्ध मानवता मानवों के जीवनों का अंग बनती है । तब ही जगती आनन्दोद्यान के सुरूप से सुरूपित होती है ।

७) (आ-मिक्षा) पूर्ण-सेचन ।

'मिक्षा' शब्द **मिषु** (सेचने) धातु का वंशज है । आ = पूर्ण । मिक्षा—सेचन । माली बाग़ को सींचता है तो बाग़ फूलों से खिलता और फूलों की महक से महकता है । जगती के आनन्दमयीकरण के लिए विश्वसाधकों को जगती में निवास करनेवाले

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मानवों को सुशिक्षा और सुसंस्कारों की सुवारि से सतत सींचते रहने की व्यवस्था करनी होगी।

८) (वाजिनम्) गति, वेग, ओज।

वाजिन शब्द **वज्** (गतौ) धातु की तराश है। गति, वेग, ओज से ही सर्वांगीण प्रगति होती है। प्रगति से ही पूर्णता का सम्पादन होता है।

९) (मधु) शहद, मधुरता।

कटुता हटे, मधुरता बढ़े तो जगती आनन्दधाम बने।

ये नौ साधनाएं हैं (सोमस्य हविषः रूपम्) सोम-याग की हवि का रूप।

धारण-पोषण की व्यवस्थाएं,
कर्मशीलता, मिलनसारियां,
परि-वपन, दुग्धप्रसृति,
दधि, आ-सेचन, वेग, मधु
सोम की हवि का रूप।

१०४८ **धानानां रूपं कुवलं, परीवापस्य गोधूमाः। सक्तूनां रूपं बदर,मुपवाकाः करम्भस्य।**

य १९.२२

धानानाम् रूपम् कुवलम् परि-वापस्य गोधूमाः। सक्तूनान् रूपम् बदरम् उप-वाकाः करम्भस्य।

१) (धानानाम् रूपम् कु-वलम्) धारण-पोषण की व्यवस्थाओं का रूप [है] कु-वल।

कुवल नाम उस जल का है जो 'कल कल' करता हुआ धाराओं के साथ बहता है और बांधों वा चट्टानों से रुककर जलप्रपात [वॉटर फ़ॉल] के रूप में उमड़कर, पुनः नीचे गिरकर धाराओं के साथ बहता है। उसके जलों को नहरों और बम्बों के रूप में प्रवाहित करके उनसे खेतों और उद्यानों को सींचा जाता है। इस प्रकार, अन्नों और फलों का प्रचुर उत्पादन किया जाता है। उनका सेवन करके मानवप्रजा धारित और पोषित होती है। यह धारण-पोषण की व्यवस्थाओं का रूप है। कुवल की तरह परस्पर एक दूसरे का सब प्रकार धारण-पोषण करने से जगती में सुख और आनन्द की वृद्धि होती है।

२) (गो-धूमाः) गो-धूम [हैं] (परि-वापस्य) परि-वपन का [रूप]।

सब ओर मानवीय भद्रताओं के बीज बोने का रूप है **गो-धूमाः**, पृथिवी पर धूम मचानेवाले, पृथिवी को कंपानेवाले वेदोपदेशक। गो=आकाश, किरण, पृथिवी, वाणी, दिशा। धूम=विधूनने, कंपाना। जो अपनी वाणी और ज्ञानकिरणों से पृथिवी, आकाश और दिशा-विदिशाओं को कंपाते, हिलाते, जगाते हैं उनकी संज्ञा गोधूम है। ऐसे गोधूम ही सब और, सर्वत्र मानवीय भद्रताओं का बीजवपन करते हैं।

३) (सक्तूनाम् रूपम् बदरम्) मिलनसारियों का रूप [है] सहनशीलता।

बद (स्थैर्ये) धातु से बना है **बदर** शब्द, जिसका अर्थ है स्थिरता, धीरता, सहनशीलता। मानवों के शील में जब सहनशीलता होती है, सहन-शीलता जब मानवों के शील का अंग बन जाती है तो मानवसमाज में पारस्परिक संगतियों तथा मिलनसारियों की बहार आरही होती है।

४) (उप-वाकाः) वेदोपदेशक [हैं] (करम्भस्य) कर्मशीलता का, कर्तव्य-परायणता का [रूप]।

'वाक' नाम वाक्य, कथन और वेदांश का है। जिनके कथन में, वाक्य वाक्य में वेद का अंश वा पुट होता है उनकी संज्ञा **उप-वाक** [वेदोपदेशक] है। साचार वेदप्रचार करनेवाले वेदोपदेशक ही

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जगती में कर्मशीलता तथा कर्तव्यपरायणता के सुप्रवाह प्रवाहित करते हैं। ऐसा होने पर जगती में आनन्द की स्थापना होती है।

धानाओं का रूप है कुवल,
गोधूम हैं परि-वपन का।
संगतियों का रूप स्थैर्य,
उपवाक कर्मशीलता का।

१०४९ **पयसो रूपं यद् यवा, दध्नो रूपं कर्कन्धूनि।**
सोमस्य रूपं वाजिनं, सोम्यस्य रूपमामिक्षा। य १९.२३

पयसः रूपम् यत् यवाः दध्नः रूपम् कर्कन्धूनि। सोमस्य रूपम् वाजिनम् सोम्यस्य रूपम् आमिक्षा।

१) (यत्) जो (यवाः) सुधारक [हैं वे] (पयसः) मानवता के दुग्ध की परिसृति का, मानवीय मूल्यों के प्रवहन का (रूपम्) रूप [हैं]।

यु (मिश्रण-अमिश्रणयोः)। 'यु' धातु, जिससे यव शब्द का जन्म हुआ है, का अर्थ है मिलाना और पृथक् करना, जोड़ना और तोड़ना। तोड़ना से तात्पर्य है बिगाड़ों को बिगाड़ना, बुराइयों को मिटाना। जोड़ना से तात्पर्य है अच्छाइयों की स्थापना करना, भद्रताओं का प्रचलन करना। दुरितों को जो हटाते हैं और भद्रताओं को जो फैलाते हैं वे यव हैं, सुधारक हैं। प्रत्यक्षतः जो सुधारक होते हैं वे मानवता के दुग्ध के दोहक और मानवीय मूल्यों के प्रवाहक होते हैं।

२) (दध्नः रूपम्) स्थैर्य का रूप [है] (कर्कन्धूनि) कर्मठताएं।

कर्मठताएं सुधारकों की अमूल्य सम्पदा हैं। कर्कन्धु शब्द में कृ धातु का संस्कार है जिसका अर्थ है कर्म करना। कर्मठताएं, निस्सन्देह, स्थैर्य, धैर्य, अविचलता का रूप हैं। जहां जहां स्थैर्य होता है वहीं वहीं कर्मठताएं होती हैं। कर्मठताएं वहीं पुष्पित होती हैं जहां स्थैर्य का राज्य होता है। सुधारकों में जब स्थैर्य और कर्मठताओं का योग होता है तभी वे पृथिवी का स्वाद्वीकरण कर पाते हैं।

३) (सोमस्य रूपम्) सोम का रूप [है] (वाजिनम्) गति, वेग, ओज।

कर्मठताएं शील की जननी हैं। शील वाजिन का प्रादुर्भावयिता है। शीलवान् तो गति-प्रगति करते हैं। वेग और ओज प्रगति के आधार हैं।

४) (सौम्यस्य रूपम् आ-मिक्षा) शीलवान् का रूप [है] पूर्ण-सेचन।

शील ही साधकों को सोम्य अथ वा शीलवान् बनाता है। शीलवान् सदैव जगती का आसेचन करते हैं, उसे उजाड़ते वा झुलसते नहीं हैं।

जो सुधारक वे रूप पयस् का,
स्थैर्य का रूप कर्मठताएं।
सोम का रूप है वाजिन,
शीलवान् का रूप आसेचन।

१०५० **आ श्रावयेति स्तोत्रियाः, प्रत्याश्रावो अनुरूपः।**
यजेति धाय्यारूपं, प्रगाथा येयजामहाः। य १९.२४

आ श्रावय इति स्तोत्रियाः प्रति-आ-श्रावः अनु-रूपः। यज इति धाय्या-रूपम् प्र-गाथाः ये-यजामहाः।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१) '(स्तोत्रियाः आ श्रावय) स्तुतिसाधनीभूत ऋचाएं सुना' (इति) ऐसा [कहें पयस्-रूप सुधारक के प्रति सर्व जन]।

कोई भी सुधारक जहां कहीं भी जाए, जनता उसके प्रति कहे, 'पूज्यवर ! हमें स्तुतिसाधनीभूत ऋचाएं सुनाइए, हमें ऐसे वेदोपदेश कीजिए कि हम ब्रह्मनिष्ठ होजाएं।'

मानवप्रजा जब मायालीन रहती है तो व्यसन, विलास अनाचार और स्वार्थपरता फैलकर पृथिवी दारुण दुःखों से पीड़ित रहती है। सुधारक जन वेदोपदेश करके मानवप्रजाओं को परम आस्तिक और धर्मपरायण बनाएं।

२) विनय किया जाने पर (प्रति-आ-श्रावः) वेदोपदेश-सुनानेवाला सुधारक (अनु-रूपः) अनु-सुन्दर/सुयोग्य [है]।

एक सुयोग्य सुधारक सदा वेदोपदेश करने को समुद्यत रहता है। वेदोपदेश जगती के पूतीकरण तथा स्वाद्वीकरण का श्रेष्ठतम साधन है।

३) (यज) श्रेष्ठतम कर्म कर, (इति) ऐसा [है] (धाय्या-रूपम्) धारणीय-रूप।

श्रेष्ठतम कर्म करना ही श्रवण का धारणीय रूप है। वेद पढ़ने-पढ़ाने और सुनने-सुनाने का लाभ ही तब है जब वेदोपदेशों के धारणीय रूप, श्रेष्ठतम कर्म करने की धारणा को आचरण में लाया जाए।

४) (प्र-गाथाः) प्र-गाथ/प्र-गाथनीय [हैं] (ये-यजा-महाः) जो श्रेष्ठतम कर्म करके महान् और पूजनीय [हैं]।

श्रेष्ठतम कर्मों के सम्पादन से जो महान् और पूजनीय बनते हैं उन्हीं की गाथाएं गाई जाती हैं।

'स्तुति-साधनीभूत ऋचाएं
सुना ऐसा,
वेद-सुनानेवाला अनुरूप।
'यज ऐसा रूप-धारणीय,
प्र-गाथ जो-यजामहाः।

१०५१ **अर्धऋचैरुक्थानां रूपं, पदैराप्नोति निविदः।**
प्रणवैः शस्त्राणां रूपं, पयसा सोम आप्यते। य १९.२५

अर्ध-ऋचैः उक्थानाम् रूपम् पदैः आप्नोति नि-विदः। प्र-नवैः शस्त्राणाम् रूपम् पयसा सोमः आप्यते।

१) मानव (आप्नोति) प्राप्त करता है (अर्ध-ऋचैः) अर्ध-वेदमन्त्रों से (उक्थानाम् रूपम्) प्रशस्तियों के रूप को, (पदैः) पदों से (नि-विदः) सं-ज्ञानों को।

ऋचाओं [वेदमन्त्रों] के जो विविध प्रकार के भाष्य किए जाते हैं, विविध प्रकार से पाठ किए जाते हैं, विविध स्वरों में प्रगान किए जाते हैं उन सबसे सबको प्रशस्तियां ही प्राप्त होती हैं। इस प्रकार ऋचाओं को सुनने-सुनाने, पढ़ने-पढ़ाने, गाने, रिझाने से कुछ बनता-बनाता नहीं है। ऐसे तो ऋचाएं अधूरी, अपूर्णफलदायिनी रहती हैं। जब ऋचाओं के पदों में निहित संज्ञानों से संज्ञानी बनकर मानव बोध प्राप्त करते हैं तब वे पूर्ण फलदायिनी होती हैं और जगती का स्वाद्वीकरण तथा आनन्दमयीकरण होता है।

वेद की ऋचाएं जब तक केवल पढ़ने-पढ़ाने और सुनने-सुनाने का विषय बनी रहती हैं तब तक वे अर्ध-ऋचाएं हैं, पूर्ण ऋचाएं नहीं। मानव जब वेद-मन्त्रों के पद पद में निहित संज्ञान से संज्ञानी बनकर यज्ञ [श्रेष्ठतम] कर्म करते हैं, वेदमन्त्रों में

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

निहित शिक्षाओं को आचरण का अंग बनाते हैं, जगती में सुख और आनन्द का आप्लावन करते हैं तब ऋचाएं पूर्ण ऋचाएं होती हैं।

२) (आप्यते) प्राप्त होता है, प्राप्त किया जाता है (प्र-नवैः) प्र-नवों/प्र-नवीनों/प्र-नवीनताओं से (शस्त्राणाम् रूपम्) हनन-साधनों का रूप, (पयसा) मानवता के दुग्ध की प्रसृति से, मानवीय मूल्यों के प्रवहन से (सोमः) आनन्द।

नवीन हों, नवीनताएं हों, किन्तु प्र हों, प्रकृष्ट हों, निकृष्ट न हों। प्र-नवों/प्र-नवीनताओं से रूढ़ियों का, निरर्थक रीति-रिवाजों का, रूढ़ कर्मकाण्डों का, समयातिक्रमित तथा अवैज्ञानिक लकीर की फ़कीरियों का परित्याग करके जब नूतन विधि-विधानों का प्रचलन किया जाता है तो प्रनवीनताएं पुरानियों का हनन करनेवाली होती हैं। इसी दृष्टि से उन्हें 'शस्त्रों का रूप' कहा गया है। प्रत्यक्षतः प्र-नव आनन्दप्रद होते हैं।

जैसा कि व्याख्यात किया जा चुका है, मानवता के दुग्ध की परिसृति से, मानवीय मूल्यों के प्रवहन से आनन्द की व्याप्ति होती है।

मानव पाता अर्ध-ऋचाओं से
उक्थों का रूप, पदों से संज्ञानों को।
प्राप्त किया जाता प्र-नवों से
हनन-साधनों का रूप,
पयः से सोम।

१०५२ **अश्विभ्यां प्रातःसवन,मिन्द्रेणैन्द्रं माध्यंदिनम्।**
वैश्वदेवं सरस्वत्या, तृतीयमाप्तं सवनम्। य १९.२६

अश्वि-भ्याम् प्रातः-सवनम् इन्द्रेण ऐन्द्रम् माध्यंदिनम्। वैश्व-देवम् सरस्वत्या तृतीयम् आप्तम् सवनम्।

पूर्व-मन्त्र में निर्दिष्ट साधना के लिए (सरस्वत्या) परिष्कृत वाणी द्वारा (आप्तम्) प्राप्त/सम्पादन किया [जाता है]—

१) (अश्वि-भ्याम् प्रातः-सवनम्) चिन्तन और विचार रूप दो अश्वियों से प्रातः-सवन।

२) (इन्द्रेण ऐन्द्रम् माध्यंदिनम्) आत्मा से आत्मिक माध्यंदिन।

३) (वैश्व-देवम् तृतीयम् सवनम्) वैश्वदेव तृतीय सवन।

सवन तथा **दिन** शब्दों का प्रयोग यहां पर्याय अर्थ में हुआ है। पूर्व-मन्त्रोक्त साधना के लिए सर्व मानवों के जीवनों में तीनों सवनों का सहचार रहना चाहिए। जिस प्रकार दिन के प्रथम प्रातःसवन में शीतल मन्द समीर में शुद्धता और शीतलता होती है, द्वितीय मध्याह्न-सवन में सूर्य में प्रखरता होती है, तृतीय सायं-सवन में पृथिवी के ऊपर आकाश में नक्षत्ररूप देवों की विश्व का द्योतन करनेवाली दिव्यता द्योतित होती है उसी प्रकार सर्व मानवों के मस्तिष्क के विचार और चिन्तन में प्रातः-सवन की पवन की सी पवित्रता तथा शीतलता, मध्य-स्थ हृदय में माध्यंदिन सूर्य की सी आत्म-प्रखरता, और जीवनों में मानवीय भद्रताओं के नक्षत्र द्योतित रहने चाहिएं।

इस त्रित की प्राप्ति वा सिद्धि माता-पितारूप अश्वियों, आचार्यरूप इन्द्र तथा वेदोपदेष्टारूप नक्षत्रों की शिक्षामयी परिष्कृत वाणी द्वारा होती है।

सरस्वती द्वारा प्राप्त किया जाता है
अश्वियों से प्रातःसवन,
इन्द्र से ऐन्द्र माध्यंदिन,
वैश्व-देव तृतीय सवन।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१०५३ **वायव्यैर्वायव्यान्याप्नोति, सतेन द्रोणकलशम् ।**
कुम्भीभ्यामम्भृणौ सुते, स्थालीभि स्थालोराप्नोति । य १९.२७
वायव्यैः वायव्यानि आप्नोति सतेन द्रोण-कलशम् । कुम्भीभ्याम् अम्भृणौ सुते स्थालीभिः स्थालीः आप्नोति ।

उक्त साधना में—

१) मानवसमाज (आप्नोति) प्राप्त करता है (वायव्यैः वायव्यानि) वायव्यों से वायव्यों को, (सतेन द्रोण-कलशम्) सत से द्रोण-कलश ।

'वायु' से **वायव्य** । वायु के समान झकझोरने-वाले की संज्ञा वायव्य होती है । जगती के स्वाद्वी-करण के लिए कभी कभी ऐसे साधक-साधिकाओं की आवश्यकता होती है जो मानवों को झकझोर कर उनकी कायापलट करते हैं । अवाञ्छनीय और रूढ़ रीति-रिवाजों को निरस्त करके वे नई सामा-जिक व्यवस्थाओं की स्थापना करते हैं । वायु के समान झकझोरनेवाले साधक-साधिका जब असंख्य झकझोरनेवाले साधक-साधिकाओं का निर्माण करते हैं तो ही आनन्दमयीकरण की साधना व्यापक रूप धारण करती है ।

सत नाम गति, प्रकाश और अस्तित्व का है । अस्तित्व वही है जिसमें गति और प्रकाश हो । गति और प्रकाश से किसी भी सुसाध की व्याप्ति होती है । साध कितनी भी अच्छी क्यों न हो, गति और प्रकाश के बिना वह सिद्ध नहीं हो सकती । 'द्रोण' नाम घड़ा, बादल और झील का है । 'कल कल' करता है जिसमें प्रेमसोम उस बर्तन का नाम **द्रोणकलश** है । हृदय ही वह कलश है जिसमें आनन्द के बादल बरसते हैं और प्रेम का सागर उमड़ता है । मानव जब प्रकाश से प्रकाशित होकर साधनापथ पर आरूढ़ होते हैं तो उनके हृदय वे द्रोणकलश बन जाते हैं जिनमें एक दूसरे के लिए आनन्दघन की वृष्टि होती है और प्रेमसोम आनन्द के साथ 'कल कल' कर रहा होता है ।

२) मानवसमाज (आप्नोति) प्राप्त करता है (कुम्भीभ्याम्) दो पिटारियों से (सुते अम्भृणौ) दो सुनिष्पन्न अम्भृण [पालन+पोषण], (स्था-लीभिः स्थालीः) स्थापनाओं से स्थापनाएं ।

कुम्भी नाम घड़िया वा पिटारी का है । प्रत्येक मानव के पास दो पिटारियां हैं, जिनमें पालनक्षमता तथा पोषणक्षमता निहित हैं । वे दो पिटारी हैं मस्तिष्क तथा हृदय । मस्तिष्क के सु और गहन चिन्तन तथा हृदय के सु और गहन प्रेम से सबका सम्यक् पालन और पोषण किया जाता है । परस्पर के दोषण और शोषण से नहीं, पालन और पोषण से सच्चे सुख और आनन्द की अभिवृद्धि होती है ।

स्थल्=स्थित होना, स्थापित होना । दुरितों की विस्थापनाओं और भद्रताओं की प्रस्थापनाओं से मानवसमाज में सुख, शान्ति, स्वस्ति और आनन्द की स्थापनाएं होती हैं ।

मानवसमाज प्राप्त करता है
झकझोरियों से झकझोरियों को,
सत से द्रोणकलश को ।
मानवसमाज प्राप्त करता है
मस्तिष्क-हृदय कुम्भियों से
सुनिष्पन्न पालन पोषण को,
स्थापनाओं से स्थापनाओं को ।

१०५४ **यजुर्भिराप्यन्ते ग्रहा, ग्रहै रतोमाश्च विष्टुतीः ।**
छन्दोभिरुक्थाशस्त्राणि, साम्नावभृथ आप्यते । य १९.२८

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यजुः-भिः आप्यन्ते ग्रहाः ग्रहैः स्तोमाः च वि-स्तुतीः। छन्दः-भिः उक्थ-शस्त्राणि साम्ना अव-भृथः आप्यते।

१) (आप्यन्ते) प्राप्त होती हैं (यजुः-भिः ग्रहाः) यज्ञिय कर्मों से उपलब्धियां, (ग्रहैः स्तोमाः च वि-स्तुतीः) उपलब्धियों से प्रशस्तियां तथा प्रशंसाएं, (छन्दः-भिः उक्थ-शस्त्राणि) प्रशस्तियों और प्रशंसाओं से प्रशस्त-हननसाधन।

यजु नाम यज्ञिय कर्म का है। यज्ञिय कर्मों का शिक्षक होने से ही यजुर्वेद का नाम यजुर्वेद है। यज्ञिय कर्मों के सम्पादन से विविध उपलब्धियां तथा मानवीय भद्रताएं प्राप्त होती हैं।

उपलब्धियों से प्रशस्तियां तथा स्तुतियां प्राप्त होती हैं। मानव की एक एक उपलब्धि पर संसार प्रशंसाओं की बौछार करने लगता है। किन्तु जो विविध भौतिक और आध्यात्मिक उपलब्धियों से प्रशस्त होता है उस पर तो संसार प्रशंसाओं की झड़ी लगा देता है। जो उपलब्धियों का पुञ्ज बन जाते हैं उन पर तो सर्वत्र सब दिशाओं से प्रशस्तियों तथा स्तुतियों की सतत वृष्टियां होती रहती हैं।

छन्द शब्द का प्रयोग यहां स्तोम और स्तुति अर्थों में हुआ है। प्रशस्तियों और स्तुतियों से प्रशस्त-हननसाधनों की प्राप्ति होती है, यह एक रहस्यमय उक्ति है। प्रशस्ति-और-स्तुतिप्राप्त मानव ही जगती का सच्चा और अच्छा मार्ग-नयन करके दुरितों का प्रशस्त हनन और भद्रताओं का प्रचलन करके सुख और आनन्द के स्वादिष्ठ प्रवाह प्रवाहित करते हैं।

२) सुख और आनन्द के स्वादिष्ठ प्रवाहों द्वारा (साम्ना अव-भृथः आप्यते) शान्तिकरण से अव-पोषण प्राप्त होता है।

अवों [निम्नों] के, पिछड़े हुओं के भरण [पोषण] की क्रिया वा व्यवस्था का नाम **अवभृथ** है। मानवसमाज में जब तक अवों का पोषण करके उन्हें मानवीय भद्र स्तर पर, शिक्षा-दीक्षा द्वारा उन्हें जब तक सर्वतः सर्वथा उन्नत नहीं किया जाता तब तक जगती के तनू में पीड़ा बनी रहती है, तब तक जगती में स्वादुता न होकर कटुता बनी रहती है। गिरे हुओं को उठाने के लिए सामाजिक शान्ति की अपेक्षा होती है। यह एक नितान्त ग़लत धारणा है कि वर्गसंघर्ष से दलित वर्ग ऊंचा उठता है। वर्गसंघर्ष से तो बने बनाए काम बिगड़ जाते हैं। उभय वर्ग में जब पारस्परिक सौहार्द होता है, उभय वर्ग जब शान्ति के साथ चिन्तन और अनुमंथन करते हैं तो ही और तब ही उठे हुए गिरे हुओं को छाती से लगाते हैं और आत्मीयता के साथ उन्हें अपना समस्तर बनाते हैं।

प्राप्त होते हैं यजुओं से ग्रह,
ग्रहों से स्तोम, विस्तुतियां,
छन्दों से प्रशस्त-हननसाधन।
प्राप्त होता है शान्तिकरण से
निम्नों का भरण-पोषण।

१०५५ इडाभिर्भक्षानाप्नोति, सूक्तवाकेनाशिषः।
शंयुना पत्नीसंयाजान्त,समिष्टयजुषा संस्थाम्। य १९.२९

इडाभिः भक्षान् आप्नोति सु-उक्त-वाकेन आ-शिषः। शम्-युना पत्नी-सम्-याजान् सम्-इष्ट-यजुषा सम्-स्थाम्।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जगती के स्वाद्वीकरण की उक्त साधना में मानव वा मानवसमाज (आप्नोति) प्राप्त करता है/प्राप्त होता है (इडाभिः भक्षान्) स्तुतियों से भक्षों को, (सु-उक्त-वाकेन आ-शिषः) सु-उक्त-वचन से आशिषों को, (शम्-युना पत्नी-सम्-याजान्) शम्-शीलता से पत्नी-संयज्ञों को, (सम्-इष्ट-यजुषा सम्-स्थाम्) सम्यक्-इष्ट-यज्ञियकर्म से सम्यक्-स्थान/संस्थान को।

परमोदार प्रभु के प्रति धन्यवादसूचक स्तुतियों के साथ भक्ष्यों के सुसेवन से जगती में आनन्द की वृद्धि होती है। भक्ष्यों के सुसेवन से धन्यवादसूचक स्तुतियां शोभनीय तथा सार्थक होती हैं, अभक्ष्यों के सेवन से नहीं। सच्चे स्तोता सदा भक्ष्यों का ही सेवन करते हैं, अभक्ष्यों का नहीं।

छोटे जब बड़ों के प्रति सु-उक्त-वचन बोलते हैं तो बड़े उन्हें आशीर्वाद देते हैं। **सु**=सुष्ठतया। **उक्त**=बोला गया वचन। सुष्ठुतया, आदर और सत्कार के साथ बोले गए वचन आशीर्वादों के प्रापक होते हैं। जहां छोटे बड़ों के प्रति सु-उक्त वचन बोलते हैं, और बड़े छोटों के प्रति आशीर्वचन बोलते हैं वहां के वातावरण में स्वादिष्ठता की आनन्दमयी लहर लहराती है। कितना शोभन होता है वह समाज जिसमें सु-उक्त-वचनों और आशीर्वचनों का आदान-प्रदान होता है।

शम्-शीलता अथ वा शान्तिमयता से पत्नी-संयाजों की प्राप्ति एक गहन साधना है। **पत्नी**=भार्या। **संयाज**=संयज्ञ। **सम्-याज**=सम्यक् श्रेष्ठ यज्ञ। **पत्नी-संयाज** नाम उस यज्ञ का है, पत्नी जिसकी ब्रह्मा होती है। **स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ** (ऋग्वेद ८.३३.१९)=स्त्री [पत्नी] ही गृहयज्ञ की ब्रह्मा है। सुपत्नियां जब पुरुषों द्वारा शम्-शीलता, शान्तिमयता के साथ समादृत होती हैं तो वे गृहयज्ञों का सम्यक् सम्पादन करती हैं और मानवसन्ततियां देवोपम बन जाती हैं। तब जगती में सब ओर सर्वत्र मानवता का दुग्ध आप्लावित होरहा होता है, सारी वसुन्धरा सुख तथा आनन्द की सुवास से सुवासित होरही होती है।

इष्ट की सम्यक् प्राप्ति करनेवाले कर्म ही यज्ञिय कर्म हैं। समिष्ट यज्ञिय कर्मों से सम्-स्थान की, संस्थान की, श्रेष्ठ स्थान की, उत्तम लोक की प्राप्ति होती है। उत्तम कर्मों की जहां साध है वहीं उत्तम लोक है। जहां आत्मकल्याणकारी साधों की साधना होती है, जहां जीवन का प्रवाह ब्रह्म की ओर प्रवाहित होरहा होता है, जहां मानव निष्काम कर्म करके मोक्षप्राप्ति की प्रसाधना करते हैं वही स्थान संस्थान है, पुण्य लोक है।

प्राप्त होता है स्तुतियों से भक्ष्यों को,
सूक्त-वचन से आशिषों को,
शान्तिमयता से पत्नी-संयाजों को,
समिष्ट यज्ञिय साधना से संस्थान को।

१०५६ **व्रतेन दीक्षामाप्नोति, दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।**
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति, श्रद्धया सत्यमाप्यते। य १९.३०
व्रतेन दीक्षाम् आप्नोति दीक्षया आप्नोति दक्षिणाम्। दक्षिणा श्रत्-धाम् आप्नोति श्रत्-धया सत्यम् आप्यते।

किसी भी उत्कट, उत्कृष्ट, व्यापक, सार्वभौम और सर्वहितकारिणी साध की सिद्धि के लिए निर्मल, निश्छल और परिशुद्ध सत्य की आवश्यकता होती है। सत्य चिन्तन, सत्य भावना, सत्य संकल्प, सत्य साधना जब तक नहीं होती तब तक जगती के स्वाद्वीकरण की, आनन्दमयीकरण की साधना

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पूर्णरूपेण सिद्ध नहीं हो सकती। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए जितनी साधनाओं का उल्लेख किया गया है वे सब सही दिशाओं में तभी संचालित होंगी जब वे नितान्त सत्य पर आधारित होंगी। सत्य को साधना का आधार किस प्रकार बनाया जाए, वह बड़ी सुन्दरता के साथ यहां बताया गया है। सत्य का साधक—

१) (व्रतेन दीक्षाम् आप्नोति) व्रत से दीक्षा को प्राप्त होता है।

सत्य की प्राप्ति के लिए वह प्रथम तदर्थ व्रत धारण करता है। दृढ़ व्रत धारण करने का नाम दीक्षा है। दीक्षा से मनुष्य दीक्षित बनता और दीक्षित कहलाता है।

२) वह (दीक्षया आप्नोति दक्षिणाम्) दीक्षा से प्राप्त होता है दक्षिणा को।

दक्ष् (वृद्धौ) धातु से **दक्षिणा** शब्द बना है। 'दक्षिणा' का अर्थ है वृद्धि, उन्नति, विकास, व्याप्ति। दीक्षित होकर जब साधक सतत साधना करता है तो वृद्धि और विकास होता है। व्रती बनकर लक्ष्य की सिद्धि के लिए अनवरत साधना करने से निरन्तर साध्य की सिद्धि निकटतर होरही होती है।

३) (दक्षिणा श्रत्-धाम् आप्नोति) दक्षिणा श्रत्-धा को प्राप्त होती/करती/कराती है।

वृद्धि, विकास, उन्नति, व्याप्ति होने से श्रत्-धा प्राप्त होती है। प्रत्यक्षतः उन्नति होती है तो श्रद्धा जमती है। वृद्धि श्रत्-धा की जननी है। **श्रत्** = सत्य। **धा** = धारणा, धारण करना। श्रद्धा नाम सत्य को सत्य धारणा के साथ धारण करने का है।

४) (श्रत्-धया सत्यम् आप्यते) श्रत्-धा से सत्य प्राप्त किया जाता है।

निस्सन्देह, श्रद्धा से ही सत्य की प्राप्ति होती है। श्रद्धा द्वारा ही सत्य का साक्षात् दर्शन किया जाता है।

व्रत से प्राप्त होता दीक्षा को,
दीक्षा से प्राप्त होता दक्षिणा को,
दक्षिणा प्राप्त करती श्रद्धा को,
श्रद्धा से प्राप्त किया जाता है सत्य।

सूक्ति : **श्रद्धया सत्यमाप्यते।**
श्रद्धा से सत्य प्राप्त किया जाता है।

१०५७ **एतावद् रूपं यज्ञस्य, यद् देवैर्ब्रह्मणा कृतम्।**
तदेतत् सर्वमाप्नोति, यज्ञे सौत्रामणी सुते। य १९.३१
एतावत् रूपम् यज्ञस्य यत् देवैः ब्रह्मणा कृतम्। तत् एतत् सर्वम् आप्नोति यज्ञे सौत्रामणी सुते।

१) (एतावत्) इतना, इस प्रकार, यहां तक [उल्लिखित है] (रूपम्) रूप (यज्ञस्य) यज्ञ का, स्वाद्वीकरण-यज्ञ का, आनन्दमयीकरण-याग का, (यत्) जो (देवैः) दिव्य विश्वसाधकों द्वारा (ब्रह्मणा) वेद/विवेक/ज्ञान के आश्रय से (कृतम्) किया जाता है।

२) यहां तक उल्लिखित (तत्, एतत् सर्वम्) वह, यह सब (आप्नोति) प्राप्त होता है (सुते सौत्रामणी यज्ञे) सुसम्पादित सुत्रामा [सुतारक]-यज्ञ में।

जगती के स्वाद्वीकरण वा आनन्दमयीकरण की जो साधना है, निस्सन्देह, वह सुत्रामा यज्ञ है, सुतारक याग है। उसके अनुष्ठान से सर्व मानवों को वह, यह सब कुछ प्राप्त होता है जो उनके सुख, सौभाग्य, स्वस्ति और आनन्द के लिए

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वाञ्छनीय है।

इतना रूप यज्ञ का, जो देवों द्वारा
वेद/विवेक के आश्रय से किया जाता है।

वह, यह सब प्राप्त होता है
सुसम्पादित सौत्रामणी यज्ञ में।

१०५८ **सुरावन्तं बर्हिषदं सुवीरं, यज्ञं हिन्वन्ति महिषा नमोभिः।**
दधानाः सोमं दिवि देवतासु, मदेमेन्द्रं यजमानाः स्वर्काः। य १९.३२
सुरा-वन्तम् बर्हि-सदम् सु-वीरम् यज्ञम् हिन्वन्ति महिषाः नमः-भिः। दधानाः सोमम् दिवि देवतासु मदेम इन्द्रम् यजमानाः सु-अर्काः।

१) (महिषाः) महान् विश्वसाधक-साधिका (हिन्वन्ति) बढ़ाते/व्यापते हैं (नमः-भिः) नमनों के साथ, नमनीयताओं के साथ (सु-रा-वन्तम्) सु-रमणीयता-प्रद (बर्हि-सदम्) हृदय-सद्, हृदय-ग्राही, हृदय हृदय में प्रिय लगनेवाले, (सु-वीरम्) सु-वीरों द्वारा सम्पादनीय (यज्ञम्) यज्ञ, सुत्रामा-याग को।

सुत्रामा-यज्ञ का, सुतारक-याग का सम्पादन कोई बच्चों का खेल नहीं है। उसका सम्पादन साधारण नहीं, असाधारण सुमहान् विश्व-साधकों द्वारा ही किया जाता है। वह अभि-मानों और अहंकारों के साथ नहीं, नमनीयताओं, विनम्रताओं के साथ किया जाता है। अभिमान और अहंकार तो वर्धन के नहीं, विनाश के कारण होते हैं।

सुत्रामा यज्ञ की महिमा उसके लिए प्रयुक्त विशेषणों से प्रकट होरही है। वह सु-रा-वान् है, जन जन को सुरम्य बनानेवाला है। वह बर्हि-सद् है, हृदयासन में विराजनेवाला है, हृदय हृदय में स्थान प्राप्त करनेवाला है, हृदयरम और हृदय-ग्राही है। और है वह सु-वीर, सुवीरों और सु-वीराओं द्वारा सम्पादनीय।

२) और हम (सु-अर्काः यज-मानाः) सु-अर्चनशील तथा यज्ञ-शील [विश्वसाधक-साधिका] (दिवि) द्यौ—मस्तिष्क—चिन्तन में (देवतासु) मानवदेव-ताओं में/के प्रति (सोमम्) प्रेम को, (इन्द्रम्) आत्मीयता को (दधानाः) धारण/स्थापन करते हुए (मदेम) आनन्दित हों, मग्न रहें।

अर्चनशीलता तथा यज्ञशीलता के साथ जगती के प्रति स्नेह और आत्मीयता का संयोग होने पर ही विश्वसाधक जगती का स्वाद्वीकरण कर पाएंगे, यह तथ्य उनके चिन्तन में सदैव बना रहना चाहिए।

महिष व्यापते नमनों सहित
सुरावान्, हृदयसद् और सुवीर यज्ञ को।
हम सु-अर्चनशील यज्ञशील रहें आनन्दित,
धारण करते हुए चिन्तन में आत्मीयता. प्रेम
मानवदेवताओं में।

१०५९ **यस्ते रसः सम्भृत ओषधीषु, सोमस्य शुष्मः सुरया सुतस्य।**
तेन जिन्व यजमानं मदेन, सरस्वतीमश्विनाविन्द्रमग्निम्। य १९.३३
यः ते रसः सम्-भृतः ओषधीषु सोमस्य शुष्मः सुरया सुतस्य। तेन जिन्व यजमानम् मदेन सरस्वतीम् अश्विनौ इन्द्रम् अग्निम्।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

साध की गुरुता को अनुभव करते हुए प्रत्येक महिष, प्रत्येक महान् विश्वसाधक प्रभु से प्रार्थना करता है—प्रभो ! (ते सुतस्य सोमस्य) तेरे निष्पादित सोम का, तेरे पवित्र सरस आनन्द का (यः शुष्मः रसः) जो बलप्रद रस (सु-रया) सु-रमणीयता/सरसता के साथ (ओषधीषु) ओषधियों/वनस्पतियों में (सम्-भृतः) सम्-धृत, भरा हुआ [है, तू] (तेन) उस[रस]से (मदेन) आनन्द के साथ [मुझ] (यजमानम्) यज-मान को, जगती के स्वाद्वीकरण तथा आनन्दमयीकरण के यज्ञ के याजक को, मेरी (सरस्वतीम्) संसिद्ध वाणी को, मेरे (अश्विनौ) मस्तिष्क और हृदय को, मेरे (इन्द्रम्) आत्मा को, जगती के प्रति मेरे (अग्निम्) प्रेमाग्नि को, प्रेम की ऊष्मा को (जिन्व) अनुप्राणित कर।

ओषधियों में, वनस्पतियों में, फलों में, सब्ज़ियों में जो रस है उस सबमें आनन्दस्वरूप ब्रह्म का सर्वरम आनन्दरस ही सरसता का संचार कर रहा है, ब्रह्म का दोषनिवारक रस ही रोगनिवारक बना हुआ है। ब्रह्म का वही आनन्दमय रस विश्वसाधक-साधिकाओं को, उनकी वाणी को, उनके मस्तिष्क और हृदय को, उनके आत्मा तथा प्रेमाग्नि को सन्तत अनुप्राणित करता रहे ताकि उनका महतो महान् यज्ञ सम्पूर्णता के साथ सम्पादित हो।

तेरे सुनिष्पन्न सोम का
जो बलप्रद रस भरा हुआ है
ओषधियों में सरसता के साथ,
अनुप्राणित कर सतत उसी से
यजमान को, सरस्वती को,
अश्वियों को, आत्मा को,
और अग्नि को आनन्द के साथ।

सूक्ति : **जिन्व यजमानं मदेन।**
अनुप्राणित कर यजमान को आनन्द के साथ।

१०६० **यमश्विना नमुचेरासुरादधि, सरस्वत्यसुनोदिन्द्रियाय।**
इमं तं शुक्रं मधुमन्तमिन्दुं, सोमं राजानमिह भक्षयामि। य १९.३४
यम् अश्विना न-मुचेः आसुरात् अधि सरस्वती असुनोत् इन्द्रियाय। इमम् तम् शुक्रम् मधुमन्तम् इन्दुम् सोमम् राजानम् इह भक्षयामि।

नमुचि वैदिक वाङ्मय का एक प्रसंगार्थवाची शब्द है। प्रत्येक ऐसा शब्द अनेकार्थवाची होता ही है। न=नहीं। मुचि=मुक्त करनेवाला, छोड़नेवाला। न-मुचि=नहीं छोड़नेवाला, नहीं त्यागनेवाला। इस निरुक्ति के अनुसार वह बादल नमुचि है जो काली घनघोर घटा बनकर आता है और बिना बरसे चला जाता है। कृपण नमुचि है क्यों कि उससे धन नहीं छुटा है और इसी लिए वह दान नहीं करता है। काम नमुचि है क्यों कि वह कामी का पीछा नहीं छोड़ता है। सारे व्यसन नमुचि हैं; इसी लिए व्यसनी व्यसनों का त्याग नहीं कर पाते हैं। ब्रह्म नमुचि है क्यों कि वह अपने शरणागत भक्त का साथ नहीं छोड़ता है, सर्व में समाया हुआ वह सर्व से कभी पृथक् नहीं होता है। सखा नमुचि है जो सुख में ही नहीं, दुःख में भी अपने सखा का साथ नहीं छोड़ता है। धर्मात्मा नमुचि है जो कैसी भी परिस्थिति और किसी भी अवस्था में धर्म का त्याग नहीं करता है। विद्वान् नमुचि है जो यावज्जीवन वेद से संगत रहता हुआ जीवन के अन्तिम क्षण तक वेद को अपने हाथों में थामे रहता है और निरन्तर वेदप्रचार करता रहता है। दम्पती नमुचि हैं जो कभी एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ते हैं। इस प्रकार, नमुचि शब्द का निकृष्ट अर्थ में भी प्रयोग होता है और प्रकृष्ट अर्थ में भी। इस

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मंत्र में 'नमुचि' शब्द व्यसन, विलास, विकार अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

इन्दु शब्द के अनेक अर्थों में से एक अर्थ चन्द्रमा है। यहां इस शब्द का प्रयोग 'चन्द्रमा के समान प्राह्लादक' अर्थ में हुआ है।

'असुर' से **आसुर**। इस शब्द का प्रयोग यहां असुरत्व, आसुरी वृत्ति के लिए हुआ है।

सोम शब्द का प्रयोग हुआ है यहां भक्ति-रस, प्रभु-भक्ति, ईशप्रेम, ब्रह्मदर्शनामृत अर्थ में।

इन्द्रिय शब्द भी एक प्रसंगार्थवाची शब्द है। इन्द्रियों का स्वामी होने से आत्मा इन्द्र है। इन्द्र के ऐश्वर्य का नाम है इन्द्रिय। इन्द्रियां इन्द्र का ऐश्वर्य हैं। आत्मसंबल आत्मा का ऐश्वर्य है। आत्मज्योति आत्मा का ऐश्वर्य है। आत्म-अवस्थिति, ब्रह्म-समाहिति, आत्मस्वरूप का दर्शन, ब्रह्म-साक्षात्कार आत्मा का ऐश्वर्य है।

पूर्वमन्त्रानुसार, विश्वसाधक के आत्मा के लिए जहां वाणी और प्रेमाग्नि का महत्त्व है, वहां उसके लिए सर्वोपरि महत्त्व अश्वियों [हृदय और मस्तिष्क, दिल और दिमाग़, भावना और चिन्तन] का है। हृदय की सर्व भावना से समर्पित, और मस्तिष्क के सर्व चिन्तन से समाहित हुआ जाता है। विश्वसाधक जब सर्वभावेन समर्पित होकर प्रभु की शरण में स्थित रहता है और सम्पूर्ण चिन्तन द्वारा उसका अनवरत चिन्तन करता है तो ही वह सतत, सन्तत, निरन्तर सोम का सेवन करता है। सोमसेवन से वह स्वयं ब्रह्म से ऐसा संयुक्त होजाता है कि उसमें ब्रह्म की ज्योति और शक्ति का अक्षयता के साथ संचार होता रहता है, जिसके आश्रय से वह अपनी सार्वभौम साध और साधना में निरन्तर संलग्न रहता है। इसी आशय से दोनों को सम्बोधन करता हुआ वह कहता है—(अश्विना) अश्वियो ! मेरे मस्तिष्क और हृदय ! (यम्) जिस[सोम]को (सरस्वती) आत्मधारणा (इन्द्रियाय) आत्मैश्वर्य के लिए (असुनोत्) निष्पादन किया करती है, मैं (इमम् तम् शुक्रम् मधु-मन्तम् इन्दुम् राजानम् सोमम्) इस उस शुद्ध, माधुर्योपेत, प्राह्लादक, प्रकाशमान् सोम को (इह) यहां, इस जीवन में. इस संसार में (न-मुचेः) व्यसन/विलास/विकार के (आसुरात् अधि) असुरत्व से ऊपर उठा रहता हुआ (भक्षयामि) सेवन करता हूं।

आत्मधारणा द्वारा ही उपर्युक्त सोम निष्पादित होता है। सेवन उसका असुरता से ऊपर उठकर ही किया जाता है।

अश्वियो !
जिस सोम को निष्पादन
किया करती है आत्मधारणा
आत्मैश्वर्य के लिए,
सेवन करता हूं मैं इस उस
शुद्ध, मधुर, प्राह्लादक,
प्रकाशमान् सोम को
ऊपर उठकर असुरता से।

१०६१ **यदत्र रिप्तं रसिनः सुतस्य, यदिन्द्रो अपिबच्छचीभिः।**
अहं तदस्य मनसा शिवेन, सोमं राजानमिह भक्षयामि। य १९.३५
यत् अत्र रिप्तम् रसिनः सुतस्य यत् इन्द्रः अपिबत् शचीभिः। अहम् तत् अस्य मनसा शिवेन सोमम् राजानम् इह भक्षयामि।

पूर्वमन्त्र-स्थ भावना से भावित हुआ विश्वसाधक कहे चला जारहा है—(अत्र) यहां, मेरे इस सुनिष्पन्न जीवन में [मेरा] (इन्द्रः) आत्मा (शचीभिः) वाणी-कर्म-प्रज्ञारूप शचियों [शुचियों] के आश्रय

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

से (रसिनः सुतस्य) रसीले सुत के (यत् यत् रिप्तम्) जिस जिस रिप्त को (अपिवत्) पान किया करता है, (अहम्) मैं [अपने] (अस्य) इस[आत्मा]के (तत् राजानम् सोमम्) उस प्रकाशमान् सोम को, उस रञ्जक ब्रह्मसोम [ब्रह्मानन्द] को (इह) यहां, इस जगती में (शिवेन मनसा) शिव मन से (भक्षयामि) सेवन करता हूं।

वाणी, कर्म, प्रज्ञा, ये तीन **शची** हैं जिनकी शुचिता से रसीले सुत के रिप्त का पान किया जाता है।

सुप्त शब्द का तत्त्वार्थ है नितान्त निर्मल। कोई भी व्यक्ति वा वस्तु जो नितान्त निर्मल है सुत है। प्रत्येक सुत बहुत रसीला, आनन्दप्रद होता है।

प्रत्येक सुत का अपना अपना एक रिप्त है। रिप्त का अर्थ है लिप्त वा अभिलषनीय रस, कमनीय स्वाद।

मस्तिष्क-सुत का रिप्त है शोभन विचार, निर्मल चिन्तन। नेत्र-सुत का रिप्त है निर्विकार दृष्टि, आत्मीयता की दृष्टि। श्रोत्र-सुत का रिप्त है बोधप्रद श्रवण। वाक्-सुत का रिप्त है संसिद्ध वाणी। मनः-सुत का रिप्त है संकल्पों की शिवता, शिव संकल्प। चित्त-सुत का रिप्त है चित्तवृत्ति-निरोध और आत्मसमाहिति। आत्म-सुत का रिप्त है आत्म-ब्रह्मदर्शन।

ब्रह्मसोम का सेवन, निस्सन्देह, शिव मन [हृदय] से किया जाता है। शिव मन [हृदय] ही वह पात्र है जिसमें भर-भरकर सोम पान किया जाता है।

आत्मना रसीले सुत के रिप्त का पान और ब्रह्मसोम का सेवन करके ही विश्वसाधक उस चुस्ती तथा मस्ती से सतत संयुक्त रहता है जिसकी जगती के स्वाद्वीकरण और आनन्दमयीकरण के लिए सदा अनिवार्यता है।

यहां इन्द्र शचियों द्वारा
रसीले सुत के जिस जिस रिप्त को
पान किया करता है,
इसके उस रञ्जक सोम को
यहां सेवन करता हूं मैं
शिव मन से।

१०६२ **पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः, पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः, प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। अक्षन् पितरो,मीमदन्त पितरो,तीतृपन्त पितरः, पितरः! शुन्धध्वम्।** य १९.३६

पितृ-भ्यः स्व-धायि-भ्यः स्व-धा नमः पिता-महेभ्यः स्व-धायि-भ्यः स्व-धा नमः प्र-पिता-महेभ्यः स्व-धायि-भ्यः स्व-धा नमः। अक्षन् पितरः अमीमदन्त पितरः अतीतृपन्त पितरः पितरः शुन्धध्वम्।

विश्वसाधक की सार्वभौम साध और साधना में सुत के रिप्त के पान तथा ब्रह्मसोम के सेवन की जितनी अनिवार्यता है उतनी ही आवश्यकता है गुरु जनों के आशीर्वादों तथा सत्परामर्शों की। इसी आशय के प्रकाशन के लिए वेदमाता उसके मुख से कहलवारही है—

१) (स्व-धा-यि-भ्यः पितृ-भ्यः) आत्म-धारणा-सम्पन्न पिताओं के लिए (स्व-धा, नमः) स्व-धा और नमन, आत्मधारण के साथ नमस्कार।

पिताओं से तात्पर्य माता-पिता और माता-पिता की आयु तथा कोटि के देव-देवियों से है।

आत्म-धारणा से सम्पन्न पिताओं को आत्म-धारणा के साथ नमन किया जाता है तो वे आत्मना आशीर्वाद तथा सत्परामर्श देते हैं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

२) (स्व-धा-यि-भ्यः पिता-महेभ्यः) आत्म-धारणा-शील पितामहों के लिए (स्व-धा, नमः) आत्म-श्रद्धा तथा नमन, आत्म-श्रद्धा के साथ नमस्कार।

पितामहों से तात्पर्य दादा-दादी तथा दादा-दादी की कोटि और आयु के देव-देवियों से है।

आत्मधारणाशील पितामहों को आत्म-श्रद्धा के साथ नमन किया जाता है तो वे आत्मना आशीर्वाद तथा सफलताप्रद परामर्श देते हैं।

३) (स्व-धा-यि-भ्यः प्र-पिता-महेभ्यः) आत्म-धारणा-युक्त प्रपितामहों के लिए (स्व-धा, नमः) आत्म-आस्था और नमन, आत्मास्था के साथ नमन।

आत्मधारणायुक्त **प्रपितामहों** से तात्पर्य पर-दादा-परदादी तथा परदादा-परदादी की कोटि तथा आयु के देव-देवियों से है।

आत्मधारणायुक्त पितामहों को आत्मास्था के साथ नमन किया जाता है तो वे अतिशय आत्मीयता के साथ आशीर्वाद देते हुए मार्गदर्शन करते हैं। गुरु जनों का आशीर्वाद प्राप्त करना बहुत बड़ी उपलब्धि है।

४) स्वधा-नमः से सत्कृत होकर (पितरः अक्षन्) पिता व्यापा करते हैं, व्यापक प्रेरणाएं किया करते हैं, व्यापने के उपाय सुझाया करते हैं, (पितरः अमीमदन्त) पिता आनन्दित हुआ/किया करते हैं, (पितरः अतीतृपन्त) पिता तृप्त हुआ/किया करते हैं।

स्वधा-नमः से प्रसन्न गुरु जन व्यापक प्रेरणाएं किया करते हैं, आनन्दित किया करते हैं और तृप्त किया करते हैं।

५) इस आत्मविश्वास के साथ विश्वसाधक विनय करता है, (पितरः) गुरु जनो ! (शुन्धध्वम्) शुद्ध करो [मुझको, हम विश्वसाधकों को, सर्व जनों को अपने सदुपदेशों से]।

गुरु जनों के उपदेशों से सर्व जनों का शोधन, बोधन होता रहता है तो जगती के स्वाद्वीकरण तथा आनन्दमयीकरण में सहायता मिलती है।

स्वधाशील पिताओं के लिए
स्वधा, नमः।
स्वधाशील पितामहों के लिए
स्वधा, नमः।
स्वधाशील प्रपितामहों के लिए
स्वधा, नमः।
पिता व्यापा करते हैं,
पिता आनन्दित किया करते हैं,
पिता तृप्त किया करते हैं।
पिताओ ! शुद्ध करो।

१०६३ **पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः, पुनन्तु मा पितामहाः, पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा। पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै।** य १९.३७

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पिता-महाः पुनन्तु प्र-पिता-महाः। पवित्रेण शत-आयुषा। पुनन्तु मा पिता-महाः पुनन्तु प्र-पिता-महाः। पवित्रेण शत-आयुषा विश्वम् आयुः वि अश्नवै।

१) (पुनन्तु) पवित्र करें, पवित्र रखें (मा) मुझे (पितरः सोम्यासः) पिता स्नेही।

यहां भी **पिताओं** से तात्पर्य पिता-माता तथा पिता-माता की आयु और कोटि के देव-देवियों से है।

विश्वसाधक की सार्वभौम साध महतो महान्

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

साध है। उसकी साधना में उसे सर्वथा नितान्त पवित्र रहना है। एतदर्थ सर्वथा विनम्र रहते हुए उसे स्नेहिल पिताओं से उनके आशीर्वादों तथा उपदेशों की सदा याचना करते रहना चाहिए।

२) (पुनन्तु) पवित्र कर, पवित्र रखें (मा) मुझे (पिता-महाः) पिता-मह।

यहां भी **पितामहों** से तात्पर्य दादा-दादी तथा दादा-दादी की कोटि और आयु के देव-देवियों से है।.

पितामहों के स्नेहपूर्ण आशीर्वादों तथा उपदेशों से नितान्त पवित्र रहता हुआ वह अपनी साधना के पथ का प्रशस्तीकरण करता रहे।

३) मुझे (पुनन्तु) पवित्र करें, पवित्र रखें (प्र-पिता-महाः) प्र-पितामह।

यहां भी **प्रपितामहों** से तात्पर्य परदादा-परदादी तथा परदादा-परदादी की कोटि और आयु के देव-देवियों से है।

प्रपितामहों के हार्दिक आशीर्वादों तथा अनुभवों से नितान्त पवित्र रहता हुआ वह अपना पथ प्रशस्त करता रहे।

४) वे मुझे युक्त करें (पवित्रेण शत-आयुषा) पवित्र दस हज़ार वर्ष के आयुष्य से।

एकायुष्य सौ वर्ष का। शतायुष्य १०० × १००=दस हज़ार वर्ष का। 'दस हज़ार वर्ष के पवित्र आयुष्य' से अभिप्राय यहां पवित्र दीर्घ-सुदीर्घ आयुष्य से है। विश्वसाधकों का जितना अधिक आयुष्य होगा और उनका जीवन जितना अधिक पवित्र होगा, संसार का उतना ही अधिक हितसम्पादन होगा।

५) (मा) मुझे (पुनन्तु) पवित्र करें (पिता-महाः) पितामह, (पुनन्तु) पवित्र करें (प्र-पिता-महाः) प्र-पितामह।

यह पुनरावृत्ति पुनः पुनः तथा निरन्तरता की द्योतक है। पितामह तथा प्रपितामह पुनः पुनः पवित्र करें, निरन्तर पवित्र करते रहें।

६) वे मुझे युक्त करें (पवित्रेण शत-आयुषा) पवित्र शता युष्य से।

७) मैं (वि अश्नवै) वि-सेवन करूं, विविधतया संसाधूं (विश्वम् आयुः) सम्पूर्ण आयुष्य, सारा जीवन।

विश्वसाधक का सम्पूर्ण आयुष्य, सारा जीवन विविध प्रकार की सुसेवा तथा सुसाधना में ही व्यतीत होना चाहिए।

पवित्र करें मुझे स्नेही पिता,
पवित्र करें मुझे पितामह,
पवित्र करें मुझे प्रपितामह,
युक्त करें पवित्र शतायु से।
पवित्र करें मुझे पितामह,
पवित्र करें प्रपितामह,
युक्त करें पवित्र शतायु से।
वि-सेवन करूं सम्पूर्ण आयुष्य।

सूक्ति : **पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः।**
पवित्र करें मुझे पिता सोम्य।
पुनन्तु मा पितामहाः।
पवित्र करें मुझे पितामह।
विश्वमायुर्व्यश्नवै।
यावज्जीवन विविधतया सेवा करूं।

१०६४ **अग्न ! आयूंषि पवस, आ सुवोर्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनाम्।**
[ऋ ९.६६.१९, य ३५.१६, साम ६२७, १४६४, १५१८] य १९.३८
अग्ने आयूंषि पवसे आ सुव ऊर्जम् इषम् च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनाम्।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

और यहां विश्वसाधक सभी विश्वसाधकों के लिए प्रभु से प्रार्थना करने लगता है—

१) (अग्ने) प्रकाशस्वरूप प्रभो ! तू हमारे (आयूंषि) आयुओं को, जीवनों को (पवसे) पवित्र कररहा हैं, प्रप्रेर रहा है।

सचमुच, स्वयं परम पावन प्रभु की पवित्र प्रेरणाओं से प्रेरित होकर ही वे इतनी महान् संसाध में संलग्न हैं।

२) तू (आ सुव) प्राप्त करा (नः) हमें (ऊर्जम् च इषम्) पराक्रम और इच्छाशक्ति।

श्रेष्ठ और सुमहान् कार्यों की सिद्धि के लिए पराक्रम की प्रत्यक्षतः आवश्यकता होती है। पराक्रम का अक्षय स्रोत इच्छाशक्ति है। इच्छाशक्ति परमात्मशक्ति से दूसरे नम्बर पर है। परमात्मशक्ति सदा ही इच्छाशक्ति की सहायक होती है। इच्छाशक्ति ही परमात्मशक्ति से युक्त रहती है। परमात्मशक्ति से युक्त होकर इच्छाशक्ति वह पराक्रम करती है कि सारी असम्भावनाएं सम्भावनाओं में परिणत होजाती हैं।

३) (आरे बाधस्व) दूर बाधन कर (दुच्छुनाम्) दुष्ट कुत्तों का।

'दुष्ट कुत्तों' से तात्पर्य कुत्तों की जैसी दुर्वृत्तियों से है। काटने को आना, भौंकना, जातिद्रोह, आदि श्वानवृत्तियां हैं। विश्वसाधकों में इन दुर्गुणों का होना अपनी साध और साधना को नष्ट करना है। उन्हें सम्पूर्ण मानवजाति को प्यार करना है, सबके साथ स्नेह और सौहार्द से वर्तना है, सबको सप्रेम प्रेरणा तथा उपदेश करना है, सबकी सेवा करनी है, दुर्जनों को सुजन बनाना है, दुष्टों का सत्कार और सुधार करना है।

तू पवित्र करता है, प्रेरता है जीवनों को,
प्राप्त करा हमें पराक्रम और इच्छाशक्ति।
दूर बाधन कर श्वान-दुर्वृत्तियों का।

१०६५ **पुनन्तु मा देवजनाः, पुनन्तु मनसा धियः।**
पुनन्तु विश्वा भूतानि, जातवेदः ! पुनीहि मा।

[ऋ ९.६७.२७, अ ६.१९.१] य १९.३९

पुनन्तु मा देव-जनाः पुनन्तु मनसा धियः। पुनन्तु विश्वा भूतानि जात-वेदः पुनीहि मा।

अपनी सार्वभौम साध की संसाधना की निरन्तर पवित्रता की कामना रखता हुआ विश्वसाधक अभिविनय करता है—

१) (पुनन्तु मा देव-जनाः) पवित्र करें मुझे दिव्य जन।

दिव्यताओं से जो संदिव्य होते हैं उनकी संज्ञा देव है। देवों की संगति और सान्निध्य से पवित्रता का संचार होता है। उनके परामर्शों और प्रवचनों से दिव्यताओं की सम्प्राप्ति होती है। विश्वसाधक कितना भी व्यस्त क्यों न हो, उसे देवों की संगति के लिए समय निकालना ही चाहिए।

२) वे मेरी (धियः) धारणाओं को (पुनन्तु) पवित्र करें (मनसा) मन से, प्रेमपूर्वक।

देव जन पूरे मन से अपने सत्संगियों की धारणाओं को पवित्र करते हैं। जो देव जनों के चरणों में आत्मश्रद्धा के साथ उपस्थित होते हैं, निस्सन्देह, उनकी धारणाएं संशुद्ध रहती हैं।

३) मुझे (पुनन्तु) पवित्र करें (विश्वा भूतानि) सब भूत।

भूत शब्द का प्रयोग प्राणिजगत् तथा जड़जगत्, दोनो के लिए होता है। उभय जगत् में परम पावन प्रभु की पावमानी पवित्रता निहित है। पवित्र

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भावना से विश्वसाधक उनका संग और सेवन करे।

४) (जात-वेदः) जातमात्र को जाननेवाले ! सर्वज्ञ ! सर्वव्यापिन् ! (पुनीहि मा) पवित्र कर मुझे।

परम पावन प्रभु की सर्वव्याप्ति तथा सर्वज्ञता की सतत अनुभूति से विश्वसाधक में सर्वत्र पवित्रता का संचार हो रहा होता है।

देव जन मुझे पवित्र करें,
पवित्र करें मन से धारणाओं को,
पवित्र करें सकल भूत।
जातवेदः ! पवित्र कर मुझे।

सूक्ति : **पुनन्तु मा देवजनाः।**
दिव्य जन मुझे पवित्र करें।
जातवेदः ! पुनीहि मा।
सर्वज्ञ ! मुझे पवित्र कर।
सर्वव्यापिन् ! मुझे पवित्र कर।

१०६६ **पवित्रेण पुनीहि मा, शुक्रेण देव ! दीद्यत्। अग्ने ! क्रत्वा क्रतूँरनु।** य १९.४०

पवित्रेण पुनीहि मा शुक्रेण देव दीद्यत्। अग्ने क्रत्वा क्रतून् अनु।

अपनी अभिविनय को जारी रखते हुए विश्वसाधक कहे चला जारहा है—

(देव) दातः ! दिव्यस्वरूप ! (दीद्यत्) देदीप्य ! परम दीप्त ! (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! परम सुन्दर ! पावक ! पवित्रकर्तः ! प्रभो ! अपनी (शुक्रेण पवित्रेण) निर्मल पवित्रता से (मा) मुझे, [और मेरे] (क्रत्वा) क्रतु से [मेरे] (क्रतून्) क्रतुओं को (अनु पुनीहि) पवित्र कर, पवित्र रख।

क्रतु शब्द में कर्तृत्व का, साध का, करनी का संस्कार है। वक्तृत्व सरल है। कर्तृत्व कठिन है। करनी और कथनी का अन्तर साध की गुरुता को नष्ट कर देता है। 'क्रतु' से तात्पर्य यहां साधनीय साध से है और 'क्रतून्' से तात्पर्य साधनीय साध की सिद्धि के लिए की जानेवाली साधनाओं से है।

विश्वसाधक जहां अपने जीवन से स्वयं परिशुद्ध रहे वहां उसकी साधनाएं भी उसकी साध के अनुरूप संशुद्ध रहें।

देव ! दीद्यत् ! अग्ने !
निर्मल पवित्रता से मुझको,
क्रत्वानु मेरे क्रतुओं को
कर पवित्र, रख शुद्ध।

सूक्ति : **पवित्रेण पुनीहि मा शुक्रेण।**
निर्मल पवित्रता से मुझे पवित्र कर/रख।

१०६७ **यत् ते पवित्रमर्चिष,अग्ने ! विततमन्तरा। ब्रह्म तेन पुनातु मा।**
[ऋ ९.६७.२३] य १९.४१

यत् ते पवित्रम् अर्चिषि अग्ने वि-ततम् अन्तरा। ब्रह्म तेन पुनातु मा।

(अग्ने) सुन्दर देव ! प्रकाशस्वरूप प्रभो ! (ते अर्चिषि अन्तरा) तेरे अर्चनीय तेज के मध्य (यत् पवित्रम्) जो पवित्रता (वि-ततम्) वि-स्तृत/व्याप्त है, [मेरा] (ब्रह्म) आत्मा, विवेक (तेन) उस-[पवित्रता]से (मा पुनातु) मुझे पवित्र करे/रखे।

प्रभु की पावमानी पवित्रता तो उसके सर्वव्यापी तेज वा सौन्दर्य में सर्वत्र फैली हुई है। विश्वसाधक का उसका अपना विवेकी आत्मा ही उससे अपने जीवन को पवित्र रख पाएगा। ब्राह्म पवित्रता से पवित्र रहता हुआ ही वह अपनी सार्वभौम साध की सफल साधना कर पाएगा। इसी भाव से उसने यह प्रार्थना और मनोकामना की है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अग्ने ! तेरे अर्चनीय तेज में
जो पवित्रता है संव्याप्त,
मेरा आत्मा उससे मुझको
रखे सदा पवित्र ।

१०६८ **पवमानः सो अद्य नः, पवित्रेण विचर्षणिः । यः पोता स पुनातु मा ।**
[ऋ ९.६७.२२] य १९.४२
पवमानः सः अद्य नः पवित्रेण वि-चर्षणिः । यः पोता सः पुनातु मा ।

(सः यः) वह जो (पवमानः) परम पवित्र (वि-चर्षणिः) वि-द्रष्टा, सर्व-द्रष्टा (पोता) पवित्रकर्ता [प्रभु है] (सः) वह (अद्य) आज, अब (पवित्रेण) [स्व] पवित्रता से (नः) हमें, हम विश्वसाधकों को, (मा) मुझे, मुझ विश्वसाधक को (पुनातु) पवित्र करे/रखे ।

पवित्र रहते हुए ही पवित्र साधें संसिद्ध होती हैं ।

वह जो परम पवित्र विद्रष्टा,
पवित्रकर्ता, वह आज स्वपवित्रता से
हमको, मुझको, करे नितान्त पवित्र,
रखे नितान्त पवित्र ।
सूक्ति : यः पोता स पुनातु मा ।
जो शोधक वह शोधे मुझको ।

१०६९ **उभाभ्यां देव ! सवितः !, पवित्रेण सवेन च । मां पुनीहि विश्वतः ।**
[ऋ ९.६७.२५, अ ६.१९.३] य १९.४३
उभाभ्याम् देव सवितः पवित्रेण सवेन च । माम् पुनीहि विश्वतः ।

(सवितः) रचनेवाले ! प्रेरनेवाले ! प्रकाशनेवाले ! (देव) दिव्यताओं के पुञ्ज ! संदिव्य प्रभो ! (माम् पुनीहि) मुझे पवित्र कर, मुझ विश्वसाधक को शुद्ध रख (उभाभ्याम्) दोनों से, दोनों प्रकार से, (पवित्रेण च सवेन) पवित्र से भी और सव से भी, अपि च (विश्वतः) सर्वतः, सब प्रकार से ।

पवित्र से तात्पर्य यहां पवित्र अन्तःकरण की पवित्रता से है और **सव** से तात्पर्य है बाह्यकरण की पवित्रता से, सामाजिक और सांसारिक शुद्ध व्यवहार से । मनुष्य जब अन्तःकरण तथा बाह्य-करण से शुद्ध होता है तो ही वह सब प्रकार से शुद्ध माना जाता है । सर्वतः संशुद्ध रहता हुआ ही विश्वसाधक जगती का स्वाद्वीकरण वा आनन्द-मयीकरण करने में सफल होता है ।

दोनों से, देव सवितः !
पवित्र से भी और सव से भी,
मुझे कर, रख पवित्र सर्वतः ।
सूक्ति : मां पुनीहि विश्वतः ।
मुझे पवित्र कर, रख सर्वतः ।

१०७० **वैश्वदेवी पुनती देव्यागाद्, यस्यामिमा बह्व्यस्तन्वो वीतपृष्ठाः ।**
तया मदन्तः सधमादेषु, वयं स्याम पतयो रयीणाम् । य १९.४४
वैश्व-देवी पुनती देवी आ अगात् यस्याम् इमाः बह्व्यः तन्वः वि-इत-पृष्ठाः । तया मदन्तः सध-मादेषु वयम् स्याम पतयः रयीणाम् ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इस मन्त्र में विश्वसाधक देव सविता के प्रति एक अद्भुत कामना प्रकट कर रहा है—

१) हम विश्वसाधकों को सदा सहज (आ अगात्) आई हुई हो, प्राप्त हुई हुई हो (पुनती) छानकर पवित्र करती हुई (वैश्व-देवी देवी) वैश्व-देवी देवी।

वैश्व-देवी = विश्व को दिव्यताओं से द्योतित करनेवाली, विश्व को दिव्यताओं का दान करनेवाली, विश्व को दैवी दिव्य सम्पदाएं प्रदान करनेवाली।

देवी = दिव्य भावना। 'यथा भावना तथा भाव।' विश्व का स्वाद्वीकरण तथा आनन्दमयीकरण एक दिव्य स्वप्न है। उसकी सम्पूर्ति के लिए विश्वसाधक अनिवार्यतः सदा ही दिव्य भावना से भावित रहने चाहिएं। दिव्य भावना ही विश्व को दिव्य सम्पदाओं से सम्पन्न कराती है।

२) वैश्वदेवी दिव्य भावना ही तो है (यस्याम्) जिसमें (इमाः) ये (बहु व्यः) बहुत, सब (वीत-पृष्ठाः) कमनीय-पृष्ठा, अपनी पृष्ठों पर कमनीय साधनाओं/योजनाओं को वहन करनेवाली (तन्वः) ज़ीवनियां [निमग्न हैं]।

किनकी हैं ये जीवनियाँ? उन विश्वसाधकों की जो विश्व को स्वादिष्ठ और आनन्दधाम बनाने में निमग्न हैं।

३) (तया) उस [वैश्वदेवी दिव्य भावना] के साथ (सध-मादेषु) सह-आनन्दों में, आनन्दमयी सह-साधनाओं में, विश्व को आनन्दधाम बनाने की समान रूधनाओं में (मदन्तः) आनन्दमग्न रहते हुए, मस्ती से झूमते हुए (वयम्) हम [सब विश्व-साधक] (रयीणाम् पतयः स्याम) आत्मैश्वर्यों के स्वामी हों, दैवी सम्पदाओं से सम्पन्न रहें।

अध्यात्म सम्पदाओं से सम्पन्न रहते हुए ही विश्वसाधक विश्व का वास्तविक आनन्दमयीकरण कर सकेंगे। विश्व के आनन्दमयीकरण में प्रत्यक्षतः भौतिक सम्पदाओं से कहीं अधिक महत्त्व आध्यात्मिक सम्पदाओं का है।

प्राप्त हुई हुई हो
पुनती वैश्वदेवी देवी,
जिसमें ये सब कमनीय-पृष्ठा
जीवनियां हैं निमग्न।
उसके साथ आनन्दमग्न रहते हुए,
सह-आनन्दों में,
हों हम स्वामी आत्मैश्वर्यों के।

सूक्ति : **वयं स्याम पतयो रयीणाम्।**
हम हों स्वामी आत्मैश्वर्यों के।

१०७१ ये समानाः समनसः, पितरो यमराज्ये। तेषाँल्लोकः स्वधा नमो, यज्ञो देवेषु कल्पताम्।

य १९.४५

ये समानाः स-मनसः पितरः यम-राज्ये। तेषाम् लोकः स्व-धा नमः यज्ञः देवेषु कल्पताम्।

देव सविता के प्रति अपनी आत्मकामना का प्रकाशन करता हुआ विश्वसाधक कहे चला जारहा है—(यम-राज्ये) यम के राज्य में, सर्वनियन्ता के शासन में (ये) जो (समानाः) समान, (स-मनसः) स-मन, स-हृदय (पितरः) पिता [हैं, पितावत् जगती के लिए आनन्द सम्पादन करनेवाले हैं] (तेषाम्) उनका (लोकः) निवास, (स्व-धा) आत्म-भरण, अन्न-वस्त्रादि से आतिथ्य, (नमः) नमन, सत्कार, (यज्ञः) संगतिकरण, सत्संग (देवेषु) मानव-देवों में, नागरिक-देवों में, निवास-स्वधादि देनेवालों में में (कल्पताम्) दृढ़ीभूत हो।

विश्वसाधक सर्वनियन्ता प्रभु के राज्य की

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रजा हैं, किसी अन्य के राज्य की नहीं। वे जहां भी विचर रहे होते हैं, प्रभु के राज्य में ही विचर रहे होते हैं। वही उनका राजा है और उसी की प्रेरणा से वे सर्वत्र जाते हैं। मानवदेवों को चाहिए कि वे सर्वत्र उनके निवास की सुचारु व्यवस्था करें, उनका आत्मश्रद्धा के साथ आतिथ्य करें, उन्हें नमस्कार करें और उनके सत्संग से आत्मलाभ प्राप्त करें।

यम के राज्य में समान;
समन पिता विचरण करते हैं,
दृढ़ीभूत हो उनका लोक, स्वधा,
नमन, सत्संग मानवदेवों में।

१०७२ **ये समानाः समनसो, जीवा जीवेषु मामकाः।**
तेषां श्रीर्मयि कल्पता,मस्मिँल्लोके शतं समाः। य १९.४६
ये समानाः स-मनसः जीवाः जीवेषु मामकाः। तेषाम् श्रीः मयि कल्पताम् अस्मिन् लोके शतम् समाः।

(जीवेषु) मनुष्यों में, मानवों में, मानवदेवों में (ये) जो (समानाः) सम्मानित, परमादरणीय (स-मनसः) स-हृदय (जीवाः) मानवदेव (मामकाः) मेरे [हैं, मेरा आतिथ्य करनेवाले और मेरी साध में मेरे सहायक हैं] (तेषाम्) उनकी (श्रीः) शोभा, सौन्दर्य, सम्पदा, वैभव (मयि) मुझमें, मुझ विश्व-साधक के प्रति (शतम् समाः) सौ वर्ष (कल्पताम्) दृढ़ीभूत हो/रहे (अस्मिन् लोके) इस संसार में।

विश्वसाधकों के सहयोगी सौ वर्ष का पूर्ण आयुष्य प्राप्त करें, उनकी श्री सदा वृद्धिगत रहे और वह उनकी साध की सिद्धि में सदैव अर्पित रहे।

विश्वसाधकों के लिए यों तो सभी उनके अपने हैं। पर क्रियारूप में उनके अपने वे ही हैं जो उनकी संसाध की पूर्ति में उनके काम आएं।

मनुजों में जो सम्मानित,
और सहृदय मानव मेरे,
उनकी श्री दृढ़ीभूत हो
मुझमें शत वर्ष,
इस लोक में।

१०७३ **द्वे सृती अशृणवं पितृणा,महं देवानामुत मर्त्यानाम्।**
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति, यदन्तरा पितरं मातरं च।
[ऋ १०.८८.१५] य १९.४७
द्वे सृती अशृणवम् पितृणाम् अहम् देवानाम् उत मर्त्यानाम्। ताभ्याम् इदम् विश्वम् एजत् सम् एति यत् अन्तरा पितरम् मातरम् च।

१) (अहम्) मैंने, मुझ विश्वसाधक ने (अशृणवम्) सुना है (यत्) कि (पितरम् च मातरम् अन्तरा) पिता और माता के बीच में, पिता और माता से जन्मनेवाले, असल बाप-मां के (मर्त्यानाम्) मनुष्यों की (द्वे सृती) दो गतियां [धाराएं] हैं—(पितृणाम्) पिताओं की, पितावत् जगती का आनन्दमयीकरण करनेवाले विश्व-पालकपोषकों की, विश्वसाधकों की (उत) और (देवानाम्) मानवदेवों की, पिताओं को अन्नवस्त्रादि देनेवालों की, आतिथ्यकर्ताओं की। २) (ताभ्याम्) उन[दोनों]से [ही] (एजत्) प्रेरित हुआ (इदम् विश्वम्) यह विश्व, यह सब (सम् एति) सम्यक् गति करता है, सुचारुता के साथ

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

चल रहा है।

संसार में जो भी शुभ श्रेष्ठ होरहा है, जो चहल-पहल है वह सब इन दो प्रकार के मनुष्यों से है। शेष सब मनुष्य या तो भूमि पर भारभूत हैं या मनुष्यरूप में पशु हैं।

सुना है मैंने कि अन्तर में
माता और पिता के
दो गतियां हैं मनुष्यों की—
पिताओं की, और देवों की।
उनसे प्रेरित हुआ यह सब
सुचारुता से गति करता है।

१०७४ **इदं हविः प्रजननं मे अस्तु, दशवीरं सर्वगणं स्वस्तये।**
आत्मसनि प्रजासनि पशुसनि लोकसन्यभयसनि।
अग्निः प्रजां बहुलां मे करोत्,अन्नं पयो रेतो अस्मासु धत्त। य १९.४८

इदम् हविः प्र-जननम् मे अस्तु दश-वीरम् सर्व-गणम् सु-अस्तये। आत्म-सनि प्र-जा-सनि पशु-सनि लोक-सनि अ-भय-सनि। अग्निः प्र-जाम् बहुलाम् मे करोतु अन्नम् पयः रेतः अस्मासु धत्त।

१) (सु-अस्तये) सु-अस्ति के लिए, सर्वमंगल और विश्वकल्याण के लिए, जगती के आनन्दमयीकरण के लिए (मे) मेरा, मुझ विश्वसाधक का (इदम् प्र-जननम्) यह प्र-जन्म (अस्तु) हो (हविः) हवि-रूप, हविर्वत् सुगन्धित, हवनसामग्री के समान सुहुत होकर विश्व को सुरभित करनेवाला, आनन्द की सुगन्धि फैलानेवाला, (दश-वीरम्) दशों दिशाओं में पराक्रम करनेवाला, (सर्व-गणम्) सबको एक परिवारसमूह में गूंथनेवाला, सर्व मानवों को एक परिवार में परिणत करनेवाला, सारी पृथिवी को एक गृह और सम्पूर्ण मानवप्रजा को एक परिवार बनानेवाला, (आत्म-सनि) आत्म-सेवी, आत्मा आत्मा में अध्यात्म सुधा का संचार करनेवाला, (प्र-जा-सनि) प्रजा-सेवी, मानवप्रजा को प्रकृष्टता से अलंकृत करनेवाला, (पशु-सनि) पशु-सेवी, गौ, आदि उपकारी पशुओं की वंशवृद्धि करनेवाला, (लोक-सनि) लोक-सेवी, इस भूलोक को आनन्द-धाम बनानेवाला, (अ-भय-सनि) अभय-सेवी, जगती में निर्भयता की स्थापना करनेवाला।

विश्वसाधक की इस मनोकामना में विश्व-साधकों के लिए कितनी उत्कट और साधनापरक प्रेरणाएं निहित हैं। सभी विश्वसाधकों की ऐसी मनोकामना होगी तो विश्व के आनन्दमयीकरण की साध अवश्य सिद्ध होगी।

२) (अग्निः) प्रकाशस्वरूप परमात्मा (मे प्र-जाम्) मेरी मानवप्रजा को (बहुलाम् करोतु) बाहुल्य-युक्त करे, प्रचुरता से सम्पन्न करे, बहुत फुलाए और फलाए।

बाहुल्य-युक्त रहते हुए ही मानवप्रजाएं विश्व-साधकों की साधना में प्रचुरता के साथ सहायता करेंगी। विश्वसाधकों का कर्तव्य है कि वे मानव-प्रजाओं की सर्वांगीण समृद्धि के लिए भी साधनोपाय बताते रहें।

३) मानवप्रजाओ ! मानव-देवो ! तुम सब (अस्मासु) हममें, हम विश्वसाधकों में (अन्नम्) अन्न, (पयः) दुग्ध, (रेतः) वीर्य, वीर्यवर्धक पदार्थ (धत्त) धारण—स्थापन—प्रदान करो, करते रहो।

ऐसा करते हुए मानवप्रजाएं विश्वसाधकों और विश्वसाधिकाओं को सदा स्वस्थ और सक्षम रखें।

स्वस्ति के लिए
मेरा यह प्रजन्म हो
हवि, दशवीर; सर्वगण, आत्मसनि;

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रजासनि, पशुसनि, लोकसनि, अभयसनि । हममें धारण करो अन्न, पय, रेत ।
अग्नि करे प्रजा को मेरी बहुला ।

१०७५ **उदीरतामवर उत् परास, उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।**
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञा,स्ते नोवन्तु पितरो हवेषु ।
[ऋ १०.१५.१, अ १८.१.४४] य १९.४९

उत् ईरताम् अवरे उत् परासः उत् मध्यमाः पितरः सोम्यासः । असुम् ये ईयुः अ-वृकाः ऋत-ज्ञाः ते नः अवन्तु पितरः हवेषु ।

दशवीर पिता, दशों दिशाओं में पराक्रम करनेवाले विश्वसाधक जिस किसी दिशा में जहां कहीं भी जाते हैं, वहीं वहां की जनता उनके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करती हुई कहती है—

१) हमें (उत् ईरताम्) उत्प्रेरें, उत्कृष्ट प्रेरणा करें, महत्त्वाकांक्षी बनाएं, ऊंचा उठाएं, ऊंचा उठने की प्रेरणा करें (अवरे पितरः) आयुर्लघु पिता, कम आयु के युवा विश्वसाधक, (उत्) उत्प्रेरें (मध्यमाः) मध्य पिता, प्रौढ़ विश्वसाधक, (उत्) उत्प्रेरें (परासः) प्रकृष्ट पिता, अधिक आयुवाले वृद्ध विश्वसाधक ।

उत्, उत्कृष्ट, उच्च प्रेरणाएं मानवों को ऊंचा उठाती हैं, महत्त्वाकांक्षी बनाती हैं । मानवप्रजा जब महत्त्वाकांक्षी बन जाती है तो वह पृथिवी को आनन्दधाम बनाने में जुटती है । विश्वसाधक जहां जाएं वहीं मानवों को उत्प्रेरक वेदोपदेश करें ।

२) (ये) जो (सोम्यासः) सोम्य, (अ-वृकाः) अ-हिंसाशील, (ऋत-ज्ञाः) ऋत-ज्ञ (पितरः) पिता विश्वसाधक (असुम् ईयुः) प्राण को प्रेरा करते हैं, प्राणवत् निर्विश्राम-निर्विषय-निर्विकार-निरासक्त रहते हुए विश्वसाधना किया करते हैं (ते नः अवन्तु) वे हमारी रक्षा करें (हवेषु) आह्वानों में, पुकारों में ।

'वृक' नाम भेड़िया, आदि हिंसक प्राणियों का है । जो हिंसा, कुटिलता, आदि पाशविक वृत्तियों से मुक्त हैं उनकी संज्ञा **अवृक** है ।

'ऋत' नाम सत्य, सदाचार और सही का है । सत्यनिष्ठ और सदाचारी होने के साथ साथ जिनकी प्रत्येक गति और चेष्टा सही होती है उनकी संज्ञा **ऋतज्ञ** है ।

सोम्य, अवृक और ऋतज्ञ पिता विश्वसाधक, निस्सन्देह, विशेष अवसरों और विकट प्रसंगों पर पुकारे जाने पर मानवों की सर्वतः रक्षा किया करते हैं ।

उत्प्रेरें पिता युवा,
उत्प्रेरें प्रौढ़, उत्प्रेरें वृद्ध ।
जो सोम्य, अहिंसाशील, ऋतज्ञ पिता
प्रेरा करते हैं प्राण,
वे हमारी रक्षा करें पुकारों में ।
सूक्ति : **नोवन्तु पितरो हवेषु ।**
हमारी रक्षा करें पिता पुकारों में ।

१०७६ **अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा, अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।**
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियाना,मपि भद्रे सौमनसे स्याम ।
[ऋ १०.१४.६, अ १८.१.५८] य १९.५०

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अङ्गिरसः नः पितरः नव-ग्वाः अ-थर्वाणः भृगवः सोम्यासः । तेषाम् वयम् सु-मतौ यज्ञियानाम् अपि भद्रे सौमनसे स्याम ।

अभिनन्दन करती हुई जनता कहे चली जारही है–
१) (नः) हमारे (पितरः) पिता विश्वसाधक हैं (अङ्गिरसः) अंगारे [अंगारों के समान विश्व-प्रेमाग्नि से धधकते हुए], (नव-ग्वाः) नव-वाक्, वाणी से नवीन नवीन उपदेश करनेवाले, नव-जिह्व, (अ-थर्वाणः) अ-थर्व, अ-कम्प, अ-विचल, धीर, (भृगवः) परिपक्व, (सोम्यासः) प्रियदर्शन ।
२) (अपि) निश्चय ही, [अभिनन्दनकर्ता सर्व जन] (वयम्) हम (स्याम) हों, रहें [वैसे] (तेषाम् यज्ञियानाम्) उन यज्ञियों की, उन पूजनीयों की (सु-मतौ) सु-मति में, [उनकी] (भद्रे सौमनसे) भद्र सुमनस्कता में, मंगलकारिणी सुप्रसन्नता में, प्रियकर सुभावना में ।

विश्वसाधक पिताओं के नित्य नए वेदोपदेशों को सुनकर जनता उनकी सुमति से सुमत, और उनकी मंगलभावना से सुभावित रहे ताकि जगती में आनन्द का पथ प्रशस्त हो ।

पिता हमारे हैं अंगारे, नववाक्, अविचल,
परिपक्व और प्रियदर्शन ।
निश्चय ही, हम रहें उन यज्ञियों की
सुमति में, भद्र सुमनस्कता में ।

सूक्ति : **भद्रे सौमनसे स्याम ।**
हम भद्र भावना में रहें ।

१०७७ **ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासो,नूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ।**
तेभिर्यमः सं ररागो हवींष,युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ।
[ऋ १०.१५.८, अ १८.३.४६] य १९.५१

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासः अनु-ऊहिरे सोम-पीथम् वसिष्ठाः । तेभिः यमः सम्-ररागः हवींषि उशन् उशत्-भिः प्रति-कामम् अत्तु ।

१) (ये) जो [हैं] (नः) हमारे (पितरः) पिता विश्वसाधक वे [हों] (पूर्वे) सर्वश्रेष्ठ, (सोम्यासः) प्रियदर्शन, (वसिष्ठाः) अतिशय ऐश्वर्यशाली ।

विश्वसाधक पिताओं की प्रसाधना सर्वातिश्रेष्ठ और महतो महान् है । वे प्रत्येक दृष्टि से प्रथम कोटि के साधक, प्रियदर्शन होने के अतिरिक्त अतिशय ऐश्वर्यशाली और सर्वसाधनसम्पन्न भी होने चाहिएं । धनहीन और साधनविहीन रहते हुए वे अपनी सार्वभौम साधों की पूर्ण साधना न कर पाएंगे ।
२) सर्वसाधनसम्पन्न रहते हुए वे (अनु-ऊहिरे) अनु-वहन, निरन्तर ऊहापोह/विवेचन किया करें (सोम-पीथम्) सोम-पेय को, सोमामृत को, आनन्दामृत को ।

मानवसमाज ऐसी व्यवस्था करे कि विश्व-साधक साधनों की चिन्ता से सर्वथा मुक्त रहते हुए अपनी साधों की संसाधना में निमग्न रहें ।
३) प्रत्येक (यमः) यमसिद्ध, अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहशील विश्वसाधक [अपने] (तेभिः उशत्-भिः) उन कामयमानों के साथ, उन प्रेमी सहयोगियों के साथ, उन प्रेम करनेवाले मानवों के साथ (सम्-ररागः) सम्यक् रमण करता हुआ, (प्रति-कामम् उशन्) प्रत्येक कामना को कामता हुआ, मानवों की कामना-कामना को पूरी करना

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

चाहता हुआ [प्रेमी सहयोगियों की] (हवींषि) हवियों को, शुद्ध सात्त्विक पदार्थों को (अत्तु) खाए, सेवन करे।

विश्वसाधक अपने आतिथ्य-कर्ताओं के आतिथ्य को स्वीकार और सेवन करते हुए उनकी शुभ-कामनाओं की पूर्ति के लिए उन्हें आशीर्वाद दें और प्रभु से उनके योगक्षेम की प्रार्थना करें।

जो हैं हमारे पिता, हों वे
पूर्व, प्रियदर्शन, साधनसम्पन्नतम।
अनु-ऊहापोहें वे सोम-पीथ को।
यमसिद्ध विश्वसाधक उन कामयमानों के साथ
सं-रमण करता हुआ,
कामना-कामना को कामता हुआ,
करे सेवन हवियों को।

सूक्ति : पितरः सोम्यासः।
पिता हों प्रियदर्शन।

१०७८ **त्वं सोम ! प्र चिकितो मनीषा, त्वं रजिष्ठमनु नेषि पन्थाम्।**
तव प्रणीती पितरो न इन्दो !, देवेषु रत्नमभजन्त धीराः।
[ऋ १.९१.१] य १९.५२

त्वम् सोम प्र चिकितः मनीषा त्वम् रजिष्ठम् अनु नेषि पन्थाम्। तव प्र-नीती पितरः न इन्दो देवेषु रत्नम् अभजन्त धीराः।

विश्व के आनन्दमयीकरण की साध में निरत पिता विश्वसाधक जहां भी जाते हैं वहीं उनके वेदोपदेशों से, उनके साधनाशील जीवन से, उनके साधु शील और व्यवहार से प्रभावित होकर मानवप्रजाएं उनके लिए मंगलमय भगवान् से प्रार्थना करती हैं—

१) (सोम) प्रियदर्शन ! सुन्दर प्रभो ! (इन्दो) आत्म-चन्द्र ! (त्वम्) तू (मनीषा चिकितः) सुसंस्कृत प्रज्ञा से चेतानेवाला [है]; (त्वम्) तू (रजिष्ठम् पन्थाम्) सरलतम पथ को/पर (प्र अनु नेषि) प्रकृष्टतया अनु-नयन करता है, ले जाता है, चलाता है।

प्रभु की प्रेरणा, निश्चय ही, अभीष्टबोधक और लक्ष्यप्रापक होती है।

२) (तव प्र-नीती) तेरी प्र-नीति से, तेरे प्र-नयन में (नः) हमारे (धीराः) धैर्य के धनी, ध्यानशील, धैर्यवान् (पितरः) पिता विश्वसाधक (देवेषु) मानवदेवों में (रत्नम् अभजन्त) रत्न सेवन किया करें, रत्नवत्ता के साथ सम्मानित हुए हुए हों, रमणीयता के साथ सत्कृत किए गए हों।

रत्नवत्ता के साथ सम्मानित और सत्कृत विश्वसाधक सहजतया साधनसम्पन्न रहते हुए निर्बाधता के साथ जगती का स्वाद्वीकरण कर पाते हैं।

प्रियदर्शन ! आत्मचन्द्र ! तू
है मनीषया प्रचिकेता,
तू है चलाता सरलतम पथ पर।
तेरी प्रनीति से सेवन किया करें
रत्न हमारे धीर पिता मानवदेवों में।

सूक्ति : त्वं सोम····चिकितो मनीषा।
प्रियदर्शन ! तू प्रज्ञा से चेतानेवाला है।
त्वं रजिष्ठमनु नेषि पन्थम्।
तू सरलतम मार्ग पर चलाता है।

१०७९ **त्वया हि नः पितरः सोम ! पूर्वे, कर्माणि चक्रुः पवमान ! धीराः।**
वन्वन्नवातः परिधीँरपोर्णु, वीरेभिरश्वैर्मघवा भवा नः।
[ऋ ९.९६.११] य १९.५३

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

त्वया हि नः पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चक्रुः पवमान धीराः। वन्वन् अ-वातः परि-धीन् अप ऊर्णु वीरेभिः अश्वैः मघ-वा भव नः।

१) (सोम) प्रियदर्शन ! परम मनोहर ! (पवमान) पावन प्रभो ! (त्वया हि) तेरे द्वारा ही, तुझसे संगत रहते हुए ही, तेरी सहायता से ही (नः) हमारे (पूर्वे) पूर्ण, श्रेष्ठ (धीराः) धैर्यवान्, धैर्यशील (पितरः) पिता विश्वसाधक (कर्माणि चक्रुः) कर्मों को करते चले आए हैं, अपनी महान् साधें साधते चले आए हैं।

२) (अ-वातः) अ-विचल तू (वन्-वन्) सहायता करता हुआ [इनकी] (परि-धीन्) परि-धियों/घेरों/सीमाओं/बाधाओं/संकोचों को (अप ऊर्णु) खोल दे [और इन्हें] (वीरेभिः अश्वैः) वीर अश्वों से, वीर आशुकर्माओं से, वीर तीव्रकारियों से युक्त [रख]।

वीरता/धीरता के साथ तीव्रता से साधना में संलग्न रहनेवाले साधक-साधिकाओं के लिए ही यहां 'वीर अश्वों' का प्रयोग हुआ है। कार्य परिधिरहित है, अतिशय विशाल है। तीव्र अश्वों के समान बड़ी फुर्ती और तेज़ी के साथ साधनारत रहनेवाले साधक-साधिका ही उसे पूरा कर और करा पाएंगे। देश-प्रदेश, सूबा-प्रान्त, भाषा-वेश, मज़हब-सम्प्रदाय, आदि की सीमाओं को तोड़कर ही, सीमारहित होकर ही वे जगती के स्वाद्वीकरण की साध को सिद्ध कर सकेंगे।

३) तू (नः) हमारा, पृथिवी पर निवास करनेवाले हम सब मानवों का (मघ-वा भव) मघ-वान्, पूजित धनों का दाता हो।

मघ+वा=पूजित धनोंवाला। **मघवा** शब्द का प्रयोग यहां 'पूजित धनों का देनेवाला' अर्थ में हुआ है। पूजित धन वे हैं जो मनुष्यों को पूज्य बनाते हैं। भौतिक धन तो धनवान् बनाते हैं। सत्य, सदाचार, पवित्रता, संयम, मधुरता, श्रद्धा, निष्ठा, आदि सम्पदाएं ही हैं जो मानवों को पूज्य बनाती हैं। इन ऐसे पूजित धनों से सम्पन्न मानव-प्रजाएं ही जगती में आनन्दमयीकरण की स्थापना को चिरस्थायी रख सकेंगी।

प्रियदर्शन ! परम पावन प्रभो !
तुझसे ही हमारे पूर्व धीर पिता
करते चले आए हैं कर्मों को।
अविचल तू सहायता करता हुआ,
खोल दे परिधियों को,
कर सुयुक्त वीर अश्वों से।
हो हमारा पूजितधनप्रदाता।

सूक्ति : **परिधीँरपोर्णु।**
परिधियों को खोल दे।

१०८० **त्वं सोम ! पितृभिः संविदानो,नु द्यावापृथिवी आ ततन्थ।**
तस्मै त इन्दो ! हविषा विधेम, वयं स्याम पतयो रयीणाम्।
[ऋ ८.४८.१३] य १९.५४

त्वम् सोम पितृ-भिः सम्-विदानः अनु द्यावा-पृथिवी आ ततन्थ। तस्मै ते इन्दो हविषा विधेम वयम् स्याम पतयः रयीणाम्।

१) (सोम) प्रियदर्शन ! (इन्दो) चन्द्र ! चन्द्रमा के समान प्राह्लादक ! (त्वम्) तू [हमारे इन] (पितृ-भिः) पिता विश्वसाधकों द्वारा [हम मानवों को] (सम्-विदानः) सम्यक् ज्ञान प्राप्त कराता हुआ, संप्रेरता हुआ (द्यावा-पृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक को (अनु) निरन्तर (आ ततन्थ) विस्तारे, खुला

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

किए हुए है। (तस्मै ते) उस तेरे लिए [हम] (हविषा) आत्महवि/प्रेमहवि के साथ (विधेम) विधान करें, अर्पित हों।

प्रभु-अर्पितों के लिए प्रभु द्यौ-भू को, दिशा-प्रदिशाओं को, सारी सृष्टि को निर्बाध खुला करता है, उनकी साधना के पथों को प्रशस्त करता है। जगती के हम सब मानव ऐसे उस प्रभु के प्रति सदा अर्पित रहें।

२) प्रभु की कृपा और पिता विश्वसाधकों के आशीर्वाद से (वयम्) हम [सब मानव] (रयीणाम्) आत्मैश्वर्यों के (पतयः स्याम) स्वामी हों।

जगती के आनन्दमयीकरण में भौतिक ऐश्वर्यों से कहीं अधिक महत्त्व आत्मैश्वर्यों का है। आत्मिक धनों के बिना भौतिक धन अनर्थकारी होते हैं।

प्रियदर्शन ! चन्द्र ! पिताओं द्वारा प्रेरता हुआ,
है विस्तारे हुए निरन्तर
तू सम्यक् द्यौ और भू।
करें विधान हम
उस तेरे लिए
आत्मप्रेम के साथ।
हम हों स्वामी आत्मैश्वर्यों के।

सूक्ति : ते इन्दो ! हविषा विधेम।
चन्द्र ! हम तेरे लिए करें विधान आत्मप्रेम के साथ।

वयं स्याम पतयो रयीणाम्।
हम हों स्वामी आत्मधनों के।

१०८१ **बर्हिषदः ! पितर ! ऊत्यर्वा,गिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्।**
त आ गतावसा शन्तमेन,नाथा नः शं योररपो दधात।
[ऋ १०.१५.४, अ १८.१.५१] य १९.५५

बर्हि-सदः पितरः ऊती अर्वाक् इमा वः हव्या चकृम जुषध्वम्। ते आ गत अवसा शम्-तमेन अथ नः शम् योः अ-रपः दधात।

पिता विश्वसाधकों के लिए मंगलमय भगवान् से मंगल-प्रार्थना करके विशिष्ट जन उनका आतिथ्य करते हुए कहते हैं—

१) (बर्हि-सदः पितरः) आसन-स्थ पिताओ ! आसनों पर विराजे हुए विश्वसाधक पिताओ ! हमने (अर्वाक्) इधर (वः) तुम्हारे लिए (ऊती) ऊत्या, सुरक्षा के साथ, सावधानी के साथ (चकृम) तयार की हैं (इमा हव्या) ये हविएं, ये सुसेवनीय वस्तुएं; (जुषध्वम्) सप्रीत सेवन करो।

विश्वसाधक पिताओं के लिए जो भोजन बनाया जाए वह अतिशय स्वच्छता और सावधानी के साथ बनाया जाए। जितने भी भोज्य पदार्थ तैयार किए जाएं, सब सात्त्विक, स्वादिष्ठ, सुपच और स्वास्थ्यप्रद हों ताकि वे सदा नीरोग, स्वस्थ और सक्षम रहें। सब मिलकर समादर और सत्कार के साथ उन्हें भोजन कराएं और श्रद्धापूर्वक उनका आतिथ्य करें।

२) (ते) वे तुम [पिता विश्वसाधक] (शम्-तमेन अवसा) शान्त-तम सुरक्षा, प्रशान्ततम कान्ति के साथ [पुनः पुनः यहां] (आ गत) आओ (अथ) और (नः) हमारे लिए, हम सब मानवों के लिए (शम्) शान्ति, सुख, (योः) दुःखविनाश, दुरितनाश, भद्रता, (अ-रपः) अ-मल, निर्मलता, निष्पापता (दधात) स्थापन/प्रदान करो।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पिता विश्वसाधक पृथिवी पर सर्वत्र पुनः पुनः पहुंचते रहते हैं तो उनके प्रवचनों और उत्प्रेरणाओं से मानवों के दुरितों का निवारण होता रहता है, उन्हें सुख, शान्ति और निर्मलता की प्राप्ति होती रहती है। वे जब जहां जाएं वहां के मानवों से दुरितों का त्याग कराएं, उन्हें सुख, शान्ति और निर्मलता प्राप्त करानेवाले शिक्षोपदेश करें।

आसनस्थ पिताओ !
हमने इधर तुम्हारे लिए
सावधानी के साथ बनाई हैं ये हवियां,
सेवन करो सप्रेम।
वे तुम अतिशय शान्त कान्ति के साथ आओ,
और हमारे लिए स्थापन करो
शं, दुरितत्याग, निर्मलता।

सूक्ति : **वो हव्या चकृमा; जुषध्वम्।**
हमने तुम्हारे लिए हवियां तैयार की हैं; सेवन करो।
नः शं योररपो दधात।
हमारे लिए शान्ति, भद्रता, निर्मलता स्थापन करो।

१०८२ **आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि, नपातं च विक्रमणं च विष्णोः।**
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य, भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः।
[ऋ १०.१५.३, अ १८.१.४५] य १९.५६
आ अहम् पितॄन् सु-विदत्रान् अवित्सि नपातम् च वि-क्रमणम् च विष्णोः।
बर्हि-सदः ये स्व-धया सुतस्य भजन्त पित्वः ते इह आ-गमिष्ठाः।

आतिथ्य के पश्चात् आतिथ्यकर्ताओं में से एक सर्वमान्य व्यक्ति उठता है और पिता विश्वसाधकों का अभिनन्दन करता है—

१) (अहम् आ अवित्सि) मैंने पूर्णतया जाना है (सु-विदत्रान् पितॄन्) सं-ज्ञानी पिताओं को, सुदेनें देनेवाले पिता विश्वसाधकों को (च) और (विष्णोः न-पातम् च वि-क्रमणम्) विष्णु के न-पात को और वि-गति को, सर्वव्यापक प्रभु के ध्रुवावलम्ब को और विशेष-क्रम को।

नपात्=न+पात्=नहीं गिरानेवाला। **विक्रमण**=वि+क्रमण=विशेष-गति, विशेष चक्र। 'नपात्' शब्द का प्रयोग यहां न-गिरने-न-गिरानेवाले ध्रुव अवलम्ब वा आधार अर्थ में हुआ है और 'विक्रमण' का विशेष गति वा चक्र अर्थ में। विष्णु ही पिता विश्वसाधकों का वह ध्रुव अवलम्ब है जिसके सहारे वे अपनी महतो महान् साध की साधना में निरत हैं। विष्णु का ही वह गुह्य विक्रमण है, वह रहस्यमय चक्र है जो उन्हें एक अनन्त असीम पथ पर अग्रसर किए हुए है।

२) (बर्हि-सदः) आसन-स्थ, आसनों पर विराजे हुए (ये) जो [पिता विश्वसाधक हैं] (ते) वे (स्व-धया) आत्म-धारणा के साथ, स्वात्म-प्रेरणा से [बार बार] (आ-गमिष्ठाः) आया करें, (इह) यहां, हमारे ग्राम में (सुतस्य पित्वः) सुनिष्पन्न अन्न का, सुनिष्पादित अन्नरूप हवि का (आ भजन्त) सेवन किया करें।

वे धन्य हैं, सौभाग्यशाली हैं जिनके गृह और ग्राम में आ-आकर पिता विश्वसाधक उनका हविःसम अन्न सेवन करते हैं।

मैंने जाना है सुविदत्र पिताओं को
और विष्णु के नपात् और विक्रमण को।
आसनस्थ ये वे स्व-धया
आया करें यहां, किया करें सुतान्न का सेवन।

सूक्ति : **अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः।**
मैंने विष्णु के ध्रुवावलम्ब और विगति को जाना है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१०८३ **उपहूताः पितरः सोम्यासो, बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।**
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्,वधि ब्रुवन्तु तेवन्त्वस्मान् ।
[ऋ १०.१५.५, अ १८.३.४५] य १९.५७
उप-हूताः पितरः सोम्यासः बर्हिष्येषु नि-धिषु प्रियेषु । ते आ गमन्तु ते इह श्रुवन्तु अधि ब्रुवन्तु ते अवन्तु अस्मान् ।

१) [सदा ही] (उप-हूताः) उप-हूत, निमन्त्रित [हैं] (सोम्यासः पितरः) सोम्य पिता, प्रियदर्शन पिता विश्वसाधक (बर्हिष्येषु प्रियेषु नि-धिषु) हृदयस्थ प्रिय नि-धियों में ।

श्रद्धा, निष्ठा, प्रेम, आस्था, आदि प्यारी प्यारी निधियां हृदय में निहित होती हैं । इन आन्तरिक निधियों के सामने बाह्य निधियां कोई महत्त्व नहीं रखती हैं । मानवों के हृदयों में पिता विश्वसाधकों के प्रति अटूट स्नेह, श्रद्धा, निष्ठा, आस्था जमी हुई है । उनकी ओर से वे सदा सदा के लिए निमन्त्रित हैं ।

२) (ते) वे [पिता विश्वसाधक चाहें तब] (आ गमन्तु) आएं, (ते) वे (इह) यहां [हमारी बातें] (श्रुवन्तु) सुनें, (अधि ब्रुवन्तु) अधिकारपूर्वक बोलें, साधिकार उपदेश करें, (ते) वे [पाप, ताप, सन्ताप से] (अस्मान्) हमें/हमारी (अवन्तु) रक्षा करें ।

पिता विश्वसाधक सर्वत्र जा-जाकर मानवों की कठिनाइयां स्वयं सुनें, अपने उपदेशों में उनका समाधान करें और पतन से उनकी रक्षा करें ।

निमन्त्रित प्रियदर्शन पिता
हृदयस्थ प्रिय निधियों में ।
वे आएं, वे यहां सुनें, उपदेशें,
वे हमारी रक्षा करें ।

सूक्ति : **उपहूताः पितरः सोम्यासः ।**
निमन्त्रित पिता प्रियदर्शन ।

१०८४ **आ यन्तु नः पितरः सोम्यासो,ग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः ।**
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तो,धि ब्रुवन्तु तेवन्त्वस्मान् । य १९.५८
आ यन्तु नः पितरः सोम्यासः अग्नि-स्वात्ताः पथि-भिः देव-यानैः । अस्मिन् यज्ञे स्व-धया मदन्तः अधि ब्रुवन्तु ते अवन्तु अस्मान् ।

१) (आ यन्तु) आएं (नः सोम्यासः अग्नि-स्वात्ताः पितरः) हमारे प्रिय-दर्शन प्रेमाग्नि-सेवी पिता विश्वसाधक (देव-यानैः पथि-भिः) देव-यान पथों से ।

प्रेमाग्नि का सेवन प्रेम की ऊष्मा का वर्धन करनेवाला होता है । पिता विश्वसाधकों को जो स्वाद प्रेमाग्नि के सेवन में आता है वह संसार की अन्य किसी वस्तु में नहीं । प्रेम मधुमत्तम तो है ही, स्वादुतम तथा मदमत्तम भी है । प्रेमाग्नि की मस्ती में झूमते हुए ही वे जगती के आनन्दमयी-करण के यज्ञ का सम्पादन करते हुए सर्वत्र विचर रहे हैं ।

अग्नि-स्वात्ताः का अर्थ ब्रह्माग्नि-सेवी भी है । ब्रह्माग्नि के सेवन से ही वे ब्रह्मरूप हुए ब्राह्म सौन्दर्य से सुसुन्दर बनकर प्रियदर्शन बने हैं । ब्रह्मलीन रहना ही ब्रह्माग्नि-सेवी होना है ।

देव [दिव्य जन] जिस पथ से वा जिस पथ पर चलते हैं उसकी संज्ञा **देवयान** है । दिव्य यान [सवारी] का नाम भी देवयान है । सामाजिक

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

व्यवस्था ऐसी सुन्दर हो कि पिता विश्वसाधक दिव्य यानों पर और दिव्य पथों से सर्वत्र लाए और ले जाए जाएं ताकि उनके श्रम, समय और स्वास्थ्य की रक्षा हो।

२) जगती के आनन्दमयीकरण के (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञ में (स्व-धया मदन्तः) आत्म-धारणा से आनन्दित हुए, आत्म-अवस्थिति से आत्मतृप्त हुए (ते) वे [पिता विश्वसाधक हमारे प्रति] (अधि ब्रुवन्तु) अधिकारपूर्वक बोलें, साधिकार उपदेश करें, [पाप, ताप, सन्ताप से] (अस्मान् अवन्तु) हमें बचाएं, हमारी रक्षा करें।

प्रत्यक्षतः, आत्मधारणा से ही आत्मतुष्टि प्राप्त होती है। आत्मतुष्टों के उपदेशों से ही मानवों की और मानवता की रक्षा होती है।

आएं हमारे प्रियदर्शन,
अग्निसेवी पिता
देवयान पथों से।
इस यज्ञ में स्वधा से
आनन्दित होते हुए वे
उपदेशें, बचाएं हमें।

सूक्ति : **अधि ब्रुवन्तु तेवन्त्वस्मान्।**
उपदेशें वे, बचाएं हमें।

१०८५ **अग्निष्वात्ताः ! पितर ! एह गच्छत, सदःसदः सदत सुप्रणीतयः !**
अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष,यथा रयिं सर्ववीरं दधातन।
[ऋ १०.१५.११, अ १८.३.४४] य १९.५९

अग्नि-स्वात्ताः पितरः आ इह गच्छत सदः-सदः सदत सु-प्र-नीतयः। अत्त हवींषि प्र-यतानि बर्हिषि अथ रयिम् सर्व-वीरम् दधातन।

१) (अग्नि-स्वात्ताः सु-प्र-नीतयः पितरः) अग्नि-सेवी, सु-प्र- नयन करनेवाले पिताओ !

पिता विश्वसाधक जहां प्रेमाग्नि तथा ब्रह्माग्नि का सुसेवन करनेवाले हैं, वहां वे मानवप्रजाओं का सुष्ठुतया तथा प्रकृष्टतया सुनयन वा मार्गदर्शन करनेवाले भी हैं।

२) (इह) यहां (आ गच्छत) आओ, आया करो, आते रहो, (सदः-सदः सदत) घर घर विराजो (बर्हिषि) आसन पर, (प्र-यतानि हवींषि) प्रयत्न-पूर्वक तैयार की गई हवियों [सुसंस्कृत वस्तुओं] को (अत्त) खाओ, सेवन करो (अथ) और [हमारे लिए] (सर्व-वीरम् रयिम्) सर्व-वीर आत्मैश्वर्य, सकल वीरताओं से सम्पन्न आत्मसम्पदा, सबको वीर बनानेवाला आत्मधन (दधातन) धारण/प्रदान करो।

पिता विश्वसाधक किसी एक घर में ही भोजन न करें। वे घर घर जाएं, अपनी पदरज से घर घर को पवित्र करें, अपनी उत्प्रेरणाओं से परिवार परिवार को उत्प्रेरित करें, परिवार परिवार का शोधन-बोधन करें, घर घर में तयार किया गया सुसंस्कृत भोजन करें।

आत्मधन अथ वा आध्यात्मिक ऐश्वर्य ही वे धन हैं जिनमें सम्पूर्ण वीरताएं संनिहित हैं। भौतिक धनों में तो केवल एक वीरता है, और वह यह कि उनसे शारीरिक सुविधाएं प्राप्त की जा सकती हैं। आत्मैश्वर्य ही हैं जो सबको सकल वीरताएं प्राप्त कराते हैं। आत्मैश्वर्य ही हैं जो सबको सब प्रकार वीर बना सकते हैं।

अग्नि-सेवी, सुप्रनयनकर्ता पिताओ !
यहां आओ, घर घर विराजो,
सुसेवन करो सुप्रयत हवियां।
और करो प्रदान सर्ववीर आत्मसम्पदा।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सूक्ति : सदःसदः सदत । रयिं सर्ववीरं दधातन ।
घर घर विराजो । सर्ववीर आत्मैश्वर्य प्रदान करो ।

१०८६ ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता, मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां, यथावशं तन्वं कल्पयाति । य १९.६०
ये अग्नि-स्वात्ताः ये अन्-अग्नि-स्वात्ताः मध्ये दिवः स्व-धया मादयन्ते । तेभ्यः स्व-राट् असु-नीतिम् एताम् यथा-वशम् तन्वम् कल्पयाति ।

१) (ये अग्नि-स्वात्ताः) जो अग्नि-सेवी [हैं], (ये अन्-अग्नि-स्वात्ताः) जो नहीं अग्नि-सुसेवी [हैं], सभी (स्व-धया) स्व-धा/आत्म-धारणा द्वारा (दिवः मध्ये) प्रकाश के मध्य में (मादयन्ते) आनन्दमयी-करण करते हैं।

स्वधा अथ वा आत्म-धारणा बड़ी प्रबल होती है। उसके आश्रय से अग्निसुसेवी तथा अनग्निसुसेवी, सभी ज्ञानप्रकाश से प्रकाशित होकर जगती के आनन्दमयीकरण की सुसाध में अग्रसर होरहे होते हैं।

अग्निष्वात्ताः शब्द का प्रयोग हुआ है यहां उन विश्वसाधकों के लिए जो प्रेमाग्नि तथा ब्रह्माग्नि का सुसेवन करते हैं, या कहिए जो ब्रह्माग्निलीन रहते हुए निष्काम भाव से सप्रेम जगती का आनन्दमयीकरण करते हैं। **अनग्नि-ष्वात्ताः** शब्द का प्रयोग हुआ है उन साधारण जनों के लिए, उन सामान्य मानवप्रजाओं के लिए जिनकी सेवाओं का क्षेत्र स्वपरिवार तथा स्वसमाज तक सीमित रहता है और जिनकी उपासना प्रातः-सायं की साधारण ईशवन्दना तक सीमित रहती है। दोनों वर्ग स्वधा-सम्पन्न रहते हैं तो वह उजाला बना रहता है जिसमें सतत–सन्तत–निरन्तर लक्ष्य-सिद्धि के लिए संसाधना होती रहती है।

२) उभयवर्गीय (तेभ्यः) उन [स्वधा-सम्पन्नों] के लिए (स्व-राट्) स्व-प्रकाश से प्रकाशित प्रभु (एताम् असु-नीतिम्) इस प्राण-नीति को [तथा] (तन्वम्) शरीर/जीवन को (यथा-वशम्) यथा-सम्भव, यथा-वत् (कल्पयाति) कल्प करता है, समर्थ करता रहता है।

'असु' नाम प्राण का है। प्राण के समान निर्विषय, निर्विकार, निरासक्त रहते हुए निरन्तर कर्मरत वा साधरत रहना ही **असुनीति** है। स्वराट् प्रभु दोनों ही स्वधा-सम्पन्न वर्गों को असु-नीति से प्रेरित करता हुआ उन्हें शरीर से सदा सुपुष्ट रखे।

जो अग्निसेवी, जो अनग्निसेवी,
ज्ञानप्रकाश के मध्य में
आत्मधारणा द्वारा करते हैं आनन्दमयीकरण,
उनके लिए प्रकाशस्वरूप प्रभु यथावत्
कल्प करता है इस प्राणनीति को, जीवन को।

१०८७ अग्निष्वात्तानृतुमतो हवामहे, नाराशंसे सोमपीथं य आशुः ।
ते नो विप्रासः सुहवा भवन्तु, वयं स्याम पतयो रयीणाम् । य १९.६१
अग्नि-स्वात्तान् ऋतु-मतः हवामहे नाराशंसे सोम-पीथम् ये आशुः । ते नः विप्रासः सु-हवाः भवन्तु वयम् स्याम पतयः रयीणाम् ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पिता विश्वसाधकों का अभिनन्दन करके सर्वमान्य व्यक्ति सभी आतिथ्यकर्ताओं को सम्बोधन करता है—

१) हम सब इस (नाराशंसे) नाराशंस में, नरों के प्रशंसन-समारोह में, वीराभिनन्दन-आयोजन में (हवामहे) पुकारते, प्रशंसते हैं [इन] (ऋतु-मतः अग्नि-स्वात्तान्) ऋतु-मान् अग्नि-सेवियों को (ये) जो (आशुः) सेवन किया करते हैं (सोम-पीथम्) ब्रह्मसोम-पेय को, ब्रह्मानन्द-पीयूष को।

प्रेमाग्नि तथा ब्रह्माग्नि का सुसेवन करनेवाले पिता विश्वसाधकों को यहां **ऋतुमान्** कहा गया है। 'ऋतुमान्' का अर्थ है ऋतुयुक्त। सभी ऋतुओं में समानरूपेण साधनारत रहने से वे ऋतुमान् हैं। ऋतुओं में ऋतु वसन्त ऋतु। मानवप्रजाओं के जीवनों में सदा सर्वत्र वसन्तु ऋतु की सी बहार लानेवाले, निखार करनेवाले होने से वे ऋतुमान् हैं।

वीरपूजा भले ही न की जाए, वीराभिनन्दन अवश्य किया जाना चाहिए, ऐसा यह यहां वेदमाता का विधान है। पिता विश्वसाधक सच्चे नर हैं, सच्चे वीर हैं। उनका शंसन, प्रशंसन करके मानवप्रजाएं उनके ऋण से कुछ उऋर्ण होती हैं। पिता विश्वसाधक जहां भी जाएं वहीं अभिनन्दन-समारोह का आयोजन करके उनका अभिनन्दन किया जाना चाहिए और उनके चरणों में साधन तथा साधक अर्पण किए जाने चाहिएं।

अभिनन्दनों से विश्वसाधकों का कुछ बनता-बनाता नहीं है। वे तो ब्रह्मसोम का पान करके ब्रह्मानन्द में निमग्न रहते हैं। अभिनन्दनकर्ता ही उनका अभिनन्दन करके कृतकृत्य होते हैं।

२) (विप्रासः ते) विप्रकृष्ट वे [पिता विश्वसाधक] (नः) हमारे लिए (सु-हवाः) सुगमता से बुलाए जाने योग्य (भवन्तु) हों।

मानवप्रजा उन्हें जब जहां बुलाए तब तहां वे खिंचे चले आएं, ऐसी प्रीति जनमानसों में उनके प्रति हो। ऐसे विप्रकृष्ट पिता जहां भी जाते हैं वहीं विप्रकृष्ट, निर्मल ज्योति जगाते हैं।

२) विश्वसाधक पिताओं की सत्प्रेरणाओं से (वयम् स्याम पतयः रयीणाम्) हम हों स्वामी आत्मधनों के।

प्रशंसते हैं हम नाराशंस में
ऋतुमान् अग्निसुसेवियों को,
जो सुसेवन किया करते हैं सोमपेय का।
विप्रकृष्ट वे सु-आहव हों हमारे लिए।
हम हों स्वामी आत्मधनों के।

सूक्ति : **विप्रासः सुहवा भवन्तु।**
विप्रजन सुगमता से बुलाए जानेवाले हों।
वयं स्याम पतयो रयीणाम्।
हम हों स्वामी आत्मधनों के।

१०८८ **आच्या जानु दक्षिणतो निषद्य,मं यज्ञमभि गृणीत विश्वे।**
मा हिंसिष्ट पितरः ! केन चिन्नो, यद्व व आगः पुरुषता कराम।
[ऋ १०.१५.६, अ १८.१.५२] य १९.६२
आ-अच्य जानु दक्षिणतः नि-सद्य इमम् यज्ञम् अभि गृणीत विश्वे। मा हिंसिष्ट पितरः केन चित् नः यत् वः आगः पुरुषता कराम।

सर्वमान्य व्यक्ति अब आतिथ्यकर्ताओं तथा उपस्थितों को सम्बोधन करता हुआ कहता है, तुम (विश्वे) सब (दक्षिणतः) दक्षिण ओर (जानु आ अच्य) घुटनों के बल जंघा टेककर, जंघा भूमि पर टिकाकर, (नि-सद्य) बैठकर (इमम् यज्ञम्) इस यज्ञ को (अभि गृणीत) सर्वतः स्तुतो।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जगती के स्वाद्वीकरण का यज्ञ सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है। सर्व जन इस यज्ञ का स्तवन करें, इसके महत्त्व को समझें और इस यज्ञ के सम्पादक विश्वसाधकों की सब प्रकार से सहायता करें।

दो-जानु बैठकर स्तुति करना, प्रणाम करना, ईशनमन और ईशप्रार्थना करना शुद्ध वैदिक विधान है।

और अब वह सर्वमान्य व्यक्ति सम्पूर्ण जन-समूह के साथ घुटनों के बल बैठा हुआ विश्वसाधकों से विनय करता है, (पितरः) पिताओ ! (पुरुषता) पुरुष होने के नाते [हम] (वः) तुम्हारे प्रति (यत् आगः कराम) जो भूल करें, (केन चित्) किसी से भी, किसी भी भूल के कारण (नः) हमें (मा हिंसिष्ट) मत हिंसो/त्यागो।

मानव मानव ही है। सावधानी वर्तने पर भी भूल हो ही जाती है। किसी से कितनी भी भूल होजाए, विश्वसाधक न बुरा मनाएं, न रुष्ट हों, न भविष्य में वहां न आने का निर्णय करें। पूर्ण सौहार्द के साथ वे जनजागरण करते ही चले जाएं।

सब दक्षिणतः बैठ दो-जानु,
अभितः स्तुतो इस यज्ञ को।
पिताओ ! पुरुषता से
करें जो भूल हम तुम्हारे प्रति,
किसी से भी, हमें न त्यागो।

सूक्ति : **इमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे।**
इस यज्ञ को स्तुतो सभी।
आगः पुरुषता कराम।
मनुष्य होने के कारण हम त्रुटि कर बैठते हैं।

१०८९ **आसीनासो अरुणीनामुपस्थे, रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय।**
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः, प्र यच्छत त इहोर्जं दधात।
[ऋ १०.१५.७, अ १८.३.४३] य १९.६३
आसीनासः अरुणीनाम् उप-स्थे रयिम् धत्त दाशुषे मर्त्याय। पुत्रेभ्यः पितरः तस्य वस्वः प्र यच्छत ते इह ऊर्जम् दधात।

विश्वसाधकों के प्रति अपनी विनय को जारी रखते हुए सर्वमान्य व्यक्ति कह रहा है—

१) (अरुणीनाम् उप-स्थे आसीनासः पितरः) उषाओं की गोद में बैठे हुए पिताओ !

पिता विश्वसाधक अरुणियों की गोद में बैठनेवाले हैं। अरुण-वर्णा होने से उषाओं को अरुणा, अरुणी कहा जाता है। उषाएं सूर्य की पुरोगामिनी हैं। सूर्य के आगे आगे सतत गमन करती हुई वे संसार को सूर्य के आगमन, उदयन और प्रकाश का सन्देश देती हैं, नया प्रभात लाती हैं। विश्वसाधक उषाओं की गोद में बैठनेवाले, उषाओं के लाड़ले हैं। वे उषाओं के समान जगती में ज्ञानोदय द्वारा नया प्रभात लाते हैं।

२) (दाशुषे मर्त्याय) अर्पणकर्ता मानव के लिए (रयिम् धत्त) आत्मैश्वर्य प्रदान करो, (तस्य पुत्रेभ्यः) उसके पुत्रों के लिए (वस्वः) धन का (प्र यच्छत) सु-दान करो।

हो सकता है, विश्वसाधकों के मिशन की पूर्ति के लिए केभी कोई ऐसा व्यक्ति अपना जीवन अर्पण करने को समुद्यत होजाए जिसके पुत्र-पुत्री अभी अपने पैरों पर खड़े नहीं हुए हैं, जिस पर अपनी पत्नी और परिवार के पालन-पोषण का भार है। ऐसे व्यक्ति के जीवनार्पण को स्वीकार करते हुए वे जहां अर्पित व्यक्ति को आत्मैश्वर्य और आत्म-शक्ति प्रदान करें, वहां उसके बाल-बच्चों के पालन-पोषण की सुचारु आर्थिक व्यवस्था भी करें।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अन्यथा उसके जीवनार्पण को तब तक स्थगित रखें जब तक उसके बाल-बच्चे पढ़-लिखकर आत्म-निर्भर हों।

३) (ते) वे तुम (इह) यहां, इस जगती में (ऊर्जम्) पराक्रम, संबल (दधात) धारण/स्थापन करो।

ऊर्क् की स्थापना से ही जगती के मानव समुद्यत और प्रोत्साहित होकर विश्वसाधकों का सर्वतः सम्यक् साथ दे सकेंगे।

अरुणियों की गोद में बैठे हुए पिताओ !
करो प्रदान आत्मैश्वर्य अर्पणकर्ता के लिए।
धन का करो सुदान उसके पुत्रों के लिए,
वे तुम यहां स्थापन करो प्रखर पराक्रम,
आत्म-संबल।

सूक्ति : रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय।
आत्मैश्वर्य करो प्रदान अर्पणकर्ता मानव के लिए।
वस्वः प्र यच्छत।
धन का सुदान करो।
इहोर्जं दधात।
यहां पराक्रम स्थापन करो।

१०९० **यमग्ने ! कव्यवाहन !, त्वं चिन्मन्यसे रयिम्।**
तन्नो गीर्भिः श्रवाय्यं, देवत्रा पनया युजम्। य १९.६४
यम् अग्ने कव्य-वाहन त्वम् चित् मन्यसे रयिम्। तम् नः गीः-भिः श्रवाय्यम् देव-त्रा पनय युजम्।

विश्वसाधकों के प्रति सर्वमान्य व्यक्ति की विनय के पश्चात् सभी उपस्थित जन विवेकाग्नि को उद्बुद्ध करते हुए कहते हैं—

१) (कव्य-वाहन अग्ने) कवित्व-वाहक अग्ने ! कान्तित्व-प्रापक विवेकाग्ने !

विवेकाग्नि के लिए 'अग्ने कव्य-वाहन' शब्दों का प्रयोग एक अतिशय गुह्य रहस्य का द्योतक है।

कवि शब्द का अर्थ है क्रान्तप्रज्ञ, क्रान्तदृष्टि, क्रान्तकर्म। इस क्रान्त-त्रय का वाहक और प्रकाशक होने से वेद में विवेकाग्नि को कव्य-वाहन अग्नि कहा गया है।

२) (त्वम्) तू (यम् रयिम्) जिस आत्मैश्वर्य को (गीः-भिः श्रवाय्यम्) वाणियों से सुनाने-योग्य, (देव-त्रा युजम्) दिव्यताओं में युक्त (मन्यसे) मानता है (तम् चित्) उसे ही (नः) हमारे लिए हम सर्व जनों के लिए (पनय) दे।

विवेक ही आत्मैश्वर्य का प्रदाता तथा संरक्षक है। आत्मैश्वर्य ही वह ऐश्वर्य है जो विश्वसाधकों की वाणियों द्वारा सुनाया जाता है और जिसमें समस्त दिव्यताएं संनिहित हैं। सर्व जनों को चाहिए कि विश्वसाधकों से प्राप्त आत्मैश्वर्य की निष्ठा-पूर्वक रक्षा करें। आत्मैश्वर्य की उपलब्धि सर्वोपरि उपलब्धि है।

कव्य-वाहन अग्ने !
तू मानता है जिस आत्मैश्वर्य को
वाणियों से श्रावणीय, दिव्यताओं में युक्त,
उसको ही दे हमारे लिए।

१०९१ **यो अग्निः कव्यवाहनः, पितॄन् यक्षदृतावृधः।**
प्रेदु हव्यानि वोचति, देवेभ्यश्च पितृभ्य आ।
[ऋ १०.१६.११] य १९.६५

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यः अग्निः कव्य-वाहनः पितॄन् यक्षत् ऋत-वृधः। प्र इत् उ हव्यानि वोचति देवेभ्यः च पितृ-भ्यः आ।

(यः) जो (कव्य-वाहनः अग्निः) कवित्व-वाहक अग्नि, विवेकाग्नि (ऋत-वृधः पितॄन् यक्षत्) ऋत-वर्धक पिताओं को संगत रहा करता है/प्राप्त रहा करता है (उ इत्) वही (देवेभ्यः च पितृ-भ्यः) मानवदेवों के लिए और पिताओं के लिए (हव्यानि प्र आ वोचति) हवियां उपदेशता है।

पिता विश्वसाधकों के लिए ऋतवृध् विशेषण विशेष अर्थ रखता है। 'ऋत' नाम ऋताचार, सही आचार, सत्याचरण तथा सत्य का है। जगती के स्वाद्वीकरण वा आनन्दमयीकरण के लिए यह परमावश्यक है कि वे विश्व की मानवप्रजाओं को ऋताचार से अलंकृत करते रहें और स्वयं विवेक से सुसंगत रहें।

पिता विश्वसाधक अपने विवेक के आश्रय से सभी मानवदेवों को और स्वयं अपने साथी विश्व-साधक पिताओं को हविरूप उपदेशों से ऋताचारी बनाए रखें।

जो कवित्ववाहक अग्नि संगत
रहा करता है ऋतवर्धक पिताओं को
वही उपदेशता है हवियां
देवों के लिए और पिताओं के लिए।

१०९२ **त्वमग्न ! ईडितः कव्यवाहना,वाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वो।**
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्,नद्धि त्वं देव ! प्रयता हवींषि।
[ऋ १०.१५.१२, अ १८.३.४२] य १९.६६

त्वम् अग्ने ईडितः कव्य-वाहन अवाट् हव्यानि सुरभीणि कृत्वो। प्र अदाः पितृ-भ्यः स्व-धया ते अक्षन् अद्धि त्वम् देव प्र-यता हवींषि।

१) (कव्य-वाहन अग्ने) कवित्व-वाहक अग्ने ! विवेकाग्ने! (ईडितः त्वम्) प्रशंसित तू (पितृ-भ्यः) पिताओं के लिए, पिता विश्वसाधकों के लिए (हव्यानि सुरभीणि कृत्वी) जीवन-हवियों को सुगन्धित करके [उन्हें] (अवाट्) वहन किया/व्यापा करता है, [प्रकाश] (प्र अदाः) प्रदान किया करता है।

विवेक, निस्सन्देह, जीवनों को सुगन्धित करके उनकी व्याप्ति का पथ प्रशस्त करता है और प्रदान किया करता है वह प्रखर प्रकाश जिसकी रोशनी में सब कुछ स्पष्ट दिखाई देता है। पिता विश्वसाधकों के जीवन सदैव विवेकाग्नि से प्रज्वलित रहने चाहिएं।

२) (ते) वे [पिता विश्वसाधक सदा] (स्व-धया) आत्म-धारणा के साथ [विवेक का] (अक्षन्) सेवन किया करते हैं [तो वे न कभी पथच्युत होते हैं, न भ्रमित होते हैं]।

३) (देव) विवेक देव ! (त्वम्) तू [पिताओं की] (प्र-यता हवींषि) प्रयत्नसाध्य जीवन-हवियों को (अद्धि) सेवन/स्वीकार कर, व्याप।

जिस प्रकार यज्ञाग्नि होमी हवियों को व्यापकर दिशा-प्रदिशाओं को सुरभित करता है उसी प्रकार विवेकाग्नि विश्वसाधकों की जीवन-हवियों को व्यापकर जगती को स्वादिष्ठ, आनन्दित और सुगन्धित करें।

कव्य-वाहन अग्ने ! प्रशंसित तू
करके हवियां सुरभित पिताओं के लिए
व्यापन—वहन किया करता है,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रकाश प्रदान किया करता है।
सेवन किया करते हैं वे
आत्म-धारणा द्वारा।

देव ! व्याप प्रयत्न-साध्य
हवियों को।

१०९३ **ये चेह पितरो ये च नेह, याँश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म।**
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः !, स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व।
[ऋ १०.१५.१३] य १९.६७

ये च इह पितरः ये च न इह यान् च विद्म यान् उ च न प्र-विद्म। त्वम् वेत्थ यति ते जात-वेदः स्व-धाभिः यज्ञम् सु-कृतम् जुषस्व।

१) (जात-वेदः) सर्व-व्यापक ! सर्वज्ञ ! (ये पितरः इह) जो पिता यहां [हैं] (च च) और (ये इह न) जो यहां नहीं [हैं], हम (यान् विद्म) जिन्हें जानते हैं, (च च) और (यान् न उ प्र-विद्म) जिन्हें नहीं ही जानते हैं, (ते यति) वे जितने [हैं], (त्वम्) तू [उन्हें] (वेत्थ) जानता है।

२) (स्व-धाभिः) आत्म-धारणाओं द्वारा [उनके स्वाद्वीकरणरूप] (सु-कृतम् यज्ञम्) सु-सम्पादित यज्ञ को (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक सेवन करा, सस्नेह सम्पन्न करा।

विवेकाग्नि को उद्बुद्ध करते हुए सर्व जनों की यह प्रार्थना गहन निष्ठा की सूचक है। 'उपस्थित वा अनुपस्थित, ज्ञात वा अज्ञात, सभी विश्वसाधक समानरूपेण मान्य और शिरोधार्य हैं। सर्वान्तर्यामी प्रभु अपने सहज स्नेह से उन सभी की आत्म-धारणाओं का ध्रुवीकरण करके उनके सुसम्पादित यज्ञ को सफल और सुफल कराए।'

जो पिता हैं यहां और जो नहीं हैं यहां,
जिन्हें जानते हैं हम और जिन्हें हम जानते नहीं,
जितने हैं वे, जानता है उन्हें तू, जातवेदः !
स्वधाओं द्वारा सुकृत यज्ञ को सम्पन्न करा सप्रेम।

१०९४ **इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य, ये पूर्वासो य उपरास ईयुः।**
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता, ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु।
[ऋ १०.१५.२, अ १८.१.४६] य १९.६८

इदम् पितृ-भ्यः नमः अस्तु अद्य ये पूर्वासः ये उपरासः ईयुः। ये पार्थिवे रजसि आ नि-सत्ताः ये वा नूनम् सु-वृजनासु विक्षु।

अब उपस्थित सर्व जन विश्वसाधकों के प्रति श्रद्धानत हुए उनके चरणों में अपने प्रणाम अर्पण करते हैं—(नूनम्) निश्चय ही, (इदम् नमः अस्तु अद्य) यह प्रणाम हो आज (पितृ-भ्यः) पिताओं के लिए, (ये पूर्वासः, ये उपरासः) जो पूर्व, जो उपरत [यहां] (ईयुः) आए हुए हैं, (ये) जो (पार्थिवे रजसि) पार्थिव धूलिकण में, पृथिवी लोक में, (वा) या (ये) जो (सु-वृजनासु विक्षु) सु-वर्जनशील प्रजाओं में (आ नि-सत्ताः) आ-नि-सत्त हैं, सर्वथा नितरां संस्थित हैं, संतत जुटे हुए हैं।

विश्वसाधक पिताओं के लिए प्रयुक्त विशेषण महत्त्वपूर्ण हैं। **पूर्वासः**=पूर्व, सर्वश्रेष्ठ, मानवों में

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शिरोमणि। **उपरासः**=उपरत, उपराम, निवृत्त, सांसारिक व्यासंगों और स्वार्थों से नितान्त उपराम, उदासीन। वे पृथिवी की धूल और गर्द में, सुवर्जनीय मानवप्रजाओं का दुरितों से वर्जन करते हुए जगती के आनन्दमयीकरण की साध में कमर कसकर संस्थित हैं।

यहां इस मन्त्र में एक गहन तथ्य का संकेत है। मानवप्रजाएं सुवर्जनीय हैं। जब उनका शासन-व्यवस्था तथा सुशिक्षा द्वारा दुरितों से वर्जन किया जाता है, बुराइयों से उनका मुंह फेरा जाता है तो ही व मानवता के राजपथ पर चल पाते हैं। अन्यथा तो वे पशुवत् ही आचरण करते हैं और पशुवत् ही विचरते हैं।

निश्चय ही, यह नमस्कार है
आज पिताओं के लिए,
जो हैं सर्वश्रेष्ठ, जो उपरत,
जो पार्थिव रजोलोक में,
या सुवर्जनीय प्रजाओं में
हैं सम्यक् संस्थित।

सूक्ति : **इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य।**
पिताओं के लिए यह प्रणाम हो आज।

१०९५ **अधा यथा नः पितरः परासः, प्रत्नासो अग्न ! ऋतमाशुषाणाः।**
शुचीदयन् दीधितिमुक्थशासः, क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन्।
[ऋ ४.२.१६, अ १८.३.२१] य १९.६९

अध यथा नः पितरः परासः प्रत्नासः अग्ने ऋतम् आशुषाणाः। शुचि इत् अयन् दीधितिम्
उक्थ-शसः क्षाम भिन्दन्तः अरुणीः अप व्रन्।

प्रणाम अर्पण करके वे पुनः कामना करते हैं—
१) (अध) और, (अग्ने) प्रकाशस्वरूप प्रभो ! (नः) हमारे (परासः) परमोत्कृष्ट (प्रत्नासः) सनातनी, शाश्वत भद्रताओं के प्ररक्षक और प्रचारक, (उक्थ-शसः) उक्थों का शंसन करनेवाले, शिक्षाप्रद सुवचनों से उपदेश करनेवाले (पितरः) पिता [विश्वसाधक] (शुचि ऋतम्) पवित्र ऋताचार को, सुपावन सदाचार को (आशुषाणाः) पूर्णतया प्राप्त रहते हुए, सम्यक् अपनाए हुए (दीधितिम्) दिव्य द्युति को, विवेक-ख्याति को (यथा इत्) यथावत् ही (अयन्) प्राप्त रहते आए हैं, अपने से युक्त किए रहते हैं।

पिता विश्वसाधक मानवजीवन के शाश्वत मूल्यों तथा भद्रताओं के प्रचारक होते हैं। वे कटुताओं और कटाक्षों से नहीं, शिक्षापूर्ण और प्रेरणात्मक सुवचनों से प्रचार करते हैं। वे शुद्ध ऋत से सम्यक् युक्त रहते हुए विवेक से प्रखर रहते हैं।

२) वे (क्षाम भिन्दन्तः) पृथिवी को वेधते हुए, सम्पूर्ण पृथिवीवासियों को लक्ष्य करते हुए (अरुणीः) उषाओं को (अप व्रन्) खोल दिया करते हैं, व्याप दिया करते हैं।

उषाएं सूर्योदय तथा प्रकाश का सन्देश देनेवाली होती हैं। पिता विश्वसाधक किसी देशविशेष को नहीं, सारी पृथिवी को और पृथिवीवासियों को लक्ष्य करके ज्ञानप्रकाश की उषाएं जगमगाते हैं।

और, अग्ने ! हमारे उत्कृष्ट, सनातनी,
उक्थ-शस पिता शुचि ऋत को
सम्यक् अपनाए हुए, विवेक-द्युति को
रहें यथावत् ही सम्प्राप्त।
वेधते हुए वे पृथिवी को
व्यापा करते हैं अरुणियों को।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१०९६ **उशन्तस्त्वा नि धीम,ह्युशन्तः समिधीमहि। उशन्नुशत आ वह, पितॄन् हविषे अत्तवे।**
[ऋ १०.१६.१२, अ १८.१.५६] य १९.७०
उशन्तः त्वा नि धीमहि उशन्तः सम् इधीमहि। उशन् उशतः आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे।

सर्वजनकृत शुभकामनाओं तथा मंगलभावनाओं से भावविभोर होकर पिता विश्वसाधक प्रभु से विनय करने लगते हैं—

१) प्रकाशस्वरूप प्रभो ! तुझे (उशन्तः) चाहते हुए, तेरे (उशन्तः) चाहनेवाले [विश्वसाधक हम] (त्वा) तुझे (नि धीमहि) नितरां ध्याते हैं, ध्यान द्वारा निरन्तर धारण करते हैं, (सम् इधीमहि) सम्यक् प्रज्वलित/प्रकाशित करते हैं।

धीमहि का अर्थ है हम ध्यान करते हैं, धारण करते हैं, *ध्यानयोगेन* साक्षात् करते हैं। विश्वसाधक पिताओं की सार्वभौम साध ब्राह्म साध है। सदा ब्रह्म का ध्यान करते हुए, ब्रह्मस्थ और ब्रह्मलीन रहते हुए ही वे उसकी सफल साधना कर पाएंगे। साध की साधना करते हुए उन्हें ब्रह्म का प्रज्वलन, ब्रह्म की महिमा का प्रकाशन ही करते रहना चाहिए। **'ब्रह्म की महिमा अपरम्पार। ब्रह्म करेगा बेड़ा पार,'** उन्हें सदा इस प्रकार के गान करते हुए साधनारत रहना चाहिए।

२) प्रभो ! हमें (उशन्) चाहता हुआ तू, तुझे (उशतः) चाहनेवाले [हम] (पितॄन्) पिताओं को [अपनी ब्राह्म] (हविषे अत्तवे) हवि सेवनार्थ (आ वह) सं-वहन कर, पात्रता प्रदान कर।

ब्रह्मलीन, ब्रह्मसमाहित रहना ही ब्राह्म हवि का सेवन करना है। ब्राह्म हवि का सेवन करते हुए ही पिता विश्वसाधक विश्व को आनन्दधाम बनाने में सफल होंगे।

तुझे चाहते हुए, चाहनेवाले तेरे हम
तुझे निरन्तर ध्याएं, करें प्रज्वलित।
हमें चाहता हुआ तू
तुझे चाहनेवाले हम पिताओं को
अपनी हवि के सेवनार्थ
कर आवहन।

१०९७ **अपां फेनेन नमुचेः, शिरः इन्द्रोदवर्तयः। विश्वा यदजय स्पृधः।**
[ऋ ८.१४.१३, सा २११, अ २०.२९.३] य १९.७१
अपाम् फेनेन नमुचेः शिरः इन्द्र उत् अवर्तयः। विश्वाः यत् अजयः स्पृधः।

प्रभु से विनय करते करते प्रत्येक पिता विश्वसाधक आत्मबलवर्धक आत्मसम्बोधन करता है।

१) (इन्द्र) आत्मन् !

२) तूने (यत्) जो (अपाम् फेनेन) द्रवों के फेन से (नमुचेः शिरः) नमुचि [कामदेव] का शिर (उत् अवर्तयः) काट गिराया।

३) तूने (विश्वाः स्पृधः) सब संघर्षों को (अजयः) जीत लिया।

अपाम् फेनेन=द्रवों के फेन से; वाज, वीर्य, ओज, आदि जलीय धातुओं के ऊर्ध्वरेतस्त्व से।

नमुचि=न+मुचि=जिससे मुक्ति, मोक्ष, छुटकारा न पाया जा सके, जिससे छुटकारा पाना लगभग असम्भव हो ऐसे उस कामदेव की संज्ञा 'नमुचि' है। क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार से पीछा छुटाना उतना कठिन नहीं है जितना कठिन है काम से मुक्त होना। और जो काम से मुक्त हो जाता है वह संसार के सभी विकारों, वासनाओं, व्यासंगों तथा दुरितों से मुक्त हो सकता है।

स्पर्ध् (संघर्षे)। 'स्पर्ध्' धातु संघर्षपरक है। प्रत्येक विश्वसाधक को यह स्मरण रखना चाहिए

CC-0,.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कि जगती के स्वाद्वीकरण की संसाध की सिद्धि के लिए उसे संघर्षों पर संघर्ष करने होंगे। संघर्षों से ही उस ज्योति और शक्ति की प्राप्ति होगी जिनसे विजय-साफल्य का सम्पादन होता है। संघर्षों में विजयप्राप्ति का एक अमोघ साधन है कामदेव का शिर काटना, काम पर विजय प्राप्त करना। काम पर विजय प्राप्त की जाती है 'अपां फेनेन,' वीर्य, आदि धातुओं को ऊपर चढ़ाकर शरीर में पचाने से, आत्मा द्वारा ऊर्ध्वरेतस्त्व की भावना और साधना करने से।

'अपां फेनेन' का एक अर्थ 'जलों के फेन से' भी है। जल जब जलाशय वा सागर के तट से टकराकर ऊपर को उछलते हैं तो वे झाग बन जाते हैं। झागों के जम जाने पर फेन बनते हैं जो तोड़े नहीं टूटते हैं। उसी प्रकार ऊर्ध्वरेत व्यायामों तथा प्राणायामों से वीर्यादि द्रव ऊपर चढ़कर देह में व्यापकर पच जाते हैं।

इन्द्र ! तूने जो काट दिया शिर
कामदेव का अपां फेनेन,
विजय कर लिया तूने
सारे संघर्षों को।

१०९८ **सोमो राजामृतं सुत, ऋजीषेणाजहान्मृत्युम्। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं, विपानं शुक्रमन्धस, इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोमृतं मधु।** य १९.७२

सोमः राजा अ-मृतम् सुतः ऋजीषेण अजहात् मृत्युम्। ऋतेन सत्यम् इन्द्रियम् वि-पानम् शुक्रम् अन्धसः इन्द्रस्य इन्द्रियम् इदम् पयः अ-मृतम् मधु।

१) आत्मसाधना द्वारा मेरे (सुतः) सुनिष्पन्न (सोमः) प्रियदर्शन (राजा) प्रकाशमान् [इन्द्र ने, इन्द्रियों के स्वामी आत्मा ने] (ऋतेन) सत्यसाधना के आश्रय से [सम्पादन किया है]—(अ-मृतम्) निर्विषता को/का, (सत्यम्) सत्य को/का, (इन्द्रियम्) आत्मसंबल को/का, (अन्धसः शुक्रम् वि-पानम्) ब्रह्मान्न के शुद्ध विशेष-पान को/का, (इन्द्रस्य इन्द्रियम्) आत्मा के आत्मतत्त्व को/का।

अमृत शब्द का प्रयोग यहां निर्विषत्व अर्थ में हुआ है। निर्विष होजाने पर ही सत्य की तथा आत्मसंबल की सिद्धि होती है। आत्मसमाहित होकर ब्रह्मान्न के शुद्ध विपान से आत्मा के आत्मतत्त्व का संदर्शन होता है।

२) परिणामस्वरूप आत्मा (ऋजीषेण) सरलतया, सहजतया (मृत्युम् अजहात्) मृत्यु को त्यागा करता है।

जीते जी जीवन्मुक्त रहना और शरीर त्यागने पर फिर जन्म न लेना ही 'मृत्यु को त्यागना' है।

३) (इदम् पयः) यह पीयूष [है] (मधु अ-मृतम्) मधुर अ-मृत, स्वादिष्ठ सोम।

इसी पीयूष का पान करते हुए, इसी प्रिय साधना का आनन्द लेते हुए विश्वसाधक को अपनी साधना में संलग्न रहना है।

सुनिष्पन्न, प्रियदर्शन, प्रकाशमान् इन्द्र ने
आत्मसाधना के आश्रय से
किया सम्पादन अमृत का, सत्य का, आत्मसंबल का,
ब्रह्मान्न के शुद्ध विपान का,
आत्मा के आत्मतत्त्व का।
ऋजुता से त्यागा मृत्यु को।
यह पीयूष है मधुर अमृत।

१०९९ **अद्भ्यः क्षीरं व्यपिबत्, क्रुङ्ङाङ्गिरसो धिया। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं, विपानं शुक्रमन्धस, इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोमृतं मधु।** य १९.७३

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अत्-भ्यः क्षीरम् वि अपिबत् क्रुङ् आङ्गिरसः धिया। ऋतेन सत्यम् इन्द्रियम् वि-पानम् शुक्रम् अन्धसः इन्द्रस्य इन्द्रियम् इदम् पयः अ-मृतम् मधु।

१) जिस प्रकार (अत्-भ्यः क्षीरम् वि अपिबत्) जलों से दुग्ध को पी जाया करता है (क्रुङ्) हंस, उसी प्रकार (आङ्गिरसः) अंग अंग में रस संचार करनेवाला [विश्वसाधक का आत्मा सम्पादन किया करता है] (धिया) आत्मधारणा द्वारा, (ऋतेन) सत्यसाधना द्वारा (सत्यम्) सत्य को/का, (इन्द्रियम्) आत्मसंबल को/का, (अन्धसः शुक्रम् वि-पानम्) ब्रह्मान्न के शुद्ध विशेष-पान को/का, (इन्द्रस्य इन्द्रियम्) आत्मा के आत्मतत्त्व को/का।

आत्मधारणा तथा आत्मसाधना का संयोग हो जाने पर सत्य की तथा आत्मसंबल की सिद्धि होती है। आत्मसमाहित होकर ब्रह्मान्न के शुद्ध विपान से आत्मा के आत्मतत्त्व का संदर्शन होता है।

२) (इदम् पयः) यह पीयूष [है] (मधु अ-मृतम्) मधुर अ-मृत, स्वादिष्ठ सोम।

इसी पीयूष का पान करते हुए, इसी प्रिय साधना का आनन्द लेते हुए, विश्वसाधक का आत्मा अपनी साधना में निरत रहे।

जलों से दुग्ध पिया करता है
हंस जिस तरह,
आंगिरस सम्पादन किया करता है
धिया, ऋतेन
सत्य का, आत्मसंबल का,
ब्रह्मान्न के शुद्ध विपान का,
आत्मा के आत्मतत्त्व का।
यह पीयूष है मधुर अमृत।

११०० **सोममद्भ्यो व्यपिबच्,छन्दसा हंसः शुचिषत्। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं, विपानं शुक्रमन्धस, इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोमृतं मधु।** य १९.७४

सोमम् अत्-भ्यः वि अपिबत् छन्दसा हंसः शुचि-सत्। ऋतेन सत्यम् इन्द्रियम् वि-पानम् शुक्रम् अन्धसः इन्द्रस्य इन्द्रियम् इदम् पयः अ-मृतम् मधु।

१) जिस प्रकार (अत्-भ्यः सोमम् वि अपिबत्) जलों से सार को पिया करता है (हंसः) हंस, उसी प्रकार (शुचि-सत्) पवित्रता में स्थित, निष्पाप [विश्वसाधक का आत्मा सम्पादन किया करता है] (छन्दसा) आनन्द के साथ (ऋतेन) सत्यसाधना द्वारा (सत्यम्) सत्य को/का, (इन्द्रियम्) आत्मसंबल को/का, (अन्धसः शुक्रम् वि-पानम्) ब्रह्मान्न के शुद्ध विशेष-पान को/का, (इन्द्रस्य इन्द्रियम्) आत्मा के आत्मतत्त्व को/का।

आनन्द तथा सत्यसाधना के संयोग से सत्य और आत्मसंबल की सिद्धि होती है। आत्म-समाहित होकर ब्रह्मान्न के शुद्ध विपान से आत्मा के आत्मतत्त्व का संदर्शन होता है।

२) (इदम् पयः) यह पीयूष [है] (मधु अ-मृतम्) मधुर अ-मृत, स्वादिष्ठ सोम।

इसी प्रियसाधना-रूप पीयूष का पान करते हुए विश्वसाधक का आत्मा अपनी साधना में संलग्न रहे।

जलों से सार पिया करता है
हंस जिस तरह,
शुचि-सत् सम्पादन किया करता है
छन्दसा, ऋतेन
सत्य का, आत्मसंबल का,
ब्रह्मान्न के शुद्ध विपान का,
आत्मा के आत्मतत्त्व का।
यह पीयूष है मधुर अमृत।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

११०१ अन्नात् परिस्रुतो रसं ब्रह्मणा, व्यपिबत् क्षत्रं पयः सोमं प्रजापतिः। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं, विपानं शुक्रमन्धस, इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोमृतं मधु। य १९.७५

अन्नात् परि-स्रुतः रसम् ब्रह्मणा वि अपिबत् क्षत्रम् पयः सोमम् प्र-जा-पतिः। ऋतेन सत्यम् इन्द्रियम् वि-पानम् शुक्रम् अन्धसः इन्द्रस्य इन्द्रियम् इदम् पयः अ-मृतम् मधु।

१) (प्र-जा-पतिः) प्रजा-पालक, प्रजा-रक्षक [विश्व-साधक] (वि अपिबत्) पान किया करता है (ब्रह्मणा) विवेकेन, तत्त्वज्ञान द्वारा (परि-स्रुतः) परिपक्व/परिष्कृत (अन्नात्) ब्रह्मान्न से (रसम्) रस, आनन्द, (क्षत्रम्) क्षति-तारक संबल, (पयः) आत्मपीयूष, (सोमम्) ब्रह्मसोम।

२) विवेक द्वारा इन पेयों का पान करके विश्व-साधक का आत्मा सम्पादन किया करता है (ऋतेन) सत्यसाधना द्वारा (सत्यम्) सत्य को/का, (इन्द्रियम्) आत्मसंबल को/का, (अन्धसः शुक्रम् वि-पानम्) ब्रह्मान्न के शुद्ध विशेष-पान को/का, (इन्द्रस्य इन्द्रियम्) आत्मा के आत्म-तत्त्व को/का।

३) (इदम् पयः) यह पीयूष [है] (मधु अ-मृतम्) मधुर अ-मृत, स्वादिष्ठ सोम।

प्रजापति पिया करता है विवेक द्वारा
परिस्रुत् अन्न से रस, क्षत्र,
आत्मपेय और सोम।
वह सम्पादन किया करता है
छन्दसा, ऋतेन
सत्य का, आत्मसंबल का,
ब्रह्मानन्द के शुद्ध विपान का,
आत्मा के आत्मतत्त्व का।
यह पीयूष है मधुर अमृत।

११०२ रेतो मूत्रं वि जहाति, योनिं प्रविशदिन्द्रियम्। गर्भो जरायुणावृत, उल्बं जहाति जन्मना। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं, विपानं शुक्रमन्धस, इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोमृतं मधु। य १९.७६

रेतः मूत्रम् वि जहाति योनिम् प्र-विशत् इन्द्रियम्। गर्भः जरायुणा आ-वृतः उल्बम् जहाति जन्मना। ऋतेन सत्यम् इन्द्रियम् वि-पानम् शुक्रम् अन्धसः इन्द्रस्य इन्द्रियम् इदम् पयः अ-मृतम् मधु।

१) जिस प्रकार (इन्द्रियम्) उपस्थेन्द्रिय (वि जहाति) त्यागता/छोड़ता है (मूत्रम्) मूत्र को, और (योनिम् प्र-विशत्) भग में प्रविष्ट होकर (रेतः) वीर्य को, अपि च (जरायुणा आ-वृतः गर्भः) जेर से ठका हुआ गर्भ (जन्मना) जन्म [प्रसव] से (जहाति) त्यागता है, छोड़ता है (उल्बम्) जेर को, वैसे ही मुझ साधक का आत्मा अनृत [असत्य] त्यागकर सम्पादन करे (ऋतेन) सत्य-साधना से (सत्यम्) सत्य को/का, (इन्द्रियम्) आत्मसंबल को/का, (अन्धसः शुक्रम् वि-पानम्) ब्रह्मान्न के शुद्ध विशेष-पान को/का, (इन्द्रस्य इन्द्रियम्) आत्मा के आत्मतत्त्व को/का।

असत्य को त्यागने पर ही उपर्युक्त उपलब्धियां सिद्ध होती हैं।

२) (इदम् पयः) यह पीयूष [है] (मधु अ-मृतम्) मधुर अ-मृत, स्वादिष्ठ सोम।

इस अमृतमय साधना से ही जगती का स्वाद्वीकरण तथा आनन्दमयीकरण होना है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उपस्थेन्द्रिय त्यागता है मूत्र,
और योनि में प्रविष्ट होकर वीर्य ।
जेर से आवृत गर्भ
त्यागता है प्रसवेण जेर ।
वह सम्पादन किया करता है
ऋत से सत्य का, आत्मसंबल का,
ब्रह्मान्न के शुद्ध विपान का,
आत्मा के आत्मतत्त्व का ।
यह पीयूष है मधुर अमृत ।

११०३ **दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्, सत्यानृते प्रजापतिः । अश्रद्धामनृतेदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः । ऋतेन सत्यमिन्द्रियं, विपानं शुक्रमन्धस, इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोमृतं मधु ।** य १९.७७

दृष्ट्वा रूपे वि आ अकरोत् सत्य-अन्-ऋते प्र-जा-पतिः । अ-श्रत्-धाम् अन्-ऋते अदधात् श्रत्-धाम् सत्ये प्र-जा-पतिः । ऋतेन सत्यम् इन्द्रियम् वि-पानम् शुक्रम् अन्धसः इन्द्रस्य इन्द्रियम् इदम् पयः अ-मृतम् मधु ।

१) (प्र-जा-पतिः) प्रजा का पालक, जनता का रक्षक [विश्वसाधक सत्य, असत्य के] (रूपे) रूपों को (दृष्ट्वा) देखकर (वि आ अकरोत्) विश्लेषा करता है (सत्य-अन्-ऋते) सत्य, अ-सत्य को । (प्र-जा-पतिः) प्रजा-पति [विश्वसाधक] (अन्-ऋते अ-श्रत्-धाम् अदधात्) अ-सत्य में अ-श्रद्धा स्थापन किया करे, (सत्ये श्रत्-धाम्) सत्य में श्रद्धा को ।

सत्य में असत्य का मिश्रण उतना ही बुरा है जितना अमृत में विष का मिश्रण । सत्य का स्वरूप प्रत्यक्षतः आनन्दकर है, तो असत्य का अनिष्टकर । विश्वसाधक सत्यासत्य के इन दो रूपों को दृष्टि में रखकर मानवसमाज में सत्य और असत्य का विश्लेषण किया करे, दोनों का आनन्द-कर और अनिष्टकर रूप स्पष्टरूपेण मानवप्रजा को दिखाया और समझाया करे । ऐसा करते हुए वह मानवों के मानसों में सत्य के प्रति श्रद्धा और असत्य के प्रति अश्रद्धा जमाए ।

२) विश्वसाधक का आत्मा सम्पादन किया करता रहे (ऋतेन) सत्य-साधना से (सत्यम्) सत्य को/का, (इन्द्रियम्) आत्मसंबल को/का, (अन्धसः शुक्रम् वि-पानम्) ब्रह्मान्न के शुद्ध विशेष-पान को/का, (इन्द्रस्य इन्द्रियम्) आत्मा के आत्मतत्त्व को/का ।

सत्य-साधना से यह सब यथावत् निष्पन्न होता है, अनृत से सब नष्ट होजाता है ।

३) (इदम् पयः) यह पीयूष [है] (मधु अ-मृतम्) मधुर अ-मृत, स्वादिष्ठ सोम ।

सत्य की अमृतमय मधुर साधना से ही जगती का आनन्दमयीकरण होगा ।

प्रजापति उभय रूपों को
अपनी दृष्टि में रखता हुआ,
विश्लेषा करता है सत्य असत्य को ।
प्रजापति किया करता है प्रस्थापन
अश्रद्धा असत्य में, श्रद्धा सत्य में ।
सम्पादन किया करता है
ऋत से सत्य का, आत्मसंबल का,
ब्रह्मान्न के शुद्ध विपान का,
आत्मा के आत्मतत्त्व का ।
यह पीयूष है मधुर अमृत ।

११०४ **वेदेन रूपे व्यपिबत् सुतासुतौ प्रजापतिः । ऋतेन सत्यमिन्द्रियं, विपानं शुक्रमन्धस, इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोमृतं मधु ।** य १९.७८

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वेदेन रूपे वि अपिबत् सुत-अ-सुतौ प्र-जा-पतिः । ऋतेन सत्यम् इन्द्रियम् वि-पानम् शुक्रम् अन्धसः इन्द्रस्य इन्द्रियम् इदम् पयः अ-मृतम् मधु ।

१) (प्र-जा-पतिः) प्रजा-पालक, प्रजा-रक्षक [विश्व-साधक] (वि अपिबत्) पान किया करता है (वेदेन) वेद के आश्रय से (सुत-अ-सुतौ रूपे) सार-असार [उभय] रूपों को/का ।

जगती में आनन्द की व्याप्ति के लिए यह परम आवश्यक है कि प्रत्येक विश्वसाधक और विश्व-साधिका वेद के आश्रय से सार और असार के रूपों को पहचाने और सर्व मानवों को उनका रूप दर्शाए । सार का ग्रहण और असार का त्याग ही सार असार का पान करना और कराना है ।

सार के ग्रहण और असार के त्याग से संसार में आनन्द की व्याप्ति होती है । तद्विपरीत असार के ग्रहण और सार के त्याग से जगती में स्वादहीनता, दुःख और क्लेश की व्याप्ति होती है ।

वेद के स्वाध्याय से ही सार असार, सत्य असत्य, करणीय अकरणीय का बोध होता है ।

२) विश्वसाधक का आत्मा सम्पादन किया करता है (ऋतेन) सत्यसाधना के आश्रय से (सत्यम्) सत्य को/का, (इन्द्रियम्) आत्मसंबल को/का, (अन्धसः शुक्रम् वि-पानम्) ब्रह्मान्न के शुद्ध विशेष-पान को/का, (इन्द्रस्य इन्द्रियम्) आत्मा के आत्मतत्त्व को/का ।

सत्यसाधन से ही यह सब सिद्ध होता है ।

३) (इदम् पयः) यह पीयूष [है] (मधु अ-मृतम्) मधुर अ-मृत, स्वादिष्ठ सोम ।

सत्यसाधना वह पीयूष है जिसके पान से जगती में आनन्द की व्याप्ति होती है ।

प्रजापति विपान किया करता है
वेद से सार असार रूपों का ।
सम्पादन किया करता है
ऋत से सत्य का, आत्मसंबल का,
ब्रह्मान्न के शुद्ध विपान का,
आत्मा के आत्मतत्त्व का ।
यह पीयूष है मधु अमृत ।

११०५ **दृष्ट्वा परिस्रुतो रसं शुक्रेण, शुक्रं व्यपिबत् पयः सोमं प्रजापतिः ।**
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं, विपानं शुक्रमन्धस, इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोमृतं मधु । य १९.७९
दृष्ट्वा परि-स्रुतः रसम् शुक्रेण शुक्रम् वि अपिबत् पयः सोमम् प्र-जा-पतिः । ऋतेन सत्यम् इन्द्रियम् वि-पानम् शुक्रम् अन्धसः इन्द्रस्य इन्द्रियम् इदम् पयः अ-मृतम् मधु ।

१) (प्र-जा-पतिः) प्रजा-पालक, प्रजा-रक्षक [विश्व-साधक] (वि अपिबत्) पान किया करता है (शुक्रेण) शुक्र से, निष्पापता के साथ, (दृष्ट्वा) देखकर, विवेकपूर्वक, (परि-स्रुतः) परिपक्व/परिष्कृत [ब्रह्मान्न से] (रसम्) रस, आनन्द, (शुक्रम्) शुक्र, निष्पापता, (पयः) आत्मपीयूष, (सोमम्) ब्रह्मसोम ।

विश्वसाधक ब्रह्म का साक्षात्कार करके ही जगती के आनन्दमयीकरण के दिव्य पथ पर अग्रसर रह पाता है । निष्पापता के साथ आत्म-साधना करके वह निष्पाप ब्रह्म का साक्षात्कार करता है । ब्रह्म के संदर्शन में पृथिवी पर सब ओर प्रवाहित रहता हुआ वह सानन्द साधनारत रहता है ।

२) ब्रह्मानन्द का पान करता हुआ उसका आत्मा सम्पादन किया करता है (ऋतेन) सत्यसाधना द्वारा (सत्यम्) सत्य को/का, (इन्द्रियम्) आत्म-संबल को/का, (अन्धसः शुक्रम् वि-पानम्) ब्रह्मान्न

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

के शुद्ध विशेष-पान को/का, (इन्द्रस्य इन्द्रियम्) आत्मा के आत्मतत्त्व को/का।

सत्यसाधना से यह सब सिद्ध होता है।

३) (इदम् पयः) यह पीयूष [है] (मधु अ-मृतम्) मधुर अ-मृत, स्वादिष्ठ सोम।

सत्यसाधना वह पीयूष है जिसके पान से जगती का स्वाद्वीकरण होता है।

देखकर शुक्र से शुक्र को
परि-प्रवाहित प्रजापति
पान किया करता है
पानीय प्राह्लादक आनन्द का।
सम्पादन किया करता है
ऋत से सत्य का, आत्मसंबल का,
ब्रह्मान्न के शुद्ध विपान का,
आत्मा के आत्मतत्त्व का।
यह पीयूष है मधुर अमृत।

११०६ **सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिण, ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति।**
अश्विना यज्ञं सविता सरस्वती,न्द्रस्य रूपं वरुणो भिषज्यन्। य १९.८०

सीसेन तन्त्रम् मनसा मनीषिणः ऊर्णा-सूत्रेण कवयः वयन्ति। अश्विना यज्ञम् सविता सरस्वती इन्द्रस्य रूपम् वरुणः भिषज्यन्।

१) जिस प्रकार (कवयः मनीषिणः) चिन्तनशील और मननशील [जन] (सीसेन) सीसा के बने यन्त्र से, (ऊर्णा-सूत्रेण) ऊन के सूत्र से (मनसा) मन की एकाग्रता के साथ (तन्त्रम्) कपड़े के थान को (वयन्ति) बुनते हैं।

२) उसी प्रकार मानवों की मानसिक (भिषज्यन्) चिकित्सा करते हुए, [विश्वसाधकों के] (अश्विना) मस्तिष्क-मनरूप अश्वी, (सविता) आत्मा, (सरस्वती) प्रवाहवती वाणी, (वरुणः) विवेक (इन्द्रस्य) निर्विकार ब्रह्म के [सृष्टिरूप] (यज्ञम्) यज्ञ को [तथा निर्विकार ब्रह्म के निज (रूपम्) रूप को [सर्व मानवों में प्रचारते प्रसारते हैं]।

ऊर्णासूत्रेण शब्द का प्रयोग यहां उपलक्षणात्मक है। ऊनी, सूती वस्त्रों की बुनाई में जिस चिन्तन-मननात्मक कुशलता की आवश्यकता होती है उसी कुशलता के साथ, जगती के स्वाद्वीकरण के लिए विश्वसाधकों को गहन चिन्तन और मन के आश्रय से ब्रह्म के निज रूप का साक्षात्कृत ज्ञान तथा विज्ञानपरक संज्ञान प्राप्त करना चाहिए। ज्ञान-संज्ञानसम्पन्न होकर वे विश्व की मानव-प्रजाओं के भ्रमजन्य विश्वासों और उनकी भ्रान्ति-जन्य मान्यताओं का निवारण करके सर्व जनों को सत्य के प्रकाश से प्रकाशित कर सकेंगे और उन्हें निर्भ्रम, निर्भ्रान्त, निर्भय और आनन्दी बना सकेंगे।

मस्तिष्क और मन को आत्मना समाहित करके जब चिन्तन और मनन किया जाता है तो उस निर्भ्रान्त विवेक की प्राप्ति होती है जिसके प्रकाश में ब्रह्मज्ञान तथा सृष्टिविज्ञान प्रखरित होता है। तब वाणी प्रवाहवती होकर तत्व का प्रसार करती है।

चिन्तनशील और मननशील
बुनते हैं मनसा तन्त्र को
सीसा से और ऊन-सूत्र से।
करते हुए चिकित्सा अश्वी,
सविता, सरस्वती, वरुण
प्रचारते हैं इन्द्र के यज्ञ, रूप को।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

११०७ **तदस्य रूपममृतं शचीभि,स्तिस्रो दधुर्देवताः संरराणाः ।**
लोमानि शष्पैर्बहुधा न तोक्मभिस्,त्वगस्य मांसमभवन्न लाजाः । य १९.८१

तत् अस्य रूपम् अ-मृतम् शचीभिः तिस्रः दधुः देवताः सम्-रराणाः । लोमानि शष्पैः बहु-धा न तोक्म-भिः त्वक् अस्य मांसम् अभवत् न लाजाः ।

१) (सम्-रराणाः) संरमण करते हुए, आनन्द प्रदान करते हुए (तिस्रः देवताः) तीन देवता (शचीभिः) शचियों द्वारा (अस्य) इस[ब्रह्म]के (तत् अ-मृतम् रूपम्) उस आनन्दमय [निज] रूप को (बहु-धा) बहुत प्रकार से (दधुः) धारण [साक्षात्] किया करते हैं।

तीन देव हैं पूर्व-मन्त्र में उल्लिखित सविता [आत्मा] तथा दो अश्वी [मस्तिष्क और मन, विवेक और हृदय, तत्त्वज्ञान और प्रेम]। इन तीन देवताओं के शुद्ध और समाहित रहने पर आनन्दमय ब्रह्म का साक्षात्कार होता है।

शची नाम वाक् [वाणी], कर्म और प्रज्ञा का है। उक्त तीन देवताओं द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर विश्वसाधक प्रज्ञासम्पन्न होकर दिव्य कर्म करते हुए, अपनी वाणी द्वारा साचार वेदप्रचार करते हुए, आनन्द का प्रसार करते हैं।

२) आनन्दमयीकरण का सार्वभौम यज्ञ (शष्पैः) शष्पों से युक्त (तोक्म-भिः) बच्चों द्वारा (न) नहीं [किया जाता है]।

शष्प नाम शिशु के शिर के उन मुलायम और लम्बे बालों का है जो उसके मुंडन-संस्कार के समय नापित [नाई] द्वारा काटे जाते हैं।

जगती के आनन्दमयीकरण का यज्ञ शष्पीले शिशुओं द्वारा सम्पादन नहीं किया जाता है। यह बच्चों का खेल नहीं है। इस यज्ञ के सम्पादन के लिए तो विश्वसाधकों को उग्र तप और कठोर साधना करनी होती है।

३) (लोमानि) रोम, (त्वक्) त्वचा, (मांसम्) मांस (अस्य) इस[यज्ञ]की [हवि] (न अभवत्) नहीं हुआ करती है। इस यज्ञ की हवि तो (लाजाः) खीलें हैं।

कितना गहन और तात्त्विक संज्ञान अन्तर्निहित है इस मन्त्रांश में! मांस-बाहुल्य से तनी हुई सुन्दर त्वचा। त्वचा पर उगे हुए मनोहर रोम और केश। आनन्दमयीकरण के प्रयज्ञ की ये हवियां नहीं हैं। इसकी हवि तो लाजाएं [खीलें] हैं। आग में तपकर चावल खील बनते हैं। उनकी उपजन दग्ध होजाती है। वे सदा खिले खिले रहते हैं। लाजाओं के समान जो विश्वसाधक जीवन्मुक्त बनकर जीते जी ही जन्ममरण के चक्र से मुक्त होजाते हैं वे ही सदा खीलों के समान सतत खिले हुए, सन्तत आनन्दी रहते हैं और उक्त यज्ञ की हवि बनते हैं, उक्त यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं।

करते हुए संरमण तीन देवता शचियों द्वारा
धारण किया करते हैं इसके उस अमृतमय रूप को,
न कि शष्पीले बच्चों द्वारा।
रोम, त्वचा और मांस नहीं हुआ करती हैं
इसकी हवियां।
इसकी हवियां हैं लाजाएं।'

१. ग्रन्थकार के निधन के कारण, यह ग्रन्थ वे यहीं तक लिख पाए थे। आगे का अंश अभयदेव शर्मा द्वारा लिखित है। —सपादक

११०८ **तदश्विना भिषजा रुद्रवर्तनो, सरस्वती वयति पेशो अन्तरम् ।**
अस्थि मज्जानं मासरैः कारोतरेण, दधतो गवां त्वचि । य १९.८२

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तत् अश्विना भिषजा रुद्र-वर्तनी सरः-वती वयति पेशः अन्तरम् । अस्थि मज्जानम् मासरैः कारोतरेण दधतः गवाम् त्वचि ।

(भिषजा, रुद्रवर्तनी अश्विना) भिषक्, रुद्रानुगामी दो अश्वी (तत्) उसे [बुनते हैं] । (सरः-वती) प्रवाह-वती (अन्तरम् पेशः) आंतरिक रूप को (वयति) बुनती है । (गवाम् त्वचि दधतः) गौओं की त्वचा पर धरते हुए [वे] (मासरैः, कारोतरेण) मांडों से [और] चालनी से [क्रमशः] (अस्थि, मज्जानम्) अस्थि [और] मज्जा को [बुनते हैं] ।

कवि, मनीषी और भिषक् (मंत्र ८०) विश्व-साधक इन्द्र के यज्ञ और रूप (मंत्र ८०) के बुनकर हैं । रूप के लिए इस मंत्र में **पेश** शब्द है जो, वर्णविपर्यय द्वारा, अंगरेज़ी के 'शेप' शब्द से अर्थसाम्य रखता है । जैसे बुनकर सूत्रों से वस्त्र बुनते हैं वैसे दोनों अश्वी और सरस्वती विभिन्न पदार्थों से इन्द्र के यज्ञ और रूप को तैयार करते हैं । इन्द्र—ब्रह्म का सृष्टियज्ञ उसी के बल से सर्वत्र स्थूल, सूक्ष्मादि स्तरों पर सतत चलरहा है । उसका निज रूप भी ब्रह्मांड के अणु अणु में निहित है और नाना रमणीयताओं में अभिव्यक्त होरहा है । विश्वसाधक अपने जीवन को भी एक यज्ञ बनाने, और अपने व्यक्तित्व को भी इन्द्र के रूप से रूपित करने की साधना करते हैं और यही साधना सबसे कराते हैं । इस और अगले मंत्रों में इस साधना के कुछ संकेत दिए गए हैं ।

१) विश्वसाधक यह साधना **गवां त्वचि दधतः**, गौओं की त्वचा पर विभिन्न पदार्थों को धरते हुए करते हैं । **गौ**=इन्द्रियां, पृथिवी । मंत्रप्रयुक्त बहुवचनान्त 'गो' शब्द इन्द्रियों का वाचक है । इन्द्रियों की त्वचा, अर्थात्, धरातल वा वासस्थान शरीर है । शरीर के विभिन्न गोलकों में ज्ञान-,कर्म- और मन-इन्द्रियां धरी हुई हैं । इन्द्रयज्ञ और इन्द्ररूप का वयन—संपादन प्रत्येक इन्द्र—आत्मा को अपने इसी वर्तमान शरीर और जीवन में करना है ।

जगती के आनन्दमयीकरण का ब्राह्म यज्ञ और रूप विश्वसाधकों को इस जगत् में प्रत्यक्ष स्थापित करना है । अतः एतदर्थ न घर त्यागना है, न वैरागी होना है वरन् परम करुणा और सात्त्विक अनुराग अपेक्षित है । शरीर और पृथिवी इस साध की प्रयोगशालाएं हैं ।

२) **सरस्वती वयति पेशो अन्तरम्**, सरस्वती बुनती है रूप आन्तरिक । इन्द्र –आत्मा के आंतरिक रूप के निर्माण में सरस्वती [—अनाहत नाद, आत्मा की आवाज़ तथा प्रेरणाकारी प्रभावकारी वाणी—उपदेश] की प्रत्यक्ष और प्रमुख सहायता विश्व-साधक लेते हैं । जो आत्मा की मौन वाणी को समझते हैं और जो विश्वसाधक के उपदेश पर ध्यान देते हैं उन्हीं का आत्मिक रूप संपन्न हो पाता है । अतः मंत्र में **वयति** क्रिया केवल सरस्वती के लिए, अतः एकवचनांत, प्रयुक्त हुई है ।

३) अश्वी=मस्तिष्क और हृदय, चिंतन और संकल्प । चिंतन और संकल्प से जीवन का शोधन और बोधन होता है । ये मानवजीवन के **भिषक्**—चिकित्सक हैं । त्रुटियों और विकारों के निराकरण का चिंतन करके आत्मबल से उन्हें दूर करना चाहिए । **रुद्र+वर्तनी**=रुद्र-मार्ग, रुद्र के जैसा कठोर मार्ग—उपाय अपनानेवाले । दुबल मस्तिष्क और कायर हृदय त्रुटियों और विकारों को सहन कर लेते हैं । पर विश्वसाधक को लोकहित में कभी कठोर उपायों अथ वा तिक्त ओषधों का उपयोग करना पड़ सकता है । समाज में दुरितों की कंटीली झाड़ियों को काटना ही होता है ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

४) विश्वसाधक मांडों से अस्थि को और चालनी से मज्जा को बुनते हैं। **अस्थि, मज्जा** शब्द यहां समूहवाचक होने से एकवचनांत हैं। अस्थि मज्जा [वसा, चर्बी] से लिपटी रहती है। अस्थिपंजर से शरीरष्टि को सुदृढ़ आधार मिलता है। खाए हुए अन्न से क्रमशः रस, रक्त, मांस, मेद और अस्थि, तथा फिर क्रमशः मज्जा, शुक्र, ओज और सोम बनते हैं। अस्थि और मज्जा अन्न की पंचम और षष्ठ परिणतियां हैं। पूर्व-मन्त्र में लोम, त्वक्, मांस पर्यंत अन्न-परिणतियों के उल्लेख के बाद, इस मंत्र में अगली दो परिणतियों की चर्चा है। **मासर**=चावलादि का मांड अन्न के स्नेहांश का प्रतीक है जिसकी संहतिरूप अस्थि होती है। **कारोतर**=छानने की चालनी। अस्थि का मलांश शारीरिक प्रक्रिया में पृथक् होजाता है और रसांश मज्जा बन जाता है। कारोतर-प्रक्रिया से स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्मतर उपलब्धियां प्राप्त की जाती हैं। विश्वसाधक अपनी सरस्वती और अश्वियों द्वारा अन्न के क्रमिक परिपाक और कारोतरत्व से स्थूल से सूक्ष्म रहस्यों और अनुभूतियों की ओर बढ़ते हैं, यह तथ्य यहां प्रतीकशैली में संकेतित हुआ है।

गो-त्वचा पर स्थित हो,
भिषक्, रुद्रानुगामी अश्वी
औ' सरस्वती हैं बुनते
उस आंतर रूप को;
औ' अस्थि, मज्जा को मांडों, छाननी से।

११०९ **सरस्वतो मनसा पेशलं वसु, नासत्याभ्यां वयति दर्शतं वपुः।**
रसं परिस्रुता न रोहितं, नग्नहुर्धीरस्तसरं न वेम। य १९.८३

सरः-वती मनसा पेशलम् वसु नासत्याभ्याम् वयति दर्शतम् वपुः। रसम् परि-स्रुता न रोहितम्
नग्नहुः धीरः तसरम् न वेम।

१) (सरः-वती) प्रवाह-वती (मनसा) मन द्वारा (पेशलम् वसु) रूपवान्, सुनहरे धन को [और] (नासत्याभ्याम्) दो अश्वियों द्वारा (दर्शतम् वपुः) दर्शनीय शरीर को (वयति) बुनती है।

सरस्वती दो पदार्थों का निष्पादन करती है। मनोबल द्वारा वह **पेशल वसु** का संपादन करती है। 'पेश'=रूप, हिरण्य। **पेशल**=रूपवान्, हिरण्मय। सुरूपवान्, हिरण्मयपात्ररूप शरीर से अपिहित ऐंद्ररूप, हिरण्यगर्भ आत्मा वह 'पेशल वसु' है जिसका मानवसमाज में संपादन—प्रकटीकरण विश्वसाधक की प्रवाहवती, प्रेरणाप्रद वाणी से होता है। वाणी वही प्रभावकारी होती है जो मन के मनन और हृदय की भावना से बलवती होती है।

दूसरा पदार्थ जो सरस्वती दोनों अश्वियों, मस्तिष्क के बोधन और हृदय के शोधन की सहायता से संपन्न करती है वह है **दर्शतं वपुः**, दर्शनीय शरीर। विश्वसाधक का शरीर इतना आकर्षक और भव्य होना चाहिए कि देखनेवाले की उसमें श्रद्धा और प्रीति उत्पन्न हो जाए। सुंदर देह में सुंदर आत्मा का निवास होता है। देह उपेक्षणीय नहीं है वरन् आत्मा का निवास और विश्वसाधक का साधनास्थल है। शरीर के सौंदर्य पर मस्तिष्क के चिंतन और हृदय की भावना का बड़ा प्रत्यक्ष प्रतिबिंब पड़ता है।

२) [वह] (परि-स्रुता) द्रव से (रसम् न रोहितम्) रस और रक्त को [बुनती है]।

परि-स्रुत्=द्रव। चबाने से अन्न परिस्रुत्, द्रव,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पानीवत् बन जाता है। स्थूल अन्न का यह प्रथम रूपांतर है। फिर उसका क्रमशः रस और रक्त बनता है।

३) (धीरः नग्नहुः) धी-प्रेरक ख़मीर (तसरम् न वेम) वयनसाधन और करघा [बनता है]।

नग्नहु=ख़मीर। खाया हुआ अन्न शारीरिक रसों से मिश्रित होकर जब रस बनने लगता है तो शरीर तंद्रा, आलस्य अनुभव करता है क्यों कि अन्न का सुरा में रूपांतर होने लगता है और यह नग्नहु-सुरा की अवस्था **धीर**-बुद्धि को सुलानेवाली ख़ुमारी लाती है। लौकिक जन पूरा पेट भोजन करके तंद्रा के वश में हो जाते हैं जब कि विश्व-साधक आधा पेट अन्नपेयसेवन करके तमोगुण के आक्रमण से बचे रहते हैं। उनकी अन्न-ख़ुमारी उनके 'दर्शतं वपुः' के ताने-बाने के निर्माण में साधन और तंत्र बनते हैं। संसारी और साधक में भोग के संयम वा असंयम का ही अंतर होता है।

सरस्वती बुनती है
मन से रम्य वसु,
अश्वियों से रम्य वपु,
अन्नद्रव से रस, रक्त।
धी-आवरक ख़ुमारी
हैं वयन साधन उसके।

१११० **पयसा शुक्रममृतं जनित्रं, सुरया मूत्राज्जनयन्त रेतः।**
अपामतिं दुर्मतिं बाधमाना, ऊवध्यं वातं सब्वं तदारात्। य १९.८४

पयसा शुक्रम् अ-मृतम् जनित्रम् सुरया मूत्रात् जनयन्त रेतः। अप अ-मतिम् दुः-मतिम् बाधमानाः ऊवध्यम् वातम् सब्वम् तत् आरात्।

१) (अ-मतिम्, दुः-मतिम् बाधमानाः) मनन-हीनता [और] दुर्मनन को परे रोक रहे [उन अश्वियों और सरस्वती] ने

अश्वी और सरस्वती अमति और दुर्मति को दूर रोक देते हैं। विश्वसाधक के चिंतन और संकल्प अश्वियों और उनकी प्रवाहमयी वाणी से इनका प्रसार रुक जाता है। **अ-मति**=ना-समझी, चिंतन का अभाव। **दुः-मति**=बुरी समझ, दुर्बुद्धि। भोले बालक में अमति होती है, तो दुष्ट में दुर्मति। मानव को मतिमान्, समझदार, भले-बुरे का विवेकी होना चाहिए। तभी वह दुःख से बचकर आनंद पा सकेगा।

२) (ऊवध्यम्, वातम्, सब्वम् तत्) आमाशयस्थ, नाडीस्थ [और फिर] पक्वाशयस्थ उस[अन्न]-को (आरात्) दूर—पृथक् पृथक् (१) [जना—बनाया] (पयसा) पय द्वारा (अ-मृतम्, जनित्रम् शुक्रम्) स-जीव [और] जननशील शुक्र, [और] (२) (सुरया) सुरा द्वारा (मूत्रात्) मूत्र के, मूत्रवत् वह जाने के हेतु से (रेतः) रेत (जनयन्त) जना—बनाया।

अन्न की पाचनप्रक्रिया में उसका **पय**—रसभाग तो सूक्ष्म, सूक्ष्मतर धातुएं बनता जाता है और उसका **सुरा**—मलभाग पृथक् छंटता जाता है। यह प्रक्रिया पूर्व-मंत्र में 'कारोतर'—छानने की विधि कही गई है। अन्न की प्रथम परिणति है-**ऊवध्य**—अधपचा, आम। फिर वह **वात**—नाडीगत होकर, फिर पक्वाशय में पहुंचकर **सब्व**—रस बनता है। यह अन्न की पय—सुत अवस्था है। इसके बाद अन्न क्रमशः रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा बनकर **शुक्र**—वीर्य बनता है। वीर्य को स्त्रीशरीर में 'शोणित' वा 'रजः' कहा जाता है। वीर्य का 'शुक्र' नाम उसमें विद्यमान शुक्राणुओं के कारण पड़ा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है क्यों कि वे **अ-मृत**—स-जीव, और **जनित्र**—प्रजननसमर्थ होते हैं। वीर्य में जो शेष द्रवांश है वह **रेतः** कहाता है। कारोतर-पद्धति में पृथक्कृत, यह अवरकोटिक अंश मंत्र में **सुरया**, सुरा—मलभाग से जोड़ा गया है।

वीर्य का शुक्र, आगे चलकर, क्रमशः ओज और सोम बनता है। इनसे जीवन सात्त्विक और दिव्य हो जाता है। पर वीर्य का रेत-अंश उत्तेजक होता है। उसे यदि संयत न रखा जाए तो वह कामक्रीडा द्वारा मूत्रवत् व्यर्थ चला जाता है और अपने साथ शुक्र को भी बरबाद करता है। विश्वसाधक के अश्वियों और सरस्वती को, जगती का आनन्दमयीकरण करने के लिए, अमति और दुर्मति को परे करके मति—सुमति के संचार द्वारा मानवजाति में कामवशीकार की सामर्थ्य उत्पन्न करनी होगी। अन्यथा, उन्मुक्त काम की अमत और दुर्मत दौड़ समाजों और राष्ट्रों को नष्ट कर देती है।

अमति, दुर्मति के निवारकों ने,
पृथक्, बनाया अन्न को, क्रमशः,
पय से अमृत जनित्र शुक्र,
औ' सुरा से रेतः मूत्रवत्।

११११ इन्द्रः सुत्रामा हृदयेन सत्यं, पुरोडाशेन सविता जजान।
यकृत् क्लोमानं वरुणो भिषज्यन्, मतस्ने वायव्यैर्न मिनाति पित्तम्। य १९.८५
इन्द्रः सु-त्रामा हृदयेन सत्यम् पुरोडाशेन सविता जजान। यकृत् क्लोमानम् वरुणः भिषज्यन् मतस्ने वायव्यैः न मिनाति पित्तम्।

१) (सु-त्रामा इन्द्रः) कल्याणकारी-रक्षक इन्द्र ने (हृदयेन) हृदय द्वारा [और] (सविता) सविता ने (पुरोडाशेन) पुरोडाश द्वारा (सत्यम् जजान) सत्य को जना।

इन्द्र **सु-त्रामा** है। सु=कल्याण+त्रामा=रक्षक, रख-वाला। इन्द्र की रक्षा कल्याणकारी है, रक्षित की उन्नति की अवरोधक नहीं। स्वार्थ और आसक्ति से प्रेरित रक्षण, अंततः, रक्षित का विकास रोक देता है। इन्द्र की रक्षा ऐसा नहीं करती वरन् रक्षित की प्रगति के नव द्वार खोलती है। **इन्द्र**=बुद्धि। बुद्धि से जीवन की कल्याणमय रक्षा होती है। वह हृदय के द्वारा सत्य को जीवन में प्रादुर्भूत करती है। **हृदय**=हृ+द+य=ग्रहण+दान[त्याग]+संयम। कल्याणानुकूल का स्वीकार, कल्याणप्रतिकूल का परित्याग और स्व का बोध, ये तीनों कार्य बुद्धि अपनी मननशक्ति वा विवेक से करती है। इस प्रक्रिया से, अंततः, बुद्धि को सत्य की पहचान हो जाती है। सत्य, वास्तविक और शाश्वत सत्य आत्मा है। बुद्धि हृदय—मन के सहयोग से आत्मसत्य को प्रकट कर लेती है। यदि मन बुद्ध्यनुगामी हो तो बुद्धि आत्मानुशासित रहती है।

सविता=प्रेरक, आत्मा। **पुरोडाश**=मस्तिष्क। इष्टि नामक यज्ञों में पुरोडाश (जौ/चावल की टिकियाओं) की आहुतियां दी जाती हैं। वैदिक चिंतन में पुरोडाश को मस्तिष्क का प्रतीक माना गया है। **मस्तिष्को वै पुरोडाशः। यथा मस्तिष्क एवं पुरोडाशः। यः पुरोडाशो मस्तिष्कः सः। यो मस्तिष्कः स पुरोडाशः।** मस्तिष्क के ब्रह्म (ज्ञान, विवेक) का निधान होने से, पुरोडाश को ब्रह्मवर्चस का भी सूचक माना गया है। सविता—आत्मा पुरोडाश—मस्तिष्क, विवेक, ब्रह्मवर्चस द्वारा निजसत्य को जीवन में प्रकट करता है।

जीवन में सत्योदय के दो माध्यम हैं। प्रथम, विवेकवती बुद्धि जो मन की अनुकूलता से, तथा, द्वितीय, आत्मा जो मस्तिष्क वा बुद्धिकी अनुकूलता

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

से सत्य को, जिसका मुख भौतिकता की चकाचौंध से ढका रहता है उसे, अनावृत—प्रकट—प्रादुर्भूत—जात कर देते हैं। आत्मा-बुद्धि-मन का त्रित सत्योपलब्धि का आधार है। शब्द और प्रकार के भेद से, मंत्र में इन्द्र और पुरोडाश बुद्धि के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

२) (भिषज्यन् वरुणः) भिषक्कर्म कररहा वरुण (वायव्यैः) प्राणों द्वारा (यकृत्, क्लोमानम्, मतस्ने न पित्तम्) जिगर, फेफड़े, हृदय के उभय-पार्श्वस्थ दो हड्डियों और पित्त को (मिनाति) [पुनः स्वस्थ] बनाता है।

वरुण=निवारक, त्रुटियों और पाप से बलात् रोक देने वाला। वरुण भिषक्—चिकित्सक है, त्रुटियों और पापों को बढ़ने से रोकता, और स्वस्थता को प्रदान करता है। शरीर में, रोगादि त्रुटियों और मानसिक विकारों का निवारक प्राण है। उसे **वायव्य**=वायुपरक कहा गया है। प्राण, अपान, आदि दशविध 'वायव्य' शरीर के चिकित्सक हैं। वे जिगर, फेफड़े, मतस्न, पित्त, आदि आंतरिक अंगों की ओषधिरूप हैं। प्राण पर नियंत्रण से जहां एक ओर ज्ञान और कर्म-इन्द्रियां प्राण के वशीभूत हो कार्यरत रहती हैं, तो मन भी संयत रहता है। शरीर-प्राणरूप यंत्र के स्वस्थ और बलिष्ठ रहने से, मन-बुद्धि-आत्मरूप आंतरिक तंत्र साधनानुकूल बन जाता है। और तब आत्मसत्य का जीवन में उद्भव हो जाता है। सत्योपलब्धि से ही जगती का स्थायी आनन्दमयीकरण होगा।

इन्द्र सुत्रामा ने हृदय से
सविता ने मस्तिष्क से
सत्य प्रकटाया।
भिषक् वरुण संपादक प्राणों से
यकृत्, क्लोम, मतस्न, पित्त का।

१११२ **आन्त्राणि स्थालीर्मधु पिन्वमानाः, गुदाः पात्राणि सुदुघा न धेनुः।**
श्येनस्य पत्रं न प्लीहा शचीभि,रासन्दी नाभिरुदरं न माता। य १९.८६

आन्त्राणि स्थालीः मधु पिन्वमानाः गुदाः पात्राणि सु-दुघा न धेनुः। श्येनस्य पत्रम् न प्लीहा शची-भिः आ-सन्दी नाभिः उदरम् न माता।

(शची-भिः) प्रज्ञाओं, कर्मों द्वारा (१) (आन्त्राणि) आंतें (मधु पिन्वमानाः स्थालीः) मधु सींचरही थालियां! (२) (गुदाः) गुदाएं (पात्राणि) पात्र, (सु-दुघा धेनुः न) सु-दुहा दुधार [पशु] सम! (३) (प्लीहा) तिल्ली (श्येनस्य पत्रम् न) बाज़ के पंख जैसी! (४) (नाभिः) नाभि (आ-सन्दी) चौकी, (५) (उदरम्) पेट (माता न) माता जैसा!

इस मंत्र में क्रियापद नहीं है। कथनभंगिमा भावुकतामय है। एक एक अंग के आदर्श स्वास्थ्य के रूप की कल्पना करते हुए वक्ता अपनी बात कहरहा है।

मंत्र में भोजनपाचन-संस्थान के अंगों के स्वास्थ्य का परामर्श दिया गया है। स्वास्थ्य-संपादन **शची**=प्रज्ञा—समझदारी और कर्म—कर्मशीलता और स्वास्थ्यनियम-पालन से ही संभव है। उदरविकार स्वादपरायणता और श्रमन्यूनता के कारण होते हैं। पेटू होना परिग्रह-स्वभाव, स्वार्थ तथा नास्तिकता का द्योतक है।

जगती के आनन्दमयीकरण-यज्ञ के कर्ता विश्व-साधकों का यज्ञसाधनभूत शरीर कैसा हो? 'आद्य धर्मसाधन' शरीर के अंग स्वकार्यक्षम होने चाहिएं।

विश्वसाधकों की आंतें ऐसी मुलायम हों जैसे मधुसनी, मधु चुआती तश्तरियां। मधु स्निग्ध होता है। मलावरोध (क़ब्ज़) से आंतें कठोर पड़

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जाती हैं। क़ब्ज़ अधिकतर रोगों का आरंभ होता है। अतः क़ब्ज़ न होने देने के प्रति सदा सचेष्ट रहना चाहिए।

गुदा का कार्य मलविसर्जन है। गुदा पात्र=रक्षक, स्वास्थ्यरक्षक हैं। गुदा का स्वास्थ्य बवासीर, आदि रोगों से बचाता है। जैसे अच्छी मादा पशु दूध दोहने देने में कभी प्रतिरोध नहीं करती वैसे गुदा से मलविसर्जन बिना कष्ट और प्रतीक्षा के, क्षणभर में होना चाहिए।

तिल्ली का बढ़ना रोग है। तिल्ली का आकार बाज़ के पंख जैसा छोटा, और स्वरूप उसके पंख जैसा कोमल होना चाहिए।

नाभिभाग वक्ष के उभार से आगे, टीले जैसा उठा हुआ नहीं होना चाहिए। ऐसे व्यक्ति का प्राणबल क्षीण होता है। तोंदू रोगी होता है। नाभि शरीर का मध्यबिंदु, और बल का केंद्र होता है। नाभिप्रदेश चौकी जैसा समतल होना चाहिए।

और उदर? वह तो ऐसा मुलायम रहना चाहिए जैसे स्नेहशीला मां होती है।

आंतें—मधु चुआती थालियां!
गुदाएं—पात्र, सरलदुहा धेनु!
तिल्ली, मानो, श्येनपत्र! नाभि—चौकी!
उदर, मानो, मां! बुद्धि, कर्म द्वारा।

१११३ **कुम्भो वनिष्ठुर्जनिता शचीभि,र्यस्मिन्नग्रे योन्यां गर्भो अन्तः।**
प्लाशिर्व्यक्तः शतधार उत्सो, दुहे न कुम्भी स्वधां पितृभ्यः। य १९.८७

कुम्भः वनिष्ठुः जनिता शची-भिः यस्मिन् अग्रे योन्याम् गर्भः अन्तः। प्लाशिः वि-अक्तः शत-धारः उत्सः दुहे न कुम्भी स्व-धाम् पितृ-भ्यः।

(शची-भिः) प्रज्ञाओं, कर्मों द्वारा (वनिष्ठुः, जनिता) संवितरक, जनक, (प्लाशिः, वि-अक्तः, शत-धारः उत्सः) प्र-व्यापक, अभिव्यक्त, शत-धार फव्वारा-[रूप] (कुम्भः) कुम्भ, (यस्मिन् अन्तः) जिसमें भीतर—[और] (योन्याम्) योनि में [भी भीतर]—(गर्भः) गर्भ (अग्रे) आदि में [होता है वह],—(न कुम्भी) और कलसी—(पितृ-भ्यः स्वधाम् दुहे) पिताओं के लिए आत्म-धारणा को प्र-पूरता है।

इस मंत्र में 'योन्यां, न कुम्भी' प्रसंगागत (parenthetical) अंश हैं। प्रमुखतः इसमें कुम्भ का वर्णन है। **कुम्भ**=घट, कलश। विश्वसाधक के ऐंद्र रूप के प्रसंग में इस शब्द से अभिप्राय वीर्याशय से है। **कुम्भी, योनि** से अभिप्राय है रजआशय वा शोणिताशय।

पूर्व-मंत्र में उदरसंयम के विधान के बाद, अब इस मंत्र में रजोवीर्यसंयम का विधान है। खान-पान का संयमी ही कामविजय कर सकता है। क्यों? इसलिए कि खाया-पीया ही रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा बनकर अंत में शुक्र (रजः-वीर्य) बनता है। शुक्र से ओज, सोम, और फिर मन बनता है। जैसा अन्न वैसा मन। जैसा मन वैसा कामव्यवहार। अन्न की मनपर्यंत ये सब परिणतियां पुरुष से पुरुष का निर्माण करने के लिए हैं। प्रत्येक मनुष्य किसी माता-पिता की संतान है। अतः उसका दायित्व है कि वह भी किसी जीवात्मा को अपनी संतान बनने का अवसर दे। सृष्टि की बुनावट में, बीज की जीवनयात्रा बीजनिर्माण के साथ पूरी होती है। गेहूं का एक दाना हज़ारों दानों को पैदा करता है। इसी प्रकार, प्रजातन्तु का व्यवच्छेद न होने देना हर मनुष्य का पावन सामाजिक दायित्व है।

पुरुष का वीर्याशय **वनिष्ठु**=वितरक है व्यक्ति के शरीर में प्राण-बल का, और लोक में पितृत्व का। वह **जनिता**=जातिविस्तारक, अपने जैसे

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्राणियों का जन्मदाता है। वीर्याशय **प्लाशि** है। प्ल-अशि=प्र-अशि=प्र-व्यापक। वीर्य की व्याप्ति शरीर की प्रत्येक इंद्रिय, अंग, अणु अणु, क्रिया में है। वीर्य शरीर का इंधन है जिससे वह सक्रिय है। वीर्य **वि-अक्त**=शरीररूप में अभिव्यक्त—प्रकट है। वीर्य पुरुष के सब गुण-कर्मों का पुंज, सार है। वीर्याशय **शतधार उत्स** है। उत्स=स्रोत, फव्वारा। वीर्य सैकड़ों धारों वाला फव्वारा है। एक बार के वीर्यस्राव में इतने प्रभूत जीवाणु होते हैं जितनी धरती पर स्त्रियां हैं। कर्मशक्तिरूप भी अनेक धाराएं वीर्य की हैं। वीर्य चक्षु में दृष्टि बनता है, तो श्रोत्र में श्रुति, मुख में रसना और वाणी, नासा में घ्राणशक्ति, त्वचा में स्पर्शबोध, मन में संकल्प-विकल्प, बुद्धि में चिंतन, रक्त में ऊष्मा, नख-केशादि नाना रूप, शरीर की स्थूल-सूक्ष्म, सब क्रियाएं वीर्य की विभिन्न धाराएं हैं।

ऐसे इस वीर्य-कुम्भ=वीर्याशय में, भीतर, विद्यमान शुक्र—जीवाणुओं में वह **गर्भ**=जीवात्मा पहले से विद्यमान है जो बाद में माता से जन्मता है। वीर्याशय और **योनि कुम्भी**=गर्भाशय, दोनों मिलकर विश्वसाधक पिताओं के लिए **स्व-धा**='स्व'—आत्मा को धारण करने वाली, आध्यात्मिक आभा से युक्त=संतति को तैयार करते हैं।

जगती के आनन्दमयीकरण के लिए साधक-परम्परा सतत जारी रहनी चाहिए। यह कार्य **शची**—समझदारी और कर्मठता का है। सामाजिक-दायित्व-बोध से हीन और निष्कर्म पुरुष तो काम को वैयक्तिक सुख का साधनमात्र मान बैठते हैं। मानवों का कर्तव्य है कि वे लोकमंगलसाधक संतति का दान समाज को करके संसार को त्यागें।

वितरक, जनक, व्यापक,
व्यक्त, शतधार उत्स वीर्याशय
और गर्भाशय पिताओं के लिए
स्वनिहित गर्भ स्वधा बनाते
बुद्धि, कर्म द्वारा।

१११४ **मुखं सदस्य शिर इत् सतेन, जिह्वा पवित्रमश्विनासन्त्सरस्वती।**
चप्यं न पायुर्भिषगस्य वालो, वस्तिर्न शेपो हरसा तरस्वी। य १९.८८

मुखम् सत् अस्य शिरः इत् सतेन जिह्वा पवित्रम् अश्विना आसन् सरः-वती। चप्यम् न पायुः भिषक् अस्य वालः वस्तिः न शेपः हरसा तरस्वी।

१) (अस्य मुखम् सत्) इस[इन्द्र]का मुख सत्, (शिरः) शिर [भी] (सतेन इत्) सत से ही [संपन्न]।

विश्वसाधक जो अपने ऐंद्र रूप की साधना कररहे हैं उसके परिणामस्वरूप इस विश्वसाधक-रूप इन्द्र का मुख **सत्** हो गया है। मुखप्रदेश में स्थित चक्षु, श्रोत्र, नासा, रसना, ये सब इंद्रियां सत्यपरायण हो गई हैं। और सत्य से ही इसका शिर अलंकृत है। इसका चिंतन सत्यमय हो गया है। **सत्यं पुनातु शिरसि।**

२) [इसकी] (जिह्वा पवित्रम्) जिह्वा पवित्र, [इसके] (आसन्) मुख में (अश्विना, सरः-वती) दोनों अश्वी [और] प्रवाह-वती।

पवित्र दर्भ का बनाया जाता है और यज्ञिय पदार्थों को शुद्ध करता है। विश्वसाधक की जिह्वा अपने शांति- और हित-कारक वचनों से पवित्र करने वाली हो गई है। इसके मुख में मस्तिष्क के चिंतन और हृदय की भावना की अभिव्यक्ति, और प्रभाव-कारी वाणी विराजमान हैं।

३) (न) और [इसकी] (पायुः चप्यम्) गुदा शांत,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(अस्य भिषक् वालः) इसका चिकित्सक छाननी ।

पायु, उपलक्षण से, पाचनसंस्थान, उदर का सूचक है। **भिषक्**=शरीर की रोगनिरोधक शक्ति, जो खान-पान में से रस को ग्रहण कर मलांश को पृथक् छांट देती है। यह शक्ति **वाल**=शरीर के लिए ग्राह्य-अग्राह्य के विवेचन में छाननी है ।

४) (वस्तिः न शेपः) मूत्राशय और शिश्न, [प्रत्येक] (हरसा तरस्वी) ऊर्जा से ऊर्जस्वी ।

जिसका पाचनसंस्थान स्वस्थ है वह काम-विजय करके, वस्ति और शेप विषयक स्वास्थ्य का लाभ करता है। वह कामदास न बनकर कामेश बनता है, ब्राह्म तेज से तेजस्वी बना रहता है।

इसका मुख-शिर सत्,
जिह्वा पवित्र, मुख में अश्वी, सरस्वती ।
गुदा शांत, प्रतिरोध विवेचनी,
वस्ति और शेप ऊर्जा से ऊर्जित ।

१११५ अश्विभ्यां चक्षुरमृतं ग्रहाभ्यां, छागेन तेजो हविषा शृतेन ।
पक्ष्माणि गोधूमैः कुवलैरुतानि, पेशो न शुक्रमसितं वसाते । य १९.८९

अश्वि-भ्याम् चक्षुः अ-मृतम् ग्रहाभ्याम् छागेन तेजः हविषा शृतेन । पक्ष्माणि गो-धूमैः कुवलैः उतानि पेशः न शुक्रम् अ-सितम् वसाते ।

१) (अश्वि-भ्याम् चक्षुः) दो अश्वियों द्वारा चक्षु ।

इस मंत्र में विश्वसाधक के ऐंद्र चक्षुओं का रूप-संपादन है। √'चक्ष्' धातु बोलने और देखने, दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुई है। इससे व्युत्पन्न **चक्षु** शब्द वक्ता और द्रष्टा, दोनों साधनों का एक साथ सूचक है। शरीर में चक्षु ही ऐसा इंद्रिय है जो बोलते हुए देखता है, अथ वा जो देखने के साथ साथ मस्तिष्क के विचारों और हृदय की भावनाओं को अभिव्यक्त कर देता है। वाणी भले ही मौन हो जाए, चक्षु बोले बिना देख नहीं सकते। अतः मंत्र में चक्षु को मस्तिष्क और हृदय अश्वियों द्वारा संपादित कहा गया है। चक्षु एकमात्र इंद्रिय है जो क्रिया-प्रतिक्रिया, दोनों एक साथ करती है।

२) (ग्रहाभ्याम् अ-मृतम्) दो ग्रहों से अमृत ।

मनुष्य के दो चक्षु **ग्रह**=ग्रहणसाधन, प्यालियां हैं। इनसे मनुष्य संसार को ग्रहण करता है। मस्तिष्क और हृदय अश्वी इन प्यालियों से रस-विष, सब पान करते हैं। विश्वसाधक की चक्षु-प्यालियां अग्राह्य को छोड़कर अ-मृत=जीवित=जीवनदायी शिक्षाओं और वस्तुओं को ग्राह्य बनाती हैं ।

३) (शृतेन छागेन हविषा) पक्व छाग हवि से (तेजः) तेज ।

छाग=अज, बकरा। अज सततभक्षी और बहुभाषी प्राणी है। चक्षु का दृष्टितेज विचारों और भावनाओं को कहता रहता है। इस सतत जप-त्व=चुग़लख़ोरी के कारण, मंत्र में, चक्षु के तेज का संपादन छाग से होना कल्पित किया गया है। वाणी, भले ही, मस्तिष्क और हृदय को पूरी अभिव्यक्ति न दे पाए, चाक्षुष तेज उनका संपूर्ण प्रतिनिधित्व करता है, उनका कुछ भी छिपा नहीं रहने देता। यह चक्षुर्गत छाग=प्रवक्ता की परि-पक्वता [शृत-हविष्ट्व] है ।

४) (गो-धूमैः पक्ष्माणि) गेहुंओं द्वारा पलकें, (कुवलैः उतानि) कुवलों से ताने-बाने [बरौनियां] ।

चाक्षुष तेज की रक्षार्थ पलकें और उनके आगे बरौनियां हैं। **पक्ष्म**, वस्तुतः, पलक के रोमों को कहते हैं। **उत** का अभिप्राय ऊपर-नीचे को बरौनियों से बुना हुआ रोमजाल है। आवेशमय अभिव्यक्ति के क्षण में प्रायः दो कथ्यों का क्रम गड़बड़ा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जाता है, पूर्व-कथनीय बात पर पश्चाद्वर्ती कथ्य की पूर्वछाया उलट आया करती है। वक्ता के चित्त में बरौनियों से बुने बालजाल का विषय ऐसा मुग्धकारी हो उठा है कि वह पलकों के लिए, किसी पलक-वाची शब्द के बजाय, बरौनी-वाचक 'पक्ष्म' शब्द का प्रयोग कर गया है। पलकें—मानो, गेहुंओं से बनी हुई; गेहुंआ पलकें। गेहुंआ वर्ण श्वेत-कृष्ण के बीच का वर्ण है। यही सुनहरा, तप्तकांचन वर्ण है जो सौन्दर्य का चरमोत्कर्ष माना गया है। बरौनियां उत=बुनी हुई, घनी। मानो, कुवलों—पानी से बनी हुई, पानीदार, चमचमाती हुई। गेहुंआ पलकें और घनी, नीली, चमकदार, पानी झलकाती बरौनियां—यह चक्षुःसौन्दर्य की छवि है।

५) [चक्षु] (शुक्रम् न अ-सितम् पेशः) श्वेत और अ-श्वेत रूप को (वसाते) ओढ़ते हैं।

पलक-बरौनियों से युक्त दो चक्षु श्वेत-श्याम, स्याह-सफ़ेद, दोनों रूपों से आच्छन्न हैं। पलक-बरौनियों के मिलने पर **अ-सित**—श्याम वर्ण, और उनके खुलने पर **शुक्र**—उज्ज्वल वर्ण दिखाई देता है। पलकों के मुंदने और खुलने के मध्य चक्षु का दर्शन है। पलकें काले-धौले वर्णों का आवर्तन न करें तो चक्षु अधिक देख नहीं पाता, शीघ्र थक जाता है। चक्षुओं ने श्वेत-श्याम वर्णों के वस्त्र पहने हुए हैं। इन वर्णों की जाली—पर्दे में से सारा संसार दीख जाता है। पल में काला, पल में धौला; और इनके बीच में से रस-विष, सुन्दर-असुन्दर, शिव-अशिव, निज-पर, दूर-पास, लोक-परलोक, विश्व-विश्वात्मा, सब कुछ दिखाई पड़ रहा है।

विश्वसाधक अपने चक्षु को जड़, यंत्रमात्र न समझे, वरन् वह तो इन्द्र की आंख है। चक्षु-झरोखे से इन्द्र—आत्मा विश्व और विश्वातीत को निहारता है। इनकी दिव्यता को सतत स्मरण रखना चाहिए। चक्षु से आनंद के कण बटोरकर जगती को आनन्दमय बनाया जा सकता है तो विषाद के कण बटोरकर विषादमय भी किया जा सकता है। देखो ऐसे कि चक्षु से आनंद की धार बह निकले।

अश्वियों से चक्षु, चक्षुओं से अमृत,
अचूक अभिव्यंजक तेज।
गेहुंआं पलकें, पानीदार रोम,
धौले-काले रूपवस्त्र ओढ़े।

१११६ **अविर्न मेषो नसि वीर्याय, प्राणस्य पन्था अमृतो ग्रहाभ्याम्।**
सरस्वत्युपवाकैर्व्यानं, नस्यानि बर्हिर्बदरैर्जजान। य १९.९०

अविः न मेषः नसि वीर्याय प्र-आनस्य अ-मृतः ग्रहाभ्याम्। सरः-वती उप-वाकैः वि-आनम् नस्यानि बर्हिः बदरैः जजान।

१) (अविः न मेषः) अवि और मेष (वीर्याय नसि) कर्म के लिए नासा में [हैं]।

इस मंत्र में विश्वसाधक की ऐंद्र नासा के रूप का संपादन है। मनुष्य द्वारा **वीर्य**—कर्म करने के लिए नासा में अवि और मेष स्थित हैं। 'अवि' और 'मेष' पर्यायवाची शब्द हैं और भेड़ के वाचक हैं। **अवि**=रक्षक। **मेष**=स्पर्धालु। नासा में, मानो, रक्षक और स्पर्धालु दो भेड़ें रहती हैं। श्वास-प्रश्वास जीवन के अवि–रक्षक हैं। उनमें परस्पर स्पर्धा चलरही है। अतः दोनों एक दूसरे का पीछा करते रहते हैं। भेड़ अनुकरणशीलता अथ वा गतानुगतिकता के लिए प्रसिद्ध है।

२) (ग्रहाभ्याम्) [नासारूप] दो ग्रहों के द्वारा (प्र-आनस्य पन्थाः अ-मृतः) प्राण का मार्ग[रूप] अ-मृत [बनता है]।

जैसे चक्षुद्वय ग्रहों का अपना अ-मृत है [**अमृतं**

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ग्रहाभ्याम्, मंत्र ८९] वैसे नासाद्वय ग्रहों का भी अपना अ-मृत है (**अमृतो ग्रहाभ्याम्** मंत्र ९०)। यह अ-मृत है **प्राणस्य पन्थाः**, प्राण-पथ। नासाद्वयरूप ग्रहों द्वारा प्राण का **अ-मृत**=जीवित, सतत प्रक्रांत मार्ग बना हुआ है। मंत्र में 'प्राण' शब्द जातिपरक है; यह दशविध प्राणों तथा एकादश इंद्रियों का वाचक है। प्राण के अविश्रम पथ पर जीवन निरंतर दौड़रहा है।

३) (सरः-वती) प्रवाह-वती ने (उप-वाकैः वि-आनम्) उप-देशों से व्यान—स्थैर्य—शाश्वतता को [जना]।

प्राण प्रवाहवती धारा है जिसने प्राण और अपान के मध्यबिंदु-रूप **व्यान** को हृदय में, शरीर के केंद्र में स्थित किया हुआ है। प्राण और अपान का आरंभ और उपसंहार व्यान करता है। झूले के झकोलों के समान दोनों के आवर्तन से, जो चक्रात्मक गति होती रहती है उस झूले वा चक्र में व्यान प्राणी को जीवन-मरण का झूला झुला रहा है। बाहर जाता वायुवेग मृत्यु है, तो भीतर आता वायुवेग जीवन है। एक क्षण जीवन का, तो दूसरा क्षण मृत्यु का दूत है। जैसे चक्षु का पट शुक्र-असित रूपों से बुना हुआ है (मंत्र ८९) वैसे नासा का पट जीवन-मृत्यु के तानों, बानों से बुना गया है। प्राण-सरस्वती जीवन-मृत्यु में व्यान—शाश्वतता, ध्रुवत्व, स्थैर्य का **उप-वाक**=उपदेश देरही है। विश्वसाधक जीवन-मृत्यु पर नहीं, उनके आधारभूत व्यान—वामन (विष्णु) पर ध्यान केंद्रित रखे; यही जीवन की आनन्दग्रंथि है।

४) [सरस्वती ने] (वदरैः) बदरों के साथ (नस्यानि, बर्हिः) नस्यों [और] बर्हि को (जजान) जना—बनाया।

प्राण का संबंध आपः—आर्द्रता से माना गया है। **आपो वै प्राणाः। प्राणा वा आपः। यावद् वै प्राणेष्वापो भवन्ति तावद् वाचा वदति।** वैदिक वाङ्मय की ये पंक्तियां इस मान्यता की सूचक हैं। बदरों की उत्पत्ति स्नीहा (आर्द्रता) से मानी गई है। प्राणप्रवाह आपः के द्वारा **नस्य**=सानुनासिक ध्वनियां, और **बर्हिः**=नासालोम उत्पन्न करता है।

नासा में वीर्यार्थ अवि और मेष,
प्राण का अमृत पथ।
सरस्वती ने उपदेशों से व्यान,
आपों से नस्य, बर्हि जने।

सूक्ति : **प्राणस्य पन्था अमृतः।**
प्राण का पथ अमर [है]।

१११७ इन्द्रस्य रूपमृषभो बलाय, कर्णाभ्यां श्रोत्रममृतं ग्रहाभ्याम्।
यवा न बर्हिभ्रुवि केसराणि, कर्कन्धु जज्ञे मधु सारघं मुखात्। य १९.९१
इन्द्रस्य रूपम् ऋषभः बलाय कर्णाभ्याम् श्रोत्रम् अ-मृतम् ग्रहाभ्याम्। यवाः न बर्हिः भ्रुवि केसराणि कर्कन्धु जज्ञे मधु सारधम् मुखात्।

१) (ऋषभः) ऋषभ ने (बलाय) बल के लिए (इन्द्रस्य रूपम्) इन्द्र का रूप [संपन्न किया]।

ऋषभ संगीत के सात स्वरों में द्वितीय है। मंत्रगत 'ऋषभ' शब्द सातों स्वरों का उपलक्षक है। संगीत साम है। साम ऋचाओं पर होता है। ऋक् छन्दोबद्ध वाक् है। वाक् [शब्द] तन्मात्रा है जो, अन्य चार तन्मात्राओं और पांचों भूतों से सूक्ष्म होने से, सब तन्मात्राओं और भूतों का उपलक्षक है। वाक् से इस स्थूल सृष्टि का उद्भव माना गया है। इसी का वैखरी [बिखरा हुआ] रूप श्रोत्रों से सुना जाता है और श्रोता में कर्म-प्रेरणारूप बल का आधान करता है। वाक्-ऋषभ (सांड) इन्द्र—आत्मा को बल देता है।

२) (कर्णाभ्याम् श्रोत्रम्) दो कर्णों के लिए श्रोत्र।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वाक्तत्त्व ने कर्णकुहरों के लिए श्रवणशक्ति को तैयार किया है। वाक् का ग्रहणयंत्र श्रोत्र है। ३) (ग्रहाभ्याम् अ-मृतम्) दो ग्रहों के द्वारा अ-मृत।

श्रोत्रद्वयरूप ग्रहों से इन्द्र-श्रोता **अ-मृत**=अमर शब्द को, और उसमें निहित प्रेरणाबल को ग्रहण करता है। वाक् कभी नष्ट नहीं होती, आकाश में सदा विद्यमान है। अतः वह अ-मृत है।

४) (मुखात्) [इन्द्र के] मुख से (यवाः न बर्हिः, भ्रुवि केसराणि, कर्कन्धु, सारघम् मधु) यव और बर्हि, भ्रू पर रोम, कर्कन्धु [बदर, उन्नाव], सर [नामक] मधु [,प्रत्येक] (जज्ञे) जन्मा।

यव, बर्हि ओषधिवर्ग में परिगणित हैं। वे शारीरिक रोम, केशों के प्रतीक हैं। भों के केसर प्रभावशालिता, आकर्षण और सौन्दर्य के आधायक हैं। **कर्कन्धु**, वैदिक वाङ्मय (मा-शतपथब्राह्मण १२.७.१.४) में स्नेह का प्रतीक है। सर=मधु-विशेष। सर-घा=सर[मधु]हारिका। **सारघ**=सरघा द्वारा संपन्न=सर [मधुविशेष]। सर पुष्पों का सार है। मुखमंडल पुष्पवत् प्रसन्न और मधुर रहना चाहिए।

ऐंद्र रूप से युक्त विश्वसाधक का मुख मुग्धता, प्रभावशालिता और आकर्षण-सौन्दर्य, स्नेह, प्रसन्नता और माधुर्य को जन्म देने—प्रकट करने वाला होना चाहिए।

ऋषभ है बलार्थ इन्द्ररूपकर्ता।
कर्णार्थ श्रुति; श्रोत्रों से अमृतापि।
यव और बर्हि, भ्रू केसर,
स्नेह, मधु मुख से प्रकटे।

१११८ **आत्मन्नुपस्थे न वृकस्य लोम, मुखे श्मश्रूणि न व्याघ्रलोम।**
केशा न शीर्षन् यशसे श्रियै शिखा, सिंहस्य लोम त्विषिरिन्द्रियाणि। य १९.९२

आत्मन् उप-स्थे न वृकस्य लोम मुखे श्मश्रूणि न व्याघ्र-लोम। केशाः न शीर्षन् यशसे श्रियै शिखा न सिंहस्य लोम त्विषि इन्द्रियाणि।

१) (आत्मन् न उप-स्थे) शरीर और गुह्येन्द्रिय पर (वृकस्य लोम) वृक का लोम, (न मुखे श्मश्रूणि) और मुख पर दाढ़ी-मूंछ (व्याघ्र-लोम) बाघ—चीते का लोम, (न शीर्षन्) और शिर पर (यशसे केशाः) यश के लिए केश, (श्रियै शिखा) श्री के लिए शिखा, (त्विषिः) तेज, (इन्द्रियाणि) [ज्ञान-कर्म-मन] इंद्रियां (सिंहस्य लोम) सिंह का लोम [हैं]।

वृक, व्याघ्र, सिंह, इन पशुओं में सोम और सुरा का विकृत संमिश्रण माना गया है। सोम के कारण इनमें ऐंद्र बल है, तो सुरा के कारण इनका बल आसुरी है। वृक में आरण्य पशुओं का वेग, व्याघ्र में राजत्व, तो सिंह में ईशत्व विद्यमान है। वृक क्रूर और जिद्दी होता है। उपस्थेंद्रिय का कामवेग सुदुर्दमनीय होने से वृक है। व्याघ्र और सिंह का जोड़ा है। आरण्य पशुओं में व्याघ्र पहले, सिंह पीछे परिगणित हुआ है। शरीर के पुरोभाग—मुख के रोमों से शोभा राजती है। पशु-ईश सिंह का समीकरण शरीरोर्ध्वभाग—शिर से है। इन पशुओं के रोम कठोर होते हैं। मनुष्यशरीर में भी कठोर लोम (बाल, केश) हैं। उनमें से, मंत्र में, शरीर के सामान्य और उपस्थेंद्रिय के रोम वृक के रोम से, मुखगत दाढ़ी-मूंछ व्याघ्र के रोम से, और शिरोगत केश-शिखा सिंह के रोम से समीकृत हुए हैं। **रश्मयः केशाः**; केश रश्मियों के समान हैं जिनसे **यश**—प्रभा निकलती है। **शिखा** यज्ञयूप (स्तंभ)वत् है। यह यजमान की स्वर्गोन्मुखता, आनन्दोन्मुखता की प्रतीक है। मुखभाग का तेज और इंद्रियबल भी सिंह के तेज और बल जैसा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रभावी होना चाहिए। अतः उन्हें भी सिंहलोम से समीकृत किया गया है।

शरीर, उपस्थ में वृकलोम,
मुख-श्मश्रू व्याघ्रलोम,
शिरोगत यशोर्थं केश, श्रीहेतु शिखा
और तेज, इंद्रिय सिंहलोम।

१११९ अङ्गान्यात्मन् भिषजा तदश्विना,त्मानमङ्गैः समधात् सरस्वती।
इन्द्रस्य रूपं शतमानमायुश्,चन्द्रेण ज्योतिरमृतं दधानाः। य १९.९३

अङ्गानि आत्मन् भिषजा तत् अश्विना आत्मानम् अङ्गैः सम् अधात् सरः-वती। इन्द्रस्य रूपम् शत-मानम् आयुः चन्द्रेण ज्योतिः अ-मृतम् दधानाः।

१) (भिषजा अश्विनौ) चिकित्सक अश्वियों ने (अङ्गानि) अंगों का (आत्मन्) शरीर में [सं-धान किया]।

अश्वि दो होते हैं और उनका युगल (जोड़ा) होता है। अश्वि प्रतीक है दो के युगलों का। **आत्मा**=शरीर। शरीर में अनेक अंगों और क्रियाओं के युगल हैं, यथा, दो दो चक्षु, श्रोत्र, नासा, हस्त, पाद, प्राणापान, शरीर के वाम-दक्षिण पार्श्व, प्रभृति। यह अश्वि-नियम **भिषक्**=पदार्थगत विकारों की निवारक आभ्यन्तर प्रक्रिया और पारस्परिक सहयोगपद्धति है। इसे द्वन्द्वात्मकता भी कहते हैं। ऋण-धन, श्वेत-कृष्ण, अहोरात्र, शीतोष्ण, द्यावापृथिवी, आदि पदों से इस सिद्धांत की सृष्टि के कण कण में क्रियान्विति सूचित की जाती है।

२) (सरः-वती) प्रवाह-वती ने (अङ्गैः) अंगों द्वारा (आत्मानम्) आत्मा का (सम् अधात्) सं-धान किया।

अश्वि-नियमानुसार स्थापित अंगों के द्वारा **सरस्वती**—शरीर की प्रवाहवती ऊर्जाधारा **आत्मा**—शरीरगत आत्मतत्त्व और सृष्टिगत परमात्मतत्त्व का सं-धान करती है। शरीर में अंगसंधान, और अंगों से आत्मसंधान—खोज, साक्षात्करण। यह है साधन और साधना का निर्देश। चक्षु, नासा, श्रोत्र, आदि ग्रहों से अ-मृत की साधना करनी चाहिए, यह पहले (मंत्र ८९, ९०, ९१) कहा जा चुका है। यह मंत्र पुनः बलपूर्वक कहरहा है कि जीवन का लक्ष्य आत्मसंधान है। जीवन जितना जितना आत्मोन्मुख होगा उतना ही उसका और जगती का आनन्दमयीकरण होगा।

३) [वे] (इन्द्रस्य) इन्द्र के (शत-मानम् रूपम्, आयुः, ज्योतिः, अ-मृतम्) शत-मान रूप, आयु, ज्योति, अ-मृत को (चन्द्रेण दधानाः) आनन्दपूर्वक धारण कररहे [हैं]।

शत-मान=सौ-मानवाला। **इन्द्र**—आत्मा के मानवयोनि में रूप, आयु, विवेकज्योति, अध्यात्मामृत अश्वि-नियम और ऊर्जाधारा के सहारे जीवन में धृत—स्थित हैं। यह संपच्चतुष्टय **चन्द्र**=आनन्द, प्रसन्नता, आह्लाद, सौम्यता से संपृक्त रहनी चाहिए। यह जगती के आनन्दमयीकरण का स्पष्ट उल्लेख है।

इस मंत्र में जीवन का लक्ष्य, तदर्थ साधना और तदर्थ साधन का स्पष्ट प्रतिपादन है। यह मंत्र इस पूरे १९वें अध्याय का सार है।

इन्द्र का शतमान रूप, आयु,
ज्योति, अमृत सानन्द धारक
भिषक् अश्वी सरस्वती
शरीर में अंग; अंग आत्मा में सं-हित।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

११२० **सरस्वती योन्यां गर्भमन्त,रश्विभ्यां पत्नी सुकृतं बिभर्ति ।**
अपां रसेन वरुणो न साम्ने,-न्द्रं श्रियै जनयन्नप्सु राजा । य १९.९४
सरः-वती योन्याम् गर्भम् अन्तः अश्वि-भ्याम् पत्नी सु-कृतम् बिभर्ति । अपाम् रसेन वरुणः न साम्ना इन्द्रम् श्रियै जनयन् अप्-सु राजा ।

मंत्र ८१ से ९३ तक विश्वसाधक के ऐंद्र रूप के प्रतिपादन के पश्चात्, यह मंत्र उसकी ऐंद्र साधना का प्रतिपादन करता है ।

१) (अश्वि-भ्याम्) अश्वियों के लिए (पत्नी सरः-वती) रक्षिका प्रवाह-वती (सु-कृतम् गर्भम्) कल्याण-कृत गर्भ को (योन्याम्, अन्तः) योनि में, भीतर (बिभर्ति) पालती है ।

सरस्वती पत्नी, और अश्वी पतिद्वय हैं विश्व-साधक की जीवनी के । 'पति', पत्नी शब्दों में रक्षार्थक √पा धातु है । अतः इन दोनों शब्दों का अर्थ है रक्षक/रक्षिका । वाणी और मस्तिष्क-हृदय, ये तीन जीवनसाधक और उसकी साधना के रक्षक हैं । जैसे पत्नी स्वपति के लिए तद्गृहीत गर्भ को धारण करती है, उसकी रक्षा करती और उसे पालती है वैसे प्रवाह-वती वाणी चिंतन- और संकल्प-रूप गर्भ को मुख में पालती है । विश्व-साधक अपनी मर्मस्पर्शिनी वाग्धारा से संसार को **सु-कृत**=पुण्योपदेश देते हैं ।

२) (राजा वरुणः) दीप्त वरणीय (अपाम् रसेन) आपों के रस से (न साम्ना) और साम से (इन्द्रम्) इन्द्र को (अप्-सु) आपों में (श्रियै) श्री के लिए (जनयन्) जनरहा [है] ।

सु-कृत गर्भ जब जन्मता है तो **इन्द्र** कहाता है । इन्द्र=आत्मा, आत्मवान्, आध्यात्मिक, योगी साधक । सुकृत गर्भ को इन्द्ररूप में जन्म देनेवाला है राजा वरुण । **राजा**=दीप्त, प्रशासक । **वरुण**=वरणीय, प्रजा द्वारा प्रशासनार्थ चुना हुआ । विश्वसाधक के सु-कृत=उपदेश मात्र कर्णविलास न रह जाएं वरन् समाज में तदनुरूप साधनापद्धति का प्रचलन हो, यह देखना समाज के नेतृवर्ग और प्रशासन का दायित्व है । प्रशासन के सहयोग के बिना विश्वसाधकों के साधनांकुर प्रतिकूल सामाजिक परिवेश में सूख जाएंगे । इन्द्रजनन **आपों में**, अनुकूल, सौम्य वातावरण में ही संभव है, राजस और तामस वातावरण में नहीं । व्यक्ति को सामाजिक अनुकूलता मिलनी ही चाहिए अन्यथा कोई व्यक्तिविशेष, अपने पूर्वजन्म के प्रबल संस्कारों के बल पर, अपनी व्यक्तिगत साधना, भले ही, कर ले, समाज को साधनापथ पर नहीं चला सकेगा ।

इन्द्रजनन में सहायक दो प्रमुख तत्त्व हैं ।

१) आपों का रस, अर्थात्, सोम । सोम प्रतीक है मुख, श्रोत्र, कर्णादि से गृहीत सात्त्विक आहार का । भोजन, श्रुति, दृष्टि के विषय अन्न, शब्द, दृश्य सात्त्विक होने चाहिएं, विकार बढ़ानेवाले नहीं ।

२) **साम**=स्तवन, साधकों का वाचिक प्रोत्साहन । समाज साधकों को संमान दे, उनका यश गाए ताकि उनका उत्साह बढ़े और दूसरों को प्रेरणा मिले । वाणी और व्यवहार में कृपणता से समाज के समक्ष साधना के आदर्श सही रूप में प्रस्तुत नहीं हो पाते हैं ।

विश्वसाधकों का लक्ष्य है श्री । **श्री**=आश्रय । मानव का परमाश्रय है आनन्द—आत्मानन्द और ब्रह्मानन्द । श्री के लिए पूर्व-मंत्र में **चन्द्र** शब्द आ चुका है । रूप, आयु, ज्योति, अमृत, चन्द्र—यह पंचामृत श्री है । इस प्रसाद को पाने और बांटने के लिए विश्वसाधक वैयक्तिक और सामूहिक साधना में वंशानुवंश रत रहना चाहते हैं ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अश्वियों के लिए सरस्वती
सुकृत गर्भ की धारिका पत्नी ।
वरुण राजा सोम, साम से,
श्रीहेतु, आपों में इन्द्रजनक ।

११२१ **तेजः पशूनां हविरिन्द्रियावत्, परिस्रुता पयसा सारघं मधु ।**
अश्विभ्यां दुग्धं भिषजा सरस्वत्या, सुतासुताभ्याममृतः सोम इन्दुः । य १९.९५

तेजः पशूनाम् हविः इन्द्रिय-वत् परि-स्रुता पयसा सारघम् मधु । अश्वि-भ्याम् दुग्धम् भिषजा सरः-वत्या सुत-अ-सुताभ्याम् अ-मृतः सोमः इन्दुः ।

१) (भिषजा) चिकित्सक-वर्ग द्वारा [अर्थात्] (अश्वि-भ्याम्) अश्वियों द्वारा [और] (सरः-वत्या) प्रवाह-वती द्वारा पशुओं की (इन्द्रिय-वत् हविः) इन्द्रियवान् हवि [और पशुओं का] (तेजः) तेज (दुग्धम्) दुहा गया [है] ।

मानवसमाज के चिकित्सक-वर्ग में विश्वसाधकों की **सरस्वती**—वाणी और **अश्वी**—उनके मस्तिष्क और हृदय परिगणित हैं। उन्होंने पशुओं का दोहन किया है। **पशु** से अभिप्राय भोगजीवन-पद्धति के अभ्यस्त, साधनाहीन मानवसमुदाय से है। मानव जन्म से पशु होता है। पशुवत् वह भी कामसंभव है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन, आदि मनुष्य की सब वृत्तियां पशु की भोगवृत्ति-वत् हैं। विश्वसाधक पशुपुरुषों में से उनकी पशुता का दोहन कर लेते हैं।

पशु का शरीर **इन्द्रिय-वत् हवि** है, इंद्रियों, अंगों से सजी हुई बलिमात्र है जो असुरत्व की वेदि पर समर्पित रहती है। पशु का तेज-बल भी भोग, स्वार्थ और दासता में व्यय होता रहता है।

२) (सुत-अ-सुताभ्याम्) सुत और अ-सुत द्वारा [क्रमशः] (परि-स्रुता, पयसा) परि-स्रुत् [और] पय से (सारघम् मधु) 'सर' मधु [संपन्न किया जाता है] ।

यह दोहन वे दो साधनों से करते हैं। १) **सुत** = निष्पन्न, कृत्रिम, अर्थात्, प्रशासनिक उपाय। २) **अ-सुत** = स्वाभाविक, प्राकृतिक, अर्थात्, उपदेश जिसे पूर्व-मंत्र में 'सुकृत' कहा गया था। दण्डपद्धति **परि-स्रुत्** है। दण्डविधान पशुपुरुष के **परितः, सर्वतः स्रुत्**—फैला हुआ रहता है। उससे कोई बच नहीं सकता। पर विश्वसाधक के उपदेश तो **पय** हैं, मधुर हैं। इन दो उपायों से पशु की हवि और तेज **सारघ मधु**, पुष्प-मधु बन जाते हैं। पशु पुष्पवत् सौम्य और स्पृहणीय बन जाता है और उसका तेज मधुवत् ग्राह्य हो जाता है।

३) [पशु] (अ-मृतः सोमः इन्दुः) जीवित, सोम—इन्दु [हो जाता है] ।

अ-मृतः = नहीं मरा हुआ, जीवित, सजीव, अर्थात्, जीते-जी। साधना का फल मृत्यु के पश्चात् नहीं इसी जीवन में जीवन्मुक्ति के रूप में मिल जाया करता है। **सोमः** = विशुद्ध आत्मतत्त्व; विशुद्ध आत्मतत्त्व का ज्ञाता। **इन्दुः** = सोमबिन्दुः विश्वव्याप्त विशुद्ध आत्मतत्त्व का स्फुलिङ्ग।

विश्वसाधक की साधना से पशुमानव जीवन्मुक्त विदेह, ब्रह्मतत्त्व और आत्मतत्त्व का साक्षात्कर्ता ऋषि बन जाता है। यही विश्वसाधक की साधना का माहात्म्य है। जब पशुपुरुष अमृत सोम इन्दु बन जाएगा तो जगती का आनन्दमयीकरण संपन्न हो चुकेगा।

भिषक् अश्वि-सरस्वती ने
अमृत-सोम-इन्दु, मधु बनाया
सुत परिस्रुत्, असुत पय से
पाशविक इन्द्रियवती हवि

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ओं तेज को।

भूतल के इतिहास में, स्वप्नद्रष्टा, आदर्श-परायण महापुरुषों ने एक से एक बढ़कर स्वप्न देखे हैं और मानव के संमुख भव्य आदर्श रखे हैं। जगती का आनन्दमयीकरण परम स्वप्न और पशु-मानव को अमृत सोम इन्दु बनाना परमादर्श है।

पाठक से

वेद-संस्थान इस पुस्तक की विषयवस्तु, लेखनशैली और आकार-प्रकार के बारे में आपके विचारों के लिए आभारी होगा। अन्य कोई सुझाव आप देना चाहें तो उन्हें जानकर भी हमें प्रसन्नता होगी। हमारा पता है :
बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर, भारत

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परिशिष्ट १

व्याख्या में चर्चित प्रसंग

अग्निप्रज्वलन १२२९
अन्तरिक्ष १२२५
अर्चनशीलता १२३९
अतिथ्य १२२३
आत्मा १२११, १२१५
,, -उक्ति १२१७
,, -उद् बोधन १२१५
,, -ऐश्वर्य १२४१, १२५५, १२५८
,, -चिन्तन १२२४
,, -मित्र १२१३
,, -संबल १२११, १२६८
,, -साधना १२२७
आत्मीयता (द्रष्टव्य : प्रेम)
आनन्द १२२३-१२२४, १२६८, १२८५
आयु १२४४
आशीर्वाद १२४२-१२४३
आहुति १२२८
इच्छाशक्ति १२४५
इन्द्र (-यज्ञ, -रूप) १२७४
उदरसंयम १२७८-१२७९
उद्बोधन (द्रष्टव्य : बोधन)
उषा १२६१, १२६५
ऊर्क् १२६२
ऋक् १२३३-१२३४
ऋणानुभूति १२२०
कर्म १२३३, १२३६, १२४६
कर्मठता १२३२
काम १२६७, १२७७, १२८०, १२८१
कुत्ता १२४५
केश १२८४
गुदा १२७९, १२८०-१२८१
चक्षु १२८१
चन्द्रमा १२१०
चिन्तन १२१०
जगती १२११
,, —आनन्दमयीकरण १२२६
जिह्वा १२८०
देवता १२७३
द्वन्द्वात्मकता १२८५
धन १२५४
नग्नता १२२३
नासा १२८२-१२८३
निधि १२५७
पराक्रम १२४५
पवित्रता १२१४, १२४६
पाप १२२०, १२२१
पिता १२४२, १२४३, १२६४, १२६५, १२६६
पृथिवी (द्रष्टव्य : जगती)
प्रजातन्तु १२७९
प्रशस्ति १२३३, १२३६
प्रसन्नता १२२८
प्राण १२७८
प्रियता १२२८
प्रेम १२१०, १२११-१२१२, १२१२-१२१३, १२२६, १२३५, १२३९, १२५७
प्रेरणा १२१०, १२२८
बाहुल्य १२५०
बोधन १२२३, १२२९, १२४३, १२७१
ब्रह्म १२१६, १२२४, १२४०, १२६६, १२७१, १२७३
भक्ष्य १२१५, १२३७
भावना १२४८
भेषज-यज्ञ १२२१, १२२२-१२२३
भोजन (द्रष्टव्य : भक्ष्य)
मन १२१०, १२१५, १२१६-१२१७, १२२४, १२२६, १२३५

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मस्तिष्क १२१०, १२१५, १२२४, १२२५, १२३५
महत्त्वाकांक्षा १२५१
महावीर १२२३
मानव-प्रकार १२५०
माया १२१६-१२१७
यज्ञ १२२८, १२२९, १२३०, १२३७, १२३९, १२६१
,, -हवि १२७३
रजोवीर्यसंयम १२७९
रस १२४०
रोम १२८४
लोक १२३७
वर्गसंघर्ष १२३६
वाक् १२१०-१२११, १२१५, १२३४, १२८३
वाणी (द्रष्टव्य : वाक्)
विवेक १२६२, १२६३
विश्वसाधक : १२१३, १२१७-१२१८, १२३५, १२४९
,, : आतिथ्य १२५५
,, : आसन्दी १२२५
,, : कामना १२५०
,, : गुण १२१०, १२१८, १२३३
,, : जीवनी १२१६
,, : संपदा १२४८
,, : सहायक १२४९
,, : साध १२०९
,, : साधना १२५२
वीर १२२३
वीर्य १२८०
वृक १२८४
वेदोपदेश १२३१
वेदोपदेशक १२३३
व्याघ्र १२८४
शरीर १२७८
शान्ति १२३७
शासनव्यवस्था १२६५
शील १२३२
शीलवान् १२३२
शोधन १२२३, १२२९, १२४३
श्रद्धा १२१३
श्रोत्र १२८४
संकल्प १२१०
संघर्ष १२६६-१२६७
सत्य १२३७-१२३८, १२६८, १२७७-१२७८, १२७१; १२७२
,, एवं असत्य १२७०
सरस्वती १२११
संसार (द्रष्टव्य : जगती)
साधक (द्रष्टव्य : विश्वसाधक)
साधना १२२८, १२२९, १२३१
सार-असार १२७१
सिंह १२८४
सुखयित्री १२२३
सुत्रामा १२३९
सुधारक १२३२, १२३३
सृष्टि (द्रष्टव्य : जगती)
सोम १२४२
स्तुति १२३७
स्थिरता १२२६, १२३०, १२३१, १२३२
स्नेह (द्रष्टव्य : प्रेम)
स्वधा १२५९
हवि १२३०-१२३१, १२६६
हृदय (द्रष्टव्य : मन)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परिशिष्ट २

व्याख्या में विवेचित मंत्रपद और धातुएं

अग्नि-स्वात्ताः १२५७, १२५९
अङ्ग १२१५
अद्रि १२१२
अनग्निष्वात्ताः १२५९
अनुयाज १२२८
अन्तर १२२५
अन्न १२१४
अपां फेनेन १२६६
अमति १२७६
अमृत १२६७, १२७७, १२८३, १२८४, १२८७
अवभृथ १२३६
अवि १२८२
अवृक १२५१
अंशु १२२२
अश्व १२५४
अश्वी १२१०, १२२१, १२२४, १२७४, १२८५
असित १२८२
असुत १२८७
असुनीति १२५९
अस्थि १२७५
आग्नीध्र १२२७
आत्मा १२८५
आपः १२८६
आमिक्षा १२३०
आसन्दी १२२५
आसुर १२४१
इन्दु १२४१, १२८७
इन्द्र १२२१, १२२४, १२७७, १२८५, १२८६
इन्द्रिय १२२६, १२४१, १२८७
उक्ति १२१५
उत १२८१
उत्स १२८०
उपरासः १२६५
उपवाक १२३१, १२८३
उपसदः १२२३
ऊर्णासूत्र १२७२
ऊवध्य १२७६
ऋतज्ञ १२५१
" वृध् १२६३
ऋतुमान् १२६०
ऋषभ १२८३
ऐन्द्र १२२४
करम्भ १२३०
कर्कन्धु १२३२, १२८४
कवि १२६२
कारोतर १२२५, १२७५
कुम्भ १२७९
कुम्भी १२२५, १२३५, १२७९, १२८०
कुवल १२३१
कुवित् १२१५
√कृ १२३०, १२३२
क्रतु १२४६
गर्भ १२८०
गोधूम १२३१
गौ १२७४
ग्रह १२८१
√चक्ष् १२८१
चक्षु १२८१
चन्द्र १२८५
छन्द १२२९, १२३६
छाग १२८१
जनिता १२७९
जनित्र १२७७
तोक्म १२२२

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

√दक्ष् १२३८
दक्षताति १२२५
दक्षिणा १२३८
√दध् १२३०
दधि १२३०
दिन १२३४
दीक्षा १२३८
दुर्मति १२७६
√दुह् १२१३
दुहिता १२१३
देव १२२१, १२४५
देवयान १२५७
देवी १२४८
द्रोणकलश १२३५
√धा १२३०
धीमहि १२६६
धीर १२७६
√धूम १२३१
नग्नहु १२७६
नपात् १२५६
नमः १२१५
नमुचि १२४०, १२६६
नर्यः १२१२
नस्य १२८३
पक्ष्म १२८१
पत्नी १२८६
पत्नीसंयाज १२३७
पयः १२३०, १२७६
√पयस् १२३०
परिस्तृत् १२७५, १२८७
पवित्र १२४७, १२८०
पशु १२२९
√पा १२८६
पात्र १२७९
पिता १२४२, १२४३
पितामह १२४३, १२४४
पुरोडाश १२७७
पूर्वासः १२६४
पेश १२७४, १२७५
पेशल १२७५
प्रपितामह १२४३, १२४४
प्रयाज १२२८
प्राण १२८३
प्रायणीय १२२२
प्लाशि १२८०
√बद् १२३१
बदर १२३१
बर्हि १२२६, १२८३, १२८४
बर्हिषद् १२३९
ब्राह्म हवि १२२१, १२२५
भिषक् १२७४, १२७८, १२८१, १२८५
भूत १२४५
भेषज १२२१
मघवा १२५४
मज्जा १२७५
मधु १२२२
मन्यु १२१८
मासर १२७५
√मिषु १२३०
मेष १२८२
यजु १२३६
यव १२१५,१२३२,१२८४
यश १२८४
√यु १२३२
यूप १२२६
योनि १२७९,१२८०
राजा १२८६
रात्री १२२३
रिप्र १२४२
रुद्रवर्तनी १२७४
रेतः १२७७
√वज् १२३१

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वनिष्ठु १२७९
वपु १२७५
वयति १२७४
वरुण १२७८, १२८६
वषट्कार १२२८
√वा १२१२
वाजिन १२३१
वात १२७६
वायव्य १२३५,१२७८
वायु १२१२
वाल १२८१
विक्रमण १२५६
वि-सूचिका १२१९
वीर्य १२८२
वेदि १२२६
वैश्वदेवी १२४८
व्यक्त १२८०
व्यान १२८३
व्योम (परम) १२१६-१२१७
शची १२४२,१२७३,१२७८,१२८०
शतमान १२८५
शष्प १२२२,१२७३
शिखा १२८४
शुक्र १२७६,१२८२
शुष्म १२१७
श्रद्धा १२३८
श्री १२८६
√षञ्ज १२३०
सक्तु १२३०
सत् १२८०
सत १२३५
सव्व १२७६
सरस्वती १२१०-१२११,१२२१,१२२४,१२२७,१२८५
सव १२४७
सवन १२३४
सविता १२७७
साम १२८६
सारघ १२८४,१२८७
सुकृत १२८६
सुत १२११,१२१४,१२४२,१२८७
सुत्रामा १२७७
सुरा १२२३,१२२५
" वान् १२३९
सुवीर १२३९
सूक्तवाक १२३७
√सूच् १२१९
सूर्य १२१३
सोम १२१०,१२३०,१२४१,१२८७
√स्थल् १२३५
स्नीहा १२८३
√स्पर्ध् १२६६
स्वधा १२८०
हवि १२११,१२२७,१२२९,१२८७
हृदय १२७७

परिशिष्ट ३

व्याख्यागत उद्धरण

इयं पृथिवी आसन्दी १२२५
यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् १२२६
व्रतेन दीक्षामाप्नोति १२२२
सर्वं वै पूर्णं स्वाहा १२२८
स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ १२३२
सत्यं पुनातु शिरसि १२८०

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परिशिष्ट ४

वेदव्याख्या-ग्रन्थ [१९वां पुष्प] में व्याख्यात, यजुर्वेद [१९वां अध्याय] के [९५] मन्त्रों की

वर्णानुक्रम-सूची

[जो मन्त्र अन्य वेदों में भी विद्यमान है उसके प्रतीक के बाद * चिह्न है।]

मन्त्र-प्रतीक	अध्याय में मन्त्र-संख्या	यजुर्वेद में मन्त्र-संख्या	'ग्रन्थ' में पृष्ठ-संख्या
अग्निष्वात्तानृतुमतो	६१	१०८७	१२५९
अग्निष्वात्ताः*	५९	१०८५	१२५८
अग्न आयूंषि*	३८	१०६४	१२४४
अङ्गान्यात्मन् भिषजा	९३	१११९	१२८५
अङ्गिरसो नः*	५०	१०७६	१२५१
अद्भ्यः क्षीरं	७३	१०९९	१२६७
अर्धर्चैरुक्थानां	२५	१०५१	१२३३
अधा यथा*	६९	१०९५	१२६५
अन्नात् परिस्रुतो	७५	११०१	१२६९
अपां फेनेन*	७१	१०९७	१२६६
अविर्न मेषो नसि	९०	१११६	१२८२
अश्विभ्यां प्रातःसवन-	२६	१०५२	१२३४
,, चक्षुरमृतं	८९	१११५	१२८१
आच्या जानु*	६२	१०८८	१२६०
आतिथ्यरूपं	१४	१०४०	१२२३
आत्मन्नुपस्थे	८६	१११२	१२७८
आन्त्राणि स्थालीर्मधु	९२	१११८	१२८४
आ श्रावयेति	२४	१०५०	१२३२
आसन्दी रूपं	१६	१०४२	१२२४
आसीनासो*	६३	१०८९	१२६१
आ यन्तु नः*	५८	१०८४	१२५७
आहं पितृन्त्सु-*	५६	१०८२	१२५६
इडाभिर्मक्षाजाप्नोति	२९	१०५५	१२३६
इदं पितृभ्यो*	६८	१०९४	१२६४
,, हविः	४८	१०७४	१२५०
इन्द्रः सुत्रामा	८५	१११९	१२७७
इन्द्रस्य रूपमृषभो	९१	१११७	१२८३
उदीरतामवर*	४९	१०७५	१२५१
उपहूताः*	५७	१०८३	१२५७

—ॐ—

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मन्त्र-प्रतीक	अध्याय में मन्त्र-संख्या	यजुर्वेद में मन्त्र-संख्या	'ग्रन्थ' में पृष्ठ-संख्या
उपयामगृहीतो-	८	१०३४	१२१७
उभाभ्यां देव*	४३	१०६९	१२४७
उशन्तस्त्वा*	७०	१०९६	१२९६
एतावद् रूपं	३१	१०५७	१२३८
कुम्भो वनिष्ठुर्जनिता	८७	१११३	१२७९
कुविदङ्ग*	६	१०३२	१२१४
तदश्विना भिषजा	८२	११०८	१२७३
तदस्य रूपममृतं	८१	११०७	१२७३
तेजः पशूनां हवि-	९५	११२१	१२८७
तेजोसि तेजो	९	१०३५	१२१८
त्वमग्न ईडितः*	६६	१०९२	१२६३
त्वया हि*	५३	१०७९	१२५३
त्वं सोम पितृभिः*	५४	१०८०	१२५४
,, प्र*	५२	१०७८	१२५३
दीक्षायै रूपं	१३	१०३९	१२२२
देवा यज्ञमतन्वत	१२	१०३८	१२२१
द्वे सृती*	४७	१०७३	१२४९
दृष्ट्वा परिस्रुतो	७९	११०५	१२७१
,, रूपे	७७	११०३	१२७०
धानाः करम्भः	२१	१०४७	१२३०
धानानां रूपं	२२	१०४८	१२३१
नाना हि	७	१०३३	१२१६
पयसो रूपं	२३	१०४९	१२३२
पयसा शुक्रममृतं	८४	१११०	१२७६
परीतो षिञ्चता*	२	१०२८	१२११
पवमानः सो*	४२	१०६८	१२४७
पवित्रेण पुनीहि	४०	१०६६	१२४६
पशुभिः	२०	१०४६	१२२९
पितृभ्यः	३६	१०६२	१२४२
पुनन्तु मा देव-*	३९	१०६५	१२४५
पुनन्तु मा पितरः	३७	१०६३	१२४३
पुनाति ते*	४	१०३०	१२१३
प्रैषेभिः	१९	१०४५	१२२८
बर्हिषः पितर*	५५	१०८१	१२५५

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मन्त्र प्रतीक	अध्याय में मन्त्र-संख्या	यजुर्वेद में मन्त्र-संख्या	'ग्रन्थ' में पृष्ठ-संख्या
ब्रह्म क्षत्रं	५	१०३१	१२१३
मुखं सदस्य शिर	८८	१११४	१२८०
यजुर्भिराप्यन्ते	२८	१०५४	१२३५
यत् ते पवित्र-*	४१	१०६७	१२४६
यदत्र	३५	१०६१	१२४१
यदापिपेष	११	१०३७	१२१९
यमग्ने	६४	१०९०	१२६२
यमश्विना	३४	१०६०	१२४०
यस्ते रसः	३३	१०५९	१२३९
या व्याघ्रं	१०	१०३६	१२१९
ये अग्निष्वात्ता	६०	१०८६	१२५९
ये चेह*	६७	१०९३	१२६४
ये नः पूर्वे*	५१	१०७७	१२५२
ये समानाः	४५	१०७१	१२४८
ये समानाः समनसो	४६	१०७२	१२४९
यो अग्निः*	६५	१०९१	१२६२
रेतो मूत्रं	७६	११०२	१२६९
वायव्यैर्वायव्यान-	२७	१०५३	१२३५
वायोः पूतः*	३	१०२९	१२१२
वेदेन रूपे	७८	११०४	१२७०
वेद्या वेदिः	१७	१०४३	१२२५
वैश्वदेवी पुनती	४४	१०७०	१२४७
व्रतेन दीक्षामाप्नोति	३०	१०५६	१२३७
सरस्वती मनसा	८३	११०९	१२७५
,, योन्यां	९४	११२०	१२८६
सीसेन तन्त्रं	८०	११०६	१२७२
सुरावन्तं	३२	१०५८	१२३९
सोममद्भ्यो	७४	११००	१२६८
सोमस्य रूपं	१५	१०४१	१२२४
सोमो राजामृतं	७२	१०९८	१२६७
स्वाद्वीं त्वा	१	१०२७	१२०९
हविर्धानं	१८	१०४४	१२२७

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जन्म : १५ नवम्बर, १८९९ ई.; निधन : ५ मार्च, १९७८ ई.; वेद-संस्थान (अजमेर; दिल्ली) के संस्थापकाध्यक्ष। वेदों के मर्मज्ञ व्याख्याकार, चिन्तक, कवि और संन्यासाश्रमी सन्त। वाणी में अद्भुत माधुर्य और हृदय को छू लेने की क्षमता। व्यक्तित्व जो तत्काल आकर्षित कर लेता है आत्मीयता, स्नेह, सरलता से। सतत कर्मरत, प्रतिक्षण साधनामय, भक्ति और निष्ठा से ओत-प्रोत जीवन। लेखन की शैली ललित, प्रसादगुणयुक्त, अनावश्यक विस्तार से रहित।

'विदेह' का जीवन वेद और योग को समर्पित था। उन्होंने लोहे के चने समझे जानेवाले वेद को आबाल-वृद्ध, प्रत्येक हिन्दी-भाषी के लिए अतिसरल और रोचक, दैनंदिन जीवन में उपयोगी और प्रेरक ग्रन्थ बनाने में अभूतपूर्व और आश्चर्यकारी सफलता पाई है। उनकी वेद-व्याख्या वेद को मानव और मानवता की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में प्रस्तुत करती है, वेद के वेदत्व को निखारती है और उसे जीवन-ग्रन्थ, मानवधर्म-शास्त्र के रूप में प्रस्तुत करती है।

'वेदव्याख्या-ग्रन्थ' विश्ववाङ्मय का गौरव तथा हिन्दीवाङ्मय को लेखक की अमर देन है। जिसने भी इसे पढ़ा है वही मुग्ध हो उठा है। यह वेदों के आधुनिकीकरण, सरलीकरण, स्पष्टीकरण, और साथ ही उन्हें जनसुलभ और सुबोध बनाने का एक महान् प्रयास है, जो वेदों को 'रामचरित-मानस'-जैसा सरल ग्रन्थ बना देगा।

वेदों की इस क्रमिक व्याख्यामाला में चारों वेदों का, जिस क्रम में वे हैं उसी क्रम में, मन्त्र-मन्त्र, सूक्त-सूक्त, अध्याय-अध्याय, और वेद-वेद की संगति लगाने का प्रयास किया गया है, जो वेदाध्ययन के इतिहास में पहली बार इतनी गम्भीरता से किया गया है। इसकी सफलता से वेद परस्पर असंबद्ध मन्त्रों का संकलन-मात्र नहीं रह जाएगा। लेखक प्रत्येक मन्त्र का एक सुनिश्चित अर्थ मानता था, यद्यपि गौण वृत्ति से अन्य अर्थ भी लिए जा सकते हैं। संयमपूर्वक योगाभ्यास से आत्म-अवस्थित होकर, अन्तःश्रवण और अन्तर्ज्योति के द्वारा मन्त्रार्थ को साक्षात् करना लेखक की पद्धति थी। स्वयं वेदों में पैठकर, न कि परत.प्रमाणभूत ग्रन्थों की दासता स्वीकार करके, स्वयं वेदों के ही आश्रय से वेदों के आशय को जानना, यह लेखक की विचारसरणि थी।

'वेदव्याख्या-ग्रन्थ' में प्रत्येक मन्त्र का पदच्छेद, अन्वय पद्यानुवाद, सूक्तियां, तथा विशद, प्रेरणाप्रद, जीवनोत्थानकारी व्याख्या दी गई है।

'विदेह' के निधन के पश्चात्, डॉ अभयदेव शर्मा ने 'वेदव्याख्या-ग्रन्थ' के अगले पुष्पों का लेखन अपने हाथ में लिया है। इस पुष्प में अंतिम १४ मंत्रों की व्याख्या शर्मा द्वारा लिखित है।

सात रुपए

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

डॉ अभयदेव शर्मा

वेदव्याख्या-ग्रन्थ

□

बीसवां पुष्प

(यजुर्वेद के २०वें अध्याय की व्याख्या)

विवेकमय जीवन

वे द - सं स्था न,
अजमेर
१९८०

सात रुपए

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection:

संस्थान-प्रकाशन-संख्या : ८४
Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वेद-व्याख्या-ग्रन्थ

यजुर्वेद-व्याख्या

बीसवां पुष्प

विवेकमय जीवन

अभयदेव शर्मा, एम ए, पीएच डी
अध्यक्ष, वेद-संस्थान (अजमेर, नई दिल्ली)
वरिष्ठ संस्कृत-प्रवक्ता, राजकीय विद्यालय, अजमेर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण : फाल्गुन, २०३६ वि : फ़रवरी, १९८० ई.
१,१०० प्रतियां

□

सात रुपए

□

प्रकाशक : वेद-संस्थान बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर ३०५ ००१; मुद्रक : वैदिक यन्त्रालय अजमेर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जिनकी गोद में मैंने वेदमन्त्रों का मधुर उद्गान सुना,
जिनके प्रवचनों से मैंने वेदों की उदात्तता को जाना,
जिनके लेखन में आ-चूड अवगाहन कर मैंने वेदों के आत्मा को अनुभव किया,
जिनके चरणों में बैठकर मैंने वैदिक आचार को सीखा,
जिनके व्यक्तित्व में मैंने ऋषित्व को पहिचाना,

उन पूज्य, पितृचरण, वेदमर्मज्ञ सन्त,
कवि, वाग्मी, कारुण्यनिधान उपदेष्टा,
'वेदों के परवाने', जीवन्मुक्त
श्री स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' जी महाराज
के पावन चरणों में
उनके अकिंचन, विनीत सूनु और शिष्य
की यह छोटी सी, साधारण सी
श्रद्धासुमनाञ्जलि
समर्पित है, जो, पता नहीं, उनके चरणों में
धरी जाने योग्य है भी वा नहीं, पर जिसे
वे अपने वत्स की बालक्रीडा जानकर
स-मुस्कान ग्रहण करेंगे, यह विश्वास है।

—अभय

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्राक्कथन

श्री स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' की लोकविश्रुत ग्रन्थमाला, **वेदव्याख्या-ग्रन्थ** की पूर्ति की दिशा में यह मेरा प्रथम स्वोपज्ञ क़दम है। इससे पूर्व, श्री स्वामी जी के द्वारा अधूरे लिखित १९वें पुष्प का, अंतिम, लगभग सातवां अंश ही मेरा चिन्तन था। उस पुष्प में श्री स्वामी जी ने यजुर्वेद के १९वें अध्याय की स्वोपज्ञ व्याख्या, उस अध्याय का विषय **जगती का आनन्दमयीकरण** मानते हुए, की थी। इस २०वें पुष्प में यजुर्वेद के २०वें अध्याय की स्वोपज्ञ, साथ ही प्राचीन वैदिक वाङ्मय से बहुत कुछ समर्थित, व्याख्या प्रस्तुत है जिसका पूरा, गुण-दोषमय दायित्व मेरा है।

श्री स्वामी जी ने वैदिक चिन्तन के इतिहास में पहली बार, वेदों की क्रमिक अर्थसंगति लगाने का स्वोपज्ञ सफल यत्न किया था। वेदमन्त्र मुक्तक नहीं हैं जो कहीं से कोई सा भी मन्त्र चुनकर उस पर मन-माना अभिप्राय थोप दिया जाए। इस अव्यवस्था के विरोध में श्री स्वामी जी ने सर्व-प्रथम इतना गम्भीर प्रयास किया है। कोई मन्त्र वेद के किसी सूक्त अथ वा अध्याय में जहां विद्यमान है वहां वह अपने से पूर्व और पश्चात् के मन्त्रों के साथ अर्थशृंखला में पिरोया हुआ है। बिना पूरे सूक्तरूप अथ वा अध्यायरूप इकाई को दृष्टि में रखे हुए, किसी मन्त्र का कुछ भी स्वरुचित अर्थ कर देना जहां वेदसंहिता की उपेक्षा है वहां उसके रचयिता का तिरस्कार भी है। प्रत्येक रचना की पृष्ठभूमि उसके रचयिता का चिन्तन होती है। व्याख्याकार का उद्देश्य किसी रचना में निहित जो रचयिता का चिन्तन है उसे अभिव्यक्त करना होना चाहिए, न कि अपने पूर्वनिर्धारित विचारों अथ वा पूर्वाग्रहों की पुष्टि किसी रचना में खोजना।

अतः श्री स्वामी जी की इस सुविख्यात ग्रन्थ-माला के अगले पुष्पों के प्रणयन में मुझ अकिंचन लेखक का एक विनम्र प्रयास यह भी रहेगा कि आधुनिक जीवन के परिप्रेक्ष्य में, आधुनिक दृष्टिकोण से वेदों का चिन्तन करते हुए, साथ ही पारम्परिक वैदिक चिन्तन की विरासत से उसका समन्वय करने का यत्न करके देखना। इस देश में मनीषी जन सहस्रों वर्षों से वैदिक मन्त्रों का चिन्तन करते चले आते रहे हैं। वह चिन्तन वैदिक वाङ्मय के रूप में परम्परा से प्राप्त है यद्यपि अनेकों वैदिक ग्रन्थ अब मिलते नहीं हैं। वैदिक मनीषियों का लगभग सारा मन्त्रचिन्तन यज्ञ के माध्यम से हुआ है। अतः वैदिक वाङ्मय जहां वेदमन्त्रों पर पूर्वजों के चिन्तन को समेटे हुए है वहां वह यज्ञशास्त्र से साक्षात् सम्बद्ध भी है। वस्तुतः समूचा वैदिक वाङ्मय, ब्राह्मणों से लेकर परिशिष्टों तक, यज्ञ की छाया में अंकुरित और पुष्पित-फलित हुआ है। उपनिषद् भी, जो आध्यात्मिक-चिन्तनपरक ग्रन्थ माने जाते हैं, और इसी कारण जो प्रस्थान-त्रयी में परिगणित हैं, यज्ञ को छोड़कर एक डग भी नहीं बढ़ाते हैं। यज्ञ-संस्था और यज्ञ के प्रतीकों के रहस्यों को दृष्टि में रखे बिना आरण्यक और उपनिषद् तक अपने अभि-प्राय पूरी तरह स्पष्ट नहीं करते हैं। यह आधुनिक युग का एक आक्षेपयोग्य चिन्तनपक्ष है कि आजकल विद्वान् बिना ब्राह्मणों, आरण्यकों और, उपनिषदों की आधारभूमि-रूप कल्प नामक वेदांग पर दृष्टिपात किए, सीधे उपनिषदों का विवेचन करने लगते हैं, मानो, वे वैदिक परम्परा से विच्छिन्न, आकाशकुसुम हों।

आधुनिक जीवन में ग्राह्य वेदार्थचिन्तन को पारम्परिक, यज्ञपरक वेदार्थचिन्तन से समन्वय करने का प्रयास इस प्रस्तुत पुष्प में और अगले

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पुष्पों में किया जाएगा। पाठकों को अपने समन्वय-प्रयास में भागीदार बनाने के लिए, इस पुष्प से आरम्भ करते हुए भावी पुष्पों में एक नया परिशिष्ट, जिसकी संख्या १ रहेगी, अन्त में जोड़ा जाया करेगा जो पुष्पगत मन्त्रों के यज्ञपरक विनियोग की सूचना देगा। इस और अगले पुष्पों में निहित मन्त्र-व्याख्या का विनियोग के साथ तुलनात्मक अध्ययन करनेवालों की सुविधा के लिए, प्राचीन वैदिक वाङ्मय में प्राप्त, व्याख्या-समर्थक पंक्तियां, आदि पादटिप्पणियों में यथावश्यकता दी जाएंगी। जो पाठक इन प्रमाणों में रुचि न रखते हों वे भी केवल व्याख्याभाग का आनन्द ले सकें, इस दृष्टि से व्याख्याप्रवाह को प्रमाणों से अव्यवहित रखा जाएगा। **वेदव्याख्या-ग्रन्थ** के पुष्पों में व्याख्या का जो स्वरूप बना हुआ है उसे वैसा ही रखना मेरी प्रथम सावधानी का विषय रहा है। अतः समन्वय-प्रयास को बड़े ही सूक्ष्म ढंग से व्यंजित किया गया है ताकि इन पुष्पों के पाठकों को दुरूहता अनुभव न हो और याज्ञिक विद्वान् समन्वय-सूत्र को पकड़ते चलें।

वस्तुतः इस समन्वय-प्रयास को पूर्णतया तो वे ही वेदानुशीलक देख पाएंगे जिन्होंने कात्यायन-श्रौतसूत्र और माध्यन्दिन-शतपथब्राह्मण का स्वाध्याय किया है अथ वा जो इन दोनों ग्रन्थों के प्रसंगों को पढ़-समझकर फिर इस पुष्प की व्याख्याओं को विचारेंगे। वे ही यह भी अनुभव कर पाएंगे कि प्राचीन और नवीन के समन्वय में क्या क्या सूक्ष्म, वैचारिक बाधाएं हैं अथ वा ऐसे समन्वय-प्रयास की क्या सीमाएं हैं। आज प्राचीन वैदिक श्रौत यज्ञों का प्रचलन समाप्त है। वैदिक यज्ञों और वेद की याज्ञिक व्याख्याओं की आज की परिस्थितियों में, आधुनिक मानव के लिए यदि कोई उपयोगिता हो सकती है तो वह ऐसे ही किसी रूप में हो सकती है जो प्रस्तुत पुष्प में मन्त्र-व्याख्या के रूप में प्रस्तुत है। प्राचीन और आधुनिक, दोनों वैदिक अनुशीलनों का समन्वय करने का यह प्रथम प्रयास है; इसमें गच्छतः स्खलनं न होना ही आश्चर्य की बात होगी तथा जहां समन्वय सम्भव नहीं दीखेगा वहां अभिनव चिन्तनसरणि को प्रस्तुत करने में संकोच भी नहीं किया जाएगा। वेद के स्वाध्यायी पाठकों की बेलाग समीक्षाओं की मुझे अपेक्षा रहेगी ताकि इस समन्वय-प्रयास की त्रुटियों का और उनके परिष्कार की सम्भावनाओं का भान मुझे अगले पुष्पों के लेखन में मार्गप्रदर्शन कर सके।

इस पुष्प में मन्त्र और पदच्छेद के पश्चात्, सर्वप्रथम, मन्त्र का पूरा अर्थ दिया गया है। अर्थ देने में प्रत्येक वाक्य पर क्रम-संख्याएं डाली गई हैं। फिर व्याख्या है जिसमें अर्थ के वाक्यों की क्रम-संख्या डालकर फिर उन वाक्यों की व्याख्या तत्तत् क्रम-संख्या के अधीन की गई है। किसी क्रम-संख्या पर विद्यमान व्याख्या को पढ़ते समय अर्थ में उस क्रम-संख्या पर दिए गए वाक्य को ध्यान में रखना चाहिए।

श्री स्वामी जी की कृपा ही इस लेखन की कुंजी है। जब भी मैं इस लेखन के लिए बैठता था और चिन्तन करता अथ वा लेखनी उठाता था तो मैं श्री स्वामी जी से निवेदन करता रहा हूं कि स्वामी जी! आप ही बताइए क्या लिखना है। मैं तो यही समझरहा हूं कि चिन्तन मैं नहीं स्वामी जी कररहे हैं और उसे अभिव्यक्त करने का माध्यममात्र उन्होंने मुझ अकिंचन को बना लिया है।

—अभय

प्रकाश सदन, आर्यनगर,
अजमेर
७ दिसम्बर, १९७९

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विषयक्रम

विषय	मन्त्र-सं.	पृष्ठ-सं.
राष्ट्र, यज्ञ और याजक	१	१२८९
आत्मा का वरुणत्व	२	१२९१
,, ,, अभिषेक	३	१२९२
साधक से प्रश्न	४	१२९३
देहसाधना	५-९	१२९४
साधक की प्रतिष्ठा	१०	१२९७
,, ,, कामना, भावना और उपलब्धि	११-१३	१२९८
साधना का अनुस्मरण	१४-१८	१३०२
साधक की प्रकृति से मैत्री	१९	१३०६
,, को ,, की सहायता	२०	१३०७
सिद्धि	२१-२२	१३०८
साधन और साध्य	२३	१३१०
प्रतिज्ञा का अनुस्मरण	२४-२६	१३११
सुरा को सोम बनाना	२७-२८	१३१२
मस्तिष्क-साधना	२९	१३१४
बुद्धि की महिमा	३०	१३१४
सोमशोधन	३१	१३१५
साधक का भौतिक जीवन	३२	१३१६
सोमसाधना	३३-३५	१३१६
ऐंद्र अग्नि का बहुमुखी व्यक्तित्व	३६-४६	१३१८
स्थूल-सूक्ष्म पशुता का त्याग	४७-४८	१३२८
सूक्ष्म-कारण ,, ,, ,,	४९-५०	१३३०
बौद्धिक ,, ,, ,,	५१-५२	१३३२
बुद्धि	५३	१३३४
आत्मस्थ	५४	१३३५
बुद्धि की चिकित्सा	५५-६६	१३३६
वपायाग	६७-६९	१३४४
पुरोडाशयाग	७०-७२	१३४६
हविर्याग	७३-७५	१३४७
ग्रहयाग	७६-७७	१३५०
स्विष्टकृद्याग	७८-७९	१३५२
देवमहिमा	८०	१३५४
अश्विमहिमा	८१-८३	१२५४
सरस्वतीमहिमा	८४-८६	१३५६
इन्द्रमहिमा	८७-८९	१३५८
देवमहिमा	९०	१३५९

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यजुर्वेद-व्याख्या

बीसवां अध्याय

विवेकमय जीवन

उन्नीसवें अध्याय में जगती के आनन्दमयीकरण का विधान करके, इस बीसवें अध्याय में वेदमाता विवेकमय जीवन का प्रतिपादन करती है। आत्मिक आनन्द की धारा विवेकज्योति बनकर सात्त्विक, एक, स्थिर बुद्धि में प्रकट होती है। यह ज्योति मन, चित्त, प्राण, शरीर के, सूक्ष्म से स्थूल तक, विभिन्न, स्तरों पर अवतरित होती है और पूरे जीवन को दिव्य, ज्योतिर्मय, विवेकमय बना देती है।

विवेक जीवन को सर्वविध क्षतों से बचाता है। विवेकवती बुद्धि को, वैदिक प्रतीकशैली में, इन्द्र कहा जाता है। इन्द्र का इन्द्रिय (बल—विवेक) जीवन का सुत्राता है। अतः इन्द्र को सुत्रामा कहा जाता है। सुत्रामा इन्द्र जीवन में से सोम और सुरा, दोनों का सेवन करता है। पर वह सुरा को भी सोम बनाकर ग्रहण करता है; यह उसके विवेकवैभव का चमत्कार है। विवेकी साधक भी जीवन के सुरामय, भौतिक, आसुर पक्ष का सामना उसमें से सोमरूप सार का ग्रहण और असार का त्याग करके करे। इन्द्र के सुत्रामत्व का संपादन अश्वी (मस्तिष्क और हृदय) और सरस्वती (अन्तर्वाक्, अनाहत नाद, आत्मा की आवाज़) की सहायता से होता है। ये इन्द्र की दुर्बलताओं का भैषज्य—इलाज करते हैं। जीवन की पाशविक वृत्तियों का दिव्यीकरण भी इन्हीं की सहायता से होता है।

प्रस्तुत २०वें अध्याय में विवेकज्योति से युक्त जीवन की साधना करने की युक्ति विभिन्न दृष्टि-कोणों से समझाई गई है। इन्द्र और उसके इन्द्रिय का विवेचन इस अध्याय का प्रमुख विषय है।

११२२ **क्षत्रस्य योनिरसि, क्षत्रस्य नाभिरसि। मा त्वा हिंसीन्, मा मा हिंसीः।** य १०.१

क्षत्रस्य योनिः असि क्षत्रस्य नाभिः असि। मा त्वा हिंसीत् मा मा हिंसीः।

१) [राष्ट्र !] तू (क्षत्रस्य योनिः) क्षत्र का कारण (असि) है, (क्षत्रस्य नाभिः) क्षत्र का केन्द्र (असि) है।
२) [यज्ञ !] (त्वा) तुझे [राष्ट्र] (मा हिंसीत्) न मारे [और] तू (मा) मुझे (मा हिंसीः) मत मार।

१) क्षत्रं(=क्षत+त्र)=चोट से बचाना, रक्षण, त्राणशीलता। बाहरी शत्रुओं और आंतरिक विरोधों से होनेवाली क्षतियों और हानियों से रक्षा की सामर्थ्य को क्षत्र कहते हैं। क्षत्रकर्म करने वाला क्षत्रिय कहाता है।

इस क्षात्र कर्म के लिए बुद्धि और शक्ति आवश्यक हैं। कुसंस्कारों और दुराचरणों रूप आंतरिक क्षतों से रक्षा के लिए बुद्धि की विवेकप्रज्ञा-रूप ब्राह्म ज्योति चाहिए, तो बाह्य आक्रमणों से बचाव के लिए, बुद्धि के साथ, शारीरिक बल- और प्राणशक्ति-रूप क्षात्र ज्योतियां भी आवश्यक हैं। आत्माग्नि का चैतन्यतेज ही प्रज्ञा और प्राण के रूपों में क्रमशः आध्यात्मिक और भौतिक स्तरों पर प्रकट होता है (मैत्रायण्युपनिषद् ७.११)। प्रज्ञा और प्राण ज्योतियों से व्यक्ति क्रमशः अंदर और बाहर ज्योतिर्मय होरहा है।

प्राणी का ज्योतिर्मंडल ही उसका राष्ट्र है। 'राष्ट्र' का शाब्दिक अर्थ है दीप्तिमंडल। जिस भूभाग पर जिस राजा का शासन होता है वह भूभाग उस राजा का राष्ट्र कहाता है। अपने राष्ट्र में

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

राजा का प्रभाव होता है। राजा के तेज का विस्तार राष्ट्र की सीमा निर्धारित करता है। इसी प्रकार, प्रत्येक वस्तु अथ वा प्राणी का जो निजी प्रज्ञा-प्राणमय प्रभामंडल है वह उसका राष्ट्र है। जिसमें जितना विवेक और प्राणबल है उतना ही विस्तृत उसका राष्ट्रमंडल होगा।

इस ज्योतिर्मंडल, तेजोवलय, प्रभावृत्त, यशः-परिधि अथ वा राष्ट्र के आधार पर प्राणी का लौकिक और अ-लौकिक जीवन स्थित है। अतः वैदिक वाङ्मय में इसे **आसन्दी** (कुर्सी) कहा गया है।[1] राजा अपने सिंहासन अथ वा आसन्दी पर विराजता है। वस्तुतः राष्ट्र ही राजा की आसन्दी है। इसी प्रकार, प्रत्येक व्यक्ति का प्रज्ञा-मय राष्ट्र उसकी आसन्दी है। इस आसन्दी के शरीर-प्राणमय दो पाए इस लोक पर, तो मनो-बुद्धिमय दो पाए पर लोक पर टिके हुए हैं। राष्ट्रासंदी पर बैठकर प्राणी अपने ऐहलौकिक कर्तव्यों को निर्वाहता है और पूर्वजों के ऋण से मुक्त हो पाता है। यह प्राणराष्ट्र ऊर्जा से पूर्ण होता है। यह प्राणासंदी इसलिए है कि मनुष्य दीन बनकर घुटनों के बल रेंगकर अपने जीवन को घसीटे नहीं वरन् घुटनों के बल खड़ा होकर, भौतिक आकर्षणों से ऊपर उठकर, महान् आदर्शों की ओर उन्मुख हो और महान् बने। प्राणासंदी पर आसन्न पुरुष **सम्राट्** बन जाता है; अन्यों से बहुत प्रखर उसकी ज्योति, उसका दीप्तिसाम्राज्य होता है। इस राष्ट्रासंदी का विस्तार अपरिमित समृद्धिवाला होता है; इस तेजोमंडल को यथेच्छ बढ़ाया जा सकता है। इस आसंदी का आसन यज्ञिय ताने-बाने से बुना हुआ है।

ऐसा यह राष्ट्र क्षत्र की योनि और नाभि है। **योनि**=उत्पत्तिस्थान, **नाभि**=केन्द्र। तेज क्षत्र का उद्भव है और जैसे रथनाभि में अरे वा तानियां जुड़ी होती हैं वैसे तेज में क्षत्ररूप अरा जुड़ा हुआ है। तेजोत्पन्न क्षत्र तेजोनाभि पर प्रतिष्ठित है। प्राण वह नाभि है जिसमें क्षत्र, आदि सब कुछ प्रतिष्ठित है (प्रश्नोपनिषद् २.६)। यह प्राणराष्ट्र अथ वा प्राणमय कोश वस्तु अथ वा देह की क्षत से रक्षक (माश १४.८.१४.४) है। मानव के शरीर अथ वा मन की हानि पीछे होती है, पहले उसके प्राणमय राष्ट्र पर चोट पड़ती है। प्राण परम रक्षक है, सब बलों का मूल है।

२) प्राणराष्ट्र-रूप आसंदी पर यज्ञरूप ग़लीचा अथ वा गद्दी बिछी हुई है। यज्ञ उन कर्मों को कहते हैं जिनसे देवों का पूजन, देवों का संग अथ वा देवों के लिए त्याग किया जाता है। यज्ञ का उद्देश्य है यजमान का स्वयं देव बन जाना। अपने भौतिक और आध्यात्मिक उत्थान के साधनरूप कर्म को यज्ञ कहते हैं। इस यज्ञ-ग़लीचे के रोंए वे छन्द हैं जिनसे यज्ञ संपन्न किया जाता है। छन्द वाणी में निबद्ध ज्ञान हैं जिनकी सार्थकता यज्ञ करने में है।

यज्ञ और प्राणराष्ट्र में ऐसा समन्वय होना चाहिए कि प्राण की सहायता से यज्ञकर्म संपन्न होतारहे। प्राण यज्ञ की हिंसा न करे। यज्ञार्थ कर्म से भिन्न, अन्य, बंधनात्मक, पतनकारक कुकर्मों में प्राणोर्जा का उपयोग करना अथ वा निष्क्रिय रहना प्राणराष्ट्र द्वारा यज्ञ की हिंसा होना है।

यदि प्राणमय राष्ट्र यज्ञ की हिंसा न करे तो यज्ञ भी याजक साधक की हिंसा नहीं करेगा, अन्यथा हिंसित यज्ञ याजक की हानि करेगा। प्राणशक्ति के दुरुपयोग अथ वा अनुपयोग से जब यज्ञविघात होता है तो मनुष्य दुरितमय अथ वा निकंमा हो जाता है जो मनुष्य का हनन है। प्राणराष्ट्र तो है ही क्षत्र—रक्षक; वह यज्ञ की रक्षा करे और यज्ञ याजक की रक्षा करे, यही इष्ट है।

1 राष्ट्रं वा आसन्दी। माश १२.८.३.६

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

११२३ नि षसाद धृतव्रतो, वरुणः पस्त्यास्वा। साम्राज्याय सुक्रतुः। मृत्योः पाहि विद्योत् पाहि।

ऋ १.२५.१०; य १०.२७; तै १.८.१६.१

य २०.२

नि ससाद धृत-व्रतः वरुणः पस्त्यासु आ। साम्-राज्याय सु-क्रतुः। मृत्योः पाहि वि-द्योत् पाहि।

१) (साम्-राज्याय सु-क्रतुः) सम्राट्-त्व की खातिर सु-याजी (वरुणः) [अनिष्ट-]निवारक (पस्त्यासु) प्रजाओं में (आ) आकर, भली भांति, (धृत-व्रतः) व्रत-धारी [होकर] (नि ससाद) बैठ गया था।

२) [रुक्म !] (मृत्योः पाहि) तू मृत्यु से बचा, (वि-द्योत् पाहि) विविध-द्युति-मय तू [अवश्य] बचा।

१) देववर्ग में वरुण राजा है। जैसे सृष्टि में राजा वरुण चराचर प्रजाओं में विराजमान है वैसे अपने प्राणमय राष्ट्र पर स्थापित यज्ञ को आधार बनाकर यजमान साधक वरुणरूप में विराजा हुआ है। **वरुण**=[नि-]वारक, क्षतों का दूर ही निराकरण कर देनेवाला।

अपनी शक्ति का सुकर्मों में सदुपयोग करनेवाला साधक अपने जीवनसाम्राज्य का **सु-क्रतु**=सु-संपादक होता है। **क्रतु** के तीन प्रसिद्ध अर्थ हैं, प्रज्ञा, कर्म, यज्ञ। यज्ञमय जीवनपद्धति के साधक का चिंतन और उसके सब कर्म यज्ञरूप होते हैं।

सु-क्रतु बनकर साधक अपने यश का साम्राज्य स्थापित करके राजा से सम्राट् बन जाता है। प्राणमय राष्ट्रासंदी पर विराजने का उद्देश्य यशः-साम्राज्य की स्थापना है।[२]

ऐसा वरुण **धृत-व्रत**=व्रत धारण किया हुआ होता है। यज्ञ व्रत है, सुक्रतु व्रत है, साम्राज्य व्रत है, दुरित—अनिष्ट—अमंगलरूप क्षतों से त्राण व्रत है।

साधक वरुण-रूप में अपनी प्रजाओं में विराजता है। बुद्धि, मन, ज्ञान-कर्मेन्द्रियां, शरीर और उसके अंग, सन्तति, पशु, परिवार, ये सब आत्मवरुण की प्रजाएं हैं। वरुण इनमें **नि-षादराज** है।

२) वरुणकोटि के साधक को भौतिक और आध्यात्मिक, दो प्रकार के अनिष्टों से बचना है। **मृत्यु** भौतिक क्षत है, तो **वि-द्योत्** आध्यात्मिक दुःख है। मृत्यु है प्राणकोश का नाश, तो वि-द्योत् है अनात्म के प्रति आकर्षण और परिणामतः आत्मविस्मृति। प्राण की क्षीणता ही धीरे धीरे मृत्यु हो जाती है। प्राण का शरीर से निकल जाना मृत्यु है। प्राणप्रभा से आत्मसम्राट् अपने जीवन-साम्राज्य में जगमगारहा है। अतः प्राण-प्रज्ञामय राष्ट्र को क्षीण करनेवाली सब कुचेष्टाओं से, यथा अभक्ष्य, अपेय, कुसंगति, कुचिंतन, आदि से बचना चाहिए।

मृत्यु के चंगुल में मनुष्य फंसता क्यों है? कारण है वि-द्योत्। **द्योत्**=द्युति, दीप्ति, चमक, चकाचौंध, आकर्षण, लोभवृत्ति। यह लोभवृत्ति **वि**=नाना प्रकारों, रूपों वाली है। भौतिक पदार्थों का आकर्षण ऊपर से जितना ललचानेवाला है परिणाम में उससे अधिक मारक है क्यों कि जैसे जैसे प्रलोभन बढ़ता जाता है वैसे वैसे भोगलिप्सा बढ़ती जाती है और परिणामतः आत्मा कुसंस्कारों के कुचक्र में फंसकर अपना सारा प्राणराष्ट्र और प्रज्ञालोक खो बैठता है। राजा सम्राट् बनने के बजाय भोगों का दास बन जाता है।

मृत्यु चांदी है, तो वि-द्योत् सोना है (माश १२.८.३.११)। एक यदि मनुष्य को भोगों के पैरों

२ आसन्दीसद् वै साम्राज्यम्। माश १२.८.३.४

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तले रोंदवाता है, तो दूसरा मनुष्य के मस्तिष्क को विकृत कर देता है। विधाता ने साधक को जो दो पैर दिए हैं उनसे मृत्यु और वि-द्योत् को दबोचे रखना चाहिए। मृत्यु को बाएं पैर के, तो वि-द्योत् को दाएं पैर के नीचे दबोच देना चाहिए। ये दोनों साधक के नियंत्रण में दबे रहेंगे तो ये, मात्रापूर्वक सेवन के द्वारा, विष होने पर भी, अमृत बन जाएंगे। भौतिक जीवन में कुछ न कुछ अंश मृत्यु और वि-द्योत् का रहता ही है। चांदी-सोने का, रूप-संपत्ति का आकर्षण, जब तक शरीर है, लगा रहेगा। पर इसे अनियंत्रित न होने देना ही वह वरुणत्व है जिससे आत्मा सु-क्रतु, धृत-व्रत और नि-षादराज बनता है। वरुण अपनी प्रजाओं में इसी लिए आकर बैठा हुआ है (आ नि षसाद) कि वह अपनी मन-इन्द्रियादि प्रजाओं को मृत्यु और अनात्माकर्षण से बचा सके।

११२४ **देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। अश्विनोर्भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभि षिञ्चामि, सरस्वत्यै भैषज्येन वीर्यायान्नाद्यायाभि षिञ्चामी,-न्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसेभि षिञ्चामि।** य २०.३

देवस्य त्वा सवितुः प्र-सवे अश्विनोः बाहु-भ्याम् पूष्णः हस्ताभ्याम्। अश्विनोः भैषज्येन तेजसे ब्रह्म-वर्चसाय अभि सिञ्चामि सरः+वत्यै भैषज्येन वीर्याय अन्न-अद्याय अभि सिञ्चामि इन्द्रस्य इन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसे अभि सिञ्चामि।

१) (देवस्य सवितुः प्र-सवे) देव सविता की अनु-ज्ञा/सृष्टि में, (अश्विनोः बाहु-भ्याम्) दोनों अश्वियों की बाहुओं से [और] (पूष्णः हस्ताभ्याम्) पूषा के हाथों से (त्वा) तुझे

२) (अश्विनोः भैषज्येन) अश्वि-द्वय की चिकित्सा द्वारा, (तेजसे, ब्रह्म-वर्चसाय) तेज [और] ब्रह्म-वर्चस के लिए (अभि सिञ्चामि) मैं अभिषिक्त करता हूं,

२) सरः-वत्यै भैषज्येन) प्रवाह-वती के लिए—[शोभन] की चिकित्सा द्वारा (वीर्याय, अन्न-अद्याय) वीर्य [और] अन्न-भोग के लिए (अभि सिञ्चामि) अभि-षिक्त करता हूं,

४) (इन्द्रस्य इन्द्रियेण) इन्द्र की निजी सामर्थ्य द्वारा, (बलाय, श्रियै, यशसे) बल, शोभा [और] यश के लिए (अभि सिञ्चामि) अभि-षिक्त करता हूं।

१) **देवस्य····हस्ताभ्यां** अंश पूर्व-अध्याओं में १३ बार आ चुका है।[1] अतः इसकी व्याख्या संकेतमात्र यहां की जारही है। यह संसार देव सविता की उत्कृष्ट रचना **(प्र-सव)** है। अतः उसी की अनु-ज्ञा, अनु-मति वा सह-मति **(प्र-सव)** से साधक को कर्म करने चाहिएं। अंतरात्मा की आवाज सविता की अनु-ज्ञा होती है। दो अश्वी हैं प्राण और अपान। प्राणराष्ट्र की श्वास-प्रश्वास, अर्थात्, देहगत ग्रहण-विसर्ग प्रक्रिया इनकी दो बाहुएं (प्रयत्नसाधन) हैं। इन दोनों से मिलकर एक लयात्मक, गतागतिक, चक्रात्मक गति उत्पन्न होती है जो शरीर और उसकी क्रियाओं का बाह्य आधार है। पूषा है जीवनसंस्थान का पोषक आत्मा, बुद्धि और मन जिसके दो हस्त (चेतना-संचरणसाधन, आत्म-विस्मृति माध्यम) हैं। ये दोनों प्रत्येक सत्ता के आंतरिक आधार हैं।

२) उपर्युक्त साधनों से आत्मयजमान (साधक) का अभिषेक होता है। यह जड़-चेतन संसार आत्मा के लिए है। जगत् आत्मा द्वारा चतुर्विध पुरुषार्थों

[1] यह अंश सर्वप्रथम य १.१० में आया है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

की सिद्धि में साधनमात्र है। सारी प्रकृति पुरुष की मोक्षसाधना में सहायकमात्र है। यह अभिषेक चक्षुरूप अध्वर्यु (कौ १७.७; गो २.५.४; ष २.६; तैआ १०.६४) करता है। सर्वप्रथम, चक्षु से ही इस रूपात्मक सृष्टि का ग्रहण प्राणी करता है। इस ग्रहण को **अभि-षेक (अभि षिञ्चामि)** कहा गया है। अभिषेक से साधक श्री अथ वा रस और अन्नाद्य (भोग) से युक्त हो जाता है (माश १२.८.३.१२)। चक्षु की डोर से खिचकर सारा दृश्य (जगत्) द्रक् (आत्मा) का परिवार बन जाता है। श्री (रस) और अन्नाद्य से अंततः सोम बनता है। श्री और अन्नाद्य से अभिषिक्त साधक का प्राण-प्रज्ञामय राष्ट्र अंदर-बाहर से अनेक देवों की देनों से सुभूषित हो जाता है। उसके सारे क्षतों का **भैषज्य**=उपचार, इलाज हो जाता है और इन्द्र अपना निजी, मौलिक, सात्त्विक, तैजस बल (**इन्द्रिय**) प्रदान करता है। दोनों अश्वी उसे तेज (कान्ति) और ब्रह्मवर्चस (विवेकौज, ज्ञानप्रसूत अभय) देते हैं। प्रवाह-वती उसे वीर्य और अन्नभोग देती है। इन्द्र के इन्द्रिय से उसे बल, श्री और यश मिलते हैं। ये सात देनें प्राप्त करके, अभि-षिक्त साधक स्वयं इन्द्र हो जाता है, श्रेष्ठ हो जाता है (माश १२.८.३.१-२)।

अश्वि-द्वय हैं मस्तिष्क और मन जिनके क्रमशः चिंतन और संकल्प से जीवन में कांति और वह वर्च आता है जो ज्ञान से उत्पन्न होता है। सरस्वती है प्रवाह-वती ऊर्जाधारा और वाणी जो जीवन को वीर्य (ऊर्जा) और भोगसामर्थ्य देती है। इन्द्र है बुद्धि जिसका इन्द्रिय—विवेक जीवन को बल, श्री और यश देता है। इन उपलब्धियों से युक्त साधक सम्राट् (संतुलित जीवन का धनी, भौतिक और आत्मिक द्युतियों से जाज्वल्यमान) हो जाता है।

११२५ कोसि ? कतमोसि ?, कस्मै त्वा ? काय त्वा । सुलोक ! सुमङ्गल ! सत्यराजन् ! य २०.४

कः असि कतमः असि कस्मै त्वा काय त्वा। सु-श्लोक सु-मङ्गल सत्य-राजन्।

१) (कः असि) तू कौन है ? (कतमः असि) कौन सा है ? [मैंने] (त्वा कस्मै) तुझे किसलिए [अभिषिक्त किया है] ? [मैंने] (त्वा काय) तुझे क के लिए [अभिषिक्त किया है]।

२) (सु-श्लोक !) सु-कीर्तिमन् ! (सु-मङ्गल) सु-शिववान् ! (सत्य-राजन्) सत्य-दीप्तिमन् !

१) याजक गुरु शिष्य साधक से तीन प्रश्न पूछता है। 'तू कौन है ?' तू अपने को चेतन आत्मा समझता है अथ वा जड़ शरीरमात्र ? 'तू कौन सा है ?' तेरी कोटि कौन सी है ? तेरी गिनती किनमें है, पापियों में वा पुण्यकर्माओं में, भोगियों में वा योगियों में, याजियों में वा कुकर्मियों में ? 'तू किसलिए है, किसके लिए है ?' तेरा उद्देश्य और लक्ष्य क्या है ? कहां से आकर, आखिर, तू जा किधर रहा है ? उत्कृष्टतर देवादि योनियों में आरोहण करना चाहता है वा वापिस भोगयोनियों में लौटेगा ?

ये प्रश्न साधक को उद्बोधन देने, उसे इन गहन विषयों पर सोचने के लिए प्रेरणा करने के लिए हैं। जिज्ञासु साधक का अब समाधान भी प्रश्नकर्ता प्रस्तुत करता है। समाधान एक है पर उससे तीनों प्रश्न शांत हो जाते हैं। उत्तर है, 'तुझे आज मैंने कं के लिए अभिषिक्त किया है।' कं का अर्थ है सुख, आनन्द। आनन्द ब्रह्म का लक्षण है। अतः कं=ब्रह्म। वैदिक वाङ्मय में कं को प्रजापति कहा जाता है। ऊपर मंत्र २ के अनुसार,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वरुणरूप साधक अपनी प्रजाओं का निषाद-राज है। ब्रह्म जड़, चेतन, सब प्रजाओं का शाश्वत राजा वा पति है। वही साधक की साधना का लक्ष्य है।

इस समाधान में तीनों प्रश्नों के उत्तर हैं। साधक वह है जिसका लक्ष्य कं है। साधक उस कोटि का जो कं की साधना में लीन रहनेवालों की है। साधक कं के लिए है, स्वयं भी आनन्दमय हो जाने के लिए है।

२) साधक अपने उद्बोधक प्रश्नोत्थापक को सु-श्लोक, सु-मंगल, सत्य-राजा पदों से संबोधन करता है। यह उसका आभारप्रदर्शन है। इन तीन विशेषणों में साधक ने अपने गुरु को क्रमशः सुन्दर, शिव, सत्य का निधान बताया है। जो स्वयं इन गुणों से युक्त होगा वही दूसरे को भी ऐसा बना सकेगा। गुरु का यश—ज्योति—तेज कल्याण करता है। उसका मंगलभाव सबको कल्याण बांटता है। उसका राजा, प्राणराष्ट्र, उसकी भौतिक और आत्मिक दीप्ति **सत्य,** सच्ची, वास्तविक, शाश्वत, अविनश्वर होती है। सत्य ही उसकी ज्योति होती है। दुनियादार क्या जाने, सुकीर्ति, सुमंगल, सत्य राजा की पहचानें क्या हैं!

११२६ **शिरो मे श्रीर्यशो मुखं, त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि।**
राजा मे प्राणो अमृतं, सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्। य २०.५

शिरः मे श्रीः यशः मुखम् त्विषिः केशाः च श्मश्रूणि। राजा मे प्र+अनः अ+मृतम् सम्-राट् चक्षुः वि-राट् श्रोत्रम्।

१) (मे) मेरा (शिरः श्रीः) सिर शोभा, (मुखम् यशः) मुख यश, (केशाः च श्मश्रूणि) केश और दाढ़ी-मूछ (त्विषिः) दीप्ति [हैं]।

२) (मे) मेरा (प्र-अनः राजा, अ-मृतम्) प्राण दीप्त [और] अ-मृत, (चक्षुः सम्-राट्) चक्षु सम्-राट्, (श्रोत्रम् वि-राट्) श्रोत्र वि-राट् [है]।

उद्बोधक गुरु द्वारा अपने विवेक का उन्मेष हो जाने से, जगत् और जीवन के प्रति साधक का दृष्टिकोण बदल जाता है। वह अपने को नश्वर देह नहीं, सनातन आत्मा रूप में पहचानने लगता है। शरीर रूपाभिमान और भोग का साधन न रहकर आत्मदर्शन और योग का साधन बन जाता है। शरीर धर्म का आद्य साधन है (कुमारसंभव ५.३३)। परधर्म-रूप (श्रीमद्भगवद्गीता ३.३५) क्षुद्र, अनात्म धर्माभासों में जीवन को बरबाद करने से विरत होकर, साधक आत्मदेव की उपासना का उपक्रम शरीर के पुनर्मूल्यांकन से करता है।

इस और अगले चार मंत्रों में शरीर को आध्यात्मिक दृष्टि से देखने का अभ्यास है। अध्यात्म मार्ग के अभ्यासी को अर्थचिंतनपूर्वक इनसे नित्य अंगस्पर्श करना चाहिए।

१) शिर श्री—शोभा है। इसी भाव से भारत में पत्रादि में सर्वोपरि **श्रीः** लिखने की परिपाटी है। शिर की श्री है चिंतन। चिंतन सात्त्विक, उदार और सत्य होना चाहिए। मुख है यश। भाषण और भक्षण से व्यक्ति का प्राथमिक परिचय मिलता है। वाणी हो सत्य, हितकर, मधुर, और भक्षण हो खरी कमाई का, त्यागपूर्वक, न्याय से प्राप्त, स्वास्थ्यकर। केश और श्मश्रू कांतिमान् हों। ये पौरुष के चिह्न हैं।

२) प्राण हो **राजा**—प्रकाशमय, और **अ-मृतं**—साक्षात् सुधा। प्राण श्वास-प्रश्वासमात्र नहीं है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वह एक सूक्ष्म राष्ट्र वा कोश है जिसमें स्थूल शरीर निहित है। शरीर की ऊर्जा को प्राण कहा गया है। यह अ-मृत है। प्राण और जीवन, मानो, एक ही वस्तु हैं। साधक की भेदभावमय दृष्टि अब उस **राट्**—ज्योति से युक्त हो गई है जो **सम्** को, जगत् की विविधता में अंतर्निहित एक आत्मसूत्र को प्रकट करती है। उसके श्रोत्र उस **वि-राट्**=विशेष दीप्ति, प्राणशक्ति से युक्त हो गए हैं जो उसे अंतरात्मा की आवाज़ सुनाने लगी है।

११२७ **जिह्वा मे भद्रं वाङ् महो, मनो मन्युः स्वराड् भामः। मोदाः प्रमोदा अङ्गुली-रङ्गानि मित्रं मे सहः।** य २०.६

जिह्वा मे भद्रम् वाक् महः मनः मन्युः स्व-राट् भामः। मोदाः प्र-मोदाः अङ्गुलीः अङ्गानि मित्रम् मे सहः।

१) (मे) मेरी (जिह्वा भद्रम्) जिह्वा भद्र, (वाक् महः) वाणी पूज्य, (मनः मन्युः) मन मन्यु, (भामः स्व-राट्) रूप आत्म-ज्योति [है]।

२) (मे) मेरी (अङ्गुलीः, अङ्गानि मोदाः, प्र-मोदाः) अंगुलियां [और] अंग [क्रमशः] मोद [और] प्र-मोद, (मित्रम् सहः) मित्र सहनशक्ति [है]।

१) साधक का आत्मनिरीक्षण इस मंत्र में जारी है। साधक की जिह्वा भद्रता की साक्षात् अवतार है। वह अब कुभाषण और कुभक्षण से विरत हो गई है। उसकी वाणी को श्रोता का संमान प्राप्त होने लगा है। उसकी वाणी, भला, पूज्य क्यों न हो जब कि उसका मन मन्यु (चिंतन की कामना) बन गया है। मन अब भोगपरक संकल्पों से उदासीन होकर, ब्राह्म चिंतन में लीन रहने लगा है। **मन्यु** का प्रचलित अर्थ क्रोध है। वस्तुतः इच्छा में बाधा पड़ने से उत्पन्न होनेवाली खीझ क्रोध है। क्रोध अभीष्ट विषय के प्रति उत्कट आसक्ति का परिणाम होता है। साधक पहले भौतिक इच्छाओं में बाधा पड़ने से क्रोध करता था। पर अब उसका स्थान आत्मिक साधना की उत्कट अभिलाषा ने लिया है; यह मन्यु है। साधक अब जान गया है कि वास्तविक **भाम**=रूप खाल-बाल की सजावट और रंग नहीं है वरन् आत्मा का ओज **(स्व-राट्)** ही उसका शाश्वत सौंदर्य है। वही उसके अंग अंग से फूटा पड़रहा है सौन्दर्य बनकर।

२) साधक की अंगुलियों की क्रियाएं उसे आनन्द देती हैं। उसके प्रत्येक अंग की चेष्टा उसमें उत्कृष्ट आनन्द की लहर उत्पन्न करती है। पहले उसका अपने अंगों की चेष्टाओं पर ध्यान जाता ही नहीं था। शरीर एक जड़ यन्त्रवत् चलता रहता था। पर अब साधक के लिए छोटी से छोटी शारीरिक हलचल आत्मिक बल की स्मृति दिला-दिलाकर उसे मोद-प्रमोद देती है।

संसार में प्रत्येक ने कोई न कोई मित्र बना रखा है। साधक का मित्र सहनशक्ति है जो उसे दुःख में ही नहीं, सुख में भी आत्मविस्मृति, आदि गंभीरतर हानियों से बचाती है। हाड़-मांस का मित्र तो रूठ भी जाता है। पर धैर्य कभी साधक को नहीं छोड़ता। धीर ही सतत साधना, बाधा-विजय, अभयवृत्ति का अभ्यास करता है।

११२८ **बाहू मे बलमिन्द्रियं, हस्तौ मे कर्म वीर्यम्। आत्मा क्षत्रमुरो मम।** य २०.७

बाहू मे बलम् इन्द्रियम् हस्तौ मे कर्म वीर्यम्। आत्मा क्षत्रम् उरः मम।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१) (मे बाहू) मेरी दोनों बाहुएं (इन्द्रियम् बलम्) इन्द्र का बल [हैं]।
२) (मे हस्तौ) मेरे दोनों हाथ (वीर्यम् कर्म) वीरत्व[युक्त] कर्म [हैं]।
३) (मम उरः) मेरा हृदय (क्षत्रम् आत्मा) क्षत-त्र आत्मा [है]।

१) आत्मसाधक की बाहुएं चमड़े से मढ़े दो डंडे नहीं हैं वरन् इन्द्र का बल हैं। इनके द्वारा इन्द्र का बल प्रकट होता है, असुर का नहीं। बाहुएं इन्द्र के वश में रहती हैं।

२) आत्मिक स्रोत से शक्ति पानेवाले, उसके हाथ केवल लेन-देन के साधन नहीं रह गए हैं वरन् इनमें वीरत्वयुक्त कर्मों की सामर्थ्य आ गई है। अब साधक कह सकता है, **अयं मे हस्तो भगवान्, - यं मे भगवत्तरः। अयं मे विश्वभेषजो, अयं शिवाभिमर्शनः** (अथर्ववेद ४.१३.६); मेरा यह हाथ भगों (नियामतों, ऐश्वर्य) से भरा हुआ है। लोग भगवान् को खोजते फिरते हैं। मेरा तो हाथ जगन्नाथ है। यह मेरे सब क्षतों का त्राता, परमौषधि है। यह मुझे मंगलस्पर्श देरहा है। यह जिसे छू ले उसका मंगल निश्चित है क्यों कि इसका स्पर्श आत्मा का स्पर्श—अनुभव कराता है।

२) मेरा हृदय, जहां आत्मा का अधिष्ठान है, मेरा क्षत-त्राता है। मेरा हृदय आत्मरूप हो गया है। आत्मा परम क्षत्र है, परम रक्षक है, उसी की प्रेरणा से अन्य तत्त्वों से भी कुछ रक्षण मिल जाता है।

११२९ **पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदर,मंसौ ग्रीवाश्च श्रोणी।**
ऊरू अरत्नी जानुनी, विशो मेऽङ्गानि सर्वतः। य २०.८
पृष्ठीः मे राष्ट्रम् उदरम् अंसौ ग्रीवाः च श्रोणी। ऊरू अरत्नी जानुनी विशः मे अङ्गानि सवतः।

१) (मे पृष्ठीः) मेरी पीठ (राष्ट्रम्) ज्योति [है]।
२) (उदरम्, अंसौ, ग्रीवाः च श्रोणी, ऊरू, अरत्नी, जानुनी, मे अङ्गानि सर्वतः विशः) पेट, कंधे, गर्दन की हड्डियाँ और कूल्हे, जंघाएं, कुहनियां, घुटने, मेरे [सब] अंग सब प्रकार से प्रजाएं [हैं]।

१) साधक की पीठ ज्योतिर्मय है। नेत्र क्यों कि सामने देखते हैं अतः सामने प्रकाश अनुभव होता है। नेत्र पीठ-पीछे क्यों कि नहीं देखते अतः उधर अज्ञात का भय अनुभव होता है। आंखें खुली हों तो जगत् अनुभूत होता है, पीठ हो जाए तो जगत् विनष्ट = लुप्त हो जाता है। पर ज्ञाननेत्र आगे, पीछे, अंदर, बाहर, सर्वत्र देख सकता है। अतः पीठ-पीछे के भाग, अर्थात्, अज्ञात विषय (भूत, भविष्य), परोक्ष भी ज्ञानालोक में द्योतित हो जाते हैं। साधक ऐसा ही **विश्वतोमुख** (ऋग्वेद १०.८१.३) हो गया है। **पृष्ठी** प्रतीक है परोक्ष (भूत, भविष्य) का। ज्ञानी का परोक्ष भी ज्ञानप्रोज्ज्वल हो जाता है।

२) साधक के अंग उसके वश में वैसे रहते हैं जैसे राजा के वश में प्रजाएं।

११३० **नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं, पायुर्मेपचितिर्भसत्। आनन्दनन्दावाण्डौ मे, भगः सौभाग्यं पसः। जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोस्मि, विशि राजा प्रतिष्ठितः।** य २०.९
नाभिः मे चित्तम् वि-ज्ञानम् पायुः मे अप-चितिः भसत्। आ+नन्द-नन्दौ आण्डौ मे भगः सौभाग्यम् पसः। जङ्घाभ्याम् पत्-भ्याम् धर्मः अस्मि विशि राजा प्रति-स्थितः।

१) (मे नाभिः, चित्तम् वि-ज्ञानम्) मेरी नाभि [और] चित्त वि-ज्ञान [है]।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

२) (मे पायुः अप-चितिः) मेरी गुदा [मल]वि-सर्ग [है]।
३) (भसत्) कूल्हे, (आ+नन्द-नन्दौ मे अण्डौ) आ-नन्द और नन्द से युक्त मेरे दो अण्ड, (भगः, सौ-भाग्यम् पसः) ऐश्वर्य- [और] सौ-भाग्य-रूप शिश्न !
४) (जङ्घाभ्याम्, पत्-भ्याम् धर्मः अस्मि) जङ्घाओं [और] पैरों से मैं धर्म हूं।
५) (विशि प्रति-स्थितः राजा) मैं प्रजा में प्रति-ष्ठित राजा [हूं]।

१) साधक सामान्य लौकिक व्यवहार भी करता है। पर साधारण लोगों से उसका भेद यह होता है कि वह लोकव्यवहार में भी अपने लक्ष्य–आत्मा को नहीं भुलाता है।

साधक की नाभि और चित्त का व्यवहार विज्ञान (विवेक) से युक्त होता है। नाभि बल का केंद्र है और चित्त स्मृतियों का कोष है। बलप्रयोग और चित्तवृत्तियों का व्यवहार सविवेक होने चाहिएं।

२) गुदा के मल-विसर्ग की नियमितता शरीर-स्वास्थ्य और तत्कारण-रूप संयत खान-पान-आचरण को सूचित करती है।

३) शरीर और आत्मा, ये दो अर्धांड हैं जीवन के। भौतिक अर्धांड नन्द (मोद) से युक्त है तो आत्मिक अर्धांड आनन्द(प्रमोद)-मय है। जननेन्द्रिय संतति-रूप ऐश्वर्य और सौभाग्य की देनेवाली है।

४) जंघाएं और पैर वेगयुक्त और भारवाहक हैं। इनके द्वारा मैं नानाविध लौकिक और पारलौकिक दायित्वों का धारक (**धर्म**) बन गया हूं। मैं धर्म हूं, अधर्म नहीं। मैं आत्मा हूं, जड़ प्रकृति नहीं। **धर्मोस्मि**, यह सतत स्मृति का सूत्र है।

५) जैसे प्रजा में प्रति-ष्ठित, उनका नियंत्रक राजा होता है वैसी मेरी स्थिति अपने जीवन में है। मैं स्व-तन्त्र कर्ता हूं, पर-तन्त्र भोग्य नहीं।

११३१ **प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे, प्रत्यश्वेषु प्रति तिष्ठामि गोषु। प्रत्यङ्गेषु प्रति तिष्ठाम्यात्मन्, प्रति प्राणेषु प्रति तिष्ठामि पुष्टे, प्रति द्यावापृथिव्योः प्रति तिष्ठामि यज्ञे।** य २०.१०

अ-वे-मा-भूमिका पृ-२५५

प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे, प्रति अश्वेषु प्रति तिष्ठामि गोषु। प्रति अङ्गेषु प्रति तिष्ठामि आत्मन् प्रति प्र+अनेषु प्रति तिष्ठामि पुष्टे प्रति द्यावा+पृथिव्योः प्रति तिष्ठामि यज्ञे।

१) मैं (क्षत्रे प्रति [तिष्ठामि]) क्षत्र पर प्रति[-ष्ठित होरहा हूं], मैं (राष्ट्रे प्रति तिष्ठामि) राष्ट्र पर प्रति-ष्ठित होरहा हूं।
२) मैं (अश्वेषु प्रति) अश्वों पर प्रति[-ष्ठित होरहा हूं], मैं [गोषु प्रति तिष्ठामि) गौओं पर प्रति-ष्ठित होरहा हूं।
३) मैं (अङ्गेषु प्रति) अंगों पर प्रति[-ष्ठित होरहा हूं], मैं (आत्मन् प्रति तिष्ठामि) आत्मा पर प्रति-ष्ठित होरहा हूं।
४) मैं (प्र-अनेषु प्रति) प्राणों पर प्रति[-ष्ठित होरहा हूं], मैं (पुष्टे प्रति तिष्ठामि) मैं पुष्ट पर प्रति-ष्ठित होरहा हूं।
५) मैं (द्यावा-पृथिव्योः प्रति) द्यौ-पृथिवी पर प्रति[-ष्ठित होरहा हूं], मैं (पुष्टे प्रति तिष्ठामि) पुष्ट पर प्रति-ष्ठित होरहा हूं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पूर्व-मन्त्रों (५-९) में निर्दिष्ट आत्मशंसन(ऑटॉ सजैश्शन)-रूप अंगसाधना से साधक न केवल आध्यात्मिक सोपानों पर आरोहण करता है अपि तु भौतिक उन्नति भी करता है। जीवन के संतुलित विकास के लिए उभय लोकों की सह-साधना आवश्यक है। पृथिवी से आरोहण आरंभ करने पर अंततः पृथिवी पर ही अवतरण करना होता है। प्राणराष्ट्र पर स्थित यज्ञ पर प्रतिष्ठित होकर कं लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अंगसाधना द्वारा साधक आध्यात्मिक सोपानों पर आरोहण करता है। लौकिक उन्नति के लिए भी वह यज्ञ के आधार पर प्रतिष्ठित होकर ही विविध उन्नति करता है।

इस मंत्र में साधक की दशविध प्रतिष्ठिति का उल्लेख है। इनसे युक्त होकर वह **वि-राट्**=विशेष/विविध-दीप्तिमान् हो जाएगा।

१) क्षत्र=आध्यात्मिक और भौतिक क्षतों से अपना और अन्यों का त्राण करने की सामर्थ्य, सबविध दुर्गुणों, त्रुटियों और दुर्बलताओं पर विजय पाना। राष्ट्र, जिसे प्रथम मन्त्र की व्याख्या में क्षत्र की योनि और नाभि बताया जा चुका है, प्राण-राष्ट्र वा प्राणकोश है जो क्षतों से त्राण के लिए ऊर्जा प्रदान करता है। ऊर्जा की मौजूदगी में क्षत सिर नहीं उठा पाते। क्षत्र और राष्ट्र में प्रतिष्ठिति साधक की वशीकारशक्ति है।

२) अश्व और गौ पशुसंपत्ति हैं। अश्व भारवहन और वाहन में काम आता है, तो गौ पयःप्रदात्री और कृषि में सहायक है। प्राचीन काल में अश्व और गौ समृद्धि के मानदंड थे। आज भी वे कुछ सीमा तक हैं। अश्व कर्मशक्ति का, तो गौ ज्ञान का प्रतीक है। कर्मेन्द्रियों को अश्व, तो ज्ञानेन्द्रियों को गौ कहा जा सकता है। अश्वों और गौओं में प्रतिष्ठिति साधक द्वारा इनकी प्राप्ति का संकेत है।

३) अंगों में प्रतिष्ठिति = नीरोगत्व। आत्मा पर प्रतिष्ठिति = योग-जीवनपद्धति का अभ्यास।

४) प्राणों पर प्रतिष्ठिति = प्राणशक्ति पर वशीकार, जिससे सत्त्वशुद्धि में सहायता मिलेगी। पुष्ट पर प्रतिष्ठिति = जीवन की सर्वांगीण उन्नति। **पुष्ट** शब्द भौतिक और आत्मिक, द्विविध पुष्टि से युक्त, पुष्ट बने हुए, साधनामय, सन्तुलित जीवन का वाचक है।

५) द्यौ-पृथिवी पर प्रतिष्ठिति = बुद्धि से शरीर तक पूर्ण वशित्व, आत्मा के यश की बुद्धि से शरीर तक, दूर दूर तक व्याप्ति। यज्ञ पर प्रतिष्ठिति = सुकर्मों का संपादन।

११३२ **त्रया देवा एकादश, त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः। बृहस्पतिपुरोहिता, देवस्य सवितुः सवे। देवा देवैरवन्तु मा।** य २०.११

त्रयाः देवाः एक+दश त्रयः-त्रिंशाः सु-राधसः। बृहस्+पति-पुरः+हिताः देवस्य सवितुः सवे। देवाः देवैः अवन्तु मा।

१) (देवाः) देव (देवैः) देवों के साथ (मा अवन्तु) मुझे बचाएं।

२) [कौन से देव ?] (त्रयाः) तीन अवयवों वाले (एक-दश) एक और दस, [अर्थात्,] (त्रयः-त्रिंशाः) तीन और तीस (देवाः) देव [जो] (बृहस्+पति-पुरः+हिताः) बृहत् के पति[रूप] पुरो-हितवाले, (सु-राधसः) कल्याणकारी धनवाले, (देवस्य सवितुः सवे) देव सविता की अनुज्ञा, उसके संसार में [हैं]।

१) साधक की कामना है आत्मरक्षा। प्राणी की सर्वप्रथम और सर्वान्तिम कामना यही होती है। अज्ञ और विद्वान्, सब स्व की रक्षा चाहते हैं। हां, प्रत्येक की स्व-विषयक धारणा भिन्न हो सकती है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कोई शरीर को स्व मानता है, तो कोई चेतना को। जो जिसे आत्मा मानता है वह उसकी रक्षा चाहता है। शरीर की रक्षा प्राणराष्ट्र(कोश) करता है। प्राण अनेक प्रकार के हैं। चेतना की रक्षा उसका सतत भान रहना है। यह कार्य मन अपने साथियों के साथ करता है। ये सब प्रकार के रक्षक **देव** कहे गए हैं। देव की प्रमुख विशेषताएं दो हैं दान, दीप्ति। शरीररक्षक देव स्वास्थ्य और सौंदर्य (दीप्ति) देते हैं, आध्यात्मिक देव विभिन्न स्तरों पर चैतन्य का प्रकाश बिखेरते हैं और आत्मस्मृति को सुरक्षित रखते हैं। ये सब देव अपने साथी देवों के साथ मिलकर साधक की स्वरूपरक्षा करें, यह उसकी कामना है। भौतिक और बौद्धिक, दोनों स्तरों पर स्वात्मा की रक्षा अभीष्ट है।

२) देव सविता के इस संसार में, उसी की अनुमति से, उसी की शक्ति को ले-लेकर विभिन्न देव कर्मरत हैं। इन देवों का पुरोहित बृहस्पति है। **बृहत्**=महत्। महत (बुद्धि) प्रकृति की प्रथम विकृति है। इसका **पति**=अधिष्ठाता है चेतन पुरुष, ब्रह्म। सत्य और अनन्त ज्ञान का नाम ब्रह्म है; **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** (तैत्तिरीयोपनिषद् २.१)। यह ज्ञान चैतन्य, अतः आनन्द है। इस सच्चिदानन्द ब्रह्म को देव अपना पुरोहित मानते हैं। **पुरः-हित**=सामने धरा हुआ, साक्षी। जो जिसे अपने सामने रखता है उसे अपना आदर्श मानता है। अतः **पुरोहित**=आदर्श। देवों का साक्षी और आदर्श बृहस्पति है। देव चैतन्य ब्रह्म के अनुकर्ता हैं। अतः वे भी ब्रह्मचैतन्य की चेतनाविभूति से युक्त हैं। शरीर में सुख-दुःखानुभव-रूप जो संवेदना है वह शरीर में संचरित, बृहस्पति-चैतन्य है। ये देव **सु-राधस** हैं। इनकी गुण-कर्मरूप संपत्तियां साधक के कल्याण के लिए हैं। कोई भी देव साधक का शत्रु नहीं वरन् सहयोगी है। आत्मविस्मृति-शील मनुष्य को देवों से आत्मविस्मरण में सहयोग मिलता है, तो आत्मस्मृति-शील साधक को आत्म-स्मरण में भी वे ही सहयोग देते हैं। देव स्वयं तटस्थ वा उदासीन रहते हैं। व्यक्ति उनसे सु वा दुः, जैसा चाहे सहयोग ले सकता है। जो नेत्र द्रष्टा को विकारों से भर सकते हैं वे ही उसे सर्वत्र आत्मचैतन्य के संदर्शन करा सकते हैं। अतः देवों को सु-राधस्, प्रत्येक अवस्था में व्यक्ति का माना हुआ हित करनेवाला ठीक ही कहा गया है।

देवों की संख्या ग्यारह है। ये हैं ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां, मन। इनमें से प्रत्येक देव के तीन अवयव हैं। अतः ये कुल ३३ हो जाते हैं। तीन अवयव देवों के कर्म करने के तीन क्षेत्र वा स्तर हैं। इन्हें, स्थूल, सूक्ष्म, कारण (अथ वा क्रमशः भौतिक—शारीरिक, प्राणिक (ऊर्जापरक), मनोमय कहा जा सकता है। भौतिक क्षेत्र का 'सूक्ष्म' आंतरिक जगत् का 'स्थूल' है। भौतिक स्तर का 'कारण' आध्यात्मिक स्तर का 'सूक्ष्म' है। आंतरिक जगत् का 'कारण' भौतिक स्तर से परे की वस्तु है। भौतिक तीन स्तर हैं, पांचभौतिक, तान्मात्रिक, आहंकारिक। आध्यात्मिक तीन स्तर हैं, तान्मात्रिक, आहंकारिक, बौद्धिक।

११३३ **प्रथमा द्वितीयै,द्वितीयास्तृतीयैस्,तृतीयाः सत्येन, सत्यं यज्ञेन, यज्ञो यजुर्भि,र्यजूंषि सामभिः, सामान्यृग्भि,र्ऋचः पुरोनुवाक्याभिः, पुरोनुवाक्या याज्याभि,र्याज्या वषट्कारै,र्वषट्कारा आहुतिभि,राहुतयो मे कामान्त्समर्धयन्तु, भूः स्वाहा।** य २०.१२

प्रथमाः द्वितीयैः द्वितीयाः तृतीयैः तृतीयाः सत्येन सत्यम् यज्ञेन यज्ञः यजुः-भिः यजूंषि साम-भिः सामानि ऋक्-भिः ऋचः पुरः-अनु+वाक्या-भिः पुरः-अनु+वाक्याः याज्या-भिः

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

याज्याः वषट्-कारैः वषट्-काराः आ+हुति-भिः आ-हुतयः मे कामान् सम् अर्धयन्तु भूः स्वाहा।

१) (प्रथमाः [देवाः] द्वितीयैः [देवैः]) प्रथम [देव] द्वितीय [देवों] के साथ, (द्वितीयाः तृतीयैः) द्वितीय [देव] तृतीय [देवों] के साथ, (तृतीयाः सत्येन) तृतीय [देव] सत्य के साथ, (सत्यम् यज्ञेन) सत्य यज्ञ के साथ, (यज्ञः यजुः-भिः) यज्ञ यजुओं के साथ, (यजूंषि साम-भिः) यजु सामों के साथ, (सामानि ऋक्-भिः) साम ऋचों के साथ, (ऋचः पुरः+अनु-वाक्या-भिः) ऋचें पुरोनु-वाक्याओं के साथ, (पुरः-अनु+वाक्याः याज्या-भिः) पुरोनु-वाक्याएं याज्याओं के साथ, (याज्याः वषट्-कारैः) याज्याएं 'वषट्'-कारों के साथ, (वषट्-काराः आ+हुति-भिः) 'वषट्'-कार आ-हुतियों के साथ [और] (आ-हुतयः) आ-हुतियां (मे कामान्) मेरी इच्छाओं को (सम् अर्धयन्तु) एकीभावपूर्वक बढ़ाएं।

२) (भूः) होना। (स्वाहा) मेरी [सरस्वती] ने [यह] कहा [है]।

१) 'मेरी कामनाओं को समृद्ध करें,' यह साधक की भावना है। उसकी मौलिक कामना तो आत्मरक्षा है (मंत्र ११)। वही विभिन्न कामनाओं का रूप धारण करती है। पुत्र, वित्त, लोक की सब एषणाएं आत्मा की अभिव्यक्तियां हैं। अतः आत्मा के प्रयोजन की पूर्ति सब कामनाओं की पूर्ति का अंतिम लक्ष्य है। कामना-पूर्ति को **समृद्धि** कहा जाता है, तो अपूर्ति को **व्यृद्धि**। **ऋद्धि**=वृद्धि। सम्+ऋद्धि=आत्मा की एकतावाली वृद्धि। भौतिक वृद्धि अनेकता को पुष्ट करती है, तो आत्मिक वृद्धि अनेकता को एक कर देती है। साधक की कामनाओं की समृद्धि तब होगी जब प्रत्येक कामनापूर्ति आत्मिक जीवन को पुष्ट करेगी, न कि आत्मिकता का ह्रास करेगी।

मंत्र में कामसमृद्धिकारक बारह पदार्थ और उनके ग्यारह सहायक बताए गए हैं। एक पदार्थ का जो सहायक है उसका कोई अन्य सहायक है। इस प्रकार, कामपूरकों की अन्योन्य शृंखला जुड़ी हुई है। शृंखलाबद्ध प्रयासों से कामसमृद्धि होती है; इसके विपरीत, विशृंखल यत्नों से काम अपूर्ण रहते हैं। **प्रथम**=स्थूल स्तर के देव, **द्वितीय**=सूक्ष्म स्तर के देव, **तृतीय**=कारण स्तर के देव। भौतिक जीवन में पांचभौतिक स्थिति स्थूल स्तर है, तान्मात्रिक (११ इंद्रियां, ५ तन्मात्राएं) स्थिति सूक्ष्म स्तर है, आहंकारिक स्थिति कारण स्तर है। भौतिक जीवन का मूल स्रोत (कारण) अहंकार है जिससे अनेकताएं अंकुरित होती हैं। आंतरिक जीवन में तान्मात्रिक स्थिति स्थूल स्तर है, आहंकारिक स्थिति सूक्ष्म स्तर है, बौद्धिक स्थिति कारण स्तर है। आंतरिक जीवन का मूल स्रोत (कारण) है बुद्धि जो एक और सर्वसामान्य है; **यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्** (यजुर्वेद ३२.८), जहां सब अनेकताएं एक हो जाती हैं। ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां, मन, ये ११ देव स्थूल स्तर पर **प्रथम** हैं, सूक्ष्म स्तर पर **द्वितीय** हैं, कारण स्तर पर **तृतीय** हैं। इन तीन स्तरों से सूक्ष्म जो तत्त्व रह जाते हैं उनके अनुभव के लिए अन्य ९ तत्त्व हैं सत्य, यज्ञ, आदि। तृतीय स्तर के परे, सृष्टि और जीवन का शाश्वत **सत्य, सत्यं ज्ञानमनन्तं**-रूप ब्रह्म तत्त्व विद्यमान है। यही वह परम लोक है जिसे पाने के लिए, जो स्वयं हो जाने के लिए प्रत्येक प्राणी विकल है; मोक्ष का अमृत पद यही है। यह सत्य ही शुद्ध चैतन्य और परमानन्द है। इस कैवल्य स्थिति में स्थित होने के लिए ही **यज्ञ**—निष्काम, सहज, 'स्व'-भावरूप सुकर्म करने की युक्ति है।

यज्ञ के लिए **यजु** हैं, बहुल क्रियाओं की प्रणीतियां हैं। क्रियाओं की संपन्नता के लिए मनः-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

समत्व अथ वा शांति का संपादन करनेवाले, गीतिमय **साम** हैं, जीवन की समरसता, मनोरमता, सुंदरता है। सामों से यजु नीरस नहीं रहते; कर्म में रस आने लगता है। सामों की सहायता के लिए **ऋचें**—विभिन्न शंसन, नाना शस्त्र हैं जो प्रत्येक पदार्थ का तात्त्विक स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

ऋचों से उद्बोधन मिलने पर, कर्मविशेष के लिए **पुरोनुवाक्या**—निमंत्रण, उत्साह प्राप्त होता है। **पुरः-अनु-वाक्या**=प्रथम अनु-वचन, प्रथम अनु-शासन, प्रथम आदेश। पुरोनुवाक्या के पश्चात्, लक्ष्य के लिए आत्मसर्वस्व समर्पण करने का आह्वान आता है—**याज्या**। फिर आता है **'वषट्'-कार**—समर्पण का क्षण, जब त्याग का आह्वान एक चुनौती बनकर सामने खड़ा हो जाता है हवि को समर्पित करने के लिए। 'वषट्'-कार सुनते ही **आहुति**—स्वसर्वस्व का त्याग कर दिया जाता है। यह आहुति यज्ञ को संपन्न करती है और साधक की 'सत्य' कामना को समृद्ध करती है।

यजु अध्वर्यु के लिए हैं। अध्वर्यु है चक्षु, द्रष्टा, देखने-परखनेवाला, देख-परखकर क्रिया करने-वाली वृत्ति। साम उद्गाता के लिए हैं। उद्गाता है मन, क्रिया में रमनेवाला। ऋक्, पुरोनुवाक्या, याज्या, 'वषट्'-कार हैं होता के लिए। होता है वाक्, मन को उद्बोधन देनेवाली। वाक् से उद्बुद्ध होकर चक्षुवृत्ति अध्वर्यु आहुतिप्रक्षेप करती है जिससे आत्मा-रूप साधक का यज्ञ पूरा हो जाता है, आत्मा 'सत्य' को पा लेता है। कामना 'सत्य' हो जाती है; **सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः** (यजुर्वेद १२.४४)। जीवन में कामनाओं का महत्त्व उनके 'सत्य' बन जाने में है। नाना कामनाएं जब जीवन में पिरोए हुए आत्म-सत्य में फलित हों तो ही उनकी **समृद्धि** है।

जीवन का त्रिकोण है काम-यज्ञ-सत्य। कामपूर्ति के लिए यज्ञ, यज्ञ से सत्याप्ति। सत्याप्ति में सहायक होते हैं तीनों कोटि के देव भी।

२) भूः=होना, साधक का जो वास्तविक स्वरूप था उसमें परिणत हो जाना। अभी तक साधक स्वयं को शरीर माने हुए था। पर वह शरीर नहीं था, वह स्वयं जो था वही था, वह तो आत्मा था। साधना पूरी हुई। साधक ने जाना कि वह शुद्ध चैतन्य, आनन्द, ज्ञान है। अब कोई भ्रांति नहीं रही, कोई पाश नहीं रहा। यही तो है अविद्या से मोक्ष, माया से मुक्ति। ऐसे धन्य क्षण में आत्मा का उद्गार है, 'भूः'=होना (बीइंग)। न कहीं जाना था, न कुछ पाना था, केवल स्वयं को स्वयं हो जाना था। और, साधक आज वह हो गया है, यह उसकी आंतरिक ध्वनि, अपनी आवाज़ है, **स्वाहा**।

११३४ **लोमानि प्रयतिर्मम, त्वङ् म आनतिरागतिः।**
मांसं म उपनतिर्वस्,वस्थि मज्जा म आनतिः। य २०.१३
लोमानि प्र-यतिः मम त्वक् मे आ-नतिः आ-गतिः। मांसम् मे उप-नतिः वसु अस्थि मज्जा मे आ-नतिः।

१) (मम लोमानि) मेरे रोम (प्र-यतिः) प्र-यत्न [हैं]।
२) (मे त्वक्) मेरी त्वचा (आ-नतिः, आ-गतिः) पूर्ण समर्पण [और] आ-गति [है]।
३) (मे मांसम्) मेरा मांस (उप-नतिः, वसु) उप-नति [और] ऐश्वर्य [है]।
४) (मे अस्थि, मज्जा) मेरी हड्डी [और] मज्जा (आ-नतिः) पूर्ण समर्पण [है]।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पूर्व-मन्त्र में साधक द्वारा जिस यज्ञसंपादन का संकेत है उसकी यह फलश्रुति है। लोम, त्वक्, मांस, अस्थि, मज्जा, इन शरीरोपांगों का इसी क्रम से उल्लेख यजुर्वेद १९.८१, ८२ में आ चुका है। वहां इनका प्रतीकविधान क्रमशः शष्पों, तोक्यों, लाज, मासर, कारोतर से किया जा चुका है। बाह्य विश्व में विद्यमान ये पदार्थ, मानो, इन्द्र के लोमादि हैं। इस मंत्र में इन्द्र के लोमादि का आध्यात्मिक प्रतीकविधान है। साधना के द्वारा साधक इन्द्र बन गया है। उसके लोमादि तक ऐंद्र, दिव्य हो गए हैं।

१) साधक के लोम प्र-यति हैं। लोमों की ऊर्ध्वमुखता उत्थान के लिए, आत्मसाक्षात् के लिए प्रयत्न की, मानो, अभिव्यक्तियां हैं।

२) लोमों के मूल में बिछा हुआ त्वचातल पूर्ण समर्पण का और आ-गति=आ-गमन, स्वलीनता की सूचना है। **आ**=पूर्ण+**नति**=नमन, पूर्ण प्रणाम अहंकार के निर्मूल हो जाने पर ही होता है। आ-गति है वह एकत्वानुभूति जो बुद्धि के सात्त्विक स्तर पर ज्ञान-चेतना-आनंद के एक आत्मबिंदु पर मिलन है।

जीवन की गतियां दो हैं, **प्र, आ**। प्र=केंद्रापगा गति, आ=केंद्रानुगा गति। जहाज़ का पंछी दूर दूर तक उड़ता फिरता है पर लौटकर वहीं आता है। मनपंछी दुनिया में कितना ही भटकता फिरे, अंततः चैन पाएगा आत्मनीड में लौटकर ही। **प्र** आत्मानुभूति के लिए भटकाव है, तो **आ** इसी प्रयोजन से स्वलीनता है।

३) त्वचा के भीतर मांस है। वह आत्मा के प्रति और भी निकटता, साक्षात्कारानुभूति का संकेत है। यह उपसंगति साधक का **वसु**—परमैश्वर्य है, परम समृद्धि है। भक्त भगवान् के अतिनिकट सरक आया है; यह **सामीप्य** भक्ति है। यह सिद्धावस्था है।

४) अस्थि और मज्जा पुनः आ-नति हैं। मांस के नीचे अस्थि और उसमें मज्जा। त्वचा की आनति पूर्व सोपान थी। उसका परिणाम हुआ उप-नति। उस आ-नति में दूरी की विकलता थी। अब यह आ-नति निकटता की तृप्ति लिए हुए है। प्रथम पूर्ण समर्पण श्रद्धा थी जिसका फल था उप-नतिरूप सत्य (**श्रद्धया सत्यमाप्यते,** यजुर्वेद १९.३०)। सत्याप्ति के बाद की आ-नति है आ-स्था, नि-ष्ठा। अब कहीं जाना-आना नहीं है; सब प्रयति समाप्त।

११३५ **यद् देवा ! देवहेडनं, देवासश्चकृमा वयम्।**
अग्निर्मा तस्मादेनसो, विश्वान् मुञ्चत्वंहसः। य २०.१४
यत् देवाः देव-हेडनम् देवासः चकृम वयम्। अग्निः मा तस्मात् एनसः विश्वात् मुञ्चतु अंहसः।

१) (देवाः) देवो ! (यत् देव-हेडनम्) जो देवापराध, (देवासः) देवो !, (वयम् चकृम) हमने [अ-जाने में] किया था,

२) (तस्मात् एनसः) उस पाप से, (विश्वात् अंहसः) संसार[रूप] बाधा से [तुम देवों में से] (अग्निः) अग्नि [देव] (मा मुञ्चतु) मुझे मुक्त करे।

यह और अगले चार मंत्र सिंहावलोकन हैं। मंज़िल पर पहुंचकर यह यात्रा का अनुस्मरण है। पिछली प्रयत्नावस्थाओं में अनेक स्खलन हुए, ठोकरें लगीं, नाना प्रलोभनों ने पग पीछे खींचे। उससे भी पूर्व,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अज्ञानमय भौतिक जीवन जीते हुए, कुसंस्कारों की पोटली भरते समय तो देवों की शक्तियों का क्षुद्र प्रयोजनों से उपयोग लेकर, उनके प्रति स्पष्ट ही अपराध हमने किए थे। पर वे सब परोक्ष—अ-जाने में हुए थे। तब साधक अपने अकेले के लिए **वयं**= हम, ऐसी घमंडभरी भाषा बोलता था। पर अंततः साधक की लगन सफल हुई। साधना में आत्मा को शरीर से बुद्धि तक, सबने अपना अपना अनुकूल सहयोग दिया। अतः **वयं**, ये सब, याजक और यजमान आत्मा, अब पापमुक्त होरहे हैं।

एक ही वाक्यांश में दो बार देवों को संबोधन अपराधभाव की गहनता को व्यंजित करता है।

२) उस साध्यावस्था की अनेक चोटों के स्मृति-चिह्न बने रह जाना स्वाभाविक है। जीवन का सार पा लेने पर, जो कुछ असार अंश अब व्यर्थ हो गया है उसे साधक अब त्यागरहा है। कर्मफलों, संस्कारों, वृत्तियों के कचरे को, जो निष्प्रयोजन हो गए उन्हें विसर्जित कररहा है। जीवन्मुक्त के लिए शरीर का जिवना सा अतिस्वल्प तथाकथित प्रयोजन रह जाता है उसे भी वह विसार देना चाहता है।

इस मंत्र में स्थूल, पार्थिव, भौतिक स्तर की अनात्मराशि का विसर्जन है। पृथिवी का देव है अग्नि। वह यजमान आत्मा को उस सब अपराध और बाधा से मुक्त करे जो भूत का इतिहास थीं। अपराध तो किए **वयं**, शरीरादि हम सबने, पर अपराधादि-मोचन की प्रार्थना कररहा है **अहं**, आत्मा। इन सबके अपराधों की परिणति को अविद्या के आवरण के रूप में अंततः आत्मा ही वहन करता है। भौतिक स्तर पर किए गए पापों से मुक्ति पार्थिव देव, अग्नि से मांगना उचित ही है। पार्थिव **विश्व**—संसार एक बाधा थी जिससे भौतिक चैतन्य मुक्त करे।

११३६ **यदि दिवा यदि नक्त,मेनांसि चकृमा वयम्।**
वायुर्मा तस्मादेनसो, विश्वान् मुञ्चत्वंहसः। य २०.१५
यदि दिवा यदि नक्तम् एनांसि चकृम वयम्। वायुः मा तस्मात् एनसः विश्वात् मुञ्चतु अंहसः।

१) (यदि दिवा) यदि दिन में, (यदि नक्तम्) यदि रात्रि में (वयम् एनांसि चकृम) हमने पाप किए थे,
२) [तो] (तस्मात् एनसः) उस पाप[समूह] से, (विश्वात् अंहसः) संसार[रूप] बाधा से (वायुः) वायु (मा मुञ्चतु) मुझे मुक्त करे।

१) दिन प्रकाशित काल है, तो नक्त [निक्त> नाइट] अ-प्रकाशित काल है। ये वे दो परिधियां हैं जिनके भीतर प्राणी क्रियारत रहता है।
२) क्रिया वा चेष्टा प्राणराष्ट्र(कोश) की कृपा से होती है। अतः साधक प्राणिक (सूक्ष्म) स्तर के देव, वायु से, जो अन्तरिक्ष में क्रियारत रहता है, पापमोचन की प्रार्थना इस मंत्र में करता है।

११३७ **यदि जाग्रद् यदि स्वप्न, एनांसि चकृमा वयम्।**
सूर्यो मा तस्मादेनसो, विश्वान् मुञ्चत्वंहसः। य २०.१६
यदि जाग्रत् यदि स्वप्ने एनांसि चकृम वयम्। सूर्यः मा तस्मात् एनसः विश्वात् मुञ्चतु अंहसः।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१) (यदि जाग्रत्) यदि जागते में, (यदि स्वप्ने) यदि स्वप्न में (वयम् एनांसि चकृम) हमने पाप किए थे,

२) [तो] (तस्मात् एनसः) उस पाप[समूह] से, (विश्वात् अंहसः) संसार[रूप] बाधा से (सूर्यः) सूर्य (मा मुञ्चतु) मुझे मुक्त करे।

१) **जाग्रत्**=यह वर्तमान मनुष्य-जीवन। **स्वप्न**=पूर्व-योनियों का पितृ-कोटि का जीवन। स्वप्नावस्था पितृ-अवस्था है; जाग्रत् की रक्षिका (निधिपा) है। यह कारण स्तर है जिसमें अहंकार, **अहं कर्ता, अहं भोक्ता** (मैं कर्ता हूं, मैं भोक्ता हूं), यह भाव प्रबल रहता है।

२) द्यौ—कारण स्तर की सृष्टि का देव सूर्य है। **सूर्य** का अर्थ है प्रेरक, क्यों कि यह शब्द प्रेरणार्थक सू धातु से बना है। जीवन की सर्वप्रधान प्रेरक-शक्ति है अहंकार। इसी से सृष्टि का ताना-बाना बुना हुआ है। अतः सर्वप्रेरक सूर्य देव से आहंकारिक वा मनोगत पापों की क्षमा का निवेदन स्वाभाविक है।

११३८ **यद् ग्रामे यदरण्ये, यत् सभायां यदिन्द्रिये।**
यच्छूद्रे यदर्ये, यदेनश्चकृमा वयं, यदेकस्याधि धर्मणि, तस्यावयजनमसि।

य २०.१७

यत् ग्रामे यत् अरण्ये यत् सभायाम् यत् इन्द्रिये। यत् शूद्रे यत् अर्ये यत् एनः चकृम वयम् यत् एकस्य अधि धर्मणि तस्य अव-यजनम् असि।

(यत् [एनः] ग्रामे) जो [पाप] गांव में, (यत् अरण्ये) जो वन में, (यत् सभायाम्) जो सभा में, (यत् इन्द्रिये) जो इन्द्रिय में, (यत् शूद्रे) जो शूद्र में, (यत् अर्ये) जो वैश्य में, (यत् एकस्य धर्मणि अधि) जो [किसी] एक के धर्म [विषय] में—(यत् एनः) जो [भी] पाप (वयम् चकृम) हमने किया था (तस्य अव-यजनम्) उसका नाश (असि) तुम हो।

तीन पूर्व-मन्त्रों में लोक वा स्तरों की दृष्टि से पापमोचन की प्रार्थनाएं थीं। यहां सामाजिक दृष्टि से प्रार्थना है। मनुष्य पाप या तो **ग्राम**=भीड में करता है या **अरण्य**=एकांत में। भीड़ में पाप अपनी शक्ति का अनुचित प्रदर्शन होता है, या भीड़ में शामिल होनेवालों की सामूहिक प्रमत्त चेतना का बे-सोचा हुआ परिणाम होता है। ऐसे पाप की अनुचितता और अनावश्यकता पर बाद में भीड का प्रत्येक व्यक्ति दुःखी और लज्जित होता है। जेबकटी, छेड-छाड, आदि कुचेष्टाएं भीड़ को आवरण बनाकर की जाती हैं। एकांत का पाप कायरता और मिथ्याचार है। **सभा** में किया गया पाप शासनतंत्र द्वारा किया गया अन्याय है। शब्दों की बाल की खाल पर आधारित कानूनी लड़ाइयां सभा में होती हैं। यह तार्किक व्यभिचार है जो देखने में बौद्धिक लगता है, पर है यह अपने आत्मा के प्रति बेईमानी। अपना बहुमत बनाकर ग्रामसभा, नगरपालिका, विधानसभा, राजनैतिक दल, आदि से स्वार्थसिद्धि भी सभेय पाप है। **इन्द्रिय**=इन्द्र का बल, बुद्धि का विवेक। कभी कभी बौद्धिक ईमानदारी वर्तते हुए भी ऐसे कार्य हो जाते हैं जिनकी अनुचितता बाद में प्रकट होती है। ये अनुमान की त्रुटियां होती हैं जो राजनैतिक, प्रशासनिक, सामाजिक कार्यों में प्रायः हो जाती

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हैं। इन्द्रिय-विशेष में विकलांगता से ज्ञान का ग्रहण अपूर्ण और भ्रांत हो सकता है, कर्मसामर्थ्य में कमी भी आ सकती है। अभद्र विषयों (दर्शन, श्रवण, स्पर्श, आदि) का ग्रहण भी इन्द्रियों का पाप है। **शूद्र, वैश्य** समाज के वे वर्ग हैं जो ब्रह्म, क्षत्र वर्गों पर ज्ञान और प्रशासन के लिए आश्रित रहते हैं। **शूद्र**=श्रमिक, **वैश्य**=पूंजीपति (व्यापारी, उद्योग-धंधे चलानेवाला)। मज़दूरों का शोषण, पूंजीपतियों का दोहन, यह समाज में प्रायः हो जाता है। **एक**=व्यक्ति के **धर्म**=अधिकार का अपहरण वा उसकी काट-छांट भी समाज की समुदायचेतना कभी कभी कर बैठती है। परिवार, पास-पड़ौस में तो एक दूसरे के प्रति अनुचित व्यवहारादि प्रायः हो जाते हैं।

व्यक्तिगत पाप और सामाजिक पाप, दोनों परस्पर आश्रित हैं। व्यक्ति से समाज बनता है। व्यक्तियों के पाप ही सामाजिक पाप बनते हैं। फिर सामाजिक परिस्थितियां भी व्यक्ति पर प्रभाव डालती हैं। समाज के अनुकूल रुख के बिना व्यक्ति की साधना दुष्कर और कुछ अंशों में अस्वाभाविक भी हो जाती है।

जब तक समाज में मनुष्य का जीवन है, व्यक्तिगत नहीं तो सामाजिक अतिचारों की न्यूनाधिक संभावना रहेगी ही क्यों कि संसार से सबकी भिन्न भिन्न अपेक्षाएं होती हैं जिन सबको कोई भी कभी पूर्ण नहीं कर सकता है, चाहे कोई कितनी भी ऊंची सिद्धावस्था को क्यों न प्राप्त कर ले।

यजन=संगतिकरण, निर्माण। **अव-यजन**=निर्माण से विपरीत, नाश। पाप का नाश आत्मा ही स्वयं कर सकता है, कोई बाह्य शक्ति नहीं।

११३६ **यदापो अघ्न्या इति वरुणेति, शपामहे ततो वरुण ! नो मुञ्च।**
अवभृथ ! निचुम्पुण !, निचेरुरसि निचुम्पुणः।
अव देवैर्देवकृतमेनोयक्ष्यव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव ! रिषस्पाहि।

य २०.१८

य ३.४८; ६.२२; ८.२७

यत् आपः अघ्न्याः इति वरुण इति शपामहे ततः वरुण नः मुञ्च। अव-भृथ नि-चुम्पुण नि-चेरुः असि नि-चुम्पुणः। अव देवैः देव-कृतम् एनः अयक्षि अव मर्त्यैः मर्त्य-कृतम् पुरु-राव्णः देव रिषः पाहि।

१) (यत्) जो [कि] (आपः, अ-घ्न्याः इति) व्यापक [और] अ-हन्तव्य [हैं] ऐसा [कहते हुए भी], (वरुण ! इति शपामहे) वरुण !, इस प्रकार हम आक्रोश करते हैं (ततः) उस[वरुण्य पाप]से, (वरुण) वरुण ! (नः मुञ्च) हमें छोड़ो।

२) (अव-भृथ) नीचों को [भी गुणों से] भर देनेवाले ! (नि-चुम्पुण) मन्द-गतिवाले ! (नि-चेरुः) सतत गतिशील [होने पर भी] तू (नि-चुम्पुणः असि) मन्द-गतिवाला है।

३) (देवैः) इन्द्रियों द्वारा (देव-कृतम् एनः) देव के विषय में कृत पाप को (अव अयक्षि) मैंने नष्ट कर दिया है।

४) (मर्त्यैः) मरणधर्माओं द्वारा (मर्त्य-कृतम्) मरणधर्माओं के विषय में कृत [पाप] को (अव) मैंने नष्ट कर दिया है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

५) (देव) देव ! (पुरु-राव्णः रिषः) बहु[कुफल]दायी [पाप] की चोट से [हमें] (पाहि) तू बचा।

१) सब पापों का परम पाप कथनी और करनी का भेद है। मन, वचन, कर्म में भेद दुरात्माओं का शील होता है। ऐसा पाप हम सदा करते रहे हैं। जिन्हें हम अ-हन्तव्य कहते रहे, जिन्हें हम व्यापक-शक्ति-शाली बताते रहे, समय आने पर उस अ-हन्तव्यता और व्यापकशक्ति-शालियों की सत्ता को भुलाकर उनका तिरस्कार करते रहे। उस प्रकार के पाप से **वरुण**=पापनिवारक, सर्वनियंता ब्रह्म हमें मुक्त करे।

देवों की शक्तियां व्यापक और पूज्य हैं। ये प्रकृति की नाना शक्तियां हैं। **आपः** प्रकृति का नाम है। भौतिक जल उसका प्रतीक है।

२) यज्ञ की महिमा अपार है। यज्ञ **अव-भृथ** है। निष्काम सुकर्मपरम्परा से नीच भी महत्ताओं से भर जाते हैं। यज्ञ की फलाप्ति की गति मंद भले ही हो **(नि-चुम्पुण)** पर है वह सतत गतिशील **(नि-चेरु)**। मन्द पर सतत उद्योगी, अंततः सब निम्नताओं से छूटकर गुणों से भर जाता है।

३) इन्द्रियों से, अपने हितकारी, पापनिवारक (वरुण) देव के प्रति जो विद्रोहरूप पाप अब तक किया था उसे अब साधक नष्ट कर चुका है।

४) शरीर से अहंकार तक जितने भी मरणशील, नश्वर प्राकृत तत्त्व हैं, अथ वा समाज में रहते हुए प्राणियों की संगति के कारण जो पाप उनके प्रति किए थे उनका भार भी साधक नष्ट कर चुका है।

५) अब, इस सिद्धावस्था में भी यह पापमुक्त प्रकरण जारी रहे, कहीं पुनः अविद्या का आवरण मुझ विशुद्ध आत्मचैतन्य पर न पड़ जाए। पाप बहुदायी है। पाप का फल मात्रा में स्थूल—प्रभूत और तुरन्त मिलनेवाला होता है, जब कि पुण्य धीरे धीरे और मात्रा में सूक्ष्म होता है। पाप की चोट से सतत बचते रहना चाहिए।

११४० **समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः, सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः।**
सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु, दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः।

य ६.२२; ८.२५ य २०.१९

समुद्रे ते हृदयम् अप्-सु अन्तः सम् त्वा विशन्तु ओषधीः उत आपः। सु-मित्रियाः नः आपः ओषधयः सन्तु दुः-मित्रियाः तस्मै सन्तु यः अस्मान् द्वेष्टि यम् च वयम् द्विष्मः।

१) (ते हृदयम्) तेरा हृदय (समुद्रे) समुद्र में, (अप्-सु अन्तः) जलों में भीतर [है]।

२) (ओषधीः उत आपः) ओषधियां और जल (त्वा सम् विशन्तु) तुझ में सं-वेश करें।

३) (आपः, ओषधयः) जल [और] ओषधियां (नः सु-मित्रियाः सन्तु) हमारे लिए सु-मित्रतायुक्त हों।

४) [जल और ओषधियां] (तस्मै दुः-मित्रियाः सन्तु) उसके लिए दु-र्मित्रतायुक्त हों (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमसे द्वेषता है (च) और (यम् वयम् द्विष्मः) जिसे हम [भी] द्वेषते हैं।

१) साधक का हृदय समुद्र में है। समुद्र में जल हैं। अतः कहा जा सकता है कि साधक का हृदय जलों में है। जलों से अभिप्राय है रस। जलों में बहुत्व है अतः जल-वाची **अप्** शब्द सदा बहुवचन में प्रयुक्त होता है। जल कितने ही बहुल हों उनमें रसत्व समान, अतः एक है। यह रस है आस्वाद-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सुख जो जलों के सेवन से होता है। आस्वाद में हृदय रम जाता है।

इस संसार-रूप समुद्र में **आपः** = प्रकृति भरी हुई हैं। यह संसार प्रकृति का प्रसारमात्र है। प्रकृति के कण कण में **रस**—आनन्द, सुख, रमणीयता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, ये पांच तन्मात्र प्रकृति के आनन्दमय रस के भेदमात्र हैं। प्राणी का हृदय इस पंचविध रस में रमा रहता है। यह जीवन का ठोस तथ्य है। यदि यह रसरति समाप्त हो जाए तो आत्मा का प्रकृति से संबंधसूत्र टूट जाए और फलतः जीवन नष्ट हो जाए।

२) आपः = प्रकृति और ओषधियां = विकृतियां, प्रकृति और उसके विकार साधक में **सं-विष्ट** = प्र-विष्ट हो जाएं। बड़े पदार्थ में छोटा पदार्थ समा सकता है। अपनी भोगावस्था में, जब तक व्यक्ति स्वयं को प्रकृति से छोटा मानता रहा तब तक वह प्रकृति से तादात्म्य करके, उसके रस का लोभी बना हुआ, उसकी ओर आकृष्ट रहा। परिणामतः वह प्रकृति के रस में डूबा रहा। पर साधना से यह दुरवस्था बदलने लगती है। अब साधक में प्रकृति और उसके विकार लीन होने लगते हैं क्यों कि साधक अनात्म से अपना भेद समझकर अपने शुद्ध चैतन्य, आनन्द, ज्ञान स्वरूप को जान जाता है। आत्मलीनता की इस स्थिति में प्रकृति-विकृति आत्मा से एकीभूत होते हुए (**सं**) आत्मा में लीन हो जाती हैं। आत्मदर्शन से रस निवृत्त हो जाता है; **रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते** (श्रीमद्भगवद्गीता २.५९)। ओषधियां फलपाकान्त होती हैं। विकारों की सत्ता का प्रयोजन समाप्त हो जाता है और प्रकृति का भी। इनका प्रयोजन आत्मा की विवेकोपलब्धि तक होता है। यह संसार योग-जीवनपद्धति की साधना के लिए है, भोग के लिए नहीं। आत्मदर्शन-रूप फलपाक के साथ ही विकार-रूप ओषधियां समाप्त हो जाती हैं। आत्मरस में प्रकृतिरस डूब जाता है, ऐसा कि उसका स्वतंत्र आस्वाद शेष नहीं रहता।

३) व्यक्तिविशेष ही नहीं, पूरा समाज साधनापथ पर चलना चाहिए। व्यक्ति को अपनी ही नहीं, सबके मोक्ष की अभिलाषा रखनी चाहिए। यह अभिलाषा तब पूरी होगी जब सारा समाज योग-जीवनपद्धति पर चले। ऐसा होने पर आपः और ओषधियां (प्रकृति और उसके विकार) सब साधकों की **सु-मित्रिय** = सु-मित्रतायुक्त बन जाती हैं। वज्रवत् कठोर होने पर भी[1] प्रकृति साधकों की सु-मित्र है।

४) प्रकृति और उसके विकार जहां साधक की कल्याणसाधक (**सु**) मित्र हैं वहां इनकी दु-र्मित्रता केवल उससे रह जाती है जो योग-जीवनपद्धति वालों से विरोध मानता है, और इसी कारण, साधकों का, उसकी भोग-जीवनपद्धति के कारण, जिससे विरोध रहता है।

मनुष्य जिस भाव से प्रकृति का संग करता है उसी भाव की पुष्टि में प्रकृति सहायक हो जाती है। भोगी के लिए जगत् प्रलोभनों का पुंजमात्र है, तो योगी के लिए जगत् का कण कण दिव्य है।

१. **वज्रो वा आपः**। माश १२.९.२.६

११४१ **द्रुपदादिव मुमुचानः, स्विन्नः स्नातो मलादिव।**
पूतं पवित्रेणेवाज्य,मापः शुन्धन्तु मैनसः। य २०.२०

द्रुपदात्-इव मुमुचानः स्विन्नः स्नातः मलात्-इव। पूतम् पवित्रेण-इव आज्यम् आपः शुन्धन्तु मा एनसः।

(आपः) जल (एनसः) पाप से [पृथक् करके] (मा शुन्धन्तु) मुझे शोधें [वैसे] (द्रुपदात्-इव

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मुमुचानः) जैसे काष्ठ-पादुका से पृथक् होता हुआ [पैर], (स्विन्नः) पसीने से लथ-पथ [पुरुष] (स्नातः) नहा चुका [होने पर] (मलात्-इव) जैसे मल से [पृथक् हो जाता है], (पवित्रेण-इव पूतम्) जैसे पवित्र से शुद्ध (आज्यम्) घी।

जिसे मित्र की दृष्टि से देखा जाता है वह कितना भी कठोर हो, स्नेही बन सकता है। अमित्रदृष्टि मित्र को भी शत्रु बना सकती है। साधकों द्वारा सु-मित्रिय बना लेने पर, आपः—प्रकृति उनकी मित्र बन जाती है। पहले, अपने अविवेक-युग में प्रकृति को मात्र भोग्या समझकर व्यक्ति ने प्रकृति से बहुत क्षत (दुःख, चोटें, क्रूरताएं) पाईं। शब्द, स्पर्शादि उसके मन के विकार बन बैठे थे। पर जब से साधक ने प्रकृति को सु-मित्र बनाया है, वह उसे पाप से पृथक् करती हुई शोधने लगी है। पापमोचन ही शोधन है। आध्यात्मिक विवेक से युक्त होने पर साधक को शब्द, स्पर्शादि तन्मात्र, आत्मानुभूति में माध्यम बनकर, सहयोग देने लगे हैं।

पाप एक प्रकार का मलिन वस्त्र है जिसे साधक ने उसी आपः—प्रकृति में प्रवाहित कर दिया है जिसके संपर्क से वह आत्मा का आवरण बना था। मूंज में से जैसे चमकीली इषीका (सरकंडा) निकाल ली जाती है वैसे साधक सारे **पाप्मा**—पाप में से अलग निकल आया है (माश १२.९.२.७)। पापमुक्त, शुद्ध साधक की तीन उपमाएं मंत्र ने दी हैं।

यज्ञ करने से पूर्व यजमान स्नान करता है और हवि को शोधता है। स्नान के लिए जल में प्रवेश से पूर्व यजमान अपने पैरों में पहनी हुई खड़ाऊँ उतारता है। यजमान इन तीन क्रियाओं से उपमाएं ग्रहण करता है। खड़ाऊँ उतारने से पैर खड़ाऊँ से पृथक् हो गया। नहाने से शरीर स्वेदमल से पृथक् हो गया। पवित्र से छानने पर घी अशुद्धि से पृथक् हो गया। वैसे ही पापवस्त्र, तमोवस्त्र को पृथक् कर साधक शुद्ध हो गया है। तीन उपमाएं क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म और कारण स्तर के पाप वा तम से मुक्ति की सूचक हैं।

पाप वा तम वस्त्र को परे फेंककर साधक निर्वसन, निरावरण हो गया है। अविद्या वा माया का आवरण हटते ही वह दिगम्बर हो गया है। अब वस्त्रों का कोई प्रयोजन नहीं रहा। प्रकृति-आवरण से मुक्त शुद्ध चैतन्य पुरुष निर्वसन है। भेदभावभरी दृष्टि से मुक्त होकर, निज-पर का, गोप्य-अगोप्य का भेद नहीं रहा; प्राकृत शरीर, होते हुए भी, नहीं है, ऐसा उसे प्रतीत होता है। ज्योति में स्नान करके वह स्नातक बन गया है।

११४२ **उद् वयं तमसस्परि, स्वः पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यं,मगन्म ज्योतिरुत्तमम्।**
ऋ १.५०.१०; य २७.१०; ३५.१४; ३८.२४; अ ७.५३.७; तै ४.१.७.४ य २०.२१
उत् वयम् तमसः परि स्वः पश्यन्तः उत्-तरम्। देवम् देव-त्रा सूर्यम् अगन्म ज्योतिः उत्-तमम्।

(वयम्) हम (तमसः परि) अंधेरे से परे [होकर], (उत्-तरम् स्वः पश्यन्तः) उच्च-तर स्वः को देखते हुए, (उत्-तम् ज्योतिः) उच्च-तम ज्योति, (देव-त्रा सूर्यम् देवम्) देवों में 'सूर्य' देव तक (उत् अगन्म) उद्-गत [प्र-आप्त] हुए हैं।

आपः—प्रकृति तम है। तम पाप्मा—पाप है (माश १२.९.२.८)। साधक ने प्राकृत तमोवस्त्र, पापावरण को नष्ट कर दिया है। पाप मन का मल वा विकार है। शब्द, स्पर्शादि तन्मात्र जो मन

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

को मलिन बनाते थे, उस सब पाप को साधकों ने मार दिया है, निर्मूल कर दिया है।

इससे ऊपर की स्थिति है स्वः। स्वः=पृथिवी लोक,[1] यह भौतिक, स्थूल जीवन जिसमें अभी तक साधक लीन थे वह जीवन अब मात्र तटस्थ दर्शन का विषय रह गया है। जब तक कर्मफलों का भोग शेष है, शरीर चलता रहेगा। शरीर पहले स्वः= सुख, आनंदभोग का साधन था। उसी को परमानंद, परम ज्योति समझते रहे। पर जब से विवेकदृष्टि मिली है शरीर के प्रति सुखाकर्षण नहीं रहा।

साधकों का लक्ष्य तो वह उच्चतम ज्योति है जो देवों में 'सूर्य' कहाती है। यही वह स्वर्ग लोक है जहां अन्ततः साधक की प्रति-ष्ठा है। इस लक्ष्य को पाकर अब वह पीछे मुड़कर नहीं देखेगा क्यों कि उसे वापिस अवर लोकों में, भवचक्र में नहीं पड़ना है (माश १२.९.२.८)। सर्वप्रेरक, सर्वोत्पादक, सर्वाधिष्ठाता आत्मसूर्य तत्त्व ही वह लक्ष्य था जिसे अब साधकों ने पा लिया है। साधक तम से उत्क्रमण कर त्रि-विक्रम विष्णु बनकर तमः (आपः), स्वः और ज्योति, इन तीन डगों में यात्रा पूरी कर चुका है।

१. 'स्वः पश्यन्त उत्तरं' इत्ययं वै लोकोद्भ्य उत्तरः। माश १२.९.२.८

११४३ **अपो अद्यान्वचारिषं, रसेन समसृक्ष्महि।**
पयस्वानग्न ! आगमं, तं मा सं सृज वर्चसा, प्रजया च धनेन च। य २०.२२
अपः अद्य अनु अचारिषम् रसेन सम् असृक्ष्महि। पयः+वान् अग्ने आ अगमम् तम् मा सम् सृज वर्चसा प्र-जया च धनेन च।

१) (अद्य) आज (अपः अनु अचारिषम्) जलों का मैंने अनु-चरण किया है,
२) (रसेन) रस से (सम् असृक्ष्महि) हम सं-युक्त हो गए हैं,
३) (अग्ने) अग्ने ! (पयः-वान्) पयवाला (आ आगमम्) मैं आ गया हूं।
४) [अतः] (तम् मा) वैसे मुझे (वर्चसा, च प्र-जया, च धनेन) वर्च से, और प्र-जा से और धन से (सम् सृज) सं-युक्त कर।

१) साधक ने प्रकृति का अनु-चरण किया। सर्जनकारी, प्राकृतिक शक्तियों का अनु-आचरण, अनुपालन, अभ्यास करके उसने सर्जन के रहस्यों को जान लिया है।

२) प्रकृति ने अपने अनु-चारी को अपना रस—पयोमय स्वरूप प्रकट कर दिया। प्रकृति में निहित जो आत्मास्वाद है, आत्मज्योति है उससे साधक संयुक्त हो गया है। सृष्टि के जाने हुए रहस्यों को आत्मसात् करके, न केवल साधक स्वयं वरन् उसके आस-पास का समूचा समाज अपना सं-सर्जन, अपनी जीवनपद्धति का पुनर्निर्माण—योगमयकरण, दिव्यीकरण करते हैं।

३) आनन्दरूप रस—पय से युक्त होकर साधक आत्माग्नि से सं-युक्त हो गया है। यह सायुज्य मुक्ति है। साधक ने स्वयं को आत्माग्नि को सोंप दिया है। यहां समर्पण संकेतित है।

४) आत्माग्नि से संयुक्त साधक आत्मवर्च से, प्रजाओं—इन्द्रियों से और आत्मिक धन से भी युक्त हो गया है। साधक ने साधना का फल पाने की पात्रता पा ली है। अब वह आत्मिक और भौतिक, दोनों फलों से युक्त हो जाएगा। भोगजीवनपद्धति का रूपान्तर होकर साधक दिव्य हो गया है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

११४४ **एधोस्येधिषीमहि, समिदसि, तेजोसि, तेजो मयि धेहि । समाववर्ति पृथिवी, समुषाः, समु सूर्यः । समु विश्वमिदं जगत् । वैश्वानरज्योतिर्भूयासं, विभून् कामान् व्यश्नवै, भूः स्वाहा ।** य २०.२३

एधः असि एधिषीमहि सम्-इध् असि तेजः असि तेजः मयि धेहि । सम्-आ+ववर्ति पृथिवी सम् उषाः सम् उ सूर्यः । सम् उ विश्वम् इदम् जगत् । वैश्वानर-ज्योतिः भूयासम् वि-भून् कामान् वि अश्नवै भूः स्वाहा ।

१) (एधः असि) तू [अग्नि का] प्रदीपक है; (एधिषीमहि) हम बढ़ें ।

२) (सम्-इध् असि) तू [अग्नि का] समिधन है, (तेजः असि) [अग्नि का] तेज है; (मयि तेजः धेहि) मुझमें तेज को धर दे ।

३) (पृथिवी सम्-आ-ववर्ति) पृथिवी सम्यक् आ-वृत्तियां कररही है, (उषाः सम्) उषा सम्यक् [आ-वर्तन कररही है], (उ सूर्यः सम्) और सूर्य सम्यक् [आ-वर्तन कररहा है], (उ इदम् विश्वम् जगत् सम्) और यह सारा जगत् सम्यक् [आ-वर्तन कररहा है] ।

४) (वैश्वानर-ज्योतिः) विश्व नरों की ज्योति (भूयासम्) हो जाऊं, (वि-भून् कामान्) वि-राट् अभिलाषाओं को (वि अश्नवै) विशेषतया भोगूं — सिद्ध करूं ।

५) (भूः) सत्ता । (स्वाहा) स्वा [वाक्] ने [यह] कहा है ।

१) काष्ठ ठोस और ज्योतिहीन होता है । पर वही अग्नि का उत्पत्तिस्थान, और उत्पन्न अग्नि का उद्दीपक—वर्धक होता है । अतः उसे **इन्धन** (इंधन) कहते हैं । **एध** भी इन्धन को कहा जाता है । समिध् अग्नि को भड़काती और बढ़ाती है । जितना अग्नि प्रज्वलित होता है उतना ही अधिकाधिक लाभ उससे लिया जा सकता है ।

आध्यात्मिक दृष्टि से, प्रकृति और यह प्राकृत, शरीरादि-बुद्धयन्त विकृतियां आत्माग्नि की वृद्धि करनेवाली हैं । इस समिध् से हम बढ़ें, हमारा आत्माग्नि अधिकाधिक शुद्ध, प्रोज्ज्वल हो ।

२) **समिध्** का अर्थ है एकीभूत होकर, मिलकर उद्दीपक । अग्नि का उद्दीपन करने के लिए काष्ठ स्वयं को उसमें आहुत करता है और स्वयं **तेज**—अग्नि बन जाता है । तभी वह साधक में तेज को स्थापित करता है । शरीरादि भी आत्माग्नि को समर्पित होकर, स्वयं तेजस्वी बनकर तेज का दान करने में समर्थ होते हैं ।

३) पृथिवी, उषा, सूर्य, सब अपनी धुरी पर, अविचल भाव से, परस्पर सहयोगपूर्वक **समावर्तन**—गति कररहे हैं । यह सारा चर जगत् अपने अपने नियम (**व्रत**, मंत्र २४) के अनुसार घूमरहा है ।

४) मैं साधक भी विश्व नरों की ज्योति हो जाऊं । जैसे सारा सौर जगत् अपनी ज्योति, सूर्य के चहुं ओर घूमरहा है वैसे आत्मा भी साधक के जीवन-जगत् का ज्योतिष्केंद्र बन जाए । शरीर, प्राण, मन, बुद्धि, ये सब नर हैं, अपने अपने क्षेत्र में नायक हैं । पर नायक को भी मार्गप्रदर्शक प्रकाश तो चाहिए ही । वह प्रकाश आत्मा है ।

क्षुद्र विषय-कामनाओं का भोग न जाने कब से, कितने जन्मों से साधक करता चला आरहा है । वैश्वानर-ज्योति बनकर वह अब उन विराट् कामनाओं का विशिष्ट भोग करे जिन्हें ज्योति बनकर ही भोगा जा सकता है । शाश्वत सत्य ज्ञान, शाश्वत आनन्द, शुद्ध चैतन्य की अनुभूति की प्राचीन, सनातन विराट् कामनाओं की प्राप्ति अब

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ही संभव है। ५) देखें मंत्र सं. १२ की व्याख्या का परिच्छेद सं २।

११४५ **अभ्या दधामि समिध,मग्ने ! व्रतपते ! त्वयि।**
व्रतं च श्रद्धां चोपैमी,न्धे त्वा दीक्षितो अहम्। य २०.२४
अभि आ दधामि सम्-इधम् अग्ने व्रत-पते त्वयि। व्रतम् च श्रद्धाम् च उप एमि इन्धे त्वा दीक्षितः अहम्।

१) (व्रत-पते अग्ने) व्रत के रक्षक ! अग्ने ! (त्वयि) तुझमें (सम्-इधम्) समिध् को (अभि आ दधामि) धरता हूं।
२) व्रतम् च, श्रद्धाम् च उप) व्रत के और श्रद्धा के पास (एमि) जाता हूं।
३) (दीक्षितः अहम्) दीक्षायुक्त मैं (त्वा इन्धे) तुझे दीप्त करता हूं।

१) किसी भी साधना को आरंभ किया जाए उसका अंतिम लक्ष्य आत्माग्नि होता है। उसे साक्षी मानकर, सर्वप्रथम, साधक स्वयं को लक्ष्य के लिए समर्पित करता है। साधक ने सर्वारंभ में ऐसा किया था। लक्ष्यस्मृतिपूर्वक गृहीत उस प्रतिज्ञा को साधना के प्रत्येक क्षण में, और सिद्धि के धन्य क्षण में भी कभी भुलाना नहीं चाहिए। इस और अगले दो मंत्रों में उस प्रतिज्ञा का ही अनु-स्मरण है।

अग्नि व्रत का रक्षक है। उसी के अनुग्रह से साधक व्रत को पूरा निभा सकेगा। उसी की कृपा से वह वैश्वानर-ज्योति बनकर अपने जीवनजगत् का सुनेतृत्व कर सकेगा। अग्नि को समर्पण के प्रथम क़दम के रूप में वह अपने स्थूल, भौतिक, प्राकृत शरीर को आत्माग्नि को सौंपता है। शरीर धर्म का आद्य साधन है। उसका सहयोग अग्निव्रत-चर्या में सर्वप्रथम अपेक्षित है।

२) शरीर-रूप इस प्रथम समिध् के अभ्याधान के साथ साधक व्रत और श्रद्धा—सत्यधारणा के निकट पहुंचता है। व्रत, और तत्पूर्तिरूप सतत अनुकूल भावना व्रतग्रहण का परिणाम है। व्रतानुकूल सतत मंगलमय भावना से व्रत के औचित्य में विश्वास दृढ होता है, उसकी पूर्ति में स्वसामर्थ्य का भरोसा जमता है और इससे प्रयत्न में तीव्रता आती है। श्रद्धा से मंज़िल आधी फ़तह हो चुकी होती है। श्रद्धा अंततः सत्य की प्राप्ति कराती है; **श्रद्धया सत्यमाप्यते** (यजुर्वेद १९.३०), श्रद्धा से सत्य को पा लिया जाता है।

३) व्रत और श्रद्धा की उपलब्धि का नाम दीक्षा है। दीक्षा कर्म करने के लिए सन्नद्धता है। दीक्षा ग्रहण करनेवाले को दीक्षित कहते हैं। व्रत-श्रद्धादीक्षित ही अंततः अग्नि का इंधन (आत्माग्नि को प्रदीप्त) करने में समर्थ होता है।

११४६ **यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च, सम्यञ्चौ चरतः सह।**
तँल्लोकं पुण्यं प्र ज्ञेषं, यत्र देवाः सहाग्निना। य २०.२५
यत्र ब्रह्म च क्षत्रम् च सम्यचौ चरतः सह। तम् लोकम् पुण्यम् प्र ज्ञेषम् यत्र देवाः सह अग्निना।

१) (यत्र) जहां (सम्यञ्चौ) सं-गत [परस्पर अ-विनाभूत] (ब्रह्म च, क्षत्रम् च) ब्रह्म और क्षत्र (सह

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

चरतः) साथ चलते हैं,
२) (यत्र) जहां (देवाः) देव (अग्निना सह) अग्नि के साथ [हैं]
३) (तम् पुण्यम् लोकम्) उस पवित्र लोक को (प्र) भली भांति (ज्ञेषम्) मैं जान लूं।

१) आत्माग्नि में द्वितीय समिदाधान सूक्ष्म प्राणराष्ट्र की आहुति है। शरीर से श्रम तभी होता है जब प्राणकोश तपस्वी हो।

प्राणमय ऊर्जापुंज का सर्मिधन होने पर ब्रह्म और क्षत्र का सहचार होता है। वैसे तो ये दोनों एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते हैं। **ब्रह्म**=ज्ञान, **क्षत्र**=स्वरूपरक्षा, कर्म। बिना ज्ञान के आत्म-अनात्मविवेक असंभव है। इस विवेक के बिना आत्मस्वरूप की रक्षा संभव नहीं है। विवेकहीन ऐसे कृत्य करता रहता है जिनसे स्वरूप की उपेक्षा होती रहती है। अतः दोनों का सहचार आवश्यक है। ज्ञानपूर्वक कर्म और कर्मानुभव से ज्ञान की पुष्टि, इस प्रकार दोनों का सह-चार होना चाहिए। **क्षत्र** प्राण का संकेत है।

२) प्राणमय ऊर्जापुंज का सर्मिधन होने पर सब देव अग्नि के साथ रहते हैं। सारे देव अग्निमय हैं। देव शक्तिरूप हैं। प्राण में सब देवों का सह-निवास है।

३) प्राणरूप द्वितीय समिदाधान से प्राणमय पुण्य **लोक**—स्थिति की सिद्धि होती है।

११४७ **यत्रेन्द्रश्च वायुश्च, सम्यञ्चौ चरतः सह।**
तँल्लोकं पुण्यं प्र ज्ञेषं, यत्र सेदिर्न विद्यते। य २०.२६
यत्र इन्द्रः च वायुः च सम्यञ्चौ चरतः सह। तम् लोकम् पुण्यम् प्र ज्ञेषम् यत्र सेदिः न विद्यते।

१) (यत्र) जहां (सम्यञ्चौ) सं-गत दोनों (इन्द्रः च वायुः च) इन्द्र और वायु (सह चरतः) साथ चलते हैं,
२) (यत्र) जहां (सेदिः न विद्यते) सदन–ठिकाना–सीमा नहीं है
३) (तम् पुण्यम् लोकम्) उस पवित्र लोक को (प्र) भली भांति (ज्ञेषम्) मैं जान लूं।

१) यह आत्माग्नि में तृतीय, कारण स्तर की समिध् का अभ्याधान है। इससे बौद्धिक विवेक की सिद्धि होती है। आत्म-अनात्म का विवेक इसी का परिणाम है। इस स्थिति में इन्द्र और वायु का सह-चार है। **वायु**=प्राण, क्षत्र। **इन्द्र** बुद्धि का प्रतीक है।

२) इस अवस्था में सब सीमाएं टूट जाती हैं। आगे अनंत आत्मकैवल्य का क्षेत्र है। साधना के इस स्तर को सिद्ध कर लेने पर आत्मा अपने विशुद्ध, निर्विकल्प चैतन्य-ज्ञान-आनन्द स्वरूप के प्रति उद्बुद्ध हो जाता है। प्राकृत, भौतिक सीमाएं—**सेदि** अब उसकी बाधक, आवरण (**क्षत**) नहीं रहतीं।

३) ज्ञानमय तृतीय पुण्य लोक की सिद्धि साधक को इस तृतीय ज्ञानरूप समिदभ्याधान से होती है।

११४८ **अंशुना ते अंशुः, पृच्यतां परुषा परुः।**
गन्धस्ते सोममवतु, मदाय रसो अच्युतः। य २०.२७
अंशुना ते अंशुः पृच्यताम् परुषा परुः। गन्धः ते सोमम् अवतु मदाय रसः अ+च्युतः।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१) (ते) तेरा [सुरा का] (अंशुः अंशुना) अंशु [सोम के] अंशु से, (परुः परुषा) [तेरा] परु [सोम के] परु से (पृच्यताम्) जुड़ जाए।
२) (ते गन्धः) तेरा गन्ध [और तेरा] (मदाय अ+च्युतः) मद [पैदा करने] के लिए अ-चूक (रसः) रस (सोमम् अवतु) सोम का आलिंगन करे।

जीवन में दो प्रकार के पदार्थों का सेवन प्राणी करता है, सुरा और सोम। किसी पदार्थ के सेवन करने पर, सर्वप्रथम, जाठराग्नि उसकी सुरा बनाती है। इसकी पहचान यह है कि भोजनादि करने के कुछ देर पश्चात् आलस्य-सा आने लगता है। यह सुरा की ख़ुमारी होती है। इस अवस्था में प्राणी आराम करना वा सोना चाहता है। सोकर उठने पर जो ताज़गी आती है वह ख़ुमारी के उतर चुकने की सूचना है। जब जब भी प्राणी भोजनादि करता है तो अन्नादि की सुरा अवश्य बनती है, यह प्राकृत विधान है।[1] वस्तुतः, सुरा अन्न का मल-भाग है जिसे अलग छांटकर जाठराग्नि अन्न-पान का रस बनाता है। फिर रस में से मलांश निकल जाने पर रक्त बनता है। रक्त में से मल हट जाने पर मांस बनता है। इस प्रकार, मलामल का भेद करते करते अंत में सोम बन जाता है। इस प्रक्रिया को कारोतर नाम दिया गया है।[2] यह प्रक्रिया स्थूल अन्न-पानसेवन में ही नहीं, जीवन में सर्वत्र चलती है। किसी भौतिक उपलब्धि पर जो अभिमान पैदा होता है वह सुरा है। बौराने वा इतराने की अवस्था सुरा है। बाद में, संजीदगी आ जाने पर सोम-अवस्था आती है।

१) इस मंत्र में सुरा के सोम बनने की प्रक्रिया का संकेत है। सुरा का अंशु सोम के अंशु में मिल जाए, सुरा का पोरु सोम के पोरु में घुल-मिल जाए, इस कथन में यह भावना है कि सुरा सोम बन जाए।
२) सुरा की गंध सोम की गंध में बदल जाए। सुरा का **रस**—सार, जो मल के पृथक् हो जाने पर **अ-च्युत** = सुरक्षित रह जाता है और, निश्चय से, मद पैदा करता है, वह भी सोम का **रस**—स्वाद बन जाए। सुरा के सोम बनने की प्रक्रिया भौतिकता को आध्यात्मिकता में परिणत करने की प्रक्रिया है; यही आत्मिक साधना है।

१. १९वां पुष्प, मंत्र ११०९ की व्याख्या, परिच्छेद ३, पृष्ठ १२७६.
२. १९वां पुष्प, मंत्र ११०८ की व्याख्या, परिच्छेद ४, पृष्ठ १२७५.

११४९ **सिञ्चन्ति परि षिञ्चन्त,युत् सिञ्चन्ति पुनन्ति च।**
सुरायै बभ्रव्यै मदे, किन्त्वो वदति किन्त्वः। य २०.२८
सिञ्चन्ति परि सिञ्चन्ति उत् सिञ्चन्ति पुनन्ति च। सुरायै बभ्रव्यै मदे किम्+त्वः वदति किम्+त्वः।

१) [सुरा को याजक] (सिञ्चन्ति) सीचते हैं, (परि सिञ्चन्ति) परि-सेक करते हैं, (उत् सिञ्चन्ति) उत्-सेक करते हैं (च पुनन्ति) और पवित्र करते हैं।
२) (बभ्रवै सुरायै) पीत सुरा के लिए, (मदे) मद [के पैदा हो चुकने] पर (इन्द्रः) इन्द्र (किम्+त्वः, किम्+त्वः) 'क्या एक, क्या दूसरा' [यह] (वदति) बोलता है।

१) सुरा को सोम बनाने की प्रक्रिया पवित्रीकरण की प्रक्रिया है, भोग को योग में, भुक्ति को मुक्ति में लीन करने की साधना है। इस प्रक्रिया में सुरा का पात्र में सेचन, फिर पय, आदि से परि-सेचन, फिर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ग्रहों से उत्सेचन होता है।

२) सुरा का प्राणरूप पात्र में **सेचन**—ग्रहण होने पर प्राणबल उत्तेजना से भर जाते हैं। यह स्थिति **बभ्रु**=पीतवर्ण, अर्थात्, तमतमाहट की है। तमतमाहट और सुरा, दोनों को पीत कहा गया है। फिर सुरा में वीर्यरूप पय के मिश्रण से मन में सुरा का **परि-सेक**, परितः सेचन होता है। यह स्थिति **मद**—अभिमान की है। इसमें काम उभरता है और प्राणबल भोगार्थ चित्तचांचल्य (वि-षाद) में बदल जाता है। पर, सुरा का पवित्रीकरण होकर, अंत में सुरा का सोम बनता है और उसका **उत्-सेक**=ऊर्ध्व नयन और विभिन्न देवों के लिए उसका ग्रहण होता है। इस सोम का पान **इन्द्र**=बुद्धि करती है। फलतः बुद्धि में विवेकोदय होता है। अब बुद्धि आत्मा और प्रकृति का भेद कर लेती है। मंत्र में आए दो **किन्त्व** पद आत्म-अनात्म के लिए हैं। यह पद दोनों के पृथक् ज्ञान की जिज्ञासा को सूचित करता है।

११५० **धानावन्तं करम्भिण,मपूपवन्तमुक्थिनम्। इन्द्र! प्रातर्जुषस्व नः।**
ऋ ३.५२.१; सा २१० य २०.२९
धाना-वन्तम् करम्भिणम् अपूप-वन्तम् उक्थिनम्। इन्द्र प्रातः जुषस्व नः।

(इन्द्र) इन्द्र! (नः) हमारे (धाना-वन्तम्, करम्भिणम्) धाना-वान्, करम्भों वाले, (अपूप-वन्तम्, उक्थिनम्) अपूप-वान्, उक्थवाले [पुरोडाश] को (प्रातः जुषस्व) प्रातः सेवन करो।

इन्द्र पुरोडाश का सेवन करता है। वैदिक चिन्तन में पुरोडाश मस्तिष्क का प्रतीक है।[1] मस्तिष्क का सेवन, अर्थात्, मस्तिष्क के परिष्कार की साधना बुद्धि और विवेक की साधना है। इसका सर्वोत्तम काल प्रातः है। ब्राह्म मुहूर्त से सूर्योदय के बाद तक यह काल रहता है। इस समय मस्तिष्क ताज़ा और ग्रहणशील होता है। ध्यान, स्वाध्याय जैसे साधना-परक कृत्यों के लिए यह अमृतवेला है।

मस्तिष्क **धाना-वान्** है। **धाना धा** (धारण) धातु का रूप है। **धाना**=धारणाशक्ति, श्रद्धा, मनोबल। **करम्भी** भी मस्तिष्क है। **करम्भ**=करनेवाला, क्रतुसामर्थ्य। **अपूप-वान्** भी वह है। **अ+पूप**=नहीं+सड़ा हुआ, ताज़ा, स्वास्थ्य, शरीरबल। मस्तिष्क **उक्थी** है। **उक्थी**=प्रशंसावान्, प्रशस्त। जीवन में मस्तिष्क की महत्ता सर्वोपरि है। वही श्रद्धा, क्रिया, बल का निधान है। ये सब मस्तिष्क पर निर्भर हैं। जैसा चिंतन वैसे मन, प्राण, देह हो जाते हैं। अतः जीवन में मस्तिष्क सर्वाधिक प्रशंसनीय है। मस्तिष्क की साधना परम और सतत साधना है। उत्थान वा पतन के बीज मस्तिष्क में ही पनपते हैं। **इन्द्र**—बुद्धि मस्तिष्क का सेवन करती है। प्रकृति का प्रथम विकार सृष्टि में व्याप्त बुद्धितत्त्व है। व्यक्ति का मस्तिष्क वह पात्र है जिसमें बुद्धि निवास करती है।

१. १९वां पुष्प, मंत्र ११११ की व्याख्या, पृष्ठ १२७७.

११५१ **बृहदिन्द्राय गायत, मरुतो! वृत्रहन्तमम्।**
येन ज्योतिरजनय,न्नृतावृधो देवं देवाय जागृवि।
ऋ ८.८९.१; सा २५८ य २०.३०

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

बृहत् इन्द्राय गायत मरुतः वृत्र+हन्-तमम्। येन ज्योतिः अजनयन् ऋत-वृधः देवम् देवाय जागृवि।

१) (मरुतः) मरुतो ! (वृत्र+हन्-तमम्) सबसे बढ़कर वृत्र-हन्ता [उस] (बृहत्) बृहत् [साम-विशेष] को (इन्द्राय) इन्द्र के लिए (गायत) गाओ

२) (येन) जिस[साम]से (ऋत-वृधः) ऋत-वर्धकों ने (देवाय) [इन्द्र] देव के लिए (जागृवि) जागरूक, (देवम्) दीप्यमान (ज्योतिः) ज्योति को (अजनयन्) जना था।

१) मरुत इन्द्र के सहायक हैं वृत्र से उसके युद्ध में। वृत्र=पाप्मा, पापवृत्ति। पाप से इन्द्र—बुद्धि का जो विरोध है उसमें मरुत—प्राणशक्ति की धाराएं उसका उत्साह बढ़ाती हैं बृहत् का गान करके, बृहत्=महत्, उदारता, विराट् दृष्टिकोण का उद्गान करके। संकुचित चिंतन से बुद्धि क्षुद्र हो जाती है, जब कि बृहत् चिंतन से वह उदार बनती है। गान वाणी का परिवृद्ध रूप है। इससे प्रेरणा, उत्साह और प्रफुल्लता मिलती है। जप, कीर्तनादि भी गान के रूप हैं जिन्हें अर्थभावनापूर्वक करने से बुद्धि का शोधन और चित्त की एकाग्रता होती है। वृत्र-हा [=वृत्र को मारनेवाले] तो अनेक हैं पर सबसे बढ़कर वृत्र-हा बृहत् का गान है।

२) गान से ज्योति को जना जाता है। ऋत, परम सत्य के वर्धक—साधक गान के द्वारा सदा से इन्द्र देव के लिए जागरूक ज्योति देव को प्रकट करते रहे हैं। ज्योति ही जागती है। उसके जागते अन्य सब जागते हैं अन्यथा अंधेरे में सब लीन और लाचार पड़े रहते हैं। विवेक जागरूक ज्योति है। वह शाश्वत देदीप्यमान (देव) है। बृहत् साम से ज्योति का जन्म परम साधना है।

३) अतः मरुतो ! याजको ! साधक के सब (शरीर, प्राण, मन, चित्त, अहंकार) सहयोगियो ! बृहत् साम को सदा गाते रहो और विवेकज्योति को जनते रहो। गाओ, बृहत्—खूब गाओ। जो गान पाप का निश्चय से समूल नाश कर दे और ज्योति को उत्पन्न करे उसकी बृहत्ता—महत्ता में क्या संदेह ! गानरूप शब्दब्रह्म से पर ब्रह्मज्योति को जनो। बृहत्—महत् प्रकृति का आदिम विकार है। इसे ही बुद्धि कहते हैं। बृहत् का गान बुद्धि के महिमा का गान है। गान ही साम है। यह साम क्षत से त्राता, साम्राज्य (विवेकराष्ट्र) का दाता, वेद-विवेक के रस से साधक का अभिषेक करनेवाला है।[1] जिसे शुद्ध, सात्त्विक, मायातीत, ज्योतिर्मय ब्राह्म बुद्धि प्राप्त हो गई वह साधक तो श्री और प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित होकर तपनेवाले आदित्य के समान स्वयं इन्द्र बन जाता है। साम उसके वृत्रत्व का विनाश कर उसे ज्योतिष्मान् बना देते हैं (माश १२.८.३.२४-२६)।

१. क्षत्रं वै साम। साम्राज्यं वै साम। सर्वेषां वा एष वेदानां रसो यत् साम। माश १२.८.३.२३

११५२ **अध्वर्यो ! अद्रिभिः सुतं, सोमं पवित्र आ नय। पुनाहीन्द्राय पातवे।**

ऋ ९.५१.१; सा ४९९; १२२५ य २०.३१

अध्वर्यो अद्रि-भिः सुतम् सोमम् पवित्रे आ नय। पुनाहि इन्द्राय पातवे।

१) (अध्वर्यो) अध्वर्यु ! (अद्रि-भिः सुतम्) अद्रियों द्वारा संपन्न (सोमम्) सोम को (पवित्रे) चलनी पर (आ नय) लाओ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

२) [उसे] (इन्द्राय) इन्द्र के लिए, [उसके] (पातवे) पीने के लिए (पुनाहि) छानो।

१) यज्ञ में अध्वर्यु सोम को पवित्र से छानकर शुद्ध करता है। **अद्रि**=पत्थर, पीसने का साधन। स्थूल अन्न को सूक्ष्म बनानेवाले साधन जैसे दांत, जाठराग्नि (वे रासायनिक द्रव जो अन्न में मिलकर उसका रस, आदि बनाते हैं) अद्रि हैं। अन्न के सेवन और पचन से शनैः शनैः सोम बनता है। सोम से मन बनता है। जैसा सोम होगा वैसा मन बनेगा। मन का शोधन होने पर बुद्धि की विवेक-ज्योति उत्पन्न होगी। अतः विवेकज्योति के उदयार्थ सोम का मनरूप चालनी से शोधन साधना का आवश्यक अंग है।

२) छनकर शुद्ध हुआ सोम यज्ञिय साधना में सहयोगी बनता है। उसे इन्द्र पीता है और विवेक-ज्योति को उत्पन्न करता है।

११५३ **यो भूतानामधिपति,र्यस्मिँल्लोका अधि श्रिताः।**
य ईशे महतो महाँस्,तेन गृह्णामि त्वामहं, मयि गृह्णामि त्वामहम्। य २०.३२
यः भूतानाम् अधि-पतिः यस्मिन् लोकाः अधि श्रिताः। यः ईशे महतः महान् तेन गृह्णामि त्वाम् अहम् मयि गृह्णामि त्वाम् अहम्।

१) (तेन) उसके द्वारा (अहम् त्वाम् गृह्णामि) मैं तुझे [सोम को] ग्रहण करता हूं [और] (मयि) स्वयं में (अहम् त्वाम् गृह्णामि) मैं तुझे ग्रहण करता हूं
२) (यः) जो (भूतानाम् अधि-पतिः) भूतों का अधिक-रक्षक [है],
३) (यस्मिन्) जिसमें (लोकाः अधि श्रिताः) लोक-अधि-ष्ठित, आ-श्रित [हैं],
४) (यः) जो (महान्) महान् (महतः ईशे) महत् का स्वामित्व कररहा है।

१) विवेकज्योति से युक्त, पावन सोम का इन्द्र को सेवन करानेवाला याजक अपना भौतिक जीवन किस दृष्टिकोण से जीता है इसका प्रतिपादन इस मंत्र में है। साधक अपने शरीर को और लौकिक व्यवहार को परमात्मा की सहायता से निर्वाहता है और अपने आत्मा से स्वीकारता है। परमात्मा को साक्षी मानकर जीवनयापन करने से जीवन में वृत्र—पाप्मा का दुष्प्रभाव नहीं हो पाता है। ऐसा निर्मल जीवन आत्मा के लिए बाधक न होकर विवेक-ज्योति को जगाने में सहायक बनता है।

२) परमात्मा सब **भूतों**, चराचर पदार्थों का निरीक्षक और रक्षक है।

३) उसमें सब **लोक**, साधक की सब उच्चावच अवस्थाएं आश्रित हैं। उसी पर सब निर्भर है।

४) वह **महान्**, सर्वोत्कृष्ट, परम सत्ता, परम ज्ञान, परम बल, परम आनन्द है। उसने **महत्**—बृहत् (मंत्र ३०), बुद्धितत्त्व का ईशत्व किया हुआ है। उस ईश् की कृपा से ही बुद्धि अपने सात्त्विक, शुद्ध, चैतन्य स्वरूप को प्राप्त करती है।

११५४ **उपयामगृहीतोस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे, एष ते योनि-रश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे।**
य १०.३२; १९.६ य २०.३३
उप+याम-गृहीतः असि अश्वि-भ्याम् त्वा सरः+वत्यै त्वा इन्द्राय त्वा सु-त्राम्णे एषः ते योनिः अश्वि-भ्याम् त्वा सरः-वत्यै त्वा इन्द्राय त्वा सु-त्राम्णे।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१) [सोम !] (उप-याम-गृहीतः असि) तू उप-याम-गृहीत है।
२) (त्वा अश्वि-भ्याम्) तुझे दोनों अश्वियों के लिए, (त्वा सरः-वत्यै) तुझे प्रवाह-वती के लिए, (त्वा सु-त्राम्णे इन्द्राय) तुझे सु-त्रामा इन्द्र के लिए [ग्रहण करता हूं]।
३) (एषः ते योनिः) यह तेरा स्थान [है]।
४) (त्वा अश्वि-भ्याम्) तुझे दोनों अश्वियों के लिए, (त्वा सरः-वत्यै) तुझे प्रवाह-वती के लिए, (त्वा सु-त्राम्णे इन्द्राय) तुझे सु-तारक इन्द्र के लिए [बैठाता हूं]।

१) जीवन का ग्रहण **उप-याम**, उप-यमन, सं-यम द्वारा होता है।

२) इस ग्रहण का प्रयोजन अश्वियों, सरस्वती और सुत्रामा इन्द्र की स्वरूपरक्षा है। बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी वृत्तियां अश्वि-द्वय हैं। इन दो से जीवनरथ के घोड़े दौड़रहे हैं। जीवन की सारी चेष्टाएं, ज्ञान- और कर्म-इन्द्रियों की सारी क्रियाएं या तो बहिर्मुखी हैं या अन्तर्मुखी। **सरस्वती**= वाक्प्रवाह, वाणी की अधिष्ठात्री है मनोवृत्ति। प्राणी पहले मन से सोचता है फिर वाक्प्रवाह बहने लगता है। सुत्रामा, जीवन का कल्याणकारी त्राता है इन्द्र, बुद्धि। इन सबकी स्वरूपरक्षा जीवनरूप ग्रह (पात्र) का ग्रहण उपयमन द्वारा करने से होती है।

३) जीवन को जो यह मानवयोनि-रूप अवसर मिला है वह इन तीनों (अश्वियों, सरस्वती, सुत्रामा इन्द्र) की साधना के लिए है। जीवन की इस योनि में स्थिति का परिणाम इन तीनों के शोधन और बोधन के रूप में मिलना ही चाहिए। अन्यथा यह सौत्रामणी यज्ञ, जीवन को विवेकमय बनाने की साधना व्यर्थ हो जाएगी।

११५५ **प्राणपा मे अपानपाश्, चक्षुष्पाः श्रोत्रपाश् च मे।**
वाचो मे विश्वभेषजो, मनसोसि विलायकः। य २०.३४
प्र+अन-पाः मे अप+अन-पाः चक्षुः-पाः श्रोत्र-पाः च मे। वाचः मे विश्व-भेषजः मनसः असि वि-लायकः।

[सोम !] तू (मे प्राण-पाः) मेरा प्राण-रक्षक (च अपान-पाः) और अपान-रक्षक, (मे चक्षुः-पाः) मेरा चक्षु-रक्षक (च श्रोत्र-पाः) और श्रोत्र-रक्षक, (मे वाचः विश्व-भेषजः) मेरी वाणी की सर्वौषधि [और] (मनसः वि-लायकः) मन को जोड़नेवाला (असि) है।

सोमसवन की साधना सारग्रहण का अभ्यास है। मनुष्य जो बाह्य और आंतरिक जीवन जीता है उससे जो सोम—सार निष्पन्न होता है वह प्राण-अपान, चक्षु-श्रोत्र, वाक्-मन, इनका उपकारक होना चाहिए। सोम ऐसा उपकारक होना चाहिए कि साधक उसे '**मेसि**, (तू मेरा है,)' इस प्रकार प्रेम से पुकार सके। मंत्र में दो दो इन्द्रियों के तीन जोड़े हैं जो मनुष्य के जीवन के स्थूल, सूक्ष्म और कारण स्तरों को क्रमशः संकेतित करते हैं।

प्राण-अपान जीवन का स्थूल स्तर है। ओषधि-वनस्पति, कीट-पतंग, पशु-पक्षी, सबमें श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया चलरही है जिससे वे प्राणी कहलाते हैं।

चक्षु-श्रोत्र ज्ञानेन्द्रियों के उपलक्षण हैं। देख-सुनकर प्रत्यक्ष और परोक्ष विश्व का, निकट-दूर के विषयों का ज्ञान होता है। यह ज्ञान का, सत्य-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ग्रहण का स्तर सूक्ष्म है।

वाक् और मन क्रमशः कर्मेन्द्रियों और अन्तः-करण के उपलक्षण हैं। मन, और उसकी अभि-व्यक्ति का साधन वाणी सूक्ष्मतम और स्थूल जीवन के दो छोर हैं। एक अव्यक्त है, दूसरा व्यक्त। व्यक्त, वाणी असत्य और अनावश्यक भी बोल सकती है। सोम वाणी के सब दोषों की ओषधि होवे ताकि मनुष्य देख-सुनकर सत्य और मित ही बोले। सोम मन का **वि-लायक** है। **लायक**= आलिंगन करने, जोड़ने, लीन कर लेनेवाला। सोम मन को लीन—एकाग्र करता है, उसकी चंचलता को दूर कर उसे बाह्य भौतिक आकर्षणों से विरत कर आत्मा में केन्द्रित कर देनेवाला है। याजक ऐसे सोम की सदा संगति करें। साधक के प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, वाक्, मन, ये जो याजक हैं साधनायज्ञ के, वे अपनी स्वरूपरक्षा और आत्म-यजमान के यज्ञ में अपने सहयोग की खातिर सोम की संगति करें, उसकी सुगन्धि से अपने को सुवासित रखें।

११५६ **अश्विनकृतस्य ते सरस्वतिकृतस्येन्द्रेण सुत्राम्णा कृतस्य।**
उपहूत उपहूतस्य भक्षयामि। य २०.३५
अश्विन-कृतस्य ते सरः+वति-कृतस्य इन्द्रेण सु-त्राम्णा कृतस्य। उप-हूतः उप-हूतस्य भक्षयामि।

[सोम!] (अश्विन-कृतस्य) दोनों अश्वियों द्वारा संपन्न, (सरः-वति-कृतस्य) प्रवाह-वती द्वारा संपन्न, (सु-त्राम्णा इन्द्रेण कृतस्य) सु-त्रामा इन्द्र द्वारा संपन्न, (उप-हूतस्य ते) आ-हूत तेरा (उप-हूतः) आ-हूत [मैं] (भक्षयामि) भक्षण करता हूं।

आत्मा—साधक ने अपने साधनायज्ञ में शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, आदि ऋत्विजों का सहयोगार्थ आह्वान किया है। वे उसे सहयोग देरहे हैं सोम का भक्षण और अ-सोम का वर्जन करके। प्राण-अपान आत्मा को सातत्य, अनासक्ति, नि-र्विषयत्व, निरहंकारिता का परामर्श देते हैं। चक्षु-श्रोत्र उसे सत्य के ग्रहण, निर्भीकता और न्यायशीलता की सलाह देते हैं। वाणी उसके भावों और विचारों को अभिव्यक्त करती है। मन आत्मानुकूल है। इन ऋत्विजों में से प्रत्येक सोम का भक्षण—सेवन—संगति कररहा है।

यह सोम अश्वियों, सरस्वती और सुत्रामा इन्द्र ने मिलकर तैयार किया है। जीवन की बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी वृत्तियां, प्रवाहवती अभिव्यक्ति-माध्यम वाणी, और सर्वान्तःस्थ सु-तारक इन्द्र—बुद्धितत्त्व, इन्होंने जिस जीवनसोम को संपन्न किया है वह सब ऋत्विजों का भक्ष्य है। आत्मा ऋत्विजों को सोमभक्षणार्थ पुकाररहा है, और वे सोम को पुकारकर स्वानुकूल बना-बनाकर भक्षण कररहे हैं। उप+हूत=निकट से पुकारा गया।

११५७ **समिद्ध इन्द्र उषसामनीके, पुरोरुचा पूर्वकृद् वावृधानः।**
त्रिभिर्देवैस्त्रिंशता वज्रबाहु,र्जघान वृत्रं वि दुरो ववार। य २०.३६
सम्-इद्धः इन्द्रः उषसाम् अनीके पुरः-रुचा पूर्व-कृत् ववृधानः। त्रि-भिः देवैः त्रिंशता वज्र-बाहुः जघान वृत्रम् वि दुरः ववार।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१) (उषसाम् अनीके सम्-इद्धः) उषाओं के प्रति सं-दीप्त,
२) (पुरः-रुचा पूर्व-कृत्) संमुखीन-दीप्ति से पूर्व-कर्ता [और] (ववृधानः) वर्धमान,
३) (त्रि-भिः त्रिंशता देवैः) तीन [और] तीस देवों से [सहित], (वज्र-बाहुः) वज्र[रूप] बाहुवाले
४) (इन्द्रः) इन्द्र ने (वृत्रम् जघान) वृत्र का हनन किया था [और] (दुरः) द्वारों को (वि ववार) वि-वृत किया, खोला था।

य २०.३६ से ४६, और फिर ५५ से ६६ तक, दो स्थल इस २०वें अध्याय में आप्री मन्त्रों के हैं। आप्री मंत्रों के कई सूक्त ऋग्वेद में हैं। यजुर्वेदीय ये दो स्थल भी आप्री सूक्त जैसे हैं। इन सूक्तों के प्रत्येक मंत्र की देवता भिन्न भिन्न होती है यद्यपि ये सब मंत्र अग्नि के विभिन्न पक्षों को उजागर करते हैं। आप्री सूक्तों का विनियोग पशुयज्ञों में 'प्रयाज' देवताओं की याज्याओं [आहुतित्याग-मन्त्रों] के रूप में होता है। इन मंत्रों से यजमान में अग्नि का आधान अभिप्रेत है। यजमान से प्रसन्न होकर, अग्नि उसे अपनी सब संपदाएं प्रदान करता है। ये संपदाएं ही 'प्रयाज' देवता हैं और ये ही यजमान को आ+पूर्ण करती हैं अतः ये **आ-प्री** हैं। इन मंत्रों में इन आप्री देवों का वर्णन है। हैं ये सब आप्री देव अग्नि के व्यक्तित्व के ही विभिन्न रूप।

आप्री मंत्रों के इस प्रथम स्थल में अग्नि के ऐंद्र व्यक्तित्व का निरूपण है। अग्नि के गुणों से युक्त इन्द्र की यजमान—साधक उपासना कररहा है। अग्नि है सर्वव्यापक चैतन्य शक्ति, शुद्ध आत्म-तत्त्व। इन्द्र है बुद्धि। बुद्धि एक है, सात्त्विक है, निरहंकार है, अग्निचैतन्य से युक्त होकर चेतनवत् व्यवहार करती है। और इस प्रकार इन्द्र अग्निमय हो गया है।

इन्द्र ने वृत्र को मारा और फिर द्वारों को खोल दिया। कैसे? सर्वप्रथम वह समिद्ध बना, फिर उसने पूर्व दिशा को किया—बनाया। इससे वह बढ़ा। उसने तेतीस देव साथ लिए और वज्र संभाला। फिर वज्र से उसने वृत्रवध किया, तथा द्वार खोल दिए।

१) जैसे सूर्य-अग्नि प्रातः उषाकाल में यज्ञार्थ प्रज्वलित होता है वैसे इन्द्र भी उषाकाल में अग्निसम्पर्क से प्रज्वलित हो गया है। **इन्द्र** शब्द का अर्थ है इद्ध—धधका हुआ, जाज्वल्यमान। साधक की बुद्धि आत्माग्नि के सम्पर्क से, विवेकोदय-रूप उषा की वेला में समिद्ध हो गई है।

२) इन्द्र **पुरः-रुक्** = पुरोहित, संमुख विद्यमान अग्नि की **रुचि**—दीप्ति से **पूर्व-कृत्** = पूर्व [दिशा] का कर्ता बन गया है। इन्द्र ने विवेकयुक्त होकर, आत्मसूर्य के आगमनार्थ उस **पूर्व**—प्राचीन—शाश्वत—सनातन मार्ग को फिर से सजा—संवार दिया है जिधर से आत्मसूर्य का उदय होना है। जैसे जैसे पूर्व दिशा सूर्य के अभिनन्दन के लिए तैयार होती जाती है इन्द्र अपने सौभाग्य के इन क्षणों में **ववृधान**, हर्ष और उत्साहशक्ति से बढ़ता जाता है।

३) इन्द्र की अभिवृद्धि वृत्र का विनाश है। इन्द्र की अभिवृद्धि का अभिप्राय है देवों के पक्ष का प्रबल होना। मन-प्राण-भूतरूप तीन देव, और इनमें से प्रत्येक स्तर पर क्रियारत दस देव (ज्ञान-कर्मेन्द्रियां) जो, इस प्रकार, (दस गुणित तीन =) तीस देव हो जाते हैं, इन सबसे युक्त इन्द्र अपनी पाप-विनाशक शक्ति से युक्त **(वज्र-बाहु)** हो गया है।

४) प्राकृत, भौतिक, पाशविक, आसुर बलों के संघ **(वृत्र)** को नष्ट करके, इन्द्र ने उन सं-वृत (बंद) द्वारों को **वि-वृत** कर, खोल दिया है जिन द्वारों से होकर आत्मसूर्य का तेज अहंकार से शरीरांगों तक सर्वत्र फैल जाता है। अब साधक

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

का आंतर-बाह्य, समूचा व्यक्तित्व द्युतिमान् हो जाएगा। पशुता की हवि देकर, साधक को आनन्द-लोक (स्वर्ग) में एक नवीन यज्ञिय तनू, यज्ञमय शरीर प्राप्त होगा जिससे वह दिव्य कर्म कर सकेगा। ऊपर, पूर्व दिशा में आत्मसूर्य के प्रवेश का द्वार, और इधर भौतिक पक्ष में आत्मवर्च के प्रसरण के अनेक द्वार, ये सब अब खुले हुए हैं।

११५८ **नराशंसः प्रति शूरो मिमानस्,तनूनपात् प्रति यज्ञस्य धाम।**
गोभिर्वपावान् मधुना समञ्जन्, हिरण्यैश्चन्द्री यजति प्रचेताः। य २०.३७

नर+शंसः प्रति शूरः मिमानः तनू-नपात् प्रति यज्ञस्य धाम। गोभिः वपा-वान् मधुना सम्-अञ्जन् हिरण्यैः चन्द्री यजति प्र-चेताः।

१) (नर-शंसः) नरों से स्तुत, (शूरः) वीर, (मिमानः) निर्माता (प्रति) प्रति[यजन कर रहा है]।
२) (तनू-नपात्) तनू में उत्पन्न, तनू-ज, पुत्र (यज्ञस्य धाम) यज्ञ के धाम का प्रति[यजन कररहा है]।
३) (गो-भिः वपा-वान्) गौओं द्वारा वपा-युक्त, (चन्द्री) चन्द्रवान्, (प्र-चेताः) प्र-ज्ञानी (मधुना सम् अञ्जन्) [हवियों को] मधु से मिलाता हुआ (हिरण्यैः यजति) सुवर्णों द्वारा पूजा कररहा है।

१) पूर्व-मन्त्र में जिन तेतीस देवों का उल्लेख था उन्हें यहां **नर** कहा गया है। ये नर इन्द्र की प्रशंसा करते हैं, उसके प्रति आदरभाव रखते हैं। इसी कारण वे इन्द्र का आदेश मानते हैं। अतः इन्द्र **नराशंस** है। वह **शूर** है। जीवनक्षेत्र में पापों का विनाश करने की सामर्थ्य इन्द्र में ही है। वही जीवनसाधना-रूप यज्ञ का **मिमानः**, निर्माता और संपादक है।

२) इन्द्र **तनूनपात्** है। **तनू**=विस्तारक। **नपात्**=संतान। तनू आत्मा है, यह शरीर (तनू) जिसका विस्तार है। आत्मा का प्रकृति से संयोग होने पर, सर्वप्रथम, प्राकृत परिणति जो प्रकट होती है वह इन्द्र—बुद्धि, जो आत्मचैतन्य से द्योतित, और उसी के समान निर्मल, मायातीत है। **यज्ञ**—सुकर्म का जो धाम है—यह जीवन उसमें वह इन्द्र यज्ञ का संपादन करता है।

३) इन्द्र गौ के द्वारा वपा-वान् है। **वपा**=चर्बी। **गौ**=ज्ञानेन्द्रियां, ज्ञानरश्मियां। जैसे शरीर चर्बी से पुष्ट हो जाता है वैसे इन्द्र का पोषण ज्ञानरश्मियों के द्वारा होता है। ज्ञान बुद्धि की शोभा है। ज्ञान से प्रसूत विवेकमाधुर्य के द्वारा जीवनसाधना-रूप यज्ञ की हवियों को वह सींचता है। यज्ञ की हवि में घृत मिलाया जाता है। जीवनयज्ञ की हवियां हैं दृष्टि, श्रुति, घ्राणन, भक्षण, भाषण, स्पर्श, कर्म, चिंतन, भावना, संकल्प, विकल्प, अहंभाव। इन सबको इन्द्र आत्मा के **मधु**, चैतन्य से युक्त कर देता है। इस प्रकार इन्द्र जीवन में चन्द्रता, आनन्द भर देनेवाला **चन्द्री** बन जाता है। **चन्द्र** है आनन्द-मय आत्मा। चन्द्री है आत्मवान् इन्द्र। यह **प्र-चेता** है, उत्कृष्ट आत्मचैतन्य से युक्त है। आत्मा की चेतना सर्वप्रथम बुद्धि में संक्रान्त होती है। प्र-चेतनावान् यह मन, प्राण, शरीर, आदि सबको आत्मचैतन्य से युक्त कर देता है। ऐसा यह इन्द्र हिरण्यों द्वारा आत्मदेव का पूजन कररहा है। इन्द्र ही है जो वृत्र—पाप्मा से विद्ध नहीं होता, जो असुरों को जीत सकता है। वह अजातशत्रु है। वह आत्मदेव का यजन **हिरण्यों**—तेजों के द्वारा करता है। आत्मा स्वयं साक्षात् तेज है। अतः वह तेजरूप हवि ही स्वीकार करता है। इन्द्र साधक के जीवन को तेजोमय बनाकर आत्मा के द्वारा ग्राह्य बनाता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

११५९ **ईडितो देवैर्हरिवाँ अभिष्टि,राजुह्वानो हविषा शर्द्धमानः ।**
पुरन्दरो गोत्रभिद् वज्रबाहु,रा यातु यज्ञमुप नो जुषाणः । य २०.३८
ईडितः देवैः हरि-वान् अभिष्टिः आ-जुह्वानः हविषा शर्द्धमानः । पुरम्-दरः गोत्र-भिद् वज्र-बाहुः आ यातु यज्ञम् उप नः जुषाणः ।

(देवैः ईडितः) देवों द्वारा पूजित, (हरि-वान्) [दो] हरियों वाला, (अभिष्टिः) यजनशील/स्तुत, (आ-जुह्वानः) भली प्रकार पुकारा जानेवाला, (हविषा शर्द्धमानः) हवि द्वारा बलवान् होनेवाला, (पुरम्-दरः) पुर को विदीर्ण करनेवाला, (गोत्र-भिद्) गोत्रों को भेदनेवाला, (वज्र-बाहुः) वज्र-[रूप] बाहुवाला (जुषाणः) प्रसन्न होता/सेवन करता हुआ (नः यज्ञम्) हमारे यज्ञ के (उप आ यातु) निकट आ-जाए ।

इन्द्र देवों द्वारा ईडित है । **ईडित** = अध्येषित—इच्छित । बिना इन्द्र के, देव अपने पथ से भ्रष्ट हो जाएंगे । ज्ञान- और कर्म-इन्द्रियों पर इन्द्र—बुद्धि का अंकुश रहना चाहिए । इन्द्र के दो **हरि**—अश्व हैं बहिर्मुखता और अंतर्मुखता । इन्द्र एक हरि के द्वारा भौतिक स्तर पर जीवन को निर्वाहिता है तो आत्मिक स्तर पर दूसरे हरि के द्वारा साधनायज्ञ को सफल करता है । इन्द्र **अभिष्टि** है, इष्टियों—यज्ञों का अभितः, दोनों ओर (अन्दर, बाहर) से संपादक है । अतः उसके लिए सदा पुकार होती रहती है, **आ-जुह्वान** । उसे ज्ञानेन्द्रियों से जो विषयज्ञान प्राप्त होता है उससे इन्द्र बलवान् होता रहता है, **हविषा शर्द्धमानः** । पापों के, असुरों के जितने भी तामस और राजस पुर हैं उन्हें इन्द्र नष्ट करनेवाला है । लोहे, सोने, चांदी के जितने भी पुर हैं, स्थूल, सूक्ष्म, कारण स्तरों पर जितनी भी कुसंस्कारग्रन्थियां हैं उन्हें इन्द्र का विवेक ही तोड़ सकता है, **पुरन्दर** । इन्द्र असुरों को समूल नष्ट करता है, उनके वंशों का उच्छेद करता है । न केवल वर्तमान जीवन के, वरन् पूर्वजन्मों के संस्कारों को भी निर्मूल करता है । जैसे सूर्योदय होते ही अंधेरा स्वतः विदा हो जाता है वैसे इन्द्र की उपस्थिति में असुरों का वंशोच्छेद हो जाता है, **गोत्र-भिद्** । पुरन्दर और गोत्रभिद् बनने के लिए इन्द्र **वज्र-बाहु** है । वज्र ही उसका बाहुस्थानी है । इन्द्र की पापवर्जक शक्ति ही उसकी **बाहु**, असुरविनाशक साधन है ।

ऐसा इन्द्र प्रसन्न मन से साधकों के यज्ञ में घनिष्ठतापूर्वक शामिल होवे ।

११६० **जुषाणो बर्हिर्हरिवान् न इन्द्रः, प्राचीनं सीदत् प्रदिशा पृथिव्याः ।**
उरुप्रथाः प्रथमानं स्योन,मादित्यैरक्तं वसुभिः सजोषाः । य २०.३९
जुषाणः बर्हिः हरि-वान् नः इन्द्रः प्राचीनम् सीदत् प्र-दिशा पृथिव्याः । उरु-प्रथाः प्रथमानम् स्योनम् आदित्यैः अक्तम् वसु-भिः स-जोषाः ।

१) (नः बर्हिः जुषाणः) हमारी बर्हि का सेवन करता हुआ,
२) (प्रथमानम् स्योनम् उरु-प्रथाः) विस्तारशील सुख को खूब फैलानेवाला,
३) (आदित्यैः अक्तम्) आदित्यों से युक्त [को] (वसु-भिः स-जोषाः) वसुओं के साथ सेवन करनेवाला,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

४) (हरि-वान् इन्द्रः) हरियों वाला इन्द्र (पृथिव्याः प्र-दिशा) पृथिवी की प्र-दिक् के साथ (प्राचीनम् सीदत्) पूर्व में बैठे।

१) इन्द्र हम साधकों के बर्हि पर विराजमान है। बर्हि दर्भ घास को कहते हैं जो आसन के रूप में यज्ञ में काम आती है। अतः बर्हि आसन को भी कह सकते हैं। इन्द्र साधकों के अन्तःकरण-रूप आसन पर विराजमान है। वह अपने दोनों हरियों—अश्वों के द्वारा समूचे जीवनयज्ञ का आन्तरिक और बाह्य, दोनों स्तरों पर संचालन कररहा है। इन्द्र का **हरिवान्** विशेषण पूर्व-मन्त्र में आ चुका है।

२) इन्द्र सुख का दूर दूर तक और प्रगाढ विस्तार करनेवाला है। सुख स्वभाव से विस्तारशील होता है पर इसका विस्तार होता इन्द्र के द्वारा है। आत्मा स्वभाव से आनन्दस्वरूप है। आत्मा का यह **स्योन**—सुख बुद्धि-माध्यम से मन-प्राण-शरीर तक और फिर परिवार तथा समाज तक फैल जाता है। इन्द्र का उपासक आनन्दी हो जाता है।

३) इन्द्र आदित्यों से युक्त चैतन्य को वसुओं के साथ सेवन करनेवाला है। इन्द्र अन्तरिक्ष का देव है जब कि आदित्य द्यौ के, तो वसु पृथिवी के देव हैं। इन्द्र के एक ओर आदित्य हैं, दूसरी ओर वसु हैं। अध्यात्म में शरीर पृथिवी है, द्यौ आत्मा है। एक प्राकृत है, दूसरा अप्राकृत, शुद्ध, सच्चिदानन्द है। मध्य में है इन्द्र—बुद्धि। आत्मतेज की धाराओं से सिंचित विवेक का सेवन इन्द्र देव समस्त भौतिक जीवन के वसुओं (५ ज्ञानेन्द्रियां, मन, चित्त, अहंकार) के साथ करता है। आत्मा की तेजोधाराओं को इन्द्र वसुओं तक प्रवाहित करता है और बाह्य जीवन को आत्मिकता से सुवासित करता है।

४) ऐसा यह इन्द्र इस जीवनयज्ञ की वेदि पर विराजमान हो। यह वेदि **प्राचीन**—सनातन, शाश्वत वेदि है। न जाने, कितने जन्मों में वह इस जीवनवेदि पर बार बार बैठता रहा है। कब तक बैठता रहेगा वह इस पर? तब तक जब तक साधनायज्ञ पूर्ण नहीं हो जाता। प्रकृति, माया के पाश से जब तक साधक मुक्त नहीं हो जाता तब तक यह यज्ञ चलता रहेगा। इन्द्र-यजमान बर्हि पर पृथिवी की प्र-दिक् के साथ बैठे। पृथिवी की प्रकृष्ट दिक् पूर्व दिशा है जो उसकी ज्योत्युन्मुखता का सूचक है। आत्मज्योति की ओर मुख किए हुए, इन्द्र-यजमान अपनी प्राचीन बर्हि पर बैठे और यज्ञ को संपन्न करे।

११६१ **इन्द्रं दुरः कवष्यो धावमाना, वृषाणं यन्तु जनयः सुपत्नीः।**
द्वारो देवीरभितो वि श्रयन्तां, सुवीरा वीरं प्रथमाना महोभिः। य २०.४०

इन्द्रम् दुरः कवष्यः धावमानाः वृषाणम् यन्तु जनयः सु-पत्नीः। द्वारः देवीः अभितः वि श्रयन्ताम् सु-वीराः वीरम् प्रथमानाः महः-भिः।

१) (कवष्यः) शब्दकारी, (इन्द्रम् धावमानाः) इन्द्र की ओर भागते हुए, (जनयः, सु-पत्नीः) जननयुक्त, सु[यज्ञ]पालक (दुरः) द्वार (वृषाणम् यन्तु) [उस] वर्षक [इन्द्र] को पहुंचें।

२) महः-भिः प्रथमानाः) तेजों—शोभाओं द्वारा फैलती हुई, (सु-वीराः देवीः) कल्याणकारी वीर-[इन्द्र]वाली, देवी (द्वारः) द्वार (वीरम् अभितः) वीर के दोनों ओर से (वि श्रयन्ताम्) वि-श्रृत/वि-वृत हो जाएं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१) इन्द्र के आगमन के लिए साधक ने द्वारा खोल दिए हैं। द्वार खोलने पर साधक की ऊर्ध्व गति, आत्मोन्मुख यात्रा सम्पन्न होनी संभव होगी। इस मंत्र में द्वारों का इन्द्र के प्रति अनुराग की कवि-कल्पना है। द्वार प्रतीक हैं उन वृत्तियों की जिनमें रज और तम गुणों का लेश नहीं रह गया है और जो सात्त्विक, निरहंकार हो गई हैं। चित्तवृत्तियों के सत्त्वसम्पन्न हो जाने से शुद्ध बुद्धि की आत्मप्रकाश-रश्मियां संपूर्ण जीवनलोक को आलोकित करने लगती हैं।

इन्द्र-अतिथि के आगमन के लिए द्वार खुलरहे हैं। बंद-स्थिति से खुलने की स्थिति में आने के लिए द्वार के कपाट **कवष्यः**, शब्द करते हैं और **धावमान**, गतिशील होते हैं। यह, मानो, द्वारों द्वारा अतिथि के अभिनन्दन के लिए आगे बढ़कर जाना और अभिवादन करना है। यह ऐसे है जैसे सु-पत्नियां और जनियां (माताएं) अपने वीर, वृषा राजा की सवारी की अगवानी के लिए आगे बढ़ें और अभिवादन-वचन अथ वा 'जय-जय'-कार बोलें। राजा का जुलूस राजमार्ग से गुज़रने पर, दोनों ओर के भवनों के द्वार, खिड़कियां, आदि खुल जाते हैं और कुतूहल और हर्ष से भरी हुई महिलाएं इन्द्र राजा को निहारने लगती हैं। इन्द्र **वृषा**—वर्षक, कामनाओं की पूर्ति करनेवाला, समर्थ राजा है अपनी प्रजा द्वारों का। वह मन के विकल्पों, चित्त की वृत्तियों का स्वामी है।

२) ये द्वार **देवियां**, देवगुण से युक्त हैं। इन्द्र के देवत्व ने इन्हें भी देवकोटि में ला दिया है। सात्त्विक, शुद्ध बुद्धि के अधीन मन और चित्त की वृत्तियां भी सात्त्विक और शुद्ध हो गई हैं। आत्मा की तेजोरश्मियों को जीवनलोक में प्रवेश कराने के कारण, ये द्वार **प्रथमाना**, विस्तारगुण से युक्त हो गई हैं। इन द्वारों की महिमा सर्वत्र फैल गई है। वीर इन्द्र के संपर्क से ये **सु-वीरा**, जीवन का कल्याणसाधन करनेवाली इन्द्राणियां हो गई हैं। ये अपने में वीर इन्द्र को प्रवेश देकर, इन्द्र के दोनों ओर, आंतरिक और बाह्य, दोनों ओर **वि-श्रुत**—खुली रहें।

११६२ **उषासानक्ता बृहती बृहन्तं, पयस्वती सुदुघे शूरमिन्द्रम्।**
तन्तुं ततं पेशसा संवयन्ती, देवानां देवं यजतः सुरुक्मे।

ऋ २.३.६ य २०.४१

उषसा-नक्ता बृहती बृहन्तम् पयः+वती सु-दुघे शूरम् इन्द्रम्। तन्तुम् ततम् पेशसा सम्-वयन्ती देवानाम् देवम् यजतः सु-रुक्मे।

(बृहती) महती, (पयः-वती, सु-दुघे) दुग्ध-वती, सु-दुहा, (ततम् तन्तुम् पेशसा सम्-वयन्ती) विस्तृत ताने—इन्द्र को सौन्दर्य से बुनती हुई, (सु-रुक्मे) शोभन-कांतिमती (उषसा-नक्ता) उषा-रात्रि (बृहन्तम्) महान्, (शूरम्) शूर (देवानाम् इन्द्रम् देवम्) देवों में से इन्द्र देव से (यजतः) मिलरही हैं।

१) **सु-रुक्मे देवानां देवं यजतः**। दो सुन्दरियां देवों में देव, सर्वदेव-पूज्य इन्द्र से संगत होरही, मिलरही हैं। **सु**=कल्याणकारी+**रुक्म**=सौन्दर्य-वाली। जो सौन्दर्य मन, चित्त, बुद्धि को आत्म-ज्योति से भर दे वह कल्याणकारी है, अन्यथा सौन्दर्य पतनकारी हो सकता है।

२) कौन हैं ये दो सुन्दरियां? ये हैं उषा (प्रभात) और नक्ता (रात्रि)। प्रभात प्रकाशोन्मुख रात्रि है, तो अंधेरे में डूबा काल रात्रि है। हैं दोनों रात्रियां पर एक लालिमा है, दूसरी कालिमा। ये दोनों

Imperceptible process of time-light and darkness & their shades.

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

बहिनें हैं। उषा प्रतीक है विवेकोदय की वेला की, रात्रि है अज्ञानवेला की। साधक की अज्ञानरात्रि समाप्त होरही है, उषाकाल संमुख है। इस धन्य क्षण में वह रात्रि के गत और वर्तमान, दोनों रूपों पर दृष्टिपात कररहा है।

इन दो सुन्दरियों ने शूर, बृहत् इन्द्र का दोहन किया है। ये **सुदुघा**, चतुर दोग्ध्री, ग्वालिनें हैं। इन्होंने इन्द्र को दुहकर स्वयं को भी बृहती और पयस्विनी बना लिया है। अब दूसरे इनका सु-दोहन करेंगे और पयस्वान् और बृहत् बनेंगे। अज्ञानरात्रि अनात्मभाव में लीन, सामान्य व्यावहारिकता है, तो विवेकप्रभात दैवी प्रज्ञा है। दोनों किसी न किसी रूप में इन्द्र—बुद्धि पर अवलंबित हैं, उसका दोहन करती हैं। इन्हीं से साधक के लौकिक और लोकातीत, द्विविध जीवन-यज्ञ चलरहे हैं। बृहत् इन्द्र की बृहत्ता, पयस्वान् इन्द्र का पय और दुग्ध आंतर—बाह्य, दोनों पर प्रसृत हैं।

३) ये दो सुन्दरियां रूपतत्त्व के द्वारा, फैले हुए तन्तु को बुनरही हैं। काली-गोरी, ये दो जुलाहिनें जीवन का काला-धौला वस्त्र बुनती रहती हैं। जीवन-रूप वस्त्र पाप-पुण्यरूप काले सफ़ेद धागों से बुना हुआ है। सुरूप और कुरूप, दिव्य और आसुर, सब रूप इन दो जुलाहिनों की माया है।

आज ये सुन्दरी बहिनें देवों के परम देव, इन्द्र से मिलरही हैं और अब ये **सु-रुक्म**, सु-सुन्दरी हो गई हैं। रात्रि अब रात्रि नहीं रही, उषा हो गई है और उषा शीघ्र सूर्यप्रकाशमय दिन बन जाएगी। सर्वत्र आत्मसूर्य का तेज फैल जानेवाला है।

११६३ **दैव्या मिमाना मनुषः पुरुत्रा, होताराविन्द्रं प्रथमा सुवाचा।**
मूर्द्धन् यज्ञस्य मधुना दधाना, प्राचीनं ज्योतिर्हविषा वृधातः। य २०.४२
दैव्या मिमाना मनुषः पुरु-त्रा होतारौ इन्द्रम् प्रथमा सु-वाचा। मूर्द्धन् यज्ञस्य मधुना दधाना प्राचीनम् ज्योतिः हविषा वृधातः।

(दैव्या) देवसंबद्ध, (मनुषः पुरु-त्रा मिमाना) मनुष् का बहुतों में मापन—निर्माण करनेवाले, (प्रथमा) श्रेष्ठ, (सु-वाचा) शोभन वाणीवाले, (यज्ञस्य मूर्द्धन् मधुना दधाना) यज्ञ के शिर पर मधु के साथ [यजमान को] धरनेवाले (होतारौ) दो होता (प्राचीनम् ज्योतिः इन्द्रम) पूर्ववर्ती ज्योति इन्द्र को (हविषा वृधातः) हवि द्वारा बढ़ाते हैं।

प्राचीन ज्योति को हवि द्वारा बढ़ानेवाले दो होता हैं। **प्राचीन**=पूर्व में, पूर्व से विद्यमान। पूर्व-मन्त्र ३९ में इन्द्र का आसन **प्राचीन** वेदि पर बताया गया है। इस वेदि पर एक प्राचीन ज्योति जगमगा-रही है। यह प्राचीन, सनातन, शाश्वत ज्योति आत्मा है। इस ज्योति को जिस हवि द्वारा बढाया जाता है वह हवि—पुरोडाश (मस्तिष्क) है बुद्धि, विवेक। बुद्धि ही आत्मज्योति को सर्वप्रथम ग्रहण करती है।

हवि द्वारा आत्मज्योति को बढ़ानेवाले होता दो हैं। **होता** का अर्थ है दान अथ वा ग्रहण (अदन, आदान) करनेवाला। दाता और आदाता, अथ वा अन्न और अत्ता, ये दो कोटियां हैं होता की। वैदिक शब्दावली में इन्हें प्राण और अपान कहा जाता है (ऐब्रा. २.४)। एक जीवन का, दूसरा जीवनातीत (अमृतत्व) का आह्वान करने-वाला है। इन्हें बहिर्मुखता और अन्तर्मुखता भी कहा जा सकता है। मंत्र में इन होताओं की पांच

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विशेषताएं बताई गई हैं।

१. ये होता **दैव्य**, देववर्ग के हैं, मनुष्य अथ वा मरणशील प्राणियों के वर्ग के नहीं हैं। ये अलौकिक हैं, लौकिक नहीं यद्यपि लौकिक, मर्त्य व्यवहार भी इन पर आश्रित है। बिना दैव्य—आत्मिक जीवनपद्धति के लौकिक जीवन भी सुखद नहीं बन पाता है।

२. ये मनुष् का बहुत प्रकार से और बहुतों में नाप-जोख करनेवाले हैं। **पुरु-त्रा**=बहु-धा; बहुतों में। जो इनसे लाभ लेते हैं उनका जीवन अन्यों में उत्कृष्ट हो जाता है। ये होता नाना दृष्टियों से, विभिन्न स्तरों पर साधक का हित करते हैं।

३. ये प्रथम हैं। **प्र-थम**=प्र-तम, श्रेष्ठ। इनके बिना एक क्षण भी जीवन नहीं चलता है, ऐसी इनकी सर्वोपरिता है।

४. होता कहते हैं पुकारनेवाले को। ये होता शोभन, कल्याणमय वाणी वाले हैं। वाणी संदेश-दान का साधन होती है। प्राण-अपान श्वास-प्रश्वासमात्र नहीं हैं। इनकी सांकेतिक वाणी सातत्य, निर्विषयता, निर्विकारिता, निरहंकारिता, निष्कामता, तटस्थता, निरपेक्षता, बाह्य-आंतर की सेतुता, आदि अनेक प्रेरणाएं साधक को देती है।

५. यज्ञ के शिखर पर मधु के साथ यजमान को धरनेवाले। ये होता साधक का साधना के फल में, आनन्द के अतिरिक्त अनुग्रह के साथ, रख देते हैं। साधना के फलरूप में, स्व पुरुषार्थ से साधक जो पाने का पात्र होता है, उसके अतिरिक्त, **मधु**—आनन्द का दान ये होता अपने प्रसादरूप में उसे देते हैं।

११६४ **तिस्रो देवीर्हविषा वर्द्धमाना, इन्द्रं जुषाणा जनयो न पत्नीः।**
अच्छिन्नं तन्तुं पयसा सरस्वती,डा देवी भारती विश्वतूर्तिः।

ऋ २.३.८ य २०.४३

तिस्रः देवीः हविषा वर्द्धमानाः इन्द्रम् जुषाणाः जनयः न पत्नीः। अ+छिन्नम् तन्तुम् पयसा सरः+वती इडा देवी भारती विश्व-तूर्तिः।

(हविषा वर्द्धमानाः) हवि द्वारा बढ़ती हुई, (जनयः पत्नीः न) जननशीला पत्नियों के समान (इन्द्रम् जुषाणाः) इन्द्र को चाहती, भोगती हुई (तिस्रः देवीः) तीन देवियां—(सरः-वती) प्रवाह-वती, (देवी इडा) देवी इडा [और] (विश्व-तूर्तिः भारती) सर्वत्र व्यापक भारती—(अ-छिन्नम् तन्तुम्) अ-टूट ताने को (पयसा) पय द्वारा [बुनें]।

इस मंत्र का चौथा चरण ऋ २.३.८ में भी है। मंत्र में तीन **देवियों**—ज्योतियों का वर्णन है। ये यज्ञ में आकर वेदि पर विराजती हैं। यज्ञ में दी जानेवाली हवि से इनकी अभिवृद्धि होती है। **हवि**=पुरोडाश=मस्तिष्क।

ये देवियां इन्द्र की पत्नियां हैं। **जनि**—जनन-सामर्थ्यवती, संतानेच्छु। जनि को **जाया** भी कहा जाता। है जैसे संतानाभिलाषिणी जनि वा जाया **उशती सुवासाः** (ऋ १०.७१.४) [=कामिनी, सुसज्जिता] बनकर पत्नी पति का सेवन करती है वैसे ये तीन देवियां अपने पति इन्द्र का सेवन करती हैं।

ये तीन देवियां हैं सरस्वती, इडा, भारती। इनका वेदों के आप्री सूक्तों में विभिन्न क्रमों में उल्लेख है। प्रस्तुत सौत्रामणी यज्ञ में अपनी महत्ता के कारण, इस मंत्र में सरस्वती का प्रथम उल्लेख

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हुआ है। **सरः-वती** = प्रवाह-वती = वाणी, श्रुति। सरस्वती है दिव्य श्रुति, अंतःश्रवण, अनाहत नाद। वैदिक चिंतन में, वाक् अथ वा शब्द पंच भूतों और पंच तन्मात्रों का सूचक है। **इडा** = प्रज्ञामयी दृष्टि। यद्यपि देवियां तीनों हैं पर मंत्र में **देवी** विशेषण विशेषतया इडा के लिए पुनः प्रयुक्त हुआ है। देवी, अर्थात्, प्रकाशवती। अतः इडा प्रकाशमयी दृष्टि है प्रज्ञारूपिणी। प्रज्ञानेत्र इडा है। **भारती** = भरणकर्त्री, पालनकर्त्री। भारती का आप्री सूक्तों में प्रसिद्ध विशेषण, जो कभी कभी विशेष्य का स्थान ले लेता है, **मही** है। **मही** = महती, बृहती, विराट्। भारती को मंत्र में **विश्व-तूर्ति** कहा गया है। **विश्व** = सब, जगत्। **तूर्ति** = जल्दबाज़, फुर्तीला, अधीर, चपल। इस जगत् में सबसे चपल, अधीर मन है।

इस प्रकार, सरस्वती, इडा, भारती क्रमशः भौतिक, दैविक (प्राणिक) और मानसिक स्तरों की ज्योतियां हैं। इन्द्र इन तीनों से परे, सूक्ष्मतम तत्त्व है जिसके स्वामित्व में मन, प्राण, वाक् (पंच भूत) रहते हैं। अतः उसके साथ इनके पति-पत्नीभाव की कल्पना मंत्र में की गई है।

ये तीनों देवियां साधक के जीवनसाधना-रूप यज्ञ के अ-टूट, सतत विस्तृत ताने को पय द्वारा बुनती, गूंथती हैं। जीवन एक अ-टूट ताना वा सूत्र है जो जन्म-जन्मान्तर में फैला हुआ है। यह सूत्र पृथिवी (शरीर) से द्यौ (बुद्धि) तक, स्थूल से कारण तक फैला हुआ है। प्रत्येक नवीन जन्म में इस सूत्र को ये तीन देवियां **पय**—विवेकपय, ज्ञानामृत, प्रज्ञादुग्ध इन्द्र से ले-लेकर बुना करती हैं।

११६५ **त्वष्टा दधच्छुष्ममिन्द्राय वृष्णे, पाकोचिष्टुर्यशसे पुरूणि।**
वृषा यजन् वृषणं भूरिरेता, मूर्द्धन् यज्ञस्य समनक्तु देवान्। य २०.४४

त्वष्टा दधत् शुष्मम् इन्द्राय वृष्णे अ+पाकः अचिष्टुः यशसे पुरूणि। वृषा यजन् वृषणम् भूरि-रेताः मूर्द्धन् यज्ञस्य सम् अनक्तु देवान्।

(वृष्णे इन्द्राय) वृषा इन्द्र के लिए (शुष्मम् दधत्) बल को धारण करता हुआ, (अ-पाकः) अ-कच्चा, परिपक्व, (यशसे पुरूणि अचिष्टुः) यश के लिए बहुतों तक पहुंचनेवाला, (वृषणम् यजन्) वृषा से संगत होता हुआ, (भूरि-रेताः वृषा) प्रभूत रेतस्वी वृषा (त्वष्टा) विकर्ता (यज्ञस्य मूर्द्धन्) यज्ञ के सिर पर (देवान् सम् अनक्तु) देवों को समक्त-व्यक्त-संमिलित करे।

त्वष्टा रूपों का निर्माता है (तैसं २.४.६.१)। यह जगत् रूपवान् है। इसके दृश्य सौन्दर्य का विकर्ता (नाना रूपों में करनेवाला, मूल वस्तु में अपनी कल्पना को जोडनेवाला) त्वष्टा कहाता है। भाषा में त्वष्टा खाती (लकड़ी के कारीगर) को कहते हैं। जैसे खाती लकड़ी से विभिन्न पदार्थ बनाता है वैसे एक देव है जो विभिन्न रूपों का निर्माण करता रहता है। अतः त्वष्टा को **विश्वरूप** भी कहा जाता है। वही है जो बीज को अंकुर, वृक्ष, लता, पुष्प, फल, इन नाना रूपों में परिणत कररहा है। त्वष्टा रेतः वा वीर्य वा शुक्र को विकारवान् करके नाना प्राणियों, जिन्हें वैदिक शब्दों में **पशु** कहा जाता है, का रूप देरहा है। प्रकृति में वि-कृतियां उत्पन्न कर-करके नाना वस्तुओं को बनाने की मूलभूत शक्ति और मनोवृत्ति का नाम त्वष्टा है। बीज वा रेतः में भावी विकृतियों की पूरी रूपरेखा विद्यमान होती है। त्वष्टा देव उस रूपरेखा को उद्घाटितमात्र कर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

देता है। मन की रुचि ही रूप वा सौंदर्य को उत्पन्न करती है और उसे अनुभव करती है। बीज वा शुक्र में जो चैतन्यबिन्दु है, शक्ति वा ऊर्जा (अग्नि) है वही वृक्ष वा प्राणी बनती है। यह अंतःसत्त्व त्वष्टा है।

इस त्वष्टा में जो **शुष्म**, बल है वह अंततः इन्द्र, आत्मचैतन्य के प्रथम निधान बुद्धि के लिए है। वही अंततः भौतिक विकृति का नियन्ता आदि प्रधान वा प्रकृति है। त्वष्टा का कौशल महान् है। अपने इस यश के प्रतिपादनार्थ वह बहुत रूपों के निर्माण की शक्ति तक अपनी पहुंच रखता है। त्वष्टा अपने कर्म में नौसिखिया नहीं है वरन् परिपक्व है। वह स्वयं **वृषा**—बलवान् वर्षक, रेतोदाता है, और अनेक शक्तियों का निधान है (**भूरि-रेताः**)। अपने वृषासामर्थ्य से वह वृषा इन्द्र से संगत है। उसी ने जीवनयज्ञ की मूर्धा–फलश्रुति में सब देवों को संमिलित किया हुआ है।

यह त्वष्टा-रूप इन्द्र की ही महिमा का एक पक्ष है।

११६६ **वनस्पतिरवसृष्टो न पाशैस्त्मन्या समञ्जञ्छमिता न देवः।**
इन्द्रस्य हव्यैर्जठरं पृणानः, स्वदाति यज्ञं मधुना घृतेन। य २०.४५
वनः+पतिः अव-सृष्टः न पाशैः त्मन्या सम्-अञ्जन् शमिता न देवः। इन्द्रस्य हव्यैः जठरम् पृणानः स्वदाति यज्ञम् मधुना घृतेन।

(न, पाशैः अव-सृष्टः) मानो, बंधनों से उन्मुक्त, (शमिता न, त्मना सम्-अञ्जन्) शामक के समान, स्वयं से सं-युक्त करता हुआ, (हव्यैः इन्द्रस्य जठरम् पृणानः) हव्यों द्वारा इन्द्र के उदर को पूरता हुआ, (वनः-पतिः देवः) वन का रक्षक देव (यज्ञम्) यज्ञ को (मधुना, घृतेन) मधु [और] घृत के साथ (स्वदाति) चखे।

ऋग्वेद १०.४१.४ में प्रश्न है, **किं स्विद् वनम्?**, वन क्या है? तैत्तिरीयब्राह्मण २.८.८ में इसका उत्तर है, **ब्रह्म तद् वनम्**, वह वन ब्रह्म है। **ब्रह्म**= ज्ञान। ब्रह्मवन का पति (**ब्रह्मणस्पति**) है आत्मा जो निज रूप से सत्, चित्, आनन्द है, और निज भाव से नित्यशुद्ध-बुद्ध-मुक्त है।

यह वनस्पति देव साधक के साधनायज्ञ को **मधु**—मधुरता, आनन्द से और **घृत**—तेज, आलोक, चैतन्य, ज्ञान से चखकर, स्पर्श कर स्वादिष्ठ बना देता है। साधना में आनन्द और विवेक का आधान आत्मा की देन है।

आत्मा पाशों से मुक्त है। प्राकृत, भौतिक प्रभाव आत्मा के निज रूप का कुछ नहीं बिगाड़ सकते।

आत्मा अपने आपसे, स्वयं ही, साधकरूप पशु को सं-युक्त कर लेता है। **शमिता** पशु के भौतिक जीवन का शमन करनेवाला ऋत्विक् होता है। आत्मा साधक की पशुता को शमन करके उसे स्वयं से संयुक्त करता है, आत्मीय बना लेता है, निज रूप से रूपित कर लेता है। साधक को उसके आत्मत्व का बोध अन्य कोई बाहरी माध्यम नहीं करा सकता। आत्मा ही स्वीय रूप के प्रति स्वतः ही **बुद्ध** रहता है। आत्मा ही साधक में निहित पशु को मार सकता है।

आत्मा मधु, घृत जैसी दिव्य हवियों से इन्द्र—बुद्धि के आत्म-विषयक जिज्ञासारूप जठर को विवेकरश्मि-रूप हव्यों से पूरता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

११६७ **स्तोकानामिन्द्रं प्रति शूर इन्द्रो, वृषायमाणो वृषभस्तुराषाट् ।**
घृतप्रुषा मनसा मोदमानाः, स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम् ।
ऋ ३.४.११ य २०.४६

स्तोकानाम् इन्दुम् प्रति शूरः इन्द्रः वृष-यमाणः वृषभः तुरा+साट् । घृत-प्रुषा मनसा मोदमानाः स्वाहा देवाः अ+मृताः मादयन्ताम् ।

(शूरः) बलवान्, कर्मठ, (वृष-यमाणः) वृष-वत् आचरण करनेवाला, वृष बननेवाला, (वृषभः) वृषभ, (तुरा-साट्) चंचलता को सह जानेवाला (इन्द्रः) इन्द्र, (घृत-प्रुषा मनसा मोदमानाः) घृतार्द्र मन से मुदित, (अ-मृताः देवाः) जीवनवान् देव [और] (स्वाहा) 'स्वाहा', [ये सब] (स्तोकानाम् इन्दुम् प्रति) अल्पों के सोम के प्रति (मादयन्ताम्) मुदित हों ।

आप्री मंत्रों में यह अंतिम मंत्र फलश्रुति, माहात्म्यकथन वा शुभकामना है । **मादयन्ताम्,** मदमस्त हों, आत्मिक मद—आनन्द में मग्न रहें । कौन ? इन्द्र, देव और स्वाहा ।

स्तोक=थोड़ा, अल्प । पशुयज्ञ में स्तोक वपाबिन्दुओं को कहते हैं । पशुयज्ञ पशुता के नाश की साधना है । भौतिक जीवनचर्या का नाम पशुता है । इस जीवनचर्या में जो इन्द्र—सोम, आनन्द है उसके प्रति, उसे लक्ष्य करके इन्द्र, आदि जीवन का सेवन करें । आनन्द आत्मा का निज रूप है । लौकिक जीवनपद्धति में से भी आनन्द का चयन वही साधक कर सकता है जो आत्मिक वैभव से संपन्न है, अन्यथा लोक के तनाव और समस्याएं मनुष्य के मानसिक धैर्य को तोड़ देती हैं । लौकिक जीवन आत्मिक जीवनचर्या से भिन्न तो है पर विपरीत नहीं होना चाहिए । तभी स्तोकों के सोम के प्रति मस्ती का भाव रह सकता है ।

साधनायज्ञ में सर्वाधिक श्रेय इन्द्र—बुद्धि को है । अतः उसे **शूर** कहा गया है । इन्द्र स्वभाव से तटस्थ, निरपेक्ष, एक है । पर वह साधक की साधना में उसे महान् सहयोग देता है । वही है जो अहंभाव-रूप वृत्र का वध करता है, मन को शिवसंकल्पवान् बनाता है, चित्त की वृत्तियों का शमन करता है । उसकी इस सक्रियता की दृष्टि से उसे **वृष-यमाण** कहा गया है । वह **वृषभ,** कामनापूर्ति-रूप वृष्टि करनेवाला **भूरि-रेताः** (मन्त्र ४४) है । इन्द्र **तुरा-साट्** है । **तुरा**=त्वरा, जल्दबाज़ी, अधीरता, वेग, चंचलता । **साट्**=सहनेवाला । इन्द्र इन्द्रियों, मन, चित्त की चंचलता से विचलित नहीं होता वरन् उन झटकों को झेल जाता है और अपने रूप की रक्षा कर लेता है ।

देव हैं जीवन के विभिन्न अंगोपांग-रूप शक्तियां जो आत्मामृत के सेवन से **अ-मृत,** जीवित, अजर-अमर हो जाते हैं साधनायज्ञ के द्वारा । वे घृतार्द्र, स्नेहसिक्त, आनन्दित मन से प्रसन्न होते हैं 'स्वाहा' उच्चार के क्षण में । **स्वाहा**=द्रव्यत्याग, समर्पण की आत्मिक घोषणा । इन्द्र के प्रति सर्व की आहुति की धन्य आत्मोक्ति ।

ये सब पशुतोन्मूलन-यज्ञ में सदा आनन्दित रहें ।

११६८ **आ यात्विन्द्रोवस उप न, इह स्तुतः सधमादस्तु शूरः ।**
वावृधानस्तविषीर्यस्य पूर्वी, द्यौर्न क्षत्रमभिभूति पुष्यात् ।
ऋ ४.२१.१ य २०.४७

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आ यातु इन्द्रः अवसे उप नः इह स्तुतः सध-माद् अस्तु शूरः। ववृधानः तविषीः यस्य पूर्वीः द्यौः न क्षत्रम् अभि-भूति पुष्यात्।

१) (नः अवसे) हमारी रक्षा के लिए (इन्द्रः उप आ यातु) इन्द्र [हमारे] पास आ-जाए।
२) (स्तुतः) [हमारे द्वारा] प्रशंसित [वह] (शूरः) बलवान्, कर्मठ (इह सध-माद् अस्तु) यहां [देवों के] साथ मुदित होवे।
३) (यस्य तविषीः पूर्वीः) जिसकी शक्तियां सनातन [हैं वह] (ववृधानः) बढ़ता हुआ, (द्यौः न) द्यौ के समान, (अभि-भूति क्षत्रम्) अभिभवशील बल को (पुष्यात्) पुष्ट करे।

आप्री मंत्रों में विभिन्न विधियों से अग्नि के ऐंद्र रूप का, बुद्धि के स्तर पर अवतरित आत्मचैतन्य का निरूपण हो चुका। विशुद्ध आत्मा का अनुभव साधक बुद्धि के स्तर पर कर सकें, यह आप्री-साधना का लक्ष्य था। इससे साधक की पशुता का निराकरण होकर, विशुद्ध आत्मतत्त्व के अनुभव की भूमिका बनती है। आप्री मंत्रों के प्रकरण के बाद, अब इन्द्र के स्तवन का प्रकरण है।

पशुता के उन्मूलन की साधना में तीन क्रमिक उप-साधनाएं निहित हैं, प्रथम, सोम की; दूसरी, मस्तिष्क की, और फिर तीसरी, उपसंहारात्मक, पशु की। अन्न से क्रमशः मज्जा (वपा) तक स्थूल, शारीरिक स्तर पर स्थूल से सूक्ष्म परिणति तक प्रक्रिया है। मज्जा से फिर शुक्र (वीर्य, रेतः) बनता है जो शरीर की सूक्ष्म ऊर्जा है। शुक्र से ओज बनकर फिर सोम बनता है। वपा वह स्थिति है जहां स्थूलता समाप्त होती और सूक्ष्मता आरंभ होती है। अतः वपायाग का अभिप्राय है स्थूल-सूक्ष्म, विविध पशुता का त्याग। सोम मस्तिष्क की ऊर्जा है। मस्तिष्क बुद्धि का स्थान है। अतः पुरो-डाशयाग का अभिप्राय है सूक्ष्म-कारण स्तर की पशुता का त्याग। इसी प्रकार, कारण वा बौद्धिक स्तर पर भी पशुता का त्याग तीसरे, पशुयाग से संकेतित है। प्रस्तुत और अगले मंत्र में वपायाग की प्रतीकता से स्थूल-सूक्ष्म के मिलनबिन्दु पर पशुता के त्याग का संकेत ग्रहण करना चाहिए।

१) इन्द्र की निकटता जीवनसाधना की सफलता के लिए अभीष्ट है। विवेकपूर्वक जीवनयापन से सब आपदाओं का समाधान हो सकता है।
२) जैसे जैसे इन्द्र की निकटता से साधकों की साधना सफल होती चलेगी वैसे वैसे इन्द्र में साधकों का विश्वास बढ़ेगा और वे उसकी स्तुति करेंगे। बलवान् इन्द्र से बल पाकर, सब इन्द्रियदेव इन्द्र के प्रिय बन जाएंगे। फिर इन्द्र उसके साथ आत्मिक आनन्द के मद से मस्त रहेगा।
३) इन्द्र की शक्तियां **पूर्व**—प्राचीन हैं। शरीर, प्राण, मन, चित्त, अहंकार, इन सब प्राकृत विकृतियों से पूर्व की अवस्था इन्द्र—बुद्धि है। वह एक ओर आत्मा की सन्निकटता से, और दूसरी ओर अपने बहिर्मुख विस्तार से सदा बढ़ता रहता है (**ववृधान**)। वह साधक के उस **क्षत्र** (क्षत से त्राण की शक्ति) को पुष्ट करनेवाला है जो सब पाप्माओं, वृत्रादि असुरों को परास्त कर देता है। ऐंद्र विवेक से युक्त साधक स्वोद्धार करके, जन्म-जन्मान्तर की वासनाओं, दुश्चरितों, आदि को नष्ट कर पाता है। वैदिक चिंतन में इन्द्र क्षत्र का अधि-पति है (तैसं ३.३.५.१; ४.३.१०.२; मैसं २.८.६)। अतः इन्द्र का एक नाम **क्षत्र** भी है (माश २.५.२.२७; जैब्रा १.१८२, आदि)। सूर्य को भी इन्द्र कहा गया है। **द्यौः न क्षत्रं**, इस उपमा में कहा गया है कि जैसे द्यौ लोक **क्षत्र** (सूर्य) को पुष्टि देरहा है उस प्रकार इन्द्र (बुद्धि) क्षत्र का पोषक है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

११६९ **आ न इन्द्रो दूरादा न आसा,दभिष्टिकृदवसे यासदुग्रः ।**
ओजिष्ठेभिर्नृपतिर्वज्रबाहुः, सङ्गे समत्सु तुर्वणिः पृतन्यून् ।
ऋ ४.२०.१ य २०.४८
आ नः इन्द्रः दूरात् आ नः आसात् अभिष्टि-कृत् अवसे यासत् उग्रः । ओजिष्ठेभिः नृ-पतिः वज्र-बाहुः सम्-गे समत्-सु तुर्वणिः पृतन्यून् ।

(अभिष्टि-कृत्) कामना को [पूरी] करनेवाला, (उग्रः) उग्र, (सम्-गे) [हमारे] साथ में (समत्-सु पृतन्यून् तुर्वणिः) संग्रामों में संग्रामेच्छुओं का मारक, (वज्र-बाहुः) बाहुओं में वज्रधारी, (ओजिष्ठेभिः नृ-पतिः) ओजस्वितमों के द्वारा नरों का रक्षक (इन्द्रः) इन्द्र (अवसे) [हमारी] रक्षा के लिए (दूरात्) दूर से (नः आ यासत्) हमारे पास आ-जाए, (आसात्) आस[-पास] से (नः आ यासत्) हमारे पास आ[-जाए] ।

इन्द्र आ यासत्; इन्द्र आ-जाए । किसलिए ? **अवसे,** रक्षा, क्षतों से त्राण के लिए । कहां आ-जाए ? **नः,** हमारे, साधकों के पास । कहां से आजाए ? दूर अथ वा पास, जहां भी हो वहां से । भौतिकता से ग्रस्त मनुष्य के लिए इन्द्र—विवेक दूर है । जो जितना आत्मिक जीवन बिताता है उसके इन्द्र उतना ही पास है । आत्मविद् के तो वह अतिनिकट है । लौकिक और आंतरिक, दोनों जीवनस्तरों पर इन्द्र साधकों को सुलभ रहे ।

शेष मंत्रांश में इन्द्र के वे पांच गुण वर्णित हैं जिनके कारण साधक इन्द्र को बुलारहा है ।

१ **अभिष्टि-कृत्,** कामनाओं को संपन्न करनेवाला । इस अभिप्राय से **वृषा** (मंत्र ४४), **वृषभ** (मंत्र ४६) विशेषण पहले आ चुके हैं ।

२ इन्द्र साधक की कामनापूर्ति में बाधक क्षतों से त्राता है । इस वीर कर्म में वह **उग्र** है । साधना में बाधक उन पाप्माओं का इन्द्र विनाशक है जो साधक से लड़ने पर तुले हुए हैं **(पृतन्यु)** । इसमें इन्द्र आंतर-बाह्य, सबविध संघर्षों में साधक के साथ होता है । वह वज्रबाहु है । यह विशेषण मंत्र ३६, ३८ में भी आ चुका है ।

३ इस प्रकार, इन्द्र **नृ**=साधकों का **पति**=रक्षक है । वह ओजस्वितम विवेकरश्मियों द्वारा साधकों को क्षतों से बचाता है ।

११७० **आ न इन्द्रो हरिभिर्यात्वच्छा,र्वाचीनोवसे राधसे च ।**
तिष्ठाति वज्री मघवा विरप्शी,मं यज्ञमनु नो वाजसातौ ।
ऋ ४.२०.२ य २०.४९
आ नः इन्द्रः हरि-भिः यातु अच्छ अर्वाचीनः अवसे राधसे च । तिष्ठाति वज्री मघ-वा वि-रप्शी इमम् यज्ञम् अनु नः वाज-सातौ ।

१) (अवसे च राधसे) रक्षा और वृद्धि/संसिद्धि के लिए (अर्वा-चीनः) इधर, हमारी ओर आता हुआ (इन्द्रः) इन्द्र (हरि-भिः) हरियों के साथ (नः अच्छ) हमारी ओर (आ यातु) आ-जाए ।
२) (वज्री) वज्रवान्, (मघ-वा) धन-वान्, (वि-रप्शी) वि-वक्ता [वह] (वाज-सातौ) वाज-प्राप्ति [के प्रसंग] में (नः इमम् यज्ञम्) हमारे इस यज्ञ को (अनु तिष्ठाति) अनु-ष्ठान करे ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पूर्ववर्ती दो मंत्रों में स्थूल-सूक्ष्म के मिलनबिन्दु पर पशुता के त्याग का संकेत था। अतः वहां **अवः**, क्षत से त्राण की भावना थी। इस और अगले मंत्र में पुरोडाशयाग की प्रतीकता से सूक्ष्म-कारण स्तर के मिलनबिन्दु पर पशुता के त्याग का संकेत है। पुरोडाश मस्तिष्क का प्रतीक है। यहां अवः से आगे की उपलब्धियों की चर्चा है।

१) इन्द्र अपने दो हरियों (बहिर्मुखता, अंतर्मुखता) के साथ हम साधकों की ओर आए। वह **अच्छ**, अच्छी प्रकार, पूरे मन से, स्थायी तौर पर, फिर कभी दूर न जाने के लिए आजाए। प्राचीनता का सेवन करनेवाला (मंत्र ३९, ४२) वह साधकों के लिए **अर्वाचीन**, नवीन, ताज़गी देनेवाला बन जाए। उसके सान्निध्य में साधक सदा ओजस्वी और प्रफुल्लित रहें। इन्द्र न केवल भौतिक दृष्टि से रक्षा के लिए वरन् **राधः**, सं[=आत्मिक]सिद्धि, आत्मिक अभिवृद्धि के लिए भी साधकों का वरण करे।

२) रक्षा के लिए इन्द्र वज्री है, तो **राधोदेयाय**, संसिद्धिदान के लिए वह **मघ-वा**, संसिद्धिरूप **देय धन (मघ)** का धनी है। **वाज** (शक्ति-, ज्योति-रूप राधः) की सिद्धि के लिए, वाजसाधना के प्रसंग में वह साधकों का मार्गप्रदर्शक नेता है जो प्रत्येक क़दम पर अपनी मूक, विवेकवती वाणी से उनको चेताता है **(वि-रप्शी)**। यही उसकी महत्ता है। वेद में **विरप्शी** महान् को कहते हैं। मार्गप्रदर्शक, सचमुच, महान् होता है। इन्द्र साधकों के साधना-यज्ञ का अनु-ष्ठान करे। वही साधनां को पूरा करनेवाला है। हम साधक अपने तथाकथित, अहं-दूषित पुरुषार्थ से क्या अनु-ष्ठान कर सकेंगे! वह अनु-ष्ठाता है, वह अनु-ष्ठेय है, वह अनु-ष्ठान है। उसकी कृपा सब कुछ है। साधकों का पुरुषार्थ उसकी कृपा की तुलना में कुछ नहीं है जिसका अभिमान किया जाए वा जिसे अपना पौरुष माना जाए।

११७१ **त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं, हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम्।**
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं, स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः।
ऋ ६.४७.११; तैसं १.६.१२.५; सा ३३३; अ ७.८६.१ य २०.५०
त्रातारम् इन्द्रम् अवितारम् इन्द्रम् हवे-हवे सु-हवम् शूरम् इन्द्रम्। ह्वयामि शक्रम् पुरु-हूतम् इन्द्रम् स्वस्ति नः मघ-वा धातु इन्द्रः।

१) (त्रातारम् इन्द्रम्) त्राणकर्ता इन्द्र को, (अवितारम् इन्द्रम्) रक्षक इन्द्र को, (हवे-हवे सु-हवम्) पुकार-पुकार पर सरलता से पुकारे जानेवाले, (शूरम् इन्द्रम्) बलवान्, कर्मठ इन्द्र को (शक्-रम् पुरुहूतम् इन्द्रम्) समर्थ, बहुत पुकारे गए इन्द्र को (ह्वयामि) मैं [भी] पुकाररहा हूं।
२) (मघ-वा इन्द्रः) धनवान् इन्द्र (नः स्वस्ति) हमारे अमरत्व [के दायित्व] को (धातु) [अपने ऊपर] लेवे।

१) साधक के लिए तो अब, बस, यही करणीय शेष है कि वह अपने स्व को भूलकर मैं न रहे, तू ही तू हो जाए। प्रत्येक प्रसंग में, सहायता और मार्गप्रदर्शन के प्रत्येक अवसर पर साधक उस इन्द्र को पुकारे जो **सत्यं ज्ञानमनन्तं** (तैत्तिरीयोपनिषद् २.१) है, अतः ब्रह्म—विशुद्ध विवेकालोक है। इन्द्र को पुकारना सरल है, कठिन नहीं। तनिक सी निश्छल पुकार पर वह भागा चला आता है (सु-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हव)। यह संसार और सांसारिकता हव है, 'हा-हा'-कार की चीख-पुकारों से भरा पड़ा है। कल्याण के लिए पुकारने योग्य यहां आत्मा का विवेकचैतन्य ही है।

साधक भावावेश में इन्द्र का पुनः पुनः नाम जपता है। उसे अपना **त्राता, अविता** और एकमात्र सहारा देने वाला **शूर** मानता है। **त्राता** शब्द क्षत्रों से त्राण का संकेत करता है, तो **अविता** साधक की रक्षणेच्छा का सूचक है। इन्द्र **शक्र**, समर्थ है त्राण, अवन और बलकर्म में। उसे अपने कर्म में किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं है। अकेला कोई एक साधक नहीं, विभिन्न देशों और कालों में पूर्व, नूतन, सब साधक उसे पुकारते रहे हैं **(पुरु-हूत)**।

२) संसिद्धिधनोंसे युक्त (मघ-वा) इन्द्र हमारी स्वस्ति का भार अपने ऊपर ले ले, बस, यहीं तक साधना की गति है। आगे, स्वस्तिसाधन करना इन्द्र के अधिकार और प्रसाद का क्षेत्र है। इसी भाव से अन्यत्र कहा गया है, **यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः** (कठोपनिषद् २.२३; मुंडकोपनिषद् ३.२३)। स्वस्ति=सु+अस्ति, कल्याणमय अस्तित्व, शोभन जीवन। शाश्वत, सत्य, सनातन, प्राचीन ज्योति और बर्हि (मंत्र ४२, ३९) का नियन्ता इन्द्र साधक को शाश्वतता, अमरत्व, अविनाश के लोक में स्थापित करे। यही साधक का लक्ष्य है। इस स्थिति को पाकर, प्राकृत, भौतिक, लौकिक संस्कार, सब पीछे छूट जाएंगे। यही मोक्ष—छुटकारा है।

सूक्ति : **स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः।**

धनी दाता इन्द्र हमारे अमृतत्व का दायित्व उठाए।

११७२ **इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः, सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः।**
बाधतां द्वेषो अभयं कृणोतु, सुवीर्यस्य पतयः स्याम।

ऋ ६.४७.१२; १०.१३१.६; तैसं १.७.१३.४; य २०.५१
अ ७.९१.१; २०.१२५.६

इन्द्रः सु-त्रामा सु+अवान् अवः-भिः सु-मृडीकः भवतु विश्व-वेदाः। बाधताम् द्वेषः अ+भयम् कृणोतु सु-वीर्यस्य पतयः स्याम।

१) (सु-त्रामा) कल्याणपूर्वक त्राण करनेवाला, (सु-अवान्) सु-रक्षक, (विश्व-वेदाः) समग्र-धनी (इन्द्रः) इन्द्र (अवः-भिः) रक्षाओं के कारण (सु-मृडीकः भवतु) कल्याणपूर्वक आनन्दमय होवे।
२) [वह] (द्वेषः) द्वेष को (बाधताम्) रोके।
३) [वह] (अ-भयम्) निर्भय (कृणोतु) बनाए।
४) (सु-वीर्यस्य पतयः) कल्याणकारी बल के रक्षक (स्याम) हम होवें।

पूर्ववर्ती दो मंत्रों में सूक्ष्म-कारण स्तरों के मिलन-बिन्दु पर पशुता के त्याग का संकेत था। इस और अगले मंत्र में अंतिम, बौद्धिक स्तर पर पशुता के त्याग की चर्चा पशुयाग के प्रतीक से है।

१) इन्द्र—बुद्धि एक है। शुद्ध बुद्धि में अहंभाव-मूलक अनेकत्व का लेश नहीं होता है। यह आत्म-चैतन्य से नित्यसंयुक्त रहती है। इसके विवेकवैभव से युक्त होना साधक का लक्ष्य है। यह **सु-त्रामा**, सु-त्राणकर्त्री है। यही जीवन का, मोक्षरूप, परम कल्याण करती है। इसी कारण इन्द्रसाधना को **सौत्रामणी** कहा जाता है। **सु** विशेषण, वस्तुतः, इन्द्र को ही फबता है। यही, वस्तुतः, **स्ववान्** (सु-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अवान्), सु-रक्षक है। उसके पास क्षतों से त्राण और कल्याणरक्षा के अनन्त साधन होने से वह **विश्व-वेदाः** है। अतः उसी की साधना उचित है। वह अपने रक्षणसामर्थ्यों से हमारा **सु-मृडीक,** कल्याणमय आनन्ददाता हो जाए, यह साधकों की लक्ष्योक्ति है।

२) इन्द्र की सु-रक्षा मिलने पर द्वेष का निषेध दूर से ही हो जाता है। निज-पर का, दुई का भाव ही राग-द्वेषमूलक भेदभाव का हेतु है। उसके हटते ही साधक एकत्व का अनुद्रष्टा होते हुए मोह-शोक से परे हो जाता है (य ४०.७)। इस स्थिति का साधक विश्वामित्र, अजातशत्रु, अशत्रु (इन्द्र), अरिहन्त बन जाता है।

३) द्वेषबाधन के द्वारा इन्द्र अभयंकर बन जाता है। स्वयं साधक, और उसकी दृष्टि में शेष जगत् और व्यवहार, सब अभय हो जाते हैं। अब जगत् के राग-द्वेष, हानि-लाभ, जय-पराजय, जीवन-मरण उसे आतंकित नहीं करते क्यों कि वह उस सतत आत्मानुदर्शन के लोक में पहुंच चुका होता है जहां उसे आत्मा में सर्व भूत (चराचर विश्व) और सर्व भूत में आत्मा दीख पड़ता है। चैतन्य का ही द्रष्टा अचेतन की ओर से अभय हो चुकता है। जड़ की भीति नष्ट हो जाती है।

४) वीतद्वेष, अभय साधक ही, वस्तुतः, **सु-वीर्य** के **पति** बनते हैं। लौकिक वीर्य के पति तो कभी बलवान् और कभी दुर्बल होते रहते हैं। पर विवेकवीर्य का पति तो **सु**=कल्याणकारी, भद्र, स्वस्तिमय **वीर्य**=शाश्वत चैतन्य, सनातन ज्ञान, अविनश्वर सत्ता का अनुभवी हो चुका होता है जो कभी छिनता नहीं, न क्षीण होता है। उसके पास सुवीर्य का अक्षय भंडार होता है जिसे वह सबको बांटता है। वह लोक में सुवीर्य का रक्षक बन जाता है। महावीर, बुद्ध, शंकर, आदि इसी कोटि के सिद्ध थे।

सूक्ति : **सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः।**
समग्र-धनी कल्याण-आनन्दमय होवे।
बाधतां द्वेषो, अभयं कृणोतु।
[बुद्धि] द्वेष को रोके [और हमें] निर्भय करे।
सुवीर्यस्य पतयः स्याम।
कल्याण-बल के रक्षक हम हों।

११७३ **तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्या,पि भद्रे सौमनसे स्याम।**
स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मे, आराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु। य २०.५२

ऋ ६.४७.१३; १०.१३१.७; तैसं १.७.१३.५;
अ ७.९२.१; २०.१२५.७

तस्य वयम् सु-मतौ यज्ञियस्य अपि भद्रे सौमनसे स्याम। सः सु-त्रामा सु+अवान् इन्द्रः अस्मे आरात् चित् द्वेषः सनुतः युयोतु।

१) (तस्य यज्ञियस्य) उस यज्ञसंपादक [इन्द्र] के (सु-मतौ) कल्याणमय चिंतन में (अपि) और (भद्रे सौमनसे) कल्याणकारी सुमनस्कता [प्रीति—कृपा] में (वयम् स्याम) हम होवें।
२) (सु-त्रामा) सु-त्राणकर्ता, (सु-अवान्) सु-रक्षक (सः इन्द्रः) वह इन्द्र (द्वेषः) द्वेष को (आरात् चित्) दूर [-पास] से भी (सनुतः) चुपचाप (अस्मे युयोतु) हमसे अलग करे।

१) इन्द्र यज्ञिय है। सब देव यज्ञिय होते हैं।[1] देवों का अधीश इन्द्र यज्ञियतम है। यज्ञ करनेवाला, **आर्य**—साधक भी यज्ञिय होता है (काश ४.१.१.

१ **देवा यज्ञियाः।** तैसं २.५.९.६; माश १.५.२.३

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

६)। यज्ञ के सब साधन, जैसे, आपः गौः, वनस्पति, वाक्, सब यज्ञिय हैं। साधनायज्ञ इन्द्र की कृपा से सिद्ध होता है। अतः वह परम यज्ञिय है। उसकी सुमति में और उसके भद्र सौमनस में रहना साधक की परम आकांक्षा है। **मति**=मनन, चिंतन। **सुमति**=हित-चिंतन। इन्द्र सदा साधकों का हित ही सोचता है। अहित वह सोच ही नहीं सकता क्यों कि वह आत्मचैतन्य से नित्य अविनाभूत, संयुक्त है। **सौमनस**=मन का रुझान, झुकाव, पक्षपात। लौकिक प्राणियों के सौमनस में स्वार्थ की दुर्गन्ध भले ही हो, इन्द्र के सौमनस में भद्रता—कल्याण ही कल्याण है।

२) **सुत्रामा स्ववाँ** अंश पूर्व-मंत्र में आ चुके हैं। वह द्वेष, निज-पर के भेदचिंतन को हमसे दूर दूर तक परे रखे ताकि वह निकट फटक न सके। अहंमूलक भेदचिंतन विवेकोदय होने पर सनुतः, चुपचाप वैसे दूर सटक जाता है जैसे प्रकाशोदय पर अंधकार। द्वेष को तो, बस, भूल जाना है, उसके प्रति जागरूकता, भान को नष्ट होने देना है। मनोविज्ञान की मान्यता है कि मनुष्य, वस्तुतः, उसी को भूलता है जिसे भूलना चाहता है। द्वेष को हम भूल जाएं, उसकी उपस्थिति का भान हमें न रहे तो द्वेष समूल नष्ट ही है। चिंतन द्वेष का नहीं, राग का कीजिए; परत्व का नहीं, निजत्व का कीजिए। चिंतन में निषेधात्मकता नहीं, विधेयात्मकता होनी चाहिए।

११७४ **आ मन्द्रैरिन्द्र! हरिभिर्याहि मयूररोमभिः।**
मा त्वा के चिन्नि यमन् विं न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ इहि।

ऋ ३.४५.१; सा २४६; १७१८; अ ७.११७.१ य २०.५३

आ मन्द्रैः इन्द्र हरि-भिः याहि मयूर+रोम-भिः। मा त्वा के चित् नि यमन् विम् न पाशिनः अति धन्व-इव तान् इहि।

१) (इन्द्र) इन्द्र! (मन्द्रैः, मयूर+रोम-भिः हरि-भिः) गंभीर, मयूर के रोमों [जैसे रोमों] वाले हरियों के द्वारा (आ याहि) आ जाओ।

२) (न पाशिनः विम्) जैसे बहेलिए पक्षी को [नि-यमित करते हैं वैसे] (के चित्) कोई (त्वा मा नि यमन्) तुझे नि-यमित न करें।

३) (धन्व-इव) मरुभूमि के समान (तान् अति इहि) उन्हें लांघ जा।

आत्मा सब लौकिक व्यवहारों से अतीत है। अतः उसके लिए उद्दिष्ट यह और अगला मंत्र यज्ञिय कर्मकांड में अविनियुक्त हैं। आत्मा से नित्यसंयुक्त बुद्धि को, आत्मानुरोध से, यहां संबोधित किया गया है।

१) इन्द्र साधकों के साधनायज्ञ में आ जाए। वह अपने हरियों के साथ आए। **हरि**=अंतर्मुखता, बहिर्मुखता; उभयलोक-साधक द्विविध विवेक। विवेक बड़ा रमणीय, आकर्षक है, जीवन को सौंदर्य से भर देने वाला है।

वैदिक चिंतन में मयूरों का संबंध अश्वियों से माना गया है (मैसं ३.१४.४)। अश्वियों और इन्द्र के हरियों की संख्या समान है। अतः मंत्र में मयूर जैसे हरियों से अश्वियों से मुक्त इन्द्र का संकेत समझा जा सकता है। मयूर के रोम और पंख आनन्दमय नृत्य के क्षणों में फैल जाते हैं और बड़े सुन्दर लगते हैं। इन्द्र के हरि जब उत्साहपूर्वक तेज़ दौड़ते हैं अंतः और बहिः, दोनों दिशाओं में,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तो उनके भी, मानो, रोम-केश खड़े हो जाते हैं। **मयूररोम** उपमा हरियों के आनन्द की सूचक है। आत्मचैतन्य, आत्मानन्द से भर-पूर जीवनपद्धति लोक में भी उतनी सफल होती है जितनी पारलौकिक साधना में।[1]

२) इन्द्र को वृत्रादि असुर, मन, चित्त, अहंकारादि की पाप्माएं अपने वश में **नि-यत**, नि-बद्ध न कर लें। इन्द्र तो द्वेषादि का बाध करनेवाला है। उस पर मन, आदि की माया का आवरण न पड़ जाए। मन, आदि शिकारी पाश लिए विवेक को वश में करने की ताक लगाए रहते हैं जिनसे विवेकपक्षी को सावधान रहना है। लोभ, प्रमाद, सुविधा का जीवन, आदि से विवेकज्योति मलिन पड़ सकती है।

३) अतः उन पाशियों—बहेलियों को गरुत्मान् सुपर्ण इन्द्र (ऋ १.१६४.४६) बिना नीचे उतरकर पाश में फंसे, ऊपर ही ऊपर उडकर लांघ जाए। पार्थिव-भौतिक-लौकिक स्तर पर उतरकर तो वह पाशियों के फंदे में फंस जाएगा। उतरने के स्थान के अभाव में जैसे ऊसर, बंजर, वृक्षहीन भूमि पर पक्षी नहीं उतरते, सीधे उड़े चले जाते हैं उस प्रकार भौतिकता की ऊसर भूमि पर उतरने का लोभ इन्द्र भी न करे।

१. मयूररोम हरि प्रयोग पूर्णतया स्पष्ट नहीं हुआ है। यह चिन्तनशीलों द्वारा विचारणीय है।

११७५ **एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं, वसिष्ठासो अभ्यर्चन्त्यर्कैः।**
स न स्तुतो वीरवद् धातु गोमद्, यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।

ऋ ७.२३.६; अ २०.१२.६ य २०.५४

एव इत् इन्द्रम् वृषणम् वज्र-बाहुम् वसिष्ठासः अभि अर्चन्ति अर्कैः। सः नः स्तुतः वीर-वत् धातु गो-मत् यूयम् पात स्वस्ति-भिः सदा नः।

१) (वृषणम्, वज्र-बाहुम् इन्द्रम् एव) वर्षिता, वज्रयुक्त बाहुवाले इन्द्र को ही, (इत्) [बस, उसे] ही (वसिष्ठासः) स्थायी—शाश्वत निवासी (अर्कैः अभि अर्चन्ति) स्तुतियों द्वारा अभि-स्तवन करते हैं।

२) (स्तुतः सः) [वसिष्ठों द्वारा] स्तुत वह (नः) हमारे लिए (वीर-वत्, गो-मत्) वीरों वाले, गौओं वाले [अपने ऐश्वर्य] को (धातु) [अपने में] धारण रखे।

३) (यूयम्) तुम (नः) हमें (स्वस्ति-भिः सदा पात) अमरताओं के द्वारा सदा बचाओ।

१) मंत्र में साधकों को **वसिष्ठ** कहा गया है। सदा से बसे हुए को वसिष्ठ कहते हैं। जो आज है, कल रहे वा न रहे वह अस्थिर है, वसिष्ठ नहीं। आत्मा में स्थिर निवासी साधक वसिष्ठ हैं। साधक समाधि में आत्मस्थ होकर वसिष्ठ बन जाते हैं। समाधि से उतरकर भी वे प्रतिक्षण आत्मभाव में लीन रहते हुए आत्मस्थ हो वसिष्ठ बने रहते हैं। जो रहते आत्मा में हैं, व्यवहार भले ही लोक में करें वे आत्मद्रष्टा वसिष्ठ हैं।

वसिष्ठ ही, वस्तुतः, इन्द्र की परिपूर्ण साधना कर पाते हैं। अ-वसिष्ठों की ऐंद्र साधना में न्यूनताएं रह जाती हैं। इन्द्र **वृषा वज्रबाहु** है। वह साधकों की कामना पूरी करता (**वृषा**), और उन्हें क्षतों से बचाता है अपनी वज्रबाहुओं से। वसिष्ठों की वाणियां इन्द्र का स्तवन हैं। वे जो उच्चारते हैं वह विवेकमय उक्ति होती है आत्मस्थिति की द्योतक। और ऐसी वाणी श्रोता के विवेक को उद्बुद्ध करनेवाली होती है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

२) हम वसिष्ठों द्वारा स्तुत इन्द्र हमें प्रदान करने के लिए वीर-वत् गो-मत् रयि का भंडार बने। इन्द्र शब्द का अर्थ होता है ऐश्वर्यवान्। इन्द्र के ऐश्वर्य की दो विशेषताएं हैं वीर और गौ। वीर, अर्थात्, कर्मठ, जो स्वकामनाओं की पूर्ति के लिए क्षतों का नाश और पुरुषार्थ करे। इस मंत्र में इन्द्र के वज्रबाहु और वृषा विशेषणों में वीरत्व का भाव है। इन्द्र का जो विवेकवैभव है वह है गौ—ज्ञानरश्मि।

३) तुम सब हमें स्वस्तियों के द्वारा सदा बचाओ। तुम सब कौन? जीवन-साधनायज्ञ के ऋत्विज शरीर, प्राण, इन्द्रियां, मन, चित्त, अहंकार, बुद्धि। इन सबका क्षतों से त्राण करने में योगदान है।

११७६ **समिद्धो अग्निरश्विना !, तप्तो घर्मो विराट् सुतः।**
दुहे धेनुः सरस्वती, सोमं शुक्रमिहेन्द्रियम्। य २०.५५

सम्-इद्धः अग्निः अश्विना तप्तः घर्मः वि-राट् सुतः। दुहे धेनुः सरः+वती सोमम् शुक्रम् इह इन्द्रियम्।

१) (अश्विना) अश्वियो ! (अग्निः सम्-इद्धः) अग्नि प्र-ज्वलित [है],
२) (घर्मः तप्तः) घर्म तप्त [है],
३) (वि-राट् सुतः) विशेष दीप्तिमान् [ऊर्क्] संपन्न [है],
४) (सरः-वती धेनुः) प्रवाह-वती गौ (शुक्रम्, इन्द्रियम् सोमम्) शुद्ध, बलयुक्त सोम को (इह दुहे) यहां भररही है।

मंत्र ५५ से ६६ तक आप्री मंत्रों का द्वितीय प्रकरण है। ऐसा एक प्रकरण पहले मंत्र ३६ से ४६ तक आ चुका है। वहां इन्द्र की आग्नेयता का प्रतिपादन था। अब यहां इस द्वितीय प्रकरण में सौत्रामणी यज्ञ के तीनों प्रधान देवों (अश्वियों, सरस्वती, इन्द्र) का प्रयाजदेवों की दृष्टि से विवेचन है।

१) यह मन्त्र अश्वियों को सम्बोधित है। जीवन का अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी व्यवहार अग्नि, घर्म, विराट् और सोम, इन चार पर आधृत है। अतः अश्वियों को इन चारों की तैयारी की सूचना दी जारही है। समिद्ध अग्नि इन्द्ररूप होता है। समिद्ध अग्नि में **सम्** उपसर्ग एकीभाव का अर्थ देता है। ऐसा **इद्ध**—प्रज्वलित अग्नि जिसमें सब हुत हों, जो सबकी परिधि बन जाए उसे **समिद्ध** कहा जाएगा। जैसे अग्नि में पड़कर वस्तु अग्नि-रूप हो जाती है, आत्माग्नि में पड़कर शरीर से बुद्धि तक सब आध्यात्मिक हो जाते हैं। **समिद्धो अग्निः**, आत्माग्नि प्रदीप्त, प्रबल है।

२) **तप्तो घर्मः**, घर्म तप चुका है। प्रवर्ग्य याग में, महावीर नामक तप्त पात्र में घी डालकर उसे उबालते हैं। फिर उबलते हुए घी में गर्म दूध मिलाया जाता है। यह घी-मिश्रित और महावीर-स्थ दूध **घर्म**[1] कहाता है। घी और दूध का यह मेल देवमिथुन (दो देवों का जोड़ा) कहा गया है (ऐब्रा १.२२; गोब्रा २.२.६)। यह उस ब्रह्मवर्चस का प्रतीक है जिसमें तेज (घी) में सौम्यता (दूध), विद्या और विनय का मणिकांचन योग होता है। घर्म अग्नि और आदित्य का प्रतीक है, यह इन्द्र है; ये सब ब्रह्मवर्चस के प्रदाता हैं (माश ११.६.२.२; काठ १०.८)। अग्नि से तेज, और

१ घर्म शब्द हिन्दी में गर्म हो गया है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आदित्य वा इन्द्र से प्रकाश प्राप्त होता है। ब्रह्मवर्चस में आग्नेय तेज और विवेकदीप्ति, दोनों होती हैं। आत्मिक जीवन से ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति होती है।

३) **विराट् सुतः**, विराट् तैयार है। **सुत** शब्द सोम के सारग्रहण के लिए आता है। यहां सोम को **विराट्** कहा गया है। सोम ऊर्क्—ऊर्जा है (काठ २७.१), जो अन्न का सूक्ष्मतम परिणाम होता है। ऊर्क् को **विराट्** कहा जाता है (काठ ३३.३; तैब्रा १.२.२.२)। **विराट् सुतः** का अभिप्राय है सोमरूप ऊर्जा संपन्न हो चुकी है। ऊर्जा विविध दीप्तियों, तेजों वाली [**विराट्**] है। ब्रह्मवर्चस का आधार है ब्रह्मचर्य जिससे शरीर में ऊर्जा का संग्रह होता है।

४) सरस्वती—वाक् गौ बनकर सोम का दोहन करती है। जैसे गौ अपने दूध से पात्र को भर देती है वैसे वाणी सोम से इन्द्र को भर देती है। सोम शुक्र—अतिशुद्ध, श्वेत और परम बल है। सोम **इन्द्रिय**—इन्द्र का बल, इन्द्र का व्यक्तित्व है। बुद्धि का विवेक सोम है जो वाणी के द्वारा अभिव्यक्त होता है।

समिद्ध आत्माग्नि, उससे उत्पन्न तप्त घर्म (ब्रह्मवर्चस), उसका हेतु विराट् (ऊर्जा, प्राणशक्ति), और उसकी सूक्ष्मतर परिणति सोम जो विवेकरूप में बौद्धिक अभिव्यक्ति के द्वारा प्रस्फुटित होता है और **सरः**, प्रवाह का रूप लेकर सब श्रोताओं का उपकार करता है। ये चार साधन तैयार हैं। अश्वियो! अब आत्मिक और भौतिक, दोनों दिशाओं में पराक्रम करो, इह और पर, दोनों लोकों को सिद्ध करो।

११७७ **तनूपा भिषजा सुते,शिवनोभा सरस्वती।**
मध्वा रजांसीन्द्रिय,मिन्द्राय पथिभिर्वहान्। य २०.५६
तनू-पा भिषजा सुते अश्विना उभा सरः+वती। मध्वा रजांसि इन्द्रियम् इन्द्राय पथि-भिः वहान्।

(तनू-पा) विस्तृत [शरीर] के रक्षक, भिषजा) रोगनिवारक (उभा अश्विना) दोनों अश्वी [और] (सरः-वती) प्रवाह-वती (सुते) [सोम के] संपन्न हो जाने पर (इन्द्राय) इन्द्र के लिए (मध्वा) मधु के द्वारा (इन्द्रियम्) बल को [और] (पथि-भिः) पथों से (रजांसि) लोकों को (वहान्) ले जाते हैं।

सरस्वती धेनु ने जिस सोम को दुहा है उसका **सुत**—सारग्रहण हो जाने पर, दोनों अश्वी और सरस्वती इन्द्र के लिए रजों को और इन्द्रिय को ले जाकर उसे समर्पित करते हैं। इन्द्र की जो क्षति त्वष्टा के सोम के पान से हुई थी उसका इस प्रकार उपचार हो जाता है (माश १२.७.१.१-१४)। अश्वी इन्द्र के **भिषक्**—उपचारकर्ता और **तनू-पा**, शरीर-रक्षक सिद्ध होते हैं।

मधु—रस, माधुर्य, जीवन के लौकिक सुख के द्वारा **रजों**—लोकों, जीवन की सुखमय अवस्थाओं को, और **पथों** के द्वारा **इन्द्रिय**—इन्द्र के निजी बल को, बुद्धि के विवेकवैभव को संपन्न किया जाता है। पांच ज्ञानेन्द्रियां वे पथ हैं जिनसे बाह्य विश्व का ज्ञान अन्तःकरण में प्रविष्ट होता है। इन्द्रियों द्वारा विश्व का ग्रहण करके, इन्द्र विश्वरूप बन जाता है। इस ज्ञान से अनुभूतिमय विवेक का संपादन इन्द्र करता है जो उसका **इन्द्रिय**—निज बल है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

११७८ **इन्द्रायेन्दुं सरस्वती, नराशंसेन नग्नहुम् ।**
अधातामश्विना मधु, भेषजं भिषजा सुते । य २०.५७
इन्द्राय इन्दुम् सरः+वती नरा+शंसेन नग्नहुम् । अधाताम् अश्विना मधु भेषजम् भिषजा सुते ।

१) (इन्द्राय) इन्द्र के लिए (सरः-वती) प्रवाह-वती ने (नरा-शंसेन) नरा-शंस के साथ (इन्दुम्, नग्नहुम्) सोम [और] सुरा को [धारण किया] ।
२) (भिषजा अश्विना) रोगनिवारक अश्वियों ने (सुते) [सोम के] संपन्न हो जाने पर (मधु भेषजम्) मधु भेषज को (अधाताम्) धारण किया ।

इन्दु, नग्नहु और मधु, ये तीन इन्द्र के **इन्द्रिय**—निज बल, विवेक का संपादन करनेवाले हैं । अश्वी मधु को, तो सरस्वती इन्दु को, और नराशंस के साथ वही नग्नहु को इन्द्र के लिए धारण करती है । **इन्दु** सोम है । **नग्नहु** है वह खुमारी जो अन्न-सेवन के बाद, अन्न का रस बनने से अनुभव होती है । **मधु** है अन्न का स्वाद ।

सोम के दोहन से सरस्वती का संबंध मंत्र ५५ में बताया गया है । मधु से अश्वियों के भी संबंध का संकेत मंत्र ५६ में आ चुका है । नग्नहु का संबंध इस मंत्र में नराशंस से जोड़ा गया है । **नराशंस** शब्द पहले मंत्र ३७ की व्याख्या में इन्द्र के लिए प्रयुक्त बताया जा चुका है ।

इन्द्र सोम का पान करके मदमस्त हो जाता है, यह अभिप्राय वेदों में अनेक स्थलों पर मिलता है । मंत्रस्थ **नग्नहु** इस मद के लिए प्रयुक्त संकेत है । सोम का सेवन, उससे इन्द्र को मद होना, और सोममाधुर्य का आनंद लेना, यह अनुभव-क्रम सरस्वती और अश्वियों के भैषज्य के कारण इन्द्र की संपत्ति बनता है । लौकिक स्तर पर पहले मधु—अन्न का सेवन, फिर नग्नहु—खुमारी, फिर सोम का संपादन होता है । पर इससे सूक्ष्म, सूक्ष्मतर स्तर पर सोम अन्न है, उससे नग्नहु मद (आनन्द) का अनुभव, और फिर साथ ही मधु—विवेकमाधुर्य की स्थिति—ये ऐंद्र स्तर पर साधक के अनुभव हैं । **सुते,** सोम का संपादन होने पर इन्दु, नग्नहु, मधु की क्रमिक अनुभूतियां साधक करता है ।

११७९ **आजुह्वाना सरस्वतो,न्द्रायेन्द्रियाणि वीर्यम् ।**
इडाभिरश्विनाविषं, समूर्जं सं रयिं दधुः । य २०.५८
आ-जुह्वाना सरः+वती इन्द्राय इन्द्रियाणि वीर्यम् । इडाभिः अश्विनौ इषम् सम् ऊर्जम् सम् रयिम् दधुः ।

१) (इन्द्राय) इन्द्र के लिए (इन्द्रियाणि, वीर्यम्) बलों [और] शक्ति को (आ-जुह्वाना सरः-वती) आ-ह्वान करती हुई प्रवाह-वती ने
२) [और] (अश्विनौ) अश्वियों ने (इडाभिः) इडाओं के साथ (इषम्, ऊर्जम् सम्) इट् [और] ऊर्क् को सं[-हित किया], (रयिम् सम् दधुः) रयि को सं-हित किया ।

प्रवाहवती वाणी ने और अश्वियों ने इन्द्र के लिए **सं दधुः**, सं-धान, संग्रह किया है इट्, ऊर्क् और रयि का । **इट्**—अन्न, **ऊर्क्**—बल, **रयि**—क्रिया से प्राप्त फल, ऐश्वर्य, इच्छापूर्ति ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१) सरस्वती इन्द्र के लिए इन्द्रियों और वीर्य का **आ-ह्वान** करती है, उन्हें पुकार-पुकारकर बुलाती है। इन्द्र को प्रोत्साहित करके वाणी ज्ञान- और कर्म-इन्द्रियों की शक्तियों को और क्रियाशीलता को पुष्ट करती है। यह वाणी द्वारा आह्वान है।
२) अश्वी, बहिर्मुखी और अंतर्मुखी जीवन-पद्धतियां इडाओं द्वारा इन्द्र में इट्, आदि का सम्यक् आधान करते हैं। इडा का विवेचन पहले, मंत्र ४३ में किया गया है। **इडा** = विवेकालोकयुक्त भौतिक दृष्टि। लौकिक जीवन को विवेकदृष्टि-पूर्वक जीने की युक्तियां इडाएं हैं। अश्वी अध्यात्म और बहिर्मुखता, दोनों का समन्वय जीवन में प्रस्तुत करते हैं।

वाणी और अश्वी इन्द्र के लिए भौतिक चराचर पदार्थ **(इट्)**, उनके सेवन से प्राप्य बल **(उर्क्)** और उससे कामनापूर्ति **(रयि)**, तीनों की व्यवस्था करते हैं। वेदों में इट् और ऊर्क् का साथ साथ उल्लेख प्रायः मिलता है। कहीं कहीं इनके साथ रयि की चर्चा मिलती है, जैसे यहां। इट् और ऊर्क् का घनिष्ठ पारस्परिक संबंध है। इट् पांचभौतिक है, तो ऊर्क् तान्मात्रिक। **रयि** का संकेत फलाप्ति के भोक्ता मन की ओर है।

११८० **अश्विना नमुचेः सुतं, सोमं शुक्रं परिस्रुता।**
सरस्वती तमाभरद्, बर्हिषेन्द्राय पातवे। य २०.५९

अश्विना न+मुचेः सुतम् सोमम् शुक्रम् परि-स्रुता। सरः+वती तम् आ अभरत् बर्हिषा इन्द्राय पातवे।

(अश्विना) अश्वियों ने, (सरः-वती) प्रवाह-वती ने (इन्द्राय) इन्द्र के लिए, (पातवे) [उसके] पान के लिए (परि-स्रुता) परि-स्रुत् के साथ (नमुचेः) नमुचि से [छीने हुए], (तम् सुतम्, शुक्रम् सोमम्) उस संपन्न, शुद्ध सोम को (बर्हिषा) बर्हि के साथ (आ अभरत्) आ-भरण [सं-ग्रह] किया।

नमुचि = पाप्मा,[1] विकार। न+मुचि = न+छोड़ने-वाला, जकड़न, पापजाल। पाप्मा के चंगुल में पड़ा हुआ सोम इन्द्र—बुद्धि के काम नहीं आता वरन् उसका दुरुपयोग होता है। इन्द्र नमुचि को अपने विवेकवज्र से मार देता है। तब अश्वी और सरस्वती नमुचि के चंगुल में पड़े हुए सोम का शोधन करते हैं और उसका अंतःकरण-रूप आसन पर **परि-स्रुत्**, द्रव के साथ **आ-भरण**, स्थापन करते हैं। फिर इस सोम का इन्द्र पान करता है।

अन्न का भक्षण करने पर, सर्वप्रथम वह द्रव **(परि-स्रुत्)** बनता है। इससे फिर रस बनता है जिससे भक्षणकर्त्ता में खुमारी अथ वा तन्द्रा वा आलस्य आता है। यह अन्न की सुरा-अवस्था है। इसे **परि-स्रुत्** कहा जाता है क्यों कि इसमें सुरा का शरीर में **परि** = सर्वत्र **स्रुत्** = प्रवाह फैल जाता है। अतः परिस्रुत् से अन्नसेवन की आरंभिक परिणतियों को ग्रहण किया जाता है। यह परिस्रुत् आगे सोम बनेगा। सोम का शोधन परिस्रुत् के शोधन से आरम्भ होता है क्यों कि सोम अन्न का ही सूक्ष्मतम रूपान्तर है। अन्न वैसा और उतना सेवन करना जिससे शरीर में तमोगुण न बढ़े, यह परिस्रुत् की साधना है। इससे फिर तमोगुणरहित सोम संपन्न **(सुत)** होगा। यह सोम **शुक्र**, शुद्ध और बलयुक्त होगा। इसे **बर्हि**, अंतःकरण-आसन के साथ इन्द्र को समर्पित किया जाता है ताकि वह उसका सेवन **(पातु)** करे। सोम से ही मन, चित्त, अहंभाव और, अंततः, बुद्धि का निर्माण होता है।

[1] **पाप्मा वै नमुचिः।** माश १२.७.३.१-४

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जैसा सोम वैसा इन्द्र—विवेक। इस सोमपान से इन्द्र को उसका इन्द्रिय, वीर्य, सब पुनः प्राप्त हो जाते हैं।

११८१ **कवष्यो न व्यचस्वती,रश्विभ्यां न दुरो दिशः।**
इन्द्रो न रोदसी उभे, दुहे कामान्त्सरस्वती। य २०.६०
कवष्यः न व्यचः+वती अश्वि-भ्याम् न दुरः दिशः। इन्द्रः न रोदसी उभे दुहे कामान् सरः+वती।

(न, व्यचः-वतीः दिशः) मानो, व्याप्ति-मती दिशों को, (न, कवष्यः दुरः) मानो, शब्दकारी द्वारों को, (न, उभे रोदसी) मानो, दोनों रोदसियों को [वैसे] (कामान्) कामों को (अश्वि-भ्याम्) अश्वियों के साथ (सरः-वती) प्रवाह-वती, (इन्द्रः) इन्द्र (दुहे) दुहरही/रहा है।

अश्वियों के साथ सरस्वती कामों का दोहन—पूर्ति करती है। वस्तुतः, यह इन्द्र द्वारा कामों का दोहन है क्यों कि अश्वी और सरस्वती इन्द्र को पुनः उसका इन्द्रिय, वीर्य प्राप्त कराने के लिए ही यत्नशील हैं।

कामों का दोहन वैसे है जैसे दिशाओं का, अथ वा द्वारों का अथ वा दोनों रोदसियों का दोहन करना। आकाशरूप होने से दिशाएं सर्वत्र व्यापक हैं। दिशाओं के दोहन का अभिप्राय है सब दिशाओं में निर्बाध गमन और सर्वत्र विजय करना। द्वारों के दोहन का अभिप्राय है सब दिशाओं में पहुंच का उपाय प्राप्त करना। बंद द्वारों के कपाट शब्द करते हुए जब खुल जाते हैं तो बंद कमरों में प्रवेश संभव हो जाता है। आध्यात्मिक उन्नति में बाधक तत्त्वों का हट जाना, मानो, बंद द्वारों का खुल जाना है ताकि साधक की आत्मोन्मुखी यात्रा संभव हो सके। दो रोदसी हैं द्यौ और पृथिवी। इन दो लोकों के बीच अंतरिक्ष है। अतः **रोदसी** = त्रिलोकी। रोदसी भौतिक त्रिलोकी है जो **रोदः**, रोदन-, अभाव-, दुःख-प्रधान हैं। रोदसी प्राकृतिक, जड़ होने से आनन्दहीन हैं। कामों का दोहन, मानो, भौतिक स्तर पर त्रिलोकी का दोहन है।

व्याप्तिगुण के कारण, दिशाएं व्यापक, सूक्ष्मतम, आत्मिक स्तर की प्रतीक हैं। गतिमत्ता के कारण, शब्दकारी द्वार सूक्ष्म प्राणिक वा दैविक स्तर की प्रतीक हैं। रोदसी भौतिक, स्थूल स्तर की प्रतीक हैं।

अश्वियों की सहायता से सरस्वती द्वारा इन्द्र के लिए कामों के दोहन से प्राणिक, आत्मिक, भौतिक, तीनों स्तरों से संबद्ध कामों की पूर्ति अभिप्रेत है। इन्द्र पुनः तीनों स्तरों पर इन्द्रिय, वीर्य से युक्त हो जाता है। विवेकालोक से जीवन के तीनों पक्ष उजागर होते हैं।

११८२ **उषासा नक्तमश्विना !, दिवेन्द्रं सायमिन्द्रियैः।**
सञ्जानाने सुपेशसा, समञ्जाते सरस्वत्या। य २०.६१
उषसा नक्तम् अश्विना दिवा इन्द्रम् सायम् इन्द्रियैः। सम्-जानाने सु-पेशसा सम् अञ्जाते सरः+वत्या।

(अश्विना) दोनों अश्वियो ! (सरः-वत्या) प्रवाह-वती के साथ (सम्-जानाने) सं-ज्ञानयुक्त, (सु-पेशसा)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सु-रूपयुक्त (उषसा, नक्तम्) उषा [और] रात्रि (दिवा, सायम्) दिन में [और] सायं (इन्द्रम्) इन्द्र को (इन्द्रियैः) बलों से (सम् अञ्जाते) समक्त—संयुक्त कररही हैं।

उषा और रात्रि भी सरस्वती के साथ इन्द्र का उसके इन्द्रियों—प्राणबलों से **समंजन**—संयोग करती हैं। उषा दिनोदय और प्रकाश का संकेत है, तो रात्रि अंधकार है। उषा से **दिवा**, दिन है, तो दिन की समाप्तिरूप **सायं**, रात्रि का आगमन है। दिन और रात्रि में, और इनके दोनों संधिकालों, उषा और सायं में इन्द्र का इन्द्रियों से समंजन होता है। उषा, रात्रि, आदि सब काल के रूप हैं। काल सृष्टि का प्रथम कारण है (श्वेताश्वतरोपनिषद् १.१)। काल, अर्थात्, परिवर्तनमूलक गतिशीलता। गति में शक्ति है। सब क्षतियों की शनैः शनैः पूर्ति काल कर देता है, यह प्रकृति का विधान है। जल, वायु, अग्नि, आकाश, पृथिवी, ये पंच भूत सब विकृतियों का सुधार स्वतः कर लेते हैं। ये सब परिवर्तन काल की परिधि में होते हैं। काल इन्द्र—बुद्धि को विवेकप्रभा देनेवाला एक प्रमुख माध्यम है। समझाए से जो समझ नहीं आती वह समय पाकर, ठोकर लगने पर स्वतः आ जाती है।

रविप्रभा उषा और कृष्णवर्णा रात्रि परस्पर विपरीत गुणों वाली होने पर भी वस्तुतः परस्पर अ-विनाभूत, नित्यसंयुक्त और सहयोगिनी हैं। उषा रात्रि का ही एक अंश है। दोनों में परस्पर **सं-ज्ञान**, समझदारी, सहयोग, पारस्परिक ऐकमत्य होता है। उषा, रात्रि, दिवा, सायं, रात्रि, इनका चक्र घूमरहा है, एक दूसरी के पीछे चली जारही है। इनमें जैसा सहयोग है वैसा सहयोग सबसे रखना इन्द्र का एक इन्द्रिय—बल है विवेकरूप। उषा और रात्रि, दोनों का अपना सौन्दर्य है। उषा ही सुन्दरी नहीं है, रात्रि का भी अपना सौन्दर्य होता है। सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, निज-पर, इन सबविध द्वन्द्वों का सौन्दर्य ही सृष्टि की रमणीयता है जिससे प्रतिक्षण नवीनता विश्व में है।

उषा और रात्रि को सरस्वती और अश्वियों का सहयोग प्राप्त है। अश्वी तो हैं ही आन्तर-बाह्य द्वन्द्वात्मकता के प्रतीक, उस प्रकार जैसे उषा-रात्रि प्रकाश और अंधकार के प्रतीक हैं। सरस्वती—वाणी, प्रोत्साहन और विवेक के वचन इन्द्र के इन्द्रिय के अभिवर्धक हैं। (देखें, ऊपर मंत्र ५८ में **आजुह्वाना सरस्वती** की व्याख्या।)

११८३ **पातं नो अश्विना ! दिवा, पाहि नक्तं सरस्वति !**
दैव्या होतारा ! भिषजा !, पातमिन्द्रं सचा सुते। य २०.६२
पातम् नः अश्विना दिवा पाहि नक्तम् सरः+वति। दैव्या होतारा भिषजा पातम् इन्द्रम् सचा सुते।

(अश्विना) दोनों अश्वियो ! (नः दिवा पातम्) हमें दिन में बचाओ। (सरः-वति) प्रवाह-वति ! (नक्तम् पाहि) [हमें] रात में बचाओ। (दैव्या होतारा, भिषजा) देवों में होताओ ! रोगनिवारको [अश्वियो] ! (सचा) साथ [साथ, तुम दोनों] (सुते) [सोम के] संपन्न हो जाने पर (इन्द्रम् पातम्) इन्द्र को बचाओ।

दो दैव्य होताओं की व्याख्या पहले मन्त्र ४२ में की जा चुकी है। दान-ग्रहण, प्राण-अपान, बहिर्मुखता-अन्तर्मुखता, ये दो होता इन्द्र के **भिषक्**—चिकित्सक हैं। इनसे विवेक प्राप्त होता है। इन्द्र

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जिस सुत सोम का पान करता है उससे उसे वह बल प्राप्त होता है जिससे लोक और योग, भोग और मोक्ष, आन्तर और बाह्य, दोनों पक्ष सिद्ध होते हैं। ये पक्ष मिलकर आत्मिक, परिपूर्ण, शाश्वत जीवनयज्ञ के ताने-बाने बुनते हैं।

इन्द्र की रक्षा में नः, हम सब, लौकिक जीवन जीने वाले और, साथ ही, साधनायज्ञ में लगे हुए प्राणियों की रक्षा है। अश्वी दिन में, तो सरस्वती रात्रि में हमारी रक्षा करे। दिन व्यवहार के लिए है जिसमें आत्मिकता का पुट रहना चाहिए क्यों कि अश्वी अन्तर्मुखता और बहिर्मुखता की सह साधना की प्रेरणा देते हैं। सरस्वती—प्रेरणामयी, प्रोत्साहिका वाणी रात्रि में रक्षा करे। रात्रि अज्ञानान्धकार की प्रतीक है। अज्ञानावृत अवस्था में विवेकवती वाणी साधक की आस्था को डिगने नहीं देती है।

११८४ **तिस्रस् त्रेधा सरस्वत,यश्विना भारतीडा।**
तीव्रं परिस्रुता सोम,मिन्द्राय सुषुवुर्मदम्। य २०.६३
तिस्रः त्रेधा सरः+वती अश्विना भारती इडा। तीव्रम् परि-स्रुता सोमम् इन्द्राय सुसुवुः मदम्।

(सरः-वती, भारती, इडा—त्रेधा तिस्रः) प्रवाह-वती, भारती, इडा—तीन प्रकार से [स्थित] तीनों ने [और] (अश्विना) दोनों अश्वियों ने (परि-स्रुता तीव्रम्, मदम् सोमम्) परि-स्रुत् के कारण तीव्र, मदकर सोम को (इन्द्राय सुसुवुः) इन्द्र के लिए संपन्न किया था।

मंत्र ४३ में सरस्वती, इडा, भारती का उल्लेख आ चुका है। उसकी व्याख्या में सरस्वती को दिव्य श्रुति, भारती को मही, बृहती, विराट् मनोज्योति, इडा को प्राणिक ज्योति बताया गया है। ये तीन देवियां—ज्योतियां क्रमशः भौतिक, प्राणिक और मानसिक स्तरों पर स्थित हैं। ये और अश्वी (द्विविध जीवनपद्धति) मिलकर इन्द्र के लिए सोम का सवन करते हैं। पांच ज्ञानेंद्रियों द्वारा जो भी विषय गृहीत होते हैं वे अन्न हैं। उनका स्थूल से सूक्ष्मीकरण होते होते अन्ततः सोमरूप जो ऊर्जा बनती है वह इन्द्र—बुद्धि का विवेकालोक बनती है। इस सोम में **परिस्रुत्**, अन्नस्तर की, खुमारीरूप सुरा, और **मद** का अंश भी रहता है जिसका शोधन इन्द्र अपनी नित्य आत्मलीनता से करता है। यही विवेक द्वारा सोम का शोधन है। सोम की **तीव्रता**—पटुत्व, दक्षता देने की सामर्थ्य, और उसका **मद**—आनन्दमात्रा, ये दोनों इन्द्र के बहिर्मुख विवेकव्यवहार में सहायक होते हैं।

११८५ **अश्विना भेषजं मधु, भेषजं नः सरस्वती।**
इन्द्रे त्वष्टा यशः श्रियं, रूपंरूपमधुः सुते। य २०.६४
अश्विना भेषजम् मधु भेषजम् नः सरः+वती। इन्द्रे त्वष्टा यशः श्रियम् रूपम्-रूपम् अधुः सुते।

(सुते) [सोम के] संपन्न हो जाने पर, (इन्द्रे) इन्द्र में (अश्विना मधु भेषजम्) अश्वियों ने मधुर ओषधि को, (नः सरः+वती भेषजम्) हमारी प्रवाह-वती ने ओषधि को, (त्वष्टा यशः, श्रियम्, रूपम्-रूपम्) त्वष्टा ने यश, श्री [और] प्रत्येक रूप को (अधुः) धरा है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अश्वी और सरस्वती जहां इन्द्र को क्षत से त्राण देकर उसका भैषज्य—चिकित्सा करते हैं वहां त्वष्टा उसे पुनः पूर्ववत् यश, श्री, रूप देता है। अश्वी की ओषधि **मधु**, जीवनमाधुर्य, सुख है। जीवन का जो द्विविध व्यवहार है वह सुखप्रद तो है ही। सुख के लिए ही प्राणी जीवित है और जीना चाहता है। सरस्वती, प्रवाहवती वाणी प्रोत्साहनबल देकर ओषधि का काम करती है। त्वष्टा मन की निर्मात्री शक्ति है, जैसा मन्त्र ४४ की व्याख्या में कहा जा चुका है। यह शक्ति बुद्धि को वह सामर्थ्य देती है जिससे प्राणी यश, श्री (शोभा, सौन्दर्य, गरिमा) और नाना प्रकार के रूपों, रूपवान् पदार्थों का निर्माण करता है। फिर प्रत्येक रूप में इन्द्र प्रतिरूप होता है; उसी की महिमा प्रत्येक निर्मिति में झलकती है।

११८६ **ऋतुथेन्द्रो वनस्पतिः, शशमानः परिस्रुता।**
कीलालमश्विभ्यां मधु, दुहे धेनुः सरस्वती। य २०.६५
ऋतु-था इन्द्रः वनः+पतिः शशमानः परि-स्रुता। कीलालम् अश्वि-भ्याम् मधु दुहे धेनुः सरः+वती।

१) (शशमानः इन्द्रः वनः-पतिः) स्तोता, इन्द्र[कोटिक] वनस्पति, (ऋतु-था) ऋतु के अनुसार, (परि-स्रुता) सुरा के द्वारा [इन्द्र को भररहा है]।
२) (धेनुः सरः-वती) धेनु[रूप] प्रवाह-वती [भी] (अश्वि-भ्याम्) दोनों अश्वियों के द्वारा (मधु कीलालम्) मधुर अन्नरस को [इन्द्र में] (दुहे) भररही हैं।

१) वनस्पति की चर्चा ऊपर मन्त्र ४५ में हो चुकी है। यहां वनस्पति को **इन्द्र** विशेषण दिया गया है। **इन्द्र** का शाब्दिक अर्थ है परमैश्वर्यवान्। परमैश्वर्य है आत्मिक ज्योति जो विवेक—ज्ञान बनकर बुद्धि को आलोकित करती है। अतः बुद्धि की इन्द्र संज्ञा है। इन्द्र का परमैश्वर्य जिस आत्मा का स्वरूप है वह, ब्रह्म[ज्ञान]रूप **वन** का **पति**, आत्मा ही इन्द्र का परमेन्द्र है। अतः, यहां वनस्पति को **इन्द्र** विशेषण देकर, इन्द्र के ज्ञानचैतन्य के स्रोत का संकेत कर दिया गया है।

वनस्पति—आत्मा **शशमान** है; आत्मनिष्ठ बुद्धि और उसका सारा जीवनरूप प्रसार, प्रकारान्तर से, आत्मा का ही परोक्ष उद्गान है। सारी भौतिक सृष्टि आत्मा की सत्ता और अनुभूति के प्रमाण पदे-पदे देरही है। फूल आत्मा की मुस्कान हैं, फल उसका माधुर्य हैं, हरीतिमा उसका आह्लाद है, जल उसकी शान्ति हैं, पर्वत उसकी गरिमा हैं, वाणी उसका उद्गान है।

वनस्पति ऋत्वनुसार, कालानुरूप, इन्द्र को **परि-स्रुत्**, सुरा, अन्नोद्भूत भौतिक ऊर्जा प्रदान करता है। श्रम, विश्राम, तन्द्रा, उत्साह, ये सब अन्न-प्रसूत सुरा के विभिन्न परिणाम हैं जो शारीरिक स्तर पर, समय समय पर इन्द्र अनुभव करता है।

२) जैसे धेनु ग्वाले को अपने पय का दोहन करने देती है वैसे सरस्वती धेनु अश्वियों के द्वारा अपना दोहन होने देती है। **कीलाल**, भौतिक अन्न और ज्ञानेन्द्रियगृहीत शब्दादि विषय। **मधु**, जीवनमाधुर्य, सुख। अश्वी और सरस्वती मधु भेषज इन्द्र में धरते हैं, यह पूर्व-मन्त्र में भी कहा गया था। वाणी से प्राप्य उत्साहप्रवाह जीवन के द्विविध व्यवहार के माध्यम से भौतिक सुविधाएं और सुख, दोनों प्रदान करता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

११८७ **गोभिर्न सोममश्विना!, मासरेण परिस्रुता ।**
समधातं सरस्वत्या, स्वाहेन्द्रे सुतं मधु । य २०.६६
गोभिः न सोमम् अश्विना मासरेण परि-स्रुता । सम् अधातम् सरः+वत्या स्वाहा इन्द्रे सुतम् मधु ।

१) (अश्विना) अश्वियो ! (न, गोभिः सोमम्) मानो, पयों के द्वारा सोम को [वैसे] मासरेण, परि-स्रुता) मासर [और] सुरा के द्वारा (मधु, सुतम्) मधुर [और] संपन्न [सोम] को (सरः-वत्या) प्रवाह-वती के द्वारा [तुमने] (इन्द्रे सम् अधातम्) इन्द्र में सं-हित [एकत्र] किया है ।
२) [और] (स्वाहा) स्वाहा ने [भी सं-हित किया है] ।

१) पूर्व-मन्त्र में कही गई बात को यहां प्रकारान्तर से कहा गया है । वहां कहा गया था कि सरस्वती ने अश्वियों के द्वारा मधु का दोहन किया, अथ वा अश्वियों को अपना दोहन कर लेने दिया । इस बात को यहां, अश्वियों की दृष्टि से, इस प्रकार कहा गया है कि अश्वियों ने, सरस्वती के अनुकूल सहयोग द्वारा, मधु का दोहन करके उसे इन्द्र में सं-हित किया ।

सोम में पय मिलाया जाता है । इसी प्रकार अश्वियों ने संपन्न, मधुर सोम में मासर और परिस्रुत् को मिलाया । **मासर**=मांड, अन्न का स्नेहांश । **परिस्रुत्**=सुरा, खमारी । सोम अन्न का सूक्ष्मतम, उर्जारूप परिणाम है । इसमें अन्न के सब गुण सूक्ष्म रूप में निहित हैं । यह सोम **मधु**—सुखद है ।

२) स्वाहा का प्रकरण पूर्व-मन्त्र ४६ में आ चुका है । **स्वाहा,** अर्थात्, इन्द्र के प्रति सर्वसमर्पण की भावना । इन्द्र को जीवन का केन्द्र बनाने की भावना से भी भौतिक सोम आत्मा की भोग्य वस्तु बन जाता है ।

११८८ **अश्विना हविरिन्द्रियं, नमुचेर्धिया सरस्वती ।**
आ शुक्रमासुराद् वसु, मघमिन्द्राय जभ्रिरे । य २०.६७
अश्विना हविः इन्द्रियम् न+मुचेः धिया सरः+वती । आ शुक्रम् आसुरात् वसु मघम् इन्द्राय जभ्रिरे ।

(अश्विना) दोनों अश्वियों ने [और] (सरः-वती) प्रवाह-वती ने (धिया) धी द्वारा (आसुरात् न-मुचेः) असुरवृत्ति न-मुचि से [छीनकर] (इन्द्राय) इन्द्र के लिए (इन्द्रियम् हविः) इन्द्र की हवि और (शुक्रम्, मघम् वसु) शुद्ध/शुक्ल, महनीय धन को (जभ्रिरे) भरा था ।

मंत्र ६७-६९ की पृष्ठभूमि वपायाग है, जिसका विवेचन मंत्र ४७ की व्याख्या में किया जा चुका है । पशुता के उन्मूलन में, स्थूल और सूक्ष्म के सेतुबिन्दु पर जो स्थूल-सूक्ष्म, विविध पशुता के त्याग की साधना की जाती है वह वपायाग से संकेतित है ।

नमुचि=पाप्मा । इसका उल्लेख पूर्व-मन्त्र ५९ में आ चुका है । नमुचि असुरवृत्ति है । पाप आसुर है जब कि पुण्य दैव है । पाप में रमनेवाली, भौतिक—लौकिक—निम्न बुद्धि की हवि और चातुर्यवैभव को पाप के चंगुल से पृथक् करने की आवश्यकता है । इसके लिए साधक को **इन्द्र,** शुद्ध बुद्धि को

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पुष्ट करना होता है। विभिन्न ज्ञान-विज्ञानों का कोष बनी हुई, विभिन्न छल-कपट करनेवाली, स्वार्थमयी बुद्धि नाममात्र बुद्धि है क्यों कि बुद्धि तो वस्तुतः वही है जो बोध है, आत्मबोधन है। चेतन आत्मा को छोड़कर जो मस्तिष्ककौशल शरीररूप आत्मा के हित को ही साधे वह, तथाकथित बुद्धि नमुचि के चंगुल में पड़ी हुई बुद्धि है। यह बुद्धि इन्द्र की **हवि**—ज्ञान को और इन्द्र के **वसु**—विवेक को आत्मलक्ष्य से भ्रष्ट कर देती है। अश्वी (द्विविध जीवनपद्धति) और सरस्वती, दोनों के क्रमशः समर्थन और प्रोत्साहन इन्द्र को उस **धी**—शुद्ध, सात्त्विक, आत्मनिष्ठ बोध से युक्त कर देते हैं जो इन्द्र की इन्द्रता को सार्थक कर देता है। विवेक-वसु **शुक्र**—शुद्ध और धवल होता है, विकृत और रागरंजित नहीं होता। वह इन्द्र का वह **मघ**—महनीय, बांटनेयोग्य धन है जिससे व्यक्ति और समष्टि, सब उपकृत हो जाते हैं। **सरस्वती** के विभिन्न रूप वाक्, शास्त्र, जप, स्वाध्याय, आदि हैं।

११८९ **यमश्विना सरस्वती, हविषेन्द्रमवर्धयन्।**
स बिभेद वलं मघं, नमुचावासुरे सचा। य २०.६८
यम् अश्विना सरः+वती हविषा इन्द्रम् अवर्धयन। सः बिभेद वलम् मघम् न+मुचौ आसुरे सचा।

१) (अश्विना, सरः-वती) दोनों अश्वियों [और] प्रवाह-वती ने (हविषा) हवि द्वारा (यम् इन्द्रम् अवर्धयन्) जिस इन्द्र को बढ़ाया
२) (सः) उसने (आसुरे न-मुचौ सचा) असुरवृत्ति न-मुचि में संगत (मघम् वलम् बिभेद) महनीय वल को भेद दिया।

१) अश्वी और सरस्वती जिस इन्द्र को हवि और वसु द्वारा बढ़ाते हैं वह इन्द्र शुद्ध—निर्विकार, सात्त्विक बुद्धि है, विकृत, स्वार्थपरायण, लौकिक चातुर्य नामक क्षुद्र बुद्धि नहीं।
२) यह भैषज्यकृत, सुत्रामा इन्द्र आसुर पाप में निहित महान्, बलिष्ठ वल को नष्ट कर देता है। **वल**=घेर लेनेवाला, चंगुल में फांस लेनेवाला, कुंडली मारकर दबोच लेनेवाला, फंदा डालनेवाला। नमुचि का जो वल—फंदा है उसे इन्द्र भेद देता है। वल **मघ** है, नमुचि का वह कुटिल अंश है जो वह दूसरों को देता, अन्यों को फांसने में काम लाता है। इन्द्र का वसु—विवेक मघ है, तो नमुचि का वल (आसक्ति, आदि विकारपाश) भी मघ है। एक का मघ दुःखमोचक है, तो दूसरे का मघ बंधन में डालनेवाला है।

११९० **तमिन्द्रं पशवः सचा,श्विनोभा सरस्वती।**
दधाना अभ्यनूषत, हविषा यज्ञ इन्द्रियैः। य २०.६९
तम् इन्द्रम् पशवः सचा अश्विना उभा सरः+वती। दधानाः अभि अनूषत हविषा यज्ञे इन्द्रियैः।

(पशवः, उभा अश्विना, सरः-वती) पशुओं, दोनों अश्वियों [और] प्रवाह-वती ने (तम् इन्द्रम् सचा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

: दधानाः) उस इन्द्र को साथ साथ [मिलकर] धारते हुए (यज्ञे) यज्ञ में (हविषा, इन्द्रियैः) हवि [और] इन्द्रियों द्वारा [उस इन्द्र को] (अभि अनूषत) सर्वतः बढ़ाया/स्तुता।

इन्द्र को पशु, अश्वी, सरस्वती बढ़ाते और उसकी स्तुति करते हैं। उन्होंने इन्द्र को अपने साथ रखा हुआ है। इन्द्र इनका संगाती है। **पशु**—शारीरिक स्तर का लोकव्यवहार। ज्ञान-कर्मेन्द्रियां पशु हैं, यह शरीर पशु है। इनके द्वारा बाह्य जीवन चलता है जिसके आगे फिर सूक्ष्मतर आंतरिक जीवन है। ये सब मिलकर इन्द्र का वर्धन **हवि**—ज्ञान, और **इन्द्रियों**—विविध बलों द्वारा करते हैं। इन्द्र का विवेकवसु पशुओं, अश्वियों और सरस्वती की साधना से पुष्ट और यशस्वी बनता है। इनके द्वारा इन्द्र का वर्धन ही उसका स्तवन है। इन्द्र अपने ज्ञान और विवेक की सामग्री लोक से पाता है जिसे पशु, अश्वी और सरस्वती जुटाते हैं।

११९१ **य इन्द्र इन्द्रियं दधुः, सविता वरुणो भगः।**
स सुत्रामा हविष्पति,र्यजमानाय सश्चत। य २०.७०
ये इन्द्रे इन्द्रियम् दधुः सविता वरुणः भगः। सः सु-त्रामा हविः-पतिः यजमानाय सश्चत।

(ये) जिन (सविता, वरुणः, भगः) सविता, वरुण [और] भग ने (इन्द्रे इन्द्रियम् दधुः) इन्द्र में बल को धरा था [वे और] (सः हविः-पतिः सु-त्रामा) उस, हवि के रक्षक, सु-त्राता [इन्द्र, प्रत्येक] ने (यजमानाय सश्चत) यजमान की खातिर, सेवा की।

मंत्र ७०-७२ की पृष्ठभूमि पुरोडाशयाग है, जिसका विवेचन मंत्र ४७ की व्याख्या में किया जा चुका है। पशुता के उन्मूलन में सूक्ष्म और कारण स्तरों के मिलनविन्दु पर, सूक्ष्म और कारण, विविध पशुता के त्याग की जो साधना की जाती है वह पुरोडाशयाग से संकेतित है। पुरोडाश मस्तिष्क का प्रतीक माना गया है। मस्तिष्क बुद्धि का स्थान है। बुद्धि सूक्ष्म और कारण का सेतु है।

यजमान है मन। यह विभिन्न कामनाओं का भंडार है। इन कामनाओं की सिद्धि के लिए यह अनेक यज्ञ—कर्मानुष्ठान करता रहता है। स्वर्ग और अपवर्ग, लोक और पर लोक, भौतिक और आत्मिक, दोनों प्रकार की विजयों के लिए मन का परिष्कार अत्यावश्यक है। मन का शोधन इन्द्र—बुद्धि के विवेक से ही होता है, अन्य किसी उपाय से नहीं।

इन्द्र **सु-त्रामा**, सु-त्राता है। वह मन और तदधीन ज्ञान-कर्मेन्द्रियों को पाप से बचाता है। इन्द्र ही विवेकरूप हवि का स्वामी और रक्षक है। इस विवेकान्न का सेवन करने से मन की सोमरूप हवि का शोधन हो जाता है।

इन्द्र को विवेक प्रदान करने में, उसे उसका **इन्द्रिय**—विवेकबल प्रदान करने में सविता, वरुण और भग, इन तीनों का भी प्रभूत भाग है। ये वे सूक्ष्मतम, कारणभूत शक्तियां हैं जो अश्वियों और सरस्वती द्वारा संपादित इन्द्रिय, वीर्य को इन्द्र में स्थिर रूप से स्थापित कर देती हैं (**दधुः**)। ये तीनों, वस्तुतः, **आदित्य** हैं, आत्मा के चैतन्य, ज्ञान और आनन्द की मात्राएं हैं। **सविता** है प्रेरणा, चैतन्यालोक। **वरुण** है निवारक, सावधान करने-वाला, ज्ञानालोक। **भग** है सौभाग्य, आनन्दाप्ति की धन्य स्थिति। इन्द्र का विवेकबल आत्मा की चैतन्य, ज्ञान और आनन्द मात्राओं के द्वारा ही उसमें स्थित रहता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

११९२ **सविता वरुणो दधद्, यजमानाय दाशुषे ।**
आदत्त नमुचेर्वसु, सुत्रामा बलमिन्द्रियम् । य २०.७१
सविता वरुणः दधत् यजमानाय दाशुषे । आ अदत्त न+मुचेः वसु सु-त्रामा बलम् इन्द्रियम् ।

१) (सविता, वरुणः) सविता, वरुण [प्रत्येक] ने (दाशुषे यजमानाय) दाता यजमान के लिए [इन्द्रिय, आदि को] (दधत्) धारण किया ।
२) (सु-त्रामा) सु-तारक [इन्द्र] ने (न-मुचेः) न-मुचि के (वसु, बलम्, इन्द्रियम्) धन, बल, सामर्थ्य को (आ अदत्त) आ-दान किया, ले लिया ।

१) हविर्दाता यजमान मन है (माश १२.८.२.४)। सविता और वरुण ने यजमान को प्रदान करने के लिए वह वसु, बल, इन्द्रिय धारण किया हुआ है जो इन्द्र ने **न-मुचि,** पाप्मा के चंगुल से मुक्त करके ग्रहण किया था ।
२) वसु, बल, इन्द्रिय तो पाप के पास भी होते हैं। पापी अपनी व्यावहारिक बुद्धि से धन, बल, सामर्थ्य जुटा लेते हैं। पर **इन्द्र**—शुद्ध बुद्धि अपने विवेकालोक से पापवृत्ति को त्याग देता है और पाप से निर्मुक्त धन, बल, सामर्थ्य को पुण्यवृत्ति से सुरक्षित रखता है। नमुचि से छीने हुए वस्तु और इन्द्रिय का उल्लेख मंत्र ६७ में, और बल का मंत्र ६८ में आ चुका है ।

११९३ **वरुणः क्षत्रमिन्द्रियं, भगेन सविता श्रियम् ।**
सुत्रामा यशसा बलं, दधाना यज्ञमाशत । य २०.७२
वरुणः क्षत्रम् इन्द्रियम् भगेन सविता श्रियम् । सु-त्रामा यशसा बलम् दधानाः यज्ञम् आशत ।

(क्षत्+त्रम् इन्द्रियम् वरुणः) क्षत्र से त्राण[रूप] सामर्थ्य को [धारण करनेवाले] वरुण ने, (श्रियम् भगेन सविता) श्री को [धारण करनेवाले] भग-सहित सविता ने, (यशसा बलम् सु-त्रामा) यश के साथ बल को [धारण करनेवाले] सु-त्राता [इन्द्र] ने—[इन सब] (दधानाः) धारण करनेवालों ने (यज्ञम् आशत) यज्ञ को भोगा/व्यापा ।

क्षत से बचाकर, उसका निवारण करनेवाले सामर्थ्य को **वरुण**—निवारणकर्ता देव धारण किए हुए है। **श्री**—सौन्दर्य, शोभा, गरिमा को **भग**—सौभाग्यप्रदाता देव और **सविता**—सुप्रेरक देव धारण किए हुए हैं। सु-तारक इन्द्र देव यश से युक्त बल को धारण किए हुए है ।
ये सब देव यजमान—मन के यज्ञ को ग्रहण करते हैं और उसे क्षत्र, इन्द्रिय, श्री, यश, बल प्रदान करते हैं ।
वरुण, भग, सविता, इन्द्र, ये सब बुद्धि के विभिन्न गुण अथ वा स्तर हैं। बुद्धि मन के संकल्प-विकल्पात्मक, विभिन्न यज्ञकलाप को सफल करती है ।

११९४ **अश्विना गोभिरिन्द्रिय,मश्वेभिर्वीर्यं बलम् ।**
हविषेन्द्रं सरस्वती, यजमानमवर्धयन् । य २०.७३

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अश्विना गोभिः इन्द्रियम् अश्वेभिः वीर्यम् बलम्। हविषा इन्द्रम् सरः+वती यजमानम् अवर्धयन्।

(अश्विना) अश्वियों ने (गोभिः इन्द्रियम्) गौओं द्वारा शक्ति को, (अश्वेभिः, वीर्यम्, बलम्) अश्वों द्वारा वीर्य [और] बल को, (सरः-वती) प्रवाह-वती ने (हविषा इन्द्रम्, यजमानम्) हवि द्वारा इन्द्र [और] यजमान को (अवर्धयन्) बढ़ाया।

मंत्र ७३-७५ की पृष्ठभूमि हवियाग है। कारण वा नितांत बौद्धिक स्तर पर पशुता के त्याग का संकेत इससे ग्रहण करना चाहिए। यह स्तर आत्मा से नित्यसंयुक्त है।

अश्वी और सरस्वती इन्द्र का भैषज्य करते हैं। वे इन्द्र को इन्द्रिय, वीर्य, बल प्रदान करते हैं। वे **यजमान**—मन को भी ये सब पदार्थ प्रदान करते हैं। बुद्धि और मन, दोनों का वर्धन इनसे होता है।

इन्द्रिय=इन्द्र का निज रूप, निजी सामर्थ्य, विवेक, ज्ञानालोक। **वीर्य**=ऊर्जा, प्राणालोक। **बल**=स्थैर्य, दृढता, भौतिकालोक। इन्द्रिय का संबंध **गौओं**—ज्ञानरश्मियों से है, तो वीर्य और बल का संबंध **अश्वों**—क्रिया—गतिरश्मियों से है। ज्ञान और कर्म, दोनों की सहायता से अश्वी (द्विविध जीवनपद्धति) बुद्धि और मन को पोषण देकर बढ़ाते हैं।

सरस्वती—वाणी हवि द्वारा इन्द्र और यजमान को बढ़ाती है। **हवि** को मंत्र ६७ में **इन्द्रियं हविः** कहा गया है। यह हवि इन्द्र का निज सामर्थ्य, ज्ञानालोक, विवेक है। सरस्वती के विभिन्न रूप (वाणी, शास्त्र, जप, स्वाध्याय) ज्ञानबल द्वारा बुद्धि और मन को बढ़ाते हैं।

११९५ **ता नासत्या सुपेशसा, हिरण्यवर्तनी नरा।**
सरस्वती हविष्मतीन्द्र ! कर्मसु नोवत। य २०.७४
ता नासत्या सु-पेशसा हिरण्य-वर्तनी नरा। सरः+वती हविः+मती इन्द्र कर्म-सु नः अवत।

(न+अ-सत्या, सु-पेशसा) असत्य-हीन, सु-रूपवान्—सुन्दर, (हिरण्य-वर्तनी ता नरा) सुवर्ण-पथवाले, वे दोनों नर, (हविः-मती सरः-वती) हवि-वाली प्रवाह-वती, [और] (इन्द्र) इन्द्र ! [तुम, सब लोग] (कर्म-सु नः अवत) कर्मों में हमें बचाओ।

असाधक और साधक, हम सब कर्मों में व्यस्त हैं। पाप-पुण्य, भौतिक-आत्मिक, वैयक्तिक-सामाजिक, विभिन्न प्रकार के कर्मों में सब प्राणी लगे रहते हैं। कर्म का लेप कर्ता पर न चढ़ने पाए, कर्म के फल में वह आसक्त न होवे, कर्म की धारा सहज और निष्काम रूप में प्रवाहित रहे, यह कर्मों में कर्ता की रक्षा है। कर्म से तो कोई भी बच नहीं सकता। अतः ऐसी विधि से कर्म करना कि उसका लेप कर्ता पर न चढ़े, ऐसा यत्न साधक को करना है। जो स्वयं को कर्म के लेप से बचाए रखता है वह नर है। **न कर्म लिप्यते नरे** (यजुर्वेद ४०.२), नर पर ही कर्मलेप नहीं चढ़ता। नर अदीन रहता है (यजुर्वेद ३६.२४)। जिस पर कर्मलेप चढ़ जाता है वह दीन हो जाता है क्यों कि वह कर्मलेप वा कर्मफल का दास होता है।

कर्मों में रक्षा करनेवाले हैं अश्वी, सरस्वती, इन्द्र। इन्द्र के विकारों का भैषज्य अश्वी और सरस्वती करते हैं ताकि इन्द्र के साथ मिलकर ये

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कर्मों में नरों की रक्षा करते रहें। सौत्रामणीयज्ञ-रूप भैषज्य का यही उद्देश्य है।

अश्वी हैं **नासत्य**। न+अ-सत्य=अ-सत्य से रहित, सत्य, अपने व्रत के पक्के। जीवन की जो बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी धाराएं हैं वे मनुष्य के जीवन की दो चिरन्तन प्रणालियां हैं जो सदा बनी रहेंगी। इन्हें परस्पर विरोधी समझना भ्रांति है। लोक और पर लोक एक दूसरे के उपकारक हैं। ये दोनों पद्धतियां **सु-पेशस**, सुन्दर हैं। आंतरिक और बाह्य, यह द्विविध सौन्दर्य है जीवन का। ये शोभा हैं, गौरव हैं जीवन की। एक से दूसरे की शान है। ये दोनों अश्वी **हिरण्य-वर्तनी** हैं, सुनहरे पथ के पथिक हैं, अंधेरे पथ के नहीं। आंतरिक जीवन और बाह्य जीवन, दोनों आत्मरूप **हिरण्य**—सुवर्ण, ज्योति, आलोक से आलोकित हैं। जैसे सूर्य सर्वत्र आलोक बिखेरता है वैसे आत्महिरण्य की आभा से जीवन का आन्तर-बाह्य प्रकाशित है। ये **अश्वी** नर हैं, अतः ये कर्म के लेप से बचे रहते हैं।

सरस्वती ज्ञानरूप हवि से युक्त है। शास्त्र-चिंतन, जप, स्वाध्याय, आदि सारस्वत साधना से ज्ञानहवि का पोषण होता है जिसे इन्द्र सेवन करता है।

जीवन की द्विविध धाराएं, वाणी, बुद्धि हम साधकों की रक्षा करें।

सूक्ति : **कर्मसु नोवत**।
कर्मों में हमें बचाओ।

११९६ **ता भिषजा सुकर्मणा, सा सुदुघा सरस्वती।**
स वृत्रहा शतक्रतु,रिन्द्राय दधुरिन्द्रियम्। य २०.७५
ता भिषजा सु-कर्मणा सा सु-दुघा सरः+वती। सः वृत्र-हा शत-क्रतुः इन्द्राय दधुः इन्द्रियम्।

(सु-कर्मणा, ता भिषजा) कल्याण-कर्मा, उन रोगनिवारकों [अश्वियों] ने, (सु-दुघा, सा सरः-वती) मंगल-दोहन, उस प्रवाह-वती ने, (वृत्र-हा, सः शत-क्रतुः) वृत्र-हन्ता, उस शत-यज्ञकर्ता ने (इन्द्राय इन्द्रियम् दधुः) इन्द्र के लिए सामर्थ्य को धारण किया।

भैषज्य द्वारा इन्द्र के लिए उसका **इन्द्रिय**—सामर्थ्य, विवेक उसे पुनः प्राप्त कराया जाता है। इसमें अश्वी और सरस्वती सहायक होते हैं, यह पूर्व-मन्त्रों में कई बार कहा जा चुका है।

पर इन्द्र का परम भैषज्य तो वह स्वयं ही है। **इन्द्र**—एक, शुद्ध, सात्त्विक बुद्धि का विवेक ऐसी वस्तु नहीं है जो कोई अन्य बाहरी तत्त्व उसे प्रदान कर सके, यदि वह स्वयं इसके लिए तैयार नहीं है। इन्द्र ही क्या, कोई भी व्यक्ति वा पदार्थ तभी कोई बाहरी वस्तु ग्रहण कर सकता है जब ग्रहण करने के लिए उसका स्वयं का अनुकूल भाव हो। अतः इन्द्र में अपने इन्द्रिय को पुनः धारण करने की जो भावना है वही, वस्तुतः, अपने इन्द्रिय को पुनः प्राप्तकर ग्रहण करती है। इन्द्र स्वयं ही **वृत्र-हा** है, नमुचि, वल, आदि पाप्मा-रूप वृत्र का हनन वही अपने विवेकालोक से ही करता है। वृत्र का हनन करने पर इन्द्र **शत-क्रतु**, असंख्य यज्ञों का संपादक बन जाता है। आत्मिक, भौतिक, सब क्षेत्रों में वह सुकर्मों की परंपरा स्थापित कर देता है। इन्द्र में वृत्रहनन और शतक्रतुत्व की जो सामर्थ्य है वह उसे, वस्तुतः, **इन्द्र**—परमैश्वर्यवान्, आत्मैश्वर्ययुक्त बनाती है और आत्मचैतन्यरूप यह ज्योति ही, वस्तुतः, इन्द्र का इन्द्रिय—सामर्थ्य, विवेकाभा है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इस इन्द्रिय-धारण में इन्द्र को अश्वी और सरस्वती बाह्य सहायता-मात्र देते हैं। अतः अश्वी **भिषक्**—चिकित्सक हैं और **सुकर्मा** हैं। आंतरिक जीवनविधि और बाह्य जीवनप्रवाह, दोनों परस्पर उपकारक होते हुए सारा भैषज्य और सब पुण्य कर्मों का संपादन कर लेते हैं। वृत्र-हनन भैषज्य है, तो शतक्रतुत्व सुकर्मसंपादन है। इन्द्र की ये दो वृत्तियां ही भिषक् अश्वी हैं। सरस्वती उत्साह, शौर्य, धैर्य, आदि प्रदान करके अपने श्रेष्ठतम **दोह**—पय साधक को प्रदान करती है। अतः योगांगों में **स्वाध्याय** शब्द से सरस्वती के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। स्वाध्याय-सरस्वती के आलोक में साधक वृत्र को पहचानकर उसका हनन और विवेकपथ का दोहन कर लेता है।

११९७ **युवं सुराममश्विना !, नमुचावासुरे सचा।**
विपिपानाः सरस्वती,न्द्रं कर्मस्वावत।[1]

ऋ १०.१३१.४; य १०.३३ य २०.७६

युवम् सुराम्म् अश्विना न+मुचौ आसुरे सचा। वि-पिपानाः सरः+वति इन्द्रम् कर्म-सु आवत।

(अश्विना) दोनों अश्वियो ! (युवम्) तुम दोनों [और] (सरः-वति) प्रवाह-वति !, (आसुरे न-मुचौ) असुरवृत्ति न-मुचि में [विद्यमान] (सुरा+मम्) सुरा-मय [सोम] को (सचा वि-पिपानाः) साथ [साथ] विशेषतया पीरहे [तुम लोग] (कर्म-सु इन्द्रम् आ-अवत) कर्मों में इन्द्र को बचाओ।

इस और अगले मंत्र में ग्रहयाग का प्रसंग है। सौत्रामणी यज्ञ में तीन ग्रह (पात्र) पय और तीन ग्रह सुरा आहुत्यर्थ ली जाती है। अश्वी, सरस्वती, इन्द्र के लिए एक एक ग्रह पय और सुरा का होता है। ये कुल छह ग्रह छह ऋतुओं के प्रतीक हैं। अश्वियों के दो ग्रह वसन्त-ग्रीष्म के, सरस्वती के दो ग्रह वर्षा-शरद् के, इन्द्र के दो ग्रह हेमन्त-शिशिर के प्रतीक हैं (माश १२.८.२.३४)। वसन्त पय है, तो ग्रीष्म सुरा; वर्षा पय है, तो शरद् सुरा; हेमन्त पय है तो शिशिर सुरा है। अश्वी, सरस्वती, इन्द्र, ये तीन देव बाह्य रूप से पृथक् हैं। वस्तुतः इन तीनों की आंतरिक एकता है वैसे ही जैसे सब ऋतुएं परस्पर जुड़ी हुई, सन्तत, अव्यवच्छिन्न, पुनः पुनः आवर्तित होनेवाली हैं। ये तीन देव त्रिकोण के तीन कोण हैं अथ वा वृत्त के तीन बिन्दु हैं जो एक दूसरे से प्रथम, मध्यम, उत्तम, तीनों ही हैं। तीनों मिलकर, वस्तुतः, एक ही देवतत्त्व हैं, वैसे ही जैसे विभिन्न ऋतुएं काल ही की कलाएं हैं।

पूर्व-मन्त्र ७४ में इन्द्र से कहा गया था कि वह, अपने सहयोगियों के साथ कर्मों में हमें बचाए। यह जो आर्त पुकार है वह इन्द्र तभी सुनेगा और तभी साधकों को बचाएगा जब स्वयं उसे कर्मों में उसके सहयोगी बचाएंगे। इस मंत्र में अश्वियों और सरस्वती से इन्द्र को बचाने की पुकार है।

अश्वी और सरस्वती इन्द्र का भैषज्य इन्द्र के पेय सुरा को सोम बनाकर करते हैं। सुरा को सोमवत् बना देने से, सुरा का उपयोगी अंश तो इन्द्र को लाभान्वित करता है पर उसका घातक अंश निष्प्रभ हो जाता है। प्रत्येक पदार्थ में लाभकर और हानिकर, द्विविध अंश होते हैं। लाभकर

१ इस मंत्र की व्याख्या स्वामी 'विदेह' १०वें पुष्प में कर चुके हैं। इस मंत्र का द्वितीय पाद, **नमुचावासुरे सचा** इस अध्याय के ६८वें मंत्र का चौथा पाद है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अंश पय—सोम है, तो हानिकर अंश सुरा है। सुरा उत्तेजक और भ्रांतिकर होती है। पय का परिणाम सुरा है, तो सुरा की अगली परिणति पुय है, वैसे ही जैसे वसन्त ग्रीष्म को बनाता है, तो ग्रीष्म वर्षा को। प्राणी जो अन्न-पयःसेवन करते हैं उससे सुरा बनती है और फिर सुरा सोम—ऊर्जा में परिणत होती है। साधक को चाहिए कि विवेकपूर्वक पय का सेवन करता चले और सुरा में विद्यमान सोमांश को ग्रहण करे और सुरा का शमन करे।

११९८ **पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दंसनाभिः।**
यत् सुरामं व्यपिबः शचीभिः, सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक्।[1]

ऋ १०.१३१.५; य १०.३४; अ २०.१२५.५ य २०.७७

पुत्रम्-इव पितरौ अश्विना उभा इन्द्र आवथुः काव्यैः दंसनाभिः। यत् सुरामम् वि अपिबः शचीभिः सरः+वती त्वा मघवन् अभिष्णक्।

१) (इन्द्र) इन्द्र! [तुम्हें] (काव्यैः) काव्यों—कविदृष्टियों द्वारा [और] (दंसनाभिः) कर्मसाधनों द्वारा (उभा अश्विना) [तुम] दोनों अश्वियों ने [वैसे] (आवथुः) बचाया था, (पुत्रम्-इव पितरौ) जैसे पुत्र को माता-पिता [बचाते हैं],

२) (यत्) क्यों कि (शचीभिः) कर्मों के द्वारा (सुरा-मम्) सुरा-मय [सोम] को (वि अपिबः) विशेषतया पीया,

३) [और क्यों कि] (मघ-वन्) धन-शालिन्! (सरः-वती) प्रवाह-वती ने (त्वा अभिष्णक्) तुम्हारी उपसेवा की।

१) इसं मंत्र में इन्द्र पर अश्वियों के उपकार का बखान है। अश्वियों ने इन्द्र को क्षतों से उस प्रकार बचाया जैसे दोनों रक्षक (माता-पिता) पुत्र को सबविध क्षतों से बचाते हैं। यहां इन्द्र को अश्वियों का पुत्र संकेतित किया गया है। माता-पिता का पुत्र के प्रति वात्सल्यभाव होता है। अश्वियों का भी इन्द्र के प्रति वैसा ही लाड़—प्यार—दुलार है। अश्वी हैं जीवन की आंतरिक और बाह्य पद्धतियां जो क्रमशः हृदय और मस्तिष्क से संचालित होती हैं। हृदय का संबंध कवित्व से है, तो मस्तिष्क का संबंध कर्मों से है। आंतरिक जीवन हृदयप्रधान, कवित्व की भावुकता से युक्त होता है, मनःप्रधान होता है। पर बाह्य जीवन मस्तिष्क-प्रधान; विश्लेषण की भेदक, अहंमूलक वृत्ति से प्रेरित; व्यावहारिक बुद्धि पर आश्रित होता है। आंतरिक जीवन में क्रियाबाहुल्य नहीं है जब कि बाह्य जीवन क्रियाबहुल होता है। हृदय माता है, मस्तिष्क पिता है। हृदयमाता कवि है, काव्यों द्वारा रक्षा करती है इन्द्र—शुद्ध, निरहंकार, एक, सात्त्विक, आत्मनिष्ठ बुद्धि की। मस्तिष्कपिता कर्मठ है, दंसनाओं—कर्मों द्वारा इन्द्र—शुद्ध बुद्धि की रक्षा करता है। माता शतक्रतु होती है, अतः इन्द्र भी शतक्रतु है; पिता वसु होता है, अतः इन्द्र भी वसु है (ऋ ८.९८.११)।

२) यदि अश्वी इन्द्र की रक्षा न करते तो इन्द्र अपने शतक्रतुओं, यज्ञकर्मों के द्वारा सुरा-मय सोम को छान-कर, उसके सुराभाग को छोड़कर, सोम का पान न कर पाता। अश्वी इन्द्र को वह अनुभव देते हैं

१ इस मंत्र की व्याख्या स्वामी 'विदेह' जी १०वें पुष्प में कर चुके हैं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जिससे वह सुरा में से सोमांश को ग्रहण कर लेता है। बुरे में से अच्छे को ग्रहण करना ही तो विवेक है।

३) अश्वियों द्वारा इन्द्र की रक्षा करने का ही परिणाम है कि सरस्वती भी इन्द्र की उपसेवा में लगी रहती है। सरस्वती इन्द्र को हवि-रूप दुग्ध प्रदान करती है, और उसे वह वसु भी देती है जो शुक्र और मघ है (मंत्र ६७)। अतः सारस्वत वसु को प्राप्त करके इन्द्र **मघ-वा** बन गया है। उसका विवेकधन अब जीवनसाम्राज्य में दानार्थ है।

११९९ **यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो, वशा मेषा अवसृष्टास आहुताः।**
कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे, हृदा मतिं जनय चारुमग्नये।

ऋ १०.९१.१४ य २०.७८

यस्मिन् अश्वासः ऋषभासः उक्षणः वशाः मेषाः अव-सृष्टासः आ-हुताः। कीलाल-पे सोम-पृष्ठाय वेधसे हृदा मतिम् जनय चारुम् अग्नये।

१) अश्वासः, ऋषभासः, उक्षणः, वशाः, मेषाः) अश्व, ऋषभ, उक्षा, वशा, मेष (यस्मिन् अव-सृष्टासः, आ-हुताः) जिसमें अव-सृष्ट [और] आ-हुत [हैं]

२) [उस] (किलाल-पे, सोम-पृष्ठाय, वेधसे अग्नये) अन्नरस-पानकर्ता, सोम[रूप] पृष्ठवाले, विधाता अग्नि के लिए (हृदा) हृद् के साथ (मतिम्) बुद्धि को (चारुम् जनय) शोभन—शुद्ध जनो—करो।

मन्त्र ७८-७९ में स्विष्टकृत्-याग का प्रसंग है। **इष्ट**=इच्छित; संपन्न यज्ञ; यज्ञफल। मनुष्य काममय है। कामनाओं की पूर्ति के लिए यज्ञ किए जाते हैं। यज्ञ से प्राप्त फल के द्वारा कामना की पूर्ति होती है। **इष्ट-कृत्**=इच्छा पूरी करनेवाला; संपन्न यज्ञ को स-फल करनेवाला। सब कामनाओं का पूरक और यज्ञों को फल से युक्त करनेवाला अग्नि है। **स्विष्टकृत्** [सु+इष्ट-कृत्]=कल्याण-पूर्वक फलदाता। फल को इस विधि से देनेवाला कि फल से यजमान का **सु**—शुभ, मंगल हो। फल प्राप्त करके भौतिक इच्छाओं की पूर्ति होना तो सामान्य, पाशविक, लौकिक बात है। इससे यजमान में अहंभाव की जड़ें दृढतर होती हैं और आत्मज्योति और विवेक क्षीण होता है। पर एक अग्नि ऐसा है जिसके फलदान की विधि **सु**—कल्याण, शिव करती है। यह अग्नि है आत्मा। जो इच्छा, जो यज्ञ आत्मार्पित होता है वही शिव का संपादन करता है। जिस फलाप्ति से आत्मज्योति उद्बुद्ध होती चले और विवेकालोक प्रखरतर होता रहे वही फलाप्ति, इच्छाप्ति हितकर है। इस हित में भौतिक हित तो गौणरूप से संमिलित होता ही है वैसे जैसे हाथी के पैर में सबके पैर समा जाते हैं। भौतिक यज्ञों का लक्ष्य भी, जाने-अजाने में, अन्ततः, आत्मा ही है। प्रत्येक छोटे-बड़े कृत्य का, प्रत्येक **सु** वा **कु** का, प्रत्येक पाप-पुण्य का अंतिम परिणाम आत्मा पर पडता है। वही यज्ञ, वस्तुतः, सफल, सुफल है जो आत्मा के अनुकूल हो, भले ही, ऊपर से, भौतिक दृष्टि से, अल्पलाभकर हो।

१) सृष्टि का, जीवन का सब कुछ इसी स्विष्टकृत्—आत्मा में आहुत है। चेतन आत्माग्नि में जो कुछ आहुत होता है वह सब **पशु** है, जड़—भौतिक—लौकिक है। **पशु**=द्रष्टा, मूक द्रष्टामात्र, परतन्त्र। पशु परतन्त्र का प्रतीक है। मन्त्र में पांच पशुओं का उल्लेख है जो, वस्तुतः, तीन हैं। अश्व, मेष (अवि, भेड़) के अतिरिक्त तीसरा पशु गौ है। गौ के तीन रूपों का उल्लेख मंत्र में है। ऋषभ है गति, फुर्ती,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

चुस्ती, जोश, उत्साह, मद से युक्त सांड। उक्षा है काममय, वीर्यवान्, प्रजननशील सांड। वशा है बांझ मादा गौ। अश्व रजोगुण का, मेष तमोगुण का, गौ सत्त्वगुण का संकेतक है। सत्त्व मध्य में उल्लिखित है। उसके एक ओर रजः है, तो दूसरी ओर तमः है। रजःसंयुक्त सत्त्व का प्रतीक ऋषभ है, तो तमःसंयुक्त सत्त्व का प्रतीक वशा है। अन्यथा, सत्त्व तो अन्तर्बल है—**उक्षा**। इन्द्र के भैषज्य के प्रसंग से **अश्व, ऋषभ, उक्षा** शब्दों का वैसे भी काव्यपरक स्वारस्य है क्यों कि बुद्धि स्वभाव से सत्त्वगुणमयी है जिसकी सर्जनोन्मुख प्रवृत्ति ऋषभ और अश्व स्थिति को पाती है। राजस, सात्त्विक, तामस, सर्वविध जड़-चेतन विश्व आत्मा के लिए है और उसी में आहुत है। **अव-सृष्ट**=निर्धारित; **आ-हुत**=समर्पित।

२) आत्माग्नि अन्न और उनके रस का पानकर्ता है, अन्न और उसके रस से बननेवाले सोम की भी वही प्रतिष्ठा है। सोम उसकी पीठ पर है, उसका अनुगत है। आत्मा **वेधा**—विधाता है सत्य, शिव, सुन्दर का, जीवनचित्र का। अग्नि के लिए चारु मति को जन्म देना, यह साधक के लिए वेद का आदेश है। **मति**=बुद्धि। **चारु मति**=सु-बुद्धि; शुद्ध, सात्त्विक, निरहंकार, एक, निश्चयात्मिका, स्थित प्रज्ञा। इसके जनन का साधन है **हृद्** [हृदय] —मन। मन की साधना, मन को शिवसंकल्पवान् बनाने से बुद्धिशोधन होता है। और शुद्ध (चारु) बुद्धि आत्माग्नि को समर्पित रहती है।

१२०० **अहाव्यग्ने ! हविरास्ये ते, स्रुचीव घृतं चम्वीव सोमः।**
वाजसनिं रयिमस्मे सुवीरं, प्रशस्तं धेहि यशसं बृहन्तम्।
ऋ १०.९१.१५ य २०.७९

अहावि अग्ने हविः आस्ये ते स्रुचि-इव घृतम् चम्वी-इव सोमः। वाज-सनिम् रयिम् अस्मे सु-वीरम् प्र-शस्तम् धेहि यशसम् बृहन्तम्।

१) (स्रुचि-इव घृतम्) जैसे स्रुक् में घी [हो अथ-वा] (चम्वी-इव सोमः) जैसे चमू में सोम [हो वैसे], (अग्ने) अग्ने ! (ते आस्ये) तेरे मुख में (हविः अहावि) मैंने हवि होमी है।
२) (वाज-सनिम्) वाज-प्रद, (सु-वीरम्) (सु-वीरों से युक्त, (प्र-शस्तम्) प्र-शंसित, (यशसम्) यशस्वी, (बृहन्तम्) बृहत् (रयिम्) धन को (अस्मे धेहि) हममें धर दो।

१) साधक ने भावना और चिन्तन, मन और बुद्धि के रूप में हवि आत्माग्नि के मुख में होमी है। आत्माग्नि की एकांत साधना में उसने सब समर्पित कर दिया है। आत्माग्नि के मुख में हवि का निधान वैसे है जैसे स्रुक् (चमचे) में घृत अथ वा चमू में सोम। आहुति देने के लिए स्रुक् में घी लिया जाता है और चमू में सोम भरा जाता है। साधक ने अग्नि के मुखरूप आधार पर अपनी जीवनहवि को धर दिया है। स्रुक् वा चमू में भरी हुई हवि को अग्नि भक्षण करता है। अपने मुख में स्थित हवि का भी अग्नि भक्षण करेगा।
२) साधकों ने जो जीवनहवि अग्नि के मुख में धरी है उसे अग्नि भक्षण—ग्रहण करे और प्रसादरूप में उन्हें रयि प्रदान करे। **रयि** शब्द आत्मिक और भौतिक, दोनों प्रकार के ऐश्वर्यों के लिए आता है। साधकों के ऐश्वर्य **वाज**—ज्योति और शक्ति देनेवाले हों न कि अज्ञान और क्षीणता लानेवाले। इन ऐश्वर्यों से सन्तान

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सु-वीर, सु-सन्तान बने, न कि विलासी। ऐश्वर्य से प्रशंसा मिले, न कि निन्दा। दानपूर्वक भोगे गए धन से प्रशस्ति मिलेगी, केवल भोग वा संचय में काम आनेवाला धन बदनामी देगा। ऐश्वर्य यशस्वी हो। प्रशस्ति दूसरों से मिलती है जब कि **यश** उस तेज, ओज को कहते हैं जो वस्तु में से चारों ओर विकीर्ण होता है और अपना प्रभामंडल बना लेता है। अन्तःसत्त्व से युक्त व्यक्ति वा वस्तु का जो आकर्षण वा सौन्दर्य होता है वह यश है। ऐश्वर्य सुन्दर हों, यह भाव **यशसं** विशेषण में है। जिसमें जितना अग्नि (वीर्य, प्राण) होता है उसमें उतना ही यश—तेज होता है। रयि बृहत् हो, लघु नहीं, विराट्—उदार दृष्टिकोण का हो, संकुचित मनोवृत्ति का नहीं। आत्माग्नि विराट्, व्यापक है। जिसका आत्माग्नि जितना उद्बुद्ध होता है उसका रयि उतना ही मंत्रोक्त पांच गुणों से युक्त होता है।

१२०१ **अश्विना तेजसा चक्षुः, प्राणेन सरस्वती वीर्यम्।**
वाचेन्द्रो बलेने,न्द्राय दधुरिन्द्रियम्। य २०.८०

अश्विना तेजसा चक्षुः, प्र+अनेन सरः+वती वीर्यम्। वाचा इन्द्रः बलेन इन्द्राय दधुः इन्द्रियम्।

(अश्विना) अश्वियों ने (तेजसा चक्षुः) तेज के साथ चक्षु को, (सरः-वती) प्रवाह-वती ने (प्र-अनेन वीर्यम्) प्राण के साथ शक्ति को, (इन्द्रः) इन्द्र ने (वाचा, बलेन) वाक् [और] बल के साथ (इन्द्रियम्) सामर्थ्य को (इन्द्राय दधुः) इन्द्र के लिए धारण किया।

यहां से अध्यायान्त तक ११ मन्त्रों का होता शंसन करता है। इनमें सौत्रामणी यज्ञ के देवों (अश्वियों, सरस्वती, इन्द्र) की महिमा का बखान है। यह और अन्तिम मन्त्र इन सब देवों की प्रशंसा करता है जब कि इनके बीच में तीन तीन मन्त्र क्रमशः अश्वियों, सरस्वती, इन्द्र की प्रशंसा में हैं।

इन्द्र के भैषज्य में अश्वियों ने तेजस्वी चक्षु, सरस्वती ने प्राणवान् वीर्य, इन्द्र के लिए धारण किया; तो इन्द्र ने स्वयं की सहायता की वाक् और बल के साथ विवेक को धारण करके। चक्षु में तेज है, वीर्य में प्राण है, विवेक में वाक् और बल है **[बुद्धिर्यस्य बलं तस्य]**। अश्वियों से साधक को तेजस्वी चक्षु, आंतरिक और बाह्य विषयग्रहण की सामर्थ्य प्राप्त होती है। सरस्वती (विद्यानुराग, स्वाध्याय) से अन्तः-सत्त्व (सप्राण वीर्य) प्राप्त होता है। इन्द्र अपने विवेक से **वागोजः** (यजुर्वेद ३६.१), प्रभावशाली वाक् और उत्साहरूप कर्मबल को पा लेता है।

१२०२ **गोमद् षु णासत्या,श्वावद् यातमश्विना ! वर्ती रुद्रा ! नृपाय्यम्।**
ऋ २.४१.७ य २०.८१

गो-मत् उ सु नासत्या अश्व-वत् यातम् अश्विना। वर्तिः रुद्रा नृपाय्यम्।

(न+अ-सत्या) असत्य-हीनो ! (अश्विना) दोनों अश्वियो ! (रुद्रा) रुद्रो ! (गो-मत्) गो-युक्त, (अश्व-वत्) अश्व-युक्त [धन के साथ] (नृ-पाय्यम्) नरों द्वारा पानस्थल (वर्तिः) बर्त्ताव को (उ) ही (सु यातम्) भली प्रकार प्राप्त रहो,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अश्वी नासत्य हैं। (देखें मन्त्र ७४ में इस विशेषण की व्याख्या।) इस मन्त्र में उन्हें एक नया विशेषण, **रुद्र** दिया गया है। अश्वी **रुत्-र**, शब्दवान् हैं। वे अपनी हवि पाने के लिए आह्वान, तकाज़ा करते हैं। जीवन के दोनों पक्षों की आवश्यकताएं पूरी किए बिना प्राणी चैन से नहीं रह सकता। आंतरिक जीवन की शांति और बाह्य जीवन का सुख, दोनों चाहिएं। अन्यथा दोनों पक्षों की खींच-तान प्राणी को रुलाती है। अतः **रुलानेवाले** अर्थ में भी अश्वी रुद्र हो जाते हैं।

अश्वियों की **वर्ति**—व्यवहारपद्धति **सु**—मंगलकारी हो। वह अशान्ति, असन्तोष, दुःख, दरिद्रता से युक्त न हो। **वर्ति** स्त्रीलिंग शब्द है पर इसका समानाधिकरण, **नृ-पाय्य** पुंलिंग शब्द है। नृ-पाय्य को वेद में **बहुपाय्य** (ऋग्वेद ५.६६.६) भी कहा गया है। जहां सब अपनी इच्छाएं पूरी करते हैं और आनन्दपय का पान करते हैं उस, यज्ञ को नृपाय्य कहा जाता है। यज्ञ में देव पय, घृत, सोम का पान करते हैं। साधनायज्ञ में साधक के सब इन्द्रियादि देव अपना अपना पेय, अमृत पीते हैं। जीवन की पद्धति सु है वा कु, इसकी पहचान नृपाय्य यज्ञ है। यदि साधक यज्ञमय, सुकर्ममय, अ-परिग्रहभाव से युक्त, निरहंकार, सर्वमंगलकारी कर्म करता है तो उसकी **वर्ति**, जीवनपद्धति अपने आपमें एक सर्वकल्याणकारी यज्ञ है। ऐसे जीवन-यज्ञ में अश्वी गौ- और अश्व-युक्त धन लेकर आते हैं। गौ=ज्ञानरश्मि; अश्व=कर्मधाराएं। विवेक और पौरुष, दोनों का वर्धक धन जीवन के आंतरिक और बाह्य व्यवहार से साधक को प्राप्त होना चाहिए।

१२०३ **न यत् परो नान्तर, आदधर्षत् वृषण्वसू। दुःशंसो मर्त्यो रिपुः।**

ऋ २.४१.८ य २०.८२

न यत् परः न अन्तरः आ-दधर्षत् वृषण्-वसू। दुः-शंसः मर्त्यः रिपुः।

(यत्) ताकि, (वृषण्-वसू) वृषा-धन! (न परः, न अन्तरः) न [तो] पराया, न आंतरिक (दुः-शंसः, मर्त्यः रिपुः) दुर्वक्ता—निन्दक, मरणधर्मा शत्रु [हमें] (आ-दधर्षत्) दबाए।

जब अश्वी साधकों के नृपाय्य यज्ञ में गौओं और अश्वों और सु के साथ आएंगे तो उन्हें कोई मर्त्य नहीं दबा सकेगा। **मर्त्य**=मरणशील, जड़। चेतन कभी नहीं मरता क्यों कि वह कभी नहीं जन्मता। जड़ मरता है क्यों कि वह जन्मता है। शरीर से बुद्धि तक, सब जड़, अतः मरणधर्मा (**मर्त्य**) हैं। ये आत्मा के परिवारी हैं। इन्होंने आत्मज्योति को दबा रखा है। चिंगारी राख की पर्तों में दबी पड़ी है। ये मर्त्य **दुःशंस, दुः** की **शंस**—प्रशंसा करते हैं, विलासों, भोगों का पक्ष लेते हैं। ये रजः और तमः का पक्ष लेकर आत्मचैतन्ययुक्त, सात्त्विक, शुद्ध बुद्धि को उभरने नहीं देते। ये मर्त्य आत्मा और तन्निष्ठ बुद्धि के **रिपु**—शत्रु हैं, असुर हैं जिन्होंने उन्हें घेरा हुआ (**वृत्र, बल**) है। आत्मा के ओज को मारनेवाले मर्त्य दो कोटियों के हैं, पर, अन्तर। **पर**=बाह्य, परिवार-समाज-धन, आदि। **अन्तर**=निजी, व्यक्ति के अंगभूत। परिवारादि **पर** मर्त्य साधक में अंहभाव, आसक्ति, ममता, परिग्रह, आदि उन **अन्तर** मर्त्यों को पैदा करते हैं जो आत्मा को धूमिल किए हुए हैं।

अश्वी वृषारूप-धनवाले हैं। **वृषा**=इन्द्र। शुद्ध, सात्त्विक बुद्धि का विवेक ही आन्तरिक और बाह्य जीवन का **वसु**, जीवनाधार, धन है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१२०४ **ता न आ वोढमश्विना !, रयिं पिशङ्गसन्दृशम् । धिष्ण्या ! वरिवोविदम् ।**

ऋ २.४१.९ य २०.८३

ता नः आ वोढम् अश्विना रयिम् पिशङ्ग-सम्+दृशम् । धिष्ण्या वरिवः-विदम् ।

(अश्विना) दोनों अश्वियो ! (धिष्ण्या) धारणकर्ताओ ! (वरिवः-विदम्) धन-प्रापक, (पिशङ्ग-सम्+दृशम्) पीत-दर्शन (धनम्) धन को (ता) उन्होंने—परोक्षों ने [प्रत्यक्ष बनकर] (नः) हमारे लिए (आ वोढम्) आ-वहन किया है ।

अश्वी जीवन के धारक हैं । जीवन का धारण, वस्तुतः, आत्माग्नि करता है ; उससे संपर्क के कारण अश्वी भी **धिष्ण्य**=अग्नि[रूप] हो गए हैं । साधक की बाह्य, भोगजीवनपद्धति और आंतरिक, योगजीवनपद्धति, दोनों आत्माग्निरूप और शब्द के वास्तविक अर्थ में, जीवनाधार हो गए हैं क्यों कि बाह्य जीवन आंतरिक जीवन का विरोधी न रहकर सहयोगी हो गया है ।

पूर्व-मन्त्रों और इस मन्त्र में वर्णित अश्वी **ता**—परोक्ष, दूर हैं । पर जब वे साधक को आंतरिक और बाह्य सुदेनें देते हैं तो वे प्रत्यक्ष और संबोध्य हो जाते हैं । उनकी प्रत्यक्षता के द्योतनार्थ, अन्य पुरुष सर्वनाम, **ता** के साथ मध्यम पुरुष की **वोढं** क्रिया जान-बूझकर प्रयुक्त की गई है । भले ही लौकिक भाषा के तर्क से यह असंगत हो पर वैदिक भाषा इसी प्रकार रहस्यद्योतन-समर्थ बनी हुई है ।

अश्वी साधक को जो रयि देते हैं वे बड़े विचित्र हैं । व्यापारी मूल धन को धंधे में लगाकर लाभ कमाते हैं । अश्वियों से प्राप्त धन से भी साधक अनेक नवीन धनों को प्राप्त कर लेते हैं । अतः इस धन को **वरिवो-विद्**, अधिक-प्रापक कहा गया है । अश्वियों से प्राप्त धन आंतरिक धन को प्राप्त कराने में साधन बनते हैं, विरोधी नहीं ।

अश्वियों के धन **पिशङ्ग-संदृश** हैं । पिशङ्ग—पीत वर्ण, हिरण्य, प्रकाश अग्नि का है । अश्वियों के धन आग्नेय हैं, आत्माग्नि के विवेकालोक से युक्त हैं । यह संकेत आंतरिक धन की ओर है । यह अभिप्राय मंत्र ७४ में अश्वियों को **हिरण्य-वर्तनी** कहकर सूचित किया जा चुका है ।

१२०५ **पावका नः सरस्वती, वाजेभिर्वाजिनीवती । यज्ञं वष्टु धियावसुः ।**

ऋ १.३.१०; सा १८९ य २०.८४

पावका नः सरः+वती वाजेभिः वाजिनी-वती । यज्ञम् वष्टु धिया-वसुः ।

(नः पावका) हमें पवित्र करनेवाली, (वाजेभिः वाजिनी-वती) वाजों से [युक्त] यज्ञक्रिया-वती, (धिया-वसुः) धी द्वारा धनवती (सरः-वती) प्रवाह-वती (यज्ञम् वष्टु) [हमारे] यज्ञ को चाहे ।

यह और अगले दो मंत्र सरस्वती की प्रशस्ति हैं । सरस्वती हमें पाप्माओं, दुरितों, असत्य, अशिव, असुन्दर से मुक्त कर शोधनेवाली है । वह अनेकविध वाजों—ज्योतियों और शक्तियों से वाजिनी बनी हुई यज्ञमय जीवनपद्धति (**नृपाय्य वर्ति**, मंत्र ८१) की स्वामिनी (**वाजिनी-वती**) है । **धी**—शुद्ध, सात्त्विक, आत्मनिष्ठ, एक बुद्धि ही उसका **वसु**—आधारभूत, स्वरूपाधायक धन है । वह हम साधकों के जीवनसाधना-रूप यज्ञ को चाहे ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१२०६ **चोदयित्री सूनृतानां, चेतन्तो सुमतीनाम् । यज्ञं दधे सरस्वती ।**
ऋ १.३.११; तैसं ४.१.११.२ य २०.८५
चोदयित्री सूनृतानाम् चेतन्ती सु-मतीनाम् । यज्ञम् दधे सरः+वती ।

(सूनृतानाम् चोदयित्री) सु-सत्यों को प्रेरणा देनेवाली, (सु-मतीनाम् चेतन्ती) सु-मतियों को चेतती—जानती हुई [स्वयं सु-मतिमयी], (सरः-वती) प्रवाह-वती (यज्ञम् दधे) यज्ञ को धारण कररही है।

वस्तुतः, सरस्वती ही हम साधकों के क्या, सबके यज्ञमात्र को धारण कररही है। विद्योपासना; स्वाध्याय-रूप सारस्वत प्रवाह से ही साधकों के जीवनयज्ञ स्थिरतया जारी रह पाते हैं।

सरस्वती **सूनृत** = सु-सत्यों, मंगलमय सत्यों, साधकों के ग्राह्य सत्यों को हम साधकों को प्राप्त कराती है। सत्य तो अतिविराट्, सर्वव्यापक, अनन्त है। उसका जितना सा अंश और उस अंश का भी जो जो पक्ष हम साधकों की सीमित धी ग्रहण कर सकती है, बस, उतना सा ही हम साधक ग्रहण कर पाते हैं। और ऐसा भी सरस्वती के द्वारा उन सत्यों को हमारी धी में प्रवेश करने की प्रेरणा के कारण संभव हो पाता है। स्वाध्याय नामक योगांग की सफलता साधक सरस्वती की कृपा से प्राप्त कर पाता है। स्वाध्याय की सफलता के लिए पांच यमों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) और तीन नियमों (शौच, सन्तोष, तप) की साधना कर लेने पर सरस्वती की प्रेरणा पर सु-सत्य साधक के जीवन में प्रवेश करते हैं और सविता द्वारा प्र-चोदित हमारी धी उन सु-सत्यों को पकड़ लेती है (ऋ ३.६२.१०)।

सरस्वती सु-मतियों को चेतती—जानती है। कौन सी मति सु है, कौन सी कु, यह साधक की सीमित, सान्त धी, भला क्या जाने! अतः सरस्वती ही वह विवेक देती है जिससे सु और कु का विवेचन किया जा सके।

१२०७ **महो अर्णः सरस्वती, प्र चेतयति केतुना । धियो विश्वा वि राजति ।**
य २०.८६
ऋ १.३.१२
महः अर्णः सरः+वती प्र चेतयति केतुना । धियः विश्वाः वि राजति ।

१) (सरः-वती) प्रवाह-वती (केतुना) ज्ञान द्वारा (महः अर्णः) महान् जल—गति को (प्र चेतयति) प्र-चेतारही है।
२) [वह] (विश्वाः धियः) सब धियों के ऊपर (वि राजति) वि-राजरही है।

१) **गति** अर्थवाली **ऋ** धातु से बना **अर्णस्** शब्द जल का नाम है। जल का आपः नाम भी है जो सृष्टिनिर्माणार्थ सन्नद्ध प्रकृति का नाम है। प्रकृति का प्रथम विकार महत् वा बुद्धि है। बुद्धि का प्रवाह **सरः-वती** कहाता है। सरस्वती **केतु**—ज्ञान, विवेक, आत्मसत्य के द्वारा प्रकृति के महान् प्रवाह को प्र-चेताती, उसे प्रवाहित करती है।
२) सरस्वती ही नानाविध धियों को प्रदीप्त—प्रज्वलित करती है।

इस मन्त्र में सरस्वती को प्रकृति की प्रेरिका और उसके आदिम विकार, धी के नाना रूपों को उद्दीप्त करनेवाली बताया गया है। यह सरस्वती साधक की भी बुद्धि को ज्ञानबल द्वारा प्र-चेताती, प्रेरणा देती है और उसके नानाविध बुद्धिवैभव को जगमगाती है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१२०८ **इन्द्रा याहि चित्रभानो !, सुता इमे त्वायवः । अण्वीभिस् तना पूतासः ।**
ऋ १.३.४; सा ११४६; अ २०.८४.१ य २०.८७
इन्द्र आ याहि चित्र-भानो सुताः इमे त्वा-यवः । अण्वीभिः तना पूतासः ।

(चित्र-भानो इन्द्र) नानाविध दीप्तियों वाले इन्द्र ! (अण्वीभिः, तना) सूक्ष्मों [और] स्थूल के द्वारा (पूतासः) शुद्ध, (त्वा-यवः) तुम्हें चाहनेवाले, (इमे सुताः) ये संपन्न [सोम हैं। इनके पास] (आ याहि) आ जाओ।

यह और अगले दो मंत्र इन्द्र की प्रशस्ति हैं। इन्द्र नानाविध भानुओं वाला है। **भानु**=चमकनेवाला, प्रकाश। **बृहद्भानु** आत्माग्नि के चैतन्य से युक्त इन्द्र—बुद्धि उस बृहत् भानु को **चित्र** भानु कर देता है। आत्मा का बृहत् प्रकाश सृष्टि में अनुप्रविष्ट होकर नाना वर्णों और रूपों वाला, नाना कर्मों का संपादक और नाना नामों से युक्त हो जाता है। इन्द्र इस चित्र-विचित्र भानु का निधान है।

इन्द्र को साधक द्वारा समर्पित सोम भानु की चित्र-विचित्रता वा बहुत्व के हेतु हैं। सोम इन्द्र को चाहते हैं। इन सोमों को अण्वियों द्वारा और तना द्वारा पवित्र किया गया है। **अण्वी**=तन्वी, सूक्ष्मा। **तना**=विस्तृत, स्थूल, महत्। सूक्ष्म में स्थूल से अधिक सार होता है। अणु में महत् से अधिक सत्त्व होता है। अणु वा सूक्ष्म से महत् वा स्थूल का उद्भव होता है। महान् वृक्ष का उद्भव अणु बीज में से है। वृक्ष की स्थूल रूपरेखा तो स्पष्ट होती है जब कि वृक्ष का सारा वैचित्र्य बीज में प्रन्तर्निहित होता है। अतः मूल कारण के लिए बहुवचन का प्रयोग (**अण्व्यः**) किया गया है। आंतरिक दृष्टि से, बुद्धि की **धियः**—धारणाएं, और, बाह्य दृष्टि से, शारीरिक स्तर पर वितत **तना**=लौकिक, व्यावहारिकी समझ, दोनों के द्वारा शोधित सोम चाहते हैं कि इन्द्र उनका सेवन करे। सोमों की सार्थकता इन्द्र का भक्ष्य बनने में है। सोमों से इन्द्र के विवेकवैभव की समृद्धि होती है। अतः साधक इन्द्र को संशुद्ध सोमों के सेवनार्थ आह्वान करता है।

१२०९ **इन्द्रा याहि धियेषितो, विप्रजूतः सुतावतः । उप ब्रह्माणि वाघतः ।**
ऋ १.३.५; सा ११४७; अ २०.८४.२ य २०.८८
इन्द्र आ याहि धिया इषितः विप्र-जूतः सुत-वतः । उप ब्रह्माणि वाघतः ।

(इन्द्र) इन्द्र ! (धिया इषितः) धी द्वारा प्रेषित—प्रेरित, (विप्र-जूतः) विप्रों द्वारा प्रेरित, (वाघतः) मेधावी [तुम] (सुत-वतः) सम्पन्न-वान् के (ब्रह्माणि) ज्ञानों के (उप आ याहि) निकट आ जाओ।

इन्द्र साधकों के ज्ञानों के समीप आ जाए, अर्थात्, साधक इन्द्र—बुद्धि के सब पक्षों और आयामों, रहस्यों को प्रत्यक्ष कर सके। इन्द्र धी (ज्ञान और कर्म) द्वारा प्रेरित होता है, अर्थात्, इन्द्र के रहस्यों का उन्मेष धी करती है। इन्द्र विप्रों द्वारा प्रेरित है क्यों कि वे मेधावी इन्द्र के समानधर्मा हैं। मेधावी अपनी धी (ज्ञान, कर्म) द्वारा इन्द्र का आह्वान करते हैं। इन्द्र मेधावी और सुत-वान् (संपन्न सोमों वाले) यजमान, साधक के ज्ञानों को अपना सामीप्य प्रदान करे। मेधावियों और कर्मठों के ज्ञानानुभव इन्द्र—विवेक की कसौटी पर खरे उतरने चाहिएं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१२१० **इन्द्रा याहि तूतुजान, उप ब्रह्माणि हरिवः । सुते दधिष्व नश्‍ चनः ।**

ऋ १.३.६; सा ११४८; अ २०.८४.३ य २०.८९

इन्द्र आ याहि तूतुजानः उप ब्रह्माणि हरि-वः । सुते दधिष्व नः चनः ।

(हरि-वः इन्द्र) हरि-वन् ! इन्द्र ! (तूतुजानः) फुर्तीले [तुम] (ब्रह्माणि) ज्ञानों के (उप आ याहि) निकट आ जाओ । (सुते) [सोम के] संपन्न हो जाने पर (नः चनः दधिष्व) हमारे अन्न को धारण करो ।

पूर्व-मन्त्र में धी के दो अभिप्रायों में से **कर्म** का यहां उल्लेख है । कर्म ज्ञानपूर्वक किया जाता है, तो कर्म से ज्ञान की पुष्टि होती है और ज्ञानी में आत्म-विश्वास पैदा होता है । उक्ति भी है, **यस्‍ तु क्रियावान्‍ स पण्डितः**, जो कर सकता है वही ज्ञानी है । **हरि**=अश्व, क्रियाशक्ति । इन्द्र क्रियाशक्तिवान् है । अतः वह **तूतुजान**, बिना अनावश्यक विलंब के, यथाकाल, उचित कर्मों को करने का विवेक और फुर्ती रखता है । इन्द्र कर्मानुभव से ज्ञानों को पुष्ट करे, यही उसका ब्रह्मों—ज्ञानों के निकट आना है । वह साधकों के **चनः**—अन्न, भोग, उपलब्धि, कर्मफल का आधार है ।

१२११ **अश्विना पिबतां मधु, सरस्वत्या सजोषसा ।**

इन्द्रः सुत्रामा वृत्रहा, जुषन्तां सोम्यं मधु । य२०.९०

अश्विना पिबताम्‍ मधु सरः+वत्या स-जोषसा । इन्द्रः सु-त्रामा वृत्र-हा जुषन्ताम्‍ सोम्यम्‍ मधु ।

१) (सरः-वत्या स-जोषसा) प्रवाह-वती के [साथ] समान प्रीति वाले (अश्विना) अश्वी (मधु पिबताम्‍) मधु पीएं ।

२) (सु-त्रामा) सु-त्राता, (वृत्र-हा) वृत्र-हन्ता (इन्द्रः) इन्द्र (सोम्यम्‍ मधु) सोममय मधु को (जुषन्ताम्‍) सेवन करें ।

मन्त्र ८० के समान, यह मन्त्र पुनः अश्वी, सरस्वती इन्द्र की संयुक्त प्रशस्ति है । अश्वियों का सरस्वती के प्रति प्रीतिभाव है । सरस्वती जीवन की दोनों पद्धतियों में लाभकारिणी है । इन्द्र सु-त्राता है; वह वृत्र को मारकर, उससे साधक को बचाता है । ये सब सोम के मधु—माधुर्य का पान/सेवन करें । स्थूल अन्न, और पंच ज्ञानेन्द्रियों से गृहीत विषय, ये सब देवों के सोम हैं । इनमें जो **मधु**—सुख, आनन्द है उसे तभी भोगा जा सकता है जब भोगों में से सुरांश को छोडकर सोमांश का ग्रहण करने का विवेक हो । ऐसे विवेक का धनी इन्द्र—बुद्धि अश्वियों और सरस्वती की चिकित्सा-सहायता से अपने विवेक को निर्विकार और सुरक्षित रखता है; यही सौत्रामणी यज्ञ है ।

पाठक से

वेद-संस्थान इस पुस्तक की विषयवस्तु, लेखनशैली और आकार-प्रकार के बारे में आपके विचारों के लिए आभारी होगा । अन्य कोई सुझाव आप देना चाहें तो उन्हें जानकर भी हमें प्रसन्नता होगी । हमारा पता है :

बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर, भारत

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परिशिष्ट १

यजुर्वेद के २०वें अध्याय का श्रौत कर्मकांड [सौत्रामणी] में विनियोग

यह विनियोग कात्यायन-रचित श्रौतसूत्र में मिलता है और विनियोगों का स्पष्टीकरण माध्यन्दिन-शतपथब्राह्मण में उपलब्ध है।

मन्त्र-सं	विनियोग	कात्यायन-श्रौतसूत्र	माध्यन्दिन-शतपथ ब्राह्मण कांड।अध्याय।ब्राह्मण।कंडिका
१	आसन्दीनिधान	१६.४.८	१२.८.३. १-६
२	यजमानासन; रुक्मोपन्यास	१६.४.६	,, १०-११
३	यजमानाभिषेक	१६.४.१४	,, १२-१६
४	यजमानालभन; नराह्वान	१६.४.१६,२०	
५-६	अङ्गालभन	१६.४.२१	
१०	अवरोहण	१६.४.२३	१२.८.३.२०-२२
११-१२	वसाग्रहहोम	१६.५.८	,, २६-३०
१३	ग्रहशेषभक्षण	१६.५.१०	,, ३०-३१
१४-१८	मासरकुम्भतारण	१६.५.१३	१२.६.२.१-४
१८-१६	सुराकुम्भमज्जन	१६.५.१४	,, ५-६
१६	अप-आदान, परिषेचन	१६.५.१५	
२०	वासःक्षेपण	१६.५.१६	,, ७
२१	निष्क्रमण	१६.५.१७	,, ८
२२	आहवनीयोपस्थान	१६.५.१८	,, ६
२३	समिदभ्याधान; आज्यहोम	१६.५.१६,२०	,, १०
२४-२६	समिदभ्याधान	१६.१.१२	
२७	सुरासंसर्जन	१६.१.२१	
२८	पूतसुरादान	१६.२.६	
२६	धानाहोम (स्मार्त कर्म)/पुरोडाशपुरोनुवाक्या		
३०	सामगान	१६.५.२	१२.८.३.२४-२८
३१	पयोनुमन्त्रण	१६.२.११	
३२	त्रयस्त्रिंशवसाग्रहग्रहण	१६.४.२४	
३३	ग्रहसादन	१५.१०.१२	
३४-३५	शेषावघ्राणन	१६.५.६	

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

*३६-४६	ऐन्द्रपशुप्रयाजयाज्याएं	१९.६.१२	
४७-४८	ऐंद्र वपायाग-याज्यानुवाक्याएं	१९.६.१३	
४९-५०	ऐंद्र पुरोडाशयाग- ,, ,,	,, ,,	
५१-५२	ऐंद्र पशुयाग ,, ,,	,, ,,	
†५३-५४			
५५-६६	त्रिपशु-प्रयाजयाज्याएं	१९.६.१५	
६७-६९	वपा-याज्यानुवाक्याएं	१९.६.१६	
७०-७२	पशुपुरोडाश- ,,	१९.६.१८	
७३-७५	हविः- ,,	१९.६.१९	
७६-७७	ग्रह- ,,	१९.६.२०	१२.८.२.३४-३५
७८-७९	पशुस्विष्टकृद्-याज्यानुवाक्याएं	१९.६.२१	
८०-९०	शस्त्रशंसन	१९.७.१	

* यहाँ से हौत्र कर्म आरंभ होते हैं। इससे पूर्व आध्वर्यव कर्म के मंत्र थे।

† इन दो मन्त्रों का कोई विनियोग नहीं मिलता है।

परिशिष्ट २

व्याख्या में चर्चित प्रसंग

[संख्या अध्याय में मन्त्र की संख्या की सूचक है।]

अग्नि २२-२५,३६-४६,५५,७८, ७९
अण्ड ९
अध्वर्यु ३,१२
अन्न ६३
अभय ५१
अभिषेक ३
अश्व ७८,८१
अश्वी ३,३३,५३,५५-६९,६३-७७,८०-८३,९०
अहंकार ११-१३,१६
आकर्षण २
आत्मा २,१३,१४,१७,२१-२३, ३५,४२,४५,७८,७९
आदित्य ३९,७०,७५
आनन्द ४,६,३९,४६
आप्री ३६
आसन्दी १
इट् ५८
इन्द्र ३,३३,३६-४१,४३-६३,६६-७१,७३-७७,८७-९०
इन्द्रिय ५६,५७,६१
उक्षा ७८
उद्गाता १२
उषा ३६,४१,६१
ऊर्क् ५८
ऋतु ७६
ऋषभ ७८
कर्म ७४-७७,८९
कवित्व ७७
काम ११,१२,६०,७०,७८
कारोतर-प्रक्रिया २७
काल ६१,७६
क्रोध ६
क्षत १-३,७
क्षत्र १,७
गान ३०
गौ ७८,८१
ग्रह ७६
घर्म ५५
चक्षु (नेत्र) ३,११,१२,९०
चक्षु-श्रोत्र ३४
छन्द १
जल १८,१९,८६
जीवन १२,१३,३४,३७,४१

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ज्योति १,२१,२३,३०,४२,४३, ६३,६५
तम २०,२१
तन्मात्रा ११,१२
तेज १
त्वक् १३
त्वष्टा ४४,६४
दिशा ६०
दीक्षा २४
देव ११,१२,१८,२५,४६
देवी ४३
द्वार ३६,४०,६०
द्वेष ५१
धी ८७,८८
धैर्य ६
नक्त ४१,६१
नर २३,३७
निषादराज २
पय ४१,४३
परमात्मा ३२
परिस्रुत् ५९
पशु/पशुता ३६,४४,४५,७८
पशुयज्ञ ३६,४६,४७
पाप/पाप्मा १४-१८,२०,२१,३०, ३२,५९,६७
पिता ७७
पीठ ८
पुरोडाश २९,४२,४९,७०
पुरोडाशयाग ४७,७०
पूषा ३
प्रकृति ३,१९-२३,२६,८६
प्रज्ञा १
प्रयाज ३६
प्रवर्ग्ययाग ५५
प्राण १,३,५,८,१०,११,१५,२५, ३०,३४
बाहु ३,७
बुद्धि १-३,१२,२८-३०,३३,३६, ३७,५१,८६,६१,६५,६७, ७२,७३
ब्रह्म ४, ११,५०
ब्रह्मवर्चस् ५५
भग ७०
भगवान् ७
भीड़ १७
भैषज्य ५७,७४,७५,७८,८०
मन ३४,७०–७३
मयूर ५३
मस्तिष्क २९,४२,७७
महावीर ५५
मांस १३
माता ७७
मृत्यु २
मेष ७८
यजमान ७०-७३
यज्ञ १,१०,१२,१७,७८,८१
यश ५
याज्या ३६
रक्षा ११,७७
रयि ५८,८३
रस १९
राजा १,२,४,५,१०
राष्ट्र १, १०
रूप ४१,४४,६४
लोभ २
लोम १३
वपायाग ४७,६७
वरुण ७०,७१
वशा ७८
वसु ३९
वाक् ५,६,१२,३४,५४,५८,६१, ६२
विवेक २५,२६,३०,४३,४६,४८, ५०,५२,५३,५५,५९,६१, ६३,६५,७७,९०
विष्णु २१
वीर्य ९०
वृत्र ३६,४६
वैदिक भाषा ८३
व्रत २,२४
शरीर २०,२१,२३,२४
श्रद्धा २४
श्री ५
सत्य ४,१२
समाज १७,१९
समुद्र १९
सम्राट् १-३
सविता ३,११,७०,७१
सरस्वती ३,३३,४३,५५-६९, ७३-७७,८४-८६,९०
संसार १९
साधक २-५,२२,२३,५४
साधना १४,२७,३९,४७,५१
साम ३०
साम्राज्य २
सुख ३९, ६४
सुरा २७,५९,७६,७७
सोम २७,३४,३५,५५,५७,५९, ६३,७६-७८,८७,९०
सौत्रामणी ५१,७४,९०
सौन्दर्य ६१
स्वाध्याय ८५

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

स्विष्टकृत् ७८
हरि ३८,३९,४१
हवि ३७,४२,७३,७९
हस्त ३,७
हृदय ७७
होता १२,४२,६२

परिशिष्ट ३

व्याख्या में विवेचित मन्त्रपद और धातुएं

[संख्या अध्याय में मंत्र की संख्या की सूचक है।]

अच्छ ४९
अण्वी ८७
अद्रि ३१
अन्तर ८२
अपूपवान् २९
अभिष्टि ३८
अभिष्टि-कृत् ४८
अ-मृत ५,४६
अरण्य १७
अर्णस् ८६
अर्वाचीन ४९
अवसृष्ट ७८
अविता ५०
अश्व १०,७३
आ-गति १३
आ-जुह्वान ३८
आ-नति १३
आपः १८,१९
आप्री ३६
आ-हुत ७८
आ-हुति १२
आ-ह्वान ५८
इडा ४३, ५८
इन्दु ४६
इन्द्र २६,२८,३६,५४,६५,७५
इन्द्रिय ३,१७,५६,५७,६९,७०, ७३,७५
ईडित ३८
उक्थी २९
उग्र ४८
उत्-सेक २८
उप-याम ३३
√ऋ ८६
ऋक् १२
एधः २३
ओषधि १९
कम् ४
किन्त्व २८
करम्भी २९
कवष्य ४०
कीलाल ६५
क्षत्र १,१०,२५,४७
गोत्र-भिद् ३८
गो १०,३७,७३
ग्राम १७
घर्म ५५
घृत ४५
चनः ८९
चन्द्री ३७
चारु-मति ४८
चित्र-भानु ८७
जनयः ४३
जाग्रत् १६
तना ८७
तनू-नपात् ३७
ता ८३
तीव्र ६३
तुरा-साट् ४६
तूतुजान ८९
त्राता ५०
दुःशंस ८२
देव ११,३०
देवी ४०,४३
दैव्य ४२
धर्म ९
धानावान् २९
धावमान ४०
धिष्ण्य ८३
धी ६७, ८४
धृत-व्रत २
नग्नहु ५७
न-मुचि ५९,६७,७०
नर ७४
नरा शंस ३७
नाभि १
नासत्य ७४
नृ-पति ४८
नृ-पाय्य ८१
पथः ५६
परः ८२
परि-सेक २८

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परि-स्रुत् ५९,८३,६५,६६
पशु ६९
पिशङ्ग-संदृश ८३
पुरम्-दर ३८
पुरु-त्रा ४२
पुरु-हूत ५०
पुरोनुवाक्या १२
पुरो-हित ११
पुष्ट १०
पूर्व-कृत् ३६
पूर्वी ४७
पृतन्यु ४८
पृष्ठी ८
प्रथम ४२
प्रथमाना: ४०
प्र-चेता ३७
प्र-सव ३
प्राचीन ३९,४२
बभ्रु २८
बल ७३
बृहत् ३०
बृहस्पति ११
ब्रह्म २५
भग ८०,७०,७२
भूरि-रेता: ४४
भैषज्य ३
मघ ६७,६८
मघ-वा ४९,७७
मद २८,६३
मधु ३७,४२,४५,५७,६४-६६,९०
मन्यु ६
मयूर-रोम ५३
मरुत् ३०
मर्त्य ८२
महत् ३२
मही ४३
मासर ६६
यजु १२
यज्ञ ३७
यज्ञिय ५२
यश ७९
याज्या १२
योनि १
रयि ५८,७९
राजा ५
राध: ४९
रुद्र ८१
रोदसी ६०
लोक २५,३२
वज्र-बाहु ३६,३८,४८,५४
वनस्पति ६५
वरिवो-विद् ८३
वरुण २,१८,७०,७२
वल ६७
ववृधान ३६,४७
वषट्-कार १२
वसिष्ठ ५४
वसु १३,६७,८३,८४
वाज ७९
वायु २६
वि-ज्ञान ९
वि-द्योत् २
वि-रप्शी ४९
वि-राट् ५,१०,५५
वि-लायक ३४
विश्व-तूर्ति ४३
विश्व-वेदा: ५१
वीर्य ७३
वृत्र ३०,३६
वृत्र-हा ७५
वृषभ ४६
वृष-यमाण ४६
वृषा ४०,४४,८३
वेधा ७८
वैश्य १७
शक्र ५०
शत-क्रतु ७५
शमिता ४५
शशमान ६५
शुक्र ५९,६७
शूद्र १७
शूर ३७,४६
श्री: ७२
संज्ञान ६१
सं-सर्जन २२
समिद्ध ५५
समिध् २३
समावर्तन २३
सरस्वती ४३
सविता ७०,७२
समृद्धि १२
सम्राट् ५
साम १२
सु-क्रतु २
सुत ५५,५६
सु-त्रामा ५१,७०
सु-दुघा ४१
सु-पेशस् ७४
सु-मति ५२
सु-मृडीक ५१
सु-राधस् ११
सु-रुक्मे ४१

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सु-वीर ४०,७९
सु-हव ५०
सूनृत ८४
सूर्य १६
सेचन २८
सौमनस ५२
स्तोक ४६
स्वः २१
स्वप्न १६
स्वराट् ६
स्ववान् ५१
स्वस्ति ५०
स्वाहा ११,४६,६६
हरि ३८,५३,८९
हवि ४३,६७,६९
हविषा शर्द्धमानः ३८
हिरण्य ३७
हिरण्य-वर्तनी ७४
हृद् ७८
होता ४२

परिशिष्ट ४

व्याख्यागत उद्धरण

[संख्या अध्याय में मंत्र की संख्या की सूचक है।]

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः। ७
आसन्दीसद् वै साम्राज्यम्। २
उशती सुवासाः। ४३
किं स्विद् वनं····। ४५
क्षत्रं वै साम ···साम्राज्यं····सर्वेषां····यत् साम। ३१
न कर्म लिप्यते नरे। ७४
बुद्धिर्यस्य बलं तस्य। ८०
ब्रह्म तद् वनम्। ४५
यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। १२
यमेवैष वृणुते तेन····। ५०
यस्तु क्रियावान् स पण्डितः। ८९
रसोप्यस्य ···निवर्तते। १९
राष्ट्रं वा आसन्दी। १
वागोजः। ९०
श्रद्धया सत्यमाप्यते। १३,२४
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। ११,१२,५०
सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः। १२
'स्वः पश्यन्त उत्तरं' इत्ययं वै लोकोद्भ्य उत्तरः।२१

परिशिष्ट ५

वेदव्याख्या-ग्रन्थ [२०वां पुष्प] में व्याख्यात, यजुर्वेद [२०वां अध्याय] के [९०] मन्त्रों की

वर्णानुक्रम-सूची

[जो [३०] मन्त्र अन्य वेदों में भी विद्यमान हैं उनके प्रतीकों के बाद* चिह्न है।]

मन्त्र-प्रतीक	अध्याय में मन्त्र-संख्या	यजुर्वेद में मन्त्र-संख्या	'ग्रन्थ' में पृष्ठ-संख्या
अध्वर्यो अद्रिभिः सुतं*	३१	११५२	१३१५
अपो अद्यान्वचारिषं	२२	११४३	१३०९
अभ्या दधामि समिध-	२४	११४५	१३११
अंशुना ते अंशुः	२७	११४८	१३१२
अश्विनकृतस्य ते	३५	११५६	१३१८
अश्विना गोभिरिन्द्रिय-	७३	११९४	१३४७
" तेजसा चक्षुः*	८०	१२०१	१३५४

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

			१३३९
अश्विना नमुचेः सुतं	५९	११८०	१३५९
" पिबतां मधु	९०	१२११	१३४२
" भेषजं मधु	६४	११८४	१३४४
" हविरिद्रियं	६७	११८८	१३५३
अहाव्यग्ने हविरास्ये*	७९	१२००	१३३८
आजुह्वाना सरस्वती-	५८	११७९	१३३०
आ न इन्द्रो दूरादा*	४८	११६९	१३३०
" " हरिभिर्*	४९	११७०	१३३४
" मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्*	५३	११७४	१३२८
" यात्विन्द्रोवस*	४७	११६८	१३२२
इन्द्रः दुरः कवष्यो*	४०	११६१	१३३२
इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ*	५१	११७२	१३५८
इन्द्रा याहि चित्रभानो*	८७	१२०८	१३५९
" " तूतुजान*	८९	१२१०	१३५८
" " धियेषितो*	८८	१२०९	१३३८
इन्द्रायेन्दुं सरस्वती	५७	११७८	१३२१
ईडितो देवैर्हरिवाँ	३८	११५९	१३०८
उद् वयं तमसस्परि*	२१	११४२	१३१६
उपयामगृहीतोस्य-	३३	११५४	१३४०
उषासानक्तमश्विना	६१	११८२	१३२३
उषासानक्ता बृहती*	४१	११६२	१३४३
ऋतुथेन्द्रो वनस्पतिः	६५	११८६	१३१०
एधोस्येधिषीमहि	२३	११४४	१३३५
एवेदिन्द्रं वृषणं*	५४	११७५	१३४०
कवष्यो न व्यचस्वती-	६०	११८१	१२९३
कोसि कतमोसि	४	११२५	१२८९
क्षत्रस्य योनिरसि	१	११२२	१३४४
गोभिर्न सोममश्विना	६६	११८७	१३५४
गोमदू षु णासत्या-*	८१	१२०२	१३५७
चोदयित्री सूनृतानां*	८५	१२०६	१२९५
जिह्वा मे भद्रं वाङ् महो	६	११२७	१३२१
जुषाणो बर्हिर्हरिवान्	३९	११६०	१३३७
तनूपा भिषजा सुते-	५६	११७७	१३४५
तमिन्द्रं पशवः सचा-	६९	११९०	

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तस्य वयं सुमतौ*	५२	११७३	१३३३
ता न आ वोढमश्विना*	८३	१२०४	१३५६
,, नासत्या सुपेशसा	७४	११९५	१३४८
,,, भिषजा सुकर्मणा	७५	११९६	१३४९
तिस्रस्त्रेधा सरस्वत्य-	६३	११८४	१३४२
तिस्रो देवीर्हविषा*	४३	११६४	१३२५
त्रया देवा एकादश	११	११३२	१२९८
त्रातारमिन्द्रमवितार-*	५०	११७१	१३३१
त्वष्टा दधच्छुष्म-	४४	११६५	१३२६
देवस्य त्वा सवितुः	३	११२४	१२९२
दैव्या मिमाना मनुषः	४२	११६३	१३२४
द्रुपदादिव मुमुचानः	२०	११४१	१३०७
धानावन्तं करम्भिण-*	२९	११५०	१३१४
न यत् परो नान्तर*	८२	१२०३	१३५५
नराशंसः प्रति शूरो	३७	११५८	१३२०
नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं	९	११३०	१२९६
नि षसाद धृतव्रतो*	२	११२३	१२९१
पातं नो अश्विना दिवा	६२	११८३	१३४१
पावका नः सरस्वती*	८४	१२०५	१३५६
पुत्रमिव पितरावश्विनो-*	७७	११९८	१३५१
पृष्टीर्मे राष्ट्रमुदरमंसौ	८	११२९	१२९६
प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि	१०	११३१	१२९७
प्रथमा द्वितीयैर्द्वितीयास-	१२	११३३	१२९९
प्राणपा मे अपानपाश-	३४	११५५	१३१७
बाहू मे बलमिन्द्रियं	७	११२८	१२९५
बृहदिन्द्राय गायत*	३०	११५१	१३१४
महो अर्णः सरस्वती*	८६	१२०७	१३५७
य इन्द्र इन्द्रियं दधुः	७०	११९१	१३४६
यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च	२५	११४६	१३११
यत्रेन्द्रश्च वायुश्च	२६	११४७	१३१२
यदापो अघ्न्या इति	१८	११३९	१३०५
यदि जाग्रद् यदि स्वप्न	१६	११३७	१३०३
,, दिवा यदि नक्त-	१५	११३६	१३०३
यद् ग्रामे यदरण्ये	१७	११३८	१३०४

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यद् देवा देवहेडनं	१४	११३५	१३
यमश्विना सरस्वती	६८	११८९	१३
यस्मिन्नश्वास*	७८	११९९	१३
युवं सुराममश्विना*	७६	११९७	१३
यो भूतानामधिपतिर्	३२	११५३	१३
लोमानि प्रयतिर्मम	१३	११३४	१३
वनस्पतिरवसृष्टो न	४५	११६६	१३
वरुणः क्षत्रमिन्द्रियं	७२	११९३	१३
शिरो मे श्रीर्यशो	५	११२६	१२
समिद्ध इन्द्र उषसा-	३६	११५७	१३
समिद्धो अग्निरश्विना	५५	११७६	१३
समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः	१९	११४०	१३
सविता वरुणो दधद्	७१	११९२	१३
सिञ्चति परि षिञ्चन्त्युत्	२८	११४९	१३
स्तोकानामिन्दुं प्रति	४६	११६७	१३

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वेद-संस्थान (अजमेर, दिल्ली) के संस्थापकाध्यक्ष, वेदमर्मज्ञ सन्त, श्री स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' (१८९९-१९७८ ई.) ने वेद और योग, दोनों को रहस्य और क्लिष्टता की गुहाओं में से निकाल कर लोकसुलभ, सरस, जीवनोपयोगी और जनमंगल का माध्यम बनाने में अद्‌भुत सफलता पाई। अपनी मधुर, निजता और प्रेम से सराबोर, सरस-सरल वाणी से और अपनी तत्त्वोन्मेषिणी लेखनी से उन्होंने सहस्रों वेदमंत्रों के रहस्य अनावृत कर अपने साक्षात्कृतधर्मा ऋषित्व को उजागर किया।

वेदों के परवाने 'विदेह' की अमर ग्रन्थमाला, **वेदव्याख्या-ग्रन्थ** के अधूरे कार्य को पूरा करने की दिशा में, संस्थान के अध्यक्ष, तरुण वेदचिंतक, डॉ. अभयदेव शर्मा दत्तचित्त हैं। उनके प्रयत्न की प्रथम, अविकल फलश्रुति इस २०वें पुष्प के रूप में प्रस्तुत है। इसमें यजुर्वेद के २०वें अध्याय की स्वोपज्ञ, साथ ही पारंपरिक वैदिक चिंतन से समर्थित व्याख्या है। इसमें श्री स्वामी 'विदेह' की वेदमंत्रों की क्रमिक संगति लगाने की आत्मावस्थिति-मूलक, अन्तःश्रवण और अन्तर्ज्योति से सहचरित प्रयास-सरणि का अनुसरण करते रहने की चेष्टा भी अन्तर्निहित है।

सात रुपए

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

स्वामी विद्यानन्द 'विदेह'

वेदव्याख्या-ग्रन्थ

उन्तालीसवां पुष्प

(यजुर्वेद के ३९वें अध्याय की व्याख्या)

विषय : साधना विज्ञान

वेद संस्थान
अजमेर

दो रुपए

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यजुर्वेद-व्याख्या

उन्तालीसवां पुष्प

साधना-विज्ञान

स्वामी विद्यानन्द 'विदेह'

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सर्वाधिकार लेखकाधीन

प्रथम संस्करण : आश्विन, २०३४ वि : अक्तूबर, १९७७ ई
१,२०० प्रतियां

मूल्य : दो रुपए

卐

प्रकाशक : वेद-संस्थान, बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर; मुद्रक : प्रिंट हाउस, अजमेर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विषयक्रम

विषय	मंत्र-सं.	पृष्ठ-सं.
साधना	१-२	१-४
ऋषित्व	३-४	४-७
साधक का व्यक्तित्व	५	७-९
सृष्टिरचना-क्रम	६	९-१०
सामाजिक साधना	७-९	१०-१५
वैयक्तिक ,,	१०-१३	१५-१९

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यजुर्वेद-व्याख्या

उन्तालीसवां अध्याय

साधना-विज्ञान

१९४६ **स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः। पृथिव्यै स्वाहा ऽग्नये स्वाहा ऽन्तरिक्षाय स्वाहा वायवे स्वाहा। दिवे स्वाहा सूर्याय स्वाहा।** य ३९.१

स्वाहा प्राणेभ्यः स-अधि-पतिकेभ्यः। पृथिव्यै स्वाहा अग्नये स्वाहा अन्तरिक्षाय स्वाहा वायवे स्वाहा। दिवे स्वाहा सूर्याय स्वाहा।

स्वाहा शब्द अनेकभाववाची है—

१) स्वाहा=सु-आ-हा। सु=अच्छा। आ=पूर्ण। हा=त्याग। शुभ—श्रेष्ठ का सर्वहिताय पूर्ण त्याग [अर्पण] करना स्वाहा है। सु की आहुति देना स्वाहा है।

२) स्वाहा=स्व+आ+हा। स्व सर्वस्व सर्वार्थ सर्वथा त्याग करना स्वाहा है। स्व की आहुति देना स्वाहा है।

३) स्वाहा=सु-आहा। शुभ—श्रेष्ठ के लिए आह्वान करना स्वाहा है।

४) शुभ और महान् साधों की साधना के लिए सुहुत [अर्पित] होना स्वाहा है।

५) स्वाहा नाम अर्पण का है। अर्पण के बिना तर्पण असम्भव है।

६) स्वाहा नाम प्राह्लाद तथा आनन्द का है। स्वाहा सर्वानन्दों का मूल है।

७) स्वाहा नाम अर्पण और पूर्णता का है। अर्पित होकर पूर्णता का सम्पादन किया जाता है।

८) स्वाहा नाम अर्पण और सिद्धि का है। अर्पित होकर साधना किए जाने पर ही सिद्धि होती है।

यजुर्वेद का ३९वां अध्याय साधना-अध्याय है। इसका नाम स्वाहा-अध्याय भी है। स्वाहा और साधना का अभिन्न और अटूट सम्बन्ध है। स्वाहा के बिना साधना असम्भव है। साधना भौतिक हो वा अभौतिक, दोनों ही का मुख्य साधन और मुख्य आधार **स्वाहा** है। वैज्ञानिक जब किसी भौतिक विज्ञान के लिए अर्पित होजाता है तभी वह लक्षित विज्ञान के रहस्यों का उद्घाटन करके विविध आविष्कार करता है। अध्यात्म विज्ञान का साधक जब अर्पित होकर साधना करता है तभी वह तत्त्व का संदर्शन करता है और ब्राह्मी स्थिति में स्थित रहता है।

मानवशरीर में ग्यारह प्राण हैं—

१) प्राण=प्र-आन। जो श्वास बाहर से प्रकृष्ट [शुद्ध] वायु का नासिका द्वारा संचार करता है उसकी संज्ञा प्राण है।

२) व्यान=वि-आन। श्वासगत प्राण जब सारे शरीर में व्यापता है तब उसकी संज्ञा व्यान होती है।

३) अपान=अप-आन। जो प्रश्वास शरीर के अपों, त्याज्य मलों को लेकर नासिका द्वारा बाहर निकलता है वह अपान है।

४–११) आठ चक्रप्राण हैं जो आठों चक्रों का शोधन, बोधन तथा नियमन करते हैं—

चक्र-नाम	स्थान	आधिपत्य
ब्रह्म	ब्रह्माण्ड	ध्यान का अधिपति
आज्ञा	भौओं के मध्य	चिन्तन का अधिपति
जीवन	नासिका-मुखमूल	घ्राण का अधिपति
विशुद्ध	कण्ठमूल	ध्वनि का अधिपति
अनाहत	हृदय	स्नेह और भावना का अधिपति
मनीपुर	नाभिकेन्द्र	संयम का अधिपति

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

स्वाधिष्ठान मूत्रेन्द्रियमूल ब्रह्मचर्य का अधिपति
मूलाधार गुदामूल उर्ध्वरेतस्त्व का अधिपति

उपर्युक्त ग्यारह प्राणों में से, प्राण, व्यान, अपान स्थूल और सामान्य प्राण हैं। ये जीवनप्राण हैं। इनसे प्राणी जीते और बढ़ते हैं।

आठ चक्रप्राण सूक्ष्म प्राण हैं। उत्थान और उत्कर्ष की भावना से इनके साधे जाने से मानव को आधिपत्य की क्षमता प्राप्त होती है। वेदमाता कहती है—

१) साधक ! (स-अधि-पतिकेभ्यः प्राणेभ्यः स्वाहा) साधिपतिक प्राणों के लिए सु-आहुति। सतत अभ्यास की आहुति देकर अपने साधिपतिक प्राणों की साधना कर, और अपने जीवन के उत्थान और उत्कर्ष का पथ प्रशस्त कर।

२) (पृथिव्यै स्वाहा) पृथिवी के लिए स्वाहा। पृथिवी असंख्य वसुओं और विज्ञानों की खान है। अर्पित होकर उनकी खोज कर, और पृथिवीवासियों को निहाल और खुशहाल कर। साथ ही, पृथिवी के सुगन्ध, सहन, धारण और पोषण गुणों को अपने आपमें स्थापन कर। पृथिवी सुगन्धमयी है; तू सुगन्धिमय हो। पृथिवी सबको सहती, धारती, सहारती है; तू सहनशील और धारक बन।

३) (अग्नये स्वाहा) अग्नि के लिए स्वाहा। अग्नि-विज्ञान के संज्ञान के लिए अर्पित होकर सतत साधना कर, नाना प्रकार के आग्नेय प्रयोग करके मानवों को सुख, सुविधाएं और सम्पदाएं प्रदान कर। साथ ही, अग्नि के पावक, दाहक, प्रकाशक, अग्रनयन गुणों को अपने जीवन में धार। अग्नि पावक है; तू पावक बन और जन जन को पवित्र कर। अग्नि दाहक है; तू दाहक बनकर पाप और वासनाओं को भस्म करदे। अग्नि प्रकाशक है; तू प्रकाशक बनकर प्रकाश कर और अन्धकार को मिटा। अग्नि अग्रणी है; तू विश्व का अग्रणी बन।

४) (अन्तरिक्षाय स्वाहा) अन्तरिक्ष के लिए स्वाहा। अर्पिति के साथ अन्तरिक्ष की खोज कर, और अन्तरिक्ष के समान उदाराशय तथा महाशय बन।

५) (वायवे स्वाहा) वायु के लिए स्वाहा। अर्पित होकर वायु-विज्ञान की खोज कर, और वायु के समान वेगवान् बनकर विश्व को हिला और जगा।

६) (दिवे स्वाहा) द्यौ के लिए स्वाहा। अर्पित होकर द्युलोक की, द्यौ में स्थित लोक-लोकान्तरों की गणना तथा खोज कर, और द्युलोक की तरह दिव्य गुणों से अपने आपको और अन्यों को द्योतित कर।

७) (सूर्याय स्वाहा) सूर्य के लिए स्वाहा। अर्पित होकर, तन्मयता के साथ सौर विज्ञान की खोज कर, और सूर्य की रश्मियों के प्रयोग से संसार के विविध अभावों की पूर्ति कर। साथ ही, सूर्य के तेज, प्रकाश, क्षारहरण, आवृतावर्तन, मेघकरण गुणों को अपने जीवन में धारण कर। सूर्य के समान तेजस्वी, आकर्षक, प्रकाशक, क्षार [दुरित] नाशक, और आनन्दघनकारक बन।

स्वाहा साधिपतिक प्राणों के लिए।
पृथिवी के लिए स्वाहा, अग्नि के लिए स्वाहा।
अन्तरिक्ष के लिए स्वाहा, वायु के लिए स्वाहा।
द्युलोक के लिए स्वाहा, सूर्य के लिए स्वाहा।

१९४७ **दिग्भ्यः स्वाहा चन्द्राय स्वाहा नक्षत्रेभ्यः स्वाहा ऽद्भ्यः स्वाहा वरुणाय स्वाहा। नाभ्यै स्वाहा पूताय स्वाहा।** य ३९.२

दिक्-भ्यः स्वाहा चन्द्राय स्वाहा नक्षत्रेभ्यः स्वाहा अत्-भ्यः स्वाहा वरुणाय स्वाहा नाभ्यै स्वाहा पूताय स्वाहा।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१) (दिक्-भ्यः स्वाहा) दिशाओं के लिए सु-आहुति/स्व-आहुति।

दिशाएं विशाल हैं, और उनमें अमित धनैश्वर्य भरा हुआ है। दिग्विज्ञान की कोई सीमा नहीं है। दिग्विज्ञान के लिए अर्पित-होनेवाले ही असंख्य विज्ञानों का उद्घाटन तथा आविष्कार करते हैं। स्वाहाकारी ही दिशा-विदिशाओं में व्यापकर राज्य-साम्राज्यों की स्थापना करके विपुल धनैश्वर्यों का सम्पादन तथा संवर्धन करते हैं। प्रदिशाओं में सुहुत होनेवाले ही अपने कला-कौशल, सभ्यता, संस्कृति तथा धर्म का विश्व में प्रसार करते हैं। दिशाओं को अर्पित होनेवाले ही विश्व का सुधार और सुनिर्माण करते हैं।

२) (चन्द्राय स्वाहा) चन्द्रमा के लिए सुहुत।

चन्द्रमा को सुहुत होनेवाले चन्द्रलोक में पहुंचकर चन्द्रमा का साक्षात्कार करते हैं और चान्द्र विज्ञान की खोज करते हैं। साथ ही, वे चन्द्रमा के प्राह्लाद, प्रसन्नता, सुमुखता, प्रियता, मनोहरता, कलान्वितता, आदि गुणों से सुशोभित होकर शान्ति तथा सोम्यता लाभ करते हैं।

३) (नक्षत्रेभ्यः स्वाहा) नक्षत्रों के लिए अर्पिति।

नक्षत्रों के विज्ञान की स्पृहा है तो नक्षत्रों की विद्या के लिए अर्पित होकर संसाधना कर। नक्षत्र-विज्ञान-विशारदों ने जो अगणित प्रकाशलोकों और पृथिवीलोकों का संज्ञान प्राप्त किया है वह सब उन्होंने अर्पित होकर ही किया है।

४) (अद्-भ्यः स्वाहा) जलों के लिए स्वाहा।

जल विश्व की भेषज है। जलचिकित्सा-पद्धति एक श्रेष्ठ चिकित्सा-पद्धति है। जल जहां रोग-निवारक है वहां शोधक और शान्तिकर भी हैं। जल ही सींचते और हरा-भरा करते हैं। जल शामक हैं। जल मूर्छा को दूर करके चेतना प्रदान करते हैं। तू जल के गुणों से अन्वित होकर विश्व की शान्त चिकित्सा कर, विश्व का शोधन कर, आत्मशमन के आश्रय से विश्व में शान्ति की स्थापना कर, सुविचारों और सुभावनाओं से सींचकर संसार को हरा-भरा कर, अपने सदुपदेशों से मानवसमाज में प्रचेतना का संचार कर, स्वयं कलान्वित होकर जगती को सर्वतः कलान्वित कर।

५) (वरुणाय स्वाहा) समुद्र के लिए सुहुत।

समुद्र वरणीयताओं का आगार है। उसकी ऊपरी सतह पर तैरेगा तो क्षार तथा मछलियों के अतिरिक्त और कुछ तेरे हाथ न लगेगा। गहरा जाएगा तो बेशक़ीमत गौहर पाएगा। यह संसार जिसमें तू निवास करता है एक महासागर है। यहां हर बात गहराई के साथ कर। **जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।** समुद्र को अर्पित होनेवाले समुद्र को पार करके देश-देशान्तरों में गए, और लक्ष्मी तथा लक्ष्य की सिद्धि करके पृथिवीपति बने। संसारसागर इतना विशाल है कि पार जाने के लिए उस पर कोई पुल नहीं बनाया जा सकता है। ब्रह्मनौका में बैठकर ही तू वहां पहुंच सकता है जहां शाश्वत शान्ति और अक्षय आनन्द है।

६) (नाभ्यै स्वाहा) नाभि के लिए सुहुत।

अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः (ऋ १.१६४.३५, य २३.६२)। यह यज्ञ [श्रेष्ठतम कर्म] विश्व-भुवन की नाभि है। श्रेष्ठ कर्म ही इस विश्वचक्र का केन्द्र-बिन्दु है, जिससे मानव और मानवता, दोनों सम्यक् सम्बद्ध रहने चाहिएं। यज्ञ की नाभि से, श्रेष्ठतम कर्म के अविचल केन्द्र से अविचलता के साथ सुहुत, सुसम्बद्ध रहकर संसार में नेकी का सुप्रवाह प्रवाहित करता और कराता रह।

७) (पूताय स्वाहा) पवित्रता के लिए स्वाहा।

यह स्वाहा की ध्वनि किसलिए, और किसलिए यह अर्पिति की झंकार? **पूताय,** पवित्रता के लिए। इसलिए कि तू स्वयं पवित्र रहे, और अपने परिवार, समाज, राष्ट्र तथा संसार को पवित्र करता रहे। यह संसार अतिथिशाला है। तू अतिथि है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अतिथि का धर्म है कि अतिथिशाला में गन्दगी न करे, उसे सदा साफ़-सुथरा रखे। हर अतिथि, जो यहां आया है, जब जाए तो अतिथिशाला को स्वच्छतर और शुद्धतर छोड़ कर जाए। When you leave the world, leave a better world behind. जब तुम संसार से जाओ तो एक बहतर संसार छोड़कर जाओ।

दिशाओं के लिए स्वाहा,
स्वाहा चन्द्र के लिए,
नक्षत्रों के लिए स्वाहा,
स्वाहा जलों के लिए,
समुद्र के लिए स्वाहा।
स्वाहा नाभि के लिए,
पवित्रता के लिए स्वाहा।

१९४८ **वाचे स्वाहा प्राणाय स्वाहा प्राणाय स्वाहा चक्षुषे स्वाहा चक्षुषे स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा।** य ३९.३

वाचे स्वाहा प्र-आनाय स्वाहा प्र-आनाय स्वाहा चक्षुषे स्वाहा चक्षुषे स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा।

जीवन की पवित्रता का आधार जीवन में निहित सप्त ऋषि हैं। **सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्** (य ३४.५५)। प्रत्येक मानव-शरीर में सात ऋषि संस्थित हैं। दो नेत्र, दो श्रोत्र, दो नासिकाछिद्र, मुख, ये सप्त ऋषि हैं जो प्रत्येक मानव के मूर्धा में आसीन हैं। इन ऋषियों के ऋषित्व की जब आत्मना रक्षा की जाती है तो वे सदा जीवन की सर्वतः रक्षा करते हैं और **पूताय स्वाहा** (य ३९.२) पवित्रतार्थं सुहुत रहते हैं। जब इन ऋषियों को ऋषित्व से भ्रष्ट कर दिया जाता है तो जीवन अरक्षित होकर सर्वथा निकृष्ट और पतित होजाता है।

मन्त्र में ऊपर से नीचे के बजाय, क्रम को नीचे से ऊपर की ओर लेजाया गया है। प्रथम **वाचे स्वाहा** पढ़ा गया है। वाणी से ऊपर दो नासिका-छिद्र हैं। उनके लिए दो बार **प्राणाय स्वाहा** पढ़ा गया है। दो नासिका-छिद्रों के ठीक ऊपर दो चक्षु हैं जिनके लिए दो बार **चक्षुषे स्वाहा** पाठ है। नासिका-छिद्रों के दोनों ओर दो श्रोत्र हैं जिनके लिए दो बार **श्रोत्राय स्वाहा** पाठ किया गया है।

आधार सबसे नीचे होता है। आधार जितना उत्तम होता है उतना ही उदात्त और सुदृढ़ भवन निर्मित होता है। जीवननिर्माण का आधार श्रोत्र है। जन्मते ही बालक सुनता है, बोलता है; देखता नहीं है। इसी लिए जातकर्म संस्कार में उसकी जिह्वा पर 'ओम्' लिखा जाता है और उसके कान में 'वेदो ऽसि' कहा जाता है, आंख के प्रति कुछ नहीं किया जाता है। सुनते सुनते कई दिन के बाद वह आंखें खोलना और देखना आरम्भ करता है। जीवनसाधना का आधार सुनना है। इसी से, आधाररूपेण, सबसे नीचे श्रोत्र का उल्लेख हुआ है, फिर चक्षु का, फिर प्राण का और फिर वाक् का।

पूर्व-मन्त्र के अन्त में कहा गया था, **पूताय स्वाहा,** पवित्रता के लिए सु की आहुति। जीवन में सु की आहुति देने से पवित्रता का सम्पादन होता है। जीवन एक यज्ञ है, यज्ञों का यज्ञ है, सर्वोपरि यज्ञ है। इसे सतत, सन्तत, निरन्तर यज्ञिय अथ वा शुद्ध, सुगन्धित रखने के लिए **(श्रोत्राय स्वाहा, श्रोत्राय स्वाहा)** श्रोत्र के लिए सु-आहुति, श्रोत्र के लिए सु-आहुति, दोनों श्रोत्रों के लिए सु की आहुति, **(चक्षुषे स्वाहा, चक्षुषे स्वाहा)** चक्षु के लिए सु-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आहुति, चक्षु के लिए सु-आहुति, दोनों चक्षुओं के लिए सु की आहुति। **भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम** (य २५.२१)=हम श्रोत्रों से भद्र श्रवण करें। कानों से भद्र सुनना, कानों में भद्र वचनों का पड़ना ही कानों के लिए सु-आहुति है। **भद्रं पश्येमाक्षभिः** (य २५.२१)=हम आंखों से भद्र देखें। आंखों से भद्रता के साथ भद्र दर्शन करना, आंखों में भद्रों और भद्रताओं का दर्शन होना ही आंखों के लिए सु-आहुति है। सुनने से आंखें खुलती हैं, ज्ञान और विवेक की प्राप्ति होती है। जो जैसा सुनता और देखता है वैसे ही उसके विचार और संस्कार बनते हैं। जैसे विचार और संस्कार होते हैं वैसा ही आचार होता है। आचार के अनुसार व्यवहार होता है। व्यवहार के अनुरूप परिणाम होता है। भद्र श्रवण और भद्र दर्शन से, भद्र श्रुति और भद्र दृष्टि से पवित्र विचारों और संस्कारों का सम्पादन होता है। विचारों और संस्कारों की पवित्रता से आचार की पवित्रता सिद्ध होती है। आचार की पवित्रता से परिवार, समाज, राष्ट्र और संसार का पवित्रीकरण होता है, **पूताय स्वाहा** की साध संसिद्ध होती है।

पवित्राचार ही (**प्राणाय स्वाहा, प्राणाय स्वाहा**) प्राण के लिए सु-आहुति है, प्राण के लिए सु-आहुति है। प्राण ही जीवन है। प्राण से ही जीवन है। जीवन वही धन्य है जो पवित्राचार से सुयुक्त है। प्राणवत् निर्विश्राम, निर्विषय, निर्विकार और निरासक्त रहते हुए, कर्तव्यनिष्ठा के साथ कर्मरत रहना ही प्राण की साध है, **प्राणाय स्वाहा है**।

जिस जीवन में पवित्राचार की स्थापना है और प्राणवत् कर्मसाधना है उसकी (**वाचे स्वाहा**) वाणी के लिए **सु-आहा** है, सुधन्यता है। उसी की वाणी में वह सत्य, वह प्रभाव और वह प्रकाश होता है कि उसके मुख से एक एक शब्द मानवजाति का त्राण और कल्याण करता चला जाता है।

वाणी के लिए स्वाहा।
स्वाहा प्राण के लिए,
प्राण के लिए स्वाहा।
स्वाहा चक्षु के लिए,
चक्षु के लिए स्वाहा।
स्वाहा श्रोत्र के लिए,
श्रोत्र के लिए स्वाहा।

१९४९ **मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय।**
पशूनां रूपमन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा। य ३९.४
मनसः कामम् आ-कूतिम् वाचः सत्यम् अशीय। पशूनाम् रूपम् अन्नस्य रसः यशः श्रीः श्रयताम् मयि स्वाहा।

सप्त ऋषियों के ऋषित्व की रक्षा के लिए, उनके ऋषित्व को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए मैं (अशीय) सेवन करूं, जीवन का अंग बनाऊं (मनसः) मन की (कामम्) कामना को, (आ-कूतिम्) आ-कूति को, (वाचः सत्यम्) वाणी के सत्य को।

कान्त, कमनीय, शुभ, श्रेष्ठ कामना के लिए ही **काम** शब्द का प्रयोग होता है। सप्त ऋषियों के ऋषित्व की रक्षा, निस्सन्देह, एक कमनीय कामना है।

आकूति नाम दृढ़ संकल्प तथा आत्मा की आवाज़ का है।

मन **हृत्प्रतिष्ठ** है (य ३४.६)। मन का स्थान हृदय है। इसी से **मन** शब्द का प्रयोग हृदय अर्थ में

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भी होता है।

हृदय की किसी भी कमनीय कामना की पूर्ति के लिए मन के दृढ़ संकल्प और आत्मा की अदम्य और उद्दाम ध्वनि की आवश्यता होती है। आत्मा की आवाज़ जब कामना की पूर्ति के लिए जौहर की प्रेरणा कररही होती है तब उसकी सिद्धि के लिए मन का संकल्प दृढ़ से दृढ़तर होता चला जारहा होता है।

कामना की पूर्ति के लिए आकूति के साथ, वाणी के सत्य की भी अनिवार्यता है। साधना में संकट उपस्थित होने पर साधक अपनी प्रतिज्ञा से विमुख होने लगता है और जनापवाद से बचने के लिए मिथ्या बहाने प्रस्तुत करता है। किसी भी कमनीय कामना के साधक को अपनी आकूति का पक्का और अपने वचन का सच्चा होना चाहिए। वाणी का सत्य संकल्प को स्थिर और आत्मध्वनि को सजग रखता है।

२) सप्त ऋषियों के ऋषित्व की रक्षा के लिए (मयि श्रयताम्) मुझमें आश्रय करे (पशूनाम् रूपम्) पशुओं का रूप, (अन्नस्य रसः) अन्न का रस, (यशः) यश, (श्रीः) सौन्दर्य, (स्वाहा) स्वाहा।

ऋषित्व के साधक के लिए आवश्यक है कि वह पशुओं के रूप को पहचाने और उन्हें निरुद्ध रखे। पशुओं का वास्तविक रूप यह है कि यदि उन्हें खुला छोड़ दिया जाए तो वे अपने-पराए, सबके बाग़ीचों और खेतों को चर जाते और उजाड़ देते हैं। आन्तर और बाह्य, जितनी इन्द्रियां हैं वे सब पशु हैं, पशुवत् हैं। उन पर आत्मा का पूर्ण नियन्त्रण रहता है तो ही वे जीवनसाधना में तथा ऋषित्व की रक्षा में सहायक बनी रहती हैं। अन्यथा, वे जीवनोद्यान को उजाड़कर ऋषित्व की साधना को भंग कर देती हैं। जितेन्द्रियता जीवन में जय, विजय प्राप्त कराती है। इन्द्रियविलास से सर्वतः ह्रास और विनाश होता है।

आदर्श जीवनसाधक अन्न के रस का सेवी होता है, अभक्ष्य और अपेय का सेवी नहीं। अन्न में जो पौष्टिक रस है वह अन्य पदार्थों में नहीं। जितने भी खाद्य और पेय सत्त्व के शोधक और पोषक हैं वे सब अन्न के रस की कोटि में आते हैं। अन्न से ही शारीरिक सब धातु, रस, वीर्य, बल, प्राण शुद्ध और पुष्ट होते हैं। अन्न ही मानवभोजन है। अन्न के सेवन से मानवीय भद्रताओं तथा गुणों का सम्पादन होता है।

यश में ही जीवन की सार्थकता है। यश जीवन है। अपयश जीते-जी मरण है। शुद्ध, शालीन, सदाचारयुक्त, धार्मिक जीवनशैली से जो यश प्राप्त होता है उसी में जीवन की सुधन्यता है।

श्री नाम उस स्वाभाविक सौन्दर्य का है जिसका निष्पादन कृत्रिम फ़ैशन और शृंगार से नहीं, अन्तःकरण की पवित्रता से होता है। जीवनसाधक अन्दर से जितना पवित्र होता है, बाहर से वह उतना ही श्रीमय, शोभनीय और दर्शनीय होता है।

मानव की सारी साधना और उसके सारे गुण निरर्थक हैं यदि उसके जीवन में स्वाहा की साध नहीं है। अपने सब शुभ, श्रेष्ठ को लोकहिताय स्वाहा करने के लिए ही तो जीवनसाधक सारी साधनाएं करता है। आत्मा को ब्रह्माग्नि में, और जीवन को लोकहिताग्नि में स्वाहा करते रहने में जो आनन्द है वह अन्यत्र और अन्यथा कहां! जीवनसाधक अपने पवित्र प्रेमघृत, अपनी पवित्र विचारसामग्री, अपनी पवित्र जीवनसमिधा से अपनी स्वाहाकृतियों द्वारा सदा, सर्वत्र मानवों के मानसों और जीवनों को शुद्ध और सुगन्धित करता है।

प्राप्त रहूं मैं
मन की कामना, आकूति को,
वाणी के सत्य को।
करे आश्रय मुझमें

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पशुओं का रूप, अन्न का रस, यश, श्री, स्वाहा।

सूक्ति : वाचः सत्यमशीय।
मैं वाणी के सत्य को सेवूं।

१९५० प्रजापतिः सम्भ्रियमाणः सम्राट् सम्भृतो वैश्वदेवः संसन्नो घर्मः प्रवृक्तस्तेज उद्यत आश्विनः पयस्यानीयमाने पौष्णो विष्यन्दमाने मारुतः क्लथन्। मैत्रः शरसि सन्ताय्यमाने वायव्यो ह्रियमाण आग्नेयो हूयमानो वाग्घुतः। य ३९.५

प्र-जा-पतिः सम्-भ्रियमाणः सम्-राट् सम्-भृतः वैश्व-देवः सम्-सन्नः घर्मः प्र-वृक्तः तेजः उत्-यतः आश्विनः पयसि आ-नीयमाने पौष्णः वि-स्यन्दमाने मारुतः क्लथन्। मैत्रः शरसि सम्-ताय्यमाने वायव्यः ह्रियमाणः आग्नेयः हूयमानः वाक् हुतः।

आकूति, सत्य और स्वाहा के आश्रय से अपने सप्त ऋषियों के ऋषित्व का विकास करता हुआ आत्मसाधक—

१) (सम्-भ्रियमाणः) सम्यक् भ्रियमाण होकर (प्र-जा-पतिः) प्रजाओं का पति बनता है।

भृ [भरणे] धातु से **भ्रियमाण** शब्द बना है। 'प्रजा' नाम इन्द्रियप्रजाओं तथा मानवप्रजाओं का है। 'पति' का अर्थ है स्वामी और रक्षा करनेवाला। जो अपने आपको मानवीय भद्रताओं, आत्माभाओं तथा ब्राह्म सम्पदाओं से आपूर भर लेता है वही अपनी इन्द्रियप्रजाओं का स्वामी बनकर मानव-प्रजाओं की पाप, ताप, सन्ताप से रक्षा करता है।

२) (सम्-भृतः सम्-राट्) सम्यक् भरा होने पर सम्यक् प्रकाशनेवाला बनता है।

जो सम्यक् राजता है, प्रकाशता है उसकी **संज्ञा सम्राट्** है। मानवीय भद्रताओं, आत्माभाओं तथा ब्राह्म सम्पदाओं से सम्यक् आपूर भरा रहने पर ही मानव सम्राट् बनता है। सम्राट् बनकर वह स्वयं सर्वत्र प्रकाशता है और मानवप्रजाओं को प्रकाशित करता है। प्राजापत्य ही साधक को सम्राट् बनाता है।

३) (सम्-सन्नः) सम्यक् स्थित [आत्म-अवस्थित] होकर (वैश्व-देवः) वैश्व-देव बनता है, सर्व दिव्यताओं से युक्त होता है।

सम्यक् स्थित अथवा आत्म-अवस्थित होकर ही, प्रत्यक्षतः, आत्मसाधक सारी दिव्यताओं से अलंकृत होता है। जो सम्यक् प्रकाशनेवाला है वही सर्व दिव्यताओं से संदिव्य बनता है।

४) (प्र-वृक्तः) प्र-वृक्त होकर (घर्मः) घर्म बनता है।

'प्र' का अर्थ है प्रकृष्ट, प्रकृष्टतया, सम्यक्। 'वृक्त' का अर्थ है विरक्त, अनासक्त, विरक्ति। **घर्म** का अर्थ है गर्मी। यहां **घर्म** शब्द का प्रयोग प्रेम की ऊष्मा, प्रेम की गर्मी अर्थ में हुआ है। आत्म-साधना के पकने पर साधक में विरक्ति अथवा अनासक्ति आती है। अनासक्त होकर ही मानव प्राणिमात्र को प्यार करता है। आसक्ति प्रेम को सीमित और संकुचित करती है। अनासक्ति प्रेम को व्याप देती है। आसक्ति में मनुष्य अपने सगे सम्बन्धियों को ही प्यार करता है। अनासक्ति संकोच की दीवारों को ढाकर, प्रेम और प्रेमी को सीमातीत कर देती है। कुछ के प्रति प्रेम ही आसक्ति का कारण है। सर्व के प्रति प्रेम साधक को अनासक्त बना देता है। वैश्वदेवत्व ही विश्वप्रेमी बनाता है।

५) अनासक्ति द्वारा (उत्-यतः) ऊंचा उठकर (तेजः) तेजस्वी बनता है।

संसार की सांसारिकता से, विकार-वासनाओं से ऊपर उठकर आत्मसाधक सूर्य के समान तेजोमय

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

बनता है।

६) (पयसि आ-नीयमाने) अमृत में लाए जाने पर, आनन्दामृत में निमग्न होने पर (आश्विनः) प्राण-अपानरूप अश्वियों के समान [सुधारक] बनता है। विश्वप्रेम की ऊष्मा उसे सुधारक बना देती है।

आत्मसाधक आत्मसाधना द्वारा जब आत्म-दर्शन तथा परमात्मसंदर्शन करता है तब उसका आनन्दामृत के महासागर में प्रवेश होता है। परिणामस्वरूप, वह प्राणवत् संजीवन का संचारक, और अपानवत् दोषों और दुरितों का निवारक बन जाता है। वह विश्व का सुधारक बन जाता है।

७) (वि-स्यन्दमाने) वि-स्यन्दनशीलता में, तरंगित रहता हुआ (पौष्णः) पूषा [पृथिवी] का पुत्र [आदित्य] बन जाता है। पोषण करनेवाली होने से पृथिवी को पूषा कहते हैं।

'स्यन्द' का अर्थ है तीव्र गमन, तेज़ी से चलना, तरंगित होना, प्रवाहित होना। **वि-स्यन्दमान** से तात्पर्य है समुद्र के समान तरंगित रहना। तरंगित रहता हुआ, आत्मसाधक पृथिवी का पुत्र, अदिति का सूनु बन जाता है। किसी एक देश-प्रदेश को नहीं, वह सारी पृथिवी को अपनी माता, और अपने आपको अदिति [सारी पृथिवी] का पुत्र समझता हुआ, **माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः**(अ १२.१.१२), पृथिवी मेरी माता है, और मैं पृथिवी का पुत्र हूं—यह प्रगान करता हुआ, वह पृथिवी पर निवास करनेवाली सम्पूर्ण मानवप्रजा को अपना अभिन्न परिवार मानता है। इस प्रकार, उसका व्यक्तित्व सार्वभौम बन जाता है।

८) (क्लथन्) हनन करता हुआ (मारुतः) मारुत बनता है।

क्लथ् हिंसायाम्। **क्लथन्** से आशय यहां दुःख, क्लेश, पाप, ताप, सन्ताप के हनन से है। म्रियते प्राणी यस्याभावे स मरुत्, जिसके अभाव से प्राणी मर जाते हैं उसे मरुत् कहते हैं। प्राणवायु मरुत् है क्यों कि उसके बिना प्राणी जीवित नहीं रह सकते। मरुत् नाम उस पवन का है जो समुद्र से बादलों को वहन करता हुआ सर्वत्र जलवृष्टि कराने में सहायक होता है। मरुत् नाम मेघवाहक पवन (Monsoon) का है। साधक का जीवन सार्वभौम बन जाता है तो वह पृथिवीस्थ सकल प्राणियों का मरुत् [संजीवन] बन जाता है। तब वह सर्व प्राणियों के दुःखों के कारणों का हनन करता हुआ उनके लिए सुख-सौभाग्यों का निष्पादक बन जाता है।

९) मरुत् बनकर वह (शरसि) शर के (सम्-ताय्यमाने) सम्यक् विस्तार किए जाने पर (मैत्रः) मैत्र बनता है, मैत्री से युक्त होता है, सबको मित्र की दृष्टि से देखता और मित्रवत् वर्तता है।

शृ गतौ धातु से **शर** शब्द बना है। सरणशील होने से बाण शर है, जल शर है, भलाई [भद्रता] शर है। सतत सरण करनेवाली होने से वृत्ति शर है, भावना शर है। यहां **शर** शब्द का प्रयोग मंगलभावना अर्थ में हुआ है। आत्मसाधना से आत्मसाधक के जीवन में मंगलभावनाओं का विस्तार होता है। परिणामस्वरूप, उसकी ममता सारे विश्व में, सारी सृष्टि में व्याप जाती है, और वह मैत्र बन जाता है, सबको मित्रवत् वर्तता है, सबकी मित्रवत् सेवा करता है।

१०) (ह्रियमाणः) आहरण किया जाता हुआ, आकृष्ट किया जाता हुआ, हरणशील [आकर्षण-शील] होता हुआ (वायव्यः) वायव्य बनता है, वायु के समान वेगयुक्त होता है, वायु के समान सवेग पराक्रम करता है।

मैत्र बन जाने से वह विश्व का आकर्षणकेन्द्र बन जाता है। सब उसका आहरण करते हैं, उसे अपनी ओर खींचते हैं। वह वायव्य बनकर वायुवेग से सर्वत्र जाता है और सबको तृप्त, सन्तृप्त

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

करता है।

११) (हूयमानः) बुलाया हुआ, बुलाया जाकर वह (आग्नेयः) आग्नेय बनता है।

आकर्षणशील होने से वह स्थान स्थान पर बुलाया जाता है। बुलाए जाने पर वह अपने शिक्षोपदेश द्वारा अग्निवत् प्रकाश करता है, जन जन के आत्माओं को प्रज्वलित, उद्बुद्ध, प्रबुद्ध करता है।

१२) (हुतः) हुत, समर्पित व्यक्तित्व होने पर (वाक्) वाक् बनता है, वक्तृत्व से युक्त होता है, वागीश बन जाता है।

आग्नेय होने के कारण उसकी वाणी प्रकाशयित्री होगई है। जनता उससे बोलने के लिए कहती है। वह शोभन वक्तव्य देता है, हृदयग्राही वेदोपदेश करता है। इस प्रकार, अपनी वाणी से वह संसार का सुपंथ-नयन करता है, मानवजाति को योग-जीवनपद्धति से दीक्षित करता है।

आपूरित होकर प्रजापति,
सम्पूरित होकर सम्राट्,
संस्थित होकर वैश्वदेव,
अनासक्त होकर धर्म,
ऊंचा उठकर तेज,
अमृत में आनीयमान हो प्राणापानी,
तरंगित होकर आदित्य,
हनन करता हुआ मारुत।
मंगलभावना में विस्तारमय होकर मंत्र,
आहरण किया जाने पर वायव्य,
बुलाया जाने पर आग्नेय,
बोलने को कहा जाने पर वागीश।

१९५१ **सविता प्रथमे ऽहन्नग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीय आदित्यश्चतुर्थे चन्द्रमाः पञ्चमे ऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे। मित्रो नवमे वरुणो दशम इन्द्र एकादशे विश्वे देवा द्वादशे।**

य ३९.६

सविता प्रथमे अहन् अग्निः द्वितीये वायुः तृतीयेः आदित्यः चतुर्थे चन्द्रमाः पञ्चमे ऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिः अष्टमे। मित्रः नवमे वरुणः दशमे इन्द्रः एका-दशे विश्वे देवाः द्वा-दशे।

पूर्व मन्त्र में व्यक्तित्व के विकास के क्रम में बारह साधनाओं का उल्लेख हुआ है। इस मन्त्र में सृष्टिरचना के बारह क्रमों के मिष से मानवसमाज की निर्मिति तथा उसके विकास का दिग्दर्शन कराया गया है।

'अह' व्याप्तौ धातु से अहन् शब्द बना है जिसका अर्थ है व्याप्तिकाल। जितने काल वा समय में कोई वस्तु व्यापती है उतने विकास-युग वा -चरण का नाम अहन् है। दिन को भी अहन् इसी लिए कहते हैं कि दिन में सूर्य अपनी किरणों से पृथिवी पर व्यापता है। सृष्टिरचना में अहन् नाम उतने कालक्रम वा युग का है जिसमें रचना का प्रत्येक चरण व्यापता और स्थिर होता है।

१) (प्रथमे अहन् सविता) प्रथम चरण में सविता।

प्रलय के पश्चात् सृष्टि की पुनर्रचना में प्रकृति के परमाणुओं का जो विराट् पिण्ड बनता है उसकी संज्ञा सविता है। लोकोपलोकों का प्रसवनकर्ता होने से उस विराट् पिण्ड का नाम सविता है। **सविता वै प्रसवनकर्ता।**

२) (द्वितीये अग्निः) दूसरे चरण में अग्नि।

दूसरे चरण में सविता [विराट् पिण्ड] से रिच-रिचकर आग्नेय पिण्ड बनते हैं जिन्हें प्रकाशलोक कहते हैं। समस्त प्रकाशलोक आग्नेय हैं।

३) (तृतीये वायुः) तीसरे चरण में वायु।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तीसरे चरण में वायु का प्रसरण होता है जो प्राण के रूप में बहुधा संचरण करता है।

४) (चतुर्थे आदित्यः) चौथे चरण में आदित्य।

चौथे चरण में आदित्य बनते हैं। **आदित्य** का अर्थ है अखण्ड। सविता [विराट् पिण्ड] से रिच-रिचकर उपपिण्ड बनते हैं। उप पिण्डों से रिच-रिचकर पृथिवी, आदि लोकों [ग्रहों, उपग्रहों] का निर्माण होता है। उप पिण्डों से लोकों के बन जाने पर सौर मण्डलों का निर्माण होता है। प्रत्येक सौर मण्डल के बन जाने पर विराट् पिण्ड का जो अखण्ड भाग शेष बचता है उसकी संज्ञा आदित्य है। आदित्य ही प्रत्येक सौर मण्डल का सूर्य [प्रकाशकर्ता] है।

५) (पञ्चमे चन्द्रमाः) पांचवें चरण में चन्द्रमा।

उप पिण्ड से रिचकर पृथिवी बनती है। पृथिवी से रिचकर चन्द्रमा का निर्माण होता है।

६) (षष्ठे ऋतुः) छठे चरण में ऋतु।

उपर्युक्त पांच चरणों के पश्चात्, छठे चरण में वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर ऋतुओं का चक्र चालू होता है।

७) (सप्तमे मरुतः) सातवें चरण में मरुत।

सृष्टिविज्ञान में मनुष्येतर सकल प्राणी तथा वनस्पतियां मरुत हैं। ऋतुओं के बन जाने पर पशुओं तथा वनस्पतियों का निर्माण होता है।

८) (अष्टमे बृहस्पतिः) आठवें चरण में बृहस्पति।

बृहस्पतिर्वै बृहत्-पतिः। मनुष्य ही सृष्टि में बृहत् [महान्] पति [Lord of creation] है। सब प्राणियों तथा पदार्थों का शासक होने से मनुष्य बृहस्पति है।

९) (नवमे मित्रः) नवें चरण में मित्र।

मित्र नाम सामाजिकता का है। मनुष्य जब ग्राम, नगर बनाकर सामाजिक जीवन यापन करते हैं तो मित्रभाव का प्रादुर्भाव होता है। वे सूर्यवत् एक दूसरे का हित सम्पादन करते हैं।

१०) (दशमे वरुणः) दसवें चरण में वरुण।

वरुण शब्द का प्रयोग यहां वरणीयता अर्थ में हुआ है। सामाजिक जीवन के विकसित होजाने पर संस्कृति, सभ्यता, धार्मिकता, पारस्परिकता, आदि मानवीय वरणीयताओं [भद्रताओं] की स्थापना होती है।

११) (एका-दशे इन्द्रः) ग्यारहवें चरण में इन्द्र।

इन् शत्रूणां दारयिता। इन्+द्र=शत्रुओं का निवारण और मित्रों का रक्षण करना इन्द्रत्व है। जब देश, जनपद, राज्य, राष्ट्र बन जाते हैं तब स्वदेश की रक्षा तथा स्वराष्ट्र की उन्नति के प्रश्न उपस्थित होते हैं। **इन्द्र** शब्द का प्रयोग यहां राष्ट्रभावना के लिए हुआ है।

१२) (द्वा-दशे विश्वे देवाः) बारहवें चरण में सारे देव।

देव शब्द का प्रयोग वेद में प्रायः सुनागरिक अर्थ में हुआ है। इन्द्रत्व के विकास से देवत्व [सुनागरिकता] की भावना भावित होती है। तब सब वर्णों [वर्गों] के लोगों का देवों अथ वा सुनागरिकों के रूप में एकीकरण होता है। तब सब नर-नारी 'देव-देवी'-संज्ञक होते हैं।

सविता प्रथम चरण में, दूसरे में अग्नि,
तीसरे में वायु, चौथे में आदित्य,
पांचवें में चन्द्रमा, छठे में ऋतु,
सातवें में मरुत, आठवें में बृहस्पति।
मित्र नवें में, वरुण दसवें में,
इन्द्र ग्यारहवें में, सब देव बारहवें में।

१९५२ **उग्रश्च भीमश्च ध्वान्तश्च धुनिश्च। सासह्वाँश्चाभियुग्वा च विक्षिपः स्वाहा।**

उग्रः च भीमः च धु-आन्तः च धुनिः च। ससह्वान् च अभि-युग्वा च वि-क्षिपः सु-आहा।

य ३९.७

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(उग्रः च) परिश्रमी भी, (भीमः च) भयप्रद भी, महापराक्रमी भी, (ध्रु-आन्तः च) तामसी भी, (धुनिः च) धुनी/कंपाने वाला भी, (सहह्वान् च) सहनशील भी, वीर भी, (अभि-युग्वा च) सर्वतः युक्त/समाहित भी, (वि-क्षिपः) विक्षिप्त, [सबके लिए] (सु-आहा) सु-आहुति, सु की आहुति।

सामाजिकता तथा नागरिकता के विकास के साथ, प्रकृति के भेद से, समाज में भिन्न भिन्न गुण, कर्म, स्वभाव के व्यक्ति होते हैं। कोई उग्र प्रकृति के होते हैं जो घोर परिश्रम करते हैं। कोई भीम प्रकृति के होते हैं जो भयंकरताओं से भिड़कर भय और संकट के निवारण की क्षमता रखते हैं। कुछ ध्वान्त होते हैं जो अज्ञानान्धकार में ग्रस्त रहकर तामस कर्म करते हैं। कुछ धुनी होते हैं जो अपनी धुन मे बड़ी बड़ी साधें सिद्ध करते हैं, और अपनी साधना तथा तप से मानवसमाज को हिला देते हैं। कुछ सहनशक्ति के धनी होते हैं जो बड़ी बड़ी आपत्तियों और वैर-विरोधों को सहते हुए, समुस्कान, वरणीय लक्ष्यों की ओर बढ़ते हैं। कुछ अभि-युग्वा होते हैं जो अपने आपमें सर्वतः युक्त और समाहित रहते हुए बड़ी बड़ी उलझनों को सुलझाते हैं और विकटातिविकट समस्याओं का समाधान करते हैं। विक्षिप्त जन भी होते हैं जो क्षुब्ध, उत्तेजित और अव्यवस्थित रहते हैं।

आत्मसाधक सभी के प्रति सुहुत रहता है, सभी के लिए सु की आहुतियां देता है, सभी को सु से सुयुक्त करता हुआ, उन्हें सु में निरत रखने की शिक्षा, प्रेरणा और साधना करता है। आत्मसाधकों से शून्य मानवसमाज भ्रष्टाचार और पतन के गर्त में गिर जाता है। आत्मसाधना से सम्पन्न मानवसमाज ही देवत्व से युक्त देवों और देवियों का, दिव्यताओं से द्योतित नागरिकों और नागरिकाओं का समाज बनता है। आकूति और सत्य के साथ जब स्वाहा की साध होती है तो ही आत्मसाधक मानवसमाज को यज्ञवत् सुरभित और सुगन्धित रख पाता है।

सु की आहुतियां मानवों को सुमानव बनाती हैं, और कु की आहुतियां उन्हें कुमानव बनाती हैं। सु धर्म है। कु अधर्म है। सु और कु में ही धर्म और अधर्म निहित है। सुविचार धर्म है, कुविचार अधर्म। सुदर्शन धर्म है, कुदर्शन अधर्म। सुश्रवण धर्म है, कुश्रवण अधर्म। सुवचन धर्म है, कुवचन अधर्म। सुभक्ष्य धर्म है, कुभक्ष्य अधर्म। सुपेय धर्म है, कुपेय अधर्म। सुकर्म धर्म है, कुकर्म अधर्म। सुचाल धर्म है, कुचाल अधर्म। आत्मसाधक मानव-जीवनों में अपने सुवचनों, प्रवचनों और वेदोपदेशों द्वारा सुविचारों और सुभावनाओं की आहुतियां देते हैं तो मानवसमाज देवों और देवियों का समाज बनता है।

साधनाविहीन कोई भी क्यों न हों, वे संसार को धर्मात्मा नहीं बना पाते हैं। आत्मसाधक ही हैं जो मानवजीवनों में सु की आहुतियां देकर नागरिकों को सुमानव अथ वा दिव्य नागरिक बनाते हैं।

उग्र भी, भीम भी, ध्वान्त भी, धुनी भी,
सहनशील भी, अभियुक्त भी, विक्षिप्त भी,
सर्वार्थ सु-आहुति।

१९५३ **अग्निं हृदयेनाशनिं हृदयाग्रेण पशुपतिं कृत्स्नहृदयेन भवं यक्ना। शर्वं मतस्ना-भ्यामीशानं मन्युना महादेवमन्तःपर्शव्येनोग्रं देवं वनिष्ठुना वसिष्ठहनुः शिङ्गीनि कोश्याभ्याम्।** य ३९.८

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अग्निम् हृदयेन अशनिम् हृदय-अग्रेण पशु-पतिम् कृत्स्न-हृदयेन भवम् यक्ना । शर्वम् मतस्नाभ्याम् ईशानम् मन्युना महा-देवम् अन्तः-पर्शव्येन उग्रम् देवम् वनिष्ठुना वसिष्ठ-हनुः शिङ्गीनि कोश्याभ्याम् ।

स्वाहाशील आत्मसाधक ने यहां अपने आपको **वसिष्ठ-हनु** कहा है । वसिष्ठः वै वशिष्ठः, वशि-स्थः । वशि, पर-वशित्व में, मोहकता में, प्रलोभन में स्थित की संज्ञा वसिष्ठ ['वशिष्ठ'] है । पर-वशित्व का, मोहकता का, प्रलोभन का हनन करनेवाला जो होता है उसकी संज्ञा वसिष्ठ-हनु है । वसु [प्राण] में स्थित अथ वा प्राणवत् निर्विश्रम, निर्विषय, निर्विकार और निरासक्त रहता हुआ जो जीवन-यापन और कर्मसाधना करता है उसकी संज्ञा 'वसिष्ठ' है । ऐसा वसिष्ठ विकार, वासना, मोहकता, प्रलोभन का हनन कर देता है । अतः वह भी वसिष्ठ-हनु है ।

आत्मसाधक कहे चला जारहा है, (वसिष्ठ-हनुः) वसिष्ठ-हनु [मैं सेवता हूं]

१) (अग्निम्) अग्नि को (हृदयेन) हृदय से, सहृदयता के साथ, हृदयवत् ।

हृत्+अय=हृदय । अशुद्ध रक्त को अपने भीतर आहृत करके उसे शोधना, और शुद्ध किए हुए रक्त को शरीर में वापस भरना हृदय का काम है । हृदय स्नेह का प्रतीक है । जल-पान सरल है, सरस है । अग्नि-पान कठिन है । संसार अग्निरूप है । संसार आग बरसाता है । साधक अपने हृदय के प्यार से उसे पचाता है और शान्ति की संस्थापना में निरत रहता है । 'सब ओर से मुझ पर अग्निवर्षा होती है, और मैं सहृदयता के साथ, अपने हृदय के प्रेमजल से उसे बुझाकर शान्त रहता हूं । मैं आग के बदले आग न उगलकर सुखद शान्ति की वर्षा करता हूं ।'

२) (अशिनम् हृदय-अग्रेण) बिजली को हृदय-अग्र से ।

हृदय-अग्र से तात्पर्य धैर्य अथ वा आत्मवीर्य है । बिजली चकाचोंध का प्रतीक है । सांसारिक माया की चकाचोंध मानव को चोंधिया देती है । वैभव और सौन्दर्य की चकाचोंध में साधनानिष्ठ बना रहना विरले ही आत्मसाधक का काम है । यह संसार वह हिरण्मय पात्र है जो सत्य और तत्त्व को आंखों से ओझल कर देता है । धीर आत्मसाधक का आत्मधैर्य और आत्मवीर्य ही है जो उसे हिरण्य की चकाचोंध से विचलित नहीं होने देता है । 'मैं आत्मवीर्य द्वारा चकाचोंध का शमन करता हूं ।'

३) (पशु-पतिम् कृत्स्न हृदयेन) पशु-पति को सम्पूर्ण हृदय से, हृदय के सम्पूर्ण प्यार से ।

विवेकहीनता ही पशु है । विवेकहीन ही पशुपति है । अज्ञान, अविवेक, भ्रम, भ्रान्ति में विचरनेवाला मानवसमुदाय पशु-पति है । वह घृणा और तिरस्कार का नहीं, हृदय के सम्पूर्ण प्यार का अधिकारी है । 'मैं उन्हें पूरे दिल से प्यार करता हूं और, उनके द्वारा सताए जाने पर भी, उनका मानवीकरण और सुधार करता हूं ।'

४) (भवम् यक्ना) संसार को यकृत् से, यकृत्वत् ।

भव है; इसकी सत्ता है । जगत् स्वप्नवत् मिथ्या नहीं है, वास्तविकता है । संसार भी है, और इसमें जो कुछ है वह सब भी है । इसका रचयिता और नियामक भी है । यकृत्वत् इसका सेवन करना चाहिए । शरीर में यकृत् अवयव दाईं कोख में होता है और रक्तवाहिनी शिराओं में प्रवाहित होनेवाले रक्त का शोधन करता रहता है । 'संसार कैसा भी हो । मेरी साध यकृत् के समान उसकी रग रग को और उसके रक्त [प्रकृति] को शोधते रहना है ।'

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

५) (शर्वम् मतस्नाभ्याम्) शर्व को दोनों पार्श्वों से।

शर्व नाम अनिष्ट और हिंसा का है। किसी का अनिष्ट चीतना, किसी की हिंसा करना, शठ के प्रति शठता, यह सब साधनाक्षेत्र में वर्जित है। साधक के लिए ऐसा करना शोभनीय नहीं है। उसकी प्रतिष्ठा तो हिंसाओं और अनिष्टों को अपने पहलुओं में बिठाकर हिंसा को आत्मीयता में, और हिंसक को भद्र मानव में परिणत करने में है। 'मैं शर्व को अपने दोनों पहलुओं में सेवता हूं, हिंसा को स्नेह से और हिंसक को सेवा से जीतता हूं।'

६) (ईशानम् मन्युना) ईशान को मन्यु से।

ईशान नाम स्वामित्व से युक्त सम्पदाशाली का है। मन्यु नाम है मन-ओज और उमड़ते हुए उत्साह का। 'मन्यु' शब्द में मननशीलता और चिन्तनशीलता का संस्कार है। 'सम्पत्तिशाली को मननशील और चिन्तनशील बनाकर मैं उसे उपकाररत करता हूं।'

७) (महा-देवम् अन्तः-पर्शव्येन) महा-देव को अन्तः-स्पर्श से।

महा-देव है देवों का देव परमात्मा, जिसका सेवन अन्तः-पर्शव्य अथ वा अन्तःकरण के स्पर्श से होता है। 'सांसारिक क्रियाकलापों में मैं अपने अन्तःकरण से महादेव से संस्पृष्ट रहता हूं।'

८) (उग्रम् देवम् वनिष्ठुना) उग्र देव को विनयशीलता से।

अहंकार ही वह उग्र देव है जिसका सेवन वा शमन विनयशीलता से होता है। अहंकार को अहंकार से नहीं, विनयशीलता से जीता जाता है। 'मानवप्राणियों में व्यापे अहंकाररूप उग्र देव को मैं अपनी विनयशीलता से निरस्त करता हूं।' अहंकार ही सर्व विकारों और वासनाओं का जनक है।

९) (शिङ्गीनि कोश्याभ्याम्) ज्ञातव्यों को दो कोश्यों से।

हृदयाकाश में दो कोश्य हैं चिन्मयकोश और मनोमयकोश। 'इन दो कोशों के द्वारा मैं ज्ञातव्यों का साक्षात्कार करता हूं। इनके द्वारा मैं अनुभवजन्य अनुभूतियां प्राप्त करता हूं।'

वसिष्ठ-हनु [मैं सेवता हूं]
अग्नि को हृदय से, अशनि को हृदय-अग्र से,
पशुपति को पूर्ण हृदय से, भव को यकृत् से,
शर्व को दो पहलुओं से, ईशान को मन्यु से,
महादेव को अन्तःस्पर्श से, उग्र देव को विनय से,
ज्ञातव्य को कोश्यों से।

१९५४ **उग्रँल्लोहितेन मित्रं सौव्रत्येन रुद्रं दौर्व्रत्येनेन्द्रं प्रक्रीडेन मरुतो बलेन साध्यान् प्रमुदा। भवस्य कण्ठ्यं रुद्रस्यान्तःपार्श्व्यं महादेवस्य यकृच्छर्वस्य वनिष्ठुः पशुपतेः पुरीतत्।** य ३९.९

उग्रम् लोहितेन मित्रम् सौव्रत्येन रुद्रम् दौः-व्रत्येन इन्द्रम् प्र-क्रीडेन मरुतः बलेन साध्यान् प्र-मुदा। भवस्य कण्ठ्यम् रुद्रस्य अन्तः-पार्श्व्यम् महा-देवस्य यकृत् शर्वस्य वनिष्ठुः पशु-पतेः पुरि-तत्।

१) (उग्रम् लोहितेन) उग्र को लोहित से।

लोहित नाम शुद्ध रक्त और कुलीनता का है। जिस प्रकार शुद्ध राजपूती खून में वीरता होती है उसी प्रकार कुलीन के रक्त में कुलीनता का संस्कार होता है। उग्र शब्द का प्रयोग अकुलीन के लिए हुआ है, और लोहित का कुलीनता के लिए। 'मैं अकुलीन के प्रति कुलीनता के साथ वर्तता हूं।' स्वाहाशील आत्मसाधक कैसी भी परिस्थिति में अपनी शराफ़त का परित्याग नहीं करता है।

२) (मित्रम् सौव्रत्येन) मित्र को सुव्रतता से।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सौव्रत्य नाम सुकर्मता, सुनियमता तथा सुव्रतता का है। 'मित्रता के जो सुव्रत, सुनियम और सुकार्य होते हैं उनके आश्रय से मैं सबको मित्र बनाता हूं, मित्रवत् वर्तता हूं, मित्र को मित्र बनाए रखता हूं।'

३) (रुद्रम् दौः-व्रत्येन) रुद्र को दुर्व्रतता से।

रुद्र शब्द का प्रयोग रोदयिता के लिए हुआ है। सताकर रुलानेवाले अत्याचारी को यहां रुद्र कहा गया है। दुस्तर, कठोर व्रतों के पालन का नाम 'दौर्व्रत्य' है। 'जो मुझे सताता है, मैं कठोर व्रतों के पालन से उसके मानस को शोधता हूं, उसके हृदय को जीतता हूं।'

४) (इन्द्रम् प्र-क्रीडेन) इन्द्र को प्रक्रीडा से।

इन्द्रियों का स्वामी होने से आत्मा इन्द्र है। 'प्रक्रीडा' का अर्थ है सुमनस्कता, सुप्रसन्नता, क्रीडाशीलता। 'अपनी क्रीडाशीलता, सुमनस्कता और सुप्रसन्नता से मैं आत्मा आत्मा को मोहता हूं और अपने आत्मा को आनन्दित रखता हूं।'

५) (मरुतः बलेन) प्राणों को बल से।

म्रियते यस्याभावात्, जिसके अभाव से प्राणी मर जाता है वह मरुत् है। प्राणों के अभाव में प्राणी मर जाते हैं। इसी से प्राणों को **मरुतः** कहा गया है। **बल** (प्राणने) धातु से **बल** शब्द बना है। प्राण से ही प्राणी जीवित रहता है। 'बल शब्द का प्रयोग यहां जीवनशक्ति और प्राणप्रियता के लिए हुआ है। 'मैं अपनी जीवनशक्ति, ज़िन्दादिली और प्राणप्रियता से प्राणों को, प्राणियों को पोषता और अनुप्राणित करता हूं।'

६) (साध्यान् प्र-मुदा) साध्यों को प्र-हर्ष से।

'मैं प्रहर्षता के साथ साध्यों की साधना करता हूं। मेरी जो साधनीय साधनाएं हैं, मैं प्रहर्ष और आनन्द के साथ उनकी संसाधना में निरत रहता हूं।'

७) (भवस्य कण्ठ्यम्) संसार का [भागधेय] कण्ठ्य [स्वर] है।

कण्ठ्यमिति कण्ठे भवं स्वरम्। **कण्ठ्य** शब्द का प्रयोग प्यारी, मीठी, सरस, सुरीली वाणी के लिए हुआ है। 'संसार कैसा भी हो। मेरा काम अपनी मनोहारिणी वाणी से सबको समझाना और सीधी राह बताना है। संसार को मुझसे अमृतमय उपदेश की सम्पदा मिलनी चाहिए।'

८) (रुद्रस्य अन्तः-पार्श्व्यम्) रुलानेवाले का[भाग-धेय] अन्तः-पार्श्व्य है।

'पार्श्व' नाम पहलू का है। **स्पश्** (संस्पर्शे) धातु से पार्श्व्य शब्द बना है। यहां **अन्तः-पार्श्व्य** से तात्पर्य अन्तः करण को स्पर्श करनेवाली साधना है। 'मैं अपनी भावना और साधना से ज़ालिम के अन्तःकरण का स्पर्श करके उसे मानवता से अलंकृत करता हूं। उसे मुझसे अन्तः-पार्श्व्य मिलना चाहिए।'

९) (महा-देवस्य यकृत्) महा-देव की [देन] यकृत् है, यकृद्-वत् रक्तशोधन और जीवनसंशोधन है।

महत्ता और दिव्यता से युक्त मानव की संज्ञा महादेव है। 'महादेव बनकर मैं यकृद्-वत् जीवनों का शोधन और परिष्कार करता रहता हूं।'

१०) (शर्वस्य) शर्व [अनिष्ट और हिंसा] का [इलाज] (वनि-ष्टुः) विनयशीलता है।

'मैं अपनी विनयशीलता से अनिष्ट को इष्ट में, और हिंसा को अहिंसामय शील में परिणत करता हूं।'

११) (पशु-पतेः) अविवेकी का [भागधेय] (पुरि-तत्) पुरि-तत् है।

पुरितत् नाम हृदय के उस थर्वण का है जो प्रेम के अतिरेक से होता है। पुरितत् नाम हृदय की उस थिरकन का भी है जो करुणा के उद्वेग से होती है। अविवेकी जनसमुदाय को मुझसे उस पुरितत् की प्राप्ति होनी चाहिए जो स्नेह और करुणा के मिश्रण से होती है।

उग्र को लोहित से, मित्र को सौव्रत्य से,
रुद्र को दौर्व्रत्य से, इन्द्र को प्रक्रीडा से,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्राणों को प्राणप्रियता से, साध्यों को प्रहर्ष से। महादेव का यकृत्, शर्व का वनिष्ठु,
संसार का कण्ठ्य, रुद्र का अन्तः-पार्श्व्य, पशु-पति का पुरि-तत्।

१९५५ लोमभ्यः स्वाहा लोमभ्यः स्वाहा त्वचे स्वाहा त्वचे स्वाहा लोहिताय स्वाहा लोहिताय स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा मांसेभ्यः स्वाहा मांसेभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहास्थभ्यः स्वाहास्थभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा रेतसे स्वाहा पायवे स्वाहा। य ३९.१०

लोम-भ्यः स्वाहा लोम-भ्यः स्वाहा त्वचे स्वाहा त्वचे स्वाहा लोहिताय स्वाहा लोहिताय स्वाहा मेदः-भ्यः स्वाहा मेदः-भ्यः स्वाहा मांसेभ्यः स्वाहा मांसेभ्यः स्वाहा स्नाव-भ्यः स्वाहा स्नाव-भ्यः स्वाहा अस्थ-भ्यः स्वाहा अस्थ-भ्यः स्वाहा मज्ज-भ्यः स्वाहा मज्ज-भ्यः स्वाहा रेतसे स्वाहा पायवे स्वाहा।

सम्पूर्ण साधनाओं का मूलाधार साधक का अपना शरीर ही है। शरीर ही सब धर्मों का माध्यम है, धर्मधान है, धर्मसाधन है। सर्वधर्मसाधन, सर्वकर्म-साधन, सर्वक्षेत्रसाधन, सर्वजयसाधन साधक का अपना शरीर ही है। स्वस्थ शरीर से आत्मा की शक्तियों का जितना विकास होता है उतना अन्यथा नहीं। शरीर को सदा नीरोग, स्वस्थ, सुदृढ़, सुडौल, सर्वक्षम और सुन्दर बनाए रखने के लिए आत्म-साधक को शरीर के सत्त्वों को शुद्ध रखना नितान्त आवश्यक है। उसी अभिप्राय का प्रकाशन इस मन्त्र से किया जारहा है। साधक को चाहिए,

१) (लोम-भ्यः स्वाहा, लोम-भ्यः स्वाहा) रोमों के लिए सु-आहुति, रोमों के लिए सु-आहुति।

रोम रोम की सात्त्विकता तथा शुद्धि के लिए सु-आहुतियां दी जानी चाहिएं। मुख में दी गई आहाराहुतियां शुद्ध और सात्त्विक हों। श्रोत्रों में दी गई शब्दाहुतियां शुद्ध और सात्त्विक हों।

२) (त्वचे स्वाहा, त्वचे स्वाहा) त्वचा के लिए सु-आहुति, त्वचा के लिए सु-आहुति।

अंग अंग की त्वचा भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। मुख, नेत्र, श्रोत्र तीनों में दी गई आहुतियां शुद्ध और सात्त्विक हों तो त्वचा सब प्रकार के दोषों से मुक्त और सुन्दर रहती है।

३) (लोहिताय स्वाहा, लोहिताय स्वाहा) शुद्ध रक्त के लिए सु-आहुति, शुद्ध रक्त के लिए सु-आहुति।

प्रत्येक अवयव में प्रवाहित रक्त को नितान्त शुद्ध रखने के लिए जहां मुखाहार, नेत्राहार, श्रोत्राहार का शुद्ध होना आवश्यक है, वहां विचार और भावना को शुद्ध रखना भी आवश्यक है।

४) (मेदः-भ्यः स्वाहा, मेदः-भ्यः स्वाहा) चर्बियों के लिए सु-आहुति, चर्बियों के लिए सु-आहुति।

साधक ऐसे शुद्ध, सात्त्विक पदार्थों का सेवन करे जिनसे अंग अंग की चर्बियां शुद्ध, सात्त्विक बनी रहें। चर्बियों का अंग अंग में उचित मात्रा में होना स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है।

५) (मांसेभ्यः स्वाहा, मांसेभ्यः स्वाहा) मांसों के लिए सु-आहुति, मांसों के लिए सु-आहुति।

अंग अंग में निहित मांसों को शुद्ध, सात्त्विक बनाए रखने के लिए शुद्धाहार, प्रत्यक्षतः, आवश्यक है।

६) (स्नाव-भ्यः स्वाहा, स्नाव-भ्यः स्वाहा) स्नायुओं के लिए सु-आहुति, स्नायुओं के लिए सु-आहुति।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

स्नायुओं को स्वस्थ रखने के लिए तदनुकूल आहार सेवन करना चाहिए।

७) (अस्थ-भ्यः स्वाहा, अस्थ-भ्यः स्वाहा) अस्थियों लिए सु-आहुति, अस्थियों के लिए सु-आहुति।

शरीरस्थ समस्त अस्थियों के सुपोषण के लिए तदनुकूल पदार्थों का सेवन करना चाहिए।

८) (मज्ज-भ्यः स्वाहा, मज्ज-भ्यः स्वाहा) मज्जाओं के लिए सु-आहुति, मज्जाओं के लिए सु-आहुति।

'मज्जा' नाम है अस्थियों के भीतर के गूदे का। अस्थि अस्थि के भीतर जो गूदा होता है उससे शरीर के लचकीलेपन की रक्षा होती है। साधक ऐसे शुद्ध, सात्त्विक पदार्थों का सेवन करे जिनसे अस्थियों में उचित मात्रा में शुद्ध मज्जा निहित रहे।

९) (रेतसे स्वाहा) रेत के लिए सु-आहुति।

'रेत' नाम रज, वाज, वीर्य, ओज, आदि रसों तथा धातुओं का है। साधक शुद्धाहार, शुद्ध विहार से रेत शुद्ध रखें। जननेन्द्रिय की शुद्धि तथा संयम का भी यहां संकेत है।

१०) (पायवे स्वाहा) गुदा के लिए सु-आहुति।

गुदा-सम्बन्धी रोगों से मुक्त रहने के लिए ऐसे खाद्यों तथा पेयों का सेवन करना चाहिए जिनसे निर्बाधता के साथ खुलकर मल का त्याग होता रहे।

लोमों के लिए स्वाहा, लोमों के लिए स्वाहा,
त्वचा के लिए स्वाहा, त्वचा के लिए स्वाहा,
लोहित के लिए स्वाहा, लोहित के लिए स्वाहा,
मेदों के लिए स्वाहा, मेदों के लिए स्वाहा,
मांसों के लिए स्वाहा, मांसों के लिए स्वाहा,
स्नायुओं के लिए स्वाहा, स्नायुओं के लिए स्वाहा,
अस्थियों के लिए स्वाहा, अस्थियों के लिए स्वाहा,
मज्जाओं के लिए स्वाहा, मज्जाओं के लिए स्वाहा,
रेत के लिए स्वाहा, पायु के लिए स्वाहा।

१९५६ आयासाय स्वाहा प्रायासाय स्वाहा संयासाय स्वाहा वियासाय स्वाहोद्यासाय स्वाहा। शुचे स्वाहा शोचते स्वाहा शोचमानाय स्वाहा शोकाय स्वाहा। य ३९.११

आ-यासाय स्वाहा प्र-यासाय स्वाहा सम्-यासाय स्वाहा वि-यासाय स्वाहा उत्-यासाय स्वाहा। शुचे स्वाहा शोचते स्वाहा शोचमानाय स्वाहा शोकाय स्वाहा।

शुद्ध, सत्त्वमय स्वस्थ शरीर से सम्पन्न रहते हुए साधक—

१) (आ-यासाय स्वाहा) घोर श्रम के लिए सु-हुत [अर्पित] रहे।

'यास' नाम श्रम, पुरुषार्थ, उद्योग और उत्कट साधना का है। आत्मसाधना का अर्थ निष्क्रियता नहीं है, सतत सक्रियता है। लोक-साधना और परलोक-साधना सहगामिनी हैं। दोनों साथ साथ चलनी चाहिएं। नित्य सोलह घण्टे काम और आठ घण्टे विश्राम, प्रत्येक साधक की आचार-संहिता का यह मूल-सूत्र है।

२) (प्र-यासाय स्वाहा) प्र-यास के लिए सुहुत रहे।

जीवन के प्रत्येक पार्श्व में साधक सतत प्रयासी और प्रयत्नशील बना रहे।

३) (सम्-यासाय स्वाहा) सम्यक्-यास के लिए सुहुत रहे।

क्षेत्र क्षेत्र में आत्मसाधक मामूली तौर से नहीं, बहुत अच्छी तरह जमकर श्रमरत रहे।

४) (वि-यासाय स्वाहा) विविध-यासों [उत्कट साधनाओं] के लिए अर्पित रहे।

प्रत्यक्षतः, प्रत्येक साध के लिए विविध प्रयासों और साधनाओं की आवश्यकता होती है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

५) (उत्-यासाय स्वाहा) उत्-यास के लिए अर्पित रहे।

'उत्' नाम उत्कृष्ट और उच्च का है। साधक के लिए यह परम आवश्यक है कि वह सदैव उच्च और उत्कृष्ट यासों में निरत रहे, कभी भूलकर भी क्षुद्र और निकृष्ट व्यासंगों में लिप्त न हो।

६) (शुचे स्वाहा) पवित्र के लिए अर्पित रहे।

साधक सदा पवित्र विचार, पवित्र आचार और पवित्र व्यवहार से युक्त रहे। पवित्र बने रहने की साधना में वह कदापि शिथिल न हो।

८) (शोचते स्वाहा) पवित्रकर्ता के लिए सुहुत रहे।

आत्मा शरीरसम्पत्ति का पवित्रकर्ता है। सतत आत्मस्थ रहने से जीवन का पूतीकरण होता है।

८) (शोचमानाय स्वाहा) पवित्रकरणशीलता के लिए सुहुत रहे।

शुचिता साधक के लिए कोई अस्वाभाविक वस्तु न होकर उसके शील का एक स्वाभाविक अंग हो।

९) (शोकाय स्वाहा) पवित्रता के लिए सुहुत रहे।

पवित्रता ही साधक के साधनाशील जीवन का सौन्दर्य है। पवित्रता में ही आत्मनिखार और ब्रह्मसाक्षात्कार है। अनिवार्यतः, वह पवित्रता के लिए सुहुत रहे।

आयास के लिए स्वाहा, प्रयास के लिए स्वाहा,
संयास के लिए स्वाहा, वियास के लिए स्वाहा,
उद्यास के लिए स्वाहा।
पवित्र के लिए स्वाहा, पवित्रकर्ता के लिए स्वाहा,
शुचिशीलता के लिए स्वाहा, पवित्रता के लिए स्वाहा।

१९५७ **तपसे स्वाहा तप्यते स्वाहा तप्यमानाय स्वाहा तप्ताय स्वाहा घर्माय स्वाहा। निष्कृत्यै स्वाहा प्रायश्चित्यै स्वाहा भेषजाय स्वाहा।** य ३९.१२

तपसे स्वाहा तप्यते स्वाहा तप्यमानाय स्वाहा तप्ताय स्वाहा घर्माय स्वाहा। निः-कृत्यै स्वाहा प्रायः-चित्यै स्वाहा भेषजाय स्वाहा।

शुद्ध, स्वस्थ, सुपावन जीवन से सुयुक्त रहता हुआ साधक सदा

१) (तपसे स्वाहा) तप के लिए सुहुत [अर्पित] रहे।

तप से ही साधक सु-पूत [सम्यक् पवित्र] रहता है। तप से ही आत्मसाधना सतत संसिद्ध रहती है। तप से ही आत्मिक, आन्तरिक और बाह्य उपलब्धियां सन्तत सुरक्षित रहती हैं। सच्चा साधक विलासमय नहीं, तपोमय जीवन यापन करता है।

२) (तप्यते स्वाहा) तपते हुए/तप करते हुए/तप करनेवाले के लिए सुहुत रहे।

परोपकाराय, विश्वकल्याणार्थ जो भी तप कर रहा हो, साधक उसकी सेवा, सहायता और साधना में अपना योगदान देने के लिए तत्पर रहे।

३) (तप्यमानाय स्वाहा) तपःशील के लिए अर्पित रहे।

साधक तपःशील व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र की सहायता करे।

४) (तप्ताय स्वाहा) तपः-सिद्ध के लिए स्वाहा।

तपःसिद्ध व्यक्ति के प्रति अर्पित रहने से जहां उस व्यक्ति की साध की पूर्ति में सहायता होती है वहां स्वयं साधक में तप की प्रतिष्ठा और निष्ठा समंकित होती है।

५) (घर्माय स्वाहा) घर्म के लिए सुहुत रहे।

घर्म शब्द का प्रयोग यहां प्रेम-ऊष्मा अथवा प्रेम की गर्मी के लिए हुआ है। साधक के मानस में सबके प्रति प्रेम भावित रहना चाहिए।

६) (निः-कृत्यै स्वाहा) उद्धार के लिए सुहुत रहे।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

न केवल अपना और अपने परिवार का, अपि च सारे संसार का उद्धार करना आत्मसाधक का स्वाभाविक धर्म है।

७) (प्रायः-चित्यै स्वाहा) पाप-शोधन के लिए सुहुत रहे।

पाप के संशोधन और निवारण के लिए जो तप, त्याग, उत्सर्ग, बलिदान किया जाता है उसका नाम प्रायश्चित्त है। सच्चा साधक न केवल अपने पाप का, अपि च अपने परिवार, समाज, राष्ट्र और संसार के पापों के लिए भी प्रायश्चित करता है। किए के लिए ही नहीं, संसार में किए जारहे और किए जानेवाले सम्भावित पापों के लिए भी आत्मसाधक उग्र प्रायश्चित्त किया करते हैं।

८) (भेषजाय स्वाहा) भेषज के लिए सुहुत रहे।

भेषज नाम ओषधि, जल और सुख का है [निघण्टु १.१२, ३.६)। आत्मसाधक का जीवन ओषधिरूप होता है। ओषधि जिस प्रकार शारीरिक रोगों को दूर करके रोगी को आराम देती है, जल जिस प्रकार स्नानादि द्वारा शरीरों को शुद्ध करता है उसी प्रकार साधक अपने ओषधिरूप जीवन से जन जन के शारीरिक, मानसिक और आत्मिक दोषों का निवारण करके उन्हें सम्यक् सुखी करता है। प्रत्यक्षतः दोषधारण से दुःखों की, और दोषनिवारण से सुखों की वृद्धि होती है।

तप के लिए स्वाहा, तपकर्ता के लिए स्वाहा, तपःशील के लिए स्वाहा, तपःसिद्ध के लिए स्वाहा, धर्म के लिए स्वाहा, उद्धार के लिए स्वाहा, पापशोधन के लिए स्वाहा, भेषज के लिए स्वाहा।

१६५८ **यमाय स्वाहान्तकाय स्वाहा मृत्यवे स्वाहा। ब्रह्मणे स्वाहा ब्रह्महत्यायै स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा।** य ३६.१३

यमाय स्वाहा अन्तकाय स्वाहा मृत्यवे स्वाहा। ब्रह्मणे स्वाहा ब्रह्म-हत्यायै स्वाहा विश्वेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा द्यावा-पृथिवी-भ्याम् स्वाहा।

साधक का साधनामय, संशुद्ध, सुनिष्पन्न, ब्राह्म जीवन

१) (यमाय स्वाहा) यम के लिए सुहुत रहता है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह की पञ्च-संसाधना का नाम यम है। यम नाम संयम, आत्मसंयम का भी है। आत्मसंयम के आश्रय से ही यह पञ्चसंसाधना सिद्ध होती है। एक सच्चे, योगयुक्त साधक का जीवन यमाय अर्पित रहता ही है। उसका जीवन यमोपेत होता है।

२) (अन्तकाय स्वाहा) अन्तक के लिए सुहुत रहता है।

अन्तक का अर्थ है अन्त [समाप्त] करनेवाला। यहां इस शब्द का प्रयोग योगी की उस जीवन्मुक्त विदेहावस्था के लिए हुआ है जिसमें वह समस्त वासनाओं, सांसारिक कामनाओं, आसक्तियों तथा लेपों का अन्त करके, प्राणवत् निर्विश्राम, निर्विषय, निर्विकार, निरासक्त रहता हुआ, मिषतः कर्म करता है और शरीर त्यागने पर ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है।

३) (मृत्यवे स्वाहा) मृत्यु के लिए सुहुत रहता है।

मृत्यु के भय से मुक्त होना ही मृत्यु के लिए सुहुत होना है। जीवन्मुक्त के लिए तो मृत्यु निर्वाणप्राप्ति का साधन है।

४) (ब्रह्मणे स्वाहा) ब्रह्म के लिए सुहुत रहता है।

ब्रह्मलीन रहना ही ब्रह्म के लिए सुहुत वा अर्पित रहना है। संसिद्ध योगी, निस्सन्देह, सतत—सन्तत—निरन्तर ब्रह्मलीन रहता हुआ ब्रह्मवत् ब्राह्म कर्म करता है। संसार में अपने लिए उसका

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अपना कोई कार्य नहीं रहता है। ब्रह्म के सब [समुत्पन्न संसार, कारखाने] में वह ब्रह्म का ही काम करता है। उसकी प्रत्येक गति और चेष्टा ब्रह्मप्रेरित होती है।

५) (ब्रह्म-हत्यायै स्वाहा) ब्रह्म-साधना के लिए सुहुत रहता है।

हन् हिंसागत्योः। हन् धातु के दो प्रसिद्ध अर्थ हैं मारना, गति [साधना] करना। हिंसा और साधना का सतत सम्बन्ध है। बाधाओं का हनन करते हुए साधना, गति, प्रगति की जाती है। बाधाओं का विनाश करते हुए ही साधना में सिद्धि प्राप्त होती है।

ब्रह्म नाम आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, वेद, ज्ञान, विज्ञान, तत्त्व, विवेक का है। जीवन्मुक्त आत्म-साधक लोकहिताय आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, वेद, विज्ञान, आदि के प्रचार-प्रसार में निरत रहता है।

६) (विश्वेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा) सब दिव्यताओं के लिए सुहुत रहता है।

विश्व में सकल दिव्यताओं की, दिव्य गुणों तथा कर्मों की व्याप्ति में निरत रहना ही सब दिव्यताओं के लिए अर्पित रहना है। जीवन्मुक्त की प्रत्येक गति और चेष्टा से अनायास ही दिव्यताओं की संव्याप्ति होरही होती है।

७) (द्यावा-पृथिवी-भ्याम् स्वाहा) द्यौ-भू के लिए सुहुत रहता है।

द्यौ-भू से तात्पर्य सकल सृष्टि से है। जिस पृथिवी पर हमारा निवास है वह भू है। शेष जितने लोक हैं वे सब द्यौ में सम्मिलित हैं। ब्रह्मलीन की ममता ब्रह्मवत् सर्वमय होती है। वह सकल सृष्टि के लिए मंगलकामना करता है, प्राणिमात्र के लिए हितसाधना करता है, सर्वत्र आनन्द की वृष्टि करता है। वह गाता है—

स्रष्टा मेरा, सृष्टि मेरी, सृष्टि के सब प्राणी मेरे।
दुनियावालो! तुम्हें मुबारिक हों ममता के सीमित घेरे।

यम के लिए स्वाहा, अन्तक के लिए स्वाहा,
मृत्यु के लिए स्वाहा।
ब्रह्म के लिए स्वाहा, ब्रह्म-साधना के लिए स्वाहा,
सब देवों के लिए स्वाहाः, द्यौ-भू के लिए स्वाहा।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परिशिष्ट १

व्याख्या में चर्चित प्रसंग

अनासक्ति ७
अहंकार १३
इन्द्रियां ६
ऋषि ४
ऋषित्व ५-६,७
'ओम्' ४
कोश १३
चक्र १-२
चिकित्सा पद्धति ३
जातकर्म संस्कार ४
जीवन्मुक्त १८, १९
दर्शन ५
नागरिक १०
नागरिकता १०, ११
पवित्रता ४-५
पाप १८
प्राण १-२, ५
ब्रह्मलीनता १८-१९
यज्ञ ३
यजुर्वेद १
विज्ञान १, २, ३
शरीर १५-१६
श्रवण ५
संसार १२, -अतिथिशाला ३, -सागर ३
साधक ७-९, ११, १२, १३, १५, १६, १७, १८
साधना १, १४, १६
सृष्टि १९
,, रचना-क्रम ९
हिंसा १३, १९

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परिशिष्ट २

व्याख्या में विवेचित मंत्रपद और धातुएं

अन्तपार्श्व्य १४
अन्तक १८
√अह् ९
अहन् ९
आकूति ५
आदित्य १०
इन्द्र १०
ईशान १३
कण्ठ्य १४
काम ५
√क्लथ् ८
धर्म ७, १७
देव १०
पुरितत् १४
प्र-वृक्त ७
ब्रह्म १९
√भृ ७
म्रियमाण ७
भेषज १८
मज्जा १६
मन ५
मन्यु १३
मरुत् १४
महादेव १३
मित्र १०
यास १६, १७
रुद्र १४
रेतः १६
लोहित १३
वरुण १०
वसि(शि)ष्ठ १२
वि-स्यन्दमान ८
शर ८
शर्व १३
√शृ ८
श्री ६
संम्राट् ७
सौव्रत्य १४
√स्पश् १४
स्वाहा १
√हन् १९
हृदय १२
हृदयाग्र १२

परिशिष्ट ३

उद्धरण

अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः	३
भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम	५
,, पश्येमाक्षभिः	५
माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः	८
वेदो ऽसि	४

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परिशिष्ट ४

वेदव्याख्या-ग्रन्थ [३९वां पुष्प] में व्याख्यात, यजुर्वेद [३९वां अध्याय] के [१३] मन्त्रों की

वर्णानुक्रम-सूची

मन्त्र-प्रतीक	अध्याय में मन्त्र-संख्या	यजुर्वेद में मन्त्र-संख्या	ग्रन्थ में पृष्ठ-संख्या
अग्नि हृदयेनाशनिं	८	१९५३	११
आयासाय स्वाहा	११	१९५६	१६
उग्रँल्लोहितेन	९	१९५४	१३
उग्रश्च भीमश्च	७	१९५२	१०
तपसे स्वाहा तप्यते	१२	१९५७	१७
दिग्भ्यः स्वाहा चन्द्राय	२	१९४७	२
प्रजापतिः सम्भ्रियमाणः	५	१९५०	७
मनसः काममाकूतिं	४	१९४९	५
यमाय स्वाहान्तकाय	१३	१९५८	१८
लोमभ्यः स्वाहा	१०	१९५५	१५
वाचे स्वाहा प्राणाय	३	१९४८	४
सविता प्रथमे ऽहन्	६	१९५१	९
स्वाहा प्राणेभ्यः	१	१९४६	१

पाठक से

वेद-संस्थान इस पुस्तक की विषयवस्तु, लेखनशैली और आकार-प्रकार के बारे में आपके विचारों के लिए आभारी होगा। अन्य कोई सुझाव आप देना चाहें तो उन्हें जानकर भी हमें प्रसन्नता होगी। हमारा पता है : बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर, भारत।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जन्म : १५ नवम्बर, १८९९ ई० । वेद-संस्थान (अजमेर, दिल्ली) के संस्थापकाध्यक्ष । वेदों के मर्मज्ञ व्याख्याकार, चिन्तक, कवि और संन्यासाश्रमी सन्त । वाणी में अद्भुत माधुर्य और हृदय को छू लेने की क्षमता । व्यक्तित्व जो तत्काल आकर्षित कर लेता है आत्मीयता, स्नेह, सरलता से । सतत कर्मरत, प्रतिक्षण साधनामय, भक्ति और निष्ठा से ओत-प्रोत जीवन । लेखन की शैली ललित, प्रसादगुणयुक्त, अनावश्यक विस्तार से रहित ।

'विदेह' का जीवन वेद और योग को समर्पित है । उन्होंने लोहे के चने समझे जानेवाले वेद को आबाल-वृद्ध, प्रत्येक हिन्दी-भाषी के लिए अतिसरल और रोचक, दैनंदिन जीवन में उपयोगी और प्रेरक ग्रन्थ बनाने में अभूतपूर्व और आश्चर्यकारी सफलता पाई है । उनकी वेद-व्याख्या वेद को मानव और मानवता की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में प्रस्तुत करती है, वेद के वेदत्व को निखारती है और उसे जीवन-ग्रन्थ, मानवधर्म-शास्त्र के रूप में प्रस्तुत करती है।

'वेदव्याख्या-ग्रन्थ' विश्वाङ्मय का गौरव तथा हिन्दी वाङ्मय को लेखक की अमर देन है । जिसने भी इसे पढ़ा है वही मुग्ध हो उठा है । यह वेदों के आधुनिकीकरण, सरलीकरण, स्पष्टीकरण, और साथ ही उन्हें जनसुलभ और सुबोध बनाने का एक महान् प्रयास है, जो वेदों को 'रामचरित-मानस'-जैसा सरल ग्रन्थ बना देगा ।

वेदों की इस क्रमिक व्याख्यामाला में चारों वेदों का, जिस क्रम में वे हैं उसी क्रम में, मन्त्र-मन्त्र, सूक्त-सूक्त, अध्याय-अध्याय, और वेद-वेद की संगति लगाने का प्रयास किया जा रहा है, जो वेदाध्ययन के इतिहास में पहली बार इतनी गम्भीरता से किया जा रहा है । इसकी सफलता से वेद परस्पर असंबद्ध मन्त्रों का संकलन-मात्र नहीं रह जाएगा । लेखक प्रत्येक मन्त्र का एक सुनिश्चित अर्थ मानता है, यद्यपि गौण वृत्ति से अन्य अर्थ भी लिए जा सकते हैं । संयमपूर्वक योगाभ्यास से आत्म-अवस्थित होकर, अन्तःश्रवण और अन्तर्ज्योति के द्वारा मन्त्रार्थ को साक्षात् करना लेखक की पद्धति है । वेदों के आशय को स्वयं वेदों में पैठकर, न कि परतःप्रमाण-भूत ग्रन्थों की दासता स्वीकार करके, स्वयं वेदों के ही आश्रय से जानना, यह लेखक की विचारसरणि है ।

'वेदव्याख्या-ग्रन्थ' में प्रत्येक मन्त्र का पदच्छेद, अन्वय, पद्यानुवाद, सूक्तियां, तथा विशद, प्रेरणाप्रद, जीवनोत्थानकारी व्याख्या दी गई है ।

दो रुपए

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

स्वामी विद्यानन्द 'विदेह'

वेदव्याख्या-ग्रन्थ

चालीसवां पुष्प

(यजुर्वेद के ४०वें अध्याय की व्याख्या)

विषय : जीवन-संविधान

वेद संस्थान
अजमेर

दो रुपए

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

संस्थान-प्रकाशन-संख्या : ७९

यजुर्वेद–व्याख्या

चालीसवां पुष्प

जीवन-संविधान

स्वामी विद्यानन्द 'विदेह'

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सर्वाधिकार लेखकाधीन

प्रथम संस्करण : पौष, २०३४ वि : जनवरी, १९७८ ई
१,२०० प्रतियां

मूल्य :-दो रुपए

卐

प्रकाशक : वेद-संस्थान, बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर ३०५ ००१; मुद्रक : प्रिण्ट हाउस, अजमेर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विषयक्रम

विषय	मंत्र-सं.	पृष्ठ-सं.
अनासक्ति	१	१-२
निर्लेपता	२	२-३
आसुरी अवस्था	३	३-४
ईश का स्वरूप	४-५	४-७
आत्मसाधक की साधना	६-७	७-८
,, ,, अनुभूति	८	९
ईशानुभूति और मायालीनता	९-११	१०-११
परा विद्या और अपरा विद्या	१२-१४	१२-१३
साधनालक्ष्य का स्मरण	१५	१३-१४
प्रार्थना	१६	१४-१६
ब्रह्मोक्ति, सिद्धोक्ति	१७	१६-१७

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यजुर्वेद-व्याख्या

चालीसवां अध्याय

जीवन-संविधान

१९५९ **ईशा वास्यमिदं सर्वं यत् किं च जगत्यां जगत् ।**
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम् । य ४०.१
ईशा वास्यम् इदम् सर्वम् यत् किम् च जगत्याम् जगत् । तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य स्वित् धनम् ।

उन्तालीसवें सूक्त में साधनामय जीवन के प्रशस्तीकरण के अनन्तर, इस अध्याय में वैदिक जीवन-पद्धति का संविधान है। कैसे जीना ? इस सम्प्रश्न के हल में मानवजाति की सारी समस्याओं का समाधान निहित है।

१) अनन्त, असीम, अपार (इदम् सर्वम्) यह सब [विश्व-भुवन, अपि च] (यत् किम् च जगत्याम् जगत्) जो कुछ भी जगती में जगत् है, (ईशा वास्यम्) ईश् से वास्य है।

ईश् शब्द का अर्थ है स्वामी। **वास्य** का अर्थ है वसनीय, आच्छादनीय, व्यापनीय, व्याप्य। **जगती** शब्द का प्रयोग हुआ है यहां गतिशील सृष्टि के लिए, और **जगत्** का चलायमान भौतिक सम्पदा अर्थ में।

यह सारा विश्वभुवन, सारी सृष्टि, और सृष्टि में निहित सारी सम्पदा उसके स्वामी से वास्य है। इस सबमें इसका स्वामी बसा हुआ है। यह सब और इस सबकी सारी सम्पदा लावारिस नहीं है। इस सबका एक स्वामी है जो इस सबमें व्यापक है। इस सबका स्वामी इस सबसे अलग नहीं है, इस सबमें रम रहा है।

२) (तेन) तेन कारणेन, उस कारण से, अतः [इस सबको और इस सबमें जो कुछ है उस सबको] (त्यक्तेन) त्यागभावेन, त्यागभाव से, त्यागवृत्ति के साथ (भुञ्जीथाः) भोग, सेवन कर।

मानव-जीवनपद्धति का यह एक स्वर्णिम सूत्र है। इस विश्वभुवन के, इस जगती के हम न रचयिता हैं, न संचालक हैं, न नियन्ता हैं। और इसमें निहित सम्पदा के भी हम न सम्पादक हैं, न स्वामी हैं। ईश ही इनका रचयिता, संचालक, नियन्ता, कर्ता, धर्ता और स्वामी है। अतः इस सबका सेवन हमें उसी प्रकार से करना चाहिए जिस प्रकार से सेवक अपने स्वामी की वस्तुओं का करता है। 'मत भोग,' ऐसा नहीं कहा गया है। यहां तो कहा गया है, 'भुञ्जीथाः;' भोग, किन्तु त्याग भाव से भोग, क्यों कि यह जगती और इस जगती में जो कुछ है वह सब जगत्पति का है, तेरा नहीं। तेरे पास जो कुछ है वह केवल समाज-व्यवस्था की दृष्टि से तेरा है। सब कुछ आंख खुले तक ही तेरा है। आंख मुंदने पर सब कुछ स्वामी का है। मानव को चाहिए, 'तेरा' और 'मेरा' के रहस्य को समझते हुए जीवनपथ पर प्रगमन करे।

३) (मा गृधः) गृद्धपन मत कर।

गृद्धपन से तात्पर्य मेरापन से है। हर 'मेरा', वास्तव में, 'तेरा' है। जब सब ही कुछ तेरा है तो किसलिए मेरा-तेरा। हमें जो कुछ मिला है कुछ दिन उपयोग करने के लिए मिला है। उपयोग करो, और चलते समय जो वस्तु जिसकी है उसके सुपुर्द करो।

४) जब जब तू मेरापन से ग्रसित हो तब तब अपने आपसे प्रश्न किया कर, '(कस्य) किसका है, (स्वित्) भला, (धनम्) धन ?'

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

स्वित् शब्द प्रश्नवाची है। धन के गृद्ध ! सोच तो, धन है किसका ? सब धन धनपति का है, ईश का है। आया था तब कुछ लाया नहीं था। जब जाएगा, कुछ भी साथ नहीं लेजाएगा। जो न साथ आए, न साथ जाए वह तेरा कैसे हो सकता है ? जो सदा तेरे साथ था और सदा तेरे साथ रहेगा वह तो तेरा अपना आत्मा है वा परमात्मा है। शेष कुछ भी तेरा नहीं है।

आत्मन् ! तेरा केवल तू है और परमात्मा है। अन्य कुछ भी और कोई भी तेरा नहीं है। यों प्यार और सेवा के लिए सब तेरे हैं और सब कुछ तेरा है, सारी पृथिवी तेरा घर है और सारी प्रजा तेरा परिवार है।

अमृत पिता का जो कुछ है, उसके अमृत पुत्रों के लिए है। ईश अमृत पिता है और आत्मा उसके अमृत पुत्र हैं। ईश पिता स्वयं तो किसी वस्तु का न सेवन करता है, न किसी सम्पदा का भोग करता है। ईश का सब कुछ उसकी आत्मप्रजाओं के लिए ही है। 'सब कुछ भोग, किन्तु प्रभु के संसार को प्रभु का जानकर भोग।'

स्वामी से वास्य यह सब,
जो कुछ भी जगती में जगत्।
अतः त्यागभाव से भोग,
मत ललचा, किसका भला धन !

सूक्ति : **ईशा वास्यमिदं सर्वम्।**
स्वामी से वास्य है यह सब।
त्यक्तेन भुञ्जीथाः।
त्यागभाव से भोग।

१९६० **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।**
एवं त्वयि नान्यथेतो ऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे। य ४०.२
कुर्वन् एव इह कर्माणि जिजीविषेत् शतम् समाः। एवम् त्वयि न अन्यथा इतः अस्ति न कर्म लिप्यते नरे।

'जगती में जो कुछ भी चराचर जगत् है वह सब जगत्पति का है। अतः उस सबका त्यागभाव से भोग कर, अनासक्त होकर सेवन कर,' पूर्व-मन्त्र में जो ऐसा कहा गया है, वह अनासक्ति का उपदेश है।

इस मन्त्र में जो कहा गया है 'नर (कुर्वन् एव इह कर्माणि) करता हुआ ही यहां कर्मों को (जिजीविषेत्) जीना चाहे (शतम् समाः) शत संवत्सर, सौ वर्ष। (एवम्) इस प्रकार, (त्वयि नरे) तुझ नयनकर्ता में (कर्म न लिप्यते) कर्म नहीं लिपता है, कर्मलेप नहीं होता है। कर्मलेप से मुक्त रहने का (इतः अन्यथा) इससे अन्यथा, इससे भिन्न प्रकार (न अस्ति) नहीं है,' यह निर्लेपता का उपदेश है।

प्राणिमात्र तथा पदार्थमात्र में निर्ममता अथ वा अनासक्ति, और कर्ममात्र में निर्लेपता, यह साधनाद्वय नर को देह में रहते हुए जीवन्मुक्त विदेह बनाए रखती है, और देहत्याग पर उसे ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त कराती है।

नृ (नये) [नयन करना, लेजाना]। **नर** का अर्थ है लेजानेवाला, नयनकर्ता। **नर** शब्द का प्रयोग मन्त्र में पुरुष वा स्त्री के लिए नहीं हुआ है, शरीर के नयनकर्ता आत्मा के लिए हुआ है। पूर्व-मन्त्र में भी, जो कहा गया है 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः, त्यागभाव से भोग,' वह भी मानवदेहनिवासी नर [आत्मा] से ही कहा गया है। भोक्ता और कर्ता देही आत्मा ही है, देह नहीं। देह तो भोगने और करने का करण [साधन] है। मोक्ष साध्य है, जिसकी सिद्धि अनासक्ति और निर्लेपता के आश्रय से

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

होती है।

'आत्मन् ! कर्म करता हुआ ही तू सौ वर्ष जीने [सशरीर रहने] की इच्छा कर। न जीने के लिए जी, न मरने के लिए जी। निर्लेप रहकर कर्म करने के लिए जी।' भोग में जो आसक्त नहीं और कर्मों में जो लिप्त नहीं वही नर [आत्मा] अपने स्वरूप में अवस्थित, और ईश में संमाहित रहता हुआ मोक्ष के राजपथ पर प्रगमन करता है, वही नितान्त वासनारहित रहता है। वासना ही पुनर्जन्म का कारण है। आसक्ति और लेप, यह द्वित्व ही वासनाओं का जनक है। जहां आसक्ति नहीं, लेप नहीं, वहां वासनाओं का क्या काम !

कर्म कर किन्तु फलासक्ति से मुक्त होकर कर्म कर। कर्म के लिए ही कर्म कर। कर्तव्य के लिए ही कर्तव्य का निर्वहन कर।

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' में एक गहन रहस्य अन्तर्निहित है। उसे समझना चाहिए। 'इदम् सर्वम्', यह सब, यह जगती, यह सारी सृष्टि 'ईशा वास्य' है, ईश [मालिक] का कारखाना है। मालिक के कारखाने में मालिक ही का काम। मालिक के कारखाने में तेरा अपना कोई काम नहीं। जिसका कारखाना उसी का काम। मालिक के कारखाने में मालिक के आदेशानुसार मालिक की इच्छापूर्ति के लिए कर्म कर। मालिक ने तुझे जहां नियुक्त किया हुआ है वहीं मालिक के राज्य की सुव्यवस्था के लिए निर्धारित कर्म कर। तू जहां भी जिस स्थिति में है वहीं मालिक की प्रेरणा से मालिक का काम कर। ऐसा करने से कर्म में से तेरा अपना अपनापन निकल जाएगा, अहम् [मैं और मेरा] का भाव तिरोहित होजाएगा। कर्म के लेप से मुक्त रहने का इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।

सौ वर्ष मनुष्ययोनि का प्राकृत आयुष्य है। सौ वर्ष जीने की इच्छा अप्राकृत नहीं है, प्राकृत और अधिकृत है। मनुष्ययोनि में नर [आत्मा] को सौ वर्ष निवास करना ही चाहिए, मन्त्रनिर्दिष्ट विधि से कर्म करते हुए।

करते हुए ही यहां कर्मों को
जीना चाहे शत वर्ष।
ऐसे तुझ नर में न लिप्यते कर्म।
नहीं है इससे अन्यथा।

सूक्ति : **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।**
करते हुए ही यहां कर्मों को जीना चाहे सौ वर्ष।

१९६१ **असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।**
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः। य ४०.३
असुर्याः नाम ते लोकाः अन्धेन तमसा आ-वृताः। तान् ते प्र-इत्य अपि गच्छन्ति ये के च आत्म-हनः जनाः।

१) (असुर्याः नाम ते लोकाः) असुर्य संज्ञा [हैं] वे लोक, (अन्धेन तमसा आ-वृताः) अन्ध अन्धकार से आच्छादित।

२) (प्र-इत्य) प्र-याण करके, त्यागकर, मरकर (अपि) भी (तान्) उनको (गच्छन्ति) जाते/प्राप्त करते हैं (ते) वे, (ये के च) जो कोई कि (आत्म-हनः जनाः) आत्म-हन् जन हैं।

लोकाः शब्द का प्रयोग यहां 'अवस्थाओं' अर्थ में हुआ है। अवस्थाएं दो प्रकार की होती हैं, देवी और आसुरी। इन्हीं का नाम देवावस्था और असुरावस्था है। इन्हीं की संज्ञा है दिव्यावस्था और असुर्यावस्था।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जो पूर्वोक्त दो मन्त्रों ['ईशा वास्यमिदं' इत्येषः; 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इत्येषः] की शिक्षा में पूर्ण विश्वास रखते हैं और तदनुसार आचरण करते हैं उनकी अवस्था दैवी अवस्था होती है। तद्विपरीत, जिनकी मान्यता है कि न कोई ईश है न धर्म-कर्म है, न आत्मा है न आत्मसाधना है, 'खाओ पीओ मौज उड़ाओ,' ऐसे जनों की अवस्थाएं असुर्य अथ वा आसुरी अवस्थाएं होती हैं। ऐसों की ही संज्ञा है **आत्महनः जनाः**, आत्महनन करनेवाले लोग क्यों कि वे आत्मसाधना और आत्मकल्याण जैसी बातों में विश्वास नहीं रखते हैं। ये लोग शरीर-पोषण में निमग्न रहते हैं और आत्मा को भूखा मारते हैं।

असुर=असु+र। असु नाम प्राण और जीवन का है। असु-रमण, प्राण-रम्यता, जीवन [देह] की रमणीयता, ऐशो इशरत में निमग्न रहना और आत्मोन्नति के लिए कुछ न करना, यह भी असुरता है। ऐसे भी होते हैं जो ईश और कर्म में विश्वास तो रखते हैं, लोक और पर लोक की भावना का भी मान्य करते हैं पर कुसंस्कार तथा कुवृत्ति के कारण माया में ही लीन रहते हैं, और आत्मोन्नति की राह पर न चलकर अनायास आत्महानि के पथ पर चलते चले जाते हैं। दोनों ही प्रकार के जन आत्महन् हैं। स्वरूप से आत्मा अनिल और अमृत है, अभौतिक और अमर है। आत्मोन्नति न करके आत्महानि करना ही आत्महनन है।

असुर जन चोट खाने वा ठोकर लगने पर कभी कभी सोचते हैं कि 'इस दुनिया का कोई वाली अवश्य है और उसकी प्राप्ति करनी चाहिए। देहरूप इस पिंजड़े में बैठा जो तोता [आत्मा] बोल रहा है, विविध कर्म कर रहा है उसके लिए भी कुछ करना चाहिए।' पर काया का विलास और माया का आकर्षण उन्हें वैसा कुछ करने नहीं देता है। अध्यात्म पथ पर कुछ दूर चलते हैं कि वैसे (ते ये के च आत्म-हनः जनाः) वे जो कोई भी आत्म-हन् जन (प्र-इत्य) चल-चलकर, आत्मपथ पर अग्रसर हो-होकर (अपि) भी, पुनः पुनः (तान्) उन (असुर्याः नाम) असुर्य नाम (लोकाः) अवस्थाओं को (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं, वापस लौट जाते हैं। कारण यही होता है कि (असुर्याः नाम ते लोकाः अन्धेन तमसा आ-वृताः) असुर्य नाम वे लोग अन्ध तमस् से आवृत होते हैं। अन्ध अन्धकार में उन्हें न सत्य का दर्शन होता है, न सत्य में उनकी आस्था जमती है। जब तक अन्ध अन्धकार दूर नहीं होगा तब तक वे अविश्वास और अनिश्चितता के झूलों में झूलते हुए कभी इधर और कभी उधर होते रहेंगे। कभी उनका क्षणिक विश्वास उन्हें उभारा देता है, तो उनका अन्धकृत संशय और प्रमाद उन्हें फिर आसुरी अवस्थाओं में डुबा देता है। इस प्रकार उभरते और डूबते हुए वे जन्म-मरण के भंवरों के थपेड़े खाते रहते हैं।

असुर्या नाम वे लोग और अवस्थाएं,
अन्ध अन्धकार से आवृत।
प्र-इत्य भी प्राप्त होते हैं उनको,
वे जो कोई कि आत्म-हन् जन।

१९६२ **अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्।**
तद् धावतोन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति। य ४०.४
अन्-एजत् एकम् मनसः जवीयः न एनत् देवाः आप्नुवन् पूर्वम् अर्शत्। तत् धावतः अन्यान् अति एति तिष्ठत् तस्मिन् अपः मातरि-श्वा दधाति।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आत्महनों के प्रति वेदमाता कहती है,

१) सबसे (पूर्वम् अर्शत्) आगे चलते हुए (एनत्) इस (अन्-एजत्, एकम्) अ-चल, एक [ईश] को, जो (मनसः जवीयः) मन से अधिक वेगवान् है, (देवाः न आप्नुवन्) देव नहीं प्राप्त कर पाते हैं।

२) अपनी सर्वव्याप्ति से (तिष्ठत्) स्थित—कूट-स्थ—अविचल होता हुआ, (तत्) वह (धावतः अन्यान्) दौड़ते हुए अन्यों को (अति एति) लांघ रहा है।

इस सबका जो स्वामी है वह पूर्व-अर्शी है, सबसे आगे चलनेवाला है, और, साथ ही, है वह **अनेजत्**, अ-चल, न चलनेवाला। गति करने की, चलने की आवश्यकता तभी होती है जब एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना हो। सर्वव्यापक होने से, ईश सर्वत्र विद्यमान है। उसे कहीं से कहीं पहुंचना नहीं है। बिना चले ही वह सर्वत्र पहुंचा हुआ है। अतः तीव्र से तीव्र गतिवाला कोई प्राणी वा पदार्थ उससे आगे नहीं जा सकता है। तेज़ दौड़नेवालों में मन बहुत वेगवान् है। जागृति और स्वप्न, दोनों अवस्थाओं में वह क्षणमात्र में कहीं से कहीं पहुंच जाता है। ऐसा वह तीव्रगामी मन भी उसका पार नहीं पा सकता है, अन्य की तो गति ही क्या है!

देव दो प्रकार के हैं, शरीर में इन्द्रियां, और सृष्टि में प्रकाशलोक। मन से तात्पर्य अन्तःकरण-चतुष्टय से है। भौतिक होने से, मन और इन्द्रियों को अभौतिक ईश की प्रतीति नहीं हो सकती। प्रकाशलोक भी भौतिक हैं। वे भी उसका पार नहीं पा सकते। आत्मा द्वारा ही योगविधि से उसका साक्षात्कार होता है।

आत्महनों को जानना चाहिए, अनुभव करना चाहिए कि ईश है, ईश की सत्ता से ही यह सब सत्तावान् है। यह सब ईश से ही है, ईश में ही है, ईश ही इस सबका स्वामी है, ईश ही इस सबका धाता, विधाता और संचालक है। आत्महनों का यह तर्क कि क्यों कि वह दिखाई नहीं देता है अतः वह नहीं है, कोई अर्थ नहीं रखता है। प्रकृति के अनेक रहस्य हैं जिन्हें जनसाधारण नहीं देख पाते हैं पर वैज्ञानिक उनका भेद पाते हैं। इसी प्रकार, ईश है, और उसके साक्षात्कार का भी एक विशेष विज्ञान है जिसके आश्रय से साधक जन उसका प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं।

३) भोले मानसो! विश्वास करो। ईश है। और (तस्मिन्) उसमें, उसी में (मातरि-श्वा) माता में श्वसन करनेवाला [सांस लेनेवाला] (अपः) कर्मप्रवाहों को, जन्मप्रवाहों को (दधाति) धारण करता है, प्रवाहित करता है।

आत्मा ही है जो कर्मानुसार गर्भ में आता है और सशरीर गर्भ से बाहर निकलने तक माता के गर्भ में निवास करता हुआ श्वसन करता है। जब तक आत्मा आत्मसाधना द्वारा जीवन्मुक्त विदेह बन-कर मोक्ष की प्राप्ति नहीं करता है तब तक वह पुनः पुनः माता के गर्भ में आता है और जन्मने तक गर्भ में सांस लेता है। ईश की न्याय-व्यवस्था द्वारा ही यह सब होता है। कर्म से विरति असम्भव है। कर्म का चुनाव तो किया जा सकता है पर छुटकारा नहीं पाया जा सकता। कर्म दो प्रकार के होते हैं, बन्धनकारी, मोक्षकारी। फलासक्ति से जो कर्म किए जाते हैं वे बन्धनकारी [जन्मदा] हैं। ब्रह्मवत् निर्विषय, निर्विकार, निर्लेप और निरासक्त होकर जो कर्म किए जाते हैं वे मोक्षकर होते हैं।

ईश भी है। कर्म भी हैं। कर्ता भी हैं। कर्म-फलदाता भी है। आत्महनों को इस मन्त्र में ये बातें बताई गई हैं। **विश्वास करो और तरो। ईश के जगत् में ईश के होकर कर्म करो, ईशार्पित होकर कर्म करो। मोक्ष का यही सोपान है।**

अचल, मन से तीव्र, पूर्वगम,
इस एक को न पहुंच पाए देव।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वह कूटस्थ, अन्य धावतों को लांघ, जारहा।

उसमें धारण करता मातरि-श्वा जन्म-कर्मप्रवाहों को।

१९६३ तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः। य ४०.५

तत् एजति तत् न एजति तत् दूरे तत् उ अन्तिके। तत् अन्तः अस्य सर्वस्य तत् उ सर्वस्य अस्य बाह्यतः।

आत्महनों को वेदमाता समझाए चली जारही है—

१) आत्महनो ! ईश है। (तत् एजति) वह कम्पाता है, (तत् न एजति) वह नहीं कम्पता है। एजृ कम्पने। ईश इस सबका संचालन करता है। उसकी सर्वगत सत्ता इस सबको गति देरही है। उसकी व्याप्तिमात्र से यह सब गति कर रहा है किन्तु ईश को कोई गति नहीं देता है।

न वह स्वयं गति करता है, न अन्य कोई उसे गति देरहा है। सर्वव्यापक और कूटस्थ होने से उसे स्वयं गति करने की आवश्यकता नहीं है। वह स्वयं इस सबका प्रेरक है। उसका प्रेरक अन्य कोई नहीं है। गति करने की आवश्यकता उसे पड़ती है जिसे एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना पड़ता है। ईश सर्वव्यापक है, कूटस्थ है, कण कण और परमाणु परमाणु में उसकी सत्ता एकरस सर्वव्याप्त है। अतः उसे स्वयं गति करने की आवश्यकता नहीं है।

२) (तत् दूरे, तत् उ अन्तिके) वह दूर में [है], वह ही अतिसमीप में [है]। ईश की जो सत्ता सर्वव्यापक है उसके विषय में दूरी और समीपता का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए। यहां दूरी से तात्पर्य उसका अदर्शन है, और समीपता से साक्षात्कार। ईश के माननेवालों के लिए, ईशज्ञों के लिए, योगसाधना द्वारा उसका साक्षात् दर्शन करनेवालों के लिए वह और उसकी महिमा सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। अतः ईश उनके लिए निकटतम है, भेदरहित है। जो मानव अज्ञानवश उसकी सत्ता में विश्वास नहीं करते हैं, विश्वास करते हुए भी जो उसे सदा भूले रहते हैं, उसे सर्वव्यापक और सर्वज्ञ जानकर भी दुष्कर्म करते हैं, आत्मसाधना द्वारा उसके साक्षात्कार का अभ्यास नहीं करते हैं उनके लिए वह दूरातिदूर है।

इसमें एक अन्य भाव भी अन्तर्निहित है। प्रेम और स्मरण से निकटता होती है। प्रेमरहितता और विस्मृति से दूरी होती है। किसी के निकट रहते हुए भी यदि उससे प्यार नहीं होता तो वह दूर ही है। दूर रहते हुए भी यदि किसी के प्रति प्रेम और स्मरण है तो वह दूर रहते हुए भी निकटतम है। एवमेव, ईश को प्यार और स्मरण करनेवालों के लिए वह सदा उनके निकटतम है। जो उसे भूले रहते हैं उनके लिए वह निकटतम होते हुए भी दूरतम है।

३) अन्यथा तो (तत् अन्तः अस्य सर्वस्य, तत् उ सर्वस्य अस्य बाह्यतः) वह अन्दर [व्याप्त] है इस सबके, वह ही इस सबके बाहर है।

इस अध्याय के प्रथम मन्त्र में जो कहा गया था, 'ईशा वास्यमिदं सर्वम्' [ईश्वर से वास्य (व्याप्त) है यह सब], उसी भाव का स्पष्ट और पूर्ण द्योतन इस मन्त्रांश में है। इस अध्याय के प्रथम मन्त्र में 'इदं सर्वम्' का प्रयोग जिस व्यापक भाव से हुआ है उसी भाव से इस मन्त्रांश में 'तत् अन्तः अस्य सर्वस्य' तथा 'तत् उ सर्वस्य अस्य बाह्यतः' का प्रयोग हुआ है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वह कम्पाता है, वह नहीं कम्पाया जाता है,
वह दूर है, वह निकटतम है।

वह भीतर इस सबके,
वह ही बाहर है इस सबके।

१९६४ यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति।

य ४०.६

यः तु सर्वाणि भूतानि आत्मन् एव अनु-पश्यति। सर्व-भूतेषु च आत्मानम् ततः न वि चिकित्सति।

पूर्व-मन्त्र में कहा गया है, **'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः,'** वह इस सबके अन्दर समाया हुआ है; वह ही इस सबके बाहर है। उस ईश की सत्ता इस सबके बाहर-भीतर, भीतर-बाहर बसी हुई है। वह इस सबमें रम रहा है। वह सर्वव्यापक है। जड़-चेतन, प्राणी-अप्राणी, सबमें उसकी सत्ता व्यापी हुई है।

इस प्रकार (यः तु) जो तो, जो भी मानव (सर्वाणि) सब (भूतानि) भूतों को (आत्मन् एव) आत्मा में ही (अनु-पश्यति) निरन्तर देखता है, साक्षात् अवलोकन करता है, (च) और (सर्व-भूतेषु) सब भूतों में (आत्मानम्) आत्मा को—(ततः) तो उससे, तत्पश्चात्, उस अनुभूति के बाद [मानव] (न वि चिकित्सति) वि-चिकित्सा, संशय नहीं करता है [,संशयरहित होजाता है]।

आत्मा शब्द का प्रयोग यहां उस सत्ता के लिए हुआ है जिसे प्रथम मन्त्र में **ईश्** कहा गया है। शरीरनिहित आत्मा की प्रेरणा से जिस प्रकार प्राणी गति करता है उसी प्रकार वह सृष्टिव्यापी [सर्वव्यापक] परमात्मा इस सबको संचालित कर रहा है।

भूतानि शब्द का प्रयोग पञ्च [आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी] भूतों के लिए भी होता है, पाञ्चभौतिक पदार्थों के लिए भी होता है, प्राणियों के लिए भी होता है। अतः **'सर्वाणि भूतानि'** से तात्पर्य यहां सम्पूर्ण प्राणियों और अप्राणियों [भौतिकों] से है।

वि-चिकित्सा नाम भूल, संशय, सन्देह और निश्चयराहित्य का है। चिन्तन, ज्ञान और आत्म-साधना के द्वारा जो किसी भी सत्य या तत्त्व का साक्षात्कार वा सन्दर्शन करता है वही उस विषय में संशयरहित होता है, अन्य नहीं। **'असुर्या नाम लोकाः'**, आसुरी वृत्ति के लोग चिन्तन, ज्ञान और आत्मसाधना से शून्य रहने के कारण इस सत्य के विषय में कि 'परमात्मा सब भूतों में रमा हुआ है और सर्वभूत परमात्मा में निहित हैं,' सदा संशय-शील रहते हैं। आसुरी माया में लीन रहने के कारण वे ईश की सत्ता और अपने कर्तव्य कर्मों की महत्ता का न चिन्तन करते हैं, न उनके संज्ञान की प्राप्ति कर पाते हैं। परिणामस्वरूप, वे सदा संशयग्रस्त रहते हैं। चिन्तन, संज्ञान और संसाधना द्वारा जो परमात्मा की सर्वव्यापिनी सत्ता और उसके सर्वरम निजरूप का साक्षात् कर लेते हैं वे ही, केवल वे ही इस सबको परमात्मा में, और इस सबमें परमात्मा को देखते हैं। वे ही संशयरहित रहते हुए ब्राह्मी स्थिति में स्थित रहते हुए ब्राह्म कर्म करते हैं और परम पद पाते हैं।

चिन्तनशील देव, अचिन्तनशील असुर, यह परिभाषा स्मरणीय है। चिन्तनशील यदि आत्म-साधना न भी कर पाएं तो अपनी भावना से ही 'सब भूतों को परमात्मा में, और सब भूतों में परमात्मा को' सतत, सन्तत, निरन्तर देखते हैं।

जो तो है देखता
सब भूतों को आत्मा में ही,
और सब भूतों में आत्मा को,
तो वह नहीं करता है संशय।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१९६५ **यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।**
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः । य ४०.७

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूत् वि-जानतः । तत्र कः मोहः कः शोकः एक-त्वम् अनु-पश्यतः ।

(यस्मिन्) जिस अवस्था में (एक-त्वम् अनु-पश्यतः वि-जानतः) एकत्व को देखनेवाले वि-ज्ञानी का (आत्मा एव) ईश ही (सर्वाणि भूतानि) सर्व भूत (अभूत्) होगया (तत्र) वहां, उस अवस्था में (कः मोहः) कौन मोह, क्या मोह, कैसा मोह, (कः शोकः) कौन शोक, क्या शोक, कैसा शोक !

पूर्व-मन्त्रवत्, **आत्मा** शब्द का प्रयोग यहां भी प्रथम मन्त्र में प्रयुक्त ईश् के लिए हुआ है। **अनु-पश्यतः** में सतत दर्शन अथ वा आत्मानुभव—आत्मानुभूति से देखने का भाव अन्तर्निहित है। आत्म-साधना-जन्य अनुभूति के द्वारा एकत्व को देखनेवाले वि-ज्ञानी, विशेष ज्ञानी, साक्षात्कारकर्ता योगी की एक अवस्था होती है जिसमें वह, पूर्व-मन्त्रवत्, सब भूतों को ईश् में, और सब भूतों में ईश् को सतत, सन्तत, निरन्तर, प्रत्यक्ष, साक्षात् देखता है। उस अवस्था में उसकी दृष्टि में (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणी, सब भौतिक वस्तुएं (आत्मा एव) ईश् ही, ईशमय ही (अभूत्) होगए होते हैं। उस अवस्था में उसे ईश् और इदम् सर्वम्, ईश् और यत् किम् च जगत्यां जगत्, स्रष्टा और सृष्टि एकाकार दिखाई देते हैं। तब न मोह रहता है न शोक।

इस स्थिति की प्राप्ति आसुरी वृत्ति के लोगों को नहीं, दैवी वृत्ति के साधक-साधिकाओं को ही होती है। यथा दृष्टि तथा सृष्टि। साधक की दृष्टि में जब सबमें ईश्, और ईश् में सबका दर्शन होने लगता है तब उसका मस्तिष्क विवेकप्रकाश से प्रकाशित हो जाता है, और उसका हृदय [अन्तः करण] वह दर्पण बन जाता है जिसमें सब कुछ ईशमय दिखाई देता है, और ईश् का ही प्रतीत होता है। 'इस सबमें ईश् ओत-प्रोत है और ईश् ही इस सबका स्वामी है,' ऐसी दृष्टि और स्थिति जिसकी होजाती है वही मोहमुक्त हो पाता है। वहां त्वम् और तव [तू और तेरा] होता है; अहम् और मम [मैं और मेरा] समाप्त होजाता है। जहां अहम् और मम है वहीं मोह की स्थिति होती है। ममता ही मोह की जननी है। जहां ममता नहीं वहां मोह नहीं। मोह ही शोक का जनक है। मोह मिटा तो शोक मिटा, यह स्पष्ट और प्रत्यक्ष है।

मोह और प्रेम में अन्तर है, बहुत अन्तर है। मेरापन से मुक्त प्यार का नाम प्रेम है। मेरापन से युक्त प्यार का नाम मोह है। प्रेम के लिए मेरापन की आवश्यकता नहीं। देवजन परम पावन ईश से प्रेम करते हैं। और क्यों कि यह सब ईशमय है और ईश का है इसी लिए वे इस सबको भी, प्राणी- और अप्राणी-जगत् को भी प्यार करते हैं। वे ममतारहित होकर जग में रहते हैं, जगत् की सुसेवा भी करते हैं। ईश कहता है, 'मुझे भी प्यार करो, मेरे संसार को भी प्यार करो, मेरी प्राणि-प्रजा को भी प्यार करो। पर मेरापन से मुक्त रहो। उस अवस्था में तुम मोह और शोक से मुक्त रहते हुए आनन्दित रहोगे।'

जिस अवस्था में एकत्व को
देखनेवाले विज्ञानी का
ईश ही होगया सर्व भूत,
वहां कौन मोह, कौन शोक !

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१९६६ स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतो ऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।

य ४०.८

सः परि अगात् शुक्रम् अ-कायम् अ-व्रणम् अ-स्नाविरम् शुद्धम् अ-पाप-विद्धम् । कविः मनीषी परि-भूः स्वयम्-भूः याथा-तथ्यतः अर्थान् वि अदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।

एकत्व का संदर्शन करनेवाला विज्ञानी कहता है,

१) मानवो ! (सः) वह [ईश] है । कैसा है वह ? वह है (परि अगात्) सब ओर गया हुआ, सर्वतः व्याप्त, सर्वव्यापक ।

२) सर्वव्यापक होने से वह है (शुक्रम्) सर्वशक्तिमान्, सर्ववशयिता । सर्वव्यापक ही सर्ववशयिता होता है । एकदेशीय वा देशविशेषीय न सर्ववशयिता हो सकता है, न सर्वशक्तिमान् ।

३) वह है (अ-कायम्) काया-रहित, निराकार । साकार सत्ता निराकार नहीं हो सकती । आकाशवत् निराकार होने से ही ईश इस सबमें और इस सबसे बाहर भी है ।

४) अकाय होने से ही वह है (अ-व्रणम्) व्रणरहित । 'व्रण' नाम फोड़ा, फुंसी और घाव का है । **अव्रण** से तात्पर्य यहां रोगराहित्य से है । रोग सकाय में ही होते हैं, अकाय में नहीं ।

५) और है वह (अ-स्नाविरम्) नस-नाड़ी-रहित । सकाय में ही नस-नाड़ी होती हैं, अकाय में नहीं ।

६) अकाय होने से ही वह सदा (शुद्धम्, अ-पाप-विद्धम्) शुद्ध और पाप-रहित रहता है । साकार में ही अशुद्धता होती है, और पाप के प्रवेश की सम्भावना होती है ।

७) वह है (कविः) क्रान्तप्रज्ञ, क्रान्तदर्शी, क्रान्तकर्मा । उसी की क्रान्त प्रज्ञा, क्रान्तदर्शिता और क्रान्त कृति से यह सृष्टि-काव्य प्रादुर्भूत हुआ करता है ।

८) वह है (मनीषी) मनीषी । उसी की मनीषिता से, सर्वज्ञता से विज्ञानमय तथा संज्ञानमय वेद अवतरित हुआ करता है ।

९) वह है (परि-भूः) परि-सत्तावान्, परिपूर्ण, सबमें सर्वतः रमा हुआ । उसी की परिपूर्ण सत्ता द्वारा यह सब परिपूर्णतया सुस्थित और सुव्यवस्थित है । सम्पूर्ण सत्ता उसी से है, उसी में है । उसी की शाश्वत सत्ता में सबकी सत्ता है । सृष्टि-साम्राज्य का शासन वह स्वयं करता है । उसे किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं ।

१०) वह है (स्वयम्-भूः) स्वयं-सत्तावान् । वह स्वयं है, सदा से है, सदा रहेगा । वह त्रिकालातीत है । उसका न आदि है न अन्त, न जन्म है न मरण । उसका किसी से प्रादुर्भवन नहीं होता है; उससे सबका प्रादुर्भाव होता है ।

११) वह समस्त (अर्थान्) अर्थों को, भोग्य पदार्थों को, वसुओं को (याथा-तथ्यतः) यथायोग्यतया (वि अदधात्) व्यवस्थित—समुत्पन्न किया करता है । प्रत्येक कल्प में वह सकल अर्थों को यथावत् उत्पन्न किया करता है । वह स्वयं निर्भोग है । सकल भोग्य पदार्थों की रचना वह अपने लिए नहीं (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) शाश्वत समागतों के लिए, जन्मधारण करनेवाली सनातन आत्म-प्रजाओं के लिए, अमर आत्माओं के लिए किया करता है ।

वह है परि अगात्, शुक्र, अकाय, अव्रण,
अस्नाविर, शुद्ध, अपापविद्ध, कवि,
मनीषी, परिभू, स्वयम्भू ।
उसी ने व्युत्पन्न किया है याथातथ्यतः
अर्थों को शाश्वत समाओं के लिए ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१९६७ **अन्धं तमः प्र विशन्ति ये ऽसम्भूतिमुपासते ।**
ततो भूयइव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः । य ४०.९

अन्धम् तमः प्र विशन्ति ये अ-सम्-भूतिम् उप-आसते । ततः भूयः-इव ते तमः ये उ सम्-भूत्याम् रताः ।

(अन्धम् तमः) आवरक अन्धकार को/में (प्र-विशन्ति) प्रवेश करते हैं (ये अ-सम्भूतिम् उप-आसते) जो अ-सम्भूति को उपासते हैं। (ततः उ भूयः-इव) उससे भी अधिक-जैसे (ते) वे (तमः) अन्धकार [में प्रवेश करते हैं] (ये) जो (सम्-भूत्याम् रताः) सम्भूति में रत [रहते हैं]।

भू (सत्तायाम् [सत्ता, अस्तित्व]) धातु से 'भूति' शब्द का जन्म हुआ है। **सम्-भूति** का अर्थ है सम्यक्-भूति, जिस सत्ता का मन्त्र ८ में चित्रण किया गया है उस सत्ता की अनुभूति, उस सत्ता की अनुभावना, उसी सत्ता में लीनता की स्थिति।

असम्भूति, नहीं-सम्भूति, सम्भूति की विपरीत स्थिति। जिस सत्ता का मन्त्र ८ में चित्रण किया गया है उससे विलगता, उसकी विस्मृति, माया-लीनता, सांसारिकता में इतना निमग्न रहना कि आत्मकल्याण तथा ब्रह्मभाव की भावना का ही लोप हो जाए।

पूर्व-मन्त्र में जिस ईश को स्वयम्भू कहा गया है उसी की सत्ता का द्योतन यहां **सम्भूति** शब्द से किया गया है। जो जगती में जगत् है, जो इदं सर्वम् है, जिसमें शाश्वत समाओं के लिए विविध अर्थों का याथातथ्यतः संधारण किया गया है उसके लिए **असम्भूति** शब्द का प्रयोग हुआ है।

अन्ध तम में प्रवेशते हैं जो उपासते अ-सम्भूति को ।
उससे भी अधिक-जैसे तम में वे जो सम्भूति में रत ।

१९६८ **अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् । इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ।**
य ४०.१०

अन्यत् एव आहुः सम्-भवात् अन्यत् आहुः अ-सम्-भवात् । इति शुश्रुम धीराणाम् ये नः तत् वि-चचक्षिरे ।

'उस सत्ता को (अन्यत् एव आहुः सम्-भवात्) भिन्न ही कहते हैं सम्-भव से, (अन्यत् आहुः अ-सम्-भवात्) भिन्न कहते हैं अ-सम्-भव से,' (इति) ऐसा (शुश्रुम) सुनते आए हैं [हम कथन] (धीराणाम्) धीरों का (ये नः तत् वि-चचक्षिरे) जो हमें उसे [सत्ता के विषय में] विशेषतः कहते आए हैं।

तत् शब्द का प्रयोग यहां उस सत्ता अथ वा उस ब्रह्म के लिए हुआ है। अनुभूति, अनुभावना हृदय की परिष्कृति तथा गहनता की अनुरूपा होती है। अनुभूति वा अनुभावना कितनी भी गहन और परिष्कृत क्यों न हो, रहेगी वह यथार्थ से भिन्न ही। उसके यथार्थ स्वरूप का दर्शन तो उसमें आत्मना प्रवेश करने पर ही होगा। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए यहां कहा गया है कि 'तत्' = वह स्वयम्भू, वह ब्रह्म, वह सत्ता सम्भव [सम्भूति] से भिन्न है, असम्भव [असम्भूति] से भी भिन्न है। जिन धीरों ने उसका साक्षात्कार किया है वे ऐसा ही कहते हैं और कहेंगे।

हृदय मन का अधिष्ठान है। मन की दौड़ बड़ी तीव्र है, अतिशय तीव्र है। वह ब्रह्म हृदय की भावना और मन के संकल्पों के वेग से बहुत परे है। गंगा अपनी सम्पूर्ण भावना से सागर की ओर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रयाण कररही है। पर उसकी भावना में सागर का यथार्थ रूप नहीं है। समुद्र में प्रविष्ट होने पर ही उसे सागर की विशालता का और उसके स्वरूप का दर्शन होता है। उसी प्रकार अपनी सम्पूर्ण भावना से ब्रह्मलीन रहनेवाले उसके विषय में जो अनुभूति और अनुभावना रखते हैं, वह ब्रह्म उससे भिन्न ही है, काल्पनिक ही है। सांसारिकता में निमग्न जन जिस भाव से उसका पूजन, भजन करते हैं वा उसे मानते हैं, वा उसके अस्तित्व के विषय में संशय वा इंकार करते हैं उससे भी वह भिन्न है। यह सब उससे भी अधिक काल्पनिक और अयथार्थ है।

इस मन्त्र में सम्भूति और असम्भूति के लिए क्रमशः **सम्भव** तथा **असम्भव** शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो एक तथ्य का द्योतक है। उस [ईश, ब्रह्म] की सत्ता और उसके रूप के विषय में जितनी भी सम्भावनाएं तथा असम्भावनाएं हैं वे सब वास्तविकता से अन्यत् हैं, भिन्न हैं। वह कैसा है और कैसा नहीं है, इन प्रश्नों के उत्तर में जो भी सम्भावनाएं बताई जाती हैं वे सब उसके रूप का यथावत् चित्रण नहीं हैं। ये सब अनुभूति और अनुभावना की सुनी और सुनाई बातें हैं। **शुनीदा कै शवद मानिन्दे दीदा**। सुना हुआ जिस प्रकार देखने पर बहुत भिन्न दिखाई देता है उसी प्रकार ब्रह्म के विषय में जो कहा और सुना जाता है, उसके दर्शन करने पर वह **अन्यत्**, भिन्न ही दिखाई देगा। किसी महापुरुष से प्रथम मिलन में हम कहते हैं, 'आपके विषय में हमने जितना, जो कुछ सुना था, मिलने पर हम आपको उससे कहीं अधिक श्रेष्ठ और भिन्न पा रहे हैं।' वही स्थिति ईश [ब्रह्म] के निज रूप के दर्शन पर होगी, ईश में आत्मना प्रवेश करने पर होगी। तब सम्भूति और असम्भूति के उभय तट समाप्त होजाएंगे।

'भिन्न ही कहते हैं सम्भव से, भिन्न कहते अ-सम्भव से,'
ऐसा सुनते आए हैं हम धीरों से,
हमसे जो उसके विषय में
विशेषतः कहते आए हैं।

१९६९ **सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह। विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते।**

य ४०.११

सम्-भूतिम् च वि-नाशम् च यः तत् वेद उभयम् सह। वि-नाशेन मृत्युम् तीर्त्वा सम्-भूत्या अ-मृतम् अश्नुते।

(सम्भूतिम् च विनाशम् च) सम्भूति और विनाश, (उभयम्) दोनों को (सह) साथ-साथ [रखता हुआ] (यः) जो (तत्) उस [ईश, ब्रह्म] को (वेद) प्राप्त करता है वह (विनाशेन मृत्युम् तीर्त्वा) विनाश द्वारा मृत्यु को तरकर (सम्भूत्या) सम्भूति से (अ-मृतम् अश्नुते) अ-मृत सेवन करता है।

असम्भूति के लिए यहां **विनाश** शब्द का प्रयोग हुआ है। यह सब, यह जगती और जगती में जो कुछ है वह सब नाशवान् है। यह शरीर भी नाशवान् है। किन्तु इसे जीवित रखने के लिए, सौ वर्ष तक मृत्यु से इसकी रक्षा करने के लिए नश्वर, भौतिक वस्तुओं का आश्रय लिया ही जाना चाहिए। इसी का नाम मृत्यु से तरना है।

प्रत्यक्षतः, सम्भूति से, ईशानुभूति वा ब्रह्मानुभावना से आत्मा अमृत का सेवन करता है, परितृप्त और आनन्दित रहता है।

इसी लिए कहा गया है कि सम्भूति और असम्भूति की सह-साधना से उस ब्रह्म को प्राप्त/साक्षात् किया जाता है।

सम्भूति और विनाश, दोनों को साथ साथ
रखता हुआ, जो उसे प्राप्त करता है,
विनाश से तरकर मृत्यु, सम्भूति से अमृत सेवता।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१९७० अन्धं तमः प्र विशन्ति ये ऽविद्यामुपासते । ततो भूयइव ते तमो य उ विद्यायां रताः ।

य ४०.१२

अन्धम् तमः प्र विशन्ति ये अ-विद्याम् उप-आसते । ततः भूयः-इव ते तमः ये उ विद्यायाम् रताः ।

(अन्धम् तमः) आवरक अन्धकार को/में (प्र विशन्ति) प्रवेश करते हैं (ये अ-विद्याम् उप-आसते) जो अ-विद्या को उपासते हैं। (ततः उ भूयः-इव) उससे भी अधिक-जैसे (ते) वे (तमः) अन्धकार को/में [प्रवेश करते हैं] (ये विद्यायाम् रताः) जो विद्या में रत [रहते हैं]।

विद्या से तात्पर्य यहां परा विद्या से है, और **अविद्या** से अपरा विद्या। परा विद्या के आश्रय से मानव ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करते हैं, साक्षात्कार नहीं। अपरा विद्या के द्वारा वे प्रकृति में प्रकर्ता [ईश, ब्रह्म] के कमाल और जमाल की, कौशल और सौन्दर्य की छटा का दर्शन करते हैं, उसके निज रूप का नहीं। दोनों ही विद्याएं उसकी थाह नहीं पाती हैं और 'नेति नेति, (न इति न इति,) इतना ही नहीं, ऐसा ही नहीं' कहकर मौन होजाती हैं। दोनों ही की पहुंच से ब्रह्म नितान्त परे है। साधक दोनों से ऊपर उठकर जब आत्मसाधना करते हैं तब उन्हें ईश के सत्य स्वरूप का दर्शन होता है। इसी आशय का प्रकाशन करते हुए कहा गया है कि जो केवल अविद्या [प्रकृति] की उपासना करते हैं वे उस घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं जिसमें ईश की छाया तक दिखाई नहीं देती है, जो केवल विद्या [परा विद्या] की उपासना करते हैं वे उससे भी ऐसे अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं जिसमें ब्रह्म का नितान्त अदर्शन होता है।

अन्ध तम में प्रवेशते हैं जो उपासते अविद्या को।
उनसे भी अधिक-जैसे तम में वे जो विद्या में रत रहते।

१९७१ अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः । इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ।

य ४०.१३

अन्यत् एव आहुः विद्यायाः अन्यत् आहुः अ-विद्यायाः । इति शुश्रुम धीराणाम् ये नः तत् वि-चचक्षिरे ।

'उस सत्ता को (अन्यत् एव आहुः विद्यायाः) भिन्न ही कहते हैं विद्या से, (अन्यत् आहुः अ-विद्यायाः) भिन्न ही कहते हैं अ-विद्या से,' (इति) ऐसा (शुश्रुम) सुनते आए हैं [हम कथन] (धीराणाम्) धीरों का (ये नः तत् वि-चचक्षिरे) जो हमें उसे [उस सत्ता के विषय में] विशेषतः कहते आए हैं।

तत् शब्द का प्रयोग यहां भी उसी सत्ता वा ब्रह्म के लिए हुआ है जिसका चित्रण मन्त्र ८ में हुआ है। वह सत्ता विद्या और अविद्या, दोनों की पहुंच से बहुत परे है। उसके यथार्थ स्वरूप का दर्शन उसमें आत्मना प्रवेश करने पर ही होता है। जिन धीरों ने उसका साक्षात्कार किया है उनका कहना है कि वह दोनों की कल्पनाओं से भिन्न है।

मस्तिष्क विद्या का अधिष्ठान है। विद्या [ज्ञान] का क्षेत्र अनन्त, असीम, अपार है। परन्तु उस सत्ता के विषय में विद्या-अविद्या, पराविद्या-अपराविद्या की दौड़ नगण्य है। मस्तिष्क की विचारतरंगों की गति हृदय की भावतरंगों और मन की संकल्पतरंगों की गति से कहीं अधिक है। फिर भी महत् ब्रह्म में उनकी गति नहीं है। मस्तिष्क कहां तक उस अचिन्त्य का चिन्तन करेगा! आत्मसमाहिति में

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आत्मनेत्र द्वारा उसका दर्शन करके जब आत्मा आत्मना उसमें प्रवेश करेगा तब विद्या, अविद्या के उभय तट उसी प्रकार ग़ाइब होजाएंगे जिस प्रकार समुद्र में प्रवेश करने पर महानदियां तट-मुक्त हो जाती हैं ।

'भिन्न ही कहते हैं विद्या से,
भिन्न कहते अविद्या से,'
ऐसा सुनते आए हैं हम धीरों से,
हमसे जो उसके विषय में
विशेषतः कहते आए हैं ।

१९७२ **विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।**
य ४०.१४

विद्याम् च अ-विद्याम् च यः तत् वेद उभयम् सह । अ-विद्यया मृत्युम् तीर्त्वा विद्यया अ-मृतम् अश्नुते ।

(विद्याम् च अ-विद्याम् च) विद्या और अ-विद्या, (उभयम्) दोनों को (सह) साथ साथ [रखता हुआ] (यः) जो (तत्) उस [ईश, ब्रह्म] को (वेद) प्राप्त करता है वह (अ-विद्यया मृत्युम् तीर्त्वा) अ-विद्या से मृत्यु को तरकर (विद्यया) विद्या से (अ-मृतम् अश्नुते) अ-मृत सेवन करता है ।

अपरा विद्या के आश्रय से प्रकृति तथा प्राकृत वस्तुओं का सेवन करके मानव मृत्यु से अपनी रक्षा करता है । शरीर से स्वस्थ और नीरोग रहता हुआ वह दीर्घजीवी होता है । परा विद्या के आश्रय से वह आत्मसाधना करके ब्रह्मामृत का सेवन करता है ।

विद्या और अविद्या, दोनों को साथ साथ
रखता हुआ, जो उसे प्राप्त करता है,
अविद्या से तर कर मृत्यु, विद्या से अमृत सेवता ।

१९७३ **वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।**
ओं क्रतो स्मर । क्लिबे स्मर । कृतं स्मर । य ४०.१५

वायुः अन्-इलम् अ-मृतम् अथ इदम् भस्म-अन्तम् शरीरम् । ओम् क्रतो स्मर । क्लिबे स्मर । कृतम् स्मर ।

१) (वायुः अन्-इलम् अ-मृतम्) आत्मा अ-पार्थिव और अ-मर है, (अथ) और (इदम् शरीरम्) यह शरीर (भस्म-अन्तम्) भस्म-अन्त है, भस्म में मिलनेवाला है, विनश्वर है ।

वा (गतौ) धातु से वायु शब्द बना है । **वायु** का अर्थ है गतिशील । गतिशील होने से पवन को वायु कहते हैं । आत्मा गतिशील है । आत्मा के मिष से ही शरीर गति करता है । सृष्टि को गति देनेवाला होने से परमात्मा वायु है । शरीर की गति में सहायक होने से प्राण वायु है ।

यहां **वायु** शब्द का प्रयोग आत्मा अर्थ में हुआ है । आत्मा अभौतिक है, अतः अमर हैं । शरीर भौतिक है, अतः मर है । यह आत्मा के अमरत्व का और शरीर की विनश्वरता का संज्ञान है । आत्मा का अमरत्व परा विद्या का संबोध है, तो शरीर की विनश्वरता अपरा विद्या का । इसी प्रकार ओं [ब्रह्म] का संज्ञान परा विद्या है, और सृष्टि का विज्ञान अपरा विद्या ।

आत्मा और शरीर के संयोग का ही नाम जीवन है । जीवन में आत्मा अजर, अमर, अविनाशी

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है, शरीर है भस्मान्त, विनश्वर।

'भस्म से पैदा हुआ तू भस्म में मिल जाएगा,'
कदापि ऐसा कहा गया था नहीं अमर आत्मा के लिए।

आत्म-अमरत्व की सतत स्मृति तथा अनुभूति से मानव सदा निर्भय, निर्मल, निर्विकार, जीवन्मुक्त बना रहता है और कभी क्लैब्य को, नपुंसकता को प्राप्त न होकर सदा शौर्य, वीर्य, पराक्रम, सक्रियता, कर्मसाधना से युक्त, सुयुक्त रहता है, वासनाजन्य शारीरिक व्यासंगों से सदा अलिप्त रहता है।

२) आत्म-अमरत्व की स्मृति तथा अनुभूति से युक्त, और शारीरिक व्यासंगों से मुक्त रहता हुआ (क्रतो) ! तू (ओम् स्मर) ओं स्मर, अनवरत ओं का स्मरण रख।

'क्रतो' शब्द **क्रतु** शब्द के सम्बोधन का रूप है। क्रतु नाम कर्तृत्वशील का है, सतत कर्मरत रहनेवाले का है। क्रतु नाम उस मानव का है जो सदा अतिव्यस्त रहता है, जिसे इतना काम रहता है कि मरने की भी फ़ुर्सत नहीं। अतिशयता के साथ कर्मरत रहनेवाले ! कर्म कर, किन्तु कर्मरत रहते हुए जहां तुझे यह स्मरण रहे कि आत्म-स्वरूप से तू अजर, अमर, अविनाशी है, वहां तुझे सदा यह भी स्मरण रहे कि इस जगती में जो कुछ है उस सबमें जगत्पति ईश, जिसका निज नाम ओं है, रमा हुआ है। यह सब ईश का कारखाना है और यहां जो कुछ भी काम है वह सब भी ईश का ही है। अतः, क्रतो ! कर्म कर, ओं स्मर। विश्राम करते हुए भी ओं स्मर, कर्म करते हुए भी ओं स्मर।

३) आत्मा अमर है, शरीर नाशवान् है, ओं इस सबका ईश है—यह सब किसलिए स्मरण रखा जाए ? (क्लिबे स्मर) क्लैब्य [से मुक्त रहने] के लिए स्मरण रख।

क्लैब्य नाम नपुंसकता, अवीरता, कायरता, दीनता का है। आत्म-ओंविस्मृति से मनुष्य क्लैब्य को प्राप्त होता और प्राप्त रहता है, शोक और मोह से ग्रस्त होकर प्रत्येक क्षेत्र में पराजय और विफलता प्राप्त करता है। वायु और ओं की स्मृतिजन्य अनुभूति से मनुष्य विश्वसंग्राम में जूझता हुआ क्लैब्य से मुक्त रहता है और प्रत्येक क्षेत्र में विजयश्री उसका चरणचुम्बन करती है।

४) साथ ही, (कृतम् स्मर) लक्ष्य स्मरण रख।

कृत का अर्थ है किया हुआ, कर्म, कार्य, साधना, उद्देश्य, प्रयोजन, लक्ष्य। यहां इस शब्द का प्रयोग उद्देश्य वा लक्ष्य अर्थ में हुआ है। जीवन-संग्राम में युद्धरत रहते हुए, आत्मसाधना द्वारा आत्मना ब्रह्म में प्रवेश करके ब्राह्म मोक्ष की प्राप्ति के लक्ष्य का सन्तत स्मरण रहना चाहिए। जगती तो अस्थायी निवासस्थान है। आत्मा का शाश्वत निवासस्थान तो वह ब्रह्मधाम है जहां अजस्र ज्योति और अक्षय आनन्द है। क्रतु को इस कृत का स्मरण रहना ही चाहिए।

आत्मा है अभौतिक, अमर,
और यह शरीर है भस्मान्त।
क्रतो ! ओम् स्मर, क्लैब्यार्थ स्मर, कृत स्मर।

सूक्ति : **वायुरनिलममृतम्।**
आत्मा अभौतिक, अविनाशी है।
भस्मान्तं शरीरम्।
शरीर नाशवान् है।
ओं क्रतो स्मर।
कर्मकरनेवाले ! कर्म कर, ओं स्मर।

१९७४ **अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।**
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम।
[ऋ १.१८९.१, य ५.३६, ७.४३] य ४०.१६

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अग्ने नय सु-पथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोधि अस्मत् जुहुराणम् एनः भूयिष्ठाम् ते नमः-उक्तिम् विधेम।

१) (अग्ने) सु-पथ-प्रदर्शक प्रभो! (नय) लेचल, लेजा (सु-पथा) सु-पथ से (अस्मान्) हमें (राये) रै के प्रति।

अग्नि एक अनेकार्थवाची और, साथ ही, प्रसंगार्थवाची शब्द है। सभी अनेकार्थवाची शब्द प्रसंगार्थवाची होते हैं। यहां प्रसंग है सुपथ से लेजाने का। अतः **अग्नि** शब्द का अर्थ यहां सुपथ-प्रदर्शक ही होना चाहिए। अग्नि प्रकाश का प्रतीक है। प्रकाश से पथ प्रशस्त होता है।

पूर्व-मन्त्र की अन्तिम सूक्ति 'कृतं स्मर' की व्याख्यानुसार, क्रतु को 'जीवनसंग्राम में युद्धरत रहते हुए आत्मसाधना द्वारा आत्मना ब्रह्म में प्रवेश करके मोक्ष की प्राप्ति के लक्ष्य का सन्तत स्मरण रहना चाहिए।'

रै शब्द धनवाचक है। प्रसंगानुसार, **रै** शब्द का प्रयोग यहां ब्रह्मधन, मोक्षैश्वर्य वा ब्रह्मधाम के लिए हुआ है। जगती अस्थायी निवास है। आत्मा का शाश्वत धन तो उसका अपना अविनाशी आत्मा है, अविनाशी ब्रह्म है। अन्य सब धन, सकल ऐश्वर्य विनश्वर हैं। एवमेव, सब भौतिक धाम नाशवान् हैं। शाश्वत धाम तो ब्रह्मधाम वा मोक्षधाम ही है। ब्रह्म में शाश्वत स्थिति का ही नाम ब्रह्मधाम है। मुक्त आत्मा मोक्षावस्था में ब्रह्म में स्थित हुआ ब्रह्म में विहार करता है।

ब्रह्म की प्राप्ति न बहुत सुनने और पढ़ने से होती है, न ज्ञान से, न ध्यान से। उसकी प्राप्ति तो स्वयं उसी की कृपा से होती है। प्रभु की कृपा हैतुकी होती है, अहैतुकी कभी नहीं। शिशु जब माँ की गोदी के लिए आतुर होता है, जब बेचैन होकर रोने लगता है तो माँ की कृपा उमड़ती है और वह दौड़कर उसे गोदी में लेती है और सीने से लगाती है। वैसे ही, जब क्रतु आत्मा ईश् में, ब्रह्म में, ब्रह्मधाम में प्रवेश पाने के लिए आतुर होता है तो ईश् की कृपा उमड़ती है और वह उसे अपने धाम का पथ दर्शाता है। इसी आशय का द्योतन 'अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्,' विनय से होरहा है। ईशप्राप्ति का पथ ही सुपथ है। अन्य सब पथ पथ हैं वा कुपथ हैं।

२) (देव)! तू (विश्वानि वयुनानि विद्वान्) सब वयुनों को जाननेवाला [है]।

वयुन नाम गति और चेष्टा का है। वह हमारी बाह्य और आन्तरिक, सभी गतियों और चेष्टाओं को सदा जान रहा होता है। उससे कुछ भी छिपा नहीं रहता है। ईश निर्मल, निर्विकार है। उसके मिलन के लिए हमें आत्मशोधन और आत्मबोधन द्वारा अपने आपको निर्मल, निर्विकार बनाना होगा। तदर्थ हमें साधना के साथ प्रार्थना भी करनी चाहिए। यथा साधना तथा प्रार्थना, और यथा प्रार्थना तथा साधना, यह सूत्र सदा हमारे ध्यान में रहना चाहिए। प्रार्थना जब आत्मना की जाती है, और, साथ ही, विह्वल हृदय और अश्रु-पूर्ण नेत्रों से की जाती है तो, निश्चय ही, परिणामकारी होती है।

३) (अग्ने देव)! (युयोधि) पृथक् करदे (अस्मत्) हमसे (जुहुराणम् एनः) कुटिल एनस् को।

एनस् [एनः] नाम पाप और अपराध का है। **युयोधि** शब्द में साधना का एक गहन भाव अन्तर्निहित है। युयोधि=युद्ध करके पृथक् कर (अस्मत्) हमसे (जुहुराणम् एनः) कुटिल पाप-अपराध। पाप इतना कुटिल है कि उसे दूर करने के लिए हमें अग्नि देव से, परम पावक प्रभु से युद्ध करने की शक्ति प्राप्त करनी होती है। पाप का निवास मस्तिष्क में होता है। विकार वा बुराई

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जब मस्तिष्क में होती है तो उसकी संज्ञा 'पाप' होती है। मस्तिष्क के पाप को जब क्रियारूप में परिणत किया जाता है तो वह 'अपराध' कहलाता है।

हमसे एनस् दूर होजाए तो हम निष्पाप, निरपराध, निर्विकार, निर्मल होकर ब्रह्म के दर्शन के पात्र होजाएं। पात्रता के बिना कोई भी साध और साधना सिद्ध नहीं होती है।

४) (अग्ने देव)! हमारी विनय स्वीकार कर। हम (ते) तेरे प्रति (भूयिष्ठाम्) भूयो भूयः, अधिकाधिक (नमः-उक्तिम्) नमः-वचन, विनम्र विनय, नमन-पूर्वक प्रार्थना (विधेम) परिचरें, अर्पें।

भूयो भूयः सनमन विनय करें हम
तेरे प्रति,
'अग्ने ! लेचल हमें सुपथ से
रै के प्रति।
देव ! जाननेवाला है तू
सब वयुनों को।
पृथक् कर हमसे
कुटिल पाप-अपराध।'

१९७५ **हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। यो ऽसावादित्ये पुरुषः सो ऽसावहम्। ओं खं ब्रह्म।** य ४०.१७

हिरण्-मयेन पात्रेण सत्यस्य अपि-हितम् मुखम्। यः असौ आदित्ये पुरुषः सः असौ अहम्। ओम् खम् ब्रह्म।

ब्रह्मदर्शनाभिलाषियों ने आत्मसाधना द्वारा अपने आपको निष्पाप, निर्मल, निर्विकार बना लिया है। उनके इस आत्मशृंगार पर मुग्ध होकर ब्रह्म बोल उठता है, 'दर्शनाभिलाषियो ! मेरे जिस सत्य स्वरूप का तुम दर्शन करना चाहते हो उस मुझ (सत्यस्य) सत्य का (मुखम्) निज रूप (हिरण्-मयेन पात्रेण) चमकीले ढक्कन से (अपि-हितम्) ढका हुआ है। उसे हटाओ और मुझ सत्य का साक्षात् दर्शन करो।'

मायाजन्य, प्रकृतिजन्य जो कुछ है वह सब हिरण्मय है। माया मोहिनी, सुमोहिनी, प्रमोहिनी। माया ही है जो मानवों को हठात् श्रेय से हटाकर प्रेय की ओर लेजाती है। माया के परदे को चीरकर, प्रकृति के आवरण को हटाकर अन्दर प्रवेश करने से ब्रह्म का संदर्शन होता है। विवेक द्वारा ही प्रेय का चमकीला ढक्कन, माया का मोहक परदा हटाया जाता है।

क्या ब्रह्म बोलता है ? हां, बोलता है। उसके अनिर्वचनीय वचन आत्मश्रोत्र द्वारा स्पष्टतया सुने जाते हैं। **महद् ब्रह्म वदिष्यति** (अथर्ववेद १.३२.१)= महान् ब्रह्म बोलेगा, अवश्य बोलेगा यदि परदा हट जाए और आत्मश्रोत्र खुल जाए। साधकों ने ढक्कन हटा दिया है, परदा विलीन कर दिया है। विवेक ने उनके आत्मश्रोत्रों और आत्मनेत्रों को खोल दिया है। ब्रह्म बोल रहा है और वे अपने आत्मश्रोत्रों से सुनरहे हैं, 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। माया के चमकीले ढक्कन से [मुझ] सत्य का मुख ढंपा हुआ है। विवेक के आश्रय से उसे हटाओ, और मेरे निज स्वरूप का दर्शन करो।'

ब्रह्म पुनः बोलता है, 'मेरे आसक्तो ! (यः असौ आदित्ये पुरुषः) जो वह विराट् में पुरुष है (सः असौ अहम्) वह, वह मैं हूं।'

आदित्य एक अनेकार्थवाची शब्द है। यहां **आदित्य** का अर्थ अखण्ड, अखिल सृष्टि है जिसे 'विराट्' भी कहते हैं। सृष्टिरूप पुर में शयन करने-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वाला वा व्यापनेवाला होने से ब्रह्म 'पुरुष' है। उसे इस सबमें रमा हुआ देखकर ही द्रष्टा कह उठते हैं, **'ईशा वास्यमिदं सर्वम्** (य ४०.१)=स्वामी से वास्य यह सब। **ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्** (य ३२.१२)=प्रकृति के फैले हुए तन्तु को चीर कर उसे देखा।'

मायारूप ढक्कन को हटाकर, प्रकृति के परदे को चीरकर अपने आत्मनेत्रों से साधकों ने सत्य-स्वरूप ईश का दर्शन किया और वे बोल पड़े, **'ओं खम् ब्रह्म।'**

दर्शनकर्ताओं से दर्शनाभिलाषियों ने पूछा, 'वह क्या है, कैसा है?' दर्शनकर्ताओं ने कहा, 'ओं खम् ब्रह्म= ओं खम् है, ब्रह्म है।'

ओं ईश का निज नाम है। उसके अन्य जितने नाम हैं वे सब कर्मवाचक और गुणवाचक हैं। अ+उ+म्=ओम्। अ=अमात्र ब्रह्म। उ समात्र आत्मा। म्=जड़ माया। ओं ईश का त्रिसम्पत् नाम है। ओं के जाप और स्मरण से ब्रह्मसम्पदा, आत्मसम्पदा, मायसम्पदा [भौतिक ऐश्वर्य], तीनों सम्पदाओं की सम्प्राप्ति होती है। ओं की भावना से भावित रहने से अ+उ=ओ की स्थिति सिद्ध होती है, अकार ब्रह्म में उकार आत्मा की एकाकारिता सिद्ध होती है, सतत ब्रह्मलीनता रहती है। उकार आत्मा के एक ओर अकार ब्रह्म है और दूसरी ओर मकार माया। उकार आत्मा अकार और अकाय ब्रह्म से युक्त होता है तो 'ओ' होजाता है, ब्रह्मस्थ होकर सीमारहित होजाता है। उकार आत्मा म् [माया] से युक्त रहता है तो मायारूप होजाता है, जड़वत् होजाता है, 'उम्' होजाता है। 'उम्' का अर्थ है जड़। इस भाव को दर्शाने के लिए ही ओं को ओ३म् लिखा जाता है। ओ और म् के बीच में जो ३ [तीन] लिखा जाता है उसका आशय है प्रकृति के तम, रज, सत् तीनों गुणों की ओर पीठ, तीनों गुणों से मुक्त। अ [ब्रह्म] त्रिगुणातीत है। म् [माया, प्रकृति] त्रिगुणात्मिका है। उ जब अ से युक्त रहता है तो आत्मसाधक माया की ओर पीठ रखता हुआ कर्मक्षेत्र में कर्म करता है। माया उसकी पिछलग्गू होजाती है।

आकाशवत् सर्वव्यापक होने से ओं खम् है। **ब्रह्म** नाम परमात्मा का ही नहीं है, ज्ञान का भी है। सत्य ज्ञान का आगार होने से ही वेद 'ब्रह्म' कहलाता है। 'ओं ब्रह्म है, सर्वज्ञान है, ज्ञानसर्वस्व है, सर्वज्ञ है। ओं खम् ब्रह्म=ओं सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है। उसे हम इस सबमें व्यापा हुआ देखते हैं। उसे हम सर्वज्ञरूप देख रहे हैं।' जिनके आत्मनेत्र खुल जाते हैं वे उसे सर्वज्ञता के साथ सबमें समाया हुआ देखते हैं। उसके संदर्शन में, उसकी संदृष्टि में, उसके सारूप्य में, उसके सादृश्य में जीना ही जीवन-संविधान की वेदविहित विधि है।

ढका हुआ है रूप सत्य का
माया के मोहक ढक्कन से।
जो वह आदित्य में पुरुष
वह, वह मैं।
'ओं' खम् ब्रह्म।

पाठक से

वेद-संस्थान इस पुस्तक की विषयवस्तु, लेखनशैली और आकार-प्रकार के बारे में आपके विचारों के लिए आभारी होगा। अन्य कोई सुझाव आप देना चाहें तो उन्हें जानकर भी हमें प्रसन्नता होगी। हमारा पता है : *बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर, भारत।*

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परिशिष्ट १

व्याख्या में चर्चित प्रसंग

अनासक्ति २
अनुभूति १०, ११
अन्धकार ४, १२
अवस्था ३
असुर ७, ४
अहम् ३
आत्मसाधना ४, ७, ८, १२, १४, १५
आत्महनन ४, ७, १
आत्मा २, ४, ५, ७, ११, १३, १४, १५
ईश १, २, ३, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १४, १५, १६, १७
ओम् १४, १७
कर्म ३, ५, १४
गंगा १०
जगत् ३, १४, १, ८, ११, १३
जीवन १३
जीवनपद्धति १
दूरी ६
देव ५, ७
देह १३
नदी १३
निकटता ६
निर्लेपता २
पाप १५
प्रकृति १२
प्रार्थना १५
प्रेम ६
ब्रह्म (द्र ईश)
ब्रह्मकृपा १५
ब्रह्मधाम १५
मन ५
मनुष्य योनि ३
ममता ८
मस्तिष्क १२, १५
माया १६, १७
मालिक (द्र ईश)
मृत्यु ११, १३
मेरा-तेरा १, २, ३, ८
मोक्ष ५, २, १४, १५
मोह ८
वासना ३
विवेक ८, १६
वेद ९, १७
व्याप्ति ६
शरीर (द्र देह)
सृष्टि-काव्य ९
स्मरण ६
हृदय १०
स्वामी (द्र मालिक)

परिशिष्ट २

व्याख्या में विवेचित मंत्रपद और धातुएं

अग्नि १५
अनु पश्यतः ८
अन्यत् ११
अविद्या १२
अव्रण ९
अ-सम्-भव ११
अ-सम्-भूति १०
असुर ४
आत्मा ७, ८
आदित्य १६
ईश् १
√एजृ ६
एनः १५
ओम् १७
कृत १४
क्रतु १४
क्लैब्य १४
जगत् १
जगती १
तत् १०, १२
नर २
√नृ २
ब्रह्म १७
भुंजीथाः १
√भू १०
भूतानि ७
युयोधि १५
रै १५
लोकाः ३
वयुन १५
√वा १३
वायु १३
वास्य १
वि-चिकित्सा ७
विद्या १२
विनाश ११
सम्-भव ११
सम्-भूति १०
स्वित् २

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परिशिष्ट ३

व्याख्यागत उद्धरण

असुर्या नाम लोकाः । ७
ईशा वास्यमिदं सर्वम् । ४, ६, ८, १७
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत् । १७
कुर्वन्नेवेह कर्माणि । ३, ४
कृतं स्मर । १५
तदन्तरस्य···बाह्यतः । ७
त्यक्तेन भुञ्जीथाः । २
नेति नेति । १२
महद् ब्रह्म वदिष्यति । १६
शुनीदा कै शवद मानिन्दे दीदा । ११

परिशिष्ट ४

वेदव्याख्या-ग्रन्थ [४०वां पुष्प] में व्याख्यात, यजुर्वेद [४०वां अध्याय] के [१७] मन्त्रों की

वर्णानुक्रम सूची

[जो मन्त्र अन्य वेदों में भी विद्यमान है उसके प्रतीक के बाद * चिह्न है ।]

मन्त्र-प्रतीक	अध्याय में मन्त्र-संख्या	यजुर्वेद में मन्त्र-संख्या	'ग्रन्थ' में पृष्ठ-संख्या
अग्ने नय सुपथा *	१६	१९७४	१४
अनेजदेकं मनसो	४	१९६२	४
अन्धं तमः·····ये ऽविद्या-	१२	१९७०	१२
,, ,, ऽसंभूति-	९	१९६७	१०
अन्यदेवाहुः सम्भवा-	१०	१९६८	१०
,, हुर्विद्याया	१३	१९७१	१२
असुर्या नाम ते लोका	३	१९६१	३
ईशा वास्यमिदं सर्वं	१	१९५९	१
कुर्वन्नेवेह कर्माणि	२	१९६०	२
तदेजति तन्नैजति	५	१९६३	६
यस्तु सर्वाणि भूतान-	६	१९६४	७
यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान-	७	१९६५	८
वायुरनिलममृतमथेदं	१५	१९७३	१३
विद्यां चाविद्यां च	१४	१९७२	१३
स पर्यगाच्छुक्रमकाय-	८	१९६६	९
सम्भूतिं च विनाशं च	११	१९६९	११
हिरण्मयेन पात्रेण	१७	१९७५	१६

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जन्म : १५ नवम्बर, १८९९ ई० । वेद-संस्थान (अजमेर, दिल्ली) के संस्थापकाध्यक्ष । वेदों के मर्मज्ञ व्याख्याकार, चिन्तक, कवि और संन्यासाश्रमी सन्त । वाणी में अद्भुत माधुर्य और हृदय को छू लेने की क्षमता । व्यक्तित्व जो तत्काल आकर्षित कर लेता है आत्मीयता, स्नेह, सरलता से । सतत कर्मरत, प्रतिक्षण साधनामय, भक्ति और निष्ठा से ओत-प्रोत जीवन । लेखन की शैली ललित, प्रसादगुणयुक्त, अनावश्यक विस्तार से रहित ।

'विदेह' का जीवन वेद और योग को समर्पित है । उन्होंने लोहे के चने समझे जानेवाले वेद को आबाल-वृद्ध, प्रत्येक हिन्दी-भाषी के लिए अतिसरल और रोचक, दैनंदिन जीवन में उपयोगी और प्रेरक ग्रन्थ बनाने में अभूतपूर्व और आश्चर्यकारी सफलता पाई है । उनकी वेद-व्याख्या वेद को मानव और मानवता की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में प्रस्तुत करती है, वेद के वेदत्व को निखारती है और उसे जीवन-ग्रन्थ, मानवधर्म-शास्त्र के रूप में प्रस्तुत करती है ।

'वेदव्याख्या-ग्रन्थ' विश्ववाङ्मय का गौरव तथा हिन्दी वाङ्मय को लेखक की अमर देन है। जिसने भी इसे पढ़ा है वही मुग्ध हो उठा है। यह वेदों के आधुनिकीकरण, सरलीकरण, स्पष्टीकरण, और साथ ही उन्हें जनसुलभ और सुबोध बनाने का एक महान् प्रयास है, जो वेदों को 'रामचरित-मानस'-जैसा सरल ग्रन्थ बना देगा ।

वेदों की इस क्रमिक व्याख्यामाला में चारों वेदों का, जिस क्रम में वे हैं उसी क्रम में, मन्त्र-मन्त्र, सूक्त-सूक्त, अध्याय-अध्याय, और वेद-वेद की संगति लगाने का प्रयास किया जा रहा है, जो वेदाध्ययन के इतिहास में पहली बार इतनी गम्भीरता से किया जा रहा है । इसकी सफलता से वेद परस्पर असंबद्ध मन्त्रों का संकलन-मात्र नहीं रह जाएगा । लेखक प्रत्येक मन्त्र का एक सुनिश्चित अर्थ मानता है, यद्यपि गौण वृत्ति से अन्य अर्थ भी लिए जा सकते हैं । संयमपूर्वक योगाभ्यास से आत्म-अवस्थित होकर, अन्तःश्रवण और अन्तर्ज्योति के द्वारा मन्त्रार्थ को साक्षात् करना लेखक की पद्धति है । वेदों के आशय को स्वयं वेदों में पैठकर, न कि परतःप्रमाण-भूत ग्रन्थों की दासता स्वीकार करके, स्वयं वेदों के ही आश्रय से जानना, यह लेखक की विचारसरणि है ।

'वेदव्याख्या-ग्रन्थ' में प्रत्येक मन्त्र का पदच्छेद, अन्वय, पद्यानुवाद, सूक्तियां, तथा विशद, प्रेरणाप्रद, जीवनोत्थानकारी व्याख्या दी गई है ।

दो रुपए

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

स्वामी विद्यानन्द 'विदेह'

वेदव्याख्या-ग्रन्थ

अष्टादश पुष्प

(यजुर्वेद के अष्टादश अध्याय की व्याख्या)

विषय : समृद्ध राष्ट्र की यज्ञमय जीवन पद्धति

वेद संस्थान
अजमेर

तीन रुपए पचास पैसे

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सर्वाधिकार लेखकाधीन

प्रथम संस्करण : श्रावण, २०३४ वि : जुलाई १९७७ ई
२,२०० प्रतियां

मूल्य : तीन रुपए पचास पैसे

प्रकाशक : वेद-संस्थान, बाबू मौहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर; मुद्रक : प्रिंट हाउस, अजमेर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विषयक्रम

विषय	मंत्र-सं.	पृष्ठ-सं.
नागरिक-धारणा	१-२७	११५३-११७१
राष्ट्रसर्वस्व	२८	११७१
निष्ठाशपथ	२९	११७३
नागरिक-भावना	३०-३७	११७४-११७८
राष्ट्रार्पण	३८-४३	११७९-११८३
राष्ट्र-संबोधन	४४-४५	११८३-११८४
ब्रह्म से विनय	४६-४९	११८५-११८७
राष्ट्र प्रेम	५०	११८८
नागरिक द्वारा आत्मसंबोधन	५१-५४	११८९-११९१
" " राष्ट्र-संबोधन	५५-५७	११९१-११९३
नागरिकों को संबोधन	५८-६०	११९३-११९५
" द्वारा आत्मोद्बोधन	६१	११९५
" " ब्रह्म-विनय	६२-६५	११९६-११९८
नागरिकोक्ति	६६-७३	११९८-१२०४
ब्रह्म से प्रार्थना	७४-७५	१२०५-१२०६
मंगलकामना	७६	१२०७
शासन से अपेक्षा	७७	१२०८

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

श्रीमाता भगवान देवी जी,
37/21, राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली—110060
जिनके उदार और पवित्र दान से इस ग्रन्थ का मुद्रण तथा
सस्ता संस्करण प्रकाशित हुआ है ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यजुर्वेद-व्याख्या

अठारहवाँ अध्याय

समृद्ध राष्ट्र की यज्ञमय जीवनपद्धति

सत्रहवें अध्याय में राष्ट्र की समृद्धि का निरूपण करके, इस अध्याय में वेदमाता समृद्ध राष्ट्र के नागरिकों के लिए यज्ञमय जीवनपद्धति का प्रतिपादन करती है।

राष्ट्र की समृद्धि की प्रगति के साथ साथ उसके नागरिकों के जीवन की पद्धति को भी शोधते, बोधते और परिष्कृत करते रहने की प्रत्यक्ष आवश्यकता है। अन्यथा समृद्धि राष्ट्र को पतन के कगार पर खड़ा करके उसे विनाश के गर्त में गिरा देती है। यज्ञमय जीवनपद्धति से शून्य सत्ता भ्रष्टाचार को पनपाती है, तो समृद्धि व्यसन, विलास और स्वार्थपरता में फंसा देती है। किसी भी राष्ट्र के कर्णधारों और नागरिकों के लिए यह अध्याय चिन्तनीय तथा आचरणीय है।

९५० वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे स्वरश्च मे श्लोकश्च मे श्रवश्च मे श्रुतिश्च मे ज्योतिश्च मे स्वश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

य १८.१

वाजः च मे प्र-सवः च मे प्र-यतिः च मे प्र-सितिः च मे धीतिः च मे क्रतुः च मे स्वरः च मे श्लोकः च मे श्रवः च मे श्रुतिः च मे ज्योतिः च मे स्वः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक की यह धारणा हो कि

१) (मे वाजः च) मेरा संग्राम [संघर्ष] भी,
२) (मे प्र-सवः च) मेरा प्र-सव भी,
३) (मे प्र-यतिः च) मेरी प्र-यति भी,
४) (मे प्र-सितिः च) मेरी प्र-सिति भी,
५) (मे धीतिः च) मेरी धारणा भी,
६) (मे क्रतुः च) मेरा क्रतु भी,
७) (मे स्वरः च) मेरा स्वर भी,
८) (मे श्लोकः च) मेरा श्लोक भी,
९) (मे श्रवः च) मेरा यश भी,
१०) (मे श्रुतिः च) मेरी श्रुति, मेरा वेद भी,
११) (मे ज्योतिः च) मेरी ज्योति भी,
१२) (मे स्वः च) मेरा आनन्द भी

(यज्ञेन) यज्ञ से, 'स्वाहा'-कार से, सर्वहितसाधन द्वारा (कल्पन्ताम्) कल्प करें, समर्थ—सक्षम—सशक्त करें। किसको ? समृद्ध राष्ट्र को जिसका निरूपण पूर्व अध्याय में किया गया है।

वैदिक वाङ्मय का प्रसिद्ध **यज्ञ** शब्द जहां अनेकार्थवाची है वहां वह एक व्यापक भाव, गहन अर्थ और गुह्य मर्म का द्योतन करनेवाला भी है। **यज्** (देवपूजासंगतिकरणदानेषु) धातु से 'यज्ञ' शब्द की रचना हुई है। देवों का पूजन, देवों का संगतिकरण और देवों के लिए दान, ऐसा 'यज्' धातु का अर्थ और आशय है। 'पूजा' का अर्थ है आदर, सत्कार करना। 'संगतिकरण' का अर्थ है संगठित करना, संगठित रखना, युक्त करना, युक्त रखना, एकता के सूत्र में सूत्रित करना और रखना। 'दान' का अर्थ है देना, त्याग करना, अर्पण करना, आहुति देना। 'देवों' से तात्पर्य दिव्य, सुसंस्कृत, सुसभ्य नागरिक-नागरिकाओं से है। किसी भी राष्ट्र के नागरिक ही वे देव हैं जिनका सम्यक् पूजन [आदर] किया जाना चाहिए, जिनका सम्यक् संगतिकरण किया जाना चाहिए, जिनके लिए सब सुखैश्वर्य अर्पित रहना चाहिए।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यज्ञ का एक दूसरा दृष्टिकोण भी है। **स्वाहावाड् वै यज्ञस्य आत्मा**। स्वाहावाट्, स्वाहाकृति, सर्वार्थ सर्वस्व अर्पिति, निश्चय से, यज्ञ का आत्मा है। **'इदन्न मम' वै यज्ञस्य प्राणः**। 'यह मेरा नहीं', मेरापन का अभाव, mylessness यज्ञ का प्राण है। मेरे पास जो कुछ भी शुभ, श्रेष्ठ है वह सब मेरे लिए ही नहीं, सबके लिए भी है, यह भावना यज्ञ का प्राण है। **सुरभिर्वै यज्ञस्य सारम्**। सुगन्धि ही यज्ञ का सार है। मेरे जीवन से कहीं भी, किसी भी प्रकार की गन्दगी न होकर सर्वत्र सुगन्धि ही हो, यह यज्ञ का सार है।

मे शब्द व्यक्तिवाचक भी है और समूहवाचक भी। 'मे' शब्द का प्रयोग 'मेरा, मुझ नागरिक का, मुझ नागरिकसमूह का' अर्थ में हुआ है। **यज्ञेन** शब्द का प्रयोग हुआ है 'स्व सर्वस्व की सर्वार्थ आहुति से, सर्वनागरिकार्थ तथा विश्वमानवार्थ अर्पण से' अर्थ में।

इस अध्याय के मन्त्र २७ तक 'मे' और 'यज्ञेन कल्पन्तां' का, और २९वें मंत्र में 'यज्ञेन कल्पतां' का आशय वही समझना चाहिए जैसा इस मन्त्र की व्याख्या में ऊपर प्रकट किया गया है।

परमात्मा ने जो कुछ बनाया है वह सब अपने लिए नहीं, सर्व आत्माओं के लिए ही बनाया है और सर्व आत्माओं के लिए ही अर्पित किया हुआ है। स्वार्थ [स्व-अर्थ] नहीं, परार्थ और सर्वार्थ ही स्रष्टा का विधान और सृष्टि का नियम है। 'स्वार्थ ही नहीं, सर्वार्थ भी,' नागरिक देवों को ऐसी भावना होनी चाहिए। इसी भावना से राष्ट्र का और विश्व का कल्प होता है।

वाज शब्द अनेकार्थवाची है। यहां इसका प्रयोग संग्राम अथ वा संघर्ष अर्थ में हुआ है।

प्र-सव नाम प्रसवक्रिया तथा सन्तान का है।

प्र-यति का अर्थ है जितेन्द्रियता तथा पवित्रता। जितेन्द्रियता से पवित्रता का सम्पादन होता है तो पवित्रता से जितेन्द्रियता का।

प्र-सिति का अर्थ है बाँधने का साधन, रस्सी। प्रीति ही वह रस्सी है जो नागरिकदेवों को एक दूसरे से आत्मना युक्त, संयुक्त रखती है।

धीति नाम धारणा और सतत चिन्तन का है।

क्रतु नाम है कर्तृत्व, कर्मकुशलता, कर्मक्षमता, आचरणशीलता का।

स्वर नाम कण्ठ के सुरीलेपन का है।

श्लोक शब्द का प्रयोग हुआ है पद्यरचना, अथ वा कवित्व अर्थ में।

श्रव शब्द का प्रयोग यश अर्थ में हुआ है।

श्रुति का प्रसिद्ध अर्थ वेद है।

ज्योति नाम द्युति, विवेक और चेतना का है।

स्वः नाम है आनन्द का।

उपर्युक्त सारी उपलब्धियां सर्वहितसाधन द्वारा राष्ट्र का कल्प करें, राष्ट्र को सशक्त और सक्षम बनाएं, राष्ट्र की शक्ति का संवर्धन करती रहें। किसी भी सम्पदा और उपलब्धि का क्या महत्त्व और क्या लाभ यदि उससे यज्ञ [सर्वहितसम्पादन] और राष्ट्र तथा विश्व का कल्प न हो?

मेरा संग्राम भी, मेरा प्रसव भी,
मेरी प्रयति भी, मेरी प्रसिति भी,
मेरी धीति भी, मेरा क्रतु भी,
मेरा स्वर भी, मेरा श्लोक भी,
मेरा यश भी, मेरी श्रुति भी,
मेरी ज्योति भी, मेरा आनन्द भी
यज्ञ से कल्प करें।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

६५१ **प्राणश्च मेपानश्च मे व्यानश्च मेसुश्च मे चित्तं च म आधीतं च मे वाक् च मे मनश्च मे चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे दक्षश्च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।**

य १८.२

प्र-आनः च मे अप-आनः च मे वि-आनः च मे असुः च मे चित्तम् च मे आ-धीतम् च मे वाक् च मे मनः च मे चक्षुः च मे श्रोत्रम् च मे दक्षः च मे बलम् च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।

१) (मे प्र-आनः च) मेरा प्राण भी,
२) (मे अप-आनः च) मेरा अपान भी,
३) (मे वि-आनः च) मेरा व्यान भी,
४) (मे असुः च) मेरी आध्यात्मिकता [आत्म-साधना] भी,
५) (मे चित्तम् च) मेरा चित्त भी,
६) (मे) मेरा (आ-धीतम्) तत्त्वज्ञान, निर्णय (च) भी,
७) (मे वाक् च) मेरी वाणी भी,
८) (मे मनः च) मेरा मन भी,
९) (मे चक्षुः च) मेरा नेत्र भी,
१०) (मे श्रोत्रम् च) मेरा कर्ण [कान] भी,
११) (मे दक्षः च) मेरी दक्षता भी,
१२) (मे बलम् च) मेरा बल भी
(यज्ञेन) यज्ञ द्वारा [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें ।

**मेरा प्राण भी, मेरा अपान भी,
मेरा व्यान भी, मेरी साधना भी,
मेरा चित्त भी, मेरा तत्त्वज्ञान भी,
मेरी वाणी भी, मेरा मन भी,
मेरा नेत्र भी, मेरा कर्ण भी,
मेरी दक्षता भी, मेरा बल भी
यज्ञ से कल्प करें ।**

६५२ **ओजश्च मे सहश्च म आत्मा च मे तनूश्च मे शर्म च मे वर्म च मेङ्गानि च मेस्थीनि च मे परूंषि च मे शरीराणि च म आयुश्च मे जरा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।** य १८.३

ओजः च मे सहः च मे आत्मा च मे तनूः च मे शर्म च मे वर्म च मे अङ्गानि च मे अस्थीनि च मे परूंषि च मे शरीराणि च मे आयुः च मे जरा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।

१) (मे) मेरा (ओजः) उमाड़, साहस, उत्साह, प्राणबल, आभा (च) भी,
२) (मे) मेरा (सहः) सहन-संबल, सहनशक्ति, धैर्य, सांमुख्य–सामर्थ्य, परास्त करने की क्षमता (च) भी,
३) (मे आत्मा च) मेरा आत्मा भी,
४) (मे तनूः च) मेरा विस्तार भी,
५) (मे) मेरा (शर्म) गृह, सुख, हर्ष (च) भी,
६) (मे वर्म च) मेरा कवच भी,
७) (मे अङ्गानि च) मेरे अंग भी,
८) (मे अस्थीनि च) मेरी हड्डियां भी,
९) (मे) मेरे (परूंषि) जोड़, पोरू, मर्मस्थल (च) भी,
१०) (मे) मेरे (शरीराणि) शरीर [स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर, महाकारण शरीर] (च) भी,
११) (मे) मेरा (आयुः) आयुष्य, जीवन (च) भी,
१२) (मे जरा च) मेरा बुढ़ापा भी
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मेरा ओज भी, मेरा सह भी,
मेरा आत्मा भी, मेरा विस्तार भी,
मेरा शर्म भी, मेरा वर्म भी,
मेरे अंग भी, मेरी अस्थियां भी,
मेरे पोरू भी, मेरे शरीर भी,
मेरा आयु भी, मेरा बुढ़ापा भी
यज्ञ से कल्प करें।

९५३ ज्यैष्ठ्यं च म आधिपत्यं च मे मन्युश्च मे भामश्च मेमश्च मेम्भश्च मे जेमा च मे महिमा च मे वरिमा च मे प्रथिमा च मे वर्षिमा च मे द्राघिमा च मे वृद्धं च मे वृद्धिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। य १८.४

ज्यैष्ठ्यम् च मे आधि-पत्यम् च मे मन्युः च मे भामः च मे अ-मः च मे अम्भः च मे जेमा च मे महिमा च मे वरिमा च मे प्रथिमा च मे वर्षिमा च मे द्राघिमा च मे वृद्धम् च मे वृद्धिः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (च मे ज्यैष्ठ्यम्) और मेरा ज्येष्ठत्व,
२) (च मे आधि-पत्यम्) और मेरा प्रभुत्व,
३) (च मे मन्युः) और मेरा मन-ओज,
४) (च मे भामः) और मेरी चमक,
५) (च मे अ-मः) और मेरी अ-मितता,
६) (च मे अम्भः) और मेरी तुष्टि [जलवत् शान्ति],
७) (च मे जेमा) और मेरी जयशीलता,
८) (च मे महिमा) और मेरी महिमा,
९) (च मे वरिमा) और मेरी विशालता [बड़प्पन],
१०) (च मे प्रथिमा) और मेरा फैलाव,
११) (च मे) और मेरा (वर्षिमा) दीर्घजीवित्व [वार्द्धक्य],
१२) (च मे) और मेरी (द्राघिमा) दीर्घता, परम्परा, दीर्घदर्शिता, दीर्घसूत्रता,
१३) (च मे वृद्धम्) और मेरा बढ़ा हुआ [भण्डार, पद, वैभव],
१४) (च मे वृद्धिः) और मेरी वृद्धि
(यज्ञेन) यज्ञ द्वारा [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

और मेरा ज्येष्ठत्व, और मेरा आधिपत्य,
और मेरा मन-ओज, और मेरी आभा,
और मेरी अमितता, और मेरी तुष्टि,
और मेरी जयशीलता, और मेरी महिमा,
और मेरी विशालता, और मेरा फैलाव,
और मेरा वार्द्धक्य, और मेरी दीर्घता,
और मेरा वृद्ध, और मेरी वृद्धि
यज्ञ से कल्प करें।

९५४ सत्यं च मे श्रद्धा च मे जगच्च मे धनं च मे विश्वं च मे महश्च मे क्रीडा च मे मोदश्च मे जातं च मे जनिष्यमाणं च मे सूक्तं च मे सुकृतं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

य १८.५

सत्यम् च मे श्रत्-धा च मे जगत् च मे धनम् च मे विश्वम् च मे महः च मे क्रीडा च मे मोदः च मे जातम् च मे जनिष्यमाणम् च मे सु-उक्तम् च मे सु-कृतम् च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (मे सत्यम् च) मेरा सत्य [सचाई] भी,
२) (मे श्रत्-धा च) मेरी श्रद्धा [सत्य-धारणा] भी,
३) (मे जगत् च) मेरा जगत् [संसार] भी,
४) (मे धनम् च) मेरा धन भी,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

५) (मे विश्वम् च) मेरा विश्व [सर्वस्व] भी,
६) (मे महः च) मेरा मह [पूज्यता, महत्त्व] भी,
७) (मे क्रीडा च) मेरी क्रीडा [खेल, विहार] भी,
८) (मे मोदः च) मेरा मोद [प्रहर्ष] भी,
९) (मे जातम् च) मेरा जात [जन्मा, उत्पादित] भी,
१०) (मे जनिष्यमाणम् च) मेरा जनिष्यमाण [जन्मनेवाला, उत्पादन किया जानेवाला] भी,
११) (मे सु-उक्तम् च) मेरा सु-कथन [सुभाषित] भी,
१२) (मे सु-कृतम् च) मेरा सु-कृत [सु-कर्म] भी
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें, सुनिर्माण करें।

मेरा सत्य भी, मेरी श्रद्धा भी,
मेरा जगत् भी, मेरा धन भी,
मेरा विश्व भी, मेरा मह भी,
मेरा खेल भी, मेरा मोद भी,
मेरा जात भी, मेरा जनिष्यमाण भी,
मेरा सूक्त भी, मेरा सुकृत भी
यज्ञ से कल्प करें।

९५५ **ऋतं च मेमृतं च मेयक्ष्मं च मेनामयच्च मे जीवातुश्च मे दीर्घायुत्वं च मेनमित्रं च मेभयं च मे सुखं च मे शयनं च मे सूषाश्च मे सुदिनं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।**

य १८.६

ऋतम् च मे अ-मृतम् च मे अ-यक्ष्मम् च मे अन्-आमयत् च मे जीवातुः च मे दीर्घायु-त्वम् च मे अन्-अ-मित्रम् च मे अ-भयम् च मे सु-खम् च मे शयनम् च मे सु-उषाः च मे सु-दिनम् च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (मे ऋतं च) मेरा ऋत [सही आचार और व्यवहार] भी,
२) (मे अ-मृतम् च) मेरा अ-मृत [निर्विषत्व, निर्मलत्व, मोक्ष] भी,
३) (मे अ-यक्ष्मम् च) मेरा अयक्ष्म [क्षयरहित होना] भी,
४) (मे अन्-आमयत् च) मेरी अनामयता [अनामयपद-प्राप्ति] भी,
५) (मे जीवातुः चः) मेरा जीवातु [भोजन, पुनरुज्जीवन] भी,
६) (मे दीर्घायु-त्वम् च) मेरा दीर्घायु-त्व [लम्बी आयुवाला होना] भी,
७) (मे अन्-अ-मित्रम् च) मेरा शत्रुरहित होना भी,
८) (मे अ-भयम् च) मेरी निर्भयता भी,
९) (मे सुखम् च) मेरा सुख भी,
१०) (मे शयनम् च) मेरा शयन [सोना] भी,
११) (मे सु-उषाः च) मेरा सु-उषाकाल, प्रभातकाल भी,
१२) (मे सु-दिनम् च) मेरा सुदिन भी
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

मेरा ऋत भी, मेरा अमृत भी,
मेरा अयक्ष्म भी, मेरी अनामयता भी,
मेरा जीवातु भी, मेरा दीर्घायुत्व भी,
मेरा शत्रुराहित्य भी, मेरी निर्भयता भी,
मेरा सुख भी, मेरा शयन भी,
मेरा प्रभात भी, मेरा सुदिन भी
यज्ञ से कल्प करें।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

९५६ **यन्ता च मे धर्ता च मे क्षेमश्च मे धृतिश्च मे विश्वं च मे महश्च मे संविच्च मे ज्ञात्रं च मे सूश्च मे प्रसूश्च मे सीरं च मे लयश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।** य १८.७

यन्ता च मे धर्ता च मे क्षेमः च मे धृतिः च मे विश्वम् च मे महः च मे सम्-वित् च मे ज्ञात्रम् च मे सूः च मे प्र-सूः च मे सीरम् च मे लयः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (मे यन्ता च) मेरा परिचालक भी,
२) (मे धर्ता च) मेरा धारक [सहारा, सहायक] भी,
३) (मे क्षेमः च) मेरा रक्षण भी,
४) (मे धृतिः च) मेरी धृति [धारणा, स्थैर्य, धैर्य] भी,
५) (मे विश्वम् च) मेरा सर्वस्व भी,
६) (मे महः च) मेरा मह [पूजन, आदर] भी,
७) (मे सम्-वित् च) मेरा सं-वित् [सं-ज्ञान, प्रतिज्ञा] भी,
८) (मे ज्ञात्रम् च) मेरा ज्ञानसाधन भी,
९) (मे सूः च) मेरी वृत्ति भी,
१०) (मे प्र-सूः च) मेरी प्र-वृत्ति भी,
११) (मे सीरम् च) मेरा हल भी,
१२) (मे लयः च) मेरा लय [लीनता, एकाग्रता] भी,
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

मेरा यन्ता भी, मेरा धर्ता भी,
मेरा क्षेम भी, मेरी धृति भी,
मेरा विश्व भी, मेरा मह भी,
मेरा संवित् भी, मेरा ज्ञात्र भी,
मेरी वृत्ति भी, मेरी प्रवृत्ति भी,
मेरा सीर भी, मेरा लय भी
यज्ञ से कल्प करें।

९५७ **शं च मे मयश्च मे प्रियं च मेनुकामश्च मे कामश्च मे सौमनसश्च मे भगश्च मे द्रविणं च मे भद्रं च मे श्रेयश्च मे वसीयश्च मे यशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।** य १८.८

शम् च मे मयः च मे प्रियम् च मे अनु-कामः च मे कामः च मे सौमनसः च मे भगः च मे द्रविणम् च मे भद्रम् च मे श्रेयः च मे वसीयः च मे यशः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (मे शम् च) मेरा शमन भी,
२) (मे मयः च) मेरा सुख भी,
३) (मे प्रियम् च) मेरा प्रिय भी,
४) (मे अनु-कामः च) मेरी अनु-कामना भी,
५) (मे कामः च) मेरी कामना भी,
६) (मे सौमनसः च) मेरा सौमनस्य भी,
७) (मे भगः च) मेरा सौभाग्य भी,
८) (मे द्रविणम् च) मेरा धन भी,
९) (मे भद्रम् च) मेरा भद्र भी,
१०) (मे श्रेयः च) मेरा श्रेय भी,
११) (मे वसीयः च) मेरा घनिष्ठ निवासी [प्राण] भी,
१२) (मे यशः च) मेरा यश भी
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

मेरा शमन भी, मेरा सुख भी,
मेरा प्रिय भी, मेरी अनुकामना भी,
मेरी कामना भी, मेरा सौमनस्य भी,
मेरा सौभाग्य भी, मेरा धन भी,
मेरा भद्र भी, मेरा श्रेय भी,
मेरा प्राण भी, मेरा यश भी
यज्ञ से कल्प करें।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

९५८ **ऊर्क् च मे सूनृता च मे पयश्च मे रसश्च मे घृतं च मे मधु च मे सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे जैत्रं च म औद्भिद्यं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।** १८.९

ऊर्क् च मे सूनृता च मे पयः च मे रसः च मे घृतम् च मे मधु च मे सग्धिः च मे स-पीतिः च मे कृषिः च मे वृष्टिः च मे जैत्रम् च मे औत्-भिद्यम् च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (मे ऊर्क् च) मेरा सुसंस्कृतान्न भी,
२) (मे सूनृता च) मेरी सु-सत्य-वाणी भी,
३) (मे पयः च) मेरा सुपेय भी,
४) (मे रसः च) मेरा रस भी,
५) (मे घृतम् च) मेरा घृत भी,
६) (मे मधु च) मेरा शहद भी,
७) (मे सग्धिः च) मेरा सहभोज भी,
८) (मे स-पीतिः च) मेरा सहपान भी,
९) (मे कृषिः च) मेरी खेती भी,
१०) (मे वृष्टिः च) मेरी वृष्टि भी,
११) (मे जैत्रम् च) मेरी जयशीलता भी,
१२) (मे औत्-भिद्यम् च) मेरा उद्-भेदन [अंकुरण] भी
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] कल्पन्ताम् कल्प करें।

मेरा ऊर्क् भी, मेरी सूनृता भी,
मेरा पेय भी, मेरा रस भी,
मेरा घृत भी, मेरा मधु भी,
मेरा सहभोज भी, मेरा सहपान भी,
मेरी कृषि भी, मेरी वृष्टि भी,
मेरी जयशीलता भी, मेरा उद्भेदन भी
यज्ञ से कल्प करें।

९५९ **रयिश्च मे रायश्च मे पुष्टं च मे पुष्टिश्च मे विभु च मे प्रभु च मे पूर्णं च मे पूर्णतरं च मे कुयवं च मेक्षितं च मेन्नं च मेक्षुच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।** य १८.१०

रयिः च मे रायः च मे पुष्टम् च मे पुष्टिः च मे वि-भु च मे प्र-भु च मे पूर्णम् च मे पूर्ण-तरम् च मे कु-यवम् च मे अ-क्षितम् च मे अन्नम् च मे अ-क्षुत् च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (मे रयिः च) मेरा आत्मैश्वर्य भी,
२) (मे रायः च) मेरे दिव्यैश्वर्य भी,
३) (मे पुष्टम् च) मेरा पुष्ट भी,
४) (मे पुष्टिः च) मेरी पुष्टि भी,
५) (मे वि-भु च) मेरा व्यापन भी,
६) (मे प्र-भु च) मेरा प्रभु [प्रभुत्व] भी,
७) (मे पूर्णम् च) मेरा पूर्ण भी,
८) (मे पूर्ण-तरम् च) मेरा पूर्णतर भी,
९) (मे कु-यवम् च) मे कु-यव [कु-विनाश, दुरित-नाश] भी,
१०) (मे अ-क्षितम् च) मेरा-अ-क्षितत्व [क्षय-रहित होना] भी,
११) (मे अन्नम् च) मेरा अन्न भी,
१२) (मे अ-क्षुत् च) मेरा अ-क्षुत् [अ-भूखा होना, पेट-भरा होना] भी
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

मेरा आत्मैश्वर्य भी, मेरे दिव्यैश्वर्य भी,
मेरा पुष्ट भी, मेरी पुष्टि भी,
मेरा वि-भु भी, मेरा प्र-भु भी,
मेरा पूर्ण भी, मेरा पूर्णतर भी,
मेरा कु-यव भी, मेरा अ-क्षित् भी,
मेरा अन्न भी, मेरा अक्षुत् भी
यज्ञ से कल्प करें।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

९६० **वित्तं च मे वेद्यं च मे भूतं च मे भविष्यच्च मे सुगं च मे सुपथ्यं च म ऋद्धं च म ऋद्धिश्च मे क्लृप्तं च मे क्लृप्तिश्च मे मतिश्च मे सुमतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।**

य १८.११

वित्तम् च मे वेद्यम् च मे भूतम् च मे भविष्यत् च मे सु-गम् च मे सु-पथ्यम् च मे ऋद्धम् च मे ऋद्धिः चमे क्लृप्तम् च मे क्लृप्तिः च मे मतिः च मे सु-मतिः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।

१) (च मे वित्तम्) और मेरा वित्त [प्राप्त धन, प्राप्त ज्ञान],
२) (च मे वेद्यम्) और मेरा वेद्य [विचार्य ज्ञान, प्राप्तव्य द्रव्य],
३) (च मे भूतम्) और मेरा अतीत [भूत का अनुभव],
४) (च मे भविष्यत्) और मेरा भविष्यत् [भविष्य, भावी जीवन],
५) (च मे सु-गम्) और मेरा सु-गम [सु-गमन, सु-गम मार्ग],
६) (च मे सु-पथ्यम्) और मेरा सु-पथ्य [सु-पथित्व, सु-पथगामिता],
७) (च मे ऋद्धम्) और मेरा संवर्धन,
८) (च मे ऋद्धिः) और मेरी समृद्धि,
९) (च मे क्लृप्तम्) और मेरा सामर्थ्य,
१०) (च मे क्लृप्तिः) और मेरी क्षमता,
११) (च मे मतिः) और मेरी मति,
१२) (च मे सु-मतिः) और मेरी सु-मति
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें ।

और मेरा वित्त, और मेरा वेद्य,
और मेरा भूत, और मेरा भविष्यत्,
और मेरा सुगम, और मेरा सुपथ्य,
और मेरा संवर्धन, और मेरी समृद्धि,
और मेरा सामर्थ्य, और मेरी क्षमता,
और मेरी मति, और मेरी सुमति
यज्ञ से कल्प करें ।

९६१ **व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।** य १८.१२

व्रीहयः च मे यवाः च मे माषाः च मे तिलाः च मे मुद्गाः च मे खल्वाः च मे प्रियङ्गवः च मे अणवः च मे श्यामाकाः च मे नीवाराः च मे गो-धूमाः च मे मसूराः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।

१) (च मे व्रीहयः) और मेरे चावल,
२) (च मे यवाः) और मेरे जौ,
३) (च मे माषाः) और मेरे उड़द,
४) (च मे तिलाः) और मेरे तिल,
५) (च मे मुद्गाः) और मेरे मूंग,
६) (च मे खल्वाः) और मेरे चने,
७) (च मे प्रिङ्गवः) और मेरे प्रियंगु [कंगनी],
८) (च मे अणवः) और मेरे अणु [बहुत बारीक, छोटे चावल],
९) (च मे श्यामाकाः) और मेरे समा [सांवा चावल],
१०) (च मे निवाराः) और मेरे नीवार [पसाई चावल जो बिना बोए उगते हैं और जिन्हें जंगली चावल भी कहते हैं],

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

११) (च मे गो-धूमाः) और मेरे गेहूं,
१२) (च मे मसूराः) और मेरे मसूर
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।
और मेरे चावल, और मेरे जौ,
और मेरे उड़द, और मेरे तिल,
और मेरे मूंग, और मेरे चने,
और मेरे प्रियङ्गु, और मेरे अणु,
और मेरे समा, और मेरे नीवार,
और मेरे मूंग, और मेरे मसूर,
यज्ञ से कल्प करें।

९६२ **अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेयश्च मे श्यामं च मे लोहं च मे सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।** य १८.१३

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयः च मे पर्वताः च मे सिकताः च मे वनस्पतयः च मे हिरण्यम् च मे अयः च मे श्यामम् च मे लोहम् च मे सीसम् च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (च मे अश्मा) और मेरा पत्थर,
२) (च मे मृत्तिका) और मेरी मिट्टी,
३) (च मे गिरयः) और मेरे मेघ,
४) (च मे पर्वताः) और मेरे पर्वत,
५) (च मे सिकताः) और मेरे रेत [रेतस्थान, रेगिस्तान],
६) (च मे वनस्पतयः) और मेरी वनस्पतियां,
७) (च मे हिरण्यम्) और मेरा सोना,
८) (च मे अयः) और मेरा इस्पात,
९) (च मे श्यामम्) और मेरा कृष्णमणि,
१०) (च मे लोहम्) और मेरा लोहा,
११) (च मे सीसम्) और मेरा सीसा,
१२) (च मे त्रपु) और मेरा जस्ता,
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।
और मेरा पत्थर, और मेरी मिट्टी,
और मेरे मेघ, और मेरे पर्वत,
और मेरे रेगिस्तान, और मेरी वनस्पतियां,
और मेरा सोना, और मेरा इस्पात,
और मेरी कृष्णमणि, और मेरा लोहा,
और मेरा सीसा, और मेरा जस्ता
यज्ञ से कल्प करें।

९६३ **अग्निश्च म आपश्च मे वीरुधश्च म ओषधयश्च मे कृष्टपच्याश्च मेकृष्टपच्याश्च मे ग्राम्याश्च मे पशव आरण्यश्च मे वित्तं च मे वित्तिश्च मे भूतं च मे भूतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।** य १८.१४

अग्निः च मे आपः च मे वीरुधः च मे ओषधयः च मे कृष्ट-पच्याः च मे अ-कृष्ट-पच्याः च मे ग्राम्याः च मे पशवः आरण्याः च मे वित्तम् च मे वित्तिः च मे भूतम् च मे भूतिः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (च मे अग्निः) और मेरा अग्नि,
२) (च मे आपः) और मेरे जल,
३) (च मे वीरुधः) और मेरी लताएं,
४) (च मे ओषधयः) और मेरी ओषधियां,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

५) (च मे कृष्ट-पच्याः) और मेरे खेतों में पकनेवाले [अन्न, शाक, क़न्द, आदि],
६) (च मे अ-कृष्ट-पच्याः) और मेरे खेतों में न पकनेवाले [जंगल में पकनेवाले फल, क़न्द, आदि खाद्य पदार्थ],
७) (च मे ग्राम्याः च मे आरण्याः पशवः) और मेरे ग्राम्य और मेरे जंगली पशु,
८) (च मे वित्तम्) और मेरा प्राप्त,
९) (च मे वित्तिः) और मेरी प्राप्ति,
१०) (च मे भूतम्) और मेरा भूत [होना, रूप, प्राणिजगत्, भौतिक],
११) (च मे भूतिः) और मेरी भूति [विभूति, ऐश्वर्य],
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

और मेरा अग्नि, और मेरे जल,
और मेरी लताएं, और मेरी ओषधियां,
और मेरे कृष्ट-पच्य, और मेरे अ-कृष्ट-पच्य,
और मेरे ग्राम्य और मेरे जंगली पशु,
और मेरा उपलब्ध, और मेरी उपलब्धि,
और मेरा भूत, और मेरी भूति
यज्ञ से कल्प करें।

९६४ **वसु च मे वसतिश्च मे कर्म च मे शक्तिश्च मेर्थश्च म एमश्च म इत्या च मे गतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।** य १८.१५

वसु च मे वसतिः च मे कर्म च मे शक्तिः च मे अर्थः च मे एमः च मे इत्या च मे गतिः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (मे वसु च) मेरा वसु [प्राप्त, वास, वस्तु, निवास] भी,
२) (मे वसतिः च) मेरी बस्ती भी,
३) (मे कर्म च) मेरा कर्म भी,
४) (मे शक्तिः च) मेरी शक्ति भी,
५) (मे अर्थः च) मेरा अर्थ भी,
६) (मे एमः च) मेरा एम [लक्ष्य, प्राप्तव्य] भी,
७) (मे इत्या च) मेरा साधन भी,
८) (मे गतिः च) मेरी गति भी
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

मेरा बसु भी, मेरी वसति भी,
मेरा कर्म भी, मेरी शक्ति भी,
मेरा अर्थ भी, मेरा लक्ष्य भी,
मेरा साधन भी, मेरी गति भी
यज्ञ से कल्प करें।

९६५ **अग्निश्च म इन्द्रश्च मे सोमश्च म इन्द्रश्च मे सविता च म इन्द्रश्च मे सरस्वती च म इन्द्रश्च मे पूषा च म इन्द्रश्च मे बृहस्पतिश्च म इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।** य १८.१६

अग्निः च मे इन्द्रः च मे सोमः च मे इन्द्रः च मे सविता च मे इन्द्रः च मे सरः-वती च मे इन्द्रः च मे पूषा च मे इन्द्रः च मे बृहस्-पतिः च मे इन्द्रः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (च मे अग्निः च मे इन्द्रः) और मेरा प्रेमाग्नि और मेरा आत्मा,
२) (च मे सोमः च मे इन्द्रः) और मेरा भक्तिसोम और मेरा आत्मा,
३) (च मे सविता च मे इन्द्रः) और मेरा सविता [रचयिता, प्रेरक, प्रकाशक परमात्मा] और

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मेरा आत्मा,
४) (च मे सरस्वती च मे इन्द्रः) और मेरी विद्या और मेरा आत्मा,
५) (च मे पूषा च मे इन्द्रः) और मेरा पूषा [पोषक मन] और मेरा आत्मा,
६) (च मे बृहस्-पतिः च मे इन्द्रः) और मेरा मस्तिष्क और मेरा आत्मा
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

इस मन्त्र में और आगामी दो मन्त्रों में 'इन्द्र' शब्द का प्रयोग आत्मिक सम्बन्ध का द्योतक है। आत्मिक साधना तथा आत्मीयता के बिना प्रेम, भक्ति, परमात्मा की स्तुतिप्रार्थनोपासना, विद्या, मन का व्यापार, मस्तिष्क का संज्ञान, सब निष्फल जाते हैं। आत्मसाधना तथा आत्मीयता के साथ किया गया राष्ट्रयज्ञ और विश्वयज्ञ सार्थक सिद्ध होते हैं।

और मेरा अग्नि और मेरा आत्मा,
और मेरा सोम और मेरा आत्मा,
और मेरा सविता और मेरा आत्मा,
और मेरी सरस्वती और मेरा आत्मा,
और मेरा पूषा और मेरा आत्मा,
और मेरा बृहस्पति और मेरा आत्मा
यज्ञ से कल्प करें।

९६६ **मित्रश्च म इन्द्रश्च मे वरुणश्च म इन्द्रश्च मे धाता च म इन्द्रश्च मे त्वष्टा च म इन्द्रश्च मे मरुतश्च म इन्द्रश्च मे विश्वे च मे देवा इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।**

य १८.१७

मित्रः च मे इन्द्रः च मे वरुणः च मे इन्द्रः च मे धाता च मे इन्द्रः च मे त्वष्टा च मे इन्द्रः च मे मरुतः च मे इन्द्रः च मे विश्वे च मे देवाः इन्द्रः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (च मे मित्रः च मे इन्द्रः) और मेरा मित्र और मेरा आत्मा,
२) (च मे वरुणः च मे इन्द्रः) और मेरा वरणीय और मेरा आत्मा,
३) (च मे धाता च मे इन्द्रः) और मेरा धारक और मेरा आत्मा,
४) (च मे त्वष्टा च मे इन्द्रः) और मेरा कुशलकर्मा और मेरा आत्मा,
५) (च मे मरुतः च मे इन्द्रः) और मेरे वीर और मेरा आत्मा,
६) (च मे विश्वे देवाः च मे इन्द्रः) और मेरे सब देव और मेरा आत्मा
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

और मेरा मित्र और मेरा आत्मा,
और मेरा वरुण और मेरा आत्मा,
और मेरा धाता और मेरा आत्मा,
और मेरा त्वष्टा और मेरा आत्मा,
और मेरे मरुत और मेरा आत्मा,
और मेरे सब देव और मेरा आत्मा
यज्ञ से कल्प करें।

९६७ **पृथिवी च म इन्द्रश्च मेन्तरिक्षं च म इन्द्रश्च मे द्यौश्च म इन्द्रश्च मे समाश्च म इन्द्रश्च मे नक्षत्राणि च म इन्द्रश्च मे दिशश्च म इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।**

य १८.१८

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पृथिवी च मे इन्द्रः च मे अन्तरिक्षम् च मे इन्द्रः च मे द्यौः च मे इन्द्रः च मे समाः च मे इन्द्रः च मे नक्षत्राणि च मे इन्द्रः च मे दिशः च मे इन्द्रः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।

१) (च मे पृथिवी च मे इन्द्रः) और मेरी पृथिवी और मेरा आत्मा,
२) (च मे अन्तरिक्षम् च मे इन्द्रः) और मेरा अन्तरिक्ष और मेरा आत्मा,
३) (च मे द्यौः च मे इन्द्रः) और मेरा द्यौ और मेरा आत्मा,
४) (च मे समाः च मे इन्द्रः) और मेरे संवत्सर [वर्ष] और मेरा आत्मा,
५) (च मे नक्षत्राणि च मे इन्द्रः) और मेरे नक्षत्र और मेरा आत्मा,
६) (च मे दिशः च मे इन्द्रः) और मेरी दिशाएं और मेरा आत्मा
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें ।

**और मेरी पृथिवी और मेरा आत्मा,
और मेरा अन्तरिक्ष और मेरा आत्मा,
और मेरा द्यौ और मेरा आत्मा,
और मेरे संवत्सर और मेरा आत्मा,
और मेरे नक्षत्र और मेरा आत्मा,
और मेरी दिशाएं और मेरा आत्मा,
यज्ञ से कल्प करें ।**

९६८ **अंशुश्च मे रश्मिश्च मेदाभ्यश्च मेधिपतिश्च म उपांशुश्च मेन्तर्यामश्चम ऐन्द्रवायवश्च मे मैत्रावरुणश्च म आश्विनश्च मे प्रतिप्रस्थानश्च मे शुक्रश्च मे मन्थी च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।** य १८.१९

अंशुः च मे रश्मिः च मे अ-दाभ्यः च मे अधि-पतिः च मे उप-अंशुः च मे अन्तः-यामः च मे ऐन्द्रवायवः च मे मैत्रावरुणः च मे आश्विनः चमे प्रति-प्र-स्थानः च मे शुक्रः च मे मन्थी च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।

१) (च मे अंशुः च मे रश्मिः) और मेरी चमक और मेरी किरण,
२) (च मे अ-दाभ्यः च मे अधिपतिः) और मेरा उपक्षय-राहित्य और मेरा स्वामी,
३) (च मे उप-अंशुः च मे अन्तः-यामः) और मेरा जप और मेरी अन्तस्साधना,
४) (च मे ऐन्द्रवायवः च मे मैत्रावरुणः) और मेरे आत्मवेग और मेरा सद्भाव,
५) (च मे आश्विनः च मे प्रति-प्र-स्थानः) और मेरा सौर-चान्द्र तेज और मेरा गमनागमन,
६) (च मे शुक्रः च मे मन्थी) और मेरा शुद्धस्वरूप और मेरा मन्थी [मन]
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें ।

**और मेरा अंशु और मेरी किरण,
और मेरा अदाभ्य और मेरा स्वामी,
और मेरा जप और मेरी अन्तस्साधना,
और मेरा आत्मवेग और मेरा सद्भाव,
और मेरा तेज और मेरा गमनागमन,
और मेरा शुक्र और मेरा मन्थी
यज्ञ से कल्प करें ।**

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

९६९ आग्रयणश्च वैश्वदेवश्च मे ध्रुवश्च मे वैश्वानरश्च म ऐन्द्राग्नश्च मे महावैश्वदेवश्च मे मरुत्वतीयाश्च मे निष्केवल्यश्च मे सावित्रश्च मे सारस्वतश्च मे पत्नीवतश्च मे हारियोजनश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । य १८.२०

आग्रयणः च मे वैश्व-देवः च मे ध्रुवः च मे वैश्वानरः च मे ऐन्द्राग्नः च मे महा-वैश्व-देवः च मे मरुत्वतीयाः च मे नि-केवल्यः च मे सावित्रः च मे सारस्वतः च मे पात्नी-वतः च मे हारि-योजनः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।

१) (च मे आग्रयणः च मे वैश्व-देवः) और मेरा प्रथम आहुति देनेवाला होना और मेरा विश्व-देवत्व,
२) (च मे ध्रुवः च मे वैश्वानरः) और मेरा निश्चल [स्वभाव, निर्णय] और मेरा वैश्वानर [विश्व-नायकत्व],
३) (च मे ऐन्द्राग्नः च मे महा-वैश्व-देवः) और मेरा आत्म-अग्नित्व और मेरा महा-विश्व-देवत्व,
४) (च मे मरुत्वतीयाः च मे निःकेवल्यः) और मेरे प्राणाचार [प्राण के समान निर्विश्राम, निर्विषय, निर्विकार और निरासक्त होना] और निष्केवल्य [ब्रह्मपरायणत्व],
५) (च मे सावित्र च मे सारस्वतः) और मेरा सावित्र [सविता के गुणों से युक्त होना] और मेरा सारस्वत [सरस्वती, वाणी, विद्या में सिद्ध होना],
६) (च मे पात्नीवतः च मे हारि-योजनः) और मेरा प्रशस्त पत्नीवाला होना और मेरा घोड़ों को [रथ में] जोड़नेवाला होना

(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें ।

और मेरा आग्रयण और मेरा वैश्वदेव,
और मेरा ध्रुव और मेरा वैश्वानर,
और मेरा ऐन्द्राग्न और मेरा महावैश्वदेव,
और मेरा प्राणाचार और मेरा निष्केवल्य,
और मेरा सावित्र और मेरा सारस्वत,
और मेरा पात्नीवत और मेरा हारियोजन
यज्ञ से कल्प करें ।

९७० स्रुचश्च मे चमसाश्च मे वायव्यानि च मे द्रोणकलशश्च मे ग्रावाणश्च मेधिषवणे च मे पूतभृच्च म आधवनीयश्च मे वेदिश्च मे बर्हिश्च मेवभृथश्च मेस्वगाकारश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । य १८.२१

स्रुचः च मे चमसाः च मे वायव्यानि च मे द्रोण-कलशः च मे ग्रावाणः च मे अधि-सवने च मे पूत-भृत् च मे आ-धवनीयः च मे वेदिः च मे बर्हिः च मे अव-भृथः च मे स्व-गा-कारः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।

१) (च मे स्रुचः च मे चमसाः) और मेरा स्रुवा और मेरे चमस,
२) (च मे वायव्यानि च मे द्रोण-कलशः) और मेरे वायव्य [पंखा, सूप, आदि हवा से झलने, फटकने के साधन] और मेरा कलसा,
३) (च मे ग्रावाणः च मे अधि-सवने) और मेरा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शिल-बट्टा और मेरे दो अधि-षवण [रस निकालने के ऊपर नीचे की दो फलक],
४) (च मे पूत-भृत् च मे आ-धवनीयः) और मेरा पूत-धारक और मेरा प्र-क्षालनीय,
५) (च मे वेदिः च मे बर्हिः) और मेरी वेदि और मेरा आसन,
६) (च मे अव-भृथः च मे स्व-गा-कारः) और मेरा यज्ञान्त-स्नान और मेरा आत्म-गमन [लक्ष्य—मोक्ष] की साधक, आत्म-साधना
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

और मेरा स्रुवा और मेरे चमस,
और मेरे वायव्य और मेरा कलसा,
और मेरा शिलबट्टा और मेरे द्विफलक,
और मेरा पूतभृत् और मेरा आधवनीय,
और मेरी वेदि और मेरा आसन,
और मेरा यज्ञान्त-स्नान और मेरा स्वगाकार
यज्ञ से कल्प करें।

९७१ **अग्निश्च मे घर्मश्च मेर्कश्च मे सूर्यश्च मे प्राणश्च मेश्वमेधश्च मे पृथिवी च मेदितिश्च मे दितिश्च मे द्यौश्च मेङ्गुलयः शक्वरयो दिशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।**

य १८.२२

अग्निः च मे घर्मः च मे अर्कः च मे सूर्यः च मे प्राणः च मे अश्व-मेधः च मे पृथिवी च मे अ-दितिः च मे दितिः च मे द्यौः च मे अङ्गुलयः शक्वरयः दिशः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (च मे अग्निः च मे घर्मः) और मेरा पावक और मेरा ताप,
२) (च मे अर्कः च मे सूर्यः) और मेरा किरण और मेरा सूर्य,
३) (च मे प्राणः च मे अश्व-मेधः) और मेरा जीवन और मेरा राष्ट्र,
४) (च मे पृथिवी च मे अ-दितिः) और मेरी भूमि और मेरी वाणी,
५) (च मे दितिः च मे द्यौः) और मेरी खण्ड खण्ड करने की शक्ति और मेरा प्रकाश,
६) (च मे अङ्गुलयः शक्वरयः दिशः) और मेरी अंगुलियां, शक्तियां, दिशाएं
(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

और मेरा अग्नि और मेरा ताप,
और मेरा किरण और मेरा सूर्य,
और मेरा जीवन और मेरा राष्ट्र,
और मेरी पृथिवी और मेरी वाणी,
और मेरी दिति और मेरा प्रकाश,
और मेरी अंगुलियां, शक्तियां, दिशाएं
यज्ञ से कल्प करें।

९७२ **व्रतं च म ऋतवश्च मे तपश्च मे संवत्सरश्च मेहोरात्रे ऊर्वष्ठीवे बृहद्रथन्तरे च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।** य १८.२३

व्रतम् च मे ऋतवः च मे तपः च मे संवत्सरः च मे अहः-रात्रे ऊरू-अष्ठीवे बृहत्-रथम्-तरे च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (च मे व्रतम् च मे ऋतवः) और मेरा व्रत और मेरे ऋतु,
२) (च मे तपः च मे संवत्सरः) और मेरा तप और मेरा वर्ष,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

३) (च मे अहः-रात्रे ऊरू-अष्ठीवे बृहत्-रथम्-तरे) और मेरे दिन-रात, जंघा-घुटने, दोनों बृहत्-स्थन्तर [जीवनरूप रथ से तरनेवाले मस्तिष्क और हृदय]

और मेरा तप और मेरे ऋतु,
और मेरा तप और मेरा संवत्सर,
और मेरे दिन-रात, जंघा-घुटने,
उभय बृहत्-रथन्तर,

(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

यज्ञ से कल्प करें।

९७३ **एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे पञ्च च मे सप्त च मे सप्त च मे नव च मे नव च म एकादश च म एकादश च मे त्रयोदश च मे त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे पञ्चदश च मे सप्तदश च मे सप्तदश च मे नवदश च मे नवदश च म एकविंशतिश्च म एकविंशतिश्च मे त्रयोविंशतिश्च मे त्रयोविंशतिश्च मे पञ्चविंशतिश्च मे पञ्चविंशतिश्च मे सप्तविंशतिश्च मे सप्तविंशतिश्च मे नवविंशतिश्च मे नवविंशतिश्च म एकत्रिंशच्च म एकत्रिंशच्च मे त्रयस्त्रिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।**

य १८.२४

एका च मे तिस्रः च मे तिस्रः च मे पञ्च च मे पञ्च च मे सप्त च मे सप्त च मे नव च मे नव च मे एकादश च मे एकादश च मे त्रयः-दश च मे त्रयः-दश च मे पञ्च-दश च मे पञ्च-दश च मे सप्त-दश च मे सप्त-दश च मे नव-दश च मे नव-दश च मे एक-विंशतिः च मे एक-विंशतिः च मे त्रयः-विंशतिः च मे त्रयः-विंशतिः च मे पञ्च-विंशतिः च मे पञ्च-विंशतिः च मे सप्त-विंशतिः च मे सप्त-विंशतिः च मे नव-विंशतिः च मे नव-विंशतिः च मे एक-त्रिंशत् च मे एक-त्रिंशत् च मे त्रयः-त्रिंशत् च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

यजुर्वेद के चौदहवें अध्याय के मन्त्र संख्या २८, २९, ३०, ३१ में भी इन संख्याओं का उल्लेख है। यजुर्वेद के चौदहवें अध्याय की मद्रचित व्याख्या में उपर्युक्त चारों मन्त्रों की जो व्याख्या की गई है उसी पर आधारित इस मंत्र की संख्याएं हैं।

(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

१) (मे एका च) मेरी एक [आत्म धारणा] भी,

२) (मे तिस्रः च मे तिस्रः च) मेरी तीन [ज्ञान-साधना, कर्मसाधना, उपासना] भी, मेरी तीन [ज्ञानसिद्धि, कर्मसिद्धि, उपासनासिद्धि] भी,

३) (मे पञ्च च मे पञ्च च) मेरी पांच [दृष्टि, श्रुति, सूंघने की शक्ति, रसना, त्वचा] भी, मेरी पांच [देखने की पवित्रता, सुनने की पवित्रता, सूंघने की पवित्रता, स्वाद की पवित्रता, स्पर्श की पवित्रता] भी,

४) (मे सप्त च मे सप्त च) मेरी सात [भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यं व्याहृतियां] भी, मेरी सात [व्याहृतियों की भावनाएं = भूः की भावना सत्, भुवः की भावना चित्, स्वः की भावना आनन्द, महः की भावना महत्ता, जनः की भावना प्रादुर्भवन, तपः की भावना व्याप्ति, सत्यं की भावना अपरिणामिता] भी,

५) (मे नव च मे नव च) मेरी नौ [दो नेत्र, दो

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

श्रोत्र, दो नासिकाछिद्र, मुख, मूत्रावयव, मलावयव इन्द्रियां] भी, मेरी नौ [इन्द्रियों की नौ क्रियाएं] भी,

६) (मे एकादश च मे एकादश च) मेरी ग्यारह [छह ऋतुएं+पांच ऋतुसन्धियां] भी, मेरी ग्यारह [की, प्राप्त ग्यारह सम्पदाएं] भी,

७) (मे त्रयः-दश च मे त्रयः-दश च) मेरी तेरह [बारह महिनों की बारह अवधियां तथा उन पर चढ़ी, संवत्सर की परिधि] भी, मेरी तेरह [बारह मासिक और तेरहवीं सांवत्सरिक उपलब्धियां] भी,

८) (मे पञ्च-दश च मे पञ्च-दश च) मेरी पन्द्रह [पांच प्राणों, पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों की गतियां] भी, मेरी पन्द्रह [पन्द्रहों की पन्द्रह प्रशस्तियां] भी,

९) (मे सप्त-दश च मे सप्त-दश च) मेरी सत्रह [पांच प्राणों, पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों, बुद्धि, मन की साधनाएं] भी, मेरी सत्रह [की सत्रह उपलब्धियां] भी,

१०) (मे नव-दश च मे नव-दश च) मेरी उन्नीस [पांच प्राणों, पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों, बुद्धि, मन, मस्तिष्क, हृदय की प्रगतियां] भी, मेरी उन्नीस [की उन्नीस प्रशस्तियां] भी,

११) (मे एक-विंशतिः च मे एक-विंशतिः च) मेरी एकीस [पांच प्राणों, पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों, बुद्धि, मन, मस्तिष्क, हृदय, चित्त, आत्मा की प्रगतियां] भी, मेरी एकीस [की एकीस प्राप्तियां] भी,

१२) (मे त्रयः-विंशतिः च मे त्रयः-विंशतिः च) मेरी तेईस [हाथ की दस अंगुलियां, दो नेत्र, दो श्रोत्र, दो हाथ, दो पैर, तप, श्रम, चिन्तन, संयम, सद्भाव की सत्साधनाएं] भी, मेरी तेईस [की तेईस उपलब्धियां] भी,

१३) (मे पञ्च-विंशतिः च मे पञ्च-विंशतिः च) मेरी पच्चीस [उपर्युक्त २३+ज्ञान+विज्ञान की साधनाएं] भी, मेरी पच्चीस [की पच्चीस प्रशस्तियां] भी,

१४) (मे सप्त-विंशतिः च मे सप्त-विंशतिः च) मेरी सत्ताईस [उपर्युक्त पच्चीस के साथ, यम-नियम की साधनाएं] भी, मेरी सत्ताईस [की सत्ताईस सिद्धियां] भी,

१५) (मे नव-विंशति च मे नव-विंशतिः च) मेरी उन्तीस [उपर्युक्त सत्ताईसों के साथ [आसन-सिद्धि और प्राणवशीकार की साधनाएं] भी, मेरी उन्तीस [की उन्तीस अभीष्टियां] भी,

१६) (मे एक-त्रिंशत् च मे एक-त्रिंशत् च) मेरी एकतीस [उपर्युक्त उन्तीस, प्रत्याहार, धारणा की साधनाएं] भी, मेरी एकतीस [की एकतीस उपलब्धियां] भी,

१७) (मे त्रयः-त्रिंशत् च) मेरी तेतीस [उपर्युक्त एकतीस के साथ ध्यान, समाधि की साधनाएं] भी [,मेरी तेतीस की तेतीस सिद्धियां भी]।

मेरी एक,
मेरी तीन भी, मेरी तीन भी,
मेरी पांच भी, मेरी पांच भी,
मेरी सात भी, मेरी सात भी,
मेरी नौ भी, मेरी नौ भी,
मेरी ग्यारह भी, मेरी ग्यारह भी,
मेरी तेरह भी, मेरी तेरह भी,
मेरी पन्द्रह भी, मेरी पन्द्रह भी,
मेरी सत्रह भी, मेरी सत्रह भी,
मेरी उन्नीस भी, मेरी उन्नीस भी,
मेरी एकीस भी, मेरी एकीस भी,
मेरी तेईस भी, मेरी तेईस भी,
मेरी पच्चीस भी, मेरी पच्चीस भी,
मेरी सत्ताईस भी, मेरी सत्ताईस भी,
मेरी एकतीस भी, मेरी एकतीस भी,
मेरी तेतीस भी
यज्ञ से कल्प करें।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

९७४ चतस्रश्च मेष्टौ च मेष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे षोडश च मे षोडश च मे विंशतिश्च मे विंशतिश्च मे चतुर्विंशतिश्च मे चतुर्विंशतिश्च मेष्टाविंशतिश्च मेष्टाविंशतिश्च मे द्वात्रिंशच्च मे द्वात्रिंशच्च मे षट्त्रिंशच्च मे षट्त्रिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मेष्टाचत्वारिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । य १८.२५

चतस्रः च मे अष्टौ च मे अष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे षोडश च मे षोडश च मे विंशतिः च मे विंशतिः च मे चतुः-विंशतिः च मे चतुः-विंशतिः च मे अष्टा-विंशतिः च मे अष्टा-विंशतिः च मे द्वा-त्रिंशत् च मे द्वा-त्रिंशत् च मे षट्-त्रिंशत् च मे षट्-त्रिंशत् च मे चत्वारिंशत् च मे चत्वारिंशत् च मे चतुः-चत्वारिंशत् च मे चतुः-चत्वारिंशत् च मे अष्टा-चत्वारिंशत् च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।

१) (मे चतस्रः च मे अष्टौ च) मेरी चार[-वर्षावस्था] भी, मेरी आठ[-वर्षावस्था] भी,
२) (मे अष्टौ च मे द्वादश च) मेरी आठ[-वर्षावस्था] भी, मेरी बारह[-वर्षावस्था] भी,
३) (मे द्वादश च मे षोडश च) मेरी बारह[-वर्षावस्था] भी, सोलह[-वर्षावस्था] भी,
४) (मे षोडश च मे विंशतिः च) मेरी सोलह [-वर्षावस्था] भी, मेरी बीस[-वर्षावस्था] भी,
५) (मे विंशतिः च मे चतुः-विंशतिः च) मेरी बीस[-वर्षावस्था] भी, मेरी चौबीस[-वर्षावस्था] भी,
६) (मे चतुः-विंशतिः च मे अष्टा-विंशतिः च)मेरी चौबीस[-वर्षावस्था] भी, मेरी अठाईस[-वर्षावस्था] भी,
७) (मे अष्टा-विंशतिः च मे द्वा-त्रिंशत् च) मेरी अठाईस[-वर्षावस्था] भी, मेरी बत्तीस[-वर्षावस्था] भी,
८) (मे द्वा-त्रिंशत् च मे षट्-त्रिंशत् च) मेरी बत्तीस[-वर्षावस्था] भी, मेरी छत्तीस[-वर्षावस्था] भी,
९) (मे षट्-त्रिंशत् च मे चत्वारिंशत् च) मेरी छत्तीस[-वर्षावस्था] भी, मेरी चालीस[-वर्षावस्था] भी,
१०) (मे चत्वारिंशत् च मे चतुः-चत्वारिंशत् च) मेरी चालीस[-वर्षावस्था] भी, मेरी चवालीस [-वर्षावस्था] भी,
११) (मे चतुःचत्वारिंशत् च मे अष्टा-चत्वारिंशत् च) मेरी चवालीस[-वर्षावस्था] भी, मेरी अड़तालीस[-वर्षावस्था] भी

(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] कल्पन्ताम् कल्प करें ।

इस मन्त्र में चार चार वर्ष के पर्व के साथ अड़तालीस वर्ष तक शरीरविकास का क्रम है । अड़तालीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य साधनेवाले को 'आदित्य ब्रह्मचारी' संज्ञा दी गई है । शरीरविकास-क्रम में चार चार वर्ष के बारह पर्व होते हैं । अड़तालीस वर्ष के बाद शरीर में क्षीणता का क्रम आरम्भ होता है । अड़तालीस वर्ष तक मानवजीवन का आयु-आरोहण अथ वा उदययुग होता है ।

उनञ्चासवें वर्ष से जीवन में आयु-अवरोहण अथ वा अस्तयुग आरम्भ होता है । उसके भी चार चार वर्ष के तेरह पर्व होते हैं । १२ आरोहण-पर्व [४८ वर्ष] और तेरह अवरोहण-पर्व [५२ वर्ष] मिलकर १०० वर्ष होते हैं । आश्रम-व्यवस्था

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

से १०० वर्षों को पच्चीस पच्चीस वर्षों के चार पर्वों में विभक्त किया गया है; ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रमों के पच्चास वर्ष इधर, और वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों के पच्चास वर्ष उधर। चढ़ती आयु के पच्चास वर्ष प्रथम दो आश्रमों के लिए और उतरती आयु के पच्चास वर्ष अन्तिम दो आश्रमों के लिए।

मन्त्र में आयु-आरोहण के अड़तालीस वर्षों का उल्लेख है।

मेरी चार भी, मेरी आठ भी,
मेरी आठ भी, मेरी बारह भी,
मेरी बारह भी, मेरी सोलह भी,
मेरी सोलह भी, मेरी बीस भी,
मेरी बीस भी, मेरी चौबीस भी,
मेरी चौबीस भी, मेरी अट्ठाईस भी,
मेरी अट्ठाईस भी, मेरी बत्तीस भी,
मेरी बत्तीस भी, मेरी छत्तीस भी,
मेरी छत्तीस भी, मेरी चालीस भी,
मेरी चालीस भी, मेरी चवालीस भी,
मेरी चवालीस भी, मेरी अड़तालीस भी
यज्ञ से कल्प करें।

९७५ **त्र्यविश्च मे त्र्यवी च मे दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे पञ्चाविश्च मे पञ्चावी च मे त्रिवत्सश्च मे त्रिवत्सा च मे तुर्यवाट् च मे तुर्यौही च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।**

य १८.२६

त्रि-अविः च मे त्रि-अवी च मे दित्य-वाट् च मे दित्यौही च मे पञ्च-अविः च मे पञ्च-अवी च मे त्रि-वत्सः च मे त्रि-वत्सा च मे तुर्य-वाट् च मे तुर्यौही च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (च मे त्रि-अविः च मे त्रि-अवी) और मेरा त्रि-भेड़ और मेरी त्रि-भेड़ी,

२) (च मे दित्य-वाट् च मे दित्यौही) और मेरा दित्य-वाट् और मेरी दित्यौही,

३) (च मे पञ्च-अविः च मे पञ्च-अवी) और मेरा पञ्च-भेड़ और मेरी पञ्च-भेड़ी,

४) (च मे त्रि-वत्सः च मे त्रि-वत्सा) और मेरा त्रि-वत्स और मेरी त्रि-वत्सा,

५) (च मे तुर्य-वाट् च मे तुर्यौही) और मेरा तुर्य-वाट् और मेरी तुर्यौही

(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

तीन प्रकार की भेड़ें हों जिसके पास उस गड़रिये की संज्ञा त्रि-अवि है। तीन प्रकार की भेड़ें हों जिसके पास उस गड़रिनी की संज्ञा त्रि-अवी है।

दो वर्ष की आयु के वृष की संज्ञा दित्य-वाट् है, और दो वर्ष की आयु की गौ की संज्ञा दित्यौही है।

पांच प्रकार की भेड़ें हों जिसके पास उस गड़रिये की संज्ञा पञ्च-अवि है। पांच प्रकार की भेड़ें हों जिसके पास उस गड़रिनी की संज्ञा पञ्च-अवी है।

तीन बछड़ोंवाले गोपाल की संज्ञा त्रि-वत्स है। तीन बछड़ोंवाली गोपी की संज्ञा त्रि-वत्सा है। तीन पुत्रों का पिता भी त्रि-वत्स है, और तीन पुत्रों की माता भी त्रि-वत्सा है।

चार वर्ष के बैल का नाम तुर्य-वाट् है, और चार वर्ष की गौ का नाम तुर्यौही है।

और मेरा त्रि-अवि और मेरी त्रि-अवी,
और मेरा दित्य-वाट् और मेरी दित्यौही,
और मेरा पञ्च-अवि और मेरी पञ्च-अवी,
और मेरा त्रि-वत्स और मेरी त्रि-वत्सा,
और मेरा तुर्य-वाट् और मेरी तुर्यौही
यज्ञ से कल्प करें।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

९७६ **पष्ठवाट् च मे पष्ठौही च म उक्षा च मे वशा च म ऋषभश्च मे वेहच्च मेनड्-वाँश्च मे धेनुश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।** य १८.२७

पष्ठ-वाट् च मे पष्ठौही च मे उक्षा च मे वशा च मे ऋषभः च मे वेहत् च मे अनड्वान च मे धेनुः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

१) (च मे पष्ठ-वाट् च मे पष्ठौही) और मेरा भार-वाही [ऊंट, बैल, घोड़ा, हाथी] और मेरी भार-वाहिनी [ऊंटनी, घोड़ी, हथिनी],

२) (च मे उक्षा च मे वशा) और मेरा सांड और मेरी अवत्सा गाय,

३) (च मे ऋषभः च मे वेहत्) और मेरा सांड और मेरी अगर्भवती गौ,

४) (च मे अनड्वान् च मे धेनुः) और मेरा [गाड़ी में जुड़कर बोझा ढोनेवाला] बैल और मेरी दुधार गौ

(यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पन्ताम्) कल्प करें।

और मेरा भारवाही और मेरी भारवाहिनी,
और मेरा उक्षा और मेरी वशा,
और मेरा सांड और मेरी अगर्भा गाय,
और मेरा अनड्वान् और मेरी धेनु
यज्ञ से कल्प करें।

९७७ **वाजाय स्वाहा प्रसवाय स्वाहापिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा वसवे स्वाहाहर्पतये स्वाहाह्ने मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनंशिनाय स्वाहा विनंशिन आन्त्यायनाय स्वाहान्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाधिपतये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा। इयं ते राण्मित्राय यन्तासि यमन ऊर्जे त्वा वृष्टयै त्वा प्रजानां त्वाधिपत्याय।** [य २२.३२] य १८.२८

वाजाय स्वाहा प्र-सवाय स्वाहा अपिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा वसवे स्वाहा अहः-पतये स्वाहा अह्ने मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनंशिनाय स्वाहा विनंशिने आन्त्यायनाय स्वाहा आन्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहा अधि-पतये स्वाहा प्र-जा-पतये स्वाहा। इयम् ते राट् मित्राय यन्ता असि यमनः ऊर्जे त्वा वृष्टयै त्वा प्र-जानाम् त्वा आधि-पत्याय।

कृत कल्प राष्ट्र का सर्वस्व

१) (स्वाहा) सुहुत हो (वाज़ाय) वाज के लिए, ज्योति और शक्ति के आश्रय से संग्राम संग्राम में विजयसम्पादन के लिए।

२) (स्वाहा) सुहुत हो (प्र-सवाय) प्र-सव के लिए, प्र-जनन के लिए।

जच्चा और बच्चा के सुस्वास्थ्य की दृष्टि से यह परम आवश्यक है कि राष्ट्रीय स्तर पर जापों की सुव्यवस्था की जाए। प्रत्येक माता पूर्ण सुविधा और सुरक्षा के साथ अपने शिशु को जन्म देवे, प्रत्येक राष्ट्र ऐसे सुशोभन प्रसूति-गृहों का निर्माण करे।

३) (स्वाहा) सुहुत हो (अपिजाय) प्रसिद्धि के लिए।

प्रसिद्धि, ख्याति, कीर्ति, साख किसी भी राष्ट्र की सच्ची प्रतिष्ठा है। उसके लिए कितना भी त्याग किया जाए, थोड़ा है।

४) (स्वाहा) सुहुत हो (क्रतवे) कर्तृत्व के लिए, कर्मकुशलता के लिए, कर्तव्यपालन की शिक्षा के लिए।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

५) (स्वाहा) सुहुत हो (वसवे) निवास के लिए, बसावट के लिए।

नागरिकों के आवास की व्यवस्था राष्ट्रीय स्तर पर होनी ही चाहिए।

६) (स्वाहा) सुहुत हो (अहः-पतये) दिन-पति [सूर्य] के लिए।

सूर्य का प्रकाश और उसकी ऊर्जा का उपयोग सभी आवासों में सुलभ हो, ऐसी आवासीय व्यवस्था राष्ट्र के विज्ञान-विभाग की ओर से हो।

७) (स्वाहा) सुहुत हो (मुग्धाय अह्ने) मूढ़ दिन के लिए।

बेकारी में जो दिन बीतता है उसकी संज्ञा मुग्ध दिन है। बेकारी में दिन बितानेवाले प्रजा-समूह को रोज़गार दिलाने में राष्ट्रीय आय का सद्व्यय हो।

८) (स्वाहा) सुहुत हो (वैनंशिनाय मुग्धाय) विनाशोन्मुख मुग्ध के लिए।

मूढ़ता से ग्रस्त जो मानवसमूह व्यर्थ व्यासंगों में अपना जीवन नष्ट करता है उसके सुधार में राष्ट्र के साधनोपाय काम में लाए जाएं।

९) (स्वाहा) सुहुत हो (विनंशिने आन्त्यायनाय) विनाशोन्मुख आन्त्यायन के लिए।

विनाश के अन्तिम छोर पर पहुंचे हुए व्यसनी-विलासियों को विवेकी बनाकर सुपथ पर चलाने की राष्ट्रीय व्यवस्था होनी चाहिए।

१०) (स्वाहा) सुहुत हो (आन्त्याय भौवनाय) निम्नतम उच्चतम के लिए।

सामाजिक जीवन में जो निम्नतम स्तर पर हैं उन्हें उच्चतम स्तर पर पहुंचने के अवसर और साधन प्राप्त कराना राष्ट्र का कर्तव्य है।

११) (स्वाहा) सुहुत हो (भुवनस्य पतये) भुवन के पति के लिए।

भुवन नाम पृथिवी और स्वर्ग का है। जो पृथिवी को स्वर्ग [सुखधाम] बनाने की साध में संलग्न हो उसे भुवन का पति कहा गया है। ऐसे मानव को सब साधन और सुविधाएं प्रदान की जानी चाहिएं।

१२) (स्वाहा) सुहुत हो (अधि-पतये) शासक [शासन] के लिए।

शासन का बजट आर्थिक तथा शासनिक दृष्टि से पर्याप्त उदार होना चाहिए।

१३) (स्वाहा) सुहुत हो (प्र-जा-पतये) प्र-जा के रक्षक [पुलिस]-विभाग के लिए।

पुलिस-विभाग एक अतिशय महत्त्वपूर्ण विभाग है। उसका मुख्य कर्तव्य प्रजा के सम्मान, सम्पत्ति और जीवन की रक्षा करना है। अतः राष्ट्र द्वारा उसका सम्यक् पोषण होना ही चाहिए।

१४) (ते) तेरी, तुझ राष्ट्र की (इयम्) यह [स्वाहा-कृति] (राट्) रंजित, प्रकाशित रहे।

१५) तू [राष्ट्र] (मित्र) वफ़ादार के लिए (असि) है (यमनः यन्ता) नियामक, वशयिता।

वफ़ादार नागरिक भी अनियन्त्रित और उच्छृंखल न रहने पाएं, राष्ट्र की ऐसी नियामक और वशीकारमयी व्यवस्था हो।

१६) हम नागरिक (त्वा) तुझे, तुझ राष्ट्र को (ऊर्जे) समृद्धि के लिए, (त्वा) तुझे, तुझ राष्ट्र को (वृष्टयै) वृष्टि के लिए, सुख-सौभाग्य के बाहुल्य के लिए, (त्वा) तुझे, तुझ राष्ट्र को (प्र-जानाम् आधि-पत्याय) प्र-जाओं के शासन के लिए, प्रजाओं के प्रशस्तीकरण के लिए [प्रतिष्ठित करते हैं]।

वाज के लिए स्वाहा, प्रसव के लिए स्वाहा,
ख्याति के लिए स्वाहा, क्रतु के लिए स्वाहा,
वसु के लिए स्वाहा, दिनपति के लिए स्वाहा,
मुग्ध दिन के लिए स्वाहा,
विनाशोन्मुख मुग्ध के लिए स्वाहा,
विनाशोन्मुख आन्त्यायन के लिए स्वाहा,
निम्नतम उच्चतम के लिए स्वाहा,
भुवन के पति के लिए स्वाहा,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अधिपति के लिए स्वाहा, प्रजापति के लिए स्वाहा।
तेरी यह स्वाहाकृति राट्,
तू है मित्र के लिए नियामक यन्ता,
तुझे समृद्धि के लिए, तुझे वृष्टि के लिए,
तुझे प्रजाओं के आधि-पत्य के लिए।

९७८ **आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग् यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पतां स्वर्यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। स्तोमश्च यजुश्च ऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरं च। स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम प्रजापतेः प्रजा अभूम वेट् स्वाहा।**

[य ९.२१,२२.३३] य १८.२९

आयुः यज्ञेन कल्पताम् प्र-आन-यज्ञेन कल्पताम् चक्षुः यज्ञेन कल्पताम् श्रोत्रम् यज्ञेन कल्पताम् वाक् यज्ञेन कल्पताम् मनः यज्ञेन कल्पताम् आत्मा यज्ञेन कल्पताम् ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताम् ज्योतिः यज्ञेन कल्पताम् स्वः यज्ञेन कल्पताम् पृष्ठम् यज्ञेन कल्पताम् यज्ञः यज्ञेन कल्पताम्। स्तोमः च यजुः च ऋक् च साम च बृहत् च रथम्-तरम् च। स्वः देवाः अगन्म अ-मृताः अभूम प्र-जा-पतेः प्र-जाः अभूम वेट् स्वाहा।

कृतकल्प राष्ट्र का राष्ट्रपति राजा, प्रत्येक सचिव, प्रत्येक राजपुरुष राष्ट्रनिष्ठा की शपथ ग्रहण करता हुआ कहता है,

१) मेरा (आयुः) आयु (यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पताम्) कल्प करे।

यज्ञ शब्द का प्रयोग इस मन्त्र में उसी अर्थ और आशय में हुआ है जैसा इसी अध्याय के प्रथम मन्त्र की व्याख्या में।

२) मेरा (प्र-आनः) प्राण (यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पताम्) कल्प करे।

३) मेरा (चक्षुः) नेत्र (यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पताम्) कल्प करे।

४) मेरा (श्रोत्रम्) कान (यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पताम्) कल्प करे।

५) मेरी (वाक्) वाणी (यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पताम्) कल्प करे।

६) मेरा (मनः) मन (यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पताम्) कल्प करे।

७) मेरा (आत्मा) आत्मा (यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पताम्) कल्प करे।

८) मेरा (ब्रह्मा) रचयिता, परमेश्वर (यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पताम्) कल्प करे।

९) मेरी (ज्योतिः) ज्योति (यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पताम्) कल्प करे।

१०) मेरा (स्वः) सुख, सौभाग्य, आनन्द (यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पताम्) कल्प करे।

११) मेरा (पृष्ठम्) पीठ (यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पताम्) कल्प करे।

१२) मेरा (यज्ञः) यज्ञ—शुभानुष्ठान (यज्ञेन) यज्ञ से [राष्ट्र और विश्व का] (कल्पताम्) कल्प करे।

१३) मेरा (स्तोमः च) स्तुतिमय अथर्ववेद भी, (यजुः च) यजुर्वेद भी, (ऋक् च) ऋग्वेद भी, (साम च) सामवेद भी, (बृहत् च) सवन भी, (रथम्-तरम् च)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जीवनोत्कर्ष भी, जीवनरथ का उत्तरण भी [यज्ञ से राष्ट्र और विश्व का कल्प करे]।

और अब राष्ट्र के समग्र नागरिक कहते हैं, (देवाः) देवो! दिव्य राजपुरुषो! तुम्हारी राष्ट्र-साधना से हम (स्वः अगन्म) सुखानन्द को प्राप्त हुए हों, (अमृताः अभूम) अमृतमय हुए हों, (प्र-जा-पतेः प्र-जाः अभूम) परमेश्वर की प्र-जा होगए हों, सर्वत्र (वेट्) उत्तम, शुभ [हो], सबमें (स्वाहा) बलिदान की भावना हो।

आयु यज्ञ से कल्प करे, प्राण यज्ञ से कल्प करे,
चक्षु यज्ञ से कल्प करे, कान यज्ञ से कल्प करे,
वाणी यज्ञ से कल्प करे, मन यज्ञ से कल्प करे,
आत्मा यज्ञ से कल्प करे, ब्रह्मा यज्ञ से कल्प करे,
ज्योति यज्ञ से कल्प करे, आनन्द यज्ञ से कल्प करे,
पृष्ठ यज्ञ से कल्प करे, यज्ञ यज्ञ से कल्प करे।
स्तोम भी, यजुः भी, ऋक् भी, साम भी,
बृहत् भी, रथन्तर भी।
देवो! हम प्राप्त हुए हों सुखानन्द को,
हम होगए हों अमृतमय,
प्रजापति की प्रजा होगए हों।
शुभ, स्वाहा।

९७९ **वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे।**
यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश तस्यां नो देवः सविता धर्म साविषत्।
[य ९.५, अ ७.६.४] य १८.३०

वाजस्य नु प्र-सवे मातरम् महीम् अ-दितिम् नाम वचसा करामहे। यस्याम् इदम् विश्वम् भुवनम् आ-विवेश तस्याम् नः देवः सविता धर्म साविषत्।

आदर्श राष्ट्र के आदर्श नागरिक कहे चले जारहे हैं,

१) हम वेट् और स्वाहा के, शुभ और बलिदान के (वाजस्य) संग्राम के (प्र-सवे) प्र-सवन में, सुसम्पादन में, (नु) अवश्य ही, (महीम् अ-दितिम् मातरम्) सर्वव्यापिनी, अखण्डिता माता को/का (वचसा नाम करामहे) वाणी से नाम करें [लें], (यस्याम्) जिस [मही अदिति माता] में (इदम् विश्वम् भुवनम्) वह अखिल भुवन (आ-विवेश) आ-विष्ट [प्रविष्ट] हुआ हुआ है।

परमेश्वरी माता ही वह मही और अखण्डिता माता है जिसमें यह विश्व भुवन, यह सारी सृष्टि समाई हुई है। राष्ट्र और विश्व के सब शुभ और स्वाहाकारी वाज [ज्योति और शक्ति के आश्रय से लड़े जानेवाले संग्राम] उस माता का नाम लेते हुए ही किए जाने हैं। उसका नाम लेते रहें, संग्राम करते रहें। ऐसा करने से ही सुनागरिकों के शुभ संग्राम सुपरिणामकारी होंगे।

२) (तस्याम्) उस[अदिति माता]में (देवः सविता) देव सविता (नः) हमें (धर्म साविषत्) धर्म सेवन कराए।

देव सविता प्रयोग यहां मानवजीवन के प्रेरक आत्म-देव के लिए हुआ है। धर्म से तात्पर्य मानव-धर्म अथ वा मानवता से है। आत्मना परमेश्वरी माता में समाहित रहकर संग्रामरत रहने से ही सुनागरिक मानवधर्म का निर्वहन और मानवता का मान कर पाते हैं।

अवश्य, वाज के प्रसव में हम
वाणी से लें नाम मही अदिति माता का,
जिसमें यह सब भुवन स्थित है।
उसमें सेवन धर्म कराए
हमें देव सविता नितराम्।

सूक्ति : नो देवः सविता धर्म साविषत्।
हमें देव सविता धर्म सेवन कराए!

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

६८० **विश्वे अद्य मरुतो विश्व ऊती विश्वे भवन्त्वग्नयः समिद्धाः ।**
विश्वे नो देवा अवसा गमन्तु विश्वमस्तु द्रविणं वाजो अस्मे ।

[ऋ १०.३५.१३, य ३३.५२] य १८.३१

विश्वे अद्य मरुतः विश्वे ऊती विश्वे भवन्तु अग्नयः सम्-इद्धाः । विश्वे नः देवाः अवसा आ गमन्तु विश्वम् अस्तु द्रविणम् वाजः अस्मे ।

१) (अद्य) आज (ऊती=ऊत्यै) रक्षार्थ (विश्वे मरुतः) समस्त वीर, (विश्वे अग्नयः) सब ज्ञानी, (विश्वे) सभी (सम्-इद्धाः) सम्यक् प्रदीप्त (भवन्तु) हों ।

वीर और ज्ञानी [विद्वान्], ये दो वर्ग ही हैं जो राष्ट्र की सम्यक् रक्षा और समृद्धि सम्पादन करते हैं । वीर क्षत्र हैं । विद्वान् ब्रह्म हैं । क्षत्र जहां देश की सीमाओं की रक्षा करता है, वहां ब्रह्म राष्ट्र में ज्ञान, विज्ञान का विकास करके देश और राष्ट्र की दर्शनीयता तथा समृद्धि का संवर्धन करता है ।

२) (विश्वे देवाः) सारी दिव्यताएं (अवसा) कान्ति के साथ (नः) हमारे लिए, हम नागरिकों के प्रति (आ गमन्तु) आएं, चली आएं ।

वीर और विद्वान् जहां होते हैं वहां सारी दिव्यताएं सभी नागरिकों को सम्प्राप्त होती ही हैं ।

३) (द्रविणम् वाजः) धनैश्वर्य और वाज [ज्योति और शक्ति], (विश्वम्) सब कुछ (अस्मे अस्तु) हमारे लिए हो ।

वीरों और विद्वानों की सुव्यवस्था तथा संरक्षा में धन और वाज नागरिकों को भर-पूर प्राप्त रहते हैं ।

आज सुरक्षार्थ सारे वीर, सारे ज्ञानी,
सभी हों सुप्रदीप्त ।
सभी दिव्यताएं चली आएं
हमारे प्रति कान्ति के साथ ।
धन और वाज, सभी कुछ
हो हमारे लिए ।

६८१ **वाजो नः सप्त प्रदिशश्चतस्रो वा परावतः । वाजो नो विश्वैर्देवैर्धनसाताविहावतु ।**

य १८.३२

वाजः नः सप्त प्र-दिशः चतस्रः वा परा-वतः । वाजः नः विश्वैः देवैः धन-सातौ इह अवतु ।

१) (नः) हमारा (सप्त) सर्पणशील, व्यापनशील (वाजः) संग्राम (चतस्रः प्र-दिशः) चारों प्र-दिशाओं को (वा) अथ वा (परा-वतः) दूर तक, सर्वत्र [राष्ट्र और विश्व का कल्प करे] ।

वाज नाम उस संग्राम का है जो ज्योति [ज्ञान, संज्ञान, विवेक] और शक्ति [आत्मसंबल] के आश्रय से किए जाते हैं, पशुबल और विध्वंसक शस्त्रों से नहीं । ऐसे वाज ही राष्ट्र और संसार में सर्वत्र कल्प करने में समर्थ और सफल होते हैं ।

२) (नः वाजः) हमारा संग्राम (विश्वैः देवैः) समस्त दिव्यताओं के साथ (धन-सातौ) धनों के विभाग में, ऐश्वर्यों के वितरण में (इह) यहां, संसार में, पृथिवी पर [सबके सुख, सुविधा, सौभाग्य की] (अवतु) रक्षा करे ।

ज्योति और आत्मसंबल के आश्रय से जो संग्राम किए जाते हैं वे जहां समस्त दिव्यताओं, समस्त मानवीय भद्रताओं से अलंकृत होते हैं, वहां वे मानवजाति का शोषण करनेवाले न होकर संसार

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

में सर्वत्र सबके लिए धन, ऐश्वर्य, सुख, सुविधा और सौभाग्य का वितरण करके सबका पोषण करनेवाले होते हैं। समुज्ज्वल राष्ट्र के समुज्ज्वल नागरिकों में सर्वशोषण की भावना न होकर सर्वपोषण की भावना होती है। न वे आपस में एक दूसरे के शोषण का विचार करते हैं न अन्य राष्ट्रों के नागरिकों के शोषण का। वे सदा आपस में एक दूसरे का पोषण करें और, साथ ही, अन्य राष्ट्रों में पारस्परिक पोषण की भावना जगाएं।

हमारा सर्पणशील वाज करे कल्प
चारों दिशाओं को अथ वा दूर तक।
वाज हमारा, समस्त दिव्यताओं के साथ,
यहां रक्षा करे धनों के वितरण में।

९८२ **वाजो नो अद्य प्र सुवाति दानं वाजो देवाँ ऋतुभिः कल्पयाति।**
वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयम्। य १८.३३

वाजः नः अद्य प्र सुवाति दानम् वाजः देवान् ऋतु-भिः कल्पयाति।
वाजः हि मा सर्व-वीरम् जजान विश्वाः आ-शाः वाज-पतिः जयेयम्।

(अद्य) आज (नः वाजः) हमारा वाज (दानम् प्र सुवाति) दान प्र-प्रेर रहा है, हमारा (वाजः) वाज (ऋतु-भिः देवान् कल्पयाति) ऋतुओं द्वारा देवों को/का कल्प कर रहा है।

आदर्श राष्ट्र के आदर्श नागरिक ज्योति और शक्ति के आश्रय से जब जो संग्राम करते हैं उसमें दान की भावना निहित होती है। वे स्वराष्ट्र को भी और अन्य राष्ट्रों को भी भौतिक देनों के साथ साथ ज्ञान, विज्ञान, धर्म, संस्कृति, सभ्यता, सुविचार, सदाचार की दैवी देनें भी देते हैं। वे सदा सब मानवदेवों का यथा-ऋतु, यथावसर कायाकल्प [जीवननिर्माण] भी करते हैं।

और अब आदर्श नागरिकों का आदर्श राष्ट्र स्वयं बोल रहा है,

१) मेरे आदर्श नागरिकों के (वाजः हि) वाज ने ही (मा) मुझे, मुझ राष्ट्र को (सर्व-वीरम् जजान) सर्व-वीर प्रकट किया है, सर्व वीरों और वीरताओं से सुयुक्त करके दिखाया है।

सुनागरिकों का ज्योतिर्मय और शक्ति-सम्पन्न संग्राम ही राष्ट्र को सर्ववीर बनाता है।

२) (वाज-पतिः)वाजों का पति मैं (विश्वाः आ-शाः) समस्त आ-शाओं और दिशाओं को (जयेयम्) विजय करूं।

जिस राष्ट्र के नागरिक सकल जीवनसंग्रामों को ज्योति और शक्ति के संयोग से सम्पादन करते हैं वही राष्ट्र वाजपति के पद को प्रतिष्ठित करता है, वही राष्ट्र वाजों का वाजपति बनता है, वही राष्ट्र सब दिशाओं में सबकी आशाओं को पूरी करके विजयी बनता है।

आज हमारा वाज दान प्रप्रेर रहा है,
ऋतुओं द्वारा वाज देवों को कल्प रहा है।
वाज ने ही प्रकट किया है मुझे सर्ववीर।
वाजपति मैं विजय करूं सब आशाएं,
सब दिशाएं।

सूक्ति : **सर्वा आशा वाजपतिर्जयेयम्।**
संघर्षशील मैं सब दिशाओं को विजय करूं।

९८३ **वाजः पुरस्तादुत मध्यतो नो वाजो देवान् हविषा वर्धयाति।**
वाजो हि मा सर्ववीरं चकार सर्वा आशा वाजपतिर्भवेयम्। य १८.३४

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वाजः पुरस्तात् उत मध्यतः नः वाजः देवान् हविषा वर्धयाति ।
वाजः हि मा सर्व-वीरम् चकार सर्वाः आ-शाः वाज-पतिः भवेयम् ।

(वाजः) वाज, (नः) हमारा, हम नागरिकों का (वाजः) वाज (देवान्) मानवदेवों को (पुरस्तात्) सामने से, प्रत्यक्ष (उत मध्यतः) और मध्य से (हविषा वर्धयाति) हवि से बढ़ा रहा है।

मध्यतः से तात्पर्य यहां भीतरी भरपूरता से है। जहां ज्योति और शक्ति के आश्रय से संग्राम किए जाते हैं वहां जिधर देखिए उधर ही सब प्रकार की हवियां, सब प्रकार के प्रिय और पवित्र पदार्थ, सब प्रकार की शुद्ध सम्पदाएं भर-पूर भरी दिखाई पड़ती हैं; वहां सभी नागरिकदेव पावन हवियों से हविष्मान् होरहे होते हैं।

और अब राष्ट्र बोलता है,

१) आदर्श नागरिकों के (वाजः हि) वाज ने ही (मा) मुझे, मुझ राष्ट्र को (सर्व-वीरम् चकार) सर्व-वीर बनाया है, सर्व वीरों और वीरताओं से सम्पन्न किया है।

सुनागरिकों के ज्योति-शक्तिसम्पन्न संग्राम ही राष्ट्रों को सर्ववीर बनाते हैं।

२) (वाज-पतिः) वाजों का स्वामी मैं (सर्वाः आ-शाः) समस्त आशाओं और दिशाओं को (भवेयम्) व्याप जाऊं।

जिस राष्ट्र के नागरिक सब प्रकार के राष्ट्रीय संग्रामों को ज्योति और शक्ति के संयोग से सम्पादन करते हैं वही राष्ट्र वाजों का वाजपति कहाता है, वही राष्ट्र वाजों का वाजपति बनता है, वही राष्ट्र सब दिशाओं में व्यापकर सबकी आशाओं की पूर्ति करता है।

वाज, हमारा वाज देवों को
सामने से और मध्यतः
हवि से बढ़ा रहा है।
वाज ने ही बनाया है मुझे सर्ववीर।
वाजपति मैं व्याप जाऊं सब आशाओं/दिशाओं को।

सूक्ति : **वाजो हि मा सर्ववीरं चकार।**
संघर्ष ने ही मुझे सर्ववीर बनाया है।
सर्वा आशा वाजपतिर्भवेयम्।
संघर्षशील मैं सब दिशाओं को व्याप जाऊं।

९८४ **सं मा सृजामि पयसा पृथिव्याः सं मा सृजाम्यद्भिरोषधीभिः ।**
सोमं वाजं सनेयमग्ने । य १८.३५
सम् मा सृजामि पयसा पृथिव्याः सम् मा सृजामि अत्-भिः ओषधीभिः । सः अहम् वाजम् सनेयम् अग्ने ।

प्रत्येक नागरिक व्यक्तिशः विनय करता है,

१) मैं (मा) मुझको, अपने आपको (सम् सृजामि) सं-सर्जता हूं, सम्यक् रचता [पुष्ट करता] हूं (पृथिव्याः पयसा) पृथिवी के रस से।

२) मैं (मा) अपने आपको (सम् सृजामि) सम्यक् पोषता हूं (अत्-भिः ओषधीभिः) जलों से, ओषधियों से।

३) (अग्ने) प्रकाशस्वरूप देव ! परम पावन प्रभो ! (सः अहम्) वह मैं (वाजम्) वाज को, ज्योति-शक्ति-सम्पन्न संग्राम को (सनेयम्) सेवूं, सेवन करूं, निष्ठा-पूर्वक सम्पादन करूं।

राष्ट्रपति राजा से लेकर निम्नतम स्थिति में स्थित नागरिक तक, सब समान रूप से, अपने पितृ-राष्ट्र के नागरिक और अपनी मातृभूमि के पुत्र-पुत्री हैं। प्रत्येक नागरिक-नागरिका को चाहिए कि वह सदैव यह अनुभव करे कि 'मैं अपने राष्ट्र और देश

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

का ऋणी हूं। राष्ट्र की विविध सेवाओं से मैं उपकृत होता हूं। पृथिवी से उत्पन्न सरस [स्वादिष्ट] पदार्थों से, उसके जलों और ओषधियों से मैं परिपुष्ट होता हूं। मुझे चाहिए कि मैं अपनी सम्पूर्ण ज्योति और शक्ति से उसकी समुन्नति तथा समृद्धि के लिए श्रममय संघर्ष करूं।'

मैं अपने को संसर्जता हूं पृथिवी के रस से,
मैं अपने को पुष्ट करता हूं जलों से, ओषधियों से।
वह मैं सेवन करूं वाज को, अग्ने !
सूक्ति : **सोहं वाजं सनेयम्।**
वह मैं संघर्ष सेवन करूं।

९८५ **पयः पृथिव्यां पय ओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे पयो धाः।**
पयस्वतीः प्रदिशः सन्तु मह्यम्। य १८.३६
पयः पृथिव्याम् पयः ओषधीषु पयः दिवि अन्तरिक्षे पयः धाः। पयः-वतीः प्र-दिशः सन्तु मह्यम्।

प्रत्येक आदर्श नागरिक अपने आदर्श राष्ट्र के प्रति कहता है,

१) (धाः) धारण [स्थापन, सम्पादन] कर (पयः पृथिव्याम्) रस पृथिवी पर, (पयः ओषधीषु) रस ओषधियों में, (पयः दिवि) रस द्युलोक में, (पयः अन्तरिक्षे) रस अन्तरिक्ष में।

एक आदर्श राष्ट्र अपनी मातृभूमि के चप्पे चप्पे को रस से आ-पूर, और सरसता से भर-पूर रखता है। रस से तात्पर्य प्रियता तथा सुरोचकता से है। शासन तथा नागरिकों का पूरा प्रयास और पूर्ण परिश्रम इस दिशा में हो कि उनके राष्ट्र की भूमि और उनकी भूमि पर उगी ओषधियां, फलवती वनस्पतियां तथा अन्न की फसलें रसमयी और स्वादिष्ठ हों; उनकी भूमि के ऊपर का द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक भी सुहावना प्रतीत हो। भूमि जब सुखदा और सुफला होती है तो द्यौ और अन्तरिक्ष भी सुहावने प्रतीत होते हैं।

२) (मह्यम्) मेरे लिए, नागरिक नागरिक के लिए (प्र-दिशः पयः-वतीः सन्तु) प्र-दिशाएं रस-मयी हों।

सुखदा और सुफला भूमि की सब दिशाएं और प्रदिशाएं भी सोहनी और सुहावनी प्रतीत होती हैं।

सम्पादन कर रस पृथिवी पर,
रस ओषधियों में, रस द्यौ में,
रस अन्तरिक्ष में,
हों रसमयी प्रदिशाएं मेरे लिए।
सूक्ति : **पयस्वतीः प्रदिशः सन्तु मह्यम्।**
हों रसमयी प्रदिशाएं मेरे लिए।

९८६ **देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।**
सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रेणाग्नेः साम्राज्येनाभिषिञ्चामि। य १८.३७
देवस्य त्वा सवितुः प्र-सवे अश्विनोः बाहु-भ्याम् पूष्णः हस्ताभ्याम्। सरः-वत्यै वाचः यन्तुः यन्त्रेण अग्नेः साम्-राज्येन अभि-सिञ्चामि।

प्रत्येक नागरिक अपने राष्ट्र को लक्ष्य करके नित्य कहे, मैं (अभि-सिञ्चामि) सर्वतः सींचता हूं, (सवितुः देवस्य प्र-सवे) रचयिता देव के समुत्पन्न संसार में, (त्वा) तुझे, तुझ राष्ट्र को, (अश्विनोः बाहु-भ्याम्) शासन- और जनता-रूप अश्विओं के ब्रह्म-और क्षत्र-रूप दो बाहुओं से; (पूष्णः हस्ताभ्याम्) आत्मपूषा के [मस्तिष्क और हृदय, बुद्धि और मन, विवेक और संकल्प रूप] दो हाथों से;

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(यन्तुः वाचः यन्त्रेण) यन्ता के वचन [आदेश] के नियन्त्रण से; (अग्नेः साम्-राज्येन) अग्नि के साम्राज्य से, (सरः-वत्यै) सरस्वती के लिए।

राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक ब्रह्म और क्षत्र से तथा बुद्धिबल और शरीरबल से मुक्त होना ही चाहिए। उभय बलों के आश्रय से ही राष्ट्र की स्वतन्त्रता की रक्षा और देश की सीमाओं की सुरक्षा होती है।

राष्ट्रपति राजा ही राष्ट्र का यन्ता, नियन्ता, नियामक होता है। प्रत्येक नागरिक को उसके वचन वा आदेश का पालन और उसके नियन्त्रण वा अनुशासन का आदर करना चाहिए।

प्रकाश और ऊष्मा ही अग्नि का वा सूर्य का साम्राज्य है। प्रत्येक नागरिक के मानस में अपने राष्ट्र के लिए उज्ज्वल प्रकाश और प्रखर प्रेम की ऊष्मा होनी चाहिए।

राष्ट्रनिष्ठ नागरिक के लिए राष्ट्र देव सविता की सृष्टि में एक सदा सुप्रवाहित रहनेवाली एक सरस्वती है, एक सरस धारा है।

सरसता के साथ राष्ट्र-सरस्वती की सतत सरस-प्रवाहिति के लिए उपर्युक्त अश्वियों के दो बाहुओं से, पूषा के दो हाथों से, यन्ता के आदेश के नियन्त्रण से और अग्नि के साम्राज्य से सम्यक् साधना की जानी चाहिए। प्रत्येक नागरिक इस भावना से अपने देश और राष्ट्र को सदा सींचता रहे।

तुझे सर्वतः सींचता हूं मैं,
देव सविता के प्रसव में,
अश्वियों के बाहुओं से,
पूषा के हाथों से, यन्ता के
आदेश के अनुशासन से,
अग्नि के साम्राज्य से,
सरस्वती के लिए।

९८७ **ऋताषाड्ऋतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम। स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा।** य १८.३८

ऋत-आ-षाट् ऋत-धामा अग्निः गन्धर्वः तस्य ओषधयः अप्सरसः मुदः नाम। सः नः इदम् ब्रह्म क्षत्रम् पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा।

१) (ऋत-आ-षाट्) ऋत को पूर्णतया सहने—सहारने—धारने वाला, (ऋत-धामा) ऋत-धामा, (अग्निः) पावक, पवित्र करनेवाला (गन्धर्वः) गन्धर्व।

२) (तस्य ओषधयः) उसकी ओषधियां (अप्सरसः) जलमयी, रसमयी, आनन्दमयी, (मुदः) हर्षयित्री, आह्लादित करनेवाली।

३) (नाम सः) नमनीय वह (नः) हमारे, हम नागरिकों के (इदम् ब्रह्म, क्षत्रम्) इस ब्रह्म, क्षत्र को/की (पातु) रक्षा करे।

४) (तस्मै) उस [गन्धर्व] के लिए (स्वाहा, वाट्) सु-आहुति और संवहन।

५) (ताभ्यः) उन [ओषधियों] के लिए (स्वाहा) सु-आहुति।

गन्धर्वः वै गन्धः-वः, गन्धवाला, सुगन्ध को धारण करके सुगन्धि व्यापनेवाला जो हो उसकी संज्ञा गन्धर्व है। सुगन्धि से युक्त होकर सुगन्धि व्यापनेवाला होने से पुष्प गन्धर्व है। **गन्धर्व** शब्द का प्रयोग यहां यशोरूप सुगन्धि से सुगन्धित राष्ट्र के लिए हुआ है।

ऋत शब्द का प्रयोग हुआ है यहां ऋताचार, सत्याचार, सही और शालीन व्यवहार के लिए।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यशस्वी राष्ट्र ऋत को पूर्णतया धारण करनेवाला होता है।

यशस्वी राष्ट्र होता है ऋत का धाम भी और राष्ट्र जनों को अग्नि के समान पवित्र करनेवाला भी।

ऐसे यशस्वी राष्ट्र की ओषधियां आनन्दमयी और हर्षयित्री होती हैं। **ओषधिर्वै दोषधिर्भवति**। **ओषधि** का अर्थ है दोषों को दूर करनेवाली। 'ओषधयः' शब्द का प्रयोग यहां राष्ट्र को स्वच्छ व्यवस्थाओं तथा न्याय, नगर, आदि की पवित्र पालिकाओं के लिए हुआ है। ये स्वच्छताएं और पवित्रताएं, प्रत्यक्षतः, नागरिकों को आनन्दित और हर्षित करनेवाली होती हैं।

'नम' से 'नाम'। **नाम** शब्द में नमनीयता का भाव है। उपर्युक्त गुणों से युक्त राष्ट्र नमनीय होता है। ऐसा वह नमनीय राष्ट्र राष्ट्रजनों के ब्रह्म और क्षत्र की, संज्ञान और संबल की, भक्ति और शक्ति की, योग और क्षेम की रक्षा करता है।

ऐसे उस राष्ट्र के लिए सब नागरिक-नागरिकाएं सदा सर्वतः सुहुत [अर्पित] रहें, और आत्मनिष्ठा के साथ वे उसका सम्यक् संवहन करें। राष्ट्र की ओषधियों [स्वच्छ व्यवस्थाओं और पवित्र पालिकाओं] के लिए भी वे सम्यक् सुहुत रहें।

ऋतषाट्, ऋतधामा, पावक गन्धर्व;
उसकी ओषधियां रसमयी, हर्षयित्री।
नमनीय वह रक्षा करे
हमारे इस ब्रह्म और क्षत्र भी।
उसके लिए स्वाहा वाट्।
उनके लिए स्वाहा।

९८८ **संहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोप्सरस आयुवो नाम।**
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा। य १८.३९

सम-हितः विश्व-सामा सूर्यः गन्धर्वः तस्य मरीचयः अप्सरसः आ-युवः नाम। सः नः इदम् ब्रह्म क्षत्रम् पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा।

१) (सम्-हितः) सं-हित, (विश्व-सामा) विश्व-सामा (सूर्यः) प्रकाशक (गन्धर्वः) सुगन्धित [यशस्वी] राष्ट्र।
२) (तस्य) उसकी (मरीचयः) किरणें (अप्सरसः) रसमयी, आनन्दमयी, (आ-युवः) [मानवों को मानव] बनानेवाली।
३) (नाम सः) नमनीय वह (नः) हमारे (इदम् ब्रह्म, क्षत्रम्) इस ब्रह्म और क्षत्र को/की (पातु) रक्षा करे।
४) (तस्मै) उस [गन्धर्व] के लिए (स्वाहा, वाट्) सु-आहुति और संवहन।
५) (ताभ्यः) उन [किरणों] के लिए (स्वाहा) सु-आहुति।

यशस्वी राष्ट्र होता है सं-हित, सम्यक् समाहित, सं-मिलित, सुगठित, सुसंगठित। वह होता है विश्व-सामा, विश्व में साम [समता, शम्, शान्ति] की स्थापना करनेवाला। और होता है वह सूर्य के समान विश्व में प्रकाश प्रसारनेवाला।

ऐसे राष्ट्र से ज्ञान, विज्ञान और सदाचार की किरणें देश-प्रदेशों में आनन्दरस का संचार करती हैं और मानवों को सच्चे और अच्छे मानव बनाती हैं।

उपयुक्त गुणों से युक्त राष्ट्र नमनीय होता है। ऐसा वह नमनीय राष्ट्र राष्ट्रजनों के ब्रह्म और क्षत्र की रक्षा करता है।

ऐसे उस राष्ट्र के लिए राष्ट्रजन सदा सुहुत रहें और आत्मनिष्ठा के साथ उसका संवहन करें। राष्ट्र की मरीचियों, ज्ञान-विज्ञान की किरणों की विश्व-व्याप्ति के लिए भी वे सुष्ठुतया अर्पित रहें।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

संहित, विश्वसामा, प्रकाशक गन्धर्व;
उसकी मरीचियां आनन्दमयी, मानवीय ।
नमनीय वह रक्षा करे
हमारे इस ब्रह्म, क्षत्र की ।
उसके लिए स्वाहा, संवहन ।
उनके लिए अर्पिति ।

९८९ **सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम ।**
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा । य १८.४०

सु-सुम्नः सूर्य-रश्मिः चन्द्रमाः गन्धर्वः तस्य नक्षत्राणि अप्सरसः भेकुरयः नाम । सः नः इदम् ब्रह्म क्षत्रम् पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ।

१) (सु-सुम्नः) सु-सुम्न, (सूर्य-रश्मिः) सूर्य-रश्मि, (चन्द्रमाः) आह्लादक (गन्धर्वः) सुगन्धित [यशस्वी] राष्ट्र ।
२) (तस्य) उसकी (नक्षत्राणि) शोभाएं, शोभनीयताएं (अप्सरसः) रसमयी, आनन्दमयी, (भेकुरयः) भा-करी, दीप्तिकरी ।
३) (नाम सः) नमनीय वह (नः) हमारे (इदम् ब्रह्म, क्षत्रम् पातु) इस ब्रह्म और क्षत्र को/की (पातु) रक्षा करे ।
४) (तस्मै) उस[गन्धर्व]के लिए (स्वाहा, वाट्) सु-आहुति और संवहन ।
५) (ताभ्यः) उन[शोभनीयताओं]के लिए (स्वाहा) सु-आहुति ।

सुम्न शब्द का प्रयोग होता है सुख और सुमनस्कता [प्रसन्नता] के अर्थ में । यशस्वी राष्ट्र होता है सुख से सुसम्पन्न और प्रसन्नता से सुप्रसन्न ।

वह होता है सूर्य-रश्मि, सूर्य के समान ज्ञान-प्रकाश की रश्मियों से रश्मित । जिस प्रकार चन्द्रमा सूर्य की किरणों से द्योतित होकर चन्द्रिका छिटकाता है उसी प्रकार यशस्वी राष्ट्र सब ओर स्वयश की किरणें विकीर्ण करता है ।

वह होता है चन्द्रमा के समान आह्लादपूर्ण और विश्व को आह्लादित करनेवाला ।

ऐसे राष्ट्र की शोभाएं [शोभनीयताएं] आनन्दमयी और दीप्तिकरी होती हैं । ऐसे राष्ट्र की दिव्य द्युतियां देश-विदेश को, सारे विश्व को सरसता के साथ द्योतित, प्रद्योतित करती रहती हैं ।

ऐसा राष्ट्र नमनीय होता है । सारा विश्व उसे नमता है, उसका आदर करता है । ऐसा वह नमनीय राष्ट्र राष्ट्रजनों के ब्रह्म और क्षत्र की रक्षा करता है ।

ऐसे उस अपने राष्ट्र के लिए राष्ट्र जन सदा सुहुत रहें और राष्ट्रनिष्ठा के साथ उसका संवहन करें ।

स्वराष्ट्र की शोभाओं और शोभनीयताओं से विश्व को सुशोभन और शोभनीय बनाने की साध में भी वे सुष्ठुतया अर्पित रहें ।

सु-सुम्न, सूर्य-रश्मि, आह्लादक गन्धर्व;
उसकी शोभाएं रसमयी, भा-करी ।
नमनीय वह रक्षा करे
हमारे इस ब्रह्म, क्षत्र की ।
उसके लिए स्वाहा, संवहन ।
उनके लिए अर्पिति ।

९९० **इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापो अप्सरस ऊर्जो नाम ।**
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा । य १८.४१

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इषिरः विश्व-व्यचाः वातः गन्धर्वः तस्य आपः अप्सरसः ऊर्जः नाम। सः नः इदम् ब्रह्म क्षत्रम् पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा।

१) (इषिरः) गमनशील, प्रगतिशील, (विश्व-व्यचाः) विश्व-व्यापक, (वातः) वेगवान्, वेगशील, (गन्धर्वः) सुगन्धित [यशस्वी] राष्ट्र।

यशस्वी राष्ट्र होता है गतिशील, प्रगतिशील। विकास और बृद्धि की साधना में कभी भी और कहीं भी विराम नहीं होना चाहिए। अविरामता के साथ, निरन्तर प्रत्येक क्षेत्र और पार्श्व में सदा प्रगति करते रहने से राष्ट्र यशोर्जन करता है।

ऐसा राष्ट्र ही अपने उत्तम गुणों और विपुल ऐश्वर्यों से संसार को उपकृत करके विश्व में व्यापता है और सार्वभौम मान, सम्मान तथा प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।

वात के समान वेगवान् राष्ट्र ही तीव्रता के साथ प्रगति करता हुआ सर्वपोषक सार्वभौम साम्राज्य की स्थापना करके सर्वतः जगमगाता है।

२) ऐसे (तस्य) उस[राष्ट्र]की (आपः) प्रजाएं (अप्सरसः) आनन्दमयी, (ऊर्जः) बलवती, पराक्रमशीला [होती हैं]।

३) (नाम सः) नमनीय वह [राष्ट्र] (नः) हमारे (इदम् ब्रह्म, क्षत्रम्) इस ब्रह्म और क्षत्र को/की (पातु) रक्षा करे।

४) (तस्मै) उस[गन्धर्व]के लिए (स्वाहा वाट्) सु-आहुति और संवहन।

५) (ताभ्यः) उन[प्रजाओं]के लिए (स्वाहा) सु-आहुति, सु-अर्पिति।

प्रगतिशील, विश्वव्यापक, वेगशील गन्धर्व;
उसकी प्रजाएं आनन्दमयी, बलवती।
नमनीय वह रक्षा करे
हमारे इस ब्रह्म, क्षत्र की।
उसके लिए स्वाहा, संवहन।
उनके लिए स्वाहा।

९९१ **भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरस स्तावा नाम। स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा।** य १८.४२

भुज्युः सु-पर्णः यज्ञः गन्धर्वः तस्य दक्षिणाः अप्सरसः स्तावाः नाम। सः नः इदम् ब्रह्म क्षत्रम् पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा।

१) (भुज्युः) भरणशील, पोषणशील,(सु-पर्णः) सु-पालनशील, सु-पूरक, (यज्ञः) संगतिशील (गन्धर्वः) सुगन्धित [यशस्वी] राष्ट्र।

यशस्वी राष्ट्र होता है स्वदेश के नागरिकों के साथ साथ, आवश्यकता पड़ने पर, अन्य देशों के नागरिकों का भी भरण-पोषण करनेवाला।

ऐसा राष्ट्र होता है स्वदेश और विदेशों की पालना और सुपूर्णता वा सुपूर्ति सम्पादन करनेवाला।

ऐसा वह राष्ट्र होता है सब राष्ट्रों को अपने साथ संगत रखकर साम्राज्य स्थापन करनेवाला।

२) ऐसे (तस्य) उस [राष्ट्र] की (दक्षिणाः) बृद्धियां, समृद्धियां [होती हैं] (अप्सरसः) आनन्दमयी, (स्तावाः) प्रशंसनीया।

३) (नाम सः) नमनीय वह [राष्ट्र] (नः) हमारे (इदम् ब्रह्म, क्षत्रम्) इस ब्रह्म और क्षत्र को/की (पातु) रक्षा करे।

४) (तस्मै) उस[गन्धर्व]के लिए (स्वाहा, वाट्) सु-आहुति और संवहन।

५) (ताभ्यः) उन[दक्षिणाओं] के लिए (स्वाहा) सु-आहुति, सु-अर्पिति।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भरणशील, सुपर्ण, संगतिशील गन्धर्व;
उसकी वृद्धियां आनन्दमयी, प्रशंसनीया।
नमनीय वह रक्षा करे
हमारे इस ब्रह्म, क्षत्र की।
उसके लिए स्वाहा, संवहन।
इनके लिए सु-अर्पिति।

९९२ **प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम। स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा।** य १८.४३

प्र-जा-पतिः विश्व-कर्मा मनः गन्धर्वः तस्य ऋक्-सामानि अप्सरसः आ-इष्टयः नाम। सः नः इदम् ब्रह्म क्षत्रम् पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा।

१) (प्र-जा-पतिः) प्रजा का पालन करनेवाला, (विश्व-कर्मा) विश्व-कर्मा, (मनः) मननशील (गन्धर्वः) सुगन्धित [यशस्वी] राष्ट्र।

यशस्वी राष्ट्र होता है न केवल अपनी प्रजाओं का अपि च अन्य राष्ट्रों की प्रजाओं का भी पालन करनेवाला।

वह होता है **विश्वकर्मा**, कुशलकर्मा, सब कुछ स्वयं सम्पादन करनेवाला, प्रत्येक पार्श्व में आत्म-निर्भर, सुदक्ष।

वह होता है मनोरूप संकल्पसिद्ध, मनस्वी, मनन-शील, मनोबल से सम्पन्न।

२) ऐसे (तस्य) उस [राष्ट्र] की (ऋक्-सामानि) स्तुत्य समताएं होती हैं (अप्सरसः) आनन्दमयी, (आ-इष्टयः) पूर्ण-इष्ट-साधिका।

ऐसा राष्ट्र विषमताओं से सर्वथा मुक्त रहता है। उसमें प्रशस्त समताओं का राज होता है। वहां सबको समान अवसर और समान साधन उपलब्ध होते हैं।

३) (नाम सः) नमनीय वह [राष्ट्र] (नः) हमारे (इदम् ब्रह्म, क्षत्रम्) इस ब्रह्म और क्षत्र को/की (पातु) रक्षा करे।

४) (तस्मै) उस [गन्धर्व] के लिए (स्वाहा, वाट्) सु-आहुति और संवहन।

५) (ताभ्यः) उन [प्रशस्त समताओं] के लिए (स्वाहा) सु-आहुति, सु-अर्पिति।

प्रजापालक, सुदक्ष, मनस्वी गन्धर्व;
उसकी प्रशस्त समताएं आनन्दमयी इष्टसाधिका।
नमनीय वह रक्षा करे
हमारे इस ब्रह्म, क्षत्र की।
उसके लिए स्वाहा संवहन।
उनके लिए सु-आहुति।

९९३ **स नो भुवनस्य पते प्रजापते यस्य त उपरि गृहा यस्य वेह। अस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्राय महि शर्म यच्छ स्वाहा।** य १८.४४

सः नः भुवनस्य पते प्र-जा-पते यस्य ते उपरि गृहाः यस्य वा इह। अस्मै ब्रह्मणे अस्मै क्षत्राय महि शर्म यच्छ स्वाहा।

१) (भुवनस्य पते) भुवन के रक्षक! (प्र-जा-पते) प्र-जा-पालक!

सुगन्धित [यशस्वी] राष्ट्र के लिए ये दो सम्बोधन कर्तव्यसूचक हैं। एक यशस्वी राष्ट्र का यह प्रथम कर्तव्य है कि वह मातृभूमिरूप भुवन की बाह्य आक्रमणों, आन्तरिक विप्लवों और सब प्रकार की आपदाओं से सर्वतः रक्षा करे। साथ ही, उसका यह भी प्रथम कर्तव्य है कि जीवन की आवश्यकताओं की

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रपूर्ति द्वारा प्रजा की, नागरिकसमूह की सर्वतः पालना करे।

२) (इह) यहां, इस मातृभूमि में (गृहाः) गृही जन (यस्य ते उपरि) जिस तेरे ऊपर [निर्भर हैं], (वा) या [वे] (यस्य) जिस[मातृभूमि]के [पुत्र-पुत्रियां हैं उन सबका तू पोषण, संवर्धन, सुविकास कर]।

घरों में निवास करनेवाले होने से गृहस्थों को **गृहाः** कहा गया है। 'गृहाः' शब्द की अन्तर्निहित भावना यह है कि राष्ट्र में गृहस्थाश्रम तथा पारिवारिक जीवन की सुप्रतिष्ठा हो और सभी परिवारों के लिए अपना अपना निजी घर हो, कोई भी परिवार गृहविहीन न हो। सभी प्रजाजन, सभी नागरिक राष्ट्र के समान अंग हैं। सभी के लिए आवास, सुनिवास की सुव्यवस्था होनी चाहिए। सर्व जन राष्ट्र के हैं और राष्ट्र सर्व जनों का है। मातृभूमि सब नागरिकों की समान माता है, और सब नागरिक मातृभूमि की समान पुत्र-पुत्रियां हैं।

३) (सः) वह तू (नः) हमारे लिए, हम सब नागरिकों के लिए, (अस्मै ब्रह्मणे) इस विद्वद्वर्ग के लिए, (अस्मै क्षत्राय) इस वीरवर्ग के लिए (महि शर्म यच्छ) महती सुविधा—सुरक्षा दे (स्वाहा) सु-आहुति द्वारा, सत्कारपूर्वक।

एक आदर्श राष्ट्र में जहां सभी राष्ट्रजनों को समानरूपेण सभी सुख, सुविधा, सुरक्षा उपलब्ध होती हैं, वहां विद्वद्वर्ग और वीरवर्ग को सत्कारपूर्वक विशेष सुविधाएं प्राप्त कराई जाती हैं। जहां विद्वानों और वीरों का विशेष सत्कार होता है उस राष्ट्र की ही जीवनपद्धति यज्ञमय रह पाती है, वही राष्ट्र सर्वतः सुरक्षित और समुन्नत रह पाता है।

भुवन के रक्षक ! प्रजा-पालक !
यहां गृही जिस तेरे ऊपर, वा वे जिसके।
वह तू महि शर्म दे हमारे लिए,
इस ब्रह्म के लिए, इस क्षत्र के लिए,
सु-आहुति द्वारा।

९९४ **समुद्रोसि नभस्वानार्द्रदानुः शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा मारुतोसि मरुतां गणः शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहावस्यूरसि दुवस्वाञ्छम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा।** य १८.४५

समुद्रः असि नभः-वान् आर्द्र-दानुः शम्-भूः मयः-भूः अभि मा वाहि स्वाहा मारुतः असि मरुताम् गणः शम्-भूः मयः-भूः अभि मा वाहि स्वाहा अवस्-यूः असि दुवः-वान् शम्-भूः मयः-भूः अभि मा वाहि स्वाहा।

अब राष्ट्र की प्रजा [जनता] स्वराष्ट्र का अभिनन्दन करती हुई कहती है,

१) तू (असि) है (समुद्रः) समुद्र (नभः-वान्) नभवाला, (आर्द्र-दानुः) आर्द्र भाव से देनेवाला, (शम्-भूः) शम्-भावयिता, शान्ति-कर, (मयः-भूः) सुख-भावयिता, सुख-कर।

यज्ञिय जीवनपद्धति से युक्त यशस्वी राष्ट्र होता है समुद्र के समान गहन, गम्भीर, तरंगित और भरा-पूरा। वह होता है **नभस्-वान्**, आकाश के समान समुदार, वायु के समान वेगवान्, मेघ के समान प्रजा पर धनैश्वर्य की वृष्टि करनेवाला और जल के समान प्रजा को सींचनेवाला। **नभस्** नाम आकाश, वायुमण्डल, मेघ और जल का है।

वह होता है **आर्द्र-दानु**, आर्द्र-भाव से प्रजा को सब प्रकार की सेवा, सहायता, संरक्षा प्रदान करनेवाला; **शम्भू**, शान्ति का धाम; **मयोभू**, सुख का धाम।

२) ऐसा तू राष्ट्र (स्वाहा) सु-आहुति द्वारा,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सत्कारपूर्वक (मा) मुझे, मुझ प्रजा को (अभि वाहि) सर्वतः वहन कर, सर्वतः सब कुछ प्राप्त करा।

यज्ञिय राष्ट्र में जन जन को सत्कारपूर्वक सब प्रकार सब कुछ प्राप्त कराया जाता है।

३) तू (असि) है (मारुतः) मारुत, (मरुताम् गणः) मरुतों का समूह, (शम्-भूः) शान्ति-धाम, (मयः-भूः) सुख-धाम।

जिसके बिना प्राणी मर जाते हैं, उसका नाम मरुत् है। किसी भी राष्ट्र के वीर और विद्वान् मरुत् हैं क्यों कि उनके बिना राष्ट्र मृतवत् निष्प्राण होजाता है। **मारुतः** शब्द का प्रयोग वीरों-और-विद्वानों-वाला अर्थ में हुआ है। एक यज्ञिय और यशस्वी राष्ट्र में वीरों और विद्वानों का विशेष स्थान होता है। उसमें वीरों और विद्वानों का मान्य समूह होता है। उसमें उनका बाहुल्य होता है। शान्ति और सुख का धाम भी वह होता ही है।

४) ऐसा तू राष्ट्र (स्वाहा) सु-आहुति द्वारा, सत्कारपूर्वक (मा) मुझ प्रजा को (अभि वाहि) सर्वतः वहन कर, सर्वतः सब कुछ प्राप्त करा।

५) तू (असि) है (अवस्-यूः) रक्षा-कामी, (दुवस्-वान्) सेवा-वान्, सेवा-भावी, (शम्-भूः) शान्ति-धाम, (मयः-भूः) सुख-धाम।

यज्ञिय राष्ट्र होता है रक्षा-कामी, सुरक्षा की अभिलाषा रखनेवाला। वह जहां स्वयं अपनी रक्षा की सजग कामना से ओत-प्रोत होता है, वहां वह अन्य देशों और देशवासियों की रक्षा के लिए भी कटिबद्ध रहता है। साथ ही, वह होता है सेवावान्, सेवाकारी। स्वयं अपने नागरिकों की सर्वतः सेवा करता हुआ वह विश्व की सुसेवा के लिए भी तत्पर रहता है। शान्तिधाम और सुखधाम भी वह होता ही है।

६) ऐसा तू राष्ट्र (स्वाहा) सु-आहुति द्वारा, सत्कारपूर्वक (मा) मुझ प्रजा को (अभि वाहि) सर्वतः वहन कर, सर्वतः सब कुछ प्राप्त करा।

तू है समुद्र नभस्वान्, आर्द्र-दानु,
शान्तिधाम, सुखधाम;
प्राप्त करा सत्कारपूर्वक मुझे सर्वतः।
तू है मारुत मरुतों का गण,
शान्तिधाम, सुखधाम;
प्राप्त करा सत्कारपूर्वक मुझे सर्वतः।
तू है रक्षाकामी, सेवाभावी,
शान्तिधाम सुखधाम;
प्राप्त करा सत्कारपूर्वक मुझे सर्वतः।

९९५ **यास्ते अग्ने सूर्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः।**
ताभिर्नो अद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृधि।
[य १३.२२] य १८.४६

याः ते अग्ने सूर्ये रुचः दिवम् आ-तन्वन्ति रश्मि-भिः। ताभिः नः अद्य सर्वाभिः रुचे जनाय नः कृधि।

स्वराष्ट्र का अभिनन्दन करके यज्ञिय राष्ट्र की यज्ञिय प्रजा अब ब्रह्माग्नि से विनय करती है, (अग्ने) ब्रह्माग्ने! (ते याः रुचः) तेरी जो कान्तियां (सूर्ये) सूर्य में (रश्मि-भिः) किरणों द्वारा (दिवम्) द्यौ को, द्युलोक तक (आ-तन्वन्ति) फैल [व्याप] रही हैं, (जनाय रुचे) जन जन की कान्ति के लिए (ताभिः सर्वाभिः) उन सब[कान्तियों]से (नः) हमें, हम यज्ञिय-जीवनपद्धति से अलंकृत प्रजाजनों को (अद्य) आज, अब, सद्यः [प्रकान्त] (कृधि) कर।

सूर्य और द्यौ शब्दों का प्रयोग प्रकाशलोकसमूह के लिए हुआ है। प्रकाशलोकसमूहों की किरणों में जो प्रकाश और कान्तियां हैं वे सब ब्रह्माग्नि के

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रकाश की प्रतिछायामात्र हैं। जन जन की रुचि और कान्ति के लिए परमात्मा अपनी पावमानी कान्तियों से सर्व राष्ट्रजनों [राष्ट्रनागरिकों] को प्रकान्त करे।

यज्ञिय राष्ट्र की यज्ञिय प्रजा कान्तियों से प्रकान्त होनी ही चाहिए।

ब्रह्माग्ने ! तेरी रुचियां सूर्य में
किरणों द्वारा द्युलोक तक फैल रही हैं,
जन-प्रकाशन के लिए आज तू
उन सब रुचियों से हम सबको
प्रकान्त करदे।

९९६ **या वो देवाः सूर्ये रुचो गोष्वश्वेषु या रुचः।**
इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभी रुचं नो धत्त बृहस्पते।
[य १३.२३] य १८.४७

याः वः देवाः सूर्ये रुचः गोषु अश्वेषु याः रुचः। इन्द्र-अग्नी ताभिः सर्वाभिः रुचम् नः धत्त बृहस्-पते।

यज्ञिय प्रजा कहे चली जारही है,
(इन्द्र-अग्नी बृहस्-पते देवाः) इन्द्रत्व, अग्रनयन, बृहत्पालकत्व, दिव्यताओ ! (वः) तुम्हारी (याः रुचः सूर्ये) जो रुचियां सूर्य [प्रकाशलोकसमूह] में हैं, (याः रुचः अश्वेषु गोषु) जो कान्तियां आशुगामी किरणों में हैं (ताभिः सर्वाभिः) उन सब[कान्तियों]से (नः) हमारे लिए (रुचम् धत्त) कान्ति स्थापन करो।

इन्द्र, अग्नि और बृहस्पति, इन तीन शब्दों से यहां तात्पर्य परमात्मा के तीन व्यापक गुणों से है।

लोकलोकान्तर-रूप इन्द्रियों का स्वामी होने से परमात्मा इन्द्र है। सम्पूर्ण सृष्टि का अग्रनयनकर्ता और संचालक होने से वह अग्नि है। बृहत् सृष्टि का तथा प्रजाओं का पालक होने से वह बृहस्पति है। इन्द्रत्व, अग्रनयन तथा पालकत्व, परमात्मा की ये तीन दिव्यताएं प्रकाशलोकसमूह तथा प्रकाशलोक-समूह की तीव्र किरणों में द्योतित हैं। जन जन की रुचि वा कान्ति के लिए परमात्मा की ये दिव्यताएं यज्ञिय प्रजाओं को प्रकान्त करें। स्तुतिप्रार्थनोपासना द्वारा समग्र प्रजाएं परमात्मा की कान्ति को अपने भीतर धारण, स्थापन करें।

इन्द्र, अग्नि, बृहस्पति देवो।
जो रुचियां तुम्हारी सूर्य में,
जो रुचियां आशुगामी किरणों में
उन सब रुचियों से हम सबके
लिए कान्ति स्थापन कर दो।

९९७ **रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।**
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्। य १८.४८
रुचम् नः धेहि ब्राह्मणेषु रुचम् राज-सु नः कृधि। रुचम् विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्।

१) (नः ब्राह्मणेषु रुचम् धेहि) हमारे ब्राह्मणों में कान्ति स्थापन कर, (नः राज-सु रुचम् कृधि) हमारे राजाओं में कान्ति सम्पादन कर, हमारे (विश्येषु शूद्रेषु) विश्यों और शूद्रों में (रुचम्) कान्ति [स्थापन कर], यज्ञिय नागरिकों की यह अतिशय यज्ञिय प्रार्थना है।

ब्रह्म नाम परमात्मा का है। ब्रह्मणो अपत्यं ब्राह्मणः; ब्रह्म का पुत्र ब्राह्मण। ब्रह्म नाम वेद का

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भी है। जो वेदज्ञ है वह ब्राह्मण है। ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः। जो ब्रह्म को जानता है वह ब्राह्मण है। ब्रह्म नाम ज्ञान का है। जो ज्ञानी है, तत्त्ववेत्ता है, सुविद्वान् है, उसकी संज्ञा ब्राह्मण है। ब्राह्मण शब्द न वर्गवाची है, न जातिवाची, न व्यवसायवाची। वह तो साधनावाची है। व्यक्ति में जो स्थान मूर्धा का है, समाज में वही स्थान ब्राह्मण का है। ब्राह्मण आत्म-अवस्थित, ब्रह्मसमाहित और वेदप्रतिष्ठ रहता हुआ ब्राह्म कर्म करता है।

सम्राट् से लेकर निम्नतम राजकर्मचारियों तक का समावेश **राजा** वा 'राजन्य' शब्द में होता है। जितने भी शासकीय विभाग हैं उन सबमें कार्य करते हुए जो राष्ट्र के शासन-सत्र का संचालन करते हैं वे सब राजा हैं, राजन्य हैं। 'राजा, राजन्य, क्षत्रिय' शब्द पर्यायवाची हैं। वे न वर्गवाची हैं, न जातिवाची, न व्यवसायवाची। वे तो कर्तव्यवाची हैं।

विश्य [वैश्य] और शूद्र [श्रमिक] शब्द भी न वर्गवाची हैं न जातिवाची। वे तो व्यवसायवाची हैं। किसी भी राष्ट्र का आर्थिक आधार हैं ये। विश्य पूंजी सम्पादन करता है, तो श्रमिक श्रम संदान करता है।

जिस राष्ट्र की जीवनपद्धति यज्ञिय होती है उसके ब्राह्मण, राजन्य, विश्य और श्रमिक सर्वतः प्रकान्त होते हैं।

२) उस राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक प्रार्थना करता है, प्रभो! (मयि धेहि) मुझमें स्थापन कर (रुचा रुचम्) कान्ति द्वारा कान्ति, सौन्दर्य से सौन्दर्य।

राष्ट्रव्यापी कान्ति से प्रत्येक नागरिक प्रकान्त और सुशोभनीय बनता है।

कर प्रस्थापन कान्ति हमारे ब्राह्मणों में,
कर प्रस्थापन कान्ति हमारे राजन्यों में,
कान्ति वैश्यों में, शूद्रों में,
कर प्रस्थापन कान्ति कान्ति से मेरे भीतर।

९९८ **तत् त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः।**
अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्र मोषीः।
[ऋ १.२४.११, य २१.२] य १८.४९

तत् त्वा यामि ब्रह्मणा वन्द-मानः तत् आ शास्ते यज-मानः हविः-भिः। अ-हेडमानः वरुण इह बोधि उरु-शंस मा नः आयुः प्र मोषीः।

१) (उरु-शंस वरुण) बहुतों द्वारा/बहुत स्तुत्य वरुण! मैं (ब्रह्मणा वन्द-मानः) आत्मना स्तुतता हुआ (तत् त्वा) उस तुझे (यामि) प्राप्त करता/होता/रहता हूं।

यज्ञिय राष्ट्र के एक एक नागरिक की यह आस्तिक्योक्ति है। भद्र राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक अपने आत्मविवेक के साथ उरुशंस वरुण के प्रति आस्थावान् रहता है। उरु=बहुत। स्तोताओं द्वारा बहुत स्तुति किए जाने से प्रभु उरुशंस है। वरणीयताओं से, वरणीय गुणों से युक्त होने से ब्रह्म को वरुण कहा गया है।

२) प्रत्येक (यज-मानः) यज्ञ-शील [मानव, नागरिक] (तत् [त्वा]) उस तुझे (आ शास्ते) आशासता है (हविः-भिः) परिष्कृत अर्पितियों से, प्रशस्त स्तुतियों द्वारा।

प्रत्येक सभ्य नागरिक प्रभु से हवियों [परिशुद्ध ऐश्वर्यों] की प्राप्ति की आशा करता है और प्रभु की प्रशस्त स्तुतियां करता है।

३) (अ-हेडमानः) अ-तिरस्कृत [सत्कृत] होता हुआ (इह) यहां, इस जीवन में, इस संसार में [हमें] (बोधि) बोध प्राप्त करा।

एक सभ्य मानव, एक प्रबुद्ध नागरिक जहां

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परम पावन प्रभु का आत्मना सत्कार [पूजन] करता है, वहां वह प्रभु से सुबोध को याचना करता है।

४) (नः) हमारे, हम यज्ञशील नागरिकों के (आयुः मा प्र मोषीः) आयु को मत चोर, जीवन को क्षीण [बर्बाद] न होने दे।

प्रभु के प्रभक्त, प्रबुद्ध और यज्ञशील नागरिक सर्वशक्तिमान् प्रभु के आश्रय से अपने जीवन को व्यर्थ व्यासंगों में नहीं चोरने देते [खोते] हैं। वे तो अपने जीवन को राष्ट्रसेवा और विश्वकल्याण में निरत रखते हैं।

बहु-स्तुत्य ! वरुण ! मैं तुझको
प्राप्त रहता हूं आत्मना स्तुतता हुआ ।
यज्ञशील आ-शासता है
उस तुझको हवियों से ।
सत्कृत होता हुआ यहां तू
करा प्राप्त सुबोध ।
होने दे न बर्बाद
हमारे जीवनों को ।

सूक्ति : **तत् त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानः ।**
तत् त्वा प्राप्त रहता हूं आत्मना स्तुतता हुआ।
मा न आयुः प्र मोषीः ।
हमारे जीवन को बर्बाद न होने दे ।

९९९ स्वर्ण घर्मः स्वाहा स्वर्णार्कः स्वाहा स्वर्ण शुक्रः स्वाहा स्वर्ण ज्योतिः स्वाहा स्वर्ण सूर्यः स्वाहा । य १८.५०

स्वः न घर्मः स्वाहा स्वः न अर्कः स्वाहा स्वः न शुक्रः स्वाहा स्वः न ज्योतिः स्वाहा स्वः न सूर्यः स्वाहा ।

प्रत्येक नागरिक अपने यज्ञिय राष्ट्र के लिए अपने भीतर

१) (स्वः न) आत्मा के समान, आत्मीयता के साथ (घर्मः) प्रेम-घर्म, प्रेम की ऊष्मा (स्वाहा) सुहुत [संचार] करे।

प्रेमोष्मा ही है जो राष्ट्र के हित और रक्षा के लिए सर्वस्व स्वाहा करने की प्रेरणा करती है। जहां आत्मीयता होती है वहां स्वाहा वाट् होता ही है।

२) (स्वः न) आत्मा के समान, आत्मीयता के साथ (अर्कः) किरण, ज्ञानरश्मि (स्वाहा) सुहुत करे, सञ्चारे।

ज्ञान की रश्मियां ही हैं जो राष्ट्रजनों को देश-द्रोह, राष्ट्रद्रोह, जन-अहित से सर्वथा मुक्त रखती हैं और देशहित, राष्ट्रसंवर्धन और जनसेवा में निरत रखती हैं।

३) (स्वः न) आत्मा के समान, आत्मीयता के साथ (शुक्रः) शक्ति (स्वाहा) सुहुत करे, संचारे।

शक्ति और संबल ही है जिसके द्वारा देश तथा राष्ट्र की रक्षा की जाती है।

४) (स्वः न) आत्मा के समान, आत्मीयता के साथ (ज्योतिः) ज्योति, आत्मज्योत्स्ना (स्वाहा) सुहुत करे, संचारे।

जन जन आत्मा की ज्योति से द्योतित होकर आध्यात्मिकता से अलंकृत हो, तब ही राष्ट्र की यज्ञियता सुस्थिर रहती है।

५) (स्वः न) आत्मा के समान, आत्मीयता के साथ (सूर्यः) ब्रह्मप्रकाश (स्वाहा) सुहुत करे, संचारे।

ब्रह्मसूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होकर ही जन-जीवन जगमगाता है और राष्ट्र सम्यक् प्रकाशता है।

आत्मा के समान घर्म सुहुत,
आत्मा के समान किरण सुहुत,
आत्मा के समान शुक्र सुहुत,
आत्मा के समान ज्योति सुहुत,
आत्मा के समान सूर्य सुहुत ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१००० **अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं वयसा बृहन्तम् ।**
तेन वयं गमेम ब्रध्नस्य विष्टपं स्वो रुहाणा अधि नाकमुत्तमम् । य १८.५१
अग्निम् युनज्मि शवसा घृतेन दिव्यम् सु-पर्णम् वयसा बृहन्तम् । तेन वयम् गमेम ब्रध्नस्य विष्ट-पम् स्वः रुहाणाः अधि नाकम् उत्-तमम् ।

घर्म, अर्क, शुक्र, ज्योति और प्रकाश से युक्त हुआ प्रत्येक नागरिक आत्मसम्बोधन करता है, मैं (युनज्मि) युक्त करता हूं [अपने] (दिव्यम्) दिव्य, दिव्यताओं से युक्त (सु-पर्णम्) सु-पालयिता, सुपूर्ति-कर्ता, सु-पंख, (बृहन्तम्) महान् (अग्निम्) आत्माग्नि को (शवसा) आत्मसंबल से, (घृतेन) तेज से, स्नेह से, (वयसा) व्याप्ति से ।

आत्मा स्वरूप से दिव्य है ही । आत्मा सु-पर्ण है, बुद्धि-मन-पंखों से उड़नेवाला, और है वह जीवन का पालक और पूर्तिकर्ता। वह है अजरता, अमरता, प्रचेतना, इच्छाशक्ति, आदि गुणों से महान् । आत्म-साधना द्वारा प्रत्येक नागरिक उसे आत्मसंबल, आत्मतेज, आत्मस्नेह तथा व्यापनशीलता से युक्त रखे ।

(वयम्) हम, हम सब नागरिक (तेन) उससे, उस आत्मा के आश्रय से (स्वः रुहाणाः) स्वः पर आरूढ़ होते हुए, आनन्द पर आरोहण करते हुए, (ब्रध्नस्य) महान् [ब्रह्म] के (विष्ट-पम्) विष्ट/प्रविष्ट की रक्षा करनेवाले, (उत्-तमम्) उच्च-तम (नाकम्) आनन्दधाम [मोक्ष] को (अधि गमेम) अधिगमन करें, प्राप्त करें ।

यह आदर्श राष्ट्र के आदर्श नागरिकों की आदर्श जीवनपद्धति का चित्रण है । 'आनन्द पर आरोहण' से तात्पर्य आत्मा का आत्मानन्द से युक्त रहना है । आत्मानन्द की प्राप्ति महान् ब्रह्म में प्रविष्ट वा लीन रहने से होती है । ब्रह्मलीन रहने पर ब्रह्म का त्राण–कल्याणकारी रक्षण प्राप्त होता है, जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है । जहां मोक्ष की साध होती है वहां जीवन संजीवन होता है ।

मैं करता हूं युक्त दिव्य,
सुपर्ण, महान् आत्माग्नि को
बल से, तेज से, व्याप्ति से,
करते हुए स्वः आरोहण,
करें अधिगमन हम महान् के
विष्टप, उच्चतम मोक्षधाम को ।

१००१ **इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ याभ्यां रक्षांस्यपहंस्यग्ने ।**
ताभ्यां पतेम सुकृतामु लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः । य १८.५२
इमौ ते पक्षौ अ-जरौ पतत्रिणौ याभ्याम् रक्षांसि अप-हंसि अग्ने । ताभ्याम् पतेम सु-कृताम् उ लोकम् यत्र ऋषयः जग्मुः प्रथम-जाः पुराणाः ।

प्रत्येक नागरिक अपने अपने आत्माग्नि को सम्बोधता हुआ कहता है, (अग्ने) आत्माग्ने ! (ते) तेरे (इमौ पक्षौ) ये दो पंख [रहें] (अ-जरौ) अ-जर, अ-जीर्ण, स्वस्थ, नवीन और (पतत्रिणौ) उड़नेवाले, (याभ्याम्) जिनसे तू (रक्षांसि अप हंसि) राक्षसों को अप-हनता/मार भगाता है ।

स्वस्थ मस्तिष्क का परिष्कृत और गहन चिन्तन, तथा मन [हृदय] का शिव और अविचल संकल्प, ये दो आत्मा के बहुत ऊंची उड़ान भरनेवाले पंख हैं जिनके आश्रय से साधनाशील नागरिक स्वः-आरो-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हण करता हुआ उपर्युक्त उच्चतम धाम को प्राप्त करने की साधना में बाधक विकार, वासना, पाप, विरोध, प्रमाद, आदि राक्षसों को मार भगाता है।

हम (ताभ्याम् उ) उन[चिन्तन और संकल्प]के द्वारा ही (पतेम) उड़ें, उड़कर पहुंचें (सु-कृताम् लोकम्) सु-कृतों के लोक को (यत्र) जहां (प्रथम-जाः) प्रथम-जन्मा [अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा], (पुराणाः) पुराने, आदिम (ऋषयः) ऋषि (जग्मुः) पहुंचे थे।

आदर्श राष्ट्र के आदर्श नागरिकों की यह अद्-भुत साधनापरक उक्ति है। जहां सुकृत ही सुकृत होते हैं, जहां सुकर्म ही सुकर्म किए जाते हैं उसी की संज्ञा सुकृतों का लोक है। **लोक** शब्द का प्रयोग यहां स्थितिसूचक है। जिस प्रकार आदिम ऋषियों के जीवन सुकृतों में स्थित थे उसी प्रकार राष्ट्र के सकल नागरिकों के जीवन सुकृतों में संस्थित हों। ऐसे स्तुत्य नागरिकों का स्तुत्य राष्ट्र ही सच्चे रूप में सुकृतों का लोक है।

अग्ने ! तेरे उभय पंख ये
रहें अजर और उड़नेवाले,
जिनसे तू है मार भगाता राक्षसों को।
उनसे ही हम उड़कर पहुंचें
सुकृतों के उस सुलोक को
जहां थे पहुंचे प्रथम-जन्मा ऋषि पुराने।

१००२ **इन्दुर्दक्षः श्येन ऋतावा हिरण्यपक्षः शकुनो भुरण्युः।**
महान्त्सधस्थे ध्रुव आ निषत्तो नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः। य १८.५३

इन्दुः दक्षः श्येनः ऋत-वा हिरण्य-पक्षः शकुनः भुरण्युः। महान् सध-स्थे ध्रुवः आ नि-सत्तः नमः ते अस्तु मा मा हिंसीः।

आत्माग्नि के स्वरूप की अनुभूति के साथ यज्ञमय जीवनपद्धति से प्रशस्त नागरिकसमूह आत्मा की प्रशस्ति का प्रगान करते हैं,

१) (दक्षः) कर्मक्षमता से सुदक्ष, (श्येनः) बाज़, बाज़ के समान तीव्रता के साथ उड़नेवाला, कर्म-उड़ान भरनेवाला, (ऋत-वा) ऋत-वाला, सत्त्व-सम्पन्न, (हिरण्य-पक्षः) हिरण्य-पक्ष, सुनहरी-पार्श्व, दिव्य-ताओं से सर्वतः अलंकृत, (शकुनः) शक्यतासम्पन्न, सशक्त, (भुरण्युः) [जीवनराज्य का]भरक, पोषक, (महान्) महत्ता से सम्पन्न, (ध्रुवः) अविचल, सदा-सत्तावान्, अजर-अमर, (इन्दुः) आत्मबिन्दु (सध-स्थे) सह-स्थान में, जीवन-सदन में, हृदयाकाश में (आ नि-सत्तः) नितराम स्थित रहता है, नितराम् विराजा रहता है।

शरीर में प्रविष्ट होकर आत्मा अन्तिम क्षण तक उसमें निरन्तर सम्यक् विराजा रहता है।

२) (नमः ते अस्तु) नमन हो तेरे लिए।

जीवन में आत्मा ही नमनीय है। समस्त इन्द्रियां उसके प्रति नमें और उसकी प्रेरणा से प्रेरित होकर कर्म करें, उसी की प्रेरणा से प्रेरित रहें।

और अब आत्मा मानव मानव के प्रति कहता है, (मा मा हिंसीः) मुझे मत हिंस।

'आत्महनो जनाः' आत्महनन किया करते हैं। आसुरी वृत्तियों से युक्त होकर वे आत्मसाधना-विहीन रहते हैं और आत्महानि करते हैं। वही आत्मा की हिंसा है। यज्ञिय जीवनपद्धति से युक्त नागरिक आत्मसाधना द्वारा आत्मकल्याण के राही रहते हैं।

दक्ष, श्येन, ऋतसम्पन्न, हिरण्यपक्ष,
शक्त, पोषक, महान्, ध्रुव आत्मबिन्दु
सहस्थान में आ बैठा है।
नमस्कार तेरे लिए हो।
मुझे न हिंस।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१००३ **दिवो मूर्धासि पृथिव्या नाभिरूर्गपामोषधीनाम् । विश्वायुः शर्म सप्रथा नमस्पथे ।**

य १८.५४

दिवः मूर्धा असि पृथिव्याः नाभिः ऊर्क् अपाम् ओषधीनाम् । विश्व-आयुः शर्म स-प्रथाः नमः पथे ।

१) तू (असि) है (दिवः मूर्धा) प्रकाश का शिर, (पृथिव्याः नाभिः) पृथिवी की नाभि, (अपाम्, ओषधीनाम् ऊर्क्) जलों और ओषधियों का अन्न, (विश्व-आयुः) सर्व-आयु, सबका जीवन, (शर्म) सुख, आनन्द, (स-प्रथाः) स-विस्तार, व्यापनशील ।

आत्मा प्रकाश का मूर्धा है, सर्वोपरि प्रकाश है। मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां, सब आत्मा के प्रकाश से ही प्रकाशित हैं ।

आत्मा पृथिवी की नाभि है, पार्थिव देह का जीवनकेन्द्र है । आत्मा की ही चेतना और शक्ति से जीवनचक्र घूमता है ।

आत्मा ही जलों और ओषधियों का अन्न है । अन्न से ही प्राणी जीते और सशक्त होते हैं । सचमुच, आत्मा जीवन का अन्न है । जल [पेय] और ओषधि [खाद्य], जो कुछ पिया और खाया जाता है, उस सबका पाचन तभी तक होता है जब तक आत्मा का शरीर में निवास है ।

आत्मा ही विश्व-आयु है, सर्व-आयु है, जीवन-सर्वस्व है ।

आत्मा ही जीवन का शर्म है, सुख है, आनन्द है । जीवनरूप शर्म [सदन] में जो शर्म [सुख, शान्ति, आनन्द] है वह आत्मा से ही है ।

और है आत्मा स-प्रथाः, स-विस्तार, व्यापनेवाला । आत्मसंबल और आत्मज्योति के द्वारा ही मानव विस्तारता है, व्यापता है और विश्व में यश का भागी होता है ।

२) (नमः पथे) नमस्कार पथ के लिए ।

यज्ञिय राष्ट्र के देवोपम नागरिकों के लिए यज्ञिय जीवनपथ विहित है । उसके लिए वे सब नमें । सब नमनपूर्वक उस पर चलें ।

तू है शिर प्रकाश का,
नाभि पृथिवी की,
अन्न जलों का, ओषधियों का,
विश्वायु, शर्म, सप्रथा ।
पथ के लिए नमन ।

१००४ **विश्वस्य मूर्धन्नधि तिष्ठसि श्रितः समुद्रे ते हृदयमप्स्वायुरपो दत्तोदधिं भिन्त ।**
दिवस्पर्जन्यादन्तरिक्षात् पृथिव्यास्ततो नो वृष्ट्याव । य १८.५५

विश्वस्य मूर्धन् अधि तिष्ठसि श्रितः समुद्रे ते हृदयम् अप्-सु आयुः अपः दत्त उद-धिम् भिन्त ।
दिवः पर्जन्यात् अन्तरिक्षात् पृथिव्याः ततः नः वृष्ट्या अव ।

अब नागरिक अपने यज्ञिय राष्ट्र का अभिनन्दन करते हुए कहते हैं,

१) तू (विश्वस्य मूर्धन् अधि तिष्ठसि) विश्व के शिर पर अधि-ष्ठित है ।

यज्ञिय नागरिकों का यज्ञिय राष्ट्र विश्व का मूर्धा [विश्वशिरोमणि] होना ही चाहिए ।

२) तू है विश्व का (श्रितः) श्रित ।

श्रित के प्रसिद्ध अर्थ हैं रक्षाकारी, सेवित, सम्पन्न, सहारा, आश्रय किया गया ।

विश्वशिरोमणि राष्ट्र विश्व की रक्षा करने की क्षमता रखता है । विश्व द्वारा वह सर्वतः सेवित होता है । वह सर्वतः सम्पन्न होता है । वह अन्य

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

राष्ट्रों का सहारा होता है। अन्य राष्ट्रों द्वारा उसका आश्रय लिया जाता है।

३) (समुद्रे ते हृदयम्) समुद्र में तेरा हृदय है।

विश्वशिरोमणि राष्ट्र का हृदय [आशय] समुद्र की तरह गहन, गम्भीर, तरंगित और भरा-पूरा होता है।

४) तेरा (आयुः) जीवन (अप्-सु) प्रजाओं में [यापित हो]।

प्रजाओं की सर्वांगीण उन्नति तथा समृद्धि में ही राष्ट्र का सम्पूर्ण आयुष्य और जीवन यापित हो।

५) (अपः दत्त) जल दे, (उद-धिम् भिन्त) समुद्र को भेद, सागर का भेदन कर, सागर को पार कर।

जिस प्रकार सूर्य सागर को भेदकर, बादलों को तोड़कर, जलों की वृष्टि करता है उसी प्रकार एक शिरोमणि राष्ट्र साधनों का भेदन करके विश्व में सुखैश्वर्य की वृष्टि करता है।

६) (दिवः) द्यौ से, (पर्जन्यात्) बादल से, (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से, (पृथिव्याः) पृथिवी से, (ततः) वहां से, जहां कहीं से, सब ओर से (वृष्ट्या) वृष्टि द्वारा (नः) हमारी, हम नागरिकों की (अव) रक्षा कर।

एक शिरोमणि राष्ट्र अपने समस्त नागरिकों पर सब ओर से सब प्रकार के सुखैश्वर्यों तथा सुरक्षणों की वृष्टि करता है। सम्पन्न और सक्षम राष्ट्र अपने नागरिकों को सम्पन्न और सक्षम बनाए रखता है।

तू है अधिष्ठित विश्व के सिर पर,
तू है श्रित।
है समुद्र में तेरा हृदय,
प्रजाओं में जीवन।
जल दे, भेद समुद्र को,
द्यौ से, बादल से, अन्तरिक्ष से,
पृथिवी से, जहां कहीं से,
वृष्टया रक्षा कर हमारी।

१००५ इष्टो यज्ञो भृगुभिराशीर्दा वसुभिः। तस्य न इष्टस्य प्रीतस्य द्रविणेहा गमेः।

य १८.५६

इष्टः यज्ञः भृगु-भिः आ-शीः-दाः वसु-भिः। तस्य नः इष्टस्य प्रीतस्य द्रविण इह आ गमेः।

१) (इष्टः यज्ञः) अभिलषित यज्ञ, इष्ट राष्ट्रयज्ञ (भृगु-भिः) तेजस्वियों द्वारा, तेजस्वी शासकों द्वारा, (वसु-भिः) राष्ट्रवासियों द्वारा, नागरिकों द्वारा (आ-शीः-दाः) अभिलाषाएं पूरी करनेवाला हो।

तेजस्वी शासकों तथा राष्ट्रनिष्ठ नागरिकों के पारस्परिक उद्योग तथा सहयोग से ही राष्ट्र राष्ट्रवासियों की अभिलाषाओं की पूर्ति करनेवाला बनता है। नागरिकों की अभिलाषाएं और आकांक्षाएं भिन्न भिन्न होती हैं। राष्ट्रवासियों के लिए प्रगति, समुन्नति, विकास तथा समृद्धि के सभी क्षेत्र निर्बाध खुले हों। सभी को सभी व्यवसायों और उद्योगों के चुनाव और बनाव की पूर्ण स्वतन्त्रता हो। सभी को समान रूप से अवसरों की ग्राह्यता हो। शासन और जनता अभिन्नता के साथ राष्ट्रयज्ञ के सुसम्पादन में सम्यक् संलग्न रहें। तभी राष्ट्र सबकी सब अभिलाषाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ और सक्षम होता है।

२) (नः) हमारे, हम राष्ट्रवासियों के (तस्य प्रीतस्य, इष्टस्य) उस प्यारे, अभिलषित [राष्ट्र] के (द्रविण) धन ! ऐश्वर्य ! वैभव ! (इह) यहां, सर्वत्र (आ गमेः) आ, प्राप्त रह।

राष्ट्र का धनैश्वर्य विशेष व्यक्तियों वा वर्गों में संगृहीत न रहकर सभी नागरिकों में समान रूप से वितरित होता रहे, शासनिक तथा सामाजिक व्यवस्था ऐसी सुचारु हो।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इष्ट यज्ञ हो आशीर्दा
भृगुओं, वसुओं द्वारा।

हमारे उस प्रीत इष्ट के वैभव !
यहां प्राप्त रह।

१००६ **इष्टो अग्निराहुतः पिपर्तु न इष्टं हविः। स्वगेदं देवेभ्यो नमः।** य १८.५७
इष्टः अग्निः आ-हुतः पिपर्तु नः इष्टम् हविः। स्व-गा इदम् देवेभ्यः नमः।

१) (इष्टः अग्निः) अभिलषित राष्ट्राग्नि, राष्ट्रप्रेम का कमनीयाग्नि (आ-हुतः) आ-हुति दिया गया, आहुति से प्रज्वलित होकर (नः) हमें, हम नागरिकों को (पिपर्तु) पूरे, पाले।

परिष्कृत हवियों की आहुति से यज्ञाग्नि का प्रज्वलन होता है। एवमेव, राष्ट्रनागरिकों की जीवनहवियों से राष्ट्राग्नि का प्रज्वलन होता है। राष्ट्रप्रेमाग्नि में होमी गई जीवनों की आहुतियां राष्ट्र को सक्षम, सम्पन्न और समृद्ध करती हैं। वैसा राष्ट्र राष्ट्रजनों को, सर्व नागरिकों को सम्यक् पालता, पोषता और उन्हें सर्वतः पूरता है।

२) (नः) हमारी, हम नागरिकों की, (इष्टम् हविः) अभिलषित हवि हो (स्व-गा) स्वयं [अनायास] प्राप्त होनेवाली।

हवि शब्द का प्रयोग यहां राष्ट्र के तप-श्रम-साध्य परिष्कृत धनैश्वर्य के लिए हुआ है। राष्ट्र की सुसम्पादित हवि, राष्ट्र का शुद्ध ऐश्वर्य सभी राष्ट्र-वासियों तक निर्बाधतया पहुंचे।

३) (इदम् देवभ्यः नमः) यह देवों [दिव्य नागरिकों] के लिए नमन।

यज्ञिय राष्ट्र में निवास करनेवाले सभी नागरिक देवोपम होते हैं। देवोपम होने से वे नमस्करणीय होते हैं। धन्य है यज्ञिय राष्ट्र, धन्य हैं यज्ञिय नागरिक।

इष्ट अग्नि, आहुत हो,
हमको पूरे, पाले।
हमें इष्ट हवि स्वयंसृत हो।
यह देवों के लिए नमन।

१००७ **यदाकूतात् समसुस्रोद्धृदो वा मनसो वा सम्भृतं चक्षुषो वा।**
तदनुप्रेत सुकृतामु लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः। य १८.५८
यत् आ-कूतात् सम्-असुस्रोत् हृदः वा मनसः वा सम्-भृतम् चक्षुषः वा। तत् अनु-प्र-इत सु-कृताम् उ लोकम् यत्र ऋषयः जग्मुः प्रथम-जाः पुराणाः।

यज्ञिय राष्ट्र के यज्ञिय नागरिकों को सम्बोधती हुई वेदमाता कहती है, यज्ञिय नागरिको ! यज्ञियता का (यत्) जो [प्रवाह तुम्हारे] (आ-कूतात्) भाव, चित्त से, (वा हृदः) वा हृदय से, (वा मनसः) वा मन से, (वा चक्षुषः) वा नेत्र से (सम्-भृतम्) सम्-धृत होकर (सम्-असुस्रोत्) सम्यक् प्रवाहित हुआ करता है उसे (सु-कृताम् तत् लोकम् उ) सुकर्माओं के उस लोक [आलोक] के प्रति ही (अनु-प्र-इत) निरन्तर प्रेरो (यत्र) जहां, जिस लोक [आलोक] में (प्रथम-जाः, पुराणाः ऋषयः) प्रथम-जन्मा, पुराने ऋषि (जग्मुः) पहुंचे थे।

यज्ञिय नागरिकों के प्रति यह एक समुदात्त प्रेरणा है। यज्ञिय नागरिकों के चित्त, हृदय, मन तथा नेत्र से निरन्तर यज्ञियता का प्रवाह प्रवाहित रहता है। उनके चित्त से सदा यज्ञिय भाव का, हृदय से यज्ञिय प्रेम तथा भावनाओं का, मन से यज्ञिय संकल्पों का, नेत्र से यज्ञिय दृष्टि का सुप्रवाह प्रवाहित रहा करता है। उन्हें चाहिए कि वे अपने

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इन सुपावन प्रवाहों को सुकर्मा ऋषियों के उस लोक [आलोक] के प्रति प्रवाहित रखें जिस लोक [आलोक] में प्रथम-जन्मा ऋषि, जिन पर वेदचतुष्टय प्रकट—प्रकाशित हुए, वैदिक विचार आचार से युक्त होकर वेद के आलोक में विचरा और जीवनयापन किया करते थे।

जो प्रवाह आकूत से, वा हृदय से,
वा मन से, वा चक्षु से सन्धृत होकर
प्रवाहित हुआ करता है
उसे निरन्तर प्रेरा करो
सुकर्माओं के उस आलोक के प्रति
जहां थे पहुंचे ऋषि प्रथमजा और पुराने।

१००८ **एतं सधस्थ परि ते ददामि यमावहाच्छेवधिं जातवेदाः।**
अन्वागन्ता यज्ञपतिर्वो अत्र तं स्म जानीत परमे व्योमन्।
[अ ६.१२३.१] य १८.५९

एतम् सध-स्थ परि ते ददामि यम् आ-वहात् शेव-धिम् जात-वेदाः। अनु-आ-गन्ता यज्ञ-पतिः वः अत्र तम् स्म जानीत परमे वि-ओमन्।

वेदमाता कहे चली जारही है,

१) (सध-स्थ) सह-स्थान ! राष्ट्र ! (यम् शेव-धिम्) जिस सुख-निधि [परमात्मा] को (जात-वेदाः) जात-प्रज्ञ, वेदज्ञ योगी (आ-वहात्) आ-वहन/प्राप्त/साक्षात्कार किया करता है (एतम्) इस[सुखनिधि]को (ते) तेरे [तुझ राष्ट्रसमूह के] लिए (परि ददामि) सर्वतः देती/उपदेशती हूं।

सधस्थ शब्द का प्रयोग यहां, प्रत्यक्षतः, राष्ट्र के लिए हुआ है। राष्ट्र वह सह-स्थान है जिसमें नागरिक-नागरिका सहनशीलता के साथ, साथ साथ, रहते हैं। अतः 'सधस्थ' से तात्पर्य नागरिकसमूह भी है। परमात्मा सर्व सुखों की अक्षय निधि है। जातप्रज्ञ योगी आत्मसाधना द्वारा उसका साक्षात्कार किया करता है। नागरिकसमूह को उसकी स्तुतिप्रार्थनोपासना करनी चाहिए। यज्ञिय राष्ट्र का नागरिकसमूह परम आस्तिक और ईशोपासक होना चाहिए।

२) (अत्र) यहां, इस संसार में [वह] (अनु-आ-गन्ता) सदा सर्वत्र आगत [प्राप्त, व्याप्त प्रभु] (वः यज्ञ-पतिः) तुम्हारा यज्ञ-पति हो, तुम नागरिकों के जीवनयज्ञों का रक्षक हो।

३) तुम (तम्) उसे (परमे वि-ओमन्) परम आकाश में (जानीत स्म) जानो ही, साक्षात् करो ही।

उन्हीं नागरिकों का जीवन यज्ञिय हो पाता है जो सर्वव्यापक यज्ञिय प्रभु को अपने जीवनयज्ञ का यज्ञपति बना लेते हैं। नागरिकों को चाहिए कि योगसाधना द्वारा उसे जानें और अपने हृदयाकाश में उसका साक्षात्कार करें। हृदयाकाश ही वह परम व्योम है जिसमें परम [ब्रह्म] का दर्शन होता है।

सधस्थ ! जिस सुखनिधि को
किया करता है आवहन जातवेदा,
उसे सर्वतः देती हूं मैं तेरे लिए।
यज्ञपति हो यहां तुम्हारा अन्वागन्ता।
उसे जानो ही परम व्योम में।

सूक्ति : **अन्वागन्ता यज्ञपतिर्वो अत्र।**
सर्वव्यापक प्रभु यहां तुम्हारा यज्ञपति हो।
तं स्म जानीत परमे व्योमन्।
उसे जानो ही परम व्योम में।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१००९ **एतं जानाथ परमे व्योमन् देवाः सधस्था विद रूपमस्य।**
यदागच्छात् पथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्ते कृणवाथाविरस्मै। य १८.६०
एतम् जानाथ परमे वि-ओमन् देवाः सध-स्थाः विद रूपम् अस्य। यत् आ-गच्छात् पथि-भिः देव-यानैः इष्टा-पूर्ते कृणवाथ आविः अस्मै।

१) (सध-स्थाः देवाः) सह-स्थानी देवो ! समान मातृभूमि में निवास करनेवाले दिव्य नागरिको ! (एतम्) इस[सुखनिधि ब्रह्म]को (परमे वि-ओमन्) परम व्योम में, परम आकाश [हृदयाकाश] में (जानाथ) जानो, (अस्य रूपम् विद) इसके निजरूप को पहचानो।

विद्युत् [बिजली] सर्वत्र है। उसकी शक्ति से असंख्य महान् कार्य हो रहे हैं। किन्तु उसके सौन्दर्य [प्रकाश] का दर्शन बिजलीयन्त्र से युक्त बल्ब में ही होता है। वैसे ही परम [ब्रह्म] सर्वत्र है। उसकी सत्ता तथा शक्ति सर्वत्र काम कर रही है। किन्तु उसके निज रूप [वरेण्य भर्ग तथा आदित्य वर्ण] का दर्शन आत्मा की ब्रह्मसमाहिति द्वारा हृदयाकाशरूप बल्ब में ही होता है। देवकोटि के नागरिक वे ही बनते हैं जो योग-जीवनपद्धति से सुशोभित रहते हुए ब्रह्म के संदर्शन में सब कार्य करते हैं।

२) (यत्) जो [सुखानन्दनिधि परमात्मा] (देव-यानैः पथि-भिः) देव-गमनीय पथों से (आ-गच्छात्) आया करता है, प्राप्त हुआ करता है

३) (अस्मै) इस[ब्रह्म की प्राप्ति]के लिए (इष्टा-पूर्ते) इष्ट और पूर्त, यज्ञ [श्रेष्ठतम कर्म] और पूर्ति [परोपकार], यज्ञीयता और जीवन की परिपूर्णता (आविः कृणवाथ) आविष्कार करो।

सुखानन्दनिधि परमात्मा की प्राप्ति देवयान पथों पर चलने से होती है, असुरयान पथों पर चलने से नहीं। देवयान पथ के पथिक ही उस परम सत्ता के निजरूप का दर्शन कर पाते हैं। देवयान पथ के पथिक ही उसकी प्राप्त्यर्थ इष्ट और पूर्त का आविष्करण करते हैं, श्रेष्ठतम कर्म और परोपकारमय साधना आरम्भ करके यावज्जीवन आनन्दमग्न रहते हैं।

सधस्थ देवो !
इसको जानो परम व्योम में,
इसके रूप को पहचानो।
जो आया करता है देवयान पथों से
इसके लिए करो प्रकाशित
यज्ञ और परोपकार।

सूक्ति : **एतं जानाथ परमे व्योमन्।**
इसको जानो परम व्योम में।
विद रूपमस्य।
जानो रूप को इसके।

१०१० **उद् बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते सं सृजेथामयं च।**
अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत।
[य १५.५४] य १८.६१
उत् बुध्यस्व अग्ने प्रति जागृहि त्वम् इष्टा-पूर्ते सम् सृजेथाम् अयम् च। अस्मिन् सध-स्थे अधि उत्-तरस्मिन् विश्वे देवाः यज-मानः च सीदत।

वेदमाता के सम्बोधनों से संबुद्ध होकर आदर्श राष्ट्र के आदर्श नागरिक इस मन्त्र से सदा अपने अपने आत्मा को उद्बुद्ध करते रहें,

१) (अग्ने) आत्माग्ने, (उत् बुध्यस्व) उद्-बुद्ध हो,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उत्कृष्ट बोध से युक्त रह, (प्रति जागृहि) प्रतिशः जागरित रह, प्रतिक्षण सजग–सचेत–सावधान रह।

आत्मबोध, आत्मचेतना, आत्मसजगता ही है जो यज्ञिय नागरिकों को यज्ञीयता की प्रतिक्षण, प्रतिशः रक्षा तथा वृद्धि करती है।

२) (त्वम्) तू [आत्मा] (च) और (अयम्) यह [शरीर], दोनों मिलकर (इष्टा-पूर्ते) इष्ट और पूर्त को/का (सम् सृजेथाम्) सं-सर्जन [सम्पादन] करो।

आत्मा और शरीर के संयोग का ही नाम है जीवन। मानवजीवन ही है जिसमें पूर्त के द्वारा इष्ट की पूर्णतया सिद्धि होती है। इष्ट है आत्म-ब्रह्म-साक्षात्कार द्वारा मोक्ष की प्राप्ति। पूर्त है योग-जीवनपद्धति-युक्त जीवनसाधना। आदर्श नागरिक इष्ट और पूर्त से सलग रहते हुए ही राष्ट्र की सनिष्ठ सेवा करते हैं।

३) (अस्मिन् उत्-तरस्मिन् सध-स्थे) इस उत्-तर जीवन-सहस्थान में [तुम] (विश्वे देवाः) सब इन्द्रिय-देव (च) और (यज-मानः) आत्म-यजमान (अधि सीदत) अधि-ष्ठित रहो।

जीवन एक सधस्थ है, सहस्थान है, साथ साथ रहने की जगह है, और है वह एक यज्ञशाला, श्रेष्ठ-तम कर्म और साधना करने का एक सुपावन धाम। आत्मा है यजमान; शुभश्रेष्ठकर्मा। शुद्ध, पवित्र, संयत और दिव्य इन्द्रियां हैं कर्मसाधना के सुपावन करण [साधन]। यज्ञिय नागरिक अपने आत्मा और इन्द्रियों के सहकार से अपने जीवन और राष्ट्र को उत्तरोत्तर उत् से उत्-तर, उत्कृष्ट से उत्कृष्ट-तर, वह [बह्] से वहतर [बहतर] बनाते रहें।

अग्ने ! रह उद्बुद्ध,
रह जागता प्रतिक्षण प्रतिशः।
तू और यह करो सम्पादन
इष्ट और पूर्त।
इस उत्-तर सहस्थान में
रहो अधिष्ठित सारे देव और यजमान।

सूक्ति : **उद् बुध्यस्वाग्ने।**
उद्-बुद्ध रह, आत्माग्ने !
अग्ने प्रति जागृहि।
आत्माग्ने ! रह जागता प्रतिक्षण, प्रतिशः।

१०११ **येन वहसि सहस्रं येनाग्ने सर्ववेदसम्। तेनेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवे।**
[य १५.५५]
य १८.६२
येन वहसि सहस्रम् येन अग्ने सर्व-वेदसम्। तेन इमम् यज्ञम् नः नय स्वः देवेषु गन्तवे।

और अब प्रबुद्ध नागरिक स्वयं अपने इष्ट देव से विनय करते हैं, (अग्ने) प्रकाशस्वरूप देव ! तू (येन) जिस[प्रकार]से (सहस्रम्) सहस्र को, असंख्य लोक-समूह को, (येन) जिस[प्रकार]से (सर्व-वेदसम्) सर्व-ज्ञान को (वहसि) वहन कर रहा है, (तेन) उसी [प्रकार] से (नः इमम् यज्ञम्) हमारे इस राष्ट्र-यज्ञ को (देवेषु स्वः गन्तवे) नागरिक-देवों में स्वः प्राप्त कराने के लिए (नय) लेचल, वहन करा।

स्वः का अर्थ आनन्द भी है और प्रकाश भी है। प्रकाश में ही आनन्द का निवास है। अपने जिस प्र-ज्ञान और प्र-बल से प्रभु अखिल सृष्टि और संज्ञान का प्रनयन कर रहा है, वह अपने उसी प्र-ज्ञान और प्र-बल का यज्ञिय राष्ट्र के यज्ञिय नागरिकों में संचार करे ताकि वे राष्ट्र की सम्पूर्ण तनू को आनन्द और प्रकाश से परिपूर्ण रखते हुए अपनें राष्ट्र को सर्वतः यज्ञिय बनाए रहें।

ब्रह्माग्ने !
जिस प्रकार से तू सहस्र को,
जिस प्रकार से सर्वज्ञान को
वहन कर रहा है सम्यक्
उसी प्रकार से वहन करा तू
हमारे इस यज्ञ को
देवों में स्वः प्राप्त कराने के लिए।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१०१२ **प्रस्तरेण परिधिना स्रुचा वेद्या च बर्हिषा । ऋचेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवे ।**

य १८.६३

प्र-स्तरेण परि-धिना स्रुचा वेद्या च बर्हिषा । ऋचा इमम् यज्ञम् नः नय स्वः देवेषु गन्तवे ।

प्रभो ! (प्र-स्तरेण, परि-धिना, स्रुचा, वेद्या, बर्हिषा च ऋचा) प्र-स्तर, परि-धि, स्रुक्, वेदि, बर्हि और ऋक् से (नः इमम् यज्ञम्) हमारे इस राष्ट्र-यज्ञ को (देवेषु स्वः गन्तवे) नागरिक-देवों में स्वः [प्रकाश, आनन्द] प्राप्त कराने के लिए (नय) लेचल, वहन करा ।

क्षत्रं वै 'प्रस्तरः' । 'प्रस्तर' नाम क्षत्र, शक्ति और प्रभुता का है । **स्तृ** (आच्छादने) धातु से, **प्र**-पूर्वक, 'प्रस्तर' शब्द बना है । क्षत्र ही राष्ट्र को प्रभुता से प्रभावी बनाता है ।

दिशः 'परिधयः' । दिशाएं परिधियां हैं । यहां 'परिधयः' से तात्पर्य देश की सब ओर की सीमाओं से है । क्षत्र के आश्रय से ही देश की सीमाओं की रक्षा तथा वृद्धि होती है ।

स्रु गतौ धातु से **स्रुक्** शब्द का जन्म हुआ है । **वाग् वै स्रुक्** । वाणी ही वह स्रुक्, स्रुच्, स्रुवा है जिसमें से सरस्वती की धारायें प्रवाहित होती हैं । यज्ञिय राष्ट्र के नागरिकों की वाणी सर्वत्र सरस्वती का प्रवाह प्रवाहित करती है ।

पृथिवी 'वेदिः' । सारी पृथिवी वह वेदि है जिस पर स्थित मानवप्रजा यज्ञानुष्ठान करती है । यज्ञिय राष्ट्र के नागरिकों के लिए सम्पूर्ण पृथिवी यज्ञस्थली है । वे पृथिवी पर सर्वत्र श्रेष्ठतम कर्मों का सम्पादन करते हैं ।

प्रजा वै 'बर्हिः' । मानव प्रजा ही वह बर्हि [आसन] है जिसपर सम्पूर्ण राष्ट्र स्थित रहता है । यज्ञिय राष्ट्र की प्रजा अपनी मातृभूमि और पितृ-राष्ट्र को अपने ऊपर सहारते और धारते हैं ।

ऋच् स्तुतौ । ऋक् नाम स्तुति, प्रशंसा, ख्याति, साख का है । यज्ञिय राष्ट्र के नागरिक अपनी मातृ-भूमि और अपने राष्ट्र की ख्याति की प्राणपण से प्रतिष्ठा करते हैं ।

प्रबुद्ध नागरिकों की यह विनय कितनी मार्मिक है ! वे उपर्युक्त छह अलंकारों से अलंकृत होकर अपने राष्ट्र की सम्पूर्ण तनू में प्रकाश और आनन्द का आप्लावन करते हैं ।

करा वहन हमारे इस यज्ञ को
प्रस्तर, परिधि, स्रुच्, वेदि, बर्हि,
ऋक् के आश्रय से
देवों में स्वः प्राप्त्यर्थ ।

१०१३ **यद् दत्तं यत् परादानं यत् पूर्तं याश्च दक्षिणाः । तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत् ।**

य १८.६४

यत् दत्तम् यत् परा-दानम् यत् पूर्तम् याः च दक्षिणाः । तत् अग्निः वैश्व-कर्मणः स्वः देवेषु नः दधत् ।

हमने दूसरों को (यत् दत्तम्) जो दिया, दूसरों से (यत् परा दानम्) जो लिया, एक दूसरे का (यत् पूर्तम्) जो पूर्तिकरण किया, (च) और (याः दक्षिणाः) जो बृद्धियां कीं, (स्वः वैश्व-कर्मणः अग्निः) आनन्दमय, विश्व-रचयिता, प्रकाशस्वरूप परमात्मा (तत्) उस[सब]को (नः) हमारे, [हमारे देश में निवास करनेवाले] (देवेषु) नागरिकदेवों में (दधत्) धारण [स्थापन] करे ।

यज्ञिय नागरिकदेवों का लेन-देन, एक दूसरे की सम्पूर्ति और संवृद्धि, सब कुछ सर्वभावना के साथ

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हो, स्वार्थपरता और शोषण की भावना से नहीं। प्रभु से की गई ऐसी यह कामना आदर्श राष्ट्रीय शील की द्योतक है।

जो दिया, जो लिया,
जो पूर्तिकरण और जो दक्षिणाएं,
आनन्दमय विश्वकर्मा अग्नि
स्थापन करे उसे
हमारे देवों में।

१०१४ **यत्र धारा अनपेता मधोर्घृतस्य च याः। तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत्।**

य १८.६५

यत्र धाराः अन्-अप-इताः मधोः घृतस्य च याः। तत् अग्निः वैश्व-कर्मणः स्वः देवेषु नः दधत्।

हमारा राष्ट्र (यत्र) जहां, जिसमें (मधोः च घृतस्य याः धाराः) माधुर्य तथा स्नेह की जो धाराएं (अन्-अप-इताः) अ-पृथक्-गत, निरन्तर [प्रवाहित होती रहती हैं], (स्वः वैश्व-कर्मणः अग्निः) आनन्दमय, विश्व-रचयिता, प्रकाशस्वरूप परमात्मा (तत्) उस [मधुरता और प्रेम के प्रवाह]को (नः) हमारे, [हमारे देश में निवास करनेवाले] (देवेषु) नागरिक-देवों में (दधत्) धारण [स्थापन] करे।

एक सच्चे और अच्छे राष्ट्र में सर्वत्र, निरन्तर मधुरता और प्रेम की धाराएं प्रवाहित रहती हैं। ऐसे उस राष्ट्र के सर्वमानवों ने प्रभु से जो यह कामना की है कि 'माधुर्य और प्रेम का वह प्रवाह हमारे नागरिकदेवों में अनवरत प्रवाहित रहे,' यह भी आदर्श राष्ट्र के आदर्श शील का परिचायक है।

जहां प्रवाहित हैं निरन्तर
मधु और घृत की जो धाराएं,
आनन्दमय, विश्वकर्मा अग्नि
करे स्थापन उसे हमारे देवों में।

१०१५ **अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।**
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम।
[ऋ ३.२६.७, सा ६१३]

य १८.६६

अग्निः अस्मि जन्मना जात-वेदाः घृतम् मे चक्षुः अ-मृतम् मे आसन्। अर्कः त्रि-धातुः रजसः वि-मानः अ-जस्रः घर्मः हविः अस्मि नाम।

यज्ञिय राष्ट्र के एक यज्ञशील नागरिक और साधना-शील सभ्य-सभ्या की यह कितनी गहनाशयपूर्ण श्रेय-उक्ति है,

१) मैं (अग्निः अस्मि जन्मना जात-वेदाः) जन्म से जात-वेदा अग्नि हूं।

यहां जन्मगत स्वभाव, संस्कार और प्रकृति के लिए **जन्म** शब्द का प्रयोग हुआ है। जन्मगत संस्कार अमिट होते हैं। गर्भ में रहते हुए जो संस्कार अंकित होजाते हैं वे जन्म से लेकर जीवन के अन्तिम क्षण तक स्वभाव—प्रकृति-रूप होकर अन्तर्निहित रहते हैं। गर्भविज्ञान का यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। यज्ञिय राष्ट्र की यज्ञिया माताएं गर्भ में शिशु को अग्निरूप बनाती हैं। वे गर्भावस्था में अपनी साधना और अपना रहन-सहन, व्यवहार और आचार ऐसा दिव्य और संशुद्ध रखती हैं कि उनका जन्मा यावज्जीवन अग्नि के समान तपःपुञ्ज, तेजस्वी, प्रकाशक और पावक बना रहता है। साथ ही, होता है वह **जात-वेदाः**, जातमात्र को जाननेवाला, संज्ञानी, विज्ञानी, विवेकी। **यो वै यथा चिन्तयति तथा भवति;** अपने विषय में जो जैसा चिन्तन करता है

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वह वैसा ही होजाता है। यज्ञिय नागरिक आत्म-चिन्तन से भी और स्वभाव, संस्कार तथा प्रकृति से भी जातवेदाग्नि ही होता है। **अग्निर्वै अग्रणीर्भवति;** अग्नि नाम अग्रणी का भी है। संज्ञानी नागरिक जन्मतः, स्वभावतः ही अग्रणी, अग्रगामी, प्रगतिशील होता है।

२) (घृतम् मे चक्षुः) घृत है मेरा नेत्र।

घृत प्रतीक है स्निग्धता का, स्नेह का। 'मेरा नेत्र घृत है। मेरा नेत्र स्नेहमय है। मेरी दृष्टि में आत्मप्रेम निहित है। मैं सबको प्रेमभरी दृष्टि से देखता हूं।' शिष्ट और शालीन नागरिक की यह, निस्सन्देह, एक श्रेयोमय उक्ति है।

३) (अ-मृतम् मे आसन्) अमृत है मेरे मुख में।

'मेरे मुख में अमृत है। मैं अपने मुख से अमृत-मय वचन बोलता हूं। मैं अपनी वाणी से अमृत उंडेलता हूं।' ऐसी यह अमृतमयी वाक्-साधना है एक शालीन नागरिक की।

४) मैं (अस्मि) हूं (अर्कः त्रि-धातुः) त्रि-धातु अर्क, (रजसः विमानः) लोकसमूह का प्रेरक, (अ-जस्रः घर्मः) अ-क्षय प्रेमोष्मा, (हविः नाम) हवि नाम-वाला, नमनीय हवि।

यज्ञशील और साधनाशील नागरिक की यह श्रेयोक्ति चिन्तनीय तथा साधनीय है। वह कहता है, मैं हूं (त्रि-धातुः अर्कः) त्रि-धातु अर्क। निघण्टु (२.७) के अनुसार **अर्क** नाम अन्न का है, वज्र का है। **अर्च्** (पूजायाम्) धातु से उसकी व्युत्पत्ति है। अर्क नाम स्तुति, सूर्य-किरण, विद्युत्-कौंध और अग्नि का भी है। यहां इस शब्द का प्रयोग अन्न अर्थ में हुआ है। **धातु** शब्द का अर्थ है धारण करने-वाला। आत्मा शरीर का धातु [धारक] है। पर-मात्मा सृष्टि का धातु है। राजा राष्ट्र का धातु है। सूर्य प्रकाश का धातु है। चन्द्रमा चन्द्रिका का धातु है। इस प्रकार, धातु असंख्य और अनन्त हैं। मधु, और घृत की धाराओं के प्रसंग में यहां 'त्रिधातु अर्क' से तात्पर्य है मन, बुद्धि और चित्त का अन्न [पोषक, पोषण]। बुद्धि के पोषण से सुविचारों की धाराएं प्रवाहित होती हैं। मन के पोषण से शिव संकल्पों की धाराएं प्रवाहित होती हैं। चित्त के पोषण से सुवृ-त्तियों की धाराएं प्रवाहित होती रहती हैं। जहां इस त्रिधातु अन्न की पुष्टि होती रहती है वहीं चक्षु में स्नेह और मुख [वाणी] में अमृत होता है। मस्तिष्क विचारों का धातु [धारक] है, मन संकल्पों का, और चित्त वृतियों का। 'मैं त्रिधातु अन्न हूं,' साधनाशील नागरिक की इस उक्ति में आत्मसाधना का एक अतिगहन तत्त्व अन्तर्निहित है। यह शाब्दिक स्पष्टीकरण का नहीं साधनाजन्य अनुभूति की अपेक्षा रखता है। 'मैं त्रिधातु अर्क हूं। मेरे मस्तिष्क से ज्ञानान्न अथ वा बोधिसत्त्व का सम्पादन होरहा है। मेरे मन से शिवसंकल्पान्न का उत्पादन होरहा है। मेरे चित्त से सुवृत्तिसत्त्व का निष्पादन होरहा है।

मैं हूं (रजसः विमानः) लोकसमूह का प्रेरक। 'लोकसमूह' से तात्पर्य है राष्ट्र में निवास करनेवाले जनसमूह से, अपि च पृथिवी लोक से। यज्ञिय नाग-रिक का जीवन, निस्सन्देह, सबके लिए सर्वतः प्रेरणाप्रद होता है।

मैं हूं (अ-जस्रः घर्मः) अ-क्षय घर्म। घर्म नाम है प्रेम की गर्मी का, प्रेमोष्मा का। सचमुच, एक आदर्श नागरिक अपने मानस में अपने देश, राष्ट्र और विश्व के प्रति प्रेम की गर्मी से सदा गर्मागर्म रहता है।

मानस क्या वह नहीं प्रेम की गर्मी जिसमें।
मानव क्या जो नहीं प्यार करता मानव से।

मैं हूं (नाम हविः) नमनीय हवि। नम से नाम। नाम वही है जिसमें नमनीयता का गुण हो। हवि नाम है यज्ञ में हवनीय शुद्ध वस्तु का। एक आदर्श नागरिक अपने हविरूप शुद्ध जीवन को नमनीयता के साथ अपने राष्ट्र के प्रति अर्पित रखता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मैं हूं जन्मना जातवेदाग्नि,
घृत है मेरा नेत्र, मेरे मुख में है अमृत।
मैं हूं अर्क त्रिधातु, लोकसमूह का प्रेरक,
अक्षय धर्म, हवि नमनीय।

सूक्ति : अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः।
मैं जन्मतः संज्ञानी अग्रणी हूं।

घृतं मे चक्षुः।
मेरा नेत्र स्नेहमय है।
अमृतं म आसन्।
मेरे मुख में अमृत है।
हविरस्मि नाम।
मैं नमनीय हवि हूं।

१०१६ **ऋचो नामास्मि यजूंषि नामास्मि सामानि नामास्मि। ये अग्नयः पाञ्चजन्या अस्यां पृथिव्यामधि। तेषामसि त्वमुत्तमः प्र नो जीवातवे सुव।** य १८.६७

ऋचः नाम अस्मि यजूंषि नाम अस्मि सामानि नाम अस्मि। ये अग्नयः पाञ्च-जन्याः अस्याम् पृथिव्याम् अधि। तेषाम् असि त्वम् उत्-तमः प्र नः जीवातवे सुव।

अपनी श्रेय-उक्ति को जारी रखते हुए यज्ञिय साधनाशील नागरिक कहे चला जारहा है,

१) मैं (ऋचः नाम अस्मि) मैं ऋचाओं नाम हूं। **ऋच** स्तुतौ, गुण वर्णन करना। 'मैं ऋचाओं नाम हूं' से आशय है 'मैं हूं प्रशंसाओं का नमनकर्ता, गुणों का सत्कारकर्ता। मैं अपने देश और राष्ट्र के गुणों का नमनकर्ता तथा वर्धनकर्ता हूं।' एक राष्ट्रनिष्ठ सदैव अपने देश और राष्ट्र को गुणों का पुञ्ज बनाने, और देश-देशान्तरों में उनके गुणों का फैलानेवाला होता है। स्तुतियों का वाचक होने से ही ऋग्वेद के मन्त्रों की संज्ञा ऋचा है।

२) मैं (यजूंषि नाम अस्मि) मैं यजुओं नाम हूं। यजु नाम श्रेष्ठतम कर्मों के सम्पादन का है। श्रेष्ठतम कर्मों का प्रतिपादक होने से ही एक वेद का नाम यजुर्वेद है। यज्ञिय नागरिक जहां कहीं भी हो, सदा सर्वत्र श्रेष्ठतम कर्मों का सम्पादन करता है। वह कहीं, कभी, कोई ऐसे काम नहीं करता है जिनसे उसके देश और राष्ट्र का अपयश हो।

३) मैं (सामानि नाम अस्मि) सामों नाम हूं। सम से साम। साम नाम समत्व, समता, शमन, शालीनता, शील का है। ब्रह्मोपासना से सम की, शान्ति की, समत्व की सिद्धि होती है। इसी लिए ब्रह्मोपासनावेद का नाम सामवेद है। सुसंस्कृत नागरिक का व्यक्तित्व, परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्वादि की सकल समताओं से युक्त होता है।

४) (अस्याम् पृथिव्याम् अधि) इस पृथिवी के ऊपर (ये पाञ्च-जन्याः अग्नयः) जो पाञ्चजन्य अग्नि हैं (तेषाम् त्वम् उत्-तमः असि) उनमें से तू सर्वश्रेष्ठ है। इस पृथिवी पर निवास करनेवाले मानवों के पांच अग्नि हैं व्यक्तित्वाग्नि, परिवाराग्नि, समाजाग्नि, राष्ट्राग्नि, विश्वाग्नि। इन सबमें उत्तम है व्यक्तित्वाग्नि। जिस व्यक्ति में अपने व्यक्तित्व के सुनिर्माण का अग्नि प्रज्वलित होता है वही व्यक्ति अग्नि के समान अग्रणी, पावक और प्रकाशक बनता है। जिस परिवार में अपने उत्कर्ष का अग्नि प्रज्वलित होता है वही परिवार सर्वगुणसम्पन्न आदर्श परिवार बनता है। जिस समाज में अपने उत्थान और समुत्थान के साथ साथ विश्व में व्यापने का अग्नि प्रज्वलित होता है वही समाज मानवजाति की अपि च प्राणिमात्र की सच्ची सेवा करके सद्धर्म और सुसंस्कृति की विश्व में व्याप्ति करता है। जिस राष्ट्र में अपने संशोधन और संवर्धन का अग्नि प्रज्वलित होता है वही राष्ट्र वैश्वानर, विश्वनायक, विश्वपोषक और विश्वशिरोमणि बनता है। वही राष्ट्र सारे विश्व को एक अभिन्न, पवित्र, प्रिय परिवार में परिणत करता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पांचों अग्नियों में श्रेष्ठतम है व्यक्तित्वाग्नि। व्यक्ति व्यक्ति के सुनिर्माण से ही परिवार का सुनिर्माण होता है। व्यक्ति व्यक्ति के सुनिर्माण से ही सुसमाज, राष्ट्र और विश्व का सुनिर्माण होता है। परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व, सब व्यक्तियों के समूह ही तो हैं। इसी लिए यज्ञिय राष्ट्र के नागरिक अपने अपने व्यक्तित्व को अग्नि के समान पावक, प्रकाशक और पोषक बनाते हैं, और, इस प्रकार, वे अपने राष्ट्र को विश्वपोषक, विश्वशिरोमणि और विश्ववन्द्य बनाते हैं।

५) विश्वकर्मा, विश्वरचयिता प्रभु तू (नः जीवातवे) हमारे जीवन के लिए (प्र सुव) सुप्रेरणा कर।

विश्वकर्मा प्रभु से यज्ञिय नागरिकों की यह कितनी सुन्दर विनय है। 'हम सब नागरिक अपने व्यक्तित्त्वाग्नियों को उत्तमतया पावक और प्रकाशक बनाए रखें, हमें सदा ऐसी सुप्रेरणा करता रह।'

ऋचः नाम हूं, यजूंषि नाम हूं,
हूं सःमानि नाम।
हैं जो पाञ्चजन्य अग्नियां
इस पृथिवी के ऊपर,
उनमें से है तू उत्तम।
कर सुप्रेरणा हमारे जीवन के लिए।

सूक्ति : **प्र नो जीवातवे सुव।**
हमारे जीवन के लिए सुप्रेरणा कर।

१०१७ **वार्त्रहत्याय शवसे पृतनाषाह्याय च। इन्द्र त्वा वर्तयामसि।**

[ऋ ३.३७.१, आ २०.१९.१] य १८.६८

वार्त्र-हत्याय शवसे पृतना-सह्याय च। इन्द्र त्वा आ वर्तयामसि।

(इन्द्र)! हम यज्ञिय नागरिक (त्वा) तुझे (आ वर्तयामसि) आ-वर्तते हैं, आश्रय करते हैं (वार्त्र-हत्याय च पृतना-साह्याय शवसे) वृत्र-विनाशक और संग्राम-सह संबल के लिए।

यज्ञिय नागरिकों की यह श्रेय-उक्ति और भी अधिक प्रशंसनीय है। पूर्व-मन्त्र में उन्होंने प्रभु से प्रार्थना की थी कि 'हमारे जीवन के लिए सुप्रेरणा करता रह।' यहां वे अपने अपने आत्मा को सम्बोधते हुए कहते हैं, 'आत्मन्! हम मुझे पूर्णतया वर्तते हैं उस संबल के लिए जो वृत्रों का हनन और संग्रामों का सहन [मुक़ाबला] किया करता है।'

वृत्र शब्द का प्रयोग यहां पाप वा भ्रष्टाचार के लिए हुआ है और **पृतना** शब्द का संघर्ष तथा संग्राम के लिए। आत्मसंबल शस्त्रबल से अधिक महान् है। जिन नागरिकों के आत्माओं में आत्मसंबल होता है वे ही प्रभु की प्रेरणा से प्रेरित होकर अपने राष्ट्र को भ्रष्टाचारों से मुक्त रखते हैं और भ्रष्टाचारों के व्याप जाने पर उनका हनन, निवारण करते हैं। वे ही राष्ट्र के आन्तरिक संघर्षों तथा बाह्य संग्रामों [आक्रमणों] का मुक़ाबला करके विजय सम्पादन करते हैं।

इन्द्र! तुझे आ-वर्तते हैं हम
वृत्र-विनाशक और संग्राम-सह
आत्मसंबल के लिए।

१०१८ **सहदानुं पुरुहूत क्षियन्तमहस्तमिन्द्र सं पिणक् कुणारुम्।**
अभि वृत्रं वर्धमानं पियारुमपादमिन्द्र तवसा जघन्थ।

[ऋ ३.३०.८] य १८.६९

सह-दानुम् पुरु-हूत क्षियन्तम् अ-हस्तम् इन्द्र सम् पिणक् कुणारुम्। अभि वृत्रम् वर्धमानम् पियारुम् अ-पादम् इन्द्र तवसा जघन्थ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१) (पुरु-हूत) बहु-आहूत ! बहुत पुकारे गए ! [सर्व-ज्ञात] ! (इन्द्र) आत्मन् ! (सम् पिणक्) पीस डाल, चूर चूर करदे (सह-दानुम्) सह-दा, भ्रष्टाचार करने का सह [बल] देनेवाले, (क्षियन्तम्) निवास और गति करनेवाले, (अ-हस्तम्) हस्त-रहित, बिना हाथवाले, (कुणारुम्) कुशब्द [कुप्रेरणा] करनेवाले [वृत्रम्=पाप, भ्रष्टाचार] को।

पाप भ्रष्टाचार का जनक है। पाप नाम भ्रष्ट चिन्तन का है। जब भ्रष्ट विचार मस्तिष्क में आकर निवास करता है तभी वह भ्रष्टाचार की ओर प्रवृत करता है। इस मन्त्रांश में वृत्र, पाप वा भ्रष्टाचार के लिए जो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं वे चिन्तनीय हैं। पाप **सह-दानु** है। सह=शक्ति। दानु=देनेवाला। पाप भ्रष्टाचार करने की शक्ति देता है। वह क्षियत् है [क्षि निवासगत्योः]; मस्तिष्क में निवास करके भ्रष्टाचार करानेवाला है। वह स्वयं **अहस्त** है और सहस्तों से भ्रष्टाचार कराता है। और है वह **कुणारु**, कुवाची, कु [बुराई, भ्रष्टाचार] की प्रेरणा करनेवाला। अन्तःकरण में भ्रष्टाचार की प्रेरणा करने से ही पाप कुणारु है।

ऐसे इस वृत्र का हनन सरल काम नहीं है। पुरुहूत इन्द्र ही इसका हनन करता है। पाप ऐसा बलवान् है कि बड़े बड़े बलवानों और विद्वानों को भी भ्रष्टाचार-रत कर देता है। जिनका जीवन आत्मिक होता है, जिनकी जीवनपद्धति आध्यात्मिक होती है, जिनके जीवन में आत्मा का शासन होता है वे ही वृत्र का हनन करते हैं, उसे पीस डालते हैं, उसे चूर चूर करते हैं। समृद्ध राष्ट्र के नागरिकों की जीवनपद्धति आत्मिक रहनी चाहिए, अन्यथा समृद्धि उनके लिए एक वरदान सिद्ध न होकर एक अभिशाप सिद्ध होती है।

२) (इन्द्र) आत्मन् ! तूने एक बार नहीं, अनेक बार, अपने (तवसा) बल से (वर्धमानम्) बढ़नेवाले, (पियारुम्) पेयी, पीनेवाले (अ-पादम्) पाद-रहित, बिना पैरवाले (वृत्रम्) वृत्र को (अभि जघन्थ) सब ओर हना है, मिटाया है।

समृद्धि जहां परम सुखदायी है वहां वह बहुत खतरनाक भी है। समृद्ध राष्ट्र को और उसके अधिनायकों को सदा यह ध्यान रखना चाहिए और शिक्षा दीक्षा की ऐसी शुद्ध व्यवस्था करनी चाहिए कि नागरिकों में मद्यपान, व्यभिचार, विलास और भ्रष्टाचार न व्यापने पाएं। यदि राष्ट्र में भ्रष्टाचार फैल भी जाए तो सद्यः नागरिकों की भोग-विलासमय जीवनपद्धति को आत्मिक, तपोमय और योगमय बनाने की व्यवस्था करनी चाहिए।

पाप **पियारु** है। इसका एक और गहन आशय भी है। सब ओर भ्रष्टाचार को फैलाकर पाप राष्ट्र के सत्त्व को पी जाता है और नागरिकों को सत्त्वहीन बना देता है। पाप के पैर नहीं हैं, फ़िर भी वह सर्वत्र पहुंच जाता है।

प्रहूत ! इन्द्र ! चूर चूर करदे सहदानु,
अन्तःवासी, हस्तहीन, कुणारु को।
इन्द्र ! तूने हनन किया है आत्मिक बल से
सब ओर बढ़ते हुए, पियारु, अपाद वृत्र को।

१०१९ **वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः। यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः।**
[ऋ १०.१५२.४, य ८.४४, सा १८६८, अ १.२१.२]
वि नः इन्द्र मृधः जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः। यः अस्मान् अभि-दासति अधरम् गमय तमः।
य १८.७०

समृद्ध राष्ट्र के आदर्श नागरिक आत्मसम्बोधन को जारी रखते हुए कहे चले जा रहे हैं,

१) (इन्द्र) आत्मन् ! (नः) हमारे (मृधः) हिंसाकारियों को, हमारी वासनाओं को, हमारे भ्रष्टा-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

चारों को (वि जहि) विनष्ट करदे।

समृद्धिजन्य भ्रष्टाचार जब समूचे राष्ट्र के तनू में व्याप जाता है तो राष्ट्र को श्रेष्ठाचार से अलंकृत करना असम्भव नहीं तो बहुत कठिन तो हो ही जाता है। तब, जैसा कि पूर्व-मन्त्र की व्याख्या में कहा गया है, नागरिकों की भ्रष्ट, भोगमय जीवन-पद्धति को योगमय जीवनपद्धति में परिणत करने की आवश्यकता होती है। वैसा करने में केवल आत्मिक शक्ति ही सफलता-और सुफलता-दायिनी होती है। इसी आशय से यहां कहा गया है, 'आत्मन! हमारे भ्रष्टाचारों को निर्मूल करदे।'

२) इन्द्र ! (पृतन्यतः नीचा यच्छ) संग्रामेच्छुओं को नीचे दबादे ।

भ्रष्टाचारों के निवारण के लिए जहां शुद्ध शिक्षा दीक्षा की व्यवस्था करनी होती है वहां भ्रष्टाचारियों की सेनाओं से विपुल संग्राम भी करना होता है। अपने निहित स्वार्थों के लिए वे पग पग पर विरोध और बाधाएं उपस्थित करते हैं। उनके साम्मुख्य और शमन के लिए आत्मशक्ति प्रमुख शस्त्र वा साधन का काम करती है। भ्रष्टाचार-निवारण के विरोधियों के लिए ही यहां **पृतन्यत्** शब्द का प्रयोग हुआ है।

३) इन्द्र ! (यः तमः) जो तम (अस्मान्) हमें (अभि-दासति) सर्वतः उपक्षीण करता है, हमारा और हमारे राष्ट्र का सर्वथा विनाश करता है, उसे (अधरम् गमय) अध-र पहुंचा, अध-र उठा लेजा, सर्वथा दूर करदे।

तम शब्द का प्रयोग यहां अन्धकार, अविवेक के लिए हुआ है। समृद्ध राष्ट्र के नागरिक जब स्वार्थान्ध होकर भ्रष्टाचार में लथ-पथ होजाते हैं तो देश में अविवेकरूप तम छा जाता है। तब राष्ट्र के विवेकी नायक और प्रणेता अपने आत्मसंबल को संभालकर खड़े होते हैं, राष्ट्र में विवेक का प्रकाश करके भ्रष्टाचार को मार भगाते हैं।

इन्द्र ! मूर्धों को कर विनष्ट तू,
नीचे दबा पृतन्यतों को।
जो तम हमें उपक्षयता है,
उसे अधर हटादे।

१०२० **मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगन्था परस्याः।**
सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून् ताढि वि मृधो नुदस्व।
[ऋ १०.१८०.२, सा १८७३, अ ७.८४.३] य १८.७१

मृगः न भीमः कु-चरः गिरि-स्थाः परा-वतः आ जगन्थ परस्याः। सृकम् सम्-शाय पविम् इन्द्र तिग्मम् वि शत्रून ताढि वि मृधः नुदस्व।

१) पाप ! भ्रष्टाचार ! तू (भीमः) भयंकर, (कु-चरः) कु-चाली, (गिरि-स्थाः) पर्वत में स्थित, पर्वतीय गुहा में निवास करनेवाले (मृगः न) सिंह के समान (परा-वतः) दूर दूर से, दूर दूर तक (पर-स्याः) परों पर, पर [श्रेष्ठ] प्रजाओं पर (आ जगन्थ) आ-क्रमण किया करता है।

पाप वा भ्रष्टाचार जहां सिंहवत् भीम है, भयंकर है, वहां वह कुचर भी है, कुचाली भी है। और है वह गिरि-स्थाः, मानवजीवनरूप पर्वत की मस्तिष्कगुहा में निवास करनेवाला। उक्त गुहा में निवास करता हुआ वह परों पर, श्रेष्ठ प्रजाओं पर दूर दूर तक मार करता है, सर्वत्र व्याप जाता है। शासन तथा शिक्षा दीक्षा में तनिक भी शिथिलता आई कि वह श्रेष्ठ से श्रेष्ठ राष्ट्र के सम्पूर्ण तनू को भ्रष्ट करके समस्त नागरिकों में व्याप जाता है।

२) (इन्द्र) आत्मन् ! (पविम्) पावक, पवित्रता का

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सम्पादन करनेवाले, (तिग्मम्) तीक्ष्ण (सृकम्) वज्र [शस्त्र] को (सम्-शाय) सु-तीक्ष्ण करके (शत्रून्) शत्रुओं को, भ्रष्टाचारियों को (वि ताढि) विशेष ताड़ना कर, (मृधः) भ्रष्टाचारों को (वि नुदस्व) वि-च्छिन्न कर, छिन्न भिन्न कर।

'सृकः' वज्रनाम (निघण्टु २.२०); सरणशील शस्त्र का नाम सृक है। **पू** पवने [पवित्र करना]धातु से **पवि** शब्द बना है। आत्मसंबल ही वह तीक्ष्ण शस्त्र है जिसे सुतीक्ष्ण करके भ्रष्टाचारियों की प्रताड़ना की जाती है और उन्हें श्रेष्ठाचारी बनाया जाता है और भ्रष्टाचारों को छिन्न भिन्न किया जाता है। आत्मप्रताड़ना भी वह शोधक सृक है जिससे भ्रष्टाचारी श्रेष्ठाचारी बनते हैं। समृद्ध राष्ट्र के नागरिकों के लिए यहां यह एक स्वर्णसूत्र है। सुधार के लिए ताड़ना, आत्मप्रताड़ना का, प्रत्यक्षतः, अपना एक विशेष स्थान है। भ्रष्टाचारी नागरिक किसी भी राष्ट्र के सबसे बड़े शत्रु होते हैं।

भीम, कुबर, गिरि-स्थित सिंह-सम,
दूर दूर से दूर दूर तक
तू आक्रमण किया करता है परों पर।
इन्द्र ! सुशोधक, तीक्ष्ण शस्त्र को,
करके सम्यक् तीक्ष्ण, ताड़ना कर शत्रुओं को,
छिन्न भिन्न कर मृधों को।

१०२१ **वैश्वानरो न ऊतय आ प्र यातु परावतः। अग्निर्नः सुष्टुतीरुप।**
[अ ६.३५.१] य १८.७२
वैश्वानरः नः ऊतये आ प्र यातु परा-वतः। अग्निः नः सु-स्तुतीः उप।

(वैश्वानरः अग्निः) विश्व-नायक अग्नि (नः ऊतये) हमारी रक्षार्थ (परा-वतः) दूर से (आ) आए, [हमें सुरक्षा] (प्र यातु) प्राप्त कराए, (नः) हमारी (सु-स्तुतीः) सु-स्तुतियां (उप) उप-शृणोतु, सुने।

भ्रष्टाचार से मुक्त और श्रेष्ठाचार से युक्त राष्ट्र को यहां वैश्वानर अग्नि कहा गया है। अग्नि के समान प्रकाशक और पावक राष्ट्र ही वैश्वानर कहाता है और वह विश्व का सुनयन तथा सुरक्षण करता है। संकट पड़ने पर ऐसे उस राष्ट्र के प्रति विश्व के सकल मानव कहते हैं कि 'वह दूर से हमारी रक्षार्थ आए और हमें सुरक्षा प्राप्त कराए।' ऐसे उस राष्ट्र का आह्वान सुस्तुतियों [प्रशस्तियों] द्वारा किया जाता है।

वैश्वानर अग्नि हमारी रक्षार्थ
दूर से आए, प्राप्त कराए,
सुने हमारी सुस्तुतियां।

१०२२ **पृष्टो दिवि पृष्टो अग्निः पृथिव्यां पृष्टो विश्वा ओषधीरा विवेश।**
वैश्वानरः सहसा पृष्टो अग्निः स नो दिवा स रिषस्पातु नक्तम्।
[ऋ १.९८.२] य १८.७३
पृष्टः दिवि पृष्टः अग्निः पृथिव्याम् पृष्टः विश्वाः ओषधीः आ विवेश। वैश्वानरः सहसा पृष्टः अग्निः सः नः दिवा सः रिषः पातु नक्तम्।

समृद्ध वैश्वानर राष्ट्र के नागरिकों की यहां यह एक अतिगहन और परिचायक मंगलभावना है, जो (वैश्वानरः अग्निः) वैश्वानर अग्नि (दिवि पृष्टः) द्यौ में पृष्ट है, (पृथिव्याम् पृष्टः) पृथिवी में पृष्ट है, वह (पृष्टः) पृष्ट अग्नि (विश्वाः ओषधीः) समस्त ओषधियों में, अखिल सृष्टि में (आ विवेश) प्रवेश

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

किए हुए है, समाया हुआ है, व्यापा हुआ है (सः पृष्टः अग्निः) वही पृष्ट अग्नि [अपने] (सहसा) सहज बल से (नः) हमें (दिवा) दिन [में], (सः) वही (नक्तम्) रात [में] (रिषः पातु) हिंसा से बचाए।

पृष्ट शब्द की व्युत्पत्ति अनेक धातुओं से की जाती है। यहां इस शब्द का जन्म **पृषु** (सेचने) धातु से माना जाना सर्वथा सुसंगत है। 'एक वैश्वानर अग्नि है जो द्युलोक में, पृथिवी लोक में पृष्ट है, सिंचित है: जो अपनी सर्वव्याप्ति से अखिल विश्व को सींच रहा है, वही पृष्ट अग्नि अपने सर्वसह सामर्थ्य से, अन्तःप्रेरणा द्वारा, हमें प्रतिदिन, प्रतिरात्रि हिंसा से बचाए', समृद्ध राष्ट्र के यज्ञिय नागरिकों की यह भावना कितनी सार्थक है!

हिंसा दो प्रकार की होती है, एक आत्महिंसा, दूसरी परहिंसा। समृद्ध राष्ट्र के नागरिक व्यसन-विलासों के लिए अपनी समृद्धि का उपयोग कर रहे होते हैं तो वे आत्महिंसा कर रहे होते हैं। व्यसन-विलास नास्तिकता और अधार्मिकता के गर्त में गिरा देते हैं। इस प्रकार वे **आत्महनो जनाः**, (यजुर्वेद ४०.३) बन रहे होते हैं। 'आत्महनो जनाः' बनने पर उनमें स्वार्थपरता का बाज़ार गरम होता है, जिसके परिणामस्वरूप वे एक दूसरे को मारने, मिटाने और सताने में लीन होजाते हैं, जिसका परिणाम होता है नागरिकों का पतन, राष्ट्र का ह्रास और जनत्रास।

किसी भी समृद्ध राष्ट्र के नागरिकों को दोनों ही प्रकार की हिंसा से अपने आपको मुक्त रखना चाहिए। ऐसा तभी सम्भव होता है जब वे वैश्वानर अग्नि की भक्ति में निरत और धर्म में सुरत रहते हैं।

वैश्वानर अग्नि पृष्ट द्यौ में,
पृष्ट पृथिवी में,
पृष्ट किए हुए प्रवेश
सकल ओषधियों में [सृष्टि में]।
वही पृष्ट अग्नि सहसा हमें बचाए
दिन में, रात में, हिंसा से।

सूक्ति : **स नो दिवा स रिषस्पातु नक्तम्।**
वह ही दिन में, वह ही रात में,
हमें हिंसा से बचाए।

१०२३ **अश्याम तं काममग्ने तवोती अश्याम रयिं रयिवः सुवीरम्।**
अश्याम वाजमभि वाजयन्तोश्याम द्युम्नमजराजरं ते।
[ऋ ६.५.७] य १८.७४

अश्याम तम् कामम् अग्ने तव ऊती अश्याम रयिम् रयि-वः सु-वीरम्। अश्याम वाजम् अभि वाजयन्तः अश्याम द्युम्नम् अ-जर अ-जरम् ते।

और अब वे वैश्वानर अग्नि से प्रार्थना करते हैं,
१) (अग्ने) प्रकाशस्वरूप! हम (तव ऊती) तेरी रक्षा [कृपा] द्वारा (तम् कामम्) उस कामना को (अश्याम) सेवन करें, संसाधना के आश्रय से पूरी करें।

कौन-सी कामना को? पूर्व-मन्त्र में प्रकट की गई उस कामना को कि हम दिन रात हिंसा से बचें। हमारा समाज एक ऐसा समाज हो जिसमें कोई किसी की हिंसा न करके एक दूसरे की सस्नेह सेवा और सहायता कर रहा हो।
२) (रयि-वः) ऐश्वर्य-वन्! हम (सु-वीरम् रयिम्) सु-वीर ऐश्वर्य को (अश्याम) सेवन करें।

रयि का प्रयोग यहां आत्मैश्वर्य अथ वा आध्यात्मिक धन के लिए हुआ है। पुरुषार्थ करने पर भौतिक धन तो नास्तिकों को भी प्राप्त होजाता है। वह तो आत्मैश्वर्य ही है जो प्रभु की ऊति

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

[कृपा] से प्राप्त होता है। आत्मैश्वर्य ही सुवीरताओं से युक्त ऐश्वर्य है, सुवीरत्व का सम्पादक है। आत्मैश्वर्य से विहीन भौतिक ऐश्वर्य मानवों को कुवीर बनाता है।

३) (वाजयन्तः) संग्राम [संघर्ष] करते हुए [हम] (वाजम्) ज्योति, शक्ति (अभि अश्याम) सर्वतः सेवन करें।

वैदिक वाङ्मय में, **वाज** शब्द के तीन प्रसिद्ध अर्थ हैं ज्योति, शक्ति और संग्राम। सभी प्रकार के संग्रामों में शुद्ध और पूर्ण साफल्य वहीं प्राप्त होता है जहां ज्योति और शक्ति का संयोग होता है।

४) (अजर) अविनाशिन् ! हम (ते अ-जरम् द्युम्नम्) तेरे अ-विनश्वर द्युम्न को (अश्याम) सेवन करें।

द्युम्न नाम द्युति, दीप्ति, सौन्दर्य और धन का है। इस शब्द में मन के द्योतन का संस्कार है। अखिल सृष्टि में जहां जो द्युति है वह परम सुन्दर देव के सौन्दर्य की छटा है।

सौन्दर्य से तुम्हारे सुन्दर जहान सारा।
हर वस्तु में तुम्हारा सौन्दर्य प्यारा प्यारा।

'धन' नाम उस सम्पदा का है जो धन्यता प्राप्त कराए। धन उसी का सुधन्य है जो प्रभु के सौन्दर्य के संदर्शन में सम्पादन और सेवन किया जाता है। आत्मैश्वर्य और ब्रह्मसम्पदा ही अविनश्वर धन है। मिट्टी के खिलौने और मांटी के धन टूटने फूटने वाले हैं।

अग्ने ! तेरी कृपा द्वारा, सेवन करें हम उस इच्छा को,
ऐश्वर्यवन् ! सेवन करें हम सुवीर ऐश्वर्य को।
अभितः संघर्ष करते हुए हम सेवन करें वाज,
अजर ! सेवन करें हम तेरे अजर द्युम्न को।

सूक्ति : **अश्याम वाजमभि वाजयन्तः।**
संघर्ष करते हुए हम ज्योति और शक्ति सेवन करें।

१०२४ **वयं ते अद्य ररिमा हि काममुत्तानहस्ता नमसोपसद्य।**
यजिष्ठेन मनसा यक्षि देवानस्रेधता मन्मना विप्रो अग्ने।

[ऋ ३.१४.५] य १८.७५

वयम् ते अद्य ररिम हि कामम् उत्-तान-हस्ताः नमसा उप-सद्य। यजिष्ठेन मनसा यक्षि देवान् अ-स्रेधता मन्मना विप्रः अग्ने।

अपनी प्रार्थना को जारी रखते हुए वे कहे चले जारहे हैं,

१) (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! (उत्तान-हस्ताः वयम्) उत्तान-हस्त हम [नागरिकदेव] (अद्य) आज (नमसा) नमस्कारपूर्वक [तेरे] (उप-सद्य) समीप बैठकर (ते कामम् हि ररिम) तेरी इच्छा को/पर ही समर्पित होगए हैं/हुए हुए हैं।

उत्तान = उद्गतस्तानो विस्तारो यस्मात्। उत् = ऊंचा। तान = तना हुआ, फैला हुआ। **उत्तान-हस्त** में दो भाव निहित हैं। देनेवाले के हाथ ऊपर तने होते हैं, लेनेवाले के नीचे। दाता उत्तान-हस्त, आदाता [लेनेवाला] अधोहस्त। जब कोई महत्त्वपूर्ण घोषणा वा प्रतिज्ञा करता है तो दोनों हाथों को ऊपर उठाकर और फैलाकर करता है। सच्चे, समृद्ध राष्ट्र के यज्ञिय नागरिक अन्य राष्ट्रों को देते हैं, किसी से कुछ लेते नहीं। जो राष्ट्र अन्य देशों के अनुदानों और ऋणों पर पलते हैं उनके नागरिकों का मनोबल क्षीण, और आत्मसम्मान हीन होजाता है। जो राष्ट्र अपने स्वयं के हाथों से अपना विकास और संवर्धन करते हैं वे ही आत्मविश्वासी और आत्मनिर्भर होते हैं।

परमात्मा को सर्वव्यापक और सर्वज्ञ जानकर अपने को सदा उसके निकट, और उसे सदा अपने निकट जानना ही परमात्मा के पास बैठना है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यज्ञिय और समृद्ध राष्ट्र के यज्ञिय नागरिक उत्तान-हस्तता के साथ विश्व को अपनी देनें देते हुए, ऊपर हाथ उठाकर और भुजाओं को फैलाकर कहते हैं, 'प्रभो ! आज हम नमस्कारपूर्वक तेरी इच्छा पर ही समर्पित होगए हैं।' प्रभु को समर्पित नागरिक प्रभु की इच्छा को समझनेवाले, और प्रभु के होकर काम करनेवाले होते हैं। वे प्रभु के राज्य की प्रजा होतें हैं, स्तेन के राज्य की नहीं। इसी आशय से वेदमाता ने यजुर्वेद १.१ में कहा है, **'मा व स्तेन ईशत'** = तुम पर स्तेन [शैतान] हुकूमत न करे। तुम प्रजापति की प्रजा बनकर रहो।

२) प्रकाशस्वरूप प्रभो ! (वि-प्रः) वि-प्रकृष्ट तू, निर्मल-निर्विकार तू (यक्षि) संगत कर, युक्त रख (देवान्) [हम] नागरिकदेवों को (यजिष्ठेन) अति-शय यज्ञशील, श्रेष्ठतम कर्म को प्रेरणा करनेवाले, (अ-स्रेधता) अ-हिंसाशील, शिव-संकल्प, (मन्मना) मननशील (मनसा) मन से।

कितनी मोहक और शोधक है नागरिकदेवों की यह विनय ! मानसिक यजिष्ठता, शिवसंकल्पता तथा मननशीलता किसी भी राष्ट्र के नागरिकों को यज्ञिय बना देती है।

अग्ने ! उत्तानहस्त हम आज नमसा
पास बैठकर, तेरी इच्छा पर ही समर्पित
हो गए हैं।
विप्र तू संगत रख देवों को
यजिष्ठ, अहिंसाशील, मननशील मन से।

सूक्ति : **वयं ते अद्य ररिमा हि कामम्।**
आज हम तेरी इच्छा पर ही समर्पित होगए हैं।

१०२५ **धामच्छदग्निरिन्द्रो ब्रह्मा देवो बृहस्पतिः। सचेतसो विश्वे देवा यज्ञं प्रावन्तु नः शुभे।**
य १८.७६

धाम-छत् अग्निः इन्द्रः ब्रह्मा देवः बृहस्-पतिः। स-चेतसः विश्वे देवाः यज्ञम् प्र अवन्तु नः शुभे।

ईशविनय के पश्चात्, नागरिकदेव मंगलकामना करते हैं, (धाम-छत् अग्निः) धाम-छत् अग्नि, (इन्द्रः) इन्द्र, (ब्रह्मा) ब्रह्मा, (देवः बृहस्पतिः) देव बृहस्पति, ये (विश्वे स-चेतसः देवाः) सब स-चेत देव (नः शुभे) हमारे शुभ् के लिए (यज्ञम्) राष्ट्रयज्ञ को/की (प्र अवन्तु) सु-रक्षा करें।

नागरिकदेवों के मुख से इस मन्त्र को बुलवाकर वेदमाता ने यहां एक गहन राष्ट्रीय संज्ञान का उद्-घाटन किया है। दिव्य देवों के चार वर्ग हैं जो किसी भी राष्ट्र के चरित्र, संबल और धर्म की रक्षा करके जन जन को सब प्रकार के दुरितों से बचाते हैं।

प्रथम वर्ग है धाम-छत् अग्नि। **धाम-छत्** का अर्थ है धामों को आच्छादन करनेवाला, सब धामों की रक्षा करनेवाला, सब प्रदेशों को प्रकाशित करनेवाला। **अग्नि** नाम अग्रणी का है। 'धाम-छत् अग्नि' से तात्पर्य यहां उस अग्रणी विरक्त वर्ग से है जो निष्काम भाव से समूचे देश में स्थान स्थान पर विचरते हुए राष्ट्रजनों को सत्य, सदाचार, न्याय और धर्म में रत तथा राष्ट्रसेवा और विश्वहित में निरत रखते हैं।

दूसरा वर्ग है इन्द्र। **इन् शत्रूणां दारयिता।** इन्द्र से तात्पर्य उस वीर वर्ग से है जो देश के आन्तर और बाह्य शत्रुओं का निराकरण करते हैं।

तीसरा वर्ग है ब्रह्मा। **ब्रह्मा** से तात्पर्य वेद-प्रचारक वर्ग से है। वेद केवल विद्यालयों की वस्तु नहीं है, घर घर की और जन जन की वस्तु है। वेदमन्त्रों की सरल, सुस्पष्ट और सुसंगत व्याख्याएं करके वेदों के संज्ञान और सुशिक्षाओं को घर घर और जन जन तक पहुंचाना तथा सर्व जनों को वेदाचारी बनाना ब्रह्मा वर्ग का काम है।

चौथा वर्ग है देव बृहस्पति, दिव्यताओं से

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

द्योतित आचार्य-आचार्या, अध्यापक-अध्यापिका। **बृहस्पति** नाम बृहत्-पति आचार्य का है। आचार्य वर्ग ही राष्ट्र का महान् पति है, राष्ट्र और विश्व का सुनिर्माता है, सुविचार और सदाचार का प्रस्थापक है, जीवन-तराश है, तराश-तराशकर जीवनों को अलंकृत करनेवाला है।

जिस राष्ट्र में ये चारों वर्ग अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित और सचेत रहते हुए राष्ट्रयज्ञ की सर्वतः रक्षा करते हैं तथा नागरिकों के शुभ के लिए सदा तत्पर रहते हैं, निस्सन्देह, उसी राष्ट्र के नागरिकों की जीवनपद्धति यज्ञिय बनी रहती है।

धाम-छदग्नि, इन्द्र, ब्रह्मा,
देव बृहस्पति, सब ही देव सचेत,
करें सुरक्षा राष्ट्रयज्ञ की शुभ के लिए हमारे।

१०२६ **त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄँः पाहि शृणुधी गिरः। रक्षा तोकमुत त्मना।**

[ऋ ८.८४.३, य १३.५२, सा १२४६] य १८.७७

त्वम् यविष्ठ दाशुषः नॄन् पाहि शृणुधि गिरः। रक्ष तोकम् उतम ना।

अब शासनाग्नि को 'यविष्ठ' शब्द से सम्बोधन करते हुए नागरिक देव कहते हैं,

१) (यविष्ठ) युवतम ! सक्षमतम ! वलवत्तम !

२) (त्वम्) तू (दाशुषः नॄन्) दानशील नरों को/की, अर्पित नागरिकों को/की (पाहि) रक्षा कर।

३) उनकी (गिरः) वाणिएं/पुकारें/प्रार्थनाएं (शृणुधि) सुन।

४) (उत) और [उनके] (तोकम्) सन्तान को/की (त्मना रक्ष) आत्मना रक्षा कर।

किसी भी राष्ट्र के शासन को पूर्णतः सक्षम रहना चाहिए। सक्षम शासन ही नागरिक—नागरिकाओं की सर्वतः रक्षा करने में समर्थ होता है। सक्षम शासन में ही न्याय, व्यवस्था, अनुशासन, मर्यादापालन तथा सदाचार सुस्थित और सुस्थिर रहते हैं। सक्षम शासन के प्रति ही प्रजा आत्म-निष्ठा के साथ अर्पित रहती है। सनिष्ठ प्रजा की रक्षा शासन का धर्म है।

जनपुकार को सतर्कता के साथ खुले कानों से सुनना, जनमत और जनप्रनिक्रियाओं से सदा अवगत रहना किसी भी जनसेवी और जनकल्याणी शासन के लिए एक भद्र कर्तव्य है।

सक्षम शासन के लिए सर्वातिशय महत्त्वपूर्ण कार्य है सन्तान का संरक्षण तथा सम्पोषण। आज की सन्तान ही कल के नागरिक और कर्णधार हैं। बच्चा मानव का पिता है। बच्चा-बच्ची पिता-माता बनते हैं। एक विवेकी और सक्षम राष्ट्र सन्तति के सुनिर्माण में आत्मयोग के साथ निरत रहता है। सन्तति का सुपोषण, शिक्षण और प्रशिक्षण पूर्ण तत्परता के साथ करना ही सन्तति की रक्षा करना है।

युवतम ! तू रक्षा कर
दानशील अर्पित प्रजा की।
सुन पुकार, त्मना रक्षा कर सन्तति की।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

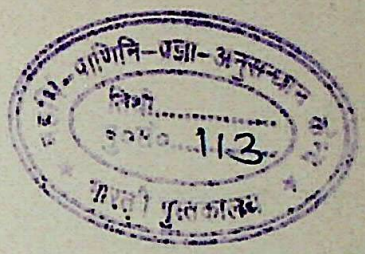

परिशिष्ट १

व्याख्या में विवेचित मन्त्रपद तथा धातुएं

अग्नि ११८६, ११९८-९९, १२००-०१, १२०४, १२०५, १२०७, १२०८
अर्क ११९९
√अर्च् ११९९
अहस्त १२०२
आर्द्रदानुः ११८४
इन्द्रः ११६३, ११८६, १२०७
इष्टः ११९६
उत्तानहस्त १२०६
उरुशस ११८७
ऋक् (० चा) ११९७, १२००
√ऋच् ११९७, १२००
ऋत- ११७९-८०
ओषधयः ११८०
कुणारुः १२०२
क्रतुः ११५४
√क्षि १२०२
क्षियत्- १२०२
गन्धर्वः ११७९
गिरिस्थाः १२०३
गृहाः ११८४
घर्मः ११९९
घृतम् ११९९
जन्मन्- ११९८
जातवेदाः ११९८
ज्योतिः ११५४
तमः १२०३
त्रिधातुः ११९९
द्युम्नम् १२०६
द्यौः- ११८५-८६
धर्म ११७४
धातुः ११९९
धामच्छत् १२०७
धीतिः ११५४
नभः ११८४
नभस्वान् ११८४
नाम ११८०, ११९९
परिधयः ११९७
पवि १२०४
पियारु १२०२
√पू १२०४
पूर्त ११९६
पृतनाः १२०१
पृतन्यत् १२०३
√पृषु १२०५
पृष्टः १२०५

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रयतिः ११५४
प्रसवः ११५४
प्रसितिः ११५४
प्रस्तरः ११९७
बर्हिः ११९७
बृहस्पतिः ११८६, १२०७-८
ब्रह्मा १२०७
भुवनम् ११७२
मध्यतः ११७७
मयोभू ११८४
मरुत् ११८५
माता ११७४
मे ११५४
√यज् ११५३
यजमानः ११९६
यजुः १२००
यज्ञः ११५३, ११५४, ११७३
रयिः १२०५-६
राजा ११८७
लोकः ११९०
वरुणः ११८७
वाजः ११५४, ११७४, ११७५, १२०६
विश्य ११८७
विश्वकर्मा ११८३
विश्वायु ११९१
वृत्रः १२०१
वेदिः ११९७
वैश्वानरः १२०४
शंभू ११८४
शूद्रः ११८७
श्लोक ११५४
श्रवः ११५४
श्रित ११९१
श्रुतिः ११५४
सधस्थ ११९४, ११९६
सप्रथाः ११९१
सविता ११७४
सहदानुः १२०२
साम १२००
सुपर्ण ११८९
सुम्न ११८१
सूर्य ११८५-८६
सृक १२०४
√स्तृ ११९७
√स्रु ११९७
स्रुक् ११९७
स्वः ११५४, ११९६
स्वरः ११५४
हविः ११९३, ११९९

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परिशिष्ट २

व्याख्या में चर्चित प्रसंग

आत्मा ११८८, ११८९, ११९०, ११९५-९६, १२०१
आयु ११६९-७०
आश्रम ११६९-७०
ऋग्वेद १२००
ऋषि ११९०, ११९४
कल्प ११५४
क्षत्र ११७५, ११७९, ११८०, ११९७
क्षत्रिय ११८७
गर्भ विज्ञान ११९८
जीवन ११९६
जीवन पद्धति ११५३, ११९६
दान ११७६
धन १२०५-६, १२०६
नागरिक ११७२, ११७६, ११७७, ७८, ७९, ८६, ८७, ८८, ९०, ९१, ९२, ९३, ९४, ९६, ९७, ९८, ९९, १२००, १२०१, १२०४, १२०५, १२०७, १२०८
निघण्टु ११९९, १२०४
परमात्मा १२०६
पाप १२०२, १२०३
पुलिस-विभाग ११७२
पृथिवी ११९७
प्रजा ११९७
प्रसूति-गृह ११७१
बजट ११७२
ब्रह्म ११७५, ११७९, ११८०, ११८६-७
ब्रह्मचर्य ११७०
ब्रह्मचारी ११६९
ब्राह्मण ११८६-७
भ्रष्टाचार १२०२, १२०३, १२०४
यजुर्वेद १२००
रस ११७८
राजन्य ११८७
राष्ट्र ११७१-२, ११७६, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ९१, ९२, ९३, ९७, ९८, ९९, १२०३, १२०४
राष्ट्रनिष्ठा १९७३
राष्ट्रपति ११७९
वाक्(णी) ११९७, ११९९
विद्युत् ११९५
विज्ञान-विभाग ११७२
वेद १२०७
व्यक्ति १२००
व्यक्तित्व १२००, १२०१
शरीर विकास ११६९
शासन १२०८
सरस्वती ११९७
साम १२००
सामवेद १२००
हिंसा १२०५

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परिशिष्ट ३

वेदव्याख्या-ग्रन्थ [१८वां पुष्प] में व्याख्यात, यजुर्वेद [१८वां अध्याय] के मन्त्रों की

वर्णानुक्रम-सूची

[जो मन्त्र अन्य वेदों में भी मिलते हैं उनके प्रतीकों के पश्चात् * चिह्न लगा हुआ है। शेष (६३) मन्त्र केवल यजुर्वेद में हैं।]

मन्त्र-प्रतीक	अध्याय में मन्त्र-सं.	'वेदव्याख्या-ग्रन्थ' में मन्त्र-सं.	पृष्ठ-सं.
अंशुश्च मे रश्मिश्च	१९	९६८	११६४
अग्निं युनज्मि शवसा	५१	१०००	११८९
अग्निरस्मि जन्मना*	६६	१०१५	११९८
अग्निश्च म आपश्च	१४	९६३	११६१
" " इन्द्रश्च	१६	९६५	११६२
" मे घर्मश्च	२२	९७१	११६६
अश्मा च " मृत्तिका	१३	९६२	११६१
अश्याम तं काममग्ने*	७४	१०२३	१२०५
आग्रयणश्च मे वैश्व-	२०	९६९	११६५
आयुर्यज्ञेन कल्पतां	२९	९७८	११७३
इन्दुर्दक्षः श्येन ऋतावा	५३	१००२	११९०
इमौ ते पक्षावजरौ	५२	१००१	११८९
इषिरो विश्वव्यचा वातो	४१	९९०	११८१
इष्टो अग्निराहुतः पिपर्तु	५७	१००६	११९३
" यज्ञो भृगुभिराशीर्-	५६	१००५	११९२
उद् बुध्यस्वाग्ने प्रति	६१	१०१०	११९५
ऊर्क् च मे सूनृता च	९	९५८	११५९
ऋचो नामास्मि यजूंषि	६७	१०१६	१२००
ऋतं च मेमृतं च	६	९५५	११५७
ऋताषाड्ऋतधामाग्निर्-	३८	९८७	११७९
एका च मे तिस्रश्च	२४	९७३	११६७
एतं जानाथ परमे व्योमन्	६०	१००९	११९५
" सधस्थ परि ते*	५९	१००८	११९४
ओजश्च मे सहश्च म	३	९५२	११५५
चतस्रश्च मेष्टौ च मे-	२५	९७४	११६९
ज्यैष्ठ्यं च म आधिपत्यं	४	९५३	११५६
तत् त्वा यामि ब्रह्मणा*	४९	९९८	११८७

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मन्त्र-प्रतीक	अध्याय में मन्त्र-सं.	वेदव्याख्या-ग्रन्थ में मन्त्र-सं.	पृष्ठ-सं.
त्र्यविश्च मे त्र्यवी च	२६	९७५	[illegible]
त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄँ:*	७७	१०२६	[illegible]
दिवो मूर्धासि पृथिव्या	५४	१००३	[illegible]
देवस्य त्वा सवितु:	३७	९८६	११७८
धामच्छदग्निरिन्द्रो ब्रह्मा	७६	१०२५	१२०७
पय: पृथिव्यां पय ओषधीषु	३६	९८५	११७८
पष्ठवाट् च मे पष्ठौही	२७	९७६	११७१
पृथिवी च म इन्द्रश्च	१८	९६७	११६३
पृष्टो दिवि पृष्टो अग्नि:*	७३	१०२२	१२०४
प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो	४३	९९२	११८३
प्रस्तरेण परिधिना स्रुचा	६३	१०१२	११९७
प्राणश्च मेपानश्च	२	९५१	११५५
भुज्यु: सुपर्णो यज्ञो	४२	९९१	११८२
मित्रश्च म इन्द्रश्च	१७	९६६	११६३
मृगो न भीम: कुचरो*	७१	१०२०	१२०३
यत्र धारा अनपेता	६५	१०१४	११९८
यदाकूतात् समसुस्रोद्	५८	१००७	११९३
यद् दत्तं यत् परादानं	६४	१०१३	११९७
यन्ता च मे धर्ता च	७	९५६	११५८
या वो देवा: सूर्ये	४७	९९६	११८६
यास्ते अग्ने सूर्ये रुचो	४६	९९५	११८५
येन वहसि सहस्रं	६२	१०११	११९६
रयिश्च मे रायश्च मे	१०	९५९	११५९
रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु	४८	९९७	११८६
वयं ते अद्य ररिमा हि*	७५	१०२४	१२०६
वसु च मे वसतिश्च मे	१५	९६४	११६२
वाज: पुरस्तादुत मध्यतो	३४	९८३	११७६
वाजश्च मे प्रसवश्च	१	९५०	११५३
वाजस्य नु प्रसवे*	३०	९७९	११७४
वाजाय स्वाहा प्रसवाय	२८	९७७	११७१
वाजो न: सप्त प्रदिशश्-	३२	९८१	११७५
" नो अद्य प्र सुवाति	३३	९८२	११७६
वार्त्रहत्याय शवसे*	६८	१०१७	१२०१
वित्तं च मे वेद्यं च मे	११	९६०	११६०
वि न इन्द्र मृधो जहि*	७०	१०१९	१२०२

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मन्त्र-प्रतीक	अध्याय में मन्त्र-सं.	वेदव्याख्या-ग्रन्थ में मन्त्र-सं.	पृष्ठ-सं.
विश्वस्य मूर्धन्नधि	५५	१००४	११९१
विश्वे अद्य मरुतो विश्व*	३१	९८०	११७५
वैश्वानरो न ऊतय*	७२	१०२१	१२०४
व्रतं च म ऋतवश्च	२३	९७२	११६६
व्रीहयश्च मे यवाश्च	१२	९६१	११६०
शं च मे मयश्च मे	८	९५७	११५८
सत्यं च मे श्रद्धा च	५	९५४	११५६
स नो भुवनस्य पते	४४	९९३	११८३
समुद्रोसि नभस्वानार्द्र-	४५	९९४	११८४
सहदानुं पुरुहूत*	६९	१०१८	१२०१
सं मा सृजामि पयसा	३५	९८४	११७७
संहितो विश्वसामा	३९	९८८	११८०
सुषुम्णः सूर्यरश्मिश-	४०	९८९	११८१
स्रुचश्च मे चमसाश्च	२१	९७०	११६५
स्वर्ण घर्मः स्वाहा	५०	९९९	११८८

पाठक से

वेद-संस्थान इस पुस्तक की विषयवस्तु, लेखनशैली और आकार प्रकार के बारे में आपके विचारों के लिए आभारी होगा। अन्य कोई सुझाव आप देना चाहें तो उन्हें जानकर भी हमें प्रसन्नता होगी। हमारा पता है : बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर, भारत।

— ऊ —

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha